श्रीव्यासतीर्थश्रीमधुसूदनसरस्वती-

प्रणीते

न्यायामृताद्वैतसिद्धी

द्वितीयो भागः

षड्दर्शनप्रकाशनग्रन्थमालायाः चतुर्थं पुष्पम्

न्यायामृताद्वैतसिद्धी

अर्थात्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीमद्ब्रह्मण्यतीर्थपूज्यपादानां
शिष्येण श्रीव्यासराजयतिना विरचितम्

न्यायामृतम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वती-
शिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता

अद्वैतसिद्धिः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्वामिश्रीऋषिराम-
शिष्यस्वामियोगीन्द्रानन्दनिर्मिता

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वेदान्त अं. २७

२

द्वितीयो भागः

प्रकाशकः—

षड्दर्शनप्रकाशनस्थानम्

उदासीनसंस्कृतविद्यालयस्थम्
ढुण्ढिराजपथे वाराणस्याम्

विजयदशमी
१९७७ ई०

सम्पादक—
स्वामी योगीन्द्रानन्द
न्यायाचार्य, मीमांसातीर्थ
के० ३७/२ ठठेरीबाजार, वाराणसी

प्रकाशक—
मन्त्री, षड्दर्शन-प्रकाशन-प्रतिष्ठान
उदासीन संस्कृत विद्यालय
ढुण्ढिराज, वाराणसी

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मूल्य ३६-००

प्रथम संस्करण
१०००

मुद्रक—
मोहनलाल यादव
सरिता प्रेस
भैरोनाथ, वाराणसी

सम्पादकीय

विगत प्रयाग-कुम्भ (जनवरी १९७७) के अवसर पर इस ग्रन्थ का प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ था। द्वितीय खण्ड का प्रकाशन अब हो पाया है। हमारे 'सरिता' प्रेस के पास छपाई का साधन (बड़ी मशीन) न होने के कारण विभिन्न मशीनों पर इसकी छपाई का कार्य होता रहा, यही कारण है कि छपाई में एकरूपता एवं अभीष्ट सौष्ठव न आ सका। पहले मशीनमैनों की लापरवाही से कुछ टाइप पूर्णतया उजागर न हो सके, स्याही कहीं कम और कहीं अधिक हो गई। 'ज्योतिषप्रकाश' प्रेस के मशीनमैन ने अपने चौखटे की लकड़ी गिराकर हमारा पूरा एक फर्मा ही चौपट कर दिया था। मशीनमैन प्रायः दूसरे प्रेसों के फर्मे छापने में किसी प्रकार का दायित्व नहीं समझते और न उनके प्रबन्धक उधर ध्यान देते हैं—यह हमारे देश का दौर्भाग्य है।

प्रूफ-संशोधन कार्य तो लेखन से भी अधिक दुष्कर प्रतीत होता है। विषय वस्तु का अभिज्ञ व्यक्ति अपने अभ्यस्त विषय का संशोधन भी उतना अच्छा नहीं कर सकता, जितना कि दूसरा व्यक्ति। मुझे वैसा कोई संस्कृत का जानकार संशोधक न मिल सका, अतः कुछ अशुद्धियाँ भी रह गई हैं, उन्हें अन्त में दे दिया गया है।

अद्वैतसिद्धि की व्याख्या (गौड़ ब्रह्मानन्दी लघु चन्द्रिका) का परीक्षोपयोगी अंश (अवच्छेदकता-निरुक्ति-पर्यन्त) प्रथम परिशिष्ट में हिन्दी व्याख्या के साथ दे दिया गया है। क्लिष्ट दार्शनिक शैली के ग्रंथों का किसी भाषा में अनुवाद या व्याख्यान करते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है कि मूल ग्रन्थ का आशय प्रकट भी हो जाय और अनावश्यक विस्तार भी न होने पाए। मौलिक परिधियों में आबद्ध होने के कारण उन्मुक्त पदावली का प्रयोग भी नहीं हो सकता, अवच्छेदक-अवच्छिन्न अनुयोगी-प्रतियोगी, वृत्तिव्याप्य-फलव्याप्यादि पारिभाषिक शब्दों के स्थान पर शब्दान्तर का प्रयोग भी सम्भव नहीं, अतः भाषा में अधिक सरलता-सरसता का लाना सुकर नहीं हो सकता।

माध्व मत के ग्रंथों की दुर्लभता के कारण न्यायामृतादि को विभिन्न प्रतियों या हस्तलेखों से मिलाया नहीं जा सका। अद्वैतसिद्धि का प्रामाणकि हस्तलेख मेरे पास था, अतः उससे पूर्णतया मिलान किया गया है, मुद्रित पूर्व प्रतियों में बहुत से अशुद्ध पाठ पाए गये हैं, यथास्थान उनका संशोधन कर दिया गया है। परिशिष्ट में अनुव्याख्यान देने का विचार था, न्यायामृतकार ने उसे अधिकाधिक उद्धृत किया है, किन्तु कुछ असुविधाओं के कारण वैसा नहीं किया जा सका।

कुछ महानुभावों ने सुझाव रखा था कि न्यायामृत के आलोच्य ग्रन्थों के अंश परिशिष्ट में दिए जाँय, किन्तु वह भी सम्भव नहीं हो पाया, क्योंकि श्री व्यासराज तीर्थ ने सप्तम शतक के—माण्डूक्य-कारिका, अष्टम शतक के—शाङ्कर भाष्य, ब्रह्मसिद्धि, पञ्चपादिका, सुरेश्वर-वार्तिक, नवम शतक के—संक्षेप शारीरक, भामती, एकादश शतक के—इष्टसिद्धि पञ्चपादिका, विवरण, द्वादश शतक के—खण्डनखण्डखाद्य, न्याय-मकरन्द, प्रमाणमाला, न्यायदीपावली, त्रयोदश शतक के—कल्पतरु, चित्सुखी, चतुर्दश शतक के—पञ्चदशी, पञ्चदश शतक के तत्त्वशुद्धि—आदि ग्रंथों का नाम ले-ले कर उनके मन्तव्यों की विस्तृत समीक्षा की है। उनके समीक्ष्य स्थलों का निर्देश यथा स्थान कोष्ठक में दिया गया है, पृथक् परिशिष्ट में उनके देने की आवश्यकता भी नहीं रह जाती।

प्रूफ-संशोधनादि में हमारे विद्यालय के प्रधानाचार्य पं० पुरुषोत्तम जी त्रिपाठी तथा विद्यालय के स्नातक स्वामी राधारमण ने पूरी सहायता की है और सरिता प्रेस के सभी कर्मचारियों ने पूर्ण सहयोग प्रदान किया है, अतः इन सभी का आभारी हूँ और इनको हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

के० ३७/२ ठठेरी बाजार
वाराणसी
विजयादशमी १९७७ ई०

स्वामी योगीन्द्रानन्द

परिचय

प्रस्तुत संकलन में वेदान्त के दो ग्रन्थरत्न संकलित हैं—(१) 'न्यायामृत' और (२) 'अद्वैतसिद्धि'। न्यायामृत का खण्डन अद्वैतसिद्धि है, अतः इससे पहले न्यायामृत का परिचय अपेक्षित है—

(१) न्यायामृत

(क) ग्रन्थ और उसकी शैली—

द्वैत के विशाल नीलाम्बर को चीरती हुई अद्वैत-ज्योति समुद्भासित होती है, अतः द्वैत और अद्वैत की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता सहज-सिद्ध एवं उनके प्रतिष्ठापक आचार्यों में प्रतिशोध की भावना का होना अनिवार्य है। वीतराग तत्त्वज्ञ-वर्ग के भी चरण द्वैत-निराकरण की दिशा में अग्रसर होने के लिए विवश हो जाते हैं—"यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदम्पर्यं निरूपयितुं शास्त्रं प्रवृत्तम्, न तर्कशास्त्रवत् केवलाभिर्युक्तिभिः कंचित् सिद्धान्तं साधयितुं दूषयितुं वा प्रवृत्तम्; तथापि वेदान्तवाक्यानि व्याचक्षाणैः सम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानि सांख्यादिदर्शनानि निराकरणीयानि" (ब्र० सू० शां० भा० २।२।१)। यह एक छोटा-सा प्रस्ताव प्रतिपक्ष के लिए गम्भीर चुनौती बन गया, इससे द्वैत-साम्राज्य के संरक्षक दल में खलबली मच जाती है, फलतः संसार के त्यागी-तपस्वी यतिराट् महारथी रण-प्राङ्गण में उतर आए किसी भौतिक सम्पदा की लिप्सा से नहीं, केवल अपने-अपने सिद्धान्तों का संरक्षण करने के लिए। उनका वह घनघोर वाग्युद्ध आज भी चालू है। आचार्य शङ्कर ने एक नई दिशा भी दिखाई, जिसकी ओर श्री मधुसूदन सरस्वती ने कल्पलतिका के आरम्भ में संकेत किया है—

मीमांसया कपटतो भुजगाम्बयेव स्वाधीनतामुपनिषद्विनतेव नीता।
येनोद्धृतामृतफलेन गरुत्मतेव, तस्मै नमो भगवतेऽद्भुतशङ्कराय॥

महर्षि कश्यप की दो पत्नियाँ थीं—(१) कद्रू, (२) विनता। कद्रू ने अपने छलबल से विनता को अपनी दासी बना लिया। विनता का महान् पराक्रमी पुत्र गरुड़ देवगणों को परास्त कर स्वर्ग से अमृत लाया और अपनी माता को दासता से मुक्त किया। आचार्य शङ्कर ने भी पूर्व मीमांसा के चंगुल से उपनिषद् को मुक्ति दिलाई और मोक्षरूप अमृत की प्रधानता स्थापित की। आचार्य शंकर से पहले प्रायः उपनिषत्काण्ड को किसी-न-किसी रूप में कर्मकाण्ड के अधीन और उत्तर मीमांसा को पूर्वमीमांसा का एक अङ्ग माना जाता था, आचार्य शंकर ने उपनिषत्काण्ड एवं उत्तर मीमांसा को सर्वथा स्वतन्त्र घोषित किया, अत एव आचार्य भास्कर एवं उनके परवर्ती प्रायः सभी द्वैताचार्यों ने शाङ्कर मतवाद का प्रतिवाद किया। कालक्रम से विशिष्टाद्वैत के उपासक विशिष्ट विद्वान् श्री वेङ्कटनाथ वेदान्तदेशिक (सन् १२६९-१३६९) ने अपनी 'शतदूषणी' में शाङ्कर वेदान्त के ६४ वादों की पाण्डित्यपूर्ण परीक्षा (आलोचना) प्रस्तुत की। उसकी यत्र-तत्र विष्कलित प्रत्यालोचना होती रही, किन्तु म० म० अनन्तकृष्ण शास्त्री ने सन् १९५६ में शतदूषणी की आनुपूर्वी व्यवस्थित समीक्षा 'शतभूषणी' प्रकाशित की, शतभूषणी की आलोचना 'परमार्थभूषण' का प्रकाशन श्री उत्तमूर् वीरराघवाचार्य ने सन् १९५९ में और परमार्थभूषण के खण्डनात्मक 'अद्वैततत्त्वसुधा' ग्रन्थ का प्रकाशन म० म० श्री अनन्तकृष्ण शास्त्री ने ही सन् १९६२ में कर दिया। 'शतदूषणी' ही न्यायामृत का प्रधान आदर्श एवं मार्ग-दर्शक है, अतः शतदूषणी की विषयावली को एक दृष्टि में लाना आवश्यक है—

श्रीवेङ्कटनाथार्यविरचित

शतदूषणी की विषयानुक्रमणिका

संख्या	विषयः	संख्या	विषयः
१.	ब्रह्मशब्दवृत्त्यनुपपत्तिवादः	२.	जिज्ञासानुपपत्तिवादः
३.	ऐकशास्त्र्यसमर्थनवादः	४.	अविधेयज्ञानवादः
५.	बाधितानुवृत्तिभङ्गवादः	६.	विविदिषासाधनत्वभङ्गवादः
७.	शब्दजन्यप्रत्यक्षभङ्गवादः	८.	साधनचतुष्टयपूर्वत्वभङ्गवादः
९.	कथानधिकारवादः	१०.	निर्विशेषस्वप्रकाशवादः
११.	निर्विशेषनिर्विकल्पकभङ्गवादः	१२.	सन्मात्रग्राहिप्रत्यक्षभङ्गवादः
१३.	भेददूषणनिस्तारवादः	१४.	वेदप्रामाण्यपरिग्रहानुपपत्तिवादः
१५.	दृश्यत्वानुमाननिरासवादः	१६.	व्यावर्तमानत्वानुमानभङ्गवादः
१७.	दृग्दृश्यसम्बन्धाननुपपत्तिवादः	१८.	बाह्यप्रकाशानुपपत्तिवादः
१९	ब्रह्माश्रयाज्ञाननिरासवादः	२०.	अवेद्यत्वभङ्गवादः
२१.	संविदनुपपत्तिदूषणवादः	२२.	संविन्निर्विकारत्वभङ्गवादः
२३.	संविन्नानात्वनिषेधकभङ्गवादः	२४.	निर्विशेषत्वानुमानभङ्गवादः
२५.	संविदात्वभङ्गवादः	२६.	अहमर्थात्मत्वसमर्थनवादः
२७.	ज्ञातृत्वाध्यासभङ्गवादः	२८.	साक्षित्वभङ्गवादः
२९.	प्रत्यक्षशास्त्राविरोधवादः	३०.	असत्यात्सत्यसिद्धिभङ्गवादः
३१.	जीवन्मुक्तिभङ्गवादः	३२.	बाधार्थसामानाधिकरण्यभङ्गवादः
३३.	संविदद्वैतभङ्गवादः	३४.	उपदेशानुपपत्तिवादः
३५.	तिरोधानानुपपत्तिवादः	३६.	आत्माद्वैतभङ्गवादः
३७.	जीवेश्वरैक्यभङ्गवादः	३८.	अखण्डवाक्यार्थखण्डनवादः
३९.	भावरूपाज्ञानभङ्गवादः	४०.	जीवाज्ञानभङ्गवादः
४१.	अविद्यास्वरूपानुपपत्तिवादः	४२.	मायाविद्याविभागभङ्गवादः
४३.	निवर्तकानुपपत्तिवादः	४४.	निवृत्त्यनुपपत्तिवादः
४५.	शब्दावेद्यत्वनिरासवादः	४६.	निष्प्रपञ्चीकरणनियोगभङ्गवादः
४७.	विकल्पप्रामाण्यभङ्गवादः	४८.	उपबृंहणवैघट्यवादः
४९.	ऐक्योपदेशान्यथोपपत्तिवादः	५०.	परमते शास्त्राधिकारिभङ्गवादः
५१.	मुक्तसंविन्निर्विषयत्वभङ्गवादः	५२.	सगुणनिर्गुणश्रुतिव्यवस्थावादः
५३.	ब्रह्मोपादानत्वान्यथानुपपत्तिवादः	५४.	मायोपादानत्वापत्तिभङ्गवादः
५५.	कार्यान्वियानुपपत्तिभङ्गवादः	५६.	आनन्त्यनिरूपणवादः
५७.	निर्विशेषब्रह्मण आनन्दत्वभङ्गवादः	५८.	नित्यत्वभङ्गवादः
५९.	परमते अद्वितीयश्रुतिविसंवादवादः	६०.	सत्त्वासत्त्वविवेकवादः
६१.	जीवैक्यभङ्गवादः	६२.	अपशूद्राधिकरणविरोधवादः
६३.	अधिकारिविवेकवादः	६४.	यतिलिङ्गभेदभङ्गवादः
६५.	अलेपकमतभङ्गवादः	६६.	परमते सूत्रस्वारस्यभङ्गवादः

न्यायामृतकार श्री व्यासतीर्थ से पहले भी श्री जयतीर्थ (सन् १३६५–१३८८) ने अपनी वादावली में विशेषतः चित्सुखी (तत्त्वप्रदीपिका) की समीक्षा करते हुए ३४ विषयों पर संक्षिप्त विचार प्रदर्शित किए हैं—

१. अविद्यालक्षणनिरासः
२. अविद्याप्रमाणनिरासः
३. मिथ्यात्वनिरुक्तिनिरासः
४. दृश्यत्वविकल्पनिरासः
५. दृश्यत्वहेतुनिरासः
६. जडत्वहेतुनिरासः
७. परिच्छिन्नत्वहेतुनिरासः
८. मिथ्यात्वानुमानस्य प्रत्यक्षबाधः
९. मिथ्यात्वानुमानस्य श्रुतिबाधः
१०. मिथ्यात्वानुमानस्य स्मृतिविरोधः
११. मिथ्यात्वानुमानस्यानुमानविरोधः
१२. मिथ्यात्वानुमानस्य दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्
१३. मिथ्यात्वहेतूनां प्रतिकूलतर्कपराहतिः
१४. अंशित्वानुमानस्य बाधः
१५. अंशित्वानुमाननिरासः
१६. मिथ्यात्वहेतूनामप्रयोजकत्वम्
१७. सत्यत्वहेतूनां प्रतिकूलतर्कोद्धारः
१८. ''नेह नाना'' इति श्रुत्यर्थविचारः
१९. ''एकमेव'' इति श्रुत्यर्थविचारः
२०. विश्वसत्यत्वप्रतिपादनोपसंहारः
२१. भेदबाधकयुक्तिनिरासः
२२. भेदमिथ्यात्वानुमाने असिद्धिदोषः
२३. भेदमिथ्यात्वानुमानस्य सोपाधिकत्वम्
२४. भेदस्य प्रत्यक्षग्राह्यत्वसमर्थनम्
२५. भेदस्य धर्मिस्वरूपत्वसमर्थनम्
२६. कालादेः साक्षिसिद्धत्वम्
२७. साक्षिसमर्थनम्
२८. प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वसमर्थनम्
२९. कालस्य साक्षिवेद्यत्वम्
३०. भेदप्रत्यक्षस्यान्योऽन्याश्रयाद्युद्धारः
३१. धर्मिप्रतियोगिभेदप्रत्ययानां यौगपद्यम्
३२. विशेषपदार्थसमर्थनम्
३३. भेदप्रत्यक्षस्याबाध्यत्वम्
३४. भेदमिथ्यानुमानस्य व्यभिचारादिदोषाः

ऊपर निर्दिष्ट शतदूषणी और वादावली आदि खण्डनात्मक ग्रन्थों की विषय वस्तु एवं तर्क-प्रणाली के उपजीवक न्यायामृत की शैली उनसे नितान्त पृथक् है। ब्रह्मसूत्र के

समन्वय, अविरोध, साधन और फल नाम के चार अध्यायों का क्रम अपनाकर श्री चित्सुखाचार्य ने अपनी चित्सुखी (तत्त्वप्रदीपिका) का निर्माण किया. न्यायामृत में वही शैली अपना कर अपने में चित्सुखी की प्रत्यक्षत: प्रतिपक्षता प्रदर्शित की है। अपने इस दायित्वपूर्ण अभिनय में न्यायामृत ने पूर्ण सफलता प्राप्त की। इसी के पद-चिह्नों पर चलकर इसके टीका-परिवार ने भी विपुल ख्याति अर्जित की है। न्यायामृत पर आठ टीकाएँ हुई हैं—

१. तरङ्गिणी
२. न्यायामृतसौगन्ध्य
३ न्यायामृतकण्टकोद्धार
४. न्यायामृतामोद
५. रसकूलङ्कषा
६. न्यायामृतप्रकाश
७. यादवेन्द्रीय
८. माधुरी

१. **तरङ्गिणी**—श्री व्यासराज के साक्षात् शिष्य श्री रामाचार्य (१६वीं शतक) ने अपनी 'न्यायामृततरङ्गिणी' नाम की व्याख्या में अद्वैतसिद्धि का आमूल-चूल संक्षिप्त खण्डन किया है। इनके विषय में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि जब 'अद्वैतसिद्धि' व्यास-राज के हाथों में पहुँची, तब उनका शरीर अत्यन्त वार्धक्य से जर्जरित हो चुका था, अतः अपने प्रधान शिष्य श्री रामाचार्य को आदेश दिया कि वे छद्म वेश में श्री मधुसूदन सरस्वती से ही अद्वैतसिद्धि का पूर्ण अध्ययन करके खण्डन करें। श्री रामाचार्य नें वैसा ही किया। उनके अथक परिश्रम से न्यायामृत की अवरुद्ध धारा पुनः तरङ्गित हो उठी और अबाध गति से तब तक तरङ्गित रही, जब तक श्री गौड़ ब्रह्मानन्द (१७वीं शतक) ने अपनी अद्वैतसिद्धि की 'गुरुचन्द्रिका' और 'लघुचन्द्रिका' नाम की व्याख्याओं में तरङ्गिणी का पूर्णरूपेण खण्डन नहीं कर दिया।

२. **न्यायामृतसौगन्ध्य**—श्री वनमालि मिश्र (१७वीं शतक) ने अपने इस सौगन्ध्य व्याख्यान में चन्द्रिका की आलोचना की है। चन्द्रिका के व्याख्याता श्री विट्ठ-लेश उपाध्याय ने अपनी विट्ठलेशी में सौगन्ध्य की प्रत्यालोचना कर डाली है। म. म. अनन्तकृष्णशास्त्री ने भी सौगन्ध्यविमर्श में विशेषरूप से सौगन्ध्य का निराकरण किया है।

३. **न्यायामृतकण्टकोद्धार**—श्री विजयीन्द्रस्वामी (१६वीं शतक) ने अपने इस कण्टकोद्धार में अद्वैतसिद्धिरूप कण्टकावली के उद्धार कार्य से ही तरङ्गिणीरूपी पुष्प-वाटिका भी उजाड़ डाली है।

४. **न्यायामृतामोद**—विजयीन्द्रस्वामी कण्टकोद्धार के रचयिता नहीं, अपि तु न्यायामृतामोद के प्रणेता हैं—ऐसा भी कहा जाता है। विजयीन्द्रस्वामी भी व्यासतीर्थ के साक्षात् शिष्य थे, अत एव व्यासतीर्थ, अप्पय दीक्षित, नृसिंहाश्रम, मधुसूदन सर-स्वती, सिद्धिव्याख्याकार बलभद्र, रामाचार्य और विजयीन्द्रस्वामी लगभग समसामयिक माने जाते हैं। विजयीन्द्रस्वामी भी प्रसिद्ध ग्रन्थकार हैं, इन्होंने १०४ ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें अप्पयदीक्षित के उपक्रमपराक्रम का खण्डन 'उपसंहारविजय' तथा मधुसूदन सरस्वती की गीता-गूढ़ार्थदीपिका का खण्डन 'युक्तिमल्लिका' महत्त्वशाली हैं।

कतिपय विद्वानों का कहना है कि युक्तिमल्लिका के प्रणेता वादीन्द्र विजयीन्द्र से भिन्न व्यक्ति थे।

५. **रसकूलङ्कषा**—इस टीका के रचयिता का नाम कुण्डलगिरि सूरी कहा जाता है।

६. **न्यायामृतप्रकाश**—यह श्रीनिवासाचार्य की कृति है। निर्णयसागर, बम्बई से १९०८ ई० में प्रकाशित हुई है। मूलग्रंथोपयोगी अच्छी व्याख्या है।

७. **यादवेन्द्रीय**—इसे यादवेन्द्राचार्य ने बनाया था।

८. **माथुरी**—यह व्याख्या श्रीमन्नारुकृष्णाचार्य की रचना मानी जाती है।

(ख) ग्रन्थकार— द्वैतदर्शन के संस्थापक आनन्द तीर्थ पूर्णप्रज्ञ नाम से प्रसिद्ध श्रीमध्वाचार्य ही हैं। सन् ११९८ से १२७५ या १३०३ ई० तक इनका समय माना जाता है। प्रस्थानत्रयी (उपनिषत्, ब्रह्मसूत्र और गीता) पर इनके भाष्य हैं। अकेले ब्रह्मसूत्र पर तीन ग्रन्थ हैं—(१) भाष्य (२) अनुव्याख्यान और (३) अणुभाष्य— इसके चारों अध्यायों में क्रमशः ८, ८, ७ और ९ श्लोक कुल मिला कर ३२ श्लोक हैं। अनुव्याख्यान भी पद्यात्मक ही है और एक महत्त्वपूर्ण कृति माना जाता है। न्यायामृतकार ने स्थान-स्थान पर इसे उद्धृत किया है। इनसे अतिरिक्त श्रीमध्वाचार्य ने महाभारततात्पर्य-निर्णय, गीतातात्पर्यनिर्णय, तन्त्रसारसंग्रह, 'भागवततात्पर्यनिर्णय' आदि ग्रंथ लिखे हैं, 'ऋग्वेद-भाष्य' भी लिखा है, जिसमें 'अग्नि'—आदि शब्दों को परमेश्वरपरक माना गया है—

"यथैवाग्नचादयः शब्दाः प्रवर्तन्ते जनार्दने।
तथा निरुक्तिं वक्ष्यामो ज्ञानिनां ज्ञानसिद्धये ॥"

(ऋग्वेद भाष्य० पृ० १)

सम्भवतः इसी माध्वभाष्य ने स्वामी दयानन्दसरस्वती जैसे ज्ञानी पुरुषों को वह ज्ञान प्रदान किया, जिसके आधार पर उन्होंने अपना वेद-भाष्य बनाया है।

श्रीमध्वाचार्य के शिष्य श्रीअक्षोभ्य तीर्थ और अक्षोभ्य तीर्थ के शिष्य श्रीजयतीर्थ थे। जयतीर्थ का समय १३८८ ई० माना जाता है। जयतीर्थ ने ही माध्व-भाष्यों पर महत्त्वपूर्ण टीकाएँ रच कर 'टीकाचार्य' की पदवी प्राप्त की थी। इनके दो पद्यात्मक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं— (१) ब्रह्मसूत्र-अनुव्याख्यान की व्याख्या 'न्यायसुधा' और दूसरा चित्सुखी का खण्डनात्मक मौलिक ग्रन्थ—वादावली। श्रीव्यासतीर्थ ने इनके वैदुष्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है—

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ (न्यायामृत० पृ० १)

प्रस्तुत न्यायामृत के आविष्कर्त्ता श्रीव्यासराय या व्यासराजतीर्थ भी चर्चित माध्व विद्वन्मण्डली के एक चमकीले रत्न हैं। इनका समय १४४७–१५३९ ई० माना जाता है। विजयानगर के महाराज कृष्णदेवराय की इन पर विशेष श्रद्धा थी। श्रीव्यासतीर्थ ने ही मैसूर में श्री 'व्यासार्य' नाम के मठ की स्थापना की थी, जहाँ आज भी उनके उत्तराधिकारियों की परम्परा चली आ रही है। श्रीव्यासतीर्थ ने ब्रह्मण्य-तीर्थ को अपना दीक्षा-गुरु और लक्ष्मीनारायणमुनि को विद्यागुरु माना है—

ज्ञानवैराग्यभक्त्यादिकल्याणगुणशालिनः।
लक्ष्मीनारायणमुनीन् वन्दे विद्यागुरून् मम ॥ (न्यायामृत० पृ० २)

श्री व्यासराज तीर्थ-द्वारा विरचित ग्रन्थ हैं—

१. न्यायामृत (इसकी परिचर्चा ऊपर आ चुकी है)।
२. तर्कताण्डव (न्यायमत-समालोचन)
३. तात्पर्यचन्द्रिका (जयतीर्थकृत तत्त्वप्रकाशिका की व्याख्या)
४. भेदोज्जीवन (पञ्चविध भेदों का समर्थन)
५. मन्दारमञ्जरी (तत्त्वविवेक-टीका)
६. मायावादखण्डनटीका

श्रीव्यासतीर्थ न्यायामृत में कहीं-कहीं माध्वमतानुसार प्रमेय तत्त्व की स्थापना कर जाते हैं, अतः माध्वाभिमत प्रमेयांश का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है। वायु देव इस मत का मूल प्रवर्तक है, वायु के क्रमशः तीन अवतार हुए हैं—(१) हनुमान्, (२) भीम और (३) मध्वाचार्य। उसी क्रम से उपदेश की परम्परा मानी जाती है। यद्यपि वैशेषिकों की शैली पर ही इनके प्रमेय-वर्ग का विश्लेषण किया गया है, तथापि प्रत्येक पदार्थ में इनकी अपनी विशेषता निहित होती है—

पदार्थ—समूचा विश्व पारमार्थिक वस्तु सत् है और वह दस मौलिक पदार्थों में विभक्त है—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) विशिष्ट, (७) अंशी, (८) शक्ति, (९) सादृश्य और (१०) अभाव।

(१) **द्रव्य**—सभी द्रव्य पदार्थों की संख्या बीस होती है—१-परमात्मा (ब्रह्म), २—लक्ष्मी, ३—जीव, ४—अव्याकृत आकाश, ५—प्रकृति, ६—गुण सत्त्व, रज, (तम), ७—महत्तत्त्व, ८—अहङ्कार, ९—बुद्धि, १०—मन, ११—इन्द्रिय, १२—मात्रा, १३—भूत, १४—ब्रह्माण्ड, १५—अविद्या, १६—वर्ण, १७—अन्धकार, १८—वासना, १९—काल और २०—प्रतिबिम्ब।

(२) **गुण**—वैशेषिक-सम्मत रूपादि गुणों से अतिरिक्त शम, दम, दया, तितिक्षा, सौन्दर्यादि गुण भी माने जाते हैं।

(३) **कर्म**—विहित, निषिद्ध और उदासीन भेद से कर्म तीन प्रकार का होता है। उत्क्षेपणादि परिस्पन्दनात्मक क्रियाओं को उदासीन कर्म कहा जाता है।

(४) **सामान्य**—जाति और उपाधि के भेद से सामान्य द्विविध होता है।

(५) **विशेष**—वैशेषिकों के समान ही भेद-निर्वाहक पदार्थ को विशेष कहा है उसके न होने पर समस्त विश्व एक पिण्डात्मक लोथड़ा-सा बन कर रह जायगा।

(६) **विशिष्ट**—विशेषण और विशेष्य से अतिरिक्त विशिष्ट पदार्थ होता है।

(७) **अंशी**—शरीर, घट, पटादि अवयवी पदार्थों को अंशी कहते हैं।

(८) **शक्ति**—शक्ति चार प्रकार की होती है, अचिन्त्य शक्ति, आधेय शक्ति, सहज शक्ति और शब्द-शक्ति। परमात्मा की अद्भुत शक्ति अचिन्त्य शक्ति है। लक्ष्मी और वायु आदि में भी अचिन्त्य शक्ति है, किन्तु परमात्मा की शक्ति से कुछ न्यून। प्रतिमा में प्राण-प्रतिष्ठा के द्वारा आहित शक्ति आधेय शक्ति, अग्न्यादि में दाहादि की शक्ति सहज शक्ति तथा शब्दगत बोध-जनिका शक्ति शब्द-शक्ति कही जाती है।

(९) **सादृश्य**—मीमांसक-सम्मत सादृश्य के समान ही सादृश्य को पृथक पदार्थ माना जाता है।

(१०) **अभाव**—तार्किकादि-चर्चित अभाव के समान ही अभाव अनेक प्रकार का होता है।

परमात्मा विभु और जीव अणु माना जाता है। मुक्त जीव में भी आनन्द

का तारतम्य बना रहता है—श्रीआनन्दतीर्थ भगवत्पाद ने ही अपने अणुभाष्य में कहा है—

सर्वदेशेषु कालेषु स एकः परमेश्वरः।
तद्भक्तितारतम्येन तारतम्यं विमुक्तिगम् ॥ (अणु० ४।३)

उन्होंने ही अपने गीता-भाष्य में भी कहा है—

मुक्ताः प्राप्य परं विष्णुं तद्देहे संश्रिता अपि।
तारतम्येन तिष्ठन्ति गुणैरानन्दपूर्वकैः ॥

(१) कर्म-क्षय, (२) उत्क्रान्ति, (३) अर्चिरादि-गति और (४) भोग नाम से मुक्ति के चार खण्ड माने गये हैं। भोग भी चार प्रकार का होता है—(१) सालोक्य, (२) सामीप्य, (३) सारूप्य और (४) सायुज्य

न्यायामृतकार की कुछ कटु उक्तियाँ—

१. न्यायामृत पृ० ४९ पर प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधक 'दृश्यत्व' हेतु का खण्डन करते हुए अद्वैतवेदान्त पर यह आरोप लगाया है कि "दृश्यत्वहेतूक्तिरपि–'स्तम्भादिप्रत्ययो मिथ्या, प्रत्ययत्वात् तथा हि यः प्रत्ययः स मृषा दृष्टः स्वप्नादिप्रत्ययो यथा॥' (श्लो० वा० पृ० १२२) इति बौद्धोक्तयुक्तिचर्छादिमात्रम्।" अर्थात् अद्वैतवेदान्तियों का सर्वमिथ्यात्व-साधन बौद्धों का थूक चाटना है, क्योंकि बुद्ध ने सर्वमिथ्यात्व पहले ही घोषित कर रखा है। इसी प्रकार के आरोप पूर्ववर्ती शतदूषणीकारादि ने भी किए हैं।

यद्यपि उन आरोपों का निराकरण भी पूर्वाचार्यों ने कर दिया है, जैसा कि विवरणकार कहते हैं—"यत्किञ्चित्साम्यादपसिद्धान्ते सर्वसिद्धान्तसंकरः स्यात्। अस्ति चात्र महान् सिद्धान्तभेदः—क्षणिकविज्ञानाद् भेदेनार्थक्रियासामर्थ्यसत्त्वशून्यं विषयमाहुर्विज्ञानवेदिनः, तत्त्वदर्शिनस्तु अद्वितीयात् संवेदनादभेदेऽपि विषयस्य भेदेनापि अर्थक्रियासामर्थ्यसत्त्वं स्थायित्वं चाबाधितमस्तीति वदन्ति, तत्र कथं सिद्धान्तसंकरः ?" (विवरण० पृ० ३१७)। श्रीप्रकाशात्मयति से भी बहुत पहले संक्षेपशारीरककार ने आक्षेप और समाधान सभी कुछ कहा है—

शाक्यभिक्षुसमयेन समः,
प्रतिभात्ययं भगवत्समयः।
यदि बाह्यवस्तु वितथं नु कथं
समयाविमौ न सदृशौ भवतः॥
यदि बोध एव परमार्थवस्तु
न तु बोध्यमित्यमिमतं भवति।
ननु चाश्रितं भवति बुद्धमुनेः
मतमेव कृत्स्नमिह मस्करिभिः॥
ननु मातृमानविषयावगतीः
अपरस्परं प्रति विभागवतीः।
उपयन् भदन्तमुनिना सदृशः
कथमेष वैदिकमुनिर्भवितीति॥ (सं० शा० पृ० ३१५)

अर्थात् किसी एक अंश की समानतामात्र के आधार पर दार्शनिक सिद्धान्तों का एकीकरण सम्भव नहीं। विज्ञानवाद की पूर्ण समता अद्वैत वेदान्त में नहीं, क्योंकि विज्ञानवादी बाह्य पदार्थों को सर्वथा निस्तत्त्व और असत् मानते हैं; किन्तु अद्वैत वेदान्त में

व्यावहारिक सत्ता और अर्थक्रियाकारिता बाह्य प्रपञ्च में अभीष्ट है, स्वाप्नप्रपञ्च प्रातिभासिकमात्र है, उससे व्यावहारिक जगत् का महान् अन्तर है।

तथापि आक्षेपवादी उससे सन्तुष्ट नहीं और अपने पूर्वजों के आरोप दुहराते जा रहे हैं।

२. न्यायामृत पृ० २९५ पर कहा गया है—"केचिन्मायिभिक्षवः···आत्मख्यातिवादिभिरुक्तं ग्राह्यलक्षणाभावाख्यं तर्कं भिक्षित्वाहुः।" न्यायामृतकार से पहले शतदूषणीकार कह चुके हैं—"आत्मख्यातिवादिभिरार्जितं ग्राह्यलक्षणायोगरूपं तर्कं भिक्षित्वा दृग्दृश्ययोः सम्बन्धानुपपत्तिरिति नामान्तरेण पठन्ति" (शतदूषणी पृ० ८८)। उसी आक्षेप में न्यायामृतकार ने कुछ पदों का हेर-फेर मात्र कर दिया है। बौद्ध भिक्षु मायावादी नहीं, शाङ्कर भिक्षु ही मायी हैं।

३. न्यायामृत पृ० ४५८ पर कहा गया है—"बौद्धाभिमतक्षणिकत्वसिद्धयर्थमुक्तं विश्वस्य दृष्टिसृष्टिः"। दृष्टिसृष्टिवाद बौद्धाभिमत क्षणिकत्व-प्रक्रिया का उपोद्वलक होने के कारण दार्शनिक जगत् पर बौद्ध-वर्चस्व को बढ़ा रहा है।

४. न्यायामृत पृ० १००८ पर कहा है—"नाप्यौपनिषदंमन्यस्यापि तवैव वितण्डेति नियमः, त्वदिच्छाननुसारित्वात् प्राश्निकानाम्"।

पौराणिक प्रच्छन्नबौद्धवादिता का कलङ्क अद्वैत वेदान्त पर मढ़ने से अतिरिक्त अद्वैत सिद्धान्तों के विपरीत प्रतिवन्दियाँ भी न्यायामृत में देखी जाती हैं, जैसे पृ० १०३६ पर कहा है कि "सापेक्षत्वात् सावधेश्च तत्त्वेऽद्वैतप्रसङ्गतः। नैकाभावादसन्देहान्न रूपं वस्तुनो भिदा॥" (चित्सु० पृ० २८५) का वास्तविक पाठ ऐसा है—

सापेक्षत्वात् सावधेश्च तत्त्वे द्वैतप्रसङ्गतः।
नैकाभावादसन्देहान्न रूपं वस्तुनोऽभिदा॥

आगे चलकर हम देखेंगे कि श्री मधुसूदन सरस्वती इस क्षेत्र में भी न्यायामृतकार से पीछे नहीं रहे, किन्तु कटूक्तियों के स्थान पर मृदूक्तियों का प्रयोग किया है।

न्यायामृतकार के आलोच्य अद्वैताचार्य—

चित्सुखाचार्य से अतिरिक्त श्री पद्मपादाचार्य, वार्तिककार, संक्षेपशारीरककार, विवरणकारादि के मतवादों की विशेष आलोचना भी न्यायामृतकार ने की है—यह देखने एवं श्री व्यासराज तीर्थ के व्यापक वैदुष्य की झलक पाने के लिए न्यायामृत में उद्धृत ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की सूची प्रस्तुत की जाती है—

अनुव्याख्यान	३२, १२५६
आनन्दबोध	९, १३, २७१, ८१७
इष्टसिद्धि	३६४
उदयनाचार्य	१८३
कल्पतरु	८५०
कुसुमाञ्जलि	७१५
कूर्मपुराण	४४७
कैयट	४३३, ४३८, ९४८
कौमुदो (तत्त्वकौमुदी)	३७२, ४४६, १२३६
खण्डनखण्डखाद्य	१५६, १८२, २८४, २८६, २९३
	४१८, ४२१, ४२३, ४३१

गौड़पादाचार्य	४८१
चित्सुखाचार्य	५८, ६०
चिन्तामणि (न्या० त० चि)	१०४२
टीका (अनुव्याख्यान टी०)	७०८, १२५४, १२५५
टुप्टीका	१४९
तत्त्वप्रदीपिका	१०, १३२०
तत्त्वशुद्धि	७२
नयविवेक	२४५
न्यायदीपावली	१३
पञ्चदशी	३२८, ४३४
पञ्चपादिका	१२
पाशुपत	१२५७
प्रमाणमाला	१३. ७६
बौद्ध	४९, १२८५
बौद्धधिक्कार	३३८
ब्रह्मवैवर्त	१३२०
ब्रह्मसिद्धि	७७
भट्टपाद	५८
भामती	१२५३
भेदधिक्कार	२७३
मकरन्द (न्यायमकरन्द)	३१
मण्डनमिश्र	८२, २५३
मनु	१८४
महाभारत	४३८, ४४०, ४४३, ४४६, ४५८, १.८७, ११५९, १३१०
महाभाष्य	४०५, ४३३, ४३६, ४४१, ४४३
माण्डूक्यकारिका	४४४
मोक्षधर्म	६२४, ११७७, १३१६, १३२०
राणक	४४४
वाचस्पति	१२९, १४१, १४२, १४८, २४६, २७७, ४४२, ५८१, ६२९, १२४२
वाराह	१३१९
वार्तिक (भाट्टवार्तिक)	१७२, १७९, १८३, २६९, २७१ २७२, ४१७, ४४१, ६४२, १३१८
वार्तिक (सुरेश्वर-वार्तिक)	१२, १५८, १५९, १८२, २५३ ३५२, ४४५, ५३१, ५३२, ५६२, ५७७, १२४६
विद्यासागर	८६
विष्णुपुराण	४४७

विवरण (पंचपादिकाविवरण)	१२, १३, ६७, १३६, १७०, २५५, ३६४, ३८१, ४५५, ४८९, ५०३, ५६३, ५६८, ६१२, ७४१, ८४७ ९९२, ९९३, ११९५, १२२१, १२३०, १२४३, १२४६, १२५१, १२५२
शांकर भाष्य	४३६
शास्त्रदीपिका	१२१, १५१
संक्षेपशारीरक	३६७, ८३७
सुधा	१२२९, १२५५,
हरिवंशपुराण	५५५

(२) अद्वैतसिद्धि

(क) **ग्रन्थ और प्रतिपादन-शैली**--'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थ का विशेष परिचय देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि यह कोई स्वतन्त्र मूल ग्रन्थ नहीं, अपितु व्यासराजतीर्थ के द्वारा विरचित न्यायामृत ग्रन्थ का आमूलचूल आनुपूर्वी खण्डन ग्रन्थ है, किन्तु इसकी प्रतिपादन-शैली ऐसी सुसज्जित और सुदृढ़ है कि जिस व्यक्ति का द्वैताद्वैत-सम्प्रदाय से सम्पर्क नहीं और जो न्यायामृत को नहीं देख पाया है, वह व्यक्ति कदापि यह आँक नहीं सकता कि 'अद्वैतसिद्धि' एक स्वतन्त्र मूल ग्रन्थ नहीं। श्रीगौड़ ब्रह्मानन्द अवश्य ही कहीं-कहीं दूष्य (न्यायामृत) ग्रन्थ का परोक्षतः निर्देश कर जाते हैं, किन्तु मूल ग्रन्थ में कहीं भी उसकी झलक नहीं मिलती, या तो 'यत्तु' 'केचित्तु' आदि सामान्यरूप से उसे इङ्गित किया गया है या ऐसे सघन आवरण में उस पर मृदु व्यङ्ग्य कसा गया है कि वास्तविकता तक पहुँच पाना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। उससे भी आश्चर्य यह देख कर होता है कि कोई भी टीकाकार इस तथ्य को प्रकाश में नहीं लाना चाहता। क्या इससे अद्वैतसिद्धि की महनीयता और उपादेयता में कमी आती थी ? कदापि नहीं, अद्वैतदर्शन के विस्तृत परिवार में ऐसा प्रमेयबहुल, परिष्कृत एवं सुदृढ़ प्रक्रिया का अन्य कोई ग्रन्थ ही नहीं, जो इससे टक्कर ले सके। द्वैताद्वैत सिद्धान्त का वस्तुतः यह महाभारत है।

इसकी प्रतिपादन-शैली नितान्त विमल और प्राञ्जल है। भाषा में कहीं भी सभ्यता और वाद की मर्यादाओं का उल्लङ्घन नहीं पाया जाता, न्यायामृत-जैसी कटूक्तियाँ इसमें नहीं, कैसी स्नेहिल पदावली है—

तस्मादेवं विशेषोऽयं न मानविषयः सखे।
विवादं जहि मत्सिद्धाविच्छया सर्वसंगतिः॥ (पृ० १०६७)

प्रश्न में भी किसी प्रकार का उद्वेजकत्व नहीं पाया जाता—

एवं प्रत्यक्षतः प्राप्तभेदस्यैव निवारणात्।
असाक्षात्कृतजीवेशभेदादौ का कथा तव॥ (पृ० १०१८)

अपना पक्ष सबल होने पर भी लम्बे युद्ध में धैर्य अपेक्षित है—

हेतवोऽभीष्टसिद्धचर्थं सम्यञ्चो बहवश्च नः।
अल्पाः परस्य दुष्टाश्चेत्यत्र स्पष्टमुदीरितम्॥
अभीष्टसिद्धावनुकूलतर्कबलाबलं चात्र समीक्ष्य यत्नात्।
प्रवक्ष्यते दोषगणः परेषां न खेदनीयं तु मनोऽधुनैव॥ (पृ० २३०)

मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार किया है कि न्यायामृतकार ने प्रमाणों और तर्कों का एक विशाल भण्डार प्रस्तुत किया है, उसमें मेरा कोई विशेष योगदान नहीं मेरी विशेषता उनकी सञ्चालन प्रक्रिया में बुद्धि-कौशल से काम लेना मात्र है—

स्थितानि ग्रन्थेषु प्रकटमुपदिष्टानि गुरुभिः
गुणो वा दोषो वा न मम परवाक्यानि वदतः।
परं त्वस्मिन्नस्ति श्रमफलमिदं यन्निजधिया,
श्रुतीनां युक्तीनामकलि गुरुवाचां च विषयः॥ (पृ० १२२०)

ब्रह्म निर्गुण है, निराकार है, किन्तु निरानन्द और नीरस नहीं, इस रहस्य का उद्घाटन पृ० ९२३ पर किया है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

श्रीव्यासराजतीर्थ ने पूर्वजों की उक्ति उद्धृत की है—

एतादृशस्य वक्तारावुभौ जात्युत्तरकारकौ।
मायी माध्यमिकश्चैव तावुपेक्ष्यौ बुभूषुभिः॥

उस उद्वेजक उक्ति की प्रत्युक्ति अत्यन्त शीतल है—

अस्वव्याघातकैरेव जातिभिन्नैः सदुत्तरैः।
निरस्तं भेदमादाय स्वात्माभेदो निषीदति॥ (पृ० १०५५)

(ख) ग्रन्थकार—'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थ के रचयिता हैं—लोकोत्तर शेमुषी-सम्पन्न महान् विद्वान् श्रीमधुसूदन सरस्वती। प्रायः सभी ऐतिहासिक मनीषी यह स्वीकार करते हैं कि श्रीमधुसूदन सरस्वती बंगाली थे। फरीदपुर मण्डलान्तर्गत कोटालीपाड़ा परगना में इनका जन्म हुआ था। इनके पिता श्रीप्रमोदन पुरन्दर एक विद्वान् तपस्वी ब्राह्मण थे, उनकी चार सन्तानें थीं—

प्रमोदन पुरन्दराचार्य

श्रीनाथचूड़ामणि	यादवानन्द न्यायाचार्य	कमलजनयन	वागीश गोस्वामी

श्री पुरन्दराचार्य के तृतीय पुत्र श्री कमलजनयन नवद्वीप में ही उस समय के प्रसिद्ध न्यायाचार्य श्री मथुरानाथ तर्कवागीश से न्याय पढ़कर वाराणसी आ गये और दण्डी स्वामी श्री विश्वेश्वरसरस्वती से वेदान्त का अध्ययन करते-करते उनसे सन्यास दीक्षा ले ली। तब से आप आजीवन श्री मधुसूदन सरस्वती के रूप में विद्वन्मण्डली के अग्रगण्य और अद्वैतवाद के दृढ़ स्तम्भ बने रहे। श्री मधुसूदन सरस्वती का विस्तृत जीवन रसधारा (भक्तिरसायन-व्याख्या) की भूमिका में दिया गया है, यहाँ उनके समय की द्वैताद्वैतसम्बन्धी विचार-पद्धति का दिग्दर्शन मात्र अपेक्षित है।

इनका समय सन् १५४०–१६४७ माना जाता है। रामचरितमानस के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास आपके समसामयिक ही नहीं घनिष्ट मित्रों में थे। सुना जाता है कि रामायण के हिन्दी रूपान्तर पर संस्कृत के विद्वानों ने घोर आपत्ति उठाई थी, उस समय गोस्वामी तुलसीदास ने श्री मधुसूदन सरस्वती को लिखा था—

हरिहर-यश सुरनर-गिरा बरणहिं सन्त सुजान।
हांडी हाटक चारु रुचि राँधे स्वाद समान॥

अर्थात् जैसे सोने और मिट्टी की हाँडी में पकाए गए भात का स्वाद समान होता है, वैसे ही हरि (भगवान् राम) और हर (भगवान् शङ्कर) का यश (गुण-गान) चाहे सुर-गिरा (संस्कृत) में कहा जाय, चाहे नर-गिरा (क्षेत्रीय भाषाओं) में, उसके प्रभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता। श्रीमधुसूदन सरस्वती ने तुलसीदास की प्रशंसा में कहा था—

परमानन्दपत्रोऽयं जङ्गमस्तुलसीतरुः ।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता ॥

अर्थात् तुलसीदास एक ऐसे चलते फिरते तुलसी के तरुवर हैं, जिनको कवितारूपी मञ्जरी रामरूपी भ्रमर से सुशोभित है।

आईने अकबरी में उस समय के प्रसिद्ध विद्वानों, मौलवियों, फकीरों और साधुओं के नाम दिये गए हैं, श्री मधुसूदन सरस्वती का भी विद्वन्मण्डली के साथ नाम अङ्कित है, अकबर का राज्य काल सन् १५५६ से सन १६०७ तक माना जाता है और अबुल्फज्ल १५९८ ई० में आईने अकबरी लिख चुके थे, अतः सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सरस्वती जी अवश्य ही वाराणसी को सुशोभित कर रहे होंगे। यह किंवदन्ती भी तथ्यपूर्ण प्रतीत होती है कि सरस्वती जी का अकबर के अर्थ-सचिव श्री टोडरमल से प्रेम था, अकबरी दरबार में इन्हें आमन्त्रित किया गया था और वहाँ आयोजित एक विशाल विद्वत्सभा के सभापति-पद पर श्री मधुसूदन सरस्वती को समासीन किया गया था, आपके वैदुष्य से प्रभावित होकर अकबर एव समूची विद्वत्सभा ने एकमत से यह स्वीकार किया था कि—

वेत्ति पारं सरस्वत्या मधुसूदनसरस्वती ।
मधुसूदनसरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती ॥

पन्द्रहवीं शतक में श्री शङ्कर मिश्र के द्वारा विरचित 'भेदरत्न' का खण्डन ग्रन्थ श्री मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतरत्नरक्षण' के नाम से बनाया, इसलिए भी श्री मधुसूदन सरस्वती का समय सोलहवीं शताब्दी ही स्थिर होता है। भेदरत्न का निराकरण भी न्यायामृत के समान ही नितान्त मर्मस्पर्शी एवं जैसे-का-तैसा है। भेदरत्न के आरम्भ में अद्वैत वेदान्तियों को चोर बनाया गया है—

भेदरत्नपरित्राणे तार्किका एव यामिकाः ।
अतो वेदान्तिनः स्तेयान् निरस्यत्येष शङ्करः ॥

अतः अद्वैतरत्नरक्षण के आरम्भ में नैयायिकों को चोर बनाना आवश्यक था—

अद्वैतरत्नरक्षायां तात्त्विका एव यामिकाः ।
अतो न्यायविदः स्तेयान् निरस्यामः स्वयुक्तिभिः ॥

शिष्य-मण्डली—यों तो श्री मधुसूदन सरस्वती के अनेक शिष्य थे, किन्तु उनमें तीन प्रसिद्ध ग्रंथकार हैं—(१) श्री बलभद्र भट्टाचार्य, (२) शेषगोविन्द तथा (३) पुरुषोत्तम सरस्वती।

(१) **बलभद्र भट्टाचार्य**—स्वयं श्री मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्तबिन्दु के अन्त में कहा है—"बलभद्रकृते कृतो निबन्धः"। इसकी व्याख्या में गौड़ ब्रह्मानन्द ने स्पष्टीकरण किया है—'बलभद्रस्य आचार्याणां सेवकब्रह्मचारिणः"। इन्हीं बलभद्र भट्टाचार्य ने अद्वैतसिद्धि की 'सिद्धिव्याख्या' बनाई है, जिसके द्वारा सरल भाषा में ग्रन्थ का हृदय प्रकट करते हुए तरङ्गिणी की आलोचना भी प्रस्तुत की गई है।

(२) **श्रीशेषगोविन्द**—इन्होंने भगवान् शङ्कराचार्य के 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' नाम के ग्रन्थ पर टीका लिखी है, जिसमें आपने अपने गुरुवर श्री मधुसूदन सरस्वती पर अत्यन्त श्रद्धा प्रकट की है।

(३) **श्री पुरुषोत्तम सरस्वती**—श्री मधुसूदन सरस्वती के 'सिद्धान्तविन्दु' ग्रन्थ पर इनकी व्याख्या प्रकाशित है। व्याख्या के अन्त में कहा है।

श्रीधरं श्रीगुरुं नत्वा नौमि श्रीपादमादरात्।
विद्यागुरुं गुरुमिव सुराणां मधुसूदनम्॥

ग्रन्थ-सम्पत्ति—श्री मधुसूदन सरस्वती की रचनाएँ उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का साक्ष्य प्रस्तुत कर रही हैं। यद्यपि उनके नाम से अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, तथापि उनमें सत्तरह ग्रन्थ ऐसे हैं, जो निःसन्देहरूप से उनकी रचनाएँ माने जाते हैं—

(१) **महिम्नस्तोत्र-व्याख्या**—महिम्नस्तोत्र का पूरा नाम 'शिवमहिम्नस्तोत्र' है। पुराणों में बहुचर्चित आचार्य पुष्पदन्त ने इसमें भगवान् शङ्कर की पौराणिक कथानकों के आधार पर सुन्दर स्तुति प्रस्तुत की है। इस स्तोत्र की व्याख्या श्री मधुसूदन सरस्वती ने की है, जिसको महती विशेषता यह है कि महिम्नस्तोत्र को शिव और विष्णु—दोनों की स्तुति में विनियुक्त किया गया है, जैसा कि स्वयं सरस्वती जी ने व्याख्या के अन्त में कहा है—

हरिशङ्करयोरभेदबोधो भवतु क्षुद्रधियामपीति यत्नात्।
उभयार्थतया मयेदमुक्तं सुधियः साधुतया शोधयन्तु॥

(२) **वेदान्तकल्पलतिका**—यह ग्रंथ सिद्धान्तविन्दु, महिम्नस्तोत्र-व्याख्या, अद्वैतसिद्धि और अद्वैतरत्नरक्षण में उद्धृत है, इसमें चार्वाक, बौद्ध, जैन, वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक, साङ्ख्य, भास्कर, पाशुपतादि बीस मतवादों का निराकरण कर औपनिषद मतानुसार मोक्ष तत्त्व का निरूपण किया गया है, स्वयं सरस्वती जी कहते हैं—

मुमुक्षूणामनुष्ठेयविक्षेपविनिवृत्तये।
मोक्षं ससाधनं वच्मि परपक्षनिरासतः॥

(३) **सिद्धान्तविन्दु**—आचार्य शङ्कर के दशश्लोकी वेदान्त ग्रंथ की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या का नाम सिद्धान्तविन्दु है। पठन-पाठन-परम्परा में यह छोटी सिद्धि (अद्वैतसिद्धि) के नाम से प्रसिद्ध है। इसी से इसका महत्त्व कूता जा सकता है। वेदान्तकल्पलतिका, गीता-व्याख्या और अद्वैतसिद्धि में इसका उल्लेख किया गया है।

(४) **अद्वैतसिद्धि**—ब्रह्मसिद्धि, नैष्कर्म्यसिद्धि और इष्टसिद्धि की पंक्ति में सुशोभित होने वाला प्रस्तुत ग्रंथरत्न है। यह अद्वैतरत्नरक्षण तथा गीता-व्याख्या में उद्धृत है।

(५) **गूढार्थदीपिका**—भगवद्गीता की प्रतिपद (प्रत्येक पद की) व्याख्या है, जैसा कि स्वयं सरस्वती जी की प्रतिज्ञा है—"प्रायः प्रतिपदं कुर्वे गीतागूढार्थदीपिकाम्।" यदि इसे प्रत्यक्षर-व्याख्या कह दिया जाय, तब भी अत्युक्ति न होगी, क्योंकि 'च', 'वा' आदि प्रत्येक अक्षर की मनोरम व्याख्या की गई है।

(६) **भक्तिरसायन**—यह गूढार्थदीपिका में उद्धृत है—भगवद्भक्तिरसायनेऽस्माभिः सविशेषं प्रपञ्चिताः" (गी० ७।१६)। इससे यह भी ज्ञात होता है कि इस ग्रंथ का पूरा नाम 'भगवद्भक्तिरसायन' है और उसका संक्षिप्त नाम 'भक्तिरसायन' है, जैसा कि स्वयं ग्रन्थ के आरम्भ में कहा है—"निपीयतां भक्तिरसायनं बुधाः।" वेदान्त-

कल्पलतिका' में भी यह उद्‌धृत है। इस पद्यात्मक ग्रंथ में सब तीन उल्लास हैं—प्रथम में भक्तिसामान्य, द्वितीय में भक्तिविशेष और तृतीय में भक्ति रस का प्रतिपादन किया गय ा है।

(७) **अद्वैतरत्नरक्षण**—इसमें श्री शङ्कर मिश्र के 'भेदरत्न' का खण्डन किया गया है। आरम्भ में प्रतिज्ञा भी की गई है—

निर्जित्य प्रतिपक्षान् द्वैतधियो दुष्टतार्किकंमन्यान्।
अद्वैततत्त्वरत्नं रक्षितुमयमुद्यमः क्षमः स्यान्नः ॥

इसके अध्ययन से प्रतीत होता है कि श्री मधुसूदन सरस्वती ने वृद्ध शंकर मिश्र को देखा था, जैसा कि उनके सम्बोधन वाक्य हैं—'वृद्धोक्ष! शैलसारहृदयोऽसि', 'अरे! नूनमूषरात्मासि', 'शृणु वत्स!'

(८) **सारसंग्रह**—श्री सर्वज्ञात्ममुनि-द्वारा प्रणीत पद्यात्मक 'संक्षेपशारीरक' ग्रन्थ की सुगम व्याख्या है। कुछ विद्वानों का कहना है कि सम्भवतः यह सरस्वती जी की प्रथम रचना है।

(९) **वेदस्तुतिटीका**—श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत वेदस्तुति की महत्त्वपूर्ण व्याख्या है।

(१०) **हरिलीलाविवेक** श्री वोपदेव-द्वारा प्रणीत हरिलीलामृत की व्याख्या है।

(११) **परमहंसप्रिया**—श्रीमद्भागवत के आरम्भिक तीन श्लोकों की सुन्दर व्याख्या है। हरिलीलामृत की व्याख्या में इसे उद्‌धृत किया है।

(१२) **कृष्णकुतूहलनाटक**—भगवान् कृष्ण की लीलाओं पर आधृत नाटक ग्रन्थ है।

(१३) **आत्मबोधटीका**—आचार्य के आत्मबोध ग्रन्थ की व्याख्या है।

(१४) **ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश**—वेदान्त-सम्मत ईश्वर तत्त्व का प्रतिपादक ग्रन्थ है।

इन ग्रन्थों से अतिरिक्त 'शाण्डिल्यसूत्रटीका', 'शास्त्रसिद्धान्तलेशटीका', 'अष्ट-विकृतिविवरण', 'प्रस्थानभेद', 'भक्तिसामान्यनिरूपण', राज्ञां प्रतिबोध'—आदि ग्रन्थ भी श्री मधुसूदन सरस्वती के द्वारा विरचित माने जाते हैं। किन्तु 'मधुसूदन' नाम के अनेक विद्वानों का उल्लेख होने के कारण इनमें से हमारे मधुसूदन सरस्वती के रचे वस्तुतः कितने ग्रन्थ हैं—यह कहना कठिन है।

श्री मधुसूदन सरस्वती का देहावसान—यह एक किंवदन्ती चली आती है कि श्री मधुसूदन सरस्वती ने १०७ वर्ष की लम्बी आयु बिताकर हरिद्वार में पतितपावनी भागीरथी के तट पर शरीर छोड़ा था। इनके मीमांसागुरु श्री माधव सरस्वती ने भी वसिष्ठाश्रम में अन्तिम श्वास लिया था, सम्भव है श्री सरस्वती जी ने भी वहाँ ही अपने अन्तिम क्षण बिताए हों।

श्री व्यासराज तीर्थ तथा श्री मधुसूदन सरस्वती के तर्क-प्रयोगों को एक विहङ्गम दृष्टि में लाने के लिए कतिपय प्राङ्गणों के वाग्युद्ध की बानगी प्रस्तुत की जाती है—

(१) **प्रपञ्चमिथ्यात्ववाद**—न्यायामृतकार ने मिथ्यात्व के पाँच लक्षणों पर विचार किया है, उनमें से प्रथम लक्षण श्री पद्मपादाचार्य, द्वितीय और तृतीय

प्रकाशात्ममुनि, चातुर्थ श्री चित्सुखाचार्य तथा पञ्चम श्री आनन्दबोध का है, जैसा कि श्री गौड़ब्रह्मानन्द कहते हैं—

आद्यं स्यात् पञ्चपाद्युक्तं ततो विवरणोदिते।
चित्सुखीयं चतुर्थं स्यादन्त्यमानन्दबोधजम् ॥

१. **सत्त्वासत्त्वानधिकरणत्वम्**—इस लक्षण में न्यायामृतकार ने तीन विकल्प उठाए हैं—(क) सत्त्वविशिष्टासत्त्वाभाव, (ख) सत्त्वात्यन्ताभाव और असत्त्वात्यन्ताभावरूप दो धर्मों की आधारता, (ग) सत्त्वात्यन्ताभाव-विशिष्ट असत्त्वात्यन्ताभावरूप एक धर्म की आधारता। तीनों पक्षों में दोषाभिधान किया है—(क) माध्वमतानुसार सिद्धसाधनता है, क्योंकि प्रपञ्च को केवल सद्रूप माना जाता है, अतः उसमें सत्त्व-विशिष्ट असत्त्व का अभावः सहज-सिद्ध है। (ख) सत्त्वात्यन्ताभाव और असत्त्वात्यन्ताभाव—दोनों का एकत्र रहना विरुद्ध पड़ जाता है, क्योंकि सत्त्वाभाव का नाम असत्त्व और असत्त्वाभाव का नाम सत्त्व है, अतः जैसे सत्त्व और असत्त्व का एकत्र रहना विरुद्ध है, वैसे ही दोनों के अभावों का एकत्र रहना सम्भव नहीं। (ग) तृतीय विकल्प में भी व्याघात दोष ही है, क्योंकि एक आधार में रहनेवाले पदार्थों मे से एक पदार्थ दूसरे से विशिष्ट माना जाता है, किन्तु सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव—दोनों जब एकत्र रह ही नहीं सकते, तब सत्त्वाभाव-विशिष्ट असत्त्वाभाव क्योंकर सम्भव होगा ?

अद्वैतसिद्धिकार ने प्रथम विकल्प को छोड़कर द्वितीय और तृतीय की निर्दोषता स्थापित करते हुए कहा है—"सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपधर्मद्वयविवक्षायां दोषाभावात्।" अर्थात् सत्त्व और असत्त्व—दोनों धर्म एक दूसरे के अभाव नहीं, अपि तु दोनों ही स्वतन्त्र भावरूप धर्म हैं, सत्त्व का स्वरूप है—त्रिकालाबाध्यत्व और असत्त्व का लक्षण है—क्वचिदपि उपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वानधिकरणत्व। खपुष्पादि में असत्त्व और ब्रह्म में सत्त्व रहता है, प्रपञ्च में सत्त्व और असत्त्व-दोनों का अभाव है। माध्व मतानुसार भी त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व प्रपञ्च में सिद्ध नहीं हो सकता, अतः वहाँ सत्त्वाभाव के रहने में क्या आपत्ति ? असत्त्वाभाव तो प्रपञ्च में माध्व-सम्मत ही है, अतः सत्त्व और असत्त्व के दो अभाव अथवा उनके एक अभाव से विशिष्ट अपर अभाव का रहना व्याहत या विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।

२ **त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्**—इस लक्षण में त्रैकालिक निषेध को लेकर न्यायामृतकार ने तीन विकल्प उठाए और उनमें दोष दर्शाए हैं—"त्रैकालिक निषेधस्य तात्त्विकत्वे अद्वैतहानिः, प्रातिभासिकत्वे सिद्धसाधनाद्, व्यावहारिकत्वेऽपि तस्य बाध्यत्वेन तात्त्विकसत्त्वाविरोधित्वेनार्थान्तरात्। अर्थात् ब्रह्म में प्रपञ्च का त्रैकालिक अभाव यदि ब्रह्म के समान तात्त्विक है, तब अद्वैतहानि होती है। प्रपञ्च का वास्तविक अभाव न मान कर प्रातिभासिक अभाव मानना माध्व गणों को भी अभीष्ट है। उसी प्रकार प्रपञ्च का व्यावहारिक अभाव भी वस्तुतः बाधित ही होता है, अतः बाधित अभाव की प्रतियोगिता प्रपञ्च में मान लेने पर वास्तविक सत्ता का अपहार नहीं होता, अतः सिद्ध-साधनता और अर्थान्तरता दोष होता है।

अद्वैतसिद्धिकार ने उक्त निषेध को तात्त्विक मानकर भी अद्वैतहानि नहीं होने दी और कहा है कि प्रपञ्च का निषेध तात्त्विक होने पर भी ब्रह्मरूप है, द्वितीय वस्तु नहीं, अतः द्वैतापत्ति या अद्वैत की हानि क्यों होगी ?

३. **ज्ञाननिवर्त्यत्वम्**—न्यायामृतकार ने कहा है कि अतीत घटादि में यह लक्षण

अव्याप्ति है, क्योंकि वे ज्ञान के द्वारा निवृत्त नहीं, अपितु मुद्गर-पातादि के द्वारा ध्वस्त होते हैं। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञानगत निवर्तकता ज्ञानत्वेन विवक्षित है? या ज्ञानत्व-व्याप्य धर्मेण ? प्रथम पक्ष मानने पर शुक्ति-रजतादि में अव्याप्ति है, क्योंकि उनकी शुक्ति-ज्ञान में निवर्तकता अधिष्ठान-साक्षात्कारत्वेन होती है, ज्ञानत्वेन नहीं। द्वितीय पक्ष के अनुसार संस्कारों में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि उनकी निवर्तकता स्मृतिरूप ज्ञान में ज्ञानत्व-व्याप्य स्मृतित्वेन होती है।

अद्वैतसिद्धिकार ने इन सभी विकल्पों से कतराकर नया मार्ग खोज लिया है— 'ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वं हि ज्ञाननिवर्त्यत्वम्''। मायादि अनादि पदार्थों की भी आत्मज्ञान के द्वारा निवृत्ति होती है। अतीत घटादि की निवृत्ति भी ईश्वरीय ज्ञान से होती है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान कार्यमात्र का साधारण कारण माना जाता है। अधिष्ठान-साक्षात्कारादि भी ज्ञान की कक्षा में ही आ जाते हैं, उत्तर ज्ञान क द्वारा पूर्व ज्ञान की जो निवृत्ति होती है, वह निवृत्ति सामान्य या अत्यन्त निवृत्ति नहीं, क्यो सस्कारादि रूप से ज्ञान को अवस्थिति बनी रहती है, अतः उनमें भी अतिव्याप्ति नहीं होती।

४. स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्—इस लक्षण में भी न्यायामृतकार ने अत्यन्ताभाव की तात्त्वकतादि के पूर्ववत् विकल्प उठाकर दोष दिखाए हैं, उनका उत्तर भी अद्वैतसिद्धिकार ने पूर्ववत् ही दे डाला है कि ब्रह्मनिष्ठ प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव तात्त्विक होने पर भी ब्रह्म स भिन्न नहीं माना जाता, अतः द्वैतापत्ति नहीं होती।

५. सद्विविक्तत्वम्—न्यायामृतकार ने इस पञ्चम लक्षण में सत्ता के लिए तीन विकल्प उठाकर दोष दिए हैं—सत्ता जाति के आधार को सत् कहा जाता है? या अबाध्य वस्तु को? अथवा ब्रह्म को? प्रथम कल्प के अनुसार प्रपञ्च में अव्याप्ति है, क्योंकि सत्ता जाति उसमे मानी जाती है, अतः वह सत् है, सद्विविक्त नहीं। द्वितीय कल्प के अनुसार मिथ्यात्व का स्वरूप पर्यवसित होता है- बाध्यत्व, वह प्रपञ्च में सम्भव नहीं। ब्रह्म रूप सत् वस्तु का भेद प्रपञ्च म सम्मत होने के कारण तृतीय कल्प में भी सिद्ध-साधनता है।

अद्वैतसिद्धिकार ने यहाँ भी सत्त्व की अपनी परिभाषा बनाकर न्यायामृतकार के सभी दोषों को निराधार सिद्ध कर दिया है।

(२) प्रपञ्च-सत्त्ववाद—'सन् घटः', 'सन् पटः'—इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीतियों के द्वारा प्रपञ्च मे सत्त्व सिद्ध होता है, अतः प्रपञ्च में सत्त्वाभावरूप मिथ्यात्व का अनुमान नहीं हो सकता—ऐसा आरोप न्यायामृतकार ने लगाया। सत्त्व लक्षण की जटिलता के जाल में फँस कर न्यायामृतकार परास्त हो जाता है। अद्वैतियों का यह प्रश्न निरुत्तर रह जाता है कि 'कीदृक् सत्त्वं तवाभिमतम् ?' हार कर माध्वाचार्य उत्तर देते हैं—

यादृशं ब्रह्मणः सत्त्वं तादृशं स्याज्जगत्यपि।
तत्र स्यात्तदनिर्वाच्यं चेदिहापि तथास्तु नः॥

अर्थात् अद्वैतवेदान्ती ब्रह्म में जैसा सत्त्व मानते हैं, वैसा ही हम (माध्व) जगत् में सत्त्व मानते हैं।

अद्वैतसिद्धिकार उस उत्तर को उपहास में उड़ा देते हैं—''नूनं विवाहसमये कन्यायाः पित्रा निजगोत्रं पृष्टस्य 'यदेव भवतां गोत्रम्, तदेव ममापि गोत्रम्'—इतिवदतो

वरस्य भ्राता भवान् ।" विवाह के समय कन्या के पिता ने वर से पूछा—आपका गोत्र क्या है ? वर उत्तर देता है कि जो आपका गोत्र है, वही हमारा है। वैसा उत्तर वर की अनभिज्ञता या मूर्खता का परिचायक है, क्योंकि समान गोत्र में विवाह सम्बन्ध वैध नहीं माना जाता। इसी प्रकार माध्वगणों का यादृशं ब्रह्मणः सत्त्वं तादृशं स्याज्जगत्यपि'—ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि अत्यन्ताबाधितत्वरूप सत्त्व जगत् में कभी सम्भव नहीं।

(३) असत् प्रपञ्च में अर्थक्रियाकारित्व -जैसे असत् रजत से सत्य भूषणादि का निर्माण कभी नहीं हो सकता, वैसे ही दृश्यत्वादि असत्य हेतुओं के द्वारा मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं की जा सकती—ऐसा आक्षेप न्यायामृतकार की ओर से किया गया। उसके उत्तर में अद्वैतसिद्धिकार ने वाचस्पति के 'उत्पादकाप्रतिद्विन्द्वित्वात्'—ये शब्द ही दुहरा दिये हैं कि दृश्यत्वादि हेतु को अपने में केवल व्यवहार-कालाबाध्यत्व अपेक्षित है, त्रिकालाबाध्यत्व नहीं, अतः दृश्यत्वादि के द्वारा प्रपञ्चगत त्रिकालाबाध्यत्वाभाव सिद्ध करने में किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता। अर्थक्रियाकारिता के लिए वस्तु का पारमार्थिक सत् होना आवश्यक नहीं, क्योंकि स्वप्नकाल में स्त्री आदि का दर्शन असत् होने पर भी भावी सत्य शुभाशुभ का सूचक होता है।

(४) अविद्या-लक्षण-विचार—अविद्या के दो लक्षण प्रसिद्ध हैं—(१) 'अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञानानवत्यत्वम्' तथा (२) 'भ्रमोपादानत्वम्'। दोनों लक्षणों को न्यायामृतकार ने दूषित किया है—'आद्यलक्षणे अव्याप्तिः, सादिशुक्त्याद्यवच्छिन्नचैतन्यावरकाज्ञानानामनादित्वायोगस्योक्तत्वात्। द्वितीयलक्षणेऽपि यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति मते अभ्रमपूर्वकप्रमानिवर्त्याज्ञाने आभावारोपनिवर्तकप्रमानिवर्त्याज्ञावे चाव्याप्तिः।

दोषों का उद्धार करते हुए अद्वैतसिद्धिकार ने कहा है कि रूप्योपादानाज्ञानमप्यनादिचैतन्याश्रितत्वादनाद्येव"। अर्थात् शुक्त्यादि सादि पदार्थों से अवच्छिन्न चैतन्य का आवरकीभूत अज्ञान भी अनादि चैतन्य के आश्रित होने के कारण अनादि ही है, सादि नहीं, आकाशादि अनादि पदार्थ घटादि से अवच्छिन्न होने पर भी अनादि ही रहते हैं, सादि नहीं होते। द्वितीय लक्षण की व्यवस्था करते हुए सिद्धिकार ने कहा है कि "इदं च लक्षणं विश्वभ्रमोपादानं मायाधिष्ठानं ब्रह्मेति पक्ष, न तु ब्रह्ममात्रोपादानत्वपक्षे ब्रह्मसहिताविद्योपादानत्वपक्षे वा, अतो ब्रह्माण नातिव्याप्ति"। अर्थात् विश्व विभ्रम का कारण अज्ञान या माया है और उसका विषयीभूत ब्रह्म विश्व का अधिष्ठान है—इस सिद्धान्त के अनुसार माया का यह द्वितीय लक्षण किया गया है, अतः ब्रह्म में उक्त लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता।

(५) अविद्या-भासकवाद—न्यायामृतकार ने कहा है कि अविद्या शुद्ध साक्षिवेद्य है ? अथवा वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य के द्वारा ? प्रथम पक्ष में निर्दोष चैतन्य से प्रकाशित होने के कारण अविद्या पारमार्थिक हो जायगी और द्वितीय पक्ष मे अज्ञान की कदाचित् अप्रतीति भी प्रसक्त होगी। इसका समाधान अद्वैतसिद्धिकार ने किया है कि अविद्या साक्षिवेद्य होती है, शुद्ध चैतन्य से प्रकाशित नहीं, क्योंकि शुद्ध चैतन्य को साक्षी नहीं कहा जाता, अपितु अविद्या-वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य साक्षी होता है, अतः शुद्ध चैतन्य के द्वारा साक्षात् भासित न होने के कारण अविद्या में पारमार्थिकत्वापत्ति नहीं होती।

(६) अविद्याविषयविचार—न्यायामृतकार ने कहा है—"अविद्याविषयोऽपि दुर्वचः" विवरणकार ने जो कहा है—"अज्ञानस्य चिन्मात्रमेव विषयः" उसमें आवरण का कोई प्रयोजन सम्भव नहीं, अतः शुद्ध चैतन्य में अज्ञान मानना निरर्थक है, अर्थात् आवरण के सब आठ प्रयोजन हो सकते हैं—(१) सिद्ध प्रकाश का लोप, (२) असिद्ध-प्रकाश की अनुत्पत्तिः, (३) विद्यमान प्रकाश का विषय के साथ असम्बन्ध, (४) प्राकाट्यसंज्ञक कार्य का प्रतिबन्ध, (५) 'नास्ति', 'न प्रकाशते'—इस प्रकार का द्विविध व्यवहार, (६) 'अस्ति', 'प्रकाशते'—इस प्रकार के व्यवहार का अभाव, (७) 'नास्ति' 'न प्रकाशते'—इस प्रकार के व्यवहार की योग्यता अथवा (८) अस्ति', 'प्रकाशते'—इस प्रकार के व्यावहार की अयोग्यता। घटादि परप्रकाश पदार्थों में अपेक्षित प्रकाश का अभाव या प्रकाशानुत्पत्ति सम्भव है, स्वयंप्रकाश चैतन्य में नहीं, अतः उसमें प्रथम और द्वितीय कल्प सम्भव नहीं। प्राकाट्य रूप विषयगत धर्म भाट्टाभिमत होने पर भी अद्वैत-सम्मत नहीं, अतः चतुर्थ विकल्प भी निराधार है। पञ्चम पक्ष को स्वीकार करने पर सुषुप्ति अवस्था में 'न किञ्चिदवेदिषम्'—ऐसी अनुभूति न हो सकेगी। अज्ञानावस्था में भी आत्मस्वरूप अभिज्ञात्मक व्यवहार अद्वैतिसम्मत है, अतः उसका अभाव आवरण का प्रयोजन नहीं हो सकता, छठा विकल्प भी उचित नहीं। ब्रह्म निर्धर्मक है, अतः उसमें योग्यत्व या अयोग्यत्वरूप धर्म नहीं रह सकते, अतः सप्तम और अष्टम विकल्प भी सम्भव नहीं।

इस आक्षेप का समाधान अद्वैतसिद्धिकार करते हैं—'अविद्याविषयोऽपि सुवचः", क्योंकि अविद्या का चिन्मात्र ही विषय होता है और आवरण का पञ्चम, षष्ठ, सप्तम या अष्टम विकल्प के अनुसार प्रयोजन सम्भव है, क्योंकि अज्ञान-सम्बन्धरूप योग्यता तब तक बराबर बनी रहती है, जब तक ब्रह्म-ज्ञान नहीं होता।

(७) बिम्बप्रतिबिम्बवाद—दर्पणगत मुख के प्रतिबिम्ब की बिम्बभूत मुख से भिन्न सत्ता होती है ? अथवा नहीं ? इस प्रकार की व्यावहारिक विप्रतिपत्तियों पर भी न्यायामृतकार और अद्वैतसिद्धिकार के प्रखर तर्क-प्रयोग देखने योग्य हैं। न्यायामृत-कार का कहना है—

१. जैसे चैत्र से उसकी छाया भिन्न होती है, क्योंकि पार्श्वस्थ व्यकि को 'चैत्रत-च्छाये भिन्ने'—ऐसी स्फुट अनुभूति होती है। वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि 'मम करतत्प्रतिबिम्बे भिन्ने।'

२. यदि दर्पणादि से टकराकर मुड़ी हुई नेत्र-रश्मियाँ बिम्बभूत मुख का ही ग्रहण करती हैं, उसे ही दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब समझ लिया जाता है, वस्तुतः बिम्ब से भिन्न प्रतिबिम्ब की कोई सत्ता नहीं होती, तब अस्वच्छ दीवारादि पर भी प्रतिबिम्ब दिखाई देना चाहिए, क्योंकि वहाँ भी नेत्र-रश्मियाँ टकराकर मुख पर व्याप्त हो सकती हैं।

३. पूर्व दिशा की ओर मुख किए बैठा व्यक्ति अपने सामने के दर्पण में अपने पश्चिमाभिमुख प्रतिबिम्ब को स्पष्ट देखता है, अतः प्रतिबिम्ब को विम्ब से भिन्न मानना अनिवार्य है।

४. जैसे आकाशस्थ इन्द्रधनुषादि के रूप में जलीय कणों पर बिखरे सूर्य की रश्मियों के विभक्त वर्ण सूर्य से भिन्न प्रतीत होते हैं, ऐसे ही जलादि में दृश्यमान वृक्षादि का प्रतिबिम्ब भी बिम्ब से भिन्न होता है।

५. विभिन्न सामग्रियों से जनित कार्यों को भिन्न मानना आवश्यक होता है। मुखादि बिम्ब की उत्पादिका सामग्री से प्रतिबिम्ब की दर्पणादि सामग्री भिन्न होती है, अतः प्रतिबिम्ब को बिम्ब से भिन्न मानना चाहिए।

६. गगनस्थ बिम्वभूत सूर्य तथा जलगत प्रतिबिम्बभूत सूर्य का अभेद कभी सम्भव नहीं, क्योंकि उनके न्यूनाधिक परिमाण, कम्पनाकम्पनादि विरुद्ध धर्मों के भेद से उनका भेद ही सिद्ध होता है। यदि बिम्ब और प्रतिबिम्ब—दोनों का अभेद होता है, तब कस्तूरी के प्रतिबिम्ब में सुगन्धि क्यों नहीं होती ?

७. मोटे-पतले, टेढ़े-बेढ़े दर्पणों में प्रतिबिम्ब भी मोटा-पतला, टेढा-बेढ़ा एवं जल में तटस्थ वृक्षों का उलटा प्रतिबिम्ब देखा जाता है, जबकि बिम्ब में वह नहीं होता, अतः बिम्ब से भिन्न प्रतिबिम्ब का अस्तित्व मानना चाहिए।

८. यदि अपने ही नेत्र की रश्मियाँ परार्वतित होकर अपने मुख का ग्रहण करती हैं, तब पार्श्वस्थ व्यक्ति को दर्पण में जो दो (एक अपना और दूसरा पार्श्वस्थ का) प्रतिविम्बों का दर्शन होता है, वह असंगत हो जायगा, क्योंकि पार्श्वस्थ व्यक्ति को भी अपना ही एक मुख दिखना चाहिए।

९. सामने के अनेक दर्पणों में जो एक ही मुख के अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ते हैं, वे भी सम्भव न हो सकेंगे, क्योंकि जैसे एक दर्पण से टकराकर मुड़ी हुई नेत्र-रश्मियाँ अपने एक मुख को अवभासित करती है, वैसे ही अनेक दर्पणों से आहत होकर परार्वतित नेत्र-रश्मियाँ भी अपने वास्तविक एक ही मुख को प्रकाशित करेंगी, अनेक मुखों को नहीं।

१०: दर्पणादि के आघात से परार्वतित नयन-रश्मियाँ यदि सुदूर गगन में अनन्त परमाणु-पटल को पार करती हुई बिम्बभूत सूर्य का ग्रहण कर लेती हैं, तब परार्वतित रश्मियों के द्वारा पीठ पीछे अवस्थित कुडचादि पदार्थों का ग्रहण क्यों नहीं होता ? गगनस्थ परमाणु-पटली के समान ही शरीर के पृष्ठ भाग तक का भेदन नयन-रश्मियों के द्वारा हो सकता है। अतः कथित आपत्तियों का निराकरण करने के लिए यह मान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि प्रतिबिम्ब छाया तत्त्व के समान बिम्ब से भिन्न होता है, जैसा कि कहा गया है—

छायापुरुषवत्तस्माच्छायावत्प्रतिसूर्यवत् ।
प्रतिध्वानादिवद्भिन्नं प्रतिबिम्बं हि बिम्बतः ॥

इन सभी आक्षेपों का परिहार अद्वैतसिद्धिकार ने नितान्त सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से किया है—

१. चन्द्र के समान एक पदार्थ का दो रूपों में दिखना दृष्टि-दोष है, इससे दो चन्द्र सिद्ध नहीं हो सकते। प्रकृत में जब सयुक्तिक प्रत्यक्ष के द्वारा विम्ब और प्रतिबिम्ब की एकता सिद्ध हो जाती है, तब उनमें भेद-प्रतीति को निश्चित रूप से भ्रमात्मक मानना होगा। मुख और प्रतिमुख की रेखोपरेखा का ऐक्य उन दोनों की एकता सिद्ध कर रहा है, पुरुष और उसकी छाया में महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है, अतः उनका भिन्न होना न्याय-संगत है, किन्तु दार्ष्टान्त में वैसा नहीं।

२. स्वच्छ दर्पणादि के प्रतिबिम्ब को ही बिम्ब से अभिन्न कहा जाता है, अस्वच्छ दीवारादि पर पड़ी छाया को तो भिन्न ही माना जाता है। दीवारादि पर प्रतिबिम्ब क्यों नहीं दिखता ? इस प्रश्न उत्तर तो पृथक् प्रतिबिम्ब-वादी को भी देना होगा। वस्तु के स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं, सभी कुडय, शिला-तलादि दर्पण हो नहीं सकते, अतः सब कहीं प्रतिबिम्ब नहीं दिखता।

३. प्रतिबिम्बगत विपरीत दिशा का भान दर्पणादि उपाधियों की देन है. मुख पूर्वाभिमुख है, किन्तु दर्पण पश्चिमाभिमुख, इसी पश्चिमाभिमुखता का आरोप मुखरूप बिम्ब पर हो जाता है और वैसी प्रतीति होने लगती है, जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—

दर्पणाभिहता दृष्टिः परावृत्य स्वमाननम् ।
व्याप्नुवन्त्याभिमुख्येन व्यत्यस्तं दर्शयेन्मुखम् ।।

(बृह० वा० पृ० ५५७)

४. जहाँ प्रकाश का अवरोध होता है, वहाँ ही छाया होती है—यह अनुभव-सिद्ध है । प्रतिबिम्ब तो प्रकाश-देश में भी होता है, अतः उसे छायारूप नहीं माना जा सकता । प्रकाश-रहित नीहारिका पर इन्द्रधनुष के रूप में छाया का दिखना सम्भव है, छाया के पृथक् होने पर भी प्रतिबिम्ब को पृथक् नहीं माना जा सकता—यह ऊपर कहा चुका है ।

५. कार्य के भिन्न सिद्ध हो जाने पर ही भिन्न सामग्री की कल्पना होती है, जब प्रतिबिम्ब वस्तु की सत्ता ही पृथक् सिद्ध नहीं होती, तब उसकी पृथक् सामग्री सम्भव नहीं । दर्पणादि सामग्री बिम्ब में प्रतिबिम्बताभासता की आभासिका मानी जाती है, नहीं तो शुक्त्यादि को भी पृथक् रजत की सामग्री मानना पड़ेगा ।

६. बिम्ब और प्रतिबिम्ब में न्यूनाधिक परिमाणों एवं कम्पनाकम्पनादि धर्मों का वैविध्य होना वैसा ही औपाधिक है, जैसा ब्रह्म में "तदेजति तन्नैजति" (ईशा० ५) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रदर्शित किया गया है । इस वैविध्य के द्वारा उपाधियों का ही भेद सिद्ध होता है, उपधेय का नहीं । जब प्रतिबिम्ब को बिम्ब से अभिन्न माना जाता है और बिम्बभूत कस्तूरी में सौगन्ध्य विद्यमान है, तब प्रतिबिम्ब में सौगन्ध्य का अभाव क्योंकर होगा ?

७. जैसे बिम्ब वस्तु पर दर्पणादि उपाधिगतत्व का आरोप होता है, उसी प्रकार दर्पणादिगत स्थौल्यास्थौल्य, वक्रत्व, प्रलम्बत्वादि धर्मों का आरोप माना जाता है ।

८. अपनी नेत्र-रश्मियाँ दर्पणादि से परावर्तित होकर केवल अपने मुख को ही अवभासित करती हैं—ऐसा कोई नियम नहीं, अपितु दर्पण-साम्मुखीन कुड्य, कपाट, मुखान्तरादि की भी अवभासिका मानी जाती है ।

९. जब मुख के सामने अनेक दर्पण रखे हों, तब सभी-की-सभी नेत्र-रश्मियाँ प्रत्येक दर्पण से परावर्तित न होकर, कई समूहों में विभक्त हो जाती हैं, प्रत्येक समूह एक-एक मुख को अवभासित करता है, अनेक समूहों की अनेकता ही बिम्ब में अनेकत्वाभास की प्रयोजिका मानी जाती है ।

१०. जलादि से परावर्तित होकर नेत्र-रश्मियाँ सुदूर गगन में जाकर सूर्य का ग्रहण करती हैं—इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वे उदर-पृष्ठादि प्रतिघाती द्रव्य को भी पार कर जाती हैं, कुड्यादि अवरोधक पदार्थों से व्यवहित पदार्थों का ग्रहण कभी नहीं होता । अपने पृष्ठ भाग का ग्रहण तभी हो सकता है, जब दो दर्पण आमने-सामने रखे हों, तब नेत्र रश्मियाँ एक दर्पण से परावर्तित होकर सामने के द्वितीय दर्पण से टकराकर दुबारा परावर्तित होती हैं । बुद्धिमानों को इतनी ही बानगी पर्याप्त है ।

के० ३७/२ ठठेरीबाजार,
वाराणसी
८-११-७७

स्वामी योगीन्द्रानन्द
न्यायाचार्य, मीमांसातीर्थ

न्यायामृताद्वैतसिद्धिविषयानुक्रमः

विषयः	द्वितीयपरिच्छेदे	पृष्ठाङ्कः
१. अखण्डार्थत्वविचारः		७५३
२. सत्यादीनामखण्डार्थत्वेऽनुमानविचारः		७६२
३. तत्त्वमस्यादिवाक्यस्याखण्डार्थत्वविचारः		७६९
४. ब्रह्मणो निर्गुणत्वविचारः		८५२
५. निर्गुणे प्रमाणविचारः		९०८
६. ब्रह्मणो निराकारत्वविचारः		९१२
७. ब्रह्मणो ज्ञानत्वानन्दत्वविचारः		९२३
८. ब्रह्मण उपादानत्वविचारः		९३६
९. ब्रह्मणो निमित्तत्वविचारः		९४४
१०. ब्रह्मण उपादानत्वे प्रमाणविचारः		९४७
११. स्वप्रकाशत्वलक्षणविचारः		९६०
१२. अनुभूतेः स्वप्रकाशत्वविचारः		९७१
१३. आत्मनः स्वप्रकाशत्वविचारः		९८८
१४. अवाच्यत्वभंगविचारः		९९९
१५. सामान्यतो भेदखण्डनविचारः		१००७
१६. विशिष्य भेदखण्डनविचारः		१०१९
१७. माध्वाभिमतविशेषपदार्थविचारः		१०५६
१८. भेदपञ्चके प्रत्यक्षप्रमाणविचारः		१०६८
१९. जीवब्रह्मभेदेऽनुमानविचारः		१०७१
२०. जीवानामन्योऽन्यभेदेऽनुमानविचारः		१०८३
२१. आत्मभेदेऽनुकूलतर्कविचारः		१०८७
२२. भेदपञ्चकेऽनुमानविचारः		१०९९
२३. भेदश्रुतेरनुवादकत्वविचारः		११०७
२४. भेदश्रुतेर्व्यावहारिकभेदपरत्वविचारः		१११३
२५. जीवेशभेदे शब्दान्तरादिविचारः		१११९
२६. भेदश्रुतेः षड्विधतात्पर्यलिङ्गविचारः		११२०
२७. ऐक्यस्वरूपविचारः		११२६
२८. ऐक्यप्रमाणतदुपजीव्यविरोधविचारः		११२९
२९. तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थविचारः		११३९
३०. अहं ब्रह्मास्मीत्यादिश्रुत्यर्थविचारः		११६३
३१. ऐक्यानुमानविचारः		११७९
३२. अंशत्वेनैक्यसिद्धिविचारः		११८७
३३. बिम्बप्रतिबिम्बविचारः		११९०
३४. जीवाणुत्वविचारः		१२०८

तृतीयपरिच्छेदे

विषयः	पृष्ठाङ्कः
१. मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वविचारः	१२३१
२. श्रवणादिवाक्यस्य नियमविधित्वविचारः	१२३१
३. श्रवणादिविधेयत्वोपपत्तिविचारः	१२४०
४. श्रोतव्येत्यादेरनुवादकत्वभंगविचारः	१२४२
५. श्रवणादेर्विचारविधायकत्वविचारः	१२४३
६. विचारस्य श्रवणविधिमूलत्वविचारः	१२५०
७. अध्ययनविधेर्विचारविधायकत्वविचारः	१२५३
८. ज्ञानरूपस्य श्रवणादेर्विधेयत्वविचारः	१२५५
९. ज्ञानविधिसमर्थनविचारः	१२५९
१०. ज्ञानविधिविचारः	१२६७
११. शाब्दप्रत्यक्षविचारः	१२७०

चतुर्थपरिच्छेदे

१. अविद्यानिवृत्तिविचारः	१२८१
२. अविद्यानिवर्तकविचारः	१२८७
३. मुक्तेरानन्दरूपत्वेन पुरुषार्थत्वविचारः	१२९१
४. चिन्मात्रस्य मोक्षभागित्वविचारः	१२९५
५. जीवन्मुक्तिविचारः	१२९७
६. मुक्तौ तारतम्यविचारः	१३०३

प्रथमपरिशिष्टे

१. गौड़ब्रह्मानन्दी (पक्षतावच्छेदकत्वनिरुक्तिः)	१३२३

द्वितीयपरिशिष्टे

१. प्रमाणवाक्यानां विवरणम्	१३६८

तृतीयपरिशिष्टे

१. संकेतानां विवरणम्	१४०७

चतुर्थपरिशिष्टे

१. शोधनिका	१४११

ॐ

न्यायामृताद्वैतसिद्धी

[द्वितीयः परिच्छेदः]

: १ :

अखण्डार्थत्वविचारः

न्यायामृतम्

अखण्डार्थत्वलक्षणभंगः—

नन्वेतदयुक्तं द्विविधं हि वेदान्तवाक्यम्—एकं पदार्थनिष्ठं यथा—"सत्यं ज्ञान" मित्यादि, तत्पदार्थपरम्, "योऽयं विज्ञानमय" इत्यादि त्वंपदार्थपरं च अपरमैक्य-

अद्वैतसिद्धिः

तत्राखण्डार्थत्वलक्षणोपपत्तिः—

हेयं निरूप्य बन्धाख्यं तन्निवृत्तेर्निबन्धनम्।
यज्ज्ञानं तदखण्डार्थमादेयमधुनोच्यते ॥

तच्चाखण्डार्थं द्विविधम्—एकं पदार्थनिष्ठम्, अपरं वाक्यार्थनिष्ठम्। एकैकं च पुनर्वैदिकलौकिकभेदेन द्विविधम्। पदार्थनिष्ठं वैदिकमपि द्विविधम्—तत्पदार्थनिष्ठं त्वंपदार्थनिष्ठं च। तत्र 'सत्यं ज्ञानमनन्त'मित्यादि तत्पदार्थनिष्ठम्। 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुष' इत्यादि त्वंपदार्थनिष्ठम्। 'प्रकृष्टप्रकाश' इत्यादि तु लौकिकं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अखण्डार्थत्व-लक्षण की उपपत्ति—

चिकित्साशास्त्रवत्सर्वं चतुर्वर्गं हि दर्शनम्।
हेयं हानमुपायश्च चतुर्थो मोक्ष इष्यते ॥

["योग-भाष्यकार कहते हैं—"यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगः, रोगहेतुः, आरोग्यम्, भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव तद् यथा—संसारः, संसारहेतुः, मोक्षः, मोक्षोपाय इति" (यो० भा० पृ० १८५)। न्यायभाष्यकार इन्हें अर्थपद कहते हैं—हेयम्, तस्य निर्वर्तकम्, हानमात्यन्तिकं तस्योपायः, अधिगन्तव्यः— इत्येतानि चत्वार्यर्थपदानि" (न्या० भा० पृ० ३)। बाह्य तैर्थिक भी इन्हें आर्यसत्य कहते हैं— "दुक्खं अरियसच्चं, दुक्खसमुदयं अरियसच्चं, दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्चं" (वि० महा० पृ० १६)। इस चतुर्वर्ग में] 'अज्ञानादि बन्धसंज्ञक हेय पदार्थ का प्रथम परिच्छेद में निरूपण करने के पश्चात् उस बन्ध की निवृत्ति का कारणीभूत जो अखण्डार्थ-विषयक तत्त्वज्ञान रूप उपादेय तत्त्व है, उसका निरूपण इस द्वितीय परिच्छेद में किया जाता है।' वह अखण्डार्थ दो प्रकार का होता है—(१) एक पदार्थनिष्ठ और (२) दूसरा वाक्यार्थनिष्ठ। इनमें भी प्रत्येक वैदिक और लौकिक के भेद से दो प्रकार का होता है। पदार्थनिष्ठ वैदिक अखण्डार्थ भी दो प्रकार का होता है—तत्पदार्थनिष्ठ और त्वंपदार्थनिष्ठ। सत्यं ज्ञानमनन्तम्" (तै. उ. २।१।१) इत्यादि तत्पदार्थनिष्ठ और योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः" (बृह० ४।३।७) इत्यादि त्वंपदार्थनिष्ठ होता है। 'प्रकृष्टप्रकाशः सविता' (इ. इष्ट. सि. पृ० २५) इत्यादि लौकिक वाक्य पदार्थनिष्ठ अखण्डार्थता के उदाहरण हैं। वाक्यार्थनिष्ठ अखण्डार्थता के उदाहरण "तत्त्वमसि"

न्यायामृतम्

रूपवाक्यार्थनिष्ठं यथा "तत्त्वमसी"त्यादि। द्वयमप्यखण्डार्थनिष्ठम्। यद्यप्यखण्डार्थनिष्ठत्वं न तावन्निर्भेदार्थनिष्ठत्वं भेदाभावविशिष्टत्वरूपस्य तदुपलक्षितत्वरूपस्य वा निर्भेदत्वस्य शब्दबोध्यत्वेऽभिप्रेते निर्घटं भूतलमित्यादिवत् सखण्डार्थत्वापत्तेः स्वरूपसत्त्वमात्रेऽभिप्रेते च सखण्डार्थानां सगुणवाक्यानामपि वस्तुगत्या निर्भेदब्रह्मनिष्ठत्वेनाखण्डार्थत्वापातात्, प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्येष्वव्याप्तेश्च। अत एव न निर्विशेषार्थनिष्ठत्वं तत् नाप्यपर्यायशब्दानां प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वम्, पयःपावकरूपा-

अद्वैतसिद्धिः

पदार्थनिष्ठम्। वाक्यार्थनिष्ठमपि वैदिकं 'तत्त्वमस्या'दिवाक्यम्, 'सोऽयं देवदत्त' इत्यादि तु लौकिकम्॥

अत्राहुः—किमखण्डार्थत्वम्? न तावन्निर्भेदार्थत्वम्, यतो निर्भेदार्थत्वस्य शब्दबोध्यत्वे विशेषणतायामुपलक्षणतायां च 'निर्घटं भूतलमि'तिवत् सखण्डार्थतैव स्यात्, शब्दाबोध्यत्वे तु वस्तुगत्या यन्निर्भेदं ब्रह्म तद्बोधकसगुणवाक्यानामपि अखण्डार्थत्वापत्तिः। अथ यन्निर्भेदं वस्तुगत्या, तन्मात्रपरत्वम्, न, प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्येऽव्याप्तेः, तेषां धर्मिसमसत्ताकभेदवद्वस्तुपरत्वेन वस्तुगत्या निर्भेदार्थनिष्ठत्वाभावात्। अत एव निर्विशेषार्थत्वमपि न। नाप्यपर्यायशब्दानां प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वम्, शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकावित्यादावनेकप्रातिपदिकार्थपरेऽतिव्याप्तेः। न च—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(छां. उ. ६।८।७) इत्यादि वैदिक तथा 'सोऽयं देवदत्तः'—इत्यादि लौकिक वाक्य माने जाते हैं।

द्वैतवादी—यह अखण्डार्थकता क्या है? क्या (१) भेद-रहित अर्थों की बोधकता? या (२) जो वस्तुगत्या ब्रह्मरूप निर्भेद अर्थ है, उसकी बोधकता? या (३) वस्तुगत्या जो निर्भेद अर्थ (ब्रह्म) है, तन्मात्र की बोधकता? या (४) निर्विशेषार्थपरत्व? (५) अपर्याय-वाची शब्दों की केवल एक प्रातिपदिकार्थ की बोधकता? या (६) सामूहिकरूप से एकार्थ-बोधकता? या (७) एकविशेष्यपरकता? प्रथम (निर्भेदार्थत्व) को अखण्डार्थत्व नहीं कह सकते, क्योंकि निर्भेद अर्थनिष्ठ शाब्दबोध की विषयता में 'निर्भेदत्व' धर्म को विशेषण या उपलक्षण (उपाधि) मानने पर (घटाभावप्रकारक भूतलविशेष्यक बोध के जनक) 'निर्घटं भूतलम्'—इस वाक्य के समान सखण्डार्थत्व (सविकल्पार्थ-बोधकत्व) ही प्रसक्त होता है। यदि इस सखण्डार्थत्वापत्ति से बचने के लिए निर्भेदत्व का शाब्द बोध में भान नहीं माना जाता, तब वस्तुगत्या ब्रह्मरूप निर्भेद अर्थ के बोधक "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" (मुं० ३०१।१।९) इत्यादि सगुण वाक्यों में अखण्डार्थत्वापत्ति होती है। सगुण-वाक्य ब्रह्म मात्र के बोधक नहीं, गुण (सर्वज्ञत्वादि) के भी बोधक होते हैं, अतः तृतीय (निर्भेदमात्र-बोधकत्व) पक्ष का अनुसरण करने पर 'प्रकृष्टप्रकाशः सविता'—इत्यादि अखण्डार्थक लक्षण-वाक्यों में अव्याप्ति होती है, क्योंकि वे धर्मि-समसत्ताक इतर-भेद के भी बोधक माने जाते हैं, अतः उनमें वस्तुगत्या लक्ष्यरूप निर्भेद अर्थमात्र की बोधकता नहीं मानी जाती। इसी अव्याप्ति दोष के भय से चतुर्थ (निर्विशेषार्थ-बोधकत्व) कल्प भी नहीं अपनाया जा सकता। पञ्चम (अपर्यायशब्दानां प्रातिपदिकार्थबोधकत्वम्) पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि 'शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयः पावकौ'—इत्यादि पयः और पावकरूप अनेक प्राति-

न्यायामृतम्

नेकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायिनि शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकावित्यादावतिव्याप्तेः, नाप्येकविशेष्यपरत्वं नीलमुत्पलमित्यादावतिव्याप्तेरिष्टापत्तेश्च। तथाप्यपर्यायशब्दानां संसर्गागोचरप्रमाजनकत्वं वा तेषामेकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वं वा अखण्डार्थ-

अद्वैतसिद्धिः

संभूयार्थपरत्वमत्र नास्त्येव, प्रत्येकं त्वेकैकार्थपरत्वं लक्षणवाक्यत्वादिति नातिव्याप्तिरिति—वाच्यम्, तथापि ब्रह्मण्यभावाद्, अभिधया लक्षणया वा वेदान्तवाक्यानां निःसंबन्धे ब्रह्मणि पर्यवसानानुपपत्तेः। अत एव नैकविशेष्यपरत्वमपि, तद्विशिष्टैकविशेष्यबोधकनीलोत्पलादिवाक्ये अतिव्याप्तेरिष्टापत्तेश्च। यत्तु—अपर्यायशब्दानां संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वं वा तेषामेकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वं वा अखण्डार्थत्वम्। तदुक्तं पञ्चपादिकाकृद्भिः—'पदानां परस्परानवच्छिन्नार्थानां अनन्यकाङ्क्षाणाम् अव्यति-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पदिकार्थ के बोधक वाक्यों में भी अतिव्याप्ति होती है ['पयःपावकौ' में प्रथमा विभक्ति प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" (पा० सू० २।३।४६) इस सूत्र के द्वारा प्रातिपदिकार्थमात्र में विहित है पञ्चपादिकाकार भी कहते हैं—"तथा च भगवान् पाणिनिरव्यतिरिक्ते प्रातिपादिकार्थमात्रे प्रथमां स्मरति" (पञ्च० पृ० ३६२)। "कृत्तद्धितसमासाश्च" (पा. सू. १।२।४६) इस सूत्र से पयःपावक की प्रातिपदिक संज्ञा हुई है, इतरेतरयोग द्वन्द्व समासरूप प्रातिपदिक के यहाँ 'पयः' और 'पावक'—दो अर्थ होते हैं। 'पयः' शब्द और 'पावक' शब्द अपर्यायवाची भी हैं, इन अपर्यायवाची शब्दों के दो अर्थ हैं। 'शीतोष्णस्पर्शवन्तौ'—यह पयः और पावक का लक्षण-वाक्य है, लक्षण-वाक्य का केवल लक्ष्यार्थ के बोध में ही तात्पर्य माना जाता है, अतः यह वाक्य भी पयः और पावकरूप दो अर्थों का ही बोधक है]। यद्यपि उक्त स्थल पर दो वाक्य विवक्षित हैं—(१) 'शीतस्पर्शवत् पयः', (२) 'उष्णस्पर्शवान् पावकः'। वे दोनों वाक्य परस्पर मिलकर सामूहिक रूप से किसी प्रातिपदिकार्थ के बोधक नहीं, अतः दोनों वाक्यों में उक्त लक्षण नहीं जाता और प्रत्येक वाक्य पयः पावक में से एक-एक का लक्षण वाक्य होने के कारण अखण्डार्थता का बोधक ही माना जाता है, लक्ष्य में लक्षण का जाना अतिव्याप्ति नहीं कहलाता। तथापि सर्वथा सम्बन्ध-रहित ब्रह्म में न तो अखण्डार्थत्व ही घटता है और न ब्रह्म-बोधक वाक्यों में अखण्डार्थकत्व, क्योंकि अभिधा या लक्षणा के द्वारा ही वाक्य किसी लक्ष्य या वाच्य अर्थ के बोधक होते हैं, शब्दादि सम्बन्ध-रहित ब्रह्म का बोध नहीं कराया जा सकता। अत एव छठा (एकविशेष्यार्थ-बोधकत्व) विकल्प भी नहीं कर सकते, क्योंकि ब्रह्म-बोधक वाक्यों में अव्याप्ति एवं नीलादि गुण-विशिष्ट अर्थ के बोधक 'नीलमुत्पलम्'—इत्यादि वाक्यों में अतिव्याप्ति भी है, क्योंकि इस वाक्य में भी उत्पलरूप एक विशेष्य की बोधकता है। इसी प्रकार कारुण्यादि अगणित गुण-विशिष्ट ब्रह्म के बोधक वेदान्त-वाक्यों में भी यह लक्षण घट जाता है, अतः हमें (माध्ववादियों को) इष्टापत्ति भी है।

यह जो आप (अद्वैतियों) ने कहा है कि 'तत्' और 'त्वम्'—इत्यादि अपर्यायवाची शब्दों की संसर्गाविषयक प्रमा-जनकता अथवा अपर्यायवाची शब्दों की एक प्रातिपदिकार्थ मात्र-प्रतिपादकता ही अखण्डार्थकता है, जैसा कि पञ्चपादिकाकार ने कहा है—"पदानां परस्परानवच्छिन्नार्थानाम् अनन्याकांक्षाणाम् अव्यतिरिक्तैकरसप्रति-

न्यायामृतम्

त्वम् । उक्तम् हि—

संसर्गासंगिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम् ।
उक्ताखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता ॥ इति

तत्र पदार्थनिष्ठस्य वाक्यस्याखण्डार्थत्वे सत्यादिवाक्यं अखण्डार्थनिष्ठं ब्रह्मप्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठं वा, लक्षणवाक्यत्वात्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वाद्वा, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इतिवाक्यवदित्यनुमानं मानम् । न च द्वितीयहेतोरसिद्धिः, ब्रह्मविदाप्नोति परम् इत्युक्तब्रह्मप्रातिपदिकार्थमात्रे बुभुत्सितेऽस्य प्रवृत्तेः । न च हेतुद्वयेऽपि दृष्टान्तः साध्यविकलः प्रकृष्टादिवाक्यं चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठम्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वात्, संमतवदिति तत्सिद्धेः । न हि कश्चन्द्र इति चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रे पृष्टेऽन्यद्वक्तुमुचितम् । सास्नादिमान् गौरित्याद्यपि लक्षणवाक्यं पृष्टगवादिप्रातिपदिकार्थमात्रपरमिति न व्यभिचारः । ऐक्यपरस्य वाक्यस्याखण्डार्थत्वे तु तत्त्वमसीत्यादिवाक्यम् अखण्डार्थनिष्ठं आत्मस्वरूपमात्रनिष्ठं वा, अकार्यकारणद्रव्यमात्रनिष्ठत्वे सति समानाधिकरणत्वात्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वाद्वा, सोऽयं देवदत्त इति वाक्यवत् । न चान्त्यहेतोरसिद्धिः, कोऽहमित्यात्मस्वरूपमात्रे बुभुत्सितेऽस्य प्रवृत्तेः । न च हेतुद्वयेऽपि दृष्टान्तः साध्यविकलः, कोऽयमिति देवदत्तस्वरूपमात्रे पृष्टेऽस्य प्रवृत्तेः । विपक्षे प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यप्रसंगो बाधक इति ।

अत्र ब्रूमः—आद्यलक्षणे संसर्गशब्देन संसर्गमात्रोक्तौ "अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोग" इत्यादि संसर्गलक्षणवाक्ये अव्याप्तिः । पदस्मारितपदार्थसंसर्गोक्तौ तु विषं भुंक्ष्वेत्या-

अद्वैतसिद्धिः

रिक्तैकरसप्रातिपदिकार्थमात्रान्वयः' इति । उक्तञ्च तत्त्वप्रदीपिकाकृद्भिः—

संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम् ।
उक्ताऽखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता ॥' इति ।

तन्न, आद्ये 'अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोग' इत्यादौ संयोगलक्षणवाक्येऽव्याप्तेः । अथ

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पादकार्थमात्रान्वयः सोऽयम्—इत्यादि वाक्यस्थपदानामिव" (पञ्च० पृ० ३२२) । ['नीलमुत्पलम्'—इत्यादि परस्परावच्छिन्नार्थक पदों की व्यावृत्ति करने के लिए 'परस्परानवच्छिन्नार्थानाम्'—यह पदों का विशेषण रखा गया है । इसी प्रकार "उद्भिदा यजेत" यहाँ पर 'उद्भित्' और 'याग' शब्द परस्परानवच्छिन्नार्थक होने पर भी नियोगाकाङ्क्षी माने जाते हैं, अतः 'अनन्याकांक्षाणाम्', क्रिया-कारणभाव से अन्वय की व्यावृत्ति के लिए 'अव्यतिरिक्त', गुण-गुण्यादि भाव से अन्वय की निवृत्ति के लिए 'एकरस', उद्भिद् और यागार्थ के अन्वय की निवृत्त्यर्थ 'प्रातिपदिक' तथा लिङ्ग, संख्यादि का शाब्द बोध में अभाव सूचित करने के लिए 'मात्र' पद रखा गया है] । तत्त्वप्रदीपिकाकार ने भी कहा है—

संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम् ।
उक्ताखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता ॥ (चि० पृ० १९२)

[अर्थात् शब्दों की जो संसर्गागोचर प्रमा ज्ञान की हेतुता या एकप्रातिपदिकार्थमात्र की बोधकता है, उसे ही अखण्डार्थकत्व कहा जाता है] ।

वह आप (अद्वैतियों) का कहना समुचित नहीं, क्योंकि प्रथम (संसर्गागोचर-

न्यायामृतम्

दावतिव्याप्तिः, तस्य पदस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापकत्वात् । न चेदमपि "द्विषदन्नं न भोक्तव्यमि"ति शास्त्रमूलकत्वात्, शास्त्रीयपदस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापकम्, अस्य युक्तिमूलत्वेनाशास्त्रमूलत्वात् । प्रतिपिपादयिषितपदार्थसंसर्गोक्तौ च चन्द्रब्रह्मादिशब्दार्थानां प्रश्नहेतुसंशयधर्मित्वेन प्रागेव सामान्यतो ज्ञाततया स्वरूपेणाप्रतिपिपादयिषितत्वात् । संसर्गविशेषप्रतियोगित्वेन तु प्रतिपिपादयिषितत्वे विवक्षिते संसर्गाप्र-

अद्वैतसिद्धिः

पदस्मारितपदार्थसंसर्गाप्रमापकत्वं विवक्षितम्, तत्रापि 'द्विषदन्नं न भोक्तव्य'-मित्येतत्परे 'विषं भुङ्क्ष्वे'ति वाक्ये अतिव्याप्तिः । न च—'द्विषदन्नं न भोक्तव्य'मिति शास्त्रमूलत्वेन शास्त्रीयपदस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापकत्वादत्र नातिव्याप्तिरिति—वाच्यम्, युक्तिमूलत्वेनास्य शास्त्रमूलत्वासिद्धेः । अथ प्रतिपिपादयिषितपदार्थसंसर्गाप्रमापकत्वमत्र विवक्षितम्, तत्राप्यसंभवः, चन्द्रब्रह्मादिशब्दार्थानां स्वरूपतो ज्ञाततयाऽप्रतिपिपादयिषितत्वेन संसर्गविशेषप्रतियोगित्वेनैव प्रतिपिपादयिषितत्वात् । अत एव न

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रमितिजनकत्वम्) लक्षण 'अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः'—इत्यादि संयोग सम्बन्ध के लक्षण-वाक्य में अव्याप्त है, क्योंकि यह लक्षण-वाक्य संसर्गविषयक ज्ञान का ही जनक है । यदि कहा जाय कि उक्त लक्षण-वाक्य अपने घटक 'संयोग' पद के द्वारा स्मारित संसर्ग का स्मारक है, संसर्ग-मर्यादा से उपस्थित संसर्ग का उपस्थापक नहीं, अतः पद-स्मारित पदार्थ की अबोधकता ही उक्त लक्षण-वाक्य में विवक्षित है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि फिर भी 'शत्रोरन्नं न भोक्तव्यम्'—इस अर्थ के बोधक 'विषं भुङ्क्ष्व'—इस वाक्य में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि इस वाक्य में संसर्ग-स्मारक कोई पद नहीं रखा गया है ।

यदि कहा जाय कि 'विषं भुङ्क्ष्व'—इस वाक्य का प्रयोक्ता आप्त पुरुष यदि ''द्विषदन्नं न भोक्तव्यम्'—इस प्रकार के किसी धर्मशास्त्रीय वाक्य के आधार पर प्रयोग करता है, तब शास्त्रीय पदों के द्वारा स्मारित पदार्थ-संसर्ग का बोधक होने के कारण पद-स्मारित पदार्थ-संसर्ग का अप्रमापक नहीं, अतः अतिव्याप्ति नहीं होती । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त वाक्य केवल 'शत्रु विष भी दे सकता है'—इत्यादि संभावना और युक्ति के आधार पर ही अधिकतर प्रयोग में आता है, सभी प्रयोक्ता शास्त्रमूलक प्रयोग करते हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता । यदि कहा जाय कि संसर्ग मात्र उक्त 'संसर्ग' पद से विवक्षित न होकर प्रतिपिपादयिषित पदार्थ-संसर्ग विवक्षित है, अतः प्रतिपिपादयिषित पदार्थ-संसर्ग की अप्रमापकता ही अखण्डार्थता है, विषं भुङ्क्ष्व में शत्रु-भोजन की अकर्त्तव्यतारूप प्रतिपिपादयिषित पदार्थ-संसर्ग की बोधकता ही है, अबोधकता नहीं, अतः अतिव्याप्ति नहीं होती । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'प्रकृष्ट-प्रकाशः चन्द्रः' और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—इत्यादि लक्षण-वाक्यों में भी चन्द्र और ब्रह्म स्वरूपतः ज्ञात होने के कारण प्रतिपिपादयिषित नहीं, अतः अपकृष्टप्रकाशभिन्नत्वेन या प्रकृष्टप्रकाश-संसर्गित्वेन चन्द्र और असत्यभिन्नत्वेन या सत्याद्यर्थ-तादात्म्यापन्नत्वेन ब्रह्म प्रतिपिपादयिषित माना जाता है, फलतः उक्त लक्षण-वाक्य भी प्रतिपिपादयिषित पदार्थ-संसर्ग का अप्रमापक नहीं, अतः असम्भव दोष हो जाता है । अत एव द्वितीय (तेषामेकप्रातिपदिकार्थपर्यवसायित्वम्) लक्षण भी सम्भव नहीं, क्योंकि

अद्वैतसिद्धिः

मापकत्वासम्भवात्। किं च शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकावित्यादौ त्वद्रीत्या संसर्गाप्रतिपादकेऽनेकप्रातिपदिकार्थमात्रपरेऽतिव्याप्तिः। न हि(च)धर्मधर्मिभावासहमखण्डा-

अद्वैतसिद्धिः

द्वितीयलक्षणमपि, तथा च लक्षणासम्भवात् प्रमाणमप्यसंभवि, अलक्षिते प्रमाणस्योपन्यसितुमशक्यत्वाद्—इति।

अत्रोच्यते—पदवृत्तिस्मारितातिरिक्तमत्र संसर्गपदेन विवक्षितम्। तथा चापर्यायशब्दानां पदवृत्तिस्मारितातिरिक्तागोचरप्रमाजनकत्वमाद्यलक्षणं पर्यवसितम्। तथा च न संयोगलक्षणे अव्याप्तिः, तस्य पदवृत्तिस्मारितत्वात्। नापि द्विषदन्नभोजननिषेधके अतिव्याप्तिः, तत्रानिष्टसाधनत्वसंसर्गस्य पदवृत्त्यस्मारितस्य प्रतिपाद्यत्वात्। 'शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकौ'वित्यत्र त्वखण्डार्थत्वमिष्टमेव। न च—धर्मधर्मिभावासहमखण्डार्थत्वं कथं धर्मिभेदं सहतामिति—वाच्यम्, एकत्रासहिष्णुतायाः सर्वत्रासहिष्णुतायामहेतुत्वात्, शीतस्पर्शवत् पयः, उष्णस्पर्शवान् पावक इति वाक्यार्थभेदाच्च। असंभवस्तु तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वादिति हेत्वसिद्ध्युद्धारे निरसिष्यते। अत्र च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

स्वरूपतः ज्ञात ब्रह्मरूप एक प्रातिपदिकार्थ बुभुत्सित न होने के कारण सत्यादिरूप अन्य प्रातिपदिकार्थ के सम्बन्ध का प्रतिपादन आवश्यक है अतः सभी पदों की एक प्रातिपदिकार्थपरता असम्भव है।

अद्वैतवादी—उक्त लक्षण-घटक 'संसर्ग' पद से वह संसर्ग विवक्षित है, जो कि संसर्ग-बोधक संयोगादि पदों के द्वारा स्मारित संसर्ग से भिन्न हो। इस प्रकार प्रथम लक्षण का परिष्कृत स्वरूप होता है—पदवृत्तिस्मारितातिरिक्तागोचरप्रमाजनकत्वम् अखण्डार्थकत्वम्। इस लक्षण की संयोग के 'अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः'—इस लक्षण में अव्याप्ति नहीं, क्योंकि इस लक्षण में 'संयोग' पद की अभिधा वृत्ति से संयोगरूप संसर्ग स्मारित है, उससे अतिरिक्त संसर्गाविषयक प्रमा की जनकता इस लक्षण में विद्यमान है। शत्रु के अन्न-भक्षण से व्यावर्तक 'विषं भुङ्क्ष्व'—इस वाक्य में अतिव्याप्ति भी नहीं, क्योंकि इस वाक्य के द्वारा शत्रु के अन्न-भक्षण में अनिष्ट-साधनत्वरूप ऐसे संसर्ग की बोधकता है, जो कि किसी वाचक पद की अभिधादि वृत्ति के द्वारा स्मारित नहीं। 'शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकौ'—यह लक्षण-वाक्य है, अतः यहाँ अखण्डार्थकत्व का लक्षण घटना अभीष्ट ही है, अतिव्याप्ति नहीं।

शङ्का—साधारणतया 'नीलो घटः'—इत्यादि में नीलादि विशेषण और घटरूप विशेष्य का धर्म-धर्मिभाव होता है, किन्तु तत्त्वमादि के अखण्डार्थत्व में धर्मधर्मिभाव भी नहीं होता, अतः पयःपावकरूप दो भिन्न धर्मियों के बोधक 'शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकौ'—इस वाक्य में उक्त लक्षण कैसे घटेगा ?

समाधान—धर्म-धर्मिभाव और वस्तु है एवं धर्मि भेद और वस्तु, अतः धर्मधर्मिभाव की असहिष्णुता को धर्मिभेद की असहिष्णुता का आपादक या हेतु नहीं कह सकते। दूसरी बात यह भी है कि उक्त स्थल पर 'शीतस्पर्शवत् पयः' और 'उष्णस्पर्शवान् पावकः'—इस प्रकार दो लक्षण-वाक्य माने जाते हैं, प्रत्येक अखण्डार्थक है, उसमें धर्मि भेद भी नहीं।

जो असम्भव दोष दिया था कि स्वरूपतः ज्ञात होने के कारण लक्षण-वाक्य के

न्यायामृतम्

र्थत्वं धर्मिभेदसहम् ।

किं च यौगिकार्थौपगवादिप्रश्नोत्तरे श्यामो दीर्घो लोहिताक्ष औपगव इत्यादौ

अद्वैतसिद्धिः

'घटः कलश'इत्यादौ संसर्गाप्रमापके एकार्थपरेऽतिव्याप्तिवारणायापर्यायशब्दानामिति । तत्रापि बहुवचनेन संभूयैकार्थप्रतिपादकत्वस्य लाभान्न'धवखदिरपलाशा' इत्यादावतिव्याप्तिः । पदज्ञाप्येत्युक्ते अर्थापत्त्या पदज्ञाप्यमनिष्टसाधनत्वमादाय 'विषं भुङ्क्ष्वे'ति वाक्ये अतिव्याप्तिः स्यात्तद्वारणाय—वृत्तीति । तथाप्यन्विताभिधानवादिमते शक्त्याऽभिहितान्वयवादिमते च लक्षणया वाक्यार्थभूतसंसर्गस्य वृत्तिज्ञाप्यत्वात् सर्वत्र प्रमाणवाक्ये अतिव्याप्तिः स्यात्तद्वारणाय उक्तं - स्मारितेति । आद्यपक्षे कुब्जशक्त्यङ्गीकाराद्, द्वितीयपक्षे चाज्ञाताया एव पदार्थनिष्ठाया लक्षणाया वृत्तित्वाङ्गीकारात् न संसर्गस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वारा चन्द्र और ब्रह्मरूप लक्ष्य मात्र प्रतिपिपादयिषित नहीं, अपितु प्रकृष्ट प्रकाश-सम्बन्धित्वेन चन्द्र और सत्यार्थ-सम्बन्धित्वेन ब्रह्म प्रतिपिपादयिषित है, अतः उक्त लक्षण वाक्यों में संसर्गागोचरार्थ-प्रतिपादकत्व सम्भव नहीं । उस असम्भव दोष का निराकरण उत्तरवर्ती प्रकरण में 'सत्यादिवाक्यम्, अखण्डार्थनिष्ठम्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वात्'—इस अनुमान के 'तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वात्'—इस हेतु में असिद्धि दोष का उद्धार करते समय किया जायगा ।

इस लक्षण में 'अपर्याय' विशेषण न देने पर 'घटः कलशः'—इत्यादि संसर्गा विषयक एकार्थविषय प्रमा के जनक वाक्यों में अतिव्याप्ति होती है, अतः 'अपर्याय शब्दानाम्' कहा गया है, घटः कलशः'—ये पर्यायवाची शब्द हैं, अतः इनकी व्यावृत्ति हो जाती है । 'शब्दानाम्'—यहाँ वहुवचन के प्रयोग से शब्दों में परस्पर मिलकर एक अर्थ की प्रतिपादकता का लाभ होता है [द्विवचन बहुवचन और द्वन्द्व समास लोक में साहित्य के बोधक देखे जाते हैं, यहाँ साहित्य का अर्थ एकक्रियान्वयित्व है, जो कि सरूप पद से भी ध्वनित माना जाता है, जिसे निमित्त मान कर ''सरूपाणामेकशेषः'' (पा० सू० १।२।६४) इस सूत्र के द्वारा 'शब्दश्च शब्दश्च शब्दश्च, ते शब्दाः, तेषां शब्दानाम्'–इस प्रकार एकशेष किया जाता है]। अतः 'धवखदिरपलाशाः'—इत्यादि अनेकार्थक शब्दों में अतिव्याप्ति नहीं होती । 'पदवृत्तिस्मारित' न कह कर 'पदस्मारित'—इतना ही कहने पर 'विषं भुङ्क्ष्व'—इस वाक्य मे अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि शत्रु के अन्न-भोजन में अनिष्ट-साधनत्व भी अर्थापत्ति की सहायता लेकर 'विष' पद से स्मारित हो जाता है, किन्तु 'विष' पद की अभिधा या लक्षणादि वृत्ति अनिष्ट-साधनत्व में न होने के कारण वह पद की वृत्ति से स्मारित नहीं । फिर भी अन्विताभिधानवादी प्रभाकर के मत में शक्ति वृत्ति और अभिहितान्वयवादी भट्ट के मत में लक्षणा वृत्ति के द्वारा पदार्थ-संसर्ग की उपस्थिति मानी जाती है, अतः सभी प्रमाण वाक्यों में अतिव्याप्ति हो जाती है, उसकी व्यावृत्ति के लिए 'स्मारित' कहा गया है । प्रथम (अन्विताभिधानवाद) मत के अनुसार संसृष्ट अर्थ के वाचक शब्दों की शक्ति संसर्ग या पदार्थ-अन्वय में मानी जाती है, किन्तु वह कुब्ज या अज्ञात ही अन्वय-बोध-जनक होती है, अत पद-वृत्ति से स्मारित नहीं होती और द्वितीय (अभिहितान्वयवाद) मत के अनुसार पदार्थगत अज्ञात लक्षणा को ही वृत्ति माना जाता है, शक्ति को नहीं, अतः संसर्ग पद को लक्षणा से स्मारित होने पर भी पद की शक्ति वृत्ति से स्मारित नहीं, अतः अतिव्याप्ति नहीं ।

न्यायामृतम्

अनेकार्थात्मकवनसेनादिप्रश्नोत्तरे "एकदेशस्था वृक्षा वन"मित्यादौ च सखण्डार्थे लक्षणवाक्येऽतिव्याप्तिः। प्रकृष्टादिवाक्येऽपि संसृष्टार्थत्वस्य वक्ष्यमाणत्वेनासम्भवश्च। अत एवान्त्यं लक्षणमप्ययुक्तम्, असम्भवात्, सखण्डार्थलक्षणवाक्येऽतिव्या-

---

अद्वैतसिद्धिः

पदस्मारितत्वम्, किंत्वनुभाव्यत्वमित्यतिव्याप्तिपरिहारः। एवं द्वितीयमपि लक्षणं सम्यगेव। तत्राप्येकत्वं प्रातिपदिकार्थस्यैकधर्मावच्छेदेन वृत्तिविषयत्वम्, न त्वेकमात्रव्यक्तित्वम्। अतो यौगिकार्थौपगवादिप्रश्नोत्तरे 'श्यामो दीर्घः लोहिताक्ष औपगव' इत्यादौ अनेकार्थात्मके वनसेनादिप्रश्नोत्तरे एकदेशस्था वृक्षा वनमित्यादौ च नाव्याप्तिः। 'शीतोष्णस्पर्शवन्तो पयःपावका'विति तु प्रत्येकमेकैकार्थपरत्वात् संग्राह्यमेव। तदुक्तं कल्पतरुकृद्भिः—

अविशिष्टपर्यायानेकशब्दप्रकाशितम्।
एकं वेदान्तनिष्णाता अखण्डं प्रतिपेदिरे ॥' इति।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इसी प्रकार द्वितीय (तेषामेकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वम्) लक्षण भी समीचीन ही है। [इस लक्षण के घटक 'एकप्रातिपदिकार्थ'—इस वाक्य के द्वारा प्रतिपादित प्रातिपदिकार्थगत एकत्व का अर्थ यदि एकव्यक्तित्व किया जाता है, तब वहाँ अव्याप्ति हो जायेगी जहाँ अखण्डार्थ में अनेकव्यक्तित्व का भान होता है, जैसे 'क औपगवः ? इस प्रश्न का उत्तर होता है—श्यामो दीर्घो लोहिताक्ष औपगवः (श्याम रंग लम्बे कद और लाल नेत्रोंवाला पुरुष उपगु का पुत्र है)। किं वनम् ? इस प्रश्न का उत्तर होता है—एकदेशस्थाः वृक्षा वनम् (एकत्र अवस्थित अनेक वृक्षों को बन कहा जाता है)। इसी प्रकार 'का सेना ?' इस प्रश्न का उत्तर होता है—योद्धा तथा अश्वादि युद्धोपकरणों का दल सेना कहलाता है। प्रश्नोत्तर अखण्डार्थक माना जाता है, किन्तु यहाँ अनेक श्याम, दीर्घादि, अनेक वृक्ष तथा अनेक योद्धाओं का भान होता है। इस लिए] यहाँ एकत्व का अर्थ करना होगा—एक धर्मावच्छेदेन प्रातिपदिकरूप पद की वृत्ति-विषयता। उक्त स्थल पर प्रातिपदिक की वृत्ति विषयता श्याम दीर्घादि अनेक अर्थों में भी उपगु-पुत्रत्वरूप, अनेक वृक्षों में वनत्वरूप तथा अनेक योद्धाओं में सेनात्वरूप एक धर्म से ही अवच्छिन्न होती है, अतः अव्याप्ति नहीं। पद-वृत्ति पाँच प्रकार की होती है—(१) शक्ति, (२) लक्षणा, (३) कृत्संज्ञक प्रत्यय, (४) तद्धित प्रत्यय और (५) समास ['कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्चवृत्तयः" (सि. कौ. पृ० ८७) यह विभाग पदार्थाभिधानरूप वृत्ति का है, पदगत शक्त्यादि का नहीं। यहाँ गौड़ ब्रह्मानन्दने अर्थवत्, कृदन्त, तद्धितान्त और समास रूप चार प्रकार के प्रातिपदिकरूप पदों को ध्यान में रखकर कहा है। "सुप्तिङन्तं पदम्" (पा० सू० १।४।१४) इस परिभाषा के अनुसार प्रातिपदिकादि में पदत्व-व्यवहार नहीं, अपितु 'शक्तं पदम्'—इस न्याय-परिभाषा के अनुसार किया गया है]।

'शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयः पावकौ'—यहाँ भी प्रत्येक वाक्य एकार्थ का बोधक होने से अखण्डार्थकत्व-लक्षण का लक्ष्य ही है, जैसा कि कल्पतरुकार ने कहा है—

अविशिष्टमपर्यायानेकशब्दप्रकाशितम्।
एकं वेदान्तनिष्णाता अखण्डं प्रतिपेदिरे ॥ (कल्प० पृ० ९३)

न्यायामृतम्

तेश्च। किं च प्रवृत्तिनिमित्ताभेदश्चेन्नापर्यायत्वं तद्भेदस्त्विह नास्ति, अनन्तत्वादीनां शुद्धादन्यत्रासम्भवाद्, अनन्तादिशब्दानां लक्षणयाऽखण्डार्थत्वे च शुद्धे तदसिद्धेः।

अखण्डार्थत्वलक्षणभंगः ॥ १ ॥

अद्वैतसिद्धिः

ननु प्रवृत्तिनिमित्तभेदे अपर्यायत्वम्, स चानन्तादिपदेषु न संभवति, शुद्धब्रह्ममात्रनिष्ठत्वाद्, अतो वेदान्तेषु लक्षणाव्याप्तिरिति—चेन्न, प्रवृत्तिनिमित्तभेदं स्वीकृत्यैव लक्षणयाऽनन्तादिपदानां शुद्धब्रह्मपरत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। न च शुद्धे संबन्धाभावान्न लक्षणापीति वाच्यम्, अतात्त्विकसंबन्धेनैव लक्षणोपपत्तेः, भ्रमप्रतीतरजतत्वेन संबन्धेन शुक्तो रजतपदलक्षणावत्। शुद्धस्यैव सर्वकल्पनास्पदत्वेन शुद्धे न कल्पितसंबन्धानुपपत्तिः। यथा चानन्तादिपदानां लाक्षणिकत्वेऽपि ब्रह्मणि नान्तवत्त्वादिप्रसङ्गः, तथा वक्ष्यते॥

इत्यद्वैतसिद्धौ अखण्डार्थलक्षणोपपत्तिः॥

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

[वेदान्त-निष्णात आचार्य अनेक अपर्याय शब्दों से प्रकाशित एक निर्विशेष अर्थ को अखण्डार्थ कहते हैं]।

शङ्का—अपर्यायत्व का अर्थ होता है—प्रवृत्ति निमित्त (शक्यतावच्छेदक) का भेद। वह सत्य, ज्ञान और अनन्तादि पदों में सम्भव नहीं, क्योंकि सभी पदों का शक्य एक मात्र ब्रह्म ही माना जाता है, अतः वेदान्त-वाक्यों में उक्त अखण्डार्थकत्व-लक्षण की अव्याप्ति होती है।

समाधान—सत्यादि पदों का सत्यत्वादि प्रवृत्ति निमित्त भिन्न माना जाता है, अतः सत्यादि पदों में अपर्यायत्व घट जाता है। प्रवृत्ति-निमित्त भिन्न होने पर भी लक्षणा के द्वारा सभी पदों का पर्यवसान एक शुद्ध ब्रह्म में ही माना जाता है। यद्यपि शक्य-सम्बन्ध का नाम लक्षणा है और तात्त्विक सम्बन्ध शुद्ध ब्रह्म में नहीं बनता, तथापि अतात्त्विक सम्बन्ध को लेकर वैसे ही लक्षणा बन जाती है, जैसे भ्रमतः प्रतीत रजतत्व को लेकर 'रजत' पद की तक्षणा शुक्ति में होती है। शुद्ध ब्रह्म ही समस्त कल्पनाओं का आधार है, अतः शुद्ध में अतात्त्विक सम्बन्ध की अनुपपत्ति नहीं। 'अनन्त' पद से लक्षित होने पर भी ब्रह्म अनन्त-भिन्न या सान्त नहीं होता, क्योंकि केवल जहल्लक्षणा-स्थल पर ही लक्ष्यार्थ शक्यार्थ से भिन्न होता है, अन्य लक्षणा-स्थल पर नहीं—यह कहा जायेगा।

: २ :

सत्यादीनामखण्डार्थत्वेऽनुमानविचारः

न्यायामृतम्

आद्यानुमाने चाप्रसिद्धविशेषणत्वं प्रत्यक्षादिनापीदमित्थमिति सप्रकारकज्ञानस्यै-

अद्वैतसिद्धिः

एवं लक्षणसंभवे प्रमाणसंभवोऽपि तथा हि—सत्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठं, ब्रह्मप्रातिपदिकार्थनिष्ठं वा, लक्षणवाक्यत्वात् तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वाद्वा, 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र' इत्यादिवाक्यवदिति पदार्थविषयाखण्डार्थत्वानुमानम्। तत्त्वमस्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठमात्मस्वरूपमात्रनिष्ठं वा, अकार्यकारणद्रव्यमात्रनिष्ठत्वे सति समानाधिकरणत्वात्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वाद्वा, सोऽयमित्यादिवाक्यवदिति वाक्यार्थविषयाखण्डार्थत्वानुमानम्, न च सत्यादिवाक्ये तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वमसिद्धम्; 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति ब्रह्मवेदनस्यैवेष्टसाधनतया तन्मात्र एव बुभुत्सातः तन्मात्रस्यैव प्रश्नविषयत्वात्। न च प्रकृष्टादिवाक्ये साध्यवैकल्यम्; तद्वाक्यं पक्षीकृत्य तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वेन चन्द्रमात्रनिष्ठतायाः सामान्यव्याप्तिमवलम्ब्य साधनात्। एवं 'तत्त्वमस्या'दिवाक्येऽपि तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वं नासिद्धम्, 'कोऽह'मित्यात्मस्वरूपस्यैव प्रश्नविषयत्वेन तदधिकप्रत्युक्तेरयुक्तेः। नाप्यत्र दृष्टान्तासिद्धिः, देवदत्तस्वरूपमात्रे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१)—इत्यादि वेदान्त-वाक्यों में अखण्डार्थकत्व का लक्षण सूपपन्न हो जाने पर प्रमाणोपन्यास भी किया जा सकता है—'सत्यादि वाक्य अखण्डार्थ के बोधक होते हैं अथवा ब्रह्मरूप प्रातिपदिकार्थ के बोधक हैं, क्योंकि लक्षण-वाक्य हैं या ब्रह्ममात्रविषयक प्रश्न के उत्तर वाक्य हैं, जैसे—'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'—इत्यादि वाक्य। यह पदार्थविषयक अखण्डार्थकत्व का अनुमान है और वाक्यार्थविषक अखण्डार्थकत्व का अनुमान इस प्रकार है—'तत्त्वमसि'—इत्यादि वाक्य, अखण्डार्थ के बोधक होते हैं अथवा आत्मस्वरूपमात्र के बोधक होते हैं, क्योंकि कार्य-कारणभावापन्न द्रव्य से भिन्नार्थ के बोधक एवं समानाधिकरण वाक्य हैं, अथवा ब्रह्ममात्रविषयक प्रश्न के उत्तर वाक्य हैं, जैसे—'सोऽयम्'—इत्यादि वाक्य।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—इत्यादि वाक्यों में ब्रह्ममात्रविषयक प्रश्न की उत्तररूपता सिद्ध नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै. उ० २।१।१) इस प्राकरणिक वाक्य से यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म-ज्ञान ही प्रतिपिपादयिषित है, ब्रह्म ही बुभुत्सित है, अतः केवल ब्रह्म ही प्रश्नोत्तर का विषय है। 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'—इस दृष्टान्त-वाक्य में प्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठत्वरूप साध्य का अभाव है—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः—इति वाक्यं चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठम्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वात्'—इस प्रकार सामान्य व्याप्ति के बल पर प्रकृष्टादि वाक्य में उक्त साध्य की सिद्धि की जा सकती है। इसी प्रकार "तत्त्वमसि" (छां ६।८।७) इत्यादि वाक्यों में भी तन्मात्र-प्रश्नोत्तरत्व असिद्ध नहीं, क्योंकि 'कोऽहम ?' इस प्रकार आत्मविषयक प्रश्न के उत्तर में 'तत्त्वमसि'—इससे अधिक और क्या उत्तर हो सकता है। दृष्टान्त में भी तन्मात्र-प्रश्नोत्तरत्व की असिद्धि नहीं, क्योंकि देवदत्त के स्वरूपमात्र का प्रश्न होने पर 'सोऽयम्'—यह उत्तर दिया गया है। उक्त हेतु अप्रयोजक (साध्य-व्यभिचार की शंका से युक्त) है—ऐसा नही कह सकते, क्योंकि

न्यायामृतम्

वोत्पत्तेः। असिद्धिश्च, सत्यत्वज्ञानत्वादेः परापरजातित्वे तस्या ब्रह्मण्यपि सत्वेनातिव्याप्तेः। अजातित्वेऽपि ब्रह्मण्यपि तस्यातात्त्विकस्य धर्मज्ञानाबाध्यस्य चाऽसम्भ-

अद्वैतसिद्धिः

पृष्टे अस्य प्रवृत्तेः। न चाप्रयोजकत्वम्, प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः, विपक्षबाधकतर्कस्य विद्यमानत्वात्। न च—संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वं साध्यमप्रसिद्धम्, प्रत्यक्षादिनापि इदमित्थमिति विशेषसंसर्गगोचराया एव प्रमितेर्जननादिति—वाच्यम्, निर्विकल्पकस्वीकर्तॄणां तस्मिन्नेव प्रसिद्धेः, इतरेषां तु प्रमात्वं संसर्गागोचरवृत्ति, सकलप्रमावृत्तित्वादभिधेयत्ववदिति सामान्यतस्तत्प्रसिद्धेः। यद्यप्यत्रापि अप्रयोजकत्वं संभाव्यते; तथापि सन्देहरूपा साध्यप्रसिद्धिर्न दुर्लभा। वस्तुतस्तु प्रकृष्टादिवाक्य एव तत्प्रसिद्धिर्दर्शिता।

न च—लक्षणवाक्यत्वं सत्यादिवाक्येष्वसिद्धम्, सत्यत्वादेः परापरजातितया तस्याश्चान्यत्रापि विद्यमानत्वेनासाधारण्याभावात्, न च—तात्त्विकं तद् ब्रह्मणि, अद्वैतश्रुतिविरोधाद्, अतात्त्विकं त्वन्यत्रापि तुल्यमिति—वाच्यम्, परमार्थसत्यादि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यदि तन्मात्रविषयक प्रश्न का उत्तर तन्मात्रविषयक नहीं होगा, तब प्रश्न और उत्तर का वैयधिकरण्य हो जायगा—इस प्रकार की विपक्ष-बाधक तर्क विद्यमान है।

शङ्का—संसर्गाविषयक प्रमा की जनकता (प्रकृत साध्य) कहीं भी प्रसिद्ध नहीं, क्योंकि प्रमा-जनक प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा 'इदम् इत्थम्'—इस प्रकार से विशेष संसर्गविषयक प्रमा की ही जनकता देखी जाती है।

समाधान—जो लोग निर्विकल्पक ज्ञान मानते हैं, उनके मत से संसर्गागोचर प्रमा की जनकता निर्विकल्पक (विशेष्यता-प्रकारता-संसर्गागोचर ज्ञान) के जनक इन्द्रिय-सन्निकर्षादि रूप प्रत्यक्ष-प्रमाण में ही प्रसिद्ध है और जो निर्विकल्पक ज्ञान नहीं मानते, उनके मत से साध्य की सामान्यतः प्रसिद्धि इस अनुमान के द्वारा की जा सकती है—'प्रमात्व' धर्म संसर्गाविषयक प्रमा में रहता है, क्योंकि सकल प्रमा में वृत्ति है, जैसे—अभिधेयत्व। यद्यपि इस अनुमान में भी अप्रयोजकत्व की शङ्का हो सकती है, तथापि साध्य की संशयात्मक प्रसिद्धि दुर्लभ नहीं। वस्तुतः 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'—इत्यादि वाक्यों में ही संसर्गागोचर प्रमा की जनकता दिखाई जा चुकी है [प्रकृष्टप्रकाशब्दयोरिव चन्द्रपदाभिधेयार्थकनेन'' (पञ्च० पृ० ३२३) इस पञ्चपादिका-वाक्य की व्याख्या करते हुए विवरणकार ने कहा है—''प्रकाशशब्दः सामान्याभिधानमुखेन लक्षणया व्यक्तिविशेषे वर्तते, प्रकृष्टशब्दश्च लक्षणया प्रकर्षगुणाभिधानमुखेन प्रकाशविशेषे वर्तते, तत्र गुणसामान्ययोः चन्द्रपदाभिधेयत्वाभावात् जहल्ललणया तदुभयं व्युदस्य सत्समवायिप्रकाश एव चन्द्रपदाभिधेयतया समर्प्यते इति प्रकृष्टप्रकाशचन्द्रशब्दानामेकार्थवृत्तिता सिद्धा'' (पं० वि० पृ० ७१९)]।

शङ्का—सत्यादि वाक्यों में 'लक्षणवाक्यत्व' असिद्ध है, क्योंकि असाधारण धर्म को ही लक्षण कहा जाता है, किन्तु सत्यादि पदों से अभिहित सत्यत्व, ज्ञानत्वादि धर्म परापर जातिरूप हैं [सत्यत्व सभी जातिमत्पदार्थों में रहने से पर जाति है, किन्तु ज्ञानत्व वैसा नहीं, अतः अपर जाति है] अतः ब्रह्म से अन्यत्र भी रहते हैं, अतः साधारण धर्म हैं, असाधारण (ब्रह्ममात्र-वृत्ति) नहीं। ब्रह्म में 'सत्यत्वादि तात्त्विक

न्यायामृतम्

म्वाद्, अतात्त्विकस्य व्यावहारिकस्य चानात्मन्यपि सत्त्वात्। विरुद्धत्वं च, असाधारणधर्मरूपलक्षणपरवाक्यत्वस्य सखण्डार्थत्वेनैव व्याप्तेः। न च स्वरूपलक्षणस्य

अद्वैतसिद्धिः

रूपतायाः ब्रह्मस्वरूपलक्षणत्वात्। अस्मन्मते यद्यपि सत्याद्यन्यतमपदं स्वरूपलक्षण-परम्, ब्रह्मणोऽन्यस्य तदाभासत्वात्, तथापि परैरपि सत्यत्वस्य सत्यत्वे सति ज्ञानत्वस्य सत्यत्वे सत्यानन्दत्वस्य शून्यवादिभिरपि सत्त्वरहितज्ञानानन्दात्मकत्वस्य ब्रह्मणोऽन्यत्राङ्गीकारान्मिलितं विना न निर्विचिकित्सब्रह्मसिद्धिरिति मिलितं लक्षणम्। न चैवं विशिष्टस्य लक्षणत्वे सखण्डार्थत्वप्रसङ्गः, वाच्यस्य सखण्डार्थत्वेऽपि लक्ष्यस्याखण्डत्वात्। यद्यपि सर्वेषां सत्यादिपदानां लक्ष्यमेकमेव निर्विशेषं ब्रह्म, तथापि निवर्तनीयांशाधिक्येन न पदान्तरवैयर्थ्यम्। अतो वाच्यार्थवैशिष्ट्यस्याखण्डसिद्धावुपायत्वात् न तद्विरोधिता।

ननु-इदं विरुद्धं असाधारणधर्मरूपलक्षणपरवाक्यस्य सखण्डार्थत्वनियमादिति-चेत्, न, सर्वलक्षणवाक्यानां स्वरूपमात्रपर्यवसायित्वेन नियमासिद्धेः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

हैं और अन्यत्र अतात्त्विक, अतः असाधारण धर्म हैं'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सत्यत्वादि को तात्त्विक मानना अद्वैत-श्रुति से विरुद्ध है। अतात्त्विक सत्यत्वादि तो अन्यत्र भी रहने के कारण साधारण धर्म हैं।

समाधान—परमार्थ सत्यरूपता ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। यद्यपि हमारे (अद्वैत) मत में 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' में कोई एक पद ही ब्रह्म का लक्षण है, सभी पद मिल कर नहीं, तथापि द्वैतिगण केवल सत्यत्व, सत्यत्व-विसिष्ट ज्ञानत्व और सत्यत्व-विशिष्ट आनन्दत्व धर्म को ब्रह्म से अन्यत्र अतिव्याप्त मानते हैं, यहाँ तक कि शून्यवादी भी सत्त्व-रहित ज्ञानानन्दात्मकत्व को ब्रह्म से अन्यत्र मानते हैं, अतः सत्यत्वे सति ज्ञानत्वे सति आनन्दत्वम्'—इस प्रकार मिलितरूप में ही ब्रह्म का असन्दिग्ध लक्षण किया जा सकता है, प्रत्येक नहीं, [भाष्यकार भगवान् शङ्कराचार्य भी कहते हैं—"सत्यादिभिस्त्रिभिर्विशेषणैर्विशेष्यमाणं ब्रह्म विशेष्यान्तरेभ्योऽवधार्यते" (तै० उ० पृ० ४७)। सत्यत्व और ज्ञानत्व से विशिष्ट आनन्दत्व को ब्रह्म का लक्षण मानने पर भी लक्ष्य में सखण्डत्वापत्ति नहीं होती, क्योंकि वाच्यार्थ के सखण्ड होने पर भी लक्ष्यार्थ अखण्ड ही रहता है। यद्यपि सभी सत्यादि पदों का एक ही निर्विशेष ब्रह्म लक्ष्य होता है, अतः किसी एक पद का प्रयोग ही पर्याप्त है, पदान्तर की आवश्यकता नहीं, तथापि सभी पदों के व्यावर्त्य अंश भिन्न-भिन्न होने के कारण पदान्तर-वैयर्थ्य नहीं होता वाच्यार्थगत विशिष्टता या सखण्डता का ज्ञान लक्ष्यार्थगत अखण्डता का विरोधी नहीं, अपितु अखण्डता-बोध का साधन है।

शङ्का—और विरोध यहाँ हो, या न हो, इतना तो विरोध अवश्य है कि असाधारणधर्मरूप लक्षण के बोधक वाक्य में अखण्डार्थकता, क्योंकि 'यद्-यद् लक्षण-बोधकं वाक्यम्, तत्तत्सखण्डार्थकम्'—ऐसा नियम होता है, अतः असाधारण धर्मरूप लक्षण का प्रतिपादक वाक्य अखण्डार्थक कैसे होगा ?

समाधान—सभी लक्षण-वाक्य लक्ष्य-स्वरूप मात्र में पर्यवसित होते हैं, उनके सखण्डार्थकत्व का नियम ही असिद्ध है। दूसरी बात यह भी है कि धर्मरूप लक्षण

न्यायामृतम्

लक्ष्यानतिरेकात्तत्परत्वमखण्डार्थत्वाविरोधि, तस्य लक्ष्यमात्रत्वे लक्ष्यलक्षणभावायोगाद्, अतिरेकेऽपि यावल्लक्ष्यभावित्वादिनैव स्वरूपलक्षणत्वोपपत्तेश्च । न च द्वारत्वेन लक्षणपरत्वं द्वारिणोऽखंड (डार्थ) त्वाविरोधि, वक्ष्यमाणरीत्या लक्षणात्प्रागेव सामान्यतो ज्ञाते स्वरूपमात्रे तस्य द्वारत्वायोगात् । न च लक्षणपरत्वं न हेतुः किंत्व-तत्परत्वेऽपि तत्प्रत्यायकत्वमात्रमिति वाच्यम्, अलक्षणवाक्यस्यापि तात्पर्यभ्रमादिना लक्षणप्रत्यायकत्वसम्भवेन व्यभिचारात् सखण्डवनादिलक्षणवाक्ये, किं

अद्वैतसिद्धिः

धर्मलक्षणस्याखण्डत्वविरोधित्वेऽपि स्वरूपलक्षणस्य तदविरोधित्वाच्च । न चाभेदे लक्ष्यलक्षणभावायोगः, अन्तःकरणवृत्तिनिबन्धनाकारभेदेन उभयोपपत्तेः, आवृतत्वानावृतत्ववद्, अन्यथा स्वरूपलक्षणतटस्थलक्षणविभागो न स्यात् । न च यावद्द्रव्यभावित्वाभावित्वाभ्यां व्यवस्था, तावता हि स्थायित्वास्थायित्वव्यवस्था स्यात्, न तु स्वरूपादिरूपा, तव मते पार्थिवरूपादौ स्वरूपलक्षणे अव्याप्तेश्च, ब्रह्मणि यावद्द्रव्यभाविधर्मविरहाच्च । वस्तुतस्तु—द्वारत्वेन लक्षणे तात्पर्यं न द्वारिणोऽखण्डार्थत्वं विरुणद्धि । न च—स्वरूपज्ञानस्य प्रागेव सामान्यतो जातत्वात् तज्ज्ञाने नैतद्द्वारापेक्षेति—वाच्यम्, ज्ञानमात्रेऽस्य द्वारत्वाभावेऽपि संशयादिनिवर्तकेतज्ज्ञाने तद्द्वारापेक्षणात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अखण्डता का बिरोधी होने पर भी स्वरूपभूत लक्षण अखण्डता का बिरोधी नहीं होता वस्तु का स्वरूप ही लक्षण और वही लक्ष्य, अभेद में लक्ष्य-लक्षणभाव कैसे बनेगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ब्रह्म वस्तु एक है, फिर भी अन्तःकरण की उपहिताकार और शुद्धाकार वृत्तियों का भेद माना जाता है, अतः लक्ष्य का आकार-भेद हो जाने के कारण लक्ष्यरूपता और लक्षणरूपता—दोनों की उपपत्ति वैसे ही हो जाती है, जैसे कि एक ही ब्रह्म में आविद्यक भेद मानकर पूर्णानन्दरूप से आवृतत्व और चिद्रूपेण अनावृतत्व माना जाता है । अन्यथा लक्षणों का स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण के रूप में विभाग न हो सकेगा । यदि कहा जाय कि जब तक पृथिव्यादि लक्ष्य रहता है, तब तक उसमें रहनेवाला 'पृथिवीत्व' धर्म स्वरूप लक्षण तथा उससे भिन्न (अयावद्द्रव्यभावी) गन्धादि तटस्थ लक्षण हैं—ऐसा विभाग क्यों नहीं माना जाता ? तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि इतने मात्र से बस्तु में स्थायित्व और अस्थायित्व की व्यवस्था हो सकती है, स्वरूप लक्षणादि की नहीं, आपके मत से पार्थिव रूपादि को पृथिवी का स्वरूप लक्षण माना जाता है, किन्तु वह यावद्द्रव्यभावी नहीं, अतः स्वरूप लक्षण का लक्षण अव्याप्त भी है । इसी प्रकार ब्रह्म में कोई भी यावद्द्रव्यभावी धर्म नहीं माना जाता, अतः स्वरूपलक्षण लक्ष्य से अत्यन्ताभिन्न, विशेष लक्षण यावदाश्रयभावी और तटस्थ लक्षण स्वकालावच्छेदेन अपने आश्रय में रहता है—यह व्यवस्था ही युक्ति-युक्त है । वस्तुतः लक्षण केवल लक्ष्यार्थ-ज्ञान में द्वार मात्र होता है, अपने लक्ष्य की अखण्डार्थता को खण्डित नहीं करता ।

शङ्का- ब्रह्म के स्वरूप का सामान्यतः ज्ञान तो पहले ही है, अतः स्वरूप लक्षण रूप द्वार की अपेक्षा उसमें नहीं, अतः लक्षण को लक्ष्यार्थावगति में द्वार नहीं कहा जा सकता ।

समाधान—सामान्यतः स्वरूप-ज्ञप्ति में द्वार न होने पर भी संशयादि-निवर्तक

न्यायामृतम्

चन्द्रलक्षणमित्यसाधारणधर्मप्रश्नोत्तरे प्रकृष्टादिवाक्ये च व्यभिचारश्च। न चाखण्डलक्षणवाक्यत्वं हेतुः, असिद्धेः। न च धर्मे पृष्टे स्वरूपमात्रं वक्तुमुचितम्। न च प्रश्नविशेष्यविशेष्यकत्वं उत्तरत्वे तन्त्रम्, किंतु तन्मूलसंशयविरोधित्वम्। बाधश्च, धर्मिज्ञानाधीनसप्रकारकसंशयादिनिवर्तकं मोक्षहेतुं सप्रकारकं ब्रह्मज्ञानं प्रति साधनत्वेन वेदान्तविचारविधानान्यथानुपपत्त्या बलवत्या वेदान्तवाक्ये साध्याभावनिश्चयात्।

अद्वैतसिद्धिः

न च सखण्डवनादिलक्षणवाक्ये व्यभिचारः, तत्रापि साध्यसत्त्वस्य व्युत्पादनात्। न च किं चन्द्रलक्षणमित्यसाधारणधर्मप्रश्नोत्तरे प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्ये व्यभिचारः, तत्र हि न चन्द्रस्वरूपपरत्वम्, किंतु प्रकर्षाश्रयो यः प्रकाशः, तत्स्वरूपपरत्वम्, तथा च प्रकर्षोपलक्षितप्रकाशव्यक्तिस्वरूपमात्रप्रतिपादकत्वेन तत्राप्यखण्डार्थत्वाविरोधात्। अत एव—धर्मे पृष्टे चन्द्रस्वरूपं वक्तुं नोचितमिति—निरस्तम्, धर्मस्यैव स्वरूपत उक्तत्वाद्, अन्यथा प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः।

ननु—इदं बाधितम्, धर्मिज्ञानाधीनसप्रकारकसंशयादिनिवर्तकं मोक्षहेतुं सप्रकारकज्ञानं प्रति साधनत्वेन वेदान्तविचारविधानान्यथानुपपत्त्या वेदान्तवाक्ये

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विशेष ज्ञान में लक्षणरूप द्वार की अपेक्षा मानी जाती है। बन, सेनादि सखण्ड पदार्थों के लक्षण-वाक्यों में व्यभिचार का सन्देह नहीं कर सकते, क्योंकि एकधर्मावच्छेदेन वृत्ति-विषयता को लेकर अखण्डार्थत्व की सिद्धि वहां पर भी की जा चुकी है।

शङ्का—'किं चन्द्रलक्षणम् ?'—इस प्रकार चन्द्रगत असाधारण धर्म की जिज्ञासा होने पर जो उत्तर दिया जाता है—'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'। उस वाक्य में धर्मधर्मिभावघटित सखण्ड अर्थ की ही बोधकता मानी जाती है, अखण्डार्थकत्व के न रहने पर भी वहाँ लक्षण-वाक्यत्व रहता है, अतः व्यभिचारी क्यों नहीं ?

अद्वैतवादी—उक्तस्थलीय 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'—इस लक्षण-वाक्य का तात्पर्य चन्द्र-स्वरूप मात्र में नहीं, अपितु प्रकर्षका आश्रयीभूत जो प्रकाश, उसके स्वरूपावबोध में तात्पर्य होता है, अतः वहाँ भी प्रकर्षोपलक्षित प्रकाश व्यक्ति के स्वरूप मात्र का प्रतिपादक होने के कारण अखण्डार्थकत्व ही माना जाता है। अत एव 'धर्मे पृष्टे चन्द्रस्वरूपं वक्तुं नोचितम्'—यह आक्षेप भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि धर्म विषयक प्रश्न के उत्तर में धर्म को ही लक्ष्य-स्वरूप में प्रस्तुत किया जाता है।

शङ्का—अखण्डार्थकत्व-साधक उक्त अनुमान बाधित है, क्योंकि "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" (तै. उ० २।१।१) इत्यादि वेदान्त वाक्यों में अखण्डार्थत्वरूप साध्य के अभाव का निश्चय इस लिए है कि धर्मि-ज्ञान-प्रयुक्त सप्रकारक संशय (ब्रह्म सत्यम् ? न वा ?) के निवर्तकीभूत सप्रकारक ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही वेदान्त-विचार का विधान किया गया है। वह विधान तब तक उपपन्न नहीं हो सकता, जब तक वेदान्त-वाक्यों में सप्रकार ज्ञान की जनकता न मानी जाय ब्रह्म का सप्रकारक ज्ञान ही संशय का निवर्तक होता है—ऐसा श्रुति भी कहती है—"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः, तस्मिन् दृष्टे परावरे" (मुं. २।२।८) परावर ब्रह्म का दर्शन होने पर ही संशय दूर होता है, अर्थात् परावरत्वादिप्रकारक ब्रह्म-ज्ञान से संशय नष्ट होता है।

न्यायामृतम्

सत्प्रतिपक्षत्वं च सत्यादिवाक्यतात्पर्यविषयः, संसृष्टरूपः संसर्गरूपो वा प्रमाणवाक्यतात्पर्यविषयत्वात् सम्मतवत्। सत्यादिवाक्यं स्वतात्पर्यविषयज्ञाना-

अद्वैतसिद्धिः

साध्याभावनिश्चयादिति- चेन्न, अनृतादिप्रतिषेधकव्यावृत्ताकारज्ञानेनैव अनृतादि-संशयादिनिवृत्त्युपपत्तेरन्यथासिद्धत्वात्। न हि सप्रकारकत्वमात्रं तत्र तन्त्रम्। भ्रमकालीनानुवृत्ताकारज्ञानस्य सप्रकारकत्वेन संशयादिनिवर्तकत्वे भ्रमकथैवोच्छिद्येत। ज्ञानस्याज्ञानसमविषयत्वेनैव तन्निवर्तकत्वम्, न तु समानप्रकारकत्वेनाऽपि, गौरवात्। अज्ञानविषयश्च शुद्धं ब्रह्म अज्ञानकल्पितस्य तदितरस्याज्ञानविषत्वायोगात्। तथा च शुद्धब्रह्माकारा चित्तवृत्तिः निष्प्रकारिकैवाज्ञाननिवर्तिका, प्रकारमात्रस्याविद्याकल्पितत्वेन तद्विषयतायां वृत्तेरविद्यासमविषयत्वाभावात्। यथा चाविद्यातत्कार्यविषयं ज्ञानं तदनिवर्तकं तथा व्युत्पादितं प्राक्। द्रव्याद्याकारज्ञानानां च घटाद्याकारत्वस्यानुभवनिरस्तत्वान्न द्रव्याद्याकारज्ञानेन घटाद्याकाराज्ञाननिवृत्तिप्रसङ्गः, द्रव्यत्वघटत्वयोर्भेदेन विषयभेदाच्च। यथा च समानप्रकारकत्वमादायापि न निस्तारः, तथा प्रतिपादितमस्माभिर्वेदान्तकल्पलतिकायामिति दिक्।

ननु- अस्तु सत्प्रतिपक्षः, तथा हि- सत्यादिवाक्यतात्पर्यविषयः, संसृष्टरूपः

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान--सत्यात्मकं ब्रह्म'--इतना कह देने मात्र से 'ब्रह्म अनृतम् ? न वा ?--ऐसा संशय निवृत्त हो जाता है, संशय निवृत्ति के लिए सप्रकारक ज्ञान की सर्वत्र आवश्यकता नहीं होती, व्यावृत्ताकार ज्ञान ही संशय का निवर्तक होता है, व्यावृत्ताकारता धर्म लक्षण और स्वरूप लक्षण--दोनों से होती है, धर्म लक्षण के द्वारा सप्रकारक ज्ञान और स्वरूप लक्षण के द्वारा निष्प्रकार ज्ञान होता है--यह कहा जा चुका है। यदि सप्रकारक ज्ञान को ही संशय का निवर्तक माना जाता है, तब भ्रम-कालीन सन् घटः--इत्यादि अनुवृत्ताकारक ज्ञान सप्रकारक होता है, वह संशय को भी उत्पन्न ही नहीं होने देगा, भ्रम का उच्छेद ही हो जायेगा। अज्ञान के निवर्तक ज्ञान में केवल अज्ञान-समानविषयकत्व का ही नियम होता है, समानप्रकारकत्व का नहीं, अन्यथा निवर्त्य-निवर्तक-भाव में गौरव होगा। अज्ञान का विषय शुद्ध ब्रह्म ही होता है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म से अतिरिक्त विशिष्ट चेतन्य अज्ञान से कल्पित होने के कारण अज्ञान का विषय नहीं हो सकता। फलतः शुद्ध ब्रह्माकार निष्प्रकारक वृत्ति ही अज्ञान की निवर्तिका होती है, प्रकार मात्र अविद्या से कल्पित है, अतः वृत्ति की विषयता में उसका प्रवेश होने पर वृत्ति अज्ञान-समानविषयक न हो सकेगी। अत एव अविद्या और आविद्यक कार्य को विषय करने वाला ज्ञान अज्ञान का निवर्तक नहीं होता--यह पहले ही कह चुके है। द्रव्याद्याकारक ज्ञानों में घटाद्याकारकत्व अनुभव से बाधित होने के कारण द्रव्याद्याकारज्ञान के द्वारा घटाद्याकारक अज्ञान की निवृत्ति प्रसक्त नहीं होती, क्योंकि द्रव्यत्व और घटत्व का भेद होने के कारण ज्ञान और अज्ञान के विषय में भेद हो जाता है। समानप्रकारक ज्ञान को अज्ञान का निवर्तक मानने पर 'घटं न जानामि'--इस प्रकार के अज्ञान की निवृत्ति 'जातिमान्'--इस प्रकार के ज्ञान से भी होनी चाहिए--यह वेदान्तकल्पलतिका में प्रतिपादित किया गया है।

शङ्का--उक्त अनुमान का प्रतिपक्ष प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है--

न्यायामृतम्

बाध्यसंसर्गपरम्, स्वतात्पर्यविषयज्ञानाबाध्यस्वकरणकप्रमितिविषयपदार्थनिरूप्यसंसर्गपरं वा, प्रमाणवाक्यत्वात्, ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत्। विषं भुंक्ष्वेत्यादौ वाच्यार्थसंसर्गपरत्वाभावेऽप्युक्तसाध्यसद्भावान्न व्यभिचारः। खं छिद्रं, कोकिलः पिक इत्यादावपि अनतिभिन्नार्थत्वे सामानाधिकरण्यायोगेन छिद्रकोकिलादीनां खपिकादिशब्दवाच्यत्वसंसर्गपरत्वात् न तत्रापि व्यभिचारः। यद्वा वेदान्तजन्यप्रमा

अद्वैतसिद्धिः

संसर्गरूपो वा, प्रमाणवाक्यतात्पर्यविषयत्वात्, संमतवत्, सत्यादिवाक्यं, स्वतात्पर्यविषयज्ञानाबाध्यसंसर्गपरं, स्वतात्पर्यविषयज्ञानाबाध्यस्वकरणप्रमाविषयपदार्थनिरूप्यसंसर्गपरं वा, प्रमाणवाक्यत्वादग्निहोत्रादिवाक्यवत्। 'विषं भुङ्क्ष्वे' त्यादौ वाच्यार्थसंसर्गपरत्वाभावेऽपि स्वकरणकप्रमाविषयपदार्थसंसर्गपरत्वान्न व्यभिचारः, 'खं छिद्रं कोकिलः पिक' इत्यादौ चानतिभिन्नार्थत्वे सामानाधिकरण्यायोगेन छिद्रकोकिलादीनां खपिकादिशब्दवाच्यत्वसंसर्गपरत्वाच्च व्यभिचार इति—चेन्न आद्यानुमाने संसृष्टरूप इति साध्ये संसर्गे, संसर्गरूप इति साध्ये च संसृष्टरूपे पदार्थे व्यभिचारात्। तयोरुभयोरपि प्रमाणवाक्यतात्पर्यविषयत्वात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(१) सत्यादि वाक्य के तात्पर्य का विषय संसृष्ट (सम्बद्धस्वरूप) या संसर्गरूप होता है, क्योंकि प्रमाण वाक्य-जन्य तात्पर्य का विषय है, जैसे 'नीलमुत्पलम्'— इत्यादि वाक्य-जन्य ज्ञान का विषय। [प्रथम अनुमान में ब्रह्मगत बाधित संसृष्टरूपता या संसर्ग को लेकर अर्थान्तरता होती है, अतः अनुमानान्तर किया जाता है—(१) सत्यादि वाक्य अपने तात्पर्य विषयीभूत विषय-विषयक ज्ञान से अबाधित संसर्ग के बोधक होते हैं, अथवा स्वकीय तात्पर्य विषयक ज्ञान के द्वारा अबाधित स्वकरणक प्रमा-विषय-निरूपित संसर्ग के बोधक होते हैं, क्योंकि प्रमाण वाक्य हैं, जैसे—"अग्निहोत्रं जुहोति" (तै० सं० १।५।९।१) इत्यादि वाक्य। 'विषं भुङ्क्ष्व'—इत्यादि वाक्यों में वाच्यार्थ संसर्ग-बोधकत्व का अभाव होने पर भी स्वकरणक प्रमा-विषयीभूत पदार्थ-निरूपित संसर्ग-बोधकता होने के कारण व्यभिचार नहीं होता ['विषं भुङ्क्ष्व'—इस वाक्य में यद्यपि विषगत कर्मता और भोजनरूप क्रिया वाच्यार्थ हैं, इनके संसर्ग की बोधकता नहीं, तथापि लिङ्गादि के रूप में उक्त वाक्य 'द्विषदन्नं न भोक्तव्यम्'—इस अर्थ का ही बोधक माना जाता है, अतः स्वकरणक (स्वलिङ्गक) प्रमा के विषयीभूत द्विषदन्नकर्मक भोजन और नञर्थ का संसर्ग प्रतिपिपादयिषित है, वह इस वाक्य में विद्यमान माना जाता है, अतः व्यभिचार होगा ?] खं छिद्रम्', 'कोकिलः पिकः'—इत्यादि वा-यों में वाच्यार्थ-सामानाधिकण्यादि रूप संसर्ग सम्भव नहीं, क्योंकि 'नीलो घटः—इत्यादि के समान भिन्ना-भिन्न पदार्थों में ही सामानाधिकरण्य देखा जाता है, पिक और कोकिल पदार्थ में भेदा-भेद नहीं, अत्यन्त अभेद है। तथापि 'छिद्रं खशब्दवाच्यम्', 'कोकिलः पिकशब्दवाच्यः'—इस प्रकार के अभिप्राय को लेकर छिद्र और कोकिल में क्रमशः खपद-वाच्यत्व और पिकपद-वाच्यत्वरूप संसर्ग प्रतिपिपादयिषित होने के कारण व्यभिचार नहीं होता।

समाधान—प्रथम अनुमान में 'संसृष्टरूपः'—ऐसा साध्य विवक्षित होने पर संसर्ग में और 'ससर्गरूपः—ऐसा साध्य करने पर संसृष्ट पदार्थ में व्यभिचार होता है, क्योंकि संसर्ग में संसृष्टरूपता और संसृष्ट में संसर्गरूपता न होने पर भी प्रमाणवाक्य

न्यायामृतम्

सप्रकारिका, विचारजन्यज्ञानत्वात्, संशयविरोधित्वाच्च, कर्मकाण्डजन्यज्ञानवत्। वेदान्तजन्या प्रमा ब्रह्मनिष्ठप्रकारविषया, ब्रह्मधर्मिकसंशयविरोधिज्ञानत्वाद्, ब्रह्मविचारजन्यज्ञानत्वाच्च, यदेवं तदेवं यथा कर्मकाण्डविचारजन्यनिश्चय इत्यादिना प्रतिरोधात्।

अद्वैतसिद्धिः

द्वितीयानुमाने प्रमाणवाक्यत्वस्याबाध्यपरत्वमात्रेण प्रमितिविषयपरत्वमात्रेण चोपपत्तौ विशिष्टसाध्यस्य तत्रातन्त्रत्वेनाप्रयोजकत्वाद्, अलक्षणवाक्यत्वस्योपाधित्वाच्च। नापि वेदान्तवाक्यजन्यप्रमा, सप्रकारिका, विचारजन्यत्वात्, संशयनिवर्तकत्वाद्वा, कर्मकाण्डजन्यज्ञानवद्, वेदान्तजन्या प्रमा, ब्रह्मप्रकारविषया, ब्रह्मधर्मिकसंशयविरोधित्वाद् ब्रह्मविचारजन्यत्वाद्वा, यदेवं तदेवम्, यथा कर्मकाण्डजन्यो निश्चय इति प्रतिसाधनमस्त्विति—वाच्यम्, तव मते ज्ञानमात्रस्य सप्रकारकत्वेन विचारजन्यत्वसंशयविरोधित्वयोर्व्यर्थत्वाद्, अप्रयोजकत्वात्, निष्प्रकारकज्ञानादपि संशयादिनिवृत्तिसंभवात्, लक्षणवाक्याजन्यत्वस्योपाधित्वाच्च। अत एव—द्वितीयानुमानमपि—अपास्तम्, ब्रह्मनिष्ठप्रकारविषयत्वसाधने दृष्टान्ताभावाच्च। सर्वेषु च प्रतिसाधनेषु प्रश्नोत्तरयोः वैयधिकरण्यापत्तिः प्रतिकूलतर्कोऽवसेयः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

की तात्पर्य-विषयता मानी जाती है। द्वितीय अनुमान में प्रमाण-वाक्यत्व का अबाध्यार्थ-बोधकत्व अथवा प्रमिति-विषय-बोधकत्व मात्र को प्रयोजक मान लेने से काम चल जाता है, तब स्वतात्पर्यविषयज्ञानाबाध्यसंसर्गबोधकत्वादि को उसका प्रयोजक मानने की आवश्यकता नहीं, अतः प्रमाणवाक्यत्वरूप हेतु से उस की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि धूमरूप हेतु से उसके प्रयोजक (व्यापक) अग्नि का ही अनुमान होता है, घटादिरूप अप्रयोजक का नहीं।

शङ्का—उक्त प्रतिपक्ष-प्रयोगों के दूषित होने पर भी ये प्रयोग दूषित नहीं—(१) वेदान्त-वाक्य-जन्य प्रमा, सप्रकारिका होती है, क्योंकि विचार से जन्य है अथवा संशय की निवर्तिका है, जैसे कर्मकाण्ड-जन्य ज्ञान। (२) वेदान्त-जन्य प्रमा ब्रह्म-प्रकार-विषयिणी होती है, क्योंकि ब्रह्मविशेष्यक संशय की निवर्तिका है अथवा ब्रह्म-विचार से जनित होती है, जैसे—कर्मकाण्ड-जन्य निश्चय।

समाधान—आप (माध्व) के मत में सभी ज्ञान सप्रकारक माने जाते हैं, अतः विचार-जन्यत्व और संशय-विरोधित्व हेतु व्यर्थ हैं' अप्रयोजक हैं। निष्प्रकारक ज्ञान से भी संशय की निवृत्ति सम्भव है, अतः संशय-निवर्तकत्व के द्वारा सप्रकारकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। उक्त अनुमान में 'लक्षणवाक्याजन्यत्व' उपाधि भी है ['अग्निहोत्रं जुहोति'—इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञानों में साध्य के साथ लक्षणवाक्याजन्यत्व भी रहता है, अतः साध्य का व्यापक है, सत्यादि वाक्य-जन्य प्रमा में लक्षण-वाक्याजन्यत्व न होने से साधन का अव्यापक है]। अत एव द्वितीय अनुमान भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि इस अनुमान में व्यर्थत्वादि दोषों से अतिरिक्त दृष्टान्ताभाव भी है, क्योंकि जैसे स्थाणु-धर्मिक स्थाणुत्वादिप्रकारक संशय का विरोधी ज्ञान स्थाणुगत स्थाणुत्वरूप प्रकार को विषय करता है, वैसे लोक में कोई ज्ञान ब्रह्मगत प्रकार को विषय करता है—ऐसा प्रसिद्ध नहीं, अतः विशेष व्याप्ति के न हो सकने के कारण अनुमान सम्भव नहीं। इसी

न्यायामृतम्

दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं च। तथा हि—प्रकृष्टादिवाक्यस्याखण्डार्थत्वं न तावन्मुख्यवृत्त्या, लक्षणापि न तावत् गंगायां घोष इत्यादाविवान्वयानुपपत्त्या चन्द्रादौ प्रकृष्टे गुणरूपेण द्रव्यरूपेण वा प्रकाशेन सम्बन्धस्य सत्वात्, चन्द्रे प्रकृष्टप्रकाशादेः सत्त्वात्। नापि यष्टीः प्रवेशयेत्यादाविव तात्पर्यानुपपत्त्या कश्चन्द्र इति स्वरूपमात्रस्य

अद्वैतसिद्धिः

ननु—दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्, तथा हि—प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्यं न तावदभिधया अखण्डार्थनिष्ठम्, प्रकृष्टादिपदस्याखण्डे अभिधाया अभावात्, त्वयानङ्गीकाराच्च, नापि लक्षणया, प्रकृष्टप्रकाशस्य द्रव्यस्य गुणस्य वा चन्द्रे अन्वयोपपत्तेः अन्वयानुपपत्तिरूपलक्षणाबीजाभावादिति—चेन्न, 'यष्टीः प्रवेशये'त्यादौ लोके 'तरसमयाः पुरोडाशा भवन्ती'त्यादौ वेदे च यथाश्रुतान्वयसंभवेऽपि यथा तात्पर्यविषयीभूतान्वयानुपपत्त्या यष्टिधरपुरुषेषु सवनीयहविर्मात्रे च यष्टिपुरोडाशशब्दयोर्लक्षणाऽऽश्रिता,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रकार सभी सत्प्रतिपक्ष-प्रयोगों में प्रश्नोत्तर की वैयधिकरण्यापत्ति को अनुकूल तर्क के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

शङ्का—अखण्डार्थकत्व-साधक उक्त अनुमान के 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति वाक्यवत्'—इस दृष्टान्त में साध्य-वैकल्य है, प्रकृष्टप्रकाश-वाक्य अभिधावृत्ति से अखण्डार्थ-बोधक नहीं, क्योंकि प्रकृष्टादि पद में अखण्डार्थ की अभिधा नहीं और न आप मानते ही हैं। लक्षणा के द्वारा भी उक्त वाक्य अखण्डार्थ का उपस्थापक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृष्टप्रकाशरूप द्रव्य (तेज) अथवा गुण (शुक्ल रूप) का चन्द्र में अन्वय उपपन्न हो जाता है, अन्वयानुपपत्तिरूप लक्षणा-बीज सुलभ न होने से लक्षणा क्योंकर हो सकेगी ?

समाधान—अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज नहीं माना जाता, क्योंकि 'यष्टीः प्रवेशय'—इत्यादि लौकिक और 'तरसमयाः पुरोडाशा भवन्ति'—इत्यादि वैदिक व्यवहारों में यथाश्रुत पदों के वाच्यार्थों का परस्पर अन्वय अनुपपन्न न होने पर भी तात्पर्य-विषयीभूत अन्वय की अनुपपत्ति के कारण ही 'यष्टि' पद की यष्टिधारी पुरुषों और 'पुरोडाश' पद की सवनीय हवि के सभी द्रव्यों में लक्षणा मानी जाती है [अतः 'यष्टीः प्रवेशय'—इस वाक्य का अर्थ होता है—यष्टिधरान् (दण्डिनः) प्रवेशय और 'तरसा सवनीयाः पुरोडाशा भवन्ति' का अर्थ होता है—'ये सवनीया धानादयः, ते तरसमयाः कार्याः'। शक्तिनामक ऋषि की सन्तति (शाक्त्यायन गणों) के द्वारा छत्तीस वर्षों में सम्पन्न किये जानेवाले सत्र की यह एक प्रासङ्गिक क्रिया है—''संस्थिते संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति, स यान् मृगान् हन्ति, तेषां तरसाः सवनीयाः पुरोडाशाः भवन्ति'' (आप० श्रौ० सू० २३।११।१२,१३)। अर्थात् दैनिक कृत्य-कलाप के समाप्त हो जाने पर यजमान शिकार खेलने जाता है, वह शिकार में जिन मृगों को मारता है, उनके मांस से द्वितीय दिन सवनीय (सोमाभिषव के दिन होनेवाले कर्मों की हवि) पुरोडाश बनाया जाय। किन्तु सवनीय कर्मों में पाँच द्रव्य (हवि) विहित हैं—''सवनीयान् निर्वपति (१) धानाः, (२) करम्भः' (३) परीवापः, (४) पुरोडाशः, (५) पयस्या''। (१) भुने हुए जौ, (२) भुने जौ के आटे की बाटी, (३) भुने धानों के चावल, (४) उन चावलों के आटे की बाटी तथा (५) आमिक्षा (फाड़े हुए दूध का छेना या पनीर)। इनमें केवल पुरोडाश को मांसमय बनाया जाय ? अथवा पाँचों द्रव्यों

न्यायामृतम्

पृष्टत्वादिति वाच्यम्, अस्ति कश्चिच्चन्द्रशब्दस्यार्थ इत्यज्ञाने तत्र धर्मिज्ञानसाध्याया बुभुत्सायाः सन्देहस्य चानुपपत्तेः, चन्द्रशब्दस्य प्रातिपदिकत्वानिश्चयेन सुब्विभक्तिप्रयोगायोगाच्च चन्द्र इत्यनूद्य क इति प्रश्नायोगाच्च, न ह्यज्ञातमनुवादार्हम्। असंकीर्णं चन्द्रस्वरूपं न ज्ञातमिति चेत्, न चन्द्रस्वरूपद्वयाभावात्। तदेव स्वरूपमसंकीर्णत्वेन न ज्ञातमिति चेत्, न असंकीर्णत्वस्य व्यावर्तकवैशिष्ट्यव्यावृत्तिवैशिष्ट्य-

अद्वैतसिद्धिः

तथैवेह तात्पर्यविषयीभूतान्वयानुपपत्तिनिमित्तया लक्षणया अखण्डार्थपरत्वोपपत्तेः, कश्चन्द्र इति चन्द्रस्वरूपे पृष्टे तन्मात्रपरस्यवोत्तरस्योचितत्वात्।

ननु – चन्द्रस्वरूपस्य ज्ञातत्वे तत्र प्रश्नो न युज्यते, अज्ञातत्वे धर्मिज्ञानसाध्यबुभुत्सासंदेहयोश्चन्द्र इत्यनूद्य क इति प्रश्नस्य चन्द्रशब्दस्यार्थवत्त्वाज्ञानेनाप्रातिपदिकतया तदुत्तरसुब्विभक्तेश्चायुक्तत्वप्रसङ्गात्। चन्द्रस्वरूपे ज्ञातेऽपि तस्यासङ्कीर्णं स्वरूपं न ज्ञातमिति न युक्तम्, तस्मिन् रूपद्वयाभावात्। असङ्कीर्णत्वेन न ज्ञातमिति चेत्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

को ? इस प्रकार के सन्देह का निराकरण करते हुए कहा गया है--"मांसं तु सवनीयानां चोदनाविशेषात्" (जै० सू० ३।८।३९)। इसका आशय पार्थसारथिमिश्र के शब्दों में इस प्रकार है--

"उद्दिश्य सवनीयांस्तु मांसमत्र विधीयते।
पुरोडाशापुरोडाशसमवाये तु लक्षणा॥" (शा० दी० पृ० ३४४)

अर्थात् 'पुरोडाश' पद की अजहल्लक्षणा धानादि पाँचों द्रव्यों में होती है, अतः पाँचों द्रव्यों को मांसमय बनाना होगा। यहाँ लक्षणा का निमित्त वाच्यार्थान्वयानुपपत्ति नहीं है, क्योंकि 'तरसाः पुरोडाशा भवन्ति'--ऐसा अन्वय उपपन्न हो जाता है, अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का नियामक मानना होगा]। प्रकृत में भी तात्पर्यविषयीभूत अन्वय की अनुपपत्ति ही लक्षणा का नियामक है और उसके द्वारा अखण्ड अर्थ में ही पर्यवसान होता है, क्योंकि चन्द्रस्वरूपमात्रविषयक 'कः चन्द्रः'--इस प्रश्न के उत्तर में चन्द्रस्वरूपमात्र का निर्देश ही उचित है।

शङ्का—प्रश्न-कर्त्ता को चन्द्र-स्वरूप का ज्ञान है ? अथवा नहीं ? यदि ज्ञान है, तब चन्द्रस्वरूपमात्र विषयक प्रश्न ही नहीं बनता और उसका ज्ञान न होने पर भी उक्त प्रश्न सम्भव नहीं, क्योंकि चन्द्ररूप धर्मी का ज्ञान होने पर ही चन्द्रस्वरूपविषयक जिज्ञासा और संशय हो सकता है, अन्यथा नहीं, जिज्ञासा और सन्देह के बिना उक्त प्रश्न नहीं उठता। इसी प्रकार 'चन्द्र' पद से चन्द्रमा का अनुवाद करके 'चन्द्रः कः'—इस प्रकार का जो प्रश्न किया जाता है, उसमें 'चन्द्र' पद के उत्तर सुप्' (प्रथमा) विभक्ति का प्रयोग भी न हो सकेगा, क्योंकि चन्द्रार्थ का ज्ञान न होने के कारण उसमें 'चन्द्र' पद का शक्ति-ग्रह नहीं हो सकता, संगति-ग्रह के बिना 'चन्द्र' पद में अर्थवत्ता (अर्थ-प्रतिपादकता) का ज्ञान न होने से 'चन्द्र' पद की "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" (पा० सू० १।३।४५) इस सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती, अतः 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" (पा० सू० २।३।४६) इस सूत्र से 'चन्द्र' पद के उत्तर प्रातिपदिकार्थवाचक सुप्‌रूप प्रथमा विभक्ति का प्रयोग कैसे होगा ? यदि कहा जाय कि चन्द्र के संकीर्ण (ज्योतिश्चक्र में मिले-जुले) स्वरूप का ज्ञान होने पर

न्यायामृतम्

योरन्यतररूपत्वेन प्रश्नस्य विशिष्टपरत्वापातात्। एवं च—

सामान्यतोऽपि न ज्ञातो धर्मी चन्द्रो यदा तदा।
न बुभुत्सा न सन्देहो नानुवादश्च युज्यते॥
तस्माच्चन्द्रस्येतरस्माद् भेदको धर्म एव हि।
पृष्टस्तस्मात्प्रकृष्टादिवाक्यं नाखण्डगोचरम्॥

अद्वैतसिद्धिः

असङ्कीर्णत्वप्रकारकप्रतीतिपरत्वं पर्यवसितम्, तच्च व्यावर्तकवैशिष्ट्यं वा व्यावृत्ति-वैशिष्ट्यं वा, उभयथाप्यखण्डार्थत्वभङ्ग इति—चेन्न, भावानवबोधात्। तथा हि—चन्द्रस्वरूपस्य ज्ञातत्वाभ्युपगमादेव तदज्ञातत्वनिबन्धनदोषानवकाशः। ज्ञातत्वेऽपि च विपर्ययविरोधिज्ञानानुदयदशायां तदुदयार्थं प्रश्नो युज्यत एव अन्यथा सर्वत्र प्रश्नमात्रोच्छेदापत्तेः। अथानभ्यासदशापन्नं ज्ञानं न विपर्ययविरोधि, प्रकृतेऽपि समम्, विषयतुल्यत्वेऽपि ज्ञानविशेषस्यैव विपर्ययनिवर्तकत्वस्य सर्वतन्त्रसिद्धान्त-त्वात्। 'शङ्खः श्वेतो न पीत' इत्यादिपरोक्षज्ञाने भासते यादृशं श्वैत्यस्वरूपं पीताभाव-स्वरूपं वा, तादृशमेवापरोक्षज्ञानविषयतादशायां विपर्ययविरोधीति विपर्ययविरोधि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भी असङ्कीर्ण (इतर ज्योतिश्चक्र से विलग) स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, अतः प्रश्न बन जाता है, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि चन्द्रमा के संकीर्ण और असंकीर्ण-भेद से दो रूप नहीं माने जाते, अपितु एक ही होता है। यदि कहा जाय कि असंकीर्णत्वेन चन्द्र ज्ञात नहीं, तब उक्त प्रश्न का असंकीर्णत्वप्रकारक चन्द्रविशेष्यक अर्थ की प्रतीति के जनन में पर्यवसान मानना होगा, असंकीर्णत्व में ज्ञान की प्रकारता का स्वरूप भासमानवैशिष्ट्य-प्रतियोगित्व होता है, उसके लिए चन्द्रार्थ में संकीर्णत्व-व्यावर्तक (असंकीर्णत्व) धर्म का वैशिष्ट्य (संसर्ग) या संकीर्णत्व-व्यावृत्ति का वैशिष्ट्य मानना अनिवार्य होता है, दोनों प्रकारों में अखण्डार्थत्व (संसर्ग-शून्यत्व) भंग हो जाता है।

समाधान—हमारा (अद्वैतवादी का) आशय यह है कि प्रश्न-कर्त्ता को चन्द्र-स्वरूप का ज्ञान होता है, अतः चन्द्रस्वरूप-सापेक्ष बुभुत्सादि की अयुक्तता नहीं होती। चन्द्रस्वरूप का ज्ञान होने पर भी 'चन्द्रः प्रकृष्टप्रकाशो न भवति'—इस प्रकार के विपर्यय (बाध) का ज्ञान जब नहीं होता, तब विपर्यय-विरोधी ज्ञान के प्रकाशनार्थ उक्त प्रश्न बन जाता है, अन्यथा सर्वत्र प्रश्नमात्र का उच्छेद हो जायगा। यदि कहा जाय कि अभ्यास दशापन्न (कई बार अर्थ क्रिया-कारी) जलादि का ज्ञान ही विपर्ययादि का विरोधी होता है, प्रथम बार (संशयात्मक) उत्पन्न जलादि-ज्ञान विपर्यय का विरोधी नहीं होता, अतः इस प्रकार का जलादि-ज्ञान हो जाने पर भी बुभुत्सादि की सत्ता होने के कारण किमिदं जलम् ?—इस प्रकार का प्रश्न बन जाता है, प्रश्नमात्र का उच्छेद प्रसक्त नहीं होता, तब प्रकृत में भी अनभ्यास-दशापन्न चन्द्र-ज्ञान के पश्चात् कश्चन्द्रः ? इस प्रकार का प्रश्न बन सकता है। प्राथमिक एवं अभ्यास-दशापन्न ज्ञान का विषय समान होने पर भी अभ्यास-दशापन्न ज्ञान ही विपर्ययादि का बिरोधी होता है—यह सर्व-मत-सिद्ध सिद्धान्त है। 'शङ्खः श्वेतः, न पीतः'—इस प्रकार के परोक्ष ज्ञान में जैसा श्वेतत्व या पीतत्वाभाव का स्वरूप प्रस्फुरित होता है, वैसा ही अपरोक्ष ज्ञान का विषयीभूत स्वरूप विपर्यय का विरोधी होता है, अतः बिपर्यय-बिरोधी ज्ञानरूप फल से

अद्वैतसिद्धिः

फलोपहितमेवासङ्कीर्णमित्युच्यते। फलोपधानतदभावौ च दोषविशेषतदभावयोर्वैप-रीत्येनेत्यन्यदेतत्। तथा च एकमेव स्वरूपं दशाविशेषभेदेन संकीर्णमसंकीर्णं चेति संकीर्णतादशायां युगपत् ज्ञानाज्ञानयोरुपपत्तिः। अत एव—व्यावृत्तिवैशिष्ट्यं व्यावर्त-कवशिष्ट्यं वा असंकीर्णत्वमिति—अपास्तम्, 'शङ्खः श्वेतो न पीत' इत्यत्रोभय-सद्भावेऽपि विपर्ययाविरोधित्वरूपसंकीर्णताया दर्शनात्। 'यद्यपि यश्चन्द्रः, तत्र चन्द्रत्वं तमोनक्षत्रादिव्यावृत्तिश्चास्तीति मया ज्ञायत एव, तथापि चन्द्रस्वरूपं परं न ज्ञायत' इत्यनुभवेन व्यावर्तकव्यावृत्तिवैशिष्ट्यस्याजिज्ञासितत्वेन जिज्ञासितं चन्द्रस्वरूपमेव विपर्ययविरोधिज्ञानविशेषं जनयता 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र' इति वाक्येन बोध्यत इति किमनु-पपन्नम्? व्यावृत्तेः शाब्दबोधफलत्वेऽपि तदविषयत्वान्नाखण्डार्थत्वव्याघातः; तद्बोध-कपदाभावाच्च। अथ लक्षणया व्यावृत्तेः शाब्दबोधे भानम्, न; वैयर्थ्यात्तत्र तात्पर्या-भावेन लक्षणाया अयोगात्। तथा हि—चन्द्रे व्यावृत्तिर्बोध्यते व्यक्तिविशेषे वा, नाद्यः, 'या शुक्तिः सा रजतादिभिन्ने'ति ज्ञानेऽपि शुक्तिस्वरूपाज्ञानतत्कार्यविपर्ययदर्शनवत्

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उपहित स्वरूप ही असङ्कीर्ण स्वरूप कहलाता है। फलोपधानता और उसके अभाव में दोष-विशेष और उसका अभाव विपरीत क्रम से प्रयोजक होता है, अर्थात् काच-कामलादि दोषों का अभाव होने पर फलोपधानता और उन दोषों के होने पर फलो-पधानता का अभाव होता है—यह विचारान्तर है। फलतः वस्तु का एक ही स्वरूप दशा-विशेष के भेद से संकीर्ण और असङ्कीर्ण-भेद से दो प्रकार का हो जाता है, सङ्कीर्णता-दशा में वस्तु का ज्ञान रहने पर भी अज्ञान बन जाता है, जिसकी निवृत्ति के लिए प्रश्नादि सम्भव हो जाते हैं। अत एव व्यावृत्ति-वैशिष्ट्य या व्यावर्तक-वैशिष्ट्य को असङ्कीर्णता नहीं मान सकते, क्योंकि 'शङ्खः श्वेतः, न पीतः'—यहाँ पर उक्त दोनों वैशिष्ट्यों के रहने पर भी विपर्ययाविरोधित्व रूप संकीर्णता देखी जाती है।

'यद्यपि चन्द्र में जो 'चन्द्रत्व' धर्म है, अन्धकार और नक्षत्रादि का भेद है, वह मैं जानता हूँ, परन्तु चन्द्रस्वरूप नहीं जानता'—इस प्रकार प्रश्न-कर्त्ता के अनुभव से सिद्ध होता है कि व्यावर्तक (चन्द्रत्व) और अन्धकारादि की व्यावृत्ति (भेद) का वैशिष्ट्य जिज्ञासित नहीं, जिज्ञासित चन्द्रस्वरूप ही विपर्यय-विरोधी ज्ञान-जनक 'प्रकृष्ट-प्रकाशः चन्द्रः'—इस उत्तर वाक्य के द्वारा बोधित होता है, अतः इस वाक्य की अखण्डार्थकता में अनुपत्ति क्या? चन्द्रगत अन्धकारादि का भेद उक्त वाक्य से जन्य शाब्द बोध का फल होने पर भी शाब्द बोध का विषय नहीं, अतः अखण्डार्थत्व का बिरोध नहीं होता, उक्त व्यावृत्ति (भेद) का जनक कोई पद भी उत्तर वाक्य में प्रयुक्त नहीं हुआ कि अभिधा के द्वारा शाब्द बोध में उसका भान हो जाता। लक्षणा के द्वारा भी अन्धकारादि की व्यावृत्ति का शाब्द बोध में भान नहीं हो सकता, क्योंकि उसके भान का कोई सार्थक्य या प्रयोजन नहीं, उसमें वक्ता का तात्पर्य न होने के कारण तात्पर्यानुपपत्तिरूप लक्षणा भी सम्भव नहीं। शाब्द बोध में उक्त व्यावृत्ति के भान का सार्थक्य इस लिए नहीं कि सामान्यतः चन्द्ररूप अर्थ में व्यावृत्ति का बोध अभीष्ट है? या किसी चन्द्र व्यक्ति में? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि जैसे 'या शुक्तिः, सा रजतादि तो भिन्ना'—इस प्रकार का ज्ञान रहने पर भी शुक्तिस्वरूप का अज्ञान और उसका रजतादि कार्य देखा जाता है, वैसे ही 'यः चन्द्रः, स अन्धकारादितो भिन्नः'—

अद्वैतसिद्धिः

'यश्चन्द्रः; स तमआदिविलक्षण' इति ज्ञानेऽपि चन्द्रस्वरूपाज्ञानतत्कार्यविपर्ययादिदर्शनात्। द्वितीये त्वावश्यकत्वाद्व्यक्तिविशेष एव बोध्यताम्, किं व्यावृत्त्या शब्दानुपस्थितया? व्यक्तिविशेषबोधादेव तत्सिद्धेः। न हि 'धूमोऽस्ती'ति वाक्ये वह्नौ लक्षणा। अत एव—विनैव लक्षणां व्यावृत्तिः शाब्दबोधे भासते, 'घटेन जलमाहरे'त्यत्र छिद्रेतरत्ववदिति—निरस्तम्, छिद्रेतरत्वस्यानन्यलभ्यत्वेन शब्दतात्पर्यविषयत्वेऽपि न व्यावृत्तेस्तथात्वम्; हानोपादानादिवत् फलत्वेनान्यलभ्यत्वात्। छिद्रेतरत्वमपि लक्षणां बिना न शाब्दबोधविषयः, अन्यथा लक्षणोच्छेदापत्तेः, किं तु शाब्दबोधविषये जलाहरणसाधने वस्तुगत्याऽस्तीत्यन्यत्र विस्तरः। अत एवोक्तमाकरे—अन्यतो व्यावृत्तिरर्थात् न शब्दा'दिति। न च कश्चन्द्र इति धर्मप्रश्नोऽयम्, कश्चन्द्रधर्म इति स्वाधीने शब्दप्रयोगे निष्प्रयोजनलक्षणाया अन्याय्यत्वात्, तद्बोधनेऽप्यखण्डार्थत्वस्योपपादितत्वाच्च।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इस प्रकार का ज्ञान रहने पर भी चन्द्रस्वरूप का अज्ञान तथा उसका कार्य (विपर्ययादि) देखा जाता है। द्वितीय पक्ष में चन्द्ररूप व्यक्ति का ही बोध आवश्यक होने के कारण क्यों नहीं मान लिया जाता, व्यावृत्ति के बोध की क्या आवश्यकता? वह किसी शब्द से भी उपस्थित नहीं तथा व्यक्ति-विशेष के बोध से व्यावृत्ति अपने-आप सिद्ध भी हो जाती है, क्योंकि जहाँ किमत्र वह्निरस्ति?'—इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है—धूमोऽस्ति। वहाँ 'धूमोऽस्ति'—इस वाक्य की वह्नि में लक्षणा नहीं होती, अपितु उस वाक्य से जनित धूम-ज्ञान का वह्नि-ज्ञान फल (अनुमितिरूप) होता है। प्रकृत में भी अन्धकारादि की व्यावृत्ति शाब्द बोध का विषय नहीं, अपितु फल है। यह जो कहा जाता है कि लक्षणा के बिना भी वस्तु का शाब्द बोध में वैसे ही भान होता है, जैसे कि 'घटेन जलमाहर'—इस वाक्य से बोधित घट में निश्छिद्रत्व का। वह कहना भी इस लिए निरस्त हो जाता है कि निश्छिद्रत्व अन्य प्रकार से लब्ध न होने के कारण अनन्यलभ्य है, अतः 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः'—इस न्याय के अनुसार निश्छिद्रत्व तात्पर्य का विषय माना जाता है, किन्तु चन्द्रगत अन्धकारादि-भेद अनन्यलभ्य नहीं, हान और उपादानादि के समान शाब्द बोध का फल होने के कारण अन्य-लभ्य (अर्थापत्ति-सिद्ध) है। घटगत निश्छिद्रत्व भी लक्षणा के बिना शाब्द बोध का विषय नहीं होता, अन्यथा लक्षणा की कहीं भी आवश्यकता नहीं रहेगी। शाब्द बोध के विषयीभूत घटरूप जलाहरण के साधन में वस्तुगत्या निश्छिद्रत्व रहता है, अतः 'घट' पद की निश्छिद्र घट में लक्षणा होती है—इस विषय का अन्यत्र विस्तार किया गया है। अत एव श्रीचित्सुखाचार्य ने कहा है—अर्थात् पुनरन्यतो व्यावृत्तिः फलति" (त० प्र० पृ० १९५)। कश्चन्द्रः'—यह प्रश्न-वाक्य चन्द्रत्वरूप व्यावर्तक धर्म के विषय में नहीं कहा जा सकता कि उत्तर वाक्य के द्वारा इतर-व्यावर्तक धर्म के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करने के लिए उचित शब्दावलि का प्रयोग करना वक्ता के अधीन होता है, अतः यदि धर्मविषयक प्रश्न होता, तब उसका आकार 'कः' चन्द्रधर्मः ?'—ऐसा होना उचित था। कः चन्द्रः ? इस वाक्य की धर्मविषयक जिज्ञासा में निष्प्रयोजन लक्षणा करना सर्वथा अन्याय है। धर्म का बोधन करने पर भी उक्त वाक्य में अखण्डार्थत्व का उपपादन किया जा चुका है।

न्यायामृतम्

एवं प्रतिवचनस्य प्रकृष्टत्वादिविशिष्टे तात्पर्याभावे तात्पर्यतो यः कश्चिच्चन्द्र इत्येव बोधनाद्, अतात्पर्यविषयस्य च प्रतीतस्य त्यक्तत्वाद्, वस्तुतो यस्य कस्यापि चन्द्रत्वं स्यात्, तात्पर्यविषयेऽखण्डेऽयं चन्द्र इति लक्ष्यलक्षणरूपोद्देश्यविधेयविभागाभावेन तात्पर्यतो यत्किचिदित्येव बोधना (त्तेन) (च्चन्द्रत्वेन) चन्द्रबुभुत्सानिवृत्त्यभावात्। कश्चन्द्र इति प्रश्नस्योत्तरं च न स्यात्। सर्वेषामपि लक्षणवाक्यतात्पर्य-

अद्वैतसिद्धिः

ननु—सर्वलक्षणवाक्यानां वस्तुगत्या परस्परभिन्नतत्तत्प्रातिपदिकार्थमात्रविषयज्ञानजनकत्वेन सप्रकारकज्ञानजनकत्वाभावात् प्रश्नवाक्यस्थं विशेष्यमात्रसमर्पकं चन्द्रादिपदमेव प्रयोक्तव्यमुत्तरवादिना, किं प्रकृष्टप्रकाशादिपदेनेति—चेन्न, स्वरूपमात्रस्य ज्ञेयत्वेऽपि स्वरूपज्ञानस्य तावत्पदार्थाधीनत्वे सत्येव तावत्पदार्थेतरव्यावृत्तिफलत्वेन सर्वपदानां सफलत्वाद्, अन्यथा संशयाद्यनुवृत्तेरनुभवसिद्धत्वात्।

ननु—उत्तरस्य प्रकृष्टत्वादिविशिष्टबोधपरत्वाभावे तात्पर्यतो यः कश्चिच्चन्द्र इत्येवावबोधनाद्वस्तुतो यस्य कस्यापि चन्द्रत्वं स्यात्, तात्पर्यविषये चायं चन्द्र इति लक्ष्यलक्षणरूपोद्देश्यविधेयविभागाभावेन चन्द्रबुभुत्साया अनिवृत्तिः, कश्चन्द्र इति प्रश्नस्योत्तरं च न स्यादिति—चेन्न; यथा गङ्गासंबन्धित्वविशिष्टे तात्पर्याभावेऽपि वस्तुगत्या गङ्गासंबध्येव तीरं गङ्गापदेन लक्ष्यते, यथा वा 'व्रीहीन् प्रोक्षती'त्यादौ व्रीह्यादिस्वरूपे प्रोक्षणादिविधानवैयर्थ्याद् व्रीहिभिर्यजेतेत्यादिवाक्यसिद्धापूर्वसंबन्धि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—यदि सभी लक्षणा-वाक्य वस्तुगत्या इतरार्थ-भिन्न स्वार्थमात्र का बोधन करते हैं, सप्रकारक (सविकल्प) ज्ञान के जनक नहीं होते, तब उक्त प्रश्न-वाक्य में स्थित विशेष्यमात्र-प्रतिपादक 'चन्द्र' पद का ही प्रयोग उत्तर-दाता को करना चाहिए, 'प्रकृष्टप्रकाश' पद की क्या आवश्यकता ?

समाधान—यद्यपि प्रश्नकर्त्ता के द्वारा चन्द्रस्वरूप मात्र की जिज्ञासा प्रकट की जाती है, तथापि स्वरूप का ज्ञान उतने ही पदार्थों के अधीन होता है, अतः सभी पदों का स्वार्थेतर की व्यावृत्ति में तात्पर्य होने के कारण प्रयोग सफल माना जाता है, अन्यथा (केवल 'चन्द्रः'—इतना ही प्रयोग करने पर) संशयादि की निवृत्ति नहीं होती—ऐसा अनुभव-सिद्ध है।

शङ्का—'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'—यह उत्तर वाक्य यदि प्रकृष्टत्वादि से विशिष्ट अर्थ का बोधक नहीं, केवल 'यः कश्चित् चन्द्रः'—इतने ही अर्थ का बोधक है, तब प्रकृष्टप्रकाश से भिन्न भी किसी अर्थ में चन्द्रत्व होना चाहिए एवं तात्पर्य-विषयीभूत चन्द्रार्थ में 'अयं चन्द्रः'—इस प्रकार लक्ष्य और लक्षण का उद्देश्य-विधेयभाव न होने के कारण चन्द्रमात्र की जिज्ञासा निवृत्त नहीं होती, अतः कश्चन्द्रः ? इस प्रश्न का 'अयं चन्द्रः'—यह उत्तर नहीं होना चाहिए।

समाधान—जैसे गङ्गा-सम्बन्धित्व-विशिष्ट अर्थ में तात्पर्य न होने पर भी वस्तुगत्या गङ्गा-सम्बन्धी तीर में ही 'गङ्गा' पद की लक्षणा होती है अथवा जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यादि स्थल पर व्रीहि के स्वरूपमात्र में प्रोक्षणादि का विधान व्यर्थ होने के कारण 'व्रीहिभिर्यजेत (आप० श्रौ. सू. ६।३१।१३) इत्यादि वाक्यों से अवगत अपूर्वसाधनीभूत व्रीहि में 'व्रीहि' पद की लक्षणा होती है, फिर भी व्रीहित्व जाति के आश्रयी-

न्यायामृतम्

जन्यज्ञानानां वस्तुगत्या परस्परभिन्नतत्तत्प्रातिपदिकार्थविषयत्वेऽपि प्रकारभेदाभावेन तेन तेन भिन्नभिन्नप्रकारकतत्तत्सन्देहनिवृत्तिश्च न स्यात्। प्रकृष्टादिपदवैयर्थ्यं च स्यात्। व्यावर्त्यभेदेन सार्थक्यमित्येतन्निरसिष्यते।

एतेन प्रश्नोत्तरे तावच्चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रविषये प्रकृष्टादिविशेषणाश्रयभूता चासाधारणी विशेष्यव्यक्तिः चन्द्रप्रातिपदिकार्थः, न तु तद्विशिष्टा प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति सहप्रयोगाद्ययोगाद् विशेष्यव्यक्तिश्चाखण्डेति अखण्डार्थपरे प्रश्नोत्तरे इति निरस्तम्, अस्या एवासाधारणव्यक्तेर्व्यावर्तकादिवैशिष्ट्यरूपेणासाधारण्येनाज्ञानेऽपि चन्द्रप्रातिपादिकार्थत्वादिरूपेण प्रागेव ज्ञातत्वात्। एवं च गामानयेत्यादौ गोत्वस्यानयनेनेव प्रकृष्टत्वादेर्विधेयेन चन्द्रप्रातिपदिकार्थत्वेनानन्वयेऽपि उद्देश्यत्वावच्छेदकत्वेन

अद्वैतसिद्धिः

स्वलक्षणायामपि वस्तुगत्या व्रीहित्वाद्याश्रयीभूता एव व्यक्तयो व्रीह्यादिपदैर्लक्ष्यन्ते, तथा प्रकृतेऽपि प्रकृष्टप्रकाशपदाभ्यां वस्तुगत्या स्वाश्रयीभूतैव व्यक्तिर्लक्ष्यते, न तु या काचिदिति विशिष्टतात्पर्याभावेऽपि न पूर्वोक्तदोषः। अयं चन्द्र इति लक्ष्यलक्षणभावाभावेऽपि तदुभयप्रतिपादकपदाभ्यामुपस्थितस्यैकस्वरूपस्यैव उद्देश्यविधेयभावसंभवेन बुभुत्सानिवृत्तेरुत्तरत्वस्य च संभवात्। निष्प्रकारकस्यापि ज्ञानस्य संशयादिनिवर्तकत्वं प्रागुपपादितमेव। तदेतन्निष्कृष्टम्—प्रश्नोत्तरे तावत् चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रविषये, चन्द्रप्रातिपदिकार्थश्च प्रकृष्टप्रकाशाश्रयीभूतासाधारणी विशेष्यभूता व्यक्तिः, न तु प्रकृष्टप्रकाशविशिष्टा, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति सहप्रयोगानुपपत्तेः, विशेष्यव्यक्तिश्चाखण्डेत्यखण्डार्थतैव।

ननु—गामानयेत्यत्र गामुद्दिश्यानयनविधानाद् यथा गोत्वस्य उद्देश्यतावच्छेदकत्वादानयनेनानन्वयेऽपि प्रकारत्वं, तथा प्रकृतेऽपि प्रकृष्टप्रकाशस्य चन्द्रप्रातिपदिकार्थत्वेनानन्वयेऽप्युद्देश्यतावच्छेदकत्वात् प्रकारत्वं दुर्वारम्, न हि गामानयेत्यत्र

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भूत व्यक्ति ही 'व्रीहि' पद से लक्षित होते हैं, वैसे ही प्रकृत में भी 'प्रकृष्ट' और 'प्रकाश'—इन दो पदों के द्वारा वस्तुगतया चन्द्रत्व की आश्रयीभूत व्यक्ति ही 'चन्द्र' पद के द्वारा लक्षित होती है, उससे भिन्न और किसी व्यक्ति में चन्द्रत्व प्रसक्त नहीं होता। 'अयं चन्द्रः'—यहाँ पर लक्ष्य-लक्षणभाव न होने पर भी इन दोनों पदों के द्वारा उपस्थापित एक चन्द्रस्वरूप में ही उद्देश्य-विधेयभाव सम्भव है, अतः जिज्ञासा का निवर्तक होने के कारण 'अयं चन्द्रः'—यह उत्तर सूपपन्न हो जाता है, निष्प्रकारक ज्ञान में भी संशयादि की निवर्तकता का उपपादन पहले किया जा चुका है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि 'कः चन्द्रः ?' प्रश्न और 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'—यह उत्तर दोनों ही चन्द्ररूप प्रातिपदिकार्थमात्र को विषय करते हैं, 'चन्द्र' प्रातिपदिक का अर्थ प्रकृष्टप्रकाश की आश्रयीभूत असाधारणी विशेष्य व्यक्ति है, प्रकृष्टप्रकाश से विशिष्ट नहीं, अन्यथा 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'—इस प्रकार सह प्रयोग नहीं हो सकेगा और वह विशेष्य व्यक्ति अखण्ड है, अतः लक्षण-वाक्य में अखण्डार्थकता सिद्ध हो जाती है।

शङ्का—'गामानय'—यहाँ पर गौ को उद्देश्य कर आनयन का विधान होने के कारण जैसे उद्देश्यतावच्छेदकीभूत अमूर्त गोत्व का आनयन क्रिया के साथ अन्वय न होने पर भी गोत्व में शाब्दबोधीय प्रकारता मानी जाती है, वैसे ही प्रकृत में भी प्रकृष्ट-

न्यायामृतम्

विवक्षितत्वात्तद्वदेव विशिष्टार्थत्वं दुर्वारम्। अस्ति च पृथिवीत्ववती पृथिवीत्यादौ पृथिवीत्वस्य विधेयेन पृथिवीशब्दार्थत्वेनान्वयः। न हि पृथिवीत्वं न पृथिवीप्राति-

अद्वैतसिद्धिः

गोत्वं विनाऽन्वय इति—चेन्न, प्रातिपदिकार्थतावच्छेदकत्वस्य प्रातिपदिकार्थत्वनियतत्वेनाप्रातिपदिकार्थे तदवच्छेदकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। तथा च प्रकृष्टप्रकाशस्य प्रातिपदिकार्थतावच्छेदकत्वे प्रातिपदिकार्थत्वं दुर्वारमेव।

ननु—पृथिवीत्ववती पृथिवीत्यादौ पृथिवीत्वस्य विधेयेन पृथिवीप्रातिपदिकार्थत्वेन नानन्वयः, पृथिवीत्वस्य पृथिवीप्रातिपदिकार्थत्वात्, सहप्रयोगस्तु पृथिवीशब्दस्य तद्व्यवहर्तव्यतापरतयेति तत्र व्यभिचार इति—चेत्, न, पृथिवीशब्दार्थत्वेन पृथिवीत्वजातिविशिष्टमजानतः पृथिवीत्वपदेन जातेरुपस्थित्यभावाद् अनन्वय एव स्यादिति पृथिवीत्वजातिविशिष्टे पृथिवीशब्दार्थत्वग्रहोऽवश्यं प्रागेव श्रोतुर्वक्तव्यः। तथा च वचनवैफल्यमित्यनन्यगत्या जलादिव्यावृत्तगन्धसमानाधिकरणजातिमती

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रकाशवत्त्व का चन्द्ररूप प्रातिपदिकार्थ के साथ अन्वय न होने पर भी उद्देश्यतावच्छेकता होने के कारण प्रकृष्टप्रकाशवत्त्व में लक्षण-वाक्यजन्य बोध की प्रकारता अनिवार्य रूप से रहती है, अतः लक्षण-वाक्य-जन्य बोध सप्रकारक है, निष्प्रकारक या अखण्डार्थ-विषयक नहीं, क्योंकि जैसे 'गामानय' में गोत्व को छोड़कर अन्वय-बोध नहीं होता, वैसे ही 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः' में प्रकृष्ट प्रकाश को छोड़ कर अन्वय-बोध नहीं होता, फलतः लक्षण-वाक्य में अखण्डार्थकत्व या अखण्डार्थ-विषयक-बोध-जनकत्व नहीं बनता।

समाधान—'यत्र-यत्र प्रातिपदिकार्थतावच्छेकत्वम्, तत्र-तत्र प्रातिपदिकार्थत्वम्'—इस प्रकार प्रातिपदिकार्थतावच्छेदक सदैव प्रातिपदिकार्थत्व से व्याप्त होता है, अतः जहाँ प्रातिपदिकार्थत्व नहीं, वहाँ प्रातिपदिकार्थतावच्छेदकत्व नहीं कहा जा सकता, प्रकृष्ट प्रकाशवत्त्व में प्रातिपदिकार्थतावच्छेदकता मानने पर प्रातिपदिकार्थत्व भी दुर्वार होता है।

शङ्का—'पृथिवीत्ववती पृथिवी'—इत्यादि स्थल पर पृथिवीत्व का विधेयभूत पृथिवीप्रातिपदिकार्थत्व के साथ अनन्वय नहीं, अपितु अन्वय ही होता है, क्योंकि पृथिवीत्व स्वयं पृथिवी प्रातिपदिक का अर्थ है, फिर भी 'पृथिवी' शब्द के पृथिवी-व्यवहारपरक होने के कारण वैसे ही सहप्रयोग हो ज़ाता है, जैसे 'घटो घटः'—यहाँ पर 'घटः घट इति व्यवहर्त्तव्यः'—इस अर्थ में सहप्रयोग होता है, अतः 'पृथिवीत्ववती पृथिवी'—यहाँ पर लक्षण-वाक्यत्वरूप हेतु है, किन्तु अखण्डार्थत्व नहीं, अपितु अन्वित या संसृष्ट अर्थ की ही प्रातिपदिकता है, अतः व्यभिचारी होने के कारण लक्षण-वाक्यत्व अखण्डार्थकता का साधक नहीं।

समाधान—जो व्यक्ति पृथिवीत्व-विशिष्ट पदार्थ को पृथिवीशब्दार्थ के रूप में नहीं जानता, उसे 'पृथिवीत्व' पद से 'पृथिवीत्व' जाति की उपस्थिति (स्मृति) नहीं हो सकती, अतः पृथिवीत्व का विधेयार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता, इस लिए पृथिवीत्व जाति-विशिष्ट में पृथिवी शब्दार्थत्व का ग्रह श्रोता को पहले ही कहना होगा, ज्ञात-ज्ञापनार्थ वचन निरर्थक होता है, अतः अन्य गति न होने के कारण 'जलादि-व्यावृत्त

न्यायामृतम्

पदिकार्थः, सह प्रयोगस्तु पृथिवीशब्दस्य तच्छब्देन व्यवहर्तव्यतापरत्वात्। तस्माद्धर्मिणश्चन्द्रस्य सामान्यतो नक्षत्रादिव्यावर्तकव्यावृत्तिरूपधर्मस्य च घटादौ प्रागेव ज्ञातत्वाद्विशिष्टविषये एव प्रश्नोत्तरे।

अद्वैतसिद्धिः

पृथिवीत्याद्यर्थे पर्यवसितमुत्तरम्। गन्धसमानाधिकरणजातिमत्त्वादिकं च न पृथिवीपदवाच्यमिति कथं नानन्वयः ? व्यवहर्तव्यतालक्षणया सहप्रयोगोपपादनं चायुक्तम्, व्यवहर्तव्यतायां हि जहल्लक्षणा, तत्र च स्वार्थहानिः, स्वरूपे तु जहदजहल्लक्षणा, तत्र स्वार्थान्वय इति स्वरूपे जहदजहल्लक्षणाया एवोचितत्वात्। तदुक्तं 'व्याप्तेश्च समञ्जस'मित्यधिकरणे भाष्यकृद्भिः—'लक्षणायामपि सन्निकर्षविप्रकर्षौ भवत' इति। ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते'त्यत्र किमोङ्कारसदृशमुद्गीथमित्यर्थः, किं वोद्गीथावयवमोङ्कारमिति विवक्षायां गौण्यां वृत्तौ स्वार्थहानेरवयवलक्षणैव ज्यायसी। सन्निकृष्टत्वादिति तत्र निर्धारितम्।

एतेन—धर्मिणश्चन्द्रस्य सामान्यतो ज्ञातत्वात् नक्षत्रादिभ्यो व्यावर्तकधर्मस्य व्यावृत्तेश्च घटादौ प्रागेव ज्ञातत्वाद्विशिष्टविषये एव प्रश्नोत्तरे, तत्र यदि व्यावृत्ति-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

गन्ध-समानाधिकरण जातिमती पृथिवी'—इस अर्थ में ही उक्त वाक्य का तात्पर्य मानना होगा, गन्ध-समानाधिकरण जातिमत्त्वादि तो 'पृथिवी' पद का वाच्य नहीं होता, तब 'पृथिवीत्ववती पृथिवी'—यहाँ पर पृथिवीत्व का अन्वय कैसे होगा ? 'पृथिवी' पद की पृथिवीव्यवहर्त्तव्यता में लक्षणा कर सह प्रयोग का उपपादन अत्यन्त अयुक्त है, क्योंकि व्यवहर्त्तव्यता में जहल्लक्षणा करने पर पृथिवीरूप स्वार्थ की हानि हो जाती है और स्वरूप में जहदजहल्लक्षणा होगी, तभी स्वार्थ का अन्वय-बोध होगा, अतः स्वरूप में जहदजहल्लक्षणा ही उचित है, जैसा कि "व्याप्तेश्च समञ्जसम्" (ब्र० सू० ३।३।९) इस अधिकरण में भाष्यकार ने कहा है—"नन्वस्मिन्नपि पक्षे समानलक्षणा, उद्गीथशब्दस्यावयवलक्षणार्थत्वात्। सत्यमेवमेतत्, लक्षणायामपि सन्निकर्षविप्रकर्षौ भवतः" (ब्र० सू० पृ० ७६५) अर्थात् "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" (छां० १।१।१) यहाँ पर अक्षर और उद्गीथ—इन दोनों के सामानाधिकरण्य का निर्वाह करने के लिए 'सिंहो माणवकः' के समान ओमक्षर की गौणी वृत्ति या जहल्लक्षणा उद्गीथ में की जाय ? अथवा 'उद्गीथ' पद की उद्गीथ के अवयवभूत ओंकार में जहदजहल्लक्षणा की जाय—इस प्रकार का सन्देह होने पर यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि गौणी वृत्ति अपनाने पर वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग करना पड़ता है, अतः 'उद्गीथ' पद की अवयव में जहदजहल्लक्षणा ही उचित है। भाष्यकार ने दोनों पक्षों में लक्षणा की समानता होने के कारण किसी एक पक्ष में विनिगमक क्या ?' ऐसा सन्देह उठाकर समाधान किया है कि अवयव-लक्षणा-पक्ष में सन्निकर्ष अर्थात् वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग न होने के कारण औचित्य और गौणी वृत्ति-पक्ष में विप्रकर्ष अर्थात् स्वार्थ का त्याग हो जाने के कारण अनौचित्य है।

शङ्का—चन्द्ररूप धर्मी का सामान्यतः ज्ञान होने के कारण नक्षत्रादि के व्यावर्तक 'चन्द्रत्व' धर्म का चन्द्र में तथा नक्षत्रादि की व्यावृत्ति (भेद) का घटादि में ज्ञान होने के कारण केवल चन्द्रस्वरूप के विषय में न प्रश्न उठ सकता है और न उत्तर हो सकता है. अतः व्यावर्तक धर्म और व्यावृत्ति से विशिष्ट चन्द्र को ही उक्त प्रश्न और उत्तर—

न्यायामृतम्

तत्र यदि प्रष्ट्रा व्यावृत्तिवैशिष्ट्यमेव साक्षाद्बुभुत्सितम्, तदा वक्त्रा व्यावृत्तेरस्मादस्माच्च व्यावृत्त इति साक्षाज्जन्मशतेनापि दुर्बोधत्वात् धूमे उक्तेऽग्निमिव व्यावर्तके उक्ते व्यावृत्तिं ज्ञास्यतीतिभावने व्यावर्तकवैशिष्ट्यमेव तात्पर्यतः प्रतिपादयति। न ह्यग्निबोधनार्थस्य धूमोऽस्तीतिवाक्यस्य न धूमे तात्पर्यं न वा यागाक्षेपकस्य "यदाग्नेयादि" वाक्यस्य न द्रव्यदेवतासम्बन्धे। यदि तु प्रष्ट्रैव व्यावृत्तिः प्रतियोगिनामानन्त्येन साक्षात्प्रष्टुं वक्तुं चाशक्येति ज्ञात्वा कश्चन्द्र इत्यनया वाचोभंग्या कैर्विशेषणैर्विशिष्टः ? इति पृष्टं तदा सुतरां प्रश्नोत्तरे व्यावर्तकवैशिष्ट्यपरे इति न क्वाप्यखण्डार्थत्वम्।

अद्वैतसिद्धिः

वैशिष्ट्यमेव प्रष्टुः साक्षाद् बुभुत्सितं, तदापि तत्तद्व्यावृत्तेः समासहस्रेणापि वक्तुमशक्यतया वह्निबुभुत्सायां धूममिव व्यावर्तकधर्मवैशिष्ट्यमेवाभिधत्ते, न हि वह्निबोधार्थस्य धूमोऽस्तीति वाक्यस्य न धूमे तात्पर्यम्, न वा यागाक्षेपकस्य 'यदाग्नेय' इत्यादिवाक्यस्य द्रव्यदेवतासंबन्धे। यदा तु तत्तद्व्यावृत्तेर्वक्तुमशक्यतामवगम्य व्यावर्तकधर्मवैशिष्ट्यमेव पृच्छति, तदा सुतरां प्रश्नोत्तरयोर्विशिष्टपरत्वमिति— निरस्तम्, प्रथमे प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः, द्वितीये श्रुतार्थपरित्यागापत्तेः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दोनों विषय करते हैं। उसमें भी यदि तत्तत्प्रतियोगी के भेद से भिन्न अनन्त व्यावृत्ति व्यक्तियों की जिज्ञासा है, तब तत्तदनन्त व्यावृत्तियों का हजारों वर्षों में भी उत्तर नहीं दिया जा सकता, अतः वह्नि की जिज्ञासा में जैसे धूम के वैशिष्ट्य का अभिधान होता है, वैसे ही नक्षत्रादि-व्यावर्तक (चन्द्रत्व) धम के विषय में प्रश्न और उत्तर मानने होंगे, फलतः उनकी विशिष्टार्थकता निश्चित है, क्योंकि वह्नि-बोधनार्थ प्रयुक्त 'धूमोऽस्ति'—इस वाक्य का धूम में तात्पर्य नहीं होता और यागानुमापक द्रव्य और देवता के सम्बन्ध में 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति' (तै० सं० २।६।३।३) इस वाक्य का तात्पर्य नहीं होता—यह बात नहीं, अपितु 'धूमोऽस्ति' का धूम में और 'यदाग्नेयः' इस वाक्य का अग्निदेवता और अष्टकपालसंस्कृत पुरोडाश द्रव्य के सम्बन्ध में तात्पर्य होता है [यद्यपि "यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति"—इस वाक्य में याग का वाचक कोई 'यजेत'—इत्यादि पद नहीं, तथापि 'अग्निर्देवताऽस्य हविष इत्याग्नेयः—इस प्रकार तद्धित प्रत्यय के द्वारा आठ कपालों में पकाये गये पुरोडाशरूप हविर्द्रव्य और अग्निदेवता का सम्बन्ध प्रतिपादित है। ऐसा सम्बन्ध याग में ही होता है, क्योंकि किसी देवता के उद्देश्य से हवि का त्याग ही याग कहलाता है, अतः उक्त वाक्य के द्वारा प्रतिपादित द्रव्य-देवता का सम्बन्ध याग का वसे ही आक्षेपक (अनुमापक) माना जाता है, जैसे धूम अग्नि का]। जब तत्तद्व्यावृत्ति का व्यक्तिशः कथन असंभव जान कर प्रश्नकर्ता अनन्त व्यावृत्तियों के संग्राहक व्यावर्तक धर्म का वैशिष्ट्य ही पूछता है, तब प्रश्न और उत्तर की विशिष्टार्थविषयता निश्चच है।

समाधान—उक्त शङ्का का निरास इस लिए हो जाता है कि प्रथम (व्यावृत्तिविषयक) पक्ष में प्रश्न व्यावृत्तिविषयक और उत्तर व्यावर्त्य चन्द्र स्वरूप विषयक—इस प्रकार प्रश्न और उत्तर का वैयधिकरण्य हो जाता है। द्वितीय (व्यावर्तक धर्मविषयक) पक्ष में 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'—इस उत्तर वाक्य में श्रुत चन्द्रस्वरूप का

अद्वैतसिद्धिः

प्रथमेऽपि श्रुतार्थपरित्यागः स्थित एव। न चानन्यगत्या श्रुतार्थपरित्यागाभ्युपगमः, गत्यन्तरस्योक्तत्वात्।

ननु—प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः यदि स्वरूपे लक्षणा, तदा वह्निप्रश्ने धूमोऽस्तीत्युत्तरे वह्नौ लक्षणास्त्विति—चेन्न, धूमोऽस्तीति वाक्येनाहत्य शक्त्या लिङ्गे बोधिते तत एव वह्निबोधोपपत्तौ तात्पर्यानुपपत्तिकल्प्यलक्षणाया अयोगात्, श्रुतिलिङ्गाधिकरणन्यायेन वाक्यापेक्षया लिङ्गस्य बलवत्त्वाच्च, प्रकृते चासंकीर्णचन्द्रस्वरूपसिद्धौ वाक्यातिरिक्तप्रमाणाभावेन वैषम्याच्च।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

परित्याग हो जाता है। यह श्रुतार्थ-परित्यागरूप दोष प्रथम पक्ष में भी है। श्रुतार्थ-परित्याग के विना और कोई गति नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्वरूपमात्र-विषयक प्रश्नोत्तर का मार्ग प्रशस्त किया जा चुका है।

शङ्का—प्रश्न और उत्तर की वैयधिकरण्यापत्ति के डर से यदि चन्द्रस्वरूप मात्र में लक्षणा की जाती है, तब वह्निविषयक प्रश्न के 'धूमोऽस्ति'—इस उत्तर में 'धूम' पद की वह्नि में लक्षणा करनी पड़ेगी।

समाधान—'धूमोऽस्ति'—इस वाक्य में अवस्थित सभी पदों की मिलित शक्ति के द्वारा धूमरूप लिङ्ग का बोध हो जाने मात्र से अभिप्रेत वह्नि का ज्ञान (अनुमिति) उपपन्न हो जाता है, तात्पर्यानुपपत्तिमूलक लक्षणा सम्भव नहीं रहती। दूसरी बात यह भी है कि विनियोगावगमक श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण स्थान और समाख्यारूप छः प्रमाणों में वाक्य की अपेक्षा लिङ्ग (सामर्थ्य या शक्ति) की प्रबलता जै. सू. ३।३।१४ में स्थापित की गई है ["स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुषेवं कल्पयामि। तस्मिन् सीद अमृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः॥" (तै० ब्रा० ३।७।५) चावलों के आटे की बाटी को पुरोडाश के रूप में पका कर एक पात्र में पहले घृत चुपड़ा जाता है, पश्चात् उसमें वह पुरोडाश रखा जाता है। घृत चुपड़ना 'सदन-करण' और पुरोडाश रखना 'सादन' कहलाता है। पूरे मन्त्र की एक वाक्यता देख कर वाक्य प्रमाण कथित पूरे मन्त्र का विनियोग सदन और सादन—दोनों में करता है, किन्तु शब्द-सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रमाण उक्त मन्त्र के पूर्वार्ध का सदन-करण और उत्तरार्ध का सादन में विनियोग करता है। ऐसी परिस्थिति में लिङ्ग प्रमाण को वाक्य का बाधक मान कर व्यवस्थित विनियोग ही सिद्धान्त में माना गया है, जैसा कि उक्त मन्त्र का प्रतिपादन है—हे व्रीहि (धान) के मेध (सारभूत पुरोडाश !) तेरे बैठने योग्य स्योनं (समीचीन) स्थान बनाता हूँ, पात्र को घृत की धारा से स्निग्ध और सुसेव्य कर रहा हूँ। उस स्निग्ध संस्कृत पात्र में तू प्रसन्न मन से विराजमान हो जा और यजमान को अमृत (स्वर्ग) में प्रतिष्ठित कर दे] अतः 'धूमोऽस्ति'—इस वाक्य की वह्नि में लक्षणा की अपेक्षा धूमादि पदों की शक्तिरूप (लिङ्ग) प्रमाण के द्वारा धूमरूप लिङ्ग (अनुमापक हेतु) की उपस्थिति ही उचित है, किन्तु प्रकृत में उत्तर वाक्य के द्वारा असंकीर्ण चन्द्रस्वरूप की सिद्धि होती है, अतः यहाँ वाक्य से अतिरिक्त और कोई लिङ्ग प्रमाणादि का सद्भाव नहीं, अतः 'धूमोऽस्ति'—इस वाक्य से 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'—इस वाक्य का वैषम्य भी है, अतः लक्षण-वाक्यों की लक्ष्यस्वरूप में लक्षणा होती है और 'धूमोऽस्ति'—इस वाक्य में नहीं।

न्यायामृतम्

असाधारणधर्मरूपलक्षणप्रश्नो ह्ययं किं लक्षणकश्चन्द्र इति असाधारणधर्मविषयकस्य, कतमश्चन्द्र इति जातिविषयस्य, अनयोः कतरश्चन्द्र इति गुणक्रियाजातिभिः पृथक्करणरूपनिर्धारणविषयस्य च प्रश्नस्योत्तर इवात्रापि प्रतिवचने लक्षणोक्तेः प्रश्नेऽपि प्रकृष्टो वा प्रकाशो वेत्यादिधर्मविषयविकल्पसूचककिंशब्दप्रयोगाच्च ।

अद्वैतसिद्धिः

ननु—किंलक्षणश्चन्द्रः ? इत्यस्यासाधारणधर्मविषयकस्य, कतमश्चन्द्रः ? इत्यस्य जातिविषयकस्य, अनयोः कतरश्चन्द्रः ? इत्यस्य जातिगुणक्रियाभिः पृथक्करणरूपनिर्धारणविषयकस्य प्रश्नस्योत्तर इवात्रापि प्रतिबचने लक्षणोक्तेः प्रश्नेऽपि प्रकृष्टप्रकाशो अप्रकृष्टप्रकाशो वेति धर्मवाचकं पदं कल्पनीयं तत्सूचककिंशब्दप्रयोगाच्चेति—चेन्न, वह्निप्रश्ने धूमोऽस्तीति प्रतिवचनदर्शनेन प्रतिवचनोक्तत्वस्य प्रष्टुर्बुभुत्सितत्वेऽतन्त्रत्वात् । अथ तत्र बुभुत्सितबोधोपयुक्तत्वात्तदुक्तिः, प्रकृतेऽपि नोपयोग इति केन तुभ्यमभ्यधायि ? किंलक्षण इत्यादिप्रश्नतथात्वे तद्वाचकपदवत्त्वस्योपाधित्वात्, क्वचिद्दर्शनमात्रस्याप्रयोजकत्वाच्च, किंशब्दस्य बुभुत्सासूचकत्वेन तस्य धर्मबुभुत्सानियतत्वाभावाच्च । एवं च प्रश्ने धर्मवाचिपदाभावात्तदनुरोधिन्युत्तरे धर्म-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—किंलक्षणः चन्द्रः ? इस प्रकार असाधारण धर्मरूप लक्षणविषयक, कतमः चन्द्रः ? इस प्रकार चन्द्रत्वजातिविषयक, अनयोः कतरः चन्द्रः ? इस प्रकार जाति, गुण और क्रिया के द्वारा व्यावर्तनरूप निर्धारणविषयक प्रश्न के उत्तर में ही असाधारण धर्मादि का उल्लेख होता है, अतः प्रकृत (प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः) में असाधारण धर्मरूप लक्षण का उल्लेख देख कर प्रश्न-वाक्य में भी धर्म-वाचक पद की कल्पना कर लेनी चाहिए—'प्रकृष्टप्रकाशो वा ? अप्रकृष्टप्रकाशो वा चन्द्रः ? इस कल्पना के सूचक किंशब्द का प्रयोग 'कः चन्द्रः' में भी है, अतः वह कल्पना निराधार नहीं ।

समाधान—जिज्ञासितवह्निविषयक प्रश्न का अजिज्ञासित धूमविषयक 'धूमोऽस्ति'—ऐसा उत्तर यह सिद्ध करता है कि प्रतिवचन (उत्तर-वाक्य) में कथित पदार्थ की ही प्रश्न-कर्त्ता को जिज्ञासा होती है—ऐसा नहीं । यदि कहा जाय कि वह्निरूप जिज्ञासितार्थ के बोधन में उपयुक्त होने के कारण धूम का अभिधान होता है, तब प्रकृत में उपयुक्ताभिधान नहीं—यह किसने आप को कहा ? अर्थात् जैसे वह्निविषयक प्रश्न के उत्तर में धूम का अभिधान उपयोगी है, वैसे ही चन्द्रस्वरूपविषयक प्रश्न के उत्तर में चन्द्र-लक्षण का अभिधान (प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः) उपयुक्त है । कथित दृष्टान्त के द्वारा शंकावादी ने जो अनुमान सूचित किया है- कः चन्द्रः' इति प्रश्नः धर्मविषयकः, तदुत्तरस्य धर्मविषयकत्वात्, 'किंलक्षणः चन्द्रः ? इति धर्मविषयकप्रश्नस्योत्तरवत् ।' उसमें 'धर्मवाचकपदवत्त्व' उपाधि है [दृष्टान्त में ही साध्य के साथ-साथ धर्मवाचकपदवत्त्व निश्चित होने के कारण साध्य का व्यापक तथा 'कः चन्द्रः' में धर्मवाचकपदवत्त्व न होने के कारण साधन का अव्यापक है] । किसी एक स्थल पर दृष्टचर पदार्थ को विना कारण से 'अन्यत्र सिद्ध नहीं किया जा सकता । यह जो कहा कि किंशब्द के बल पर धर्मविषयक बुभुत्सा की कल्पना होती है, वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि किंशब्द केवल बुभुत्सा का ही सूचक है, धर्मविषयक बुभुत्सा का नहीं । इस प्रकार प्रश्न में धर्म-वाचक पद का अभाव होने के कारण उसके उत्तर वाक्य में प्रयुक्त धर्म-वाचक पद का

न्यायामृतम्

एतेन प्रश्ने धर्मवाचि पदं नेति निरस्तम्, तथात्वे चन्द्रधर्मस्यैव लक्षणीयत्वापत्त्या तस्यानपेक्षितत्वात्, चन्द्रप्रातिपदिकार्थस्य सामान्यतो ज्ञातत्वेन तद्बुभुत्सायोगात्। लक्षणया वा प्रश्नस्थचन्द्रपदस्यैव चन्द्रासाधारणधर्मपरत्वस्य कल्प्यत्वाच्च। यद्वा लक्षणवाक्यम्, अनुमानत्वेनाप्तवाक्यत्वेन वा चन्द्रव्यवहारकर्तव्यतावैशिष्ट्यपरमस्तु चन्द्रस्वरूपस्य प्रत्यक्षेणैव ज्ञातत्वात्। चन्द्रव्यवहारशब्देन च चन्द्रशब्दविशेषितो व्यवहारो विवक्ष्यते, न तु चन्द्ररूपार्थविशेषितः, येन तज्ज्ञाने वाक्यवैयर्थ्यं तदज्ञाने तु तस्य कर्तव्यताबोधनमशक्यमिति शंक्येत। न चैवं वृद्धव्यवहारादेव व्युत्पत्तिसम्भवात् लक्षणवाक्यं व्यर्थम्, शृङ्गग्राहिकयोपदेशवदस्यापि व्युत्पत्तावुपायान्तरत्वात्।

अद्वैतसिद्धिः

वाचकं पदं स्वरूपपरमेव। स्वरूपबुभुत्साया उपपादितत्वेन लक्षणाबीजाभावात् न प्रश्नवाक्यस्थं चन्द्रपदं तदसाधारणधर्मलक्षकम्।

यत्तु—लक्षणवाक्यं चन्द्रव्यवहारकर्तव्यतावैशिष्ट्यपरम्, अतो नाखण्डार्थता। चन्द्रव्यवहारस्तु चन्द्रपदविशेषितो व्यवहारः, न तु चन्द्ररूपार्थविशेषित इति तज्ज्ञानाज्ञानाभ्यां वैयर्थ्यबोधनाशक्यतादोषौ न भवतः। न च—वृद्धव्यवहार एव शक्तिग्राहकोऽस्तु, किं लक्षणवाक्येनेति—वाच्यम्, उपायस्य उपायान्तरादूषकत्वाद्—इति, तन्न, प्रश्नोत्तरवैयधिकरण्यापत्तेरुक्तत्वात्, प्रश्नवाक्यस्थचन्द्रशब्दे लक्षणाबीजाभावात्। असाधारणं चन्द्रस्वरूपमज्ञात्वा तत्र चन्द्रशब्दविशेषितव्यवहारवैशिष्ट्यस्य

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

स्वरूपमात्र में तात्पर्य मानना उचित है। स्वरूपविषयक जिज्ञासा का इस प्रकार उपपादन किया जा चुका है कि स्वरूपमात्र का ज्ञान होने पर भी असङ्कीर्णत्वेन चन्द्र-स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण उसकी जिज्ञासा उपपन्न हो जाती है। प्रश्न-वाक्यस्थ 'चन्द्र' पद की असाधारण धर्म में लक्षणा भी नहीं हो सकती, क्योंकि लक्षणा का बीज (निमित्त) वहाँ नहीं पाया जाता।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि उक्त लक्षण-वाक्य का चन्द्रविषयक व्यवहार-कर्त्तव्यता के वैशिष्ट्य में तात्पर्य है, अतः उसमें अखण्डार्थकता सिद्ध नहीं होती। चन्द्र-व्यवहार का अर्थ—'चन्द्र पद-विशिष्ट शब्दात्मक व्यवहार' होता है, चन्द्ररूप अर्थ-विशेषित व्यवहार नहीं, क्योंकि उसका ज्ञान होने पर बोधन व्यर्थ है और ज्ञान न होने पर बोधन सम्भव नहीं हो सकता। अर्थ-विशिष्ट व्यवहार में ही उक्त दोनों दोष होते हैं, पद-विशिष्ट व्यवहार में नहीं। लक्षण-वाक्य भी शब्दात्मक वृद्ध-व्यवहार है, अतः वृद्ध-व्यवहार-विधया ही चन्द्रार्थ का शक्ति-ग्राहक हो जाता है, उसे लक्षणपरक मानने की क्या आवश्यकता ? ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि एक उपाय से न तो उपायान्तर गतार्थ होता है और न व्यर्थ।

न्यायामृतकार का वह कहना समुचित नहीं, क्योंकि चन्द्रस्वरूपमात्रविषयक प्रश्न के उत्तर में व्यवहार-कर्त्तव्यता-वैशिष्ट्याभिधान से प्रश्न और उत्तर में वैयधिकरण्यापत्ति दिखाई जा चुकी है। प्रश्न-वाक्यस्थ 'चन्द्र' पद की असाधारण धर्म में लक्षणा का निमित्त सुलभ न होने के कारण चन्द्र के असाधारण स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता, अज्ञात चन्द्रस्वरूप में चन्द्र-विशेषित व्यवहार के वैशिष्ट्य का ज्ञान कैसे होगा ? अतः

न्यायामृतम्

एतेन मानान्तरसिद्धं वैशिष्ट्यमखण्डचन्द्रसिद्धावुपायमात्रमिति कल्पतरूक्तं निरस्तम्। मानान्तरेण चन्द्रप्रातिपदिकार्थः प्रकृष्टत्वादिविशिष्ट इत्यज्ञानाद्, अस्मिन् ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्र इति पृच्छता चन्द्रस्वरूपस्य प्रत्यक्षेण सुतरां ज्ञातत्वाच्च। तस्मात्साध्यवैकल्यं दुष्परिहरमित्याद्यानुमानमयुक्तम्।

तथा द्वितीयमपि अप्रसिद्धविशेषणत्वबाधसत्प्रतिपक्षत्वदृष्टान्तसाध्यवैकल्यादिदोषात् प्रकृष्टादिवाक्ये उक्तरीत्या सत्यादिवाक्येऽपि बुभुत्साद्यनुपपत्त्या ब्रह्मस्वरूप-

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञातुमशक्यत्वात् तज्ज्ञानस्यावश्यकत्वेन तेनैव वाक्यप्रामाण्योपपत्तेर्व्यवहारकर्तव्यतापरत्वे मानाभावात्। अत एवोक्तं—'मानान्तरसिद्धं प्रकृष्टप्रकाशवैशिष्ट्यमखण्डार्थसिद्धावुपायमात्र'मिति। अस्मिन् ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्र इति प्रश्नसमये प्रत्यक्षेणेव अन्यदापि प्रकारान्तरेणैव तस्य ज्ञातत्वाद्, अन्यथा तस्यानुवाद्यत्वानुपपत्तेः, चन्द्रस्वरूपे तु ज्ञातेऽप्यसङ्कीर्णज्ञानाभावात्। बुभुत्सोपपादितैवेति प्रथमानुमानमनाविलम्।

द्वितीयानुमानेऽपि नाप्रसिद्धविशेषणत्वबाधसत्प्रतिपक्षसाध्यवैकल्यादयो दोषाः। तथा हि—साध्यं तावत् ब्रह्मप्रातिपदिकार्थविशेष्यनिष्ठत्वम्, अन्यथा ब्रह्मपदस्य यौगिकत्वेन सखण्डार्थत्वप्रसङ्गात्। प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्यं च प्रातिपदिकार्थविशेष्यमात्रपरं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्यवहार-कर्त्तव्यता वैशिष्ट के लिए भी चन्द्रस्वरूप का ज्ञान आवश्यक है, चन्द्रस्वरूप का ज्ञान हो जाने मात्र से लक्षण-वाक्य का प्रामाण्य उपपन्न हो जाता है। लक्षण-वाक्य को व्यवहार-कर्त्तव्यतापरक मानने में कोई प्रमाण नहीं रह जाता, अत एव कल्पतरुकार कहते हैं—"प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति प्रकर्षप्रकाशद्वारा चन्द्रलक्षणान्न तद्वैशिष्ट्यम्, मानान्तरादेव तत्सिद्धेः, उपायस्तु वैशिष्ट्यम् अखण्डार्थसिद्धौ" (वे. क. त. पृ. ९३)। अर्थात् 'अस्मिन् ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्रः'–इस प्रकार का प्रश्न करते समय प्रत्यक्ष के द्वारा एवं अन्य समय में भी प्रकारान्तर ('चन्द्रः प्रकृष्टप्रकाशविशिष्टः, तमोनक्षत्रादिभिन्नत्वात्—इत्यादि अनुमान) से चन्द्र ज्ञात हो जाता है, अन्यथा चन्द्र में अनुवाद्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि ज्ञात पदार्थ का ही अनुवाद होता है, अज्ञात का नहीं। चन्द्रस्वरूप का प्रत्यक्षादि से ज्ञान होने पर भी असंकीर्ण ज्ञान का अभाव होने के कारण जिज्ञासाबि का उपपादन किया जा चुका है। फलतः प्रथम अनुमान में कोई दोष नहीं, वह अबाधगति से अखण्डार्थकत्व की सिद्धि करता है।

द्वितीय अनुमान (सत्यादिवाक्यं ब्रह्मप्रातिपदिकार्थनिष्ठम्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वात्, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति वाक्यवत्) में भी अप्रसिद्धविशेषणत्व, बाध, सत्प्रतिपक्ष, दृष्टान्त में साध्य-वैकल्यादि दोष प्रसक्त नहीं होते। यद्यपि 'ब्रह्म' पद यौगिक है, ('बृहि वृद्धौ' धातु से बृंहेर्नोऽच्च (उणादि० ४।१२६) सूत्र के द्वारा 'मनिन्' प्रत्यय और नकार को अत् का आदेश होने पर निष्पन्न होता है) अतः बृंहति वर्धते व्याप्नोति—इस व्युत्पत्ति के आधार पर बृहत्त्व-विशिष्ट चैतन्य का बोधक है, तथापि सत्यादि पद ब्रह्मप्रातिपदिकार्थ के घटक केवल विशेष्य (चैतन्य) मात्र के ही बोधक माने जाते हैं, विशिष्टार्थ के नहीं, अन्यथा 'ब्रह्म' पद भी सखण्डार्थक हो जायगा। अतः उक्त ब्रह्मप्रातिपदिकार्थनिष्ठत्वरूप साध्य पक्ष में विद्यमान है, बाध दोष नहीं हो सकता। दृष्टान्तभूत प्रकृष्टप्रकाश वाक्यों में भी चन्द्रप्रातिपदिकार्थ के विशेष्यांश की बोधकता प्रसिद्ध है,

न्यायामृतम्

मात्रप्रश्नोत्तरत्वस्यासिद्धेश्च । इह च कश्चन्द्र इतिवत् क्लृप्तस्य प्रश्नस्याभावात् कल्प्यस्य च क्लृप्तोत्तरानुसारेण धर्मविषयकस्यैव कल्प्यत्वाच्च । कतम आत्मेत्यत्र कतरः स आत्मेत्यत्र च त्वंपदार्थप्रश्ने" वा "बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्, "द्वयोरेकस्य

अद्वैतसिद्धिः

भवतीति सामान्यव्याप्तौ दृष्टान्ते न साध्यवैकल्यमपि । ब्रह्मप्रातिपदिकार्थविशेष्यमात्रनिष्ठत्वं हि अखण्डार्थत्वमेव । तत्प्रश्नोत्तरत्वहेतुव्युत्पादनमपि पूर्वोक्तप्रकृष्टादिवाक्यन्यायेनैवेति नासिद्धिबाधौ । प्रश्नोत्तरवैयधिकरण्यापत्तिरूपविपक्षबाधकसध्रीचीनतया सत्प्रतिपक्षाप्रयोजकत्वोपाधीनामनवकाशः ।

न च—सत्यादिरूपप्रतिवचने प्रश्नस्य कश्चन्द्र इतिवदश्रवणात्तदुत्तरानुसारेण प्रश्नवाक्ये कल्पनीये धर्मविषयकमेव तत् कल्प्यते, बाधकाभावात्, तथा चासिद्धिरिति—वाच्यम्, 'ब्रह्मविदाप्नोति परं' एकधैवानुद्रष्टव्य'मित्यादिवाक्यबलात्सत्यत्वादिवैशिष्ट्याविषयकस्यैव ब्रह्मविषयकवेदनस्य मोक्षजनकत्वात् तदतिरिक्तबुभुत्साविरहेण तद्विषयकप्रश्नवाक्यस्य कल्पयितुमशक्यत्वेन कश्चन्द्र इतीव किं ब्रह्मेत्येव वाक्यं कल्प्यत इति नासिद्धिः ।

ननु—कतम आत्मेत्यत्र कतरः स आत्मेत्यत्र च त्वंपदार्थप्रश्ने 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' 'द्वयोरेकस्य निर्धारणे डतरच्' इति सूत्राभ्यां निर्णीतजात्याद्यर्थक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अतः दृष्टान्त में साध्य-वैकल्य भी नहीं । सत्यादि पदों में जो ब्रह्मप्रातिपदिकार्थ-विशेष्य-बोधकत्व है, यही अखण्डार्थकत्व है। तत्प्रश्नोत्तरत्वरूप हेतु भी पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार पक्ष में विद्यमान है, अतः असिद्धयादि दोष भी सम्भावित नहीं । प्रश्नोत्तर-वैयधिकरण्यापत्तिरूप विपक्ष-बाधक तर्क का साहाय्य सुलभ होने के कारण सत्प्रतिपक्षत्व, अप्रयोजकत्व और उपाधि दोष भी प्रसक्त नहीं होते ।

शङ्का—जैसे कः चन्द्रः ? यह प्रश्न सुना जाता है, वैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—इस उत्तर का कोई किं ब्रह्म ? ऐसा प्रश्न श्रुति में निर्दिष्ट नहीं, उत्तर के अनुसार उसकी कल्पना करनी होगी, अतः उत्तर वाक्य में निर्दिष्ट धर्म के बोधक पद का उसमें अवश्य समावेश करना होगा, क्योंकि उसका कोई बाधक नहीं, अतः धर्म-विशिष्ट-विषयक प्रश्न और उत्तर में तन्मात्रविषयक प्रश्नोत्तरत्व असिद्ध हो जाता है।

समाधान—"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० उ० २।१।१), "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृह० ४।४।२०) इत्यादि वाक्यों के अनुरोध पर सत्यत्वादि-वैशिष्ट्याविषयक ब्रह्म-विषयक बोध में ही मोक्ष-जनकता सिद्ध होती है, अतः उससे भिन्न विशिष्ट वस्तु की जिज्ञासा ही न होने के कारण धर्म-वैशिष्ट्यविषयक प्रश्न की कल्पना नहीं कर सकते, फलतः कश्चन्द्रः ? के समान ही किं ब्रह्म ? इस प्रकार के ही प्रश्न की कल्पना करनी उचित है, अतः सत्यादि पदों में तन्मात्र विषयकप्रश्नोत्तरत्वरूप हेतु असिद्ध नहीं ।

शङ्का—'कतम आत्मा ? (बृह० उ० ४।३।७) और 'कतरः स आत्मा ?' (ऐत० ३।११)—इस प्रकार के त्वंपदार्थविषयक प्रश्नों में क्रमशः "बहूनां जातिपरि प्रश्ने डतमच्" (पा० सू० ५।३।९३) तथा "किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्" (पा० सू० ५।३।९२) इन दोनों सूत्रों के द्वारा जाति, वैशिष्ट्यादि के बोधक 'तम' आदि

न्यायामृतम्

निर्धारणे डतरच्-" इति सूत्राभ्यां जात्याद्यर्थकतमादिशब्दप्रयोगेण तत्प्रतिवचने योऽयं विज्ञानमय इत्यादौ पक्षत्वेन त्वदभिमते हेतोरसिद्धेश्च । किं च सर्वस्याप्युत्तरस्य प्रष्टृनिर्धारितप्रश्नधर्मिनिष्ठानिर्धारितैकप्रकारपरत्वाद्विरुद्धो हेतुः । यदि चोत्तरजन्यं ज्ञानं

अद्वैतसिद्धिः

तमादिपदप्रयोगात् तत्प्रतिवचने 'योऽयं विज्ञानमय' इत्यादौ पक्षे त्वदभिमतहेतोरसिद्धिः । न च--यद्यत्प्रश्नोत्तरं तत्तदखण्डार्थमिति न ब्रूमः, किन्तु यद् यत्प्रश्नोत्तरं तत्तदर्थकमिति--वाच्यम्, एवं सामान्यव्याप्त्याऽव्यभिचारेऽपि तद्बलादेतत् पक्षीकृत्याखण्डार्थत्वसाधनेऽखण्डार्थप्रश्नोत्तरत्वादिति पर्यवसितहेतावसिद्धेरनुद्धारादिति-चेत्, नैष दोषः, तात्पर्यविषयस्यैवार्थत्वेन विवक्षितत्वात्, तथा हि—धर्मवाचकपदसत्त्वेऽपि उत्तरस्य न धर्मे मुख्यतात्पर्यं, तथा प्रश्नेऽपि तद्वाचकतमादिप्रत्ययसत्त्वेऽपि न मुख्यतस्तत्परत्वम्, असाधारणात्मस्वरूपस्य मुख्यतो बुभुत्सितस्योपायत्वेन तदुपयोगाद्, आत्मस्वरूपबोधस्यैव पुरुषार्थत्वात् । न च—सर्वस्याप्युत्तरस्य प्रश्न(प्रष्टृ निर्धारितधर्मिनिष्ठानिर्धारितैकधर्मपरत्वाद्विरुद्धो हेतुरिति वाच्यम्, अनिर्धा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रत्ययों का प्रयोग हुआ है, अतः उन प्रश्नों के "योऽयं विज्ञानमयः" (बृह० उ० ४।३।७) इत्यादि उत्तररूप पक्ष में अद्वैति-सम्मत अखण्डमात्रविषयक प्रश्नोत्तरत्व असिद्ध है । यदि कहा जाय कि सभी प्रश्नोत्तरों में हम (अद्वैती) अखण्डार्थकत्व का प्रतिपादन नहीं मानते, अपितु जो प्रश्न यद्विषयक होता है, उसका उत्तर भी तद्विषयक ही होता है—यह हमारा (अद्वैती) का कहना है । तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि तब तो 'यद् यत् प्रश्नोत्तरम्, तत्तन्मात्रविषयकम्'—इस प्रकार की सामान्य व्याप्ति में व्यभिचार न होने पर भी प्रकृतोपयोगी अखण्डार्थविषयकप्रश्नोत्तरत्वात्'—ऐसा हेतु मानना होगा । तब तो "योऽयं विज्ञानमयः"—इत्यादि वाक्यों को पक्ष बना कर अखण्डार्थकत्व के लिए प्रयुक्त 'अखण्डार्थविषयकप्रश्नोत्तरत्व' हेतु स्वरूपासिद्धि से ग्रस्त हो जाता है ।

समाधान—'तन्मात्रार्थकत्वात्'—इस हेतु का अर्थ है—तात्पर्यविषयीभूतार्थपरत्वात् । जैसे उत्तर वाक्य में धर्म-वाचक पद के होने पर भी उत्तर वाक्य का धर्म में मुख्य तात्पर्य नहीं होता, वैसे ही प्रश्न में भी धर्मादि वाचक 'तम' आदि प्रत्ययों का प्रयोग होने पर भी धर्मादि में मुख्य तात्पर्य नहीं होता, क्योंकि असाधारण आत्मस्वरूप ही मुख्यरूप से बुभुत्सित होता है, उसी के ज्ञान का सत्यत्वादि धर्म-वैशिष्ट्य-ज्ञान एक उपायमात्र है—यह ऊपर कल्पतरु की उक्ति से सिद्ध किया जा चुका है । फलतः अखण्डार्थ-बोध ही मुख्य परम पुरुषार्थरूप मोक्ष का साधनीभूत पुरुषार्थ है ।

शङ्का—जैसे किमयं स्थाणुः ? इस प्रश्न में कोई ऊँची-सी वस्तु (धर्मी) निर्धारित है, किन्तु उसमें स्थाणुत्वरूप धर्म का निर्धारण (निश्चय) नहीं, उसका निर्धारण 'स्थाणुरयम्'-इस प्रकार के उत्तर में होता है; वैसे ही सभी उत्तर वाक्य प्रश्न-कर्त्ता द्वारा निर्धारित धर्मी में अनिर्धारित धर्म या उसके वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते हैं, अतः सत्यादि वाक्यों में ब्रह्मप्रातिपदिकार्थ या अखण्डार्थ मात्र का प्रतिपादन नहीं, अपितु सत्यत्वादि धर्मों का प्रतिपादन है, अतः तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वरूप हेतु साध्यासमानाधिकरण या साध्याभाव-व्याप्त होने से विरुद्धनामक असद्धेतु है ।

समाधान—उत्तर वाक्यों में प्रष्टा-द्वारा अनिर्धारित वस्तु का निर्धारणमात्र

न्यायामृतम्

निष्प्रकारकं स्यात् , तेन सप्रकारकसन्देहनिवृत्तिर्न स्यात् । यदि चोत्तरं प्रश्नादधिकविषयं न स्यात्तर्ह्युत्तरमेव न स्याद् , अन्यथा प्रश्न एव उत्तरं स्यात् । किं करोति किमानेयम् ? इत्यादि प्रश्नोत्तरेषु अध्ययनं करोति गामानयेत्यादिषु व्यभिचाराच्च । न हि तान्यप्यध्ययनत्वगोत्वादित्यागेन लक्षणया कर्मादिमात्रपराणि ।

अद्वैतसिद्धिः

रितनिर्धारणत्वेनैवोत्तरतोपपत्तौ तादृग्धर्मपरत्वस्योत्तरत्वाप्रयोजकत्वेन नियमासिद्धेः । ननु कथं स्वरूपमात्रपरस्य निर्धारकत्वम् ? लक्षणवाक्यत्वादिति गृहाण । न च—एवमुत्तरजन्यज्ञानस्य निष्प्रकारकतया कथं सप्रकारकसंशयनिवर्तकत्वमिति—वाच्यम् , निष्प्रकारकत्वेऽपि संशयनिवर्तकताया उपपादितत्वात् ।

ननु—यदि प्रश्नादुत्तरमधिकविषयं न स्याद् , उत्तरमेव न स्यात् , प्रश्न एवोत्तरं स्यादिति—चेन्न, प्रश्नादनधिकविषयत्वेऽपि असाधारणधर्मवाचकपदवत्त्वेन निर्विचिकित्सधर्मिप्रतिपादकत्वेन चोत्तरत्वसंभवात् । अत एव प्रश्नो नोत्तरम् , तत्प्रयोजकरूपविरहात् । न च—किं करोति किमानेयमित्यादिप्रश्नोत्तरे अध्ययनं करोति गामानयेत्यादौ व्यभिचारः, न हि तत्राध्ययनत्वगोत्वादित्यागेन लक्षणया कर्मादिमात्रपरत्वमिति—वाच्यम् , अत्र हि न कृत्यानयनयोः प्रश्नः, किंतु कृतिकर्मानयनकर्मणोः, अन्यथा किं करणं किमानयनमित्येव पृच्छेत् । तथा च प्रश्नोत्तरयोरध्ययनत्वावि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होता है, धर्मविषयकत्व का नियम नहीं, क्योंकि धर्मपरकत्व उत्तरत्व का प्रयोजक नहीं माना जाता । उत्तर वाक्य स्वरूपमात्र के निर्धारक क्यों होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर है—लक्षणवाक्यत्वात् । उत्तरवाक्य-जन्य बोध यदि निष्प्रकारक (अखण्डार्थविषयक) है, तब वह सप्रकारक संशय ज्ञान का निवर्तक क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि निष्प्रकारक ज्ञान भी संशय का निवर्तक होता है ।

शङ्का—कः चन्द्रः ? इस प्रश्न का चन्द्रः—इतना मात्र उत्तर नहीं होता, अपितु 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः', इससे यह सिद्ध होता है कि प्रश्न की अपेक्षा सभी उत्तर वाक्य अधिकविषयक होते हैं, अन्यथा (प्रश्नसमानविषयक वाक्य को उत्तर मानने पर) उत्तर को उत्तर ही नहीं कहा जा सकता और प्रश्न ही उसका उत्तर हो जायगा, जो कि सर्वथा अनुचित है ।

समाधान—यद्यपि उत्तर-वाक्य प्रश्न-वाक्य की अपेक्षा अधिकार्थविषयक नहीं होता, तथापि असाधारण धर्म-वाचक पद से संवलित या असन्दिग्ध धर्मी का प्रतिपादक होने के कारण उत्तर कहलाता है । अत एव प्रश्न को उसका उत्तर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें अनिर्धारित-निर्धारणस्वरूप उत्तरत्व-प्रयोजक धर्म नहीं होता ।

शङ्का—'किं करोति ?' 'किमानेयम् ?' इन प्रश्नों की अपेक्षा उनके 'अध्ययनं करोति', 'गामानय'—इन उत्तरों में अधिक विषयता स्पष्ट है, अतः इनमें 'तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्व' व्यभिचारी है, क्योंकि उनमें अध्ययनत्व और गोत्व को छोड़कर लक्षणा के द्वारा क्रिया मात्र का प्रतिपादन नहीं हो सकता ।

समाधान—यहाँ पर कृति और आनयन मात्र के विषय में प्रश्न नहीं, अपितु कृति और आनयन के कर्मकारकों की जिज्ञासा उठाई जाती है, अन्यथा किं करणम् ? किमानयनम् ? ऐसा पूछा जाता । यहाँ अध्ययनत्व और गोत्व से विशिष्ट कर्मता न प्रश्न

न्यायामृतम्

एतेन सत्यादिवाक्यार्थः ब्रह्मप्रातिपदिकार्थमात्रं तन्मात्रप्रश्नोत्तरवाक्यार्थत्वादिति न्यायदीपावल्युक्तं व्यतिरेक्यनुमानं निरस्तम्। किं चैकप्रातिपदिकार्थप्रश्नोत्तरत्वेन कथमखण्डार्थत्वम् ?

स्वार्थो द्रव्यं तथा लिंगं संख्या कर्मादयोऽपि च।
नामार्थपंचकं प्राहुराद्यं त्रिकमथापरे॥

इति वैयाकरणमते त्वदेकदेशिभिः मया प्राभाकरैश्च स्वीकृतान्विताभिधानमते अभिहितान्वयपक्षेऽपि जातिविशिष्टायां व्यक्तौ शक्तिरिति तार्किकमते च प्रातिपादि-

अद्वैतसिद्धिः

विशिष्टकर्माविषयत्वाद्, यद् यत्प्रश्नोत्तरं तत्तदर्थकमिति सामान्यव्याप्तौ व्यभिचाराभावात्। एवं सति—सत्यादिवाक्यार्थो ब्रह्मप्रातिपदिकार्थमात्रं तन्मात्रप्रश्नोत्तरवाक्यार्थत्वादित्यादि न्यायदीपावलीस्थमप्यनुमानं- साधु।

ननु—एकप्रातिपदिकार्थमात्रप्रश्नोत्तरत्वेन एकप्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वेऽपि कथमखण्डार्थत्वम् ? पञ्चकस्य त्रिकस्य वा वैयाकरणमते प्रातिपदिकार्थत्वात्। तदुक्तम्—

स्वार्थो द्रव्यं तथा लिङ्गं संख्या कर्मादयोऽपि च।
नामार्थपञ्चकं प्राहुराद्यं त्रिकमथापरे॥ इति।

प्राभाकरमतेऽस्मदेकदेशिमते चान्वितस्यैव प्रातिपदिकार्थत्वाच्च, अभिहितान्वय-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का विषय है और न उत्तर का, अपितु कर्मकारकमात्र दोनों का विषय है, अतः यद् यत्प्रश्नोत्तरम्, तत्तदर्थकम्'—इस प्रकार की सामान्य व्याप्ति में किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं। इसी प्रकार न्यायामृतकार-द्वारा आलोचित 'सत्यादिवाक्यार्थो ब्रह्मप्रातिपदिकार्थमात्रम्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरवाक्यार्थत्वात्'—इत्यादि न्यायदीपावलीकार का अनुमान भी निर्दोष है, क्योंकि किं ब्रह्म ? इस प्रश्न का उत्तर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' प्रश्नसमानविषयक ही है, एक ही अखण्ड ब्रह्मस्वरूप सभी का विषय है, अतः ब्रह्मप्रतिपदिकार्थ और सत्यादि-वाक्यार्थ में कोई अन्तर नहीं।

शङ्का—प्रातिपदिकार्थ के विषय में आचार्यों का मतभेद है—

स्वार्थो द्रव्यं तथा लिङ्गं संख्या कर्मादयोऽपि च।
नामार्थपञ्चकं प्राहुराद्यं त्रिकमथापरे॥

[अर्थात् कुछ आचार्य प्रातिपदिक के (१) स्वार्थ (गोत्वादि जाति), (२) द्रव्य (व्यक्ति), (३) लिङ्ग (पुंस्त्वादि), (४) संख्या (एकत्वादि) तथा (५) कर्मादि कारक—ये पाँच अर्थ मानते हैं, किन्तु अन्य आचार्य आदिम तीन (स्वार्थ, द्रव्य और लिङ्ग) ही प्रातिपदिकार्थ मानते हैं। श्री कौण्डभट्ट ने भी नामार्थ-निरूपण में कहा है—

एकं द्विकं त्रिकं चाथ चतुष्कं पञ्चकं तथा।
नामार्थ इति सर्वेऽमी पक्षाः शास्त्रे निरूपिताः॥ (वै.भू.सा. २५)

अर्थात् आचार्यगण मतभेद से (१) जाति, (२) जाति और व्यक्ति, (३) जाति, व्यक्ति एवं लिङ्ग, (४) जाति, व्यक्ति, लिङ्ग एवं संख्या, (५) जाति, व्यक्ति, लिङ्ग, संख्या एवं कारक को प्रातिपदिकार्थ मानते हैं]। इस प्रकार जो अनेक-समुच्चयरूप प्रातिपदिकार्थ को अखण्ड नहीं कहा जा सकता। प्राभाकर और कुछ द्वैतवादी विद्वान् अन्वित (कर्मत्वादि से विशिष्ट) गवादि को प्रातिपदिकार्थ मानते हैं, वह भी सखण्ड

न्यायामृतम्

कार्थस्यैव विशिष्टत्वात् । जातावेव शक्तिर्व्यक्तिस्तु लक्ष्येति भाट्टानां तच्च च मते ब्रह्म-

अद्वैतसिद्धिः

वादिमतेऽपि जातिविशिष्टाया एव व्यक्तेः प्रातिपदिकार्थत्वपक्षे प्रातिपदिकार्थस्यैव विशिष्टत्वाच्च । जातावेव शक्तिः व्यक्तिस्त्वाक्षेपलभ्येति मते प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वेन विशेष्यचन्द्रादिव्यक्तिपरत्वं न स्यात् । ब्रह्मपदस्य यौगिकत्वेन सुतरामस्य प्रातिपदिकार्थस्य विशिष्टत्वादिति—चेन्न, ब्रह्मप्रातिपदिकार्थविशेष्यांशमात्रपरत्वस्य साध्यत्वात् । तथा च प्रातिपदिकार्थस्य विशिष्टत्वेऽप्यखण्डार्थत्वसिद्धिः, 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्र' इत्यत्र लिङ्गादेरपि प्रातिपदिकार्थत्वेन तद्ग्रहणवैयर्थ्यमाशङ्क्य प्रातिपदिकार्थपदस्य लिङ्गाद्यविशिष्टस्वरूपमात्राभिधायकतया समाधानस्याभियुक्तैरुक्तेश्च । यत्तु पञ्चकत्वादिकं प्रातिपदिकार्थस्योक्तं, तदनङ्गीकारपराहतं युक्तिविरुद्धं च, द्रव्यादिप्रातिपदिकाद् गुणकर्मणोरप्राप्तेः । अन्यथा द्रव्यमित्युक्ते 'नीलं पीतं वा ? चलति न वा? इति सन्देहो न स्यात् । न च—जिज्ञासान्यथानुपपत्त्या सामान्यतस्तदुक्ता-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ही है । अभिहितान्वयवाद में भी जो जाति-विशिष्ट व्यक्ति को प्रातिपदिकार्थ मानते हैं, उनके मत में भी विशिष्टात्मक ही प्रातिपदिकार्थ होता है । जो लोग जाति में ही पद की शक्ति और व्यक्ति को आक्षेप-लभ्य मानते हैं, उनके मत में लक्षण-वाक्य जातिरूप प्रातिपदिकार्थ का बोधक होता है, चन्द्ररूप विशेष्य व्यक्ति का बोधक नहीं होता । 'ब्रह्म' पद यौगिक होने के कारण वृद्धिरूप उत्कर्ष से विशिष्ट अर्थ का ही वाचक माना जाता है, अखण्डार्थ का नहीं ।

समाधान—वाच्यार्थ सखण्ड होने पर भी लक्ष्यार्थ अखण्ड ही होता है अतः 'ब्रह्म' प्रातिपदिक विशेष्यभूत अखण्ड चैतन्यपरक ही होता है । इसीलिए 'सत्यादिवाक्यं प्रातिपदिकार्थविशेष्यनिष्ठम्'—ऐसा साध्य बनाया गया है, अतः प्रातिपदिकार्थ के विशिष्टात्मक होने पर भी सत्यादि वाक्यों में अखण्डार्थत्व सिद्ध हो जाता है । यह जो कहा गया कि प्रातिपदिकार्थ की कक्षा में लिङ्गादि अनेक अर्थों का समावेश होता है, वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि "लिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" (पा० सू० २।३।४६) इस सूत्र में महाभाष्यकार ने कहा है कि [“अथ लिङ्गग्रहणं किमर्थम् ? 'स्त्री', 'पुमान्', 'नपुंसकम्'—इत्यत्रापि यथा स्यात् । नैतदस्ति प्रयोजनम् , एष एवाऽत्र प्रातिपदिकार्थः । इदं तर्हि—कुमारी, वृक्षः, कुण्डमिति । अर्थात् जब लिङ्गादि भी प्रातिपदिकार्थ के अन्तर्गत हैं, तब लिङ्गादि का पृथक् ग्रहण क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि पुंस्त्व और नपुंसकत्व के बिना कुमारी, स्त्रीत्व और नपुंसकत्व के बिना वृक्षः एवं पुंस्त्व और स्त्रीत्व के बिना कुण्डम्—इत्यादि में प्रथमा का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि] प्रातिकार्थत्व से व्यभिचरित होने के कारण लिङ्गादि प्रातिपदिकार्थ नहीं, अपितु उससे अव्यभिचरित वस्तुस्वरूप मात्र ही प्रातिपदिकार्थ होता है । यह जो प्रातिपदिकार्थ में पञ्चत्वादि का अभिधान है, वह हमें अङ्गीकृत नहीं, क्योंकि वह युक्ति-विरुद्ध है—द्रव्यार्थक प्रातिपदिक से गुण और कर्म का बोध नहीं होता, अन्यथा द्रव्यम्—ऐसा कह देने पर वह द्रव्य नील है ? या पीत ? चलता है ? या नहीं ? इत्यादि गुण-कर्मविषयक सन्देह नहीं होना चाहिए, क्योंकि द्रव्यम्—इतना कह देने मात्र से जैसे प्रातिपदिकार्थभूत द्रव्य का निश्चय हो जाने से द्रव्यम् ? न वा ? यह सन्देह नहीं होता, वैसे ही उसी प्रातिपदिकार्थ के अन्तर्गत नीलादि गुण और चलनादि क्रिया का भी

न्यायामृतम्

प्रातिपदिकस्यैव यौगिकत्वेन तदर्थस्य विशिष्टत्वात्। न च प्रातिपदिकार्थे पृष्टे तदेकदेशोक्तिर्युक्ता।

किं चाप्रयोजका हेतवः, तथा हि—विपक्षे बाधकं किं ब्रह्मस्वरूपमात्रस्यैव बुभुत्सितत्वम्? "एकधैवानुद्रष्टव्यम्"- इत्याद्यभेदविधायकवाक्यं वा? "उदरमन्तरं कुरुत" इति भेदनिषेधकवाक्यं वा? "केवलो निर्गुणश्चे" त्यादिगुणनिषेधकवाक्यं वा?" "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादिद्वितीयमात्रनिषेधकवाक्यं वा? सर्वतोऽनवच्छिन्नवस्तुपरानन्तब्रह्मशब्दो वा? नाद्यः, निरस्तत्वात्। सत्यादिवाक्ये च सत्सु विशेषणेषु सत्सु-

अद्वैतसिद्धिः

अपि विशिष्यानभिधानात् सन्देह इति—वाच्यम्, द्रव्यत्वाद्याक्षिप्तसामान्यज्ञानादेव जिज्ञासोपपत्तेः, सङ्ख्याकर्मत्वादीनां च वचनविभक्त्यादिनैव प्राप्तेश्च। अन्विताभिधानरूपैकदेशिमतमपि न युक्तिसहम्, अन्वयस्याकाङ्क्षादिसहकारिवशात् पदार्थमात्रशक्तादेव सिद्धेः। न च प्रातिपदिकार्थमात्रपरस्य कथमेकदेशपरत्वम्? विशेषणस्यानाकाङ्क्षितत्वेन प्रागेव तदुपपादनात्।

न चाप्रयोजकत्वम्, स्वरूपमात्रबुभुत्साप्रवृत्तत्वरूपविपक्षबाधकस्योक्तत्वात्।

ननु—सत्यादिवाक्ये सत्सु विशेषणेषु सत्सुतिकविधिवाक्ये प्राशस्त्य इव

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

निश्चय हो जाने से उक्त सन्देह क्योंकर होगा?

शङ्का—वस्तु के सर्वथा ज्ञात होने पर किमिदं द्रव्यं नीलम्? इस प्रकार की जिज्ञासा नहीं बन सकती, अतः प्रातिपदिक के द्वारा सामान्यतः गुणादि का अभिधान होने पर भी विशेषतः (नीलत्व–पीतत्वादिरूप से) अनभिधान होने के कारण उक्त सन्देह हो जाता है।

समाधान—प्रातिपदिक के द्वारा गुणादि का सामान्यतः अभिधान मानने की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'गुणवद् द्रव्यम्'—ऐसा नियम होने के कारण द्रव्यत्वमात्र के कथन से ही सामान्यतः गुण का ज्ञान आक्षिप्त हो जाता है, जिससे जिज्ञासा उपपन्न हो जाती है। इसी प्रकार संख्या और कर्मत्वादि को भी प्रातिपदिकार्थ मानसे की आवश्यकता नहीं, क्योंकि एकवचनादि एवं द्वितीयादि विभक्ति के द्वारा संख्या और कर्मत्वादि का लाभ हो जाता है, अन्यथा लभ्य अर्थ वाच्य-कक्षा में प्रविष्ट नहीं होता।

अन्विताभिधानरूप एकदेशिमत भी युक्ति-संगत नहीं, क्योंकि शाब्दबोध की आकांक्षादि सहायक सामग्री से सहकृत स्वरूपमात्रार्थक शब्दों के द्वारा ही अन्वय (संसर्ग) का लाभ हो जाता है, जैसा कि कहा गया है—"एकपदार्थेऽपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते।" सत्यत्वादिविशिष्ट चैतन्य के बोधक सत्यादि शब्दों से केवल चैतन्यरूप अखण्ड तत्त्व का बोध कैसे होगा? इस प्रश्न का पहले ही उत्तर दिया जा चुका है कि विशेषण अंश आकांक्षित नहीं। अखण्डार्थ-साधक उक्त अनुमान में अप्रयोजकत्व दोष भी नहीं, क्योंकि 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्'—इत्यादि से प्रसाधित स्वरूप मात्र की बुभुत्सा के प्रशमनार्थ प्रवृत्त सत्यादि पदों में स्वरूपमात्र की बोधकता ही न्यायोचित है—इस प्रकार की औचिती ही अप्रयोजकत्व-शङ्का की बाधिका है।

शङ्का—यह जो कहा गया कि सत्यत्वादि विशेषण आकांक्षित नहीं, वह कहना उचित नहीं, क्योंकि जब सत्यादि वाक्यों में सत्यत्वादि विशेषणों का ग्रहण किया गया

न्यायामृतम्

तिकविधिवाक्ये प्राशस्त्य इव रक्तपटन्यायेनाकांक्षाया उत्थापनीयत्वाच्च । उक्तं हि— "आकांक्षणीयाभावनिमित्तो ह्याकांक्षाभाव" इति । निष्प्रकारकज्ञानस्याद्याप्यसिद्ध्या सप्रकारज्ञानस्यैव मोक्षहेतुतया ब्रह्मविदाप्नोति परम् इत्यनेन प्रतीत्या "तमेवंविद्वानमृत इह भवती" त्यादिश्रुत्या "यो वेद निहितं गुहाया" मित्युत्तरवाक्येन चोक्त्या च

अद्वैतसिद्धिः

विशेषणार्थेऽपि रक्तपटन्यायेनाकाङ्क्षोत्थापनीया, उक्तं हि—'आकाङ्क्षणीयाभाव आकांक्षाया अभाव' इतीति—चेन्न, सत्यादिवाक्ये विशेषणे सत्यपि न तद्गोचराकाङ्क्षाकल्पनम्, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यत्र विशेषणे सत्यपि कश्चन्द्र इति स्वरूपमात्राकाङ्क्षादर्शनात्। न च तत्रापि तत्कल्पनम्, तत्कल्पनं विनापि व्यावृत्तिबोधमात्रेणैव तत्सार्थकत्वोपपत्तेः। व्यावृत्तिविशेषबोधश्च विशेषणपरत्वाभावेऽपि तद्द्वारकस्वरूपमात्रज्ञानमात्रेणैवोपपद्यते।

ननु—सप्रकारकज्ञानस्यैव मोक्षहेतुतया 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यर्थेन 'य एवं-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है, तब विशेषणों की सार्थकता के लिए कीदृशं ब्रह्म ? इस प्रकार की आकाङ्क्षा उठानी वैसे ही आवश्यक है, जैसे "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति" (तै० सं० २।१।१) इत्यादि अर्थवाद (स्तुतिवाक्य) से युक्त "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः" (तै० सं० २।१।१) इस विधि वाक्य में कर्मगत प्राशस्त्य के समान क्षेपिष्ठत्वादि विशेषणों की सार्थकता ज्ञापनार्थ कीदृशं कर्म ? इस प्रकार की आकांक्षा रक्तपटन्याय से उठाई जाती है [रक्तः पटो भवति यहाँ पर पटो भवति— ऐसा कह देने मात्र से वाक्यार्थ-बोध सम्पन्न हो जाता है, किसी प्रकार की आकांक्षा स्वतः नहीं उठती, तथापि रक्त विशेषण की सार्थकता के लिये कीदृशः पटः ? ऐसी आकांक्षा उठाई जाती है और उसका शमन करने के लिए कहा जाता है—रक्तः । इसी प्रकार कीदृशं कर्म ? इस आकांक्षा की निवृत्ति 'क्षिप्रगतिकवायुदेवताकत्वात् प्रशस्तम्'—ऐसा कह कर एवं कीदृशं ब्रह्म ? इस आकांक्षा की शान्ति सत्यं ब्रह्म, पुनः कीदृशम् ? ज्ञानम्, पुनः कीदृशम् ? अनन्तम्—ऐसा कह कर की जाती है] । अर्थवाद-रहित विधि वाक्यों में कीदृशम्—इस प्रकार की आकांक्षा ही नहीं उठती, क्योंकि वहाँ आकांक्षणीय किसी विशेषण का ग्रहण नहीं होता, जैसा कि कहा गया है—"आकांक्षणीयाभावे आकांक्षाया अभावः" ।

समाधान—एकधैवानुद्रष्टव्यम्—इत्यादि वाक्यों के अनुरोध पर केवल निष्प्रकारक ब्रह्मस्वरूप ही बुभुत्सित होता है, सविशेषणक नहीं, अतः सत्यादि वाक्यों में सत्यत्वादि विशेषणों का ग्रहण होने पर भी सत्यत्वादिविषयक आकांक्षा की कल्पना वैसे ही नहीं कर सकते, जैसे 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'—यहाँ पर प्रकृष्टत्वादि विशेषणों के रहने पर भी उनकी आकांक्षा नहीं उठती, क्योंकि कश्चन्द्रः ? इस प्रकार चन्द्रस्वरूपमात्र की जिज्ञासा होती है । 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'—यहाँ पर भी आकांक्षा की कल्पना होती है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आकांक्षा की कल्पना के विना ही खद्योत और अन्धकारादि की प्रकृष्ट और प्रकाश पदों के द्वारा व्यावृत्ति का बोध हो जाने मात्र से प्रकृष्टादि पदों की सार्थकता हो जाती है, व्यावृत्ति-बोध के लिए प्रकृष्टादि पदों को विशेषणपरक मानने की कोई आवश्यकता नहीं, उनके द्वारा चन्द्रस्वरूप का बोध हो जाने से व्यावृत्ति ज्ञान सम्पन्न हो जाता है।

न्यायामृतम्

मुमुक्षोः प्रकार एव धर्मिज्ञानसाध्यबुभुत्सौचित्याच्च। निर्गुणवाक्यवत् सगुणवाक्यस्यापि ब्रह्मबुभुत्सायां कर्मकाण्डस्य च कर्मबुभुत्सायां वैद्यादिशास्त्रस्याप्यौषधादिबुभुत्सायां प्रवृत्ततया लक्षणया सगुणवाक्यमप्यखण्डब्रह्मपरं कर्मकाण्डमप्यखंडकर्मपरं

अद्वैतसिद्धिः

विद्वानमृत इह भवती'ति श्रुत्या 'यो वेद निहितं गुहाया' मित्युत्तरवाक्येन च मुमुक्षोः सप्रकारक एव धर्मिज्ञाने साध्ये बुभुत्सोचितेति—चेन्न, निष्प्रकारकज्ञानस्यैव स्वरूपोपलक्षणोपलक्षिताधिष्ठानज्ञानत्वेन भ्रमादिनिवृत्त्या मोक्षहेतुतायाऽउपपादितत्वेन तदनुरोधाद् ब्रह्मविदित्यादेः सप्रकारकब्रह्मज्ञानपरतायां मानाभावात्। य एवं विद्वानित्यस्यार्थं इतरप्रकारत्वं नार्थः, किंतु एवंप्रकारोपलक्षितत्वम्, एकधैवेत्याद्यनुसारात्। न च—एवं सगुणवाक्यस्यापि ब्रह्मबुभुत्सायां कर्मकाण्डस्यापि कर्मबुभुत्सायां वैद्यकादिशास्त्रस्यापि औषधादिबुभुत्सायामखण्डब्रह्माखण्डकर्माखण्डौषधादिपरत्वं स्यादिति—वाच्यम्, नहि वयं बुभुत्साप्रवृत्तवाक्यत्वमात्रेणाखण्डार्थत्वं ब्रूमः, किंतु स्वरूपमात्र-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—सत्यादि वाक्य के द्वारा सप्रकारक ज्ञान ही मोक्ष का हेतु सिद्ध होता है, क्योंकि उसके उपक्रम में "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० उ० २।१।१) कहा गया है, अतः इसी अर्थ में "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २।१।१) का तात्पर्य माना है—"तदेषाऽभ्युक्ता" इसका अर्थ करते हुए भाष्यकार ने कहा है—तत्तस्मिन्नेव ब्राह्मणवाक्योक्तार्थे एषा ऋगभ्युक्ताऽऽम्नाता। सत्यादीनि त्रीणि विशेषणार्थानि पदानि विशेष्यस्य ब्रह्मणः। सत्यादिभिः त्रिभिर्विशेषणैर्विशेष्यमाणं ब्रह्म विशेष्यान्तरेभ्यो निर्धार्यते"। "य एवं विद्वानमृत इह भवति" (नृ० ता० ११६) इस एवंप्रकारक बोधपरक श्रुति तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' के उत्तर भावी "यो वेद निहितं गुहायाम्" (तै० उ० २।१।१) इस वाक्य के द्वारा सप्रकारक ब्रह्म-ज्ञान की ही बुभुत्सा प्रतीत होती है। उत्कर्षविशिष्टचैतन्यविषयक अज्ञान उत्कर्षविशिष्टविषयक ज्ञान से ही निवृत्त हो सकता है, अतः निष्प्रकारक या अखण्डविषयक ज्ञान मोक्ष का साधन सिद्ध नहीं होता।

समाधान—निष्प्रकारक ब्रह्म-ज्ञान ही स्वरूपात्मक उपलक्षण से उपलक्षित अधिष्ठान-ज्ञान होने के कारण भ्रमादि-निवृत्ति के द्वारा मोक्ष का हेतु पहले कहा जा चुका है, उसके बल पर 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'—इत्यादि वाक्यों में निष्प्रकारकज्ञानपरता ही प्रमाणित होती है, सप्रकारक ज्ञान-बोधकता नहीं। 'य एवंविद्वान्—इस वाक्य का 'एवंप्रकारकज्ञानवान्'—ऐसा अर्थ विवक्षित नहीं, अपितु एकधैवानुद्रष्टव्यम्'—इत्यादि श्रुतियों के अनुसार एवंप्रकारोपलक्षितज्ञानवान्- ऐसा ही अर्थ अभिमत है।

शङ्का—यदि जिज्ञासा-शमनार्थ प्रयुक्त सत्यादि वाक्य अखण्ड ब्रह्मपरक माने जाते हैं, तब ब्रह्मबुभुत्सा निवृत्त्यर्थ प्रवृत्त निर्गुणब्रह्म-प्रतिपादक वाक्यों के समान ही सगुण ब्रह्म-बोधक वाक्य भी अखण्ड ब्रह्मपरक, कर्म-बुभुत्सा में आम्नात कम-काण्ड अखण्डकमपरक और औषादि-बुभुत्सा-शामक वैद्यक शास्त्र अखण्ड औषधपरक ही हो जायगा। इस प्रकार यह अनुमान पर्यवसित होता है—'सगुणादिवाक्यम् अखण्डार्थपरम्, जिज्ञासापूर्वकप्रवर्तमानत्वात्, निर्गुणवाक्यवत्।'

समाधान—बुभुत्सापूर्वकप्रवृत्त वाक्यमात्र को हम अखण्डार्थक नहीं मानते, अपितु स्वरूपमात्रविषयकजिज्ञासापूर्वक प्रयुक्त वाक्यों को ही अखण्डार्थक मानते हैं।

न्यायामृतम्

वैद्यादिशास्त्रमप्यखण्डौषधादिपरमित्यापाताच्च। अस्ति च धर्मं इव ब्रह्मण्यप्यलक्षणरूपं वाक्यं न मध्यमाः तेषां चैक्यभेदाभावादिविशिष्टपरत्वे वेदान्तमात्रस्याखण्डार्थत्वासिद्धेः सत्यशुद्धान्यमिथ्याविशिष्टार्थपरत्वे प्रामाण्यायोगाच्च। तेषामेव लक्षणयाऽखण्डार्थता सत्यादिवाक्यस्य तु सत्यत्वादिविशिष्टार्थपरतेति वपरीत्यापाताच्च।

अद्वैतसिद्धिः

बुभुत्साप्रवृत्तवाक्यत्वेन। न च तत्रापि स्वरूपमात्रबुभुत्सा, विशिष्टपरत्वे बाधकाभावात्। तत्रापि चेल्लक्षणवाक्यादौ तथा, तदेष्टापत्तेश्च।

न च तर्हि सगुणवाक्यानां सत्यशुद्धान्यमिथ्याविशिष्टार्थपरत्वेन प्रामाण्यायोगः, कर्मकाण्डवद्व्यावहारिकप्रामाण्याविरोधात्। ननु— ब्रह्मणि धर्म इवालक्षणवाक्यमस्ति, तदप्यखण्डार्थं स्यादिति—चेन्न, अवान्तरतात्पर्यमादाय चेत्, तदा ब्रह्मपरत्वस्यैवाभावात् महातात्पर्यमादाय चेत्तदेष्टापत्तेः। किंच 'एकधैवानुद्रष्टव्य'मित्याद्यनेकाकारनिषेधकवाक्यं 'उदरमन्तरं कुरुत' इत्यादिभेदनिषेधकवाक्यं 'केवलो निर्गुणश्चे'ति गुणनिषेधकं 'एकमेवाद्वितीय'मिति द्वितीयमात्रनिषेधकवाक्यं च बाधकं, तथा सर्वतो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उक्त स्थलों पर भी स्वरूप मात्र की जिज्ञासा है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि निर्गुण-प्रकरण में श्रुत 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' के समान उक्त स्थलों पर विशिष्टपरता का कोई बाधक प्रतीत नहीं होता। उक्त स्थलों पर भी यदि लक्षण-वाक्यों में स्वरूप मात्रविषयक जिज्ञासापूर्वकत्व माना जाता है, तब वहाँ भी लक्षण-वाक्यों में अखण्डार्थपरता अभीष्ट ही है। यदि सगुण-वाक्य अखण्डार्थक नहीं अपि तु अबाधित शुद्ध ब्रह्म से भिन्न बाधित विशिष्टार्थ के बोधक हैं, तब उनमें अबाधितार्थ-विषयकत्वरूप प्रामाण्य कैसे बनेगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उनमें अबाधितार्थ-विषयकत्वरूप तात्त्विक प्रामाण्य सम्भव न होने पर भी व्यवहारकालाबाध्य-विषयकत्व अथवा तद्वति तत्प्रकारकत्वरूप व्यावहारिक प्रामाण्य वैसे ही अक्षुण्ण रहता है, जैसे कर्मकाण्ड में।

शङ्का—ब्रह्म के विषय में भी धर्मविषयक अग्निहोत्रं जुहोति—इत्यादि वाक्यों के समान नेह नानास्ति—इत्यादि वाक्य अलक्षण वाक्य हैं किन्तु आप (अद्वैती समस्त वेदान्तशास्त्र को ही अखण्डार्थपरक मानते हैं, तब वेदान्तघटक अलक्षण वाक्य भी अखण्डार्थक मानने पड़ेंगे।

समाधान—समग्र वेदान्त-वाक्यों का परम तात्पर्य ही अखण्ड ब्रह्म में माना जाता है, अवान्तर तात्पर्य नहीं, अवान्तर तात्पर्य तो ब्रह्म से भिन्न अर्थ के प्रतिपादन में भी माना जाता है, आप (द्वैतवादी) यदि परम तात्पर्य को लेकर वेदान्तान्तर्गत अलक्षण वाक्यों में अखण्डार्थकत्व का आपादन करते हैं, तब हमें (अद्वैतवादी को) इष्टापत्ति है और यदि अवान्तर तात्पर्य को लेकर वैसा करते हैं, तब उनमें ब्रह्मपरत्व ही नहीं माना जाता, अखण्ड ब्रह्मपरकत्व तो दूर रहा। दूसरी बात यह भी है कि अलक्षण वाक्य अनेकाकारविषयक, भेदपरक, गुणार्थक एवं द्वैतार्थ होते हैं, अतः उनमें अखण्डार्थपरता का निषेध "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृह० उ० ४।४।२०), "उदरमन्तरं कुरुतेऽथ (जो व्यक्ति ब्रह्म से अपना उत्—थोड़ा भी अन्तर—भेद समझता है) तस्य भयं भवति" (तै० उ० २।७।१), "केवलो निर्गुणश्च" (श्वेता० ६।११) तथा "एकमेवाद्वितीयम्" (छां० ६।२।१) इस प्रकार के वाक्य करते हैं, क्योंकि ये वाक्य

न्यायामृतम्

उभयोरपि मुमुक्षुज्ञेयब्रह्मपरत्वाविशेषात्। न चास्यां दशायां ब्रह्मण्यभावरूप एव धर्मो मुमुक्षुणा ज्ञेयो न तु भावरूप इति सिद्धं तेषां लक्षणयाऽखण्डार्थत्वे तु न तद्विरोधेन विशिष्टार्थस्य सत्यादिवाक्यस्य मुख्यार्थत्यागः विशेष्यपरस्य विशिष्टपरेणाविरोधात्।

अद्वैतसिद्धिः

ऽनवच्छिन्नवस्तुपरानन्तशब्दब्रह्मशब्दौ च। न च--तेषामैक्यभेदाभावादिविशिष्टार्थपरत्वे वेदान्तमात्रस्याखण्डार्थत्वासिद्धिः, सत्यशुद्धान्यमिथ्याविशिष्टार्थपरत्वे प्रामाण्यायोग इति—वाच्यम्, ऐक्यभेदाभावादीनां स्वरूपत्वेन विशिष्टपरत्वस्यैवाभावाद्, भेदाभावादेः कल्पितप्रतियोगिकतया कल्पितत्वे तु सत्यादिपदवद्विशिष्टार्थाभिधानद्वारा स्वरूपपरत्वेन प्रामाण्योपपत्तेश्च।

न च—एवं तेषां लक्षणयाऽखण्डार्थत्वेन तद्विरोधेन विशिष्टार्थस्य सत्यादिवाक्यस्य मुख्यार्थत्यागः, विशेष्यपरस्य विशिष्टपरेणाविरोधादिति—वाच्यम्, द्वार-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अखण्ड वस्तु में क्रमशः अनेकाकारता, भेद, गुण एवं द्वैत का अत्यन्त निषेध करते हैं। इसी प्रकार त्रिविध परिच्छेद-रहित अर्थ के बोधक 'अनन्त' शब्द और 'ब्रह्म' शब्द भी सान्त एवं जड़ वस्तु के बोधक अलक्षण वाक्यों में अखण्डार्थकता के बाधक होते हैं।

शङ्का—''एकधैवानुद्रष्टव्यम्'', ''उदरमन्तरं कुरुते''—इत्यादि वाक्य यदि ऐक्य-विशिष्ट और भेदाभाव-विशिष्ट वस्तु के बोधक हैं, तब वेदान्त मात्र में अखण्डार्थकत्व सिद्ध नहीं होता और अबाधित अखण्ड वस्तु से भिन्न बाधित विशिष्ट वस्तु के बोधक होने से वे अप्रमाण भी हो जाते हैं।

समाधान—ऐक्य और भेदाभाव—दोनों ब्रह्मरूप अधिकरण से भिन्न नहीं माने जाते, अतः ''एकधैवानुद्रष्टव्यम्'' और 'उदरमन्तरं कुरुते''—इत्यादि वाक्य विशिष्टार्थ परक ही नहीं होते। दूसरी बात यह भी है कि भेदाभाव कल्पितप्रतियोगिक होने के कारण कल्पित मात्र है, अतः सत्यादि पदों के समान ही ''उदरमन्तरं कुरुते''—इत्यादि वाक्य विशिष्टार्थाभिधान के द्वारा ब्रह्मस्वरूपमात्र में पर्यवसित होने के कारण प्रमाण माने जाते हैं।

शङ्का—''एकधैवानुद्रष्टव्यम्''—इत्यादि वाक्य यदि लक्षणा से अखण्डार्थपरक होते हैं, और अभिधा वृत्ति को लेकर विशिष्टार्थक ही हैं, तब उनके अनुरोध पर सत्यादि वाक्य भी अपने मुख्य सत्यत्वादि-विशिष्टार्थं का परित्याग क्यों करेंगे ? क्योंकि विशेष्य परक (एकधैवानुद्रष्टव्यम्''—इत्यादि) वाक्य से विशिष्टपरक (सत्यादि) वाक्य का कोई विरोध नहीं होता।

समाधान—अखण्डार्थ-बोध के उपाय के रूप में एकधैवेत्यादि से उपस्थित भी ऐक्य और भेदाभावादि विशिष्ट-परता के विरोधी होते हैं, अतः उनके अनुरोध पर सत्यादि वाक्य अवश्य ही अपने मुख्य विशिष्टार्थ का त्याग कर देंगे।

शङ्का—एकधैव—इत्यादि वाक्यों से स्वरूपावगति-साधन के रूप में उपस्थित ऐक्यादि यदि मिथ्या हैं, तब वे सत्यादि वाक्यों की सत्यत्वादिधर्मपरता के विरोधी नहीं हो सकते और यदि वे (ऐक्यादि) सत्य माने जाते हैं, तब सिद्धान्त-विरोध होता है।

समाधान—स्वरूपावगति में उपायतया उपस्थित ऐक्यादि सत्य हैं, तथापि

न्यायामृतम्

ननु ऐक्यादेर्द्वारत्वेनोपादानाद्विरोध इति चेन्न, द्वारीभूतस्य ब्रह्मान्यस्य ऐक्यादेर्मिथ्यात्वे सत्यत्वादिधर्मपारमार्थ्याविरोधित्वात् सत्यत्वे चापसिद्धान्ताद्, द्वारत्वानुपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वाच्च। अत्रापि सत्यत्वादेर्द्वारत्वेनोपादानेन तेषामेवैतद्विरोधापाताच्च। नान्त्यः, त्वन्मतेऽनन्तब्रह्मशब्दयोरपि लक्षणया विशेष्यमात्रपरत्वेनाविरोधित्वात्। "अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति बृहन्तो ह्यस्मिन्गुणा" इति श्रुत्या "महद्गुणत्वाद्यमनन्तमाहु" रित्यादि स्मृत्या च ताभ्यां सद्गुणत्वस्यैव सिद्धेश्च।

अद्वैतसिद्धिः

तयोपस्थितस्याप्यैक्यभेदाभावादेर्विशिष्टार्थविरोधितया मुख्यार्थत्यागसंभवात्। न च—द्वारतयोपस्थितैक्यादेः मिथ्यात्वेन सत्यत्वादिधर्मपरत्वविरोधिता, सत्यत्वे चापसिद्धान्त इति—वाच्यम्, भिन्नत्वे सति सत्यतायामेवापसिद्धान्तात्। न चाभेदे द्वारत्वानुपपत्तिः, कल्पितधर्मताकत्वेन द्वारत्वसंभवात्। न च—अत्र सत्यत्वादेर्द्वारत्वेनोपादानात्तेषामेवैतद्विरोध इति—वाच्यम्, सत्यत्वादेः कल्पितजातिरूपस्य द्वारतया स्वरूपेणोपादानेऽपि पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधंकानामविरोधात्। एतेन—ब्रह्मानन्तपदयोरपि बाधकत्वं—व्याख्यातम्। ननु—'अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति बृहन्तो ह्यस्मिन्गुणा' इत्यादिश्रुत्या 'महद्गुणत्वाद्यमनन्तमाहु'रित्यादिस्मृत्या च ब्रह्मानन्तप-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सिद्धान्त-विरोध नहीं होता, क्योंकि वे यदि ब्रह्म से भिन्न और सत्य माने जाते, तभी अपसिद्धान्त होता, किन्तु वे ब्रह्म से अभिन्न अत एव सत्य माने जाते हैं, अतः सिद्धान्त-विरोध क्यों होगा ? ब्रह्म से अभिन्न होकर ऐक्यादि ब्रह्मावगति के साधन क्योंकर होंगे ? इस शङ्का का समाधान यह है कि वस्तुगत्या ब्रह्माभिन्न होने पर भी ऐक्यादि काल्पनिक रूप में ब्रह्म के धर्म माने जा सकते हैं, अतः ब्रह्म से भिन्न होकर ब्रह्म-बोध के उपाय हो सकते हैं।

शङ्का—मार्ग नष्ट हो जाने पर गन्तव्य तक पहुँचना सम्भव नहीं। सत्यादि पदों से प्रतिपादित सत्यत्वादि धर्म सत्यार्थावगति के मार्ग थे, 'एकधैवानुद्रष्टव्यम् से उपस्थापित ऐक्य ने सत्यत्वादि का ही विरोध (बाध) कर दिया, तब स्वरूपावगति कैसे होगी ? अतः सत्यत्वादि धर्मों की सुरक्षा के लिए एकधैवादि को ऐक्यपरक ही नहीं माना जा सकता, तब किसके अनुरोध पर सत्यादि वाक्यों की विशिष्टार्थपरता का अपलाप किया जाता है ?

समाधान—स्वरूपावगति में साधनीभूत सत्यत्वादि काल्पनिक जातिरूप धर्मों का स्वरूपतः निषेध ऐक्यादि नहीं करते, अपितु पारमार्थिकत्वेन, अतः व्यावहारिक श्रवणादि साधनों के समान ही सत्यत्वादि धर्मों की कल्पना है, उनके पारमार्थिक न होने पर हानि क्या ? अतात्त्विक पदार्थ भी तत्त्वावगति के साधन होते हैं—यह यहाँ पहली कक्षा में ही पढ़ाया जा चुका है। ऐक्यादि के समान ही 'ब्रह्म' शब्द और 'अनन्त' शब्द भी विशिष्टार्थपरता के बाधक होते हैं।

शङ्का—अथर्वशिरः उपनिषत् के चतुर्थ खण्ड में कहा गया है—"अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति ? बृहन्तोऽस्मिन् गुणाः' ब्रह्म को ब्रह्म क्यों कहा जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया—बृहत् महान् कल्याणादि गुणों का आधार है। इसी प्रकार स्मृति-वाक्य कहता है—"योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो महद्गुणत्वाद् यमनन्तमाहुः"।

न्यायामृतम्

प्रतिकूलतर्कपराहतिश्च। तथा हि—द्विविधमपि वेदान्तवाक्यं तद्दृष्टान्तीभूतं प्रकृष्टादिवाक्यं सोऽयमित्यादिवाक्यं च यदि संसृष्टार्थं न स्यात्, वाक्यमेव न स्याद्, आकांक्षासन्निधियोग्यतानामभावात्। आकांक्षा ह्यभिधानापर्यवसानम्। यस्य च येन विना न स्वार्थान्वयानुभावकत्वम्, तदेव च तस्यापर्यवसानम्। सन्निधिस्त्वव्यवधानेनान्वयप्रतियोग्युपस्थितिः। योग्यता च इतरपदार्थसंसर्गेऽपरपदार्थनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकधर्मशून्यत्वम्। प्रामाणाबाधो योग्यतेति चेन्न, पदार्थमात्राबाधस्य वाक्याभासेऽपि सत्त्वात् संसर्गाबाधस्य चेहाप्यभावात्। तात्पर्यविषयाबाधो योग्यतेति चेन्न, पदार्थमात्रे वाक्यतात्पर्यायोगात्।

अद्वैतसिद्धिः

दयोः सगुणवाचित्वेन निर्वचनात् कथं न ताभ्यां विरोधः? इति—चेन्न; उक्तश्रुतिस्मृत्योः सगुणप्रकरणस्थितब्रह्मानन्तशब्दार्थविषयत्वेन लक्षणवाक्यस्थितब्रह्मानन्तशब्दार्थनिर्वचनपरत्वायोगात्।

ननु—इमे हेतवः प्रतिकूलतर्कपराहताः। तथा हि—पक्षदृष्टान्तलक्षणमैक्यपरवाक्यं यदि संसृष्टार्थं न स्यात्, वाक्यमेव न स्याद्; आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमत्त्वाभावात्। आकाङ्क्षा हि अभिधानापर्यवसानम्, तच्च येन विना यस्य न स्वार्थान्वयानुभावकत्वम्, तदेव तस्यापर्यवसानम्। सन्निधिस्त्वव्यवधानेनान्वयप्रतियोग्युपस्थितिः, योग्यता च एकपदार्थसंसर्गे अपरपदार्थनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकधर्मशून्यत्वम्, नैतत् त्रयं संसर्गाविषये संभवति इति नैष दोषः, अखण्डार्थेऽप्येतत् त्रितयसंभवात्,

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

अर्थात् महान् गुणों का आधार होने के कारण जिसको अनन्त कहते हैं। इस प्रकार 'ब्रह्म' और 'अनन्त शब्दों का सगुण ब्रह्म-वाचकत्वेन निर्वचन ब्रह्मादि शब्दों की अखण्डपरता का विरोधी क्यों नहीं ?

समाधान—उक्त श्रुति और स्मृतियों में सगुण-प्रकरण-पठित 'ब्रह्म' शब्द और 'अनन्त' शब्दों का ही निर्वचन प्रस्तुत किया गया है, लक्षणवाक्यस्थ ब्रह्मादि शब्दों का नहीं।

द्वैतवादी—अखण्डार्थता के साधक कथित लक्षणवाक्यत्वादि हेतु प्रतिकूल तर्क से पराहत हैं—(१) पक्ष और दृष्टान्तरूप अखण्डार्थपरत्वेन अभिमत वाक्य यदि संसृष्ट अर्थ के प्रतिपादक नहीं, तब उन्हें वाक्य ही नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें (१) आकांक्षा, (१) योग्यता और (३) आसत्ति का अभाव है। (१) पदों की अभिधानापर्यवसानता का नाम आकांक्षा है। जिस पद के विना जो पद अपना अन्वयार्थबोध कराने में सक्षम नहीं होता, उसकी उस पद में आकांक्षा या अभिधानापर्यवसानता मानी जाती है। एकपदार्थानुयोगिक अन्वय के प्रतियोगीभूत पदार्थन्तर की अव्यवहित (अविलम्ब) उपस्थिति (स्मृति) को सन्निधि कहते हैं। योग्यता का स्वरूप है—एक पदार्थ के संसर्ग का अपर पदार्थ में सद्भाव या असद्भाव का न होना या उक्त संसर्ग में अपर पदार्थगत अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्व अथवा अपरपदार्थनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकीभूत धर्म का अभाव। ये आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता—तीनों संसर्ग-सापेक्ष होने के कारण संसर्ग-रहित अखण्डार्थक वाक्य में सम्भावित नहीं।

अद्वैतवादी—कथित आकांक्षादि तीनों उक्त स्थल पर भी असम्भावित नहीं

न्यायामृतम्

ननु यत्र पदार्थः प्रमितः, तत्र स इतरपदार्थविशिष्टः प्रतिपाद्यः, यत्र त्वज्ञातः, तत्र स नान्यैः शक्यो विशेष्टुमिति तत्र स एव प्रतिपाद्यः। प्रमिते च तस्मिन् वाक्य-

अद्वैतसिद्धिः

तथा हि— निराकाङ्क्षयोरपि यत्किंचिदन्वयानुभावकतया तात्पर्यविषयाननुभावकत्वमेवाकाङ्क्षा वाच्या। तथा चान्वयांशो व्यर्थः, येन विना यस्य तात्पर्यविषयाननुभावकत्वमित्येतावन्मात्रस्यैव सामञ्जस्यात्। तात्पर्यविषयश्च क्वचित्संसृष्टः क्वचिदखण्ड इति न विशेषः। अतः सा तात्पर्यविषयाखण्डार्थानुभवजननात् प्राग्वेदान्तवाक्येऽप्यस्त्येव आसत्तिरप्यव्यवधानेन शाब्दबोधानुकूलपदार्थोपस्थितिमात्रम्, न त्वन्वयप्रतियोगित्वविशेषितपदार्थोपस्थितिः, गौरवात् । सा च संसर्गाबोधकेऽप्यस्त्येव। योग्यतापि तात्पर्यविषयाबाध एव, न त्वेकपदार्थसंसर्ग इत्यादिस्वरूपा, यत्र बाधिताबाधितसंसर्गद्वयसंभवः, तत्र बाधिततात्पर्यविषयकेऽतिव्याप्तेः । तात्पर्यविषयाबाधश्चाखण्डार्थेऽपि सुलभः। अथवा—अन्वयस्य भेदघटितत्वनियमाभावेनाभेदसंसर्गमादायाकाङ्क्षादिनिर्वाहः कर्तव्यः, एकपदार्थस्याखण्डस्य तात्पर्यविषयत्वमपि नानुपपन्नम्। यत्र ह्यसाधारणस्वरूपेणैकः पदार्थो ज्ञातः, तत्र पदार्थान्तरविशिष्टः स प्रतिपाद्यते। यत्र तु न तथा ज्ञातः, तत्र स न शक्यः पदार्थान्तरैर्विशेष्टुमिति स एव प्रतिपाद्यः, तत्रैव वाक्यपरिसमाप्तेः। प्रकृष्टत्वसत्यत्वादेस्तत्तद्द्वारकत्वरूपबोधेन न्या-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

क्योंकि कथित आकांक्षा-रहित 'घटः कर्मत्वम्'—इत्यादि पदों में भी यत्किञ्चित् (अभेद) अन्वय की बोधकता मानी जाती है, अतः तात्पर्य-विषयीभूत अन्वय की बोधनाक्षमता को ही आकांक्षा मानना होगा। अन्वय के द्वारा पदार्थ में तात्पर्य-विषयता कहने की अपेक्षा सीधे पदार्थ में तात्पर्य-विषयता कहना लघु है, अतः अन्वयांश व्यर्थ है, तात्पर्य-विषयीभूत अर्थ की बोधनासमर्थता ही आकांक्षा का परिष्कृत स्वरूप है, अतः संसर्गाविषयक स्थल पर आकांक्षा का सद्भाव होने में कोई अनुपपत्ति नहीं, क्योंकि तात्पर्य-विषयीभूत पदार्थ कहीं संसृष्ट (विशिष्ट) होता है और कहीं असंसृष्ट या अखण्ड अतः तात्पर्यविषयीभूत अखण्ड अर्थ का बोधन जब तक सत्यादि वेदान्त-वाक्य नहीं करते, तब तक साकांक्ष माने जाते हैं। सन्निधि भी शाब्द बोध के अनुकूल पदार्थोपस्थितिमात्र है, अन्वय प्रतियोगित्वादि-विशेषित पदार्थ की उपस्थिति को सन्निधि मानने में गौरव है, विवक्षित सन्निधि संसर्गाबोधक वाक्यों में भी होती है। इसी प्रकार योग्यता भी तात्पर्य-विषयाबाध मात्र है, न कि एक पदार्थ के संसर्ग का अपर पदार्थ में सद्भाव, क्योंकि जहाँ पर बाधित और अबाधितरूप विविध संसर्ग सम्भव हैं, ऐसे जलज्वलनाभ्यां सिञ्चति'—इत्यादि स्थलों पर अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वहाँ जल में अबाधित करणतारूप संसर्ग अनभिप्रेत ज्वलन में भी है। तात्पर्य-विषयाबाधरूप योग्यता का सद्भाव अखण्डार्थ में भी सुलभ है। अथवा अन्वय सदैव भेद-घटित ही होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, अभेदरूप संसर्ग को लेकर आकांक्षादि का निर्वाह किया जा सकता है। एक अखण्ड पदार्थ में तात्पर्य-विषयता भी अनुपपन्न नहीं, जहाँ पर कोई पदार्थ अपने असाधारण रूप में ज्ञात है, वहाँ वह पदार्थन्तर से विशिष्टतया प्रतिपादित होता है, जहाँ पर कोई पदार्थ असाधारण रूप से ज्ञात नहीं, उसमें पदार्थान्तर का वैशिष्ट्य प्रतिपादित नहीं हो सकता, अतः उसका अविशिष्ट या अखण्डरूप में ही प्रतिपादन

न्यायामृतम्

समाप्तेर्न विशिष्टपरत्वमिति चेन्न, उक्तरीत्या चन्द्रब्रह्मादिप्रातिपदिकार्थानां सामान्यतो ज्ञातत्वेनेतरव्यावृत्त्यर्थं प्रकृष्टत्वसत्यत्वादिना विशिष्यैव बोध्यत्वात्। वेदान्तानां निर्विषयत्वं च स्यात्। अखण्डवाक्यार्थस्य स्वप्रकाशस्थचिन्मात्रस्याविद्या(द्य)ध्यासाधिष्ठानत्वेन तत्साक्षित्वेन च नित्यसिद्धत्वात्। निर्निमित्तं सर्ववेदान्तानां मुख्यार्थत्यागश्च स्यात्, एकरसत्वादिश्रुतीनामपि विशेष्यमात्रपरत्वेन मुख्यार्थबाधकाभावात्। वेदान्तजन्यज्ञानं च निष्प्रकारकं चेत्, ज्ञानमेव न स्यात्, ज्ञानस्येच्छादेरिव सविषयक-

अद्वैतसिद्धिः

वृत्तिभेद उपयोगादिति न वाक्यत्वानुपपत्तिलक्षणप्रतिकूलतर्कपराहतिः। ननु – संसृष्टार्थत्वं न चेत्, तदा वेदान्तानां निर्विषयत्वापत्तिः, अखण्डवाक्यार्थस्य स्वप्रकाशचिन्मात्रस्याविद्याद्यध्यासाधिष्ठानत्वेन तत्साक्षित्वेन च नित्यसिद्धत्वादिति - चेन्न, अनाद्यविद्योपहितत्वेनादोषात्, स्वतःसिद्धस्यापि प्रमाणवृत्तिमन्तरेणाविद्यानिवर्तकत्वाभावात्। प्रमाणवृत्तेश्चाविद्यानिवृत्तिफलोपहितत्वात् न काप्यनुपपत्तिः। न च – बाधकं विना मुख्यार्थत्यागायोगः प्रतिकूलतर्कः, एकरसत्वादिप्रतिपादकश्रुतीनामप्यखण्डार्थपरत्वेन बाधकत्वाभावादिति—वाच्यम्; द्वारतयोपस्थितस्यापि बाधकताया उक्तत्वात्। ननु—वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानं निष्प्रकारकं चेत्, ज्ञानमेव न स्यात्, ज्ञानस्येच्छादितुल्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

करना होगा और उसी में वाक्य का पर्यवसान माना जाता है। यह जो कहा गया है कि 'प्रकृष्टादिवाक्यं यदि संसृष्टार्थं न स्यात्, तदा वाक्यमेव न स्यात्।' वह कहना उचित नहीं, क्योंकि प्रकृष्टत्व और सत्यत्वादि अपने विरोधी अप्रकृष्टत्व और असत्यत्वादि की व्यावृत्ति के द्वारा अखण्ड सत्यात्मक वस्तु का निर्धारण करते हैं, अतः उनका अवान्तर तात्पर्य संसृष्टार्थ में ही माना जाता है, उनमें वाक्यत्वादि की अनुपपत्ति क्यों होगी?

शङ्का—संसृष्टार्थविषयक बोध के उत्पादन में ही वेदान्त-वाक्यों का सार्थक्य हो सकता है, अखण्ड बोध के उत्पादन में नहीं, क्योंकि अखण्ड बोध स्वरूपतः साक्षीरूप होने एवं नित्य-सिद्ध सर्वाधिष्ठानरूप ब्रह्मविषयक होने के कारण नित्य सिद्ध है, जन्य नहीं, अतः वेदान्त-वाक्य निर्विषयक और निरर्थक हो जाएँगे।

समाधान—अखण्ड बोध स्वतःसिद्ध होने पर भी नित्यसिद्ध नहीं, क्योंकि अनादि अविद्या से आवृत होने के कारण अनभिव्यक्त होता है, उसकी अभिव्यक्ति प्रमाणवृत्ति के द्वारा ही होती है और उससे अविद्या की निवृत्ति होती है। प्रमाणवृत्ति के उत्पादन में वेदान्तवाक्यों की सार्थकता है, अतः किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं।

शङ्का—सत्यादि वाक्यों का जो सत्यत्वादि-वैशिष्ट्यरूप मुख्य अर्थ है, उसका परित्याग किसी बाधक के बिना नहीं हो सकता—यह भी एक अखण्डार्थकत्व-साधन के लिए प्रतिकूल तर्क है।

समाधान—विशिष्टार्थ का प्रतिपादन केवल मोक्षसाधनीभूत अखण्डार्थविषयक ज्ञान का साधन होता है, अतः मोक्ष-साधनीभूत ज्ञान के जनक सत्यादि वेदान्त-वाक्यों का परम तात्पर्य अपने मुख्यार्थ के प्रतिपादन में नहीं, अपितु लक्षणा के द्वारा अखण्डार्थ के बोधन में ही होता है।

शङ्का—वेदान्त-वाक्य-जन्य ज्ञान यदि निष्प्रकारक है, तब उसे ज्ञान ही नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञान इच्छादि के समान जैसे सविषयक होता है, वैसे ही

न्यायामृतम्

त्ववत्सप्रकारकत्वस्यापि नियतत्वात्, कंचित्प्रकारं विना वस्तुनो बुद्धावनारोहाच्च। इदमित्थमिति हि धीः वेदान्तानामबुभुत्सितार्थत्वं च स्यात् बुभुत्साया धर्मिज्ञाना-

अद्वैतसिद्धिः

तया सविषयकत्ववत्सप्रकारकत्वस्यापि नियमात्, कञ्चित्प्रकारं विना वस्तुनो बुद्धावनारोहाच्चेति - चेन्न, व्याप्त्यसिद्धेः, तार्किकादिभिरपि निर्विकल्पकज्ञानाभ्युपगमात्। शब्दवाच्यत्वं तु कञ्चित्प्रकारमन्तरेण संभवति न वेति वादिनो विवदन्ते। तच्चास्माभिर्ब्रह्मणो नाभ्युपेयते। आकाशादिपदवत् किंचित्प्रयोगोपाधिमादाय तदपि संभवत्येव। न च शब्दत्वेन सविकल्पकत्वसाधनम्, स्वरूपोपलक्षणज्ञानाजन्यत्वस्य स्वरूपपरवाक्याजन्यज्ञानत्वस्य चोपाधित्वात्, ज्ञानत्वस्येव शाब्दत्वस्यापि सविकल्पकत्वव्याप्यत्वग्रहे मानाभावाच्च। न च—वेदान्तानामबुभुत्सितार्थत्वापत्तिः, धर्मिणः प्रागेव ज्ञानात् तत्र बुभुत्साविरहादिति—वाच्यम्, स्वरूपस्य ज्ञातत्वेऽप्यसाधारणस्व-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नियमतः सप्रकारक भी होता है। प्रकार या आकार के विना कोई वस्तु बुद्धि में आरूढ़ ही नहीं हो सकती।

समाधान—यद् यज्ज्ञानम्, तत्तत् सप्रकारकम्—ऐसी व्याप्ति ही असिद्ध है, क्योंकि तार्किकादि भी निष्प्रकारक (निर्विकल्पक) ज्ञान मानते हैं। हाँ, अर्थ में शब्द-वाच्यत्व किसी प्रवृत्ति-निमित्तभूत प्रकार के विना हो सकता है? या नहीं ? यह विषय अवश्य विवादास्पद माना जाता है, वह (शब्द-वाच्यत्व) ब्रह्म में हम नहीं मानते, अपितु शब्द-लक्ष्यत्व मानते हैं। जैसे आकाशादि में शब्दाश्रयत्वरूप उपाधि को लेकर आकाश पद का वाच्यत्व माना जाता है, वैसे ही त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्यत्वादि उपाधियों को लेकर ब्रह्म में सत्यादि पदों का वाच्यत्व माना जा सकता है। सत्यादि वाक्य-जन्य-ज्ञानम्, सविकल्पकम्, शाब्दत्वाद्, घटादि-ज्ञानवत्—इस अनुमान के द्वारा भी सप्रकारकत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि उक्त अनुमान में 'स्वरूपोपलक्षणज्ञानाजन्यत्व', 'स्वरूपपरकवाक्याजन्यज्ञानत्व' उपाधि [स्वरूपोपलक्षणज्ञानाजन्यत्व का अर्थ है—चैतन्यात्मक धर्मिस्वरूप के उपलक्षणीभूत सत्यत्वादि-वैशिष्ट्य का जो ज्ञान, उस ज्ञान के जन्यत्व का अभाव। समस्त सविकल्पक ज्ञानों में उक्त जन्यत्वाभाव रहने के कारण साध्य का व्यापक है, सत्यादि वाक्य-जन्य ज्ञानरूप पक्ष में कथित सत्यत्वादि-वैशिष्ट्य ज्ञान-जन्यत्व ही है, उक्त जन्यत्वाभाव नहीं, अतः साधन का अव्यापक होने से उपाधि है। इसी प्रकार धर्मिस्वरूपपरक सत्यादि वाक्यों से अजन्य सविकल्पकात्मक ज्ञान होता है, अतः स्वरूपपरकवाक्याजन्यज्ञानत्व भी उक्त अनुमान में उपाधि है]। दूसरी बात यह भी है कि जैसे ज्ञानत्व में सविकल्पकत्व की व्याप्ति सम्भव नहीं, क्योंकि सविकल्पकत्वाभाव के अधिकरणीभूत निर्विकल्पक ज्ञान में भी ज्ञानत्व रहता है, वैसे ही शाब्दत्व में भी सविकल्पकत्व की व्याप्ति किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं, अतः शाब्दत्व के द्वारा सविकल्पकत्व का अनुमान कैसे होगा ?

शङ्का—ब्रह्मरूप धर्मी का ज्ञान वेदान्त के अध्ययन से पहले ही है, अतः वह बुभुत्सित नहीं, फलतः वेदान्त-वाक्यों का धर्मिमात्र-प्रतिपादकत्व अबुभुत्सितार्थ-प्रतिपादकत्व है।

समाधान—ब्रह्म का साधारणतया ज्ञान होने पर भी सत्यत्व, जीवाभिन्नत्वादि

न्यायामृतम्

धीनत्वात् । "श्रोतव्यो मन्तव्य" इति विचारविधिश्चायुक्तः स्यात्, तस्यापातदर्शनजन्यसंशयनिवर्तकसप्रकारकनिश्चयार्थत्वात् । शुद्धब्रह्मविचारकाणामाद्याध्यायतृतीयपादीयाधिकरणानां अनारम्भश्च स्याद्, विषयादिपंचकाभावात् । विशिष्याज्ञातो

अद्वैतसिद्धिः

रूपबुभुत्साया उपपादितत्वात् ।

नापि विचारविध्यनुपपत्तिः, विचारस्य वेदान्ततात्पर्यनिश्चयादिफलकतया निष्प्रत्यूहनिष्प्रकारकब्रह्मज्ञानार्थत्वोपपत्तेः, आपातदर्शनस्य प्रतिबद्धत्वेनाज्ञानानिवर्तकत्वात् । शुद्धब्रह्मविषयाणामप्यधिकरणानामप्यारम्भो नानुपपन्नः, विषयादिपञ्चकसंभवात् । व्यावृत्ताकारेणाज्ञातो हि विषयः, ब्रह्म च तथा भवत्येव । विषयस्वरूपनिर्धारणाधीनं च प्रयोजनं न निर्धारणे सप्रकारकत्वमपेक्षते । निष्प्रकारके वस्तुनि स्वरूपनिर्धारणत्वाव्याघातात् । अद्वैतात्युपलक्षिताखण्डार्थज्ञानं च निर्धारणम् । तदधीनं प्रयोजनं मुक्तिरेव । पूर्वपक्षसिद्धान्तौ च कल्पितप्रकारावलम्बिनौ । संशयोऽपि कल्पितसमानधर्मधीजन्मैवेति नानुपपत्तिः ।

अत एव—प्रथमाध्यायतृतीयपादीयाधिकरणानामनारम्भ एव प्राप्तः, विषयादिपञ्चकाभावाद्, विशिष्याज्ञातो हि विषयः, साधारणधर्मधीजन्यश्च संशयः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

असाधारण रूप से ज्ञान नहीं होता, अतः उसमें बुभुत्सा और वेदान्त-वाक्यों में बुभुत्सितार्थ-प्रतिपादकत्व बन जाता है । इसी प्रकार श्रोतव्यः—इत्यादि वेदान्त-विचार-विषयक विधि की भी अनुपपत्ति नहीं, क्योंकि वेदान्त तात्पर्य-निश्चय ही विचार-विधि का फल माना जाता है, विचारित वेदान्त-वाक्यों से ही निर्विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है अतः निर्विघ्न निष्प्रकारक ब्रह्मज्ञान के लिए श्रवणादि-कर्त्तव्यत्वरूप विचार-विधि आवश्यक है । बिना विचार के आपात दर्शन अप्रामाण्य-शंकादि प्रतिबन्धकों से युक्त होने के कारण अज्ञान का निवर्तक नहीं होता । शुद्ध ब्रह्मविषयक अधिकरणों का आरम्भ भी अनुपपन्न नहीं, क्योंकि—

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरः ।
प्रयोजनं संगतिश्च शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥

अर्थात् (१) विषय, (२) संशय, (३) पूर्वपक्ष, (४) उत्तरपक्ष तथा (५) प्रयोजन या संगति—ये पाँच अधिकरण के अवयव माने जाते हैं । इनमें यहाँ असाधारण या व्यावृत्त आकार से अज्ञात ब्रह्म विषय है । उसका भेदाभेदरूप से संशय भी है । विषय-स्वरूप का निर्धारण (निश्चय) होने पर मोक्षरूप प्रयोजन सिद्ध होता है, निर्धारण में वस्तु की सप्रकारकता अपेक्षित नहीं होती, क्योंकि निष्प्रकारक वस्तु के स्वरूप-निर्धारण में भी किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित नहीं होता । अद्वितीयत्वादि धर्म से उपलक्षित अखण्डार्थ का निश्चय ही निर्धारण कहलाता है । निर्धारण के द्वारा मुक्तिरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है । पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष तो ब्रह्म में कल्पित प्रकारों का अवलम्बन किया करते हैं । संशय भी कल्पित समान धर्म के ज्ञान से उत्पन्न होता है, अतः अखण्ड ब्रह्म के विषय में किसी अधिकरणावयव की अनुपपत्ति नहीं ।

न्यायामृतकार ने कहा है कि ब्र. सू. प्रथमाध्याय के तृतीय पादगत द्युभ्वादि के अधिकरणीभूत सखण्ड ब्रह्म का विचार अकाण्ड-ताण्डव हो जाता है, क्योंकि उसके विषय

न्यायामृतम्

हि विषयः' साधारणधर्मधीजन्यश्च संशयः, मिथ्यासत्यैकप्रकारावलंबिनौ च पूर्वपक्ष सिद्धान्तौ, एकतरप्रकारनिर्धारणाधीनं च प्रयोजनम्, तच्च पंचकं निर्विशेषे कथं स्यात्? "ब्रह्मविदाप्नोती"ति पूर्ववाक्य एव ब्रह्मणः सामान्येन ज्ञाततया सत्यादि-वाक्यवैयर्थ्यं च स्यात्, सत्यादिवाक्यस्य सत्यत्वादिविशिष्टे तात्पर्याभावे तात्पर्यतो यत्किंचिद् ब्रह्मेत्येव बोधनाद्यस्य कस्यचिद् ब्रह्मत्वं च स्यात्। तात्पर्यविषयस्याखण्डार्थ-त्वेन इदं ब्रह्मेतिलक्षणलक्ष्यरूपोद्देश्यविधेय(भावा) (विभागा)भावेन तात्पर्यतो यत्किंचिदित्येव बोधनात्। तेन च ब्रह्मबुभुत्सानिवृत्त्यभावात्।

अद्वैतसिद्धिः

मिथ्यासत्यैकप्रकारावलम्बिनौ च पूर्वपक्षसिद्धान्तौ, एकप्रकारेण निर्धारणाधीनं च प्रयोजनम्, तच्च पञ्चकं निर्विशेषे कथं स्यादिति—परास्तम्, उक्तरीत्योपपत्तेः। न च 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'—इति सामान्यतो ज्ञातत्वात् सत्यादिवाक्यवैयर्थ्यापत्तिः, असाधारणस्वरूपज्ञानार्थत्वेन साफल्यात्। न च—सत्यत्वादिविशिष्टे तात्पर्याभावे तात्पर्यतो यत्किंचिद्ब्रह्मेत्येव बोधनाद् यस्य कस्यापि ब्रह्मत्वं स्याद्, इदं ब्रह्मेति लक्ष्यलक्षणरूपोद्देश्यविधेयविभागाभावाच्चेति—वाच्यम्, लक्षणस्वाभाव्याद्वस्तु-गत्या तत्स्वरूपलाभस्य प्रागेवोक्तत्वाद्, एकस्मिन्नपि कल्पितोद्देश्यविधेयभाव-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

में विषयादि पाँचों अवयवों का अभाव है—विशेषरूप से अज्ञात वस्तु को विषय कहा जाता है, साधारण धर्म से जनित संशय होता है, वस्तु के मिथ्या और सत्य प्रकारों में से एक-एक प्रकार को लेकर पूर्ण पक्ष और उत्तर पक्ष प्रवृत्त होते हैं। उनमें एक प्रकार के निर्धारण से प्रयोजन सिद्ध होता है। उपरोक्त विषयादि-पञ्चक निर्विशेष ब्रह्म के विषय में कैसे सम्भव होगा?

वह न्यायमृतकार का कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि ऊपर कथित रीति से विषयादि की उपपत्ति हो जाती है।

शङ्का—"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० उ० २।१।१) यह वाक्य "सत्यं ज्ञानमनन्तं का पूर्वभावी है और सामान्यतः ब्रह्म का बोधक है, इसी से जब ब्रह्म ज्ञात हो जाता है, तब उत्तर भावी सत्यादि वाक्य से उसके ज्ञापन की क्या आवश्यकता?

समाधान—जैसे 'अस्तीह चन्द्रः'—इस वाक्य से सामान्यतः चन्द्र का ज्ञान होने पर भी कः चन्द्रः? ऐसी जिज्ञासा उठती है और उसकी निवृत्ति के लिए प्रकृष्ट प्रकाशः चन्द्रः'—यह लक्षण वाक्य सार्थक होता है, वैसे ही "ब्रह्मविदाप्नोति परम्"—इस वाक्य से साधारणतया ज्ञात हो जाने पर भी वह सत्य है, या असत्य? ज्ञानरूप है, या जड़रूप? सान्त है, या अनन्त? इस प्रकार के सन्देह निवृत्त नहीं होते, उसकी निवृत्ति के लिए "सत्यं ज्ञानमनन्तम्—इस लक्षण-वाक्य के द्वारा असत्यादि व्यावृत्त असाधारणतया ब्रह्म का प्रतिपादन सार्थक होता है। यदि इस लक्षण वाक्य का सत्यत्वादि-विशिष्ट में तात्पर्य नहीं और न लक्ष्य एवं लक्षण के उद्देश्य-विधेयभाव में, तब सत्यत्वादि-रहित किसी भी पदार्थ को ब्रह्म क्यों नहीं कह दिया जाता?' इस शङ्का का समाधान पहले पृष्ठ ७७६ पर किया जा चुका है कि इतर वस्तु जिज्ञासित ही नहीं, अतः अजिज्ञासिताभिधान नहीं किया जा सकता और एक अखण्ड वस्तु में भी काल्पनिक उद्देश्य-विधेयभाव सम्भावित है। लक्षण-वाक्य का अज्ञात विधेय स्वरूप

न्यायामृतम्

किं ब्रह्म ? इतिप्रश्नोत्तरं च न स्यात् । न चोद्देश्यविधेयभावेऽसत्यपि अप्राप्त-विधेयमात्रपरत्वादखण्डार्थत्वाहानिः, विधेयस्यापि स्वरूपेण ज्ञातत्वेनोद्देश्यसंसृष्टतयैव बोधनीयतया वाक्यान्तरवत्सखण्डार्थत्वापातात् । उक्तं हि—

किंचिद्विधीयतेऽनूद्य वाक्येनेति सतां स्थितिः ।
सत्यज्ञानादिवाक्येन कथ्यतां किं विधीयते ॥
अज्ञातं बोध्यते किंचिद् वाक्येनेति सतां स्थितिः ।
सत्यज्ञानादिशब्दैस्तु किमज्ञातं प्रबोध्यते ॥

सत्यादिपदानां लक्षणा च न स्यात् । अशक्यासदृशान्वयप्रतियोग्युपस्थितिर्लक्षणेति पक्षे लक्षणाया एवासम्भवात् । शक्यसम्बन्धो लक्षणेति पक्षेऽन्वयानुपपत्ति-

अद्वैतसिद्धिः

संभवात् । अप्राप्तविधेयमात्रपरत्वाद्वाक्यस्य नाखण्डार्थत्वव्याघातः ।

ननु स्वरूपेण ज्ञातस्य विधेयस्योद्देश्यसंसृष्टतयैव बोधनीयत्वं वाच्यम् । तथा च सखण्डार्थतैव । उक्तं हि—

किंचिद्विधीयतेऽनूद्य वाक्येनेति सतां स्थितिः ।
सत्यज्ञानादिवाक्येन कथ्यतां किं विधीयते ॥' इति,

नैष दोषः, असाधारणस्वरूपस्य प्रमेयतया विधेयत्वात्, सत्यत्वादिद्वारक-स्वरूपज्ञानेनासाधारणज्ञापनपर्यवसानाद्, द्वारफलाभ्यामप्राप्तप्रापणसंभवात् । तथा चोद्देश्यता च विधेयता च स्वरूपमात्रपर्यवसन्नैव । ननु—एवं सत्यादिपदानां लक्षणा न स्याद्, अशक्यासदृशान्वयप्रतियोग्युपस्थितिरूपायास्तस्या असंभवात्तद्बीजस्या-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मात्र में तात्पर्य होने के कारण अखण्डार्थकत्व अव्याहत है ।

शङ्का—स्वरूपेण ज्ञात विधेय का स्वरूपेण ज्ञापन व्यर्थ होने के कारण उद्देश्य-सम्बन्धित्वेन विधेय का बोधन करना होगा, अतः सखण्डार्थता लक्षणावाक्य में प्रसक्त होती है, जैसा कि कहा गया है—

किञ्चिद् विधीयतेऽनूद्य वाक्येनेति सतां स्थितिः ।
सत्यज्ञानादिवाक्येन कथ्यतां किं विधीयते ॥

[अर्थात् वाक्य के द्वारा किसी ज्ञात पदार्थ का अनुवाद करके किसी अज्ञात पदार्थ का विधान किया जाता है—यही पद-वाक्य-प्रमाणाभिज्ञ सत्पुरुषों की मर्यादा है, अतः कहिए सत्यज्ञानादि वाक्य के द्वारा किसका अनुवाद करके किसका विधान किया जाता है ?]

समाधान—वस्तु का असाधारण स्वरूप ज्ञेय होने के कारण विधेय होता है सत्यत्वादि के द्वारा लब्ध स्वरूप ज्ञान का असाधारण-ज्ञान में पर्यवसान हुआ करता है । सत्यत्वादि द्वार (उपाय) और स्वरूप-ज्ञानरूप फल के द्वारा अप्राप्त (अज्ञात) वस्तु का प्रापण (ज्ञापन) होता है । इस प्रकार उद्देश्यता और विधेयता एक ही स्वरूप मात्र में पर्यवसित हो जाती है ।

शङ्का—सत्यादि पदों की जो स्वरूप मात्र में लक्षणा की जाती है, वह नहीं बन सकती, क्योंकि अभिधा वृत्ति के द्वारा शक्यार्थ और गौणी वृत्ति के द्वारा सदृश अर्थ की उपस्थिति होती है, किन्तु लक्षणा के द्वारा अशक्य और असदृश पदार्थ की उपस्थिति

न्यायामृतम्

रूपलक्षणाबीजाभावात् ।

सत्यादिपदानां पर्यायत्वं च स्यात् । न च कुम्भाद्यनुगतसत्ता परजातिः, अन्तःकरणवृत्त्युपधानलब्धभेदचिदानन्दविशेषानुगते ज्ञानत्वानन्दत्वे चापरजाती । एवं च सत्यज्ञानानन्दशब्दानां लक्ष्यार्थाभेदेऽपि क्रमेणोक्तजातिवाचित्वान्न पर्यायतेति-कल्पतरूक्तं युक्तम्, कुम्भाद्यनुगतसत्ताया ब्रह्मलक्षणत्वायोगात् मिथ्यासत्यानुगतसत्ता-

अद्वैतसिद्धिः

न्वयानुपपत्तेश्चात्राभावादिति—चेन्न, वृत्त्या हि पदार्थोपस्थितिः, न तु सैव वृत्तिः, अतो नोक्तरूपा लक्षणा, किंतु शक्यसंबन्धः, स च प्रकृतेऽप्यस्त्येव । उपस्थितरूपत्वेऽपि लक्षणायास्तात्पर्यविषयानुकूलोपस्थितिरेव सा, नोक्तोपस्थितिरूपा, अतात्पर्यविषयतादृगुपस्थितौ गतत्वात् । नापि बीजानुपपत्तिः, तात्पर्यानुपपत्तेरेव बीजत्वात् । नापि सत्यादिपदानां पर्यायतापत्तिः, वाच्यार्थभेदात् । सत्यत्वं ह्यस्मन्मते त्रिकालाबाध्यत्वम्, परमते कुम्भादिसाधारणी परजातिः सत्यपदप्रवृत्तिनिमित्तम् । ज्ञानपदानन्दपदयोरप्यस्मन्मतेऽन्तःकरणवृत्त्युपधानलब्धभेदचिदानन्दविशेषानुगते ज्ञानत्वानन्दत्वे, परमते तु स्वभावलब्धभेदज्ञानानन्दनिष्ठे अपरजाती प्रवृत्तिनिमित्ते । तथा च लक्ष्यार्थाभेदेऽपि न पर्यायताशङ्का ।

ननु—कुम्भाद्यनुगतसत्ताया ब्रह्मलक्षणत्वायोगः, मिथ्यासत्यानुगतसामान्या-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होगी और वही पदार्थ अन्वय का प्रतियोगी होगा, अतः अशक्य और असदृशरूप अन्वय-प्रतियोगी वस्तु की उपस्थिति ही लक्षणा का स्वरूप है, वह प्रकृत (अखण्डार्थ) में सम्भव नहीं, उसकी निमित्तभूत अन्वयानुपपत्ति का भी यहाँ अभाव है ।

समाधान—वृत्ति से पदार्थ की उपस्थिति होती है, पदार्थोपस्थिति को ही वृत्ति नहीं कहा जाता, अतः लक्षणा का उक्तरूप सम्भव नहीं, किन्तु शक्य-सम्बन्ध लक्षणा का स्वरूप होता है, वह प्रकृत में भी है । लक्षणा को उपस्थिति-स्वरूप मान लेने पर भी तात्पर्य-विषय के अनुकूल उपस्थिति को ही लक्षणा कहना होगा, न कि अशक्य और असदृश अन्वय-प्रतियोगी की उपस्थिति, क्योंकि तात्पर्याविषयीभूत तादृश उपस्थिति में लक्षणा की अतिव्याप्ति हो जाती है । अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का निमित्त नहीं माना जाता, अपितु तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणा का बीज है, उसका भी प्रकृत में अभाव नहीं ।

सत्यादि पदों का लक्ष्यार्थ एक होने पर भी पर्यायरूपत्व प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि वाच्यार्थ भिन्न-भिन्न होता है । सत्यत्व हमारे (अद्वैती के) मत में त्रिकालाबाध्यत्व है और द्वैत मत में 'सत्य' पद का प्रवृत्ति-निमित्त (शक्यतावच्छेदक) घटादि-साधारणी पर (व्यापक) जाति सत्तारूप है । 'ज्ञान' पद और 'आनन्द' पद के प्रवृत्ति-निमित्त हमारे मत में अन्तःकरण-वृत्तिरूप उपाधि के द्वारा भेदित चित् और आनन्द में अनुगत ज्ञानत्व और आनन्दत्व हैं और द्वैत मत में स्वभावतः भिन्न ज्ञान एवं आनन्द पदार्थों में विद्यमान अपर (व्याप्य) जातिरूप ज्ञानत्व और आनन्दत्व ज्ञानादि पदों के शक्यातावच्छेदक माने जाते हैं, अतः ज्ञान और आनन्द पदों का लक्ष्यार्थ एक है, फिर भी वाच्यार्थ भिन्न होने के कारण उनमें पर्यायरूपता नहीं आती ।

शङ्का—कल्पतरु (पृ० ९४) में जो घटादि-साधारण सत्ता जाति को ब्रह्म का

न्यायामृतम्

सामान्याभावाच्च। तयाऽनृताद्व्यावृत्त्यसिद्धेश्च कालत्रयाबाध्यत्वरूपं पारमार्थिकं सत्त्वं ब्रह्मणि श्रौतमिति त्वन्मतभंगाच्च। धर्मिसमसत्ताकभेदं विनौपाधिकभेदमात्रेणाऽऽकाशत्वादेरिव ज्ञानत्वादेरपि जातित्वायोगाच्च। योगे वा ज्ञानत्वादेर्धर्मिसमसत्ता-

अद्वैतसिद्धिः

भावात्, तथा चानृताद् व्यावृत्त्यसिद्धिः, त्रिकालाबाध्यत्वं ब्रह्मणि श्रौतमिति त्वन्मतहानापत्तिश्चेति – चेन्न, ब्रह्मणः सर्वाधिष्ठानतया तद्रूपसत्तायाः सर्वानुस्यूतत्वेन जातित्वव्यपदेशात्, कल्पितधर्मत्वमादाय ब्रह्मव्यक्तिकत्वाच्च। तच्च सत्त्वं त्रिकालाबाध्यत्वमेवेति न तस्य श्रौतत्वहानिः, तस्यानृतं प्रत्यधिष्ठानत्वेऽपि अनृताश्रितत्वाभावेन तद्व्यावर्तकत्वसंभवात्। आनन्दत्वादिकल्पितजातिसाहित्येन लक्षणोक्तिः परारीत्या। न च—धर्मिसमानसत्ताकभेदं विनैवौपाधिकभेदमात्रेणाकाशत्वादेरिव ज्ञानत्वादेरपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

लक्षण कहा है, वह समुचित नहीं, क्योंकि घटादिरूप मिथ्या पदार्थ तथा ब्रह्मरूप सत्य अर्थ—इन दोनों में एक सत्ता जाति सम्भव नहीं, अन्यथा सत्य ब्रह्म का लक्षण मिथ्या घटादि में अतिव्याप्त हो जायगा और घटादिरूप अनृत (मिथ्या) पदार्थों से सत्य ब्रह्म की व्यावृत्ति न हो सकेगी, [अर्थात् 'व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्'—इसके अनुसार सत्यादि पदों के द्वारा जो ब्रह्म का सत्यत्व या सत्त्व लक्षण किया जाता है, यदि वह घटादि अलक्ष्य पदार्थों में भी माना जाता है, तब उससे मिथ्याभूत अलक्ष्य की व्यावृत्ति न हो सकेगी, लक्षण निरर्थक होकर रह जायगा]। आप (अद्वैती) का मत है कि सत्यादि श्रुति-वाक्य के द्वारा त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व का ब्रह्म में प्रतिपादन होता है, घटादि-साधारण सत्त्व को 'सत्य' पद का अर्थ मानने पर उस मत की भी हानि हो जाती है।

समाधान—ब्रह्म समस्त प्रपञ्च का अधिष्ठान है, अतः जो ब्रह्मरूप सत्ता सर्वानुस्यूत है, उसी में 'जाति' शब्द का कल्पतरुकार ने व्यवहार कर दिया है, वह ब्रह्मरूप होने पर भी उसमें ब्रह्म की धर्मता कल्पित होती है, अतः ब्रह्म को उस जाति की आश्रयीभूत व्यक्ति कह दिया जाता है। वह ब्रह्मरूप सत्त्व त्रिकालाबाध्य ही होता है, उसमें श्रौतत्व की अनुपपत्ति नहीं होती। वह सत्त्व मिथ्या प्रपञ्च का अधिष्ठान (आश्रय) होने पर भी प्रपञ्च के आश्रित नहीं होता, अतः उसका व्यावर्तक भी हो जाता है। आनन्दत्वादिरूप कल्पित जाति-विशिष्ट सत्त्व को जो ब्रह्म का लक्षण माना जाता है, वह द्वैती की रीति अपना कर लक्षण किया गया है।

शङ्का—यह जो कहा जाता है कि यद्यपि सत्यत्व का आश्रय एक ही ब्रह्म व्यक्ति है, अनेक नहीं, तथापि उसका काल्पनिक भेद मानकर सत्यत्व में जातित्व का उपपादन किया जाता है, वह उचित नहीं, क्योंकि आश्रय का काल्पनिक भेद मान कर यदि आश्रित धर्म में जातित्व का निर्वाह किया जाता है, तब आकाशत्वादि में भी आकाशगत काल्पनिक भेद मान कर जातित्व का निर्वाह हो जाता है [एकव्यक्त्याश्रितत्व में जातित्व की प्रतिबन्धकता का ही उच्छेद हो जाता है, अतः आश्रयीभूत व्यक्तियों में व्यक्ति-समानसत्ताक भेद को ही जातित्व का प्रयोजक मानना होगा। जैसे आकाश-समानसत्ताक आकाश में भेद न होने के कारण आकाशत्व को जाति नहीं माना जाता, वैसे ही ब्रह्म-समान सत्ताक भेद ब्रह्म में सुलभ न होने के कारण ब्रह्माश्रित

न्यायामृतम्

कभेदवदुपहितवृत्तित्वे च शुद्धलक्षणत्वायोगात्। एतेन सत्वादिविशिष्टशबलब्रह्मवाचिनां सत्यादिशब्दानां शुद्धब्रह्मणि लक्षणेति न पर्यायत्वमिति निरस्तम्। अनृतास्वप्रकाश-परिच्छिन्नरूपे शबले सत्यत्वादेरयोगात्। योगे वा तस्यैवानृतादिव्यावृत्तिः स्यान्न तु शुद्धस्य। तस्मात्सत्यत्वादीनां शुद्धादन्यत्रासम्भवात् सत्यादिवाक्यस्य लक्षण-

अद्वैतसिद्धिः

जातित्वायोग इति—वाच्यम्, ज्ञानत्वादीनां धर्मिसमसत्ताकभेदवदुपहितवृत्तित्वात्। तर्हि शुद्धस्य कथं ज्ञानत्वादि लक्षणम्? नहि गन्धो जलस्य लक्षणमिति चेन्न, उपहित-वृत्तित्वेऽप्युपधेयवृत्तित्वानपायात्। तदुक्तं—'सत्यत्वादिविशिष्टशबलब्रह्मवाचिनां सत्यादिपदानां शुद्धे ब्रह्मणि लक्षणे'ति। न च—अनृतस्वरूपे शबले सत्यत्वायोगः, योगे वा ततो नानृतव्यावृत्तिरिति—वाच्यम्, शबले हि सत्यता एषैव यत् परमार्थ-संसर्गेण प्रतीयमाने तस्मिन् सत्यशब्दसङ्गतिग्रहः। तदुक्तं संक्षेपशारीरके—

आकाशादौ सत्यता तावदेका प्रत्यङ्मात्रे सत्यता काचिदन्या।
तत्संपर्कात्सत्यता तत्र चान्या व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र ॥' इति।

एवमानन्दादिपदेष्वपि द्रष्टव्यम्। तथा च कथं तेषां नानृतादिव्यावर्तकत्वम्? एतेन—शुद्धादन्यत्र सत्यत्वाद्यसंभवात् सत्यादिवाक्यस्य लक्षणया अखण्डार्थत्वे शुद्धे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सत्यत्व धर्म को जाति नहीं कहा जा सकता]।

समाधान—सत्यत्वादि धर्मों का धर्मी विशिष्ट चैतन्य माना जाता है, विशिष्ट चैतन्य व्यक्तियों में भेद भी धर्मिसमानसत्ताक ही माना जाता है। पार्थिवांश-मिश्रित जल में उपलब्ध गन्ध जैसे शुद्ध जल का लक्षण नहीं, वैसे ही विशिष्ट-वृत्ति सत्यत्वादि शुद्ध ब्रह्म के लक्षण क्योंकर होंगे? इस शङ्का का समाधान यह है कि उपहित (विशिष्ट) में रहनेवाले धर्म का उपधेय (शुद्ध विशेष्य) में रहना बाधित नहीं, अतः सत्यत्वादि शुद्ध-वृत्ति एवं शुद्ध के लक्षण हो सकते हैं, जैसा कि कहा गया है—'सत्यत्वादि-विशिष्ट शबल (सोपाधिक) ब्रह्म के वाचक सत्यादि पदों की शुद्ध ब्रह्म में लक्षणा होती है।'

शङ्का—शबल (सोपाधिक) ब्रह्म अमृतरूप है, उसमें त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्यत्व कैसे रहेगा?

समाधान—शबल ब्रह्म में सत्यता यही है कि परमार्थ (शुद्ध) ब्रह्म के संसर्ग से उसमें 'सत्य' शब्द का संगति-ग्रह हो जाता है, जैसा कि संक्षेपशारीरक (१।७८) में कहा गया है—

आकाशादौ सत्यता तावदेका प्रत्यङ्मात्रे सत्यता काचिदन्या।
तत्सम्पर्कात् सत्यता तत्र चान्या व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र ॥

[अर्थात् आकाशादि में स्वकालाबाध्यत्वरूप व्यावहारिक सत्यता रहती है, प्रत्यक्चैतन्य में त्रिकालाबाध्यत्वरूप पारमार्थिक सत्यता रहती है और सत्य अधिष्ठान के सम्पर्क से आकाशादि में त्रिकालाबाध्य-तादात्म्यत्व रूप सत्यता रहती है, इसी सत्यता में 'सत्य' शब्द का शक्ति-ग्रह होता है]। इसी प्रकार आनन्दादि पदों का भी शक्ति-ग्रह-प्रकार समझा जा सकता है। अतः सत्यत्वादि लक्षण मिथ्या पदार्थों का व्यावर्तक क्यों नहीं होगा? न्यायामृतकार ने जो यह कहा था कि शुद्ध से अन्यत्र कहीं सत्यत्वादि सम्भव नहीं और निर्धर्मक शुद्ध में सत्यत्वादि धर्म रहते नहीं, अतः सत्य, ज्ञान और अनन्तादि पद लक्षणा के द्वारा एक मात्र शुद्ध के बोधक

न्यायामृतम्

थाऽखण्डार्थत्वे च शुद्धे तदसिद्धेः पर्यायत्वं दुर्वारम्।

पदान्तरवैयर्थ्यं च स्यात्। न च प्रातिपदिकप्रथमयोरिवैकार्थ्येऽपि पदान्तरावैयर्थ्यमिति वाच्यम्, तत्र महाभष्य एव "किं पुनरत्र प्रथमये" ति वैयर्थ्यमाशंक्य "ग्राम उच्चैस्ते स्वग्राम उच्चैस्तव स्व" मित्यत्र "सपूर्वायाः प्रथमाया" इत्येषर्विाधर्यथा स्यादित्यर्थवत्त्वोक्तेः। न च प्रतिपदमारोपितासत्यत्वादिव्यावृत्तिरूपफलभेदादवैयर्थ्यम्, व्यावर्तकस्य सत्यत्वादेस्तात्पर्यतोऽनर्पणे व्यावृत्त्यसिद्धेः। न च सत्यत्वादेरतात्पर्यविषयत्वेऽपि लक्षणातः प्रागभिधाकाले प्रतीतिमात्रेण तत्सिद्धिः, नद्यां घोष इत्यत्र तीरस्यानदीतः "यजमानः प्रस्तर" इत्यत्र प्रस्तरस्यायजमानाच्च

अद्वैतसिद्धिः

सत्यत्वादेरभानात् पर्यायत्वं दुर्वारमिति—परास्तम्। स्वरूपमात्रपरत्वेऽपि न पदान्तरवैयर्थ्यम् व्यावृत्तिभेदबोधनेन साफल्यादिति चोक्तमेव। न च—व्यावर्तकस्य सत्यत्वादेस्तात्पर्यतोऽसमर्पणे व्यावृत्त्यसिद्धिरिति—वाच्यम्, 'गम्भीरायां नद्यां घोषः प्रतिवसती' त्यत्र यथा तीरे तात्पर्येऽपि नद्यामगम्भीरव्यावृत्तिरभिधाबलाल्लभ्यते, तात्पर्यविषयागम्भीरनदीतीरव्यावृत्ततीरबुद्धावुपायत्वात्, तथात्राप्यभिधाबलात् सत्यत्वादिविशिष्टे तात्पर्याभावेऽप्यापाततस्तत्प्रतीतिमात्रेणैव व्यावृत्तिसिद्धिः, तात्पर्यविषयानृतादिव्यावृत्तस्वरूपबुद्धावुपायत्वस्य तुल्यत्वात्। न च नद्यादिपदलक्ष्ये तीरादावनदीत्वादिवत् सत्यत्वादिपदलक्ष्येऽपि ब्रह्मण्यसत्यत्वाद्यापत्तिः, जहल्लक्षणा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होने से पर्यायवाची ही हैं। वह कहना इसीलिए निरस्त हो जाता है कि सत्यादि पदों का वाच्यार्थ सत्यत्वादि अन्यत्र प्रसिद्ध और भिन्न-भिन्न है, अतः उनमें पर्यायत्वापत्ति नहीं होती। स्वरूपमात्र का बोध केवल एक 'सत्य' पद से ही हो जाता है, उसके लिए दूसरे ज्ञानादि पदों की आवश्यकता नहीं, अतः वे निरर्थक क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर पहले ही (पृ० ७६४ पर) दिया जा चुका है कि 'असत्यत्वादि से व्यावर्त्य पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, उनकी व्यावृत्ति करने में सभी पद सार्थक हैं।

शङ्का—जब सत्यादि पद इतर-व्यावर्तक सत्यत्वादि धर्मों का तात्पर्यतः समर्पण (बोधन) ही नहीं करते, तब वे असत्यत्वादि के व्यावर्तक ही क्योंकर होंगे?

समाधान—जैसे 'गम्भीरायां नद्यां घोषः प्रतिवसति'—यहाँ पर लक्षणा के द्वारा केवल तीर में तात्पर्य होने पर भी नदी में अगम्भीरत्व की व्यावृत्ति 'गम्भीर' पद की अभिधा वृत्ति से अवगत गम्भीरत्व के द्वारा हो जाती है, क्योंकि तात्पर्य-विषयीभूत तीर के ज्ञान में अगम्भीर नदी-तीरत्व की व्यावृत्ति का ज्ञान साधन होने के कारण आवश्यक होता है, वैसे ही प्रकृत में सत्यादि पदों का अभिधा के द्वारा अवगत सत्यत्व-विशिष्ट में तात्पर्य न होने पर भी आपाततः सत्यत्वादि की प्रतीतिमात्र से असत्यत्वादि की व्यावृत्ति सिद्ध हो जाती है। तात्पर्य-विषयीभूत अखण्डार्थ के ज्ञान में असत्यत्वादि की व्यावृत्ति का बोध पूर्ववत् साधन होने के कारण आवश्यक है। 'नदी' पद के लक्ष्यभूत तीर में जैसे नदीत्वरूप वाच्यार्थ का भेद अनदीत्व रहता, वैसे ही सत्यादि पद के लक्ष्यभूत अखण्ड अर्थ में असत्यत्व क्यों नहीं रहता? इस शङ्का का समाधान पहले ही (पृ० ७७८ पर) किया जा चुका है कि सत्यादि पदों की जहल्लक्षणा मानने पर अखण्डार्थ में असत्यत्वादि की प्रसक्ति होती है, अतः यहाँ जहदजहल्लक्षणा मानी जाती

न्यायामृतम्

व्यावृत्त्यापातात्। न चातात्पर्यविशेषेऽपि सत्यत्वादिकं व्यवाहारिकं यजमानत्वादिकं तु प्रातिभासिकमिति युक्तम्, न चौपनिषदे ब्रह्मणि सत्यत्वादिकं प्रत्यक्षादिप्राप्तं येन व्यावहारिकं स्यात्। न च तत्त्वपरात्प्रतीतं व्यावहारिकं व्यावहारिकपरात्तु

अद्वैतसिद्धिः

नभ्युपगमात्। यदि हि तीरादौ नदीत्वादिवत् ब्रह्मण्यपि सत्यत्वादिकमभिधाबलात् न प्रतीयेत, तदैवं स्यात्, न त्वेवमस्ति, नद्यादौ नदीत्वादिवत् सत्यत्वादेर्ब्रह्मण्येव प्रतीतेः। न चैवं निर्धर्मकत्वव्याकोपः, व्यावहारिकस्य धर्मस्य सत्त्वेऽपि स्वसमानसत्ताकधर्मविरहेण तदुपपत्तेः, वाचकानामपि लक्षकत्वमन्यानुपरक्तस्वरूपभानायेत्यन्यत्। तदुक्तं कल्पतरुकृद्भिः—

सत्तादीनां तु जातीनां व्यक्तितादात्म्यकारणात्।
लक्ष्यव्यक्तिरपि ब्रह्म सत्तादि न जहाति नः॥ इति।

गौर्नित्यो गौरनित्य इत्युभयत्रापि एकदेशान्वयार्थं लक्षणाभ्युपगमेऽपि जातिव्यक्त्योरुभयोरपि तार्किकैर्गोपदार्थत्वाभ्युपगमाच्च। ननु—औपनिषदे पुरुषे धर्मा न प्रत्यक्षेण प्राप्ताः, किंतु तत्त्वावेदकेन वेदेन, तथा च कथं व्यावहारिका इति—चेन्न

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है, फलतः लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ-भिन्नत्व प्रसक्त नहीं होता। यदि तीरादि लक्ष्यार्थ में जैसे नदीत्वरूप वाच्यार्थ प्रतीत नहीं होता, वैसे ही यदि ब्रह्म में भी सत्यत्वादि की अभिधा के बल पर प्रतीति न होती, तब यहाँ भी जहल्लक्षणा मानी जा सकती थी, किन्तु यहाँ वैसा नहीं, क्योंकि नदी में नदीत्व के समान सत्यत्वादि धर्मों की ब्रह्म में ही प्रतीति हो जाती है। ब्रह्म में 'सत्यत्व' धर्म की प्रतीति से निर्धर्मकत्व का विरोध नहीं होता, क्योंकि समानसत्ताक पदार्थों का ही विरोध होता है, ब्रह्म में सत्यत्व व्यावहारिक और निर्धर्मकत्व पारमार्थिक है, अतः कोई विरोध नहीं होता। वाचक पद भी शक्यतावच्छेदक से अनन्वित वाच्यैकदेश के लक्षक होते हैं। जैसा कि कल्पतरुकार ने कहा है—

सत्तादीनां जातीनां व्यक्तितादात्म्यकारणात्।
लक्ष्यव्यक्तिरपि ब्रह्म सत्तादि न जहाति नः॥ (कल्पतरु० पृ० ९४)

[सत्तादि जातियों का अपनी आश्रयीभूत व्यक्तियों के साथ तादात्म्य होने के कारण लक्ष्यभूत ब्रह्मव्यक्ति सत्तादि जातियों का परित्याग नहीं कर सकती]। 'गौर्नित्यः'—यहाँ पर नित्यत्व के साथ अन्वय करने के लिए 'गो' पद की गोत्वरूप एकदेश और 'गौरनित्यः'—यहां पर अनित्यत्व के साथ अन्वय करने के लिए 'गो' पद की गोव्यक्तिरूप एकदेश में लक्षणा होने पर भी गोत्व जाति और गो व्यक्ति—दोनों मे तार्किक 'गो' पद की वाच्यता मानते हैं, जैसा कि न्यायसूत्रकार ने कहा है—"जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः" (न्या० सू० २।२।६५)। अर्थात् जाति, आकृति (अवयव-संस्थान) और व्यक्ति—ये तीनों ही पद के वाच्यार्थ होते हैं।

शङ्का—यह जो कहा है कि ब्रह्म में प्रतिपादित सत्यत्वादि धर्म व्यावहारिक हैं, वह कहना संगत नहीं, क्योंकि वे प्रत्यक्षादि व्यावहारिक प्रमाणों से अधिगत नहीं, अपितु जैसे ब्रह्म को (बृह० उ० ३।९।२।६ में) औपनिषद पुरुष अर्थात् केवल तत्त्वावेदक वेदान्त से वेद्य कहा गया है, अतः वह पारमार्थिक है, व्यावहारिक नहीं, वैसे ही सत्यत्वादि धर्म भी तत्त्वावेदकीभूत वेदान्त प्रमाण से ही प्रतिपादित हैं, अतः वे

न्यायामृतम्

प्रतीतं प्रातिभासिकमिति व्यवस्था, "असद्वा इदमग्र आसीदि" ति तत्त्वपरेण प्रतीतस्य मूलकारणासत्त्वस्य व्यावहारिकत्वापातात् । न च सत्यत्वादिकं तत्त्वावेदकबाधितत्वाद् व्यावहारिकं, यजमानत्वादिकं तु व्यावहारिकबाधितत्वात् प्रातिभासिकमिति युक्तम्, तत्त्वावेदकस्यापि विशेष्यमात्रपरत्वेन सत्यत्वाद्, व्यावहारिकबाधितस्याद्वैतवत्पारमार्थिकत्वोपपत्तेश्च । न च लक्षणाबीजे मुख्यार्थबाधके तुल्येऽपि सत्यादिपदस्य वाच्यार्थेऽवान्तरतात्पर्यं यजमानपदस्य तु तन्नेत्यत्र हेतुरस्ति येनोक्तव्यवस्था स्यात् ।

अद्वैतसिद्धिः

वेदादापाततः प्रतीतानामपि वेदतात्पर्यविषयत्वाभावादतात्त्विकत्वोपपत्तेः । तात्पर्यविषये हि वेदस्य प्रामाण्यम्, यत्र च तस्य प्रामाण्यं, तदेव तात्त्विकमिति नियमात् । न च—वेदस्यातत्परत्वमात्रेण कथं व्यावहारिकत्वम्? बाध्यत्वेन चेत्, प्रस्तरेऽपि यजमानत्वं व्यावहारिकं स्यात् । यजमानत्वस्य तत्रानध्यासात् अव्यावहारिकत्वे शुक्तिरूप्यादेर्व्यावहारिकत्वापत्तिरिति—वाच्यम्, वेदतात्पर्याविषयत्वेनातात्त्विकत्वे सिद्धे तत्त्वावेदकबाध्यत्वव्यावहारिकावेदकबाध्यत्वाभ्यां व्यावहारिकप्रातिभासिकव्यवस्थोपपत्तेः । न च तत्त्वावेदकस्य विशेष्यमात्रपरत्वान्न बाधकत्वम्, विशेषणबुद्धिद्वारकत्वेन तन्मात्रपरस्यापि बाधकत्वसंभवाद्, विशेषणेऽप्यवान्तरतात्पर्याभ्युपगमाद्वा । 'यजमानः प्रस्तर' इत्यादौ तु न विशेषणे अवान्तरतात्पर्यम्, तात्पर्यविषयसिद्धावनुपाय-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

-पारमार्थिक हैं, व्यावहारिक नहीं ।

समाधान—वेदान्त-प्रतिपाद्य पदार्थमात्र को पारमार्थिक या तात्त्विक नहीं माना जाता, अपितु तात्पर्य-विषयीभूत मुख्यार्थ ही तात्त्विक होता है, आपात-प्रतीत अर्थ नहीं । सत्यत्वादि में वेदान्त-वाक्य का परम तात्पर्य नहीं, अतः उन्हें तात्त्विक नहीं, व्यावहारिक ही माना जाता है ।

शङ्का—वेदान्त का मुख्य तात्पर्य सत्यत्वादि के प्रतिपादन में नहीं—एतावता सत्यत्वादि व्यावहारिक कैसे हो जायेंगे? यदि बाधित होने के कारण उन्हें तात्त्विक न मान कर व्यावहारिक माना जाता है, तब 'यजमानः प्रस्तरः'' (तै० सं० २।६।५।३) यहाँ पर प्रस्तरगत बाधित यजमानत्व को भी व्यावहारिक मानना होगा । प्रस्तर में अध्यस्त न होने के कारण यदि यजमानत्व अव्यावहारिक है, तब शुक्ति में अध्यस्त रजत में व्यावहारिकत्व की आपत्ति होती है ।

समाधान—किसी पदार्थ में वेद का तात्पर्य न होने मात्र से अतात्त्विकत्व सिद्ध हो जाने पर यदि वह तत्त्वावेदक प्रमाण मात्र से बाधित है, तब व्यावहारिक और यदि व्यावहारिक प्रमाण से बाधित है, तब प्रातिभासिक माना जाता है । सत्यादि वाक्यरूप तत्त्वावेदक प्रमाण विशेष्यपरक होने के कारण सत्यादि का बाधक नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सत्यादि वाक्य का विशेष्यमात्र में तभी तात्पर्य निश्चित होगा, जब उसके विशेषणीभूत ''केवलो निर्गुणश्च'' (श्वेता० ६।११) इत्यादि वाक्यों से प्रतिपादित निर्धर्मकत्वादि का ज्ञान हो, अतः निर्धर्मकत्वादि-द्वारक विशेष्यमात्रपरकत्व-ज्ञान सत्यत्वादि धर्मों का बाधक होता है, अथवा सत्यत्वादि विशेषणों में भी अवान्तर तात्पर्य है, और 'यजमानः प्रस्तरः'—यहाँ पर विशेषण (यजमानत्व) में अवान्तर तात्पर्य

न्यायामृतम्

किं च व्यावृत्तयः सत्या ? मिथ्या वा ? आद्ये व्यावर्तकानामपि सत्त्वं स्यात्, व्यावहारिकैर्व्यावर्तकैः पारमार्थिकव्यावृत्त्यसिद्धेः। किं च तासां ब्रह्माभेदे ब्रह्मपदेनैव तत्सिद्धेरितरवैयर्थ्यं व्यावर्तकधर्माणामपि सत्त्वं ब्रह्माभिन्नत्वं च स्याद्, अविशेषात्। एवं व्यावृत्तीनामन्योन्यमभेदे सत्यपदेनैवाज्ञानादिव्यावृत्तिसिद्धेर्ज्ञानादिपदवैयर्थ्यम्। तासां ब्रह्मणा परस्परं भेदे चाद्वैतहानिः, अभावद्वैतस्य निरासात्। नान्त्यः, शुक्तेः शुक्तितो व्यावृत्तेर्मिथ्यात्वे शुक्तित्वस्य शुक्तिसमानसत्ताकत्ववदनृतव्यावृत्तेर्मिथ्यात्वेऽनृतत्वस्य ब्रह्मसमसत्ताकत्वापातात्। तत्त्वजिज्ञासुं मुमुक्षुं प्रति मिथ्याबोधनायो-

अद्वैतसिद्धिः

त्वात्। महातात्पर्यविषयसिद्ध्युपाये हि अवान्तरतात्पर्यमिति सर्वमतसिद्धम्।

ननु—व्यावृत्तयः सत्या ? मिथ्या वा ? नाद्यः, व्यावर्तकानामपि सत्यत्वापत्तेर्व्यावहारिकाणां पारमार्थिकव्यावृत्त्यसाधकत्वात्। नान्त्यः, शुक्तेः शुक्तितो व्यावृत्तेर्मिथ्यात्वे शुक्तित्वस्य शुक्तिसमसत्ताकत्ववदनृतव्यावृत्तेः ब्रह्मणि मिथ्यात्वे अनृतत्वस्य ब्रह्मसमसत्ताकत्वापत्तेरिति—चेन्न, उभयथाप्यदोषात्। तथा हि—

(१) व्यावृत्तेर्ब्रह्माभिन्नतया पारमार्थिकत्वेऽपि व्यावर्तकं पारमार्थिकमिति कुतः ? न हि यत् पारमार्थिकबोधकं, तत् पारमार्थिकमिति नियमोऽस्ति, बोध्यबोधकयोः समसत्ताकत्वस्य पदतदर्थादौ व्यभिचारेण प्रागेव निरस्तत्वात्, दोषाप्रयुक्त

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं, क्योंकि मुख्य तात्पर्य-विषयीभूत वस्तु की सिद्धि का वह साधन नहीं। यहाँ तात्पर्य-विषयीभूत पदार्थ की सिद्धि में जो अपेक्षित-द्वार या साधन होता है, उसी में अवान्तर तात्पर्य माना जाता है—यह सर्व-सम्मत है।

शङ्का—सत्यत्वादि के द्वारा जो असत्यत्वादि की व्यावृत्तियाँ होती हैं, वे सत्य हैं ? अथवा मिथ्या ? प्रथम (सत्यता) पक्ष उचित नहीं, क्योंकि व्यावृत्ति के सत्य होने पर व्यावर्तक (सत्यत्वादि) धर्मों को भी सत्य (पारमार्थिक) मानना होगा, क्योंकि व्यावहारिक सत्यत्वादि धर्म पारमार्थिक व्यावृत्ति के साधन नहीं हो सकते। अन्तिम (मिथ्यात्व) पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि मिथ्या व्यावृत्ति का प्रतियोगी पदार्थ सत्य होता है, जैसे शुक्ति में शुक्तित्व की व्यावृत्ति (निषेध) मिथ्या होती है और उसका प्रतियोगी शुक्तित्व धर्म धर्मिसमानसत्ताक सत्य होता है, वैसे ही ब्रह्म में अनृतत्व की व्यावृत्ति यदि मिथ्या है, तब ब्रह्म में उस व्यावृत्ति का प्रतियोगीभत अनृतत्व धर्म सत्य (ब्रह्म-समसत्ताक) होगा।

समाधान—व्यावृत्ति को सत्य माना जाय या मिथ्या, उभयथा कोई दोष प्रसक्त नहीं होता।

(१) यह जो कहा कि व्यावृत्ति को पारमार्थिक मानने पर व्यावर्तक को भी पारमार्थिक मानना पड़ेगा। वह क्यों ? यदि कहा जाय कि 'यद् यत् पारमार्थिकस्य बोधकम्, तत्तत् पारमार्थिकम्'—ऐसा नियम है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह नियम ब्रह्मरूप पारमार्थिक के बोधक सत्यादि वाक्य में व्यभिचरित है। बोध्य और बोधक का समानसत्ताकत्व पहले ही वाधोद्धार में निराकृत हो जा चुका है कि नग नाग—इत्यादि आध्यासिक शब्दों के द्वारा बोध यथार्थ होता है। शुक्ति-रजतादि मिथ्या पदार्थ का दोष-प्रयुक्त भान होता है, अतः दोषाप्रयुक्त भान-गम्यत्व धर्म ही सत्यत्व

अद्वैतसिद्धिः

भानत्वस्य सत्त्वप्रयोजकत्वात् । नापि व्यावृत्तिबोधकं व्यावृत्तिसमसत्ताकमिति नियमः, स्वाप्नाङ्गनादेरपि स्वजन्यसुखापेक्षया सुखान्तरव्यावृत्तिबुद्धिजनकत्वात्, कारणस्य कार्यव्यावर्तकत्वात् । सा च व्यावृत्तिः तव मते पारमार्थिक्येव । मम तु मते व्यावहारिकी । सर्वथापि प्रातिभासिकव्यावर्तकापेक्षयाधिकसत्ताकैव । न च व्यावृत्तेब्रह्माभिन्नत्वे ब्रह्मपदेनैव तल्लाभादितरपदवैयर्थ्यम्, सामान्यतस्तत्सिद्धावप्यनृतादिव्यावृत्त्याकारेण तत्सिद्धौ साफल्यात् । एवमज्ञानादिव्यावृत्तीनामन्योन्याभेदे सत्यपदेनैव चारितार्थ्यमिति अपास्तम्, तत्तदाकारेण सिद्धेस्तत्तत्पदं विनानुपपत्तेः । न च—एवं सत्यत्वज्ञानत्वादिधर्माणामपि व्यावृत्तिवद् ब्रह्माभिन्नतया पारमार्थिकत्वमस्त्विति—वाच्यम्, इष्टापत्तेः । तदेवं व्यावृत्तेः सत्यत्वे न कोऽपि दोषः ।

(२) व्यावृत्तेर्मिथ्यात्वपक्षेऽपि नानृतत्वस्य ब्रह्मसमसत्ताकत्वापत्तिः, एकबाधकबाध्यत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वाद्, व्यावृत्तिबाधकाबाध्यस्यैव प्रतियोगिनो व्यावृत्त्यधिकसत्ताकत्वम्, न त्वेकबाधकबाध्यस्यापि, कल्पितरजतव्यावृत्तेः कल्पितरजते मिथ्यात्वेऽपि तदपेक्षया तस्याधिकसत्ताकत्वाभावाद्, अधिकं मिथ्यात्वमिथ्यात्वोप-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का प्रयोजक होता है, समानसत्ताक बोधकबोध्यत्व नहीं । व्यावृत्ति का बोधक व्यावृत्ति-समसत्ताक होता है—ऐसा भी नियम नहीं, क्योंकि कारण भी कार्य का व्यावर्तक होता है, स्वाप्न अङ्गना कारण है और स्वाप्न अङ्गना-जन्य सुख कार्य है, उसकी अपेक्षा अन्य स्वाप्न सुख का व्यावर्तक या व्यावृत्ति-बुद्धि की जनक प्रातिभासिक स्वाप्न अङ्गना ही है । वह व्यावृत्ति आप (द्वैती) के मत में पारमार्थिक और हमारे (अद्वैती के) मत में व्यावहारिक है, वह सर्वथा स्वाप्न अङ्गनारूप प्रातिभासिक व्यावर्तक की अपेक्षा अधिकसत्ताक ही है ।

शङ्का—मिथ्या प्रतियोगिक ब्रह्मानुयोगिक व्यावृत्ति (भेद) ब्रह्मरूप है, अतः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—यहाँ पर ब्रह्म' पद से ही व्यावृत्ति का बोध हो जाता है, उसके लिए सत्यादि पदों की क्या आवश्यकता ?

समाधान—'ब्रह्म' पद के द्वारा सामान्यतः इतर-व्यावृत्ति के सिद्ध हो जाने पर भी अनृतादि-व्यावृति के रूप में विशेषतः व्यावृत्ति सिद्ध करने के लिए सत्यादि पदों की आवश्यकता होती है । न्यायामृतकार ने जो शङ्का की है कि असत्य की व्यावृत्ति अज्ञान की व्यावृत्ति से अभिन्न है, अतः एक सत्य या 'ज्ञान' पद से ही दोनों व्यावृत्तियाँ सिद्ध हो जाती है, दोनों पदों की क्या आवश्यकता ? वह भी इसी लिए निरस्त हो जाती है कि असत्य-व्यावृत्तित्वादि रूप से विशेष व्यावृत्तियाँ सत्यादि पदों के विना सम्भव नहीं, अतः प्रत्येक पद स्वार्थेतर की व्यावृत्ति के लिए सार्थक एवं आवश्यक माना जाता है ।

शङ्का—जैसे असत्यादि की व्यावृत्तियाँ ब्रह्मरूप होने से पारमार्थिक हैं, वैसे ही सत्यत्वादि धर्मों को भी ब्रह्म से अभिन्न और पारमार्थिक क्यों न मान लिया जाय ?

समाधान—सत्यत्व, ज्ञानत्वादि धर्मों को भी हम ब्रह्म से भिन्न नहीं मानते, अपितु अभिन्न ही मानते हैं । इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि असत्यादि-व्यावृत्तियों को सत्य मानने में कोई दोष नहीं ।

(२) व्यावृत्ति को मिथ्या मानने पर भी अनृतत्व में ब्रह्म-समानसत्ताकत्व की प्रसक्ति नहीं होती, क्योंकि एक ही बाधक के द्वारा अनृतत्व और उसकी व्यावृत्ति—दोनों ही बाधित हैं, अतः एक सत्य और दूसरा मिथ्या—यह कभी नहीं हो सकता ।

न्यायामृतम्

गात् । न चाऽनृतत्वादिभ्रान्तिनिवृत्त्यर्थं तद्बोधनम्, अधिष्ठानब्रह्मतत्त्वज्ञानेनैव तन्निवृत्तिसम्भवे भ्रान्त्यन्तरोत्पादायोगात् । न हि वल्मीके स्थाणुत्वभ्रान्तिः पुंस्त्वस्योपदेशेन निवर्त्या, किं तु वल्मीकत्वस्य । न चात्मनि कल्पितेनापि ब्राह्मण्येन मिथ्याशंकिताब्राह्मण्यस्येव व्यावहारिक्या व्यावृत्त्या प्रातिभासिकानृतत्वभ्रान्तिनिवृत्तिरिति वाच्यम्, ब्राह्मण्यस्य देहविशेषसम्बन्धित्वे आत्मनि ब्राह्मण्यस्य जातिविशेषत्वेऽब्राह्मण्यस्य सत्यत्वेन द्वयोः कल्पितत्वायोगाद्, असद्व्यावृत्तेर्व्यावहारिकत्वेऽनपोदितप्रामाण्येन

अद्वैतसिद्धिः

पादने द्रष्टव्यम् ।

ननु—तत्त्वजिज्ञासुं मुमुक्षुं प्रति मिथ्याबोधनायोगः, न चानृतत्वादिभ्रान्तिनिवृत्त्यर्थं तद्, अधिष्ठानब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारेणैव तन्निवृत्तिसंभवे भ्रान्त्यन्तरोत्पादनायोगात्, न हि वल्मीके स्थाणुरयमिति भ्राम्यतः पुरुषोऽयमित्युपदिश्यत इति—चेन्न, निवर्तकाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कार एव तस्योपायत्वात्, स्थूलारुन्धतीन्यायेन पूर्वपूर्वभ्रमनिवृत्तये काल्पनिकोपदेशस्य पञ्चकोशस्थले दर्शनाच्च । यथा चात्मनि कल्पितेन ब्राह्मण्येनाशङ्किताब्राह्मण्यभ्रान्तिर्निवर्तते तथा व्यावहारिक्या व्यावृत्त्या प्रातिभासि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जो प्रतियोगी व्यावृत्ति के बाधक से बाधित नहीं होता, वही व्यावृत्ति की अपेक्षा अधिकसत्ताक माना जाता है। व्यावृत्ति-बाधक के द्वारा बाधित प्रतियोगी कभी भी व्यावृत्ति की अपेक्षा अधिकसत्ताक नहीं होता। कल्पित रजत की व्यावृत्ति के मिथ्या होने पर भी कल्पित रजत कभी सत्य या व्यावृत्ति की अपेक्षा अधिकसत्ताक नहीं होता। इससे अधिक इस विषय का उपपादन विगत मिथ्यात्व के मिथ्यात्व-निरूपण में देखना चाहिए।

शङ्का—मुमुक्षु को तत्त्व-बुभुत्सा होती है, अतः उसे तत्त्व का उपदेश करना चाहिए, मिथ्या व्यावृत्ति का उपदेश सम्भव नहीं। अनृतत्व-भ्रान्ति के निवृत्त्यर्थं भी अनृतत्व-व्यावृत्ति का उपदेश सम्भव नहीं, क्योंकि अधिष्ठानभूत ब्रह्म तत्त्व के साक्षात्कार से ही भ्रान्ति निवृत्त होती है, भ्रान्ति के उपदेश से भ्रान्ति निवृत्त नहीं होती। यदि व्यावृत्ति-बोधक के द्वारा अनृतत्व-भ्रान्ति की निवृत्ति होती है, तब व्यावृत्ति के भी मिथ्या होने से उसका बोध भ्रान्तिरूप ही है, अतः एक भ्रान्ति की निवृत्ति के लिए अन्य भ्रान्ति का उत्पादन सर्वथा अनुचित है, क्योंकि जिस व्यक्ति को बल्मीक (बाँबी) में स्थाणुत्व-भ्रान्ति हो रही है, उस भ्रान्ति की निवृत्ति के लिए उस पुरुष को 'पुरुषोऽयम्'—इस प्रकार पुरुषत्व-भ्रान्ति का उपदेश उचित नहीं माना जाता।

समाधान—यह सत्य है कि अधिष्ठान तत्त्व साक्षात्कार ही भ्रान्ति का निवर्तक होता है, किन्तु अधिष्ठान तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म और दुरवबोध होने के कारण साधारण मुमुक्षु को सहसा नहीं समझाया जा सकता, अतः जैसे अरुन्धती नामक अत्यन्त सूक्ष्म तारे तक दर्शक की दृष्टि पहुँचाने के लिए पहले अरुन्धती के पार्श्वस्थ स्थूल वसिष्ठनामक तारे को ही अरुन्धती कह कर दिखाया जाता है, वहाँ तक दृष्टि पहुँच जाने पर वास्तविक अरुन्धती का दर्शन कराना सम्भव हो पाता है, वैसे ही पूर्व-पूर्व भ्रान्ति की निवृत्ति के लिए उत्तरोत्तर भ्रान्ति का उपदेश पञ्च कोश-निरूपण-स्थल (छां० ६।५।४) पर देखा जाता है। जैसे कि आत्मा में कल्पित ब्राह्मणत्व के द्वारा आशङ्कित

न्यायामृतम्

"असद्वा इदमग्र आसीदि"ति वाक्येनासत्त्वस्य पारमार्थिकत्वापत्तेश्च। ननु मीमांसकमतेऽनृतस्याप्यर्थवादार्थस्य सत्ये प्राशस्त्ये इव मिथ्याभूतानामपि व्यावृत्तीनां सत्ये ब्रह्मणि द्वारत्वेन बोधनं युक्तम्, उक्तं हि सत्यादिशब्दा असत्यादिव्यावृत्तिद्वारा लक्ष्ये पर्यवस्यन्ती"ति चेन्न, ब्रह्मस्वरूपमात्रस्य श्रुतिं विना प्रागेवाविद्याद्यध्यासाधिष्ठानत्वादिना ज्ञातस्य पुनरपि ब्रह्मविदाप्नोती"ति पूर्ववाक्ये सामान्यतोऽत्र च सत्यादिशब्दैः सत्यत्वादिविशिष्टतया (व्यावृत्तिविशिष्टतया च) ज्ञानत्वे तज्ज्ञानस्य व्यावृत्तिज्ञानासाध्यत्वाद् व्यावृत्तिज्ञानस्यैव च धर्मिज्ञानसाध्यत्वेन वैपरीत्यापाताच्च, शाब्देऽर्थे

अद्वैतसिद्धिः

क्यनृतादिभ्रान्तिर्निवर्तते। न चासद्व्यावृत्तेर्व्यावहारिकत्वेऽनपोदितप्रामाण्येन 'असद्वा इदमग्र आसी'दिति वाक्येनासत्त्वस्य पारमार्थिकत्वप्रसङ्गः, 'नेह नाने'त्यनेन तस्य निषेधाद्, असद्वा इत्यादेरन्यपरत्वस्य प्रागेव दर्शितत्वाच्च। तथा च मीमांसकमते अनृतस्याप्यर्थवादार्थस्य सत्ये प्राशस्त्य इव मिथ्याभूतानामपि व्यावृत्तीनां सत्ये ब्रह्मणि द्वारत्वेन बोधनं युक्तम्। उक्तं हि -'सत्ये ब्रह्मणि सत्यादिशब्दा व्यावृत्तिद्वारा पर्यवस्यन्ती'ति।

न च व्यावृत्तिज्ञानस्य धर्मिधीसाध्यत्वेन वैपरीत्यापातः, धर्मविशिष्टधर्मिज्ञानसाध्याया व्यावृत्तेः शुद्धधर्मिज्ञाने द्वारत्वाङ्गीकारात्। न च—शाब्दे अर्थे आर्थिकस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अब्राह्मणत्व-भ्रान्ति निवृत्त होती है, वैसे ही व्यावहारिक व्यावृत्ति के द्वारा प्रातिभासिक अनृतत्वादि की भ्रान्ति निवृत्त होती है।

शङ्का—एक आधार में प्रतियोगी और उसकी व्यावृत्ति (निषेध) दोनों समानसत्ताक हो नहीं सकते, अतः ब्रह्म में "नासदासीत्"—इस वाक्य से प्रतिपादित असत्त्व-व्यावृत्ति यदि व्यावहारिक है, तब असत्त्वरूप प्रतियोगी को पारमार्थिक मानना होगा, क्योंकि वह "असद्वा इदमग्र आसीत्" (तं० उ० २।७।१) इस अबाधितप्रामाण्यक श्रुति से प्रतिपादित है, अतः तरंगिणीकार ने असत्त्व में पारमार्थिकत्व का अनुमान प्रस्तुत किया है - 'असद्वा' इति वाक्यप्रतीतं मूलकारणासत्त्वम्, पारमार्थिकम्, निरपवादप्रमाणप्रतीतत्वात्, सम्मतवत्'।

समाधान—"नेह नानास्ति किञ्चन" (बृह० उ० ४।४।१९) इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म में असत्त्व का भी निषेध कर दिया है, अतः 'असद्वा'—इस वाक्य का जगत् की अव्याकृतावस्था के प्रतिपादन में भाष्यकार ने तात्पर्य बताया है—"असदिति व्याकृतनामरूपविशेषविपरीतरूपमविकृतं ब्रह्मोच्यते, न पुनरत्यन्तमेवासत्, न ह्यसतः सज्जन्मास्ति" (तं० उ० पृ० ८०)। फलतः जैसे मीमांसक-मत में अर्थवाद वाक्यों का मिथ्याभूत अर्थ कर्मगत सत्यभूत प्राशस्त्य-बोधन का द्वार माना जाता है, वैसे ही मिथ्याभूत कथित व्यावृत्तियाँ सत्य ब्रह्मावबोध की साधिका होती हैं, जैसा कि कहा गया है—सत्ये ब्रह्मणि सत्यादिशब्दा व्यावृत्तिद्वारा पर्यवस्यन्ति" (तत्त्वप्र० पृ० १९६)।

शङ्का—यह जो कहा कि ब्रह्म-स्वरूपावगति में व्यावृत्ति-ज्ञान साधन है, वह उचित नहीं, क्योंकि व्यावृत्ति का ज्ञान तभी होगा, जब धर्मी का ज्ञान हो जाय, अतः उक्त साध्य-साधनभाव के विपरीत यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान साधन है और व्यावृत्ति-ज्ञान साध्य।

न्यायामृतम्

आर्थिकार्थस्य द्वारत्वानुपपत्तेश्च, नीलमुत्पलमित्यादेरपि अनीलव्यावृत्तिद्वारा स्वरूपमात्रपरत्वमित्यापाताच्च। न च प्रागज्ञातो व्यावृत्त्या ज्ञाप्यो विशेषस्त्वन्मतेऽस्ति। न च प्राग्ब्रह्मणो ज्ञानेऽप्यन्याविषयकं तज्ज्ञानमसिद्धमिति वाच्यम्, व्यावृत्तिज्ञानस्यान्याज्ञाने द्वारत्वापत्त्या ब्रह्मज्ञाने द्वारत्वायोगाद्, व्यावर्त्यज्ञानं व्यावृत्तिज्ञाने द्वारमिति वैपरीत्यापाताच्च, प्राचीने ब्रह्माज्ञाननिवर्तके ब्रह्मापरोक्षज्ञाने तदज्ञानकार्यस्यान्यस्य

अद्वैतसिद्धिः

द्वारत्वमनुपपन्नम्, अन्यथा नीलमुत्पलमित्यादेरनीलव्यावृत्तिद्वारा स्वरूपमात्रपरत्वं स्यादिति—वाच्यम्, नीलमुत्पलमित्यादौ स्वरूपमात्रबोधे तात्पर्याभावान्न शाब्देऽर्थे आर्थिकार्थापेक्षा, विशिष्टार्थतात्पर्यात्। अत्र तु स्वरूपमात्रे तात्पर्यम्, तच्चार्थिकार्थस्य द्वारत्वं विनाऽनुपपन्नम्। न च—विशेषस्य त्वन्मतेऽभावात् किं प्रागज्ञातं व्यावृत्त्या ज्ञापनीयमिति—वाच्यम्, अन्याविषयकस्य स्वरूपज्ञानस्य भ्रमविरोधिनः साध्यत्वात्। न चैवमन्याज्ञाने द्वारत्वम्, अन्यज्ञानप्रतिबन्धद्वारेण शुद्धज्ञान एव द्वारत्वसंभवात्। न च व्यावृत्तिज्ञान एव स्वरूपज्ञानं द्वारमस्तु, तस्याभिधाबललब्धविशिष्टज्ञानादेवोपपत्तेः। न च—प्राचीने ब्रह्माज्ञाननिवर्तकब्रह्मापरोक्षज्ञाने तदज्ञानकार्यस्यान्यस्य भाना-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—व्यावृत्ति-ज्ञान धर्मिज्ञान का साध्य भी है और साधन भी, अर्थात् धर्म-विशिष्ट धर्मी के ज्ञान से साध्य व्यावृत्ति शुद्ध धर्मिज्ञान का साधन मानी जाती है।

शङ्का—व्यावृत्ति सत्यादि शब्दों से प्रतिपादित नहीं, अपितु अर्थापत्ति-गम्य है, अशाब्द है और ब्रह्मरूप धर्मी शाब्द, शाब्द का शाब्द के साथ ही अन्वय होता है, अशाब्द के साथ नहीं, अतः आर्थिक व्यावृत्ति-ज्ञान शाब्दिक ब्रह्म-ज्ञान का साधन नहीं हो सकता, अन्यथा 'नीलमुत्पलम्'—यह वाक्य भी अनील-व्यावृत्ति के द्वारा स्वरूपमात्र-परक ही हो जायगा, विशिष्टार्थ का बोधक नहीं हो सकेगा।

समाधान—दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का वैषम्य है, क्योंकि 'नीलमुत्पलम्'—इत्यादि वाक्यों में स्वरूपमात्र-परता का कोई नियामक नहीं और सत्यादि वाक्यों में स्वरूपमात्र-परता के नियामक ''एकधैवानुद्रष्टव्यम्''—इत्यादि वाक्य हैं। सत्यादि वाक्यों का स्वरूपमात्र में तात्पर्य तब तक सम्भव नहीं, जब तक आर्थिक व्यावृत्ति का ज्ञान न हो।

शङ्का—आप (अद्वैती) व्यावृत्ति-ज्ञान को जिसका द्वार मानते हैं, ऐसा वह विशेष आकार प्रसिद्ध नहीं, जो व्यावृत्ति-ज्ञान से पहले अज्ञात होकर व्यावृत्ति के द्वारा ज्ञापित हो।

समाधान—भ्रम का निवर्तकीभूत अन्यप्रकाराविषयक (निष्प्रकारक) ब्रह्म-स्वरूप ज्ञान ही व्यावृत्ति का साध्य माना जाता है, अर्थात् ब्रह्मगत अखण्डाकारता ही वह विशेष आकार है, जो इतर-व्यावृत्ति-ज्ञान से पूर्व अज्ञात होकर व्यावृत्ति के द्वारा ज्ञापित होता है। 'इस प्रकार तो अन्याविषयता के बोध में ही व्यावृत्ति की अङ्गता सिद्ध होती है, स्वरूप-ज्ञान में नहीं'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अन्यविषयकत्व का प्रतिबन्धक होता हुआ व्यावृत्ति-ज्ञान ब्रह्मस्वरूप की अवगति में ही मुख्यतः द्वार होता है। व्यावृत्ति-ज्ञान में स्वरूप ज्ञान को हेतु नहीं माना जा सकता, क्योंकि सत्यादि वाक्य के द्वारा जो पहले अभिधा वृत्ति से विशिष्ट-ज्ञान प्राप्त होता है, उसी से व्यावृत्ति का ज्ञान हो जाता है—यह ऊपर कहा जा चुका है।

न्यायामृतम्

भानायोगाच्च, ब्रह्मप्रातिपदिकार्थबुभुत्सायामेतद्वाक्यं प्रवृत्तमिति स्वप्रक्रियाविरोधाच्च।

किं च सत्यशब्देनासद्व्यावृत्तिद्वारा यद्बोधितं तदेव ज्ञानादिपदेनाज्ञानादिव्यावृत्तिद्वारा बोध्यते ? अन्यद्वा। आद्ये ज्ञानादिपदवैयर्थ्यम्। द्वितीये सविशेषत्वम्। न च द्वारविकल्पः, सत्यादिशब्दानां नित्यवच्छ्रवणाद्, एकस्मिन्प्रयोगे व्रीहियवयोरिवैकस्मिन् वाक्ये सत्याद्यनेकपदोपादानायोगाच्च, अनृतत्वादि भ्रान्तिनिवृत्तिरूपदृष्टकार्याणां भिन्नत्वेन व्रीहियवादिवद्विकल्पप्रयोजकस्यैव कार्यत्वस्याभावाच्च। नापि समुच्चित-

---

अद्वैतसिद्धिः

योगः, ब्रह्मप्रातिपदिकार्थबुभुत्सायामेव एतद्वाक्यप्रवृत्तिरिति स्वप्रक्रियाविरोधश्चेति—वाच्यम्, ब्रह्मापरोक्षज्ञानं हि तत्स्वरूपं वा ? वृत्तिरूपं वा ? आद्ये नान्यभानानुपपत्तिः, तस्याविद्यानिवर्तकत्वाभावात्। वृत्तिरूपमप्यापातदर्शनं नाविद्यानिवर्तकम्, तस्यासाक्षात्कारत्वाद्वा, साक्षात्कारत्वेऽपि प्रतिबद्धत्वाद्वा। विचारजन्यं तु फलीभूतं भवत्यविद्यानिवर्तकम्, न तु तत्प्राचीनमिति किमनुपपन्नम् ?

ननु—सत्यशब्देनासद्व्यावृत्तिद्वारा यद्बोधितम्, तदेव ज्ञानादिपदैरज्ञानादिव्यावृत्तिद्वारा बोध्यमिति पदान्तरवैफल्यम्। न च द्वारविकल्पः, सत्यादिपदानां नित्यवच्छ्रवणाद्, एकस्मिन् प्रयोगे व्रीहियवयोरिवैकस्मिन् वाक्ये सत्याद्यनेकपदोपादानायोगाद्, अनृतत्वादिभ्रान्तिनिवृत्तिरूपदृष्टकार्याणां भिन्नत्वेन व्रीहियवादिवद्

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

शङ्का—यह जो कहा कि व्यावृत्ति-ज्ञान अन्यविषयता-ज्ञान का प्रतिबन्ध करता है, वह संगत नहीं, क्योंकि ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान पहले से ही है, वही ब्रह्माज्ञान का नाश कर चुका है, अतः उस अज्ञान का कार्यभूत अन्यविषयकत्व-ज्ञान सम्भव ही नहीं, जिसका प्रतिबन्ध व्यावृत्ति-ज्ञान से होता।

समाधान—ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान से क्या विवक्षित है ? ब्रह्मस्वरूप ज्ञान ? अथवा ब्रह्माकार वृत्तिरूप ज्ञान ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि ब्रह्मरूप सामान्य ज्ञान अज्ञान और उसके कार्यभूत अन्य-भान का विरोधी ही नहीं होता। वृत्तिरूप आपात दर्शनभूत ज्ञान भी अज्ञान का निवर्तक नहीं होता, क्योंकि आपात दर्शन प्रथमतः अपरोक्ष बोध ही नहीं होता, यदि अपरोक्ष भी मान लिया जाय, तब प्रतिबद्ध होने के कारण कार्य-सक्षम नहीं होता। विचार-जन्य केवल फलीभूत पराचीन ज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक होता है, प्राचीन आपात दर्शन नहीं।

शङ्का—'सत्य' शब्द असद्व्यावृत्ति के द्वारा जिस स्वरूपमात्र का बोधन करता है, उसी स्वरूपमात्र का ज्ञानादि पद भी अज्ञानादि की व्यावृत्ति के द्वारा बोधन करते हैं, अतः उस एक कार्य के लिए अनेक पदों की क्या आवश्यकता ? व्यावृत्तिरूप द्वार के विकल्प से पदान्तर का साफल्य है—यह भी कहना उचित नहीं, क्योंकि व्रीहि-यवादि विकल्प के समान यहाँ द्वार-विकल्प का सूचक कोई प्रमाण नहीं, अपितु विकल्प-विरोधी नित्यानुष्ठान के समान यहाँ वाकार-रहित सत्यादि पदों का श्रवण है। जैसे एक ही कर्म के एक प्रयोग में यव और दूसरे प्रयोग में व्रीहि का अनुष्ठान होता है, किन्तु एक ही प्रयोग में यव और व्रीहि—दोनों का अनुष्ठान सम्भव नहीं, वैसे ही एक ही वाक्य में समान कार्य-कारी सत्यादि अनेक पदों का ग्रहण सम्भव नहीं, अनृतत्वादि-भ्रान्ति-निवृत्तिरूप दृष्ट कार्य भिन्न-भिन्न हैं, अतः व्रीहि-यवादि के समान यहाँ विकल्प-

न्यायामृतम्

द्वारत्वं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' त्यादौ अनृतव्यावृत्तेरबोधनेऽपि ब्रह्मप्रतीतेः "आनन्दादयः प्रधानस्ये"ति सूत्रे त्वद्भाष्योक्तन्यायेनोपासनायां शाखान्तरोक्तगुणोपसंहारेऽपि ब्रह्मप्रमित्तौ वाक्यस्य शाखान्तरानपेक्षत्वाच्च, सत्यादिपदानां प्रत्येकं लक्षकत्वेन प्रत्येकं

अद्वैतसिद्धिः

विकल्पप्रयोजकस्यैककार्यत्वस्याप्यसंभवाच्चेति—चेन्न, समुच्चितानां द्वारत्वेन सफलत्वात्। प्रधानस्य ब्रह्मणः प्रतिपत्त्युपयोगिनामानन्दादीनां भावरूपाणां 'आनन्दादयः प्रधानस्ये' त्यनेनास्थूलत्वादीनामभावरूपाणां 'अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्त'मित्यनेन च सूत्रेण निर्गुणब्रह्मप्रतिपत्तावेव सर्वशाखोपसंहारस्य प्रतिपादितत्वेन द्वारसमुच्चयस्यैवेष्टत्वात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रयोजक एककार्य-कारित्व भी सम्भव नहीं, अतः व्यावृत्ति-विकल्प यहाँ नहीं अपनाया जा सकता।

समाधान—प्रत्येक व्यावृत्ति को विकल्पतः द्वार नहीं माना जाता, अपितु समुच्चित (मिलित) व्यावृत्तियों को द्वार माना जाता है, अतः समुच्चय-घटक व्यावृत्तियों के उपस्थापन में सभी पदों का साफल्य हो जाता है। द्वार-समुच्चय सूत्रकार और भाष्यकारादि को अभीष्ट है, जैसा कि "सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्", "उपसंहारोऽर्थाभेदात्", "सर्वाभेदादन्यत्रेमे", "आनन्दादयः प्रधानस्य", "अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्याम्" (ब्र० सू० ३।३।१, ५, १०, ११, ३३) इत्यादि सूत्रों में स्पष्ट है। [भाष्यकार ने भी इन्हीं सूत्रों में कहा है—सर्ववेदान्तप्रमाणकानि विज्ञानानि, चोदनादीत्यादिग्रहणेन शाखान्तराधिकरणसिद्धान्तसूत्रोदिता अभेदहेतव इहाकृष्यन्ते। सर्वविज्ञानानामन्यत्रोदितानां विज्ञानगुणानामन्यत्रापि समाने विज्ञाने उपसंहारो भवति, अर्थाभेदात्। अस्यैव तु प्रयोजनसूत्रस्य प्रपञ्चः सर्वाभेदादित्यारभ्य भविष्यति। एकप्रधानसम्बद्धा धर्मा एकत्राप्युच्यमानाः सर्वत्रोपसंहर्तव्याः। ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरासु श्रुतिषु आनन्दरूपत्वम्, विज्ञानघनत्वम्, सर्वगतत्वम्, सर्वात्मत्वमित्येवंजातीयका ब्रह्मणो धर्माः क्वचित् केचित् श्रूयन्ते, ते आनन्दादयः प्रधानस्य ब्रह्मणो धर्माः सर्वे सर्वत्र प्रतिपत्तव्याः, सर्वत्र हि प्रधानं विशेष्यं ब्रह्म न भिद्यते।' "एतद्व तदक्षरं गार्गि अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" (बृह० उ० ३।८।८), अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते तदद्रश्यमग्राह्यम्" (मुं० १।१।५) इत्यक्षरविषयास्तु विशेषप्रतिषेधबुद्धयः सर्वाः सर्वत्रावरोद्धव्याः, "आनन्दादयः"—इत्यत्र विधिरूपाणि विशेषणानि चिन्तितानि, इह प्रतिषेधरूपाणीति विशेषः।" अर्थात् शाखान्तराधिकरण (जं० सू० २।४।२) में निर्णय किया गया है कि अग्निहोत्रादि कर्म विभिन्न शाखाओं में प्रतिपादित होने मात्र से भिन्न नहीं होता, अपितु अभिन्न ही माना जाता है, अतः विभिन्न शाखाओं में विहित अङ्ग-कलाप का समुच्चय प्रत्येक यजमान के द्वारा अनुष्ठित होता है। शाखान्तराधिकरण में निर्दिष्ट कर्माभेद-नियामक हेतुओं के आधार पर ही उत्तर मीमांसा में भी विविध शाखाओं में प्रतिपादित सगुण और निर्गुण-विषयक विद्याओं का अभेद ही माना जाता है। प्रधान उपास्य तत्त्व के जितने भी गुण या विशेषण विभिन्न शाखाओं में प्रतिपादित हैं, उन गुणों का समुच्चय ही यहाँ भी उपादेय माना जाता है। ब्रह्म की प्रतिपत्ति के लिए आनन्दत्वादि भावरूप और अस्थूलत्वादि अभावरूप विशेषणों

न्यायामृतम्

लक्ष्यब्रह्मबोधकत्वाच्च, सत्यत्वादेः प्रत्येकं लक्षणत्वाच्च । न हि प्रकृष्टत्वादिकमिव सत्यत्वादिकं प्रत्येकमतिव्याप्तं तस्मान्न व्यावृत्तिद्वारम् । एतेन चन्द्रं शाखेव ब्रह्मव्यावृत्तिद्वारतया बोधयतीति निरस्तम् , एतेन सत्यत्वादिकं व्यावृत्तिर्वा ब्रह्मबोधने उपलक्षणतयोपादीयत इति निरस्तम् , काकवद् गृहमित्यादिवत् सखण्डार्थत्वापत्तेः, उपलक्षणात्प्रागेव ब्रह्मणो ज्ञातत्वेनोपलक्ष्यत्वायोगाच्च । तदुक्तम् –

सत्यज्ञानादिकेऽप्येवं न व्यावृत्त्या प्रयोजनम् ।
व्यावर्त्यस्याविशेषत्वे तदखण्डं च खण्डितम् ॥ इति ।

अद्वैतसिद्धिः

ननु—सगुणे ब्रह्मण्युपासनार्थं भवतु शाखान्तरीयगुणोपसंहारः, निर्गुणब्रह्मप्रतिपत्तौ तु किं शाखान्तरीयगुणोपसंहारेण ? सत्यादिपदानां प्रत्येकं लक्षकत्वेन लक्ष्यब्रह्मबोधने प्रत्येकमेव समर्थत्वात् , सत्यत्वादेश्च प्रत्येकं लक्षणत्वात् । न हि प्रकृष्टत्वादिकमिव सत्यत्वादिकमतिव्याप्तमिति– चेत् , न प्रकृष्टप्रकाशपदयोरिव सत्यादिपदानामपि कुमतप्राप्तातिव्याप्तिनिवृत्त्यर्थं समुच्चयापेक्षणात् । न ह्यनृतव्यावृत्तिबोधनं विना 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' त्यत्र शून्यवादव्यावृत्तब्रह्मसिद्धिः । एवमेकैकपदाभावे सर्वत्रातिव्याप्तिरूहनीया । तथा च सत्यत्वादिकमनृतादिव्यावृत्तिद्वारा शून्यवादादिव्यावृत्तब्रह्मसिद्धेरुपायः ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का ग्रहण होता है, वे सभी समुच्चित रूप से ब्रह्म-प्रतिपत्ति के उपाय समझे जाते हैं, अतः प्रकृत में भी सत्यत्व, ज्ञानत्व और अनन्तत्वादि सभी विशेषण समुच्चितरूप में ब्रह्म-स्वरूपावगति के द्वार माने जाते हैं, अतः उनका अभिधान करने के लिए सभी पद सार्थक हैं] ।

शङ्का—सगुण ब्रह्म की उपासना में उपयुक्त होने के कारण शाखान्तरीय गुणों का उपसंहार न्यायोचित है, किन्तु निर्गुण ब्रह्म के प्रतिपादन में शाखान्तरीय गुणों का उपसंहार निरर्थक है, क्योंकि निर्गुण प्रकरण में जब एक 'सत्य' पद ही लक्ष्य ब्रह्म का बोध करा देता है, तब उसी तत्त्व का बोध कराने के लिए दूसरे ज्ञानादि पदों की क्या आवश्यकता ? जैसे केवल प्रकृष्टत्व अन्धकार में और केवल प्रकाशत्व खद्योत प्रकाश में अतिव्याप्त होने के कारण चन्द्र-लक्षण में दोनों पदों को मिलाकर 'प्रकृष्टप्रकाशः' लक्षण किया जाता है, वैसे केवल सत्यत्व, केवल ज्ञानत्वादि यदि कहीं अतिव्याप्त या अव्याप्त होते, तब समुच्चयात्मक लक्षण की उपस्थिति कराने के लिए सभी पदों की सार्थकता हो सकती थी, किन्तु जब केवल सत्यत्व कहीं अतिव्याप्त नहीं होता, तब विशेषणान्तर की क्या आवश्यकता ?

समाधान—जैसे प्रकृष्ट और प्रकाश—दोनों पद अतिव्याप्ति-निरासार्थ सार्थक हैं, वैसे ही शून्यवादादि कुत्सित मत वादों को लेकर प्राप्त अतिप्रसङ्ग भङ्ग करने के लिए सभी पदों की आवश्यकता है, क्योंकि यदि "ज्ञानं ब्रह्म"—इतना ही लक्षण किया जाता है, तब शून्यवादी तुरन्त कह उठता है—"मायोपमं च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना ।" (मध्यमक० पृ० २४०) अर्थात् ज्ञान या विज्ञान मिथ्या है । इस मिथ्यात्वोक्ति का निरास 'सत्यं ब्रह्म' कह कर ही किया जा सकता है । इसी प्रकार "एक एव हि भूतात्मा" (ब्र० विं० ११)—इतना ही कह कर यदि आत्मैकत्व का प्रतिपादन

न्यायामृतम्

व्यावृत्त्या द्वारभूतयेत्यर्थः। टीकायां तु व्यावृत्तिः किं ब्रह्मविशेषणत्वेन बोध्या ? स्वतन्त्रा वा ? आद्ये सखण्डत्वम्, अन्त्ये ब्रह्मजिज्ञासुं प्रति तदुपदेशोऽसंगत इति व्याख्यातम्। न चात्र व्यावृत्तिवैशिष्ट्यस्यार्थिकत्वेन शाब्दार्थस्य न सखण्डत्वं "यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थ" इति न्यायात्, "मानान्तरादपोहस्तु न शाब्दस्तेन स स्मृतः" इति सुरेश्वरोक्तेश्चेति वाच्यम्, आर्थिकेनापि विशेषणेन ब्रह्मणोऽखण्डत्वहानेः अनन्तशब्देनान्तवद्व्यावृत्तेः साक्षादुक्तेश्च शब्दस्य व्यावर्तकवैशिष्ट्या तात्पर्ये आर्थिकव्यावृत्त्यऽसिद्धेरुक्तत्वाच्च।

अद्वैतसिद्धिः

न च—व्यावृत्तिः, किं ब्रह्मविशेषणत्वेन बोध्या ? स्वतन्त्रा वा ? आद्ये सखण्डार्थत्वम्, द्वितीये ब्रह्मजिज्ञासुं प्रति तदुपदेशोऽसङ्गत इति—वाच्यम्, व्यावृत्तिर्यद्यपि विशेषणतयैवार्थिकबोधे भासते, तथापि न शाब्दबोधे सखण्डार्थत्वम्। यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थ इति न्यायात्। तदुक्तं वार्तिककारैः—'मानान्तरादपोहस्तु न शाब्दस्तेन स स्मृतः।' इति। न चार्थिकेनापि विशेषणेन ब्रह्मणः सखण्डत्वापत्तिः, निर्धर्मकत्वादिश्रुतेर्विशेषणस्य धर्म्यसमानसत्ताकत्वेन सखण्डत्वाप्रयोजकत्वात्। न च—अनन्त-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

किया जाता है, तब भी शून्यवादी कहता है—

आत्मनश्च सतत्वं ये भावानां च पृथक्-पृथक्।
निर्दिशन्ति न तान् मन्ये शासनस्यार्थकोविदान्॥ (मध्यमक० पृ० ९२)

अतः विरोधी मत-वादों का विदारण "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—इत्यादि समुचित लक्षणाभिधान के द्वारा असत्यत्वादि व्यावृत्तियों के माध्यम से ही किया जाता है]।

शङ्का—असत्यत्वादि-व्यावृत्तियाँ क्या ब्रह्म की विशेषण होकर लक्षणवाक्य-जन्य बोध में प्रतीत होती हैं ? या स्वतन्त्र ? प्रथम पक्ष मानने पर लक्षण-वाक्य में सखण्डार्थकत्वापत्ति है और द्वितीय पक्ष में ब्रह्म-जिज्ञासु को स्वतन्त्रभूत व्यावृत्ति का उपदेश असंगत हो जाता है।

समाधान—व्यावृत्ति अर्थतः प्रतीत (अर्थाक्षिप्त) होती है, किसी शब्द से नहीं—यह कहा जा चुका है, अतः लक्षण-वाक्य से जनित शाब्द बोध में व्यावृत्ति का भान न होने के कारण लक्षण-वाक्य में सखण्डार्थकत्वापत्ति नहीं होती, क्योंकि शबरस्वामी ने कहा है—"यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थः" (जै० सू० ११।३।१४) इसका भाव यह कि जो अर्थ किसी शब्द की वृत्ति से उपस्थित न होकर अर्थापत्ति से अवगत होता है, वह वाक्यार्थ का घटक नहीं माना जाता। वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य ने भी कहा है—"मानान्तरादपोहस्तु न शाब्दस्तेन स स्मृतः। अर्थात् अर्थापत्त्यादि प्रमाणान्तर से अधिगत अनृतत्वादि के अपोह (व्यावृत्ति) को शाब्द बोध का विषय नहीं माना जाता। 'अर्थापत्ति से अवगत अनृतत्व-व्यावृत्ति से विशिष्ट होकर ब्रह्म सखण्ड क्यों नहीं माना जाता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ब्रह्म-सामानसत्ताक ही ब्रह्म का विशेषण ब्रह्म को सखण्ड बना सकता है, किन्तु "केवलो निर्गुणश्च"—यह श्रुति वाक्य ब्रह्म में पारमार्थिक धर्मों और विशेषणों का बाध कर देता है, फलतः अनृतत्वादि-व्यावृत्तियाँ व्यावहारिकमात्र रह जाती हैं, अतः ब्रह्म में सखण्डत्वापादन नहीं कर सकतीं।

शङ्का—यद्यपि सत्यादि पद अनृतादि-व्यावृत्ति के साक्षात् प्रतिपादक नहीं,

न्यायामृतम्

एतेन—

लक्ष्यार्थभेदाभावेऽपि व्यवच्छेद्य(स्य भे)विभेदतः।
विज्ञानानन्दपदयोः पर्यायव्यर्थते कुतः॥

इत्यानन्दबोधोक्तमपास्तम्।

अद्वैतसिद्धिः

शब्देनान्तवद्व्यावृत्तेस्साक्षादेव बोधनान्न तस्य आर्थिकत्वम्, तथा चानन्तपदस्य सखण्डार्थत्वं स्यादिति—वाच्यम्, यद्यपि

तत्रानन्तोऽन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणम्।
स्वार्थार्पणप्रणाड्या तु परिशिष्टौ विशेषणम्॥ इति

तैत्तिरीयवार्तिकोक्तदिशा विधिपदानां स्वार्थार्पणप्रणाडिकया अर्थादितरनिवृत्तिबोधकत्वम्, निषेधपदानां तु साक्षादिति स्थितम्, तथापि द्वारभूते ज्ञाने सखण्डार्थत्वेऽपि परमतात्पर्यविषयज्ञाने नाखण्डार्थत्वव्याघात इत्यसकृदुक्तम्। एतदेवोक्तमानन्दबोधाचार्यैः—

लक्ष्यार्थभेदाभावेऽपि व्यवच्छेद्यविभेदतः।
विज्ञानानन्दपदयोः पर्यायव्यर्थते न हि॥' इति।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तथापि 'अनन्त' पद सान्तत्व-व्यावृत्ति का साक्षात् अभिधान करता है, जैसा कि श्री सुरेश्वराचार्य कहते हैं—

''तत्रानन्तोऽन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणम्।
स्वार्थार्पणप्रणाड्या तु परिशिष्टौ विशेषणम्॥'' (तै० उ० वा०)

[अर्थात् 'अनन्त'—पद अन्तवद् वस्तु की साक्षात् व्यावृत्ति करने के कारण ब्रह्म का विशेषण है और सत्यादि पद सत्यत्वादिरूप स्वार्थ-बोधन की परम्परा से अनृतादि के व्यावर्तक होने के कारण ब्रह्म के परिशेषतः (अर्थतः) विशेषण माने जाते हैं, साक्षात् नहीं]। अतः 'अनन्त' पद में सखण्डार्थ-बोधकत्व क्यों नहीं माना जाता ?

समाधान–यद्यपि कथित तैत्तिरीय-वार्तिक के अनुसार विधिरूप सत्यादि पद स्वार्थ-बोधन के द्वारा परम्परया अनृतादि के निवर्तक होते हैं, किन्तु 'अनन्तः'—इस प्रकार के निषेध पद साक्षात् विशेषण होते हैं। तथापि ब्रह्मस्वरूपावगति में द्वारभूत अन्तवद्व्यावृत्ति-विशिष्ट ब्रह्म-ज्ञान के सखण्डार्थविषयक होने पर भी परम तात्पर्यविषयीभूत शुद्ध ब्रह्म के ज्ञान में अखण्डार्थविषयकत्व का व्याघात नहीं, उसी को लेकर 'अनन्त' पद भी अखण्डार्थक माना जाता है—यह कई बार कहा जा चुका है। यही आनन्दबोध-भट्टारक ने भी कहा है—

''लक्ष्यार्थभेदाभावेऽपि व्यवच्छेद्यविभेदतः।
विज्ञानानन्दपदयोः पर्यायव्यर्थते न हि॥'' (न्या० म० पृ० २६०)

[अर्थात् यद्यपि विज्ञान और आनन्द—दोनों पदों का लक्ष्यार्थ अभिन्न है, तथापि उन दोनों का व्यावर्त्यभूत अविज्ञान और अनानन्द पदार्थ भिन्न है, अतः न दोनों पदों में पर्यायतापत्ति होती है और न व्यर्थता]। इस प्रकार पद-लक्षणा-पक्ष [तार्किकादि पद में ही अभिधा और लक्षणा वृत्तियाँ मानते हैं, वाक्य में नहीं।

न्यायामृतम्

नवीनास्तु—गम्भीरायां नद्यां घोष इत्यत्र गम्भीरनद्योरन्योन्यमन्वयबोधानन्तरं गम्भीरनदीपदयोरिव समुदितानां सत्यादिपदानां लक्षकत्वान्न वैयर्थ्यम् , त(त्रा)स्याप्येकैकस्यैव लक्षकत्वे शक्यासम्बन्धिनो गंभीरनदीतीरस्याप्रतीतिप्रसंगादित्याहुः। तन्न, तत्र गम्भीरनद्योरिवेह सत्यज्ञानयोरन्योऽन्यमन्वयाबोधनात्। "सत्यं ज्ञानम्", "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"त्यादाव(न्यो)न्यानपेक्षाणामेव सत्यादिपदानां ब्रह्मलक्षकत्व-

अद्वैतसिद्धिः

(१) एवं पदे लक्षणेति पक्षे समाहितम्। केचित्त्वत्र वाक्ये लक्षणामाहुः, न पदे। तथा हि—यथा 'गम्भीरायां नद्यां घोष' इत्यत्र गम्भीरनद्योः परस्परमन्वयबोधानन्तरं विशिष्टार्थसंबन्धि तीरं लक्ष्यते, तथा प्रकृते परस्परविशिष्टार्थबोधानन्तरं तत्सम्बन्ध्यखण्डं लक्ष्यते। तथा च न पदवैयर्थ्यम्। न च तत्रापि प्रत्येकं लक्षणा, तथा सति गम्भीरनदीतीरादिलाभेन विशिष्टतीरबुद्धिर्न स्यात्। न च तत्र गम्भीरनदीपदयोरिव इह सत्यादिपदानां परस्परमन्वयबोधकत्वं त्वन्मते नास्तीति—वाच्यम् , एकस्मिन् ब्रह्मणि द्वारीभूतस्य परस्परार्थान्वयबोधस्य सत्यादिपदैः मिलित्वा जननाद् ; उत्तरकाल एव लक्षणया अखण्डबोधस्याभ्युपगमात्। न च—'सत्यं ज्ञानं विज्ञानमानन्द'मित्यादौ अन्योन्यानपेक्षाणां सत्यादिपदानां ब्रह्मलक्षकत्वदर्शनात् कथं गम्भीरायामित्यादि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मीमांसक गण वाक्य को भी लक्षक मान लेते हैं, किन्तु नैयायिकों का कहना है कि लक्षणा नाम है—शक्य-सम्बन्ध का, पद ही शक्त होता है, अतः शक्य-सम्बन्ध किसी पद का ही हो सकता है, वाक्य का नहीं, क्योंकि वाक्य न तो शक्त होता है और न उसका कोई शक्य, अतः उसकी शक्य-सम्बन्धरूप लक्षणा भी नहीं बन सकती, इस प्रकार पद-लक्षणा-वाद में] अखण्डार्थकत्व का उपपादन किया गया।

(१) मीमांसकादि वाक्य में लक्षणा वृत्ति मानते हैं, पद मात्र में नहीं। उनके मतानुसार 'गम्भीरायां नद्यां घोषः'—यहाँ पर 'गम्भीर' और 'नदी' पद से परस्पर अन्वय-बोध हो जाने पर गम्भीर नदी-सम्बन्धी तीर में लक्षणा होती है। इसी प्रकार सत्यादि पदों से परस्पर विशिष्टार्थ-बोध हो जाने पर विशिष्टार्थ-सम्बन्धी अखण्डार्थ में लक्षणा होती है, अतः विशिष्टार्थविषयक प्राथमिक शाब्द बोध के उत्पादन में सभी पद सार्थक हो जाते हैं। लक्षणा भी प्रत्येक पद की नहीं होती, अन्यथा प्रत्येक पद से केवल स्वार्थ-सम्बन्धी तीर का ही बोध होगा, विशिष्टार्थ-सम्बन्धी तीर का नहीं।

शङ्का—जैसे 'गम्भीर' और 'नदी' पद परस्पर अन्वय के बोधक हैं, वैसे आप (अद्वैती) सत्यादि पदों में परस्पर अन्वय-बोधकत्व नहीं मानते।

समाधान—यह ऊपर कहा जा चुका है कि सत्यादि पद मिल कर परस्पर अन्वय-बोध को जन्म देते हैं, वही अन्वय-बोध ब्रह्मस्वरूपावगति का द्वार होता है। द्वारभूत अन्वय-बोध के अनन्तर ही लक्षणा के द्वारा अखण्डार्थ का बोध माना जाता है।

शङ्का—तैत्तिरीयोपनिषत्-पठित 'सत्यं ज्ञानम्'—इत्यादि पद बृहदारण्यक उपनिषत्-पठित 'आनन्द' पद की अपेक्षा के विना एवं बृहदारण्यकगत 'आनन्द' पद तैत्तिरीयगत 'सत्य' पद की अपेक्षा के विना ही स्वतन्त्र रूप से ब्रह्म के लक्षक हैं, किन्तु दृष्टान्तीभूत 'गम्भीरादि' पद परस्पर सापेक्ष (साकांक्ष) होकर स्वार्थ-सम्बन्धी तीर के लक्षक होते हैं—इस प्रकार का वैषम्य रहने पर दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में न्याय-साम्य

न्यायामृतम्

दर्शनाच्च । गम्भीरपदेन गम्भीरसम्बन्धितीरस्येव इह पदान्तरेणाधिकस्यालाभाच्च । तत्रापि गम्भीरनद्योरन्वयबोधानन्तरं गम्भीरान्वितनदीबोधके नदीपद एव लक्षणया सर्वोपपत्तौ पदद्वये एकस्या लक्षणाया लक्षणाद्वयस्य वाऽकल्प्यत्वाच्च । लक्षणापि हि

अद्वैतसिद्धिः

तुल्यन्यायतेति —वाच्यम्, यत्र वस्तुगत्या गम्भीरनद्यभिप्रायेणैव नद्यां घोष इत्युक्तम्, तत्र परस्परनिरपेक्षलक्षकत्वस्य गम्भीरायामित्युक्तौ च मिलितलक्षकत्वस्य दर्शनाद्, गुणोपसंहारन्यायेन द्वारसमुच्चयस्य स्थापितत्वाच्च । न च—परस्परपदसाहित्येन तत्र गम्भीरनदीसंबन्धि तीरं लक्ष्यते, अन्यथा त्वेकैकसंबन्धि, प्रकृते त्वधिकलाभो न पदान्तरेणापीति—वाच्यम्, तत्रापि युगपद्वृत्तिद्वयविरोधापत्त्या गम्भीरनदीतीरत्वेन लक्षणानभ्युपगमाद्, वस्तुगत्या विशिष्टसंबन्धिनः प्रत्येकपदादपि लाभात् । अथ विशिष्टबुद्धिद्वारत्वाद्वारत्वाभ्यां विशेषः, प्रकृतेऽपि स तुल्य एव ।

ननु- गम्भीरायामित्यत्रापि न मिलिते लक्षणा, किंतु नदीपद एव, परस्परसाहित्येन विशिष्टबोधानन्तरं स्वज्ञाप्यविशिष्टसंबन्धिनि लक्षणासंभवात्, स्वज्ञाप्यसंबन्ध एव हि लक्षणा, लाघवात्, न तु तद्विशेषः शक्यसंबन्धः, गौरवात् । तथा च पदद्वये लक्षणा, लक्षणाद्वयं वा न युक्तम् । एवं च वृत्तेः पदवृत्तित्वनियमोऽपि सङ्गच्छत

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

क्योंकर होगा ?

समाधान—ऊपर चर्चित गुणोपसंहार न्याय के द्वारा विभिन्न शाखाओं में पठित गुण-पद परस्पर मिलकर ही अपने प्रधान के समर्पक माने गये हैं, अतः सत्यादि पद भी इतर-निरपेक्ष होकर विशेष्य-लक्षक नहीं माने जाते । दूसरी बात यह भी है कि जहाँ वस्तुतः 'गम्भीर नदी' के अभिप्राय से केवल 'नदी' पद प्रयुक्त हुआ है, वहाँ 'गम्भीर' पद से निरपेक्ष होकर ही 'नदी' पद गम्भीरनदी-सम्बन्धी तीर का लक्षक है और जहाँ गम्भीरायाम्—ऐसा कहा गया है, वहाँ सभी पद परस्पर सापेक्ष होकर तीर के लक्षक माने जाते हैं, अतः दोनों दृष्टियों से दृष्टान्त और दार्ष्टन्ति का साम्य सिद्ध होता है ।

शङ्का—दृष्टान्त में गम्भीरादि पद परस्पर सापेक्ष हो कर गम्भीर नदी-सम्बन्धी तीर के लक्षक होते हैं, अन्यथा यदि परस्पर-निरपेक्ष होकर तीर के लक्षक होते, तब प्रत्येकार्थ-सम्बन्धी तीर का ही लाभ होता, विशिष्टार्थ-सम्बन्धी तीर का नहीं, किन्तु प्रकृत में पदान्तर के साहित्य से विशिष्टार्थ-सम्बन्ध के समान किसी अधिक अर्थ का लाभ नहीं होता ।

समाधान—दृष्टान्त-स्थल पर भी गम्भीर नदी-सम्बन्धी तीर में लक्षणा नहीं हो सकती, क्योंकि शब्द की अभिधा और लक्षणा—दोनों वृत्तियाँ यदि एक साथ प्रवृत्त हों, तभी गम्भीर नदी-सम्बन्धी तीर का लाभ हो सकता है, अन्यथा नहीं, किन्तु दोनों वृत्तियों की युगपत् प्रवृत्ति नहीं मानी जाती, अतः लक्षणा वृत्ति से केवल तीर का वैसे ही बोध होता है, जैसे कि प्रकृत में केवल ब्रह्म का लक्षणा से बोध होता है । वस्तुगत्या विशिष्ट तीररूप सम्बन्धी का लाभ प्रत्येक पद से हो जाता है । यदि 'गम्भीर' पद के रहने पर गम्भीर नदीरूप विशिष्टार्थ में तीरविषयक बोध की साधनता प्रतीत होती है और 'गम्भीर' पद के न होने पर उक्त साधनता प्रतीत नहीं होती—यह विशेषता रहती है । तब प्रकृत में भी सत्यादि पदों के होने पर शून्यवाद-सम्मत ब्रह्मगत मिथ्यात्व की

अद्वैतसिद्धिः

इति—चेत्, नैतत्सारम्, स्वज्ञाप्यसंबन्धो हि लक्षणेति त्वयोच्यते, तच्च ज्ञाप्यं प्रकृते विशिष्टम्, तज्ज्ञापकत्वं चोभयोः साधारणमिति कथं नदीपद एव लक्षणा? न गम्भीरपदे, विनिगमकाभावात्। न च—गाम्भीर्येण सह तीरस्य परम्परया संबन्धः, नद्याः साक्षात्संबन्ध एव विनिगमक इति—वाच्यम्, 'निम्नं गभीरं गम्भीर'मिति कोशाद् गम्भीरपदस्य निम्नरूपनदीद्रव्यवाचित्वेन साक्षात्संबन्धस्यापि साधारणत्वात्।

न च विशेषणविभक्तेः साधुत्वार्थकत्वाद् गम्भीरपदलक्षणायां विभक्त्यर्थानन्वय

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्यावृत्ति होती है, अन्यथा नहीं—यह विशेषता है।

शङ्का—'गम्भीरायां नद्यां घोषः'—यहाँ पर भी मिलित पदों की लक्षणा नहीं, अपितु केवल 'नदी' पद की ही विशिष्ट तीरार्थ में लक्षणा होती है। यद्यपि विशिष्टार्थ-रूप वाक्यार्थ 'नदी' पद का शक्य न होने के कारण शक्य-सम्बन्धरूप लक्षणा सम्पन्न नहीं होती, तथापि विशिष्ट वाक्यार्थ जैसे वाक्य से ज्ञापित होता है, वैसे ही पद से भी अतः स्व-ज्ञाप्य-सम्बन्ध को ही यहाँ लाघवात् लक्षणा का स्वरूप माना जाता है, स्व-शक्य-सम्बन्ध को नहीं, क्योंकि ज्ञाप्य-सम्बन्ध का शक्य-सम्बन्ध एक प्रकार विशेष है, अतः प्रकारी की अपेक्षा प्रकारों को लक्षणा का स्वरूप मानने में गौरव है। फलतः दो मिलित पदों की एक लक्षणा या लक्षणा-द्वय उचित नहीं। केवल 'नदी' पद की लक्षणा मानने में अभिधा और लक्षणा में पद-वृत्तित्व का नियम भी सुरक्षित रहता है।

समाधान—आप जो 'स्व-ज्ञाप्य-सम्बन्ध' को लक्षणा का स्वरूप मानते हैं, वह ज्ञाप्य वस्तु प्रकृत में गम्भीर नदीरूप विशिष्टार्थ है, उसकी ज्ञापकता गम्भीर और नदी—दोनों पदों में साधारण है, अतः केवल 'नदी' पद की ही लक्षणा क्यों होगी? 'गम्भीर' पद की क्यों नहीं? कोई विनिगमन प्रमाण उपलब्ध नहीं।

शङ्का—गाम्भीर्य का तीर के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं, अपितु स्वाश्रय-संयोग-रूप परम्परा सम्बन्ध होता है, किन्तु नदी का साक्षात् संयोग सम्बन्ध है, इसलिए 'नदी' पद की ही लक्षणा उचित है, 'गम्भीर' पद की नहीं।

समाधान—'गम्भीर' पद भी 'नदी' पद के समान नदीरूप द्रव्य का ही वाचक माना जाता है, जैसा कि अमरकोश के "निम्नं गभीरं गम्भीरम्"—इस प्रकार पर्याय-निर्देश से स्पष्ट है। अतः तीर के साथ साक्षात् संयोग सम्बन्ध भी गम्भीर पदार्थ एवं नदीपदार्थ—दोनों में समान है।

शङ्का—'गम्भीरायां नद्याम्'—यहाँ पर 'गम्भीर' पद विशेषण और 'नदी' पद विशेष्य है। विशेषण पदोत्तर विभक्ति का अर्थ विवक्षित नहीं होता, केवल पद-साधुत्व के लिए उसका प्रयोग माना भाता है, अन्यथा "न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या"—इस नियम के अनुसार केवल प्रकृति का प्रयोग साधु नहीं माना जाता। विशेष्यभूत नदी पद के उत्तर सप्तमी विभक्ति का ही अधिकरणत्व अर्थ करना होगा, किन्तु यदि 'गम्भीर' पद की तीर में लक्षणा की जाती है, तब उक्त अधिकरणता का गम्भीर पद-लक्ष्य तीर के साथ अन्वय न हो सकेगा, क्योंकि प्रत्यय सदैव स्वकीय प्रकृत्यर्थ से अन्वित स्वार्थ के बोधक होते हैं। अतः 'नदी' पद की ही तीर में लक्षणा करनी होगी,

अद्वैतसिद्धिः

इति—वाच्यम् , विशिष्टबोधसमये गम्भीरपदस्य विशेषणपदत्वेऽपि विशिष्टसंबन्धिलक्षणासमये विशेष्यपदत्वात् । विशेषणविभक्तेः साधुत्वार्थकत्वमित्यप्यसंबद्धम् , अभेदार्थकत्वस्य नैयायिकैः प्रत्येकमन्वयस्य च मीमांसकैररुणाधिकरणसिद्धस्य चाभ्युपगमात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तभी नदी पदोत्तर सप्तमी तीरान्वित अधिकरणता का प्रतिपादन कर सकेगी ।

समाधान—जब गम्भीरत्व-विशिष्ट नदी का बोध होता है, तब तो 'गम्भीर' पद विशेषण पद है, किन्तु गम्भीरत्व-विशिष्ट नदी-सम्बन्धी तीर में लक्षणा के समय 'गम्भीर' पद स्वतन्त्र नहीं, अपितु गम्भीर पद और नदी पद—दोनों मिलकर तीरार्थ के लक्षक होने के कारण विशेष्य पद बन जाते हैं। यह जो कहा कि विशेषण-विभक्ति साधुत्वार्थक ही होती है, वह कहना भी असम्बद्ध है, क्योंकि नैयायिक-प्रवर श्री गङ्गेशोपाध्याय ने शब्द खण्ड की न्यायतत्त्वचिन्तामणि में कहा है—"यद्वा विशेषणविभक्तिरभेदार्थिका ।" मीमांसक भी कहते हैं कि प्राथमिक शाब्द बोध में प्रत्येक विभक्ति भावनान्वित स्वार्थ का प्रतिपादन करती है, जैसा कि अरुणाधिकरण में सिद्ध किया गया है [ज्योतिष्टोमान्तर्गत सोम-क्रयण के प्रसङ्ग में कहा गया है—"अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति" (तै० सं० ६।१।६) अर्थात् जिस गौ का रंग लाल हो और लोचन पिङ्गल (पीलापन लिए हुए भूरे) वर्ण के हों, ऐसी एक वर्ष की गौ के बदले सोमलता खरीदनी चाहिए। 'अरुण' पद गुण-वाचक तथा 'पिङ्गाक्षी' और 'एकहायनी'—ये दोनों शब्द एक द्रव्य के वाचक हैं, जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—अरुणशब्दो गुणवचनः, पिङ्गाक्ष्येकहायनीशब्दौ सामानाधिकरण्यादेकद्रव्यवचनौ" (तं० वा० पृ० ६७३) । यहाँ सन्देह होता है कि आरुण्य वर्ण का विधान प्रकरण प्रमाण के आधार पर समस्त प्राकरणिक द्रव्यों में विवक्षित है ? अथवा वाक्य प्रमाण के अनुरोध पर केवल सोम-क्रयण-साधनीभूत गौ द्रव्य में ? सिद्धान्त में कहा गया है—"अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात्" (जै० सू० ३।१।१२) । आरुण्यगुण और पिङ्गाक्षी गोरूप द्रव्य—दोनों में सोम-क्रयण की करणता समान है, क्योंकि विशेषण-विभक्ति एवं विशेष्य-विभक्ति अपने-अपने प्रकृत्यर्थ में करणता का अभिधान करती हैं, अतः आरुण्य वर्ण का सम्बन्ध पिङ्गाक्षी गौ से ही होना चाहिए, प्राकरणिक द्रव्यमात्र से नहीं। भाट्टमतानुसार प्रथमतः समस्त विशेषण-विशिष्ट भावना (आरुण्यकरणिका पिङ्गाक्ष्येकहानीकरणिका क्रयणकर्मिका भावना) का विधान माना जाता है और पश्चात् यथायोग्य गुण का द्रव्य में, क्योंकि भावना और उसके विशेषणों में विधि-व्यापार पर्यवसित होता है—"भावनातद्विशेषणार्थातिरिक्तेऽर्थे विधिव्यापारो नास्ति" (तं०वा० पृ० ६९१) । गुण और द्रव्य में भावना की करणता प्रथमतः अवगत होती है—

"यथा च द्रव्यमिच्छन्ति साधकत्वेन कर्मणाम् ।
तथा गुणमपीत्येवं नारुण्यस्यान्यसंगतिः ।।" (तं०वा०पृ० ६९२)

पश्चात् द्रव्य में क्रयण की साक्षात् करणता और आरुण्य गुण में द्रव्य-विशेषकत्वेन परम्परया कारणता का निश्चय किया जाता है—"क्रयगततावद् विधिः तृतीयोपनीतं कंचिदरुणिमानं न मुञ्चति, अवान्तरव्यापाराधीनत्वाद् सम्बन्धस्य, अरुणादीनां च योग्यत्वाद् द्रव्यपरिच्छेद एव स्वव्यापारो विज्ञायते" (तं० वा० पृ० ६९३) ।

न्यायामृतम्

पदवृत्तिः, वृत्तित्वात्, शक्तिवत् एवमन्यत्राप्यूह्यम्। "गच्छ गच्छसि चेत्कान्ते"त्यत्र तु जन्मना मृत्यनुमितिः। प्रियामृतिहेतुत्वाच्च गमनं न कार्यमित्यनुमितानुमितिरेव,

अद्वैतसिद्धिः

(२-३) एवमन्यदपि वाक्यलक्षणोदाहरणमनुसन्धेयम्—'गच्छ गच्छसि चेत् कान्त' इत्यादि, विषं भुङ्क्ष्वेत्यादि च।

ननु—अत्र जन्मना मरणानुमानम्, तेन च तत्साधनीभूतायाः गतेरकर्तव्यतानुमानमित्यनुमानपरम्परैव, न लक्षणा, अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात्, न हि धूमोऽस्तीति वाक्यं वह्निलक्षकम्। विषमित्यादावपि विषभोजनस्येष्टसाधनतोक्त्या शत्रुगृ-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

'अरुणया'—यहाँ विशेषण-विभक्ति का करणत्व अर्थ विवक्षित न होता, तब सूत्र-प्रतिपादित ऐककर्म्यरूप एकप्रयोजनकत्व सिद्ध नहीं होता, अतः न्यायामृतकार का 'विशेषणविभक्तेः साधुत्वार्थकत्वम्'—यह कथन असम्बद्ध है]।

(२-३) इसी प्रकार वाक्य-लक्षणा के अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं, जैसे—

"गच्छ गच्छसि चेत्कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद् यत्र गतो भवान्॥"

तथा 'विषं भुङ्क्ष्व'—इत्यादि ['गच्छ गच्छसि चेत्कान्त'—यह एक आक्षेपालङ्कार का उदाहरण है। यहाँ 'गच्छ गच्छसि चेत्'—इस विधि-वाक्य का निषेध में पर्यवसान बताया गया है—"अत्रानिष्टत्वाद् गमनस्य विधिः प्रस्खलद्रूपो निषेधे पर्यवस्यति" (सा० द० १०।६६)। नायिका को नायक का विदेश-गमन अभीष्ट नहीं, शिष्टाचार के नाते वह सीधे गमन का निषेध न कर लक्षणा वृत्ति के द्वारा कर रही है—'प्रियवर! यदि आप जाते हैं, तो जांय, आपका मार्ग मङ्गलमय हो, ईश्वर करे मेरा भी जन्म वहाँ ही हो, जहाँ आप जांय। जैसे यहां विधि वाक्य की निषेध में लक्षणा निश्चित है, वैसे ही 'विषं भुङ्क्ष्व'—इस वाक्य की भी]।

शङ्का—उक्त प्रथम उदाहरण में लक्षणा नहीं की जाती, अपितु अनुमित-अनुमान किया जाता है, क्योंकि कथित जन्म से नायक को नायिका के मरण का अनुमान होता है—'मद्गमनानन्तरं प्रतीयमानमस्याः जन्म, मरणपूर्वकम्, पूर्वशरीरत्यागपूर्वकशरीरान्तरपरिग्रहरूपत्वात्, सम्मतवत्।' उस अनुमित मरण के द्वारा मरण-कारणीभूत नायक-गमन के निषेध का अनुमान होता है—'मया गमनं न कार्यम्, अनिष्टसाधनत्वाद् विषभक्षणादिवत्'—इस प्रकार अनुमान-परम्परा रूप अन्य साधन से लभ्य (अवगत) गमन-निषेध को शब्दार्थ (शब्द की अभिधा वा लक्षणा वृत्ति के द्वारा ज्ञात) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनन्य-लभ्य (जो शब्द प्रमाण से अन्य प्रमाण के द्वारा अवगत न होकर शब्द प्रमाण से ही ज्ञात हो, उस) अर्थ को शब्दार्थ कहा जाता है, अन्य-लभ्य को नहीं, जैसे कि 'धूमोऽस्ति'—यह वाक्य जिस धूमरूप लिङ्ग का उपस्थापक मात्र है, उसके द्वारा वह्नि की अनुमिति होती है, अतः वह्निरूप अर्थ में न उस वाक्य की लक्षणा होती है और न अनुमित वह्नि को शब्दार्थ ही कहा जाता है, शबरस्वामी भी अपने मीमांसा-भाष्य (पृ० ९२१) में कहते हैं—"यश्चार्थादर्थो न स श्रौतः।"

इसी प्रकार 'विषं भुङ्क्ष्व'—यहाँ भी विष-भक्षण में इष्ट-साधनत्वाभिधान के द्वारा शत्रु-गृह के अन्न-भोजन में अनिष्ट-साधनता का आक्षेप होता है ['विषम्' पद में द्वितीया

न्यायामृतम्

न तु वाक्ये लक्षणा, अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः। विषं भुङ्क्ष्वेत्यादावपि प्रकृताच्छत्रुगृहभोजनाद् विषभक्षणस्येष्टसाधनतोक्त्या भोजनस्यानिष्टसाधनता आक्षिप्यते, न तु वाक्येन भोजनाकर्तव्यता लक्ष्यते। यद्वा तत्र विषशब्देनानिष्टसाधने विधिप्रत्ययेन च निषेधे लक्षिते निषेध्ये भोजने भुजिर्धातुर्मुख्य एवेति न सर्वपदानामेकार्थलक्षकता। वस्तुतस्तु 'अयमिदानीं मह्यं क्रुद्धः, आप्तत्वे सति प्रमाणविरुद्धकर्तव्यताभिधायित्वात्। क्रोधश्चास्य सन्निहितभोजनादेव। दृष्टहेतुत्यागेनादृष्टकल्पनायोगात्। अतो मयेदं न

अद्वैतसिद्धिः

हान्नभोजनस्यानिष्टसाधनत्वमाक्षिप्यते। यद्वा—आप्तस्य प्रमाणविरुद्धोपदेष्टृत्वेन कोपोऽनुमीयते। तत्र च प्रसक्तशत्रुगृहान्नभोजनस्य हेतुत्वं कल्पयित्वा तत्राकर्तव्यतानुमानम्, न लक्षणेति—चेत्, नैतत्साधु, जन्मना मरणाक्षेपेऽपि तन्मरणे गमनस्य हेतुत्वानाक्षेपात्, शतवर्षानन्तरं जरादिनापि तदुपपत्तेः। तथा च प्रियामरणे हेतुत्वं गमनस्य न लक्षणां विनाऽवगन्तुं शक्यम्। नापि प्रियामरणहेतुत्वेन गमनस्याकर्तव्यत्वानुमानम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विभक्ति अनीप्सित-कर्मता की बोधिका है। 'शत्रोरन्नं भुङ्क्ष्व', 'विषं भुङ्क्ष्व'—यह रूपकालङ्कार की शैली का व्यपदेश है, अतः विषगत अनिष्ट-साधनता का आक्षेप शत्रु के अन्न में सहजतः हो जाता है। अथवा किसी आप्त पुरुष के मुख से 'विषं भुङ्क्ष्व'—इस प्रकार का प्रमाण-विरुद्धाभिधान सुन कर श्रोता उस आप्त व्यक्ति में क्रोध का अनुमान करता है—'अयमाप्तपुरुषः क्रोधवान्, विरुद्धाभिधायित्वात्, प्रह्लादबधाभिधायिहिरण्यकशिपुवत्।' उस क्रोध में द्विषदन्न-भोजन-मूलकत्व का अनुमान होता है—'अयं क्रोधः द्विषदन्नभोजनमूलकः, तद्भोजनप्रसङ्गे जायमानत्वात्'। उसके पश्चात् शत्रु के अन्न-भक्षण में अकर्तव्यता का अनुमान होता है—'शत्रुगृहान्नभोजनम्, न कर्त्तव्यम्, आप्तक्रोधहेतुत्वेनानिष्टसाधनत्वाद् विषभक्षणादिवत्।' इतनी अनुमान-परम्परा के पश्चात् श्रोता उस अन्न-भक्षण से विरत हो जाता है, फलतः शत्रुगृहान्न-भोजनगत अकर्तव्यता अन्य-लभ्य होने के कारण शब्दार्थ नहीं कही जा सकती, क्योंकि किसी शब्द की अभिधा या लक्षणावृत्ति के द्वारा उसका लाभ नहीं होता।

समाधान—उक्त शङ्का संगत नहीं, क्योंकि कथित स्थल पर जन्मोक्ति से मरण का आक्षेप या अनुमान कर लेने पर भी प्रियतम के देशान्तर गमन में उस मरण की हेतुता का आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि—

मृत्युहेतुबहुत्वेन तद्धेतुत्वं गमने कुतः।
शरणीकरणीयाऽतो लक्षणाभ्यर्णवर्णिता॥

अर्थात् देशान्तर गमनोद्यत नायक यदि यह निश्चय कर लेता कि मेरा गमन ही प्रिया-मरण का हेतु होगा, तब अवश्य वह अपने गमन की अकर्तव्या पर उतारू हो जाता, किन्तु उसने यह अनुभव किया है कि जिन व्यक्तियों ने देशान्तर गमन किया, उन सब की प्रेमिकाएँ मर गईं—ऐसा नहीं, अपितु उनमें से कुछ सौ-सौ वर्ष जीने के पश्चात् जरा-जर्जरित होकर अपनी मौत मरी हैं, अतः अनुमानादि के द्वारा गमन में मरण की हेतुता का ज्ञान न होकर लक्षणा के द्वारा ही होगा। इसी प्रकार गमन में प्रिया-मरण-हेतुत्व के द्वारा अकर्तव्यता का अनुमान भी सम्भव नहीं, क्योंकि प्रिया की कथित उक्ति के पश्चात् भी गमनगत विद्यमान मरण-हेतुत्व का ज्ञान न हो पाने पर

अद्वैतसिद्धिः

प्रियामरणहेतोरपि तत्त्वेनाज्ञानदशायां गुरुनिदेशाद्वा आत्मत्राणार्थं वा कुलापकीर्तिपरिहारार्थं वा कर्तव्यत्वदर्शनेन व्यभिचारात्। तथा च गमनस्य प्रियामरणहेतुत्वं तादृशस्य चाकर्तव्यत्वमित्युभयमपि लक्षणाधीनम्, जन्मनिर्देशस्य च प्रकृतेऽनुपयोगात् तेन प्रकृतोपयोगिन्यगमने तात्पर्यं ज्ञाप्यते समुदायस्य। तथा च समुदाय एव लक्षणा। न प्रत्येकपदे, प्रत्येकं तात्पर्यज्ञापकाभावात्। तथा च नात्रानुमितिपरम्परा, न वा प्रत्येकपदे लक्षणा। एवं 'विषं भुङ्क्ष्वे'त्यत्रापि विषभोजनेष्टसाधनत्वेन शत्रुगृहान्नभोजनानिष्टसाधनत्वं नाक्षेप्तुं शक्यते, व्यधिकरणत्वात्, तेन विनाप्युभयोरपीष्टसाधनतयोपपत्तिसंभवाच्च। नहि येन केनचिद्यत्किंचिदाक्षिप्यते, किंत्वनुपपद्यमानेनोपपादकम्। नाप्यसत्वे सति प्रमाणविरुद्धोपदेष्टृत्वेन कोपानुमानं कोपेन च तद्धेतौ शत्रुगृहान्नभोजने अकर्तव्यतानुमानम्, आप्तस्यापि पित्रादेर्भ्रमादिना विनापि कोपं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

या गुरुजनों की अनुल्लङ्घनीय आज्ञा पाकर या भयङ्कर शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिए अथवा लोक-लज्जा कुलापकीर्ति के डर से देशान्तर गमन देखा जाता है, उस गमन में मरण-हेतुत्व रहने पर भी अकर्तव्यता नहीं रही, अतः व्यभिचारी होने के कारण मरण-हेतुत्व गमन में अकर्तव्यता का अनुमापक नहीं हो सकता। फलतः गमन में प्रिया-मरण-हेतुत्व और मरण हेतुभूत गमन में अकर्तव्यत्व—इन दोनों का ज्ञान लक्षणा के अधीन ही होता है। श्रोता यह जान लेता है कि प्रियोक्ति में जन्म के निर्देश की प्रकृत में कोई संगति नहीं, अतः गमन की अकर्तव्यता में ही प्रियोक्ति का समुदित तात्पर्य है, किसी एक पद की लक्षणा यहाँ नहीं, अपितु पद-समुदायभूत वाक्य की लक्षणा है। क्योंकि वाक्य-घटक प्रत्येक पद का तात्पर्य 'अगमन में है—इस तथ्य का ज्ञापक या विनिगमक हेतु यहाँ उपलब्ध नहीं। अतः यहाँ न तो अनुमान-परम्परा है और न प्रत्येक पद की लक्षणा।

इसी प्रकार 'विषं भुङ्क्ष्व'—यहां पर भी इस वाक्य से प्रतिपादित विष-भोजनगत इष्ट-साधनता के द्वारा शत्रु-गृहान्न-भक्षण में अनिष्ट-साधनता का आक्षेप नहीं हो सकता, क्योंकि साध्य और साधन—दोनों एक आधार में नहीं [सभी धूमादि साधन अपने आधारभूत पर्वतादि में ही वह्न्यादि साध्य के अनुमापक होते हैं, भिन्न अधिकरण में नहीं। यहाँ साधनीभूत इष्ट-साधनत्व रहता है—विष-भक्षण में और साध्यभूत अनिष्ट-साधनत्व है—शत्रु-गृहान्न-भक्षण में, अतः इनका साध्य-साधनभाव नहीं बन सकता]। जिसके विना जो अनुपपन्न होता है, उसी का ही आक्षेप अनुपन्न साधन के द्वारा किया जाता है, सबसे सबका आक्षेप नहीं किया जा सकता, विष-भक्षण तथा शत्रु-गृहान्न-भक्षण—इन दोनों में अनिष्ट-साधनत्व के विना इष्ट-शाधनत्व न रहता, तब उससे उसका आक्षेप किया जा सकता था, किन्तु अनिष्ट-साधनत्व के विना भी विष में आर्त तथा असाध्य रोगी आदि तथा शत्रुभाव के परिमार्जन का एक सरल उपाय होने के कारण शत्रु-गृहान्न-भक्षण में इष्ट-साधनत्व निश्चित है। यह जो कहा है कि आप्त पुरुष में 'विषं भुङ्क्ष्व'—इस प्रकार प्रमाण-विरुद्ध अभिधान के द्वारा कोप का अनुमान और उस कोप के द्वारा कोप के हेतुभूत शत्रुगृहान्न-भक्षण में अकर्तव्यता का अनुमान होता है, वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि पितादि आप्त पुरुष भी काम के बिना भी भ्रम-वश

न्यायामृतम्

कार्यमित्यनुमितिरेवात्र, न लक्षणा।

अर्धमन्तर्गृहमर्धं बहिर्गृहमित्यत्रापि धूमेनाग्निरिवार्धस्यान्तस्त्वे सति अर्धस्य

अद्वैतसिद्धिः

प्रमाणविरुद्धोपदेष्टृत्वदर्शनेन व्यभिचारादाप्तकोपहेतोरपि भ्रमादिना प्रियामरणहेतोरिव कर्तव्यत्वदर्शनेन तत्रापि व्यभिचाराच्च। तथा चाप्रसक्तप्रतिपादनेन प्रसक्तवारणे तात्पर्यं ज्ञात्वा तेनाकल्पितपदविभागे समुदाय एव लक्षणां कल्पयति, न तु प्रत्येकपदे, तत्र तत्र विशिष्य तात्पर्यज्ञापकाभावात्। तथा च पदार्थतात्पर्यान्वयानुपपत्तिभ्यां लक्षणा पदे। वाक्यार्थे तद्द्वयानुपपत्त्या लक्षणा वाक्ये। वाक्यार्थानुपपत्त्यनिबन्धनत्वं च लक्षणायाः पदवृत्तित्वसाधने उपाधिरित्यवधेयम्।

(४) एवमेवार्धमन्तरर्धं बहिरित्यादौ लोके अर्धमन्तर्वेद्यर्धं बहिर्वेदीति वेदेऽपि वाक्य एव लक्षणा। न च—तत्राप्यर्धस्यान्तस्त्वे सत्यर्धस्य बहिष्ट्वेनान्तरालानुमानम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रमाण-विरुद्ध अभिधान करते देखे जाते हैं, अतः प्रमाण-विरुद्धाभिधानरूप हेतु व्यभिचरित हो जाने के कारण कोप का अनुमापक नहीं हो सकता। इसी प्रकार कोप के द्वारा उसके हेतुभूत पदार्थ में अकर्तव्यता का अनुमान भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि कोप के हेतुभूत पदार्थ में भी भ्रम-वश कर्तव्यता का वैसे ही उपदेश देखा जाता है, जैसे कि प्रिया-मरण के हेतुभूत देशान्तर-गमन में कर्तव्यता का उपदेश। [अर्थात् किसी का पुत्र देशान्तर गमन के लिए उद्यत है, नव विवाहिता पत्नी कहती है—'गच्छ गच्छसि चेत् कान्त !' उसके कोप-सूचक वचन सुन कर भी उस पुत्र का पिता कोप के हेतुभूत देशान्तर-गमन में कर्तव्यता का उपदेश इस लोभ से कर देता है कि विदेश जाकर पुत्र कमाई करेगा और पिता को धन का लाभ होगा]। अतः कोप-हेतुत्व अकर्तव्यतोपदेश-विषयत्व से व्यभिचरित होने के कारण उसका अनुमापक नहीं हो सकता। फलतः आप्त पुरुष का विषं भुङ्क्ष्व'—ऐसा अप्रसक्ताभिधान सुन कर प्रसक्त (शत्रु-गृहान्न-भक्षण) के वारण (निषेध) में तात्पर्य जान कर श्रोता उसके द्वारा पद-विभाग को ध्यान में न रखकर विरचित 'विषं भुङ्क्ष्व'—इस पूरे वाक्य की लक्षणा करता है, प्रत्येक पद की नहीं, क्योंकि उक्त निषेध में प्रत्येक पद के तात्पर्य का ग्राहक कोई प्रमाण सुलभ नहीं। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि लक्षणा की नियामक तात्पर्यानुपपत्ति और अन्वयानुपपत्ति—ये दोनों अनुपपत्तियाँ यदि पदार्थ में हैं, तब पद को और यदि वाक्यार्थ में हैं, तब वाक्य को लक्षक माना जाता है। न्यायामृतकार ने जो न्याय-मतानुसार लक्षणा में पद-वृत्तित्व सिद्ध करने के लिए अनुमान-प्रयोग किया था—'लक्षणा, पदवृत्तिः, वृत्तित्वात्, शक्तिवत्'। उसमें वाक्यार्थान्वयानुपपत्ति-निमित्तक-त्वाभाव' उपाधि है [शक्ति का वाक्यार्थान्वयानुपपत्ति को निमित्त या नियामक नहीं माना जाता, अतः शक्तिगत पद-वृत्तित्वरूप साध्य की व्यापकता वाक्यार्थान्वयानुपपत्त्य-निबन्धनकत्व में है और वाक्यगत लक्षणा में वाक्यार्थान्वयानुपपत्ति-निबन्धनकत्व ही माना जाता है, उसका अभाव नहीं, अतः उक्त उपाधि साधन का अव्यापक है]।

(४) 'अर्धमन्तरम् अर्धं बहिः'—इत्यादि लौकिक तथा 'अर्धमन्तर्वेदि अर्धं बहिर्वेदि'—इत्यादि वैदिक वाक्य में भी लक्षणा मानी जाती है ['देवदत्तः क्वास्ते ?' इस प्रश्न का उत्तर मिलता है—अर्धमन्तर्गृहमर्धं बहिर्गृहम्', अर्थात् देवदत्त आधा घर में

न्यायामृतम्

बहिष्ट्वेन वाक्यार्थेनान्तरालप्रदेश आक्षिप्यते, न तु समुदाये लक्षणा। अनन्यलभ्यत्वाभावात्। एव(मर्धमंतर्वेदि मातव्यमर्धं बहिर्वेदी)ति वैदिकोदाहरणमपि नेयम्। तत्राप्य-

अद्वैतसिद्धिः

न लक्षणेति—वाच्यम्, छिन्ने गृहे अन्तरालराहित्येऽपि तद्द्वयदर्शनेन व्यभिचाराद् यथाकथंचिदनुमानसंभवे वा सर्वत्र शब्दप्रमाणोच्छेदापाताच्च।

(५-६) एवं च ब्रह्मजिज्ञासापदेन विचारो लक्ष्यत इति विवरणकारोक्तं यज्ञायुधिपदेन यजमानो लक्ष्यत इति संक्षेपशारीरकोक्तं च वाक्यलक्षणयोपपन्नम्, ब्रह्मजिज्ञासा यज्ञायुधिशब्दयोः सुबन्तत्वलक्षणपदत्वेऽपि शक्तत्वलक्षणपदत्वाभावेन शक्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

और आधा बाहर बैठा है। यहाँ पूरा वाक्य एकवाक्यतापन्न है, अतः उसका आधा अन्दर बैठा है, आधा बाहर बैठा है—ऐसा खण्डशः अर्थ करने पर वाक्य-भेद हो जाता है, अतः पूरे वाक्य की लक्षणा उस देश-विशेष में की जाती है, जहाँ देवदत्त बैठा है। इसी प्रकार अग्नीषोमीय पशु-कर्म में यूप जिस स्थान पर गाड़ा जाता है, उसका विधि वाक्य है—''अर्धमन्तर्वेदि मिनोति, अर्धं बहिर्वेदि'' (मै० सं० ३।९।४)। यहाँ यदि यूप की मोटाई के आधे भाग को उद्देश्य कर वेदि के अन्दर का कुछ संस्कृत देश तथा शेष आधे भाग के उद्देश्य से वेदि के बाहर का असंस्कृत देश अङ्गत्वेन विहित होता है, तब एकवाक्यतापन्न विधि वाक्य में वाक्य-भेदापत्ति होती है, अतः 'अन्तर्वेदि' और 'बहिर्वेदि'—इन दोनों शब्दों के द्वारा उस सन्धि देश में लक्षणा की जाती है, जहाँ यूप गाड़ने के लिए यूपावट (यूप के लिए गर्त या गड्ढा) खोदा जाता है, वार्तिककार कहते हैं—उभाभ्यामन्तर्वेदिबहिर्वेदिशब्दाभ्यां मध्यदेशो लक्ष्यते, नाङ्गाङ्गिभावो विधीयते।

कुतः कृतार्थसंयोगे देशकालोपलक्षणम्।
सर्वेष्विष्टं कृतार्थौ च वेदियूपाविहान्यतः॥

अङ्गाङ्गिभावे यूपो वा वेद्यङ्गं भवेद् वेदिर्वा यूपाङ्गम्, न चैवमुपपद्यते निराकांक्षत्वाददृष्टकल्पनाद् वाक्यभेदप्रसङ्गाच्च'' (तं० वा० पृ० १०८३)]। यदि कहा जाय कि यहाँ भी यूप के आधे भाग में अन्तःस्थत्व और आधे भाग में बहिःस्थत्व तब तक नहीं बन सकता, जब तक अन्तराल देश में गर्त न किया जाय, अतः अर्ध के अन्तस्त्व और बहिष्ट्व के द्वारा मध्यदेश का आक्षेप या अनुमान किया जाता है, लक्षणा नहीं। तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि जब घर की भित्ती गिर जाती है, वेदि की रेखा मिट जाती है और उनका सन्धि-देश या अन्तराल भाग नहीं रहता, तब भी 'अन्तः' और बहिः'—दोनों व्यवह्रियमाण होने के कारण अन्तराल देश से व्यभिचरित होते हैं, अतः उसके अनुमापक नहीं हो सकते। यदि यहाँ जैसे-तैसे अनुमान किया जाता है, तब सर्वत्र शब्द-व्यवहारस्थल पर टेढा-मेढ़ा, उल्टा-सीधा अनुमान करके शब्द प्रमाण मात्र का ही उच्छेद किया जा सकता है।

(५-६) विवरणकार ने जो कहा है—''जिज्ञासापदेन अन्तर्णीतं विचारमुपलक्ष्य अनुष्ठानयोग्यतया साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य ब्रह्मज्ञानाय विचारः कर्तव्य इति सूत्रवाक्यस्य श्रौतोऽर्थः सम्पद्यते'' (पं० वि० पृ० १४)। तथा संक्षेपशारीरककार ने कहा है—''यज्ञायुधीति वचने तु जहत्प्रवृत्तिः'' (सं० शा० १।१५७) अर्थात् ''स एष यज्ञायुधी-

न्यायामृतम्

न्तो लिङादेरभिधायकत्वाच्च ।

"वायुर्वै क्षेपिष्ठे" त्याद्यार्थवादिकपदसंघस्याप्यावयोर्मते कर्मणि क्षिप्रदेवता-प्रसादहेतुत्वरूपतत्तत्पदार्थसंसर्गबोधकत्वमेव, न तु तदन्यप्राशस्त्यलक्षकत्वम् । किं च तत्र लिङाद्यभिधेयकार्यान्वयानुपपत्तिरिवेह सर्वपदानामपि लक्षकत्वान्ना-

अद्वैतसिद्धिः

संबन्धरूपाया लक्षणाया अयोगात्, स्वज्ञाप्यसंबन्धरूपा तु लक्षणा यौगिकपदसमुदायेऽपि वाक्यस्थानीये नानुपपन्ना ।

(७) एवं 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते' त्यादौ अर्थवादेऽपि प्राशस्त्यप्रतिपत्तये वाक्य एव लणणाऽङ्गीकार्या, प्रत्येकपदात्तदनुपपत्तेः । न च—तत्र कर्मणि क्षिप्रदेवताप्रसाद-हेतुत्वरूपतत्पदार्थसंबन्धबोधकत्वमेव, न तु तदन्यप्राशस्त्यलक्षकत्वमिति—वाच्यम्, पदार्थमात्रसंसर्गबोधे वायुः शीघ्रतम इत्येव धीः स्यात्, न कर्मप्राशस्त्यविषया सा स्यात् । न च—लिङाद्यभिधेयकार्यस्यान्वयानुपपत्तिस्तत्र लक्षणाबीजमस्ति, प्रकृते च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति" (शत० ब्रा० १२।५।२।८) 'यहाँ यज्ञायुधी' पद की यजमान में जहल्लक्षणा होती है । वह भी वाक्य-लक्षणा-पक्ष में ही उपपन्न होती है । यद्यपि 'ब्रह्मजिज्ञासा' और 'यज्ञायुधी'–ये दोनों पद वैयाकरण (सुप्तिङन्तं पदम्) परिभाषा के अनुसार सुबन्त होने के कारण 'पद' कहे जाते हैं, वाक्य नहीं, तथापि नैयायिकों की (शक्तं पदम्) परिभाषा के अनुरूप पद नहीं, अपितु पद-समूह वाक्य हैं अतः इसकी शक्य-सम्बन्धरूप लक्षणा के उपपन्न न होने पर भी स्व-ज्ञाप्य-सम्बन्धरूप लक्षणा बन जाती है ।

(७) "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" (तै० सं० २।१।१) इत्यादि अर्थवाद के द्वारा कर्म-प्राशस्त्य की प्रतीति के लिए पूरे वाक्य की ही लक्षणा माननी चाहिये, क्योंकि किसी एक पद की लक्षणा उस में नहीं हो सकती ।

शङ्का—उक्त वाक्य की प्राशस्त्य में लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यहाँ विधि-वाक्य तथा उसके वाक्य-शेषभूत अर्थवाद-वाक्य के पदार्थों का अन्वय अनुपपन्न नहीं । "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः" (तै० सं० २।१।१) इस विधि का वाक्य-शेष है—"वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं भूतिं गमयति" । इसका अर्थ है—"वायु शीघ्रगामी देव है, जो यजमान वायु देवता को उसके स्वकीय श्वेत पशुरूप भागधेय (हवि) का समर्पण करता है, वह उससे प्रसन्न होकर उस यजमान को भूति (ऐश्वर्य) प्रदान करता है, अतः वायु के उद्देश्य से श्वेत पशु की आहुति देनी चाहिए ।' इस कर्म का यही प्राशस्त्य है कि इस से देवता प्रसन्न हो जाता है । इससे भिन्न और कुछ प्राशस्त्य पदार्थ सम्भव नहीं । यद्यपि मीमांसकगण देवता में (१) शरीरवत्ता, (२) हवि का उपभोग, (३) चैतन्य, (४) प्रसन्नता तथा (५) फल-दातृत्वादि नहीं मानते, तथापि हम दोनों (माध्व तथा अद्वैत वेदान्ती) तो मानते हैं, अतः पदार्थान्वयानुपपत्ति न होने के कारण लक्षणा का अवसर नहीं आता ।

समाधान—मीमांसक-मत के अनुसार ही उक्त वाक्य वाक्य-लक्षणा का उदाहरण

न्यायामृतम्

भिधेयान्वयानुपपत्तिरूपं लक्षणाबीजमस्ति। अपि च सर्वपदानां लक्षकत्वे लक्षकपदान्यननुभावकानीति पक्षे सत्यादिवाक्यस्यानुभावकत्वं न स्यात्। यदि च लक्ष्यपरं ब्रह्मपदं वाचकं तर्हि यौगिकं तदेव सखण्डार्थं स्यात्। ब्रह्मपदस्य पदार्थान्तरान्वयार्थमेव लक्षणाश्रयणेन पदार्थान्तरान्वितस्वार्थपरं च स्यात्। न च यष्टीः प्रवेशये" त्यादाविव तात्पर्यानुपपत्त्यैव लक्षणा न त्वन्वयानुपपत्त्येति वाच्यम्, तत्रापि भोजनादिकर्तृत्वेन प्रकृतानां प्रवेशनान्वयानुपपत्तेरेव तद्बीजत्वात्। इह प्राप्ते पदार्थमात्रे

अद्वैतसिद्धिः

सर्वपदानां लक्षकत्वादभिधेयान्वयानुपपत्तिर्नास्तीति—वाच्यम्, केन तुभ्यमभाण्यभिधेयानुपपत्त्या लक्षणेति ? किंतु तात्पर्यानुपपत्त्या। तच्च तात्पर्यमभिधेयान्वयविषयमन्वयसामान्यविषयं स्वरूपमात्रविषयं वेति न कश्चिद्विशेषः। अन्यथा यष्टीः प्रवेशयेत्यत्र लक्षणा न स्यात्। न च – भोजनप्रयोजनकप्रवेशनस्य यष्टिष्वन्वयानुपपत्तिरेवास्तीति—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रस्तुत किया गया है। पदार्थमात्र के संसर्गावबोध से केवल 'वायुः शीघ्रगः'—इतना ही प्रतीत होता है, मीमांसा-सम्मत कर्म-प्राशस्त्य नहीं, अतः अर्थवाद-वाक्य को कर्म-प्राशस्त्य में लक्षणा ही करनी होगी। मीमांसक देवता को केवल शब्दात्मक मानते हैं, अतः न उसमें प्रसन्नता बनती है और न फल-दातृत्व, फलतः देवता-प्रसाद से भिन्न ही कर्म-प्राशस्त्य सिद्ध होता है।

शङ्का—यदि उक्त वाक्य मीमांसक-मत-सिद्ध दृष्टान्त दिया गया है, तब दार्ष्टान्त में उसका साम्य नहीं रहता, क्योंकि दृष्टान्त-स्थल पर एक लिङ् पद को कार्यरूप (प्रभाकर-मतानुसार अपूर्वरूप और भाट्ट मतानुरूप भावनारूप) अर्थ का वाचक माना जाता है, सभी पदों को लक्षक नहीं एवं अभिधेयार्थान्वय की अनुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना जाता है, किन्तु प्रकृत में सभी पदों को लक्षक और तात्पर्यार्थानुपपत्ति को लक्षणा का नियामक माना जाता है, अभिधेयार्थानुपपत्ति सम्भव नहीं।

समाधान—यह किसने आप से कहा कि अभिधेयार्थान्वय की अनुपपत्ति लक्षणा का बीज है ? सर्वत्र तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का नियामक माना जाता है, वह तात्पर्य चाहे अभिधेयार्थ के अन्वय में हो अथवा स्वरूपमात्र में हो, कोई अन्तर नहीं पड़ता। [अर्थात् दृष्टान्तभूत 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' और दार्ष्टान्तभूत 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' में समानरूप से तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना जाता है। इतनी विशेषता अवश्य है कि कथित अर्थवाद-स्थल पर अभिधेयार्थान्वयानुपपत्तिरूप तात्पर्यानुपपत्ति और 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'—यहाँ पर स्वरूपावगतिरूप तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा का बीज है। वायुगत क्षेपिष्ठत्वादि के अभिधानमात्र से अर्थवाद-वाक्य की विधि-वाक्य के साथ एकवाक्यता सम्भव न होने के कारण पूरे अर्थवाद-वाक्य की कर्म के प्राशस्त्य में लक्षणा होती है और प्रकृत में विवक्षित स्वरूपावगति या अखण्ड-बोध की उपपत्ति के लिए सत्यादि वाक्य की स्वरूपमात्र में लक्षणा होती है]। यदि अभिधेयान्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा का हेतु माना जाता है, तब 'यष्टीः प्रवेशय' में लक्षणा न हो सकेगी—यह पहले कहा जा चुका है।

शङ्का—भोजन के प्रसङ्ग में 'यष्टीः प्रवेशय' कहा गया है। यदि केवल यष्टिरूप अभिधेयार्थ का ही घर में प्रवेश कर दिया जाता है, तब उसमें भोजन-कर्तृत्वरूप प्रयोजन

न्यायामृतम्

तात्पर्यायोगादित्युक्तत्वाच्च। एतेन वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिर्लक्षणाबीजमिति निरस्तम्, वाक्यस्यान्वयलक्षकता तु न संमता, अन्विताभिधानाङ्गीकारात्। अभिहितान्वयवादिभिस्तार्किकैरप्यन्वये लक्षणानंगीकाराच्च। अन्वय उपलक्ष्यत इति पक्षेऽपि पदान्तरैः प्रतियोग्युपस्थितौ प्रधानस्यैकपदस्य अन्वयलक्षकत्वोपपत्तेश्च गामानयेत्यस्माद् गामानय शुक्लां दण्डेनेति वाक्यस्येवेह पदान्तरप्रयुक्तस्य अधिकलक्षकत्वाभावाच्च। अस्तु वान्यत्र पदसंघे लक्षणा, इह तु न, तथा हि—यदि कृत्स्नं सत्यादिवाक्यं लक्षकम्, तर्हि तस्य विशिष्टार्थत्वेऽनन्तब्रह्मशब्दविरोधोक्तिः, सत्यादिपदैरनृतादिव्यवच्छेदोक्तिः, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म सत्यं ज्ञान'' मित्यादिश्रुतिर्ब्रह्मणो विज्ञानाद्यात्मकत्वे प्रमाणमित्युक्तिः, एकमेवाद्वितीय' मित्यादौ सजातीयविजातीयस्वगतनानात्वनिषेधोक्तिरित्याद्ययुक्तं स्यात्। सत्त्वाद्युद्देशेन ब्रह्मत्वाविधानाद् ब्रह्मबुभुत्सानिवृत्तिश्च न स्यात्। सगुणप्रपंचवाक्ययोरपि लक्षणयाऽखण्डार्थपरत्वसम्भवेन सगुणनिर्गुणादिविद्याविभागः, निर्गुणादिवाक्यैः सगुणादिवाक्यानां बाध इत्यादि चासंगतं स्यात्। "तदैक्षत स एषोऽनन्त" इत्यादीनामपि वाक्यलक्षणयाऽखण्डपरत्वेनेक्षणादौ तात्पर्याभावेनेक्षणानन्तत्वादिलिंगैः प्रधानाकाशादिनिरासके सत्याद्यधिकरणानारंभश्च स्यात्। कृत्स्नस्य ब्रह्मकाण्डस्य वाक्यलक्षणया शून्यादिपरत्वं कृत्स्नस्य च कर्मकाण्डस्य चैत्यवन्दनादिपरत्वं निर्विशेषधर्मिपरत्वं वा स्यादित्यलम्। तस्मादखण्डार्थत्वे पदान्तरवैयर्थ्यं दुर्वारम्।

[1]अपि च सत्यानन्दादिपदलक्षत्वे ब्रह्मणो नदीपदलक्ष्यस्य तीरस्यानदीत्ववदसत्यत्वानानन्दत्वादिकं स्यादिति शून्यवादापत्तिः। मुक्तिश्चापुमर्थः स्यात्, आनन्दानुभवाभावात्।

ननु न नदीशब्देन नदीत्ववाचिना तदाश्रयव्यक्तेर्लक्षणा, किं तु तदाश्रयव्यक्तिसम्बन्धिनस्तीरस्येति तस्यानदीत्वं इह तु सन्घटइत्यादाविव सत्तादिजातिवाचिभिः सत्यादिशब्दैः तदाश्रयव्यक्तेरेव लक्षणा एवं च सत्त्वसम्बन्धस्याशाब्दत्वेऽपि तीरस्य नद्येव ब्रह्मणोऽपि घटस्येव सत्तया सम्बन्धः सिध्यति, मुख्यार्थासम्बन्धे लक्षणायोगात्। जातिव्यक्त्योश्च तादात्म्यसम्बन्धात्। उक्तं हि—

सत्त्वादीनां हि जातीनां व्यक्तितादात्म्यदर्शनात्।
लक्ष्यव्यक्तिरपि ब्रह्म सत्त्वादि न जहाति नः॥

इतीति चेन्न, व्यक्तिः शब्दार्थ इति मते सद्व्यक्तितोऽन्यस्यैव लक्षणीयत्वेन ब्रह्मणः सत्त्वासिद्धेः। ननु गंगाशब्दे जहल्लक्षणा आनन्दादिशब्देषु तु जात्यंशत्यागेऽपि व्यक्त्यंशत्यागायोगाद् जहदजहल्लक्षणेति कथमनानन्दत्वापत्तिरिति चेन्न, तत्रानन्दत्वजातेरसत्त्वे तद्व्यक्तेरानन्दव्यक्तित्वासिद्धेः। तत्सत्यत्वस्य चौपनिषदे ब्रह्मण्यशब्देनासिद्धेः। जातिः शब्दार्थ इति मतेऽपि सन् घट इत्यादावपि शब्देन सत्तावैशिष्ट्याप्रतीतेः लक्षणाहेतुत्वेन प्रतीतेश्चेहापि सत्त्वेन तद्विशिष्टार्थमिदं त्वखण्डार्थमिति विभागायोगेन विभागार्थं सन्घट इत्यादितो विशेषेण सत्यादिशब्दानां लक्षकत्वार्थं च नद्यां घोष इत्यादाविव जात्याश्रयव्यक्तिसम्बन्धित्वेनैव ब्रह्मणो लक्षणीयत्वेन सत्त्वासिद्धेः। एतेन यथा शोणिमगुणवाचिनः शोणशब्दस्य (तद्विशिष्टः पदार्थो लक्ष्यः) गुणविशिष्टाऽश्वव्यक्तिर्लक्ष्या यथा वा तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहौ कर्णादिवाचिनः कर्णादिशब्दस्य तद्विशिष्टोऽन्यपदार्थो लक्ष्यः, तथा सत्तादिवाचिनां सत्यादिशब्दानां सत्तादिविशिष्टो लक्ष्य इति

१. अस्य प्रत्यालोचना द्रष्टव्या ८०५–८०६ तमे पृष्ठे।

न्यायामृतम्

सत्तादिसम्बन्धः शाब्द एवेति निरस्तम्। लक्ष्यस्य तात्पर्यविषयस्य विशिष्टत्वापातात्। न च सन्घट इत्यादौ विशिष्टं लक्ष्यम्, इह तु व्यक्तिमात्रम्। तेनेह शब्दस्याखण्डार्थत्वं लक्षणाहेतुत्वेन ब्रह्मणस्सत्त्वासिद्धिश्चेति वाच्यम्, लक्षणाया घटादाविवातात्त्विकसत्व-सम्बन्धेनाप्युपपत्तेः। श्रुतेरेव वाच्ये सत्त्वेपि तात्पर्ये तु सखण्डार्थत्वम्। न चानुगत-सत्तैव ब्रह्मेति सत्तासम्बन्धाभावेऽपि सत्स्यादिति वाच्यम्, वाच्यातिरिक्तलक्ष्याभावा-पातात्। ब्रह्मणः परतन्त्रत्वादिरूपजातित्वायोगाच्च। एतेन ब्रह्मस्वरूपातिरिक्तसत्ता-हीनमपि सत्तावत् सत्स्वभावमिति निरस्तम्, सच्छब्दस्य तत्र लाक्षणिकत्वात्। सत्तायामिव च मानान्तराप्रवृत्तेर्ब्रह्मणः सत्स्वभावत्वे मानाभावात्। कथं च परमार्थ-सति मुख्यस्य सत्यशब्दस्य जातिवाचिता, [1]सद्व्यक्तेरेकत्वात्। एतेन सद्द्रव्यं कुंभ इति पदानि तत्तज्जातिद्वारा एकां कुंभव्यक्तिमिव सत्यादिपदान्यपि सत्तादिजातिद्वारा एकामेवानन्यव्यक्तिं लक्षयंतीति कल्पतरूक्तं निरस्तम्, तद्वदेवातात्त्विकसत्तादिविशिष्टार्थ-त्वापातात्। एवं च—

सौगतोक्तस्वाभिमतशून्यतासिद्धये परैः।
सत्यज्ञानादिवाक्यानां लक्षणोक्ता परात्मनि॥

तस्मात्सत्यज्ञानादिवाक्यानां नाखण्डार्थत्वम्। सत्यज्ञानादिवाक्यानामखण्डार्थ-त्वानुमानभंगः॥ २॥

---

१. सद्व्यक्तेरिति। परमार्थसद्व्यक्तेरेकत्वेन तत्र जात्ययोगादित्यर्थः। अपरमार्थसतां बहूनां विद्यमानत्वेन जातित्वोपपत्तेः परिहारायोक्तम्। परमार्थसति मुख्यस्येति। सत्तादिजातीति। सत्त्वतद्व्या-प्यद्रव्यत्वद्रव्यव्याप्यकुम्भत्वरूपजात्याख्यमुख्यार्थबोधनद्वारेत्यर्थः। एकामिति। तथा च कुम्भव्यक्तेः सद्द्र-व्यादिपदलक्ष्यत्वेऽपि तस्याः सद्रूपत्वादिकं यथा एवं यद्यपि सत्यादिपदानि ब्रह्म लक्षयन्ति, तथापि ब्रह्मणः सदानन्दादिरूपत्वं युक्तं लक्ष्यार्थस्यैकत्वेऽपि वाच्यार्थभेदादपर्यायत्वं च युक्तमित्यर्थः। एतेनेत्युक्तं विशद-यति—तद्वदेवेति। कुम्भव्यक्तेः सदादिशब्दलक्ष्यत्वेऽपि सत्त्वादिवैशिष्ट्यं अतात्त्विकमेव प्रतीयते एवं प्रकृते ब्रह्मणः सत्यादिपदलक्ष्यत्वेन तात्त्विकसत्त्वाभावेऽपि अतात्त्विकसत्त्वादिवैशिष्ट्यमेव स्यात् तथा चातात्त्वि-कसत्त्वादिवैशिष्ट्यप्रतिपादकत्वाद वेदान्तानां अतत्त्वावेदकत्वं स्यादिति भावः। कथं च परमार्थसति मुख्यस्य सत्यशब्दस्य जातिवाचिता तद्व्यक्तेरेकत्वादित्युक्तदूषणमपि एतेनेत्यनेनातिदिष्टं द्रष्टव्यम्। संगृह्णाति एवं चेति॥ स्वाभिमतेति॥ सत्यादिपदैर्ब्रह्मणि तात्पर्यतः सत्यत्वाद्यनर्पणमिच्छतः शून्यसदृश-ब्रह्मसिद्धिरेवाभिमतेत्यर्थः। भंगार्थमुपसंहरति—तस्मादिति॥ शून्यवादापत्तेरित्यर्थः॥

—इति श्री निवालाचार्याः।

अद्वैतसिद्धिः

वाच्यम्, एवमपि प्रवेशनविशेषे तात्पर्यग्रह एवोपजीव्य इति तदनुपपत्तिरेव लक्षणाबीजमस्तु। विनिगमनाविरहेण द्वयोरपि व्यवस्थितविकल्पेऽप्यस्माकं न क्षतिरित्यवधेयम्।

ननु – सर्वपदानां लाक्षणिकत्वे वाक्यार्थानुभवो न स्यात्, लाक्षणिकस्याननुभावकत्वादिति—चेन्न, लाक्षणिकत्वेऽप्यनुभावकत्वोपपत्तेः। शक्तत्वेन ह्यनुभावकत्वम्, न तु तच्छक्तत्वेन, गौरवात्। लाक्षणिकमपि क्वचिच्छक्तमेव, भट्टाचार्यैर्वाक्यार्थस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

की सिद्धि नहीं होती, अतः भोजन-प्रयोजनक प्रवेशरूप अभिधेयार्थ का यष्टी में अन्वय उपपन्न नहीं, अतः अभिधेयार्थान्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा का निमित्त मानना उचित है, तात्पर्यानुपपत्ति को नहीं।

समाधान—उक्त स्थल पर प्रवेश में भोजन-प्रयोजनकत्व का लाभ तात्पर्य-ग्रह के आधार पर ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। अतः अभिधेयानुपपत्ति के उपजीव्यभूत तात्पर्य-ग्रह की अनुपपत्ति ही वहाँ लक्षणा का बीज है। यदि विनिगमक प्रमाण का अभाव दिखाकर अभिधेयानुपपत्ति और तात्पर्य-ग्रहानुपपत्ति—दोनों में से किसी बीज के भी मानने का विकल्प उपस्थित किया जाता है, तब उक्त अर्थवाद-स्थल पर तात्पर्य-ग्रहानुपपत्ति तथा अन्यत्र अभिधेयानुपपत्ति का व्यवस्थित विकल्प मान लेने पर भी कोई क्षति नहीं ["व्रीहिभिर्यजेत" और 'यवैर्यजेत'—दोनों वाक्यों से विहित समान-प्रयोजनक व्रीहि और यव का विकल्प माना जाता है, किन्तु वह अव्यवस्थित विकल्प नहीं कि एक ही व्यक्ति एक बार व्रीहि और दूसरी बार यव से याग कर सके, अपितु एक शाखा के जिस व्यक्ति ने व्रीहि-कल्प अपनाया है, वह जीवन पर्यन्त व्रीहि-कल्प का ही अनुष्ठान करेगा और जिस व्यक्ति ने आरम्भ यव से किया है, वह यवकल्प का ही जीवन-भर पालन करेगा—इसे ही व्यवस्थित विकल्प कहा जाता है। इसके आधार पर "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' में अद्वैती लोग तात्पर्यानुपपत्ति और अन्य लोग अभिधेयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते चले जाते हैं, तब भी कोई क्षति नहीं, दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का किसी प्रकार का वैषम्य उपस्थित नहीं होता।

शङ्का—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—इस वाक्य के सभी पद यदि लाक्षणिक हैं, तब वाक्यार्थानुभव नहीं होगा, क्योंकि लाक्षणिक पदों को शाब्द बोध का जनक नहीं माना जाता ['गङ्गायां घोषः'—यहाँ पर 'गङ्गा' पद तीर अर्थ का स्मारक होता है, तीर विषयक शाब्द बोध का जनक नहीं—ऐसा कुछ प्राचीन आचार्यों का कहना है। दूसरे आचार्य कहते हैं कि 'गङ्गा' पद तीर का स्मारक है, अनुभावक नहीं, तब गङ्गपदोत्तर सप्तमी विभक्ति के अधिकरणत्वरूप अर्थ का तीर में अन्वय न हो सकेगा, क्योंकि शाब्द का शाब्द के साथ ही अन्वय होता है, अशाब्द के साथ नहीं, अतः 'गङ्गा' पद तीर का उपस्थापक है, किन्तु अनुभावक नहीं, क्योंकि तीरविषयक अन्वय-बोध में तीरानुयोगिक अन्वय के प्रतियोगी का शक्त पद अपेक्षित होता है। सभी पदों के लाक्षणिक होने पर तो कभी भी शाब्द बोध नहीं होता]।

समाधान—लाक्षणिक पद भी अनुभावक माने जाते हैं। शाब्द बोध में शक्त पद का ज्ञान अवश्य अपेक्षित होता है, किन्तु प्रकृत अर्थ में ही शक्त होना चाहिए—यह आवश्यक नहीं, अन्यथा गौरव होगा। गङ्गादि लाक्षणिक पद भी किसी-न-किसी अर्थ

अद्वैतसिद्धिः

सर्वपदलक्ष्यत्वाभ्युपगमाच्च। तथा हि—अभिहितान्वयवादे पदैः स्वशक्तिवशात् पदार्था अभिधीयन्ते; न तु स्मार्यन्ते, स्मार्यस्मारकसंबन्धातिरिक्तमूलसंबन्धकल्पनापत्तेः। एकसंबन्धिज्ञानं ह्यपरसंबन्धिस्मारकम्, न तु स्मारकत्वमेव संबन्धः, हस्तिपकादिषु तथा दर्शनात्। अत एवोक्तं—'पदमभ्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशिष्यते ॥' इति। अज्ञातज्ञापकत्वाभावान्नानुभावकम्, संबन्धान्तराभावाच्च न स्मारकम्, किंतु शक्त्या-ज्ञातज्ञापकमिति स्मारकसदृशमित्यर्थः। स्मृत्यनुभवातिरिक्तं च ज्ञानं प्रमाणबलादाया-तमङ्गीकार्यमेव, पदार्थज्ञाने तत्तानुल्लेखाच्च, तत्तोल्लेखनियमभङ्गे नात्र तत्प्रमोषकल्पने चातिगौरवात्। तथा च पदजन्यस्मृत्यनुभवविलक्षणज्ञानविषयीभूताः पदार्थाः अभि-हिता इत्युच्यन्ते। तादृशाश्चाकाङ्क्षाद्यनुसारेण स्वान्वयमनुभावयन्तीति वाक्यार्थो लक्ष्य इत्युच्यते, पदेन यद् बोध्यते तच्छक्यम् पदार्थेन यद् बोध्यते, तल्लक्ष्यमिति निय-मात्। अत एवोक्तं 'वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति नः स्थितम्' इति। यद्यपि पदाभिहितपदार्थस्मार्यत्वं तीरादौ लक्ष्यत्वम्, वाक्यार्थे तु तदनुभाव्यत्वमिति विशेषः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

में शक्त होते ही हैं। श्री कुमारिल भट्ट तो वाक्यार्थ को सभी पदों का लक्ष्यार्थ मानते हैं, क्योंकि भाट्टाभिमत अभिहितान्वयवाद में वाक्य-घटक अपनी शक्ति के द्वारा पदार्थों के अभिधायक ही होते हैं, स्मारक नहीं, अन्यथा स्मार्य-स्मारकभावरूप सम्बन्ध का नियामक स्मारकत्व से अतिरिक्त कोई मौलिक सम्बन्ध मानना पड़ेगा, क्योंकि दो सम्बद्ध पदार्थों में से एक सम्बन्धी का ज्ञान अन्य सम्बन्धी का स्मारक होता है, स्मारकत्व ही सम्बन्ध नहीं माना जाता। जैसे हस्ती और हस्तिपक (महावत) दोनों संयुक्त होते हैं, अतः उस संयोग के एक सम्बन्धी का ज्ञान ही अन्य सम्बन्धी का स्मारक माना जाता है। अत एव वार्तिककार ने कहा है—

पदमभ्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशिष्यते।
यदाधिक्यं भवेत्तत्र स पदस्य न गोचरः ॥ (श्लो० वा० श० १०७)

[पद-जन्य बोध अनुभवात्मक होने पर भी, स्मरण से उसके विषय में कोई अन्तर नहीं होता, क्योंकि 'गामानय'—इत्यादि से क्रिया-सम्बन्धरूप जो अधिक विषय प्रतीत होता है, वह पद का विषय नहीं माना जाता]। पद से जनित बोध अज्ञातार्थ-ज्ञापक न होने के कारण अनुभवात्मक नहीं कहा जाता और संयोगादि मौलिक सम्बन्धान्तर-सापेक्ष न होने के कारण स्मरण भी नहीं होता, किन्तु शक्ति वृत्ति के द्वारा अज्ञातार्थ का ज्ञापक एवं स्मरण-सदृश होता है। यद्यपि यह ज्ञान स्मरण और अनुभव—दोनों से भिन्न सा है, तथापि प्रमाण के बल पर लब्ध होने के कारण प्रमात्मक माना जाता है। उसे स्मरण इस लिए भी नहीं कह सकते कि उसमें तत्ता का उल्लेख नहीं होता, जब कि स्मरण ज्ञान में नियमतः तत्ता का भान होता है। फलतः स्मृति और अनुभव से विलक्षण पद-जन्य आन के विषयीभूत पदार्थ पद के द्वारा अभिहित होते हैं। उस विलक्षण ज्ञान के विषयीभूत पदार्थ ही आकांक्षादि के अनुसार स्वकीय अन्वय के अनुभावक माने जाते हैं, अतः सर्वत्र वाक्यार्थ लक्ष्य कहा जाता है। पद के द्वारा जो बोधित है, उस अर्थ को शक्य और पदार्थ-द्वारा जो बोधित होता है, उसे लक्ष्य कहते हैं। अत एव कहा गया है—''वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति नः स्थितम्।'' यद्यपि पदाभिहित पदार्थ के द्वारा तीरादिगत स्मार्यत्व को लक्ष्यत्व और वाक्यार्थ में अनुभाव्यत्व माना जाता है—

अद्वैतसिद्धिः

तथापि पदार्थबोध्यत्वमादाय लक्ष्यत्वव्यपदेशः। अत एव पदार्थेन पदार्थलक्षणायां पूर्वसंबन्धज्ञानापेक्षा, तस्य स्मार्यत्वाद्, वाक्यर्थलक्षणाया तु न तदपेक्षा, तस्यानुभाव्यत्वेन पूर्वसंबन्धज्ञानानपेक्षत्वात्। पदार्थलक्षणायां पूर्वसंबन्धज्ञानमेव वाक्यार्थलक्षणायामाकाङ्क्षादिकमेवेति परस्परनिरपेक्षमुभयं नियामकम्। अतोऽपूर्वे वाक्यार्थे शक्यसंबन्धितया ज्ञातुमशक्ये कथं लक्षणेत्यपास्तम्, पदार्थलक्षणाया एव तथात्वात्। एवं च पदशक्तेः पदार्थोपस्थितावेवोपक्षयादुपस्थितानां च पदार्थानामन्वयानुभावकत्वात् सर्वपदलाक्षणिकत्वेऽपि न वेदान्तवाक्यानामन्वयानुभावकत्वानुपपत्तिः।

स्यादेतत्- अभिहितान्वयवादे मा भूदनुपपत्तिः, अन्विताभिधाने तु भवति, तथा हि पदानामन्वयानुभवजननसामर्थ्यमेव शक्तिरित्युच्यते, एकैकपदार्थोपस्थितिस्तु स्मृतिरूपा, न शक्तिसाध्या, एकसंबन्धिज्ञानादपरसंबन्धिस्मरणस्य हस्तिपकादिसाधारणत्वाद्, अन्वयानुभवजननसामर्थ्यरूपस्य च मूलसंबन्धस्य विद्यमानत्वात्। अत एव पदशक्त्यसाध्यत्वात् पदार्थोपस्थितेः स्मृत्यन्तरसाधारणायास्तद्वैजात्यकल्पने

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इतनी विशेषता है, तथापि पदार्थ-बोध्यत्व को लेकर लक्ष्यत्व-व्यवहार हो जाता है। अत एव एक पदार्थ के द्वारा अन्य पदार्थ की लक्षणा में संयोगादि पूर्व सम्बन्ध के ज्ञान की अपेक्षा होती है और अन्य पदार्थ को स्मार्य कहा जाता है, किन्तु वाक्यार्थ की लक्षणा में सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नहीं होती और वाक्यार्थ को अनुभाव्य कहते हैं, अनुभाव्य होने के कारण पूर्व सम्बन्ध के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। एक पदार्थ से अपर पदार्थ के स्मरण में संयोगादि पूर्वतन सम्बन्ध का ज्ञान तथा वाक्यार्थ-लक्षणा में आकाङ्क्षादि ही अपेक्षित हैं—इस प्रकार का कथित दोनों स्थलों पर परस्पर-निरपेक्ष नियामक माना जाता है। अत एव अपूर्व (अधिक) वाक्यार्थ में शक्य-सम्बन्धित्व का ज्ञान न होने पर भी लक्षणा मानी जाती है, क्योंकि वह पदार्थ की लक्षणा ही वैसी है, जहाँ शक्य सम्बन्ध-ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। इस प्रकार पदगत शक्ति पदार्थों की उपस्थिति में ही क्षीण हो जाती है, उपस्थित पदार्थ स्वकीय अन्वय के अनुभावक हैं। सभी पदों के लाक्षणिक होने पर भी वेदान्त-वाक्यों में अन्वयानुभावकत्व की अनुपपत्ति नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक पद को अनुभावक नहीं माना जाता, अपितु एक पद-समभिव्याहृत पदान्तरत्वरूप आकांक्षा-ज्ञान के माध्यम से वाक्य-ज्ञान को अनुभावक माना जाता है।

शङ्का—भाट्ट-सम्मत अभिहितान्वयवाद में किसी प्रकार की अनुपपत्ति न होने पर भी प्रभाकर-सम्मत अन्विताभिधान-वाद में अनुपपत्ति अवश्य है, क्योंकि इस वाद के अनुसार पदगत अन्वयानुभव-जनन सामर्थ्य को ही शक्ति कहा जाता है। एक-एक पदार्थ की उपस्थिति तो स्मरणात्मक ही होती है, वह शक्ति-साध्य नहीं, क्योंकि 'एक-संबंधिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकं भवति'—यह नियम जैसा महावत को देख कर हाथी के स्मरण में है, वैसा ही पद के ज्ञान से पदार्थ-स्मरण में भी है, क्योंकि दृष्टान्त-स्थल पर संयोग सम्बन्ध के समान ही दार्ष्टान्त में भी अन्वयानुभव-जनन सामर्थ्यरूप मूल सम्बन्ध विद्यमान है। अत एव पद-शक्ति से साध्य न होने के कारण पदार्थोपस्थिति वैसे ही स्मृतिरूप होती है, जैसे दूसरी स्मृतियाँ, उनसे पदार्थोपस्थिति का वैलक्षण्य मानने में कोई प्रमाण नहीं, अतः किसी प्रकार का बाध न होने पर अर्थाध्याहार-पक्ष ही अपनाया

अद्वैतसिद्धिः

च मानाभावादर्थाध्याहार एवासति बाधके, न पदाध्याहारः, पुष्पेभ्य इत्यत्र साधुत्वार्थं स्पृहयतिपदस्य 'विश्वजिता यजेते'त्यत्र नियोज्यलाभार्थं स्वर्गकामपदस्य सौर्ये चरावतिदेशप्राप्ते 'अग्नये जुष्टं निर्वपामी'ति मन्त्रे प्रकृतौ वाचकपदवत्तया क्लृप्तोपकारे अग्निपदबाधेन वाचकपदलाभाय सूर्यपदस्य चाध्याहारेऽपि पदार्थस्मरणाय वाक्यार्थानुभवाय वा तदनपेक्षणात्। शाब्दत्वं च पदजन्यान्वयानुभवत्वेनैव, न पदजन्योपस्थितिजन्यान्वयानुभवत्वेन, गौरवात्। अत एव योग्यतावच्छेदकस्य छिद्रेतरत्वादेः पदादनुपस्थितस्यापि पदजन्यान्वयानुभवविषयत्वाच्छाब्दत्वम्, अन्यैरप्यनुकूलत्वप्रतियोगित्वादीनां तथात्वाभ्युपगमात्। एवं च चैत्रोऽयमित्यादौ लोके 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यादौ च वेदे प्रत्यक्षोपस्थितानामेव चैत्रोद्भिदादिपदानां नामत्वेनान्वयः, अन्यथा चैत्रपदवाच्योऽयं उद्भित्पदवाच्येन यागेनेत्यादिकल्पने लक्षणाप्रसङ्गात्, अगृहीतसङ्गतिके पदे तदयोगात्। 'घटः पटो ने' त्यत्र नञन्वय इव चैत्रोऽयमित्यादिनाम-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाता है, पदाध्याहार-पक्ष नहीं। यद्यपि 'पुष्पेभ्य':—यहाँ पर केवल पद-साधुत्व के लिए ("स्पृहेरीप्सितः" पा० सू० १।४।३६ के अनुसार) 'स्पृहयति' पद का, "विश्वजिता यजेत" तां० ब्रा० १९।४।५) यहाँ पर (स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्" जै० सू० ४।३।१३ के अनुसार) प्रभाकर-सम्मत नियोज्य (अधिकारी) का लाभ करने के लिए 'स्वर्गकाम' पद का तथा "सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः" (तै० सं० २।३।२।३) यहाँ पर अतिदेश के आधार पर "अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि" (तै० सं० १।१।४।२) इस मन्त्र के प्राप्त होने पर प्रकृतोपयोगी अग्निपद-बाधपूर्वक 'सूर्य' पद का अध्याहार होता है, तथापि पदार्थ-स्मरण और वाक्यार्थानुभव के लिए उनकी अपेक्षा नहीं होती, बोधगत शाब्दत्व का प्रयोजक पद-जन्य अन्वयानुभवत्व ही होता है, पद-जन्य जो पदार्थोपस्थिति, उससे जन्य अन्वयानुभवत्व नहीं, अन्यथा गौरव होगा। अत एव 'घटेन जलमाहर' में घटगत योग्यतावच्छेदक निश्छिद्रत्व की पद से अनुपस्थिति होने पर भी उसमें पद-जन्य अन्वयानुभव की विषयता रहने के कारण शाब्दत्व माना जाता है। अन्य (प्राचीन तार्किकादि) आचार्य भी उसी प्रकार के अनुकूलत्व और प्रतियोगित्वादि में शाब्दत्व मानते हैं। इस प्रकार 'चैत्रोऽयम्'—इत्यादि लौकिक और "उद्भिदा यजेत" (तां० ब्रा० १९।७।२।३) इत्यादि वैदिक स्थल पर प्रत्यक्षादि से उपस्थित चैत्र और उद्भिदादि पदों का नामत्वेन अन्वय होता है अन्यथा (पद-जन्य पदार्थोपस्थिति की अपेक्षा करने पर) 'चैत्रपदवाच्योऽयम्', 'उद्भित्पदवाच्येन यागेनेष्टं भावयेत्'—इस प्रकार लक्षणा करनी पड़ेगी, किन्तु जिस पद का शक्तिग्रह नहीं होता, उसकी शक्य-सम्बन्धी में लक्षणा नहीं हो सकती। 'घटः पटो न'—यहाँ पर जैसे विभक्त्यर्थ को माध्यम न बना कर नञर्थ का नामार्थ के साथ सीधा अन्वय होता है, वैसे ही "चैत्रोऽयम्" इत्यादि स्थल पर भी नामधेय के अन्वय में भी विभक्त्यर्थ को द्वार नहीं बनाया जाता, अपितु 'यन्नामर्थे चैत्रादिनाम्नो वाच्यतासम्बन्धेनान्वयः, तन्नामसमानविभक्तिकत्वं तस्यापेक्ष्यते'—इस व्युत्पत्ति के आधार पर अन्वय होता है। नञर्थान्वय में विभक्त्यर्थ की अपेक्षा होने पर अद्वैतवादी की विजय निश्चित है, क्योंकि 'नीलं सुगन्धि महदुत्पलम्'—यहाँ पर जैसे नीलादि पदार्थों का अभेदेन अन्वय होता है, वैसे ही 'घटः पटो न भवति'—यहाँ पर भी घट और पट के साथ नञर्थ का अभेदान्वय

अद्वैतसिद्धिः

धेयान्वयेऽपि विभक्त्यर्थद्वारत्वानपेक्षणेन व्युत्पत्त्यन्तरकल्पनात् नञन्वये विभक्त्यर्थापेक्षायां जितमद्वैतवादिभिः, नीलं सुगन्धिमहदुत्पलमितिवत् घटपटनञर्थानामभेदान्वयोपपत्तेः। नामधेये विभक्त्यर्थापेक्षायां वेदे नामधेयत्वं न सिध्येदिति जितं पूर्वपक्षिणा, 'सोमेन यजेते'त्यत्रेव मत्वर्थलक्षणयोद्भिदा यजेतेत्यादावपि विशिष्टविधित्वोपपत्तेः, उभयत्र लक्षणायास्तुल्यत्वेऽपि प्रवृत्तिविशेषकरत्वेत विधित्वस्यैवोचितत्वात्। वार्तिककाराणां तु पदार्थोपस्थितेः पदशक्तिसाध्यत्वात्तदर्थं सर्वत्र पदाध्याहाराङ्गीकारेऽपि नामधेयान्वये व्युत्पत्त्यन्तराश्रयणमस्त्येव। तथा च स्वयमेव व्युत्पादितं नामधेयाधिकरण इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या। प्रकृतमनुसरामः—एवं स्थिते लाक्षणिकमप्यन्वयानुभावकं चेदन्वयानुभवजननसामर्थ्यमेव शक्तिरिति लाक्षणिकस्यापि तद्वत्त्वान्मुख्यजघन्यविभागो न स्यात्। तथा च लिङ्गाधिकरणविरोधः। तत्र हि 'बर्हिर्देवसदनं दामी'त्यादिमन्त्राणां मुख्ये जघन्ये चार्थे लिङ्गाद्विनियोगः उत मुख्य एवेति संशय्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

बन जाता है। [अर्थात् नञ् पदोत्तर प्रथमा विभक्ति साधुत्वमात्रार्थक है तथा विशेष्य-विभक्ति-सजातीय विशेषण-विभक्ति अभेदार्थक होती है, अतः 'घटो भेदाभिन्नः'—इस प्रकार का बोध प्राप्त होता है]। नामधेय में विभक्त्यर्थ की अपेक्षा होने पर अनादि वेद में सादि नामधेय सम्भव न होने के कारण पूर्व पक्षी विजयी हो जाता है, क्योंकि 'सोमेन यजेत' (तै० सं० ३।२।२) यहाँ पर जैसे सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्'—ऐसी मत्वर्थ-लक्षणा होती है, वैसी ही 'उद्भिदा यजेत'—इत्यादि में भी 'उद्भिद्वता यागेनेष्टं भावयेत्'—ऐसी विशिष्ट विधि ही पूर्वपक्षी को सम्मत है। यद्यपि 'उद्भिद्' पद की नामधेय तथा मत्वर्थलक्षणा—इन दोनों में लक्षणा समान है, तथापि मत्वर्थ लक्षणा-पक्ष में याग के द्रव्यविशेष का लाभ हो जाने से यागानुष्ठान में द्रव्यान्वेषण-प्रयुक्त विलम्ब न होकर याग का शीघ्र अनुष्ठान हो सकेगा, अतः मत्वर्थ-लक्षणा मानने पर विशिष्ट-विधित्व-पक्ष बलवान् है। वार्तिककार श्री कुमारिल भट्ट के अभिहितान्वय-वाद में पदार्थ की उपस्थिति पद-शक्ति से साध्य होती है, अतः पद का अध्याहार आवश्यक है, फिर भी नामधेय के अन्वय में कथित व्युत्पत्त्यन्तर का आश्रयण आवश्यक है, जैसा कि स्वयं वार्तिककार ने नामधेयाधिकरण (जै० सू० १।४।१) में प्रतिपादित किया है—यह एक प्रासङ्गिक चर्चा है, इसका अधिक विस्तार अनावश्यक है, अब हम अपने प्रकरण में आ रहे हैं कि लाक्षणिक पद भी यदि अन्वय का अनुभावक माना जाता है, तब अन्वयानुभव-जनन सामर्थ्य ही शक्ति कहलाती है, अतः लाक्षणिक पद में भी वही शक्ति माननी पड़ेगी, तब 'शक्ति वृत्ति मुख्य और लक्षणा वृत्ति जघन्य (गौण) होती है'—इस प्रकार का विभाग संगत नहीं रह जाता, अतः लिङ्गाधिकरण (जै० सू० ३।२।१) का विरोध उपस्थित होता है, क्योंकि वहाँ ''बर्हिर्देवसदनं दामि'' (मै० सं० १।१।२) यह मन्त्र कुशादि बर्हिः की लवन (काटना) क्रिया का प्रकाशक है, अतः लिङ्ग (शब्द-सामर्थ्य) प्रमाण के आधार पर उसी क्रिया में विनियुक्त होता है किन्तु लवनीय बर्हिः दो प्रकार के हैं—मुख्य और गौण [मुख्य बर्हिः दश प्रकार के होते हैं—

कुशाः काशा यवा दूर्वा गोधूमाश्च कुन्दुराः।
उशीरा व्रीहयो मुञ्जा दश दर्भाश्च बल्वजाः॥

इन्हीं के सदृश दूसरे तृण गौण बर्हिः कहे जाते हैं। अतः यह सन्देह उपस्थित हो

अद्वैतसिद्धिः

उभयोरपि शब्दत्वादुभयत्रापि विनियोग इति प्राप्ते, मुख्य एवेति सिद्धान्तितम्। 'अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तस्मादुत्पत्तिसंबन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगा'-दिति। अर्थाभिधानसामर्थ्यरूपाल्लिङ्गाच्छुत्यविनियुक्तेषु बर्हिर्देवसदनं दामीत्यादि-मन्त्रेषु शेषभावो विनियोगः स्यात्। तच्च सामर्थ्यं मुख्ये, न जघन्ये शब्दसामर्थ्यादु-पस्थितो ह्यर्थो मुखमिवाव्यवहितो भवतीति मुख्य उच्यते। मुख्यार्थसंबन्धादुपस्थि-तस्तु जघनमिव व्यवहितो भवतीति जघन्य उच्यते। तथा च जघन्येऽर्थे विनियोगं ब्रुवतापि तदुपस्थितये मुख्योपस्थितिर्वक्तव्या। तथा चोत्पत्तिसंबन्धः स्वभावसंब-न्धोऽर्थाभिधानसंबन्ध एव विनियोजकः स्यात्, तस्यार्थनियतत्वात्, तावतैव स्वाध्यायविधेश्चरितार्थत्वात्। मुख्यसंबन्धस्तु न लिङ्गम्, अनेकेषां मुख्यसंबन्धित्वे-नार्थानियमाच्चरमत्वाच्चेति सूत्रार्थः। अत एव मुख्यसंभवे लक्षणा नोपादेयेति सर्व-तन्त्रसिद्धान्तः। पदवृत्तिर्हि शक्तिः पदार्थवृत्तिश्च लक्षणा। सा च बहुप्रकारेत्यन्यत्। लाक्षणिकपदेनान्वयप्रतियोग्युपस्थितौ कृतायां यदवशिष्टं शक्तं, तदेवान्वयानुभावकम्। अर्थवादपदानां सर्वेषां लाक्षणिकत्वेऽपि तदेकवाक्यतापन्नं विधिपदमेवानुभावकम्,

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाता है कि मुख्य और गौण—दोनों प्रकार के तृणों की लवन क्रिया में मन्त्र विनियुक्त होता है ? अथवा केवल मुख्यार्थ के लवन में ? सिद्धान्त में कहा गया है कि शब्द-सामर्थ्यरूप लिङ्गप्रमाण मुख्यार्थ में ही मन्त्र का विनियोजक होता है, गौणार्थ या जघन्य में नहीं, क्योंकि शब्द के सामर्थ्य से जो अर्थ मुख के समान अव्ययति रूप में उपस्थित होता है, वह (शक्यार्थ) मुख्य कहलाता है और जो मुख्यार्थ के सम्बन्ध को लेकर व्यवहितरूप में उपस्थित होता है, वह (गौणार्थ) जघन (पेड़ू) के समान जघन्यार्थ कहा जाता है। जघन्य (गौण) अर्थ में विनियोग मानने पर भी उस जघन्य की उपस्थिति के लिए प्रथमतः मुख्यार्थ की उपस्थिति माननी होगी। "अर्थाभिधान सामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात् तस्मादुत्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्य-संयोगात्" (जै० सू० ३।२।१) इस सिद्धान्त सूत्र का अर्थ यह है—औत्पत्तिक (नित्य) या स्वाभाविक सम्बन्ध अथवा मुख्याभिधान सामर्थ्य ही विनियोजक होगा, क्योंकि वह शक्यार्थ का अव्यभिचारी होता है, अतः प्रथमोपनिपतित मुख्यार्थ को लेकर ही विनियोग चरितार्थ हो जाता है, गौणार्थ का विनियोग सम्भव नहीं रह जाता। मुख्यार्थ का सामर्थ्य ही लिङ्ग प्रमाण माना जाता है, मुख्यार्थ का सम्बन्ध नहीं, क्योंकि मुख्यार्थ के सम्बन्धी तो अनेक होते हैं, वे अर्थाव्यभिचारी नहीं तथा प्रथमोपस्थित नहीं पश्चादुपस्थित होते हैं [जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—

शब्दार्थस्यैव मुख्यत्वं मुखवत्प्रथमोद्गतेः।
अर्थगम्यस्य गौणत्वं गुणागमनहेतुकम्॥ (तं० वा० पृ० ७६४)

अत एव यह सर्व तन्त्र-सिद्धान्त उद्घोषित किया जाता है कि 'मुख्यसम्भवे लक्षणा नोपादेया।' शक्ति पद की और लक्षणा पदार्थ की वृत्ति होती है। वह लक्षणा अनेक प्रकार की होती है—यह विषयान्तर है। फलतः उक्त लिङ्गाधिकरण-विरोध से बचने के लिए यह मानना आवश्यक है कि लाक्षणिक पदों के द्वारा अन्वय-प्रतियोगीभूत पदार्थों की उपस्थिति हो जाने के पश्चात् जो अवशिष्ट शक्त पद होते हैं, वे ही अन्वय के अनुभावक होते हैं। यद्यपि अर्थवाद वाक्य-घटक सभी पद लाक्षणिक हैं, उनमें कोई

'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः'रिति न्यायात् । तथा च सत्यादि-पदानां सर्वेषामपि लाक्षणिकत्वे कथमन्वयानुभवोपपत्तिरिति–चेत्, नैष दोषः, शक्यस्यैवान्वयानुभवाभ्युपगमात्, लक्षणा त्वेकदेशत्यागमात्राय, न त्वशक्यार्थोपस्थितये गौर्नित्य इत्यादिवत् । अत एव वाचकानामेव स्वार्थे लक्षणेयमित्युक्तं प्राक् । ननु जहल्लक्षणाभ्युपगमे कथमन्वयानुभवः ? शक्यैकदेशस्यापि तत्राभावात् । तथा चोक्तं संक्षेपशारीरके–

साभासाज्ञानवाची यदि भवति पुनर्ब्रह्मशब्दस्तथा-
हंशब्दोऽहङ्कारवाची भवति तु जहती लक्षणा तत्र पक्षे ॥ इति ।

अस्मिन् पक्षे अन्विताभिधानवादानभ्युपगमान्न दोषः । पक्षद्वयाश्रयणं तु जहदजहल्लक्षणापक्ष एव । तथा च दर्शितं तत्रैव–

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भी अनुभावक नहीं, तथापि अर्थवाद से एकवाक्यतापन्न जो विधि वाक्य होता है, वही अन्वय का अनुभावक है, जैसा कि महर्षि जैमिनि ने कहा है–"विधिना तु एकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" (जै० सू० १।२।७) [अर्थवाद वाक्य विधि वाक्य से एकवाक्यतापन्न हैं, अतः वे विधेयार्थ के स्तावकमात्र होते हैं] । अतः सत्यादि सभी पद यदि लाक्षणिक हैं, तब अनुभावक क्योंकर होंगे ?

समाधान–लाक्षणिक पद यदि अन्वयानुभावक नहीं हो सकते, तब उन पदों के द्वारा उपस्थापित शक्यार्थ में अन्वयानुभावकत्व सम्भव हो जाता है । यहाँ लक्षणा (अजहल्लक्षणा) केवल शक्यार्थ (विशिष्टार्थ) के एक देश (विशेषण) का त्याग करने के लिए ही अपनाई जाती है, न कि अशक्यार्थ की उपस्थिति के लिए, जैसा कि "गौर्नित्य":–इस वाक्य में गोत्व-विशिष्टरूप शक्यार्थ के एकदेशभूत गोद्रव्य का परित्यागमात्र लक्षणा के द्वारा हो जाने पर गोत्वं नित्यम्–इस प्रकार के अन्वय में 'गौर्नित्य':–यह वाक्य पर्यवसित हो जाता है । अत एव यह पहले कहा गया है कि वाचक पदों की ही स्वार्थ में लक्षणा होती है ।

शङ्का–अजहल्लक्षणा-स्थल पर तो आप की कथित व्यवस्था बन जाती है, किन्तु जहल्लक्षणा मानने पर अन्वयानुभव कैसे होगा ? क्योंकि वहाँ शक्यार्थ का एक देश भी अवशिष्ट नहीं रहता, जो अन्वय का अनुभावक हो जाता, जैसा कि संक्षेपशारीरक (१।१६९) में कहा है–

सामासाज्ञानवाची यदि भवति पुनर्ब्रह्मशब्दस्तथाहम्-
शब्दोऽहंकारवाची भवति तु जहती लक्षणा तत्र पक्षे ।
नौरेषा रौति लोहं दहति विषधरो रज्जुरग्रे तवासा-
वित्यत्रेवात्मवस्त्वन्यपि भवतु जहल्लक्षणा को विरोधः ॥

[अर्थात् यदि 'ब्रह्म' शब्द साभास अज्ञान का और 'अहं' शब्द अहङ्कार का वाची है, तब जहल्लक्षणा मानने में कोई विरोध नहीं होता, क्योंकि जैसे 'यह नौका रो रही है, लोहा जला रहा है, 'विषधर रज्जु है–इत्यादि स्थल पर जहल्लक्षणा होती है, वैसे ही 'अहं ब्रह्म'–इस वाक्य में भी जहल्लक्षणा मानी ही जा सकती है] ।

समाधान–इस पक्ष में अन्विताभिधान-वाद नहीं माना जाता, अतः कोई दोष उपस्थित नहीं होता । अन्विताभिधान तथा अभिहितान्वय–इन दोनों मतों का

अद्वैतसिद्धिः

अभिहितघटना यदा तदानीं स्मृतिसमबुद्धियुगं पदे विधत्तः।
परदृशि पुनरन्विताभिधाने पदयुगलात् स्मृतियुग्ममेव पूर्वम् ॥' इति ।

तत्त्वप्रदीपिकाकृदादयस्तु अभिहितान्वयपक्षमेवोररीचक्रुः, सर्वथापि सिद्धान्तानुकूलत्वादिति न किंचिदवद्यम् । तार्किकमतस्योभयपक्षबहिर्भावादिकं च वेदान्तकल्पलतायां व्युत्पादितमित्युपरम्यते ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ सत्याद्यवान्तरवाक्याखण्डार्थतोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

आश्रयण जहदजहल्लक्षणा-पक्ष में ही किया जाता है, जैसा कि संक्षेपशारीरक (१।३८४) में ही कहा गया है—

अभिहितघटना यदा तदानीं स्मृतिसमबुद्धियुगं पदे विधत्तः ।
परदृशि पुनरन्विताभिधानवादे पदयुगलात् स्मृतियुग्यमेव पूर्वम् ॥

[अर्थात् जब अभिहितान्वय-वाद अपनाया जाता है, तब 'तत्' और 'त्वम्'—दोनों पद स्मृति के समान ज्ञान को उत्पन्न करते हैं, किन्तु अन्विताभिधान-वाद में पहले दोनों पद ब्रह्मविषयक स्मृति ज्ञान को ही जन्म देते हैं] । तत्त्वप्रदीपिकाकारादि को तो अभिहितान्वय वाद ही रुचिकर है । सर्वथा सिद्धान्त के अनुकूल होने के कारण कोई दोष प्रसक्त नहीं होता । कथित अभिहितान्वय और अन्विताभिधान-वाद से भिन्न तार्किक मत का व्युत्पादन वेदान्तकल्पलतिका में किया गया है, अतः यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं ।

: ३ :

तत्त्वमस्यादिवाक्यस्याखण्डार्थकत्वविचारः

न्यायामृतम्

तत्त्वमस्यादिवाक्यस्याऽखण्डार्थत्वानुमाने अप्ययुक्ते, उक्ताप्रसिद्धविशेषणत्व-बाधप्रतिरोधाप्रयोजकत्वप्रतिकूलतर्कपराहत्यादिदोषात्। उक्तरीत्याऽन्त्यहेतोरसिद्धेश्च। उभयत्रापि दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्याच्च। ननु सोऽयमित्यत्र किं तद्देशकालादिविशिष्टस्यैतद्देशकालादिवैशिष्ट्यं बोध्यते? एतद्देशकालादिविशिष्टस्य तद्देशकालादिवैशिष्ट्यं वा? विशिष्टद्वयैक्यं वा? नाद्यः, एतत्कालादिविशिष्टस्य प्रत्यक्षत्वेनाऽनुपदेश्यत्वात्। तत्कालादेरपीदानीं सत्त्वापत्तेश्च। न द्वितीयः, एतत्कालादेस्तदा सत्त्वापातात्। न तृतीयः, विशेषणभेदे विशिष्टाभेदायोगात्। विशिष्टं हि यदि विशेषणविशेष्यसम्बन्धरूपं तदा विशेषणभेदेन, यदि तु पदार्थान्तरं तदापि विशेष्यभेदेनैव विशेषणभेदेनापि तद्भेद आवश्यकः। तस्मात्सोऽयमित्यादिवाक्यं लक्षणयाऽखण्डार्थमिति चेत्।

अद्वैतसिद्धिः

एवं तत्त्वमस्यादिमहावाक्यपक्षकानुमानमपि निर्दोषम्। न च सोऽयं देवदत्त इत्ययं दृष्टान्तः साध्यविकलः, विशिष्टाभेदस्य बोधयितुमशक्यत्वात्। तथा हि—किमत्र तद्देशकालविशिष्ट एतद्देशकालवैशिष्ट्यं प्रतिपाद्यते? एतद्देशकालविशिष्टे वा तद्देशकालवैशिष्ट्यं? तद्विशेषणयोरैक्यं वा? तद्विशिष्टयोरैक्यं वा? नाद्यः, तद्देशकालवैशिष्ट्यस्याप्रत्यक्षत्वेनानुद्देश्यत्वात्, तत्कालादेरिदानीं सत्त्वापत्तेश्च। न द्वितीयः, एतत्कालादेरन्यदा सत्त्वापत्तेः, न तृतीयः, बाधात्। अत एव न चतुर्थोऽपि, विशेषणस्य भिन्नत्वेन विशेषणविशेष्यतत्संबन्धात्मकस्य विशिष्टस्य भिन्नत्वात्, अति-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि'—इत्यादि महावाक्यों को पक्ष बनाकर अखण्डार्थकत्व—साधनार्थ जो अनुमान किया जाता है, वह भी निर्दोष है—'तत्त्वमस्यादि महावाक्यम्, अखण्डार्थबोधकम्, आत्मस्वरूपमात्रनिष्ठं वा, अकार्यकारणद्रव्यमात्रनिष्ठत्वे सति समानाधिकरणपदघटितत्वात्, सोऽयमित्यादि वाक्यवत्।'

शङ्का—'सोऽयम्'—यह दृष्टान्त साध्य-रहित है, क्योंकि तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ—दोनों विशिष्टात्मक हैं, उनका अभेद-बोधन सम्भव नहीं। अर्थात् प्रकृत वाक्य के द्वारा तद्देश और तत्काल से विशिष्ट वस्तु में एतद्देश और एतत्काल के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया जाता है? अथवा एतद्देश और एतत्काल से विशिष्ट वस्तु में तद्देश और तत्काल का वैशिष्ट्य? या दोनों पदार्थों के विशेषण भाग की एकता? या दोनों विशिष्ट पदार्थों की एकता? प्रथम पक्ष संगत नहीं, क्योंकि तद्देश और तत्काल का वैशिष्ट्य इस समय प्रत्यक्ष नहीं, अतः तद्देशकालविशिष्ट पदार्थ को उद्देश्य नहीं बनाया जा सकता। यदि तद्देशकाल-वैशिष्ट्य को उद्देश्यतावच्छेदक बनाया जाता है, तब तद्देश (परोक्षदेश) और तत्काल (अतीत काल) की वर्तमान काल में सत्ता माननी होगी, जो कि सम्भव नहीं। द्वितीय पक्ष भी इसीलिए उचित नहीं, क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय की एक काल वृत्तिता निश्चित होती है अतः उद्देश्यतावच्छेदकीभूत एतद्देशकाल को विधेयभूत तद्देशकाल में रहना होगा। तृतीय और चतुर्थ पक्ष तो असम्भव-ग्रस्त हैं, क्योंकि न तो दो विरुद्ध विशेषणों की एकता सम्भव है और न विरुद्ध विशेषणों से विशिष्ट दो पदार्थों की एकता। विशिष्ट

अद्वैतसिद्धिः

रिक्तत्वेऽपि विशेषणभेदेन विशेष्यभेदेन च तद्भेदनियमात् । तथा चोभयविशेषण-परित्यागेन विशेष्यमात्रमभिन्नं बोध्यत इति सिद्धमखण्डार्थत्वम् । तदुक्तम्—

'अविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि विशिष्टयोर्द्वयोः ।
घटते न यदैकता तदा नतरां तद्विपरीतरूपयोः ॥' इति ।

यदा हि 'दण्डी कुण्डली'त्यादौ दण्डकुण्डलादेरेकदेशकालावस्थितत्वेना-विरोधेऽपि न तद्विशिष्टयोरैक्यम् , विशेषणयोरप्यैक्यापत्तेः, तदा कैव कथा सोऽय-मित्यत्र तत्तेदन्तयोरेककालानवस्थाननियमेन परस्परविरुद्धत्वात्तद्विशिष्टयोरैक्यस्य । लक्षणयैक्यबोधनं तूभयत्रापि समानम् । लाक्षणिकत्वेऽपि दण्डी कुण्डलीत्यादौ विशिष्टतात्पर्यान्नाखण्डार्थत्वव्यवहारः, सोऽयमित्यत्र तु 'अयं स न वा ? अयं नैव स' इत्यादिसंशयविपर्ययज्ञानविषयीभूताभेदमात्रस्य बुभुत्सितत्वेन तत्रैव तात्पर्याद-खण्डार्थत्वम् , न ह्यन्यस्मिन् बुभुत्सिते अन्यत् प्रतिपादयितुमुचितमित्युक्तम् । तत्तेदन्तो-पस्थितिद्वारकाभेदबोधस्यैव भेदभ्रमविरोधितया नान्यतरपदवैयर्थ्यम् । प्रत्यभिज्ञा-

---

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

पदार्थ सदैव विशेष्य और उनके सम्बन्ध का संकलित रूप होता है। विशिष्ट पदार्थ को विशेषणादि से भिन्न मानने पर भी विशेषण और विशेष्य के भेद से विशिष्ट पदार्थों का नियगतः भेद हो जाता है, अतः उनकी एकता असम्भव है। उक्त वाक्य के द्वारा विशिष्ट-बोधन सम्भव नहीं, परिशेषतः परस्पर-विरुद्ध उभय (तद्देशकाल और एतद्देश कालरूप) विशेषणों का परित्याग करके अभिन्न विशेष्य (देवदत्तादि) मात्र का बोधन किया जाता है, अतः अखण्डार्थस्वरूप साध्य की प्रत्यभिज्ञात्मक दृष्टान्त वाक्य में सिद्धि हो जाती है, जैसा कि संक्षेपशारीरक (१।१६७) में कहा है—

"अविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि विशिष्टयोर्द्वयोः ।
घटते न यदैकता तदा नितरां तद्विपरीतरूपयोः ॥"

[जब कि दण्डी कुण्डली चैत्रः—यहाँ दण्ड और कुण्डलरूप अविरोधी विशेषणों से विशिष्ट चैत्र का ही अभेद नहीं हो सकता, अन्यथा दण्ड और कुण्डलरूप विशेषणों का भी अभेद मानना पड़ेगा। तब 'सोऽयम्'—इत्यादि स्थल पर तत्ता और इदन्तादि परस्पर-विरुद्ध विशेषणों से विशिष्ट पदार्थ का अभेद क्योंकर सिद्ध होगा ?] यदि दण्डी कुण्डली चैत्रः—यहाँ चैत्रमात्र में दोनों पदों की लक्षणा कर अभेद-सम्पादन किया जाता है, तब 'सोऽयं देवदत्तः'—में भी लक्षणा के द्वारा अभेद सिद्ध किया जा सकता है। तथापि 'दण्डी, कुण्डली'—इत्यादि में अखण्डार्थकत्व का व्यवहार नहीं होता, क्योंकि इस वाक्य का विशिष्टार्थ के बोधन में ही तात्पर्य माना जाता है और 'सोऽयं चैत्रः'—इत्यादि में अखण्डार्थकत्व का व्यवहार होता है, क्योंकि इस वाक्य का विशेष्यमात्र के बोधक में तात्पर्य माना जाता है, अर्थात् यहाँ पर 'अयं सः ? न वा ? इस प्रकार के संशय तथा "अयं नैव सः"—इस प्रकार के विपर्यय ज्ञान के विषयीभूत तत्पदार्थ और इदमादार्थ का अभेद मात्र बुभुत्सित है, अतः प्रकृत प्रत्यभिज्ञा-वाक्य का उसी में तात्पर्य मानना होगा, क्योंकि अन्य वस्तु की जिज्ञासा होने पर अन्य वस्तु का प्रतिपादन उचित होता—यह पहले कहा जा चुका है। तत्ता और इदन्ता की उपस्थिति के द्वारा प्राप्त बोध ही भेद-भ्रम का विरोधी होता है, अतः उक्त प्रत्यभिज्ञा-वाक्य का कोई भी पद व्यर्थ नहीं। यद्यपि प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष दो अभिज्ञा ज्ञानों से उपस्थित पदार्थ से अतिरिक्त

न्यायामृतम्

उच्यते—अस्तु तावदनुभवकालसम्बन्ध एव तत्ता, तथापि बाल्ययौवनयोरिव श्यामरक्तरूपयोरिव च तदेतद्देशकालसम्बन्धरूपयोस्तत्तेदन्तयोः परस्परमनन्वयेऽपि एकविशेषणविशिष्टे इतरस्यावृत्तावपि एकविशेष्यवृत्तित्वं तावदस्ति, कालद्वयासम्बन्धिपदार्थानां क्षणिकत्वापातात् । देशद्वयसम्बन्धस्यापि कालभेदेनानुभवात् । सोऽयमितिपदद्वयं च तत्तेदंतयोरेकवृत्तित्वबोधने शक्तम्, समानाधिकरणत्वात् । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिर्हि सामानाधिकरण्यम् । न च विशेष्यस्य तत्तेदंतान्वयपरमपीदं वाक्यं विशिष्टस्य तदन्वयपरं नेत्येतावताऽखण्डार्थम्, नीलमुत्पलमित्यादेरप्यखण्डार्यत्वापातात् । एवं च—

कालद्वयेन योगस्य क्रमेण स्थायिवस्तुनि ।
नैल्यरक्तत्ववत्सत्त्वात्तदुक्तौ का विरुद्धता ॥
विशेष्ये धर्मसंसर्गपरं चापि विशेषिते ।
तत्परं नेत्यखण्डार्थं स्याच्चेत्सर्वं तथा भवेत् ॥

एतेन विशेष्यस्य कालद्वयसम्बन्धेनैव क्षणिकत्वानापत्तेर्विशिष्टस्य तत्सम्बन्धो नाऽपेक्षित इति निरस्तम्, मयापि विशेष्य एव कालद्वयसम्बन्धस्योक्तेः । देवदत्तस्वरूपमात्रं बुभुत्सितमिति तु निरसिष्यते । न च तत्ताया अतीतत्वमात्रेण तत्पदस्य लक्षणा, घटो नष्ट इत्यादाविवातीततत्तारूपस्वार्थात्यागात् । अन्यथा तत्तादेरतात्पर्यविषयत्वे सोऽयमित्यनेन देवदत्तस्य कालद्वयसम्बन्धो न सिध्येत् । तस्मादेकविशेषणविशिष्टे विशेषणान्तरान्वयाबोधकमपीदं वाक्यं विशेष्यस्य क्रमिकधर्मद्वयान्वयपरत्वात्सखण्डार्थमेव ।

किं च त्वदुपन्यस्ते पक्षत्रयेऽपि न दोषः, तत्तादेरतीतत्वेऽपि यदन्विततया ज्ञात एव तात्पर्यविषयीभूतेतरान्वयधीः, तत्त्वरूपस्य विशेषणत्वस्य सम्भवात् । न च विधेयान्वय्येव विशेषणम्, शब्दोऽनित्य इत्यादौ शब्दत्वादावव्याप्तेः । नापि विधे-

---

अद्वैतसिद्धिः

प्रत्यक्षस्याप्यभिज्ञाद्वयोपस्थितस्वरूपातिरिक्ताविषयत्वेऽपि उभयोपस्थितिद्वारकाभेदबोधनेन भ्रमनिवर्तकत्वम्, तत्समानार्थकं च वाक्यमेतदिति न विशिष्टपरम् । यथा चाभिज्ञाद्वयात् प्रत्यभिज्ञाया विषयवैलक्षण्याभावेऽपि द्वारविशेषनिबन्धनज्ञानगतवैलक्षण्यादेव फलभेदः, तथा स्मृतिरूपायास्तदिदम्पदार्थोपस्थितेरनुभवरूपस्य वाक्यार्थबोधस्य । एवं च 'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोरेकार्थबोधपरत्वं सामानाधिकरण्य'मिति प्राचां वचोऽपि निष्प्रकारके सुतरामुपपद्यते ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

को विषय नहीं करता, तथापि उभयार्थोपस्थितिद्वारक अभेद-बोध में ही भेद-भ्रम की निवर्तकता होती है, अभिज्ञा वाक्य-समानार्थक यह प्रत्यभिज्ञा वाक्य नहीं, अतः यह विशिष्टार्थपरक नहीं । यद्यपि अभिज्ञा की अपेक्षा प्रत्यभिज्ञा में विषय-वैलक्षण्य नहीं, तथापि द्वार विशेषाधीन ज्ञानगत वैलक्षण्य मात्र से फल में भेद (भ्रम-निवर्तकत्व) हो जाता है । उसी प्रकार यद्यपि तत्पदार्थ और इदम्पदार्थ की उपस्थिति स्मृतिरूप होती है, तथापि उससे जन्य अनुभवरूप वाक्यार्थ-बोध में वैलक्षण्य सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार प्राचीनाचार्योक्त भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तक दो पदों का एकार्थ-बोधकत्वरूप सामानाधिकरण्य भी निष्प्रकारक ज्ञान में घट जाता है ।

न्यायामृतम्

यान्वयकाले सदेव विशेषणम् , दण्डी भविष्यति, दण्डी नास्तीत्यादावव्याप्तेः। गृहनिष्ठे काकादावतिव्याप्तेश्च। नापि विधेयान्वयप्रतियोगितावच्छेदकं वा, स्वप्रत्याय्यव्यावृत्त्यधिकरणतावच्छेदकं वा विशेषणम् ; अवच्छेदकत्वस्यान्यूनानधिकदेशकालत्वरूपत्वे तस्य सास्नादिमान् गौरित्यादिषु लक्ष्यतावच्छेदकरूपविशेषणेषु सत्त्वेऽपि गौः शुक्ला इत्यादावव्याप्तेः। न हि गोत्वं शुक्लान्वयप्रतियोगित्वेनाशुक्लव्यावृत्त्या वा अन्यूनानधिकदेशम्। अवच्छेदकत्वस्य यद्वत्तया ज्ञात एव यदन्वयधीस्तत्त्वरूपत्वे चेहाप्यवच्छेदकस्य सत्त्वात्। न हि काकोपस्थापितसंस्थानवत्तया ज्ञात एव देवदत्तीयत्वधीवद्देवदत्तगृहव्यावृत्तिधीवच्च तत्तोपस्थापितधर्मान्तरवत्तया ज्ञात एवेदंत्वधीः। अनिदंव्यावृत्तिधीर्वा किं तु तत्तावत्तयाज्ञात एव। न चात्रापि तत्तोपस्थापितदेवदत्तसंस्थानविशेषवत्तया ज्ञात एवेदत्वादिधीः, तत्रेदन्तादिसम्बन्धस्य प्रत्यक्षत्वेनानुपदेश्यत्वात्। तस्मादतीतमपि यदन्वितया ज्ञात एवेत्याद्युक्तलक्षणयुक्तं चेद्विशेषणमेव। तदयुक्तं चेद्वर्तमानमप्यविशेषणमेव। अत एवाहुः—सदसद्वा समानाधिकरणं विशेषणमिति। तस्मात्पक्षत्रयेऽपि न दोषः।

न चाद्ये वाक्यवैयर्थ्यम्, इदंतावैशिष्ट्यस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्ताविशिष्टे तस्याप्रत्यक्षत्वात्। न चाद्यद्वितीययोर्बुभुत्सितस्याभेदस्य साक्षादलाभः। पुरोवर्तिनि तत्ताद्यवैशिष्ट्यभ्रमनिरासायायं स वा न वेत्यभिप्रायेण कोऽयमितिप्रश्ने सोऽयमित्युक्तेः। भेदभ्रमे निरसितव्येऽपि अभेदोक्त्येवाभेदकोक्त्यापि साक्षाद् भेदभ्रमनिवृत्तेश्च। अभेदस्यबुभुत्सितत्वेऽपि वाक्यस्याभेदविशिष्टपरत्वेन सखण्डार्थत्वापत्तेश्च। ननु तृतीये विशिष्टैक्ये विशेषणैक्यं स्यात्। न च धूमवदग्निमतोरैक्येऽपि धूमाग्न्योर्भेदो दृष्ट इति वाच्यम्, तत्रापि विशेष्यस्यैवैक्यात्। न च तर्हि दृष्टान्ताभावाद्विशिष्टैक्येन विशेषणैक्यापादनायोगः, अग्निमतोऽग्निमतैक्येऽग्नेरग्निनैक्यदर्शनात्। समुदायिरूपविशेषणभेदे समुदायैक्यस्य व्याहतत्वाच्चेति चेन्न। विशिष्टमपदार्थान्तरमिति मते विशेष्यस्यैवैक्याधिकरणत्वेऽपि धर्मयोरप्युद्देश्यतावच्छेदकत्वेन विशेषणत्वात् तस्यैव च विशिष्टाभेदशब्दार्थत्वात्। पदार्थान्तरमित्यावयोर्मते तु धूमाग्न्योर्भेदेऽपि धूमवानग्निमानित्यबाधितसामानाधिकरण्यधीबलेन विशिष्टयोरभेदस्यापि सत्त्वात्। अन्यथा इदं रूप्यमित्युक्ते पुरोवर्तिनि रूप्याभेदाप्रतीतेः रूप्यार्थिनः पुरोवर्तिनि प्रवृत्तिश्च न स्यात्। तत्तेदंतोपलक्षितैक्यबोधनमिति त्वन्मतं चायुक्तं स्यात्। तत्तेदंतोपलक्षितस्वरूपविशेषणभेदाद्विशिष्टभेदात्। अस्तु वा तत्तेदंतयोर्मध्ये एकस्योपलक्षणत्वं तथापीदंताविशिष्टस्योपलक्षणीभूततत्कालसम्बन्धो वा तत्तोपलक्षिताभेदो वा तत्ताविशिष्टस्योपलक्षणीभूतेदंतासम्बन्धो वा इदंतोपलक्षिताभेदो वा बोध्यताम्। न चैतावता वाक्यस्याखण्डार्थत्वम्। उपलक्षणस्य काकादेः स्वयं प्रकारत्वेन प्रका(रान्त)रोपस्थापकत्वेन वा निष्प्रकारकत्वरूपाखण्डार्थत्वविरोधित्वात्। एकस्योपलक्षणत्वेऽप्यन्यस्य विशेषणत्वाच्च। नाप्युपलक्षणत्वमात्रेण तद्वाचिशब्दानां लाक्षणिकत्वम्। वृत्तिविशेषरूपलक्षणाया व्यावर्तकविशेषरूपोपलक्षणस्य च भिन्नत्वात्। दृश्यते हि घटस्याभावः जटाभिस्तापस इत्यादावभावादिकं प्रति घटादेरुपलक्षणत्वेऽपि घटादिशब्दस्यालाक्षणिकत्वम्। दृश्यते च दण्डयभिप्रायेण प्रयुक्तेः दण्डमानयेत्यत्र दण्डशब्दस्य दण्डिनि लाक्षणिकत्वेऽपि दण्डस्याऽनुपलक्षणत्वम्। वरं चोभयपदलक्षणात एकपदलक्षणा। न चेदंताविशिष्टस्य तत्तया तत्ताविशिष्टस्य चेदंतया कदाप्यसम्बन्धान्न ते प्रति तयोरु-

न्यायामृतम्

पलक्षणतेति वाच्यम्, तयोस्ताभ्यां विशेष्यद्वारा सम्बन्धात्। परम्परासंबंधिनोऽप्युपलक्षणत्वात्। यद्वेदंतोपलक्षितस्य तत्तावैशिष्ट्यं तत्ताविशिष्टाभेदो वा तत्तोपलक्षितस्येदंतावैशिष्ट्यं वा इदंताविशिष्टाभेदो वा बोध्यताम्।

ननु—यद्यपीदंतया तत्तया वोपलक्षितस्य विशेष्यस्य तत्तावैशिष्ट्यं वा इदंतावैशिष्टं वा युक्तम्, विशेष्ये विशेषणान्तरान्वयात्। अभेदपक्षौ तु न युक्तौ अनुवृत्तव्यावृत्तयोर्विशेष्यविशिष्टयोरभेदायोगादिति चेन्न, समवायस्थाने भेदाभेदावित्यावयोर्मतेऽनुवृत्तव्यावृत्तयोरपि तयोः पर्वतोऽग्निमानिति धीबलाज्जातिव्यक्त्योरिव मृद्घटयोरिव चाभेदस्यापि सत्त्वात्। अन्यथा पर्वतोऽग्निमानिति लैंगिकी धीरपि निर्विकल्पिका स्यात्। केवलाभेदस्तु परिणामिनि देवदत्तपिंडेऽपि नास्त्येव। यद्वा तत्तोपलक्षितस्य इदंतोपलक्षितेन वा इदंतोपलक्षितस्य तत्तोपलक्षितेन वा ऐक्यं बोध्यताम्। न चैतावताऽखण्डार्थत्वादिकमित्युक्तम्। तदेतदभिप्रेत्योक्तम्—"अनित्यदेशकालसम्बन्धस्य सत्त्वान्न सोऽयं देवदत्त इत्याद्युपमा चे"ति टीकायां तु तद्देशकालसम्बन्धमात्रं न तत्ता, किं तु तद्ध्वंसः स चेदानीमस्ति। एवं च पक्षत्रयेऽपि न दोष इत्युक्तं तद्वस्तुस्थिति प्रदर्शनार्थम्। तत्तेदंतयोर्न केवलं बाल्ययौवनवत्सामानाधिकरण्यमात्रं किं तु नीलत्वोत्पलत्ववत्समानकालत्वमपीति प्रदर्शनार्थं च, न तु सखण्डार्थत्वार्थम्। उक्तरीत्यान्यथापि तत्सिद्धेः। परेण तद्देशकालसम्बद्ध एतद्देशकालसम्बद्ध इत्यस्मिन्नुदाहृते टीकोक्तप्रकाराप्रसराच्च। युक्तं चानुभवकालध्वंस एवं तत्तेति। अन्यथा पूर्वकालविषयेऽनुभवेऽपि स्मृताविव तत्तोल्लेखः स्यात्। स्मृत्यनुभवयोः संस्कारजन्यत्वाजन्यत्वाभ्यां भेदेऽपि अनुभवकाले सतः कालस्य स्मृतिकाले वस्तुगत्यातीतत्वेऽपि च विषयकृतवैलक्षण्याभावात्। तत्तामात्रे च स्मृतेरननुभूतविषयत्वमिष्टमेव। न चातिप्रसंगः, अनुभवबलेनानुभूतकालध्वंसत्वस्य तन्त्रत्वात्। पूर्वकालसम्बन्धस्तत्तेतिमतेऽपि ह्यननुभूतापि भूतता भातीति वक्तव्यम्। तत् तत्र तदा तथासीदिति स्मृतौ अननुभूतस्य भूतत्वस्योल्लेखात्। ननु पूर्वकालध्वंसविशिष्टो मध्येऽप्यस्ति इदंताविशिष्टस्तु मध्ये नेति कथं तयोरभेदः? न चेदंता नैतत्कालसम्बन्धः, किं तु तत्प्रागभावः। तद्विशिष्टश्च मध्येऽप्यस्तीति वाच्यम्। पूर्वकालध्वंसविशिष्टस्येदानीं सत्त्वेऽपि एतत्कालप्रागभावविशिष्टस्येदानीमभावादिति चेन्न, अनुवृत्तव्यावृत्तयोरभेदस्य विशेष्यमात्रस्यैक्येऽपि तत्तादेर्विशेषणत्वस्य च समर्थितत्वात्।

किं च त्वन्मते सोऽयं देवदत्त इति वाक्यस्य किं देवदत्तस्वरूपमात्रे तात्पर्यम्? तत्तेदंतोपलक्षिताभेदविशिष्टे वा? उक्ताभेदोपलक्षिते वा? नाद्यः, तस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। अन्यथा धर्मिज्ञानाभावेन तत्र बुभुत्सानुवादभेदभ्रमाद्ययोगात्। अभेदारोपनिवृत्त्ययोगाच्च। एकेनैव पदेन पूर्णत्वेन पदान्तरवैयर्थ्याच्च। न च लक्षणार्थं सोऽयमितिपदद्वयम्, देवदत्तपदेनैव पूर्णत्वात्। स एक कुण्डल्ययं देवदत्त इत्यादौ सोऽयमिति पदद्वयेनैव लक्षणासिद्धौ पदान्तरवैयर्थ्याच्च। न द्वितीयतृतीयौ, समानविभक्तिकपदद्वयेन प्रातिपदिकार्थेतरस्याभेदरूपसंसर्गस्य बोधनेऽखण्डार्थत्वहानेः। न हि क्रियाकारकभावान्वय एव संसर्गः। नीलमुत्पलं, निर्घटं भूतलं, घटः पटो नेत्यादेरप्यखण्डार्थत्वापातात्। न च भावांशभेदाभावमात्रेणाखण्डार्थत्वमित्यानन्दबोधोक्तं युक्तम्, स्वोचितसंसर्गान्यसंसर्गाबोधकत्वस्य सर्वत्र सत्त्वात्। उपलक्षणेनाभेदेनोपलक्ष्यस्य देवदत्तस्य प्रागेव निश्चितत्वेन तस्योपलक्षणत्वायोगाच्च। देवदत्ते देवदत्ता-

न्यायामृतम्

भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्च। तस्मादभेदो न सिद्ध इति चेत्, तस्मादिति कोऽर्थः ? किं तत्ताविशिष्टादिति ? किं वा तत्तोपलक्षितादिति ? यद्वा तच्छब्देन विवक्षितात्स्वरूपमात्रादिति ? नाद्यद्वितीयौ, सखण्डार्थत्वापातात्। उक्तरीत्योलक्ष्याकाराभावेनोपलक्षणत्वायोगाच्च। न तृतीयः, दत्तोत्तरत्वात्। एवं च—

प्रत्यक्षत्वाद्देवदत्तस्वरूपं नैव बोध्यते।
सोऽयमित्यादिवाक्येन कित्वैक्यादिविशेषितम्॥

अपि च सोऽयमितिप्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञा तावन्नाखण्डार्थविषया, तत्र शब्दवृत्तेर्लक्षणाया अयोगात्। तत्तेदंतादेरभेदस्य च प्रकारस्योल्लेखानुभवाच्च। तदनुल्लेखे प्रत्यभिज्ञाया अभिज्ञातो विशेषो न स्यात्। तथा च शाब्दप्रत्यभिज्ञापि तथा। स्वप्रत्यभिज्ञावगतस्यैव परं प्रति बोधनात्, तस्मात् दुष्परिहरं साध्यवैकल्यम्।

अद्वैतसिद्धिः

ननु—सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा तावन्नाखण्डार्थविषया, तत्र प्रत्यक्षे शब्दवृत्तेर्लक्षणाया अभावात्, तत्तेदन्तोल्लेखित्वेन तत्र निष्प्रकारकत्वस्यानुभवपरास्तत्वात्, तदनुल्लेखे त्वभिज्ञातो विषयवैलक्षण्यानुपपत्तेः। तथा च शाब्दप्रत्यभिज्ञाऽपि तथा, स्वप्रत्यभिज्ञावगतस्य परं प्रति बोधनादिति—चेन्न, वृत्यनपेक्षत्वेऽपि प्रत्यक्षस्य विशिष्टाभेदविषयत्वे बाधस्य प्रतिबन्धकतया स्वरूपाभेदमात्रविषयत्वात्। अभेदश्च न प्रकारः, स्वरूपतया प्राधान्याद्। तत्तेदन्तयोरपि न प्रकारता, भासमानाभेदरूपवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वाभावात्। अत एव न तस्यास्तत्तेदन्तोल्लेखिता, तदभिलापे तु निरन्तरोत्पन्नाभिज्ञाद्वयादेव तथोल्लेखव्यवहारात्, तत्र च लक्षणा लब्धपदैव। सर्वत्र

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—'सोऽयम्'—यह प्रत्यभिज्ञा ज्ञान अखण्डार्थविषयक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष में शब्द की लक्षणा वृत्ति नहीं होती, एवं 'सोऽयम्'—इस वाक्य से जन्य बोध में तत्ता और इदन्ता का उल्लेख अनुभूत होता है, अतः उसे निष्प्रकारक भी नहीं माना जा सकता। यदि उस प्रत्यक्ष बोध में तत्ता और इदन्ता का उल्लेख नहीं होता, तब अभिज्ञात्मक ज्ञान से प्रत्यभिज्ञा का विषय-वैलक्षण्य सिद्ध नहीं होता। वक्ता का अपना प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान तत्ता और इदन्ता का ग्राहक होने के कारण निष्प्रकारक नहीं, तब शब्द के द्वारा उत्पादित प्रतिभिज्ञा ज्ञान भी निष्प्रकारक नहीं होगा, क्योंकि उक्त स्वकीय प्रत्यभिज्ञा से अवगत विषय का बोध शब्द के द्वारा कराया जाता है।

समाधान—यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञान को शब्द-वृत्ति की अपेक्षा नहीं होती, फिर भी विशिष्ट पदार्थों के अभेद का बाध ज्ञान प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष की विशिष्टावगाहिता का प्रतिबन्धक होता है, फलतः वह स्वरूपाभेद मात्र की विषयता में पर्यवसित हो जाता है। उक्त ज्ञान के विषयीभूत स्वरूप का अभेद विशेषण नहीं होता, क्योंकि स्वरूप से अभिन्न होने के कारण वह विशेषण न रह कर विशेष्यरूप होकर प्रधानतया ही प्रथित होता है। उसी प्रकार तत्ता और इदन्ता भी उक्त ज्ञान के प्रकार नहीं होते, क्योंकि भासमान वैशिष्ट्य के प्रतियोगी पदार्थ को ही प्रकार कहा जाता है, किन्तु तत्ता और इदन्ता में प्रकारता का नियामक वह प्रतियोगित्व नहीं रहता। इसी लिए उस ज्ञान में तत्ता और इदन्ता का उल्लेख भी नहीं होता। प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष के जनकीभूत सोऽयम्—इत्यादि अभिलाप (शब्द-प्रयोग) के घटक दोनों पद तत्तादिविषयक दो

न्यायामृतम्

किं च तत्त्वमसीत्यस्याभेदविशिष्टे तदुपलक्षिते वा तात्पर्यं चेदुक्तरीत्या अभेदरूपसंसर्गबोधनेन सखण्डार्थत्वम्। किं च चिन्मात्रस्य चिन्मात्रेणाभेदबोधने इष्टापत्तिरप्रसक्तनिषेधश्च। तत्पदादिवाच्यसार्वज्ञाद्युपलक्षिताभेदबोधने तु सखण्डार्थत्वम्।

अद्वैतसिद्धिः

निर्विकल्पकाभिलाप इयं गतिः। न चाभिज्ञाया अविशेषः, सप्रकारकत्वनिष्प्रकारकत्वाभ्यामेव विशेषात्। फलवैलक्षण्यं तूक्तमेव। अत एव तत्तोपलक्षितप्रतियोगिकभेदरहित इदन्तोपलक्षितदेवदत्तस्वरूपे तात्पर्याद् यथाज्ञानमुपदेशोऽप्युपपद्यते। भेदविरहश्च न कश्चिद्धर्मः, किंतु स्वरूपमेव। तदेव चैक्यमित्युच्यते। न चायमस्ति नियमः स्वेन यथावगतः परं प्रति तथैव वाच्यमिति, समूहज्ञानेनापि श्रोतृबुभुत्सितैकदेशोपदेशदर्शनात्, ज्ञानमात्रसाध्यत्वात् बुभुत्सानुसारित्वाचोपदेशस्य। एवं च विशिष्टविषयादपि ज्ञानादखण्डोपदेशोपपत्तिः। विशेषणोपलक्षणादिविवेकश्चान्यत्र स्पष्ट इति नेह प्रतन्यते। तथा च न दृष्टान्तः साध्यविकलः। एवं तत्त्वमस्यादिमहावाक्येऽपि बोद्धव्यम्।

ननु—चिन्मात्रस्य चिन्मात्रेण सहाभेदबोधने इष्टापत्तिः, अप्रसक्तनिषेधश्च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अभिज्ञा ज्ञानों को निरन्तर उत्पन्न करते हैं, अतः उक्त वाक्य में भी तत्तादि के उल्लेखी (तत्तेदन्ता-बोधक) पदों का प्रयोग होता है। इस लिए वे दोनों पद अभिन्नार्थ के वाचक नहीं हो सकते, उनकी स्वरूप मात्र में लक्षणा करनी आवश्यक हो जाती है। सर्वत्र निर्विकल्पक ज्ञान के जनकीभूत शब्द की यही गति होती है। अभिज्ञा और प्रत्यभिज्ञा में अविशेषता (समानरूपता) नहीं कह सकते, क्योंकि एक (अभिज्ञा) सप्रकारक और दूसरी (प्रत्यभिज्ञा) निष्प्रकारक होती हैं। दोनों के फलों में वैलक्षण्य (भेद-भ्रम निवर्तकत्वानिवर्तकत्व) दिखाया जा चुका है। तत्तोपलक्षित देवदेत्तादिप्रतियोगिक भेद से रहित इदन्तोपलक्षित देवदत्त के स्वरूप में तात्पर्य होने के कारण ज्ञानानुरूप शब्द-प्रयोग भी सम्पन्न हो जाता है। देवदत्तगत तत्तोपलक्षितप्रतियोगिक भेद का विरह कोई धर्म नहीं माना जाता, अपितु देवदत्त का स्वरूप ही माना जाता है, उसे ही ऐक्य भी कहा जाता है। ऐसा कोई नियम नहीं कि वक्ता को जैसा ज्ञान होता है, वैसा ही दूसरों को उपदेश करे, क्योंकि वक्ता को समूहालम्बन ज्ञान होता है, किन्तु श्रोता की बुभुत्सा के अनुरूप एक देश मात्र का उपदेश देखा जाता है। उपदेश सदैव ज्ञान से साध्य और श्रोता की बुभुत्सा के अनुसार ही होता है। फलतः विशिष्टविषयक ज्ञान के द्वारा अखण्ड वस्तु का उपदेश सम्भव है। विशेषण और उपलक्षणादि का भेद यहाँ प्रथम परिच्छेद पृ० २९१ पर तथा कल्पतरू आदि ग्रन्थों में स्पष्ट कहा गया है [''कार्यान्वयित्वेन विभेदकं हि विशेषणं नैल्यमिवोत्पलस्य, अनन्वयित्वेन तु भेदकानामुपाधिता उपलक्षणता च सिद्धा'' (ब्र० सू० पृ० ४२०)] अतः यहाँ उसका विस्तार नहीं किया जाता। इस प्रकार न्यायमृत-कथित दृष्टान्त में साध्य का वैकल्य नहीं होता। दृष्टान्त के समान ही 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यरूप पक्ष में भी साध्य का समन्वय हो जाता है।

शङ्का—'तत्त्वमसि—इत्यादि महावाक्यों से क्या चिन्मात्र का चिन्मात्र से अभेद विवक्षित है ? या भेद-निषेध ? प्रथम पक्ष में इष्टापत्ति और द्वितीय पक्ष में अप्रसक्त-

न्यायामृतम्

सार्वज्ञ्यादेः प्रकारत्वेनानुप्रवेशात्। चैतन्यमात्रपरत्वं चेत्, तस्य स्वप्रकाशस्य नित्यसिद्धतयोपदेशवैयर्थ्यम्। वाक्यात्प्राक् चैतन्याज्ञाने उक्तरीत्या तत्र बुभुत्सा च न स्यात्, तस्या धर्मिज्ञानसाध्यत्वात्। भेदभ्रमश्च न स्याद्, अधिष्ठानज्ञानाभावात्। महावाक्येन भेदभ्रान्तिनिवृत्तिश्च न स्यात्, भ्रमकालज्ञाताधिष्ठानादधिकाबोधनात्। महावाक्यस्यावान्तरवाक्येन गतार्थत्वं च स्यात्। तत्पदार्थशोधकेन "सत्यं ज्ञान" मित्यादिना त्वंपदार्थशोधकेन (योऽयं विज्ञानमयः) इत्यादिना चावान्तरवाक्येन लक्षणया शुद्धचैतन्यबोधनात्। महावाक्य एवानेकपदवैयर्थ्यं च स्यात्। एकेनैव पदेन लक्षणया शुद्धबोधनात्कथं तेन भेदभ्रमनिरास इति चेत्। अधिकार्थाबोधने वाक्येनापि कथम्? न हि वाक्यमदृष्टद्वारा भ्रमनिवर्तकम्। न च तात्पर्याविषयेणाप्यभेदेन तन्निवृत्तिः, अतिप्रसंगात्।

न चैकस्य पदस्य लाक्षणिकत्वाय पदान्तरम्। तत्त्वमिति विरुद्धार्थवाचिपदद्वयस्य समानाधिकरण्याधीनत्वाल्लक्षणाया इति विवरणोक्तं युक्तम्, चैतन्यपदेनैव विवक्षितसिद्धौ तत्त्वमिति लाक्षणिकपदद्वयेन तद्बोधनक्लेशायोगात्। गंगायां घोष इत्यत्रापि घोषपदं गंगाशब्दस्य लाक्षणिकत्वाय, न तु स्वार्थार्पणायेत्यापाताच्च। अभेदरूपान्वयाबोधने पदद्वयसामानाधिकरण्यस्य लक्षणाकल्पकत्वायोगाच्च। सदेवेत्यादिपूर्ववाक्ये लक्षितचिन्मात्रस्य प्रकृतवाचिना तत्पदेन लक्षणां विनैव परामर्शसम्भवाच्च। "स वा एव महानज आत्मे"त्यादिमहावाक्ये लक्षणायाः स आत्मेतिपदद्वयसामानाधिकरण्येनैव सिद्ध्या पदान्तरवैयर्थ्याच्च। वाच्यार्थभेदग्राह्यतत्त्वावेदकप्रत्यक्षबाधकेन तत्त्वावेदकेनाद्वैतवाक्येन तयोरेव तात्त्विकाभेदबोधनसम्भवेन लक्षणाया अनपेक्षितत्वाच्च। एतेन वाक्यस्थपदस्यैव लक्षकत्वादनेकपदोपादानमिति निरस्तम्, अन्वया-

अद्वैतसिद्धिः

अभेदश्चेत्स्वरूपमेव तस्य स्वप्रकाशतया नित्यसिद्धत्वेनोपदेशवैयर्थ्यम्, तदस्फुरणे च तद्बुभुत्साद्यनिवृत्तिश्च तत्त्वम्पदार्थशोधकेनावान्तरवाक्येनैवोपपत्त्या महावाक्यवैफल्यं च, एकपदेनैवोपपत्तेः पदान्तरवैयर्थ्यं च, भ्रमकालज्ञाताधिकाप्रतिपत्तेर्महावाक्यात् भेदभ्रमनिवृत्तिश्च न स्यादिति—चेन्न चैतन्यस्य नित्यसिद्धत्वेऽपि सार्वज्ञ्याद्युपलक्षित-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रतिषेधापत्ति है, क्योंकि चिन्मात्र का चिन्मात्र से अभेद सब मानते हैं और उनका भेद कभी प्रसक्त ही नहीं, कि निषेध करने की आवश्यकता हो। दूसरी जिज्ञासा यह भी होती है कि महावाक्य-द्वारा बोधित अभेद शाब्द बोध में प्रतीत होता है? अथवा नहीं? यदि होता है, तब अखण्डार्थता और यदि नहीं होता, तब चैतन्यमात्र तो स्वप्रकाश सदा स्फुरित है, महावाक्य से उसका उपदेश व्यर्थ है, अभेद का स्फुरण न होने पर अभेद की बुभुत्सा भी कैसे निवृत्त होगी? एवं चैतन्यमात्र का बोध तो महावाक्यों के विना ही तत्त्वम्पदार्थ-शोधक अवान्तर वाक्यों से ही हो जाता है, महावाक्य व्यर्थ हो जाते हैं। चैतन्यमात्र का उपदेश महावाक्य-घटक किसी एक ही पद से हो जाता है, पदान्तर की क्या आवश्यकता? चैतन्यमात्र तो भ्रम-काल में ही स्फुरित होता है, महावाक्यों के द्वारा यदि उससे अधिक विषय का स्फुरण नहीं होता, तब उससे भद-भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकेगी।

समाधान—चैतन्य-सामान्य का पहले से ज्ञान होने पर भी सर्वज्ञत्वादि से

न्यायामृतम्

नुपपत्तिरूपलक्षणाबीजार्थमेव वाक्यस्थत्वस्यापेक्षणात् त्वमसीत्युक्तेऽपि वाक्यस्थत्वसिद्धेश्च।

एतेन यदुक्तं विवरणे "अभिज्ञातः प्रत्यभिज्ञायाः शाब्द्या वा प्रत्यभिज्ञायास्तावन्न प्रमेयतो विशेषः। अभिज्ञया ज्ञातस्यैव देवदत्तैक्यस्य प्रत्यभिज्ञया ग्रहणात्। न हि देवदत्तस्य स्वेनैक्यमभिज्ञायां न भाति। न चानभिज्ञातं प्रत्यभिज्ञया ज्ञेयं देवदत्तस्य स्वेनैक्यान्तरमस्ति। एकस्य कालद्वयसम्बन्धः प्रत्यभिज्ञागोचर इति चेन्न, ऐक्यस्य कालद्वयसम्बन्धस्य चाभिज्ञाभ्यामेव सिद्धेः, तस्मात्प्रमेयतो न विशेषः किं तु फलतः

अद्वैतसिद्धिः

स्वरूपज्ञानस्याज्ञानादिनिवर्तकस्य साध्यत्वात्। न चत्र सप्रकारता, तत्तादिवत् सार्वज्ञ्यादीनामन्वयबोधाप्रकारत्वाद् उपायान्तरेणैतादृशज्ञानासंभवाच्च नोपदेशवैयर्थ्यादयो दोषाः। भ्रमप्रतीतभेदाश्रयतावच्छेदकप्रतियोगितावच्छेदकद्वयोपलक्षितस्वरूपमात्रज्ञानस्य भेदभ्रमनिवर्तकत्वेन विषयावैलक्षण्येऽपि फलवैलक्षण्यात्, शङ्खश्वैत्यविषयत्वे तुल्येऽपि तदनुमानानिवर्त्यपीतभ्रमस्य तत्प्रत्यक्षनिवर्त्यत्वदर्शनात्। अत एवोक्तं विवरणे—'अभिज्ञातः प्रत्यभिज्ञायास्तावन्न प्रमेयतो विशेषः, अभिज्ञया ज्ञातस्यैव देवदत्तैक्यस्य प्रत्यभिज्ञयापि ग्रहणात्। न हि देवदत्तस्य स्वेनैक्यमभिज्ञायां न भाति। न च तस्यैक्यान्तरमस्ति यदनभिज्ञातं प्रत्यभिज्ञायते। एकस्य कालद्वयसंबन्धः प्रत्यभिज्ञागोचर इति चेन्न, ऐक्ये कालद्वयसंबन्धस्याभिज्ञाद्वयादेव सिद्धेः। तस्मात् कालद्वयसंबन्धिपदार्थैक्यविषयत्वे द्वयोरप्यविशिष्टे प्रत्यभिज्ञाया एव कालद्वय-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उपलक्षित ब्रह्म का ज्ञान पहले से नहीं, उसका अज्ञान रहता है, उसी अज्ञान की निवृत्ति महावाक्य-जनित स्वरूप ज्ञान से होती है। स्वरूपज्ञान में तत्तादि के समान सर्वज्ञत्वादि प्रकार विधया प्रतीत नहीं होते, अतः उक्त बोध में सप्रकारकत्वापत्ति भी नहीं होती। अवान्तर वाक्यादि के द्वारा ऐसा बोध नहीं होता, अतः महावाक्योपदेश में वैयर्थ्यापत्ति भी नहीं होती। भ्रम काल में जो सर्वज्ञत्व-विशिष्टं ब्रह्म अल्पज्ञत्वविशिष्टो जीवो न इस प्रकार का भेद-ग्रह रहता है, उसके आश्रयतावच्छेदक (सर्वज्ञत्व) और प्रतियोगितावच्छेदक (अल्पज्ञत्व) से दोनों धर्मों से उपलक्षित स्वरूपमात्र का ज्ञान भेद-भ्रम का निवर्तक होता है, अतः महावाक्य-जन्य ज्ञान में विषय-वैलक्षण्य न होने पर भी फल में वैसे ही वैलक्षण्य हो जाता है, जैसे 'श्वेतः शङ्खः'—इस प्रकार के अनुमान और प्रत्यक्ष ज्ञानों का विषय-वैलक्षण्य न होने पर भी प्रत्यक्ष ज्ञान से ही शङ्खगत पीतत्व का भ्रम निवृत्त होता है, शङ्खगत-श्वेतत्वानुमान से नहीं। अत एव विवरणकार ने कहा है—"अभिज्ञा से प्रत्यभिज्ञा का विषय-वैलक्षण्य नहीं होता, क्योंकि अभिज्ञा के द्वारा प्रकाशित देवदत्तगत ऐक्य का ही प्रकाश प्रत्यभिज्ञा से होता है, अभिज्ञा में देवदत्त का उसके साथ अभेद नहीं प्रतीत होता—यह बात नहीं और न देवदत्तगत ऐक्य देवदत्त से भिन्न ही है कि जो अभिज्ञा से अप्रकाशित होकर प्रत्यभिज्ञा से गृहीत होता। 'एक ही देवदत्तादि का तदानीं और इदानीं—दो कालों से सम्बन्ध प्रत्यभिज्ञा का विषय माना जाता है जो कि अभिज्ञा का विषय नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि देवदत्त जब एक ही दोनों (तत्पद-जन्य और इदंपद-जन्य) अभिज्ञाओं का विषय है, तब उसमें काल-द्वय-सम्बन्ध भी उन्हीं दोनों के द्वारा गृहीत हो जाता है। फलतः काल-द्वय-सम्बन्धी देवदत्तादि वस्तुगत ऐक्य

न्यायामृतम्

कालद्वयसम्बन्धिपदार्थैच यविषयत्वे द्वयोरविशिष्टेऽपि प्रत्यभिज्ञाया एव कालद्वयपरार्शित्वेन पदार्थभेदभ्रमनिवर्तकत्वात्, तत एव च प्रामाण्यमपि। एवं च तत्त्वमसिवाक्यस्य सत्यज्ञानादिवाक्यात् तत्पदाच्च प्रमेयतोऽविशेषेऽपि धर्मद्वयपरामर्शित्वेन भेदभ्रमनिवर्तकत्वात्प्रामाण्यम्। उक्तं हि—"सिद्धं तु निवर्तकत्वादि"ति। तन्निरस्तम्, अभिज्ञाभ्यां वस्तुत एकस्मिन कालद्वयसम्बन्धस्य देवदत्ताभेदस्य च देवदत्ते ग्रहणेऽपि प्रत्यभिज्ञयेव एकस्मिन् कालद्वयसम्बन्ध इति वा कालद्वयसम्बन्धाधार एक

अद्वैतसिद्धिः

परामर्शित्वेन पदार्थभेदभ्रमनिवर्तकत्वम्, नाभिज्ञायाः। एवं तत्त्वमसीति वाक्यस्य सत्यादिवाक्यात्तत्पदाच्च प्रमेयावैलक्षण्येऽपि धर्मद्वयपरामर्शित्वेन भेदभ्रमनिवर्तकत्वात्। प्रामाण्यम्। उक्तं च कात्यायनेन 'सिद्धं तु निवर्तकत्वा'दिति।

स्यादेतत् अभिज्ञया वस्तुत एकस्मिन् कालद्वयसंबन्धस्य देवदत्ताभेदस्य च ग्रहणेऽपि प्रत्यभिज्ञया एकस्मिन् कालद्वयसंबन्ध इति वा, कालद्वयसंबन्ध्येक इति वा ग्रहणेन प्रमेयत एव भेदः। न हीदमिति ज्ञानं वस्तुतः शुक्तौ शुक्त्यभेदग्राह्यपि इयं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

के ग्रहण में अभिज्ञा और प्रत्यभिज्ञा—दोनों की समानता होने पर भी भेद-भ्रम-निवर्तकत्व प्रत्यभिज्ञा में ही होता है, अभिज्ञा में नहीं। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि'—इस वाक्य का सत्यादि वाक्य की अपेक्षा विषय-वैलक्षण्य न होने पर भी सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्वरूप दो धर्मों का ग्राहक है, अत एव भेद-भ्रम का निवर्तक होने से प्रमाण माना जाता है जैसा कि महाभाष्यकार ने "वृद्धिरादैच" (पा० सू० १।१।१) सूत्र में कहा है—"यदि तर्हि नित्याः शब्दाः, किमर्थं शास्त्रम्? किमर्थं शास्त्रमिति चेन्निवर्तकत्वात् सिद्धम् | निवर्तकं शास्त्रम्। कथम्? मृजिरस्मै अविशेषेणोपदिष्टः। तस्य सर्वत्र मृजिबुद्धिः प्रसक्ता, तत्रानेन निवृत्तिः क्रियते—मृजेरक्ङित्सु प्रत्ययेषु मृजेः प्रसङ्गे मार्जिः साधुर्भवति" (महा० नवा० पृ० १६७) यहाँ जिज्ञासा उठाई गई है कि यदि शब्द नित्य हैं, तब व्याकरण शास्त्र ज्ञात-ज्ञापक होने से व्यर्थ है—इस जिज्ञासा के शमनार्थ कहा गया है कि भ्रम का निवर्तक होने के कारण शास्त्र सार्थक माना जाता है, अर्थात् 'मृजू शुद्धौ'—इस प्रकार मृजि धातु का पाणिनीय उपदेश देख कर मृजन्ति—इत्यादि रूपों का साधुत्व-ज्ञान हो जाने पर भी 'मार्ष्टि'—इत्यादि में यह भ्रम हो जाता है कि यह 'मृजि' धातु का साधु रूप नहीं, उस भ्रम की निवृत्ति के लिए "मृजेर्वृद्धिः" (पा० सू० ७।२।११४) और 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः" (पा० सू० ८।२।३६) इत्यादि सूत्रों की सहायता से मार्ष्टिरूप का साधुत्व समर्थित होता है। ठीक उसी प्रकार 'तत्त्वमसि" (छां ६।८।७) इत्यादि शास्त्र भी ज्ञात-ज्ञापक होने पर भी भेद-भ्रम के निवर्तक होने के कारण प्रमाण माने जाते हैं, अत एव बौद्धगणों ने शास्त्र का लक्षण ही किया है—'शास्त्रं मोहनिवर्तकम्" (प्र० वा० १।६)]।

शङ्का—वस्तु-दृष्टि से देवदत्त एक ही है और उसी में अतीत और वर्तमान—दो कालों का सम्बन्ध अभिज्ञा ज्ञान के द्वारा गृहीत होता है, किन्तु एकत्वाकारेण प्रतीयमान देवदत्त में नहीं और प्रत्यभिज्ञा के द्वारा एकत्वेन भासमान देवदत्त में दोनों कालों का सम्बन्ध अथवा काल-द्वय-सम्बन्धी एक पदार्थ गृहीत होता है, अतः अभिज्ञा और प्रत्यभिज्ञा का विषय-वैलक्षण्य वैसे ही हो जाता है, जैसे कि इदं रजतम्' और 'इयं

न्यायामृतम्

इति वा ग्रहणेन प्रत्यभिज्ञायाः प्रमेयत एव भेदात्। न हीदमिति ज्ञानं वस्तुतः शुक्तौ शुक्त्यभेदग्राह्यपीयं शुक्तिरितिज्ञानवत् इदंत्वशुक्तित्वाधार एक इत्याकारम्। अन्यथा फलतोऽपि विशेषो न स्यात्। कालद्वयपरामर्शमात्रेण भेदभ्रमनिवृत्तौ भेदभ्रमकालेऽपि तस्य सत्त्वात्तेन निवृत्तिः स्यात्। एवं तत्त्वमसीत्यत्रापीति दिक्।

अद्वैतसिद्धिः

शुक्तिरिति ज्ञानवदिदंत्वशुक्तित्वाधार एक इत्याकारम्, अन्यथा तु फलतोऽपि विशेषो न स्यात्, कालद्वयपरामर्शस्य भेदभ्रमेऽपि सत्त्वात्। एवं तत्त्वमसीत्यत्रापीति। उच्यते—न हि प्रत्यभिज्ञायामैक्यं प्रकार इति कस्यचिन्मतम्, तस्य स्वरूपत्वेन विशेष्यत्वात्। अभेदस्वरूपविषयत्वे तुल्ये तत्तेदन्तोभयप्रकारिका सेति तव मतम्, निष्प्रकारिकैवेति मम। एकत्वं च नैकत्वसङ्ख्या, गुणादावभावात्, तज्ज्ञानस्य भेदभ्रमाविरोधित्वाच्च, किंतु भेदविरहरूपं स्वरूपमित्युक्तम्। अन्यथा तदभिलापकवाक्यमपि सोऽयमेक इति स्यात्, न तु सोऽयमिति। सोऽयमिति वाक्ये त्वैक्यस्य प्रकारत्वं तत्प्रतिपादकपदाभावादेव दूरनिरस्तम्। भेदभ्रमे कालद्वयपरामर्शोऽपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शुक्तिः' का। 'इदं रजतम्'—के इदम् अंश से वस्तुदृष्ट्या शुक्ति में शुक्ति का अभेद गृहीत होने पर भी 'इयं शुक्तिः' के समान इदन्त्व और शुक्तित्व के आधार में एकत्व गृहीत नहीं होता, अन्यथा उनके फलों में अन्तर नहीं होना चाहिए, फल-वैलक्षण्य अनुभवसिद्ध है कि 'इदं रजतम्'—यह ज्ञान भ्रम कारक और 'इयं शुक्तिः'—यह ज्ञान भ्रमनिवर्तक है। काल-द्वय के परामर्शमात्र से प्रत्यभिज्ञा में भ्रम-निवर्तकत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि काल-द्वय-सम्बन्ध का भान भेद-भ्रम में भी होता है—'नायं सः'। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि'—इत्यादि स्थल पर भी अभिज्ञा और प्रत्यभिज्ञा का विषय-वैलक्षण्य निश्चित है।

समाधान—'सोऽयम्'—इस प्रत्यभिज्ञा में एकत्व प्रकार है—ऐसा किसी का भी मत नहीं, क्योंकि वह एकत्व विशेष्य वस्तु का स्वरूप होने के कारण विशेष्य हो जाता है, प्रकार नहीं रह जाता। अभेद या एकत्व वस्तु का स्वरूप है—यह आप भी मानते हैं और हम भी, हाँ, आप तत्ता और इदन्ता—उभयप्रकारा प्रत्यभिज्ञा मानते हैं और हम निष्प्रकारा प्रत्यभिज्ञा। यहाँ एकत्व को एकत्व संख्यात्मक नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'सोऽयं गुणः'—इत्यादि-स्थल पर गुणादि में संख्यारूप गुण नहीं माना जाता, संख्यारूप एकत्व का ज्ञान भेद-भ्रम का विरोधी भी नहीं, अतः अगत्या एकत्व को भेदाभावरूप ही मानना होगा, अभाव तो वस्तु का स्वरूप ही होता है—यह उभय-सम्मत तथ्य हैं। एकत्व को प्रकार बनाने के लिए उसके उपस्थापक पद का भी प्रयोग आवश्यक है, क्योंकि पदार्थों के संसर्गों का भान संसर्ग-मर्यादया जैसे होता है, वैसे प्रकारादि का नहीं, अपितु तद्वाचक पद का होना आवश्यक है, अतः 'सोऽयम्'—प्रत्यभिज्ञा का आकार 'सोऽयमेकः'—ऐसा होना चाहिए। सोऽयम्'—इस वाक्य में एकत्व-वाचक पद का अभाव होने के कारण एकत्व का प्रकार होना कभी सम्भव नहीं। भेद-भ्रम में काल-द्वय का भान होने पर भी भ्रम-प्रतीत आश्रयतावच्छेदक और प्रतियोगितावच्छेदक से उपलक्षित स्वरूपमात्र की प्रतीति न होने के कारण भ्रमनिवर्तकत्व नहीं और प्रत्यभिज्ञा में उक्त स्वरूपमात्र का अवगाहन होने के कारण भ्रम-

न्यायामृतम्

एतेन—उपाधिभेदभिन्नार्थो येनैकः प्रतिपाद्यते ।
तदपि स्यादखण्डार्थं महत् खं कुंभखं यथा ॥ इति कल्पतरूक्तम्,
सत्यज्ञानादिगीरेतत्संसर्गव्यतिरेकिणि ।
अर्थे प्रमाणं मानत्वान्नयनादिप्रमाणवत् ॥

इति चित्सुखोक्तं चानुमानं निरस्तम्, अप्रसिद्धविशेषणत्वादिदोषजातात् । एकत्वप्रतिपादकत्वरूपस्याद्यहेतोः सखण्डार्थत्वेनैव व्याप्ततया विरुद्धत्वाच्च, आकाशोऽशः स्वाभाविक इति वक्ष्यमाणत्वेन साधनवैकल्याच्च । घटाकाशो महाकाश इत्यत्रापि आकाशस्वरूपमात्रबोधने भेदभ्रमनिरासायोगेनाधिकस्य बोध्यत्वेन साध्यवैकल्याच्च । द्वितीयहेतौ संसर्गादन्यस्मिन् संसर्गिण्यपि प्रामाण्यस्य मन्मतेऽपि सत्त्वेन सिद्धसाधनाच्च । श्लोकस्य अग्निहोत्रादिगीरिति सत्यज्ञानादिगीरेतत्पदार्थव्यतिरेकिणीत्यपि पठितुं शक्यत्वेनाभाससाम्याच्च । तस्माद्वेदान्ताः सगुणब्रह्मपरा इति ब्रह्मानन्तगुणमिति ।

तत्त्वमस्यादिवाक्यस्याखण्डार्थत्वानुमानभंगः ।

अद्वैतसिद्धिः

भ्रमप्रतीतभेदाश्रयतावच्छेदकेत्यादिनिरुक्तफलवैलक्षण्यमुपपन्नमेव । अत एव
'उपाधिभेदभिन्नार्थो येनैकः प्रतिपाद्यते ।
तदपि स्यादखण्डार्थं महत् खं कुम्भकं यथा ॥' इत्यादि कल्पतरूक्तम्,
'घटाकाशो महाकाश इत्युक्तेश्चैक्यधीर्यथे'ति वार्तिकं च निरवद्यम् । तथा च तत्त्वमसिवाक्यमखण्डार्थम्, उपाधिभेदभिन्नेऽर्थे ऐक्यप्रतिपादकत्वाद्, घटखं महाखमिति वाक्यवदित्युक्तं भवति । एवं च—सत्यज्ञानादिरेतत्संसर्गव्यरेकिणि अर्थे प्रमाणम्, मानत्वात्, 'नयनादिप्रमाणव'दिति चित्सुखाचार्योक्तमपि—साधु ।

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

निवर्तकत्व होता है—यह फल-वैलक्षण्य सिद्ध हो जाता है । अत एव कल्पतरुकार का यह कथन अत्यन्त निर्दोष है—

उपाधिभेदभिन्नार्थो येनैकः प्रतिपाद्यते ।
तदपि स्यादखण्डार्थं महत् खं कुम्भकं यथा ॥ (कल्प० पृ० ९५)

[सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्वादि उपाधियों से भिन्न चैतन्यरूप अर्थ की एकता जिस 'तत्त्वमसि'—इत्यादि वाक्य से प्रतिपादित होती है, वह भी अखण्डार्थक होता है] । वार्तिककार ने भी सटीक ही कहा है—

घटाकाशो महाकाश इत्युक्तौ ऐक्यधीर्यथा ।
तथेहापि कथं नाम प्रत्यग्धीः स्यादितीर्यते ॥ (बृह० वा० पृ० ९२७)

इस प्रकार यह अनुमान सूचित किया गया है—'तत्त्वमस्यादिवाक्यम्, अखण्डार्थकम्, उपाधिभेदभिन्नार्थैक्यप्रतिपादकत्वाद्, यथा महाकाशो कुम्भकं (कुम्भाकाशः) । आचार्य चित्सुखमुनि की उक्ति भी साधूक्ति है—

सत्यज्ञानादिगीरेतत्संसर्गव्यतिरेकिणि ।
अर्थे प्रमाणं मानत्वान्नयनादिप्रमाणवत् ॥ (त० प्र० पृ० २०१)

अद्वैतसिद्धिः

सत्यादिवाक्यमेतत्पदार्थसंसर्गव्यतिरिक्त एवार्थे प्रमाणमिति सावधारणं साध्यं विवक्षितम् , तेन संसर्गातिरिक्तसंसर्गिण्यपि प्रामाण्याङ्गीकारात् न सिद्धसाधनम् । कण्टकोद्धारस्तु पूर्ववत् । एवमन्येषामपि प्रयोगाः यथायथमुपपादनीयाः ॥

तस्मात् वृथा रोदिषि मन्दबुद्धे तव भ्रमादेव हि दुःखमेतत् ।
तस्यापनोदो विहितः प्रमाणैस्तुभ्यं तु रोचेत स नेति चित्रम् ॥
मानं वेदान्तवाक्यानि निर्गुणाखण्डबोधनात् ।
निर्गुणत्वं च तस्योक्तं श्रुत्या युक्तिसहायया ॥ २ ॥
इह कुमतिरतत्त्वे तत्त्ववादी वराकः प्रलपति यदकाण्डे खण्डनाभासमुच्चैः ।
प्रतिवचनममुष्मै तस्य को वक्तु विद्वान् न हि रुतमनुरौति ग्रामसिंहस्य सिंहः ॥३॥

इत्यद्वैतसिद्धौ तत्त्वमस्यादिमहावाक्याखण्डार्थत्वोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यहाँ पर 'संसर्गातिरिक्ते एव प्रमाणम्'—इस प्रकार सावधारण साध्य विवक्षित है, अतः संसर्ग और उससे भिन्न संसर्गी पदार्थ में भी उक्त वाक्य का प्रामाण्य द्वैती मानता है, फिर भी सिद्ध-साधना दोष नहीं, क्योंकि पूर्ववादी संसर्गातिरिक्तमात्र की बोधकता नहीं मानता। उक्त उक्तियों में प्रदत्त दोषों के निराकरण का प्रकार ऊपर दिखाया जा चुका है। इसी प्रकार अन्य आचार्यों के भी अखण्डार्थकत्व-साधक अनुमान-प्रयोगों का उपपादन कर लेना चाहिए।

मन्दप्रज्ञ ! द्वैतदर्शि ! तू व्यर्थ ही द्वैत के मोह में फँस कर रो रहा है, तेरी ही भूल के कारण यह दुःख दावाग्नि धधक उठी है, उसकी शान्ति का उपाय हमने आकाङ्क्ष्य प्रमाणों के द्वारा सुझा दिया है, किन्तु तुझे वह रुचिकर नहीं—यह बड़े दुःख की बात है। १। निर्गुण और अखण्ड ब्रह्म के बोधक होने के कारण वेदान्त वाक्य प्रमाण हैं, ब्रह्म की निर्गुणता और अखण्डता युक्ति-पूर्ण श्रुतियों से प्रतिपादित हुई है। २। इस परिच्छेद में अतत्त्व को तत्त्व के रूप में प्रस्तुत कर द्वैतवादी जो गला फाड़-फाड़ कर अद्वैत का खण्डन कर रहा है, उसका प्रतिवचन करने की आवश्यकता कौन विद्वान् समझेगा, क्योंकि सिंह को देखकर कुत्तों के चिल्ल-पों मचाने पर सिंह कभी उनका अनुकरण नहीं किया करता ॥ ३ ॥

: ३ :

ब्रह्मणो निर्गुणत्वविचारः

न्यायामृतम्

तथा हि ब्रह्मणो धर्माः किं साधकाभावान्न सन्ति ? उत बाधकसद्भावात् ? नाद्यः, "बृहन्तो ह्यस्मिन्गुणाः", "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल-क्रिया च ।" "सत्यकामः सत्यसंकल्प" इत्यादिश्रुतीनाम् ।

ब्रह्मेशानादिभिर्देवैः समेतैर्यद्गुणांशकः ।
नावसाययितुं शक्यो व्याचक्षाणैश्च सर्वदा ॥
मय्यनन्तगुणेऽनन्ते तेजो बलैश्वर्यमहाववोध-
सद्वीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः ॥

परःपराणा"मित्यादिस्मृतीनाम् ।" अन्तस्तद्धर्मोपदेशाद् "अन्तर्य्यार्यधिदैवादिषु तद्धर्म-व्यपदेशाद्, अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः सर्वधर्मोपपत्तेश्च"—इत्यादीनां निर्णायक-सूत्राणाम् ।

अद्वैतसिद्धिः

कैवल्यश्रुत्या तावदात्मा निर्गुणः । ननु—'बृहन्तोऽस्य धर्मा' इति श्रुत्या

'ब्रह्मेशानादिभिर्देवैः समेतैर्यद्गुणांशकः ।
नावसाययितुं शक्यो व्याचक्षाणैश्च सर्वदा ॥'

इति स्मृत्या च ब्रह्म, धर्मवत्, पदार्थत्वाद्'—इत्याद्यनुमानेन च स्वसमान-सत्ताकधर्मवद् ब्रह्मेति—चेत्, मैवम्, न तावच्छ्रुत्या सगुणत्वसिद्धिः, सगुणप्रकरण-स्थाया उपास्तिविधिविषयविशेषणसमर्पकत्वेन तत्परत्वाभावात् । न चापूर्वत्वात् सत्यकामादौ विशेषणे तात्पर्यम्, अपूर्वत्वेऽप्यन्यशेषस्यातत्परत्वदर्शनाद्, यथा हि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

"केवलो निर्गुणश्च" (श्वेता० ६।११) इस श्रुति से सिद्ध होता है कि आत्मा निर्गुण है ।

शङ्का—ब्रह्म की सगुणता श्रुति, स्मृति और अनुमानादि प्रमाणों से प्रमाणित है—"बृहन्तोऽस्य धर्माः" (अ. शि. उ. ४) यह श्रुति कहती है कि इस ब्रह्म में महान् धर्म (गुण) रहते हैं । इसी प्रकार—

ब्रह्मेशानादिभिर्देवैः समेतैर्यद्गुणांशकः ।
नावसाययितुं शक्यो व्याचक्षाणैश्च सर्वदा ॥

यह स्मृति कहती है कि ब्रह्मा और शङ्करादि देवगण मिल कर भी जिस पर ब्रह्म के एक अंश की भी सम्यक् व्याख्या नहीं कर सकते, वह अनन्तगुण-सम्पन्न है । 'ब्रह्म धर्मवान्, पदार्थत्वाद् घटादिवत्'—इस अनुमान के द्वारा भी ब्रह्म में धर्मवत्ता निश्चित होती है । उक्त श्रुत्यादि प्रमाणों से ब्रह्म के धर्म भी ब्रह्म-समानसत्ताक सिद्ध किए गये हैं, अतः काल्पनिक धर्मो को मान कर सिद्ध-साधनता का उद्भावन नहीं किया जा सकता ।

समाधान—सर्व-प्रथम श्रुति के द्वारा जो ब्रह्म में सगुणता सिद्ध की जाती है, वह संगत नहीं, क्योंकि सगुण-प्रकरण में पठित श्रुतियाँ उपसना-विधि के विषयीभूत विशेषणों का बोध मात्र कराती हैं, वस्तुतः ब्रह्म की सगुणता के प्रतिपादन में उनका तात्पर्य नहीं है ।

शङ्का—"सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" (छां० ८।१।५) इत्यादि वाक्य प्रमाणान्तर

अद्वैतसिद्धिः

'जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा जुहुया'दित्यादौ जर्त्तिलयवाग्वादेर्होमसाधनत्वस्य 'अनाहुतिर्वै जर्त्तिलाश्च गवीधुकाश्चे'ति निन्दायाश्च 'अजक्षीरेण जुहोती'ति विध्येकवाक्यतया अतत्परत्वं, तथैवात्राप्युपपत्तेः, निर्गुणप्रकरणस्थायास्तु अद्वितीयब्रह्मप्रतिपत्त्यनुकूलनिषेधापेक्षितविषयसमर्पकतया अन्यथासिद्धेः । न च—'किञ्चने' त्यादिसामान्यवाचकपदेनैव ब्रह्मातिरिक्तसर्वनिषेध्योपस्थितौ विशेषग्रहणमनर्थकमिति—वाच्यम्, अलौकिकतया वाक्यप्रमेयत्वभ्रमव्युदासार्थत्वात् । अत एव—श्रुतिप्राप्तस्य श्रुत्या निषेधे अहिंसावाक्यम् अग्निषोमीयहिंसाया, अग्रहणवाक्यं च षोडशिग्रहणस्य, असद्वेत्यादिवाक्यं ब्रह्मसत्त्वस्य भेदवाक्यं चैक्यस्य निषेधकं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

से अनधिगत सत्यकामादि गुणों का प्रतिपादन करते हैं, अतः उन वाक्यों का सत्यकामादि गुणों के प्रतिपादन में मुख्य तात्पर्य मानना चाहिए ।

समाधान—यद्यपि "सत्यकामः सत्यसंकल्पः"—इत्यादि वाक्य अपूर्व (प्रमाणान्तरानधिगत) गुणों के अभिधायक हैं, तथापि अन्य विधि वाक्य के वाक्य-शेष होने के कारण उनका तात्पर्य गुणों के प्रतिपादन में नहीं माना जा सकता, जैसे अग्निचयन के प्रकरण में कहा गया है—"जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा जुहुयात्, न ग्राम्यान् पशून हिनस्ति, नारण्यान्, अथो खल्वाहुः—अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च पयसा अग्निहोत्रं जुहोति" (तै० सं० ५।४।२) यहाँ जर्तिल (काले तिल) और गवीधुक (जंगली गेहूँ) का पहले विधान किया गया, फिर उनकी निन्दा की गई कि वे हव्य नहीं, वस्तुतः इस वाक्य का न तो जर्तिलादि की विधि में तात्पर्य है और न निन्दा में, क्योंकि यह अर्थवादमात्र है, इसका एकवाक्यतापन्न विधि से विहित पय (दुग्ध) की स्तुति में तात्पर्यमात्र है । "अजक्षीरेण जुहोति"—यह आपस्तम्बीय विधि वाक्य है, जैमिनिसूत्र की सुबोधिनी वृत्ति (जै० सू० १०।८।७) में इस पर वही विचार किया गया है । जैसे उक्त वाक्य का जर्तिलादि के विधान में तात्पर्य नहीं, वैसे ही "बृहन्तोऽस्य धर्माः"—इत्यादि वाक्यों का गुण-विधि में तात्पर्य नहीं, अपितु निर्गुण-प्रकरण-पठित गुणनिषेधपरक वाक्यों में अपेक्षित निषेध्यभूत गुणों का समर्पणमात्र करते हैं, अतः वे अन्यथासिद्ध हैं । यदि कहा जाय कि "नेह नानास्ति किञ्चन"(बृह०उ० ४।४।१९) इस वाक्य के 'किञ्चन' पद से ही सामान्यतः ब्रह्मातिरिक्त गुणादि निषेध्य-मात्र की उपस्थिति हो जाती है, अतः 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः'—इत्यादि विशेषार्थक वाक्यों को निषेध्य-समर्पक न मान कर गुण-विधिपरक ही माना जाय । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि उपास्य ब्रह्म के गुण लोक में प्रसिद्ध नहीं, अतः उपासना वाक्यों के प्रमेय में भ्रम हो सकता था, उसकी निवृत्ति के लिए 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः—इत्यादि कहा गया है । न्यायमृतकार ने जो यह कहा कि यदि श्रुति-विहित पदार्थ का श्रुति से ही निषेध मान लिया जाता है, तब "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि"—यह वाक्य "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत"—इस वाक्य से विहित हिंसा का, "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" यह वाक्य "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" (मै० सं० ४।७।६) इस वाक्य से विहित षोडशिग्रहण का, "असद्वा इदमग्र आसीत्" (तै० उ० २।७) यह वाक्य "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छां० ६।२।१) इस वाक्य से प्रतिपादित ब्रह्म-सत्त्व का निषेधक तथा "द्वा सुपर्णा" (माण्ड० ३।१।१) इत्यादि भेदपरक वाक्य "तत्त्वमसि" (छां०

न्यायामृतम्

(१) ब्रह्म धर्मिसत्तासमानसत्ताकधर्मवद्, उक्तसत्ताकभावरूपधर्मवद्वा, यावत्स्वस्वरूपमनुवर्तमानधर्मवद्वा, उक्तविशेषणवद्भावरूपधर्मवद्वा, स्वज्ञानाबाध्यभावरूपधर्मवद्वा, धर्मैर्भावरूपैर्धर्मैर्वा हीनं नावतिष्ठते पदार्थत्वाद्, भावत्वाद्, अभावविलक्षणत्वाद्वा,

अद्वैतसिद्धिः

स्यादिति – निरस्तम्, प्रकृते श्रुतिप्राप्तस्यैवाभावात्। श्रुतिप्राप्तत्वं हि न तत्प्रसक्तत्वम्, अतिप्रसङ्गात्, तत्प्रमितत्वस्य च प्रकृते अभावात्। अहिंसावाक्यस्यावैधहिंसाविषयत्वेन समानविषयत्वाभावात्, समानविषयत्वे ग्रहणाग्रहणवद्विकल्पापत्तेः। ग्रहणाग्रहणवाक्ययोस्तु सत्यपि समानविषयत्वे एकस्याधिकबलत्वाभावेन बाध्यबाधकभावस्यासंभावितत्वाद्, अन्यथा विकल्पानाश्रयणप्रसङ्गात्। असद्वाक्यभेदवाक्ययोस्तु न ब्रह्मसत्त्वैक्यनिषेधकता, सत्त्यैक्यबोधकयोरेव तत्परत्वेन प्राबल्यात्।

नाप्यनुमानं ब्रह्मणि तात्त्विकधर्मसाधनायालम्। तथा हि–(१) ब्रह्म धर्मिसत्तासमानसत्ताकधर्मवद्, उक्तसत्ताकभावरूपधर्मवद्वा, यावत्स्वरूपमनुवर्तमानधर्मवद्वा, तादृशभावरूपधर्मवद्वा, स्वज्ञानाबाध्यधर्मवद्वा, तादृशभावरूपधर्मवद्वा, धर्मैर्भावरूपधर्मैर्वा हीनं नावतिष्ठते वा, पदार्थत्वाद्, अथवा भावत्वाद्, घटवत्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

६।८।७) इत्यादि वाक्यों से प्रतिपादित अभेद के निषेधक हो जायँगे। न्यायामृतकार का वह कथन अत एव निरस्त हो जाता है कि प्रकृत में केवलो निर्गुणश्च" (श्वेता० ६।११) इत्यादि वाक्य जिस गुणवत्ता का निषेध करते हैं, वह श्रुति-प्राप्त नहीं। श्रुति-प्राप्त का अर्थ श्रुति-प्रमित करना होगा, केवल श्रुति-प्रसक्त नहीं, क्योंकि गौणरूप से प्रसक्त जतिलादि का अत्यन्त निषेध ऊपर प्रदर्शित किया जा चुका है। ब्रह्म में गुणवत्ता श्रुति प्रमित नहीं। "न हिंस्यात्"–यह वाक्य अग्नीषोमीय हिंसा का निषेध इस लिए नहीं कर सकता, क्योंकि वह यागीय हिंसा से भिन्न हिंसा को विषय करने के कारण समानविषयक नहीं, यदि समानविषयक माना जाता है, तब षोडशि के ग्रहणाग्रहण के समान हिंसा-अहिंसा का विकल्प प्राप्त होता है। षोडशि के ग्रहणाग्रहण-प्रकाशक वाक्यों में न्यूनाधिकबलत्व न होने के कारण बाध्य-घातकभाव नहीं माना जाता। यदि उनमें न्यूनाधिकबलत्व माना जाता, तब विकल्प कभी नहीं हो सकता था। ब्रह्मगत असत्ता और भेद के प्रतिपादक वाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं, सत्त्व और अभेद के बोधक वाक्यों का स्वार्थ में मुख्य तात्पर्य होता है, अतः इनमें प्रबल-दुर्बलभाव होने के कारण बाध्यघातकभाव होता है।

ब्रह्मगत तात्त्विक धर्म-साधन की क्षमता अनुमान में भी नहीं हो सकती, क्योंकि न्यायामृतकार-द्वारा जो सात अनुमान प्रदर्शित हुए हैं–(१) ब्रह्म धर्मिसत्तासमानसत्ताकधर्मवद्, उक्तसत्ताकभावरूपधर्मवद् वा, यावत्स्वरूपमनुवर्तमानधर्मवद्वा, तादृशभावरूपधर्मवद्वा, स्वज्ञानाबाध्यधर्मवद्वा, तादृशभावरूपधर्मवद्वा, धर्मैर्भावरूपधर्मैर्वा हीनं नावतिष्ठते वा पदार्थत्वाद्, अथवा भावत्वाद् घटवत् [ब्रह्म में काल्पनिक धर्म अद्वैती भी मानते हैं, जैसा कि पञ्चपादिकाकार ने कहा है–"आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वमिति सन्ति धर्माः" (पं० पा० पृ० २३) अतः सिद्ध-साधनता-निवृत्त्यर्थं साध्य का विशेषण दिया है–'धर्मिसमानसत्ताक।' मण्डन मिश्र ब्रह्म में अभावात्मक धर्मों का रहना दोषाधायक ही नहीं मानते–"अभावरूपा नाद्वैतं घ्नन्ति" (ब्र० सि० पृ० ४)

न्यायामृतम्

घटवत् । (२) ब्रह्म स्वज्ञानाबाध्यप्रकारवत्, स्वारोपितव्यावर्तकस्वज्ञानाबाध्यप्रकारवद्वा, अधिष्ठानत्वाच्छुक्तिवत् । (३) ब्रह्म स्वज्ञानाबाध्यदुःखव्यावृत्तिमत्, स्वज्ञानाबाध्यदुःखव्यावर्तकधर्मवद्वा, दुःखानात्मकत्वाद् घटवत् । (४) ब्रह्म स्वज्ञानाबाध्यप्रकारक-

अद्वैतसिद्धिः

(२) ब्रह्म, स्वज्ञानाबाध्यप्रकारवत्, स्वारोपितव्यावर्तकस्वज्ञानाबाध्यप्रकारवद्वा, अधिष्ठानत्वात्, शुक्तिवत् । (३) ब्रह्म, स्वज्ञानाबाध्यदुःखव्यावर्तकधर्मवद्, दुःखानात्मकत्वात्, घटवत् । (४) ब्रह्म, स्वज्ञानाबाध्यप्रकारविशेष्यम्, सन्दिग्धत्वात्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इस सिद्ध-साधनता से भी बचने के लिए साध्य का एक विशेषण और लगाया—भावरूप। पदार्थत्व का यदि पद-वाच्यत्व अर्थ किया जाता है, तब शुद्ध ब्रह्म में स्वरूपासिद्धि हो जाती है, अतः हेत्वन्तर का प्रयोग किया गया—भावत्वात्] । (२) ब्रह्म स्वाज्ञानाबाध्यप्रकारवत्, स्वारोपितव्यावर्तकस्वज्ञानाबाध्यप्रकारवद्वा, अधिष्ठानत्वात्, शुक्तिवत् ['ब्रह्म यदि सप्रकारकं न स्यात्, तर्हि सप्रकारकभ्रमनिवर्तकं न स्यात्'—इस प्रकार के अनुकूल तर्क का लाभ करने के लिए धर्मवत् न कह कर प्रकारवत् कहा गया है। केवल प्रकारवत्– इतना ही साध्य करने पर अद्वैतिसम्मत सर्वज्ञत्वादिरूप बाधित प्रकारों को लेकर सिद्ध-साधनता होती है, अतः प्रकार का विशेषण लगाया—स्वज्ञानाबाध्य। सर्वज्ञत्वादि प्रकार ब्रह्म-ज्ञान से बाधित माने जाते हैं, अबाधित नहीं। 'ज्ञान' पद से अपरोक्ष ज्ञान विवक्षित है, अन्यथा परोक्षज्ञान से अबाधित उक्त प्रकारों को लेकर सिद्ध-साधनता हो जाती। इष्टसिद्धिकारादि-सम्मत अविद्यानिवृत्तिरूप पञ्चम प्रकार ब्रह्म-ज्ञान-बाध्य नहीं माना जाता, उस सिद्ध-साधनता का परिहार करने के लिए साध्य का विशेषण दिया गया—स्वारोपितव्यावर्तकत्व। ब्रह्म में आरोपित मिथ्यात्वादि से ब्रह्म का व्यावर्तक होता है—'सत्यत्व' धर्म, वही ब्रह्म-ज्ञान से अबाधित प्रकार यहाँ अभिमत है, शुक्ति में आरोपित रजत से शुक्ति का व्यावर्तक और शुक्ति के ज्ञान से अबाधित प्रकार शुक्तित्व है, उसको लेकर दृष्टान्त में साध्य-समन्वय होता है] । (३) ब्रह्म स्वज्ञानाबाध्यदुःखव्यावर्तकधर्मवत्, दुःखानात्मकत्वाद् घटवत् [जैसे दुःखानात्मक घट में दुःखका व्यावर्तक (भेदक) 'घटत्व' धर्म है, वैसे ही ब्रह्म में दुःख-व्यावर्तक धर्म सुख है—इस प्रकार ब्रह्म में सुखवत्त्व सिद्ध होता है। 'आनन्दो ब्रह्म" (तै० उ० २।६) इत्यादि श्रुतियों के आधार पर ब्रह्म में सुखात्मकत्व सिद्ध है, अतः पूर्वोक्त अनुमान के समान 'ब्रह्म स्वज्ञानाबाध्यसुखव्यावर्तकधर्मवत्, सुखानात्मकत्वाद्, घटवत्'—यह अनुमानाभास नहीं किया जा सकता, अतः उक्त अनुमान में आभास-साम्य प्रदर्शित भी नहीं हो सकता] । (४) ब्रह्म स्वज्ञानाबाध्यप्रकार-विशेष्यम्, सन्दिग्धत्वाद्, विचार्यत्वात्, निर्णेतव्यत्वाद्वा स्थाणुवत् [जैसे 'एकं रूपम्'—इत्यादि व्यवहारों के द्वारा द्रव्यगत एकत्व संख्या स्वाश्रय-वृत्तित्वरूप परम्परा सम्बन्ध से रूप में मानी जाती है, वैसे ही ब्रह्माकार वृत्ति में विद्यमान वृत्तित्वरूप प्रकार स्वाश्रयविषयत्वरूप परम्परा सम्बन्ध से ब्रह्म में रहता है, उसको लेकर अर्थान्तरता या सिद्ध-साधनता हो सकती है, अतः प्रकार के साक्षात् सम्बन्ध का प्रकार-मुद्रया अनुगम करने के लिए प्रकारवत्त्वरूप साध्य को छोड़ कर प्रकार-विशेष्यत्व को साध्य बनाया गया है। सन्दिग्ध पदार्थ ही विचारणीय होता है और विचारणीय ही निर्णेतव्य, ब्रह्म

न्यायामृतम्

ज्ञानविशेष्यम्, संदिग्धत्वाद्, विचार्यत्वात्, निर्णेतव्यत्वाच्च, स्थाणुवत्। (५) ब्रह्म वेदान्ततात्पर्यगोचरप्रकारवद्, वेदान्तविचारविषयत्वात्, यदेवं तदेवं यथा कर्मकाण्डविचारविषयो धर्मः। (६) ईश्वरः सदाऽवाप्तसमस्तकल्याणगुणः, सदा तत्प्रेप्सुत्वे सति तत्र शक्तत्वाद्, यो यदा यत्प्रेप्सुत्वे सति यत्र शक्तः, स तदा तद्वान्, यथा चैत्रः। (७) ईश्वरः सदा त्यक्तसमस्तदोषः सदातज्जिहासुत्वे सति तत्त्यागे शक्तत्वाद्, यो यदा यज्जिहासुत्वे सति यत्त्यागे शक्तः, स तदा त्यक्ततद्दोषः, यथा चैत्रः। तत्प्रेप्सादिकं च प्रेक्षावत्त्वादिनाविपक्षेऽधिष्ठानत्वसंदिग्धत्वादिकं न स्यादित्याद्यनुकूलतर्कसनाथानुमानानां च सत्त्वात्।

अद्वैतसिद्धिः

विचार्यत्वात्, निर्णेतव्यत्वाद्वा स्थाणुवत्। (५) ब्रह्म, वेदान्ततात्पर्यगोचरप्रकारवत्, वेदान्तविचारविषयत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा कर्मकाण्डविचारविषयो धर्मः। (६) ईश्वरः, सदावाप्तसमस्तकल्याणगुणः, सदा प्रेप्सुत्वे सति तत्र शक्तत्वात्, यो यदा यत्प्रेप्सुर्यत्र शक्तः स तदा तद्वान्, यथा चैत्रः। (७) ईश्वरः, सदा त्यक्तसमस्तदोषः, सदा तज्जिहासुत्वे सति तत्त्यागे शक्तत्वात्, यश्चैवं स तथा, यथा चैत्रः—इत्याद्यनुमानेषु धर्मिपदस्वपदयोर्यत्किञ्चिद्धर्मियत्किचित्संबन्धिपरत्वे घटादिसमसत्ताककल्पितधर्मवत्त्वेन सिद्धसाधनम्, ब्रह्मपरत्वे साध्याप्रसिद्धिः, घटादिधर्मे ब्रह्मसमानसत्ताकत्वादेरप्रसिद्धेः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सन्दिग्ध भी है, विचारणीय भी और निर्णेतव्य भी, अतः जैसे स्थाणुर्वा ? पुरुषो वा ? इस सन्देह का विषयीभूत स्थाणु अपने ज्ञान के द्वारा अबाधित स्थाणुत्वरूप प्रकार का विशेष्य है, वैसे ही ब्रह्म भी अपने ज्ञान से अबाधित सत्यत्वादि प्रकारों का विशेष्य है, धर्माधार और सगुण है]। (५) ब्रह्म वेदान्तगोचर प्रकारवत्, वेदान्तविचारविषयत्वाद्, यो यद्विचरविषयः, स तद्गोचरप्रकारवान् भवति, यथा कर्मकाण्डविचारविषयत्वाद् धर्मः कर्मकाण्डगोचरीभूतधर्मत्वप्रकारवान् भवति [वेदान्त ही वह एक मुख्य प्रमाण है, जिसका विषय सर्वथा अबाधित होता है, अतः बाधित प्रकार को लेकर सिद्धसाधनतादि का उद्भावन नहीं हो सकता]। (६) ईश्वरः सदावाप्तसमस्तकल्याणगुणः, सदा प्रेप्सुत्वे सति तत्र शक्तत्वाद्, यो यदा यत्प्रेप्सुत्वे सति यत्र शक्तः, स तदा तद्वान् भवति, यथा चैत्रः [भगवान् सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (बृह० उ० ८।१।५) है, इसी लिए 'बहु स्याम् प्रजायेय'' (छां० ६।२।३) इतना संकल्प मात्र होता है और वह "सच्च त्यच्चाभवत्" (तै. उ. २।६) क्योंकि वह अनन्त शक्ति-सम्पन्न है—परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च (श्वेता० ६।८)]। (७) ईश्वरः सदा त्यक्तसमस्तदोषः, सदा तज्जिहासुत्वे सति तत्त्यागे शक्तत्वाद्, यश्चैवं स तथा, यथा चैत्रः [''अनवद्यो घनो गहने" (मैत्रा० ७।१) ''अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्" (ईशा० ८) इत्यादि श्रुतियाँ उसकी अनवद्यता और विशुद्धता का मुक्त कण्ठ से उद्घोष कर रही हैं]।

न्यायामृतकार के द्वारा प्रयुक्त इन अनुमानों में 'धर्मी' पद और 'स्व' पद यदि यत्किञ्चित् धर्मी और यत्किञ्चित् सम्बन्धी के वाचक हैं, तब घटादि के समान कल्पित व्यावहारिकसत्ताक धर्मों और प्रकारों को लेकर सिद्ध-साधनता है। 'धर्मी' पद और

अद्वैतसिद्धिः

न च—दृष्टान्ते साध्यनिरूपणे तदेव धर्मि, पक्षे तन्निरूपणे ब्रह्मैव धर्मि, धर्मिपदस्वपदादीनां समभिव्याहृतपरत्वादिति—वाच्यम्, शब्दस्वभावोपन्यासस्यानुमानं प्रत्यप्रयोजकत्वात्। स्वरूपपदस्याप्येवमेव ब्रह्मपरत्वे साध्याप्रसिद्धिः, घटादिपरत्वे सिद्धसाधनम्। समभिव्याहृतपरत्वस्य शब्दस्वभावस्यानुमानं प्रत्यप्रयोजकत्वमिति दूषणं पूर्ववत्। धर्मैर्विना नावतिष्ठत इत्यस्य ब्रह्म धर्मव्याप्तमित्यर्थः। तथा च सिद्धसाधनम्, यस्मिन् काले देशे वा ब्रह्म, तत्र धर्माः सन्त्येव। न हि कालो देशो वा धर्मरहितः, मायाचित्संबन्धस्य कालस्य मुक्त्यसहवृत्तित्वात्। स्वज्ञानाबाध्येत्यत्रापि पूर्ववत् स्वपदार्थविकल्पः। अत एव—स्वारोपितव्यावर्तकस्वज्ञानाबाध्यधर्मवदिति—निरस्तम्, स्वज्ञानाबाध्यदुःखव्यावर्तकधर्मवदित्यत्रापि स्वपदार्थविकल्पः पूर्ववत्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

'स्व' पद यदि ब्रह्मपरक है, तब साध्याप्रसिद्धि होती है, क्योंकि दृष्टान्तीभूत घटादिगत धर्मों में ब्रह्मसमानसत्ताकत्व नहीं माना जाता।

शङ्का—'धर्मी' पद और 'स्व' पद स्वभावतः दृष्टान्त में दृष्टान्त के एवं पक्ष में पक्ष के वाचक होते है, अतः यहाँ वे पद घटादि दृष्टान्त में घटादि और ब्रह्मरूप पक्ष में ब्रह्म के बोधक हैं, उन्हीं में साध्य का समन्वय उनके अनुरूप ही किया जाता है। अतः घटादिगत धर्मों में घट-समानसत्ताकत्व अपेक्षित है, ब्रह्म-समानसत्ताकत्व नहीं।

समाधान—अनुमान-प्रवर्तन के समय शब्द-स्वभाव का उपन्यास उपयुक्त नहीं होता। [नियम यह है कि पक्ष में साध्य जिस रूप से प्रतिज्ञात होता है, दृष्टान्त में उसी रूप से साध्य की व्याप्ति का प्रदर्शन होता है, जैसे पर्वत में अरुणवह्नित्वेन प्रतिज्ञात वह्नि की महानसादि में शुक्लवह्नित्वेन व्याप्ति का प्रदर्शन सर्वथा अनुचित है, वैसे ही प्रकृत में प्रतिज्ञात ब्रह्म-समसत्ताक धर्मों की घटादि दृष्टान्त में घट-समानसत्ताकत्वेन व्याप्ति का प्रदर्शन कभी संगत नहीं कहा जा सकता, अतः उभयत्र साध्यगत एकरूपता लाने के लिए ब्रह्म-समानसत्ताक धर्म की व्याप्ति घटादि में सिद्ध नहीं, और घटादि-समानसत्ताक धर्मों की ब्रह्म में सिद्धि करने पर सिद्धसाधनता दोष प्रसक्त होता है]। उसी प्रकार 'स्वरूप' पद भी यदि ब्रह्मपरक है, तब दृष्टान्त में साध्याप्रसिद्धि और घटादिपरक है, तब पूर्ववत् सिद्ध-साधता होती है। 'स्वरूप' पद स्वसमभिव्याहृत पद के अर्थ का बोधक है, अर्थात् दृष्टान्त में घटपरक और पक्ष में ब्रह्मपरक मान कर साध्य का समन्वय किया जाता है—इस पक्ष में भी पूर्वोक्त दोष प्रसक्त होता है कि अनुमान के अवसर पर शब्द-स्वभाव-वर्णन अनुपयुक्त है। यह जो कहा गया है, कि 'ब्रह्म धर्मैर्विना नावतिष्ठते', उससे ब्रह्म में धर्म की अविनाभावरूप व्याप्यता प्राप्त होती है, अर्थात् जिस देश या काल में ब्रह्म है, वहाँ धर्म सिद्ध होगा। वह तो हम भी मानते हैं, क्योंकि ब्रह्म के आधारभूत देश और काल धर्म से रहित नहीं, धर्मवान् ही होते हैं। देश और काल का वह धर्म यावत्स्वरूपम् अनुवर्तमान है, क्योंकि मोक्षावस्था में न तो माया-चित्सम्बन्धरूप कालादि का सद्भाव रहता है और उनके धर्मों का। स्वज्ञानाबाध्य—इस वाक्य में भी पूर्ववत् 'स्व' पदार्थ के विषय में विकल्प किया जा सकता है। अत एव 'स्वारोपित व्यावर्तकस्वज्ञानाबाध्यधर्मवत्'—इस साध्य का भी निराकरण हो जाता है। स्वज्ञानाबाध्यदुःखव्यावर्तकधर्मवत्—इस में भी 'स्व' पदार्थ का विकल्पपूर्ववत् होता है। दुःखव्यावर्तक धर्मवत्त्वेन साध्य की विवक्षा में सिद्ध-साधता

अद्वैतसिद्धिः

दुःखव्यावर्तकधर्मवत्त्वेन सिद्धसाधनम् । वेदान्ततात्पर्यगोचरेत्यत्रावान्तरतात्पर्यमादाय सिद्धसाधनम् । मुख्यतस्तात्पर्योक्तौ च वेदान्तवाक्यमुख्यतात्पर्यविषयप्रकाराप्रसिद्ध्या साध्याप्रसिद्धिः । न च यत्तद्भ्यामनुगमस्य साध्यप्रसिद्धिः, तथा शब्दानुगमस्यानुमानं प्रत्यनुपयोगात् । ईश्वरः सदावाप्तसमस्तकल्याणगुण इत्यत्र कालं व्याप्य आप्तगुणत्वस्यास्माभिरप्यङ्गीकारात् । न हि निर्धर्मकतायां सत्यां कालसंबन्धोऽस्ति । किं च शुद्धस्य पक्षीकरणे हेत्वसिद्धिः, उपहितस्य पक्षीकरणे अर्थान्तरम्, स्वाभिन्नाप्तसमस्तकल्याणगुणत्वेन सधर्मकत्वायोगाच्च, सिद्धसाधनाच्च, कल्याणगुणानामानन्दादीनां नित्यत्वेन तत्प्रेप्सायास्तत्र सामर्थ्यस्य च त्वयापि वक्तुमशक्यत्वाच्च । अत एव—प्रेप्सादिकं प्रज्ञानघनत्वादिति—निरस्तम् । सदा त्यक्तसमस्तदोषत्वे साध्ये चरमवृत्तिपर्यन्तत्यागे सामर्थ्याभावेन हेत्वसिद्धेः । यदा तु तत्सामर्थ्यम्,

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है, क्योंकि पञ्चपादिकाकारादि ने दुःख-व्यावर्तक आनन्दत्वरूप धर्म को ब्रह्म में माना है, वह ब्रह्मरूप होने के कारण स्वज्ञानाबाध्य भी होता है । 'वेदान्ततात्पर्यगोचरप्रकारवत्'—यहाँ भी सिद्ध-साधनता है, क्योंकि अवान्तर तात्पर्य ब्रह्मगत सत्यत्वादि धर्मों में होता ही है और परम तात्पर्य-विषयीभूत प्रकार की विवक्षा होने पर साध्याप्रसिद्धि दोष होता है । 'यो यद्विचारविषयः, स तत्तात्पर्यविषयीभूतप्रकारवान् यथा कर्मकाण्डतात्पर्यविषयीभूतप्रकारवत् कर्म'—इस प्रकार की यत्त्व-तत्त्व-घटित सामान्य व्याप्ति को लेकर साध्य की प्रसिद्धि कर लेने पर भी वेदान्ततात्पर्यविषयीभूत प्रकारवत्त्वरूप विशेष साध्य की पक्ष में सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसे विशेष साध्य का पक्ष में अनुगम करने के लिए विशेष व्याप्ति की ही अपेक्षा होती है, जो कि अन्यत्र कहीं प्रसिद्ध नहीं ।

ईश्वरः सदावाप्तसमस्तकल्याणगुणः—यहाँ भी सिद्ध-साधनता है, क्योंकि ब्रह्म में जब तक सदात्व या सर्वकाल-सम्बन्ध है, तब तक धर्मवत्ता भी हम मानते ही हैं, मोक्षावस्था में न काल-सम्बन्ध है और न धर्मवत्ता । दूसरी बात यह भी है कि इस अनुमान में शुद्ध चैतन्य को पक्ष बनाने पर हेतुरूप धर्म भी उसमें नहीं रहता, गुणवत्ता किसके आधार पर सिद्ध होगी ? हेतुरूप धर्म उपहित (उपाधि-विशिष्ट) में ही रहता है, उसमें धर्मवत्ता भी सिद्ध ही है, अतः अर्थान्तरता (अखण्डत्वाविरोधी धर्मवत्ता की अनभिमत सिद्धि) पर्यवसित होती है, क्योंकि ईश्वर में समस्त कल्याणकारी गुणों की अभेदेन आप्ति (प्राप्ति) होने पर भी अखण्डत्व-विरोधी धर्मवत्ता सिद्ध नहीं होती । 'तत्प्रेप्सुत्वे तत्र शक्तत्वरूप हेतु की पक्ष में सिद्धि आप (द्वैती) के मत से भी नहीं होती, क्योंकि आनन्दादि-कल्याण गुणों को ईश्वर में जब नित्य माना जाता है, तब उनकी प्रेप्सा (प्राप्त करने की इच्छा) और तज्जनन-शक्तिमत्ता ईश्वर में कैसे बनेगी ? क्योंकि प्रेप्सा सदैव अप्राप्त की और जनन-शक्ति सदैव अनित्य पदार्थों की होती है, सदा प्राप्त और नित्य की नहीं । न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि ईश्वर में प्रेप्सादि की सिद्धि प्रेक्षावत्त्वादि हेतु से होती है, वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि प्रेक्षावान् को कभी भी प्राप्त वस्तु की प्रेप्सा नहीं होती । अन्तिम अनुमान में त्यक्तसमस्तदोषता की सिद्धि के लिए प्रयुक्त 'तज्जिहासुत्वे सति तत्त्यागे शक्तत्वात्'—यह हेतु भी स्वरूपासिद्ध है, क्योंकि जीव की चरमवृत्ति के द्वारा नष्ट होनेवाले अविद्या-सम्बन्धरूप दोष का त्याग

न्यायामृतम्

न चानवस्थानिरासाय कश्चिद्धर्मो निर्धर्मक इति तत्राद्यहेतोर्व्यभिचारः, साध्यस्वरूपस्य निर्धर्मकत्वस्य पदार्थत्वात्मकस्य हेतुरूपस्य च धर्मस्य भावाभावाभ्यां

अद्वैतसिद्धिः

तदा त्यक्तदोषत्वमिष्टमेव। प्रकारवत्त्वादौ साध्ये अप्रयोजकत्वमपि। न च अधिष्ठानत्वसन्दिग्धत्वाद्यनुपपत्तिरेवानुकूलस्तर्कः, अधिष्ठानत्वे हि स्वारोपितव्यावर्तकवत्त्वं तन्त्रं कल्पिताकल्पितसाधारणमित्युक्तत्वात्, स्वज्ञानाबाध्यत्वविशिष्टधर्मं विना तस्यानुपपत्त्यभावात्। संदिग्धत्वमपि व्यावर्तकेन कल्पितेनाकल्पितेन वा रूपेणानिश्चिततयैवोपपद्यत इति तस्यापि नानिश्चितसाध्यधर्मं विनानुपपत्तिः। एवं दुःखानात्मकत्वं दुःखव्यावर्तकस्वरूपतयैवोपपन्नं कदाचिद्वक्तव्यम्, अन्यथा अनवस्थानापत्तेः। न हि व्यावर्तकधर्मोऽपि केवलान्वयी, येन स्ववृत्तिः स्यात्। तथा च तदपि व्यावर्तकधर्मं विनाप्युपपन्नं न तत्साधनायालम्। अनवस्थाभिया क्वचिद्धर्मे विश्रान्तौ पदार्थत्वमपि व्यभिचार्येव। न च स्वस्यैव स्ववृत्तित्वान्न व्यभिचारः, आत्माश्रयात्। न चैवं दृश्यत्वस्यापि स्वस्मिन्नवृत्त्या भागासिद्धिः, स्ववृत्तित्वाभावेऽपि स्वनिष्ठात्यन्ताभावप्रति-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ईश्वर नहीं कर सकता। अर्थात् अविद्या-सम्बन्ध जीव का आवरक होने के कारण जीव के तत्त्व-साक्षात्कार से नष्ट होता है, ईश्वर का वह न तो आवरक है और न ईश्वरीय ज्ञान से उच्छेद्य। जब (जीवभाव की अवस्था में) वह सामर्थ्य माना जाता है, तब त्यक्तदोषत्वरूप साध्य भी अभीष्ट ही होता है। प्रकारवत्त्वादि की सिद्धि में हेतु अप्रयोजक (अक्षम) भी है। न्यायामृतकार ने अप्रयोजकत्व-शंका की निवृत्ति के लिए जो तर्क प्रस्तुत किया है—'ब्रह्म यदि स्वारोपितव्यावर्तकस्वज्ञानाबाध्यप्रकारवत् न स्याद्, तर्हि अधिष्ठानं न स्यात्', वह भी उचित नहीं, क्योंकि अधिष्ठानता की प्रयोजक स्वारोपित पदार्थों की व्यावर्तकता मात्र (चाहे वह कल्पित हो या अकल्पित) होती है—यह कहा जा चुका है, अतः स्वज्ञानाबाध्य (अकल्पित) प्रकारवत्ता के बिना अधिष्ठानता की न तो अनुपपत्ति है और न वह अधिष्ठानता उसकी आक्षेपिका। इसी प्रकार सन्दिग्धत्व हेतु भी कल्पिताकल्पित-साधारण व्यावर्तक के निश्चयमात्र से उपपन्न हो जाता है, स्वज्ञानाबाध्यप्रकार-विशेष्यत्व-निश्चय की अपेक्षा नहीं करता। दुःखानात्मकत्व का प्रयोजक यदि नियमतः व्यावर्तक-धर्मवत्ता को ही माना जाता है, तब व्यावर्तक धर्मों में भी व्यावर्तक धर्मान्तर को प्रयोजक मानने पर अनवस्था होती है, अतः कदाचित् दुःखव्यावर्तक स्वरूप को ही प्रयोजक मानना होगा, क्योंकि व्यावर्तक धर्म प्रमेयत्वादि के समान केवलान्वयी तो माना नहीं जाता कि स्वयं अपने में भी रह जाय, अतः उसे प्रयोजक मानने में अनवस्था अवश्य होती है। अनवस्था के भय से यदि कहीं व्यावर्तक धर्मवत्ता नहीं मानी जाती, तब वहाँ ही 'पदार्थत्व' हेतु व्यभिचरित हो जाता है। उसी व्यावर्तक धर्म को अपने में मानने पर अनवस्था तो नहीं होती, किन्तु आत्माश्रय दोष हो जाता है। यदि इसी प्रकार हमारे मिथ्यात्व-साधक दृश्यत्वादि हेतुओं में अनवस्था के भय से दृश्यत्व में दृश्यत्व न रहने पर दृश्यत्वरूप प्रपञ्च के एक भाग में असिद्ध होने के कारण दृश्यत्व हेतु मिथ्यात्व का साधक क्योंकर होगा ? यह शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि वहाँ दृश्यत्वाभावमात्र से मिथ्यात्व का अभाव नहीं हो सकता, जड़त्वादि दूसरे हेतुओं से मिथ्यात्व सिद्ध हो जायगा। फलतः अनुमान ब्रह्म में

न्यायामृतम्

व्याघातात् । प्रमेयत्वाभिधेयत्वादीनामबाधितानुभवबलेन त्वदभिमतमिथ्यात्वदृश्यत्वादिवत् स्ववृत्तित्वाच्च । गोत्वादेरपि गोव्यक्तिरेव वा गोत्वं वा तं स्वाश्रयव्यक्तिं प्रति अन्यस्माद्व्यावर्तकत्वं वा व्यावर्तकमिति न दुःखानात्मकत्वस्य तत्र व्यभिचारः । न च श्रुतिः सगुणब्रह्मपरा, न तु परब्रह्मपरेति वाच्यम्, सगुणातिरिक्तस्य परस्याद्या-

अद्वैतसिद्धिः

योगित्वस्य तत्रासिद्धताप्रयोजकस्याभावात् । तस्मान्नानुमानं ब्रह्मसमसत्ताकधर्मे प्रमाणम् ।

किं च श्रुतिः अपरब्रह्मविषया, निर्धर्मकश्रुतिविरोधेन विषयभेदस्यावश्यकत्वात् । न च—सगुणातिरिक्तस्य परब्रह्मणोऽद्याप्यसिद्धिः, त्वत्पक्षे तात्त्विकगुणवद्व्यक्त्यन्तरस्याभावात्, किंविषयत्वं च सगुणश्रुतेरिति—वाच्यम्, तात्त्विकत्वपर्यन्तस्य सगुणश्रुत्या अविषयीकरणात्, निर्धर्मकत्वश्रुत्या शुद्धब्रह्मसिद्धेश्च । तदुक्तमन्तरधिकरणे कल्पतरुकृद्भिः—

'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाविर्भवेत् साक्षात् अपेतोपाधिकल्पनम् ॥' इति ।

अत एव स्मृतिसूत्राभ्यां न विरोधः । न च—सगुणे 'परः पराणा' मित्यादि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

धर्मिसमानसत्ताक धर्म की सिद्धि में प्रमाण नहीं हो सकते ।

दूसरी बात यह भी है कि सगुणत्व-साधक श्रुति अपर (सोपाधिक) ब्रह्म को विषय करती है और निर्धर्मकत्व-श्रुति पर ब्रह्म को—इस प्रकार दोनों प्रकार की श्रुतियों का विषय-भेद आवश्यक है, अतः सगुणत्व-बोधक श्रुतियों से अखण्डार्थक वाक्यों का कोई विरोध ही नहीं ।

शङ्का—सगुण ब्रह्म से भिन्न पर ब्रह्म की सिद्धि अभी तक नहीं हुई, अतः कथित विषय-व्यवस्था उचित नहीं । अर्थात् आप (अद्वैती) तात्त्विक गुण-युक्त मानते नहीं, तब सगुण श्रुतियाँ किसको विषय करेंगी ?

समाधान—सगुणार्थक श्रुतियाँ तात्त्विक धर्मवत्ता को विषय नहीं करती, अपितु कल्पिताकल्पित-साधारण गुणवत्ता को ही विषय करती हैं, अतः निर्धर्मकार्थक श्रुतियों के द्वारा परब्रह्म की सिद्धि हो जाती है, जैसा कि कल्पतरुकार ने कहा है—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्त्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥ (ब्र० सू० पृ० १९२)

[निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार करने में जो व्यक्ति असमर्थ है, ऐसे मन्द अधिकारियों पर अनुकम्पा करने के लिए शास्त्रों में सगुण ब्रह्म का निरूपण किया गया है । सगुण ब्रह्म के परिशोलन (ध्यान-भावनादि) के द्वारा वशीकृत मन में समस्त उपाधि-कल्पनाओं से रहित वह पर ब्रह्म प्रकट हो जाता है ।

अत एव न्यायामृत-प्रदर्शित स्मृतियों और सूत्रों से किसी प्रकार का अखण्डार्थत्व

न्यायामृतम्

प्यसिद्धेः। त्वत्पक्षेऽपि तात्त्विकगुणवद्द्वयस्त्यन्तराभावाच्च। परः पराणामित्यादिस्मृतौ परात्परत्वोक्तेश्च। अन्यथा "सदेव सोम्येदम्, असद्वा इदमग्र" इति सदसच्छ्रुतो अपि परापरब्रह्मविषये, ग्रहणाग्रहणश्रुती अपि परापरयागविषये स्याताम्। "असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चे"दिति श्रुतिरपि नासत्त्वनिन्दार्था, किं तु शून्यतापत्तिरूपप-

---

अद्वैतसिद्धिः

स्मृत्या परादपि परत्वं स्मर्यते, तथा च कथं सगुणवाक्यानामपरब्रह्मविषयत्वमिति—वाच्यम्, जडापेक्षया परः किंचिज्ज्ञः तदपेक्षया सर्वज्ञस्य शुद्धापेक्षयाऽपरस्यापि परत्वात्।

न च—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदसद्वा इदमग्र आसी'दिति श्रुती अपि परापरब्रह्मविषये स्यातामिति—वाच्यम्, अत्रेदमिति प्रपञ्चस्य प्रकृतत्वेन ब्रह्मपरत्वस्य वक्तुमशक्यतया प्रपञ्चस्यैव पूर्वं कारणात्मना सत्त्वं कार्यात्मना असत्त्वं विषयीकुरुतः। नापि ग्रहणाग्रहणवाक्ये अपि परापरयागविषये, 'ऐन्द्रवायवं ग्रहं गृह्णाती' त्यादिवत् षोडशिग्रहणवाक्यस्य यागपरत्वेऽपि अग्रहणवाक्यस्य तदभावबोधकतया यागविषयत्वाभावात्। ननु—एव'मसन्नेव स भवति असद् ब्रह्मे ति वेद चे'दिति श्रुतिरपि नासत्त्व-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

से विरोध उपस्थित नहीं होता।

शङ्का—यह जो कहा गया कि सगुणार्थक वाक्य अपर ब्रह्म को विषय करते हैं, वह कहना उचित नहीं, क्योंकि 'परः पराणाम्'—इत्यादि सगुणार्थक स्मृतियों के विषयीभूत ब्रह्म को पर से भी पर कहा गया है।

समाधान—परत्व और अपरत्व सापेक्ष धर्म होते हैं, अतः जड़वर्ग की अपेक्षा पर (श्रेष्ठ) जीव है और उसकी अपेक्षा भी पर है—सर्वज्ञ ईश्वर, जो कि शुद्ध ब्रह्म की अपेक्षा अपर ही है, अन्यथा प्रथम 'पर' पद से ही शुद्ध ब्रह्म का अभिधान मानने पर द्वितीय 'पराणाम्' में 'पर' शब्द से किसकी उपस्थिति होगी?

शङ्का—कथित व्यवस्था के आधार पर "सदेव सोम्येदमग्र आसीद्" (छा० ६।२।१) यह श्रुति पर ब्रह्मविषयक तथा "असद्वा इदमग्र आसीत्" (तै० उ० २।७) यह श्रुति अपर ब्रह्मविषयक मानी जा सकती है।

समाधान—उक्त श्रुतियों में 'इदं' पद के द्वारा प्रकरणगत प्रपञ्च का अभिधान हुआ है, ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं हो सकता, अतः उक्त दोनों वाक्य प्रथमतः प्रपञ्च क कारणरूपेण सत्त्व और पश्चात् कार्यरूपेण असत्त्व को विषय करते हैं।

षोडशि के ग्रहण और अग्रहण के प्रकाशक वाक्य भी पर और अपर याग को विषय नहीं कर सकते, क्योंकि जैसे "ऐन्द्रवायवं गृह्णाति" (तै. सं. ४।५।८) यह वाक्य द्रव्य (इन्द्र वायुदेवताक सोम रस) तथा देवता के सम्बन्ध का प्रकाशक होने के कारण याग का बोधक होता है, वैसे ही "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति यह वाक्य भी द्रव्य-देवता-सम्बन्ध के द्वारा अनुमित याग का बोधक हो सकता है, किन्तु "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति"—यह वाक्य ग्रहणाभाव मात्र का बोधक होने के कारण यागविषयक नहीं हो सकता।

शङ्का—"असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्" (तै० उ० २।६।१) इस श्रुति का ब्रह्म की सत्ता में विश्वास न रखने वाले नास्तिक की निन्दा में तात्पर्य आप

न्यायामृतम्

रममोक्षपरेति स्यात् । न चेदानीं सगुणं दशान्तरे तु निर्गुणम् । तथात्वेऽपि गुणानामनित्यत्वमात्रापत्त्या त्वदभिमतमिथ्यात्वासिद्धेः ।

ज्ञानं नित्यं क्रिया नित्या बलं नित्यं परात्मनः । एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य ॥ इत्यादि श्रुतेश्च । एष नित्य'' इति श्रुतिश्च ब्रह्मपरा, पूर्वत्र नावेदविन्मनुते तं बृहंत'' मिति ब्रह्मणः प्रकृतत्वात् । उत्तरत्र न कर्मणा वर्धते नो कनीयान् । तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेने'' ति ब्रह्मलिंगात् । बृहदारण्यके सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः । स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान् । एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः एष भूतपाल' इत्यादिना ब्रह्मोक्त्वा तत्र संमतित्वेन तदेतदृचाभ्युक्तमिति एष नित्य'' इत्यादिमंत्रस्योदाहृतत्वाच्च । अन्यथा ब्रह्मेदानीं सद्दशान्तरे त्वसदिति स्यात् । न चौपाधिका धर्माः, औपाधिकत्वस्य सोपा-

अद्वैतसिद्धिः

सिद्धार्था, किंतु शून्यतापत्तिरूपपरममोक्षपरेति स्यादिति—चेन्न, शून्यताया अपुरुषार्थत्वाद्, आनन्दावाप्तिरूपमुक्तिप्रतिपादकविरोधाच्च । यद्वा—इदानीं सगुणं दशान्तरे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(अद्वैती) मानते हैं'—''यो नास्ति ब्रह्मेति मन्यते, स नास्तिकः असन् असाधुरुच्यते लोके'' (शां० भा० पृ० ७१) । किन्तु यदि सगुणार्थक श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्मगत सगुणत्व में नहीं, तब इस श्रुति का भी निन्दा में तात्पर्य न मान कर माध्यमिक-सम्मत शून्यता-प्राप्तिरूप परम मोक्ष में माना जा सकता है, नागार्जुन शून्यताप्ति को ही मोक्ष मानते हैं—''सर्वोपलम्भोपशमः प्रपञ्चोपशमः शिवः'' (मा० का० २५।२४) ।

समाधान—शून्यता को परम पुरुषार्थ क्या ? गौण पुरुषार्थ भी नहीं माना जा सकता । शून्यवाद का निराकरण आप को भी अभिमत है, पूर्णप्रज्ञ-भाष्य में कहा गया है—''शून्यवादमपाकरोति ''नासतोऽदृष्टत्वात्'' (ब्र० सू० २।२।२६) । फिर भी यदि उक्त श्रुति का शून्यतापत्तिरूप मोक्ष में तात्पर्य माना जाता है, तब आनन्दावाप्तिरूप मोक्ष की प्रतिपादक ''आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'' (तै० उ० ३।६) इत्यादि श्रुतियों का विरोध उपस्थित होता है ।

अथवा सगुणार्थक और निर्गुणार्थक—उभय विध वाक्यों का विरोध दूर करने के लिये यह व्यवस्था की जा सकती है कि 'इदानीं (अविद्यावस्थायां) ब्रह्म सगुणम्, दशान्तरे (मोक्षे) निर्गुणम् ।'

शङ्का—इदानीं—तदानीम् की व्यवस्था से गुणों में केवल कादाचित्कत्व या अनित्यत्व मात्र सिद्ध होता है, आप (अद्वैती) को अभीष्ट गुणों में मिथ्यात्व तो सिद्ध नहीं होता ।

समाधान—कादाचित्क गुणवत्ता की व्यवस्था से यदि हमारा अभीष्ट (मिथ्यात्व) सिद्ध नहीं होता तो आप (द्वैती) का भी अभीष्ट (गुणों में तात्त्विकत्व, नित्यत्वादि) भी कहाँ सिद्ध होता है ? यदि आप अपना अभीष्ट सिद्ध करने के लिए किसी अन्य उपाय का अनुसरण करते हैं, तब हम भी उपायान्तर से मिथ्यात्व सिद्ध कर सकते हैं ।

यह शङ्का जो की जाती है कि सगुणार्थक और निर्गुणार्थक वाक्यों का समन्वय अवस्था-विशेष को लेकर किया जाता है, तब ब्रह्म की सत्ता और असत्ता के प्रतिपादक

अद्वैतसिद्धिः

निर्गुणमिति वाक्याविरोधः। न च—एतावता अनित्यत्वमात्रं गुणानां न त्वनभिमत-मिथ्यात्वसिद्धिरिति—वाच्यम्, त्वदभिमततात्त्विकत्वस्याप्यसिद्धे। उपायान्तरानुसरणं च समानम्। यत्तु ब्रह्मेदानीं सत् दशान्तरे त्वसदित्यप्यापद्येत इति, तन्न, दशान्तरे निर्गुणत्ववद् असत्त्वस्याबोधनेनाप्रसङ्गात्। न च—'ज्ञानं नित्यं क्रिया नित्या बलं नित्यं परात्मनः।' 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्ये' त्यादिश्रुत्या ब्रह्मज्ञानादीनां नित्यत्व-प्रतिपादनात् सगुणत्वमिति—वाच्यम्, ज्ञानादीनां स्वरूपतया गुणत्वासिद्धेः। स्वरूपातिरिक्तानां तु चरमसाक्षात्कारपर्यन्तस्थायितया नित्यत्वोपचाराद्, 'अपाम सोममममृता अभूमे' त्यादौ अमृतशब्दस्याभूतसंप्लवस्थानममृतत्वं हि भाष्यत इति पौराणिकोक्तामृतत्ववत्। अत एव—'एष नित्यो महिमे'त्यादिवाक्यस्य तैत्तिरीयशाखागतस्य नित्यगुणपरत्वमिति—निरस्तम्, बृहदारण्यकगतस्य तु 'स एष नेति नेती'ति वाक्य-प्रतिषिद्धसर्वोपाधिकरूपस्य महिम्नः त्यक्तसर्वैषणपुरुषगतस्य प्रतिपादनेन ब्रह्मगतगुण-परत्वाभावात्। न च—'सर्वस्य वशी'त्यादौ ब्रह्मणः प्रकृतत्वेन तद्गतगुणपरत्वमिति—शङ्क्यम्, 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेष्वि'त्यादिवाक्योक्तजीवस्वरूपानुवादेन ब्रह्मस्वरूपताबोधनपरत्वेन ब्रह्मगतगुणपरत्वाभावाद्, ब्राह्मणपदस्य 'तदधीते तद्वेदे'ति सूत्र

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वाक्यों की भी वैसी ही व्यवस्था करनी होगी कि ब्रह्मेदानीं सत्, दशान्तरेऽसत्।'

वह शङ्का उचित नहीं, क्योंकि जैसा निर्गुणत्व के प्रतिपादन में वेदान्त-वाक्यों का तात्पर्य निश्चित है, वैसा असत्त्व-प्रतिपादन में नहीं, क्योंकि 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्" (तै० उ० २।६।१) इस वाक्य से असत्त्व का अनुवादमात्र इसलिए किया गया है कि "कथमसतः सज्जायेत" इस वाक्य से उसका निषेध किया जाय।

शङ्का—"ज्ञानं नित्यं क्रिया नित्या बलं नित्यं परात्मनः" एवं "एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य" (बृह० उ० ४।४।३३) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्मगत ज्ञानादि में नित्यत्व का प्रतिपादन किया गया है, अतः ब्रह्म को सगुण मानना आवश्यक है।

समाधान—ज्ञानादि ब्रह्म के स्वरूपभूत होते हैं, गुण नहीं। स्वरूपातिरिक्त गुण चरम साक्षात्कार-पर्यन्त स्थायी होने के कारण गौणरूप से वैसे ही नित्य कह दिये गये हैं, जैसे 'अपाम सोमममृता अभूम' (अ० शि० ३।२) इस श्रुति में प्रलय-पर्यन्त स्थायी देव-शरीर में नित्यता का व्यवहार हो जाता है, पुराणकार ने कहा है—"आभूतसम्प्लवं स्थानममृतं हि भाष्यते।" अर्थात् भूत-संप्लव (प्राणियों के प्रलयपर्यन्त अवस्थान को अमृतत्व कहा गया है। अत एव 'एष नित्यो महिमा'—इत्यादि तैत्तिरीय शाखागत वाक्य की नित्यगुणपरता का निरास हो जाता है और बृहदारण्यकगत उक्त वाक्य ब्रह्मगत गुणपरक ही नहीं, क्योंकि "स एष नेति नेति" (बृह० उ० ३।९।२६) इस वाक्य के द्वारा प्रतिपादित सर्वोपाधि विनिर्मुक्तस्वरूप महिमा उस पुरुष की बताई गई है, जिसकी सभी एषणाएँ निवृत्त हो चुकी हैं। "सर्वस्य वशी" (बृह० उ० ४।४।२२) यह वाक्य ब्रह्म के प्रकरण में ही अवस्थित है, अतः यह ब्रह्म में गुणवत्ता का प्रतिपादक है—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि यह वाक्य भी "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" (बृह० उ० ४।४।२२) इत्यादि वाक्य-प्रतिपादित जीव-स्वरूप का अनुवाद करके ब्रह्म-स्वरूपता का बोधन कराता है, ब्रह्मगत गुणों का प्रतिपादन नहीं, क्योंकि श्रुतिगत 'ब्राह्मण' पद में "तदधीते तद्वेद वा" (पा० सू० ४।२।५९) इस सूत्र के द्वारा 'अण्' प्रत्यय किया

न्यायामृतम्

धिकाध्यस्ततत्वरूपत्वे श्रुत्यप्रामाण्यापातात् । वक्ष्यमाणसत्यत्वश्रुतिविरोधाच्च । उपाधिकृततत्वरूपत्वे तूक्तनित्यत्वश्रुतिविरोधाद्, अन्तःकरणादिरूपोपाधिसृष्टेः प्रागेवेक्षितृत्वातिश्रुतेश्च । स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे"त्यादि श्रुतेश्च । न च

अद्वैतसिद्धिः

विहिताणन्तस्य ब्रह्मवित्प्रतिपादकतया ब्रह्मपरत्वे लक्षणापत्तेश्च । किं च सगुणवाक्यानामौपाधिकगुणविषयत्वेन स्वाभाविकनिर्धर्मकत्वश्रुतेर्न विरोधः । न चौपाधिकत्वस्य सोपाधिकाध्यस्तरूपत्वे श्रुत्यप्रामाण्यापत्तिः, वक्ष्यमाणसत्यत्वश्रुतिविरोधः, उपाधिकल्पितरूपत्वे तूक्तनित्यत्वश्रुतिविरोधः, अन्तःकरणादिरूपोपाधिसृष्टेः प्रागेव ईक्षितृत्वादिश्रुतेरुपाध्यसंभवश्चेति--वाच्यम्, मायाविदर्शितमायानुवादिवाक्यवत् स्वतो भ्रमजनकत्वाभावेनाप्रामाण्यानापत्तेः, सत्यत्वश्रुतेरन्यथा नेष्यमाणत्वात्, नित्यत्वश्रुतेरन्यथार्थस्योक्तेः, सृष्टेः पूर्वमन्तःकरणाभावेऽपि अविद्याया उपाधेः सत्त्वाच्च । न चौपाधिकत्वे 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'त्यनेन विरोधः, अस्मदादाविव भौतिकोपाधिकत्वाभावेन योगिष्विव योगार्जितत्वाभावेन स्वाभाविकत्वोक्तेः । न च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

गया है, अतः "ब्रह्म वेदेति ब्राह्मणः'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'ब्राह्मण' पद यहाँ ब्रह्मवेत्ता जीव-का प्रतिपादक है, उसे यदि ब्रह्मपरक माना जाता है, तब उसकी लक्षणा ही करनी होगी, मुख्य वृत्ति के सम्भव होने पर लक्षणावृत्ति नहीं अपनाई जाती ।

दूसरी बात यह भी है कि सगुण-वाक्य औपाधिक गुणों का ही प्रतिपादन करते हैं, अतः उनका स्वाभाविक निर्गुणत्व-प्रतिपादक श्रुतियों से कोई विरोध ही नहीं होता ।

शङ्का—सोपाधिक गुण सोपाधिक चैतन्य में अध्यस्तरूप होते हैं, अतः बाधितार्थ-बोधकत्वेन सगुण-वाक्यों में अप्रामाण्य आ जाता है, वक्ष्यमाण सत्यत्व-श्रुति का विरोध होता है, गुणों को उपाधि के द्वारा कल्पित मानने पर उक्त नित्यत्व-प्रतिपादक श्रुति का भी विरोध होता है तथा अन्तःकरणादिरूप उपाधि की सर्जना से पहले ही श्रुति-प्रतिपादित ईक्षितृत्वादि सोपाधिक हो भी नहीं सकते ।

समाधान—औपाधिकार्थ-बोधक श्रुतियों में अप्रामाण्यापत्ति वैसे ही नहीं होती, जैसे कि मायावी में प्रदर्शित माया के अनुवादक वाक्य, क्योंकि वे स्वतः भ्रम के जनक नहीं होते । वक्ष्यमाण सत्यत्व-श्रुति भी अन्य परक है—यह कहा जायगा । नित्यत्व-प्रतिपादक श्रुति का स्थायित्व-प्रतिपादन मात्र में तात्पर्य दिखाया जा चुका है । सृष्टि के पहले अन्तःकरण की अवस्थिति न होने पर भी अविद्यारूप उपाधि तो विद्यमान है । 'ज्ञान, बलादि को' औपाधिक मानने पर "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (श्वेता० ६।८) इस श्रुति से भी विरोध नहीं होता, क्योंकि जैसे साधारण जीवगत भौतिक उपाधि योगिगत योगज उपाधि होती है, वैसी ईश्वर में कोई जन्य उपाधि नहीं होती, अतः ईश्वरीय गुणों को स्वाभाविक कह दिया जाता है । सगुण-वाक्यों का औपाधिक गुणों के प्रतिपादन का संकोच निर्मिमित्तक नहीं क्योंकि निर्गुणत्व-प्रतिपादक वाक्य ही उक्त संकोच वृत्ति में निमित्त माने जाते हैं । जब ब्रह्म में ज्ञान स्वाभाविक है, तब उसके समभिव्याहृत बलादि को अस्वाभाविक या औपाधिक क्योंकर कहा जा सकता है ?' यह शंका उचित नहीं, क्योंकि 'ज्ञान' पद से भी स्वाभाविक ज्ञान का अभिधान नहीं, अपि तु सार्वज्ञ्यादिरूप अविद्या-परिणाम ही 'ज्ञान' पद से विवक्षित है । दूसरी बात यह

न्यायामृतम्

योगलब्धयोगिशक्त्यादिवैधर्म्यमात्रेण तदुक्तिः, संकोचकाभावेनोक्तनित्यत्वश्रुत्यनुसारेण स्वाभाविकज्ञानसमभिव्याहारेण चोपाधिमात्रनिषेधात्। अन्यथा ब्रह्मणः सत्त्वमौपाधिकं असत्त्वं तु स्वाभाविकमिति स्यात्। न चातात्त्विका गुणाः श्रुत्या गुणमात्रोक्त्या तात्त्विकानुक्तेरिति वाच्यम्, नित्यत्वोक्तिसामर्थ्याद्, विषयाबाधलक्षणप्रामाण्यस्यौत्सर्गिकत्वात्, सत्यः सोऽस्य महिमे"त्यादि श्रुतेश्च तत्सिद्धेः। अन्यथा

अद्वैतसिद्धिः

सङ्कोचकाभावः, निर्गुणवाक्यस्यैव सङ्कोचकत्वात्। न च—स्वाभाविकज्ञानसमभिव्याहारविरोधः, सार्वज्ञ्यादिरूपाविद्यापरिणतस्यैव ज्ञानपदेन विवक्षितत्वाद्बाधकसत्त्वासत्त्वाभ्यां समभिव्याहारेऽपि वैरूप्याङ्गीकरणात् पावको ब्राह्मण इतिवत्। किं च सगुणवाक्यानां न गुणसत्यत्वबोधकत्वम्, सत्यत्वस्यापदार्थत्वात्। न च—नित्यत्वोक्तिसामर्थ्याद्विषयाबाधलक्षणस्य प्रामाण्यस्यौत्सर्गिकत्वात् 'सत्यः सोऽस्य महिमे'-त्यादिश्रुतेः स्वरूपतश्च तत्सिद्धिरिति—वाच्यम्, प्रथमस्यान्यथासिद्धेरुक्तत्वादुत्सर्गाख्यतर्कस्य व्यवहाराबाधमादायैवोपपादितत्वात्सत्यः सोऽस्य महिमे'त्यादौ महिम्नः स्वरूपरूपत्वादविरोधाद्, धर्मत्वे तु ब्रह्मसाक्षात्कारेतरानिवर्त्यत्वगुणयोगेन सत्यपद-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भी है कि समभिव्याहृत पदार्थों में भी बाधाबाध के द्वारा वैषम्य भी देखने में आता है जैसे—'पावको ब्राह्मणः'—यहाँ पर पुरःस्थित पिण्ड में ब्राह्मणत्व मुख्य और पावकत्व गौण होता है। सगुण-वाक्य केवल गुणवत्ता के बोधक है, गुणगत सत्यता के नहीं, क्योंकि उन वाक्यों में कोई ऐसा पद नहीं कि जिसका गुणसत्यत्व अर्थ किया जाय।

शङ्का—गुणगत सत्यत्व का बोध चार प्रकार से होता है—(१) 'एष नित्यो महिमा'—इत्यादि वाक्यों में गुण को नित्य कहा गया है, नित्यत्व सत्यत्व के विना अनुपपन्न होकर सत्यत्व का आक्षेपक होता है। (२) गुणबोधक वेदान्त-वाक्य निसर्गतः प्रमाण होते हैं, अबाधितविषयकत्व ही प्रामाण्य पदार्थ होता है, अतः शब्दगत प्रामाण्य भी विषय-सत्यत्व के विना अनुपपन्न होकर सत्यत्व का आवर्जक होता है। (३) 'सत्यः सोऽस्य महिमा'' (बृह० उ० ४।४।२३) यह श्रुति स्पष्टरूप से गुणगत सत्यत्व का अभिधान करती है। (४) गुणों को ब्रह्म का स्वरूप माना जाता है, ब्रह्म सत्य है, अतः ब्रह्मस्वरूप गुणों को भी सत्य मानना होगा।

समाधान—(१) कथित नित्यत्व चिरस्थायित्व मात्र का बोधक है, अतः उसकी विषय सत्यत्व के विना हीं उपपत्ति हो जाने के कारण वह सत्यत्व का आक्षेपक नहीं हो सकता। (२) गुणार्थक वाक्यगत औत्सर्गिक प्रामाण्य के बल पर भी विषय-सत्यत्व-सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि व्यवहार-काल में विषयाबाध मात्र को लेकर प्रामाण्य उपपन्न हो जाता है, वह भी सर्वथा अबाधितत्वरूप सत्यत्व का प्रत्यायक नहीं हो सकता। (३) 'सत्यः सोऽस्य महिमा'—यहाँ पर महिमा को ब्रह्म का स्वरूप माना जाता है ? अथवा धर्म ? स्वरूप मानने में किसी प्रकार का विरोध नहीं होता, क्योंकि महिमा ब्रह्म का स्वरूप होने से सत्य ही है और धर्म-पक्ष में भी व्यावहारिक सत्यता महिमा में विद्यमान है, वही ब्रह्म-ज्ञानेतराबाध्यत्वरूप व्याहारिक सत्यता ही 'सत्य' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त माना जाता है।

न्यायामृतम्

सत्यं ज्ञानं तत्त्वमसी''त्यादि श्रुत्युक्तं ब्रह्मसत्त्वैक्यादिकमपि तात्त्विकं न स्यात्। निर्गुणश्रुतिविरोधस्तूद्धरिष्यते।

किं च तद्विरोधेऽपि श्रुतेर्नातात्त्विकविषयता युक्ता। उक्तं हि—

को हि मीमांसको ब्रूयाद्विरोधे शास्त्रयोर्मिथः।
एकं प्रमाणमितरत् त्वप्रमाणं भवेदिति ॥ इति।

तथा हि पूर्वतंत्रे प्राप्तबाधोऽप्राप्तबाधश्चेति द्विविधो बाध उक्तः। तत्र दाशमिके प्राप्तबाधे प्रकृतिवत्कुर्यादित्यादिरूपस्य प्राप्तस्य चोदकादेः कृष्णलादाववघातवर्जमित्यादिरूपः संकोच एव। एवं तार्तीयेऽप्यप्राप्तबाधे गार्हपत्यमिति द्वितीयाश्रुत्यनुसारेणेंद्रशब्दप्रयुक्तमंत्रलिंगस्य गार्हपत्ये गौणत्वादिकमेव। एवं व्याकरणेऽपि परेण पूर्वस्य,

अद्वैतसिद्धिः

प्रवृत्त्युपपत्तेः। न च—एवं 'सत्यं ज्ञानं' 'तत्त्वमसी'त्यादिश्रुत्युक्तब्रह्मसत्यत्वैक्यादिकमपि तात्त्विकं न स्यादिति—वाच्यम्, निर्गुणश्रुतिविरोधस्य तत्रेवात्राभावात्।

ननु—श्रुत्योर्विरोधे नैकस्या अतात्त्विकविषयत्वम्, शास्त्राविरोधे सङ्कोचविकल्पादिना उभयप्रामाण्यस्य पूर्वतन्त्रे व्याकरणे च निर्णीतत्वात्। तथा हि—दशमाध्यायस्थे 'प्राप्तबाधे प्रकृतिवत् कुर्या'दित्यादिरूपक्लृप्तस्य चोदकस्य कृष्णलादाववघातवर्जमित्यादिरूपः सङ्कोच एव। एवं तार्तीयीकेऽपि अप्राप्तबाधे गार्हपत्यमिति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—यदि 'सत्यः सोऽस्य महिमा'—यहाँ पर 'सत्य' शब्द व्यावहारिक सत्यतामात्र को कहता है, तात्त्विकत्व को नहीं, तब 'सत्यं ज्ञानम्'—इस वाक्य में कथित ब्रह्मगत सत्यत्व और 'तत्त्वमसि'—में कथित जीव और ब्रह्म का ऐक्य भी तात्त्विक न होकर व्यावहारिक मात्र रहेगा, फिर तो ब्रह्मज्ञान से उक्त सत्यत्व और ऐक्य का भी बाध हो जायगा।

समाधान—एक शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त सर्वत्र एक नहीं होता, अपितु विरोधाविरोध के आधार पर प्रवृत्ति-निमित्त कुछ भिन्न भी हो जाया करता है। 'सत्यः सोऽस्य महिमा'—यहाँ निर्गुणार्थक श्रुतियों के विरोध से बचने के लिए 'सत्य' शब्द केवल व्यावहारिक सत्यता में संकुचितवृत्तिक हो जाता है, किन्तु 'सत्यं ज्ञानम्'—इत्यादि स्थलों पर वैसा विरोध न होने के कारण 'सत्य' पद पारमार्थिक सत्यत्व और सामानाधिकरण्य-निर्देश 'तत्त्वमसि'—में पारमार्थिक ऐक्य का अभिधायक माना जाता है।

द्वैतवादी—जहाँ दो श्रुति-वाक्यों का परस्पर-विरोध होता है, वहाँ किसी भी वाक्य को अप्रमाण या अतात्त्विकार्थक नहीं माना जाता, अपितु उभय का समानरूप से प्रामाण्य अभीष्ट होता है, हाँ, जिस वाक्य का शास्त्रान्तर से विरोध होता है, उसे सङ्कुचितवृत्तिक अन्यथा विकल्प माना जाता है—ऐसा निर्णय पूर्वमीमांसा तथा व्याकरणादि शास्त्रों में किया गया है—पूर्व मीमांसा के दसवें अध्याय में अवस्थित प्राप्तबाध के प्रसङ्ग में 'व्रीहीनवहन्ति'—इस विधि वाक्य को कृष्णल चरु से अतिरिक्त केवल व्रीहि में ही सङ्कोच कर अवघात का विधायक माना गया है और तृतीय अध्यायस्थ अप्राप्त-बाध के प्रकरण में ''ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते'' (मै० सं० ३।२।४) इस विधि-वाक्य-घटक गार्हपत्यपदोत्तर द्वितीया विभक्तिरूप श्रुति के अनुरोध पर

न्यायामृतम्

नित्येनानित्यस्य, अन्तरंगेण बहिरंगस्य, प्रतिपदोक्तेन लक्षणोक्तस्येत्यादिर्बाध उक्तः।

अद्वैतसिद्धिः

द्वितीयाश्रुत्यनुसारेण इन्द्रशब्दयुक्तमन्त्रलिङ्गस्य गार्हपत्ये गौणत्वादिकमेव। व्याकरणेऽपि यत्र परेण पूर्वस्य नित्येनानित्यस्येत्यादिबाध उक्तः, तत्रापि संकोच एव।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

"कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र! सश्चसि दाशुषे" (मै. सं. १।५।४) इस ऐन्द्री (इन्द्र शब्द-युक्त) ऋचा का विनियोग 'इन्द्र' पद की गौण वृत्ति को लेकर गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में किया गया है, मुख्य सामर्थ्य को लेकर इन्द्र के उपस्थान में नहीं [मीमांसा दर्शन में दो प्रकार का बाध निरूपित है—(१) प्राप्त-बाध और (२) अप्राप्त-बाध। दसवें अध्याय में प्राप्त-बाध और तृतीय अध्याय में अप्राप्त-बाध वर्णित है। कोई व्यक्ति किसी स्थान पर बैठ गया है, उसे वहाँ से हटाना प्राप्त-बाध और बैठने से पहले ही उसे वर्जित करना अप्राप्त बाध कहलाता है। (१) प्राजापत्यं घृते चरुं निर्वपेत कृष्णलं (तै० सं० २।३।२) इस विधि के द्वारा प्रजापतिदेवताक कृष्णलचरुद्रव्यक याग विहित है। सुवर्ण-कणों को यहाँ कृष्णल कहा गया है, उन्हीं को चावल के समान पकाया (उष्ण किया) जाता है। इस इष्टि में भी दर्शपूर्णमासरूप प्रकृति के अङ्ग-कलाप 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या—इस अतिदेश के द्वारा प्राप्त होते हैं, उनमें 'व्रीहीनवहन्ति'—वाक्य से विहित अवघात भी है। कृष्णल चरु में अवघात प्राप्त होने पर भी बाधित हो जाता है—"अपि वाऽभिधानसंस्कारद्रव्यमर्थे क्रियेत, तादर्थ्यात्" (जै० सू० १०।१।२) व्रीहि में अवघात वितुषीकरण (भूसी उतारने) के लिए किया जाता है, किन्तु सोने के चावलों में भूसी न होने के कारण अवघात बाधित हो जाता है—इसे ही प्राप्त-बाध कहा जाता है। (२) 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र! सश्चसि दाशुषे'—इस मन्त्र का विनियोग किस क्रिया में होता है ? इस एक प्रश्न के दो उत्तर मिलते हैं—(१) श्रुति (द्वितीयादि विभक्ति), लिङ्ग (शब्द-शक्ति) वाक्य, प्रकरण स्थान और समाख्यारूप छः विनियोजक प्रमाणों में से "ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते" (मै. सं. ३।२।४) यहाँ 'गार्हपत्यम्'—यह द्वितीया श्रुति कहती है कि इस ऐन्द्री ऋचा के द्वारा गार्हपत्यसंज्ञक अग्नि की उपस्थान क्रिया करनी चाहिये और (२) दूसरा विनियोजक लिङ्ग प्रमाण कहता है कि इस ऋचा में इन्द्र देव से प्रार्थना की गई है कि हे इन्द्र! तू (न स्तरीरसि) घातक नहीं होगा, अपितु (दाशुषे) दानशील यजमान पर (सश्चसि) प्रसन्न होगा।' इससे यह स्पष्ट है कि इस ऋचा का सामर्थ्य (लिङ्ग) इन्द्र के प्रकाशन में है, अतः इस मन्त्र के द्वारा इन्द्र की उपस्थान क्रिया का सम्पादन किया जाय। इस प्रकार श्रुति और लिङ्ग—दोनों प्रमाणों के प्राप्त या प्रवृत्त हो जाने पर श्रुति के द्वारा लिङ्ग का बाध किया जाता है—श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" (जै० सू० ३।३।१४) अर्थात् यदि किसी स्थान पर इन छः प्रमाणों में से दो विरोधी प्रमाण प्रवृत्त होने वाले हैं, तब इस सूत्र में निर्दिष्ट पूर्वभावी प्रमाण से उत्तरभावी प्रमाण का दौर्बल्य या बाध हो जाता है, क्योंकि विनियोजन प्रक्रिया में उत्तरभावी प्रमाण अपने पूर्वभावी प्रमाणों की कल्पना करके विनियोजक होता है, अतः पूर्व की अपेक्षा विलम्ब से उत्तरभावी प्रवृत्त होता है। श्रुति पूर्वभावी और लिङ्ग परभावी है, अतः श्रुति से प्रवर्त्स्यमान लिङ्ग का बाध अप्राप्त

न्यायामृतम्

तत्रापि संकोच एव एवं ब्रह्ममीमांसायामपि विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्याद्, उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्, गौण्यसम्भवादि"त्यादौ शास्त्रयोर्विरोधे तात्त्विकार्थान्तरपरत्वमेवोक्तम्, न त्वारोपितार्थत्वम्। अन्यथेक्षत्याद्यधिकरणेषु सिद्धान्तसाधकानां ईक्षणादीनां सांख्याद्यभिमतप्रधानादावारोपसम्भवात् क्वापि सिद्धान्तो न सिध्येदिति सर्वमपि शास्त्रमुन्मूलितं स्यात्।

किं च दशमे विकृतिभूतमहापितृयज्ञप्रकरणस्थे नार्षेयं वृणोते"-इत्यादिवाक्ये प्रकृतिवत्कुर्यादार्षेयवरणवर्जमितिमहापितृयज्ञीयप्रकृतिवच्छब्दैकवाक्यतया पर्युदासादा-

अद्वैतसिद्धिः

दशमे विकृतिभूतमहापितृयज्ञप्रकरणस्थे 'नार्षेयं वृणीते' इत्यादिवाक्ये प्रकृति-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

बाघ है, जैसा कि श्रीपार्थसारथि मिश्र ने न्यायरत्नमाला (पृ० २३८) में कहा है—

कल्प्यस्य शास्त्रस्य तु कल्पनं यन्निरुध्यते मूलनिकृन्तनेन।
क्लृप्तेन शीघ्रेण फलापहारादप्राप्तबाधं तमुदाहरन्ति॥]

व्याकरण शास्त्र में भी जहाँ (१) परभावी सूत्र से पूर्वभावी सूत्र का बाघ या (२) नित्य विधि से अनित्य विधि का बाध होता है, वहाँ स्पष्ट दिखाया गया है कि दो विरोधी शास्त्रों में अत्यन्त बाध्य-बाधकभाव नहीं होता, अपितु एक शास्त्र के प्रवृत्ति-स्थल का संकोच मात्र किया जाता है, जैसे—(१) विप्रतिषेधे परं कार्यम् (पा० सू० १।४।२) इस सूत्र में भाष्यकार ने कहा है—"द्वौ प्रसङ्गौ यदान्यार्थौ भवतः, एकस्मिंश्च युगपत् प्राप्नुतः, तदा परं कार्यम्।" अन्यान्य कार्यार्थक दो विरुद्ध शास्त्र जब किसी एक स्थान पर युगपत् प्रवृत्त होकर अपना-अपना कार्य करना चाहें, तब परभावी शास्त्र का शासन माना जाय, पूर्व का नहीं। जैसे वृक्षाभ्याम्'—यहाँ अकारान्त अङ्ग की दीर्घता का विधायक "सुपि च" (पा. सू. ७।३।१०२) यह सूत्र तथा 'वृक्षेषु' में अकारान्त अङ्ग को एकारता का विधायक "बहुवचने झल्येत्" (पा. सू. ७।३।१०३) यह सूत्र वृक्ष + भ्यस्'—यहाँ पर युगपत् प्राप्त होते हैं, अर्थात् "सुपि च" सूत्र वृक्षाभ्यः और "बहुवचने झल्येत्"—सूत्र 'वृक्षेभ्यः' रूप बनाना चाहता है। ऐसी परिस्थिति में परभावी 'बहुवचने झल्येत्' का ही कार्य उचित माना जाता है और 'सुपि च' को बहुवचन से अतिरिक्त वृक्षाभ्याम्—इत्यादि में ही संकुचित कर दिया जाता है।

इसी प्रकार निष्पत्त्यर्थक 'रध' धातु का ण्यन्त रूप बनता है—'रन्धयति, राधयति नहीं, क्योंकि रध + इ + ति—यहाँ दो सूत्र प्राप्त होते हैं—"अत उपधायाः" (पा. सू. ७।२।११६) यह सूत्र रकारस्थ अकाररूप उपधा को वृद्धि करना चाहता है और "रधिजभोरचि" (पा. सू. ७।१।६१) यह सूत्र नुम् करना चाहता है। वृद्धि के होने और न होने की दोनों अवस्थाओं में नुम् प्राप्त है, अतः ऐसे कार्य को नित्य कहा जाता है—"कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम्, तद्विपरीतमनित्यम्" (परि० शे० पृ० १९०)। अनित्य की अपेक्षा नित्य कार्य प्रबल होता है, अतः प्रथमतः नुम् हो जाने पर रकारस्थ अकारमात्र की उपधा संज्ञा नहीं रहती, अतः वृद्धिरूप कार्य अवरुद्ध या संकुचित हो जाता है]।

पूर्वमीमांसा (१०।८।१) में दर्शपूर्णमास की विकृतिभूत महापितृयज्ञ के प्रकरण गत "न होतारं वृणीते", "नार्षेयं वृणीते" इत्यादि वाक्यों के अनुरोध पर यह निर्णय

न्यायामृतम्

र्थत्वमेवेत्युक्त्वा यत्र प्रकृतिभूतदर्शपूर्णमासप्रकरणस्थाज्यभागविधायकवाक्यसन्निहिते "न तौ पशौ करोति" इत्यादौ पाशुकप्रकृतिवच्छब्दैकवाक्यत्वयोगेन नञः पर्युदासार्थत्वासम्भवात्, प्रकृतिवत्कुर्यादाज्यभागौ तु न कुर्यादितिवाक्यभेदेन प्रसज्यप्र-

अद्वैतसिद्धिः

वत्कुर्यादार्षेयवरणवर्जमिति महापितृयज्ञीयप्रकृतिवच्छब्दैकवाक्यतया पर्युदासार्थत्वमेवेत्युक्तम्। यत्र तु प्रकृतिभूतदर्शपूर्णमासप्रकरणस्थाज्यभागविधायकवाक्यसन्निहिते 'न तौ पशौ करोती'त्यादौ पाशुकप्रकृतिवच्छब्दैकवाक्यताऽयोगेन पर्युदासार्थत्वासंभवात् 'प्रकृतिवत्कुर्यादाज्यभागौ तु न कुर्या'दिति वाक्यभेदेन प्रसज्यप्रतिषेधार्थकत्वमेवेत्युक्तम्, तत्र पशावाज्यभागयोरन्येनाप्रसक्तेः शास्त्रप्रसक्तस्य सर्वथा बाधायोगाद्विकल्प इत्युक्तम्। तथा चोक्तं—

'को हि मीमांसको ब्रूयाद्विरोधे शास्त्रयोर्मिथः।
एकं प्रमाणमितरत्तु त्वप्रमाणं भवेदिति ॥'

इति चेन्न, तत्र शास्त्रयोः प्रामाण्ये समानकक्ष्यतया एकतरस्यात्यन्तिकबाधायोगात्सङ्कोचेन विकल्पेन वा पाक्षिकप्रामाण्यमाश्रितम्, इह त्वेकतरस्य तत्परतया प्रबल-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

किया गया है कि होतृबरणादि को छोड़कर सभी प्राकृत अङ्गों का महापितृयज्ञ में अनुष्ठान किया जाय। वाक्यस्थ नञ् को पर्युदासार्थक ही माना गया है—"अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद् विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्" (जै. सू. १०।८।४)। प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'—इस अतिदेश वाक्य के साथ एक वाक्यता विवक्षित होने के कारण आर्षेय-वरण से भिन्न इसके सदृश अन्य प्राकृत अङ्गों का अनुष्ठान किया। जहाँ समस्त इष्टि कर्म के प्रकृतिभूत दर्शपूर्णमास के प्रकरण में अवस्थित आज्यभाग के विधायक "आज्यभागौ यजति" (तै. सं. ६।६।३) इस वाक्य के समीप "न तौ पशौ करोति (पशुभाग में आज्यभागसंज्ञक दो कर्म नहीं करना चाहिए) यह आज्यभाग-निषेधक वाक्य पढ़ा जाता हैं, उसकी एक वाक्यता प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या के साथ नहीं हो सकती, क्योंकि जिस पशु-याग में उक्त निषेध प्रवृत्त होता है, उसकी प्रकृति अग्नीषोमीय पशुयाग है दर्शपूर्णमास नहीं। अतः आर्षेय-वरण-वाक्य के समान पर्युदास नहीं माना जा सकता, अतः 'पशुयागः प्रकृतिवत् कर्त्तव्यः तत्राज्यभागौ न कुर्यात्'— इस प्रकार वाक्य-भेद का अवलम्बन कर प्रसज्य प्रतिषेध ही मानना होगा। वहाँ पशुयाग में निषेध्यभूत आज्यभाग कर्मों की प्राप्ति अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सम्भव नहीं, श्रुति-वाक्य से ही करनी होगी। श्रुति-प्राप्त पदार्थ का श्रुति-वाक्य के द्वारा अत्यन्त निषेध नहीं हो सकता, अगत्या विकल्प माना जाता है, जैसा कि कहा गया है—

को हि मीमांसको ब्रूयाद्विरोधे शास्त्रयोर्मिथः।
एकं प्रमाणमितरत् त्वप्रमाणं भवेदिति ॥

[परस्पर दो श्रुति-वाक्यों का विरोध उपस्थित होने पर कौन मीमांसा-निष्णात मनीषी यह कह देगा कि उन दो विरोधी श्रौत वाक्यों में एक ही प्रमाणभूत है और दूसरा वाक्य अत्यन्त अप्रमाणरूप है, अर्थात् कोई भी ऐसा नहीं कह सकता, अपितु सङ्कोच या विकल्प प्रणाली को अपना कर दोनों वाक्यों की प्रमाणता बनाए रखनी होगी, वैसे ही प्रकृत में भी सगुणार्थक और निर्गुणार्थक वाक्यों की भी व्यवस्था करनी होगी]।

न्यायामृतम्

तिषेधार्थत्वमेव युक्तं तत्र पशावाज्यभागयोरन्येनाप्रसक्तेः, शास्त्रप्रसक्तस्य च सर्वथा बाधायोगात् विकल्प इत्युक्तम्। एवं च यदा प्रतिषेधोन्नीतप्रसक्तेरपि न सर्वथा बाधः तदा किमु वक्तव्यं प्रत्यक्षसगुणशास्त्रप्रमितानां गुणानां न सर्वथा बाध इति? ननु निर्गुणवाक्येन निषेद्धुं सगुणवाक्यस्यानुवादकत्वेनैकवाक्यत्वसम्भवे वाक्यभेदेन गुणप्रापकता न युक्तेति चेन्न, सत्यकामत्वादीनामन्यतोऽप्राप्तेः। श्रुतिप्राप्तस्य च श्रुत्यानिषेधेऽहिंसावाक्यमग्नीषोमीयहिंसायाः अग्रहणवाक्यं च षोडशिग्रहणस्य असद्वेत्यादिवाक्यं च ब्रह्मसत्त्वस्य भेदवाक्यं चैक्यस्य निषेधकं स्यादित्युक्तत्वात्।

अद्वैतसिद्धिः

त्वादितरस्य चातत्परत्वेन दुर्बलतया वैषम्यात्। यत्तु 'न तौ पशौ करोती'त्यादौ विकल्प उक्तः, तन्न, पशुप्रकरणस्थस्य पाशुकप्रकृतिवच्छब्दैकवाक्यतया पर्युदासार्थत्वाद्, दर्शपूर्णमासप्रकरणस्थस्य तु 'पशावाज्यभागौ न स्तः, अत्र तौ स्त' इति स्तुत्यर्थत्वाद्, वार्त्तिककारैर्विकल्पे स्वीकृतेऽपि न दोषः, उभयत्र तात्पर्यसत्त्वेन विशेषात्।

यत्तु—अत्रापि 'विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्याद्' 'उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्' 'गौण्यसंभवा'दित्यादौ शास्त्रयोर्विरोधे तात्त्विकार्थान्तरपरतोक्ता, न त्वारोपितार्थता, अन्यथेक्षत्याद्यधिकरणेषु सिद्धान्तसाधकानामीक्षणादीनां साङ्ख्या-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अद्वैतवादी—दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का महान् वैषम्य है, क्योंकि दृष्टान्त में उभयविध वाक्य समानरूप से मुख्यार्थक हैं, अतः दोनों की प्रमाणता बनाए रखने के लिए यह आवश्यकता थी कि सङ्कोच या विकल्प का मार्ग अपनाया जाता। किन्तु प्रकृत में निर्गुणार्थक वाक्य मुख्य स्वार्थ परक अत एव प्रबल और सगुणार्थक वाक्य स्वार्थ परक नहीं, अतः दोनों वाक्यों का समान प्रामाण्य नहीं माना जा सकता।

यह जो कहा गया है कि "न तौ पशौ करोति"—इत्यादि स्थल पर विकल्प माना गया है, वह सत्य नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य वस्तु दृष्टि से पशुयाग के प्रकरण का ही माना जाता है, दर्शपूर्णमास के प्रकरण का नहीं, अतः वहाँ प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या—इस वाक्य से उक्त निषेध वाक्य की वैसे ही एक वाक्यता सम्पन्न हो जाती है, जैसे आर्षेय-वरण-निषेध-वाक्य में। अतः पर्युदास ही वहाँ भाष्यकार ने माना है, प्रसज्य नहीं, क्योंकि प्रसज्य-पक्ष में विकल्प मानना पड़ता है, जो कि आठ दोषों युक्त होता है। दर्शपूर्णमास के प्रकरण में जो यह कहा गया है कि 'पशौ आज्यभागौ न स्तः अत्र तौ स्तः।' वह केवल स्तुत्यर्थ कहा गया है। वार्तिककार श्री कुमारिल भट्ट ने वहाँ जो विकल्प-पक्ष मान लिया है, उसमें भी कोई दोष नहीं, क्योंकि दृष्टान्तभूत वाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य है, किन्तु प्रकृत में सगुणार्थक वाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं—यह कहा जा चुका है।

यह जो इस उत्तर मीमांसा में भी 'विकारशब्दान्नेति चेन्न, प्राचुर्यात्" (ब्र० सू० १।१।१३), "उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् (ब्र० सू० १।१।३), "गौण्यसम्भवात्" (ब्र. सू. २।३।३) इत्यादि स्थल पर दो शास्त्रों का विरोध होने पर तात्त्विक अर्थान्तरपरता दिखाई गई है, अध्यस्तार्थपरता नहीं, अन्यथा (प्रापक शास्त्रों की अध्यस्तार्थपरता मानने पर) "ईक्षतेर्नाशब्दम्" (ब्र. सू. १।१।५) इस सूत्र में सांख्य-

अद्वैतसिद्धिः

अभिमतप्रधानादावारोपसंभवेन प्रधाननिराकरणादि न सिद्ध्येदिति, तन्न, विकार-शब्दादित्यादौ न विरोधेन तात्त्विकार्थान्तरपरत्वमर्थः, किंतु स्वप्रधाने ब्रह्मणि अवयवत्वासंभवेन पुच्छपदमुपचरितमित्यर्थः। तदुक्तं टीकायां—पुच्छेऽधिकरण इति। गौण्य-संभवादिति पूर्वपक्षसूत्रेऽपि 'आत्मन आकाशः संभूत' इति श्रुतिस्तु गौणी। आकाशो-त्पत्तिकारणासंभवादित्यर्थः, न तु तात्त्विकार्थान्तरविषयत्वम्। 'उपदेशभेदादि'त्यादौ दिवि दिव इति सप्तमीपञ्चमीभ्यामाधारत्वावधित्वयोः प्रतीतेरुपदेशभेदेन पूर्वनिर्दिष्ट-ब्रह्मणः प्रत्यभिज्ञानमस्तीति प्राप्ते एकस्मिन्नपि श्येने 'वृक्षाग्रे श्येनः वृक्षाग्राच्छ्येन' इति निर्देशदर्शनाद् एकस्मिन्नेव ब्रह्मणि उभयरूपाविरोध इत्यर्थः, न तु तात्त्विकार्था-न्तरपरत्वम्। न चारोपितमीक्षणं प्रधाने संभवति, योग्यतामादायैवारोपदर्शनात्। न हि राजामात्ये राजत्वारोप इति स्तम्भादावपि तदारोपः। तथा च चेतन एव ईक्षि-तृत्वदर्शनाच्चेतने ब्रह्मणि तदारोपो युज्यते नाचेतन इति न सिद्धान्तक्षतिः। किं च निषेध्यसमर्पकतयैकवाक्यतयैव प्रामाण्यसंभवे न वाक्यभेदेन गुणप्रापकता युक्ता। अत एव न 'को हि मीमांसक' इत्यादिना विरोधः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सम्मत प्रधान के निराकरण की आवश्यकता न पड़ती, क्योंकि प्रधान के साधक शास्त्र में अध्यस्तार्थपरता कह देने मात्र से उसका निरास हो जाता।

वह उचित नहीं, क्योंकि "विकार शब्दात्'—इत्यादि स्थल पर कोई तात्त्विक अर्थान्तरता नहीं दिखाई गई है, अपितु प्रधानभूत प्रकरणी ब्रह्म में अवयव न होने के कारण 'पुच्छ' पद के वाच्यार्थ का "ब्रह्म पुच्छम्" (तै. उ. २।५) यहाँ अन्वय नहीं हो सकता, अतः 'पुच्छ' पद को गौणार्थक माना गया है, जैसा कि टीका में कहा है—"पुच्छेऽधिकरणे।" इसी प्रकार "गौण्यसम्भवात्"—इस पूर्वपक्ष-सूत्र में भी "आत्मनः आकाशः सम्भूतः" (तै. उ. २।१)-इस श्रुति को गौणी ही कहा गया है, क्योंकि आकाश नित्य है, अतः उसकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं हो सकता। यहाँ भी तात्त्विक अर्थान्तर परता नहीं कही गई है। "उपदेशभेदात्" (ब्र. सू. १।१।२७) यहाँ पर भी यही कहा गया है कि "त्रिपादस्यामृतं दिवि" (छां. ३।१२।१।६) और "दिवः परो दिवो ज्योतिः" (छां. ३।१३।७) यहाँ द्युपदोत्तर सप्तमी और पञ्चमी प्रयुक्त हुई है, उससे क्रमशः आधारत्व और अवधित्व की प्रतीति होने के कारण उपदेश का भेद हो गया, अतः पूर्व-निर्दिष्ट ब्रह्म की प्रत्यभिज्ञा सम्भव नहीं—ऐसा पूर्व पक्ष उठा कर यह उत्तर दिया गया है कि 'वृक्षाग्रे श्येन, वृक्षाग्राच्छ्येनः'—इस प्रकार का निर्देश-भेद जैसे वृक्ष की एकरूपता का बाधक नहीं, वैसे ही ब्रह्मगत अधिकरणत्व और अवधित्वरूप निर्देश-भेद से ऐक्य व्याहत नहीं होता। यहाँ भी किसी प्रकार की तात्त्विक अर्थान्तरता प्रदर्शित नहीं की गई है। सांख्य-सम्मत प्रधान में आरोपित ईक्षण बन सकता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आरोप भी सर्वत्र नहीं होता, अपितु योग्यता के आधार पर कहीं ही होता है, जैसे कि मन्त्री में राजत्व का आरोप होता है, स्तम्भादि में नहीं। फलतः चेतन में ही ईक्षितृत्व देखा जाता है, अतः ब्रह्म में उसका आरोप हो सकता है, प्रधानादि जड़वर्ग में नहीं, अतः किसी प्रकार की सिद्धान्त-क्षति नहीं होती। दूसरी बात यह भी है कि जब सगुणार्थक वाक्यों की निर्गुणार्थक वाक्यों से एक वाक्यता के आधार पर निषेध्यार्थ-बोधकता मान लेने पर प्रमाणता निभ जाती है, वाक्य-भेद मान कर उनमें गुण-प्रापकता की कल्पना नितान्त अनुचित है। अत एव "को हि मीमांसको

न्यायामृतम्

किं च मृडमृदे'त्यादिविधिर्न क्त्वा सेडिति'' निषेधस्येव सगुणवाक्यमेव निर्गुणवाक्यस्य बाधकं किं न स्यात् ? न च जगत्कर्तृत्वाक्षिप्तस्य सार्वज्ञ्यादेर्निषेधायानुवादः। श्रुत्याक्षिप्तस्य पुनः श्रुत्या निषेधायोगात्। अन्यथा श्रुतेन ज्ञाननिवर्त्यत्वेन जगदरोपाधिष्ठानत्वेन स एवेदं सर्वं' मिति श्रुतेन जीवब्रह्मणोः सार्वात्म्येन चाक्षिप्तं सर्वमिथ्यात्वं ब्रह्मसत्त्वं जीवब्रह्मैक्यं च विश्वं सत्य'' मित्यनेन असद्वा इदमित्यनेन

अद्वैतसिद्धिः

ननु—मृडमृदेत्यादेर्यथा 'न क्त्वा सेडि'ति निषेधनिषेधकत्वं, तद्वत् सगुणवाक्यानामपि निर्गुणवाक्यबाधकत्वं किं न स्यादिति चेन्न, दृष्टान्ते पर्युदासाधिकरणन्यायेन मृडमृदेत्याद्युत्तरविहितान्यसेट्कक्त्वाप्रत्ययकित्त्वनिषेधपरत्वेनैकवाक्यतायां वाक्यभेदेन निषेधनिषेधकत्वाकल्पनात्। न च प्रकृतेऽपि पर्युदासार्थकत्वम्, नेति नेतीति वीप्सायाः प्रसक्तसर्वनिषेधकतया विशेषपरिशेषायोगेन पर्युदासस्याश्रयितुमशक्यत्वात्। यत्तु जगत्कर्तृत्वेनाक्षिप्तसार्वज्ञ्यादेर्निषेधायानुवादे श्रुतेन ज्ञाननिवर्त्यत्वेन जगदारोपाधिष्ठानत्वेन 'स एवेदं सर्वमात्मैवेदं सर्वमि'ति श्रुतेन जीवब्रह्मणोः सार्वात्म्येन चाक्षिप्तं विश्वमिथ्यात्वं ब्रह्मसत्त्वं जीवब्रह्मैक्यं च विश्वं सत्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ब्रूयात्''—इस उक्ति के साथ भी कोई विरोध नहीं होता, क्योंकि सगुणार्थक वाक्यों को अत्यन्त अप्रमाण नहीं कहा जाता।

शङ्का—जैसे ''मृड्मृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वा (पा. सू. १।२।७) इत्यादि सूत्रों में जैसे ''न क्त्वा सेट्'' (पा. सू. १।२।१७) इत्यादि निषेधों की निषेधकता मानी जाती है, वैसे ही सगुण-वाक्यों में भी निर्गुण-वाक्यों की बाधकता क्यों न होगी ?

समाधान—दृष्टान्त में पर्युदासाधिकरण का निर्णय लागू होता है, किन्तु दार्ष्टान्त में नहीं। पर्युदासाधिकरण का सिद्धान्त सूत्र है—''अपितु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद् विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्'' (जै. सू. १०।८।४)। इसमें कहा गया है कि वाक्यभेदापादक विकल्प का मानना न्याय-संगत नहीं, अतः प्रकृतिवद विकृतिः कर्त्तव्या'—इस अतिदेश विधि का 'नार्षेयं वृणीते'—इस वाक्य को एक देश (वाक्य शेष) मानना चाहिए, इन दोनों की एक वाक्यता से जैसे 'आर्षेय-वरण-भिन्नं प्रकृत्यङ्गजातमनुष्ठेयम्'—यह अर्थ प्राप्त होता है, वैसे ही 'मृडमृद' और 'न क्त्वा सेट्'—इन दोनों की एक वाक्यता से 'मृडमृदेत्याद्युत्तरविधिविहितान्यसेटकक्त्वाप्रत्ययः कित् न स्यात्'—यह अर्थ सिद्ध होता है। वाक्य-भेद के द्वारा निषेध-निषेधकत्व की कल्पना उचित नहीं, किन्तु प्रकृत में पर्युदासार्थकत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि ''नेति नेति'' (बृह. उ. ३।९।२६) इस वीप्सा (द्विरुक्ति) के द्वारा प्रसक्त समस्त आरोप का निषेध कर दिया गया है, किसी विशेष गुण का परिशेष सम्भव नहीं अतः पर्युदास वृत्ति का आश्रयण नहीं किया जा सकता।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि यदि ब्रह्म में श्रुत जगत्कर्तृत्व के द्वारा आक्षिप्त सर्वज्ञत्वादि का निषेध करने के लिए 'यः सर्वज्ञः'—इत्यादि वाक्यों से अनुवाद मात्र माना जाता है, तब प्रपञ्च में श्रुत ज्ञान-निवर्त्यत्व के द्वारा आक्षिप्त मिथ्यात्व का 'विश्वं सत्यम्'—इस वाक्य से निषेध करने के लिए 'नेह नानास्ति'—इस वाक्य को,

न्यायामृतम्

"द्वा सुपर्णे"त्यनेन च निषेद्धुं "नेह नाने" त्यनेन सत्यं ज्ञानमित्यनेन तत्त्वमसीत्यनेन चानूद्यत इति स्यात्। किं च श्रुत्याक्षिप्तस्य सार्वज्ञ्यादेः श्रुत्या निषेधेऽपि श्रुतस्य सर्वकर्तृत्वादेः कथं निषेधः ? किं चाद्वैतश्रुतेर्निर्गुणश्रुत्यन्तरस्य वा तात्पर्यपरिज्ञानप्राक्षं निर्गुणत्वमेव सगुणवाक्येन निषेद्धुं सगुणवाक्येनानूद्यत इति किं न स्यात् ? वैगुण्यमेव पश्यन्ति न गुणा(न्विनि) नि नियुंजत" इति भारतोक्तेः। किं च निर्गुणवाक्य एव

अद्वैतसिद्धिः

मित्यनेन असद्वा इत्यनेन 'द्वा सुपर्णे' त्यनेन च निषेद्धुं 'नेह नानेत्यनेन' सत्यं ज्ञानमित्यनेन' तत्त्वमसीत्यनेन चानूद्यत इति स्यादिति, तन्न, 'विश्वं सत्यं' 'द्वा सुपर्णे' त्यत्र च निषेधद्योतकपदाभावेन निषेधकत्वासंभवाद्, असद्वा इत्यत्र तु नञ्सत्त्वेऽपि नामपदसमभिव्याहृतत्वेन निषेधकत्वासम्भवाद्, 'द्वा सुपर्णे'त्यस्य पैङ्गिरहस्यब्राह्मणे बुद्धिजीवपरतया व्याकृतत्वेन जीवब्रह्मभेदावोधकत्वात्, फलतो निषेधत्वोपपादने दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्। तथा हि—सार्वज्ञ्यस्य निषेधप्रतियोगितया मिथ्याभूतत्वेऽपि नाक्षेपानुपपत्तिः, आरोपितेनाप्याक्षेपकजगत्कर्तृत्वनिर्वाहाद्, आक्षिप्तविश्वमिथ्यात्वब्रह्मसत्त्वजीवब्रह्मैक्यानां निषेधे तु ज्ञाननिवर्त्यत्वादीनां त्रयाणामाक्षेपकाणामसंभवः स्यात्, सत्यस्य ज्ञानादनिवृत्तेः, असत्यस्य अधिष्ठानत्वायोगाद्, भेदे सार्वात्म्यायो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ब्रह्म में श्रुत अधिष्ठानत्व के द्वारा आक्षिप्त ब्रह्म-सत्त्व का "असद्वा इदमग्र आसीत्"—इस वाक्य के द्वारा निषेध करने के लिए 'सत्यं ज्ञानम्'—इस वाक्य को तथा श्रुत ब्रह्म जीवैक्य के द्वारा आक्षिप्त जीव-ब्रह्माभेद का "द्वा सुपर्णा"—इस वाक्य से निषेध करने के लिए 'तत्त्वमसि'—इस वाक्य को अनुवादकमात्र मानना होगा।

न्यायामृतकार का वह कहना उचित नहीं, क्योंकि 'विश्वं सत्यम्' और 'द्वा सुपर्णा'—इन वाक्यों में निषेध-सूचक पद का अभाव होने के कारण निषेधकता नहीं मानी जा सकती। 'असद्वा इदमग्र आसीत्'—इस वाक्य में नञ् का प्रयोग होने पर भी वह 'सत्'—इस नाम पद के साथ अन्वित होने के कारण पर्युदासार्थक हो सकता है, निषेधार्थक नहीं, जैसा कि कहा गया है—

द्वौ नञौ समाख्यातौ पर्युदासप्रसज्यकौ।
पर्युदासः सदृशग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत्॥
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्।
प्रसज्यप्रतिषेधस्तु क्रियया सह यत्र नञ्॥

'द्वा सुपर्णा'—यह वाक्य पैङ्गिरहस्य ब्राह्मण में बुद्धि और जीव का बोधक माना गया है, अतः जीव और ब्रह्म के भेद का बोधक कदापि नहीं, अतः वह जीव-ब्रह्मैक्य का निषेधक नहीं हो सकता, किसी प्रकार मानने पर दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का वैषम्य हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मगत सर्वज्ञत्व निषेध का प्रतियोगी होने के कारण मिथ्याभूत है, फिर भी श्रुत जगत्कर्तृत्व के द्वारा आक्षिप्त हो सकता है, और आरोपित सर्वज्ञत्व के द्वारा भी जगत्कर्तृत्व उपपन्न हो जाता है। ज्ञान-निवर्त्यत्व के द्वारा आक्षिप्त प्रपञ्च-मिथ्यात्व, प्रपञ्चाधिष्ठानत्व के द्वारा आक्षिप्त ब्रह्म-सत्त्व तथा आत्मगत सर्वात्मत्व के द्वारा आक्षिप्त जीव-ब्रह्मैक्य के धर्मसमानसत्ताक निषेध में ज्ञान निवर्त्यत्वादि तीनों आक्षेपक धर्म सम्भव नहीं, क्योंकि तत्स्वरूप धर्मी को सत्य मानने पर ज्ञान के द्वारा उसकी निवृत्ति

न्यायामृतम्

साक्षी चेते"त्यादिना द्रष्टृत्वादिगुणविधानान्न तेन निषेध इति न तदर्थं सार्वज्ञ्यादि-वाक्यमनुवादकम्। अन्यथा सार्वज्ञ्यादेर्व्यावहारिकं सत्त्वमपि न स्यात्। न हि निषिद्धे ब्राह्मणहननादौ अवान्तरमपि तात्पर्यम्। न चौपनिषदस्य ब्रह्मणः सार्वज्ञ्यादिकम-

अद्वैतसिद्धिः

न्यच्च। एतेन—अद्वैतश्रुतेर्निर्गुणश्रुत्यन्तरस्य वा तात्पर्यपरिज्ञानप्राप्तनिर्गुणत्वमेव सगुणवाक्येन निषेद्धुं निर्गुणवाक्येनानूद्यत इति—निरस्तम्, तात्पर्यपरिज्ञानप्राप्तत्वे निषेधार्थमनुवादायोगात्।

ननु 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चे'त्यादिना द्रष्टृत्वादिगुणविधानात् न तेन तन्निषेधः, तदर्थं च सगुणवाक्यं नानुवादकम्, अन्यथा सार्वज्ञ्यादेर्व्यावहारिकत्वमपि न स्यात्, न हि निषिद्धे ब्रह्महननादाववान्तरतात्पर्यम्। न च औपनिषदस्य ब्रह्मणः सार्वज्ञ्यादिकमनुमानादिसिद्धमिति चेन्न, अविद्यासिद्धसाक्षित्वाद्यनुवादेन तटस्थ-लक्षणद्वारा ब्रह्मपरतया गुणपरत्वाभावाद् गुणनिषेधकतोपपत्तेः। न च निषिद्धे ब्रह्मह-ननादाववान्तरतात्पर्याभाववदत्रापि तदभावे सार्वज्ञ्यं व्यावहारिकमपि न स्यादिति—वाच्यम्, देवतादिविग्रहादौ विधिस्तुतिद्वारतयोपात्ते प्रमाणान्तरप्राप्तिविरोधयोर-भावात्, तदत्यागमात्रेण तत्सिद्धिवदत्रापि निषेधौपयिकतयोपात्तस्य सार्वज्ञ्यादेर्मा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं होगी और असत्य मानने पर उसमें अधिष्ठानत्व नहीं बन सकता। ब्रह्म से जीव का भेद मानने पर उसमें सर्वात्मत्व नहीं बनता। यह जो शङ्का की गई है कि अद्वैत श्रुति अथवा निर्गुणार्थक श्रुत्यन्तर के तात्पर्य-ग्रह के द्वारा निश्चित निर्गुणत्व का सगुण-वाक्य से निषेध करने के लिए ही "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"—इत्यादि निर्गुण-वाक्य के द्वारा अनुवाद क्यों न मान लिया जाय? वह शङ्का अत एव निरस्त हो जाती है कि तात्पर्य-ग्रह के द्वारा निर्णीत वस्तु प्रमा का विषय है, अनुवाद का नहीं।

शङ्का—"साक्षी चेता केवलो 'निर्गुणश्च" (श्वेता० ६।११) इत्यादि वाक्यों से द्रष्टृत्वादि गुणों का विधान माना जाता है, गुणों का निषेध नहीं किया जा सकता, अतः उनके द्वारा निषेध्य गुणों की अनुवादकता सगुण-वाक्यों में नहीं बन सकती, अन्यथा उक्त वाक्य के द्वारा अत्यन्त निषिद्ध हो जाने के कारण सर्वज्ञत्वादि को व्याव-हारिक भी न माना जा सकेगा, क्योंकि अवान्तर तात्पर्य-विषयीभूत पदार्थ को व्यावहा-रिक कहा जाता है—किन्तु ब्राह्मण-वधादि के समान अत्यन्त निषिद्ध सर्वज्ञत्वादि में भी अवान्तर तात्पर्य नहीं माना जा सकता। ब्रह्मगत सर्वज्ञत्वादि गुणों का ज्ञान अनुमानादि प्रमाणों के आधार पर नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म औपनिषद (उपनिषद्वाक्य मात्र का विषय) है, अन्य प्रमाणों का विषय ही नहीं।

समाधान—उक्त वाक्य अविद्यासिद्ध साक्षित्व का अनुवाद करता हुआ तटस्थ लक्षण-प्रणाली से ब्रह्म का बोधक है, गुण-विधायक नहीं, अतः उसमें गुण-निषेधकता उपपन्न हो जाती है और उसके द्वारा निषिद्ध गुणों की अनुवादकता सगुण-वाक्यों में स्थिर हो जाती है। यह जो कहा गया है कि ब्राह्मणवधादि के समान अत्यन्त निषिद्ध सर्वज्ञत्वादि में अवान्तर तात्पर्य सम्भव न होने के कारण व्यावहारिकत्व सम्भव नहीं, वह कहना उचित नहीं, क्योंकि वेदान्त में विधि-स्तुति आदि के द्वारा श्रुति-बोधित देवता-विग्रहादि की अनुमानादि अन्य प्रमाणों के द्वारा न प्राप्ति होती है और न निषेध,

न्यायामृतम्

नुमानादिसिद्धम्। ननु सगुणवाक्यं वाचं धेनुमुपासीते"त्यादिवदुपासनार्थम्, उपासनायाः कर्तव्यत्वे गुणेषु च तात्पर्ये वाक्यभेदादिति चेन्न—

उपासनायाः कार्यत्वे विष्णोरात्मत्व एव च।
उभयत्रापि तात्पर्यमात्मोपासादिके विधौ॥

इति स्मृतिविरोधात्। "यः सर्वज्ञ' इत्यादौ उपासनाविधेरश्रवणाच्च। कल्पनस्य च निर्गुणवाक्येऽपि शक्यत्वात्।

अद्वैतसिद्धिः

नान्तरादप्राप्तस्य व्यावहारिकप्रमाणानिषिद्धतया व्यवहारदशायामत्यागमात्रेण व्यावहारिकत्वोपपत्तेः। ब्रह्महननादिकं तु मानान्तरप्राप्तमिति विशेषः। न च तद्बोधकत्वं तत्तात्पर्यनियतम्, विशिष्टविधेर्विशेषणबोधकत्वेऽपि विशेषणे अतात्पर्याद्, विशिष्टस्यातिरेकाद्, अ यशेषतयोपात्तेऽपि सार्वज्ञ्यादौ तात्पर्ये वाक्यभेदापत्तेः। न च—तर्हि

'उपासनायाः कार्यत्वे विष्णोरात्मत्व एव च।
उभयत्रापि तात्पर्यमात्मोपासादिके विधौ॥'

इति स्मृतिविरोध इति—वाच्यम्, देवताधिकरणन्यायेनोभयसिद्धिपरत्वाद् उभयत्र तात्पर्ये स्मृतेरप्रमाणत्वात्, यः सर्वज्ञ इत्यादावुपासनाप्रकरणस्थत्वाभावेऽपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अतः उस अंश में वेदान्त-वाक्यों के प्रामाण्य का त्याग नहीं हो सकता और न देवता शरीरादि का किसी व्यावहारिक प्रमाण के द्वारा बाध, फलतः उसमें व्यावहारिक प्रामाण्य जैसे माना जाता है, वैसे ही 'साक्षी चेता'—इस वाक्य के द्वारा निषिद्ध गुणों के सामर्थ्य में औपयिक (सहायक) होने के कारण सगुण-वाक्यों से बोधित सर्वज्ञत्वादि में व्यावहारिकत्व मानना असंगत नहीं। ब्रह्म-बधादि तो प्रमाणान्तर का विषय है और ब्रह्म-सर्वज्ञत्वादि वेदान्तैकवेद्य, इस वैषम्य के कारण ब्रह्मबधादि में अवान्तर तात्पर्य सम्भव न होने पर भी सर्वज्ञत्वादि में उपपन्न हो जाता है। यदि कहा जाय कि सर्वज्ञत्वादि में परम तात्पर्य न होने पर वेदान्त वाक्यों में सर्वज्ञत्वादि की बोधकता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि 'यत्र यद्बोध्यत्वम्, तत्र तत्तात्पर्यविषयत्वम्'—ऐसी व्याप्ति होती है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि विशिष्ट विधि की बोध्यता विशेषण में होने पर भी तात्पर्य-विषयता नहीं होती, विशेषण और विशेष्य से अतिरिक्त ही विशिष्ट को माना जाता है, अतः उक्त व्याप्ति भंग हो जाती है। निषेध विधि की शेषरूपता (पूरकता) के रूप में गृहीत सर्वज्ञत्वादि में स्वतन्त्र तात्पर्य मानने पर वाक्य-भेदापत्ति होती है।

शङ्का—विशिष्ट विधि का विशेषण में भी तात्पर्य अवश्य मानना होगा, क्योंकि स्मृति-वाक्य कहता है—

उपासनायाः कार्यत्वे विष्णोरात्मत्व एव च।
उभयत्रापि तात्पर्यमात्मोपासादिके विधौ॥

समाधान—उक्त स्मृति वाक्य को तात्पर्यावगति-मर्यादा के बोधन में प्रमाण नहीं माना जाता, उक्त स्मृति का केवल वेदान्तगत देवताधिकरण-सिद्ध विशेष्य और विशेषण—उभय की बोधकता मात्र में तात्पर्य है। "यः सर्वज्ञः" (मुं० १।१।९) यह वाक्य यद्यपि उपासना के प्रकरण में पठित नहीं, तथापि तटस्थ लक्षण के द्वारा ब्रह्म

न्यायामृतम्

किं च "आत्मेत्येवोपासीत", "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते" इत्यादावद्वैतस्याप्युपास्यत्वं श्रूयते। किं च त्वयैव तृतीयस्य तृतीये पादे "आनन्दादय" इति सूत्रे

अद्वैतसिद्धिः

तटस्थलक्षणद्वारा ब्रह्मप्रतिपादने तात्पर्येण विशेषणे अतात्पर्याद्, अन्यथा एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधापत्तेः। न च—'आत्मेत्येवोपासीते' त्यत्राद्वैतस्याप्युपास्यत्वेन उपासनाशेषतया अद्वैतासिद्धिः स्यादिति—वाच्यम्, अनेन ह्येतत्सर्वं वेदे' त्युत्तरवाक्यस्थविदिसमानार्थतया उपास्तिशब्दस्य क्रियावाचकत्वाभावात्। न च ज्ञाने विधिः, तस्य निराकरिष्यमाणत्वात्। न च—विधिश्रुत्यानर्थक्यम्, बाह्यविषयात् परावृत्य चित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणतासम्पादकत्वात्।

अथ योऽन्यां देवतामुपास्त' इत्यादेर्न स वेदे'त्युत्तरवाक्यपर्यालोचनया भेददर्शननिन्दापरतया उपास्तिपरताशङ्कैव नास्ति। न चोपक्रमानुसारेण उपसंहारनयनम्, अनेन ह्येतत्सर्वं वेदेत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधेनोपसंहारस्यैव प्राबल्यात्। यत्तु गुणोपसंहारपादे 'आनन्दादयः प्रधानस्ये'ति सूत्रे 'आनन्दं ब्रह्मे'

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का बोधक माना जाता है, अन्यथा (यः सर्वज्ञः'—इस वाक्य को ब्रह्मपरक न मानकर सर्वज्ञत्वरूप गुण मात्र का बोधक मानने पर) जिस प्रश्न के उत्तर में "यः सर्वज्ञः'—यह कहा गया है, वह "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते" (मुं० १।१।३) इस प्रकार का प्रश्न असंगत हो जायगा, क्योंकि प्रश्न ब्रह्म के विषय में है और उत्तर सर्वज्ञत्वरूप गुण के विषय में दिया गया है।

शङ्का—"आत्मत्येवोपासीत" (बृह० उ० १।४।७) यहाँ पर अद्वैत तत्त्व भी उपास्य होने के कारण उपासना का अङ्ग है। उपासना विधि का यदि उपास्य रूप अङ्ग में तात्पर्य नहीं होता, तब अद्वैत तत्त्व की सिद्धि क्योंकर होगी ?

समाधान—उक्त वाक्य में 'उपासीत'—यह शब्द उपासना क्रिया का बोधक नहीं, अपि तु ज्ञान का बोधक है, क्योंकि 'अनेन ह्येतत् सर्वं वेद" (बृह० १।४।७) इस उत्तरभावी वाक्य में उपात्त 'विदि' का 'उपास्ति' समानार्थक है। ज्ञान का विधान सम्भव नहीं, क्योंकि वह पुरुष-तन्त्र न होकर वस्तु-तन्त्र होने के कारण विधेय नहीं होता—यह कहा जायगा। फिर भी 'उपासीत'—यहाँ विधि-श्रुति (लिङ् प्रत्यय) का ग्रहण अनर्थक नहीं, क्योंकि वह लिङ् प्रत्यय बाह्य विषय के विधान में कुंठित होकर भी चित्त की जीव-ब्रह्मैक्योन्मुखता के विधान में सार्थक हो जाता है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते" (बृह० उ० १।४।१०) इत्यादि वाक्य का तात्पर्य "य एवं वेद" (बृह० उ० १।४।१०) इस उत्तरभावी वाक्य की आलोचना करने पर भेद-दर्शन-निन्दा में ही निश्चित होता है, उपासना में उसकी शङ्का ही नहीं होती)। 'योऽन्यां देवतामुपास्ते'—यह उपक्रम वाक्य है और 'य एवं वेद'—यह उपसंहार, उपक्रम के अनुसार ही उपसंहार वाक्य का अर्थ किया जाता है, अतः उपक्रमस्थ उपासना की अविवक्षा नहीं हो सकती'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि "अनेन ह्येतत्सर्वं वेद" (बृह० उ० १।४।७) इस प्रकार एक वस्तु के ज्ञान से सर्व के ज्ञान की प्रतिज्ञा से विरोध होने के कारण उपक्रम दुर्बल है, अतः यहाँ उपसंहार के अनुसार भेद-दर्शन-निन्दा में ही उपक्रम का तात्पर्य मानना होगा।

न्यायामृतम्

"आनन्दं ब्रह्मे"त्यादिश्रुतिसिद्धा आनन्दादयः। "व्यतिहार" इति सूत्रे तद्योऽह"मिति श्रुत्युक्तं जीवस्येश्वरत्वमीश्वरस्य च जीवत्वमुपास्यमित्युक्तम्। तथा—

उत्तरस्मिस्तापनीये शैव्यप्रश्नेऽथ काठके।
मांडूक्यादौ च सर्वत्र निर्गुणोपास्तिरीरिता॥

अद्वैतसिद्धिः

त्यादिश्रुतानामानन्दादीनां 'व्यतिहार' इति सूत्रे 'तद्योऽहमिति श्रुत्युक्तस्य जीवे ईश्वरत्वस्य ईश्वरे वा जीवत्वस्य उपास्यतयोक्तत्वादुत्तरतापनीयादौ निर्गुणोपास्ते-रुक्तत्वेऽपि यथानन्दादेरैक्यस्य निर्गुणस्य च सिद्धिः, तथा सत्यकामत्वादेरपि तात्त्विकतास्त्विति,तन्न, आनन्दादय' इति सूत्रेण लक्ष्याखण्डवाक्यार्थसिद्ध्यर्थं वाच्य-वाक्यार्थोपसंहारस्य क्रियमाणत्वेन उपास्यत्वानुक्तेः। व्यतिहारसूत्रे च 'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽह' मित्युक्तस्य जीवे ईश्वराभेदध्यानस्येश्वरे वा जीवाभेदध्यानस्यो पासनाप्रकरणपठितश्रुत्युक्तस्य जीवेश्वराभेदः सगुणोपासनरूपेणापि दृढीकर्तव्य-इत्येवंपरतया ऐक्यस्य उपासनाविषयत्वेऽपि न सत्यकामत्वादिवदतात्त्विकत्वम्। न चैक्यवत् सत्यकामत्वादीनां तात्त्विकता, अनुपासनाप्रकरणस्थतत्परवाक्यबोधित-त्वाबोधितत्वाभ्यां विशेषाद्, उत्तरतापनीयादौ श्रुतोपास्तेर्ज्ञानपरत्वात्, उपास्तेर्वि-शिष्टविषयत्वेन निर्विशेषविषयत्वाभावात्।

यत्तु यथा ध्यानार्थेऽपि सत्यकामादिगुणोपदेशे तद्गुण ईश्वरः प्रसिध्यति, तद्वदैक्यमिति भाष्यपर्यालोचनया ऐक्यवत्सत्यकामत्वादिसिद्धिरिति, तन्न, तत्र सगुणो

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—जैसे "आनन्दं ब्रह्म" (तै० उ० २।४।१) इस श्रुति में उपास्यत्वेन निर्दिष्ट आनन्दादि को गुणोपसंहारसंज्ञक (ब्र. सू. ३।३) पाद के "आनन्दादयः प्रधानस्य" (ब्र. सू. ३।३।११) इस सूत्र में तात्त्विक सिद्ध किया गया है, "तद्योऽहम्" (ऐत० २।४।३) इस श्रुति में उपास्यत्वेन निरूपित जीवेश्वरैक्य को "व्यतिहारो विशि-षन्ति हीतरवत्" (ब्र. सू. ३।३।३७) इस सूत्र में तात्त्विक कहा गया है तथा उत्तर तापनीयादि में निर्गुणता का उपास्यत्वेन निर्देश होने पर भी निर्गुणत्व की तात्त्विकत्वेन सिद्धि की गई है। वैसे ही उपास्यत्वेन निर्दिष्ट सत्यकामत्वादि को तात्त्विक क्यों नहीं माना जाता ?

समाधान—"आनन्दादयः प्रधानस्य"—इत्यादि सूत्रों के द्वारा लक्ष्यभूत अखण्ड वाक्यार्थ की सिद्धि करने के लिए द्वारीभूत वाच्य और वाक्यार्थ का उपसंहार किया गया है, उपास्यत्व का प्रतिपादन नहीं किया गया है और व्यतिहार सूत्र में "तद्योऽहं सोऽसौ, योऽसौ, सोऽहम्'—इस श्रुति में कथित जीवेश्वराभेद के सगुणोपासना के रूप में वर्णित होने पर भी सत्यकामत्वादि के समान उन्हें अतात्त्विक ही माना गया है, तात्त्विक नहीं। जीवेश्वरैक्य के समान भी सत्यकामत्वादि गुणों को तात्त्विक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सत्यकामत्वादि उपासना-प्रकरण-पठित वाक्य के द्वारा प्रतिपादित हैं और जीवेश्वरैक्य वैसा नहीं, अतः दोनों की एकरूपता कथमपि सम्भव नहीं। उत्तरतापनीयादि में श्रुत 'उपास्ति' धातु ज्ञानार्थक है, अतः विशिष्टार्थक पद को सामान्यार्थक नहीं माना जा सकता।

यह जो कहा गया है कि जैसे ध्यानार्थ श्रुत सत्यकामादि गुणों को लेकर ईश्वर

न्यायामृतम्

इति निर्गुणं ब्रह्माप्युपास्यमित्युक्तम्। एवं चोपास्यत्वेऽप्यानन्दादेरिव ऐक्यस्येव निर्गुणब्रह्म इव च सत्यकामत्वादेरपि तात्त्विकतास्तु। भाषितं हि त्वयैव व्यतिहार" इति सूत्रे "यथा ध्यानार्थेऽपि सत्यकामत्वाद्युपदेशे तद्गुण ईश्वरः सिध्यति तद्वदैक्यम्" इति। भामत्यां च तादात्म्यदार्ढ्यं तु भवन्नोपेक्षामहे। सत्यकामादिगुणोपदेश इव तद्गुणेश्वरसिद्धेरिति। न चानन्दादिवाक्यसत्यकामादिवाक्ययोर्मानान्तराविरोधे तदप्राप्तौ उपासनाविध्यश्रवणे निर्गुणश्रुतिविरोधे च तुल्येऽपि आनन्दादयो वास्तवाः सत्यकामादयस्तु वाग्धेनुत्वादिवत् पुंतंत्रा वा व्यावहारिका वेति युक्तम्। यदि

अद्वैतसिद्धिः

यः स ईश्वरः प्रसिध्यतीत्यर्थः, न तु गुणस्यापि प्रसिद्धिः, निर्गुणश्रुत्यनुसारेणातद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहावेव तात्पर्यात्। तथा चैक्यसिद्धावीश्वरस्य निदर्शनत्वम्, न तु गुणस्य। एवमेवार्थसिद्धं भवन्नोपेक्षामहे। "सत्यकामादिगुणोपदेशात् तद्गुणेश्वरादिसिद्धिः"—इति टीका नेया।

ननु—आनन्दादिवाक्यसत्यकामादिवाक्ययोर्मानान्तराविरोधे तदप्राप्तौ उपासनाविध्यश्रवणे निर्गुणश्रुतिविरोधे च तुल्येऽपि आनन्दादयस्तात्त्विकाः, सत्यकामत्वादयस्त्वतात्त्विका इति कथं व्यवस्थेति—चेन्न, आनन्दादीनां ब्रह्मरूपत्वेन निर्गुणश्रुतिविरोधाभावस्य व्यवस्थापकत्वात्। न च—एवं बलशक्त्यादीनामपि 'ज्ञानात्मको भगवान् बलात्मको भगवानिति श्रुतेः समस्तकल्याणगुणात्मक' इति श्रुतेश्च ब्रह्माभेद

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

गुणवान् प्रसिद्ध है, वैसे ही 'ऐक्यम्'—इस भाष्य की परिलोचना से यही सिद्ध होता है कि जीवेश्वराभेद के समान ही सत्यकामत्वादि गुण तात्त्विक हैं।

वह कहना भी समीचीन नहीं, क्योंकि वहाँ सगुण या निर्गुण ईश्वर की ही सिद्धि की गई है, गुणों की नहीं। सगुण वाक्यों का भी प्रबल विधिवाक्यों के आधार पर अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि ये ही तात्पर्य निश्चित किया गया है। अतः ऐक्य-सिद्धि में भी केवल ईश्वर का निदर्शन हुआ है, गुण का नहीं। अर्थतः सिद्ध पदार्थ को उपेक्षा नहीं की जा सकती, सत्यकामादि गुणों के उपदेश से सत्यकामादिगुणक ईश्वर की सिद्धि होती है- ऐसा ही टीका (भाष्य) का अर्थ करना चाहिए।

शङ्का—"आनन्दं ब्रह्म" (तै. उ. २।४।२) तथा "सत्यकामः सत्यसंकल्पः" (छा. ८।१।५) इत्यादि उभयविध वाक्यों में मानान्तराविरोध, मानान्तराप्राप्ति, उपासना-प्रकरणापठितत्व तथा निर्गुण-श्रुति-विरोध समान होने पर भी आनन्दादि तात्त्विक हैं और सत्यकामत्वादि अतात्त्विक—यह वैषम्य क्यों?

समाधान—आनन्दादि को ब्रह्मरूप मानकर निर्गण श्रुति के विरोध का परिहार जैसे किया जा सकता है, वैसे सत्यकामादि गुणों को ब्रह्मस्वरूप मान कर नहीं।

शङ्का—"ज्ञानात्मको भगवान्", "बलात्मको भगवान्" एवं "समस्तकल्याणगुणात्मकः"—इत्यादि श्रुति-स्मृति के अनुरोध पर बल शक्त्यादि गुणों को भी ब्रह्म से अभिन्न मानकर निर्गुण-श्रुति के विरोध का परिहार क्यों नहीं किया जा सकता?

समाधान—हम (अद्वैती) भी ब्रह्मातिरिक्त गुणों के सद्भाव से द्वेष ही करते हैं और अभेद-पक्ष में कथञ्चित् पारिभाषिक गुण-गुणिभाव भी मान लेते हैं, ऐसा ही यदि आप (द्वैती) भी मान लेते हैं, तब किसी प्रकार की क्षति नहीं, किन्तु हमें आपके

न्यायामृतम्

ज्ञानन्दादयः स्वरूपभूता इति न निर्गुणश्रुतिविरोधः, तर्हि बलशक्त्यादयोऽपि तथैव। ज्ञानात्मको भगवान् बलात्मको भगवानि'त्यादि श्रुतेः। "समस्तकल्याणगुणात्मक" इत्यादिस्मृतेश्च।

ननु निर्गुणाद्युपासनं भ्रमोऽपि मणिप्रभायां मणिभ्रम इव फलसंवादि, उक्तं हि—

स्वयं भ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक् फलप्रदः।
ब्रह्मतत्त्वोपासनापि तथा मुक्तिफलप्रदा॥ इति।

न चैवं ब्रह्मासिद्धिः, उपासनस्य भ्रमत्वेऽपि शब्दजन्यस्य ज्ञानस्य प्रमात्वादिति चेन्न, प्रकृतेऽपि तथात्वोपपत्तेः। मणिप्रभायां मणित्वस्यैव ब्रह्मणो मिथ्यात्वाभावेन

अद्वैतसिद्धिः

इति वाच्यम्, अस्माकमपि ब्रह्मातिरिक्तगुणसद्भावप्रद्वेषाद्, अभेदे गुणगुणिभावाङ्गीकारस्य पारिभाषिकत्वात्।

यत्तु सगुणोपास्तेर्भ्रमत्वे निर्गुणोपास्तेरपि भ्रमतया सम्यक्फलासिद्धिर्ब्रह्मासिद्धिश्च स्यात्। न च—निर्गुणोपासनं यद्यपि भ्रमस्तथापि मणिप्रभायां मणिभ्रम इव सम्यक्फलप्रदम्। तदुक्तं—

स्वयं भ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक्फलप्रदः।
ब्रह्मतत्त्वोपासनापि तथा मुक्तिफलप्रदा॥ इति।

नापि ब्रह्मासिद्धिः, उपासनस्य भ्रमत्वेऽपि शब्दाज्जायमानस्य ज्ञानस्य प्रमात्वादिति—वाच्यम्, प्रकृतेऽपि तथात्वापत्तेः, मणिप्रभायां मणित्वस्येव ब्रह्मणो मिथ्यात्वाभावेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इस अद्वैतानुकरण की वास्तविकता में सन्देह है।

शङ्का—यह जो कहा गया है कि सगुण की उपासना यदि भ्रममूलक है, तब निर्गुण की उपासना को भी वैसा ही मानना होगा, तब उससे सम्यक् (क्रम-मुक्ति) फल की प्राप्ति और ब्रह्म की सिद्धि कैसे होगी? यदि कहा जाय कि निर्गुणोपासना यद्यपि भ्रम है, तथापि मणि-प्रभा में मणि-बुद्धि के समान सत्य फल की साधिका होती है, जैसा कि (प्र. वा. पृ. २१८ पर) गया है—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥
स्वयं भ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक्फलप्रदः।
ब्रह्मतत्त्वोपासनापि तथा मुक्तिफलप्रदा॥

[एक व्यक्ति को मणि-प्रभा में मणि-भ्रान्ति और दूसरे को प्रदीप-प्रभा में मणि-भ्रान्ति होती है। दोनों के मिथ्या ज्ञानों में कोई स्वरूपतः अन्तर नहीं, तथापि एक को प्रवृत्त होने पर पास में मणि की प्राप्ति हो जाती है और दूसरे को नहीं॥ निर्गुणोपासना यद्यपि स्वयं भ्रम है, तथापि वह संवादी भ्रम होने के कारण क्रममुक्तिरूप फल की जनक मानी जाती है]। अत एव निर्गुणोपासना से ब्रह्म की भी असिद्धि नहीं होती, क्योंकि उपासना और ज्ञान—दोनों ही मानस वृत्तियाँ हैं, तथापि 'केवलो निर्गुणश्च'—इस वाक्य से जनित बोध प्रमा ही होता है। प्रकृत में भी निर्गुणोपासना से ब्रह्म की सिद्धि हो जाती है।

न्यायामृतम्

ध्यानस्यापि सत्यब्रह्मविषयत्वाच्च। न च ब्रह्मविषयशाब्दधीजन्यस्य तदपरोक्षधीजनकस्य च ब्रह्मध्यानस्याब्रह्मविषयता युक्ता, ब्रह्मज्ञानहेतूनां श्रवणादीनामपि तथात्वापातात्। "ईक्षतिकर्मे"ति सूत्रे—

ईक्षणध्यानयोरेकः कार्यकारणभूतयोः।
अर्थ औत्सर्गिकं तत्त्वविषयत्वं तथेक्षतेः॥

इति भामत्यां परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षत" इति ईक्षणकर्मणः परब्रह्मण एव "परं पुरुषमभिध्यायीते"ति ध्यातव्यत्वोक्त्या तद्विरोधाच्च। ननु ऐक्याद्युपासनं परोक्षप्रमाप्रवाहरूपं न तु "वाचं धेनुमुपासीते"त्यादाविव ज्ञानविजातीयं वृत्त्यंतरं

अद्वैतसिद्धिः

ध्यानस्यापि सत्यब्रह्मविषयत्वाच्चेति, तन्न, सगुणोपास्तेर्विशिष्टविषयत्वेन भ्रमत्वेऽपि निर्गुणाद्युपास्तेर्निर्विशेषविषयतया भ्रमत्वाभावात्। एवमेव शाब्दसगुणनिर्गुणज्ञानयोरपि, सगुणवाक्यस्य विशेष्यांशसत्यविषयत्वेऽपि विशेषणांशासत्यविषयत्वात्। अत एव ब्रह्मविषयशाब्दधीजन्यस्य तदपरोक्षधीजनकस्य ब्रह्मध्यानस्याब्रह्मविषयत्वे श्रवणादीनामपि तथात्वापत्तिरिति—निरस्तम्, तेषां विशिष्टाविषयत्वाद्, उपास्तेश्च विशिष्टविषयत्वात्। न च—ईक्षतिकर्मे'तिसूत्रे।

'ईक्षतिध्यानयोरेकः कार्यकारणभूतयोः।
अर्थ औत्सर्गिकं तत्त्वविषयत्वं तथेक्षतेः॥'

इति भामत्यां 'परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते इतीक्षतिकर्मणः परब्रह्मण एव परं पुरुषमभिध्यायीतेति अभिध्यातव्यत्वेनोक्त्या तद्विरोध इति—वाच्यम्, त्रिमात्रो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—सगुणोपासना विशिष्ट ब्रह्म को विषय करने के कारण भ्रमात्मक है, किन्तु निर्गुणोपासना निर्विशेष ब्रह्म को विषय करने के कारण भ्रमात्मक नहीं मानी जाती। इसी प्रकार सगुण और निर्गुण विषयक शाब्द ज्ञानों को समझना चाहिए, क्योंकि सगुण-वाक्य विशेष्यभूत सत्य चैतन्य को विषय करने पर भी असत्य विशेषणांश को विषय करने के कारण भ्रम-जनक और निर्गुण-वाक्य प्रमा-जनक माना जाता है। अत एव ब्रह्म विषयक शाब्द ज्ञान-जन्य और ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान का जनक ब्रह्म-ध्यान जैसे शुद्ध ब्रह्मविषयक नहीं होता, वैसे श्रवणादि भी ब्रह्मविषयक क्यों होंगे? यह शङ्का भी निरस्त हो जाती है, क्योंकि श्रवणादि शुद्ध ब्रह्मविषयक ही होते हैं, विशिष्ट विषयक नहीं किन्तु ब्रह्म-ध्यान या ब्रह्मोपासना सदैव विशिष्टविषयक ही होती है।

शङ्का—"ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्" (ब्र. सू. १।३।१३) इस सूत्र में भामतीकार ने कहा है—

ईक्षतिध्यानयोरेकः कार्यकारणभूतयोः।
अर्थं औत्सर्गिकं तत्त्वविषयत्वं तथेक्षतेः॥

[ईक्षण और ध्यान—दोनों में कार्य-कारणभाव होने के कारण दोनों का एक ही विषय होता है, अतः जैसे ध्यान तत्त्वविषयक होता है, वैसे ही ईक्षण भी तत्त्वविषयक ही होता है]। एवं "परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" (प्र० ५।५) इस श्रुति से सिद्ध ईक्षण के कर्मभूत शुद्ध ब्रह्म को ही "पुरुषमभिध्यायीत" (प्र० ५।५) इस श्रुति में ध्यातव्य कहा है, अतः इन सभी वाक्यों का उपासना को विशिष्टविषयक मानने पर

न्यायामृतम्

बुद्धिपूर्वकारोपो वेति चेत्, समं प्रकृतेऽपि। न चैक्यादिकं ध्येयं ज्ञेयं च सार्वज्ञ्यादिकं तु ध्येयमेवेति युक्तम्, तत्र "तत्त्वमसी" त्यादेरिवेहाप्यविधिरूपस्य वस्तुतत्त्वनिष्ठस्य "यः सर्वज्ञ" इत्यादेः सत्त्वेन विशेषहेत्वभावात्। ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वादिनारोप्योपास्यत्वे नाम्नि ब्रह्मवाक्यानामिव ब्रह्मण्यपि कारणवाक्यानां समन्वयस्यावक्तव्यत्वेन

अद्वैतसिद्धिः

द्वारावलम्बनोपाधिविशिष्टस्यैव ध्येयत्वोक्त्या शुद्धविषयत्वाभावेन विरोधाभावाद्, विशेष्यांशमादाय ईक्षतिसमानविषयत्वोपपत्तेश्च। यत्तु ऐक्याद्युपासनस्य अप्रमाप्रवाहरूपत्वमाशङ्क्य सगुणोपासनसमत्वमुक्तम्, तदयुक्तम्, सगुणप्रकरणस्थैक्यवाक्यजन्यैक्यज्ञानस्य सगुणोपास्त्यन्तर्गततया विशिष्टविषयत्वात्, स्वतन्त्रैक्यजन्यैक्यज्ञानस्य निर्विशेषविषयत्वेन विशिष्टविषयसगुणोपास्तिवैषम्यात्। न च—ऐक्यादेर्विध्यविधिरूपवाक्यद्वयबोधितत्वेन ध्येयत्वज्ञेयत्ववत्सार्वज्ञ्यादेरुपास्तिविधिविषयस्यापि अविधिरूपवस्तुतत्त्वविषयः सर्वज्ञ इत्यादिवाक्यबोधितत्वेन ज्ञेयत्वमप्यस्तीति—वाच्यम्; तस्य तटस्थलक्षणद्वारा परब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वेन तत्त्वमसीत्यादेरिव तत्परत्वाभावात्। अत एव—ब्रह्मणि कर्तृत्वादीनामारोप्योपास्यत्वे नाम्नि ब्रह्मवाक्यानामिव ब्रह्मण्यपि कारणवाक्यानां समन्वयस्यावक्तव्यत्वेन समन्वयाद्यध्यायानारम्भापात इति—अपा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विरोध होता है।

समाधान—त्रिमात्रोङ्काररूप उपाधि से विशिष्ट तत्त्व को ही ध्यातव्य कहा है, शुद्ध ब्रह्म को नहीं, अतः किसी प्रकार का विरोध नहीं होता। केवल विशेष्यांश की समानता को लेकर ईक्षण और ध्यान की समानविषयता का व्यवहार हो जाता है।

न्यायामृतकार ने जो अभेदोपासना में अप्रमात्मक वृत्तियों की प्रवाहरूपता का सन्देह उठाकर सगुणोपासना-साम्य कहा है, वह युक्त नहीं, क्योंकि सगुण प्रकरण में अवस्थित ऐक्य वाक्य से जन्य ऐक्य-ज्ञान ही सगुण-उपासना के अन्तर्गत होने के कारण विशिष्टविषयक माना जाता है, किन्तु स्वतन्त्र ऐक्यार्थक वाक्य से जन्य ऐक्य-ज्ञान निर्विशेष विषयक होने के कारण विशिष्ट विषयक सगुणोपासना से विषम होता है।

शङ्का—जैसे विधि वाक्य से बोधित अभेद ध्येय और विध्यनात्मक वाक्य से अवगमित अभेद ज्ञेय होता है, वैसे ही सर्वज्ञत्वादि उपासना विधि के विषय होने पर भी "वस्तुतत्त्वविषयः सर्वज्ञः"—इस प्रकार के अविधिरूप वाक्य से बोधित होने के कारण ज्ञेय भी क्यों न होंगे ?

समाधान—"यः सर्वज्ञः"—यह वाक्य जगत्कर्तृत्वरूप तटस्थ लक्षण का आक्षेपक होकर ब्रह्म का बोधक होता है, 'तत्त्वमसि'—इत्यादि के समान साक्षात् ब्रह्मपरक नहीं होता, अतः ज्ञेय कक्षा में सर्वज्ञत्वादि गुणों का समावेश नहीं हो सकता।

शङ्का—जैसे "नाम ब्रह्मेत्युपासीत" (नृ० उ० ता० ५।७) इत्यादि स्थल पर उपास्यभूत 'नाम' में ब्रह्म-बोधक वाक्यों का तात्पर्यतः समन्वय विवक्षित नहीं होता, वैसे ही "यः सर्वज्ञः' (मु० १।१।९) इत्यादि स्थल पर भी ब्रह्म में सर्वज्ञत्व के द्वारा कर्तृत्वादि आरोप कर जगत् के कारणीभूत ब्रह्म की उपासना की जाती है, अतः यहाँ भी उपास्यभूत ब्रह्म में "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तै० उ० ३।१) इत्यादि जगत्कारण-बोधक वेदान्त वाक्यों का समन्वय नहीं हो सकता, जब ब्रह्म में वेदान्त

न्यायामृतम्

समन्वयाध्यायानारम्भापाताच्च । "य आत्मापहतपाप्मे" त्यारभ्य सत्यकामः सत्य-संकल्पः सोऽन्वेष्टव्य स विजिज्ञासितव्य" इति सत्यकामत्वादीनामपहतपाप्मत्वादिभिः

अद्वैतसिद्धिः

स्तम्; नाम्नो ब्रह्मविकारतया असमन्वयेऽपि ब्रह्मणोऽविकारतया मुमुक्षुज्ञेयत्वेन कारणवाक्यानां तटस्थलक्षणकर्तृत्वादिबोधनद्वारा तत्रैव तात्पर्यसंभवेन समन्वया-देरावश्यकतया तदध्यायारम्भसंभवात् । न च-'य आत्माऽपहतपाप्मे'त्यारभ्य 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य' इति सत्यकामत्वादीनाम-पहतपाप्मत्वादिभिः सह जिज्ञास्यत्वश्रवणात् ज्ञेयत्वमिति-वाच्यम्; अपहतपाप्म-त्वादीनां स्वरूपतया जिज्ञास्यकोटिप्रवेशेऽपि सत्यकामत्वादीनां स्वरूपबहिर्भावेन जिज्ञास्यत्वायोगात् तच्छब्देन तेषामपरामर्शाद्, यश्चित्रगुर्लम्बकर्णश्च तमानयेत्यादौ योग्यविशेषणस्यैव तच्छब्देन परामशदर्शनाद्, अस्वरूपत्वे तेषामप्यपरामर्शे विशेष्यां-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वाक्यों के समन्वय की शङ्का भी नहीं होती, तब ब्रह्मसूत्र के समन्वयादि अध्यायों का आरम्भ अनावश्यक हो जाता है।

समाधान—नाम (शब्द) तत्त्व तो ब्रह्म का एक विकार (विवर्त) मात्र है एवं ज्ञेय नहीं, किन्तु ब्रह्म अविकारभूत है, जगत् का एक मात्र कारण (अधिष्ठान) है, मुमुक्षुओं के द्वारा ज्ञेय है, अतः नाम में वेदान्त वाक्यों का समन्वय विवक्षित न होने पर भी ब्रह्म में कारणार्थक वेदान्त वाक्यों का तटस्थ लक्षणादि-बोधन के द्वारा समन्वय निर्विवादरूप से होता है, अतः वेदान्त दर्शन के समन्वय, अविरोध, साधन और फल नामक चारों अध्यायों का आरम्भ परम आवश्यक है।

शङ्का—यह जो कहा गया कि सत्यकामत्वादि गुण ज्ञेय-कोटि में नहीं आते, वह उचित नहीं, क्योंकि "य आत्माऽपहतपाप्मा" (छां० ८।७।१) यहाँ से लेकर "सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः, सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" (छां० ८।१।५) यहाँ तक के सभी सत्यकामत्वादि गुण अपहतपाप्मत्वादि के साथ जिज्ञास्यत्वेन निर्दिष्ट हैं, अतः ज्ञेय-कोटि में ही आते हैं।

समाधान—अपहतपाप्मत्वादि (पापाभावादि) गुण तो ब्रह्मस्वरूप होने के कारण ज्ञेय हैं, किन्तु सत्यकामादि गुण ब्रह्म के स्वरूप न होकर 'धर्म माने जाते हैं, अतः ज्ञेय नहीं हो सकते, क्योंकि जिस अधिष्ठान तत्त्व के अज्ञान से बन्धन और ज्ञान से मोक्ष का लाभ होता है, वही 'सोऽन्वेष्टव्यः'—इस वाक्य के 'तत्' पद से गृहीत होता है, सत्य-कामादि नहीं, अतः वे ज्ञेय नहीं हो सकते, क्योंकि 'यः चित्रगुः लम्बकर्णश्च, तमानय'—इत्यादि व्यवहारों में योग्य विशेषणों का ही 'तत्' शब्द से परामर्श होता है [चित्राः गावो यस्य और लम्बौ कर्णौ यस्य—दोनों बहुव्रीहि समासों में प्रथम अतद्गुणसंविज्ञान और दूसरा तद्गुणसंविज्ञान है, अतः आनयनादि क्रियाओं के साथ लम्बकर्ण-सहित चैत्रादि का अन्वय होता है, चित्र गो-विशिष्ट का नहीं, अतः यहाँ जैसे 'तत्' पद से लम्बकर्णतारूप विशेषण का ही परामर्श होता है, वैसे ही 'सोऽन्वेष्टव्यः'—यहाँ पर ब्रह्म के स्वरूपभूत पापाभावादि विशेषणों का ही ग्रहण होता है, सत्यकामत्वादि का नहीं]। यदि अभाव को भी अधिकरण-स्वरूप न माना जाय, तब पापाभावादि विशेषणों का भी 'तत्' पद से परामर्श न होकर केवल विशेष्य वस्तु का ही वैसे ही परामर्श होगा,

न्यायामृतम्

सह जिज्ञास्यत्वश्रवणाच्च । अपहतपाप्मत्वादीनामप्युपास्यत्वे तस्य भूताकाशेऽपि (सम्भवेन) सत्त्वेन दहराकाशस्य ब्रह्मत्वप्रतिपादकदहराधिकरणविरोधः । "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपति" रित्यादिधर्मानुक्त्वा तेषां "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती" ति ममुक्षुज्ञेयत्वोक्तेश्च । "यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवी" त्याद्युक्त्वा "तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा" इत्यपरोक्षप्रमाविषयत्वोक्तेश्च । तुरीयं सर्वदृक्सदे" ति तुरीये सार्वज्ञ्यश्रवणाच्च । "सत्यः सोऽस्य महिमे" त्यादौ साक्षात्सत्यत्वश्रुतेश्च । अत्र होममात्रानुवादेन आहवनीयस्येव स इति श्रुत्युक्तमहिममात्रानु-

अद्वैतसिद्धिः

शमात्रपरामर्शः यश्चित्रगुर्बहुधनस्तमानयेत्यादिवत् । अत एव—'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपति'रित्यादिधर्मानुक्त्वा तेषां 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती'त्यादौ मुमुक्षुज्ञेयत्वेनोक्तेः 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवी'त्युक्त्वा 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा' इत्यपरोक्षप्रमाविषयत्वस्योक्तेः 'तुरीयं सर्वदृक्सदे'ति तुरीयसार्वज्ञ्यश्रुतेश्च सर्वज्ञत्वादीनां सत्यत्वादिसिद्धिरिति—निरस्तम् ।

यत्त्वपहतपाप्मत्वादीनामुपास्यत्वे तेषां भूताकाशेऽपि सम्भवेन दहराकाशस्य ब्रह्मत्वप्रतिपादकदहराधिकरणविरोध इति, तन्न; चेतनधर्मात्यन्ताभावस्य पाप्मादिविरहस्याचेतने सम्भवेऽपि कामसङ्कल्पादेरचेतने संभावयितुमशक्यत्वेन विरोधाभावात् ।

यत्तु 'सत्यः सोऽस्य महिमे'त्यत्र होममात्रानुवादेनाहवनीयस्येव स इति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जैसे कि "यः चित्रगुः, बहुधनः, तमानय'—यहाँ पर गो और धनादि विशेषणों से रहित केवल चैत्रादि विशेष्य वस्तु का 'तत्' पद से ग्रहण होता है ।

शङ्का—"एष सर्वेश्वरः एष भूताधिपतिः" (बृह० उ० ४।४।२२) इस प्रकार ब्रह्म के सर्वेश्वरत्वादि गुणों का अभिधान कर "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" (बृह० उ० ४।४।२२) इस वाक्य के द्वारा पूर्वोक्त गुणों के सहित ब्रह्म को मुमुक्षुओं का ज्ञेय कहा है । "यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि" (मुं० २।२।७) यहाँ सर्वज्ञत्वादि धर्मों को दिखाकर 'तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः" (मुं० २।२।७) इस प्रकार उक्त सर्वज्ञत्वादि धर्मों से युक्त ब्रह्म को अपरोक्ष प्रमा का विषय कहा है एवं "तुरीयं सर्वदृक् सदा" (गौड़० का० १।१२) यहाँ तुरीय (शुद्ध ब्रह्म) को सर्वज्ञ कहा गया है– इन सभी निर्देशों से सर्वज्ञत्वादि गुणों की सत्यता और ज्ञेयता स्पष्ट है ।

समाधान—यह शङ्का भी पूर्वोक्त समाधान से ही निरस्त हो जाती है कि विशेष्य के (स्वरूपभूत) योग्य विशेषण ही क्रियान्वयी होते हैं, सभी नहीं ।

यह जो कहा गया है कि ब्रह्मस्वरूप पापाभावादि गुणों का उपास्य-कक्षा में प्रवेश मानने पर भूताकाश में भी अधिकरणरूप पापाभावादि गुण सम्भावित हो जाते हैं, अतः भूताकाश को भी ब्रह्म कहा जा सकता है, तब दहराधिकरण (ब्र० सू० १।३।५) में भूताकाश को ब्रह्म न कह कर केवल दहराकाश को ब्रह्म कहना विरुद्ध पड़ जाता है ।

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि चेतन के अत्यन्ताभावादि धर्म जड़ में सम्भावित होने पर भी काम, सङ्कल्पादि भूताकाश में सम्भावित नहीं, अतः उसे ब्रह्मस्वरूप न कहना विरुद्ध नहीं ।

यह जो कहा गया है कि जैसे "यदाहवनीये जुह्वति" (तै० ब्रा० १।१।१०।५) यहाँ

न्यायामृतम्

वादेन सत्यत्वस्य विधानात्। सत्यः सोऽस्य महिमे" त्यादेरैन्द्रसूक्तस्थत्वेऽपि "तत्त्वाया-मि" सुवीर्यं तद्ब्रह्म पूर्वचित्तय' इति ब्रह्मश्रुत्या इन्द्रः सूर्यमरोचयद् इन्द्र ह विश्वा भुवनानि येमिर" त्यादि सूर्यप्रकाशकत्वादिलिंगैश्च ज्योतिरधिकरणन्यायेन सूक्तस्य परमेश्वर-परत्वात्। इयं श्रुतिर्व्यावहारिकसत्त्वपरा चेद्ब्रह्मसत्त्वश्रुतिरपि प्रातिभासिकसत्त्वप-

अद्वैतसिद्धिः

श्रुत्युक्तमहिममात्रानुवादेन सत्यत्वविधानात् सार्वज्ञ्यादिकमपि सत्यम्। 'सत्यः सोऽस्य महिमे'त्यादेरैन्द्रसूक्तस्थत्वेऽपि 'तत्त्वायामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तय' इति ब्रह्मश्रुत्या 'इन्द्रः सूर्यमरोचयत्। इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर' इत्यादिसूर्यप्रकाश-कत्वलिङ्गेन च ज्योतिरधिकरणन्यायेन सूक्तस्य परमेश्वरपरत्वव्यवस्थितेरिति, तन्न; निर्गुणत्वश्रुतिविरोधेन स्वरूपमहत्त्वस्यैव सत्यत्वोक्तेः, षष्ठ्या उपचरितत्वाद्, धर्माणामपि व्यावहारिकसत्यत्वोक्तेः। न च ब्रह्मसत्त्वमपि तथा; सत्यस्य सत्यमिति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पर 'जुहोति, से होम का अनुवाद कर अधिकरणत्वेन आहवनीय का विधान किया जाता है, वैसे ही 'सत्यः सोऽस्य महिमा" (बृह० उ० १।१।२) यहाँ पर 'सः' पद से महिमा का अनुवाद कर सत्यत्व का विधान किया गया है, अतः सार्वज्ञ्यादि गुण भी सत्य ही होते हैं। यद्यपि सत्यः सोऽस्य महिमा" यह वाक्य ऐन्द्र सूक्त का एक भाग है—

"येनासमुद्रमसृजो महीरपः तदिन्द्र वृष्णि ते शवः।
सत्यः सोऽस्य महिमा न सन्नशे यं क्षोणीरनुचक्रत्॥'

[हे इन्द्र! जिस बल के द्वारा आपने समुद्र पर्यन्त विपुल जल-राशि की सर्जना की, वह आप की बृहद् बलात्मिका महिमा सत्य है, कभी नष्ट नहीं होती, उस महिमा का यह क्षोणी (पृथिवी) अनुगमन करती है]। इस ऐन्द्री ऋचा का भागभूत 'सत्यः सोऽस्य महिमा"—यह वाक्य-खण्ड भी इन्द्र देवता का ही प्रकाशक है। तथापि पौर्वापर्य पर्यालोचना के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त ऐन्द्र सूक्त परमेश्वरपरक है, क्योंकि उसी सूक्त में ये ऋचाएँ भी हैं—

तत्त्वायामि सुवीर्यं तद्ब्रह्म पूर्वचित्तये
येनायतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ।
इन्द्रो महारोदसि पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत्
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिरे इन्द्रे सुवाना स इन्दवः॥

[पूर्वतन महर्षियों के द्वारा चिन्तनीय उस अपार शक्ति-सम्पन्न ब्रह्म तत्त्व का मैं आश्रय ले रहा हूँ, जिसके आधार पर हे इन्द्र! आपने अयतिगणों से धन छीन कर भृगु ऋषि को दिया और प्रस्कण्व ऋषि की रक्षा की॥ इन्द्र ने अपने बल के प्रभाव से द्यावापृथिवी का विस्तार किया, सूर्य को प्रकाशित किया, उस इन्द्र में ही समस्त विश्व निहित है] इन ऋचाओं में ब्रह्म का निर्देश तथा सूर्यादि-भासकस्वरूप ब्रह्म का असाधारण सामर्थ्य वर्णित है। "ज्योतिश्चरणाभिधानात्" (ब्र० सू० १।१।२४) इस सूत्र में यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि ब्रह्म-सामर्थ्य प्रकाशन रूप लिङ्ग प्रमाण जहाँ भी सुलभ हो, वहाँ वर्ण्य वस्तु को ब्रह्मपरक ही समझना चाहिए।

समाधान—ब्रह्म के धर्मभूत गुणों को सत्य मानने में निर्गुण-श्रुति का विरोध

न्यायामृतम्

राऽस्तु। न चात्र मानान्तरप्राप्तिरस्ति। अत्र निर्गुणवाक्यं बाधकं चेत्, तत्राप्यसद्वा इत्यादिवाक्यं बाधकम्। तद् अव्यक्तत्वाद्यभिप्रायं चेत्, इदमपि त्रैगुण्यराहित्याद्यभिप्रायम्। यदि च ब्रह्मभ्रमाधिष्ठानत्वात्सत्, तर्हि तत एव सविशेषम्। न च निर्गुणस्यारोपरूपोपासनाविषयत्वे तज्ज्ञानान्मुक्त्ययोगः। धर्मिज्ञानाधीनसन्देहसापेक्षवेदान्तविचारसाध्यसप्रकारकज्ञानस्यैव मोचकत्वोक्तेः। उपासनान्तराणामिव श्रुतिबलादेव विचित्रफलत्वोपपत्तेश्च। सगुणेऽपि साम्यापत्तेश्च। पृथगात्मान" मित्यादि श्रुतिषु—

यो मामशेषदोषोज्झं गुणसर्वस्वबृंहितम्।
जानात्यस्मै प्रसन्नोऽहं दद्यां मुक्तिं न चान्यथा॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्व (भूत) लोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

अद्वैतसिद्धिः

निरतिशयसत्त्वप्रतिपादनविरोधाद्, अधिष्ठानत्वानुपपत्तेश्च। न च तत एव सविशेषत्वम्; निर्विशेषत्वेऽपि तत्त्वस्योपपादितत्वात्। न च—'पृथगात्मान' मित्यादिश्रुतिषु—

यो मामशेषदोषोज्झं गुणसर्वस्वबृंहितम्।
जानात्यस्मै प्रसन्नोऽहं दद्यां मुक्तिं न चान्यथा॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होता है, अतः स्वरूपभूत महिमा को ही सत्य कहा जा सकता है। 'सत्यः सोऽस्य महिमा'—यहाँ पर षष्ठी विभक्ति 'राहोः शिरः'—के समान औपचारिक है। दूसरी बात यह भी है कि धर्मभूत गुणों की भी व्यावहारिक सत्यता हमें भी स्वीकृत है। ब्रह्म-सत्त्व या ब्रह्म-सत्यता को भी व्यावहारिक सत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि "सत्यस्य सत्यम्" (बृह० उ० २।३।६) यह श्रुति कहती है कि वह सत्य पदार्थों का भी सत्याधिष्ठान है, अर्थात् निरतिशय या परमार्थ सत्य है। यदि ब्रह्म की सत्यता भी आपेक्षिक मानी जाती है, तब वह प्रपञ्च का अधिष्ठान भी नहीं हो सकेगा। यदि कहा जाय कि ब्रह्म में सर्वाधिष्ठानता का निर्वाह करने के लिए ही, उसे शुक्त्यादि के समान सामान्य और विशेष धर्मों से युक्त माना जाता है, अन्यथा विशेषतः अज्ञातत्वरूप अधिष्ठानत्व उसमें कैसे बनेगा ? तो वैसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म में भी सर्वाधिष्ठानता का उपपादन किया जा चुका है।

शङ्का—ब्रह्म का सप्रकारक ज्ञान ही मोक्ष का हेतु होता है, निष्प्रकारक नहीं, क्योंकि "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा" (श्वेता० १।६) यह श्रुति स्पष्ट कहती है कि ब्रह्म को जीव और उसके प्रेरक ईश्वर—दोनों से पृथक् अखण्डानन्दरूप से जान लेने पर ही मोक्ष का लाभ होता है। स्मृति भी कहती है—

यो मामशेषदोषोज्झं गुणसर्वस्वबृंहितम्।
जानात्यस्मै प्रसन्नोऽहं दद्यां मुक्तिं न चान्यथा॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ (गी० ५।२९)

न्यायामृतम्

इत्यादि स्मृतिषु च सविशेषज्ञानादेव मोक्षोक्तेः। तस्य तथोपासना कर्तव्यतापरत्वे सगुणोपासनाविशेषार्थवादत्वेनानिर्गुणज्ञानान्मुक्तिश्रुतिरपि तथा स्यात्। एतेन एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य सत्यः सोऽस्य महिमे' त्यादेरपि तथोपासनापरत्वादिकं निरस्तम्, श्रूयते च दिर्गुणज्ञानस्यापि फलान्तरं "स यो ह वैतत्परमं ब्रह्म वेद नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत" इत्यादौ श्रुतिबलान्निर्गुणज्ञानस्य संयोगपृथक्त्वन्यायेन मुक्तिरपि फलं चेत्, सगुण-

अद्वैतसिद्धिः

इत्यादिस्मृतिषु च सविशेषज्ञानादेव मोक्षोक्तेः सप्रकारकज्ञानस्यैव मोचकत्वमिति—वाच्यम्; परममुक्तिहेतुनिर्गुणसाक्षात्कारोपयोगिसत्त्वशुद्ध्युपायसगुणोपासनाविध्यर्थवादतया साक्षान्मुक्तिहेतुत्वाप्रतिपादकत्वात्। न च निर्गुणज्ञानान्मुक्तिश्रुतिरपि तथा; तत्परत्वातत्परत्वाभ्यां वैषम्यात्; सगुणज्ञानस्य फलान्तरश्रवणाच्च। यद्यपि 'नास्याब्रह्मवित्कुले भवती' त्यादिफलान्तरश्रवणं निर्गुणज्ञानेऽपि, स्तुत्यर्थतयोपपादनमपि समानम्, संयोगपृथक्त्वन्यायेन उभयफलत्वोक्तिरपि समाना; तथापि अधिष्ठानतत्त्वावगाहित्वानवगाहित्वाभ्यां निर्गुणसगुणज्ञानयोर्विशेषात्, सगुणज्ञानजन्यमुक्तेरवान्त-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इससे भी यही सिद्ध होता है कि अशेष दोष-विनिर्मुक्त, सौहार्दत्वादि निखिल कल्याण गुण-गुणालङ्कृत परमेश्वर का ज्ञान ही मोक्ष-प्रद होता है।

समाधान—परम मुक्ति का एक मात्र हेतु होता है—निर्गुण वस्तु का निर्विकल्पक सक्षात्कार, उसका उपकारक अन्तःकरण-शोधन है, सगुणोपासना से सत्त्व-शुद्धि होती है, सगुणोपासना-विधि के अङ्गभूत अर्थवादों में ही उक्त श्रौत-स्मार्त वाक्य आते हैं, अतः वे परम मुक्ति के साधन का विधान नहीं करते, अपितु परम्परया उपयोगी पदार्थ मात्र का अभिधान करते हैं। 'यदि सगुण-ज्ञान से मुक्ति के प्रतिपादक वाक्य अर्थवाद या परम्परया उपकारक मात्र के बोधक हैं, तब निर्गुण-ज्ञान से मुक्ति के प्रतिपादक श्रुति-वाक्य भी वैसे ही अर्थवादादिरूप क्यों नहीं माने जाते ?' इस शङ्का का समाधान कई बार किया जा चुका है कि स्वार्थपरक वाक्य और अतत्परक वाक्यों में महान् वैषम्य होता है, निर्गुण-ज्ञान से मुक्ति के प्रतिपादक वाक्य मुख्य स्वार्थपरक और सगुण-वाक्यों में मुख्यार्थपरता नहीं मानी जाती।

यद्यपि सगुण-ज्ञान के ही समान निर्गुणज्ञान की भी स्तुति उपलब्ध होती है—"नास्याब्रह्मवित्कुले भवति" (मां० उ० १०) अर्थात् इस ज्ञानी के कुल में अब्रह्मज्ञ पुरुष जन्म नहीं लेता। इसी प्रकार सगुण-ज्ञान के ही समान निर्गुण-ज्ञान के भी दोनों ही फल माने जाते हैं—(१) परममुक्ति तथा (२) अर्थवादोक्त ज्ञानिकुल में अब्रह्मज्ञादि का जन्माभाव, क्योंकि "एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्" (जं. सू. ४।३।५) इस सूत्र में यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि एक ही वस्तु उभयार्थक होती है, यदि संयोग (विनियोजक वाक्य) पृथक् उपलब्ध होते हैं, अतः एक ही ब्रह्म-ज्ञान मुख्य और गौण उभयार्थक माना जाता है, क्योंकि "नास्याब्रह्मवित् कुले भवति"—यह वाक्य ब्रह्म-ज्ञान में अब्रह्मविज्जन्माभावफलकत्व और 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'—इत्यादि वाक्य ब्रह्म-ज्ञान में मुक्ति फलकत्व का प्रतिपादन करता है।

तथापि निर्गुण-वाक्य अधिष्ठान तत्त्वावगाही और सगुण-वाक्य अधिष्ठान तत्त्वा-

न्यायामृतम्

ज्ञानस्यापि तथास्तु । न च सगणज्ञानाच्छुता मुक्तिरवान्तरा "पुण्यपापे विधूये"ति सर्वकर्मनिवृत्त्युक्तेः । अन्यथा निर्गुणज्ञानाच्छुताप्यवान्तरैव । परममुक्तिस्तु "असन्नेव स भवती"ति श्रुत्युक्ता शून्यतापत्तिरिति स्यात् । एतेन सगुणवाक्यं निष्प्रपंचप्रकरणस्थं चेन्निषेधायानुवादकं उपासनाप्रकरणस्थं चेदुपासनार्थमिति निरस्तम्, गुणविशेषविधिसन्निहितस्य सामान्यनिषेधकस्य निष्प्रपंचवाक्यस्य विहितगुणानिषेध-

अद्वैतसिद्धिः

रमुक्तित्वाच्च । न च - 'पुण्यपापे विधूये'ति सर्वकर्मनिवृत्त्युक्तेः परममुक्तित्वमेवेति—वाच्यम्; अस्य ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारहेत्वतिरिक्तकर्मपरत्वात्, अविद्यानाशाभावाच्च परममुक्तत्वासिद्धेः । न च—निर्गुणज्ञानजन्याया अपि मुक्तेरवान्तरत्वम्, 'असन्नेवे'ति श्रुत्युक्तशून्यतायाः परममुक्तित्वमिति—वाच्यम्; शून्यताया असुखरूपत्वेनापुरुषार्थत्वात्, असन्नेवेत्यादिवाक्यस्य शून्यत्वाप्रतिपादकत्वाच्च । यत्तु गुणविशेषविधिसन्निहितस्य सामान्यनिषेधकस्य निष्प्रपञ्चवाक्यस्य विहितगुणनिषेधकत्वं नास्तीति, तन्न; बाधकस्य निषेधकप्रामाण्यसमकक्ष्यत्व एव सङ्कोचादत्र तदभावात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नवगाहो होते हैं, अतः निर्गुण-ज्ञान में मुक्ति हेतुत्वप्रतिपादक शास्त्र ही स्वार्थ-प्रमापक है। सगुणज्ञान में मुक्ति-हेतुत्व-प्रतिपादक शास्त्र भी अत्यन्त अप्रमाण नहीं, क्योंकि सगुणज्ञान-जन्य मुक्ति को भी अवान्तर मुक्ति माना जाता है।

शङ्का—सगुण-ज्ञान से प्राप्त होने वाली मुक्ति मानना होगा, अवान्तर या गौण मुक्ति नहीं, क्योंकि श्रुति कहती है कि सगुण-ज्ञान से सभी प्रकार के पुण्य-पापादि कर्म समाप्त हो जाते हैं—

"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥

निखिल कर्मों का प्रक्षय परम मुक्ति के ही पूर्व होता है, अतः सगुण-ज्ञान-जन्य मुक्ति को परम मुक्ति ही मानना आवश्यक है।

समाधान—उक्त श्रुति में 'पुण्यपापे विधूय' का तात्पर्य ब्रह्मतत्त्व-साक्षात्कार-जनक कर्म से भिन्न कर्मों के नाश में ही है। सगुण-ज्ञान से अविद्या का नाश न होने के कारण परम मुक्ति सिद्ध नहीं हो सकती।

शङ्का—निर्गुण-ज्ञान-जन्य मुक्ति भी अवान्तर मुक्ति ही है, क्योंकि आप की परम मुक्ति में आनन्दरूपता बनी रहती है, सर्व-शून्यताप्ति नहीं होती और "असन्नेव भवति" (तै. उ. २।६।१) यह श्रुति सर्व-शून्यता को ही परम मुक्ति कहती है।

समाधान—मुक्ति को परम पुरुषार्थ माना जाता है, पुरुषों के द्वारा जो सहजतः अभिलषित हो, उसे पुरुषार्थ कहते हैं, स्वभावतः पुरुषों की अभिलाषा सुखविषयिणी ही होती है, शून्यविषयिणी नहीं अतः अद्वैत-सम्मत आनन्दरूपताप्ति को ही परम मुक्ति कहा जा सकता है, शून्यताप्ति को नहीं। दूसरी बात यह भी है कि "असन्नेव"—यह वाक्य शून्यता का प्रतिपादक भी नहीं माना जाता, अपितु प्रपञ्च की सृष्टि से पूर्व कारणरूपता का बोधक माना जाता है—यह ऊपर कहा जा चुका है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि निर्गुण-वाक्य को जो निषेध्यार्थानुवादक माना जाता है, वह उचित नहीं, क्योंकि 'नेह नानास्ति' यह निषेध वाक्य सामान्य विषयक

न्यायामृतम्

कत्वात्। प्राप्त्यभावेन सगुणवाक्यस्यानुवादकत्वाच्च। अन्यथा असद्वा इदमग्र आसीत्" "इदं वा अग्रे नैव किंचनासीदि"ति "सर्वनिषेधप्रकरणस्थं रसो वै स" इत्यादिकमपि निषेधाय ब्रह्मानुवादकं स्यात्। उपासनाप्रकरणस्थत्वमात्रेण चोपास्यत्वे उद्गीथोपासनाप्रकरणस्थस्य स एषोऽनन्त" इति श्रुतानन्तत्वादेरपि भूताकाशे उपासनामात्रमिति सुवचत्वेनाकाशाद्यधिकरणेषु अनन्तत्वादिलिंगैर्ब्रह्मत्वोक्त्ययोगाच्च। अनुपास्तिप्रकरणेऽपि सत्यकामत्वादेः श्रवणाच्च। यदि च "वेधाद्यर्थभेदादि"ति सूत्रे

अद्वैतसिद्धिः

यत्तूपासनाप्रकरणस्थत्वमात्रेण उपास्यत्वे उद्गीथोपासनास्थस्य 'स एषोऽनन्त' इति श्रुतानन्तत्वादेर्भूताकाश उपासनामात्रमिति सुवचत्वेनाकाशाद्यधिकरणे अनन्तत्वादिलिङ्गैर्ब्रह्मत्वोक्त्ययोग इति, तन्न; उपासनाप्रकरणस्थत्वेऽपि निर्गुणश्रुति-विरोधाभावेन तात्त्विकत्वाङ्गीकारात्, तस्य चाकाशादावसंभवेन तदधिकरणारम्भ-संभवात्। यत्तु सत्यकामत्वादेरनुपास्तिप्रकरणे श्रवणमिति, तन्न; पूषाद्यनुमन्त्रण-मन्त्रवत् प्रकरणादुत्कृष्टत्वस्य द्वादशोपसत्तावाक्यवत् स्तावकत्वस्य वा सम्भवात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है और 'यः सर्वज्ञः'—इत्यादि वाक्य विशेष गुण के विधायक है, विशेष-विधि के सन्निहित सामान्य-निषेध विशेष गुणों का निषेध नहीं कर सकता, अतः निष्प्रपञ्चता-र्थक वाक्य विहित गुणों का निषेध नहीं कर सकता।

न्यायामृतकार का वह कहना संगत नहीं, क्योंकि बाध (अपवाद) और निषे-धक—दोनों का जहाँ प्रामाण्य समान होता है, वहाँ ही निषेध शास्त्र पूर्णतया निषेधक न होकर संकुचितार्थक होता है, किन्तु प्रकृत में विशेष गुण-विधायकरूप बाधक का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं और गुण-निषेधक शास्त्र का स्वार्थ में तात्पर्य माना जाता है, अतः दोनों का समकक्ष प्रामाण्य न होने के कारण निषेधक शास्त्र विहिताविहित समस्त गुणों का निषेध कर सकता है।

यह जो कहा गया है कि यदि उपासना के प्रकरण में पठित होने मात्र से सर्वज्ञत्वादि उपास्य हो जाते हैं, ज्ञेय नहीं रहते, तब उद्गीथोपासना के प्रकरण में पठित "स ऐषोऽनन्तः" (छां० १।९।२) इस वाक्य से प्रतिपादित 'अनन्तत्व' गुण भी उपास्य ही माना जायगा, फिर तो आकाशाधिकरण (ब्र. सू. १।१।८) में आकाशगत अनन्तत्व की अनुपपत्ति दिखाकर आकाश को ब्रह्मपरक माना गया है, वह संगत नहीं रह जाता, क्योंकि भूताकाश में भी अनन्तत्व उपास्य हो सकता है।

वह कहना समीचीन नहीं क्योंकि उपासना के प्रकरण में पठित पदार्थ का यदि निर्गुण-श्रुति से विरोध नहीं आता, तब उसे तात्त्विक ही माना जाता है, तात्त्विक अनन्तत्व भूताकाश में सम्भव नहीं, अतः उस अनन्तत्व के आधार पर आकाश पद को ब्रह्मपरक मानना अत्यन्त समुचित है। यह जो कहा गया है कि सत्यकामादि गुण उपासना के प्रकरण में अवस्थित नहीं, वह कहना अनुचित है, क्योंकि जैसे पूषानुमन्त्रण मन्त्र दर्शपूर्णमास-प्रकरण में पठित होने पर भी विषयवस्तु की दृष्टि से पूष-याग के प्रकरण का ही समझा जाता है, वैसे ही अप्रकरणस्थ अपहतपाप्मत्वादि भी। ["पूष्णोऽहं देवयज्यमा पुष्टिमान् पशुमान् भूयासम्" (का. सं. ४।१६) इत्यादि पूषानु-मन्त्रण मन्त्र यद्यपि दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित है, तथापि वहाँ पूष देवता का

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अभाव होने के कारण इन मन्त्रों का दर्शपूर्णमास में विनियोग नहीं हो सकता, अतः लिङ्ग प्रमाण के द्वारा पूषदेवताक कर्म में विनियोग होता है, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

यागानुमन्त्रणानीति समाख्या क्रतुयोजिनी।
तस्माच्छक्त्यानुरोधेन प्राप्तिस्तद्देवते क्रतौ॥ (तं. वा० पृ० ७५१)

[पूषानुमन्त्रण मन्त्रों की याज्ञिकों द्वारा कल्पित समाख्या—'यागानुमन्त्रणानि' है, अतः समाख्या प्रमाण उक्त मन्त्रों में याग-सामान्य की अङ्गता सिद्ध करता है, प्रकरण प्रमाण दर्शपूर्णमास की अङ्गता सूचित करता है, किन्तु उन दोनों प्रमाणों से शब्द-सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रमाण प्रबल है, अतः पूषदेवताक याग की अङ्गता ही स्थिर रहती है और दर्शपूर्णमास के प्र..रण से उक्त मन्त्रों का विच्छेद कर पूषयाग के प्रकरण से सम्बन्ध जोड़ा जाता है, उसी प्रकार का 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इत्यादि का सगुणोपासना-प्रकरण के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है]।

अथवा द्वादशोपसत्संज्ञक होम का विधायक वाक्य जैसे प्राकरणिक अन्यार्थ का स्तावक है, वैसे ही 'सत्यकामः'—इत्यादि वाक्य भी निर्गुण तत्त्व के स्तावक होते हैं [ज्योतिष्टोमसंज्ञक सोमयाग में सोमाभिषव (सोम-रस निकालने) की प्रक्रिया एक ही दिन की जाती है, अतः ज्योतिष्टोम को साह्न कहते हैं और जिन सोम-यागों में सोमाभिषव का अनुष्ठान कई दिन किया जाता है, उन्हें 'अहीन' कर्म कहते हैं। "तिस्रः एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य" (तै० सं० ६।२।५।१) यह विधि वाक्य कहता हैं कि ज्योतिष्टोमरूप साह्न कर्म में तीन उपसत्संज्ञक (सोमाभिषव से पूर्व क्रियमाण) होम होते हैं और अहीन कर्मों में बारह उपसत् होम किये जाते हैं। किन्तु यह वाक्य ज्योतिष्टोम के प्रकरण में अवस्थित है, अतः इसका प्रकरण में विकल्पादि मान कर किसी प्रकार समन्वय किया जाय ? अथवा ज्योतिष्टोम के प्रकरण से हटाकर अहीन कर्मों में उत्कृष्ट किया जाय ? इस प्रकार का सन्देह होने पर सिद्धान्त किया है—"असंयोगात्तु मुख्यस्य तस्मादपकृष्येत" (जै. सू. ३।३।१६) इसका अर्थ वार्तिककार ने किया है—

मुख्यः प्रथमकार्यत्वाज्ज्योतिष्टोमोऽभिधीयते।
अहीनशब्दसंयोगो न तु तस्य कथंचन॥
असंयोगाच्च तेनास्य या संख्या तेन संगता।
न सा प्रकरणात्तस्य तेनास्मादपकृष्यते॥ (तं. वा. पृ. ८६३)

अर्थात् विधिवाक्यस्थ 'अहीन' शब्द का सम्बन्ध ज्योतिष्टोम से नहीं हो साकता, क्योंकि "अह्नः खः क्रतौ" (का० वा० ४।२।४३) इस वार्तिक से निष्पन्न अहीन शब्द उस क्रतु (याग) को कहता है, जिसमें कई दिन सोमाभिषव की आवृत्ति की जाती है, ज्योतिष्टोम में केवल एक पञ्चम दिन सोमाभिषवादि होता है, अतः इसे एकाह कहते है, अतः ज्योतिष्टोम के प्रकरण से उक्त वाक्य को हटाकर अहर्गण के साथ सम्बन्धित किया जाता है।

वार्तिककार ने इस अधिकरण में एक नई दिशा प्रदान की है—"त्रित्वमेवास्मिन् वाक्ये सर्वदोषराहित्याद् विधीयते, द्वादशत्वं त्वहीनसम्बन्धिवाक्यान्तरादेव प्राप्तमौचित्यरूपेणास्य स्तुत्यर्थं निवीतादिवदनूद्यते" (तं० वा० पृ० ८६४) अर्थात् ज्योतिष्टोम के प्रकरण से विच्छेद न करके भी उक्त वाक्य का सार्थक्य हो सकता है कि अहर्गणरूप

न्यायामृतम्

त्वद्भाष्योक्तरीत्या यथा सर्वं प्रविध्येत्यादि मंत्राणामुपासनाप्रकरणादुत्कर्षः, तथानन्तादिवाक्यस्यापि। यदि वाऽनन्तादिवाक्यस्योपास्यत्वे वस्तुत्वे च तात्पर्यम्, तर्हि सगुणवाक्यस्यापि तथास्तु। तस्मान्नासदुपासनार्था गुणोक्तिः। अन्यथा सार्वज्ञ्यादिकं वाग्धेनुत्वादिवत् प्रातीमिकमेव स्यात्। किं च न क्वाप्यसदुपासना—

अद्वैतसिद्धिः

यत्तु वेधाद्यर्थभेदादित्यत्र 'सर्वं प्रविध्ये'त्यादिमन्त्राणामुपासनाप्रकरणादुत्कर्षस्योक्तत्वेन तन्न्यायेनानन्तादिवाक्यस्योत्कर्षः स्यात्, तस्य वाक्यस्योपास्तिपरत्वे वस्तुतत्त्वपरत्वे च सगुणवाक्यस्यापि तथा स्यादिति, तन्न; स्वरूपपरसत्यं ज्ञानमनन्तमित्यादिवाक्ये अनन्तत्वादेः स्वत एव सत्त्वेन उत्कर्षे प्रयोजनाभावात्, तस्य वस्तुतत्त्वमात्रपरत्वेन उभयपरत्वाभावाच्च, उपास्तिप्रकरणस्थानन्तवाक्यस्य उभयपरत्वेऽपि निर्गुणश्रुतिविरोधेन सगुणवाक्यस्योभयपरत्वाभावात्। न चैवं सार्वज्ञ्यादीनां वाग्धेनुत्वादिवत् प्रातीतिकत्वापत्तिः, वाग्धेनुत्वादेर्बुद्धिपूर्वकारोपविषयतया प्रातीतिकत्वेऽपि सत्यकामत्वादेरीश्वरादन्यत्रासंभवेन बुद्धिपूर्वकारोपविषयत्वाभावात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अहीन कर्मों में उपसत्संज्ञक होम बारह होते हैं, अतः वहाँ अनुष्ठान में गौरव, किन्तु ज्योतिष्टोमगत उपसत् केवल तीन होते हैं, अतः यहाँ लाघव है]।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि जैसे—"वेधाद्यर्थभेदात्" (ब्र. सू. ३।३।२५) इस सूत्र में कहा है कि "सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रवृध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोऽभिवृज्य त्रिधा विपृक्तः"—इत्यादि मन्त्र का जैसे उपासना के प्रकरण से उत्कर्ष (विलग) किया जाता है, वैसे ही "स एषोऽनन्तः" (छां० १।२।९) इस वाक्य को भी उत्कृष्ट कर उपास्य और ज्ञेय वस्तुतत्त्व-उभय का प्रकाशक मानने पर सगुण-वाक्यों को भी वैसा ही माना जा सकता है।

वह कहना अयुक्त है, क्योंकि "स एषोऽनन्तः" (छां० १।२।९) इस वाक्य को निर्गुण-प्रकरण से हटाने की आवश्यकता नहीं, "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" (तै. उ० २।१।२) इत्यादि वाक्य से प्रतिपादित स्वरूपभूत अनन्तत्वादि के रूप में उक्त वाक्य के द्वारा बोधित अनन्तत्व का भी अन्वय सम्भव हो जाता है, अतः "स एषोऽनन्तः"—यह वाक्य केवल ज्ञेय वस्तुतत्त्व का भासक है, उपास्य और ज्ञेय—उभयरूप का नहीं, किन्तु निर्गुण-श्रुतियों का विरोध होने के कारण सगुण-वाक्य उभयपरक नहीं हो सकते।

शङ्का—ब्रह्म में सर्वज्ञत्वादि गुण यदि पारमार्थिक नहीं, अपितु उपासनार्थ वैसे ही आरोपित होता है, जैसे "वाचं धेनुमुपासीत" (बृह. उ. ५।८।१) इस वाक्य के द्वारा वाणी में उपासनार्थ धेनुत्व का आरोप। तब धेनुत्व के समान ही सर्वज्ञत्वादि को प्रातिभासिक मानना होगा।

समाधान—धेनुत्व और सर्वज्ञत्वादि का महान् अन्तर है कि वाणी से अन्यत्र गौ में धेनुत्व प्रसिद्ध है, अतः उपासक अपनी व्यावहारिक बुद्धि के द्वारा व्यावहारिक वाणी में धेनुत्व का आरोप करता है, अतः वह प्रातीतिक है और सर्वज्ञत्वादि धर्म ब्रह्म से अन्यत्र प्रसिद्ध नहीं, अतः उपासक अपनी व्यावहारिक बुद्धि के द्वारा उनका आरोप नहीं कर सकता, अपितु 'वाचं धेनुमुपासीत"—इस श्रुति के द्वारा पारमार्थिक ब्रह्म में आरोपित होने के कारण सर्वज्ञत्वादि व्यावहारिक ही हैं, प्रातीतिक नहीं।

न्यायामृतम्

नाविद्यमानं ब्रुवते वेदा ध्यातुं न वैदिकाः।
न च रमंत्यहो असदुपासनयात्महनः॥

इत्यादिस्मृतिभिः । "अचेतनासत्यायोग्यान्यनुपास्यान्यफलत्वविपर्ययाभ्या"मिति सांकर्षणसूत्रेण च तन्निषेधात् । "वाचं धेनु" मित्यत्रापि धेनुमिवायतीमिति श्रुत्यन्तराद्धेनुशब्दो गौणः । 'योषितमग्निं ध्यायीते'त्यत्रापि रेतो जुह्वती"ति श्रुतेर्योषितो रेतोरूपाहुत्याधारत्वादग्निशब्दो गौणः । छान्दोग्यभाष्यरीत्या यौगिको वा, न त्वारोपः ।

अद्वैतसिद्धिः

ननु– असदुपासना न घटते, 'नाविद्यमानं ब्रुवते वेदा ध्यातुं न वैदिकाः । न च रमन्त्यहो असदुपासनयात्महन' इत्यादिस्मृत्या 'अचेतनासत्यायोग्यान्यनुपास्यान्यफलत्वविपर्ययाभ्या' मिति सङ्कर्षणसूत्रेणापि निषेधादिति—चेन्न, स्मृतिसूत्रयोरत्यन्तासदुपास्तिनिषेधपरतया तद्विरोधाभावाद्, 'वाचं धेनुमुपासीते' त्यादौ प्रातीतिकस्याप्युपास्यत्वदर्शनाच्च । न च—तत्र 'रात्रिं धेनुमिवायतीमिति श्रुत्यन्तराद्धेनुशब्दो गौणः, 'योषितमग्निं ध्यायीते' त्यत्रापि 'रेतो जुह्वती'ति श्रुतेः रेतोरूपाहुत्याधारत्वे-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—असत् पदार्थों की उपासना सम्भव नहीं, क्योंकि स्मृति-वाक्य असदुपासना का निषेध करता है—

नाविद्यमानं ब्रुवते वेदा ध्यातुं न वैदिकाः।
न च रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनः॥

[यद्यपि वेद और वैदिक महर्षिगण उपासना के लिए असद् धर्मों का उपदेश नहीं किया करते, तथापि निरुपाधिक आत्मतत्त्व में प्राणी रमण नहीं किया करते, अपितु असत् अर्थ की उपासना से आत्मा का हनन किया करते हैं, वेदस्तुति भी कहती है—

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रिय-
वच्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिये आत्मनि च ।
न बत रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनो,
यदनुशयाद् भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥ (भा० १०।८७।२३)]

सङ्कर्षण-सूत्र में भी असदुपासना का निषेध किया गया है—अचेतनासत्यायोग्यान्यनुपास्यान्यफलत्वविपर्ययाभ्याम्" [अचेतन, असत्य, अयोग्य पदार्थ उपासनीय नहीं होते, क्योंकि उनकी उपासना निष्फल और विपरीतफलक होती है] ।

समाधान—कथित स्मृति तथा सूत्र में अत्यन्त असत् की उपासना का निषेध किया गया है, व्यावहारिकसत्ताक वस्तु की उपासना से उनका कोई विरोध नहीं होता, क्योंकि "वाचं धेनुमुपासीत'—इत्यादि वाक्यों में धेनुत्वादि प्रातीतिक पदार्थों की भी उपासना प्रतिपादित है, प्रातीतिक भी पारमार्थिक दृष्टि से असत् ही होता है।

शङ्का—उक्त स्मृति-वाक्यों में जिस असत् की उपासना का निषेध किया गया है, उसका अभिप्राय आरोपित या अध्यस्त से है। 'वाचं धेनुमुपासीत" (बृह० उ. ५।८।१) यहाँ पर 'धेनु' शब्द वैसे ही गौण है, जैसे "यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमिवायतीम्" इस श्रुति में रात्रिगत धेनु का सादृश्य कहा गया है। "योषितमग्निं ध्यायीत" यहाँ पर भी "रेतो जुह्वति" इस वाक्य के अनुसार वीर्यावसेकरूप आहुति की

न्यायामृतम्

नाम ब्रह्म "त्युपासीतेत्यत्रापि नामाभिमानिनी चोषास्तस्यां ब्रह्म हरिं स्मरेदि"त्यादि स्मृतेः ब्रह्माधिष्ठाने नामादौ ब्रह्मशब्दः। नामेति प्रथमा वा वनं वसति मारुत इत्यादिवत्सप्तम्यर्थे, ब्रह्मेति प्रथमा वा ब्राह्मणोस्य मुख "मितिवत् पञ्चम्यर्थे, सुपां सुलुगित्यादि सूत्राद्, अन्यथा "श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदि"ति पृष्टवन्तं नारदं

अद्वैतसिद्धिः

नाग्निशब्दो गौणः, भाष्योक्तरीत्या यौगिको वा, न त्वारोप इति—वाच्यम्, आरोपेण मुख्यत्वसंभवे गौणताया अन्याय्यत्वात्। न च गौण्युच्छेदः, यत्रोपासनाया अश्रवणं तत्रारोपस्य निष्प्रयोजनत्वेन गौण्युपपत्तेः, रूढार्थस्य कथमपि संभवे यौगिकार्थत्वस्यान्याय्यत्वाच्च। एतेन—'नाम ब्रह्मे'त्यत्र 'नामाभिमानिनी चोषाः तस्यां ब्रह्म हरिं स्मरे'दिति स्मृत्यैव ब्रह्माधिष्ठाने नामादौ गौणो ब्रह्मशब्दः, नामेति प्रथमावचनं वसन्तो मारुत इतिवत् सप्तम्यर्थे, ब्रह्मेति प्रथमा वा पञ्चम्यर्थे, 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासी'दितिवत्, सुपां सुलुगि'ति सूत्राद्, अन्यथा 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवि'दिति पृष्टवन्तं नारदं प्रति नामोपास्त्युक्तिरयुक्ता स्यात्, प्रतिमायामपि देवता-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

आधारता को निमित्त मान कर 'अग्नि' शब्द स्त्री में गौणरूप से प्रवृत्त होता है। अथवा छान्दोग्योपनिषत् के माध्व भाष्य में जैसा कहा गया है—"नारायणादयाः पञ्चक्रमात् पञ्चाग्नयः स्मृताः, अदनाद् अङ्गनेतृत्वात् सुतरामचलत्वतः।" उसके अनुसार 'अग्नि' शब्द को यौगिक माना जा सकता है, किन्तु योषिदादि में अग्नित्वादि समारोप विवक्षित नहीं।

समाधान—जहाँ तक मुख्यार्थ का लाभ हो सकता है, गौण अर्थ गृहीत नहीं होता। आरोप के द्वारा मुख्यार्थ की प्राप्ति हो जाती है, अतः गौण अर्थ मानना सर्वथा अनुचित है। 'इस प्रकार तो गौणी वृत्ति का ही उच्छेद हो जायगा'—ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि जहाँ उपासना का प्रसङ्ग नहीं, वहाँ पर आरोप निरर्थक होने के कारण गौणी वृत्ति को ही अपनाया जाता है। माध्व-भाष्य में जो 'अग्नि' शब्द को यौगिक कहा है, वह भी उचित नहीं, क्योंकि जहाँ तक रूढ़ अर्थ सम्भव होता है, वहाँ तक यौगिक अर्थ नहीं माना जाता, क्योंकि यौगिक अर्थ में अवयवार्थ की अपेक्षा-प्रयुक्त जो गौरव होता है, वह रूढार्थ में नहीं होता।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि "नाम ब्रह्मेत्युपासीत" (छां. ७।१।५) यहाँ पर 'नाम' पद से उषा काल का ग्रहण है, जैसा स्मृति-वाक्य कहता है—"नामाभिमानिनी चोषास्तस्यां हरिं स्मरेत्।" ब्रह्म के अधिष्ठानभूत नाम में 'ब्रह्म' शब्द गौणरूप से प्रयुक्त हुआ है। अथवा नामपदोत्तर 'प्रथमा' विभक्ति वैसे ही सप्तमी के अर्थ में प्रयुक्त हुई है, जैसे कि 'वसन्तो मारुतः'—में। अथवा ब्रह्मपदोत्तर प्रथमा वैसे ही पञ्चमी के अर्थ में प्रयुक्त है, जैसे "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्"—यहाँ मुखपदोत्तर प्रथमा। "सुपां सुलुक्-पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्याजालः" (पा. सू. ७।१।३९) इस सूत्र से वैदिक प्रयोगों में व्याकरण-नियमों का शैथिल्य एवं सौविध्य प्रतिपादित है। "श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृश्येभ्यस्तरति शोकमात्मवित्" (छां. ७।१।३) इस प्रकार शुद्ध आत्मा के विषय में नारद के प्रश्न करने पर 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत'—यह उत्तर दिया गया है। यदि यहाँ नामोपासना का उपदेश किया जाता है, तब प्रश्न का वैषम्य हो जाता है, अतः नामादि की

न्यायामृतम्

प्रति अनात्मोपास्त्युक्तिरयुक्ता स्यात् । प्रतिमायामपि देवताधिष्ठानत्वबुद्धित एव फलं न तु देवतात्वबुद्धितः, ''शिला देव इति ज्ञानं भौम इज्यधी ''रित्यादिना तन्निषेधात् । यथा च अन्यदेव तद्विदितादि''ति श्रुतावश्रौतज्ञानस्याकात्स्न्र्येन ज्ञानस्य वा निषेधः । तथा ''तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासत'' इति श्रुतावपि अश्रौतध्यानस्याकात्स्न्र्येन ध्यानस्य वा निषेधः । अन्यथा तस्याभिध्यानादि''ति श्रुतिविरोधात् । तस्मात्साधका-भावादित्याद्यो न युक्तः ।

अद्वैतसिद्धिः

तत्त्वबुद्धित एव फलम्, न तु देवताऽतत्त्वबुद्धितः, 'शिला देवते'ति ज्ञानस्य भौम इज्यधीरित्यादिना निषेधादिति - निरस्तम्, आरोपेण मुख्यत्वसंभवे गौणत्वस्यान्याय्यत्वात्, समानविभक्तिकत्वाभावे इतिशब्दानन्वयप्रसङ्गात् । एवं प्रतिमादावपि देवतात्वारोपेण मुख्यत्वे गौणत्वमन्याय्यमेव । न च भौम इज्यधीरिति निषेधान्न तथा, तस्य भौमातिरिक्तश्चेतनो देवो नास्तीति भ्रमव्युदा-सपरत्वेनारोपानिषेधकत्वाद्, अनात्मोपास्तेस्तु मुख्यं ब्रह्मोपदेष्टुमेव शाखाचन्द्रन्या-येनावतारितत्वात्, 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' इति गुणविशिष्टस्य उपा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उपासना का प्रसङ्ग छोड़ कर उक्त रीति से ब्रह्म की उपासना का ही उपदेश देना उचित है । प्रतिमादि में भी देवता तत्त्व-बुद्धि से ही फल होता है, न कि देवता की तादात्म्य-बुद्धि, से क्योंकि शिला देवता है'—इस प्रकार के तादात्म्योपदेश का निषेध है—

> यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
> स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
> यस्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचित्,
> जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोचरः ।।

[जिस साधु पुरुष की शव स्वरूप त्रैधातुक शरीर में आत्मबुद्धि, स्त्री-पुत्रादि में स्वीयत्व-बुद्धि, पार्थिव मृन्मय मूर्ति आदि में आराध्य-बुद्धि तथा जल में तीर्थ-बुद्धि कभी नहीं होती, अभिज्ञ पुरुषो में वही श्रेष्ठ माना जाता है]।

समाधान—'नाम ब्रह्मेत्युपासीत''—यहाँ 'इति' शब्द से आरोप-बुद्धि ही ध्वनित होती है, आरोप के द्वारा नामादि मुख्यार्थ की उपासना का जब लाभ हो जाता है, तब गौण प्रयोग मानने की क्या आवश्यकता ? 'नाम और ब्रह्म—दोनों पदों को समानविभक्तिक न मानने पर 'इति' शब्द का अन्वय संगत नहीं होता । इसी प्रकार पार्थिव प्रतिमा आदि में देवतात्व का समारोप कर देवतारूप मुख्यार्थ की उपासना सम्पन्न हो जाती है, अतः गौणत्वान्वेषण अनुचित है । यह जो कहा गया हैं कि भौम विग्रहों में पूज्यत्व-बुद्धि निष्फल है, वह 'भौम पदार्थ से अतिरिक्त कोई चेतन देवता नहीं—इस प्रकार के भ्रम का निराकरण करने के लिए कहा गया है । मुख्य ब्रह्म का उपदेश करने के लिए नामादि अनात्म पदार्थों में ब्रह्मोपासना का उपदेश शाखा-चन्द्र-न्याय को अपनाकर किया गया है, अर्थात् जैसे सहसा द्वितीया का चन्द्र देखने में जो समर्थ नहीं हो रहा है, उसे पहले वृक्ष की कोई शाखा दिखाकर उसके द्वारा चन्द्र-दर्शन कराया जाता है, वैसे ही दुर्बोध शुद्धात्मतत्त्व का सुगमतया बोध कराने के लिए नामादि की उपासना का मार्ग निकाला गया है । नामादि-विशिष्टरूप

न्यायामृतम्

नापि बाधकसद्भावादिति द्वितीयः, सामान्यतो मिथ्यात्वश्रुतिभंगे अखण्डार्थत्वभंगे चोक्तन्यायेनाद्वैतश्रुत्यादीनामबाधकत्वात्। नापि निर्गुणवाक्यं बाधकम्,

अद्वैतसिद्धिः

स्यस्य ब्रह्मत्वनिषेधाच्च। न च—'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधी'ति श्रुतौ अश्रौतज्ञानस्याकार्त्स्न्येन ज्ञानस्य वा निषेध इति 'तदेव ब्रह्म'त्यादावपि अश्रौतध्यानस्याकार्त्स्न्येन ध्यानस्य वा निषेधेन नोपास्यस्य ब्रह्मत्वनिषेधः, अन्यथा 'तस्याभिध्यानादि'ति श्रुतिविरोध इति—वाच्यम्, अन्यदेवेत्यादौ विदितात् प्रमेयाद् घटादेरप्रमेयाच्छशविषाणादेर्वैलक्षण्येन स्वप्रकाशत्वप्रतिपादनपरतया त्वदुक्तार्थादृष्टान्तत्वात्। उपास्ये ब्रह्मत्वनिषेधेऽपि न 'तस्याभिध्याना'दिति श्रुतिविरोधः, अभिध्यानशब्दस्य निदिध्यासनवाचकत्वाद्, ध्यानपरत्वेऽपि क्रममुक्त्यर्थत्वेन विरोधाभावात्। तस्मात् साधकाभावान्निर्गुणं ब्रह्म, सगुणत्वे बाधकसद्भावाच्च। न चासिद्धिः, मिथ्यात्वश्रुतेर्निर्गुणश्रुतेश्च बाधकत्वात्, मिथ्यात्वश्रुतेरबाधकत्वप्रकारस्य मिथ्यात्ववादे अखण्डार्थवादे च निरासात्।

ननु—निर्गुणवाक्यं सगुणवाक्यं बाधते, न तु सगुणवाक्यं तदिति किमत्र निया-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उपास्य में पश्चात् ब्रह्मत्व का निराकरण किया गया है—"तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदम्, यदिदमुपासते" (केन० ४।३)।

शङ्का—'नेदं यदिदमुपासते'—इस वाक्य के द्वारा उपास्य तत्त्व में ब्रह्मत्व का निराकरण नहीं किया जाता, अपितु 'अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि" (केन. ४।३) इस श्रुति के द्वारा जैसे श्रुति-भिन्न प्रमाण से विदित अथवा अपूर्णरूप से विदित पदार्थ में ब्रह्मत्व का निषेध किया जाता है, वैसे ही 'तदेव ब्रह्म'—इस श्रुति के द्वारा भी अश्रौत ध्यान अथवा अपूर्ण-ध्यान की विषयवस्तु में ब्रह्मत्व का निरास किया जाता है। अन्यथा (उपास्य वस्तु में ब्रह्मत्व का निषेध मानने पर) "तस्याभिध्यानात्" (श्वेता. १।१०) इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म की उपासना और उससे मोक्ष के लाभ का उपदेश विरुद्ध पड़ जाता है।

समाधान—'अन्यदेव' यह वाक्य विदित (प्रमित घटादि) और अविदित (अप्रमित शशश्रृङ्गादि) पदार्थों से विलक्षण स्वप्रकाश वस्तु का प्रतिपादक होने के कारण आपकी कल्पना में दृष्टान्त नहीं बन सकता। उपास्य तत्त्व में ब्रह्मत्व का निषेध होने पर भी "तस्याभिध्यानात्'—इस श्रुति से विरोध नहीं होता, क्योंकि यहाँ 'अभिध्यान' शब्द निदिध्यासन का वाचक है, ध्यान या उपासनापरक मान लेने पर भी क्रममुक्ति-हेतुभूत सगुणोपासना का बोधक माना जाता है, अतः किसी प्रकार का विरोध नहीं होता। फलतः ब्रह्म की सगुणता का साधक प्रमाण न होने के कारण ब्रह्म निर्गुण ही सिद्ध होता है।

केवल सगुणता-साधक प्रमाणों का अभाव ही नहीं, सगुणत्व में बाधक प्रमाणों का भी अभाव नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व और निर्गुणत्व की बोधक श्रुतियाँ ही सगुणत्व की बाधक है। मिथ्यात्व-श्रुति की साधकता का प्रकार मिथ्यात्ववाद और अखण्डार्थवाद में निरस्त हो जा चुका है।

शङ्का—निर्गुणार्थक वाक्य ही सगुण-वाक्यों का बाध करते हैं, सगुण-वाक्य निर्गुण-

८२५६

न्यायामृतम्

वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वात् । न च निषेधत्वादिना तत्प्रबलम् , असद्वा इत्यादिवाक्यस्य सदेवेत्यादिवाक्यात्प्राबल्यापत्तेरित्युक्तत्वाद् , अपच्छेदन्यायस्य च निरासात् । न च निर्गुणत्वं पुरुषार्थः येन तद्वाक्यं तत्परं स्यात् । किं तु गुणितैव । न च निर्गुणज्ञानस्य मोचकत्वात्फलवत्सन्निधाविति न्यायेन सगुणवाक्यं तदनुगुणं नेयमिति युक्तम् , सगुणज्ञानस्यैव मोचकत्वोक्तेः । तस्मात् सगुणत्वनिर्गुणत्वयोर्विरोधेन समुच्चयायोगाद्, अनुष्ठान इव च वस्तुनि विकल्पासम्भवाद्, एकेनान्यस्य प्रतीतार्थत्यागरूपे बाधे वक्तव्ये निर्गुणवाक्यस्यैव स युक्तः, न तु प्रबलस्य सगुणवाक्यस्य । तस्य प्राबल्यं

अद्वैतसिद्धिः

मकम् ? न च निषेधकतया निर्गुणवाक्यं प्रबलम् , 'असद्वा' इत्यादिवाक्यस्य सदेवेत्यादिवाक्यात् प्राबल्यापत्तेरिति—चेन्न, अपच्छेदन्यायेन प्राबल्यस्य प्रागेवोक्तेः । निषेधत्वाच्च प्राबल्यम् , 'असद्वा' इत्यत्रासच्छब्दस्यानभिव्यक्तपरत्वेनानिषेधत्वाच्च नैतन्न्यायेन प्राबल्यम् । निर्गुणवाक्यस्य पुरुषार्थपर्यवसायितया तत्परत्वेन प्राबल्यात् सगुणवाक्यस्य तत्सन्निधिपठितस्य 'फलवत्सन्निधा'विति न्यायेन तदनुगुणतया नेयत्वात् । न च सगुणज्ञानस्य मोचकत्वम् , तस्य प्रागेव निरासात् । अत एव—सगुणत्वनिर्गुणत्वयोर्विरोधेन समुच्चयायोगाद् अनुष्ठान इव च वस्तुनि विकल्पायोगाद् एकस्य प्रतीतार्थत्यागरूपे बाधे वक्तव्ये निर्गुणवाक्यस्यैव स युक्तः, न तु प्रबलस्य सगुणवाक्यस्येति—निरस्तम् , प्राबल्यासिद्धेः । न च—उपक्रमाधिकरणन्यायेनानुप-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वाक्यों का बाध नहीं कर सकते—यह क्यों ? निर्गुण-वाक्य निषेधक होने से प्रबल हैं—ऐसा मानने पर "असद्वा इदमग्र आसीत्"—इस वाक्य को "सदेव सोम्येदमग्रे"—इस वाक्य की अपेक्षा प्रबल मानना होगा ।

समाधान—अपच्छेद-न्याय के आधार पर निषेधक वाक्यों का प्राबल्य पहले ही स्थापित किया जा चुका है। निषेधकतामूलक प्राबल्य का भी औचित्य है। 'असद्वा'—यह वाक्य सत्ता का निषेधक नहीं अपितु उत्पत्ति से पूर्व जगत् की अव्यक्त अवस्था का प्रतिपादक माना जाता है—यह कह चुके हैं। दूसरी बात यह भी है कि निर्गुण-वाक्य पुरुषार्थ-पर्यवसायी होने के कारण मुख्यार्थपरक हैं और सगुण-वाक्य उनके अङ्ग, क्योंकि 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गं भवति'—इस न्याय के आधार पर ही उन वाक्यों का सामञ्जस्य करना चाहिए। सगुण-वाक्य-जन्य सगुण-ज्ञान में मोक्ष की साधनता का निराकरण पहले ही किया जा चुका है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि ब्रह्म में सगुणत्व और निर्गुणत्व का विरोध होने के कारण समुच्चय नहीं हो सकता और अनुष्ठान में जो यव-व्रीहि का विकल्प होता है, वैसे यहाँ वस्तु में सगुणत्व और निर्गुणत्व का विकल्प भी नहीं हो सकता अतः दोनों प्रकार के वाक्यों में किसी एक के प्रतीतार्थ-त्यागरूप बाध की आवश्यकता होने पर निर्गुण-वाक्यों का ही बाध मानना पड़ेगा सगुण-वाक्यों का नहीं, क्योंकि सगुण-वाक्य प्रबल और निर्गुण-वाक्य दुर्बल होते हैं।

वह न्यायामृतकार का कहना उचित नहीं, क्योंकि निर्गुण-वाक्य की अपेक्षा सगुण-वाक्यों का प्राबल्य सिद्ध नहीं होता।

शङ्का—(१) उपक्रम असंजातविरोधी होने के कारण प्रबल और उपसंहार

न्यायामृतम्

च उपक्रमाधिकरणन्यायेनाऽनुपसंजातविरोधित्वाद्, लिंगाच्छ्रुतेरिव शीघ्रगामित्वाच्च। निर्गुणश्रुतिर्हि प्रतियोगिप्रतीत्यपेक्षया विलम्बते। पदे जुहोतीतिवद्विशेषविषयत्वाच्च। सार्वज्ञ्यश्रुतिर्हि विशिष्य सार्वज्ञ्यादिपरा निर्गुणश्रुतिस्तु सामान्येन गुणनिषेधिका। दीक्षणीयायामनुब्रूयादितिवत्, निरवकाशत्वाच्च। निर्गुणश्रुतिर्हि

अद्वैतसिद्धिः

जातविरोधत्वात् निर्गुणश्रुतेः प्रतियोगिज्ञानापेक्षतया विलम्बितत्वेन लिङ्गाच्छ्रुतेरिव शीघ्रगामित्वात् पदे जुहोतीतिवद्विशेषविषयत्वाच्च सगुणवाक्यस्य प्राबल्यमिति—वाच्यम्, उपक्रमाधिकरणन्यायस्यान्यथासिद्धोपसंहारविषयत्वात्, प्रकृते च तदभावात्। सगुणवाक्यस्य प्रतियोग्युपस्थापकतया शीघ्रगामित्वेन प्राबल्ये ग्रहणवाक्यस्यापि प्राबल्यापत्त्या विकल्पाभावप्रसङ्गात्, सामान्यविषयप्रमाणसमकक्ष्यस्यैव विशेषविषयस्य प्राबल्यात्, प्रकृते च तदभावात्।

एतेन—'दीक्षणीयायामनुब्रूया'दितिवत् निरवकाशत्वेन प्राबल्यम्, निर्गुणश्रुतिर्हि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

संजातविरोधी होने के कारण दुर्बल माना जाता है, सगुण-वाक्य उपक्रमस्थ और निर्गुण-वाक्य उपसंहारस्थ होने के कारण दुर्बल हैं।

(२) सापेक्ष और निरपेक्ष में निरपेक्ष का प्राबल्य माना जाता है। सगुण-वाक्य निरपेक्ष और निर्गुण-वाक्य प्रतियोगिज्ञान-सापेक्ष होने के कारण वैसे ही दुर्बल हैं, जैसे श्रुति से लिङ्ग प्रमाण दुर्बल होता है. क्योंकि श्रुति प्रमाण अबिलम्ब रूप से निरपेक्ष विनियोजक और लिङ्ग प्रमाण श्रुति की कल्पना कर विलम्ब से विनियोजक होता है, जसा कि वार्तिकार ने कहा है—

यथा शीघ्रप्रवृत्तित्वाल्लिङ्गादेर्बाधिका श्रुतिः।
तथैव विनियोगेऽपि सैव पूर्वं प्रवर्तते ॥ (तं. वा. पृ. ८२८)

(३) सामान्य शास्त्र की अपेक्षा विशेष प्रबल होता है, जैसे "यदाहवनीये-जुहोति"—इस सामान्य शास्त्र की अपेक्षा "पदे जुहोति"—यह विशेष शास्त्र प्रबल है, अतः सभी होम आहवनीय अग्नि में ही होते हैं, किन्तु सोम-क्रयणार्थ गौ को गोष्ठ से लाते समय उसका सप्तम पद जहाँ पड़ता है, वहाँ ही भूमि में होम किया जाता है, वैसे ही सामान्य गुण-निषेधक निर्गुण-वाक्य की अपेक्षा सगुण-वाक्य विशेष गुण-विधायक होने के कारण प्रबल होता है।

समाधान—(१) उपक्रमाधिकरण (जै. सू. ३।३।२) में सिद्ध किया गया है कि अन्यथासिद्ध उपसंहार की अपेक्षा उपक्रम प्रबल होता है, किन्तु प्रकृत में उपसंहारस्थ निर्गुण-वाक्य अन्यथासिद्ध नहीं, अपितु मुख्यार्थपरक माने जाने के कारण अनन्यथासिद्ध हैं।

(२) निर्गुण-वाक्यों की अपेक्षा सगुण-वाक्य यदि गुण-निषेध के प्रतियोगीभूत गुण के उपस्थापक होने के कारण प्रबल माने जाते हैं, तब अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'—यह वाक्य भी "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" इस वाक्य की अपेक्षा प्रबल होकर अग्रहण-वाक्य का बाधक हो जायगा, तब सिद्धान्त-सम्मत ग्रहणाग्रहण का विकल्प सिद्ध न हो सकेगा।

(३) सामान्य-विशेष का प्रबल-दुर्बलभाव समकक्ष पदार्थों में ही होता है, किन्तु सगुण-वाक्य व्यावहारिक गुणों का विधान तथा निर्गुण-वाक्य पारमार्थिक निर्गुणत्व का प्रतिपादन करता है, अतः यहाँ वह न्याय लागू नहीं होता।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि जैसे ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय याग से

न्यायामृतम्

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां दैवी ह्येषा गणमयीत्यादि श्रुतिस्मृतिष्विव सत्त्वादिगुणे सावकाशा। बहुत्वाच्च। निर्गुणशब्देतरे सर्वेऽपि हि शब्दाः स्वनिमित्तगुणार्थकाः। धर्मिग्राहकत्वेनोपजीव्यत्वाच्च। प्रवृत्तिनिमित्तापेक्षैर्हि ब्रह्मादिशब्दैर्धर्मिणं निर्दिश्य तत्र धर्मा निषेध्याः, स चोद्देश्यविशेषणत्वाद् ग्रहैकत्ववत् निमित्तमविवक्षितम्। ग्रहैकत्वनये उद्देश्यस्वरूपे लब्धेऽपि यदधिकं तस्यैवाविवक्षेति स्थितिः। अन्यथा ग्रहत्वस्याप्य-

अद्वैतसिद्धिः

'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां' "दैवी ह्येषा गुणमयी' त्यादिश्रुतिस्मृतिष्विव सत्त्वादि-गुणे सावकाशेति—निरस्तम्, सावकाशनिरवकाशन्यायस्य समकक्ष्यविषयत्वाच्च। अत एव बहुत्वादपि न प्राबल्यम्, 'शतमप्यन्धानां न पश्यती'ति न्यायाच्च। न च—प्रवृत्तिनिमित्तापेक्षैः ब्रह्मादिशब्दैर्धर्मिणं निर्दिश्य क्रियमाणं धर्मनिषेधं प्रत्युपजीव्यतया गुणसमर्पकाणां प्राबल्यम्, ग्रहैकत्ववदुद्देश्यविशेषणतया प्रवृत्तिनिमित्तानामविव-क्षितत्वात्। न च ग्रहैकत्वन्याये उद्देश्यस्वरूपे लब्धे यदधिकं तस्यैवाविवक्षेति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पूर्व क्रियमाण दीक्षणीय इष्टि में दो विरोधी वाक्य प्रवृत्त होते हैं—"यत्किञ्चित् प्राचीनमग्नीषोमीयात् तेनोपांशु चरन्ति" और "यावत्या वाचा कामयते तावत्या दीक्षणीयाया-मनुब्रूयात्।" अर्थात् एक वाक्य कहता है कि दीक्षणीयादि कर्मों में जो भी मन्त्रादि का उच्चारणादि किया जाय, वह उपांशु (मन्द) स्वर में किया जाय और दूसरा वाक्य कहता है कि जिस स्वर में चाहें कर सकते हैं। वहाँ (जै. सू. ९।१।१ में) यह सिद्धान्त किया गया है कि प्रथम वाक्य दीक्षणीय इष्टि से भिन्न अग्नीषोमीय-पूर्वभावी कर्म में सावकाश होने के कारण दुर्बल है और दूसरा वाक्य निरवकाश, अतः प्रबल है। वैसे ही सर्वज्ञत्वादि गुणों से भिन्न सत्त्वादि गुणों के निषेध में निर्गुण-वाक्य सावकाश हैं, और सगुण-वाक्य निरवकाश, अतः सगुण-वाक्य सर्वज्ञत्वादि गुणों के विधायक होते हैं। देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" (श्वेता० १।३) तथा दैवी ह्येषा गुणमयी" (गी०-७।१४) इत्यादि वाक्यों में जैसे 'गुण' पद से सत्त्वादि का अभिधान होता है, वैसे ही निर्गुण-वाक्यों में सत्त्वादि गुणों का ही निषेध।

न्यायामृतकार का वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि समान कक्षा के विरोधी अभिधानों में ही सावकाश-निरवकाश-न्याय लागू होता है। प्रकृत में सगुणता का अभिधान अमुख्य और निर्गुणता का प्रतिपादन मुख्य, दोनों की समकक्षता नहीं। अत एव सगुण वाक्यों की बहुलता के कारण भी प्रबलता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि अशक्त पदार्थ बहुत होने पर भी अशक्त ही रहते हैं, सशक्त नहीं बनते, जैसे सैकड़ों अन्धे एकत्र होकर भी रूपादि का दर्शन नहीं कर सकते, इसी प्रकार जैसे एक सगुण-वाक्य ब्रह्म में पारमार्थिक गुणवत्ता सिद्ध नहीं कर सकता, वैसे ही अनेक सगुणार्थक वाक्य भी ब्रह्म को सगुण नहीं बना सकते।

शङ्का—'ब्रह्म निर्गुणम्'—इस प्रकार जिन ब्रह्मादि पदों के द्वारा धर्मी का निर्देश कर गुणवत्ता का निषेध किया जाता है, वे ब्रह्मादि पद बृहत्वादि गुणों को प्रवृत्ति-निमित्त (शक्यतावच्छेदक) बनाकर ही प्रयुक्त होते हैं, बृहत्वादि गुणों के उपस्थापक सगुण-वाक्य उपजीव्य होने के कारण निर्गुण-वाक्यों की अपेक्षा प्रबल हैं।

समाधान—ग्रहैकत्वाधिकरण (जै० सू० ३।१।७) में यह सिद्धान्त स्थिर किया

न्यायामृतम्

विवक्षा स्यात्। अत एवोक्तं हविरार्तिनये "मृष्यामहे हविषा विशेषणम्"—इति। लक्षकेणापि हि शब्देन इतरव्यावृत्तमसंकीर्णमेव स्वरूपमुद्देष्टव्यम्। अन्यथा यत्र

अद्वैतसिद्धिः

स्थितिः, अन्यथा ग्रहत्वस्याप्यविवक्षा स्यात्। अत एवोक्तं हविरार्तिनये 'मृष्यामहे हविषा विशेषणम्, उभयत्वं तु न मृष्यामहे' इतीति—वाच्यम्, यच्छब्दो यत्र प्रवृत्ति-निमित्तमर्पयन् धर्मिणमुपस्थापयति तत्रायं न्यायः, यस्तु लक्षणयोपस्थापयति, तत्र नायं प्रवर्तते। न च—लक्षकेणापि शब्देन इतरव्यावृत्तमसङ्कीर्णमेव वस्तुस्वरूपमुद्देष्ट-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

गया है कि उद्देश्यगत विशेषण अविवक्षित होते हैं, अतः जैसे "दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि [सोम-रस भरने के बाद ग्रहसंज्ञक पात्रों के बाहरी कलेवर पर टपके रस को एक वस्त्र-खण्ड से पोंछ देना चाहिए] यहाँ पर उद्देश्यभूत ग्रह में निर्दिष्ट एकत्व विवक्षित नहीं, वैसे ही 'ब्रह्म निर्गुणम्'—यहाँ पर भी ब्रह्मगत बृहत्वादि विशेषणों की विवक्षा या अपेक्षा ही नहीं, अतः सगुण-वाक्यों को उपजीव्य नहीं कहा जा सकता।

शङ्का—ग्रहैकत्वाधिकरण का आशय यह है कि उद्देश्यतावच्छेदक अविवक्षित हैं, किन्तु उद्देश्य नहीं, उद्देश्य के स्वरूप का लाभ हो जाने पर जो उद्देश्य-स्वरूपानुपयोगी अधिक पदार्थ है, उसकी विवक्षा नहीं होती। उद्देश्य को भी अविवक्षा मानने पर ग्रह की भी उपेक्षा करनी होगी, तब 'सम्मार्ष्टि'—इतने मात्र से कुछ बोध ही न हो सकेगा, अत एव "यस्योभयं हविरार्त्तिमार्च्छेद् ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्" (तै० ब्रा० ३।७।१।७) इस वाक्य पर विचार करते समय (जै० सू० ६।४।२३) में भाष्यकार ने कहा है—"मृष्यामहे हविषा विशेषणम्" (शाबर० पृ० १४३९) अर्थात् सायं और प्रातः—उभय कालीन हवि के नष्ट हो जाने पर ही उक्त ऐन्द्र याग किया जाता है—यह बात नहीं, अपितु किसी एक हवि के नष्ट हो जाने पर भी उक्त कर्म किया जाता है, हविर्गत उभयत्व विवक्षित नहीं, किन्तु हविष्ट्व विशेषण उद्देश्य का स्वरूप-सम्पादक होने के कारण विवक्षित होता है। उसी प्रकार उद्देश्यभूत ब्रह्म में एकत्वादि विशेषणों की विवक्षा न होने पर भी बृहत्वादि की विवक्षा माननी ही पड़ती है, अन्यथा उद्देश्य का स्वरूप ही सम्पन्न न होगा, अतः बृहत्वादि विशेषणों के समर्पक सगुण वाक्य निश्चित रूप से उपजीव्य होते हैं, अतएव निर्गुण-वाक्यों से प्रबल भी होते हैं।

समाधान—जहाँ पर प्रवृत्ति-निमित्त के वाचक पद से उद्देश्य की उपस्थिति कराई जाती है, वहाँ ही उक्त न्याय लागू होता है, जैसे 'यस्य हविरार्त्तिमार्च्छेत्'—यहाँ पर हविष्ट्वरूप शक्यतावच्छेदक का उपस्थापक 'हविः' पद प्रयुक्त है, अतः यहाँ हविष्ट्व की उपेक्षा नहीं हो सकती, किन्तु जहाँ लक्षणा के द्वारा उद्देश्य की उपस्थिति कराई जाती है, वहाँ उक्त न्याय लागू नहीं होता है, जैसे 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'—यहां पर 'चन्द्र' पद किसी प्रवृत्ति-निमित्त धर्म का उपस्थापक न होकर शुद्ध चन्द्र व्यक्ति का ही उपस्थापक होता है, वहां किसी प्रकार के विशेषण की विवक्षा नहीं। प्रकृत में भी 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—इत्यादि वाक्य लक्षणा के द्वारा शुद्ध ब्रह्म के उपस्थापक हैं, अतः किसी प्रकार के बृहत्वादि विशेषण की विवक्षा नहीं और न उसके समर्पक सगुण-वाक्यों में प्राबल्य।

शङ्का—लक्षक शब्द के द्वारा भी इतर-व्यावृत्त असंकीर्ण लक्ष्य वस्तु की उपस्थिति

न्यायामृतम्

क्वचन धर्मनिषेधः स्यात् ।

किं च निर्गुणवाक्यस्य छागपशुन्यायेन 'त्रैगुण्यवर्जितं विना हेयैर्गुणादिभि'-रित्यादि विशेषोपसंहारोऽस्तु । न चैवं "न हिंस्याद्"त्यस्यापि "ब्राह्मणो न हन्तव्य" इत्यत्रोपसंहारात् व्यर्थहिंसा न निषिध्येतेति वाच्यम्, सार्वज्ञ्यादिगुणेष्विव व्यर्थ-हिंसायां विध्यभावात् । एतेन "त्रैगुण्यवर्जित"मित्यादेरेव काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्या-

अद्वैतसिद्धिः

व्यम्, अन्यथा यत्र क्वचन धर्मनिषेधः स्यादिति—वाच्यम्, गङ्गायामित्यादावितरनदी-तीरव्यावृत्ततीरलाभवदत्रापि स्वतो व्यावृत्तवस्तुन एवोद्देश्यत्वसंभवात् किं धर्म-समर्पणेन ? न च – निर्गुणवाक्यस्य छागपशुन्यायेन 'त्रैगुण्यवर्जितं' 'विना हेयैर्गुणा-दिभि'रित्यादिविशेषोपसंहार इति वाच्यम्, 'नेति नेती'त्यादिवीप्साबलेन प्रसक्त-सर्वनिषेधे प्रतीते कतिपयविशेषपरिशेषस्य कर्तुमशक्यत्वात् । अत एव 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यता'मितिवत् त्रैगुण्यादिनिषेधस्यैव सामान्यविषयत्वम्, सार्वज्ञ्यादौ श्रुतेरमान-त्वेनाविरोधादत्रापि काकपद इव मानान्तरानुग्रहस्य तुल्यत्वात्, तथापि विशेषोप-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

माननी होगी, अन्यथा किसी भी वस्तु को उद्देश्य का किसी भी धर्म का निषेध हो जायगा, जैसा कि कहा है—'अविशेष्यमाणेऽनर्थकं स्यात्'—यस्यार्तिमाच्छेंदित्यविशेषे, यत्किञ्चिदिति गम्यते, तत्र सर्वस्यैव किञ्चिदार्तिमृच्छति, अन्ततः चरितं निमिषितं चिन्ति-तमिति" (शाबर० पृ० १४३९) ।

समाधान - जैसे 'गङ्गायां घोषः'—इत्यादि स्थल पर इतर नदी-तीर से व्यावृत्त तीर अर्थ का लाभ होता है, वैसे ही प्रकृत में स्वतः व्यावृत्त ब्रह्म वस्तु को उद्देश्य बनाकर गुण-सामान्य का निषेध किया जा सकता है, उद्देश्यगत किसी धर्म की उप-स्थिति आवश्यक नहीं । 'यस्योभयं हविरार्तिमाच्छेंत्—यहाँ पर हविः स्वतो व्यावृत्त न होने के कारण 'हविः' पद के द्वारा इतर-व्यावृत्त हविष्ट्वेन उद्देश्य की उपस्थिति आवश्यक है, प्रकृत में नहीं ।

शङ्का—जैसे "छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि" (तै० ब्रा० ३।६।८) इस मन्त्र के बल पर "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" (तै० सं० ६।१।१५।६) यहाँ 'पशु' पद छागपरक (जै० सू० ६।८।९ में) माना गया है, वैसे ही 'त्रैगुण्यवर्जितम्" "विना हेयैर्गुणा-दिभिः"—इत्यादि वाक्यों के अनुरोध पर "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"—इत्यादि वाक्यों में कथित निर्गुणता का तात्पर्य केवल सत्त्वादि गुणों के निराकरण मात्र में होता है, सामान्य गुण-निषेध में नहीं ।

समाधान –"नेति नेति" (बृह० उ० २।३।६) इत्यादि वीप्सा (वारं वार) कथन के द्वारा ब्रह्म में प्रसक्त समस्त गुणों का निषेध प्रतीत होता है, अतः निर्गुण-वाक्य का कतिपय गुणों के निषेध में संकोच नहीं किया जा सकता । अत एव जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'—इत्यादि व्यवहारों में विशिष्टार्थक 'काक' पद की 'दधि-घातक' प्राणीमात्र में लक्षणा होती है, वैसे ही 'त्रैगुण्यवर्जितम्'—इत्यादि विशेष-निषेध का तात्पर्य सामान्य गुण-निषेध में ही माना जाता है । सार्वज्ञ्यादि के प्रतिपादन में श्रुति का तात्पर्य न होने के कारण 'यः सर्वज्ञः'—इत्यादि वाक्य गुणसामान्य-निषेध के विरोधी नहीं माने जा सकते । जैसे 'काक' पद की दधि-घातक प्राणी मात्र में लक्षणा

न्यायामृतम्

दिवत् सामान्यपरतास्त्विति निरस्तम् । अत्र सार्वज्ञ्यादिश्रुतिभिरिव तत्र मानान्तरेण विरोधाभावात् , प्रत्युत तदानुगुण्यात् । किं च एवं धर्मान् पृथक् पश्यन्नि''ति श्रुतौ ''सविशेषणे ही''ति न्यायेन गुणानां पार्थक्यस्यैव निषेधात् । तत्सामान्यादन्यत्रापि तथैव निषेधो युक्तः । पार्थक्याभावेऽपि च विशेषबलादेव ज्ञानानन्दयोरिवैकतरपरिशेषाभावो युक्तः । अन्यथानन्दस्फुरणाभावान्मुक्तिरपुमर्थः स्यात् ।

अद्वैतसिद्धिः

संहारे 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानी'त्यस्य 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यत्रोपसंहारापातात् , व्यर्थहिंसायां विध्यभाववत् सार्वज्ञ्यादिगुणेष्वपि विध्यभावस्य समानत्वात् निषेधसाम्योपपत्तेः ।

अत एव—'धर्मान् पृथक् पश्यन्'—इत्यादिश्रुतेः 'सविशेषणे ही'ति न्यायेन गुणानां पार्थक्यस्यैव निषेधात् तत्सामान्यादन्यत्रापि तथैव निषेधो युक्त इति—निरस्तम् ; सविशेषणे हीति न्यायस्य विशेष्यबाधकावतार एव प्रवृत्तेः, प्रकृते च बाधकाभावात् , सार्वज्ञ्यश्रुतेः बाधकत्वनिरासात् , पार्थक्यनिषेधे ब्रह्ममात्रपरिशेषात् नामान्तरेणाद्वैतवादस्यैवोक्तेश्च । यत्तु ज्ञानानन्दयोरभेदे एकतरपरिशेषाभावादत्रापि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का अनुग्राहक प्रमाणान्तर (इष्टानिष्टता-बोधक प्रत्यक्षादि) हैं, वैसे ही त्रैगुण्य-निषेध के अनुग्राहक भी प्रमाणान्तर सुलभ हैं। सामान्य शास्त्र का विशेषार्थ में संकोच मानने पर ''न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'—इस सामान्य-निषेध का भी सङ्कोच ''ब्राह्मणो न हन्तव्यः''—इस विशेष निषेध में ही मानना होगा। जैसे निरर्थक हिंसा का विधान न होने के कारण निष्प्रयोजन हिंसा मात्र का निषेध हो जाता है, वैसे ही सार्वज्ञ्यादि गुणों का ब्रह्म में विधान न होने के कारण गुण-सामान्य का निषेध सम्पन्न हो जाता है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि जैसे—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुधावति ।। (कठो० ४।१४)

इत्यादि श्रुतियों का ब्रह्म से पृथक् गुणों के निषेध में ही तात्पर्य होता है, क्योंकि 'सविशेषणे हि वर्तमानौ विधिनिषेधौ सति विशेष्यबाधे विशेषणमुपसंक्रामतः''—इस न्याय के आधार पर ब्रह्मगत विशेष्यभूत गुणों के निषेध का तात्पर्य गुणगत पार्थक्यरूप विशेषण के निषेध में मानना ही उचित होता है, इसी प्रकार 'केवलो निर्गुणश्च'—इत्यादि वाक्यों के द्वारा गुणगत पार्थक्य का ही निषेध होगा।

वह न्यायामृतकार का कथन संगत नहीं, क्योंकि 'सविशेषणे'—यह न्याय वहाँ ही लागू होता है, जहाँ विशेष्य वस्तु में विधि और निषेध बाधित होते हैं, जैसे—'घटाकाशमानय'—इत्यादि स्थल पर विशेष्यभूत आकाश में आनयन विधि बाधित होने के कारण केवल घटरूप विशेषण के आनयन में ही पर्यवसित होती है। प्रकृत में ब्रह्मगत विशेष्यभूत गुणों का निषेध बाधित नहीं, अतः यहाँ विशिष्ट-निषेध विशेषण मात्र के निषेध में पर्यवसित नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्मगत गुणों का पार्थक्य-निषेध अद्वैततत्त्वोपपादन का नामान्तर होने के कारण द्वैत के प्रतिकूल और अद्वैत के अनुकूल ही है।

यह जो कहा गया है कि जैसे ज्ञान और आनन्द का अभेद होने पर भी दोनों का

न्यायामृतम्

अपि च "साक्षी चेता केवलो निर्गुण" इति वाक्यात्पूर्वत्रोत्तरत्र च गुणोक्तेस्तन्मध्यस्थं निर्गुणवाक्यम् उपांशुयाजन्यायेन तदनुगुणं नेयम्। किं च निर्गुणशब्देन गुणमात्रनिषेधोऽयुक्तः साक्षी चेतेत्यादिभिर्द्रष्टृत्वादिविधानेन व्याघातादिति संकोचोऽस्तु साक्षित्वादेरतात्त्विकत्वादविरोध इति तु निरस्तम्। उक्तं च—

अद्वैतसिद्धिः

धर्मधर्मिणोर्नैकतरपरिशेषः, अन्यथा आनन्दस्फुरणयोरन्यतराभावात् मुक्तिरपुमर्थः स्यादिति, तन्न; ज्ञानानन्दव्यक्त्योरस्ति भेदगर्भैकतरशब्दस्याप्रवृत्तिः। एवमेव त्वन्नये गुणगुणिव्यक्त्योरभेदसम्भवाद् अस्य परिभाषामात्रत्वात्। यत्तु साक्षी चेतेत्यस्य पूर्वं पश्चादपि गुणोक्तेस्तन्मध्यस्थं निर्गुणवाक्यमपि उपांशुयाजन्यायेन तदनुगुणतया नेयमिति, तन्न; गुणान् तटस्थीकृत्य तेषां ब्रह्मपरत्वेन गुणे तात्पर्याभावात्। अत एव— निर्गुणशब्देन गुणमात्रनिषेधो न युक्तः, साक्ष्यादिपदेन द्रष्टृत्वादिविधानव्याघातात्सङ्कोच एवेति—निरस्तम्; द्रष्टृत्वादावत्रापि अतात्पर्यात्। तथा च द्रष्टृत्वादिद्वारक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाता है, किसी एक का परिलोप नहीं, वैसे ही यहाँ गुण और गुणी का अभेद होने पर भी दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहता है, अन्यथा आनन्द और स्फुरण (ज्ञान) इन दोनों में से स्फुरण का लोप हो जाने पर मोक्ष पुरुषार्थ नहीं रहेगा, क्योंकि अज्ञात या अस्फुरित सुख में किसी की अभिलाषा नहीं होती।

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि यद्यपि ज्ञान और आनन्द—दोनों अत्यन्त अभिन्न होते हैं, तथापि 'तयोरन्यतरपरिशेषः'– ऐसा नहीं कहा जा सकता, 'एकतर' शब्द उसी वस्तु को कहता है, जो उभय-घटक एक पदार्थ से भिन्न हो, किन्तु यहाँ भेद यत्किञ्चित् भी नहीं। इसी प्रकार आप (द्वैती के) मतानुसार भी गुण और गुणी का अभेद उपपन्न हो जाने पर वहाँ द्वैत या भेद की भाषा वैसे ही केवल पारिभाषा ही रह जाती है, जैसे प्रकाश के लिए अन्धकार की परिभाषा।

न्यायामृतकार ने जो कहा है कि "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" (श्वेता० ६।११) इस वाक्य से पूर्व "तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" (श्वेता. ६।७) तथा पश्चात् "एको वशी" (श्वेता. ६।१२) इत्यादि वाक्यों में सगुणता का प्रतिपादन उपलब्ध होता है, अतः मध्यपाती निर्गुणताभिधान का वैसे ही पौर्वापर्य के अनुसार गुणवत्ता में तात्पर्य मानना चाहिए, जैसे पूर्व मीमांसा (जै. सू. १०।८।१६) में कहा गया है कि "उपांशुयाजमन्तरा यजति" इस वाक्य में काल का निर्देश न होने पर भी पूर्व और उत्तर के वाक्यों में पौर्णमास का उल्लेख होने के कारण उपांशुयाज भी पौर्णमासी में ही किया जाता है, आमावास्या में नहीं।

वह कहना भी समुचित नहीं, क्योंकि उक्त निर्गुण-वाक्य के पूर्व और उत्तर वाक्यों का भी गुणाभिधान में तात्पर्य नहीं, अपितु गुणों को तटस्थ रखते हुए शुद्ध ब्रह्म के प्रतिपादन में ही तात्पर्य निश्चित होता है। "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"— इस वाक्य का द्रष्टृत्वादि के विधान में तात्पर्य नहीं, अतः द्रष्टृत्वादि के अनुरोध पर भी 'निर्गुण' शब्द का संकोच करने की आवश्यकता नहीं। फलतः द्रष्टृत्वादि के द्वारा ब्रह्म-प्रतिपादकता ही निर्गुण वाक्यों की युक्तार्थता है, श्रुति में सर्वथा अबाधित ब्रह्मरूप अर्थ के प्रतिपादन से प्रामाण्य सम्भव होता है। इस प्रकार आपकी यह युक्ति हमारे

न्यायामृतम्

युक्तोऽयुक्तश्च यत्रार्थ आगमस्य प्रतीयते ।
स्यात्तत्र युक्त एवार्थो न वाक्यायुक्तिरिष्यत ॥
एवं च—उपक्रमादिन्यायेन श्रुतिलिंगनयात् तथा ।
विशेषसामान्यनयान्न्यायान्निरवकाशतः ॥
बाहुल्यन्यायतश्चोपजीव्यत्वन्यायतस्तथा ।
पशुच्छागनयाच्चैव सविशेषनयात् तथा ॥
उपांशुयाजन्यायेन युक्तायुक्तनयात् तथा ।
आदृतत्वात्सूत्रकृता प्रबला सगुणश्रुतिः ॥

तस्मादहिंसावाक्यमग्नोषोमीयेतरहिंसाया इव निर्गुणवाक्यं श्रौतसार्वज्ञ्यादीतरतर्काभासप्राप्तहेयसुखादिगुणानां निषेधकमिति न तद्बाधकम् । एवं च

हिंसाऽहिंसावाक्यसाम्याद्गुणिनिर्गुणवाक्ययोः ।
अविरोधेऽप्यमानत्वं ब्रूषे सौगतसौहृदात् ॥

अद्वैतसिद्धिः

ब्रह्मरूपयुक्तार्थतैषा; आगमस्य तत्रैव प्रामाण्यसंभवात् । एवं च 'युक्तोऽयुक्तश्च यत्रार्थः आगमस्य प्रतीयते । स्यात्तत्र युक्त एवार्थ' इत्याद्यस्मन्मत एवोपपन्नतरम् । तस्मादुपक्रमादिन्यायानामन्यविषयत्वात् न तद्बलेन सगुणत्वसिद्धिः ।

यत्तु 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशाद्', 'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशा'दित्यादिसूत्रेषु धर्माणां तत्तदधिकरणसिद्धान्तसाधकतया आदृतत्वात् सगुणत्वसिद्धिरिति, तन्न; आरोपितब्रह्ममात्रसंबन्धिगुणोपादानेन सिद्धान्तसिद्ध्युपपत्तेर्गुणतात्त्विकत्वे औदासीन्यात् ।

यच्च अहिंसाग्नीषोमीयवाक्ययोरिव सगुणनिर्गुणवाक्ययोरपि भिन्नविषयतयाऽविरोधे संभवत्यपि सगुणवाक्यस्यामानत्वाभिधानं सौगतसौहृदादिति, तन्न; निर्गुण-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पक्ष का ही पोषण करती है—

युक्तोऽयुक्तश्च यत्रार्थः आगमस्य प्रतीयते ।
स्यात् तत्र युक्त एवार्थो युक्तिश्च त्रिविधा मता ॥

[आगम प्रमाण का जहाँ युक्त और अयुक्त—दो प्रकार का अर्थ प्रतीत होता है, वहाँ युक्त अर्थ ही मानना उचित होता है । तर्क, अनुमान और अर्थापत्ति के भेद से युक्ति तीन प्रकार की होती है] । अतः उपक्रमादि न्याय सगुणादि वाक्यों को विषय करते हैं, उनके आधार पर ब्रह्म में सगुणत्व-सिद्धि नहीं होती ।

"अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" (ब्र. सू. १।१।२०) तथा "अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्" (ब्र. सू. १।२।१८) इत्यादि सूत्रों में जो ब्रह्म में कतिपय धर्मों का उपपादन है, वह सम्बन्धित अधिकरण-निर्णीत उपासनादि सिद्धान्तों की सिद्धि के लिए आरोपमात्र किया गया है, ब्रह्मगत गुणों की तात्त्विकता में उसका तात्पर्य नहीं ।

न्यायामृतकार ने जो कहा है "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" तथा "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत"—इत्यादि वाक्यों के समान सगुण और निर्गुण वाक्यों का भिन्न विषयता के द्वारा अविरोध है, तथापि आप (अद्वैती) ने जो निर्गुण-वाक्यों का विरोध दिखाकर सगुण-वाक्यों को अप्रमाण कहा है, वह बौद्ध-सिद्धान्त अपनाने के कारण कहा है । बौद्धों

न्यायामृतम्

नाप्यनुभूतिर्निर्विशेषा अनुभूतित्वादिति व्यतिरेक्यनुमानं बाधकम्, अप्रसिद्धविशेषणत्वस्वव्याघातश्रुतिबाधाभाससाम्याप्रयोजकत्वप्रतिकूलतर्कपराहत्यादिदोषात्।

अद्वैतसिद्धिः

वाक्यस्य तत्परत्वेन प्रबलतया बाधस्यावश्यकत्वेऽपि मानत्वाभिधानस्य ब्रह्मवादिविद्वेषमात्रत्वात्। तस्मान्निर्गुणवाक्यबाधात् सगुणवाक्यमतत्परम्।

अनुभूतिः; निर्विशेषा, अनुभूतित्वादिति व्यतिरेक्यनुमानमपि बाधकम्। न चात्राप्रसिद्धविशेषणत्वम्; यद्व्यतिरेकेऽसमोहितप्रसक्तिः तत् मानयोग्यमिति सामान्यतः प्रसिद्धेः। विशेषत्वमभावप्रतियोगितावच्छेदकम्, अभावप्रतियोगिमात्रवृत्तित्वाद्, घटत्ववदिति विशिष्यापि सत्त्वात्। नापि स्वव्याघातः, निर्विशेषत्वस्य स्वरूपत्वेन विशेषत्वानङ्गीकारात्। न च स्वरूपस्य प्रागेव सिद्धेः स्यादनुमितेर्वैयर्थ्यम्, तेन रूपेण ज्ञान-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ने कहा है—

कर्तृत्वप्रतिषेधाच्च सर्वज्ञत्वं निराकृतम्।
बोद्धव्यं तद्बलेनैव सर्वज्ञत्वोपपादनात्॥ (तत्त्व० सं० पृ० ७२)

न्यायामृतकार का वह कहना उचित नहीं, क्योंकि निर्गुण-वाक्य तत्परक होने के कारण प्रबल हैं, अतः इनके द्वारा सगुण-वाक्यों का बाध आवश्यक है, हमारी इस बाधोक्ति का आप (माध्व) ने जो अप्रमाणत्वोक्ति के रूप में अनुवाद किया है, वह ब्रह्माद्वैतवाद से विद्वेष के कारण ही किया गया है। फलतः निर्गुण-वाक्यों से बाधित होने के कारण सगुण-वाक्य ब्रह्म को सगुण सिद्ध नहीं कर सकते।

'अनुभूतिः निर्विशेषा, अनुभूतित्वात्'—यह व्यतिरेकी अनुमान भी गुणवत्ता का बाधक है। इस अनुमान में अप्रसिद्धविशेषणत्व (निर्विशेष्यत्वाप्रसिद्धि) दोष नहीं, क्योंकि 'जिस वस्तु को न मानने पर अनिष्टापत्ति होती है, वह वस्तु अवश्य ही प्रमाणयोग्य होती है'—इस प्रकार की सामान्य व्याप्ति के आधार पर उक्त अनुमान का साध्यरूप विशेषण कहीं-न-कहीं अवश्य प्रसिद्ध हो जाता है। केवल सामान्यतः ही साध्य प्रसिद्ध नहीं, अपितु विशेषतः भी प्रसिद्ध किया जा सकता है—'विशेषत्वम् अभावप्रतियोगितावच्छेदकम्, अभावप्रतियोगिमात्रवृत्तित्वाद्, घटत्ववत् [व्यावृत्त पदार्थ को विशेष और व्यावृत्तत्व को विशेषत्व कहा जाता है। व्यावृत्तत्व धर्म अभिधेयत्वादि के समान केवलान्वयी है, अतः उसके अभाव की प्रसिद्धि वैसे ही की जा सकती है, जैसे अभिधेयत्वाभाव की चिन्तामणिकार ने की है—अभिधेयत्वम्, कुतोऽपि व्यावृत्तं धर्मत्वाद्, गोत्ववत्'' (त० चिं० पृ० १३४८)। प्रतियोगिता से अन्यूनानतिरिक्त वृत्ति धर्म को ही प्रतियोगितावच्छेदक कहा जाता है, 'प्रतियोगिमात्रवृत्तित्व' पद से प्रतियोगीतरावृत्तित्वे सति सकलप्रतियोगिवृत्तित्व ही सूचित किया गया है। अनुभूति रूप ब्रह्म में विशेष सन्दिग्ध है, दृश्यमात्र में ''यत्र यत्र विशेषः, तत्र तत्र अनुभूतित्वाभावः—ऐसी व्याप्ति प्रसिद्ध है, अतः विशेषव्यापकीभूताभावप्रतियोग्यनुभूतित्ववती अनुभूतिः—इस प्रकार के परामर्श से ब्रह्म में निर्विशेषत्व की अनुमिति हो सकेगी, उससे पहले व्यावृत्तत्वरूप विशेष का सामान्याभाव प्रसिद्ध किया जा सकता है]। निर्विशेषत्व-साधक हेतु निर्विशेषत्वरूप विशेष का साधक होने पर भी विरुद्ध या स्वव्याघातक नहीं, क्योंकि निर्विशेषत्व को अनुभूति का स्वरूप माना जाता है, विशेष धर्म नहीं। यद्यपि निर्वि-

न्यायामृतम्

नापि भिन्नत्वेऽभिन्नत्वे च धर्मत्वानुपपत्तिः। एवमसम्बद्धत्वे धर्मत्वायोगः सम्बद्धत्वे सम्बन्धस्यापि सम्बन्धान्तरमित्यनवस्थेति न ब्रह्म धर्मवदित्यादिकुतर्का बाधकाः, धर्माभावरूपधर्मभावाभावाभ्यां व्याघाताद्, अभेदेऽपि ज्ञानानन्दयोरेकतरपरिशेषाभाववद्विशेषबलादेव धर्मधर्मिभावोपपत्तेश्च। सम्बन्धस्यापि मिथ्यात्वादिवत्स्वनिर्वाहकत्वाच्च। अन्यथानन्दस्य ज्ञानमात्रत्वे दुःखज्ञानमप्यानन्दः स्यात्। भिन्नत्वेऽखण्डार्थत्वहानिः। एवं ब्रह्म जगदभिन्नं चेन्मिथ्या स्याद्, भिन्नं चेद् भेदस्य सत्यत्वमित्यादितर्कबाधात् त्वदभिप्रेतं ब्रह्मापि न सिध्येत्। श्रुतिबाधात्तर्काणामाभासत्वं त्विहापि समम्। एवं च—

शुष्कतर्कैः श्रौतगुणबाधे ब्रह्मापि बाधितम्।
भवेच्छ्रुत्या शुष्कतर्कधिक्कारस्तु द्वयोः समः॥

अद्वैतसिद्धिः

स्योद्देश्यत्वात्। नापि श्रुतिबाधः, प्रागेव निरासात्, प्रत्युत बहुतरश्रुत्यनुग्रहः। अत एव नाभाससाम्यम्। नाप्यप्रयोजकत्वम्, भिन्नत्वे अभिन्नत्वे संबन्धत्वे चातिप्रसङ्गानवस्थाभ्यां धर्मधर्मिभावानुपपत्तेरेव विपक्षबाधकत्वात्। न च संबन्धस्य मिथ्यात्ववत् स्वनिर्वाहकत्वान्नानवस्था, अभेदवादे अतिरिक्तस्य वक्तुमशक्यत्वात्। न च—धर्माभावरूपधर्मभावत्वाभावाभ्यां व्याघातेन कुतर्कतास्येति—वाच्यम्, धर्माभावस्य स्वरू-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शेषत्व अनुभूति का स्वरूप है और अनुभूति का स्वरूप पहले से ही सिद्ध है, तथापि सिद्ध-साधनता दोष नहीं, क्योंकि अनुभूतित्वेन अनुभूति का स्वरूप ही पहले से सिद्ध है, निर्विशेषत्वेन अनुभूति का स्वरूप नहीं, वही प्रकृत अनुमिति का उद्देश्य है। सगुणत्वार्थक श्रुतियों के द्वारा इस अनुमान के बाध का निराकरण पहले ही किया जा चुका है, निर्गुणत्वार्थक अनेक श्रुतियों का समर्थन भी प्राप्त है। अत एव आभास का साम्य भी निरस्त हो जाता है। अप्रयोजकत्व की शङ्का भी नहीं की जा सकती, क्योंकि निर्विशेषत्वरूप धर्म और अनुभूतिरूप धर्मी का भेद मानने पर अनवस्था एवं धर्मधर्मिभाव की वैसे ही अनुपपत्ति होती है, जैसे घट और पट की इस प्रकार के विपक्ष-बाधक तर्क से अप्रयोजकत्व की शङ्का समाप्त हो जाती है। जैसे मिथ्यात्व स्व-पर-मिथ्यात्व का निर्वाहक है, वैसे सम्बन्ध भी सम्बन्धान्तर-निरपेक्ष होकर स्व-पर-सम्बन्ध का निर्वाहक होने से अनवस्था नहीं—ऐसा अभेदवाद में कहना सम्भव नहीं, क्योंकि इस मत में ब्रह्म और ब्रह्मगत धर्मों का भेद नहीं माना जाता, अतः अतिरिक्त सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। विशेष रूप धर्म के अभाव का ब्रह्म में भावाभाव-विकल्प के द्वारा व्याघातकता की शङ्का भी नहीं उठाई जा सकती, क्योंकि ब्रह्मस्वरूपत्वेन धर्माभाव की सत्ता मानी जाती है। अभेद होने पर भी भेद की कल्पना के द्वारा धर्मधर्मिभाव का व्यवहार आपको भी सम्मत है।

शङ्का—आनन्द और ज्ञान का अत्यन्त अभेद मानने पर दुःख-ज्ञान को भी आनन्दरूप मानना पड़ेगा और उनका भेद मानने पर ब्रह्म की अखण्डरूपता नहीं रहती। इसी प्रकार ब्रह्म का जगत् से अभेद मानने पर ब्रह्म में मिथ्यात्वापत्ति और भेद मानने पर भेद की सत्यता प्रसक्त होती है—इस प्रकार के तर्कों से अद्वैतसम्मत ब्रह्म भी सिद्ध न होगा। श्रुति द्वारा बाधित होने के कारण तर्कों की आभासता हमें भी स्वीकृत है।

न्यायामृतम्

किं च निर्विशेषत्वरूपविशेषभावाभावाभ्यां मूकोऽहमितिवत् स्वव्याघातः। यदि निर्विशेषत्वरूपविशेषोऽप्यनेनैव निषिध्यते, तर्हीयमपि वचनक्रिया मूक इत्यनेनैव निषिध्यत इति समम्। तदुक्तम्—निर्विशेषत्वमेतेन मूकोऽहमितिवद् भवेदि'ति।

अद्वैतसिद्धिः

एतयैव सत्त्वाङ्गीकारेण व्याघाताभावाद्, अभेदेऽपि भेदकल्पनया धर्मधर्मिभावव्यवहारस्य त्वयापीष्टत्वात्। न च—एवमानन्दस्य ज्ञानमात्रत्वे दुःखज्ञानमप्यानन्दः स्याद्, भिन्नत्वे अखण्डत्वहानिः, एवमेव ब्रह्मणो जगदभिन्नत्वे मिथ्यात्वापत्तिः भिन्नत्वे भेदसत्यत्वमित्यादितर्कबाधात् त्वदभिमतं ब्रह्मापि न सिध्येदिति श्रुतिबाधात्तर्काणामाभासत्वं मन्मते समानमिति—वाच्यम्, दुःखज्ञानस्य वृत्तिरूपतया आनन्दस्य नित्यचिन्मात्रानतिरेके अतिप्रसङ्गाभावाद्; आरम्भणाधिकरणन्यायेन ब्रह्मव्यतिरेकेण जगतः अभावाद् भेदाभेदविकल्पस्यानवकाशात् सगुणश्रुतेरतत्परतया श्रुतिबाधसाम्योक्तेरयुक्तेः, निर्गुणश्रुतेस्तु तत्परतया तदनुगृहीततर्के शुष्कत्वाभावाच्च।

यत्तु निर्विशेषत्वस्य भावाभावाभ्यां मूकोऽहमितिवत् स्वव्याघातः, यदि निर्विशेषत्वरूपविशेषोऽप्यनेनैव निषिध्यते; तर्हीयमपि वचनक्रिया मूकोऽहमित्यनेनैव निषिध्यत इति सममिति, तन्न, निर्विशेषत्वस्य विशेषरूपत्वे विशेषत्वेनैव रूपेण तन्निषेधस्याद्वितीयवाक्ये द्वितीयाभावरूपद्वितीयनिषेधस्येवोपपत्तेः, अन्यथा विशेषत्वावच्छिन्ननिषेधप्रतीतेरनुपपत्तेः, अभावानतिरेके तु स्वरूपानतिरेकितया मूकोऽह-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—दुःख-ज्ञान अनित्य वृत्तिरूप और आनन्द नित्य चिन्मात्ररूप माना जाता है, अतः दोनों की एकरूपता कभी भी नहीं हो सकती। आरम्भणाधिकरण (ब्र० सू० २।१।६) में जब यह निर्णय किया जा चुका है कि ब्रह्म से भिन्न जगत् की स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं मानी जाती, तब 'ब्रह्म जगदभिन्नं चेन्मिथ्या, भिन्नं चेद्भेदस्य सत्यत्वम्"—यह आक्षेप निराधार हो जाता है। आप ने जो यह कहा है कि "श्रुतिबाधात् तर्काणामाभासत्वं त्विहापि समम्।" वह कहना भी असंगत है, क्योंकि सगुण-श्रुति का ब्रह्म की सगुणता से तात्पर्य ही नहीं, अतः श्रुति का बाध यहाँ होता ही नहीं। निर्गुण-श्रुति मुख्यार्थपरक है, अतः निर्गुण-श्रुतिमूलक तर्क में शुष्कत्व या निर्मूलत्व का अभिधान अनुचित है। यह जो आप ने कहा है कि ब्रह्म में निर्विशेषत्वरूप विशेष धर्म के रहते हुए 'निर्विशेषं ब्रह्म'—ऐसा कहना वैसा ही व्याहत है, जैसा कि 'मूकोऽहम्'—ऐसा कहना और निर्विशेषत्वरूप विशेष धर्म का भी 'निर्विशेषं ब्रह्म'—इस एक ही उक्ति में निषेध करने पर 'मूकोऽहम्'—यहाँ पर भी यह कहा जा सकता है कि अन्य शब्दों के साथ-साथ मूकोऽहम्'—इस शब्द का भी निषेध किया जा सकता है। आप का वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि निर्विशेषत्व धर्म भी एक विशेष धर्म है, अतः सकल विशेषों के साथ इस विशेष का भी 'निर्विशेषम्'—इस एक ही उक्ति से वैसे ही निषेध हो जाता है, जैसे 'द्वैतं नास्ति'—इस एक ही उक्ति से द्वैताभावरूप द्वैत का भी निषेध हो जाता है। अन्यथा (निर्विशेषत्वरूप विशेष को छोड़ कर इतर विशेषों का ही निषेध मानने पर) 'निर्विशेषम्'—ऐसा कहने पर जो विशेषत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक (सकल विशेष का) निषेध प्रतीत होता है, वह अनुपपन्न हो जायगा। अभाव को अधिकरण से भिन्न न मानने पर 'निर्विशेषं ब्रह्म'—ऐसा अभिधान किसी

न्यायामृतम्

किं च ब्रह्मणः शून्यादनिर्वाच्याच्च तत्त्वतो विशेषाभावे तत्त्वतस्तदेव स्यात्। भावे तु सविशेषत्वम्। किं च ब्रह्मणो निर्विशेषत्वे वेदान्तविचारविषयत्वमयुक्तम्। तदुक्तम्—

इदमित्थमिति ज्ञानं जिज्ञासायाः प्रयोजनम्।
इत्थंभावो हि धर्मोऽस्य न चेन्न प्रतियोगिता ।। इति।

अद्वैतसिद्धिः

मितिवत्स्ववचनव्याघाताभावस्यैवोक्तत्वाच्च, मूकोऽहमित्यत्र वक्तृत्वतदभावयोरेकरूपेण निषेधाभावाद् व्याघातोपपत्तेः। ननु—ब्रह्मणः शून्यानिर्वाच्यव्यावर्तकविशेषाभावे तुच्छत्वमिथ्यात्वाद्यापत्तेः तत्सत्त्वे सविशेषत्वमिति—चेत्, व्यावर्त्यसमानसत्ताकविशेषाभावेऽपि व्यावृत्तिबोधसमानसत्ताकधर्मेण भिन्नत्वनिर्विशेषत्वयोरुपपत्तेः। अत एव—ब्रह्मणो निर्विशेषत्वे विचारविषयत्वानुपपत्तिः।

'इदमित्थमिति ज्ञानं जिज्ञासायाः प्रयोजनम्।
इत्थंभावो हि धर्मोऽस्य न चेन्न प्रतियोगिता ॥

इति—निरस्तम्, विचारकाले आरोपितधर्मसंभवात्। विचारोत्तरकाले च इत्थमिति व्यवहारस्य स्वरूपव्यावृत्त्यादेश्च कल्पितपार्थक्यमादायोपपत्तेः। ननु—धर्मारोपाथमपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विशेष धर्म का प्रतिपादक न होने के कारण 'मूकोऽहम्' के समान व्याहत नहीं होता, क्योंकि 'मूकोऽहम्'—यहाँ पर वक्ता अपनी जिस वचन क्रिया का निषेध करता है, वही क्रिया 'मूकोऽहम्'—ऐसा कह कर करता भी जाता है, किन्तु प्रकृत में विशेष-निषेधक वाक्य से विशेष का प्रतिपादन नहीं, अपितु निर्विशेष ब्रह्म का ही अभिधान होता है।

शङ्का—ब्रह्म बौद्धाभिमत शून्य तत्त्व और अद्वैतसम्मत अनिर्वचनीय जगत् से भिन्न है, अतः शून्य और अनिर्वचनीय का भेदक (व्यावर्तक) कोई विशेष धर्म ब्रह्म में माना जाता है ? अथवा नहीं ? यदि नहीं, तब ब्रह्म भी शून्य के समान तुच्छ और जगत् के समान मिथ्या हो जाता है और यदि कोई भेदक धर्म-विशेष माना जाता है, तब सविशेष हो जाता है।

समाधान—शून्य और अनिर्वचनीय जगत् से अवश्य ही ब्रह्म व्यावर्तनीय है और ब्रह्म में शून्य और जगत् की व्यावृत्ति (भेद) और व्यावर्त्तक विशेष धर्म भी माना जाता है, किन्तु वह विशेष धर्म व्यावर्त्यरूप ब्रह्म के समानसत्ताक (पारमार्थिक) नहीं माना जाता, अपितु व्यावृत्ति-समानसत्ताक (व्यावहारिक) माना जाता है, अतः ब्रह्म में व्यावहारिक सविशेषत्व और पारमार्थिक निर्विशेषत्व—दोनों बन जाते हैं।

यह जो आक्षेप किया गया है कि ब्रह्म यदि निर्विशेष है, तब न सन्दिग्ध होगा, न जिज्ञास्य (विचारणीय) और न विचार का फल ही सम्भव होगा, क्योंकि 'पुरुषोऽयम्'—इस प्रकार 'इदम् इत्थम्' या सप्रकारक रूपेण वस्तु का निर्णय ही विचार का फल माना जाता है, अतः ब्रह्म में इत्थंभाव (सप्रकारत्व) न मानने पर शून्याद्यनुयोगिक भेद की प्रतियोगिता न बन सकेगी।

वह आक्षेप भी इसीलिए निरस्त हो जाता है कि विचार के समय अशून्यत्व, निर्वाच्यत्व और सत्यत्वादि का आरोप कर लेने मात्र से विचारादि की उपपत्ति हो और विचार के उत्तर काल ज्ञानावस्था में लेशाविद्या-प्रयुक्त काल्पनिक पृथक्त्व को लेकर निर्वाह हो जाता है।

न्यायामृतम्

किं च ब्रह्मणि धर्मारोपार्थमेव केचिद्धर्माः सत्याः स्वीकार्याः इदंत्वादिना ज्ञात एव शुक्त्यादौ धर्मान्तरारोपात् । तदुक्तम्—

धर्मारोपोऽपि सामान्यधर्मादीनां हि दर्शने ।
सर्वधर्मविहीनस्य धर्मारोपः क्व दृश्यते ॥ इति ।

अभावरूपधर्माः सन्तीति चेन्नाभावत्वं तत्र हेतुः, अतिप्रसंगात् । किं तु प्रामाणिकत्वं तच्च भावेष्वपि समम् । यदि चाभावो ब्रह्माभिन्नः यदि वा पञ्चमप्रकारो न तु सन्निति सदद्वैताविरोधी, तर्हि भावोऽपि तथास्तु । तस्मात्—

ब्रूतेऽसतोऽपि मोहादीन्दोषान्विष्णोर्गुणान् सतः ।
निह्नुते परमे तत्त्वे द्वेषादेवासुरो जनः ॥

तस्माद् ब्रह्मसगुणमेवेति । ब्रह्मणो निर्गुणत्वभंगः ॥ ४ ॥

अद्वैतसिद्धिः

केचन धर्माः सत्याः स्वीकर्तव्याः, इदंत्वादिना ज्ञात एव रूप्याद्यारोपदर्शनात् । तदुक्तम्—

धर्मारोपोऽपि सामान्यधर्मादीनां हि दर्शने ।
सर्वधर्मविहीनस्य धर्मारोपः क्व दृश्यते ॥

इति—चेन्न, इदन्त्वादेरपि सत्यत्वासंप्रतिपत्तेः, शुद्धेऽप्यध्यासस्योपपादितत्वाच्च, आरोप्यविलक्षणधर्मवत्त्वस्यानाद्यविद्यासंबंधेनैवोपपत्तेः । अत एव—अभावरूपधर्माङ्गीकारे भावोऽप्यस्तु, प्रामाणिकत्वाविशेषादिति—निरस्तम् ; स्वरूपातिरेकिणोऽभावस्याप्यनङ्गीकाराद् , धर्ममात्रे प्रामाणिकत्वस्य निराकृतत्वाच्च । तस्मान्निर्विशेषं परं ब्रह्म ।

इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो निर्विशेषत्वनिर्गुणत्वोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—ब्रह्म में किसी भी धर्म का आरोप करने के लिए कोई वास्तविक धर्म वैसे ही मानना पड़ेगा, जैसा कि रजतादि का आरोप करने के लिए शुक्ति में 'शुक्तित्व' धर्म वास्तविक देखा जाता है, जैसा कि स्वयं आचार्य ने कहा है—

धर्मारोपोऽपि सामान्यधर्मादीनां हि दर्शने ।
सर्वधर्मविहीनस्य धर्मारोपः क्व दृश्यते ॥

[शुक्तिगत इदन्त्वादि सामान्य धर्मों का ज्ञान होने पर ही रजतत्वादि आरोप होता है, सर्व धर्म-रहित धर्मी में धर्मारोप कहीं भी नहीं देखा जाता] ।

समाधान—'इदं रजतम्'—इस प्रकार का आरोप अवश्य ही इदन्त्वादि धर्मों से युक्त धर्मी में देखा जाता है, किन्तु इदन्त्वादि धर्मों का वास्तविक होना आवश्यक नहीं तथा निर्धर्मक शुद्ध वस्तु में भी आरोप का उपपादन अनादि अविद्या के आधार पर किया जा चुका है, क्योंकि अधिष्ठान में आरोप्यावृत्तिधर्मवत्ता अनादि अविद्या के सम्बन्ध से बन जाती है । अत एव जो यह कहा गया है कि 'ब्रह्म में अभावरूप निर्विशेषत्वादि धर्मों को मानने पर भावरूप अनन्तत्वादि धर्मों को भी मान लेना चाहिए, क्योंकि जैसा अभावात्मक धर्म प्रमाण-सिद्ध हैं, वैसे ही भावात्मक धर्म । वह कथन भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि अभावात्मक धर्मों को भी ब्रह्मस्वरूप ही माना जाता है, पृथक् नहीं, अखण्ड धर्मी से भिन्न धर्ममात्र की प्रामाणिकता का निराकरण किया जा चुका है, अतः 'निर्विशेषं परं ब्रह्म'—यह सिद्ध हो गया ।

: ५ :

निर्गुणे प्रमाणविचारः

न्यायामृतम्

निर्गुणे प्रमाणभंगः—

किं च निर्विशेषे किं प्रमाणम् ? न च तत्स्वतः सिद्धम्, निरस्तत्वाद्, यद् यद्विप्रतिपन्नं तत्सर्वमपि स्वतःसिद्धमिति सुवचत्वाच्च, विप्रतिपत्त्ययोगाच्च, शास्त्र-वैयर्थ्याच्च। न चाज्ञाननिवृत्त्यर्थं शास्त्रम्, अज्ञानाविरोधिन्याः स्वतः सिद्धेर्घटावादपि सुवचत्वात्। न च तत्र प्रत्यक्षं मानम्, अपसिद्धान्तात्, "नेन्द्रियाणि नानुमान"-मित्यादि श्रुतेश्च, शास्त्रवैयर्थ्याच्च। अत एव नानुमानं व्याप्त्या व्यापकतावच्छेदक-विशिष्टत्वेन पक्षधर्मतया च पक्षसंसृष्टत्वेन सिद्ध्या तेन निर्विशेषासिद्धेश्च। नापि पदरूपः शब्दस्तत्र मानम्, गुणक्रियाजातिरूपनिमित्ताभावेन मुख्यवृत्तेरयोगात्। अस्वीकाराच्च। वैदिकशब्दस्य डित्थादिवत्सांकेतिकत्वायोगाच्च। आरोपितनिमित्त-विशिष्टविषयप्रतीतेश्च निर्विशेषे प्रामाण्यायोगात्। गौण्याश्च मुख्यार्थगुणयुक्ततयैव स्वार्थोपस्थापकत्वात्। लक्षणायाश्च शक्यार्थसम्बन्धितावच्छेदकरूपवत्तयैव स्वार्थोप-

अद्वैतसिद्धिः

ननु—निर्विशेषे किं प्रमाणमिति—चेत्, स्फूर्त्यर्थं वा अज्ञाननिवृत्त्यर्थं वा प्रमाण-प्रश्नः। आद्ये स्वप्रकाशतया प्रमाणवैयर्थ्यम्। न च विप्रतिपन्ने स्वतःसिद्धेर्वक्तुं शक्यतया अतिप्रसङ्गः, अभावव्यावृत्तिबोधकप्रमाणसत्त्वासत्त्वाभ्यां विशेषाद्; द्वितीये उपनिषद एव प्रमाणत्वात्। अत एव प्रत्यक्षमनुमानं वेत्यादिविकल्पस्य नावकाशः। ननु—कथं तत्रोपनिषत् मानम् ? जातिगुणक्रियादिरूपनिमित्ताभावेन मुख्यवृत्तेर-योगाद् अस्वीकाराच्च, आरोपितनिमित्तविषयप्रतीतेर्निर्विशेषे प्रामाण्यायोगाद्, गौण्याश्च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न्यायामृतकार ने जो यह प्रश्न किया है कि निर्विशेषे किं प्रमाणम् ? वह स्फूर्ति (ज्ञान) के विषय में है ? अथवा अज्ञान-निवृत्ति के विषय में ? अर्थात् (१) निर्विशेषस्य ज्ञानं केन प्रमाणेन भवति ? अथवा (२) निर्विशेषस्याज्ञानं केन प्रमाणेन निवर्त्यते ? ऐसा प्रश्न अभिप्रेत है ? प्रथम प्रश्न असंगत है, क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म स्वयंप्रकाश है, उसका प्रकाश या ज्ञान किसी भी प्रमाण से नहीं होता और द्वितीय प्रश्न का उत्तर है कि निर्विशेष ब्रह्म औपनिषद है, अतः केवल उपनिषत् प्रमाण से उसका अज्ञान निवृत्त होता है, जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—

माहात्म्यमेतच्छब्दस्य यदविद्यां निरस्यति।
सुषुप्त इव निद्राया दुर्बलत्वाच्च बाधते॥ (बृह० वा. पृ० ६०५)

अत एव प्रत्यक्षम् ? अनुमानं वा ? यह प्रश्न भी यहाँ नहीं उठ सकता।

शङ्का—उपनिषत् शब्दात्मक है, शब्द की प्रवृत्ति जाति, गुण, क्रियादि प्रवृत्ति-निमित्त (शक्यतावच्छेदक) के सम्बन्ध से ही होती है, निर्विशेष ब्रह्म में जाति, गुण और क्रियादि न होने के कारण उपनिषत् की मुख्य (अभिधा) वृत्ति सम्भव नहीं और आप (अद्वैतियों) के द्वारा वाच्यता स्वीकृत भी नहीं। प्रवृत्ति-निमित्तभूत धर्मों का आरोप कर ब्रह्म में उपनिषत् वाक्यों की प्रवृत्ति मानने पर सविशेष में ही अभिधेयत्व पर्यवसित होता है, निर्विशेष में नहीं, उपनिषत् में निर्विशेषार्थ का प्रामाण्य सम्भव नहीं। उपनिषत् की गौणी वृत्ति मुख्यार्थभूत गुण के सम्बन्ध से ही होती है, निर्विशेष में

न्यायामृतम्

स्थापकत्वात् । पदस्यान्वयप्रतियोगितावच्छेदकरूपेणैव स्वार्थोपस्थापकतया निर्विशेषे वृत्तिमात्रायोगाच्च । अत एव नोपनिषद्वाक्यरूपः शब्दस्तत्र मानम्, असंसर्गत्वात् ।

अद्वैतसिद्धिः

मुख्यार्थगुणयुक्ततयैव लक्षणायाश्च शक्यार्थसंबन्धितावच्छेदकरूपवत्तयैव स्वार्थोपस्थापकत्वात्, पदस्यान्वयितावच्छेदकरूपेण स्वार्थोपस्थापकतया निर्विशेषे वृत्तिमात्रायोगात्, पदविधया वाक्यविधया चोपनिषद् मानं न निर्विशेषे, संसर्गागोचरत्वाच्चेति—चेन्न, मुख्यगौण्यसंभवेऽपि लक्षणायाः संभवात् । न च लक्षकपदे शक्यार्थसम्बन्धित्वावच्छेदकरूपवत्तया पदमात्रेऽन्वयितावच्छेदकरूपवत्तया च उपस्थितिनियमः, संसर्गबोधकवाक्यस्थपदानामेव तथात्वात् । न च संसर्गागोचरत्वे प्रमाणवाक्यत्वानुपपत्तिः, असन्दिग्धाविपर्यस्तबोधकतया निर्विकल्पकत्वेऽपि प्रामाण्यस्याकाङ्क्षादिमत्तया वाक्यत्वस्य चोपपत्तेर्वृत्तिमन्तरेणापि सुप्तोत्थापकवाक्यस्येव वेदान्तवाक्यस्य निर्विशेषे प्रामाण्यस्य वार्तिककृद्भिरुपपादितत्वाच्च । तथा हि—

अगृहीत्वैव सम्बन्धमभिधानाभिधेययोः ।
हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुषुप्ते बोधिताः परैः ॥
जाग्रद्वन्न हि सम्बन्धं सुषुप्ते वेत्ति कश्चन ॥'

इत्यादिना ग्रन्थेन विनापि सम्बन्धं वाक्यस्य प्रामाण्यमुपपादितम् । लक्षणा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वह भी सम्भावित नहीं । लक्षणा वृत्ति भी वाच्यार्थ-सम्बन्धिता के अवच्छेदकीभूत तीरत्वादि धर्मों के योग से ही स्वार्थ की उपस्थापिका मानी जाती है, निर्विशेष में कैसे होगी ? अभिधा, गौणी और लक्षणा वृत्तियों को छोड़कर पद की और भी कोई वृत्ति निर्विशेष में नहीं हो सकती, क्योंकि पद अन्वयितावच्छेदक धर्म को लेकर ही स्वार्थ का उपस्थापक होता है, अतः निर्विशेष में पद की कोई भी वृत्ति नहीं हो सकती, फलतः पद और वाक्य के रूप में उपनिषत् निर्विशेषार्थ के प्रमापक नहीं हो सकते, क्योंकि निर्विशेषार्थक वाक्य संसर्गावगाही नहीं होते ।

समाधान—उपनिषत् की निर्विशेषार्थ में मुख्य (अभिधा) और गौणी वृत्ति के न हो सकने पर भी लक्षणा वृत्ति सम्भव है । लक्षक पदों को अपने स्वार्थोपस्थापन में न तो शक्यार्थ-सम्बन्धिता के अवच्छेदक धर्म की अपेक्षा होती है और न पद मात्र में अपेक्षित अन्वयितावच्छेदक धर्म की, क्योंकि संसर्ग-बोधक वाक्य के घटक पदों को ही उक्त धर्मों की अपेक्षा होती है, अखण्डार्थक वाक्य के घटक पदों को नहीं । वेदान्त-वाक्य संसर्गावगाही ज्ञान के जनक न होने पर असन्दिग्ध अविपर्यस्त निर्विकल्प बोध के जनक होने के कारण प्रमाण माने जाते हैं एवं आकाङ्क्षादि-विशिष्ट होने के कारण वाक्य भी कहे जाते हैं । वेदान्त-वाक्यों की निर्विशेषार्थ में कोई भी वृत्ति न होने पर भी सुप्त पुरुष के उत्थापक (प्रबोधक) वाक्यों के समान निर्विशेषार्थ-पर्यवसायी होने के कारण वार्तिककार ने वेदान्त-वाक्यों को प्रमाण माना है—

अगृहीत्वैव सम्बन्धं अभिधानाभिधेययोः ।
हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुषुप्ते बोधिताः परैः ॥ (बृह० वा. पृ० ६०)

[पार्श्वस्थ व्यक्तियों का 'उत्तिष्ठत जाग्रत'—ऐसा वाक्य सुनते ही सुषुप्त पुरुष वाक्य और वाक्यार्थ का सम्बन्ध न जानकर भी जाग जाते हैं । यहाँ यह अनुभवसिद्ध है कि

न्यायामृतम्

धर्मिज्ञानाधीनविचारजन्यं निर्धारितैककोट्यवलम्बितं सप्रकारकनिश्चयं प्रत्येव तस्य हेतुत्वाच्च। निष्प्रकारकज्ञानं नेत्युक्तत्वाच्च । निर्विशेषविषयकज्ञानस्य निष्प्रकारकत्वे

अद्वैतसिद्धिः

पक्षेऽपि तात्पर्यविशेषाग्रहेणैवातिप्रसङ्गभङ्गो वाच्यः। शक्यसम्बन्धस्यानेकत्र संभवात्, तात्पर्यविशेषग्रहश्च पुरुषविशेषस्य भवति, न सर्वस्य, पुरुषगतो विशेषः अन्तःकरण-शुद्धिरूपः प्रतिबन्धाभावः । अन्तःकरणशुद्धिरूपस्य पापस्य च प्रतिबन्धकत्वं 'ज्ञान-मुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मण' इत्यादिशास्त्रसिद्धम्। तथा च प्रतिबन्धक्षये विनापि सम्बन्धं शब्दादात्मसाक्षात्कार इति निरवद्यम्। विस्तृतमिदमस्माभिः गीता-निबन्धने। न च—अनिर्धारितैककोटिप्रकारकनिश्चयं प्रत्येव धर्मिज्ञानाधीनविचारस्य जनकत्वात् कथं विचारसध्रीचीनवेदान्तवाक्यज्ञानस्य निष्प्रकारकत्वमिति—वाच्यम्, संशयनिवृत्तिक्षमज्ञानस्यैव विचारफलत्वात् । तस्याश्च विरोधिकोटिप्रतिक्षेपकोप-लक्षितधर्मिज्ञानादप्युपपत्तेर्न तदर्थं सप्रमारकत्वनियमः। न च गौरवम्, प्रमाणवतो गौरवस्य न्याय्यत्वात्। न च—निर्विशेषविषयकस्य ज्ञानस्य निष्प्रकारकत्वे निर्विशेष-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाग्रत के समान सुषुप्ति अवस्था में शब्द और अर्थ का संगति-ग्रह नहीं होता]। इससे वार्तिककार ने यह तथ्य स्पष्ट कर दिया है कि अगृहीतशक्तिक पद भी बोधक अत एव प्रमाण होते हैं। लक्षणा-स्वीकार पक्ष में भी उन्हीं व्यक्तियों को प्रमाणाभिधान के बिना निर्विशेषार्थ की स्फूर्ति (ज्ञान) होता है, जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, अतः जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं, उनके लिए प्रमाणानभिधान-प्रसङ्ग-उपस्थित नहीं होता, क्योंकि शक्यसम्बन्ध का ज्ञान तो बहुत पुरुषों को हो जाता है, किन्तु तात्पर्यग्रह किसी-किसी विशिष्ट (विरले) पुरुष को ही होता है, सभी को नहीं। पुरुषगत विशिष्टता अन्तः-करण की शुद्धिरूप अप्रतिबन्धकता है। अन्तःकरण की अशुद्धि (पाप-युक्तता) ज्ञान की प्रतिबन्धक कही गई है—''ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः।'' अतः प्रतिबन्ध की निवृत्ति होने पर सम्बन्ध-ज्ञान के बिना भी वेदान्त-वाक्यों के द्वारा आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। इस विषय का विस्तार गीता की गूढार्थदीपिका में किया गया है।

शङ्का—धर्मिज्ञानाधीन विचार सदैव पहले से अनिश्चित पुरुषत्वादि एक कोटि-प्रकारक निश्चय का ही जनक माना जाता है, अतः विचार-सहकृत वेदान्त-वाक्य-जन्य ज्ञान निष्प्रकारक क्योंकर होगा ?

समाधान—संशय-निवृत्ति में समर्थ ज्ञान ही विचार का फल होता है, संशय की निवृत्ति तो अनभिमत कोटि-प्रतिक्षेपकोपलक्षित निष्प्रकारक धर्मिज्ञान से भी हो जाती है, अतः संशय-निवृत्ति के लिए ज्ञान का सप्रकारक होना अनिवार्य नहीं होता। 'सप्रकारक और निष्प्रकारक—उभयविध निश्चय को संशय का निवर्तक मानने में गौरव और सप्रकारकरूप एकविध निश्चय को संशय-निवारक मानने में लाघव हैं'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रमाण-सिद्ध पदार्थ लघु हो या गुरु मानना ही पड़ता है।

शङ्का—निर्विशेषविषयक ज्ञान यदि निर्विशेषत्व या विशेषाभावरूप प्रकार से रहित है, तब उसमें निर्विशेषत्व सिद्ध नहीं होता, अतः निर्विशेषत्व की सिद्धि के लिए विशेषाभावरूप प्रकारवत्ता का होना आवश्यक है।

समाधान—विशेषाभाव को स्वप्रकाश ब्रह्म का स्वरूप माना जाता है, अतः उसके

न्यायामृतम्

तेन निर्विशेषत्वासिद्धया तत्सिद्धयर्थमेव विशेषाभावरूपविशेषविषयत्वस्यावश्यक-त्वाच्च । तस्मात्सगुणमेव ब्रह्मेति ।

निर्गुणे प्रमाणभंगः ॥ ५ ॥

अद्वैतसिद्धिः

त्वासिद्धया तत्सिद्धया तत्सिद्धयर्थं विशेषाभावरूपविशेषविषयत्वस्यावश्यकत्वमिति-वाच्यम् , विशेषाभावस्य स्वरूपतया तत्स्फूर्तौ प्रमाणानपेक्षत्वात् , अखण्डार्थसिद्धयनु-कूलपृथग्जातपदार्थोपस्थितिविषयत्वमात्रेण विशिष्टव्यवहारोपपत्तेः । तस्मात्सगुणत्वे साधकाभावाद् बाधकसद्भावाच्च निर्गुणत्वे तदभावात् निर्गुणमेव ब्रह्मेति सिद्धम् ॥

इति अद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो निर्गुणत्वे प्रमाणोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ज्ञान के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अखण्डार्थ-सिद्धि के अनुकूल पूर्व क्षणोत्पन्न पृथक्जात (व्यावृत्त प्रतियोगीभूत विशेष) पदार्थ की उपस्थिति मात्र से विशेषाभाव-विशिष्टम्—इस प्रकार का व्यवहार हो जाता है, वस्तुतः विशेषाभावोपलक्षित ब्रह्म तत्त्व का ही ज्ञान उस काल में होता है । फलतः ब्रह्म की सगुणता का साधक न होने, प्रत्युत बाधक प्रमाण के होने एवं निर्गुणता का बाधक न होने से 'निर्गुण ब्रह्म'—यह सिद्ध हो गया ।

: ६ :

ब्रह्मणो निराकारत्वविचारः

न्यायामृतम्

एतेन ब्रह्मणो निराकारत्वमपि निरस्तम्। "आदित्यवर्णं तमसः परस्ताद्" "यदा पश्यः पश्यते रुग्मवर्णम्", "ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिंगलम्", "विश्वतश्चक्षुः", "सहस्रशीर्षा पुरुषः", "सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वशंभुवम्। यदेकमव्यक्तमनन्तरूपम्"—इत्यादि श्रुतिभिः। "पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः", नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च। सर्वतः पाणिपादन्तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्"—इत्यादि स्मृतिभिः। तदनुगृहीतैः 'ब्रह्म सविग्रहं स्रष्टृत्वात् पालयतृत्वाद्वेदोपदेष्टृत्वात्'—इत्याद्यनुमानैश्चाकारसिद्धेः। विग्रहं विनापि नित्यज्ञानेनैव कर्तृत्वे ज्ञानेच्छे अपि विना नित्यप्रयत्नेनैव तत्स्यात्। किं च कुलालादौ न शरीरं ज्ञानाद्युपक्षीणं किं तु ज्ञानादिकमेव शरीरचेष्टोपक्षीणम्। अत एव विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्त"मिति सूत्रे ईश्वरस्य कर्तृत्वार्थं "बुद्धिमान् मनोवान् अंगप्रत्यंगवानि"ति श्रुत्या सकरणत्वमुक्तम्। किं च "तदेवानुप्राविशत्" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्"—इत्यादि श्रुतिसिद्धं सर्वगतस्य ब्रह्मणः प्रवेष्टृत्वं गम्यत्वमित्यादि न विग्रहविशेषं विना युक्तम्। न च श्रुतिरवान्तरब्रह्मपरा वा रूपोपासनापरा वा आरोपितरूपपरा वेति युक्तम्, "आदित्यवर्ण"मित्यत्र प्रकृत्याख्यतमः परत्वोक्तेः। "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते"—इत्यत्र च

अद्वैतसिद्धिः

एवं निराकारमपि। ननु—'आदित्यवर्णं तमसः परस्ताद्', 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्, 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्', 'विश्वतश्चक्षुः,' 'सहस्रशीर्षा'—इत्यादिश्रुतिभिः 'पश्य मे पार्थ रूपाणि', 'सर्वतः पाणिपादं तद्—इत्यादिस्मृतिभिः ब्रह्म, सविग्रहम्, स्रष्टृत्वात्, पालयितृत्वादुपदेष्टृत्वादित्याद्यनुमानैश्च विग्रहसिद्धिरिति—चेन्न, आदित्यवर्णमित्यस्याविद्याविलक्षणस्वप्रकाशस्वरूपप्रतिपादनपरतया उपास्यपरतया चोपपत्तेः। न च तमसः परत्वोक्त्योपासनापरत्वानुपपत्तिः, उपास्यविग्रहोपलक्षितस्य तमसः परत्वोक्तेः, न तु रूपविशिष्टस्य। न च—'एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यत' इत्यत्र वर्तमानत्वेनापरोक्षज्ञानविषयत्वोक्तेरनारोप्यत्वम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इसी प्रकार ब्रह्म निराकार भी है।

शङ्का—"आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" (श्वेता० ३।८), "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्" (मुं० ३।१।३), "ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्" (म० ना० उ० १२।१), "विश्वतश्चक्षुः" (श्वेता० ३।३) तथा "सहस्रशीर्षा" (मा० सं० ३१।१) इत्यादि श्रुतियों तथा "पश्य में पार्थ रूपाणि" (गी० ११।५), "सर्वतः पाणिपादम्" (गी० १३।१३) इत्यादि स्मृतियों के द्वारा ब्रह्म साकार सिद्ध होता है।

समाधान—'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'—यह वाक्य अविद्यारूप तम से विलक्षण प्रकाशरूपता मात्र का प्रतिपादक अथवा उपास्य ब्रह्म का समर्पक है। 'तमसः परस्तात्'—इस वाक्य के द्वारा उपास्य विग्रह से उपलक्षित निरुपाधिक तत्त्व का अभिधान किया गया है, उपास्य रूप सोपाधिक तत्त्व का नहीं।

शङ्का—"एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते" (छां० १।६।६) यहाँ हिरण्मय विग्रह में वर्तमानत्वेन अपरोक्ष-विषयता का अभिधान यह सिद्ध कर रहा है

न्यायामृतम्

वर्तमानत्वेनापरोक्षज्ञानविषयत्वोक्तेश्च । न हि योषित्यग्नित्वं दृश्यत' इत्युच्यते ।

अद्वैतसिद्धिः

न हि योषितोऽग्नित्वं दृश्यत इत्युच्यत इति– वाच्यम् , प्रतीकोपासने उपास्यसाक्षात्कारनियमाभावेऽपि सगुणोपासने उपास्यसाक्षात्कारस्य तस्य स्यादद्धेति श्रुतिसिद्धस्य नियतत्वेन तस्यैव दर्शनशब्देनाभिधानाद् , विश्वतश्चक्षुरित्यादिश्रुतिस्मृतीनां सर्वात्मकतया सर्वान्तर्यामितया च नियम्यजीवशरीरचक्षुःपाणिशिरःप्रभृत्यनुवादित्वोपपत्तेः, सर्वतः पाणिपादत्वादेस्तु असंभवात् , त्वयाप्येवमेव वक्तव्यत्वात् । अन्यथा देशविशेषावच्छेदेन परममुक्तिप्रतिपादनं गम्यत्वप्रवेष्टृत्वाद्युपपादनं च त्वदीयमसङ्गतं स्यात् । अनुमानेऽप्येवमेव सिद्धसाधनम् । 'विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्त'मिति सूत्रे अविद्यापरिणामस्य करणस्थानीयस्याङ्गीकारादविरोधात् ।

यत्तु—'तदेवानुप्राविशद् ब्रह्मविदाप्नोति पर' मित्यादिश्रुतिसिद्धं सर्वगतस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कि उक्त विग्रह आरोपित नहीं, वास्तविक है, क्योंकि योषितगत आरोपित अग्नित्व वर्तमानतया प्रत्यक्ष नहीं होता ।

समाधान—संक्षेपतः उपासना दो प्रकार की होती है–(१) प्रतीकोपासना और (२) अहंग्रहोपासना, योषितादि को निमित्त या प्रतीक बना कर जो अग्न्यादि की उपासना की जाती है, उसे प्रतीकोपासना और अहंग्रह रूप से सगुणोपासना को अहंग्रहोपासना कहा जाता है । प्रथम प्रकार की उपासना में उपास्य के साक्षात्कार का नियम न होने पर भी द्वितीय प्रकार की सगुणोपासना में उपास्य का साक्षात्कार आवश्यक बताया गया है—"यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ति" (छां० ३।१४।४) अर्थात् जिस उपासक को उपास्य का अद्धा (साक्षात्कार) होता है, उस उपासक को "उपासना-फलं भविष्यति ? न वा ? इस प्रकार का सन्देह नहीं रहता । उसी अहंग्रहोपासना के उपास्य तत्त्व का अभिधान "पुरुषो दृश्यते'—यहाँ दृश्यते पद से किया गया है । "विश्वतश्चक्षुः"—इत्यादि श्रुति और स्मृति वाक्यों में ईश्वर-द्वारा नियन्त्रित जीव के शरीर में विद्यमान चक्षुः, पाणि और शिर आदि का अनुवादमात्र किया जाता है, अर्थात् समष्टि जीवों के विग्रहों में ईश्वरीय विग्रह का उपचार ईश्वर की सर्वात्मकता और सर्वान्तिर्यामिता ध्वनित करने के लिए किया गया है, क्योंकि विग्रह के अवयवभूत (अव्यापक) पाणि और पादादि का सर्वतः (व्यापक) होना सम्भव नहीं—इस तथ्य से आप भी नकार नहीं सकते, अन्यथा (यदि ईश्वरीय शरीर सर्व देशवृत्ति पाणि, पादादि से युक्त है, तब) आप (माध्व) ने जो वैकुण्ठादि देशावच्छेदेन ईश्वरीय शरीर की प्राप्तिरूप मुक्ति एवं शरीरधारी ईश्वर का समस्त कार्य में अन्तर्यामीरूप से प्रवेशादि का प्रतिपादन किया है, वह असङ्गत हो जाता है ।

ईश्वर की साकारता सिद्ध करने के लिए न्यायामृतकार ने जो अनुमान-प्रयोग किया है—'ब्रह्म सविग्रहम्, स्रष्टृत्वात्, पालयितृत्वाद् वेदोपदेष्टृत्वात् ।' वह भी सिद्ध-साधन दोष से युक्त है, क्योंकि "विकरणत्वान्नेति चेत् तदुक्तम्" (ब्र. सू. २।१।३१) इस सूत्र के द्वारा विकरण (करण-रहित) ईश्वर में भी करणस्थानीय अविद्या-परिणाम को सिद्ध और स्वीकार किया गया है। अतः इस अनुमान से ब्रह्म की वास्तविक निराकारता का विरोध नहीं होता ।

न्यायामृतम्

"सहस्रशीर्षा"त्यत्र तमेवं विद्वानमृत इह भवती"ति "यदा पश्य" इत्यत्र च "तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूये"ति "न संदृशे तिष्ठति रूपस्ये"त्यत्र च "य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ती"ति तज्ज्ञानस्य मोचकत्वोक्तेश्च। "देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिण" इत्युक्तरूपस्य "ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतपे"ति स्मृतौ मुक्तगम्यत्वाद्युक्तेश्च। अत एवेदं रूपं न

अद्वैतसिद्धिः

ब्रह्मणः प्रवेष्टृत्वं गम्यत्वं च विग्रहं विना न युज्यते—इति, तन्न; स्वसृष्टकार्याभिव्यक्तत्वस्यैवानुप्रवेशशब्दार्थतया व्यापकस्य मुख्यप्रवेशासंभवात्, स्वतः प्राप्तस्यापि अविद्यातिरोधाननिवृत्त्यपेक्षया प्राप्यत्वोपचारेण विग्रहानाक्षेपकत्वात्। यत्तु 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' 'यदा पश्य' इत्यादिश्रुतौ सर्वनाम्ना सविग्रहस्यैव परामर्शात् तज्ज्ञानस्यैव मोचकत्वे सविग्रहत्वमिति, तन्न; सगुणविद्यायाः क्रममुक्त्यर्थत्वेनान्यथासिद्धेः, साक्षान्मुक्तिजनकत्वपक्षे तदुपलक्षितात्मज्ञानस्यैव मोचकत्वात्। अत एव—देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः'—इत्यादिस्मृतिरपि व्याख्याता। किं च विग्रहः किं भौतिकः? अभौतिको वा? अभौतिकोऽपि मायिकः? अमायिको वा? अमायिकोऽपि ब्रह्मभिन्नः? अभिन्नो वा? भौतिकमायिकावपि कर्मार्जितौ? परकर्मार्जितो वा? आद्ये

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यह जो कहा गया है कि "तदेवानुप्राविशत्" (तै. उ. २।६।१) तथा "ब्रह्म विदाप्नोति परम्" (तै. उ. २।१।१) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित सर्वगत (विभु) ब्रह्म में प्रवेश-कर्तृत्व तथा जीव-द्वारा गम्यत्व (प्राप्यत्व) शरीर के विना सम्भव नहीं, अतः ब्रह्म की सशरीरता और साकारता सिद्ध होती है।

वह भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि व्यापक ब्रह्म का वास्तविक प्रवेश सम्भव नहीं, अतः स्व-रचित कार्य-वर्ग में ब्रह्म का अभिव्यक्त होना ही यहाँ प्रवेश माना जाता है। स्वयंप्रकाश ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होने पर भी अनादि अविद्या के आवरण से आवृत है, उस आवरण की निवृत्ति हो जाने पर प्राप्त-जैसा समझा जाता है, अविद्या-निवृत्ति के लिए किसी प्रकार के साकार विग्रह की आवश्यकता नहीं।

यह जो कहा गया है कि "पुरुषं कृष्णपिंगलम् (नृ. पू. ता. १।६), "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्" (मुं. ३।१।३) तथा "न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य" (कठो० ६।९) इन वाक्यों में प्रतिपादित साकार विग्रहों का क्रमशः "तमेवंविद्वानमृत इह भवति" (नृ. पू. ता. १।६), 'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय" (मुं. ३।१।३) तथा "य एवं विदुरमृतास्ते भवन्ति" (कठो. ६।९) इन वाक्यों के द्वारा परामर्श होने के कारण शरीरधारी परमात्मा साकार सिद्ध होता है।

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि सगुण-विद्या अवश्य ही मोक्षप्रद है, किन्तु क्रम मुक्ति की ही उसमें जनकता मानी जाती है, परम मुक्ति की नहीं। यदि वहाँ 'मोक्ष' पद से साक्षात् मोक्ष विवक्षित है, तब वहाँ कथित विग्रहोपलक्षित ब्रह्म का ज्ञान ही मोक्ष प्रदत्वेन अभिप्रेत है। अत एव "देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः" (गी० ११।५२) इत्यादि स्मृतियों का तात्पर्य भी प्रस्फुटित हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि ईश्वरीय विग्रह (शरीर) भौतिक है? या अभौतिक? अभौतिक भी मायिक है? या अमायिक? अमायिक विग्रह भी ब्रह्म से भिन्न है? या अभिन्न? भौतिक और मायिक विग्रह भी स्वकीय धर्माधर्म से उपार्जित है? अथवा परकीय (जीव के) कर्मों से

न्यायामृतम्

भौतिकं प्राकृतं अनित्यं वा। "नाभ्या आसीदन्तरिक्ष" मित्यादौ भूतकारणत्वस्य, तमसः परस्तादि"ति श्रुतौ "तमसः परत्वस्य, सर्वतः पाणिपादन्त'दिति स्मृतौ च न सत्तन्नासदुच्यत"इति पूर्वत्राभौतिकत्वस्य, तमसः परमुच्यत"इति परत्राप्राकृतत्वस्य चोक्तेः। एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शंकर"इत्यादिषु महाप्रलये स्थित्युक्तेश्च। प्रलये विग्रहरहितचेतनमात्रसत्त्वस्य सर्वसाधारण्यात्। विग्रहानित्यत्वे नित्यो नित्यानां

अद्वैतसिद्धिः

संसारित्वापत्तिः, द्वितीये इष्टापत्तिः। ब्रह्मभिन्नत्वे तवापसिद्धान्तः, नेति नेतीतिश्रुतिविरोधः, 'अपाणिपाद' इत्यादि श्रुतिविरोधश्च। अभौतिकामायिकब्रह्माभिन्नदेहाङ्गीकारे उक्तश्रुतिविरोधः, चार्वाकमतप्रवेशश्च, प्रमाणाभावश्च,। न च 'नाभ्या आसीदन्तरिक्ष'मिति भूतकारणत्वोक्त्या अभौतिकत्वासिद्धिः; अग्निर्मूर्द्धे' त्यादिश्रुतिपर्यालोचनयान्तरिक्षादीनां नाभित्वादिपरिकल्पनया विराड्देहप्रतिपादकतया शरीरस्य भूतकारणत्वाप्रतिपादकत्वात्, तमसः परस्तादित्यादेश्च विराड्देहोपलक्षितब्रह्मपरतया विग्रहस्य तमसः परत्वाप्रतिपादकत्वात्। न च 'एको नारायण आसीत् न ब्रह्मा न च शङ्कर' इति श्रुत्या महाप्रलये नारायणस्थित्युक्त्या नित्यविग्रहसिद्धिः, नारायणशब्दस्य 'सदेव सा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जनित है ? प्रथम (स्वकीयकर्मार्जितत्वपक्ष) कल्प में ईश्वर को भी जीव के समान कर्ता-भोक्ता संसारी ही मानना होगा और द्वितीय (परकीयकर्मार्जितत्वपक्ष) कल्प में इष्टापत्ति है, क्योंकि जीवों के समष्टि कर्मों के द्वारा ईश्वरीय मायिक विग्रह शास्त्रानुमोदित है। ईश्वरीय शरीर को ब्रह्म से भिन्न मानना आप (माध्व) के सिद्धान्त से विरुद्ध है, क्योंकि आप शरीर-विशेष-संवलित चैतन्य को ही ब्रह्म मानते हैं। ब्रह्म से भिन्न शरीर को सत्य मानने पर "नेति नेति" (बृह. उ. २।३।६) इस श्रुति एवं "अपाणिपादः" (श्वेता० ३।१९) इस श्रुति का भी विरोध होता है। ब्रह्म से भिन्न अभौतिक और अमायिक शरीर मानने पर कथित "नेति नेति"—इत्यादि श्रुतियों का विरोध होता है, चार्वाक-मत प्रसक्त होता है, तथा वैसा मानने में कोई प्रमाण भी नहीं।

शङ्का—"नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्" (मा. सं. ३१।१३) यह श्रुति अन्तरिक्षादि भूत-वर्ग की उपादानता जिस ईश्वरीय शरीर के नाभि—आदि भागों में बता रही है, वह अभौतिक नहीं हो सकता, क्योंकि भूत का उपादान कारण भूत तत्त्व ही होता है।

समाधान—उक्त श्रुति में 'नाभि' पदोत्तर पञ्चमी प्रथमा के अर्थ में प्रयुक्त हुई है, विशाल अन्तरिक्ष उस विराट् पुरुष की नाभि है, अग्नि मूर्धा है—इस प्रकार का रूपक ही 'अग्निर्मूर्द्धा" (मा. सं. ३।१२) इत्यादि वाक्यों की पर्यालोचना से निश्चित होता है, अतः उक्त श्रुति नाभ्यादि में भूत-कारणता का प्रतिपादन ही नहीं करती कि ईश्वरीय शरीर में भूत-कारणता सिद्ध होती। "तमसः परस्तात्"—यह वाक्य भी ईश्वरीय शरीर में तमाभिन्नत्वाभिधान नहीं करता, अपितु विराड् देह से उपलक्षित ब्रह्म में तमःपरत्व का प्रतिपादन करता है।

शङ्का—"एको नारायण आसीत् न ब्रह्मा न च शङ्करः" (महा. ना. उ. १) यह श्रुति महा प्रलय-काल में केवल नारायण (विष्णु) की अवस्थिति बताकर नारायणीय विग्रह को नित्य सिद्ध कर रही है, अतः उसके लिए भौतिकत्वादि का विकल्प उठता ही नहीं।

न्यायामृतम्

चेतनश्चेतनाना''मिति विशेषोक्त्ययोगात् । पुराकल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृत" मित्यादौ साक्षान्महाप्रलये स्थित्युक्तेश्च । पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुत''मित्यारभ्य एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्''(भा.१।३।५) इत्यत्र ।

अद्वैतसिद्धिः

म्येमग्र आसी' दिति श्रुत्यनुरेण मायोपहितब्रह्मपरत्वेन विग्रहपरत्वाभावात् । न चैतावता चेतनान्तरसाधारण्यम्; अखण्डमायोपहितत्वस्यैव व्यावर्तकत्वात् । न च 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना' मिति विग्रहनित्यत्वाभावे विशेषोक्तिविरोधः; विग्रहानङ्गीकारेऽपि स्वरूपचैतन्यमादायोपपत्तेः । नापि 'पुराकल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृत' मित्यादौ महाप्रलये देहस्य साक्षात्स्थित्युक्त्या नित्यविग्रहसिद्धिः, सर्वविकारमूलकारणाविद्यायाः संस्कारात्मनावस्थानस्य उदरीकरणशब्दार्थत्वात् । न च मुख्यार्थत्यागः, त्वयाप्यस्यार्थस्यैव वक्तव्यत्वाद्, अन्यथा सकलस्य ब्रह्माण्डस्य तदनुप्रवेशमात्रेण प्रलयासिद्धेः । यत्तु—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—उक्त श्रुति में 'नारायण' शब्द का अर्थ नारायणीय शरीर नहीं, अपितु "सदेव सोम्येदग्र आसीत्" (छां. ६।२।१) इस श्रुति के अनुसार 'नारायण' शब्द का 'मायोपाधिक ब्रह्म' अर्थ है, उसी की सत्ता महाप्रलय में कही गई है, शरीर की नहीं ।

शङ्का—जैसे नारायण मायोपाधिक चेतन है, वैसे ही ब्रह्मादि भी, तब केवल नारायण का महा प्रलय में अवस्थान क्योंकर सिद्ध होगा ?

समाधान—ब्रह्मादि जीव-कोटि के हैं, जीवों की उपाधि खण्ड माया (अविद्या या अविशुद्ध सत्त्वप्रधान माया) होती है और नारायण की उपाधि अखण्ड माया, अतः अखण्डमायोपाधिक वह ईश्वर एक ही है, जो महाप्रलय में रहता है ।

शङ्का—यदि ईश्वरीय शरीर नित्य नहीं होता, तब "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" (कठो. ५।१३) इस श्रुति के द्वारा ईश्वर में विशेषता का प्रतिपादन संगत क्योंकर होगा ?

समाधान—ईश्वर की विशेषता यही है कि जीव शरीरधारी और वह अशरीर, अत एव 'नित्यानां नित्यः' कहा गया है ।

शङ्का—"पुराकल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृतम्'—इत्यादि वाक्यों के द्वारा नितान्त स्पष्ट कह दिया गया है कि पूर्व कल्प की समाप्ति हो जाने पर परमेश्वर अपनी समस्त रचना को अपने उदर में लेकर अवस्थित हो जाता है । इससे बढ़कर उसके शरीर की नित्यता में और क्या प्रमाण होगा ?

समाधान—समस्त विकार की मूलभूत अविद्या का स्थूलरूप समेट कर संस्काररूपेण अवस्थान ही वहाँ 'उदरीकरण' शब्द का अर्थ होता है । आप (माध्वगणों) को भी यही अर्थ करना होगा, अन्यथा सकल ब्रह्माण्ड के ईश्वरीय उदर में समा जाने मात्र से महाप्रलय सिद्ध नहीं होता, क्योंकि कार्य वर्ग का संस्काररूपेण कारण में अवस्थान ही प्रलय कहलाता है, अकारणीभूत उदर में अवस्थान नहीं । अतः उदहरावस्थान रूप मुख्यार्थ का परित्याग कर यही अर्थ आपको भी मानना होगा ।

शङ्का—शरीर की नित्यता का साक्षात् प्रतिपादन है—

न्यायामृतम्

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य महात्मनः।
परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वशः॥

इत्यादौ च साक्षान्नित्यत्वाद्युक्तेश्च। अत एव न जडं नापि ततो भिन्नम्। आनन्दरूपममृतं यद्विभाति आप्रणखात्सर्व एवानन्दः मोदो दक्षिणः पक्षः यदात्मको भगवांस्तदात्मिका व्यक्तिः। किमात्मको भगवान् ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मक"—इत्यादि श्रुतेः। भेदाभावेऽप्यहिकुंडलाधिकरणन्यायेन विशेषबलाद्विग्रहवत्त्वोपपत्तेश्च। आत्मनि चैवं

अद्वैतसिद्धिः

'सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य महात्मनः।
परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वदा॥'

इत्यादौ साक्षान्नित्यत्वोक्तिविरोधः—इति, तन्न, प्रलयपर्यन्तस्थायिदुःखभोगानायतनज्ञानमात्रप्रधानदेहपरतया त्वद्विवक्षितपरत्वाभावात्। अत एव जडस्ततो भिन्नश्च। न च—"आनन्दरूपममृतं यद्विभाति", "आप्रणखात् सर्व एवानन्दः", "मोदो दक्षिणः पक्षः", "यदात्मको भगवान् तदात्मिका व्यक्तिः, किमात्मको भगवान्? ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मक" इत्यादिश्रुतेर्भेदाभावेऽपि अहिकुण्डलन्यायेन विशेषबलाद्विग्रहवत्त्वोपपत्तिरिति—वाच्यम्, आत्मनो ज्ञानानन्दरूपत्वप्रतिपादनपरत्वेन विग्रहाप्रतिपादकत्वात्। 'विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराण' इत्यादिवाक्यस्य 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हो'ति सूत्रस्य च मायाशक्तिवैचित्र्यप्रतिपादकत्वेनात्मशक्त्यप्रतिपादकत्वाद्, आप्रणखादित्यादेश्च लीलाविग्रहावच्छेदेन दुःखाद्यभोक्तृतयोपपत्तेः। मोदो दक्षिण इत्यादेरानन्दमयकोशप्रतिपादकतया ब्रह्मपरत्वाभावात्। न हि श्रुत्युक्तत्वमात्रेण ब्रह्मणो

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सर्वे नित्या शाश्वताश्च देहास्तस्य महात्मनः।
परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वदा॥

समाधान—उक्त वाक्य का भी आपका मन-चाहा अर्थ सम्भव नहीं, अपितु प्रलय-पर्यन्त अवस्थायी (औपचारिक नित्य), दुःखादि भोग का अनाधार (परमानन्द प्रचुर) ज्ञान मात्र प्रधान शरीर उस ईश्वर का होता है—इसी अर्थ में उसका तात्पर्य निश्चित होता है। अत एव शरीर जड़ और ईश्वर से भिन्न सिद्ध होता है।

शङ्का—"आनन्दरूपममृतं यद्विभाति" (मुं. २।२७), "आप्रणखात् सर्व एवानन्दः" (छां० १।६।६), "मोदो दक्षिणः पक्षः" (तै. २।५।१), "यदात्मको भगवान् तदात्मिका व्यक्तिः, किमात्मको भगवान्? ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मकः"—इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित शरीर ईश्वर से भिन्न न होने पर भी वैसे ही भिन्न रूप में व्यवहृत होता है, जैसे सर्प का कुण्डल (वलय) सर्प से भिन्न न होने पर भी 'अहेः कुण्डलम्'—इस प्रकार भिन्न-रूप में व्यवहृत होता है।

समाधान—उक्त वाक्यों का आत्मा की ज्ञानानन्दरूपता के प्रतिपादन में ही तात्पर्य है, शरीर के अभिधान में नहीं। विचित्र शक्तिः पुरुषः पुराणः"—यह वाक्य तथा "आत्मनि चैवं विचित्राश्च" (ब्र. सू. २।१।२८) यह सूत्र माया शक्तिगत वैचित्र्य के बोधक हैं, आत्मा की शक्ति के प्रतिपादक नहीं। "आप्रणखात्"—इत्यादि वाक्य लीला-शरीरावच्छेदेन दुःखादि की अभोक्तृता के प्रतिपादक हैं। "मोदो दक्षिणः पक्षः"—इत्यादि वाक्य आनन्दमय कोश के प्रतिपादक हैं, ब्रह्मपरक नहीं। श्रुति के प्रतिपादन

न्यायामृतम्

विचित्राश्च ही''ति सूत्रे विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराण" इत्यादि श्रु तिभिर्विचित्रशक्तेरुक्तत्वेन आनन्दस्य नित्यत्ववदपराधीनत्ववच्च विग्रहवत्त्वस्यापि सम्भवाच्च। "नैषा तर्केण मतिरापनेये"त्यादि श्रु तिभिस्तर्कागम्यत्वोक्तश्च। पिशाचादिवदन्तर्धानशक्त्यानुपलम्भसम्भवाच्च। न चाऽपाणिपाद इत्यादिविरोधः, अदुःखमसुखं समं न प्रज्ञानघन 'मिति

अद्वैतसिद्धिः

विग्रहरूपता, 'ब्रह्मैवेदं सर्वं पुरुष एवेदं सर्वं'मित्यादिश्रु त्या प्रपञ्चरूपतापि ब्रह्मण्यापद्येत। स्वरूपानन्द एव नित्यत्ववदपराधीनत्ववच्च विग्रहत्वकल्पनस्य परिभाषामात्रत्वात्। मन्मतेऽपि ब्रह्मातिरिक्तस्य ब्रह्मसत्तासमानसत्ताकत्वाभिमतस्य ब्रह्मणि निषेधाङ्गीकारात्। न च—'नैषा तर्केण मतिरापनेये'ति तर्कागम्यत्वोक्त्या आत्मन एव विग्रहवत्त्वमिति—वाच्यम्, निर्विशेषात्मन एव तर्कागम्यत्वोक्त्या आत्मनो विग्रहवत्त्वस्य तर्कागम्यत्वानुक्तेरूपत्वेन चाक्षुषत्वाप्रसक्त्या पिशाचादिवदन्तधानशक्त्यानुपलम्भसमर्थनस्याप्रसक्तसमर्थनत्वाद्, विग्रहपक्षे 'अपाणिपाद' इत्यादिश्रु तिविरोधस्योक्तत्वाच्च।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मात्र से ब्रह्म विग्रहरूप सिद्ध नहीं होता, अन्यथा "ब्रह्मवेदं सर्वं" (नृ. उ. ता. ७।३) पुरुष एवेदं सर्वम्" (श्वेता० ३।१५) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रपञ्चरूपता भी ब्रह्म मे प्रसक्त होगी। स्वरूपानन्द में नित्यत्व और अपराधीनत्व के समान विग्रहत्व की भी कल्पना एक परिभाषा मात्र हो सकती है। अद्वैतवाद में भी ब्रह्मातिरिक्त वस्तुमात्र का ब्रह्म में ब्रह्म समान सत्ताक निषेध माना जाता है।

शङ्का—"नैषा तर्केण मतिरापनेया" (कठो. २।९) इत्यादि श्रु तियों से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म में विग्रहवत्ता का ज्ञान किसी तर्क के द्वारा सिद्ध नहीं होता, अपितु सहस्रशीर्षा—इत्यादि श्रु तियों से ही वस्तु-स्थिति स्पष्ट होती है।

समाधान—उक्त श्रुति में निर्विशेष औपनिषद ब्रह्म को ही तर्कागम्य कहा गया है, विग्रहवत्ता को नहीं।

न्यायामृतकारने जो यह कहा है कि जैसे पिशाच में अन्तर्धान की शक्ति होने के कारण उसके शरीर का प्रत्यक्ष नहीं होता, वसे ही ईश्वर में अन्तर्धान होने की शक्ति रहने के कारण ईश्वरीय विग्रह की उपलब्धि सब को नहीं होती, अपितु अर्जुन के समान दिव्य चक्षुः-सम्पन्न पुरुष को ही साक्षात्कार होता है।

वह न्यायामृतकारका कथन संगत नहीं, क्योंकि पिशाच का वायवीय शरीर रूपरहित है, अतः उसकी चाक्षुष उपलब्धि प्रसक्त ही नहीं कि जिसके आधार पर पिशाच में अन्तर्धान की शक्ति माननी पड़ती। "अपाणिपादः" (श्वता. ३।१९) इत्यादि श्रुतियाँ विग्रहवत्ता की बाधक हैं—यह ऊपर कहा जा चुका है।

शङ्का—जैसे "अदुःखमसुखम्"—इत्यादि स्थलों पर दुःख के साहचर्य से प्राकृत सुख का ही निषेध है, वैसे ही 'अपाणिपाद'—यहाँ पर भी प्राकृत पाणि और पादादि इन्द्रियों का ही निषेध है, लोकोत्तर इन्द्रियों का नहीं, अन्यथा "अपाणिपादः" (श्वेता० ३।१९) इस वाक्य के शेष भाग में 'शृणोति, पश्यति' कहना विरुद्ध पड़ जाता है, अतः इस तथ्य को स्वीकार करना आवश्यक है कि जीव के समान प्राकृत इन्द्रियों के न होने पर भी भगवान् का अप्राकृत इन्द्रियों से संवलित लोकोत्तर कलेवर होता है।

न्यायामृतम्

सुखज्ञाननिषेधकवाक्यवत्प्राकृतावयवादिनिषेधपरत्वाद्, अन्यथोक्तश्रुतिस्मृतिभिः, पश्यति शृणोतीत्यादिवाक्यशेषेण च विरोधात्। "अरूपोऽप्राकृतत्वाच्चे"त्यादि स्मृत्यैवारूपश्रुतिगत्युक्तेश्च। विग्रहवत्त्वेन दुःखं चेत्, स्रष्टृत्वादिनापि तत्स्यात्। स्वतंत्रत्वादिना समाधिरपि समः। अप्राकृतानन्दमयविग्रहस्य दुःखाभावादिनैव व्याप्तेश्च। सर्वैरपीश्वरे लीलाविग्रहांगीकाराच्च। न च भगवद्विग्रहस्य महत्त्वविशिष्टरूप-

अद्वैतसिद्धिः

न च—'अदुःखमसुख' मित्यादौ प्राकृतसुखनिषेधवदत्रापि प्राकृतावयवनिषेध-परता, अन्यथा 'शृणोति पश्यती'ति वाक्यशेषविरोधः स्यादिति- वाच्यम्, आनन्दादिरूपताप्रतिपादकश्रुतिविरोधेन तत्र सङ्कोचवदत्र सङ्कोचकारणाभावात्, श्रवणदर्शनयोः शब्दरूपसाक्षित्वमात्रेण उपपत्तेर्न तद्विरोधः। अन्यथा त्वन्मतेऽपि ब्रह्मणि चक्षुरादिसाध्यज्ञानानङ्गीकारेण तद्विरोधो दुष्परिहरः स्यात्। अत एव—'अरूपोऽप्राकृतश्चे'ति स्मृत्यैवारूपश्रुतिगत्युक्तेः नारूपमित्यनेन रूपमात्रनिषेध इति- निरस्तम्, स्मृतेरुपास्यपरत्वेन ज्ञेयब्रह्मप्रतिपादिकायाः श्रुतेः सङ्कोचे कारणाभावात्, श्रुतिस्मृत्योरतुल्यबलत्वाच्च, प्रत्युत 'यत्तदद्रेश्य' मित्यादिना परविद्याविषयस्य विग्रहवत्त्व-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—"आनन्दो ब्रह्म" (तै० उ० ३।६) इत्यादि आनन्दरूपता-प्रतिपादक श्रुतियों के अनुरोध से "अदुःखमसुखम्'—इस श्रुति का केवल प्राकृत (वैषयिक) सुख-प्रतियोगिक निषेधरूप संकुचितार्थ माना जाता है, ब्रह्म में सामान्यतः सुख-तादात्म्य का निषेध नहीं कर सकते, किन्तु "आपाणिपादः'— इत्यादि श्रुतियों का सामान्यतः (प्राकृता-प्राकृत समस्त) अवयवों के निषेध में तात्पर्य मानना होगा, केवल प्राकृत अवयवों के निषेध में नहीं, क्योंकि यहाँ कोई ऐसा संकोचक वाक्य उपलब्ध नहीं, जो अप्राकृत अवयवों का विधान करता हो। 'अपाणिपादः'—इस वाक्य के शेष भाग में जो 'शृणोति, पश्यति' कहा गया है, वहाँ स्पष्ट कहा है—"शृणोत्यकरणः, पश्यत्यचक्षुः" अर्थात् करणादि इन्द्रियों के न होने पर भी शब्दादि का साक्षीरूप से भासक है। इस प्रकार वाक्य-शेष का विरोध ही नहीं रहता, जिसके अनुरोध पर केवल प्राकृत अवयवों का निषेध किया जाता। भगवान् में लोकोत्तर इन्द्रियों का सद्भाव आप (माध्वगण) भी नहीं मान सकते, क्योंकि ब्रह्म में चक्षुरादि इन्द्रियों से जनित अनित्य ज्ञान आप नहीं मानते।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि "अरूपोऽप्राकृतश्च"—इत्यादि स्मृति-वाक्यों में 'अप्राकृत' पद के सहचार से 'अरूपः' पद को भी प्राकृत रूप का निषेधक माना जाता है, अतः 'अशब्दमस्पर्शमरूपम्" (कठो. ३।१६) इत्यादि श्रुतियों में भी केवल प्राकृत रूपादि का ही निषेध मानना उचित है।

वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि उक्त स्मृति-वाक्य उपास्य ब्रह्म का बोध कराते हैं, किन्तु 'अरूपम्' (कठो. ३।१५) यह श्रुति ज्ञेय ब्रह्म की प्रतिपादिका है, अतः इन दोनों का विषय-भेद होने एवं समान बल न होने के कारण कोई विरोध ही नहीं, प्रत्युत "द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चापरा च। अथ परा, यया यत्तदद्रेश्यम्" (मुं. १।६) यह श्रुति पर विद्या के विषयीभूत ब्रह्म में स्पष्टरूप से शरीरवत्ता का निषेध करती है, अतः ज्ञेय ब्रह्म को सर्वथा निराकार ही मानना होगा।

न्यायामृतम्

वत्त्वसावयत्वादिनाऽनित्यत्वं शंक्यम्, 'उक्तश्रु त्यादिविरोधात । प्राकृतत्वस्योपाधित्वाच्च निरवयवविशेषस्येव ज्ञानानन्दादिविशेषस्येव च सावयवविशेषस्यापि श्रु त्यादिबलान्नित्यत्वोपपत्तेश्च।

किं चावयवशब्देनोपादानोक्तावसिद्धिः, एकदेशोक्तौ गगनात्मादौ व्यभिचारः। न चोपादानातिरिक्त एकदेश एव नास्ति, पटादावुपादानतन्त्वन्यस्य हस्तवितस्त्यादिपरिमाणस्यैकदेशस्यानुभवात् । विस्तृतं चैतदन्यत्र । नित्यस्य गगनादेरपि संयोगित्वेनै-

अद्वैतसिद्धिः

प्रतिपादनविरोधाच्च । किञ्च भगवद्विग्रहो न नित्यः, महत्त्वे सति रूपवत्त्वाद्, विग्रहत्वाद्वा, नित्यताबोधकत्वाभिमतश्रु तेरन्यथासिद्धेरुक्तत्वाच्च । न च प्राकृतत्वमुपाधिः, साधनव्यापकत्वात् । सावयवत्वादपि न नित्यत्वम् । न च श्रुतिबलात् क्वचित् सावयवोऽपि नित्यः, श्रु त्यन्यथासिद्धेरुक्तत्वात् । ननु- अवयव उपादानं चेत्, ब्रह्मविग्रहे नास्त्येव; एकदेशमात्रं चेद्, गगनात्मादौ व्यभिचारः, तयोरप्येकदेशसत्त्वात् । न चोपादानातिरिक्तस्यैकदेशस्यैवाभावः, उपादानतन्त्वन्यहस्तवितस्त्यादिपरिमाणस्यैकदेशस्य पटादावनुभवादिति- चेन्न, उपादानतन्तूनामेव हस्तवितस्त्यादिपरि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि 'भगवतो विग्रहो विनाशी, महत्त्वे सति रूपवत्त्वात् विग्रहत्वाद्वा'—इस अनुमान के आधार पर भगवान् का शरीर नश्वर ही मानना होगा, अप्राकृत या नित्य नहीं माना जा सकता । नित्यता-बोधक वाक्यों का तात्पर्य विग्रहोपलक्षित चैतन्यमात्र की नित्यता के प्रतिपादन में स्थिर किया जा चुका है । उक्त अनुमान में ''प्राकृतत्व' धर्म को उपाधि नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह साधन का व्यापक है, जब कि साधनाव्यापक धर्म को ही उपाधि माना जाता है । भगवद्विग्रह में 'सावयवत्व' हेतु के द्वारा भी अनित्यत्व सिद्ध किया जा सकता है । नित्यता-बोधक श्रुति की अन्यथा सिद्धि कही जा चुकी है, अतः उसके बल पर भी सावयव शरीर को नित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता ।

शङ्का—विग्रहानित्यता-साधक सावयवत्वरूप हेतु में 'अवयव' पद से यदि उपादान कारण लिया जाता है, तब तो हेतु स्वरूपासिद्ध है, क्योंकि ब्रह्म-विग्रह में सोपादानत्व नहीं माना जाता । 'अवयव' पद से यदि एकदेशमात्र का ग्रहण होता है, तब गगन और आत्मादि में व्यभिचार होता है, क्योंकि उनके भी घट-संयोगी आकाशादि को एक देश माना जाता है । उपादान कारण से अतिरिक्त एकदेश का अभाव नहीं कह सकते, क्योंकि पट में उपादानकारणीभूत तन्तुओं से अतिरिक्त हस्त, वितस्ति (बालिश्त) आदि परिमाण के खण्डों को एकदेश अनुभव किया जाता है ।

समाधान—उपादान कारण से अतिरिक्त एकदेश नाम की कोई वस्तु नहीं होती, पटादि में भी हस्त वितस्ति आदि परिमाण के खण्ड तन्तु ही होते हैं । गगनादि का एक भाग घट से और दूसरा पटादि से संयुक्त है—इस प्रकार संयोगित्वादि हेतुओं के द्वारा गगनादि में जो एकदेशवत्ता की सिद्धि की जाती है, वह हमें इष्ट ही है, क्योंकि हम (अद्वैती) गगनादि में सावयवत्व और अनित्यत्व मानते ही हैं । आत्मा में जो सुख और दुःख की देश-भेद से प्रतीति के आधार पर एकदेश की सिद्धि की जाती है, वह उचित नहीं, क्योंकि सुख दुःखादि अन्तःकरण के धर्म होते हैं, आत्मा के नहीं ।

न्यायामृतम्

कदेशसाधनाच्च । अन्यथाकाशे पक्षिसंयोगतदत्यन्ताभावयोः, आलोके त्रसरेणुसंयोगतदत्यन्ताभावयोः, आत्मनि च सुखदुःखयोर्देशभेदेन प्रतीतिर्न स्यात् । एतेनैकदेशाभावेऽपि संयोगादेः स्वात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यात्तथाधीरिति निरस्तम् । यत्र देशे संयोगस्तत्रैव तदभावप्रतीत्यापत्तेः । "गौरनाद्यन्तवती"त्यादि श्रुत्या अनादिनित्याया अपि प्रकृतेः सत्त्वरजस्तमोरूपैकदेशदर्शनाच्च । त्वन्मतेऽप्यनाद्यविद्याया उपादानत्वाय अनणुत्वे सति परिच्छिन्नत्वाय त्रिगुणत्वाय जीवन्मुक्तौ लेशानुवृत्त्यर्थं चैकदेशस्य वक्तव्यत्वाच्च । जीवानामपि द्रोणं बृहस्पतेर्भागं द्रौणि रुद्रांशसम्भवम् । दुर्वासाः शंकरस्यांश इत्यादिनांशोक्तेश्च ।

"यस्यायुतायुतांशेऽपि विश्वशक्तिरवस्थिता ।
परब्रह्मस्वरूपस्य प्रणमामि तमव्ययम् ॥

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगदि"त्यादावीश्वरस्याप्यंशोक्तेश्च । न

अद्वैतसिद्धिः

माणवतामनुभवात् । गगनादौ संयोगित्वादिना यदेकदेशसाधनं तदिष्टमेव, अस्माभिस्तत्र सावयवत्वानित्यत्वयोरङ्गीकारात् ।

यत्तु आत्मनि सुखदुःखयोर्देशभेदेन प्रतीतेरेकदेशसाधनम्, तन्न, सुखदुःखयोरन्तःकरणगततया तद्गतत्वाभावात् । न च—"गौरनाद्यन्तवतीत्यादि" श्रुत्या अनादिनित्या अपि प्रकृतेः सत्त्वरजस्तमोरूपैकदेशदर्शनाद् व्यभिचार इति—वाच्यम्; प्रकृतौ नित्यत्वाभावादविद्यातिरिक्तप्रकृतेरभावाच्च । न चाविद्यायामेव व्यभिचारः, तस्या अप्यनित्यत्वेन व्यभिचाराभावात् । न च—जीवानामपि 'द्रोणं बृहस्पतेर्भागं द्रौणि रुद्रांशसंभवम् । दुर्वासाः शङ्करस्यांश' इत्यादिनांशोक्तेः,

'यस्यायुतायुतांशेऽपि विश्वशक्तिरवस्थिता ।
परब्रह्मस्वरूपस्य प्रणमामि तमव्ययम् ॥'
'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।'

इत्यादिना ईश्वरस्याप्यंशोक्तेर्जीवेशयोर्व्यभिचार इति—वाच्यम्, आत्मनोंऽशस्यौ-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—'भगवद्विग्रहोऽनित्यः, एकदेशवत्त्वात्'—यह अनुमान सांख्य-सम्मत प्रकृति में व्यभिचारी है, क्योंकि 'गौरनाद्यन्तवती"—इस श्रुति के द्वारा उसमें नित्यत्व सिद्ध है और उसके सत्त्व, रजः और तमोरूप एकदेश भी प्रसिद्ध हैं।

समाधान—सांख्य-सम्मत प्रकृति तत्त्व अद्वैतिसम्मत अविद्या से अतिरिक्त कुछ भी नहीं, अतः उस में नित्यत्व नहीं माना जा सकता । अविद्या में भी उक्त हेतु का व्यभिचार नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी अनित्य ही होती है ।

शङ्का—उक्त अनुमान जीव और ईश्वर दोनों में व्यभिचारी है, क्योंकि "द्रोणं वृहस्पते र्भागं द्रौणि रुद्रांशसम्भवम् । दुर्वासाः शङ्करस्यांशः"—इत्यादि वाक्यों से जीवों में सांशत्व और

'यस्यायुतायुतांशेऽपि विश्वशक्तिरवस्थिता ।
परब्रह्मस्वरूपस्य प्रणमामि तमव्ययम् ॥'
'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।'

इत्यादि वाक्यों के द्वारा ईश्वर में सांशत्व सिद्ध होता है ।

स्त्वयमौपाधिकोंऽशः । न चेदुपाधीतिन्यायेन स्वाभाविकांशाभावे तदयोगात् । एतेन सावयवत्वादिना भगवल्लोकादेरनित्यत्वसाधनमप्यपास्तम् ।

अतो हि वैष्णवा लोका नित्यास्ते चेतनात्मकाः ।
मत्प्रसादात्परां शांति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

इत्याद्यागमविरोधात् । तस्मात्सगुणं साकारं च ब्रह्मेति ।

ब्रह्मणो निराकारत्वभंगः ॥ ६ ॥

अद्वैतसिद्धिः

पाधिकतया स्वाभाविकत्वाभावात्, त्वन्मते जीवानामणुरूपतया स्वाभाविकांशाभावेन काल्पनिकांशस्यैव वक्तव्यत्वात् । एतेन भगवल्लोकादेरपि नित्यत्वमपास्तम् ।

न च— 'अतो हि वैष्णवा लोका नित्यास्ते चेतनात्मकाः ।
मत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥'

इत्याद्यागमविरोधः, तस्यावान्तरप्रलयस्थत्वपरत्वात् । तस्मान्निर्गुणं निराकारं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो निराकारत्वसिद्धिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—आत्मा में अंश स्वाभाविक नहीं, औपाधिक ही माने जाते हैं । आप (माध्व) के मतानुसार जीव को अणुरूप माना जाता है, अतः उसमें भी स्वाभाविक अंश सम्भावित नहीं, काल्पनिक ही मानने होंगे । इसी प्रकार भगवान् के गोलोकादि की नित्यता भी निरस्त हो जाती है ।

शङ्का—भगवान् के लोकों में अनित्यता का प्रस्ताव जो आपने रखा है, उसका विरोध ये वाक्य कर रहे हैं—

'अतो हि वैष्णवा लोका नित्यास्ते चेतनात्मकाः ।'
'मत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।'

समाधान—कथित वाक्य वैष्णव लोकों की प्रलय-पर्यन्त अवस्थितिमात्र का प्रतिपादन करते हैं—यह पहले ही कहा जा चुका है, फलतः ब्रह्म निर्गुण और निराकार सिद्ध हो जाता है ।

: ७ :

ब्रह्मणो ज्ञानत्वानन्दत्वादिविचारः

न्यायामृतम्

यच्चेदमुच्यते ब्रह्म ज्ञानानन्दात्मकमद्वितीयं नित्यं साक्षिरूपं च, न तु ज्ञानादिगुणकमिति। तत्र परमते (१) ज्ञानत्वं किं जातिविशेषः? साक्षाद्व्यवहारजनकत्वं वा? जड़विरोधित्वं वा? जड़व्यावृत्तत्वं वा? अज्ञानविरोधित्वं वा? अर्थप्रकाशात्मकत्वं वा? परांगीकृतं वा? नाद्यः, वृत्तिप्रतिबिम्बितज्ञानाभासेषु तत्संभवेऽप्यखण्डे स्वरूपज्ञाने तदयोगात्। न द्वितीयः, फलोपधानस्य सुषुप्त्यादावभावात्। शक्त्यादिरूपयोग्यताया अपि मुक्तावभावात्। न तृतीयः, स्वरूपज्ञानस्य नित्यत्वेन तद्विरुद्धस्य

अद्वैतसिद्धिः

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

(१) ननु—निर्विशेषं चेद् ब्रह्म, तर्हि ब्रह्मैवैकं ज्ञानात्मकमानन्दात्मकमद्वितीयं नित्यं साक्षि चेति नोपपद्यते। तथा हि—तत्र तावत् ज्ञानत्वं किं जातिविशेषो वा? साक्षाद्व्यवहारजनकत्वं वा? जड़विरोधित्वं वा? जड़ान्यत्वं वा? अज्ञानविरोधित्वं वा? अर्थप्रकाशात्मकत्वं वा? पराङ्गीकृतं वा? नाद्यः, वृत्तिप्रतिबिम्बितज्ञानाभासेषु तत्सम्भवेऽप्यखण्डरूपब्रह्मज्ञाने तदयोगात्। न द्वितीयः, फलोपधानस्य सुषुप्त्यादावभावात्, शक्त्यादिरूपस्वरूपयोग्यताया अपि मुक्तावभावात्। न तृतीयः, स्वरूप-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

[ज्ञान ज्योति जगाने का श्रेय जिस निराकार-निष्ठा को प्राप्त है, वह साकार-निष्ठा के उर्वरक धरातल पर ही अङ्कुरित हुई है]—हमारे जिस भगवान् के नवनीरद-सुन्दर कृष्ण कलेवर पर पीताम्बर, हाथों में वंशी, अधरोष्ठ पर बिम्ब फल की लालिमा और मुख-मण्डल पर पूर्णेन्दु की आभा सुशोभित हो रही है, उससे परे और कोई तत्त्व नहीं।

शङ्का—ब्रह्म यदि निराकार और निर्विशेष है, तब वह (१) ज्ञानात्मकत्व, (२) आनन्दरूपत्व, (३) अद्वितीयत्व, (४) नित्यत्व और (५) साक्षित्वादि विशेषताओं से युक्त कैसे होगा?

(१) ज्ञानत्वविचार—

ज्ञानत्व क्या (१) जाति-विशेष है? या (२) साक्षाद् व्यवहार-जनकत्व? या (३) जड़-विरोधित्व? या (४) जड़ान्यत्व? या (५) अज्ञान-विरोधित्व? या (६) अर्थप्रकाशात्मकत्व? अथवा (७) पराङ्गीकृत? प्रथम (जाति-विशेष) उचित नहीं, क्योंकि वृत्ति-प्रतिबिम्बित चिदाभास मे रहने पर भी ज्ञानत्व जाति अखण्ड (निर्धर्मक और एक व्यक्त्यात्मक) ब्रह्म में नहीं रह सकती। द्वितीय (साक्षाद् व्यवहारजनकत्व) भी सम्भव नही, क्योंकि जनकत्व दो प्रकार का होता है—(१) फलोपधायकत्व और (२) स्वरूप-योग्यत्व। सुषुप्ति अवस्था में किसी प्रकार का व्यवहार नहीं होता, अतः फलोपधायकत्व के न होने पर भी स्वरूप-योग्यत्वात्मक शक्ति मानी जा सकती है, किन्तु मुक्ति अवस्था में स्वरूप-योग्यत्व भी नहीं माना जाता। तृतीय (जड़-विरोधित्व) ब्रह्मरूप ज्ञान में माना जाता है? या नहीं? यदि माना जाता है, तब जड़-वर्ग की नित्य निवृत्ति माननी होगी और यदि ब्रह्म में

न्यायामृतम्

जडस्य नित्यनिवृत्त्यापातात् । न चतुर्थः, "सत्यं ज्ञान" मित्यत्र जडव्यावृत्तेरार्थिकत्वोक्त्ययोगात् । किं च जडत्वस्याज्ञातृत्वादिरूपत्वेऽसम्भवः । अज्ञानत्वरूपत्वे त्वन्योन्याश्रयः । न पंचमः, अज्ञानस्य नित्यनिवृत्त्यापातात् । द्वितीयादिषु ज्ञानत्वस्य कारणत्वादिवद् व्यवहाराद्यन्यतमोपाधिकत्वेन ब्रह्मणो ज्ञानस्वभावत्वायोगाच्च । न षष्ठः, मोक्षे अन्यर्थोल्लेखाभावात्, स्वरूपोल्लेखे च स्वविषयत्वापातात् । न सप्तमः, परांगीकृताया जातेर्व्यवहारहेतुत्वादेर्वा त्वन्मतेऽसम्भवात् । एवं च—

अर्थप्रकाशरूपत्वं ज्ञानत्वं ब्रह्मणः कथम् ।
अन्यार्थाभावतो मोक्षे स्वेन स्वस्याप्यवेदनात् ।।

(२) किं चेदमानन्दत्वं जातिविशेषो वा ? अनुकूलतया वेदनीयत्वं वा

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञानस्य नित्यत्वेन तद्विरुद्धस्य जडस्य नित्यनिवृत्त्यापातात् । न चतुर्थः, 'सत्यं ज्ञान'-मित्यादौ अनृतव्यावृत्तेरार्थिकत्वोक्तिविरोधात् । न च पञ्चमः, अज्ञानस्य नित्यनिवृत्त्यापातात् । न षष्ठः, मोक्षे अन्यार्थोल्लेखाभावात्, स्वरूपोल्लेखे च स्वविषयत्वापातात् । न सप्तमः, पराङ्गीकृतजातेर्व्यवहारहेतुत्वादेर्वा त्वन्मते असंभवादिति—चेन्न, अर्थप्रकाशत्वमेव ज्ञानत्वम् । मुक्तावर्थाभावेऽपि तत्संसृष्टप्रकाशत्वस्य कदाचिदर्थसंबन्धेनाप्यनपायात्, अत एव—

'अर्थप्रकाशरूपत्वं ज्ञानत्वं ब्रह्मणः कथम् ।
अन्यार्थाभावतो मोक्षे स्वेन स्वस्याप्यवेदनात् ।।' इति—निरस्तम् ।।

(२) यत्तु—आनन्दत्वं जातिविशेषो वा ? अनुकूलतया वेदनीयत्वं वा ?

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जड-विरोधित्वरूप ज्ञानत्व नहीं माना जाता, तब असम्भव दोष हो जाता है। चतुर्थ (जडान्यत्व) भी सम्भव नहीं, क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. उ. २।१।१) इस श्रुति की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है—"तत्रानन्तशब्दोऽन्तवत्त्वप्रतिषेधद्वारेण विशेषणम्, सत्यज्ञानशब्दौ तु स्वार्थसमर्पणेनैव विशेषणे भवतः"। अर्थात् 'ज्ञान' पद साक्षात् अज्ञान या जड की निवृत्ति नहीं करता, अपितु अर्थात् व्यावर्तक होता है, अतः ब्रह्मरूप ज्ञान में उक्त लक्षण असम्भव है। पञ्चम (अर्थप्रकाशात्मत्व) पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि मोक्ष अवस्था में किसी भी विषय का उल्लेख नहीं होता, स्वरूप का भी विषयत्वेन भान नहीं होता, अन्यथा स्व में स्वविषयकत्व प्रसक्त होता है, अतः अर्थ-विषयक प्रकाशत्व मोक्षावस्थापन्न आत्मरूप ज्ञान में न होने के कारण असम्भव हो जाता है। सप्तम (पराङ्गीकृत) विकल्प भी संगत नहीं, क्योंकि द्वैतीगण ज्ञानत्व को गुणत्व-व्याप्य जाति अथवा व्यवहार-हेतुत्वादिरूप मानते हैं, वह आप (अद्वैती) के मत में सम्भव नहीं।

समाधान—अर्थोपलक्षित प्रकाशत्व को ज्ञानत्व का स्वरूप कहा जा सकता है, यद्यपि मोक्ष अवस्था में अर्थ-विशिष्ट प्रकाशत्व सम्भव नहीं, तथापि संसारावस्था में ज्ञान के साथ विषय का सम्बन्ध होने के कारण अर्थोपलक्षित प्रकाशत्व मोक्ष में भी सम्भव है। अत एव यह आक्षेप भी निरस्त हो जाता है कि

'अर्थप्रकाशरूपत्वं ज्ञानत्वं ब्रह्मणः कथम् ।
अन्यार्थाभावतो मोक्षे स्वेन स्वस्याप्यवेदनात् ।।'

(२) आनन्दत्व-विचार—

न्यायामृतम्

अनुकूलवेदनरूपत्वं वा ? अनुकूलत्वमात्रं वा ? विज्ञानात्मकत्वमेव वा ? दुःखविरोधिस्वरूपत्वं वा ? दुःखभावोपलक्षितस्वरूपत्वं वा ? परांगीकृतं वा ? नाद्यः, अखण्डस्वरूपानन्दे तदयोगात्। न द्वितीयः, मोक्षे वेदितुरभावात्। आत्मनोऽवेद्यत्वाच्च। किं चानुकूल्यं किंचित्सापेक्षं न चान्यं प्रति तद्युक्तमिति स्वं प्रत्येव वक्तव्यत्वेन सविशेषत्वापातः। अत एव न तृतीयः, अपि च वेदनस्वभावादधिकस्यानुकूल्यस्य स्वाभाविकत्वे (सखण्डार्थत्वापातः)अखण्डार्थत्वाभावापातः। औपाधिकत्वे कदाचिदानन्दनिवृत्त्यापातः। न चतुर्थः, उक्तरीत्यानुकूल्यासम्भवात्। एतेन निरुपाधिकेष्टत्वमानन्दत्वमिति निरस्तम्। न पंचमः, दुःखादिज्ञानस्याप्यानन्दत्वापातात्। विषयानुल्लेखिज्ञानं तथेति चेन्न, विरोधात्। "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" त्यदौ विज्ञानपदेनैव

अद्वैतसिद्धिः

अनुकूलवेदनत्वं वा ? अनुकूलत्वमात्रं वा ? ज्ञानात्मकत्वमेव वा ? दुःखविरोधित्वं वा ? दुःखाभावोपलक्षितस्वरूपत्वं वा ? पराङ्गीकृतं वा ? नाद्यः, अखण्डस्वरूपानन्दे तदभावात्। न द्वितीयः, मोक्षे वेदितुरभावाद्, आत्मनोऽवेद्यत्वाच्च। किं च आनुकूल्यं किंचित्सापेक्षम्, न चान्यं प्रति तद्युक्तमिति स्वं प्रत्येव वक्तव्यत्वेन सविशेषत्वापातात्। अत एव न तृतीयः। किं च वेदनस्वभावादधिकस्यानुकूलस्य स्वाभाविकत्वे सखण्डत्वापातः, औपाधिकत्वे कदाचिदानन्दनिवृत्त्यापातः, न चतुर्थः, उक्तरीत्या आनुकूल्यासम्भवात्। अत एव—निरुपाधीष्टत्वमानन्दत्वमिति—निरस्तम्। न पञ्चमः, दुःखादिज्ञानस्यापि आनन्दत्वापातात्। विषयानुल्लेखिज्ञानं तथेति चेन्न, ज्ञानस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—ब्रह्मगत आनन्दत्व क्या (१) जातिविशेष है ? या (२) अनुकूलवेदनीयत्व, ? या (३) अनुकूलवेदनत्व (४) या अनुकूलत्वमात्र ? या (५) ज्ञानात्मकत्व? या वेदनत्व ? या (६) दुःख विरोधित्व? या (७) दुःखाभावोपलक्षित स्वरूपत्व ? अथवा (८) पराङ्गीकृत ? प्रथम (आनन्दत्वजाति) अखण्ड (निर्धर्मक और एक व्यक्त्यात्मक) ब्रह्म में नहीं है। द्वितीय (अनुकूलतया वेदनीयत्व) भी मोक्ष में सम्भव नहीं, क्योंकि वहाँ वेदयिता और आत्मगत वेद्यत्व धर्म का अभाव होने के कारण अनुकूलतया वेदनीयत्व ब्रह्मानन्द में सम्भव नहीं। दूसरी बात यह भी है कि अनुकूलत्व भी सापेक्ष धर्म है, किसी ही पुरुष के प्रति कोई वस्तु अनुकूल होती है। प्रकृत में आत्मानन्दगत अनुकूलत्व स्वयं आत्मा के प्रति ही कहना होगा, तब मोक्षावस्थापन्न आत्मा में भी स्वप्रतियोगिक और स्वानुयोगिक अनुकूलत्व प्राप्त होने के कारण सविशेषतापत्ति होती है। अत एव तृतीय (अनुकूलवेदनत्व) भी सम्भव नहीं। एक अन्य जिज्ञासा भी यहाँ होती है कि ज्ञानस्वरूप से अतिरिक्त तद्गत अनुकूलत्व स्वाभाविक है ? या औपाधिक ? यदि स्वाभाविक है, तब आत्मा में सखण्डत्वापत्ति होती है और अनुकूलत्व के औपाधिक होने पर कदाचित् उपाधि के न होने से अनुकूल आनन्द का अभाव भी मानना पड़ेगा। चतुर्थ (अनुकूलत्वमात्र) कल्प भी उक्त पद्धति से निरस्त हो जाता है। अत एव निरुपाधिक इष्टत्व भी आनन्दत्व का लक्षण नहीं बन सकता, क्योंकि इष्टत्व भी अनुकूलत्व के समान अनुपपन्न ही रहता है। पञ्चम (ज्ञानात्मकत्व) पक्ष को मानने पर दुःख-ज्ञान को भी आनन्दरूप मानना होगा। यदि कहा जाय कि दुःख-ज्ञान में विषय का उल्लेख होने के कारण वह आनन्दरूप नहीं हो सकता, क्योंकि विषयानुल्लेखी ज्ञान को

न्यायामृतम्

दुःखव्यावृत्तिसिद्धावानन्दपदवैयर्थ्याच्च। न षष्ठः, विरोधस्य निवर्तकत्वादिरूपत्वे दुःखस्य नित्यनिवृत्त्यापत्तेः। तादात्म्यायोग्यत्वरूपत्वे घटादेरप्यानन्दत्वापातात्। "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" त्यादौ दुःखव्यावृत्तेरार्थिकत्वोक्त्ययोगाच्च। न सप्तमः, वैशेषिकमोक्षवत् त्वदुक्तस्य दुःखस्याभावे सत्यपि आनन्दाभावेनापुमर्थत्वस्य त्वन्मोक्षेऽप्यापातात्। नाष्टमः, परांगीकृतस्य निरुपाध्यनुकूलतया वेदनीयत्वादेस्त्वन्मतेऽसम्भवात्। यदि चानन्दत्वादेर्दुर्निरूपत्वेऽपि तदधिकरणं ब्रह्माबाध्यमानन्दाद्यात्मकं च, तर्हि सत्यत्वादेर्दुर्निरूपत्वेऽपि तदधिकरणं जगदप्यबाध्यं सदात्मकं च स्यात्। एवं च—

अद्वैतसिद्धिः

सविषयत्वनियमाद्, 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' त्यादौ विज्ञानपदेनैव दुःखव्यावृत्तिसिद्धावानन्दपदवैयर्थ्यापाताच्च, न षष्ठः, विरोधस्य निवर्तकत्वादिरूपत्वे दुःखस्य नित्यनिवृत्त्यापत्तेः, तादात्म्यायोग्यत्वरूपत्वे घटादावप्यानन्दत्वापाताद्, 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'-त्यादौ दुःखव्यावृत्तेरार्थिकत्वोक्त्ययोगाच्च। न सप्तमः, वैशेषिकमोक्षवत् त्वदुक्तस्य दुःखस्यभावे सत्यपि आनन्दाभावेनापुमर्थत्वस्य त्वन्मोक्षेऽप्यापातात्। नाष्टमः, पराङ्गीकृतस्य निरुपाध्यनुकूलवेदनीयत्वादेस्त्वन्मते असंभवात्। यदि चानन्दत्वादेर्दुर्निरूपत्वेऽपि तदधिकरणं ब्रह्माबाध्यमानन्दाद्यात्मकं च, तर्हि सत्यत्वादेर्दुर्निरूपत्वेऽपि तदधिकरणं जगदबाध्यं सदात्मकं च स्यादिति—चेन्न, आनन्दत्वस्य निरुपाधिकेष्टत्वरूपत्वात्। न च दुःखाभावे अतिव्याप्तिः, दुःखाभावस्यापि सुखशेषत्वाद्, अभावस्य विरोधिभावान्तरत्वाभ्युपगमात्। न च मुक्ताविच्छापाये आनन्दापायापत्तिः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ही आनन्दरूप माना जाता है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि विषयानुल्लेखी ज्ञान होता ही नहीं, दूसरी बात यह भी है कि "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृह० उ० ३।९।२।८) इत्यादि स्थल पर 'विज्ञान' पद से ही दुःख की व्यावृत्ति सिद्ध हो जाती है, आनन्द' पद व्यर्थ भी है। षष्ठ (दुःख-विरोधित्व) कल्प भी समीचीन नहीं, क्योंकि विरोध का अर्थ यदि निवर्तक किया जाता है, तब दुःख को नित्य निवृत्ति होनी चाहिए और विरोध का तादात्म्यायोग्यत्व अर्थ यदि विवक्षित है, तब घटादि में दुःख-तादात्म्य-योग्यत्व न होने के कारण आनन्दत्व प्राप्त होता है तथा "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृह० उद ३।९।२।८) इत्यादि स्थल पर दुःख-व्यावृत्ति में आर्थिकत्वाभिधान संगत नहीं रहता। सप्तम (दुःखाभावोपलक्षित स्वरूपत्व) को मानने पर वैशेषिक मोक्ष के समान अद्वैत-मुक्ति दुःखाभाव के रहने पर भी आनन्दत्व का अभाव रहने के कारण अद्वैति-सम्मत मोक्ष में भी पुरुषार्थत्व नहीं रहेगा। अष्टम (पराङ्गीकृत निरूपाधिक अनुकूलवेदनीयत्वादि) आप अद्वैती के मत में सम्भव नहीं हो सकते। यदि आनन्दत्वादि धर्मों का निर्वचन न हो सकने पर भी उसका अधिकरणभूत ब्रह्म अवाधितानन्दरूप माना जाता है, तब सत्यत्वादि धर्मों के दुर्निरूपित होने पर भी उसके अधिकरणीभूत जगत् को अवाध्य और सदात्मक मानना होगा।

समाधान—आनन्दत्व का स्वरूप निरुपाधिक इष्टत्व ही माना जा सकता है। इसकी दुःखाभाव में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि दुःखाभाव को भी सुख का प्रयोजक ही माना जाता है, अतः सुखविषयक इच्छा के अधीन इच्छा की विषयता ही दुःखाभाव में होती है, निरुपाधिक इच्छा-विषयता नहीं। दुःखाभाव को दुःख-विरोधी सुख-

न्यायामृतम्

निरुपाध्यनुकूलत्ववेदनीयं सुखं मतम् ।
निर्विशेषमवेद्यं च कथं ब्रह्मसुखात्मकम् ॥

अद्वैतसिद्धिः

इष्टत्वोपलक्षितस्य स्वरूपस्यानपायाद्, उपलक्ष्ये च तदवच्छेदकसत्त्वस्यातन्त्रत्वात्। न च—निरुपाधिकेष्टत्वं स्वाभाविकमौपाधिकं वा, नान्त्यः, ब्रह्मणः आननदरूपत्वापत्तेः, आद्ये ज्ञानातिरेकि, तदनतिरेकि वा, आद्ये सखण्डत्वापत्तिः, द्वितीये आनन्दपदवैयर्थ्यमिति—वाच्यम्, ज्ञानानन्दयोरभेदेऽपि कल्पितजातिभेदनिबन्धनप्रवृत्तिकतया पदद्वयप्रयोगस्य व्यावृत्तिभेदेन साफल्यात्। एतेन विषयानुल्लेखिज्ञानमेवानन्द इत्यपि युक्तम्, ज्ञाने विषयोल्लेखनियमस्य प्रागेव निरासात्। एवं चानन्दत्वस्य सुनिरूपतया न तन्न्यायेन जगतश्च सदात्मकत्वापादनमिति।

किंच जगति सदाद्यात्मकत्वे बाधकं दृश्यत्वादिकम्, न त्वानन्दे, तस्य दृगनतिरेकात्। एतेन—'निरुपाध्यनुकूलत्ववेदनीयं सुखं मतम्। निर्विशेषमवेद्यं च कथं ब्रह्म

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

स्वरूप माना जाता है, अतः सुख से भिन्न सत्ता न होने के कारण भी दुःखाभाव में आतिव्याप्ति नहीं होती। मुक्ति में इच्छा न होने पर भी इष्यमाण आनन्द का अभाव प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि इष्टत्वोपलक्षित स्वरूप वहाँ भी रहता है। अर्थात् मोक्ष में 'आनन्द' पद के वाच्यार्थ का अभाव होने पर भी लक्ष्यार्थ का अभाव नहीं होता। उपलक्ष्य वस्तु में उपलक्ष्यतावच्छेद धर्म का रहना आवश्यक नहीं होता।

शङ्का—आनन्दात्मा में निरुपाधिक इष्टत्व स्वाभाविक है? या औपाधिक? औपाधिक मानने पर ब्रह्म में उपाधि के न होने से आनन्दत्व का अभाव प्राप्त होता है। निरुपाधिक इष्टत्व को स्वाभाविक मानने पर ज्ञान से भिन्न माना जाता है? अथवा अभिन्न? भिन्न मानने पर सखण्डत्वापत्ति और अभिन्नत्व-पक्ष में 'ज्ञान' पद से ही दुःखरूपता की व्यावृत्ति हो जाने पर 'आनन्द पद व्यर्थ हो जाता है।

समाधान—ज्ञान आनन्द का अभेद होने पर भी कल्पित जाति-भेद को लेकर दोनों पदों का प्रयोग सफल माना जाता है, क्योंकि दोनों के व्यावर्त्य पदार्थ भिन्न होते हैं। इसीलिए विषयानुल्लेखी ज्ञान को भी आनन्द माना जा सकता है, क्योंकि ज्ञान में विषयोल्लेखित्व के नियम का निराकरण पहले ही किया जा चुका है। इस प्रकार आनन्दत्व का निर्वचन सम्भव हो जाने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि जैसे आनन्दत्व का निर्वचन न हो सकने पर आनन्दरूप ब्रह्म माना जाता है, वैसे ही सत्त्व का निर्वचन न हो सकने पर भी जगत् को सत् माना जाता है।

इतना ही नहीं, जगत् के सदात्मक होने में दृश्यत्वादि बाधक भी उपलब्ध हैं, किन्तु आनन्द के नहीं, क्योंकि आनन्द तत्त्व दृश्य नहीं, अपितु दृक् (चैतन्य) से अभिन्न है।

यह जो शङ्का की गई है कि—

निरुपाध्यनुकूलत्ववेदनीयं सुखं मतम्।
निर्विशेषमवेद्यं च कथं ब्रह्म सुखात्मकम् ॥

[निरुपाधिक अनुकूल-वेदनीयत्व धर्म जहाँ रहता है, उसे ही आनन्द पदार्थ कहा जाता है। किन्तु अद्वैति-सम्मत ब्रह्म निर्विशेष और अवेद्य है, अतः वह सुखात्मक क्योंकर हो सकेगा?]

न्यायामृतम्

(३) किं चेदमद्वितीयत्वं द्वितीयाभावविशिष्टत्वं वा ? तदुपलक्षितत्वं वा ? नाद्यः, द्वितीयाभावस्य प्रामाणिकत्वे तेनैव, अप्रामाणिकत्वे द्वितीयेनैव सद्वितीयत्वापातात् । न चाऽभावस्य प्रामाणिकत्वेऽपि प्राभाकरमत इवाऽधिकरणमात्रत्वाददोषः । "अनुपलब्धिगम्योऽभाव" इत्यादि त्वन्मतभंगात् । अनृतव्यावृत्तेरपि ब्रह्ममात्रत्वेन भेदसत्यत्वापाताच्च । प्राभाकरमतेऽपि प्रतियोगिमदधिकरणव्यावृत्त्यर्थं कैवल्यादि-

---

अद्वैतसिद्धिः

सुखात्मक' मिति—निरस्तम् , परमप्रेमास्पदत्वेन वेद्यत्वात् , सुखवेदनभेदाभावात् , वेदनाभावेनासुखत्वापादनानुपपत्तेः ।

(३) ननु—अद्वितीयत्वं द्वितीयाभावविशिष्टत्वम् ? तदुपलक्षितत्वं वा ? उभयथापि विशेषणमुपलक्षणं वा द्वितीयाभावः प्रामाणिकश्चेत् , तदा तेन सद्वितीयत्वापत्तिः, अप्रामाणिकश्चेत् , तदा द्वितीयेन सद्वितीयत्वापत्तिः । न चाभावे द्वितीयेऽपि न भावाद्वैतहानिः, अभाववद् दृश्यस्य धर्मादेरप्येवं प्रामाणिकत्वे बाधकाभावादिति—चेन्न, प्राभाकररीत्या द्वितीयाभावस्याधिकरणानतिरिक्तत्वेन प्रामाणिकत्वेऽपि तेन सद्वितीयत्वाभावात् । न च—एवमनुपलब्धेः पार्थक्येन प्रमाणत्वोक्तिरयुक्ता, प्रमेयानतिरेकादिति—वाच्यम् , अतिरिक्ताभाववादिमत एव तदुक्तेः, अतिरिक्ताभावानभ्युपमेऽपि अभावत्वप्रकारकज्ञाने तत्प्रामाण्योपपत्तेश्च । न चामृतव्यावृत्तेरपि ब्रह्ममात्रतया भेदसत्यत्वापत्तिः, इष्टापत्तेः, अनृतनिरूपितत्वं परमनृतमिथ्यात्वान्मिथ्या । भेदो ब्रह्म-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वह शङ्का भी इसी लिए निरस्त हो जाती है कि उपहित ब्रह्म परमप्रेमास्पदत्वेन वेद्य होता है तथा सुख और वेदन का भेद नहीं माना जाता, अतः वेद्यत्वाभाव के द्वारा ब्रह्म में असुखरूपता का आपादान नहीं किया जा सकता ।

(३) अद्वितीयत्व-विचार—

शङ्का—अद्वितीयत्व को (१) द्वितीयाभाव-विशिष्टत्व माना जाय या (२) द्वितीयाभावोपलक्षितत्व, उभयथा विशेषण या उपलक्षणीभूत द्वितीयाभाव यदि प्रामाणिक है, तब द्वैतापत्ति होती है और यदि अप्रामाणिक है, तब द्वितीय प्रामाणिक हो जाता है, उसको लेकर द्वैतापत्ति होती है । अभाव के प्रामाणिक होने पर भी मण्डन-मण्डित भावाद्वैत की हानि नहीं हो सकती—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि अभाव के समान दृश्यत्वादि प्रामाणिक धर्मों को भी मानना पड़ेगा, अतः भावाद्वैत भी सुरक्षित नहीं रहता ।

समाधान—प्राभाकार की मान्यता के अनुसार द्वितीयाभाव को अधिकरणस्वरूप माना जाता है, अतः उसके प्रामाणिक होने पर भी कोई क्षति नहीं होती । 'यदि अभाव अधिकरणरूप माना जाय तब अनुपलब्धि प्रमाण को एक पृथक् प्रमाण नहीं माना जा सकेगा, क्योंकि अनुपलब्धि-द्वारा प्रमीयमाण प्रमेय भाव से भिन्न कुछ भी नहीं'—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि अभाव को अधिकरण से अतिरिक्त मान कर ही अनुपलब्धि की पृथक् प्रमाणता स्थापित की गई है । अभाव को अतिरिक्त न मानने पर भी अभावत्व-प्रकारक ज्ञान को अनुपलब्धि प्रमाण माना जा सकता है । ब्रह्मगत मिथ्या प्रपञ्च के भेद में ब्रह्मरूपता होने के कारण सत्यत्वापत्ति क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर इष्टापत्ति के रूप में दिया जा सकता है, क्योंकि मिथ्याप्रतियोगिक भेद में 'मिथ्या-निरूपितत्व'

न्यायामृतम्

विशेषितस्यैवाधिकरणस्याभावत्वाच्च । न चेत्तन्मतेऽप्यनुपपत्तिरेव । अन्यथा गुणगुण्य-भेदमते शौक्ल्यादेरिव शक्त्यादिभावधर्माणामपि ब्रह्ममात्रत्वं स्यात् । न च भावरूप-द्वितीयाभावविशिष्टत्वमद्वितीत्वं तथा चाभावस्य द्वितीयस्य प्रामाणिकत्वेऽप्यदोष इति वाच्यम्, दृश्यस्याप्यभावस्येव श्रुत्यादिसिद्धस्य धर्माधर्मादिरूपभावस्यापि मिथ्यात्वा-योगादित्युक्तत्वात् । अत एव नान्त्यः, उपलक्षणस्याप्यभावस्याप्रामाणिकत्वे तत्प्रति-योगिनो द्वितीयस्य प्रामाणिकत्वावश्यम्भावात् । किं चाभावस्य प्रागभावादित्वे

अद्वैतसिद्धिः

भिन्नतया सत्य एवेति । न च—प्राभाकरमते प्रतियोगिमदधिकरणव्यावृत्त्यर्थं कैवल्यादि-विशेषोऽवश्यमधिकरणे वक्तव्यः, तथा च स एवाभावः, अन्यथा तेषामप्यनुपपत्ति-रेवेति—वाच्यम्, यस्मिन् कदापि न प्रतियोगिसम्बन्धः, तस्मिन् स्वरूपरूपोऽभेद एव कैवल्यम् । यस्मिंश्च कदाचित् सोऽपि, तदा तस्मिन् प्रतियोगिमदधिकरणकाल-भिन्नकालावच्छिन्नमधिकरणमिति न कैवल्यस्याधिकरणातिरेकः, न वानुपपत्तिरिति । न च—एवं गुणगुण्यभेदवादिमते शौक्ल्यादेरिव शक्त्यादेरपि भावरूपधर्मस्य ब्रह्मा-भेदोऽस्त्विति—वाच्यम्, शक्त्यादिना सहाभेदग्राहकमानाभावात् । अस्तु वा द्वितीया-भावोपलक्षितस्वरूपत्वम् अद्वितीयत्वम्, तस्य च प्रामाणिकत्वेऽपि तत्प्रतियोगिनो द्वितीयस्य स्वप्नोपभुक्तनिगरणादाविव प्रामाणिकत्वानापत्तेः । एतेन—द्वितीयाभावस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

धर्म निरूपक के मिथ्या होने से मिथ्या है, किन्तु भेद ब्रह्मरूप होने के कारण सत्य है।

शङ्का—प्राभाकार-मत में भी घटाभाव उसी अधिकरण का स्वरूप होता है, जहाँ प्रतियोगी नहीं होता, अतः अभाव में प्रतियोगि-विशिष्टाधिकरणस्वरूपता की व्यावृत्ति करने के लिए अधिकरण का केवलत्वादि विशेषण देना होगा, अतः अधिकरणगत कैवल्य पदार्थ को ही अभावरूप माना जा सकता,है अधिकरणस्वरूप मानने की क्या आवश्य-कता ? कैवल्यादि विशेषण न मानने पर प्राभाकर गणों के मतानुसार भी अभाव में प्रतियोगिमत्साधारण अधिकरण की स्वरूपता सिद्ध न होगी।

समाधान—जिस अधिकरण में प्रतियोगी का कदापि सम्बन्ध नहीं हुआ, उस अधिकरण का स्वरूप ही कैवल्य पदार्थ है और जहाँ प्रतियोगी का कदाचित् सम्बन्ध हो गया है, वहाँ पर प्रतियोगिकाल-भिन्न कालावच्छेदेन अधिकरण के स्वरूप को कैवल्य पदार्थ माना जाता है, इस प्रकार अधिकरण से भिन्न कोई कैवल्य पदार्थ सिद्ध ही नहीं होता, जिसे अभाव का स्वरूप माना जा सके।

शङ्का—गुण-गुणी के अभेद-वाद में जैसे शुक्लत्वादि को आधार से भिन्न नहीं माना जाता, वैसे ही ब्रह्मगत शक्त्यादि भावरूप 'धर्मों को ब्रह्म से अभिन्न क्यों नहीं मान लिया जाता ?

समाधान—ब्रह्म का शक्त्यादि के साथ अभेद-साधक प्रमाण न होने के कारण वेसा नहीं माना जा सकता।

द्वितीयाभावोपलक्षित स्वरूपत्व को भी अद्वितीयत्व माना जा सकता है। उस (द्वितीयाभाव) के प्रामाणिक होने पर भी उसके प्रतियोगीभूत द्वैत में प्रामाणि-कत्व का आपादन वैसे ही नहीं किया जा सकता, जैसे स्वप्न में मिथ्याभूत अन्न की निगरण (निगलना) क्रिया में सत्यत्वापादन नहीं होता, अर्थात् स्वप्न में जैसे अन्न

न्यायामृतम्

द्वितीयस्यानित्यत्वमात्रं स्यान्न तु मिथ्यात्वम् । अत्यन्ताभावत्वे उपलक्षणत्वमयावद्द्रव्यभावित्वेन चेदत्यन्ताभावत्वहानिः । वेदान्ततात्पर्यविषयत्वादिकार्यानन्वयित्वेन चेदत्यन्ताभावासिद्धिः । किं चाप्रामाणिकेन द्वितीयाभावेनेव द्वितीयेनाप्युपलक्षितत्वसम्भवात् , तेन सद्वितीयं किं न स्यात् ? एवं च—

द्वैताभावस्तात्त्विकश्चेत्तेन स्यात्सद्वितीयता ।
अतात्त्विकश्चेद् द्वैतेन सद्वितीयत्वमापतेत् ॥

अद्वैतसिद्धिः

प्रागभावादित्वे द्वितीयस्यानित्यत्वमात्रं स्यात् , न तु मिथ्यात्वम् , अत्यन्ताभावत्वे तूपलक्षणत्वानुपपत्तिः, सदातनत्वात् , श्रुतितात्पर्यविषयत्वादिकार्यानन्वयित्वेन उपलक्षणत्वे अत्यन्ताभावासिद्धिः । एवं च

'द्वैताभावस्तात्त्विकश्चेत् तेन स्यात् सद्वितीयता ।
अतात्त्विकश्चेद् द्वैतेन सद्वितीयत्वमापतेत् ॥'

इति—परास्तम् , स्वरूपातिरेकितया तत्प्रमाया अनुद्देश्यत्वात् , तद्बोधस्यावान्तरतात्पर्येण यथाकथञ्चित्संभवात् , तात्त्विकत्वे ब्रह्मानतिरेकात् , अतात्त्विकत्वे स्वप्ननिगरणन्यायस्योक्तत्वात् । उपपादितं चैतद्विस्तरेण प्रागिति शिवम् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

और अन्न-सम्बन्धी निगरण दोनों मिथ्या होते हैं, वैसे ही द्वितीयाभाव के समान ही द्वितीयाभाव का सम्बन्धी द्वितीय पदार्थ भी मिथ्या ही होता है, सत्य नहीं।

शङ्का—द्वितीयाभाव को यदि प्रागभाव, या ध्वंसादिरूप माना जाता है, तब द्वितीय वस्तु में केवल अनित्यत्व ही सिद्ध होता है, मिथ्यात्व नहीं। द्वितीयाभाव को अत्यन्ताभावरूप मानने पर उसे विशेषण ही मानना होगा, उपलक्षण नहीं, क्योंकि कादाचित्क वस्तु ही उपलक्षण होती है, अत्यन्ताभाव कादाचित्क नहीं, नित्य ही होता है। कार्यान्वयी विशेषण और कार्यानन्वयी पदार्थ को उपलक्षण कहा जाता है। अत्यन्ताभाव में उपलक्षणता सिद्ध करने के लिए यदि श्रुति-तात्पर्य-विषयत्वरूप कार्य के साथ अत्यन्ताभाव का अनन्वय माना जाता है, तब द्वैत का अत्यन्ताभाव कैसे सिद्ध होगा ? इसी प्रकार द्वैताभाव को तात्त्विक मानने पर द्वैतापत्ति और अतात्त्विक मानने पर उसका प्रतियोगी द्वैत तात्त्विक हो जाता है, उसको लेकर द्वैतापत्ति होती है—

द्वैताभावस्तात्त्विकश्चेत् तेन स्यात्सद्वितीयता ।
आतात्त्विकश्चेद् द्वैतेन सद्वितीयत्वमापतेत् ॥

समाधान - उक्त शङ्का इसीलिए निरस्त हो जाती है कि द्वैतात्यन्ताभाव में श्रुति के मुख्य तात्पर्य की विषयता नहीं, अपितु अवान्तर तात्पर्य की विषयता मानी जाती है, अतः अवान्तर तात्पर्य-विषयता को लेकर अत्यन्ताभाव की सिद्धि और मुख्य तात्पर्य-विषयता के अनन्वय को लेकर उपलक्षणता का निर्वाह हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मस्वरूपातिरिक्ततया अत्यन्ताभाव की सिद्धि करना श्रुति का उद्देश्य नहीं। फलतः अत्यन्ताभाव यदि तात्त्विक है, तब ब्रह्म से अभिन्न और यदि अतात्त्विक है, तब स्वाप्न अन्न और अन्न का निगरण—दोनों जैसे मिथ्या होते हैं, वैसे ही द्वैत और द्वैताभाव—दोनों मिथ्या हैं, द्वैतापत्ति कथमपि नहीं हो सकती। इस विषय का उपपादन पहले ही विस्तारपूर्वक किया जा चुका है।

न्यायामृतम्

(४) किं चेदं नित्यत्वं यद् ब्रह्मण एवाभिमतं सर्वकालसम्बन्धित्वं वा ? कालावच्छेदराहित्यं वा ? ध्वंसाप्रतियोगित्वं वा ? उभयावधिराहित्वं वा ? नाद्यो, अविद्यायां काले चाऽतिव्याप्तेः। सापि हि सर्वकालोपादानत्वात्तत्सम्बन्धिनी। इदानीमेव नान्यदेत्येवंरूपतदवच्छेदरहिता च। न तृतीयः, ध्वंसेऽतिव्याप्तेः। ननु ध्वंसोऽपि ध्वंसप्रतियोगी, प्रतियोग्यनुन्मज्जनं तु प्रागभावनिवृत्तिरूपस्य घटस्य निवृत्तावपि प्रागभावानुन्मज्जनवद् युक्तमिति चेन्न, एवं सति मोक्षेऽप्यात्मान्यस्य कस्यचिद् ध्वंसस्य वक्तव्यतया लाघवार्थम् आद्यध्वंसनित्यताया एव युक्तत्वात्। न च ध्वंसस्य नित्यत्वेऽपि भावेषु ब्रह्मैव नित्यमित्यस्याहानिरितिवाच्यम्, निष्प्रतियोगिकत्वेन भावस्य ध्वंसत्वा-

अद्वैतसिद्धिः

(४) ननु—ब्रह्मण एव यन्नित्यत्वमभिमतम्, तत् किं सर्वकालसम्बन्धित्वं वा ? कालावच्छेदराहित्यं वा ? ध्वंसाप्रतियोगित्वं वा ? उभयावधिराहित्यं वा ? नाद्यौ, अविद्यायां काले चातिव्याप्तेः, अविद्यायाः सर्वकालोपादानत्वेन तत्संबन्धनियमादिदानीमेव नान्यदेत्येवंरूपतदवच्छेदरहितत्वाच्च। न तृतीयः, ध्वंसेऽतिव्याप्तेः। न च ध्वंसोऽपि ध्वंसप्रतियोगी, प्रतियोग्यनुन्मज्जनं तु प्रागभावनिवृत्तिरूपस्य घटस्य निवृत्तावपि प्रागभावानुन्मज्जनवद्युक्तमिति—वाच्यम्, एवं सति मोक्षेऽप्यात्मान्यस्य कस्यचिद् ध्वंसस्य वक्तव्यतया लाघवार्थमाद्यध्वंसनित्यताया एव युक्तत्वात्। न च—ध्वंसस्य नित्यत्वेऽपि भावेषु ब्रह्मैव नित्यमिति—वाच्यम्, निष्प्रतियोगिकत्वेन भावस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(४) नित्यत्वविचार—

द्वैतवादी—अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा जो केवल ब्रह्म में नित्यत्व स्वीकृत है, वह क्या (१) सर्वकाल-सम्बन्धित्व है ? या (२) कालावच्छेद-राहित्य ? या (३) ध्वसाप्रातयोगित्व ? या (४) पूर्वापर-उभयावधि-राहित्य ? प्रथम (सर्वकाल-सम्बन्धित्व) और द्वितीय (कालावच्छेद-राहित्य) दोनों अविद्या और काल में अतिव्याप्त हैं, क्योंकि अविद्या सर्वकाल का उपादान कारण नियमतः सर्वकाल-सम्बन्धी है 'इदानीमेव न तदानीम्'—इस प्रकार के कालावच्छेद से रहित है। तृतीय (ध्वंसाप्रतियोगित्व) लक्षण भी ध्वंस में अतिव्याप्त है, क्योंकि ध्वंस का ध्वंस नहीं होता, अन्यथा (ध्वस का ध्वंस हो जाने पर) प्रतियोगी का उज्जीवन (पुनः सद्भाव) हो जायगा। यदि कहा जाय कि ध्वंस भी अपने ध्वंस का प्रतियोगी होता है, किन्तु प्रतियोगी का पुनरुज्जीवन वैसे ही नहीं होता, जैसे कि घट अपने प्रागभाव की निवृत्ति (ध्वंस) का स्वरूप होता है और उस घट की निवृत्ति अर्थात् प्रागभाव के ध्वंस का ध्वंस हो जाने पर भी प्रागभाव-रूप प्रतियोगी का उन्मज्जन नहीं होता। तो वैसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रागभाव-ध्वंस-स्थल पर यह देखा गया है कि प्रागभाव का विरोधी उसका ध्वंस होता है, वैसे ही ध्वंस का ध्वंस भी, अतः मोक्ष अवस्था में अनात्म जगद्रूप प्रतियोगी का उन्मज्जन रोकने के लिए ध्वंस-ध्वंस-धारा के किसी अन्तिम ध्वंस को नित्य मानना होगा, उससे तो आदिम ध्वंस को नित्य मान लेना ही न्यायोचित है।

शङ्का—ध्वंसरूप अभाव के नित्य होने पर भी भावपदार्थों में केवल ब्रह्म ही नित्य है, अतः भावाद्वैत सुरक्षित रहता है।

समाधान—यदि ध्वंस नित्य है, तब ध्वंसत्व को भी नित्य मानना होगा,

न्यायामृतम्

देर्नित्यत्वाश्यम्भावात् । न चतुर्थः, एवं परिभाषायामपि ब्रह्मण एव नित्यत्वमित्येतत्फलस्य मुक्तावन्याभावस्यासिद्धेः । एवं च—

काले कालापरिच्छेन्ने ध्वंसे चाध्वंसयोगिनि ।
नित्ये सति कथं नित्यं ब्रह्मैवेति मतं तव ॥

अद्वैतसिद्धिः

ध्वंसत्वादेरपि नित्यत्वावश्यंभावात् । न चतुर्थः, एवं परिभाषायामपि ब्रह्मण एव नित्यत्वमित्येतत्फलस्य मुक्तावन्याभावस्यासिद्धिरिति चेन्न, चतुर्थपक्षस्य क्षोदसहत्वात् । न च—अन्त्यावधिरहितस्य ब्रह्मान्यस्य मुक्तावसत्त्वं न सिद्धमिति—वाच्यम्, विशेषणान्तरस्यैव सिद्धेः । अत एव—

'काले कालापरिच्छन्ने ध्वंसे चाध्वंसयोगिनि ।
नित्ये सति कथं नित्यं ब्रह्मैवेति मतं तव ॥'

इति—निरस्तम्, कालस्याप्याविद्यकत्वेनान्त्यावधिमत्त्वाद्, ध्वंसस्याध्वंसप्रतियोगित्वेऽपि आद्यावधिमत्त्वाच्च । न च तावता सद्वितीयत्वम्, तात्त्विकस्य द्वितीय-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ध्वंसत्व निष्प्रतियोगिक होने के कारण भाव पदार्थ है, अतः भावाद्वैत भी सुरक्षित नहीं रहता। चतुर्थ (उभयावधि-राहित्य) पक्ष के अनुसार यद्यपि पूर्व अवधि (प्रागभाव) और उत्तर अवधि (ध्वंस) से रहित होने के कारण ब्रह्म में नित्यत्व उपपन्न हो जाता है और मोक्ष में 'ब्रह्मैवोभयावधिरहितम्'—ऐसा कहने से अन्य कोई भी वस्तु उभयावधि-रहित सिद्ध नहीं होती, तथापि एक-एक अवधि-रहित (प्रागभाव-रहित अनादि सान्त अथवा ध्वंस-रहित सादि अनन्त) द्वितीय पदार्थ का असद्भाव नहीं हो सकता, फलतः अद्वितीयत्वरूप विशेषण असिद्ध हो जाता है।

अद्वैतवादी—उभयावधि-राहित्यरूप चतुर्थ पक्ष में कोई दोष नहीं। यह जो आपत्ति की गई कि इस पक्ष के अनुसार मोक्ष में आत्मा से अन्य कोई अन्तिम अवधि (ध्वंस) से रहित (अविनाशी) पदार्थ का असद्भाव सिद्ध न होने से अद्वितीयत्व विशेषण सिद्ध नहीं होता। वह आपत्ति उचित नहीं, क्योंकि अद्वितीयत्वरूप विशेषण के सिद्ध न होने पर भी नित्यत्वरूप विशेषणान्तर तो सिद्ध हो जाता है, जिसकी सिद्धि ही यहाँ अभिमत है और अद्वितीयत्व की सिद्धि का प्रकार पहले ही कहा जा चुका है। अत एव

काले कालापरिच्छिन्ने ध्वंसे चाध्वंसयोगिनि ।
नित्ये सति कथं नित्यं ब्रह्मैवेति मतं तव ॥

[कालिक परिच्छेद (अनित्यत्व) से रहित काल और ध्वंस-रहित ध्वंस—इन दो नित्य पदार्थों के मोक्षावस्था में रहते-रहते 'ब्रह्मैव नित्यम्'—यह अद्वैति-सम्मत अवधारण क्योंकर सिद्ध होगा ?]। वह शङ्का निरस्त हो जाती है, क्योंकि काल तत्त्व भी आविद्यक होने के कारण अन्तिम अवधि से युक्त (सान्त) माना जाता है एवं ध्वंस की ध्वंसरूप उत्तर अवधि नहीं होती—तथापि आद्य अवधि (प्रागभाव) से युक्त माना जाता है। इतने मात्र से सद्वितीयत्वापत्ति नहीं होती, क्योंकि अतात्त्विक द्वितीय के रहने पर भी तात्त्विक द्वैत का अभाव रहने के कारण अद्वितीयत्व विशेषण भी सिद्ध हो जाता है।

शङ्का—मोक्ष अवस्था में ध्वंस यदि अतात्त्विक है, तब उसका भी अभाव मानना

न्यायामृतम्

(५) कथं च दृग्रूपस्यात्मनः साक्षाद् द्रष्टृत्वरूपं साक्षित्वम् ? "साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञाया"मिति हि सूत्रम्। बुद्ध्युपाधिकस्यापि द्रष्टृत्वस्य सुषुप्त्यादावभावात्। बुद्धेः साक्ष्यधीनसिद्धिकप्रातीतिकाविद्याकार्यत्वेन चक्रकाश्रयत्वाच्च। किं च साक्षी किं

अद्वैतसिद्धिः

स्यैवमप्यभावात्। न चैवमतात्त्विकत्वे ध्वंसनिवृत्तिः, इष्टत्वात्। न च प्रतियोग्युन्मज्जनम्, तादृग्ध्वंसोपलक्षितस्वरूपस्यैव विरोधित्वात् प्रागभावस्य प्रतियोगिध्वंसादाविव।

(५) ननु—कथं दृग्रूपस्य ब्रह्मणः साक्षाद् द्रष्टृत्वरूपं साक्षित्वम् ? 'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञाया'मित्यनुशासनादिति—चेत्, अविद्यातत्कार्यान्यतरप्रतिफलितचैतन्यस्यैव साक्षित्वात्। तथा च दृग्रूपस्यापि उपाधिना द्रष्टृत्वम्। न चोपाधेरपि साक्ष्यधीनसिद्धप्रातीतिकाविद्याकार्यत्वेन चक्रकाद्यापत्तिः, उत्पत्तिज्ञप्तिप्रतिबन्धस्याभावादविद्यात-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होगा, ध्वंस का ध्वंस हो जाने पर प्रतियोगी सुरक्षित हो जाता है, उसको लेकर द्वैतापत्ति बनी ही रहती है।

समाधान—ध्वंस की निवृत्ति भी हम (अद्वैतवादियों) को अभीष्ट ही है। ध्वंस की निवृत्ति हो जाने पर भी प्रतियोगी उन्मज्जन नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतियोगी का जैसे ध्वंस विरोधी होता है, वैसे ही निवर्तमान ध्वंस से उपलक्षित ब्रह्म-स्वरूप ही विरोधी माना जाता है। यद्यपि तत्त्व-ज्ञान-जन्य आविद्यादि-ध्वंस ब्रह्म से पृथक् एक अविद्या-संस्कारात्मक माना जा सकता, तथापि तत्त्व-ज्ञान-प्रयुक्त ध्वंस-ध्वंसादि को ब्रह्मस्वरूप मात्र माना जाता है, ब्रह्मस्वरूप ध्वंस-ध्वंस भी प्रतियोगी की सत्ता का वैसे ही विरोधी होता है. जैसे प्रागभाव-निवृत्तिस्वरूप घटादि का ध्वंस प्रागभाव का विरोधी माना जाता है।

(५) साक्षित्व-विचार—

शङ्का—"साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्" (पा. सू. ५।२।९१) इस सूत्र के द्वारा 'साक्षात्' शब्द से 'इन्' प्रत्यय करने पर 'साक्षी' शब्द निष्पन्न होता है, जो कि किसी विषयवस्तु के साक्षात् द्रष्टा की संज्ञा है। "यत्साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म" (बृह० उ० ३।४।१) इस श्रुति के अनुसार जगत् का साक्षात् द्रष्टा ब्रह्म है, किन्तु ब्रह्मरूप साक्षी प्रत्यक्ष का नाश न हो सकने के कारण तत्संस्कार-जन्य स्मरण नहीं बन सकता, अतः ब्रह्म को साक्षी क्योंकर कहा जा सकता है ?

समाधान—[व्याकरण-अनुशासन केवल शब्द-साधुत्व का एक मौलिक आधार-मात्र प्रदान किया करता है, किन्तु उसे शब्द अपनी युग-युगान्तरों की सुदूर यात्रा का संवल नहीं बना सकता, अपितु क्षेत्रीय दर्शनों का पर्यावरण ही उसकी परिभाषा परिष्कृत किया करता है, अतः वेदान्त-दर्शन की यह व्यवस्था स्वीकार करनी पड़ेगी कि] अविद्या और अविद्या के कार्य—इन दोनों में से किसी एक दर्पण में प्रतिफलित चैतन्य को साक्षी कहा जाता है। दृग्रूप चैतन्य तत्त्व स्वतः द्रष्टा नहीं, अपितु अपनी जिस उपाधि के माध्यम से द्रष्टा बना करता है, उसके नाश से जनित संस्कार स्मरण का निर्माण किया करते हैं। न्यायामृतकार ने जो यहाँ चक्रकादि दोष उद्भावित किये हैं कि साक्षी के अधीन अविद्या-सिद्धि, अविद्या के अधीन वृत्ति की सिद्धि और उस

न्यायामृतम्

जीवकोटिः ? ब्रह्मकोटिर्वा ? उभयानुगतं चिन्मात्रं वा ? नाद्यः, जीवो बुद्ध्युपाधिकोऽणुरितिपक्षे इदमंशावच्छिन्नचिद्वेद्यस्य शुक्तिरूप्यादेः साक्षिवेद्यत्वायोगात्, चक्रकाच्च। "अज्ञानोपाधिकः सर्वगत" इति पक्षेऽपि अज्ञानस्य साक्ष्यधीनसिद्धिकत्वेनाऽन्योन्याश्रयात्। न द्वितीयः, तेन ब्रह्मण एव साक्षिवेद्यसुखदुःखादिधीः, न तु जीवस्येति वैपरीत्यापातात्। अन्यथाऽनवच्छिन्नानन्दधीरपि जीवस्य स्यात्। न च ब्रह्मचैतन्यं घटादिप्रकाशकमिति मतेऽज्ञानाभिभवद्वारा तस्य जीवचैतन्याभेदाभिव्यंजकान्तःकरणवृत्तिरिवेह तादृशी वृत्तिरस्ति। न तृतीयः, ईश्वरेणेव चिन्मात्रेणापि सांसारिकदुःखस्य

अद्वैतसिद्धिः

दुपाधिकद्रष्टृत्वयोरुभयोरप्यनादित्वात्।

ननु—साक्षी जीवकोटिर्वा, ब्रह्मकोटिर्वा, उभयानुगतं चिन्मात्रं वा ? नाद्यः, जीवो बुद्ध्युपाधिकोऽणुरिति पक्षे इदमंशावच्छिन्नचिद्वेद्यस्य शुक्तिरूप्यस्य साक्षिवेद्यत्वायोगाच्चक्रकाद्यापातात्। अज्ञानोपाधिकः सर्वगत इति पक्षेऽप्यज्ञानस्यापि साक्ष्यधीनसिद्धिकत्वेनान्योन्याश्रयात्। न द्वितीयः, ब्राह्मण एव साक्षिवेद्यदुःखादिधीः, न जीवस्येति वैपरीत्यापाताद्, अन्यथा अनवच्छिन्नानन्दधीरपि जीवस्येति स्यात्। ब्रह्मचैतन्यं घटादिप्रकाशकमिति मते अज्ञानाभिभवद्वारा तस्य जीवचैतन्याभेदाभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्तिवत्तादृशवृत्त्यभावाच्च। न तृतीयः, ईश्वरेणेव चिन्मात्रेणापि संसारिदुःखस्य तद्गतत्वेना ग्रहणेऽपि यद्भागो मुक्तस्तस्य चिन्मात्रस्य दुःखाद्युल्लेखरूपोपप्लवा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वृत्तिरूप उपाधि के अधीन साक्षी की सिद्धि इसी प्रकार अविद्या को उपाधि मानने पर अन्योऽन्याश्रय—अविद्या की सिद्धि में साक्षी और साक्षी की सिद्धि में अविद्यारूप उपाधि की अपेक्षा है। वे चक्रकादि दोष इस लिए निरस्त हो जाते हैं कि अविद्या और अविद्योपाधिक द्रष्टृत्व (साक्षित्व) दोनों को अनादि सिद्ध माना जाता है, अतः उनको न अपनी उत्पत्ति एवं स्थिति में एक-दूसरे की अपेक्षा है और न ज्ञप्ति में।

शङ्का—साक्षी क्या (१) जीव की कोटि में आता है ? या (२) ईश्वर की कोटि में ? अथवा (३) उभयानुगत चैन्यमात्र माना जाता है ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि जब जीव को बुद्ध्युपाधिक अणु चैतन्यरूप माना जाता है, तब इदमंशावच्छिन्न चैतन्य के द्वारा वेद्य शुक्ति-रजत में साक्षिवेद्यत्व सम्भव नहीं होता, वृत्ति के द्वारा बुद्ध्युपाधिक चैतन्य और इदमंशावच्छिन्न चैतन्य का अभेद स्थापित करने पर चक्रकादि की आपत्ति होती है। जब कि जीव को अज्ञानोपाधिक सर्वगत माना जाता है, तब भी अज्ञान की सिद्धि में साक्षी और साक्षी की सिद्धि में अज्ञान की अपेक्षा होने से अन्योऽन्याश्रय दोष होता है। द्वितीय पक्ष (ईश्वर की कोटि में साक्षी को मानने) में ब्रह्म को ही साक्षिवेद्य दुःखादि का ज्ञान होगा, जीव को नहीं—ऐसा वैपरीत्य प्रसक्त होता हैं, अन्यथा (ब्रह्म की वेद्यता से ही जीव की वेद्यता मानने पर) अनवच्छिन्न आनन्द-ज्ञान भी जीव को होना चाहिए। ब्रह्मचैतन्य ही घटादि का प्रकाशक होता है—इस पक्ष में अज्ञानाभिभव के द्वारा ब्रह्म और जीव चेतन्य के अभेद कीं अभिव्यञ्जक अन्तःकरण-वृत्ति के समान आनन्दांश में वैसी वृत्ति नहीं होती। तृतीय (जीवेश्वरोभयानुगत चैतन्य मात्र) पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि ईश्वर के समान ही चिन्मात्र को भी संसारी (जीव) के दुःख का जीवगतत्वेन ग्रहण न होने पर भी जिस चिन्मात्र का अंश

न्यायामृतम्

तद्गतत्वेनाऽग्रहणेऽपि यद्भागो मुक्तस्तस्य चिन्मात्रस्य दुःखाद्युल्लेखरूपोपप्लवापातात्। सुप्तमैत्रं प्रति मैत्रीयाज्ञानादेर्मैत्रीयतयेव जाग्रच्चैत्रीयदुःखादेरपि चैत्रीयतया सुप्तमैत्रं प्रति प्रतीतिप्रसंगेन मैत्रस्यैतावंतं कालं दुःखं नावेदिषमिति परामर्शायोगाच्च। नापि साक्षात्कर्त्तव्याकाराविद्यावृत्तिप्रतिफलितं चैतन्यं साक्षि, सुषुप्तौ चाज्ञानाद्याकाराविद्यावृत्तिर्नास्तीति वाच्यम्, दुःखादेः स्वानन्तरभाव्यविद्यावृत्तिप्रतिफलितचिद्वेद्यत्वे ज्ञातैकसत्त्वायोगात्। अविद्यावित्तेरपि साक्ष्यधीनसिद्धकत्वेनान्योन्याश्रयाच्च विस्तृतं चैतदसतः साधकत्वभंगे।

परमते ब्रह्मणो ज्ञानत्वानन्दत्वाद्वितीयत्वनित्यत्वसाक्षित्वभंगः ॥ ७ ॥

अद्वैतसिद्धिः

पायात्। सुप्तमैत्रं प्रति मैत्रीयाज्ञानादेर्मैत्रीयतयेव जाग्रच्चैत्रीयदुःखादेरपि चैत्रीयतया सुप्तमैत्रं प्रति प्रतीतिप्रसङ्गेण मैत्रेणैतावन्तं कालं दुःखं नावेदिषमिति परामर्शायोगादिति—चेन्न, शुद्धब्रह्मातिरिक्तस्य बुद्ध्युपाधिकजीवातिरिक्तस्य साक्षिणोऽङ्गीकृतत्वेन तत्पक्षोक्तदोषाभावात्। तथा चाविद्यावृत्तिप्रतिफलितं चैतन्यं साक्षि, सुषुप्तावप्यविद्यावृत्तिस्वीकारस्य प्रागुक्तेः। न चान्योन्याश्रयः, प्रागेव निरासात्, शुद्धस्य साक्षित्वाभावेन मुक्तोपप्लवापाताभावात्। यस्तु सुप्तमैत्रे चैत्रःदुखग्रहणापत्त्या एतावन्तं कालं दुखं नावेदिषमिति परामर्शविरोध उक्तः, तन्न, साक्षिणः सर्वजीवसाधारण्येऽपि तत्तज्जीवचैतन्याभेदेनाभिव्यक्तस्य तत्तद्दुःखादिभासकतया अतिप्रसङ्गाभावात्। यच्च सुखादेः स्वानन्तरभाव्यविद्यावृत्तिप्रतिफलितचिद्वेद्यत्वे ज्ञातैकसत्त्वायोग इति, तन्न, मानसत्ववादिमतेऽप्यस्य समानत्वात्। न हि तन्मते ज्ञातैकस्थितिकत्वातिरिक्तं ज्ञातैकसत्त्वमस्ति, दुःखादिसमसमयोत्पन्नवृत्त्यापि ज्ञातैकसत्त्वोपपत्तेश्च। तस्मात् ज्ञानानन्दैकरूपमद्वितीयं नित्यं साक्षि च ब्रह्मेति सिद्धम् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो ज्ञानत्वानन्दत्वाद्वितीयत्वनित्यत्वसाक्षित्वोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मुक्त हो गया, उस चिन्मात्र के भी दुःख का उल्लेखरूप उपप्लव (सांकर्य) होना चाहिए। किन्तु सुप्त मैत्र को एतावन्तं कालं दुःखं नावेदिषम्'—इस प्रकार का परामर्श नहीं हो सकता, अन्यथा सुप्त मैत्र के प्रति मैत्रीय अज्ञान की जैसे मैत्रगतत्वेन प्रतीति होती है, वैसे ही जागते हुए चत्र के दुःखादि की सुप्त मैत्र को प्रतीति होनी चाहिए।

समाधान—शुद्ध ब्रह्म तथा बुद्ध्युपाधिक जीव से भिन्न चैतन्य को साक्षी माना जाता है, अतः शुद्ध ब्रह्म तथा बुद्ध्युपाधिक जीव-पक्ष के उद्भावित दोष यहाँ प्रसक्त नहीं होते। अविद्या-वृत्ति में प्रतिफलित चैतन्य साक्षी माना जाता है, सुषुप्ति में भी अविद्या-वृत्ति मानी जाती है—यह पहले कहा जा चुका है। कथित अन्योऽन्याश्रय का निरास ऊपर दोनों को अनादि कह कर किया जा चुका है। यह जो सुप्त मैत्र में चैत्रीय दुःख के ग्रहण की आपत्ति दिखा कर 'एतावन्तं कालं दुःखं नावेदिषम्'—इस प्रकार के परामर्श का विरोध प्रदर्शित किया गया है, वह संगत नहीं, क्योंकि साक्षी के सर्व जीव-साधारण होने पर भी तत्तज्जीव चैतन्य के साथ अभेदेन अभिव्यक्त साक्षी ही तत्तद्-दुःखादि का भासक माना जाता है, अतः किसी प्रकार का अतिप्रसङ्ग नहीं होता। जो यह दोष दिया जाता है कि 'यदि सुखादि स्वाव्यवहितोत्तर भावी अविद्या-वृत्ति में प्रतिफलित चैतन्य के द्वारा गृहीत होते हैं, तब सुखादि की ज्ञातैकसत्ता नहीं मानी जा

: ८ :

ब्रह्मण उपादानत्वविचारः

न्यायामृतम्

यच्चेदमुच्यते ब्रह्म जगत उपादानत्वे सति कर्त्रित्यभिन्ननिमित्तोपादानं जगदिति । तन्न, यतः ।

विकारवत्कारणत्वमुपादानत्वमुच्यते ।
निर्विकारतया वेदसिद्धे ब्रह्मणि तत्कथम् ॥

परिणामापरपर्यायविकारवत्त्वं ह्युपादानत्वम्, तच्च ब्रह्मणि "निर्विकारोऽक्षरः शुद्ध" इत्यादिश्रुतिविरुद्धम् । ननु विवरणे रज्वाः सूत्रद्वयवन्मायाविशिष्टं ब्रह्म जगत्कारण-

अद्वैतसिद्धिः

ननु—निर्विशेषं चेद् ब्रह्म, कथं तदेव निमित्तमुपादानमिति अभिन्ननिमित्तोपादानकत्वं जगतः ? विकारवत्कारणस्यैवोपादानत्वाद्, ब्रह्मणोऽविकारत्वाद्, अन्यथा 'निर्विकारोऽक्षरः शुद्ध' इत्यादिश्रुतिविरोधापत्तेरिति—चेन्न, परिणामितयोपादानत्वाभावेऽपि विवर्ताधिष्ठानतयोपादानत्वसंभवात् । विवर्ताधिष्ठानत्वं च विवर्तकारणाज्ञानविषयत्वमेव । तदुक्तं वार्तिककृद्भिः—

अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् ।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते ॥' इति ।

न चोपादानलक्षणाभावः, आत्मनि कार्यजनिहेतुत्वस्यैव उपादानलक्षणत्वात्, तस्य च परिणाम्यपरिणाम्युभयसाधारणत्वात् । ननु—ब्रह्मैवोपादानम् ? उताज्ञान-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सकती, क्योंकि स्वसमान काल में दुःखादि ज्ञात नहीं ।' वह दोष भी उचित नहीं, क्योंकि जो लोग दुःखादि को मानस प्रत्यक्ष का विषय मानते है, उनके मत में भी यह दोष समान है, क्योंकि उनके मत में भी ज्ञातैकस्थितिकत्व को छोड़ कर अन्य प्रकार का ज्ञातैकसत्त्व नहीं माना जा सकता। दुःखादि के समान काल में उत्पन्न वृत्ति के द्वारा भी दुःखादिगत ज्ञातैकसत्त्व उपपन्न हो जाता है, अतः ब्रह्म ज्ञान, आनन्द, एकरूप अद्वितीय, नित्य और साक्षिरूप सिद्ध हो जाता है।

शङ्का—ब्रह्म यदि सर्वथा निर्विशेष है, तब वह जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण क्योंकर हो सकता है ? क्योंकि विकारी कारण को ही उपादान कारण कहा जाता है, किन्तु ब्रह्म विकारी नहीं होता, अन्यथा (उसे विकारी मानने पर) "निर्विकारोऽक्षरः शुद्धः"—इत्यादि श्रुतियों का विरोध प्राप्त होता है।

समाधान—ब्रह्म में विकारितया उपादान कारणता न होने पर भी विवर्ताधिष्ठानत्वेन उपादान कारणता सम्भव है। विवर्ताधिष्ठानता का अर्थ है—विवर्तकारणीभूताज्ञान-विषयत्व, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् ।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते ॥ (बृह० वा० पृ० ५०५)

उपादान कारण के लक्षण का भी ब्रह्म में अभाव नहीं, क्योंकि कार्य-जनन-हेतुत्वरूप उपादान कारण लक्षण विद्यमान है। यह लक्षण परिणामी और अपरिणामी-उभय विध उपादान कारणों का साधारण लक्षण है।

शङ्का—क्या केवल ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है ? अथवा अज्ञान भी जगत्

न्यायामृतम्

मिति वा मायशक्तिमद्ब्रह्म कारणमिति वा जगदुपादानमायाश्रयतया ब्रह्म कारणमिति वेति मतत्रयमुक्तम्। तत्राद्ये रज्ज्वाः सूत्रे इव मायाब्रह्मणी उपादाने निर्विकारश्रुतिस्तु केवलब्रह्मपरेति विवक्षितम्। द्वितीये मायोपरागाद्ब्रह्म विकारि, निर्विकारश्रुतिस्तु तदनुपरक्ताभिप्रायेति विवक्षितम्। तृतीये तन्तुद्वारांऽशुः पटस्येव मायाद्वारा ब्रह्मोपादानम्, श्रुतिस्तु अद्वारकविकारनिषेधिकेति विवक्षितमिति चेन्न, आद्ये मायावत्तंतुवच्च ब्रह्मापि विकारीति विशिष्य ब्रह्मणो निर्विकारत्वोक्त्ययोगात्।

किं च परमार्थसज्ज्ञानानन्दस्वभावस्य ब्रह्मणोऽप्युपादानत्वे कार्यमपि तथा स्यात्। अविद्योपादानत्वेऽपि सितासितसूत्रकार्ये पटे सितत्ववज्जगति परमार्थसत्यादेरपि दुर्वारत्वात्। न ह्युपादानस्वभावस्योपादेये धीमात्रम्, अविद्यास्वभावस्याऽनिर्वा-

अद्वैतसिद्धिः

म ?, ? आद्ये सत्योपादानत्वे सत्यत्वापत्त्या अज्ञानोपादानकत्वकल्पनविरोधः, द्वितीये सूत्रद्वयस्य रज्जुं प्रतीव ब्रह्माज्ञानयोः समप्राधान्येन वा उपादानत्वम्, निर्विकारश्रुतिस्तु केवलब्रह्मपरेति विवक्षितम्? उत मायाशक्तिमद्ब्रह्म उपादानम्, निर्विकारश्रुतिस्तु तदनुपरक्तब्रह्मविषयेति विवक्षितम्? उत मायाद्वारा ब्रह्म कारणम्, अंशुरिव तन्तुद्वारा पटं प्रति निर्विकारश्रुतिस्तु अद्वारकविकारनिषेधिकेति विवक्षितम्? नाद्यः, उभयोः समतयैव विकारित्वेन ब्रह्मणो विशिष्य निर्विकारत्वोक्त्ययोगात्, सितासितसूत्रारब्धपटे सितासितत्ववज्जगति पारमार्थिकत्वानिर्वचनीयत्वयोरापाताद्, ब्रह्मस्वभावस्य पारमार्थिकत्वस्य उपादेयधीमात्रस्थत्वे अविद्यास्वभावस्यानिर्वाच्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का उपादान कारण है? प्रथम पक्ष में सत्यात्मकब्रह्मोपादानक होने के कारण जगत् को भी सत्य होना चाहिए। इस पक्ष में अज्ञान को जगत् का उपादान मानना विरुद्ध भी पड़ जाता है। द्वितीय (अज्ञान को भी उपादान मानने) पक्ष में भी (१) जैसे दो तन्तु मिल कर एक रस्सी के उपादान होते हैं, वैसे ही क्या समप्रधानरूप से ब्रह्म और अज्ञान—दोनों उपादान कारण हैं और निर्विकार-श्रुति केवल ब्रह्मपरक विवक्षित है? या (२) माया शक्ति-विशिष्ट ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है और निर्विकार-श्रुति अज्ञानोपराग-रहित ब्रह्मपरक है? अथवा (३) माया के द्वारा ब्रह्म जगत् का वैसे ही उपादान कारण है, जैसे तन्तु के अवयवभूत अंशु तन्तु के द्वारा पट के प्रति उपादान होते हैं और निर्विकार-श्रुति मायादि द्वार के विना ब्रह्म में विकार की निषेधिका है? प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि जब ब्रह्म और अज्ञान—दोनों समान भाव से विकारी हैं, तब किसी विशेषता को लेकर ब्रह्म के निर्विकारत्व की कल्पना संगत नहीं, सित (श्वेत) और असित (नील)—दो तन्तुओं से आरब्ध पट में सितत्व और असितत्व के समान ब्रह्माज्ञानोभयारब्ध जगत् में पारमार्थिकत्व और अनिर्वचनीयत्व होना चाहिए, यदि ब्रह्म का पारमार्थिकत्व स्वभाव केवल उपादेय के ज्ञान में माना जाता है, उपादेय जगत् में नहीं, तब अविद्या के भी स्वभावभूत अनिर्वाच्यत्व को भी जगत् के ज्ञानमात्र में ही सीमित करना होगा, यदि कहा जाय कि केवल ब्रह्मोपादानक उपादेय में पारमार्थिकत्व और केवल अज्ञानोपादानक कार्य में अनिर्वचनीयत्व रहता है, जगत् उभयोपादानक होने के कारण पारमार्थिकत्व का आधार नहीं हो सकता, तब उसी प्रकार अनिर्वाच्यत्व का भी अभाव मानना होगा, क्योंकि जगत् अज्ञानमात्रोपादानक

न्यायामृतम्

च्यत्वस्याऽपि प्रपंचे धीमात्रत्वापातात् । सन्मात्रोपादानकत्वं सत्त्वे तन्त्रं चेत् , अनिर्वाच्यत्वमपि न स्यात् , तन्मात्रोपादानकत्वाभावात् । द्वितीये मायाख्यहेतूपरागभावाभावाभ्यां विकारभावाभावविवक्षा चेत्, मृदादिसाधारण्यं मायाविशिष्टं ब्रह्म विकारि निर्विकारश्रुतिस्तु विशेष्याभिप्रायेति विवक्षायां तु विशिष्टस्य ब्रह्मत्वे निर्विकारश्रुतिविरोधः । अब्रह्मत्वे न नो हानिः । एतेन प्रकृतिविशिष्टं ब्रह्मोपादानमिति निरस्तम् । विस्तृतं चैतदन्यत्र ।

किं च विशिष्टस्य मृदादिवद्धर्मिसमसत्ताकरूपान्तरापत्तिरूपपरिणामाद्विवर्तमतहानिः स्यात् । विशिष्टस्य परिणामः शुद्धस्य तु विवर्त इति चेत् , तर्हि शुद्धेऽपि विवर्तार्थम् आरोपितविकारस्यावश्यकत्वान्निर्विकारश्रुतेस्तत्परत्वं न स्यात् । श्रुतिर्विशेष्यस्यैव तात्त्विकविकाराभावपरा चेद् , विशिष्टे विकारोक्तिरयुक्ता स्यात् । तत्त्वतो निर्विकारे आरोपितविकाराविरोधात् । तृतीयोऽप्ययुक्तः, अंशोस्तन्तुं प्रतीव ब्रह्मणः

अद्वैतसिद्धिः

स्यापि धीमात्रस्थत्वापातात् , तन्मात्रोपादानकत्वस्य तत्तत्सत्त्वप्रयोजकत्वे अनिर्वाच्यत्वस्याप्यभावप्रसङ्गात् , तन्मात्रोपादानकत्वाभावात् । द्वितीये ब्रह्मणो मायाख्यहेतूपरागमपेक्ष्य विकारित्वे मृदादिवत् परिणामित्वापत्तिः, विशिष्टस्य ब्रह्मत्वे निर्विकारश्रुतिविरोधः, अब्रह्मत्वे ब्रह्मणः कारणत्वासिद्धिः, विशिष्टस्य मृदादिवद्धर्मिसमसत्ताकरूपान्तरापत्तिरूपपरिणामाद्विवर्तमतहानिश्च । न च—विशिष्टापेक्षया परिणामत्वं शुद्धापेक्षया विवर्तत्वमिति—वाच्यम् , शुद्धेऽपि विवर्तार्थमारोपितविकारस्यावश्यकत्वेन निर्विकारश्रुतेः तत्परत्वाभावप्रसङ्गात् । तस्या विशेष्ये तात्त्विकविकाराभावपरत्वे विशिष्टे विकारोक्त्ययोगः, तत्त्वतो निर्विकारे आरोपितविकाराविरोधात् । न तृतीयः, अंशोस्तन्तुं प्रतीव ब्रह्मणो मायां प्रत्युपादानत्वाभावादिति—चेन्न, उभयापरिणामित्वेन तयोः कारणत्वाङ्गीकारात् । न च तत्पक्षोक्तदोषावकाशः, उभयोः

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं । द्वितीय पक्ष में मायाख्य हेतु के उपराग (सम्बन्ध) से ब्रह्म को विकारी मानने पर परिणामी भी मानना पड़ेगा । अज्ञान-विशिष्ट तत्त्व ब्रह्म माना जाता है ? या नहीं ? यदि माना जाता है, तब ब्रह्म को निर्विकार कहनेवाली श्रुतियों का विरोध होता है और विशिष्ट तत्त्व यदि ब्रह्म नहीं, तब केवल ब्रह्म में जगत्कारणता सिद्ध नहीं होती तथा इस द्वितीय पक्ष को मानने पर अज्ञान-विशिष्ट ब्रह्म में मृत्तिका और सुवर्णादि के समान समसत्ताकान्यथाभावरूप परिणाम के सिद्ध हो जाने पर विवर्तवाद की हानि भी हो जाती है । 'विशिष्ट ब्रह्म की अपेक्षा परिणाम और शुद्ध की अपेक्षा विवर्त—ऐसी व्यवस्था नहीं कर सकते, क्योंकि शुद्ध को लेकर विवर्तत्व का निर्वाह करने के लिए भी आरोपित विकार मानना आवश्यक है, अतः निर्विकार-श्रुति शुद्ध परक भी न हो सकेगी । निर्विकार-श्रुति का केवल विशेष्यगत तात्त्विक विकार के निषेध में तात्पर्य मानने पर विशिष्ट में विकार का विधान न हो सकेगा, क्योंकि तत्त्वतः निर्विकार शुद्ध वस्तु में आरोपित विकार का होना विरुद्ध नहीं । तृतीय पक्ष को अपनाने पर जैसे अंशु में तन्तु के प्रति उपादानता नहीं मानी जाती, वैसे ही ब्रह्म में माया के प्रति उपादानता सिद्ध न होगी ।

समाधान—ब्रह्म और अज्ञान—दोनों में उभय-परिणामत्वेन जगत् की कारणता

न्यायामृतम्

अनादिमायां प्रति उपादानत्वाभावात् । भ्रमाधिष्ठानत्वमुपादानत्वमिति चेत्, न उपादाने मृदादौ भ्रमाधिष्ठानत्वस्य भ्रमाधिष्ठाने च शुक्त्यादौ उपादानत्वस्य चाऽव्यवहारात् । पारिभाषिकोपादानत्वस्य चाऽनुपादानत्वे पर्यवसानात् ।

एतेनाऽसत्यरूपान्तरापत्तिर्विवर्तः, सत्यरूपान्तरापत्तिस्तु परिणामः, रूपान्तरापत्तिमात्रं उपादानत्वम् । तच्च ब्रह्मणो विवर्तरूपविशेषेणाप्युपपन्नम्, निर्विकारश्रुतिस्तु तात्त्विकविकाराभावाभिप्राया । ब्रह्म चाज्ञातं प्रपंचरूपेण विवर्तते इति अज्ञानमपि परिणामितयोपादानान्तर्गतम् । रूप्यमपि शुक्तिविवर्तत्वादज्ञानपरिणामत्वाच्चोभयोपादनकमिति निरस्तम् । त्वयापि मिथ्याभूतस्य मिथ्याभूतमेवोपादनमन्वेषणीयं सत्यत्वे कार्यस्याऽपि कारणस्वभावतया सत्यत्वप्रसंग इति वदता सत्यस्यासत्यरूपापत्तेर्निषेधात् । सत्यारोपितधूमानुगतधूमत्वसामान्यस्येव सत्यासत्यरूपान्तरापत्त्यनुगतो-

अद्वैतसिद्धिः

परिणामितया कारणत्वानङ्गीकारात्, किंत्वज्ञानस्यैव । अत एवासाधारण्येन निर्विकारत्वमपि । न ह्यविद्यासाहित्येऽपि ब्रह्म परिणमते, किंतु विवर्तत इति । न चाविद्यापरिणामत्वेऽपि सत्यत्वापत्तिः, परिणाम्युपादानसमसत्ताकत्वरूपस्य सत्यत्वस्य परिणामत्वनिर्वाहकत्वाद्, ब्रह्मसमसत्ताकत्वाभावेन तदपेक्षया परिणामत्वाभावात्, स्वसमानसत्ताकविकाराहेतुतया निर्विकारत्वोपपत्तेश्च । न च सत्योपादानत्वे सत्यत्वापत्तिः, परिणाम्युपादानधर्माणामेव मृत्त्वसुवर्णत्वादीनां कार्येऽन्वयदर्शनात्

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं, अपितु उभयापरिणामित्वेन या अन्यतर-परिणामित्वेन कारणता मानी जाती है, अतः उभय-परिणामिता-पक्षोक्त दोष यहाँ प्राप्त नहीं होते, क्योंकि उभय-परिणामित्वेन कारणता स्वीकृत ही नहीं, किन्तु अज्ञान मात्र में परिणामित्वेन कारणता मानी जाती है। अत एव निर्विकारत्व भी उभय-साधारण नहीं, अपितु केवल ब्रह्मवृत्ति ही माना जाता है, क्योंकि अविद्या का साहित्य पा कर भी ब्रह्म परिणामी नही होता, किन्तु विर्वातत होता है। अविद्या की परिणामिता होने पर भी जगत् में सत्यत्वापत्ति नहीं होती, क्योंकि परिणामी उपादान (अज्ञान) के समान (अनिर्वचनोय) सत्ता मात्र के जगत् में रहने से अज्ञान-परिणामित्व निभ जाता है, जगत् में ब्रह्म-समानसत्ताकत्व के न होने के कारण ब्रह्म की अपेक्षा जगत् को परिणाम नहीं माना जाता। ब्रह्म में स्वसमानसत्ताक (पारमार्थिक) विकार की हेतुता न होने के कारण निर्विकारता उपपन्न हो जाती है। यह जो कहा है कि ब्रह्मरूपसत्योपादानक होने के कारण जगत् में सत्यता होनी चाहिए, वह कहना संगत नहीं, क्योंकि मृत् और सुवर्णादि परिणामी उपादान के ही मृत्तिकात्व और सुवर्णत्वादि धर्म उपादेय में अनुगत देखे जाते हैं, शुक्तिकादि विवर्तोपाद के शुक्तित्वादि धर्म रजतादि उपादेय में समनुगत नहीं होते, अतः ब्रह्मरूप विवर्तोपादान का सत्यत्व धर्म जगद्रूप उपादेय में नहीं हो सकता, फलतः जगत् असत्य सिद्ध हो जाता है [यहाँ पूर्व पक्षी ऐसा अनुमान करना चाहता है—'जगत् सत्यम्, सत्योपादानकत्वाद्, यद् यदुपादानकं भवति, तत्तद्धर्मकं भवति यथा सुवर्णोपादानकं कटकादि सुवर्णत्वधर्मकम् ।' सिद्धान्ती की ओर से उस अनुमान में परिणामित्व' धर्म को उपाधि के रूप में प्रदर्शित किया। अर्थात् 'यद्यदुपादानकम्, तत्तद्धर्मकम्'—ऐसी व्याप्ति रजतादि में शुक्तित्वादि के न होने से व्यभिचारी है, निर्दोष व्याप्ति का आकार

न्यायामृतम्

पादानत्वसामान्यस्याप्यभावाच्च । शुक्तिब्रह्मणोरेव रूप्याकाशाद्युपादनत्वसम्भवे अविद्यान्वयव्यतिरेकयोर्निमित्तत्वेनाप्युपपत्तेरविद्योपादानकत्वकल्पनायोगाच्च । न च परिणामित्वेनाविद्याकल्पनम् । असत्यस्य रूप्यादेः सत्यरूपापत्तिमत्परिणाम्यपेक्षा-भावाद् विकारित्वेनाविद्याकल्पनं तु तत्त्वतो निर्विकारे ब्रह्मणि अतात्त्विकविकारांगी-

अद्वैतसिद्धिः

सत्योपादानत्वेऽप्यसत्यत्वोपपत्तेः । न च—सत्यासत्यधूमानुगतधूमत्वस्येव सत्यास-त्यानुगतोपादानत्वस्यैकस्याभाव इति—वाच्यम् , स्वानिष्ठकार्यजननिहेतुत्वस्योक्तत्वात् । न हि सत्यासत्यत्ववैधर्म्यं साधर्म्यविरोधि, अन्यथा किंचिद्वैधर्म्यस्यैव साधर्म्यविरो-धित्वे साधर्म्यकथोच्छेदापत्तेः, अनाभासविषयसंस्कारजन्यज्ञानविषयत्वादेराभासा-नाभाससाधारणस्य दृष्टान्तेऽपि सत्त्वाच्च ।

ननु—अविद्योपादानत्वकल्पना न युक्ता, ब्रह्मण एव रूप्याकाशाद्युपादानत्व-संभवाद् , अविद्यान्वयव्यतिरेकस्य निमित्ततामात्रेणान्यथासिद्धेरिति—चेन्न, घटकुण्ड-लादेः परिणाम्यपेक्षादर्शनेन गगनादावप्यविद्यायाः परिणाम्युपादानत्वस्यावश्यकत्वात् । न च—असत्यस्य रूप्यादेः सत्यरूपापत्तिमत्परिणाम्यपेक्षा नास्तीति न सर्वत्रोपादेये

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है—'यद् यत्परिणामात्मकम्, तत्तद्धर्मकम् ।' जगत् ब्रह्मपरिणामात्मक न होने के कारण ब्रह्मगत सत्यत्व का आधार नहीं माना जा सकता] ।

शङ्का—जैसे सत्य और असत्य धूम में धूमत्व धर्म अनुगत नहीं होता, वैसे सत्य (ब्रह्म) और असत्य (अज्ञान) दोनों में अनुगत उपादानत्व भी नहीं बन सकता ।

समाधान—विशेष धर्म का अनुगम न होने पर भी सामान्य धर्म का अन्वय विरोधी पदार्थों में भी देखा जाता है, अतः यहाँ सत्यासत्योभय में उपादानत्व धर्म के अन्वय में कोई बाधक नहीं, क्योंकि उपादानत्व का अर्थ 'स्वकार्यजननहेतुत्व' किया जा चुका है। उपादानत्वात्मक साधर्म्य के होने मात्र से सत्यासत्य का सहज-सिद्ध वैधर्म्य समाप्त नहीं हो जाता, अन्यथा साधर्म्य नाम की वस्तु ही संसार में न रहेगा, क्योंकि ऐसा कोई साधर्म्य प्रसिद्ध नहीं, जिसके आधार में कोई-न-कोई वैधर्म्य न रहता हो। यह जो कहा कि सत्य और असत्य धूम में धूमत्व नहीं रहता, वह कहना उचित नहीं, क्योंकि वहाँ धूमत्व के न रहने पर भी अनाभास या सत्य धूमविषयक संस्कार-जन्य ज्ञान के विषयत्वादि धर्म आभासानाभास-उभय साधारण प्रसिद्ध हैं।

शङ्का—अविद्या को उपादान मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि केवल ब्रह्म में ही शुक्ति-रजतादि प्रातिभासिक प्रपञ्च से लेकर आकाशादि व्यावहारिक जगत् तक की उपादान कारणता बन जाती है। अविद्या का जो प्रपञ्च के साथ अन्वय-व्यतिरेक अनुभूत होता है, वह अविद्या को प्रपञ्च का निमित्त कारण मात्र मान लेने से उपपन्न हो जाने से अन्यथासिद्ध है, अतः उसके आधार पर अविद्या में उपादानत्व की कल्पना नहीं कर सकते।

समाधान—घट और कुण्डलादि उपादेय को अपने मृत्तिका और सुवर्णादि परिणामी उपादान की अपेक्षा देखकर आकाशादि में भी अविद्यारूप परिणामी उपादान की अपेक्षा सिद्ध होती है। यद्यपि सत्यरूपापत्ति का नाम परिणाम और असत्यरूपापत्ति की संज्ञा विवर्त है, असत्य रजतादि को सत्यरूपापत्ति-युक्त परिणामी कारण की अपेक्षा

न्यायामृतम्

कारात् परेणैव निरस्तम् । न च कार्यापेक्षितस्वसमानसत्ताकोपादानत्वेनाविद्या-कल्पनम्, अविद्यार्थापत्तिभंगे निरस्तत्वात् ।

किं च रूप्येऽपि रूप्यमिदमिति प्रतीतेः अविद्याविकारभूतं रूप्यम्, इदंरूप्यता-दात्म्यं वाऽस्तु । इदमो रूप्यरूपापत्तिरूपो विकारस्तु कथम् ? न हीदं रूप्यरूपमापन्न-

अद्वैतसिद्धिः

तदपेक्षानियम इति—वाच्यम्, स्वविषयकाज्ञानानपेक्षस्य तद्भाव इत्येव सत्यरूपाप-पत्तिपदेन विवक्षितत्वात् । न हि ब्रह्माज्ञानस्य रूप्यादिभावापत्तौ स्वविषयकाज्ञानं व्यवधायकमस्ति । किंच विकारित्वेनाप्यविद्याया उपादानत्वकल्पनम् । न च—ब्रह्मण एवातात्त्विकविकारसंभवात्, न तत्कल्पनमिति—वाच्यम्, तद्विषयकाज्ञानपरिणाम-त्वव्यतिरेकेण विकारे अतात्त्विकत्वानिर्वाहात् । किं च कार्यापेक्षितस्वसमानसत्ताकोपा-दानत्वेनाप्यविद्योपादानत्वम् । समानसत्ताकत्वं च रूप्यस्थले सत्त्वद्वैविध्येन वा ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वरूपप्रातिभासिकत्वमादाय वोपपद्यते । तस्माद्रूप्यतत्तादात्म्ययोर-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं देखी जाती, अतः सर्वत्र उपादेय में परिणामी उपादान की अपेक्षा नहीं । तथापि शुक्त्यादि उपादान कारण स्वविषयक अज्ञान की अपेक्षा करके रजतादि कार्य को जन्म देते हैं और सुवर्णादि उपादान स्वाज्ञान-निरपेक्ष कुण्डलादि कार्य का निर्माण करते हैं, अतः यहाँ पर परिणामित्व-लक्षण-घटक 'सत्यरूपापत्ति' से स्वविषयकाज्ञानानपेक्ष कार्यापत्ति ही विवक्षित है, जैसे रजत और शुक्ति के मध्य में शुक्ति विषयक अज्ञान व्यवधायक होता है, वैसा ब्रह्माज्ञान और जगत् के मध्य में ब्रह्माज्ञानविषयक अज्ञान व्यवधायक नहीं, अतः ब्रह्माज्ञान से अनिर्वचनीय प्रपञ्च का होना सत्यरूपापत्ति ही है, असत्यरूपापत्ति नहीं, फलतः आकाशादि प्रपञ्च परिणामी उपादान के विना सिद्ध नहीं हो सकता, अज्ञान को भी उपादान कारण मानना परमावश्यक है । इतना ही नहीं विकारित्व धर्म के द्वारा भी अविद्या में उपादानता की कल्पना होती है ।

शङ्का—यह सत्य है कि विकारी पदार्थ उपादान कारण होता है, किन्तु वहाँ विकार आरोपितानारोपित-साधारण विवक्षित है, आतात्त्विक विकार तो ब्रह्म का ही हो सकता है, अतः विकारित्वेन अविद्या की कल्पना सम्भव नहीं ।

समाधान—शुक्त्यादि के रजतादि विकार में अतात्त्विकत्व तभी बना, जब कि शुक्ति ने स्वाज्ञान की अपेक्षा रजतादि को जन्म दिया, अतः आकाशादि में ब्रह्म की अतात्त्विक विकारता का निर्वाह करने के लिए ब्रह्म को नियमतः स्वकीय अज्ञान की अपेक्षा होती है । दूसरी बात यह भी है कि कार्य मात्र को स्वसमानसत्ताक उपादान की अपेक्षा होती है । प्रपञ्च का समानसत्ताक उपादान अविद्या ही हो सकती है । शुक्ति-रजतादि-स्थल पर विकार (रजत) और विकारी (शुक्त्यज्ञान) का समानसत्ताकत्व सत्ता-द्वैविध्य-पक्ष में [ब्रह्म पारमार्थिक और ब्रह्मेतर रजतादि और अज्ञानादि समस्त प्रपञ्च प्रातिभासिक है—इस प्रकार की द्विविध सत्ता मानकर] होता है अथवा त्रिविध सत्ता-पक्ष में भी ब्रह्म-ज्ञानेतर-बाध्यत्वरूप प्रातिभासिकत्व मानकर रजत और शुक्त्य-ज्ञान में समानसत्ताकत्व का निर्वाह किया जा सकता है [जैसे शुक्ति-रजत और शुक्त्यज्ञान—दोनों में ब्रह्मज्ञानेतर शुक्ति-ज्ञान के द्वारा बाधितत्व माना जाता है] ।

यह जो शङ्का की जाती है कि रजत और रजत-तादात्म्य-दोनों अविद्या के

न्यायामृतम्

मिति धीरस्ति। न चारोपितमप्यारोपं विना युक्तम्।

एतेन रूपान्तरापत्तिप्रतीतिविषयत्वम् उपादानत्वं प्रतीतेः प्रमात्वाप्रमात्वाभ्यां परिणामविवर्ताविति निरस्तम्। शुक्तिर्वा ब्रह्म वा रूप्यत्वं वा आकाशत्वं वा आपन्नमित्यप्रतीतेः। (सच्च त्यच्चाभवदि) त्यादि श्रुतेश्चात्माश्रयप्रसंगेन स्वजन्यरूपान्तरापत्तिधीविषयत्वप्रत्यायकत्वायोगात्।

एतेन रूपान्तराभेदधीविषयत्वं वा कार्याभेदधीविषयत्वं वोपादानत्वम्। प्रतीतेः प्रमात्वाप्रमात्वाभ्यां परिणामविवर्ताविति निरस्तम्, आद्ये तत्त्वंपदार्थयोः

अद्वैतसिद्धिः

विद्याविकारत्वेऽपि इदमो रूप्यरूपापत्तिरूपो विकारः कथम्? इदं रूप्यरूपमापन्नमित्यप्रतीतेः, आरोपितस्यारोपं विना अयोगादिति—निरस्तम्, रूप्याकारपरिणताज्ञानाधिष्ठानचैतन्यावच्छेदकमात्रतयेदमो रूप्यापत्तेरनङ्गीकारात्। यत्तु किमिदमुपादानत्वम्? रूपान्तरापत्तिप्रतीतिं प्रति विषयत्वं वा? रूपान्तराभेदधीविषयत्वं वा? कार्याभेदधीविषयत्वं वा? नाद्यः, असिद्धेः, 'शुक्ती रूप्यभावमापन्ना ब्रह्माकाशभावमापन्न' मित्यप्रतीतेः। न द्वितीयः, तत्त्वंपदार्थयोः क्षीरनीरयोर्मुण्डगोत्वयोश्चोपादानोपादेयतापत्तेः। न तृतीयः, सदृशे सन्निहिते निमित्तेऽपि कार्याभेदभ्रमसंभवेनातिव्याप्तेरिति, तदनुक्तोपालम्भनतया अपास्तम्। यदपि भ्रमाधिष्ठानत्वेन ब्रह्मणो नोपादानत्वम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विकार हैं, इदमर्थ का रजतरूपापत्तिरूप विकार क्योंकर होगा? क्योंकि इदं वस्तु रूप्यमापन्नम्'—ऐसी प्रतीति ही नहीं होती, आरोप (प्रतीति) के बिना आरोपितत्व नहीं माना जा सकता।

वह शङ्का भी इसीलिए निरस्त हो जाती है कि इदमर्थ की रजतरूपापत्ति नहीं मानी जाती, अपितु इदमर्थावच्छिन्न चेतन के अज्ञान का रजत परिणाम होता है, अतः रजताकार परिणत अज्ञान की चैतन्यगत अधिष्ठानता का इदमर्थ को अवच्छेदकमात्र माना जाता है।

न्यायामृतकारने जो यह शङ्का की है कि यह उपादानत्व क्या रूपान्तरापत्तिविषयक प्रतीति की विषयता है? अथवा रूपान्तराभेद-ज्ञान की विषयता? या कार्याभेद-ज्ञान की विषयता? प्रथम लक्षण में असम्भव दोष है, क्योंकि 'शुक्तिः रजतरूपापन्ना, ब्रह्म आकाशभावमापन्नम्—ऐसी प्रतीति ही नहीं होती, अतः शुक्ति और ब्रह्मादि में उपादानत्व का लक्षण नहीं घटता। द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि इस लक्षण के अनुसार तत्पदार्थ और त्वम्पदार्थ, क्षीर और नीर तथा मुण्डगो व्यक्ति और गोत्व में उपादानापादेयभाव प्रसक्त होता है। तृतीय लक्षण भी उचित नहीं, क्योंकि जैसे 'इदं रजतम्'—'सुवर्णं कुण्डलम्'—इस प्रकार कार्याभेद विषयक ज्ञान को इदमाद्यर्थ में विषयता होने के कारण उपादान लक्षण घटता है, वैसे ही 'आदित्यो यूपः'—इत्यादि स्थल पर सदृश पदार्थ में भी कार्याभेद की प्रतीति को लेकर अनुपादान में भी उपादान का यह लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है।

वह न्यायामृतकार का कहना इस लिए निरस्त हो जाता है कि इनमें से कोई भी लक्षण अद्वैतवाद में नहीं कहा गया है, अनुक्तोपालम्भन एक प्रकार का निर्यनुयोज्यानुयोग ही है।

न्यायामृतम्

क्षीरनीरयोः खण्डगोत्वयोश्चोपादानोपादेयत्वापातात्। द्वितीये सदृशे संन्निहिते- निमित्तेऽपि कार्याभेदभ्रमसम्भवेनातिव्याप्तेः। तस्मादकारणस्यातीतादेरत्यन्तासतश्च भ्रमाधिष्ठानत्वदर्शनाद् भ्रमाधिष्ठाने च शुक्त्यादौ कारणत्वोपादानत्वयोरव्यवहारात् न परपक्षे भ्रमाधिष्ठानस्य ब्रह्मण उपादानत्वकारणत्वे। ननु मायोपादानम्, ईश्वरो निमित्तं शुद्धं ब्रह्माधिष्ठानमिति चेन्न, अभिन्ननिमित्तोपादानत्वाभावेन त्वन्मते तदर्थस्य प्रकृत्यधिकरणदेरनुपपत्तेः। ब्रह्मण उपादानत्वभंगः।

अद्वैतसिद्धिः

अतीतासतोरनुपादानयोरपि भ्रमाधिष्ठानत्वदर्शनाद्, भ्रमाधिष्ठानेऽपि शुक्त्यादावुपादानत्वाव्यवहाराच्चेति, तन्न, चैतन्यस्यैवाधिष्ठानत्वेनातीतादेरनधिष्ठानत्वात्। किं च न हि व्यवहाराभावमात्रेण वस्तुव्यतिरेकः, वृक्षादिषु पृथिवीति व्यवहाराभावेऽपि पृथिवीत्वसत्त्वात्। यत्तु मायोपादानमीश्वरो निमित्तं शुद्धं ब्रह्माधिष्ठानमिति पक्षे अभिन्ननिमित्तोपादानत्वाभावेन त्वन्मते तदर्थस्य प्रकृत्यधिकरणादेरनुपपत्तिरिति, तन्न, एकस्यैवाविद्योपहितत्वेनोपादानत्वस्याविद्यापरिणामेच्छाकृत्याद्याश्रयत्वेन निमित्तत्वस्यापि संभवात्॥

इति अद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो जगदुपादानत्वोपपत्तिः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यह जो कहा गया है कि भ्रमाधिष्ठानत्वेन ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुपादानभूत अतीत और अत्यन्तासत् पदार्थों में भी भ्रमाधिष्ठानता देखी जाती है और उपादानभूत शुक्त्यादि में भी उपादानत्व का व्यवहार नहीं होता।

वह कहना भी युक्ति-संगत नहीं, क्योंकि सर्वत्र चैतन्यमात्र को ही अधिष्ठान माना जाता है, अतः अतीतादि पदार्थों को उपादान ही नहीं माना जाता। शुक्त्यादि में व्यवहार न होने मात्र से उपादानत्व का अभाव नहीं कह सकते, क्योंकि वृक्षादि में पृथिवीत्वादि का व्यवहार न होने पर भी पृथिवीत्व माना जाता है।

यह जो कहा है कि जगत् का माया उपादान कारण, ईश्वर निमित्त कारण तथा शुद्ध ब्रह्म अधिष्ठान होता है, अतः अभिन्न निमित्तोपादानकारणता का अभाव होने के कारण 'प्रकृत्यधिकरणादि (ब्र० सू० १।४।७) में अभिन्न निमित्तोपादानता का प्रतिपादन अनुपपन्न हो जाता है।

वह कहना भी समीचीन नहीं, क्योंकि एक ही ब्रह्म तत्त्व अविद्योपहितत्वेन उपादान तथा अविद्यापरिणामविषयक इच्छा और कृति का आश्रय होने के कारण कर्त्ता (निमित्त) बन जाता है, विवरणकारने इस विषय में अनुमान प्रस्तुत किया है—'इदं जगदाभिन्ननिमित्तोपादानकं भवितुमर्हति, प्रेक्षापूर्वकजनितकार्यत्वाद्, आत्मगत सुखदुःखरागद्वैषादिवत्" (पं० वि० पृ० ६३४)।

: ६ :

ब्रह्मणो निमित्तत्वविचारः

न्यायामृतम्

किं चेदं कर्तृत्वं किं परिभाषया शुक्त्यादिवदधिष्ठानत्वमात्रम् ? भ्रान्तवदध्यासद्रष्टृत्वं वा ? मायाविवद् व्यामोहकत्वं वा ? कुलालादिवदुपादानादिगोचरप्रयत्नादिमत्त्वं वा ? नाद्यः, त्वन्मतेऽधिष्ठानत्वातिरिक्तोपादानत्वाभावेन कर्तृत्वोपादानत्वयोः सामानाधिकरण्योक्त्ययोगात्। "तदैक्षत नामरूपे व्याकरोदि"त्यादि श्रुत्यनुपप-

अद्वैतसिद्धिः

ननु—एवं कुलालादिवदुपादानगोचरप्रयत्नादिमत्त्वं कर्तृत्वमुक्तं स्यात्, तच्च कार्यस्य कल्पितत्वे न घटते, कुलालादेरकल्पितं प्रत्येव कर्तृत्वदर्शनात्, कल्पितं च रूप्यादिकं प्रति भ्रान्तस्यान्यस्य वा कर्तृत्वादर्शनाच्चेति- चेन्न, कुलालकार्यघटादावप्यकल्पितत्वस्यासम्प्रतिपत्तेः, रूप्यादेरप्यकर्तृकत्वासिद्धेश्च, तत्रापि साक्षिण एव कर्तृत्वात्, न ह्यदर्शनमात्रेण कर्त्रपलापः, त्वन्मतेऽपि सर्वज्ञकर्तुरसिद्ध्यापत्तेः।

एतेनाधिष्ठानत्वं न कर्तृत्वम्, एवं सत्यतिरिक्तोपादानत्वाभावेन कर्तृत्वोपादानत्वयो: समानाधिकरण्योक्त्ययोगात्, नापि भ्रान्तवदध्यासद्रष्टृत्वम्, भ्रान्तस्य प्रेक्षापूर्वकमारोपितकर्तृत्वस्याभावात्। नापि मायाविवद्व्यामोहकत्वमेव कर्तृत्वम्, व्यामोहनीयजीवादर्शने व्यामोहकत्वाभावात्, तद्दर्शने भ्रान्त्यापत्तेः, व्यामोहकत्वस्याप्यारोपितत्वेनान्योन्याश्रयाच्च, 'नामरूपे व्याकरवाणी'तिश्रुत्यनुपपत्तेश्च। न हि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—कुलालादि के समान उपादानविषयक इच्छा और प्रयत्न के आश्रय को कर्त्ता माना जाता है, अतः कल्पित कार्य के प्रति कर्तृत्व नहीं घट सकता, क्योंकि अकल्पित कार्य की कर्तृता ही कुलालादि में देखी जाती है और कल्पित रजतादि की कर्तृता किसी भ्रान्त या अन्य पुरुषे में नहीं देखी जाती।

समाधान—कुलालादि के कार्यभूत घटादि में भी अकल्पितत्व निश्चित नहीं होता और कल्पित रजतादि में भी अकर्तृकत्व दृष्टचर नहीं होता, रजतादि की कर्तृता साक्षी में उपपन्न हो जाती है, अदर्शनमात्र से कर्त्ता का अपलाप नहीं होता, अन्यथा आप (द्वैतियों) के मतानुसार सर्वज्ञ ईश्वररूप कर्त्ता की सिद्धि न हो सकेगी, क्योंकि वह भी कुलालादि के समान कहीं चाक घुमा-घुमा कर पृथिव्यादि की रचना करता हुआ नहीं देखा जाता।

न्यायमृतकार ने यह जो शङ्का की है कि अधिष्ठानत्व का अर्थ क्या (१) कर्तृत्व है ? या (२) अध्यास-द्रष्टृत्व ? अथवा (३) व्यामोहकत्व है ? कर्तृत्व को अधिष्ठानत्व मानने पर उससे अतिरिक्त उपादानत्व न होने के कारण कर्तृत्व और उपादानत्व का सामानाधिकारण्य-व्यवस्थापन असंगत हो जाता है। भ्रान्त पुरुष के समान अध्यास-द्रष्टृत्व को उपादानत्व नहीं कह सकते, क्योंकि भ्रान्त पुरुष में आलोचनपूर्वक आरोपित वस्तु का कर्तृत्व नहीं देखा जाता। ऐन्द्रजालिक के समान मोहकत्व को भी अधिष्ठानत्व नहीं कह सकते, क्योंकि व्यामोहनीय जीवों का दर्शन न होने पर व्यामोहकत्व ही नहीं बनता और भ्रमात्मक जीवों का दर्शन होने पर अधिष्ठाता में भ्रान्तत्व प्रसक्त होता है। व्यमोहकत्व और आरोपितत्व में अन्योऽन्याश्रयता भी है। व्यामोहकत्वमात्र को अधिष्ठानत्व मानने पर "नामरूपे करवाणि" (छां० ६।३।२) यह रचयितृत्व-प्रतिपादक

न्यायामृतम्

त्तेश्च। न हि चेतनोऽचेतनो वा स्वस्मिन्नारोपितं संकल्प्य करोति। अत एव न द्वितीयः, भ्रान्तस्य प्रेक्षापूर्वकारोपितकर्तृत्वाभावात्। ब्रह्मणोऽभ्रान्तत्वेनाकर्तृत्वस्य जीवस्य भ्रान्तत्वेन जगत्कर्तृत्वस्य चापातात्। न चेष्टापत्तिः, श्रुत्यादिविरोधात्। जगत ईश्वरं मुक्त्वा संसारिण उत्पत्त्यादि सम्भावयितुमपि न शक्यमित्यादित्वद्भाष्यविरोधाच्च। ननु शुद्धस्याभ्रान्तत्वेऽपि मायाशबलितः कर्तेश्वरो भ्रान्त इति चेन्न, ईश्वरस्य भ्रान्तत्वे जीववत्संसाराद्यापातेन बहुश्रुत्यादिविरोधात्। किं च पक्षद्वयेऽपि (वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वादि) त्यादिसूत्रेषु कर्मसापेक्षत्वेन वैषम्यादिपरिहारो न युक्तः स्यात्। अधिष्ठान (त्वादिना) त्वेन तदप्रसक्तेः। न तृतीयः, व्यामोहनीयजीवादर्शने व्यामोहकत्वायोगाद्, दर्शने च भ्रान्तत्वापत्तेः। व्यामोहकत्वस्यापि आरोपितत्वेनान्योन्याश्रयाच्च। (नामरूपे व्याकरवाणी) त्यादि श्रुत्यनुपपत्तेश्च। न हि मायावी गजादिकं करवाणीति संकल्प्य करोति, किं तु दर्शयानीति संकल्प्य दर्शयति। किं च पक्षत्रयेऽपि जन्मादिसूत्रेऽर्थलब्धसार्वज्ञ्यादिस्फोरणार्थं शास्त्रयोनिसूत्रमिति यत्परमतं तद्भंगः स्याद्, भ्रमाधिष्ठानत्वादिना सार्वज्ञ्यालाभात्। न चतुर्थः, कल्पितत्वे तस्यायोगात्। न हि घटादिकं कुलालेनेव कल्पितं रूप्यादि भ्रान्तेन वान्येन वा क्रियते। विस्तृतं चैतत्पुरस्तात्। तस्मात्—

अधिष्ठाने तथा भ्रान्ते भ्रामके च न कर्तृता।
लौकिकी कृतिमत्ता तु न दृष्टारोपितं प्रति॥

परमते ब्रह्मणो निमित्तत्वभंग ॥ ९ ॥

अद्वैतसिद्धिः

मायावी जगदादिकं करवाणीतिसङ्कल्प्य करोति, किंतु दर्शयानीति सङ्कल्प्य दर्शयति। पक्षत्रयेऽपि जन्मादिसूत्रेऽर्थलब्धसार्वज्ञ्यादिस्फुरणार्थं 'शास्त्रयोनित्वा'दिति सूत्रमिति यत् परमतं, तद्भङ्गः स्याद्, भ्रमाधिष्ठानत्वादिना सार्वज्ञ्यालाभात्। नाप्युपादानगोचरप्रयत्नादिमत्त्वम्, कल्पितं प्रति तदयोगात्। तस्मात्—

अधिष्ठाने तथा भ्रान्ते भ्रामके च न कर्तृता।
लौकिकी कृतिमत्ता तु न दृष्टा कल्पितं प्रति॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

श्रुति भी विरुद्ध पड़ जाती है, क्योंकि मायावी 'जगदादिकं करवाणि'—इस प्रकार संकलपपूर्वक कार्य नहीं करता, अपितु 'कौशलं दर्शयानि'—ऐसा संकल्प लेकर ही अपने कार्य-क्षेत्र में उतरा करता है। कथित तीनों पक्षों में "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र. सू. १।१।२) इस सूत्र के द्वारा ध्वनित सार्वज्ञ्य का "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र. सू. १।१।३) इस सूत्र के द्वारा परिस्फोरण असंगत हो जाता है, क्योंकि भ्रमाधिष्ठानत्व के द्वारा सार्वज्ञ्य का लाभ नहीं होता। उपादानविषयक प्रयत्नादिमत्त्व को भी अधिष्ठानत्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कल्पित जगत् के प्रति वैसा सम्भव नहीं, अतः यही निश्चित होता है कि—

अधिष्ठाने तथा भ्रान्ते भ्रामके च न कर्तृता।
लौकिकी कृतिमत्ता तु न दृष्टा कल्पितं प्रति॥

अद्वैतसिद्धिः

इति निरस्तम्, अभिमतचतुर्थपक्षस्य समर्थितत्वात् । यत्तूक्तं तृतीयपक्षे व्यामुग्धजीवद्रष्टृत्वे भ्रान्तत्वापत्तिरिति, तद् भूषणमेव, भ्रान्तिज्ञस्याभ्रान्तत्वात् । यदपि मायाविनः सङ्कल्पपूर्वककर्तृत्वादर्शनेन व्याकरवाणीति श्रुत्यनुपपत्तिरिति, तन्न, तादृशसङ्कल्पादर्शनस्य मायाविन्यसंप्रतिपत्तेः । यदप्युक्तं जन्मादिसूत्रार्थसिद्ध-सार्वज्ञ्यस्फोरकं 'शास्त्रयोनित्वा'दिति सूत्रमिति परमतभङ्गः स्यादिति, तन्न, मायावित्वेऽपि स्रक्ष्यमाणमायिकविश्वाकारमायासत्त्वांशपरिणामाधारतया सार्वज्ञ्यलाभात् । तस्माद् ब्रह्मणो निमित्तत्वमुपादानत्वं च ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो विश्वकर्तृतोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न्यायामृतकार की वह शङ्का उचित नहीं, क्योंकि उक्त चतुर्थ पक्ष के रूप में अभिमत कार्यानुकूल ज्ञानाश्रयत्वरूप उपादानत्व का समर्थन किया जा चुका है । यह जो कहा गया कि तृतीय पक्ष में भ्रान्त जीवों का दर्शन होने पर अधिष्ठाता में भ्रान्तत्वापत्ति होती है, वह कोई दोष नहीं, क्योंकि भ्रान्ति का अभिज्ञ पुरुष भ्रान्त नहीं कहलाता ! यह जो कहा गया कि ऐन्द्रजालिक में संकल्पपूर्वक कर्तृत्व नहीं देखा जाता अतः "नामरूपे व्याकरवाणि" (छां० ६।३।२) इस श्रुति का विरोध होता है, वह भी उचित नहीं, क्योंकि वैसा संकल्पादर्शन ऐन्द्रजालिक में निश्चित नहीं । जन्मादि-सूत्र में ध्वनित सार्वज्ञ्य के "शास्त्रयोनित्वात्"—इस सूत्र में स्फोरण का जो अनौचित्य दिखाया गया, वह भी संगत नहीं, क्योंकि मायाविता के रहने पर भी स्रक्ष्यमाण मायिक विश्वाकार मायागत सत्त्वांश के परिणामरूप ज्ञान का आश्रय होने के कारण सार्वज्ञ्य का लाभ होता है, अर्थात् अधिष्ठानत्व के सामर्थ्य से सर्वज्ञता का लाभ नहीं होता, अपितु माया-वृत्तिरूप कार्यानुकूल ज्ञान की आश्रयतारूप कर्तृता के सामर्थ्य से सर्वज्ञत्व का लाभ होता है, फलतः ब्रह्म में निमित्त कारणता भी है और उपादान कारणता भी ।

: १० :

ब्रह्मण उपादानत्वे प्रमाणविचारः

न्यायामृतम्

किं चोपादानत्वे न तावद् "आत्मन आकाशः संभूतः", "यतो वा" इत्यादि पंचमीश्रुतिर्मानम्, तस्या अनेकार्थत्वात्। अपादानार्थत्वेऽपि "ध्रुवमपायेऽपादान"-मित्यनेनाऽपादानसंज्ञासम्भवाच्च। "जनिकर्त्तु" रित्यनेनापादानसंज्ञायामपि वृत्तौ "पुत्रात्प्रमोदो जायत" इत्यस्याप्युदाहृतत्वात्। न्यासेऽपि प्रकृतिपदं हेतुमात्रपर-मित्याश्रित्य असति प्रकृतिग्रहणे उपादानस्यैव स्यात्। प्रत्यासत्तेर्नेतरस्य प्रकृति-ग्रहणात् सर्वस्य कारणस्य भवतीति प्रकृतिपदं पुत्रात्प्रमोदो जायत इत्यादावनुपा-दानेऽप्यपादानसंज्ञार्थमित्युक्तत्वात्। "शृंगाच्छरो जायते गोलोमाविलोमभ्यो दूर्वा जायन्त" इत्यादावपि शरांकुरं प्रत्युपादानभूतो यः शृंगैकदेशः, तत्संसृष्टं शृंगैक-देशान्तरं शरांकुरनिमित्तमस्ति। माषांकुरोपादानभूतो यस्तुषांतरवस्थितो माषभाग-स्तत्संसृष्टो माषांकुरनिमित्तभूतस्तुषभाग इवापरिणतशृंगभागस्यानुभवात्, तदेव शृंगादिति पंचम्यन्तेनोच्यते। अत एव महाभाष्ये "अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्,

अद्वैतसिद्धिः

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्त' इति 'जनिकर्तुः प्रकृति'रिति सूत्रप्रकृत्यर्थ-विहितपञ्चमीश्रुत्या 'यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ती'ति स्थितिलयाधारत्वलिङ्गाच्चोपादानत्व-सिद्धिः, 'तदैक्षत व्याकरवाणी'ति ईक्षणाद्याधारतया कर्तृत्वसिद्धिश्च।

अथ—वृत्तौ 'पुत्रात् प्रमोदो जायत' इत्यादावनुपादानेऽपि पञ्चमीदर्शनात् प्रकृतिपदं हेतुमात्रपरमित्युक्तम्, न्यासेऽपि इदमेवाश्रित्य 'असति प्रकृतिग्रहणे उपादा-नस्यैवापादानसंज्ञा स्यात्, प्रत्यासत्तेः, नेतरस्य। प्रकृतिग्रहणात् कारणमात्रस्य भव-तीति प्रकृतिपदमनुपादानेऽपि अपादानसंज्ञासिद्ध्यर्थ'मित्युक्तम्, महाभाष्येऽपि 'अय-मपि योगः शक्योऽवक्तुम्, गोलोमाजलोमाविलोमभ्यो दूर्वा जायन्ते अपक्रामन्ति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तै० उ० ३।१।१) इस श्रुति में 'यत्' पद के उत्तर पञ्चमी विभक्ति "जनिकर्तुः प्रकृतिः" (पा० सू० १।४।३०) इस सूत्र के द्वारा उपादानता के अर्थ में विहित है, अतः पूर्व मीमांसा के तृतीय अध्याय में प्रतिपादित श्रुति, लिङ्गादि प्रमाणों में से उक्त पञ्चमी विभक्तिरूप श्रुति तथा "यत्प्रयन्त्यभिसंवि-शन्ति" (तै. उ. ३।१।१) इस श्रुति में निहित कार्य-स्थिति और कार्य-लय के आधार-त्वरूप लिङ्ग (सामर्थ्य) प्रमाण के द्वारा ब्रह्म में उपादानत्व सिद्ध हो जाता है।

शङ्का—"जनिकर्त्तुः प्रकृति" (पा. सू. १।४।३०) के काशिकादि वृत्ति ग्रन्थों में उदाहृत 'पुत्राद् प्रमोदो जायते'—इत्यादि स्थल पर प्रमोद के अनुपादानभूत पुत्रादि पदों के उत्तर पञ्चमी का प्रयोग देखा जाता है, अतः सूत्रस्थ 'प्रकृति' पद हेतु-सामान्य का वाचक है, उपादानरूप हेतु-विशेष का नहीं। 'न्यास' ग्रन्थ में भी यही शङ्का की गई है कि जनिकर्तुर्हेतुरित्येव शब्दलाघवादुच्यताम्'—ऐसी शङ्का उठाकर समाधान किया गया है कि "असति प्रकृतिग्रहणे उपादानस्यैवापादानसंज्ञा स्यात्, प्रत्यासत्तेः, नेतरस्य, प्रकृतिग्रहणाद् कारणमात्रस्य भवतीति प्रकृतिपदमनुपादानेऽपि अपादानसंज्ञासिद्ध्य-र्थम्।" महाभाष्य में भी कहा है—"अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्, गोलोमाजलो-माविलोमभ्यो दूर्वा जायन्ते अपक्रामन्ति तास्तेभ्यः।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि

न्यायामृतम्

गोलोमाविलोमभ्यो दूर्वा जायन्ते, अपक्रामन्ति तास्तेभ्य" इत्यादिना लोमादीनां दूर्वादीन्प्रत्यवधित्वाद् "ध्रुवमपायेऽपादान"मित्यनेनैवाऽपादानसंज्ञासिद्धेरिदं सूत्रं प्रत्याख्यातम्। कैयटेऽपि यथा विलाद्दीर्घभोगो भोगी निष्क्रामन्नव्यविच्छेदात्तत्रोपलभ्यते तथा दूर्वा अपीत्यादिनाऽवधित्वमेवोपपादितम्। तदुक्तम्—

शृंगाच्छरोऽविलोमभ्यो दूर्वा गोमयतस्तथा।
वृश्चिकश्चेत्येवमाद्येष्वपादानत्वमिष्यते ॥ इति।

अत एवाकाशाद्वायुरित्याद्युपादानपंचमीसाहचर्याद् आत्मन इत्यप्युपादानपंचमीति निरस्तम्, आकाशादित्यादावपि निमित्तांशस्यैव पञ्चमीनिदशात्। अन्यथा सम्भूत

अद्वैतसिद्धिः

तास्तेभ्य' इत्यादिना लोमादीनां दूर्वादीन् प्रत्यवधित्वाद् 'ध्रुवमपायेऽपादान'मित्यनेनैवापादानसंज्ञासिद्धेः इदं सूत्रमनारम्भणीयमिति सूत्रं प्रत्याख्यातम्। कैयटेऽपि अपक्रमणावधित्वे लोमादिषु कार्यस्य प्रतीतिर्न संभवतीति आशङ्क्य बिलान्निष्क्रामतो दीर्घभोगस्य भोगिनः अवच्छिन्नतया तत्रोपलब्धिवत् कार्यस्यापि दूर्वादेस्तत्रोपलब्धिरित्यवधित्वमेव तत्रोपपादितम्। ततश्च मतद्वयेऽपि 'जनिकर्तुः प्रकृति'रित्यनेन उपादान एव पञ्चमीति नियमो न सिध्यतीति—चेत्, मैवम्, पशुना यजेते' त्यादौ पशुशब्दस्य पशुमात्रवाचकत्वेऽपि 'छागस्य वपाया' इति वाक्यशेषानुसारेण पशुविशेषपरत्ववदत्रापि कारणमात्रार्थत्वेऽपि उपादानपरत्वोपपत्तेः, अवधिपञ्चमीपक्षे 'शृङ्गाच्छर' इत्यादौ शृङ्गादिपदस्य नियामकाभावात् निमित्तपरत्वेऽपि प्रकृते नियामक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

लोमादि में दूर्वादि के उत्पाद का अवधित्व होने के कारण "ध्रुवमपायेऽपादानम्" (पा. सू. १।४।२४) इस सूत्र के द्वारा ही लोमादि की भी 'अपादान' संज्ञा सिद्ध हो जाती है, उसके लिए "जनिकर्तुः प्रकृति"—इस सूत्र के निर्माण की आवश्यकता नहीं। फलतः इस सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया गया है। कैयट ने भी महाभाष्य की व्याख्या में "अपक्रमणावधित्वे लोमादिषु कार्यस्य प्रतीतिर्न सम्भवति"—ऐसी आशङ्का उठाकर 'बिलान्निष्क्रामतो दीर्घभोगस्य भोगिनः अवच्छिन्नतया तत्रोपलब्धिवत् कार्यस्यापि दूर्वादेस्तत्रोपलब्धिः"—इस प्रकार अवधित्व का उपपादन किया है। अर्थात् जैसे वृक्षात् पर्णं पतति'—इत्यादि स्थल पर पर्ण-पतन की अवधिता वृक्ष में प्रत्यक्ष-सिद्ध है, वैसे ही कार्योत्पत्ति का अवधित्व उपादान कारण में समुपलब्ध है, अतः उपादान की अपादान संज्ञा हो जाती है और उपादान-वाचक पदोत्तर पञ्चमी विभक्ति "ध्रुवमपायेऽपादानम्"—इस सूत्र से ही सुलभ हो जाती है, उपादानार्थक पञ्चमी के पृथक् विधान की आवश्यकता नहीं।

समाधान—जैसे "पशुना यजेत"—इत्यादि विधि वाक्यों में "पशु' पद सामान्य पशु का वाचक होने पर भी "छागस्य वपाया मेदसः" (तै. ब्रा. ३।६।८) इस वाक्य-शेष के अनुसार छागरूप विशेष पशु का बोधक माना जाता है, वैसे ही 'यतः' पद में अवस्थित पञ्चमी विभक्ति विश्लेषणादि क्रिया-सामान्य-निरूपित अवधित्वरूप सामान्य कारणता की वाचिका होने पर भी प्रकरण के अनुरोध से उत्पत्ति क्रिया-निरूपित अवधित्वरूप उपादानता की बोधिका मानी जाती है। पञ्चमी विभक्ति की अवधित्व-सामान्य में शक्ति मान लेने पर भी "शृङ्गाच्छरो जायते"—इत्यादि स्थल पर कोई

न्यायामृतम्

इत्ययुक्तम् । न हि शुक्ते रूप्यं सम्भूतमित्युच्यते । नापि सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवदि"ति श्रुतिस्तत्र मानम्, सदादिभवनस्य जगत्सृष्टितदनुप्रवेशानन्तरभावित्वेन जगत्सृष्टित्वानुपपत्त्या परमेश्वरस्य सत्त्वादिगुणाभिव्यक्तिपरत्वात् । अन्यथाऽभवदित्ययुक्तम् । न हि शुक्ती रूप्यमभवदित्युच्यते । मूर्तामूर्तात्मकप्रपंचस्य सदसत्शब्दाभ्यामेवोक्तत्वेन "निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च"

अद्वैतसिद्धिः

सत्त्वेन निमित्तपरत्वाभावात् । अत एव 'आत्मन आकाशः संभूत' इत्यादावपि प्रकृतिपञ्चमी, 'सच्च त्यच्चाभव'दिति वाक्यशेषेण 'सोऽकामयतेत्येतच्छाखान्तरस्थितवाक्येन च प्रतीतिसामानाधिकरण्यस्य नियामकत्वात् । न च—'स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत, तत्सृष्ट्वा, तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभव'दित्यादिश्रुत्या सदादिभवनस्य जगत्सृष्टितदनुप्रवेशानन्तरभावित्वेन जगत्सृष्टित्वानुपपत्तौ परमेश्वरस्य सत्त्वादिगुणाभिव्यक्तिपरत्वेन ब्रह्मोपादानत्वे नास्य प्रामाण्यम्, अन्यथा कथमभव दित्युक्तं स्यात् ? न हि शुक्तिः रूप्यमभवदित्युच्यत इति—वाच्यम्, सदादिभवनस्यैव जगत्सृष्टिरूपतया तदानन्तर्याभावात्, तदनुप्रविश्येत्यस्य मुखं व्यादायेतिवदुप-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उपादानता का नियामक न होने के कारण निमित्तार्थक पञ्चमी मानी जाती है [अर्थात् कर्दम (कीचड़) में प्रक्षिप्त शृङ्ग-कणों से शर (सरपत या सरकण्डा) उत्पन्न होता है—ऐसी लोक-प्रसिद्धि को लेकर शृङ्ग को शर का निमित्तकारण माना जाता है] । किन्तु "यतो वा इमानि भूतानि" इत्यादि प्रकृत वाक्यों में उपादानता का नियामक होने के कारण निमित्त-पञ्चमी न मान कर उपादान-पञ्चमी ही माननी पड़ती है । अत एव "आत्मनः आकाशः सम्भूतः" (तै. उ. २।१।१) इत्यादि स्थल पर भी प्रकृत्यर्थक (उपादानपरक) पञ्चमी ही मानी जाती है, क्योंकि "सच्च त्यच्चाभवत" (तै. उ. २।६।१), इत्यादि रूपान्तरापत्तिबोधक, "सोऽकामयत" (तै. उ. २।६।१) इत्यादि सिसृक्षा-बोधक तथा "तदैक्षत बहु स्याम्" (छां. ६।२।३) इत्यादि ईक्षणार्थक शाखान्तरीय वाक्य उपादादार्थकता के तियामक होते हैं ।

शङ्का—"स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत—यदिदं किञ्च, तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशद्, तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" (तै. उ. २।६।१) इत्यादि श्रुति में जगत्सृष्टि और अनुप्रवेश के अनन्तर सत्-त्यत् आदि पदों के द्वारा प्रतिपादित सदादिरूप में भवन सृष्टि नहीं कही जा सकती, अपितु ईक्षण-निमित्तक सत्त्वादि गुणों की अभिव्यक्ति है, अतः उक्त श्रुति ब्रह्म की उपादानता में प्रमाण नहीं हो सकती, अन्यथा वहाँ 'तदभवत्'—ऐसा नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि 'शुक्तिः रूप्यमभवत्'—ऐसा नहीं कहा जाता ।

समाधान—ईश्वर का सदादि जगत् के रूप में प्रकट होना जगत् की सृष्टि ही है, सृष्टि-क्षण की अनन्तर्भावी क्रियान्तर नहीं । 'तदनुप्रविश्य'—यहाँ जो अतीतार्थक क्त्वा-स्थानीय ल्यप् का प्रयोग है, वह वैसे ही सृष्टि कालीन अनुप्रवेश का प्रतिपादक है, जैसे कि 'मुखं व्यादाय स्वपिति'—इत्यादि स्थल पर स्वाप-कालीन मुख-व्यादान (मुख

न्यायामृतम्

त्यादिवाक्यशेषस्थनिरुक्तादिपदवैयर्थ्यं च। "सोऽकामयत बहुस्या"मित्यादि तु परमेश्वरस्य "अजायमानो बहुधा विजायते यदेकमव्यक्तमनन्तरूप"मित्यादिश्रुतिसिद्धतत्तदनन्तपदार्थप्रेरकानन्तरूपैर्बहुभावसंकल्पमाह। न च स्वस्याऽनन्तरूपैर्बहुभावं संकल्प्य "इदं सर्वमसृजते"ति प्रपञ्चसर्जनानुपपत्तिः, नियामकरूपैर्बहुभावस्य नियम्यसापेक्षत्वात्। नियम्यं सर्वं सृष्ट्वा नियामकरूपैः प्रवेशोक्त्युपपत्तेः। उक्तं हि—

अद्वैतसिद्धिः

पत्तेः। न चेदं सर्वमसृजतेत्यनेन पौनरुक्त्यम्, निमित्तत्वमात्रभ्रान्तिव्युदासपरत्वात्। यच्च शुक्तिः रूप्यमभवदित्यनुभवादर्शनमुक्तम्, तच्छुक्तेरनुपादानत्वप्रयुक्तमिति तददर्शनस्यानुदाहरणत्वात्। न च—मूर्तामूर्तप्रपञ्चस्य सत्त्यत्पदाभ्यामेवोक्तत्वेन निरुक्तादिपदवैयर्थ्यमिति—शङ्क्यम्, संग्रहविवरणरूपतयोपपत्तेः।

ननु—'सोऽकामयत बहु स्या'मिति वाक्यं न सृज्यसाहचर्यमाह येन तत्समानाधिकरण्यमीश्वरस्य प्रतीयते किंतु परमेश्वरस्य 'अजायमानो बहुधा विजायते यदेकमव्यक्त'मित्यादिश्रुतिसिद्धतत्तदनन्तपदार्थप्रेरकानन्तरूपैर्बहुभावसङ्कल्पमाह। न च स्वस्यानन्तरूपैर्बहुभावं सङ्कल्प्य 'इदं सर्वमसृजते'ति जगत्सर्जनानुपपत्तिः, नियामक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

फैलाना) कहा गया है। अर्थात् उक्त श्रुति में अपञ्चीकृत-सृष्टि दिखा कर 'सच्चाभवत्'—इस वाक्य से पञ्चीकृत भूत-सृष्टि का अभिधान महासृष्टि के घटक पौर्वापर्य क्रिया-सन्तति का ही प्रदर्शन मात्र है। उक्त श्रुति में 'सर्वमसृजत्'—यह पुनरुक्ति भी नहीं, अपितु ब्रह्म में निमित्तमात्रता की भ्रान्ति दूर करने के लिए सर्व कार्य का तादात्म्य दिखाया गया है। यह जो कहा है कि 'शुक्तिः रूप्यमभवत्'—ऐसी प्रतीति नहीं होती, उसका कारण यह है कि शुक्ति रजत का उपादान कारण नहीं, अपितु शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही रजतादि का उपादान माना जाता है, किन्तु प्रकृत में तत्पद-वाच्य ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है, अतः 'तदभवत्'—ऐसा कथन अत्यन्त न्यायोचित है। उक्त श्रुति में समस्त मूर्त (पृथिवी, जल और तेज) तथा अमूर्त (वायु और आकाश) का 'सत्' और 'त्यत्' पदों के द्वारा ग्रहण कर उसी श्रुति में आगे चलकर "निरुक्तं चानिरुक्तं च"—ऐसा पुनरुक्ताभिधान क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'सत्-त्यत्'—यह संग्रह-वाक्य और 'निरुक्तं चानिरुक्तं च'—यह विवरण-वाक्य है [किसी प्रश्न का संक्षिप्त या सूत्ररूपेण उत्तर ग्रहणक तथा उसका विशदीकरण विवरण कहलाता है। इसी वैदिक शैली का अनुपालन भाष्य एवं वार्तिकादि ग्रन्थों में किया गया है। उक्त श्रुति के शाङ्कर भाष्य से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि 'सत्' और 'त्यत्'—इन संक्षिप्त व्याख्येय पदों का व्याख्यान ही उत्तरवर्ती "निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयं च, विज्ञानं चाविज्ञानं च'—इत्यादि वाक्यों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है]।

शङ्का—'सोऽकामयत बहु स्याम्"—इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म का जगद्रूप में विवर्तित होना प्रतिपादित नहीं, अपितु जैसे कोई गुरु 'अहम् आचार्यः स्याम्'—इस प्रकार का संकल्प करके शिष्यों को संगृहीत कर अध्यापन क्रिया के द्वारा अपने को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करता है, वैसे ही सर्व नियन्ता हरि अपने नियामक सत्त्वादि गुणों की अभिव्यक्ति करने के लिए नियम्य जगत् की रचना किया करता है, स्वयं को जगद्रूप में विवर्तित नहीं करता, क्योंकि "अजायमानो बहुधा विजायते" (मा. सं. ३१।१९) तथा

न्यायामृतम्

बहु स्यामिति संकल्प्य तेजःप्रभृतिसर्जनम् ।
गुरुः स्यामिति संकल्प्य शिष्यसम्पादनादिवत् ॥ इति ।

अन्यथा स्यामिति सत्त्वोक्तिरयुक्ता। स्यामिति संकल्पितस्य सत्त्यदादिभवनस्य "सच्च त्यच्चाभवदि''त्यनेनैवोक्तत्वेनेदं सर्वमसृजतेत्यादिवैयर्थ्यं च। सृष्टेः पूर्वमन्तःकरणाभावेन तद्विशिष्टाहमर्थाभावादुत्तमपुरुषानुपपत्तिश्च। "एतेन तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये" त्येतदपि व्याख्यातम् ।

अद्वैतसिद्धिः

रूपैर्बहुभावस्य नियम्यसापेक्षत्वात्, नियम्यं सर्वं सृष्ट्वा नियामकरूपः प्रवेशोक्त्युपपत्तेः। अन्यथा स्यामिति सत्त्वोक्तिर्न स्यात्, सृष्टेः प्रागन्तःकरणाभावेन तद्विशिष्टाहमर्थाभावेन उत्तमपुरुषानुपपत्तिश्च स्यादिति—चेन्न, स्यामित्यनेन सुखी स्यामित्यादिवद् भाविसत्त्वोक्तौ तदनुपपत्त्यसंभवात्। अन्यथा सङ्कल्पविषयत्वानुपपत्तेः, सिद्धे इच्छाविरहात्। इदमेव च बहुपदस्य सृज्यपरत्वे विनिगमकम्, नियामकरूपाणां च तवापि मते ईश्वराभिन्नतया सिद्धत्वात्। तथा चेच्छाया नियम्य एव त्वन्मतेऽपि पर्यवसानात्। तथाचेच्छायास्तेजःप्रभृतिविषयत्वेन बहु स्यामिति सङ्कल्प्य तेजःप्रभृतिसर्जनं गुरुः स्यामिति सङ्कल्प्य शिष्यसंपादनादिवदिति निरस्तम्। यच्चोक्तमुत्तमपुरुषानुपपत्तिरिति, तन्न, तादृशाविद्यापरिणामविशिष्टे अहमिति प्रयोगसंभवेन उत्तमपुरुषोपपत्तेः। एवमेव 'तदैक्षत बहुस्या'मित्याद्यत्र मानं बोध्यम्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

"यदेकमव्ययम्" (म. ना. उ. १।५) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा परमेश्वर का अपने अनन्त प्रेरक और नियामक गुणों की अभिव्यञ्जना का संकल्प ही प्रतिपादित किया गया है। नियामक सदैव नियम्य-सापेक्ष होता है, अतः नियम्य सृष्टि का कर्तृत्व उचित ही है, ब्रह्म का जगद्रूप में विवर्तित होने का संकल्प प्रदर्शित करना यहाँ सम्भव नहीं, क्योंकि सृष्टि के पूर्व अन्तःकरण का अभाव होने के कारण, अन्तःकरण-विशिष्ट प्रमाता ही नहीं होता, जो कि 'स्याम्' इस प्रकार उत्तम पुरुष का प्रयोग कर सके।

समाधान—सृष्टि के पूर्व अन्तःकरण का सत्त्व न होने पर भी जैसे 'सुखी स्याम्'—इत्यादि व्यवहारों में भावी सुखित्व को लेकर 'स्याम्'—इस प्रकार उत्तम पुरुष का प्रयोग होता है, वैसे ही प्रकृत मे अन्तःकरण के भावी सत्त्व को लेकर 'स्याम्'—यह उत्तम पुरुष का प्रयोग सम्भव है, अन्यथा (भृज्य वस्तु की सत्ता पहले मानने पर) उसकी इच्छा ही नहीं बनती, क्योंकि इच्छा सदैव साध्य वस्तु की होती है, सिद्ध पदार्थ की नहीं। 'बहु' पद के सृज्यपरकत्व का निर्णायक उक्त संकल्प ही है। आप (माध्व) के मत में भी नियामक गुणों के अभिव्यञ्जन की कामना सम्भव नहीं, क्योंकि वे ईश्वर से अभिन्न होने के कारण नित्य सिद्ध होते हैं, अतः इच्छा का विषय नियम्य जगत् ही हो सकता है, नियामक गुण नहीं। 'गुरुः स्याम्'—इस प्रकार सङ्कल्प के समान प्रकृत में नियम्य-संकल्प का उपपादन सम्भव नहीं, अपितु स्वयं अपने विवर्तमान भावी जगत् का ही संकल्प और उस रूप में विवर्तन ही यहाँ विवक्षित है। अविद्या के अहमाकार परिणाम से विशिष्ट चिदात्मा (प्रमाता) का 'स्याम्'—इस प्रकार उत्तम पुरुष-प्रयोग अत्यन्त उचित है। इसी प्रकार "तदैक्षत बहु स्याम्" (छां. ६।२।३) इत्यादि श्रुतियाँ भी विवर्तवाद में प्रमाण हैं।

न्यायामृतम्

किं च तत्तेजोऽसृजतेति यत्तेजःप्रभृतिसृज्यं तत्तदात्मना हि त्वया बहुभावो-वाच्यः। "तेजःप्रभृति च चेतनं तत्तेज ऐक्षत तदपोऽसृजत ता आप ऐक्षन्त ता अन्नम-सृजन्त तिस्रो देवता" इति ईक्षितृत्वस्रष्टृत्वदेवतात्वादीनां श्रवणात्। न च चेतनं प्रति उपादानता तवापीष्टा। एतेनैव "असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत तदात्मानं स्वयमकुरुते"त्येतदपि व्याख्यातम्, "तदात्मानं सृजाम्यहं सम्भवामि युगे युगे"

अद्वैतसिद्धिः

ननु च—यत्तेजःप्रभृति सृज्यं, तदात्मना हि त्वया बहुभावो वाच्यः, तेषां तु तेजआदीनामीक्षितृत्वस्रष्टृत्वदेवतात्मत्वश्रवणात्तानि चेतनानि, न च चेतनं प्रत्युपादानं नामेति—चेत्, सत्यम्, सृज्यानामीक्षितृत्वाद्यसंभवेन ईक्षणादिकर्तृप्रतिपादकतेजआदि-पदैस्तेजआद्यवच्छिन्न आत्मा बोध्यते। पूर्वपूर्वकार्यावच्छिन्नस्य तस्यैवोत्तरोत्तरकार्य-निमित्तत्वात्। तथा चावच्छेदके तेजआदौ न चैतन्यनिबन्धनदोषावकाशः। 'असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुते'त्याद्यप्युक्तार्थे प्रमाणम्। न चात्मनः करणे अकुरुतेति सत्त्वोक्त्यनुपपत्तिः, आकाशाद्यात्मना क्रियमाणत्वेऽपि स्वरूपेण सत्त्वोपपत्तेः। एतदर्थमेवात्मानमाकाशाद्यात्मना अकुरुतेत्यश्रूयमाणोऽप्यर्थः

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—आप (अद्वैती) को विवर्तवाद की उपपत्ति के लिए तेज आदि सृज्यमान पदार्थों के रूप में ब्रह्म का बहुभाव कहना होगा, वह सम्भव नहीं, क्योंकि उपादान कारण ही उपादेय पदार्थों के रूप में विवर्तित होता है, किन्तु "तत्तेजः ऐक्षत तदपोऽसृजत, तिस्रो देवताः" (छां. ६।२।३) इत्यादि श्रुति-वाक्यों के द्वारा तेज आदि में प्रतिपादित ईक्षितृत्व, स्रष्टृत्व, देवतारूपत्व यह सिद्ध करता है कि तेज आदि चैतन्य पदार्थ हैं और चैतन्य तत्त्व नित्य कूटस्थ है, उसका कोई उपादान कारण हो ही नहीं सकता, अतः तेज आदि के रूप में बहुभाव किसका होगा ?

समाधान—यह सत्य है कि तेज आदि जड़ धातुओं में ईक्षितृत्वादि सम्भव नहीं, अत एव "तत्तेज ऐक्षत"—इत्यादि श्रुतियाँ तेज आदि में ईक्षितृत्वादि का प्रतिपादन न कर तदवच्छिन्न चैतन्य में ही ईक्षितृत्वादि का बोध कराती हैं। तेजोऽवच्छिन्न चैतन्य जल का, जलावच्छिन्न चेतन्य अन्न (पृथिवी) की सृष्टि करता है—इस प्रक्रिया से यह नितान्त स्पष्ट है कि अवच्छेदकीभूत तेज आदि तत्त्व जड़ हैं, वे ही सृज्यमान हैं, उनका उपादान कारण सम्भव है और वही तेज आदि के रूप में विवर्तित होता है। "असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वे सदजायत" (तै. उ. २।७।१) तथा 'तद्रात्मनं स्वयमकुरुत" (तै० उ० १।७१) इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाणित कर रही हैं कि एक सद् ब्रह्म असद्रूप जगद् का उपादान कारण है।

शङ्का—उक्त श्रुति में जो यह कहा गया है कि 'तदात्मानम् अकुरुत', वह व्याहत है, क्योंकि किसी क्रिया का कर्ता सत् और कर्म असत् हुआ करता है, ब्रह्म यदि कर्ता है, तब कर्म नहीं और यदि कर्म है, तब कर्त्ता नहीं हो सकता।

समाधान—ब्रह्म स्वरूपतः सत् और (आकाशादि रूप से असत् होता है, अतः जैसे शुक्तित्वेन सत् और रजतरूपेण असत् शुक्ति रजतादि रूपों में विवर्तित होती है, वैसे ही ब्रह्म आकाशादिरूप में विवर्तित होता है। इसी लिए उक्त श्रुति में अनभिहित भी यह अर्थ विवक्षित है—'आत्मानमाकाशाद्यात्मना अकुरुत्।" इसी प्रकार "तदात्मानं

न्यायामृतम्

इत्यादिवदुपपत्तेः। न ह्यनात्मानमाकाशाद्यात्मनाऽकरुतेति श्रूयते, अन्यथा अकुरुतेति सर्वोक्तिरयुक्ता। किं च परमते "ततो वै सदजायते"ति पूर्ववाक्येनैव तच्छब्दनिर्दिष्टाद्ब्रह्मणः प्रपञ्चोत्पत्तेः सिद्धत्वात् "तदात्मान"मिति व्यर्थम्।

नापि "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ती"ति ब्रह्मण्येव सृष्टिलयोक्तिस्तत्र मानम्, निमित्ते कार्यस्य लयाभावादिति युक्तम्, निमित्तेऽप्यूर्णनाभौ तन्तोर्लयदर्शनात्। ब्रह्मणोऽप्यूर्णनाभिवदेव संहर्तृत्वस्य "यथार्णनाभिरित्यादिश्रुतिसिद्धत्वात्। न चोर्णनाभिरपि तंतुकोशादीन्प्रत्युपादानम्, ऊर्णनाभि·

अद्वैतसिद्धिः

कल्प्यते। एवं तदात्मानं सृजाम्यह'मित्यादिस्मृतिषु धर्मस्थापकशरीराद्यात्मनेति व्याख्येयम्। न च—'ततो वै सदजायते'ति तच्छब्दोपात्तब्रह्मणः प्रपञ्चोत्पत्तेः प्राक् सिद्धत्वात्तदात्मानमिति व्यर्थमिति—वाच्यम्, निमित्तत्वे पूर्ववाक्येन लब्धेऽपि उपादानत्वबोधनेनास्यापि सफलत्वात्।

ननु—यदुक्तं ब्रह्मण्येव सृष्टिलयश्रवणाद् ब्रह्मोपादानमिति, तन्न, ऊर्णनाभौ तन्तुनिमित्ते तन्तुलयस्य दर्शनात्, तत्र हि यथा पुत्रं प्रति पितृदेहधातोरुपादानत्वेऽपि न पिता तदुपादानम्, किंतु निमित्तमात्रं, तथा ऊर्णनाभिधातोस्तदुपादानत्वेऽपि तस्य निमित्तत्वमेव, ब्रह्मणोऽपि ऊर्णनाभिवदेव संहर्तृत्वस्य यथोर्णनाभिरित्यादिना श्रवणाच्चेति—चेन्न, यद्यप्यूर्णनाभेर्न तन्तूपादानत्वम्, तस्मिन्नष्टेऽपि तन्तूपलम्भात्, किंतु

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सृजाम्यहम्" (गी० ४।७) इत्यादि स्मृति-वाक्यों की ऐसी व्याख्या करनी चाहिए—"धर्मसंस्थापकशरीराद्यात्मनात्मानमहं सृजामि।"

शङ्का—"ततो वै सदजायत" (तं० उ० २।७।१) यहाँ 'ततः' का अर्थ 'ब्रह्मणः' किया गया है, अतः इस तत्पद के द्वारा ही जब प्रपञ्चोत्पत्ति के पूर्व ब्रह्मरूप उपादान की सिद्धि हो जाती है, तब तदात्मानम् - इस वाक्य में 'तत्' पद की क्या आवश्यकता ?

समाधान—एक ही ब्रह्म में निमित्त कारणता और उपादान कारणता—दोनों विवक्षित हैं, पूर्व वाक्यस्थ 'तत्' पद के द्वारा निमित्त कारणता और उत्तर वाक्यस्थ 'तत्' पद से उपादान कारणता की सिद्धि होती है, अतः उक्त श्रुति में दोनों 'तत्' पद सार्थक और परमावश्यक हैं।

शङ्का—यह जो कहा जाता है कि 'केवल ब्रह्म में प्रपञ्च की सृष्टि और प्रलय श्रुति-प्रतिपादित होने के कारण ब्रह्म प्रपञ्च का उपादान कारण सिद्ध होता है', वह कहना संगत नहीं, क्योंकि अनुपादानभूत ऊर्णनाभि (मकड़ो) में भी तन्तु (जाले) की उत्पत्ति और प्रलय देखे जाते हैं। ऊर्णनाभि पद का वाच्य ऊर्णनाभि का शरीर नहीं होता, अपि तु शरीरावच्छिन्न चैतन्य होता है, जोकि तन्तु के प्रति वैसे ही निमित्त कारण मात्र होता है, जैसे कि पुत्र के प्रति पिता। पिता का देह पुत्र के देह का उपादान कारण होने पर भी पिता पुत्र के प्रति जैसे केवल निमित्त कारण है, वैसे तन्तु के प्रति ऊर्णनाभि। ब्रह्म में भी प्रपञ्च की केवल निमित्त कारणता ऊर्णनाभि के उपमान से ध्वनित की गई है—"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" (बृह. उ. २।१।२०)।

समाधान—यद्यपि ऊर्णनाभि (मकड़ी) तन्तु (जाले) का उपादान कारण नहीं, क्योंकि ऊर्णनाभि का विनाश हो जाने पर भी जाला जैसे-का तैसा बना रहता है।

न्यायामृतम्

नाशेऽपि तन्तूपलम्भात्। न च दधि कुंडलं वा क्षीरं सुवर्णं वा प्रत्यस्तं यातीत्युच्यते। नापि यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि ससर्ज मातापितृवदि" त्यादि दृष्टान्तकथनादुपादानता। ऊर्णनाभिदेहधातुविशेषस्यैव तन्तूपादानत्वात्, केशादीन् जड़ोपादानकान्प्रति चेतनस्य निमित्तमात्रत्वात्। "पितृदेहधातोः पुत्रदेहं प्रत्युपादनत्वेऽपि पितृचेतनस्य निमित्तमात्रत्वात्। नाप्येकमेवाद्वितीयमिति वस्त्वन्तरनिषेधादात्मन एवोपादातत्वम्, त्वन्मतेऽप्यविद्यादेः सत्त्वात्। यद् भूतयोनि" मितियोनिशब्दस्तु "योनिष्ट इन्द्र सदने" इत्यादिप्रयोगान्नोपादानत्वे नियत इतिपरैरप्यंगीकृतम्।

अद्वैतसिद्धिः

भुक्ताहारस्यैव, तथापि तत्र न तन्तोर्लयः, किंतु बहिष्ठस्यान्तःप्रवेशमात्रम्। अत एव 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते चे'त्युक्तम्। न च--ब्रह्मणस्तन्न्यायेन संहर्तृत्वोक्त्या तद्वदेव तदस्त्वति—वाच्यम्, 'तज्जलानित्यादिना तत्र लयश्रवणात्, तिरोभावमात्रे च तस्य निदशनत्वात्, सर्वसाम्यस्य दृष्टान्तत्वाप्रयोजकत्वात्। 'तद्भूतयोनि'मिति योनिश्रुत्या चोपादानत्वम्। न च 'योनिष्ट इन्द्र सदने'त्यादौ निमित्तेऽपि योनिशब्दप्रयोगात् न तेनोपादानतासिद्धिः, 'मुख्यस्तु शब्दस्वरसा'दिति न्यायेन कदाचिदन्यत्र

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यद्यपि ऊर्णनाभि के शरीर में अवस्थित उसके द्वारा निगला गया मच्छर आदि आहार ही द्रुत होकर तन्तु का रूप धारण करता है, तथापि उसमें तन्तु-जाल का विलय नहीं होता, अपितु केवल बाहरीय तन्तुओं का आन्तर-अवस्थान मात्र होता है, इसीलिए उसके लिए "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" (बृह. उ. २।१।२०) इस श्रुति में 'गृह्णते' पद का प्रयोग किया गया है, 'विलापयति' का नहीं, किन्तु ब्रह्म में प्रपञ्च का केवल आन्तर अवस्थानमात्र श्रुत नहीं, अपितु "तज्जलान्" (छाँ० ३।१४।१) यहाँ पर तज्ज, तल्ल और तदन कह कर ब्रह्म में प्रपञ्च के जन्म स्थिति और लय का प्रतिपादन किया गया है। ऊर्णनाभि का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह निमित्त कारणता या उपादान कारणता को ध्यान में रख कर नहीं, अपितु केवल आविर्भाव और तिरोभाव दिखाने के लिए ही है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति का सर्वथा साम्य विवक्षित नहीं होता। "तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" (तै० उ० १।७) यह श्रुति ब्रह्म में उपादानता का स्पष्ट उद्घोष कर रही है।

शङ्का—'तद्भूतयोनिम्'— यहाँ 'योनि' पद उपादानतार्थक है—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्रुति (ऋ. ७।२४।१) में 'योनि' शब्द निमित्त मात्र का वाचक भी देखा जाता है—"योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि तमानृभिः पुरुहूत प्रयाहि असो यथा नोऽविता वृधे च ददो वसूनि ममदश्च सोमैः" [हे पुरुहूत ! (वहुप्राथित इन्द्र !) आप के सदनार्थं (बैठने के लिए) योनि (स्थान) बना दिया गया है, उस स्थान पर आप नृभिः सह मरुद्‌गणों के साथ) प्रयाहि (विराजमान हो जायँ) हमारे अविता (रक्षक) बनें, हमारी वृद्धि करें, धन प्रदान करें और सोम-रस पी कर मद-मस्त हो जायँ] यहाँ उपवेशन क्रिया के निमित्तभूत स्थान को 'योनि' शब्द से अभिहित किया गया है, अतः 'योनि' पद के द्वारा ब्रह्म में उपादानता सिद्ध नहीं होती।

समाधान—"मुख्यस्तु शब्दस्वरसात्" (द्र. जै. सू. १२।२।८) यह न्याय कहता है

न्यायामृतम्

नाप्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानानुपपत्तिरुपादानत्वे मानम्, सादृश्यप्राधान्याभ्यामेव तदुपपत्तेरुक्तत्वात्। नापि "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे" त्यादि सामानाधिकरण्यानुपपत्तिस्त्र मानम्, सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वं" इति स्मृत्यैवान्यथा व्याख्या-

अद्वैतसिद्धिः

कथञ्चिन्निमित्ते प्रयोगेऽपि औत्सर्गिकमुख्यार्थत्यागस्य प्रकृतेऽयोगात्। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानश्रुतिरप्युपादानत्वे मानम्। यथा च न सादृश्यप्राधान्याभ्यामुपपत्तिस्तथोक्तं प्राक्। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति सामानाधिकरण्यश्रुतिरपि तत्र मानम्। न च—'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वं' इति स्मृत्याऽन्यथाव्याख्यातत्वान्न तत्र मानतेति—वाच्यम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कि शब्द के सहज सिद्ध अर्थ को प्रधानता दी जाती है, 'योनि' शब्द का स्वाभाविक अर्थ उपादान कारण ही है, उक्त ऋचा में जो 'योनि' शब्द का निमित्त अर्थ माना गया है, वह कारणत्व-योगित्वरूप गौण अर्थ को लेकर किया गया है, उतने मात्र से उपादानत्वरूपी मुख्यार्थ प्रकृत में उपेक्षित नहीं हो जाता, अत एव "योनिश्च हि गीयते" (ब्र० सू० १।४।२४) इस सूत्र के द्वारा भगवान् बादरायण ने ब्रह्म में प्रपञ्च की उपादानता ही सिद्ध की है।

एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं स्यात्" (छां० ६।१।२) यह श्रुति भी ब्रह्मगत जगदुपादानत्व को सिद्ध कर रही है [ब्रह्म सर्व दृश्य-वर्ग का उपादान होने के कारण सर्वात्मक है, अत एव एक मात्र ब्रह्म के ज्ञान से सर्व दृश्य का ज्ञान हो जाता है, ब्रह्म के सर्वोपादान न होने पर ऐसा कभी सम्भव नहीं हो सकता था]।

यह जो न्यायामृतकार ने विगत पृ० ४४३ पर कहा है कि ब्रह्म के सर्वदृश्यात्मक होने के कारण एक ब्रह्म के ज्ञान से सर्व का ज्ञान होता है—ऐसा नहीं, अपितु सर्व दृश्य में ब्रह्म का सद्रूपत्व सादृश्य है एवं सर्व दृश्य प्रधानभूत ब्रह्म के अधीन है, इस लिए एक ब्रह्म के ज्ञान से सर्व-ज्ञान होता है—

"यथा मृत्पिण्डविज्ञानात् सादृश्यादेव मृण्मयाः।
विज्ञायन्ते तथा विष्णोः सादृश्याज्जगदेव च॥
अनन्याधीनविज्ञानादन्याधीनं तथैव च।
मृदयोलोहनाम्नां हि ज्ञानात् सांकेतिकं यथा॥"

न्यायामृतकार के उस वक्तव्य का प्रतिवाद वहीं श्रुतिबाधोद्धार प्रकरण में किया जा चुका है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छां० ३।१४।१) यहाँ 'सर्व' और 'ब्रह्म' का 'सर्वमाभरणं सुवर्णम्' के समान सामानाधिकरण्य-निर्देश भी ब्रह्मगत सर्वोपादानता को ही प्रमाणित कर रहा है।

शङ्का—"सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः" (गी० ११।४०) इस गीता-वाक्य के द्वारा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—इस श्रुति की व्याख्या प्रस्तुत की गई है कि ब्रह्म सर्व-सम्बन्धी या सर्वत्र व्याप्त होने के कारण सर्व कहलाता है, सर्वोपादान होने के कारण नहीं, जैसे कि न्यायामृतकार ने विगत पृ० ४४३ पर कहा है—

"पुरुष एवेदं सर्वं भूतं भव्यं भवच्च यत्।
इत्युच्यते तदीयत्वान्न तु सर्वस्वरूपतः॥ इति भारते
"सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः"—इति गीतायां चान्यथा व्याख्यातत्वाच्च।"

न्यायामृतम्

तत्वात् । प्रकृत्यधिकरणं तु भाष्य एवाऽन्यथा व्याख्यातम् । एतेन ब्रह्मण एव परिणाम इति भास्करादिमतमपास्तम् ।

नापि महाभूतानि सद्वस्तुप्रकृतिकानि, सत्स्वभावानुरक्तत्वे सति विविधविकारत्वात्, मृदनुस्यूतघटादिवदितिविवरणोक्तमनुमानं मानम्, विवर्तमते उपादानता न युक्तेत्युक्तत्वात् । सत्प्रधानप्रकृतिकत्वस्य मन्मतेऽपि सत्त्वाच्च, खण्डो गौर्मुण्डो गौरिति गोस्वभावानुरक्ते खण्डादौ व्यभिचाराच्च । सदनुपादानकत्वेऽपि सद्ब्रह्मेतिवत्सतो

अद्वैतसिद्धिः

अधिष्ठानतया सर्वव्यापित्वस्य सर्वशब्दप्रयोगनिमित्तत्वाद्, अन्यथा आकाशेऽपि सर्वपदप्रयोगापत्तेः । अनुपादानत्वे प्रकृत्यधिकरणविरोधापत्तेश्च उपादानत्वम् । श्रुत्यनुगृहीतानुमानमप्यत्र विवरणोक्तमध्यवसेयम् । तथा हि—'महाभूतानि, सद्वस्तुप्रकृतिकानि, सत्स्वभावानुरक्तत्वे सति विविधविकारत्वात्, मृदनुस्यूतघटादिवदि'ति । न च विवर्तमते उपादानत्वानुपपत्तिः, सत्प्रधानप्रकृतिकत्वेनार्थान्तरता वा, आदावेव तदुपादानत्वस्य स्थापितत्वात्, प्रकृतेः सत्त्वाभावस्य प्रसाधितत्वेनार्थान्तरता वा, आदावेव तदुपादानत्वस्य स्थापितत्वात्, प्रकृतेः सत्त्वाभावस्य प्रसाधितत्वेनार्थान्तरानवकाशाच्च । न च 'खण्डो गौर्मुण्डो गौ'रिति गोत्वानुरक्तखण्डादौ व्यभिचारः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अतः उक्त श्रुति से ब्रह्म में सर्वोपादानता प्रमाणित नहीं होती ।

समाधान—उक्त श्रुति-वाक्य में 'सर्व' शब्द के प्रयोग का निमित्त (शक्यतावच्छेदक) सर्वाधिष्ठानतया सर्व-व्यापित्व है, केवल सर्व-व्यापित्व नहीं, अन्यथा आकाश भी सर्व-व्यापी है, अतः 'सर्वं खल्विदमाकाशम्'—ऐसा भी व्यवहार होना चाहिए, किन्तु ऐसा प्रयोग नहीं होता, इसका एक मात्र कारण यही है कि आकाश सर्व प्रपञ्च का अधिष्ठान नहीं और ब्रह्म सर्वाधिष्ठान है, अतः उसका सर्वोपादान होना अनिवार्य है। यदि ब्रह्म को सर्वोपादान नहीं माना जाता, तब ''प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'' (ब्र. सू. १।४।२३) इस प्रकृत्यधिकरण में ब्रह्म की सर्वोपादानता का प्रतिपादन विरुद्ध पड़ जाता है । उक्त श्रुति के बल पर विवरणकार ने जो अनुमान प्रस्तुत किया है, वह भी ब्रह्मगत जगदुपादानता का साधक है—'महाभूतानि सद्वस्तुप्रकृतिकानि, सत्स्वभावानुरक्तत्वे सति तद्विकारत्वात्, मृदनुस्यूतघटादिवत्' [यहाँ 'महाभूत' पद दृश्यमात्र का उपलक्षक है तथा हेतु वाक्य का तात्पर्य है—'सदात्मत्वे सति सत्कार्यत्वात्' । तार्किक मतानुसार सदात्मत्व ब्रह्म में भी है, किन्तु वहाँ ब्रह्मोपादानकत्व नहीं, अतः हेतु में विशेष्य दल सत्कार्यत्व रखा गया है। निमित्त कारणतामात्र की व्यावृत्ति के लिए सदात्मत्व कहना आवश्यक है, अतः विवक्षित अनुमान-प्रयोग है—दृश्यं सदुपादानकम्, सदात्मकत्वे सति सत्कार्यत्वात्] ।

'विवर्तवाद में जगत् का ब्रह्म उपादान नहीं हो सकता अथवा सांख्य-सम्मत प्रधानात्मक प्रकृति को उपादान मान कर अर्थान्तरता होती है'—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि इस प्रकरण के आरम्भ में ही ब्रह्मगत उपादानता स्थापित की जा चुकी है और प्रकृति की सद्रूपता (चैतन्यात्मता) का खण्डन ब्रह्मसूत्रादि में भी किया जा चुका है, अतः सांख्य सम्मत प्रकृति को लेकर अर्थान्तरता का प्रदर्शन सम्भव नहीं ।

शङ्का—'खण्डो गौः, मुण्डो गौः'—इत्यादि व्यावहारों के आधार पर सभी गो

न्यायामृतम्

पृथिवीत्यादिप्रतीतेरुपपत्त्याऽप्रयोजकत्वाच्च। अत्रेदानीं सन् घट इतिवद् अत्रेदानीमसन् घट इत्यपि प्रतीत्या घटादेः असन्नृश्रृंगं असत्खपुष्पमित्यादिप्रतीत्या नृश्रृंगादीनामप्यसदुपादनकत्वापाताच्च। ब्रह्म न द्रव्योपादानं चेतनत्वाच्चैत्रवत्। जगन्नानन्दप्रकृतिकम्, तत्स्वभावाननुरक्तत्वाद्, यद्यत्स्वभावाननुरक्तं न तत्तत्प्रकृतिकम्, यथा घटस्वभावाननुरक्तः पटो न घटोपादानक इत्यादिना सत्प्रतिपक्षत्वाच्च। यच्च जगदभिन्ननिमित्तोपादनकं प्रेक्षापूर्वजनितकार्यत्वात्, सुखदुःखादिवदितिविवरणोक्त-

अद्वैतसिद्धिः

तदनुरक्तत्वे सति तद्विकारत्वादित्यत्र तात्पर्यात्, सदतिरिक्तगोत्वाद्यनभ्युपगमाच्च। अत एव—'सन् घट' इतिवदत्रेदानीमसन् घटः असन्नृश्रृङ्गमित्यादिप्रतीत्यनुसारेण घटनृश्रृङ्गादेरसदुपादानत्वापत्तिरिति—निरस्तम्।

नापि ब्रह्म, न द्रव्योपादानम्, चेतनत्वाच्चैत्रवत्, जगन्नानन्दप्रकृतिकम्, तत्स्वभावाननुरक्तत्वात्, यद् यत्स्वभावाननुरक्तं तत् न तत्प्रकृतिकं, यथा घटस्वभावाननुरक्तं पटादि न घटोपादानकमित्यादिना सत्प्रतिपक्षत्वम्, व्याप्तिपक्षधर्मतयोरापातप्रतीत्या साम्येऽपि श्रुत्यनुग्रहेण स्थापनाया बलवत्त्वात्। द्वितीयानुमाने कपालस्वभावाननुरक्ते घटे व्यभिचारः, 'कपालं घट' इत्यप्रतीतेः, न च—मृत्त्वेन तदनुरक्तत्वमस्तीति—वाच्यम्, सत्त्वेनात्राप्यनुरक्तत्वस्य समानत्वात्। एवं च जगदभिन्ननिमित्तो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्यक्तियों में गोत्व अनुगत है, किन्तु गो व्यक्तियों में गोत्वोपादानकत्व नहीं, 'यद् य नुस्यूतम्, तत् तदुपादानकम्'—यह व्याप्ति वहाँ व्यभिचरित है।

समाधान—विवक्षित व्याप्ति का पूर्ण कलेवर है—यद् यदनुस्यूतत्वे सति यत्कार्यम्, तत् तदुपादनकम्। गो व्यक्तियों में गोत्वानुस्यूतत्व होने पर भी गोत्व का कार्यत्व नहीं रहता, अतः व्यभिचार नहीं। दूसरी बात यह भी है कि सत्ता सामान्यात्मक ब्रह्म से अतिरिक्त गोत्वादि जातियाँ नहीं मानी जातीं, जैसा कि कहा है—

सम्बन्धिभेदात् सत्तैव विद्यमाना गवादिषु।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वेशब्दा व्यवस्थिताः॥ (वाक्य० ३।१।६३)

न्यायामृतकार का यह जो कहना था कि 'सन् घटः', 'सन् पटः' के समान 'असन् घटः', 'असत् नृश्रृङ्गम्'—इत्यादि प्रतीतियों के अनुसार घट और नृश्रृङ्गादि में असदुपादानकत्व क्यों नहीं माना जाता ?

वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि केवल तदनुस्यूतत्व ही तदुपादानकत्व का प्रयोजक नहीं अपितु तदनुस्यूतत्वे सति तत्कार्यत्व को तदुपादानकत्व का साधक माना जाता है, घटादि में असदनुस्यूतत्व होने पर भी असत्कार्यत्व नहीं रहता, अतः असदुपादानकत्व प्रसक्त नहीं होता है।

शङ्का—(१) 'ब्रह्म न द्रव्योपादानम्, चेतनत्वात्, चैत्रवत्।' (२) 'जगत् नानन्दप्रकृतिकम्, तत्स्वभावाननुरक्तत्वाद्, यद् यत्स्वभावाननुरक्तम्, तत् न तत्प्रतिकम्, यथा घटस्वभावाननुरक्तं पटादि न घटोपादानकम्'—इत्यादि प्रतिपक्ष प्रयोगों के द्वारा उक्त सदुपादाकत्व-साधक अनुमान को सत्प्रतिपक्षित बनाया जा सकता है।

समाधान—स्थापनानुमान का समान बलवाला विरोधी अनुमान ही उसे कार्याक्षम बना सकता है, किन्तु स्थापनानुमान प्रबल तथा विरोधी अनुमान दुर्बल है, क्योंकि स्थापनानुमान के उपकरणभूत व्याप्ति और पक्षधर्मता "सदेव सोम्येदमग्र

न्यायामृतम्

मनुमानम्। तन्न, विवर्तमते उपादानत्वानुपपत्तेरुक्तत्वात्। कार्यत्वादित्येतावत एव हेतुत्वसम्भवाच्च। त्वन्मते दुःखादीनाम् अन्तःकरणोपादानकत्वेन साध्यवैकल्याच्च। जगदुपादानं न कर्तृ, द्रव्योपादानत्वान्मृद्वत्। जगत्कर्ता वा न द्रव्योपादानं कर्तृत्वात्कुलालवदित्यादिना सत्प्रतिपक्षत्वाच्च। एतेन विमतमभिन्ननिमित्तोपादनकं कार्य-

अद्वैतसिद्धिः

पादानकम्, प्रेक्षापूर्वकजनितकार्यत्वात्सुखदुःखादिवदित्यभिन्ननिमित्तोपादानं ब्रह्म सिध्यति। न च व्यर्थविशेषणत्वम्, प्रेक्षापूर्वकत्वात् कार्यत्वादिति हेतुद्वये तात्पर्यात्। न च—त्वन्मते दुःखादीनामन्तःकरणोपादानकत्वेन साध्यवैकल्यमिति—वाच्यम्, अस्मन्मते अन्तःकरणस्य परिणाम्युपादानत्वेऽपि अन्तःकरणरूपेण परिणताज्ञानाधारतया विवर्तोपादानत्वस्यानपायात्, कार्यत्वादिति हेतौ सर्वकार्यनिमित्तकालघटसंयोगस्य उभयवादिसंप्रतिपन्नस्य दृष्टान्तस्य लाभाच्च। न च जगदुपादानं, न कर्तृ, द्रव्योपादानत्वात्, मृद्वत्, जगत्कर्ता वा न द्रव्योपादानम्, कर्तृत्वात्, कुलालादिवदित्यादिना सत्प्रतिपक्षत्वम्, श्रुतिविरोधेन हीनबलत्वात्, आद्येऽनुमाने जडत्वस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

आसीत्", "सच्च त्यच्चाभवत्"—इत्यादि श्रुतियों से समर्थित होने के कारण प्रबल हैं। द्वितीय अनुमान में 'तत्स्वभावाननुरक्तत्व' पद से क्या तत्तादात्म्य-शून्यत्व विवक्षित है? अथवा 'तत्तादात्म्येनाप्रतीयमानत्व? प्रथम (तत्तादात्म्यशून्यत्व) जगद्रूप पक्ष में स्वरूपासिद्ध है, क्योंकि 'आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" (तै.उ. ३।६) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रपञ्च में वस्तुगत्या आनन्दस्वरूपता प्रतिपादित है। द्वितीय (तत्तात्म्येनाप्रतीयमानत्व) यद्यपि घटादि प्रपञ्च में सिद्ध है, क्योंकि "सन् घटः" के समान "आनन्दो घटः'—ऐसी प्रतीति सर्व-साधारण नहीं होती, तथापि घट के उपादानभूत कपाल में व्यभिचरित है, क्योंकि जिस व्यक्ति को 'कपालाद् घटो जायते'—ऐसा ज्ञान नहीं, उसे कपाल-तादात्म्य की घट में (कपालं घटः—ऐसी) प्रतीति नहीं होती और अभिज्ञ पुरुष की दृष्टि में 'कपालं घटः' के समान 'आनन्दो जगत्'—ऐसी प्रतीति होती ही है। यदि कहा जाय कि 'मृद् घटः'—इस प्रकार मृत्तिकात्वेन कपाल-तादात्म्य की प्रतीति घट में होती है, तब प्रकृत में भी 'सन् घटः'—इस प्रकार सत्त्वेन आनन्दानुरक्तत्व की प्रतीति होती है।

फलतः 'जगद्, अभिन्ननिमित्तोपादानकम्, प्रेक्षापूर्वजनितकार्यत्वात्, सुखदुःखादिवत्'—इस अनुमान के द्वारा भी ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण सिद्ध हो जाता है। उक्त अनुमान में 'कार्यत्वात्'—इतना ही हेतु पर्याप्त है 'प्रेक्षापूर्वजनितत्व' विशेषण व्यर्थ क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'प्रेक्षापूर्वकत्वात्', कार्यत्वात्—ये दो हेतु पृथक् विवक्षित हैं, प्रत्येक हेतु से साध्य की सिद्धि होती है।

शङ्का—आप (अद्वैती) के मत में दुःखादि अन्तःकरण के धर्म माने जाते हैं, अतः दुःखादिरूप दृष्टान्त में अन्तःकरणोपादानकत्व रहने के कारण साध्य (ब्रह्मोपादानकत्व) का अभाव है।

समाधान—हमारे अद्वैत मत में दुःखादि का परिणामी उपादान कारण अन्तःकरण माना जाता है, किन्तु विवर्तोपादान ब्रह्म ही होता है, क्योंकि वह अन्तःकरण के रूप में परिणत अज्ञान का आधार है। 'कार्यत्वात्'—इस हेतु में उभय-

न्यायामृतम्

त्वात्, सर्वकार्यनिमित्तकालघटसंयोगवदिति निरस्तम्। तस्माद्ब्रह्म जगत्कर्तृत्वादिनवै श्रुत्यादिवेद्यं न तूपादनत्वेनेति।

ब्रह्मण उपादानत्वे प्रमाणभंगः ॥ १० ॥

अद्वैतसिद्धिः

द्वितीयानुमाने सर्वान्तर्यामित्वस्य चोपाधित्वात्, बाधोन्नीततया पक्षेतरत्वेऽपि दोषत्वात्। तस्माज्जगदुपादानं ब्रह्म कर्तृ चेति सिद्धम्॥

इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वे प्रमाणोपपत्तिः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सम्मत सर्व कार्य के निमित्तभूत काल और घट के संयोग को दृष्टान्त बनाया जा सकता है [काल और घट के संयोग का उपादान कारण भी काल है एवं निमित्त कारण भी है, अतः काल और घट के संयोग में कालरूपाभिन्ननिमित्तोपादानकत्वरूप साध्य तथा कार्यत्व हेतु रहने के कारण दृष्टान्तता सुलभ हो जाती है]। (१) 'जगपुपादानं न कर्तृ, द्रव्योपादानत्वात्, मृत्तिकावत् अथवा (२) जगत्कर्ता न द्रव्योपादानम्, कर्तृत्वात् कुलालादिवत्'—ऐसा प्रतिपक्ष प्रयोग उक्त अभिन्ननिमित्तोपादानकत्व-साधक अनुमान में नहीं किया जा सकता, क्योंकि वेदान्तवाक्यों से बाधित होने के कारण प्रतिपक्ष-प्रयोग निर्बल है। इतना ही नहीं, प्रथम अनुमान में जड़त्व (चिद्भिन्नत्व) तथा द्वितीय अनुमान में सर्वान्तर्यामिभिन्नत्व उपाधि भी है [मृत्तिकादि दृष्टान्त में रहने के कारण चिद्भिन्नत्व साध्य का व्यापक तथा ब्रह्मरूप पक्ष में न रहने के कारण साधन का अव्यापक है। इसी प्रकार कुलालादि दृष्टान्त में सर्वान्तर्यामिभिन्नत्व रहता है, अतः साध्य का व्यापक और ब्रह्मरूप पक्ष में न रहने के कारण साधन का अव्यापक हैं]। यद्यपि ब्रह्मरूप पक्ष ही चैतन्य और सर्वान्तर्यामी है, अतः चिद्भिन्नत्व और सर्वान्तर्यामिभिन्नत्व—दोनों ही पक्षेतरत्वरूप हैं, पक्षेतरत्व को उपाधि नहीं माना जा सकता। तथापि बाधोन्नीत पक्षेतरत्व को भी उपाधि माना जाता है—इसकी चर्चा विगत पृ० ८९ पर की जा चुकी है। इस प्रकार ब्रह्म जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण सिद्ध हो जाता है।

: ११ :

स्वप्रकाशत्वलक्षणविचारः

न्यायामृतम्

यच्चेदमुच्यते—ब्रह्म न वेद्यं स्वप्रकाशत्वात् । तच्च यद्यपि न वृत्त्यव्याप्यत्वं दृश्यत्वभंगे उक्तरीत्याऽसम्भवात् । नापि फलाव्याप्यत्वम्, अतीतादौ नित्यातीन्द्रिये चातिव्याप्तेः । नाप्यवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वम्, सुषुप्तिप्रलयादौ व्यवहाराभावेनाव्याप्तेः । नाप्यवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयतायोग्यत्वम्, मोक्षे योग्यता-

अद्वैतसिद्धिः

ननु—परिणममानाविद्याधिष्ठानत्वेनोपादानत्वं वाच्यम्, अधिष्ठानत्वं तु नावेद्यस्य, तद्वेदनार्थं प्रमाणापेक्षायामन्योन्याश्रयात् । न च—स्वप्रकाशतदपेक्षमेवाधिष्ठानत्वमिति—वाच्यम्, स्वप्रकाशताया वक्तुमशक्यत्वात् । तथा हि—किमिदं स्वप्रकाशत्वं ? वृत्त्यव्याप्यत्वं वा ? फलाव्याप्यत्वं वा ? अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वं वा ? तद्योग्यत्वं वा ? तद्योग्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वं वा ? नाद्यः, ब्रह्मणोऽप्यावरणभङ्गाय चरमवृत्तिव्याप्यत्वात् । न द्वितीयः, अतीतादौ नित्यातीन्द्रिये चातिव्याप्तेः । न तृतीयः, सुषुप्त्यादौ व्यवहाराभावेनाव्याप्तेः । न चतुर्थः, योग्यत्वरूपधर्मस्य मोक्षकालेऽभावेन तदा ब्रह्मण्यव्याप्तेः । नापि पञ्चमः, अनधिकरणत्वस्यापि धर्मत्वेन मोक्षदशायां तस्याप्यभावेनाव्याप्तेः । अत एव न तादृगनधिकरणत्वोपलक्षित-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—जगद्रूप में परिणममान अविद्या का अधिष्ठान होने के कारण ही ब्रह्म को उपादान कारण कहना होगा, अधिष्ठानता अवेद्य (अप्रमेय) पदार्थ में नहीं बन सकती, अतः उसका वेदन (प्रमा ज्ञान) उत्पन्न करने के लिए मनोवृत्तिरूप प्रमाण की अपेक्षा करने पर अन्योऽन्याश्रयता [ब्रह्मरूप अधिष्ठान को स्वज्ञानार्थ मनोवृत्तिरूप प्रमाण की एवं मनोवृत्तिरूप प्रमाण को अपनी सृष्टि के लिए अधिष्ठान की अपेक्षा] होती है। यदि कहा जाय कि स्वप्रकाश वस्तु तो अपने ज्ञान के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं करती, अधिष्ठान तत्त्व स्वयंप्रकाश है, अतः अन्योऽन्याश्रयता क्यों होगी ? तब जिज्ञासा होती है कि यह स्वप्रकाशत्व क्या है ? (१) वृत्त्यव्याप्यत्व ? या (२) फलाव्याप्यत्व ? या (३) अवेद्यत्व-विशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार-विषयत्व ? या (४) अवेद्यत्व-विशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार-विषयत्व की योग्यता ? अथवा (५) अवेद्यत्व-विशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार-विषयत्व की योग्यता के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता ? प्रथम (वृत्त्यव्याप्यत्व) लक्षण असम्भव है, क्योंकि ब्रह्म के आवरण को भङ्ग करने के लिए चरम वृत्ति की व्याप्यता ब्रह्म में भी मानी जाती है। द्वितीय (फलाव्याप्यत्व) लक्षण अतीत विषय एवं धर्मादि नित्य अतीन्द्रिय पदार्थों में कभी भी सम्भव न होने के कारण अतिव्याप्त है। तृतीय (अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वम्) लक्षण सुषुप्त्यवस्थापन्न आत्मा में अव्याप्त है, क्योंकि सुषुप्ति में किसी प्रकार का (शब्द, ज्ञान या क्रियात्मक) व्यवहार नहीं होता। चतुर्थ (तद्योग्यत्वम्) मोक्षावस्थापन्न आत्मा में अव्याप्त है, क्योंकि उसमें उक्त योग्यत्वरूप धर्म नहीं माना जाता। पञ्चम (तद्योग्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वम्) लक्षण भी एक धर्म है, जो कि मोक्षावस्थापन्न आत्मा में नहीं माना जाता। अत एव उक्तानधिकरणत्वोपलक्षितत्व भी स्वप्रकाशत्व का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि उपलक्षितत्वरूप धर्म भी निर्धर्मक ब्रह्म में नहीं माना जा सकता।

न्यायामृतम्

रूपधर्मस्याप्यभावात्। तथाप्यवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वयोग्यतात्यन्ताभावानधिकरणत्वं तत्। प्रमाणं चात्र अनुभूतिः स्वप्रकाशा अनुभूतित्वादितिव्यतिरेकि। न चाप्रसिद्धविशेषणता, वेद्यत्वं किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वाच्छौक्ल्यवदिति सामान्यतस्तत्सिद्धेः। आत्मा चानुभूतिरूप इति। तन्न, त्वन्मते आत्मनि सत्त्वाद्यनधिकरणत्वरूपानिर्वाच्यत्वस्येव मोक्षे योग्यतात्यन्ताभावानधिकरणत्वरूपस्य वाऽनधिकरणत्वोपलक्षितत्वरूपस्य वा धर्मस्याप्यभावात्। किं च त्वन्मते ब्रह्मणि योग्यतापि मिथ्या, मिथ्यात्वं च स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तथा च तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वमसम्भवि। न च व्यावहारिको योग्यतात्यन्ताभावो ब्रह्मणि

अद्वैतसिद्धिः

मपि तत्, तस्यापि धर्मत्वे मुक्तावभावादिति— चेन्न, पञ्चमपक्षस्यैव क्षोदसहत्वात्। न च मोक्षेऽव्याप्तिः, अनधिकरणत्वस्य स्वरूपतया तदापि सत्त्वात्। न च स्वरूपत्वे लक्षणत्वानुपपत्तिः, त्वन्नये ब्रह्माभिन्नानन्दादौ गुणत्वव्यवहारवत् स्वरूपभूतेऽप्यनधिकरणत्वे लक्षणत्वव्यवहारात्। न च — त्वन्मते योग्यत्वमपि ब्रह्मणि मिथ्येति तदत्यन्ताभावोऽपि वाच्यः, तथा च कथं तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वमिति —वाच्यम्, योग्यत्वविरोध्यत्यन्ताभावस्य विवक्षितत्वात्, स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावस्य मिथ्यात्वप्रयोजकस्य स्वाश्रयनिष्ठत्वेनैवाविरोधित्वात्। यद्वा—व्यावहारिकात्यन्ताभावो विवक्षितः, ब्रह्मणि च योग्यतात्यन्ताभावस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेन तात्त्विकत्वात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अद्वैतवादी—पञ्चम पक्ष निर्दोष है। मोक्ष अवस्था में उसकी अव्याप्ति नहीं, क्योंकि वहाँ फल-व्याप्यत्व न होने के कारण अवेद्यत्व तथा अपरोक्ष व्यवहार-विषयत्व-योग्यता के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता ब्रह्म में मानी जाती है। उक्त अनधिकरणता ब्रह्म का स्वरूप है, धर्म नहीं, अतः निर्धर्मक ब्रह्म में उसकी अव्याप्ति नहीं होती। 'यदि उक्त अनधिकरणता ब्रह्म का स्वरूप है, तब उसे लक्षण नहीं कह सकते, क्योंकि लक्ष्य के स्वरूप को लक्षण नहीं माना जाता'—ऐसी आपत्ति नहीं कर सकते, क्योंकि जैसे आप (द्वैती) के मतानुसार ब्रह्म के स्वरूपभूत आनन्दादि को ब्रह्म का गुण माना जाता है, वैसे ही स्वरूपभूत उक्त अनधिकरणता में लक्षणत्व-व्यवहार हो जाता है।

शङ्का—आप (अद्वैती) के मतानुसार ब्रह्मगत उक्त योग्यता (अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वयोग्यता) भी मिथ्या ही है, अतः उस योग्यता का अत्यन्ताभाव भी मानना होगा, तब ब्रह्म में उक्त योग्यत्व के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता कैसे रहेगी ?

समाधान—यद्यपि ब्रह्म में उक्त योग्यता भी है और उसका अत्यन्ताभाव भी, क्योंकि मिथ्या वस्तु मात्र का अत्यन्ताभाव उसके अधिकरण में रहता है, किन्तु वह अत्यन्ताभाव उक्त योग्यता का बिरोधी नहीं, क्योंकि स्वाधिकरण-वृत्ति पदार्थ स्व का बिरोधी नहीं होता, किन्तु यहाँ उक्त योग्यता का विरोधी अत्यन्ताभाव विवक्षित है, जो कि उक्त योग्यता के अनधिकरण में ही रहेगा, अतः उसकी अनधिकरणता ब्रह्म में रह जाती है। अथवा उक्त योग्यता का व्यावहारिक अत्यन्ताभाव विवक्षित है, ब्रह्मगत अत्यन्ताभाव व्यावहारिक नहीं, अपितु ब्रह्मरूप होने के कारण पारमार्थिक ही होता है, अतः व्यावहारिक अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता ब्रह्म में निश्चित है।

न्यायामृतम्

नेति वाच्यम्, अत्यन्ताभावस्य ब्रह्मान्यत्वेन व्यावहारिकत्वात्। किं चेदमवेद्यत्वं न तावद् वृत्त्यव्याप्यत्वम्, असम्भवात्। नापि फलाव्याप्त्वम्, दृश्यत्वभंगे उक्तरीत्या प्रातिभासिके रूप्यादौ व्यावहारिके अविद्यान्तःकरणतद्धर्मसुखादौ घटादौ च लक्षणस्यातिव्याप्तेः, तत्रोक्तरीत्यैव ब्रह्मणोऽपि चरमवृत्तिप्रतिबिंबितचिद्रूपफलव्याप्यत्वेनासम्भवाच्च। एतेन फलव्याप्यत्वं वृत्तिप्रतिबिंबितचिज्जन्यातिशययोगित्वम्, अतिशयश्च नावरणभंगः, नापि व्यवहारः, किं तु भग्नावरणचित्सम्बन्धः, स च घटादावस्ति न त्वात्मनि। यद्वा फलव्याप्यत्वं वृत्त्या तत्प्रफिलितचिता वाऽभिव्यक्ताधिष्ठानचिद्विषयत्वम्, तज्जन्यव्यहारयोगित्वं तच्च घटादावस्ति न त्वात्मनीति निरस्तम्। घटादौ वृत्तिविषयत्मेव, न तु तत्प्रतिफलितचिद्विषयत्वं न वा तदभिव्यक्ताधिष्ठानचिद्विषयत्वमित्युक्तत्वात्।

एतेनैव चिद्रूपज्ञानाविषयत्वमवेद्यत्वं रूप्यादिरपि साक्षिविषय एव। लक्षणे विशेष्यं तु नित्यातीन्द्रियेष्वनतिव्याप्त्यर्थमिति निरस्तम्, घटादावतिव्याप्तेः। चित्सुखेन तत्स्वभावस्यापि स्फुरणस्य तद्विषयत्वमित्युक्तत्वेन असम्भवाच्च। ननु तर्हि

अद्वैतसिद्धिः

नाप्यवेद्यत्वानिरुक्तिः, फलाव्याप्यत्वस्यैव तत्त्वात्, आवरणभङ्गे चित एव फलत्वात्। न च—एवं घटादेरपि वृत्तिवेद्यतया फलविषयत्वाभावाद् रूप्यसुखादेरपि अपरोक्षव्यवहारयोग्यतया विशिष्टलक्षणस्यातिव्याप्तिरिति—वाच्यम्, घटादौ फलव्याप्यत्वस्य समर्थितत्वाद्रूप्यसुखादौ साक्षिभास्यतयाऽपरोक्षव्यवहारेऽपि प्रमाणजन्यापरोक्षवृत्तिविषयत्वाभावात्। तथा च फलाव्याप्यत्वसमानाधिकरणतद्व्त्वस्य पर्यवसिततया सकलदोषनिरासात्। न च ब्रह्मणोऽपि वृत्तिप्रतिबिम्बितचिद्रूपफलभास्यत्वेनासंभवः, तस्य फलरूपत्वेन तद्विषयत्वाभावात्। न च चित्सुखाचार्यैः तत्स्वभावस्यापि स्फुर-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अवेद्यत्व का भी निर्वचन सम्भव है—फलाव्याप्यत्व। आवरण-भंग हो जाने पर आवरणनाशोपहित चैतन्य को ही फल माना जाता है।

शङ्का—स्वप्रकाशत्व का उक्त लक्षण घटादि व्यावहारिक तथा शुक्ति-रजतादि प्रातिभासिक पदार्थों में अतिव्याप्त है, क्योंकि घटादि वृत्ति के विषय होने के कारण फल-व्याप्य (वेद्य) नहीं होते और अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता घटादि तथा शुक्ति-रजतादि में रहती है, अतः अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूप विशिष्ट लक्षण उक्त अनात्म पदार्थों में अतिव्याप्त होता है।

समाधान—घटादि अनावृत्त घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यरूप फल के विषय होने के कारण वेद्य ही होते हैं, अवेद्य नहीं और शुक्ति-रजतादि साक्षिभास्य होने के कारण अपरोक्ष व्यवहार के विषय होने पर भी प्रकृत में विवक्षित प्रमाण-जन्य अपरोक्ष वृत्ति (प्रमा) के विषय नहीं होते, अतः उनमें उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। इस प्रकार फलाव्याप्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूप पर्यवसित लक्षण में सकल दोषों का निरास हो जाता है। 'ब्रह्म भी वृत्ति-प्रतिबिम्बित चिद्रूप फल का व्याप्य होने कारण उक्त लक्षण असम्भव दोष से ग्रस्त है—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि वह फलरूप है, फल का विषय नहीं। चित्सुखाचार्य ने जो ब्रह्म में फल-व्याप्यत्व मानते हुए कहा है कि "तत्स्वभावस्यापि स्फुरणस्य तद्विषयत्वम्" (चित्सुखी पृ० ३४)। वह फल-

न्यायामृतम्

चिदकर्मत्वमवेद्यता चित्सुखेनैव चितश्चिद्विषयत्वमुपेत्य तदकर्मत्वोक्तेरिति चेत्, कर्मत्वं किं कारकविशेषत्वम्, तज्जन्यातिशयवत्त्वं वा? परसमवेतक्रियाफलशालित्वं वा? नाद्यः, अनवच्छिन्नं नित्यं चैतन्यं प्रति घटादेरप्यकारकत्वात्। स्वाकारवृत्तिप्रतिबिंबितं तु प्रति घटतद्रूपादेरिवापरोक्षचरमवृत्तिव्याप्यस्य ब्रह्मणोऽपि कारकत्वावश्यम्भावात्। न द्वितीयः, ब्रह्मण्यप्युक्त (रीत्या) न्यायेन प्रतिफलितचित्फलभूतावरणभंगरूपस्य तदभिव्यक्तचिज्जन्यव्यवहाररूपस्य वातिशयस्य सत्त्वात्। तदन्यस्य च घटादावप्यभावात्। न तृतीयः, शुद्धचितोऽसमवेतत्वादक्रियात्वाच्च तत्फलशालिनोऽपि जडस्याकर्मत्वापातात्। प्रतिबिंबिते चिति तु समवेतत्वादेः सत्त्वेऽपि ब्रह्मणोऽपि चरमवृत्तिप्रतिफलितचित्फलभूतावरणभंगादिशालित्वाच्च।

एतेन ज्ञप्त्यविषयत्वमवेद्यत्वं वृत्तिस्तु न ज्ञप्तिरिति निरस्तम्, घटादौ वृत्त्यन्यज्ञप्त्यभावस्योक्तत्वात्। तस्मादवेद्यत्वं दुर्वचम्।

कश्चायमपरोक्षव्यवहारः? अपरोक्षज्ञानजन्यो वा? अपरोक्षवस्तुविषयो वा? अपरोक्षोऽयमित्याकारो वा? नाद्यः, धर्माधर्मादावप्यपरोक्षेण योगजज्ञानेनानुव्यवसायेन

अद्वैतसिद्धिः

णस्य तद्विषयत्वमित्युक्तेरसंभवः, तस्याचार्यवचसस्तत्प्रयुक्तव्यवहारविषयतया तद्विषयत्वोपचारनिबन्धनत्वात्। अयमत्र निष्कर्षः--वृत्तिप्रतिबिम्बितचिज्जन्यातिशययोगित्वं वृत्त्या तत्प्रतिफलितचिता वा अभिव्यक्ताधिष्ठानचिद्विषयत्वं वा फलव्याप्यत्वम्। चिज्जन्यातिशयश्च नावरणभङ्गः, नापि व्यवहारो विवक्षितः, किंतु भग्नावरणचित्संबन्धः। स च घटादावस्ति, नात्मनि, संबन्धस्य भेदगर्भत्वात्। एवमुक्तचिद्विषयत्वमपि भेदघटितं घटादावस्ति, नात्मनीति स्थितं प्रतिकर्मव्यवस्थायाम्। नाप्यपरोक्षव्यवहारो दुर्वचः अपरोक्ष इति शब्दप्रयोगस्यैव विवक्षितत्वात्। न चालौकिकप्रत्यक्ष-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्याप्यत्व-प्रयुक्त व्यवहार का विषय ब्रह्म को औपचारिकविषय मान कर कहा है।

निष्कर्ष यह है कि [श्रीपद्मपादाचार्य ने कहा है—"प्रमितिरनुभवः स्वयंप्रकाशः प्रमाणफलम्, तद्बलेन इतरत् प्रकाशते प्रमाणं तु प्रमातृव्यापारः फललिङ्गो नित्यानुमेयः" (पं० पा० पृ० ८८) अर्थात् जैसे भाट्ट मत में ज्ञान से विषयगत ज्ञाततारूप अतिशय उत्पन्न होता है और ज्ञान-जन्य अतिशयाधारत्वेन घटादि को विषय कहा जाता है, वैसे ही अद्वैत वेदान्त में] घटाद्याकार वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य को अथवा वृत्ति या वृत्तिगत आभास के द्वारा अभिव्यक्त अधिष्ठान चैतन्य को फलरूप ज्ञान, स्फुरण या अनुभव माना जाता है और उससे घटादि विषय के साथ जो अनावृत चैतन्य का सम्बन्धरूप अतिशय उत्पन्न होता है, उसको लेकर ज्ञान-जन्य अतिशयाधारत्वेन घटादि को विषय माना जाता है। यहाँ आवरण-नाश या व्यवहार 'अतिशय' पद से विवक्षित नहीं, अपितु चैतन्य-विषय-सम्बन्ध ही गृहीत होता है। अथवा फलरूप अनावृत अधिष्ठान चैतन्यप्रतियोगिक विषयगत सम्बन्ध को विषयता का नियामक कहा जा सकता है। स्वयं चैतन्य पर न तो उक्त अतिशय उत्पन्न होता है और न चैतन्यप्रतियोगिक सम्बन्ध, क्योंकि सम्बन्ध सदैव भेद-गर्भित (स्व से भिन्न वस्तु में ही) होता है, अतः फल-व्याप्यता या उक्त अनावृत चैतन्य की विषयता घटादि दृश्यवर्ग में ही होती है, आत्मा में नहीं—यह प्रतिकर्मव्यवस्था नाम के प्रकरण में कहा जा चुका है।

स्वप्रकाशत्व-लक्षण-घटक अपरोक्षव्यवहार भी दुर्वच नहीं, क्योंकि 'अपरोक्षः'—

न्यायामृतम्

व्याप्तिज्ञानेन च जन्यव्यवहारस्य सत्त्वेनातिव्याप्तेः। अपरोक्षज्ञानशब्देनानागतगोचरसाक्षात्कारजनकप्रत्यासत्त्यजन्यजन्यसाक्षात्कारविवक्षायां चात्मस्वरूपज्ञानस्य नित्यत्वेनासम्भवात्। विषयगतापरोक्षव्यवहारहेतुसाक्षात्कारविवक्षायां तु साक्षिवेद्ये रूप्यादौ चाविद्यादौ चातिव्याप्तेः। द्वितीये वस्तुन आपरोक्ष्यं अपरोक्षज्ञानविषयत्वं चेदात्मापि घटादिवद्वेद्यः स्यात्। तस्यैव लक्षणत्वोपपत्त्या कुसृष्टिवैयर्थ्यं च। अपरोक्षव्यवहारविषयत्वं चेत्, वस्तुव्यवहारयोरापरोक्ष्येऽन्योऽन्यसापेक्षत्वादन्योन्याश्रयः। न

अद्वैतसिद्धिः

विषयधर्माधर्मादौ तादृशव्यवहारयोगितया अतिव्याप्तिः, योगजधर्मातिरिक्तालौकिकप्रत्यासत्तेरनङ्गीकारात्, तस्यापि स्वयोग्यव्यवहित एव सामर्थ्यापादकत्वात्, न तु धर्मादौ। तदुक्तं 'यत्राप्यतिशयो दृष्ट' इत्यादि। एतेन--कश्चायमपरोक्षव्यवहारो नाम? अपरोक्षज्ञानजन्यो वा? अपरोक्षवस्तुविषयो वा? अपरोक्ष इत्याकारो वा? नाद्यः, धर्मादावप्यपरोक्षयोगिज्ञानानुव्यवसायव्याप्तिज्ञानजन्यव्यवहारसत्त्वेनातिव्याप्तेः, न द्वितीयः, वस्तुन आपरोक्ष्यं अपरोक्षज्ञानविषयत्वं चेत्, आत्मनोऽपि घटादिवद् वेद्यत्वापातात्। अपरोक्षव्यवहारविषयत्वं चेत्, वस्तुव्यवहारयोरापरोक्ष्ये अन्योन्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इस प्रकार का शब्द-प्रयोग ही 'अपरोक्षव्यवहार' पद से विवक्षित है। यह जो कहा गया कि 'अलौकिक (ज्ञानलक्षणादि सन्निकर्ष-जन्य) व्यवहार के विषयीभूत धर्मांधर्मादि नित्यातीन्द्रिय पदार्थों में अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता रहने के कारण स्वप्रकाशत्व-लक्षण की अतिव्याप्ति होती है।' वह कहना उचित नहीं, क्योंकि योगज धर्म को छोड़ कर अन्य कोई (ज्ञानलक्षणादि) अलौकिक सन्निकर्ष हमें अङ्गीकृत नहीं। योगज सन्निकर्ष भी प्रत्यक्ष-योग्य व्यवहित चैत्रादि में ही अपरोक्ष ज्ञान की विषयता उत्पन्न कर सकता है, धर्माधर्मादि अयोग्य पदार्थों में नहीं, श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—

"यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यात् न रूपे श्रोत्रवृत्तिता॥ (श्लो० वा० पृ० ८०)

[जहां भी कुछ शक्ति का अतिरेक देखा जाता है, वहाँ अपने विषय की सीमा का उल्लङ्घन नहीं पाया जाता, जैसे कि यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति अति दूरस्थ या सूक्ष्म रूप को देख ले, किन्तु यह कभी भी सम्भव नहीं कि कोई व्यक्ति अपने श्रोत्र इन्द्रिय से रूप का दर्शन कर ले]।

न्यायामृतकार ने जो यह आक्षेप किया है कि अपरोक्षव्यवहार का अर्थ क्या (२) अपरोक्ष ज्ञान-जन्य व्यवहार है? या (२) अपरोक्षवस्तुविषयक व्यवहार? या 'अपरोक्षः'—इस प्रकार का शब्द व्यवहार? प्रथम धर्मादि में अतिव्याप्त है, क्योंकि धर्मादि भी अपरोक्षात्मक योगि-ज्ञान, अनुव्यवसाय ज्ञान और व्याप्ति ज्ञान से जन्य व्यवहार के विषय माने जाते हैं। द्वितीय पक्ष में जिज्ञासा होती है कि वस्तुगत अपरोक्षता क्या (१) अपरोक्ष ज्ञान की विषयता है? या अपरोक्ष व्यवहार की विषयता? अपरोक्ष ज्ञान की विषयता तो आत्मा में भी है, अतः वह भी घटादि के समान वेद्य ही हो जाता है। अपरोक्ष व्यवहार की विषयता को वस्तुगत अपरोक्षता मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है, क्योंकि वस्तु का अपरोक्ष हो जाने पर उस का अपरोक्ष व्यवहार एवं वस्तु का अपरोक्ष व्यवहार हो जाने पर वस्तु को अपरोक्ष

न्यायामृतम्

तृतीयः, निराकारशुद्धब्रह्मविषयस्याऽखण्डार्थनिष्ठवेदान्तजन्यस्य च व्यवहारस्य परोक्ष इत्याकारत्वायोगात्। अभावेऽतिव्याप्तेश्च। अस्ति हि गज इव गजाभावेऽप्यपरोक्ष इति लोकव्यवहारः। स चावेद्यः। त्वयैव नाभावस्य प्रत्यक्षत्वं किं त्वनुपलब्धिगम्यत्वमिति फलव्याप्यत्वनिषेधात्। यदि चापरोक्षज्ञानं अपरोक्षव्वहारशब्दार्थः, तदा स्वव्याहतिः।

किं च अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं न तावत्सर्वान्प्रति, चैत्रस्य ज्ञाने मैत्रं प्रति तदभावात्। नापि ज्ञानं प्रति, तस्याव्यवहर्तृत्वात्। नापि ज्ञानाश्रयं प्रति, चितोऽनाश्रि-

अद्वैतसिद्धिः

सापेक्षतयाऽन्योन्याश्रयात्। न तृतीयः, निराकारशुद्धब्रह्मविषयस्याखण्डार्थनिष्ठवेदान्तजन्यव्यवहारस्यापरोक्ष इत्याकारायोगादिति--निरस्तम्, व्यवहारपदेनाभिवदनस्य विवक्षितत्वेन चरमवृत्तेस्तदनाकारत्वेऽपि क्षत्यभावात्। न चानुपलब्धिगम्यतया अवेद्ये अपरोक्षे लोकव्यवहारसत्त्वेनाभावेऽतिव्याप्तिः, प्रामाणिकव्यवहारस्य विवक्षितत्वात्।

ननु—अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं न तावत्सर्वान् प्रति, चैत्राज्ञाने मैत्रस्य तदभावात्। नापि ज्ञानं प्रति, तस्याव्यवहर्तृत्वात्। नापि ज्ञानाश्रयं प्रति, ज्ञानस्य चितो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

माना जायगा। तृतीय पक्ष में (अपरोक्षोऽयम्—इत्याकारक व्यवहार को अपरोक्ष व्यवहार मानने पर) असम्भव दोष होता है, क्योंकि ब्रह्म स्वयं निराकार है और उस का वेदान्त वाक्य-जन्य ज्ञान भी अखण्ड या निष्प्रकारक होता है, अतः उस ज्ञानात्मक व्यवहार को अपरोक्षत्वप्रकारक (अपरोक्षोऽयम्—ऐसा) नहीं माना जा सकता।

न्यायामृतकार का वह कहना भी इसीलिए निरस्त हो जाता है कि 'व्यवहार' पद से शब्दात्मक व्यवहार विवक्षित है, अतः चरम वृत्तिरूप व्यवहार के अपरोक्षत्वाकार न होने पर भी कोई क्षति नहीं।

शङ्का—उक्त स्वप्रकाशत्व-लक्षण की अभाव पदार्थ में अतिव्याप्ति है, क्योंकि प्रत्यक्ष-गम्य वस्तु में ही फल-व्याप्यत्व माना जाता है, किन्तु अभाव को अद्वैत वेदान्त में प्रत्यक्ष-गम्य नहीं, अनुपलब्धि-गम्य माना जाता है, अतः उसमें अवेद्यत्वरूप विशेषण घट जाता है और अपरोक्ष व्यवहार-योग्यत्वरूप विशेष्य दल भी अभाव में विद्यमान है, क्योंकि गजादि के समान उनके अभावों में भी अपरोक्षः—इस प्रकार का लोक-व्यवहार प्रसिद्ध है।

समाधान—अभाव पदार्थ में विशेषण दल के रहने पर भी विशेष्य दल नहीं रहता, क्योंकि यहाँ व्यवहार प्रामाणिक (प्रमा-जन्य या भ्रमाजन्य) विवक्षित है। अभाव पदार्थ अनुपलब्धि-ज्ञान से जनित होने के कारण अपरोक्ष नहीं, उसमें भ्रमतः उक्त लोक-व्यावहार हो जाता है प्रमाणतः नहीं।

शङ्का—अपरोक्ष व्यवहार किसी एक जीव का विवक्षित है? या सभी जोवों का? अथवा ज्ञान (सामान्य चैतन्य) का? चैत्र का अपरोक्ष व्यवहार मैत्रादि के आत्माओं में न होने से स्वप्रकाशत्व अव्याप्त रहता है और सभी जीवों का अपरोक्ष व्यवहार कहीं भी नहीं होता, अतः असम्भव है। सभी शरीरों में विद्यमान सामान्य चैतन्य को व्यवहर्ता नहीं माना जाता, अतः उसका व्यवहार ही अप्रसिद्ध है। तार्किकादि के समान ज्ञानाश्रयीभूत पदार्थ को भी आप (अद्वैती) व्यवहार नहीं मान

न्यायामृतम्

तत्वात् । किं चावेद्य (त्वे सत्यप) रयापरोक्षव्यवारविषयत्वं व्याहतम् , तदपरोक्ष-व्यवहारे तद्विषयकस्फुरणस्य हेतुत्वात् । यदि च स्फुरणाविषयेऽपि स्फुरणे तद्विषय-

अद्वैतसिद्धिः

ऽनाश्रितत्वादिति—चेन्न, प्रमातारं यं कंचित् प्रत्येवापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं विवक्षितम् । प्रमाता चाहमर्थ एव सर्वसंमतः । यत्तूक्तं चैत्रस्य ज्ञाने मैत्रस्याव्यवहार इति, तस्य चैत्रज्ञाननिमित्तको मैत्रस्याव्यवहार इति वार्थः ? चैत्रज्ञानविषयको मैत्रस्याव्यवहार इति वार्थः ? आद्ये चैत्रज्ञानेन मैत्रस्याव्यवहारेऽपि स्वज्ञानेनैव घटे ब्रह्मणि चापरोक्षव्यवहारसंभवेन व्यर्थविशेषणत्वासंभवयोरभावात् । द्वितीये चैत्रज्ञाने तादृग्व्यवहाराभावेऽपि क्षत्यभावात् । अस्माकमपि हि चितिरेव स्वप्रकाशा, न तु चैत्रज्ञानत्वेन व्यपदिश्यमानवृत्त्युपहितचिदपि, वृत्तेरस्वप्रकाशत्वात् । एवं च सर्वप्रमातॄन् प्रति तादृग्व्यवहारविषयतायोग्यत्वमपि सङ्गच्छत एव । ननु—अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वं तद्योग्यत्वं च व्याहतम् , तदपरोक्षव्यवहारे तद्विषयकस्फुरणस्य हेतुत्वादिति—चेन्न, अन्यत्र तद्विषयस्य तद्व्यवहारजनकत्वेऽपि स्फुरणस्य स्वाविष-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सकते, क्योंकि आप ज्ञान को चैतन्यरूप मानते हैं, आत्मा का गुण नहीं, चैतन्यरूप ज्ञान का कोई आश्रय ही नहीं माना जाता, जिसका व्यवहार लिया जाता।

समाधान—किसी भी एक प्रमाता का व्यवहार विवक्षित है। अहमर्थ को प्रमाता सभी मानते हैं। यह जो कहा गया कि चैत्र के ज्ञान (आत्मा) में मैत्र का अपरोक्ष व्यवहार नहीं होता, उसका तात्पर्य क्या चैत्रज्ञाननिमित्तक मैत्र के व्यवहार का अभाव है ? अथवा चैत्रज्ञानविषयक मैत्र के व्यवहार का अभाव ? प्रथम पक्ष में चैत्र-ज्ञान के द्वारा मैत्र का अपरोक्ष-व्यवहार न होने पर भी स्वकीय (मैत्रीय) ज्ञान के आधार पर घटादि दृश्य तथा ब्रह्म में मैत्र का अपरोक्ष व्यवहार सम्भव है, अतः अवेद्यत्वरूप विशेषण का वैयर्थ्य और असम्भव दोष नहीं होता। द्वितीय पक्ष में चैत्र के ज्ञान में मैत्र के प्रत्यक्ष-व्यवहार का अभाव होने पर भी कोई क्षति नहीं, क्योंकि हमारे मत में भी सामान्य चैतन्य को ही स्वप्रकाश माना जाता है, चैत्रज्ञानत्वेन व्यवह्रियमाण वृत्त्युपहित चैतन्य को स्वयंप्रकाश नहीं माना जाता, क्योंकि उसकी उपाधिरूप वृत्ति स्वप्रकाश नहीं होती। इस प्रकार सभी प्रमातृचैतन्यों का कथित व्यवहार-विषयता-योग्यत्व भी संगत हो जाता है।

शङ्का—अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्व अथवा अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहार विषतायोग्यत्व लक्षण परस्पर व्याहत है, क्योंकि किसी वस्तु के अपरोक्ष व्यवहार में उस वस्तु का स्फुरित (वेद्य) होना परम आवश्यक है, अतः अवेद्य पदार्थ कभी भी अपरोक्ष व्यवहार का विषय नहीं हो सकता।

समाधान—सभी पदार्थों का एक ही स्वभाव नहीं होता, अपितु भिन्न-भिन्न होता है। 'घटोऽपरोक्षः'—इस प्रकार का व्यवहार नियमतः घट-ज्ञान से जनित होता है, क्योंकि घट में साक्षात् अपरोक्षता नहीं होती, अपितु अपरोक्षचित्तादात्म्यरूप उपाधि को लेकर औपाधिक अपरोक्षता मानी जाती है, किन्तु 'चैतन्यमपरोक्षम्'—इस प्रकार का व्यवहार चैतन्य के ज्ञान से जनित नहीं होता, अपितु स्वाभाविक होता है, क्योंकि चतन्य में अपरोक्षता साक्षात् (स्वाभाविक) होती है—"यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" (बृह० ३।४।१)। चैत्र के समान घटादि विषयक अपरोक्ष व्यवहार को नैसर्गिक नहीं

न्यायामृतम्

कापरोक्षवृत्तिर्वा तद्विषयकं स्फुरणमेव वा स्वाभावभेदादेव अपरोक्षस्वव्यवहारहेतुः, तर्ह्यवैरूप्याय घटादावपि तथैव स्यात् । ननु घटादिकमस्फुरणरूपं स्फुरणं तु तद्रूपमिति चेत् (आत्मा तुस्फुरणरूप इति चेत्), सत्यं तावता स्फुरणे स्फुरणान्तरं नापे(क्ष्यतां) क्षितं न तु क्लृप्तं तद्विषयकत्वमपि । अन्यथा प्रमेयत्वमपि स्ववृत्ति विनैव स्वस्मिन्प्रमेयव्यवहारं कुर्यादिति केवलान्वयि न स्यात् । गतिरपि ग्राम इव स्वस्मिन्नपि स्वकार्यं

अद्वैतसिद्धिः

यस्य स्वस्मिन् व्यवहारजनकत्वम् , स्वभावभेदात् । न च घटादावपि तथैवास्तु, तेषामस्फुरणरूपत्वेन तद्विषयत्वं विना नियामकान्तराभावात् , तार्किककल्पितस्यानुव्यवसायस्यापि घटज्ञानज्ञानत्वापेक्षया लघुना घटज्ञानत्वेनैव घटज्ञानव्यवहारहेतुत्वकल्पनाच्च ।

ननु—अनवस्थाभिया स्फुरणान्तरानङ्गीकारात् स्वस्यैव स्वविषयत्वमस्तु, अन्यत्र क्लृप्तस्य तद्विषयत्वस्य नियामकस्य त्यक्तुमयुक्तत्वाद् , अन्यथा प्रमेयत्वस्य स्ववृत्तित्वं विनैव स्वत एव प्रमेयमिति व्यवहारजनकत्वोपपत्त्या केवलान्वयित्वभङ्गप्रसङ्ग इति—चेन्न, अनवस्थया स्फुरणान्तरत्यागवदभेदे भेदनियतस्य विषयिविषयभावस्याप्ययुक्त-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

माना जा सकता, क्योंकि घटादि स्फुरणरूप (चैतन्यस्वरूप) नहीं होते, अतः घटादिगत अपरोक्षता का नियामक अपरोक्षात्मक चैतन्य-तादात्म्य को छोड़ कर और कोई नहीं हो सकता । चैतन्य वस्तु ज्ञानरूप होने पर भी सविषयक नहीं होती, अतः स्वविषयक ज्ञानत्वेन अथवा ज्ञान-ज्ञानत्वेन चैतन्य में व्यवहार-जनकत्व न मान कर केवल चैतन्यत्वेन या ज्ञानत्वेन ही जनकता मानी जाती है, तार्किकादि भी अनुव्यवसाय ज्ञान में ज्ञानज्ञानत्वेन व्यवहार-जनकता न मान कर लघुभूत घटादि-ज्ञानत्वेन ही जनकता मानते है ।

शङ्का—चैतन्यरूप ज्ञान का भी ज्ञान मानने पर यदि अनवस्था होती है, तब चैतन्य को ही स्वविषयक मान लेने में कोई आपत्ति नहीं । घटादि-स्थल पर जैसे व्यवहार के प्रति घटादि-विषयकत्वेन घटादि-ज्ञान अथवा ज्ञायमानत्वेन रूपेण घटादि में कारणता अनुभूत होती है, उसका अकारण परित्याग उचित नहीं, अतः चैतन्य वस्तु भी ज्ञायमान होकर ही अपने व्यवहार की जनक होती है, फलतः उसका वेद्य होना अनिवार्य है । अन्यथा (लोक-सिद्ध ज्ञायमानत्व के विना ही चैतन्य को अपने व्यवहार का निर्वाहक मानने पर) 'प्रमेयत्व' धर्म के विना ही प्रमेयत्व को भी प्रमेयत्व-व्यवहार का साधक माना जा सकेगा और प्रमेयत्व के लोक-प्रसिद्ध केवलान्वयित्व का नियम भी भंग हो जायगा ।

समाधान—जैसे अनवस्थापत्ति के भय से स्फुरण-परम्परा का नियम चैतन्य वस्तु में परित्यक्त हो जाता है, वैसे ही विषय-विषयिभाव सम्बन्ध भी विषय और विषयी के भिन्न होने पर ही होता है, अभिन्न-स्थल पर नहीं, अतः चेतन्य तत्त्व को स्वविषयक मानना सम्भव नहीं । प्रमेयत्वादि में जो केवलान्वयित्व-भङ्गापत्ति दी गई, उसमें हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि निर्धर्मक ब्रह्म में कोई भी प्रमेयत्वादि धर्म नहीं रहता, अतः उसे केवलान्वयी मानना सम्भव नहीं ।

शङ्का—यदि ज्ञान (चेतन्य) का ज्ञान मानने पर अनवस्था होती है, अतः

न्यायामृतम्

कुर्यात् । अस्मन्मतेऽबाध्यत्वरूपसत्त्वस्य स्ववृत्तित्वादेव सत्ता सतीतिव्यवहारः ।

एतेन चिदविषयस्वरूपत्वमेव स्वप्रकाशत्वं चिदन्यत्सर्वमपि दृश्यत्वनिरुक्तिप्रस्तावे उक्तन्यायेन चिद्वेद्यमेव, चित्तु न स्ववेद्या, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् । न हि छिदा छेद्या भवतीति निरस्तम्, मिथ्यात्वानुमित्यादेः स्वविषयकत्ववदुपपत्तेः । अन्यथा चितिः स्वात्मनि व्यवहारमपि न जनयेत्, न हि छिदाकार्यं छिदायां दृश्यते ।

अद्वैतसिद्धिः

तया त्यागोपपत्तेः, प्रमेयत्वादौ केवलान्वयित्वभङ्गस्येष्टत्वात् । न च—एवं गतिरपि ग्राम इव स्वस्मिन्नपि स्वकार्यं करोत्विति—वाच्यम्, भेदाविशेषात्तन्तुरिव मृदपि पटं करोत्वित्यस्याप्यापत्तेः । स्वभावभेदेन परिहारश्च सर्वत्र समानः ।

यद्वा—चिदविषयस्वरूपत्वमेव स्वप्रकाशत्वम्, चिदन्यस्य सर्वस्य चिद्विषयत्वात्तुच्छस्य निःस्वरूपत्वेन नातिव्याप्तिशङ्का । नाप्यसंभवः, स्वात्मनि वृत्तिविरोधेन छिदाया अच्छेद्यत्ववत् स्वस्य स्ववेद्यत्वायोगात् । न च--एवं मिथ्यात्वानुमितेरपि अस्वविषयत्वापत्तिरिति--वाच्यम्, स्वपरसाधारणस्यैकस्य विषयतानियामकस्य तत्र सत्त्वेन विशेषात् । अत एव यथा छिदादौ परशुसंयोगो न स्वपरसाधारण इति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अज्ञायमान चैतन्य ही स्वविषयक व्यवहार का निर्वाहक माना जाता है, तब गमन क्रिया में भी गमनान्तर मानने पर अनवस्था होती है, अतः गमन क्रिया के विना गमन अपने कार्य (ग्राम-संयोगरूप फल) का साधक हो जायगा और 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' के समान 'गतिः (गमनम्) ग्रामं गच्छति'—ऐसा व्यवहार होने लगेगा ।

समाधान—अभिन्न में कार्य-कारणभाव नहीं होता, अपितु भिन्न में ही कार्य-कारणभाव होता है—इस नियम के अनुसार तन्तु से यदि पट उत्पन्न होता है, तब कपाल से पट क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न के उत्तर में वस्तु का स्वभाव-भेद ही कहना होगा । वह यहाँ भी कहा जा सकता है कि दृश्य पदार्थ ज्ञायमान होकर ही स्व-व्यवहार का साधक होता है, किन्तु दृक् (चैतन्य) तत्त्व का स्वभाव उससे विलक्षण है, अतः उसे अपने व्यवहार के लिए अपने में ज्ञायमानता की अपेक्षा नहीं होती ।

अथवा चिद्विषयत्व को अस्वप्रकाशत्व और चिदविषयत्व को स्वप्रकाशत्व कहा जा सकता है, चित् से भिन्न समस्त दृश्यवर्ग चैतन्य का विषय होता है, अतः उसमें स्वप्रकाशत्वापत्ति नहीं होती और शशशृङ्गादि तुच्छ पदार्थ निःस्वरूप होने के कारण चिदविषयस्वरूपता उनमें नहीं मानी जाती, अतः उनमें भी स्वप्रकाशत्व की अतिव्याप्ति नहीं होती । इस लक्षण में असम्भव दोष भी नहीं, क्योंकि कोई भी पदार्थ स्वयं अपना सम्बन्धी (स्वप्रतियोगिकसम्बन्ध का अनुयोगी) नहीं होता, अतः जेसे छिदा क्रिया काष्ठादि के समान छेद्य नहीं होती, वैसे ही स्वयं वेदन (चैतन्य) घटादि के समान वेद्य नहीं होता ।

शङ्का—जैसे चैतन्य स्वविषयक नहीं होता, वैसे ही मिथ्यात्व-साधक अनुमिति भी स्वविषयक न हो सकेगी, अतः उसमें मिथ्यात्व सिद्ध न हो सकेगा ।

समाधान—'घटो घटः'—ऐसा प्रयोग न होने पर भी 'घटो द्रव्यम्'—ऐसा प्रयोग होता है । उसका कारण यह है कि कोई भी वस्तु एक रूप से स्व सम्बन्धी न होने पर भी भिन्न रूप से स्व-सम्बन्धी होती है, घटत्वेन घट स्वयं अपना (घट का) सम्बन्धी न

न्यायामृतम्

नापि स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदनपेक्षत्वं वा स्वव्यवहारे स्वावच्छिन्नसंवि- (त्सापे)दनपेक्षत्वं वा स्वप्रकाशत्वम् , अस्य स्ववेद्यत्वेऽप्युपपत्त्या संमतत्वात् । स्ववि- षयत्वं बिना स्वव्यवहारहेतुत्वायोगादित्युक्तत्वाच्च ।

अद्वैतसिद्धिः

स्वस्मिन् वृत्तिविरोधः, तथा प्रकृतेऽपि । न च--तर्हि छिदाकार्यस्य छिदायामिव चिज्जन्यव्यवहारस्य चित्यनापत्तिरिति--वाच्यम् , फलदर्शनस्यैव छिदापेक्षया स्वभावभेदनियामकत्वात् ।

यद्वा--स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदनपेक्षत्वं स्वावच्छिन्नसंविदनपेक्षत्वं वा स्वप्रकाशत्वम् । न च स्ववेद्यत्वेऽप्युपपत्त्या स्वाभिमतप्रकाशत्वानुपपत्तिः, स्ववेद्यत्वस्य बाधितत्वेन तदादायोपपत्त्यसंभवात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होने पर भी द्रव्यत्वेन स्व-सम्बन्धी होता है । इसी प्रकार मिथ्यात्वानुमितित्वेन मिथ्या-त्वानुमिति स्वसम्बन्धी न होने पर भी 'ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वे सति तुच्छब्रह्मान्यत्वरूपेण' स्वसम्बन्धी हो जाती है, अर्थात् वह अनुमिति प्रपञ्च को जिस (ब्रह्मप्रमान्याबाध्य-त्वादि) रूप से विषय करती है, उसी रूप में स्वयं अपने को भी लपेट लेती है, किन्तु जैसे काष्ठगत छेद्यत्व का नियामक कुठार-संयोग स्वयं छिदा क्रिया में न होने के कारण छिदा छेद्य नहीं होती, वैसे ही घटादिगत चिद्विषयत्व स्वयं चैतन्य में न होने के कारण चैतन्य तत्त्व वेद्य नहीं होता ।

शङ्का—यदि छिदा क्रिया के समान ही चैतन्य स्वविषयक नहीं, तब जैसे छिदा का द्वैधीभावरूप कार्य स्वयं छिदा में नहीं होता, वैसे ही चैतन्य-जन्य व्यवहार भी चैतन्य में न हो सकेगा ।

समाधान—किसी वस्तु के सभी कार्य अपने में नहीं होते, अपितु कुछ कार्य ही अपने में पाये जाते हैं । कौन कार्य कहाँ होता है—इस तथ्य का निर्णायक होता है—फलभेद, जैसे छिदा में प्रत्यक्षादि कार्य होता है, किन्तु द्वैधीभावादि कार्य नहीं होता, वैसे ही चैतन्य में अपरोक्ष व्यवहाररूप कार्य होता है, किन्तु घटादि व्यवहाररूप काय नहीं होता, अतः जिसका फल जहाँ उपलब्ध होता है, वहीं कार्य वहाँ मानना होगा ।

अथवा स्वकीय व्यवहार में स्वातिरिक्तज्ञानानपेक्षत्व या स्वावच्छिन्नज्ञानान-पेक्षत्व को स्वप्रकाशत्व कहा जा सकता है [जैसे घटादि पदार्थ स्व-व्यवहार में स्व-भिन्न अपने ज्ञान की अथवा घटाद्यवच्छिन्न (घटादि-विषयक) ज्ञान की अपेक्षा करने के कारण अस्वप्रकाश हैं, वैसे स्वयं चैतन्य तत्त्व अपने व्यवहार में न तो स्व-भिन्न ज्ञान की अपेक्षा करता है और न स्वावच्छिन्न (स्वविषयक) ज्ञान की, अतः वह स्वप्रकाश है] ।

शङ्का--शुद्ध चैतन्य को स्वविषयक मान लेने पर भी उक्त प्रथम लक्षण घट जाता है, अतः आपका अवेद्यगत स्वप्रकाशत्व अनुपपन्न हो जाता है [यहाँ स्ववेद्यत्वरूप स्वप्रकाशत्व-पक्ष में द्वितीय लक्षण की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि स्ववेद्य वस्तु में स्वावच्छिन्न (स्वविषयक) ज्ञान की अनपेक्षता सम्भव नहीं, अतः आचार्य श्रीनिवास का लक्षणद्वयोपपत्ति-प्रदर्शन उचित नहीं प्रतीत होता । विगत पृ० ६० पर भी इसका विचार किया गया है] ।

समाधान—स्ववेद्यत्वरूप स्वप्रकाशत्व का स्वक्रिया-विरोधादि के द्वारा बाध हो

न्यायामृतम्

किं च स्वप्रकाशत्वं आत्मस्वरूपमेव वा? तद्धर्मो वा? नाद्यः, इष्टापत्तेः। नान्त्यः, तात्त्विकस्य तस्याभावेन स्वप्रकाशत्वस्यातात्त्विकत्वापत्त्या तत्साधकानुमानादेर्बाधात्।

स्वप्रकाशत्वलक्षणभंगः ॥ ११ ॥

अद्वैतसिद्धिः

ननु—स्वप्रकाशत्वधर्मस्य तात्त्विकत्वे अद्वैतव्याघातः, अतात्त्विकत्वे अस्वप्रकाशत्वस्यैव तात्त्विकत्वापत्त्या तत्साधकानुमानादेर्बाध इति —चेन्न, स्वरूपत्वस्योक्तत्वात्। न च—परेषामिदमिष्टम्, वेद्यत्वविरोधिस्वरूपस्य परैरनङ्गीकारात्॥

इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मस्वप्रकाशत्वलक्षणोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाता है, अतः उसको लेकर किसी भी लक्षण की उपपत्ति नहीं हो सकती।

शङ्का—ब्रह्म में 'स्वप्रकाशत्व' धर्म तात्त्विक है? या अतात्त्विक? तात्त्विक मानने पर अद्वैत-क्षति और अतात्त्विक मानने पर अस्वप्रकाशत्व को तात्त्विक मानना होगा, उसके द्वारा स्वप्रकाशत्व-साधक अनुमान का बाध हो जाता है।

समाधान—स्वप्रकाशत्व को ब्रह्म का स्वरूप कहा जा चुका है। द्वैतिगणों को यह अभीष्ट नहीं, क्योंकि वेद्यत्व-विरोधी स्वरूप को वे नहीं मानते।

: १२ :

अनुभूतेः स्वप्रकाशत्वविचारः

न्यायामृतम्

यच्चानुभूतित्वहेतो साध्यप्रसिद्ध्यर्थं धर्मत्वादित्यनुमानम् , तत्र वेद्यत्वं वृत्तिव्याप्यत्वं वा ? फलव्याप्यत्वं वा ? चिद्विषयत्वं वा ? अस्वप्रकाशत्वं वा ? नाद्यः, अर्थान्तरत्वात् , न हि पूर्वानुमान एतदभावः साध्यः । न द्वितीयः, तस्य मम घटादौ तव शुक्तिरूप्यादौ धर्मादौ च पक्षेतरव्यक्तिविशेषेऽसिद्धत्वेनासाधरणानैकान्त्यात् । न च पूर्वत्रावेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वं साध्यम् , तच्च न व्यक्तिविशेषे सिद्धमिति वाच्यम् । तस्य सामान्यतोऽप्यप्रसिद्ध्याऽप्रसिद्धविशेषणत्वात् । न च पूर्वत्र किंचित्प्रत्यपि फलाव्याप्यत्वं साध्यं धर्मादिश्च योगिनं प्रति फलव्याप्यः । अविद्यावृत्तिप्रतिफलितचिदपि साध्यत्वात्फलमिति शुक्तिरूप्याद्यपि फलव्याप्यमेव अवेद्यत्वमात्रं च स्वप्रकाशत्वमिति वाच्यम् , उक्तन्यायेन फलव्याप्ये ब्रह्मणि तदभावस्य बाधात् । न तृतीयः, उक्तरीत्या प्रतिफलितचिद्विषयत्वस्य ब्रह्मण्यपि भावात् । शुद्धचिद्विषयत्वस्य च घटादावप्यभावेनासाधारण्यात् । न चतुर्थः, प्रतियोग्यप्रसिद्ध्याश्रयासिद्धेः । सर्वत्रैवं साध्याभावं पक्षीकृत्य सुसाधत्वेनातिप्रसंगाच्च । किं च धर्मत्वस्यानिर्वाच्यत्वभंगे उक्तरीत्या शब्दप्रतिपाद्यत्वादिषु केवलान्वयिधर्मेषु व्यभिचारः ।

अद्वैतसिद्धिः

न च प्रमाणाभावः, अनुभूतित्वहेतोर्व्यतिरेकिण एव प्रमाणत्वात् । ननु—अत्र साध्याप्रसिद्धिः, न च—वेद्यत्वं किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वादित्यनुमानेन सामान्यतः प्रसिद्धिरिति—वाच्यम् , अवेद्यत्वप्रसिद्धावपि विशिष्टसाध्याप्रसिद्धेः तदवस्थत्वात् । न चानुभूतित्वेनापि तावदेव साध्यम् , वेद्यत्वस्य वृत्तिव्याप्यत्वरूपत्वे तदभावस्य चरमवृत्तिव्याप्यानुभूतौ बाधात् , फलव्याप्यत्वरूपत्वे तु तदभावस्य मम घटादौ तव धर्मादौ शुक्तिरूप्यादौ च पक्षभिन्ने प्रसिद्धत्वेनासाधारणानेकान्तिकतापत्तेः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

स्वप्रकाशत्व में प्रमाण का भी अभाव नहीं, क्योंकि अनुभूतिः स्वप्रकाशा, अनुभूतित्वाद्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः —यह व्यतिरेकी अनुमान ही प्रमाण है ।

शङ्का—उक्त अनुमान का साध्य अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूप (स्वप्रकाशत्व) कहीं भी प्रसिद्ध नहीं, अप्रसिद्ध साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं । 'वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वात्'—इस अनुमान के द्वारा अवेद्यत्व की प्रसिद्धि हो जाने पर भी अवेद्यत्व-विशिष्ट अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूप विशिष्ट साध्य अप्रसिद्ध ही रहता है । उक्त 'अनुभूतित्व' हेतु के द्वारा केवल अवेद्यत्व की भी सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि वेद्यत्व का अर्थ यदि वृत्ति-व्याप्यत्व किया जाता है, तब चरम वृत्ति की व्याप्य (विषयीभूत) अनुभूति में वृत्ति-व्याप्यत्वाभावरूप अवेद्यत्व बाधित हो जाता है और वेद्यत्व यदि फल-व्याप्यत्वरूप माना जाता है, तब फल-व्याप्यत्वाभावरूप अवेद्यत्व हमारे (माध्व के) मतानुसार पक्ष से भिन्न घटादि में और आप (अद्वैती) के मतानुसार धर्माधर्मादि नित्यानुमेय एवं शुक्ति-रजतादि प्रातिभासिक पदार्थों में प्रसिद्ध है [माध्व मत में अनावृत अधिष्ठान चैतन्यरूप फल निष्प्रमाण होने और अद्वैत मत में परोक्ष-स्थल पर फला-भिव्यक्ति न होने के कारण फल-व्याप्यत्वाभव प्रसिद्ध है] अप्रसिद्धविशेषणता दोष न होने पर भी असाधारणसंज्ञक अनैकान्तिक दोष होता है

न्यायामृतम्

किं चात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं कुतश्चिन्न व्यावर्तते चेत्तत्रैव व्यभिचारः। व्यावर्तते चेद्यतो व्यावर्तते तत्रैव धर्मिणि व्यभिचारः। अपि च घटादाविव स्वप्रकाशत्वविरोधिनो व्यावहारिकस्य वेद्यत्वस्य सत्त्वेऽपि तदत्यन्ताभावसम्भवेनार्थान्तरम्।

अद्वैतसिद्धिः

अस्वप्रकाशत्वरूपत्वे प्रतियोग्यप्रसिद्ध्याऽप्रसिद्धिरेव। किंचात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं कुतश्चिद्व्यावर्तते चेत्, तत्रैव व्यभिचारः, न चेदत्र व्यभिचार इति—चेन्न, चिद्विषयस्वरूपत्वरूपं स्वप्रकाशत्वमनुभूतित्वेन यदा साध्यते, तदा वेद्यत्वं चिद्विषयत्वमेव चिदन्यमात्रवृत्ति पक्षः, अत्यन्ताभावप्रतियोगिस्वरूपत्वं साध्यम्। यथा च वृत्तिप्रतिफलितचिद्विषयता घटादौ न ब्रह्मणि, तथोपपादितमिति नासाधारण्यबाधौ। नाप्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे व्यभिचारः, अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य मिथ्यात्वेनात्यन्ताभावप्रतियोगिन्येव अत्यन्ताभावप्रतियोगितया यन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तस्य केवलान्वयित्वाभावात्। न च—एवं ब्रह्मणि चिद्विषयत्वेऽपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

[सपक्ष और विपक्ष में अवृत्ति पक्षमात्र-वृत्ति हेतु असाधारण कहा जाता है। अनुभूतित्व हेतु न तो घटादि एवं धर्माधर्मादि सपक्ष में रहता है और न फलव्याप्यभूत घटादि रूप विपक्ष में रहता है, किन्तु अनुभूतिरूप पक्षमात्र में रहता है, अतः असाधारणानैकान्तिक है]। अवेद्यत्व को यदि अस्वप्रकाशत्वरूप माना जाता है, तब उसके प्रतियोगीभूत स्वप्रकाशत्व की अप्रसिद्धि होने के कारण अस्वप्रकाशत्वात्मक अवेद्यरूप साध्य अप्रसिद्ध हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि 'वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वात्'—इस अनुमान में अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व यदि किसी स्थल पर नहीं रहता, तब उसी स्थल पर 'धर्मत्व' हेतु अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व का व्यभिचारी हो जाता है और यदि अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व सर्वत्र रहता है, उसका अभाव कहीं नहीं, तब उसी अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व में 'धर्मत्व' हेतु अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व का व्यभिचारी है।

समाधान—'अनुभूतित्व' हेतु के द्वारा जब चिदविषयत्वरूप स्वप्रकाशत्व सिद्ध किया जाता है, तब अवेद्यत्व-प्रसिद्धिपरक अनुमान में चिद्विषयत्वरूप वेद्यत्व को पक्ष बनाया जाता है, जो कि चैतन्य से भिन्न वस्तुमात्र रहता है एवं इसी अनुमान में अत्यन्ताभाव-प्रतियोगिस्वरूपत्व को साध्य बनाया जाता है, अतः 'वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभवप्रतियोगि'—इस प्रतिज्ञा वाक्य का विवक्षित स्वरूप होता है—'चिदविषयत्वम्, किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिस्वरूपम्।' फल (वृत्ति-प्रतिफलित) चैतन्य की विषयता घटादि में ही होती है, ब्रह्म में नहीं—यह पहले कहा जा चुका है। अतः न तो असाधारण अनेकान्तिक दोष होता है और न बाध। अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व में भी अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व के रहने पर भी उक्त व्यभिचार दोष नहीं होता, क्योंकि अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व भी मिथ्या (स्वाधिकाणनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी) होता है, अतः अत्यन्ताभाव के प्रतियोगीभूत पदार्थ में ही अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व रहने के कारण अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व जिसमें रहता है, वह केवलान्वयी नहीं होता कि उसमें धर्मत्व हेतु व्यभिचरित हो।

शङ्का—चिद्विषयत्व यदि मिथ्या (स्वाधिकरणवृत्त्यत्यन्ताभाव का प्रतियोगी) है, तब ब्रह्म में चिद्विषयत्व के रहने पर भी चिद्विषयत्वात्यन्ताभावरूप अवेद्यत्व उपपन्न हो

न्यायामृतम्

न च घटादौ धर्मिसमसत्ताकमेव वेद्यत्वं तद्विरोधि, तथात्वे आत्मनि वृत्तिव्याप्यत्ववत् फलव्याप्यत्वस्य व्यावहारिकत्वेऽपि स्वप्रकाशत्वोपपत्त्या तन्निरासवैयर्थ्यात् ।

अद्वैतसिद्धिः

तदत्यन्ताभावोपपत्त्याऽर्थान्तरं घटादावप्येवं साध्यसत्त्वेनासाधारण्यं चेति—वाच्यम्, चिद्विषयत्वविरोध्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपस्य साध्यत्वान्नार्थान्तरासाधारण्ये, घटादौ तयोः सहावस्थित्या अविरोधाद्, ब्रह्मणि विरोधात् । न च तर्हि विरोधित्वांशमादाय पुनरप्रसिद्धिः । वेद्यत्वं, विरोध्यत्यन्ताभावप्रतियोगि, अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वाद्, घटवदिति प्रसिद्धिसंभवात् । यदा तु अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूपं स्वप्रकाशत्वं पूर्वानुमाने साध्यम्, तदा फलव्याप्यत्वरूपं वेद्यत्वं पक्षः, अपरोक्षव्यवहारयोग्यकिंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साध्यम् । तथा चापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वसमानाधिकरणावेद्यत्वस्य सामान्यतः प्रसिद्ध्या नाप्रसिद्धविशेषणत्वासाधारण्ये । अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीत्यादिविकल्प-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाता है, अतः अर्थान्तरता होती [वेद्यत्व-विरोधी अवेद्यत्वरूप स्वप्रकाशत्व अद्वैतिगणों को अभीष्ट था, किन्तु वेद्यत्वाविरोधीरूप अर्थान्तर सिद्ध होता है] । घटादि में भी शुद्ध चिद्विषयत्वाभावरूप अवेद्यत्व प्रसिद्ध हैं, किन्तु 'अनुभूतित्व' हेतु वहाँ न रहने के कारण असाधारण अनैकान्तिक है ।

समाधान—चिद्विषयत्व-समानाधिकरण अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व को स्वप्रकाशत्व-साधक अनुमान में साध्य नहीं बनाया जाता, अपि तु चिद्विषयत्व-विरोधी-अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व को साध्य बनाया जाता है, अतः अर्थान्तरता और ऐसा अवेद्यत्व घटादि में प्रसिद्ध न होने के कारण असाधारण अनैकान्तिकता दोष नहीं होता, क्योंकि घटादि में चिद्विषयत्व और चिद्विषयत्वात्यन्ताभावप्रतियोगित्व—इन दोनों के रहने के कारण उनका विरोध ही नहीं होता और ब्रह्म में चिद्विषयत्व नहीं, अतः वहाँ रहनेवाला चिद्विषयत्वात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व विरोधी होता है ।

शङ्का—घटादि प्रपञ्च में रहने वाला चिद्विषयत्वात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व चिद्विषयत्व का विरोधी नहीं, अपि तु अविरोधी ही होता है, अतः चिद्विषयत्व-विरोधी उक्त अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व कहीं प्रसिद्ध न होने के कारण पुनः अप्रसिद्धविशेषणता दोष प्रसक्त होता है ।

समाधान—वेद्यत्व, विरोधी अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है, क्योंकि अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, जैसे घट'—इस अनुमान के द्वारा उक्त विशेषण की सामान्यतः सिद्धि की जा सकती है, अतः अप्रसिद्धविशेषणता दोष नहीं है ।

जब कि अवेद्यत्व-विशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्वरूप स्वप्रकाशत्व को पूर्वोक्त अनुमान में साध्य बनाया जाता है, तब साध्य-प्रसिद्धि-सम्पादक अनुमान में फल-व्याप्यत्वरूप वेद्यत्व को पक्ष बनाया जाता है और अपरोक्ष व्यवहारयोग्यकिञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व को साध्य । इस प्रकार अपरोक्ष व्यवहारयोग्यत्वसमानाधिकरण अवेद्यत्व की सामान्यतः कहीं प्रसिद्धि हो जाने के कारण अप्रसिद्धविशेषणता और असाधारणतादि दोषों की प्रसक्ति नहीं होती । अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगी है ? अथवा नहीं ? इस प्रकार विकल्प के द्वारा प्रदत्त दोष का

न्यायामृतम्

अत एव एवायं घटः एतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यः, पदार्थत्वादित्यादि-महाविद्यया साध्यप्रसिद्धिरिति निरस्तम्, वेद्यत्वानिरुक्तेः। अयं घटः एतद्घटत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वानधिकरणम्, पदार्थत्वादिति प्रकरणसमत्वाच्च। तस्माद-प्रसिद्धविशेषणत्वं दुर्वारम्।

अद्वैतसिद्धिः

निबन्धनदोषः परिहृत एव। एतेन—अयं घटः, एतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणा-न्यः, पदार्थत्वादित्यादिमहाविद्ययापि साध्यप्रसिद्धिः। न च वेद्यत्वानिरुक्तिः, चिदविष-यत्वमात्रस्य स्वप्रकाशरूपत्वे चिद्विषयत्वस्यैव वेद्यत्वरूपता, प्रथमपक्षे तु फलव्याप्यत्व-मेव वेद्यत्वम्। न च तर्ह्यतीन्द्रियान्यत्वेनार्थान्तरं सिद्धसाधनं वा, अपरोक्षव्यवहारवि-षयत्वसमानाधिकरणस्यैव विवक्षितत्वात्। न चायं घटः, एतद्घटान्यत्वे (एतद्घटत्वे) सति वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वानधिकरणम्, पदार्थत्वादिति प्रकरणसमता, श्रुत्यादि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

परिहार किया जा चुका है।

इसी प्रकार यह घट एतद्घटान्यत्व-विशिष्ट वेद्यत्व के अनधिकरण से अन्य है, क्योंकि पदार्थ है'—इस प्रकार महाविद्या-शैली के अनुमान से भी साध्य की प्रसिद्धि की जा सकती है [घटादि दृष्टान्त में पक्षस्वरूप उक्त अनधिकरण का भेद लेकर साध्य की प्रसिद्धि हो जाती है, किन्तु पक्ष में साध्य का पर्यवसान उस प्रकार नहीं हो सकता, क्योंकि पक्ष में उसी पक्ष का भेद नहीं रहता, अतः अगत्या ब्रह्मस्वरूप उक्त अनधिकरण का भेद लेकर ही साध्य का सामञ्जस्य करना होगा। अब देखना यह है कि ब्रह्म एतद्घटान्यत्व-विशिष्ट वेद्यत्व का अधिकरण तभी होगा, जब कि वेद्यत्वरूप विशेष्य का अनधिकरण हो, क्योंकि एतद्घटान्यत्वरूप विशेषण का अभाव ब्रह्म में रह नहीं सकता, अतः विशेष्याभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव का समन्वय करने के लिए उसे अवेद्य मानना अनिवार्य है। महाविद्या-प्रयोगों के लिए हमारी चित्सुखी-व्याख्या देखें]। वेद्यत्व का निर्वचन क्या ? इस प्रश्न का उत्तर दिया जा चुका है कि चिदविषयत्वमात्र को स्वप्रकाशत्व मानने पर चिद्विषयत्व ही वेद्यत्व का स्वरूप होता है और प्रथम पक्षोक्त 'अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व को स्वप्रकाशत्व मानने पर फल-व्याप्यत्व को वेद्यत्व माना जाता है।

शङ्का—अतीन्द्रियभूत धर्माधर्मादि में फल-व्याप्यत्व नहीं माना जाता, अतः ब्रह्मगत फल-व्याप्य-भिन्नत्वरूप स्वप्रकाशत्व का अर्थ अतीन्द्रिय-भिन्नत्व ही पर्यवसित होता है, वह हमें भी अभीष्ट है, अतः अतीन्द्रिय-भिन्नत्व को लेकर अर्थान्तरता और सिद्ध-साधनता दोष क्यों नहीं होता ?

समाधान—केवल अवेद्यत्व को स्वप्रकाशत्व नहीं माना जाता, अपितु 'अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहार-योग्यत्व'—यह स्वप्रकाशत्व का पूर्ण लक्षण है, अपरोक्ष व्यवहार-विषयत्व-समानाधिकरण फलाव्याप्यत्व प्रथमतः सिद्ध नहीं, अतः अर्थान्तरता या सिद्ध-साधनता प्रसक्त नहीं होती।

शङ्का—अवेद्यत्व-प्रसिद्धि-संस्थापक उक्त अनुमान का प्रतिपक्ष प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है—'यह घट एतद्घटान्यत्वसमानाधिरण वेद्यत्व के अनधिकरण से अन्य नहीं होता, क्योंकि पदार्थ है', अतः इस प्रयोग को लेकर उक्त स्थापना अनुमान में

न्यायामृतम्

त्वदभिमतं जातिरूपमनुभूतित्वं शुद्धचैतन्येऽसिद्धं च, अखण्डार्थभंगे उक्तरीत्या जातेर्धर्मिसमसत्ताकभेदवद्व्यक्तिसापेक्षत्वात् । जड़त्वभंगे उक्तरीत्याऽनुभाव्याद्यभावेऽ-

अद्वैतसिद्धिः

रूपानुकूलतर्कसद्भावेन स्थापनाया अधिकबलत्वात् , प्रतिपक्षनिबन्धनसाध्यसन्देहेऽपि संशयरूपसाध्यप्रसिद्धेरनिवारणाच्च । नाप्यसिद्धिः, अनुभूतित्वजातेः कल्पितव्यक्तिभेदमादाय शुद्धेऽपि सत्त्वात् । न च जातेर्धर्मिसमसत्ताकभेदवद्व्यक्तिसापेक्षत्वनियमः, जात्यन्यूनसत्ताकभेदवद्व्यक्तिसापेक्षतयैवातिप्रसङ्गनिरासे धर्मिसमसत्ताकभेदवद्व्यक्तिसापेक्षत्वस्य गौरवकरत्वात् , संमत्वस्यान्यूनानतिरिक्तार्थकत्वात् । न चानुभाव्याभावे अनुभूतित्वायोगः, कदाचिदनुभाव्यसत्त्वेनैव तदुपपत्तेः, अन्यथा आसीदित्यादिवाक्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रकरणसमता (सत्प्रतिपक्षता) होती है ।

समाधान—श्रुत्यादिरूप अनुकूल तर्क से संवलित होने के कारण स्थापना अनुमान अधिक बल-शाली है, अतः सत्प्रतिपक्षता नहीं हो सकती । यदि दोनों प्रयोगों की समानबलता मान भी ली जाय, तब भी संशयात्मक साध्य-प्रसिद्धि को नहीं रोका जा सकता ।

शङ्का—शुद्ध ब्रह्म एक व्यक्ति तथा निर्धर्मक है, अतः उसमें अनुभूतित्वरूप हेतु जाति या धर्म बन कर नहीं रह सकता, अतः उक्त स्वप्रकाशत्व-साधक 'अनुभूतित्व' हेतु स्वरूपासिद्ध है ।

समाधान—चैतन्यरूप अनुभूति वस्तुतः एक व्यक्ति होने पर भी काल्पनिक भेद को लेकर जीव, ईश्वरादिरूप में अनेक मानी जाती है, अतः उपहित चैतन्य में अनुभूतित्व जाति रहती है । उपहित-वृत्ति धर्मों को शुद्ध में भी माना जा सकता है, अतः शुद्ध ब्रह्म में भी अनुभूतित्व असिद्ध नहीं ।

शङ्का—एक व्यक्ति में जाति नहीं रहती, अपितु भिन्न व्यक्तियों में, व्यक्तिगत भेद भी धर्मिसमानसत्ताक होना चाहिए, अन्यथा सभी एकव्यक्त्यात्मक आकाशादि पदार्थों में आरोपित भेद के द्वारा अनेकव्यक्तित्व का सम्पादन किया जा सकता है, एकव्यक्तिवृत्तित्व में जातित्व-प्रतिबन्धकता का ही उच्छेद हो जायगा, अतः ब्रह्मसमानसत्ताक पारमार्थिक भेद अपेक्षित है, काल्पनिक नहीं ।

समाधान—जाति को व्यक्तिगत व्यक्तिसमानसत्ताक धर्म की अपेक्षा नहीं, अपितु जातिसमानसत्ताक या जाति से अन्यूनसत्ताक भेद को लेकर जब किसी प्रकार का अतिप्रसङ्ग नहीं होता, तब धर्मिसमानसत्ताक भेद की आवश्यकता नहीं । ब्रह्मगत अपारमार्थिक अनुभूतित्व जाति के लिए अपारमार्थिक भेद पर्याप्त है, धर्मिसमानसत्ताक भेद की अपेक्षा करने में गौरव है, क्योंकि समानता का अर्थ अन्यूनानतिरिक्तत्व होता है, उसकी अपेक्षा केवल अन्यूनसत्ताकत्व लघु होता है ।

शङ्का—'घटमनुभवति'—इत्यादि प्रयोगों के लिए घटादि का अनुभाव्य (अनुभव क्रिया का कर्म या विषय) होना आवश्यक है, किन्तु ब्रह्मरूप अनुभव का कोई भी विषय या कर्म नहीं माना जाता, अतः ब्रह्म को ज्ञान या अनुभव नहीं कहा जा सकता ।

समाधान—अनुभव को अवश्य ही अनुभाव्य की अपेक्षा होती है, किन्तु अनुभाव्य

न्यायामृतम्

नुभूतित्वासम्भवाच्च। विपक्षाद्व्यावृत्तं चानुभूतित्वम्। तस्यानुभूतिशब्दवाच्येऽनात्मनि सत्त्वात्।

किं च वृत्तिरूपस्य परोक्षानुभवस्य पक्षत्वे बाधः। अपरोक्षस्य च पक्षत्वे तत्रैव व्यभिचारः। तन्निरासार्थं हेतुविशेषणेऽनुभूतिशब्देन चिद्रूपज्ञानोक्तौ चाप्रयोजकत्वम्। अपि च दुःखादिवत् स्मृतिवत् परोक्षानुभववच्चापरोक्षानुभवमप्यपरोक्षतो जानामि, मामहं जानामि, स्वात्मानं जानामीत्याऽऽत्मनो वेद्यत्व ग्राहिणा प्रत्यक्षेण "तदात्मान-

अद्वैतसिद्धिः

जन्यज्ञानस्याननुभूतित्वापत्तेः। न च—अनुभूतित्वं विपक्षाद्व्यावृत्तम्, अनुभूतिशब्द वाच्यानात्मनि सत्त्वादिति—वाच्यम्, अनात्मनि अनुभूतिशब्दवाच्यत्वस्यैवाभावात्, वृत्तौ ज्ञानपदस्येवानुभूतिपदस्य गौणत्वात्। अत एव—परोक्षानुभवस्य पक्षत्वे बाधः, अपरोक्षस्य पक्षत्वे तत्र व्यभिचार इति—निरस्तम्, चित्स्वरूपानुभूतित्वस्य विवक्षितत्वात्। न चाप्रयोजकत्वम्, श्रुत्यनुग्रहसत्त्वात्। न च—अपरोक्षानुभवमप्यपरोक्षतो जानामीत्यात्मनो वेद्यत्वग्राहिणा प्रत्यक्षेण तदात्मानमेवावेदिति श्रुत्या च बाध इति—वाच्यम्; आद्यस्य साक्ष्यनुभवस्य वृत्तिरूपगुणानुभवविषयत्वात्। न च—'जानामी'ति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का सदातन होना आवश्यक नहीं, कादाचित्क अनुभाव्य को लेकर भी अनुभवरूपता बन जाती है, उपहित अवस्था के विषय को लेकर शुद्ध ब्रह्म को भी अनुभव कहा जा सकता है। अन्यथा (वर्तमान विषय की नित्य अपेक्षा होने पर) 'आसीत् पटः'—इत्यादि वक्यों से जनित वर्तमान विषय-शून्य ज्ञान को अनुभव क्योंकर कहा जायगा ?

शङ्का—स्वप्रकाशत्व-साधक अनुभूतित्व हेतु विपक्षभूत (अनातमरूप) घटाकारादि वृत्तियों में भी रहता है, अतः विपक्ष-वृत्ति होने के कारण साधारण अनैकान्तिक है।

समाधान—अनात्म पदार्थ अनुभूति पद का वाच्य नहीं होता, घटाकारादि वृत्तियों में 'ज्ञान' पद के समान 'अनुभूति' पद भी गौण ही माना जाता है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि उक्त अनुमान में परोक्ष अनुभव को पक्ष बनाया जाता है? अथवा अपरोक्ष अनुभव को? वृत्तिरूप परोक्ष अनुभव में तो स्वप्रकाशत्व का बाध होता है और अपरोक्ष अनुभव को पक्ष बनाने पर परोक्ष अनुभव में व्यभिचार होता है, क्योंकि परोक्ष अनुभव में स्वप्रकाशत्व न होने पर भी अनुभूतित्व हेतु रहता है।

न्यायामृतकार का वह कहना भी अत एव निरस्त हो जाता है कि चित्स्वरूप अनुभूति को ही पक्ष बनाया जाता है और परोक्ष वृत्ति में अनुभूतित्व नहीं माना जाता यह कहा जा चुका है। उक्त अनुमान में अप्रयोजकत्व दोष भी नहीं, क्योंकि श्रुतिरूप अनुकूल तर्कों का साहाय्य सुलभ है।

शङ्का—अपरोक्ष अनुभवभूत आतमा में भी 'अपरोक्षतो जानामि'—इस प्रकार के प्रत्यक्ष एवं "तदात्मानं वेद" (बृह० उ० १।४।९) इत्यादि श्रुति के द्वारा वेद्यत्व गृहीत होने के कारण अवेद्यत्व का बाघ हो जाता है।

समाधान—प्रथम (अपरोक्षतो जानामि—इस प्रकार के) साक्षी प्रत्यक्ष की वृत्तिरूप गौण अनुभव में ही वेद्यता मानी जाती है। 'जानामि'—इस प्रकार का अनुभव

न्यायामृतम्

मेवावेदि'त्यादि श्रुत्या च बाधः। न चात्रापरोक्षवृत्तिवेद्यत्वं वा अपरोक्षव्यवहार-विषयत्वं वा भातीति युक्तम्, जानामीति ज्ञप्तिविषयत्वस्यैवानुभवात्। दुःखं जानामीत्यादावपि तथात्वापाताच्च। अनुभूतिः स्फुरणविषयः, अपरोक्षव्यवहारविषयत्वाद्, घटवत्। चैत्रीयानुभूतिः चैत्रापरोक्षव्यवहारयोग्यापरोक्षज्ञप्तिविषयः, चैत्रापरोक्षव्यवहारविषयत्वाद् घटवत्। चैत्रीयानुभूतिः चैत्रापरोक्षव्यवहारयोग्यापरोक्षज्ञप्त्यविषयो नावतिष्ठते, चैत्रं प्रत्यप्रकाशमानत्वरहितत्वात्, चैत्रेच्छावदितिसत्प्रतिपक्षत्वं च।

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञप्तिविषयत्वमेवानुभूयत इति--वाच्यम्, अहमर्थस्य ज्ञप्त्याश्रयत्वायोगेन ज्ञानपदस्य वृत्तौ गौणत्वाद्, 'दुःखं जानामी'त्यादावपि दुःखाद्याकाराविद्यावृत्तेरेव विवक्षितत्वाच्च, द्वितीयस्य चाहमर्थविषयत्वात्तदनात्मत्वस्योक्तत्वात्, श्रुतेश्चोपनिषज्जन्यवृत्तिरूपवित्तिविषयत्वावगाहितया चिद्विषयत्वस्य फलव्याप्यत्वस्याविषयीकरणात्।

नाप्यनुभूतिः, स्फुरणविषयः, अपरोक्षव्यवहारविषयत्वाद् घटवत्, चैत्रीयानुभूतिः, चैत्रापरोक्षव्यवहारयोग्यापरोक्षज्ञप्तिविषयः, चैत्रापरोक्षव्यवहारविषयत्वाद्, घटवत्, चैत्रीयानुभूतिश्चैत्रापरोक्षव्यवहारयोग्यापरोक्षप्त्यविषयो नावतिष्ठते, चैत्रं प्रत्यप्रकाशमानत्वरहितत्वात्, चैत्रेच्छावदिति सत्प्रतिपक्षत्वम्, स्फुरणप्रयुक्तव्यवहारशालित्वरूपस्य विषयत्वस्य मयाप्यङ्गीकारेण सिद्धसाधनात्, तदन्यस्य स्वस्मिन्वृत्तिविरोधेन बाधात्, जड़त्वस्योपाधित्वाच्च, परवेद्यत्वे अनवस्थानात् स्ववेद्यत्वस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मुख्य अनुभूतिविषयक है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'जानामि' का अर्थ होता है 'ज्ञानाश्रयोऽहम्।' जीवात्मा ब्रह्मरूप मुख्य ज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता, अतः 'ज्ञान' पद का वृत्ति में गौण प्रयोग माना जाता है, दुःखं जानामि'—इत्यादि स्थलों पर भी दुःखाद्याकार अविद्या-वृत्ति ही विवक्षित होती है। द्वितीय ('तदात्मानं वेद') श्रौत अनभव 'अहमर्थ' को ही विषय करता है, अहमर्थ में अनात्मत्व का उपपादन बहुत पहले ही किया जा चुका है। श्रुति के द्वारा आत्मा (ब्रह्म) में चिद्विषयत्व या फलव्याप्यत्व गृहीत नहीं होता, अपितु उपनिषद्वाक्य-जन्य वृत्तिरूप गौण ज्ञान की विषयता मात्र का अवगाहन किया जाता है।

शङ्का—उक्त अनुमान में ये प्रतिपक्ष प्रयोग भी किए जा सकते हैं—(१) अनुभूति, स्फुरण (अपरोक्षानुभव) की विषय होती है, क्योंकि अपरोक्ष व्यवहार की विषय है, जसे घट। (२, ३) चैत्रीय अनुभूति चैत्रीय अपरोक्ष व्यवहार-जननयोग्य अपरोक्ष चैतन्य को विषय होती है या अविषय नहीं हो सकती, क्योंकि चैत्र के प्रति अप्रकाशमान नहीं, जैसे चैत्र की इच्छा।

समाधान—उक्त अनुमानों में साध्य पद का अर्थ क्या (१) स्फुरण-प्रयुक्त व्यवहारशालित्व विवक्षि है? या (२) अनुभूति-विषयत्व ? स्फुरणाधीन व्यवहारशालित्वरूप विषयत्व हम (अद्वैती) भी मानते हैं, अतः सिद्धसाधनता है। अनुभूति में स्वविषयत्व मानने पर स्ववृत्ति-विरोध होता है। उक्त अनुमान में 'जड़त्व' उपाधि भी है [घटादि जड़ पदार्थों में स्फुरण-विषयत्व और जड़त्व का सामानधिकरण्य गृहीत होता है, अतः जड़त्व में साध्य-व्यापकत्व निश्चित होता है एवं अनुभूतिरूप पक्ष में हेतु के रहने पर भी जड़त्व नहीं रहता, अतः साधन का अव्यापक है]। अनुभूतिरूप आत्मा

न्यायामृतम्

अप्रयोजकत्वं च। नन्वनुभूतिरूपस्यात्मनः परवेद्यत्वेऽनवस्था स्यात् पराभावदशायामात्मनि संशयादिश्च स्यात्। न चात्मनि अहमनहं वेति कश्चित्संदिग्धे, नापि नाहमवेति विपर्यस्यति। स्ववेद्यत्वं तु विरुद्धं तस्मान्नाप्रयोजकतेति चेन्न, त्वन्मते सन्देहाद्यविषयस्याहमर्थस्यानात्मत्वात्। तदन्यस्मिंश्च शब्दैकगम्यात्मनि सन्देहादेः सत्त्वात्। किं च स्ववेद्यत्वं किमिति विरुद्धम्? किं साक्षात्कारस्य विषयजन्यत्वात्? स्वस्य च स्वजन्यत्वासम्भवात्? किं वा साक्षात्कारे स्वजनकेन्द्रियसन्निकृष्टस्यैव विषयत्वात्? स्वजनकसन्निकर्षकाले च स्वस्याभावात्? यद्वा विषयविषयिभावसम्बन्धस्योभयनिष्ठत्वात्? अथवा ज्ञानस्यैव ज्ञेयत्वे विरुद्धस्य क्रियाया एव कर्मत्वस्यापातात्? आहोस्वित् विषयिण एव विषयत्वे कर्तुरेव कर्मत्वापातात्? तस्य चान्यत्वगर्मितस्यैकस्मिन्नसम्भवात्? नाद्यद्वितीयौ, स्वप्रकाशस्यात्मस्वरूपज्ञानस्येश्वरज्ञानवन्नित्यत्वेनाविरोधात्। अन्यथा स्वव्यवहारहेतुसाक्षात्कारस्यापि स्वजन्यत्वादिनियमात्त्वापि तुल्यो दोषः। न तृतीयः अतीतारोपितात्यन्तासतां ज्ञानदर्शनेन तस्योभयनिष्ठत्वाभावात्। न चतुर्थः, कृतिविशेषस्य कार्यत्ववद्, इच्छाविशेषस्य चेष्टत्ववद्, व्यवहृतेश्च व्यवहार्यत्ववद्, अभिधेति शब्दगताया अभिधायाः स्वाभिधेयत्ववद्,

अद्वैतसिद्धिः

विरुद्धत्वात्।

ननु—स्वस्मिन् स्ववेद्यत्वं कथं विरुद्धम्? न तावत्स्वजनकेन्द्रियासन्निकृष्टत्वात्, स्वाजनकत्वाद्वा; नित्यचिद्विषयत्वस्य तद्द्वयं विनैव घटादौ सत्त्वात्। नापि विषयविषयिभावसंबन्धस्य द्विष्ठत्वात्, अतीतारोपितात्यन्तासतां ज्ञानदर्शनेन तस्य उभयानिष्ठत्वात्। नापि क्रियात्वकर्मत्वयोर्विरोधात्, कृत्यादिविशेषस्य कार्यत्वादि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

को पर-वेद्य मानने पर अनवस्था और स्ववेद्य मानने पर विरोध होता है।

शङ्का—स्व में स्व-वेद्यत्व विरुद्ध क्यों है? (१) क्या विषय और विषयी का जन्य-जनकभाव होता है, किन्तु स्व को अपना ही विषयी मानने पर स्व में स्व-जन्यत्व प्रसक्त होता है? या (२) साक्षात्कार का विषय वही होता है, जो कि साक्षात्कार-जनक इन्द्रिय से सन्निकृष्ट हो, किन्तु स्व (साक्षात्कार) के जनकीभूत सन्निकर्ष के समय स्व (साक्षात्कार) का अभाव होने के कारण स्व में स्व-वेद्यत्व विरुद्ध है? या (३) विषय-विषयीभाव सम्बन्ध द्विष्ठ (दो पदार्थों में ही रहनेवाला) होता है, केवल एक स्व पदार्थ में नहीं रह सकता? या (४) ज्ञान को ही ज्ञेय मानने पर क्रिया को ही कर्म मानना होगा, जो कि विरुद्ध है? अथवा (५) विषयी को ही विषय मानने पर कर्त्ता को ही कर्म मानना होगा, किन्तु कर्तृत्व और कर्मत्व एक में नहीं रहा करते? प्रथम और द्वितीय विकल्पों का औचित्य इस लिए नहीं कि आत्मस्वरूप स्वप्रकाशात्मक ज्ञान नित्य होता है, अतः उसे अपने किसी जनकीभूत सन्निकर्षादि की अपेक्षा ही नहीं। तृतीय कल्प (विषयविषयिभाव का द्विष्ठत्व) भी संगत नहीं, क्योंकि अतीत, आरोपित और अत्यन्त असद् विषयों का भी ज्ञान प्रसिद्ध है। वहाँ विषय का भाव ही नहीं, फिर उसमें किसी सम्बन्ध का सद्भाव क्योंकर रह सकेगा? चतुर्थ (क्रियात्व और कर्मत्व का) विरोध भी नहीं, क्योंकि जैसे कृति, इच्छा और व्यवहार में क्रियात्व और कर्मत्व—उभय का समावेश होता है, वैसे ही प्रकृत में भी क्यों न होगा? पञ्चम (कर्तृत्व

न्यायामृतम्

वृत्तिरूपस्य यद्दृश्यन्तन्मिथ्येतिव्याप्तिज्ञानस्य मिथ्यात्वानुमितेश्च स्वविषयत्ववच्चोपपत्तेः। न पञ्चमः, अज्ञस्यैव ब्रह्मणो ज्ञेयत्वस्य विषयिण्या एव मिथ्यात्वानुमितेः स्वपिषयकत्वस्य अभिधायकस्यैव शब्दशब्दस्य स्वाभिधेयत्वस्य च दर्शनेन मामहं जानामीत्यनुभवेन "तदात्मानमेवावेदि"ति श्रुत्या च कर्तुरेव कर्मत्वसिद्धौ परसमवेतक्रियाफलशालित्वरूपान्यत्वर्भितस्वकपोलकल्पितलक्षणत्यागेन क्रियाविषयत्वादिरूपस्यान्यस्यैव लक्षणस्य कल्प्यत्वात्। ननु कृत्यादिः कृत्याद्यान्तरं प्रत्येव विषयः, न तु स्वं प्रतोति चेन्न, गत्यादौ गत्याद्यन्तरविषयत्वस्याप्यदर्शनात्। यदि च वस्तूनां विचित्रस्वभावत्वाद् गत्यादावदृष्टमपि कृत्यादौ स्वसजातोयविषयत्वं, तर्हि तत एवानुभूतेः स्वविषयत्वमप्यस्तु। अन्यथा स्वस्य स्वस्मिन् व्यवहारजनकत्वमपि न स्यादित्युक्तम्। व्याप्तिज्ञानमिथ्यात्वानुमित्यादेश्च स्वाविषत्वे सर्वोपसंहारवती व्याप्तिरनुमि-

अद्वैतसिद्धिः

दर्शनात्। नापि विषयिणो विषयत्वे कर्तुः कर्मतापातात्, मिथ्यात्वानुमित्यादेर्विषयिण्या एव विषयत्वदर्शनात्। मामहं जानामीत्यनुभवदर्शनेन च 'तदात्मानमेवावे'दिति श्रुत्या च कर्तुः कर्मत्वाविरोधात्। एवं च परसमवेतक्रियाफलशालित्वं न कर्मत्वम्, किंतु क्रियाविषयत्वादिकम्, तच्चाभेदेऽप्युपपाद्यमिति—चेत्, मैवम्, विषयविषयिभावस्य संबन्धत्वेन भेदनियततया स्वस्मिन् स्ववेद्यत्वस्य विरुद्धत्वात्। न ह्युक्तातीतादिस्थले भेदो नास्ति। अत एव कृतिः कृत्यन्तरं प्रति, इच्छा इच्छान्तरं प्रति, व्यवहृतिः व्यवहृत्यन्तरं प्रति, अभिधा अभिधान्तरं प्रत्येव विषयः, न तु स्वात्मानं प्रतोति न स्वविषयत्वे किंचिदुदाहरणमस्ति। ननु—गत्यादौ गत्यन्तराविषयत्वेऽपि वस्तूनां विचित्रस्वभावत्वात् कृत्यादौ कृत्यन्तरादिविषयत्ववद् अनुभूतेरपि स्वविषयत्वमस्तु, अन्यथा स्वस्मिन् व्यवहारजनकत्वमपि न स्यात्, व्याप्तिज्ञानानुमित्यादेः स्वाविषयत्वे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

और कर्मत्व का) विरोध भी नहीं, क्योंकि विषयीभूत मिथ्यात्वानुमिति भी स्वविषयक होती है, 'मामहं जानामि'—इत्यादि अनुभवों और "तदात्मानमेवावेद" (बृह० उ० १।४।९) इत्यादि श्रुतियों के आधार पर कर्तृत्व और कर्मत्व का एकत्र समावेश देखा जाता है। इसी प्रकार पर-समवेत क्रिया-जन्य फलशालित्व को कर्मत्व नहीं कहते, अपि तु क्रिया-विषयत्वादि को कर्मत्व माना जाता है, जो कि अभेद में भी घट सकता है।

समाधान—विषय-विषयिभाव सम्बन्ध भेद-नियत होने के कारण स्व में स्व-वेद्यत्व विरुद्ध पड़ जाता है, क्योंकि उक्त अतीत, आरोपितादि विषयों का विषयी से भेद नहीं—यह बात नहीं, किन्तु भेद वहाँ भी निश्चित होता है। अत एव एक कृति, एक इच्छा, एक व्यवहार और एक अभिधा में अन्य कृति, अन्य इच्छा, अन्य व्यवहार और अन्य अभिधा की ही विषयता मानी जाती है, न कि एक ही वस्तु में विषयता और विषयिता, अतः स्व-वेद्यत्व में कोई उदाहरण सुलभ नहीं।

शङ्का—सभी पदार्थों का स्वभाव समान नहीं होता, अपि तु विषम होता है, जैसे गति (गमन क्रिया) गत्यन्तर का विषय नहीं होती, किन्तु एक कृति में कृत्यन्तर की विषयता होती है, वैसे ही अनुभूति में भी स्वविषयकत्व माना जा सकता है। अन्यथा स्व में स्वविषयक व्यवहार-जनकत्व भी सिद्ध न होगा। व्याप्ति-ज्ञान और अनुमित्यादि को स्वविषयक न मानने पर सर्वोपसंहारवाली व्याप्ति और मिथ्यात्वानुमितिगत

न्यायामृतम्

तिमिथ्यात्वं च न सिध्येत् । न हि चिर्ताश्चदविषयत्वेऽपि वृत्तिव्याप्यत्वमात्रेण सिद्धया-दिवद् व्याप्तिविषयवृत्तेः स्वाविषत्वेऽपि सर्वोपसंहारयुक्तव्याप्तिसिद्धावन्य उपायोऽस्ति। न च व्याप्तिज्ञानादेः स्वस्मिन् स्वव्यवहारहेतुत्वमेव, न तु स्वविषयत्वमिति वाच्यम्, घटादिज्ञानस्यापि तस्मिंस्तद्धेतुत्वमेव, न तु तद्विषयत्वमित्यापातात् । व्याप्तिज्ञानादेरपि व्याप्यताद्यवच्छेदकावच्छिन्नत्वाच्च । घटो ज्ञात इतिवत् सर्वोपसंहारवतो व्याप्तिर्ज्ञातेत्यनुभवाच्च । एवं च—

मामहमिति जानामि तदात्मानमवेदिति ।
प्रत्यक्षेण तथा श्रुत्या ज्ञप्तौ कर्तुश्च कर्मता ॥
गमनादौ त्वदृष्टत्वान्न कर्तुः कर्मतेष्यते ।
अन्यथा शब्दशब्दादेः स्ववाच्यत्वादिकं कथम् ॥

अद्वैतसिद्धिः

सर्वोपसंहारवती व्याप्तिरनुमितिमिथ्यात्वं च न स्यादिति—चेन्न, व्यवहारोपपादनार्थं स्वविषयत्वस्वभावकल्पनापेक्षया स्वाविषयत्वेऽपि स्वव्यवहारजनकत्वस्वभावत्वमेव कल्प्यताम्, लाघवात्, तावतैव तदुपपत्तेः, व्याप्त्यनुमित्यादेस्तु अवच्छेदकैक्यलाभात्तथात्वमित्युक्तत्वाच्च । एवं च क्रियाकर्मत्वविरोधादपि न स्वस्मिन् स्ववेद्यत्वम् । मिथ्यात्वानुमितेश्च न स्वकर्मता, परोक्षस्याकर्मत्वात् । यदुक्तं कर्तुरेव कर्मत्वं, तदयुक्तम्, उदाहृतमिथ्यात्वानुमित्यादेरकर्मत्वात्, मामहं जानामीत्यादौ साक्षिणः कर्तृत्वादहमर्थस्य कर्मत्वात् तदात्मानमित्यादौ चाहमर्थस्य कर्तृत्वाच्चित् कर्म अभेदे तद्द्वयादर्शनात् । अत एव न भेदघटितकर्मलक्षणपरित्यागः, क्रियाविषयत्वं तु न कर्मत्वम्; आसनादिक्रियाया अपि आधारादिविषयत्वेन सकर्मकत्वापत्तेः ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मिथ्यात्व सिद्ध न होगा ।

समाधान—व्यवहार का निर्वाह करने के लिए स्वविषयकत्व-स्वभाव-कलपना की अपेक्षा स्वविषयकत्व के बिना ही स्वव्यवहार-जनकत्व-स्वभाव की कलपना ही लघु है । उतने मात्र से ही व्यवहार का निर्वाह हो जाता है, व्याप्ति-ज्ञान और अनुमित्यादि में जो स्वविषयकत्व माना जाता है, वह 'ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्व-विशिष्ट तुच्छब्रह्म-भिन्नत्वरूप एक अवच्छेदकत्व की सुलभता के कारण—यह कहा जा चुका है । इसी प्रकार अनुभूति में स्वविषयकत्व मानने पर क्रियात्व और कर्मत्व—दो विरोधी धर्मों की प्राप्ति होती है, अतः स्व में स्व-वेद्यत्व नहीं माना जा सकता । मिथ्यात्वानुमिति में स्व-कर्मत्व नहीं माना जाता, क्योंकि परोक्ष वस्तु कभी भी कर्म नहीं हो सकती । यह जो कर्त्ता में कर्मत्व सिद्ध करने के लिए मिथ्यात्वानुमित्यादि के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं, वहाँ मिथ्यात्वानुमित्यादि में स्व-कर्मत्व नहीं हो सकता । 'मामहं जानामि'—इत्यादि स्थलों पर साक्षी कर्त्ता होता है और अहमर्थ (जीव) कर्म माना जाता है । 'तदात्मानं वेद'—इस श्रुति में अहमर्थं कर्त्ता और चैतन्य तत्त्व कर्म होता है, अभेद-स्थल पर कर्तृत्व और कर्मत्व का कहीं भी समावेश नहीं देखा जाता । अत एव भेद-गर्भित कर्मत्व-लक्षण का परित्याग करना उचित नहीं, क्रिया-विषयत्वादि को कर्मत्व का लक्षण नहीं कहा जा सकता, अन्यथा आसनादि (उपवेशनादि) अकर्मक क्रिया भी आधार-विषयिणी होने के कारण सकर्मक हो जायगी ।

न्यायामृतम्

प्रतिकूलतर्कपराहतिश्च अवेद्यत्वेऽवेद्यत्वसाधकप्रमाणवेद्यत्वावेद्यत्वाभ्यां व्याघातात्। वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यायोगाच्च। ब्रह्मविचारविधिवैयर्थ्याच्च। ब्रह्माज्ञाननिवृत्त्ययोगाच्च। एतेन तदज्ञाननिवर्तकत्वात्तत्र तत्प्रामाण्यमिति निरस्तम्, आत्मनोऽप्यसिद्धिप्रसंगाच्च। स्वतः सिद्ध इति चेत्, स्वत इति कोऽर्थः? किं स्वेनैवेति? किं वा प्रमाणं विनैवेति? नाद्यः, स्वविषयत्वापातात्। न च सिद्ध इत्यस्य ज्ञात इति नार्थः, किं तु व्यवहारयोग्य इतीति वाच्यम्, ज्ञातत्वातिरेकेण व्यवहारयोग्यत्वाभावात्। मुक्तौ योग्यताया अप्यभावेनात्मनस्तदा स्वतःसिद्ध्यभावापाताच्च। नान्त्यः, सिद्ध्युपायस्यानुपन्यासात्। अन्यथा नृशृंगादेरपि सिद्ध्यापातात्।

अद्वैतसिद्धिः

अथ—अवेद्यत्वेऽवेद्यत्वसाधकप्रमाणवेद्यत्वावेद्यत्वाभ्यां व्याघातः, वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यायोगः, ब्रह्मविचारविधिवैयर्थ्यं, ब्रह्माज्ञाननिवृत्त्ययोगः इत्यादिप्रतिकूलतर्कपराहतिरिति—चेन्न, चिदविषयत्वं फलाव्याप्यत्वं वा अवेद्यत्वम्, तस्य तत्साधकप्रमाणजन्यवृत्तिवेद्यत्वेन व्याहत्यभावाद्, वृत्तिविषयत्वमात्रेणैव वेदान्तप्रामाण्यविचारविध्यज्ञाननिवृत्तीनां संभवाच्च। एतेन—अज्ञाननिवर्तकत्वमात्रेण वेदान्तप्रामाण्ये आत्मनोऽसिद्धिप्रसङ्ग इति—निरस्तम्, आत्मनः स्वतः सिद्धत्वात्। ननु—स्वत इत्यस्य स्वेनैवेत्यर्थे स्वविषयकत्वापत्तिः, प्रमाणं विनेत्यर्थ उपायान्तरस्यानुपन्यासेनासिद्ध्यापत्तिः, अन्यथा नृशृङ्गादेरपि सिद्ध्यापात इति—चेन्न, मानानपेक्षसिद्धेरेव स्वतःसिद्धिशब्दार्थत्वात्। न च नृशृङ्गादावेवं प्रसङ्गः, तदसत्त्वव्यावृत्ति-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—अवेद्यभूत ब्रह्म में अवेद्यत्व-साधक प्रमाण की विषयता मानने पर वेद्यत्वापत्ति और न मानने पर अवेद्यत्वासिद्धिरूप व्याघात होता है। ब्रह्म में वेद्यत्व के बिना वेदान्त वाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता, ब्रह्म-विचार-विधि व्यर्थ हो जाती है और ब्रह्माज्ञान की अनिवृत्त्यापत्ति होती है—इत्यादि प्रतिकूल तर्कों से अवेद्यत्व पराहत हो जाता है।

समाधान—चिदविषयत्व या फलाव्याप्यत्व को अवेद्यत्व माना जाता है, वह अवेद्यत्व-साधक प्रमाण से जनित वृत्ति का वेद्य माना जाता है, अतः किसी प्रकार का विरोध नहीं होता। ब्रह्म में वेदान्त-जन्य वृत्ति की विषयता मात्र के आधार पर वेदान्त-प्रामाण्य, विचार-विधि और अज्ञान की निवृत्ति सम्पन्न हो जाती है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि अज्ञान का निवर्तकमात्र होने के कारण वेदान्त का प्रामाण्य मानने पर आत्मा की सिद्धि न हो सकेगी।

वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि आत्मा स्वतः सिद्ध है, उसकी सिद्धि किसी भी प्रमाण पर निर्भर नहीं।

शङ्का—आत्मा स्वतः सिद्ध है—इसका क्या अर्थ? क्या स्वात्मक प्रमाण के द्वारा सिद्ध है? अथवा प्रमाणों के विना ही सिद्ध है? प्रथम कल्प के अनुसार आत्मा में स्वविषयकत्वापत्ति और द्वितीय कल्प में आत्मा की असिद्ध्यापत्ति होती है, क्योंकि प्रमाण तो प्रमेय की सिद्धि का उपाय होता है, उपाय के बिना उपेय की सिद्धि नहीं हो सकती, अन्यथा नृशङ्गादि अत्यन्त असत् पदार्थों की भी सिद्धि हो जायगी।

समाधान—प्रमाणानपेक्ष सिद्धि को ही स्वतःसिद्धि कहा जाता है। आत्मा की

न्यायामृतम्

ननु वृत्तिव्याप्यत्वात्सर्वं युक्तम्। अवेद्यत्वं तु फलाव्याप्यत्वमिति चेन्न, एतादृशावेद्यत्वस्य घटादावपि सत्त्वात्। किं चात्मस्वरूपभूतवित्तेः स्ववेद्यत्वाभावे वित्तित्वं स्वव्यवहारहेतुत्वं स्वस्मिन् संशयादिविरोधित्वं च न स्यात्। भुक्तेः सभोज्यत्ववत् वित्तेः सवेद्यत्वनियमान्मुक्तौ च वेद्यान्तराभावात्। उक्तं चैतज्जडत्वहेतुभंगे। वित्तेस्तद्व्यवहारादिहेतुत्वे तत्संशयादिविरोधित्वे च तद्विषयत्वस्य तंत्रत्वात्। न च स्वकर्मकत्वाभावेऽपि स्वनिर्वाहकत्वात् स्वस्मिन् स्वव्यवहारादिकं कुर्यादिति वाच्यम्, स्वनिर्वाहकशब्देनैव निर्वाह्यत्वनिर्वाहकत्वरूपयोर्निर्वहणक्रियाकर्मत्वकर्तृत्वयोरुक्तेः।

अद्वैतसिद्धिः

फलकप्रमाणाभावात्, प्रकृते च वृत्तिविषयतामात्रेण तत्सत्त्वात्, सिद्धिरूपात्मनि सिद्ध इति व्यवहारस्य सिद्धिप्रयुक्तव्यवहारविषयतया गौणत्वात्। न चैवं मुक्तौ वेद्याभावे वित्तित्वानुपपत्तिः, अनुभूतिन्यायस्यात्रापि सुलभत्वात्। न च स्वाविषयत्वे स्वविषयकसंशयनिवर्तकत्वायोगः, स्वमहिम्नैव स्वधर्मिणि व्यवहारवत् संशयादिविरोधित्वोपपत्तेः। न चाननुगमः, तव विषयतायामिवाननुगतस्यैव नियामकत्वात्स्वकर्मत्वाभावेऽपि स्वनिर्वाहकतया स्वस्मिन् व्यवहाराद्युपपत्तेश्च। न च स्वनिर्वाहकपदेन निर्वहणक्रियाकर्तृत्वकर्मत्वोक्त्या विरोधः, स्वातिरिक्तनिर्वाहकानपेक्षत्वमात्रेण

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं, केवल उसके असत्व को व्यावृत्ति के लिए प्रमाणों की अपेक्षा होती है। नृशृङ्गादि की असत्ता का कोई व्यावर्तक प्रमाण न होने के कारण उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती, किन्तु प्रकृत में केवल उपनिषत्-जन्य वृत्ति की विषयता ही ब्रह्मगत असत्ता की व्यावर्तिका मानी जाती है, ब्रह्म में फलव्याप्यत्व मानने की आवश्यकता नहीं। यद्यपि आत्मा स्वयं सिद्धिरूप है, तथापि 'उपनिषत्सु सिद्धः'—ऐसा व्यवहार सिद्धिप्रयुक्त व्यवहार की विषयता को लेकर गौण मात्र होता है। मोक्ष अवस्था में वेद्य के न होने पर वित्ति (चैतन्यरूप ज्ञान) क्योंकर सम्भव होगा ? इस प्रश्न का उत्तर दिया जा चुका है कि अनुभाव्य या वेद्य के बिना भी अनुभव (वित्ति) सुलभ होता है।

शङ्का—घटविषयक अनुभूति ही घटविषयक संशय की निवर्तक होती है, आत्मरूप अनुभूति यदि आत्मविषयक नहीं, तब अहं वाऽनहं वा ? इस प्रकार के आत्मविषयक संशय की निवर्तिका नहीं हो सकती।

समाधान—आत्मरूप अनुभूति स्वविषयिणी न होने पर भी जैसे अपने अस्तित्वादि व्यवहार की निर्वर्तिका होती है, वैसे ही स्वविषयक संशय की भी निवर्तिका मानी जाती है। संशय का निवर्तक कहीं सविषयक ज्ञान और कहीं निर्विषयक ज्ञान—इस प्रकार का अननुगम हमें वैसे ही अभीष्ट है, जैसे आप अननुगत विषयता को व्यवहार-निर्वाहक मानते हैं। प्रभाकर-मतानुसार ज्ञानरूप व्यवहार की कर्मता ज्ञान में न होने पर भी स्वप्रकाशत्व-व्यवहार की निर्वाहकता मानी जाती है, वैसे ही आत्मरूप अनुभूति में स्वविषयत्व के विना ही व्यवहार की साधकता मानी जाती है।

शङ्का—'ब्रह्म स्वकर्मकव्यवहारनिर्वाहकम्'—यहाँ पर एक ही ब्रह्म में निर्वहण क्रिया की कर्मता और कर्तृता प्राप्त होती है, जो कि विरुद्ध है, क्योंकि एक क्रिया की कर्तृता और कर्मता एकत्र नहीं रहा करती।

न्यायामृतम्

स्वनिर्वाहकमध्ययनविधिदीपप्रभादिकमपि अन्यस्मिन्निव स्वस्मिन्स्वकार्यकारि चेत्, स्वविषयमेव।

एतेन यथा "गाङ्कुटादिभ्य" इत्यत्र बहुव्रीहिः स्वाविषयेऽपि कुटे स्वकार्यं करोति तथेहापीतिखण्डनोक्तं निरस्तम्, बहुव्रीहेरन्यपदार्थे शक्तिरिति वैयाकरणादिमते लक्षणेति तार्किकादिमते वा चैत्रशालास्था आनीयंतामित्यत्रोपलक्षणस्यापि चैत्रस्य शालास्थस्य तच्छब्दविषयत्ववत् कुटस्यापि पुटादिवद् अन्यपदार्थभूतसमुदायान्तर्गतस्य शक्त्या लक्षणया वा बहुव्रोहिविषयत्वेन तदविषयत्वासम्मतेः। उक्तम् हि कैयटे—"उद्भूतावयवभेदः समुदायः समासार्थ" इति। न च ज्ञानस्य स्वस्मादन्यत्र व्यवहारा-

अद्वैतसिद्धिः

स्वनिर्वाहकत्वोपचारात्। 'स्वयं दासास्तपस्विन' इत्यादौ स्वातिरिक्तदासाभावमात्रेण स्वदासत्वव्यपदेशवत्। न च—स्वनिर्वाहकाध्ययनविधिदीपप्रभादौ स्वस्मिन् कार्यकरत्वं स्वविषयत्वेन व्याप्तमित्यत्रापि तथेति—वाच्यम्, अध्ययनविधावेकावच्छेदकमात्रेणात्माश्रयानवकाशात्, दीपप्रभादौ स्वविषयत्वासिद्धेः। तदुक्तं खण्डने—'गाङ्कुटादिभ्य' इत्यत्र बहुव्रोहिः स्वाविषये कुटेऽपि स्वकार्यं करोति। तथेहापी'ति। न च—'उद्भूतावयवभेदः समुदायः समासार्थ' इति कैयटोक्तरीत्या कुटघटितसमुदाय एव

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—ब्रह्म में स्वातिरिक्त निर्वाहक की अनपेक्षता मात्र के कारण निर्वहण-कर्तृत्व का गौण व्यवहार वैसे ही हो जाता है, जैसे कि 'स्वयंदासास्तपस्विनः'—इत्यादि स्थल पर स्वातिरिक्त दासाभाव मात्र को लेकर स्वदासत्व का गौण व्यवहार होता है।

शङ्का—जो पदार्थ स्व-निर्वाहक होते हैं, वे स्वविषयक होते हुए ही स्वगत कार्य के जनक होते हैं, जैसे "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (श० ब्रा० ११।५।६) यह स्वाध्याय-विधि स्वयं स्वविषयक अध्ययन की विधायक है अथवा जैसे दीप-प्रभा स्वविषयिणी होकर ही स्वगत आवरण-निवर्तक मानी जाती है। वैसे ही प्रकृत में भी ब्रह्म स्वगत स्वकीय विषयता के बिना व्यवहार का जनक क्योंकर होगा?

समाधान—अध्ययन विधि स्वशाखात्वरूप एक अवच्छेदक धर्म को लेकर स्वगत अध्ययन का विधायक है और दीप-प्रभादि में स्वविषयकत्व प्रसिद्ध नहीं, अतः जैसे दीप-प्रभा स्वविषयकत्व के बिना भी स्वगत कार्यकारी है, वैसे ही ब्रह्म भी स्वविषयकत्व के बिना ही स्वव्यवहार का निर्वाहक सिद्ध होता है। जैसा कि खण्डनकार ने कहा है—"गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्" (पा० सू० १।२।१) यहाँ पर (कुट आदिर्येषां ते कुटादयः—इस प्रकार का) बहुव्रीहि समास 'कुट' धातु को छोड़कर उत्तरवर्ती धातुओं का ग्रहण करता है, कुट का नहीं, फिर भी अपने अविषयीभूत 'कुट कौटिल्ये' धातु के उत्तर विहित ञित् णित् प्रत्ययों से भिन्न प्रत्ययों की ङित् संज्ञा करता है, फलतः 'कुटिता' आदि गुण-रहित रूप निष्पन्न होते हैं। वैसे ही ब्रह्म भी स्वाविषयीभूत स्व में व्यवहार का निर्वाहक माना जाता है।

शङ्का—'कुटादिभ्यः'—यहाँ पर कुट धातु भी बहुव्रीहि समास का अविषय (अघटक) नहीं, अपितु विषय ही है, क्योंकि कैय्यट ने कहा है कि "उद्भूतावयवभेदः समुदायः समासार्थः:' अर्थात् कथित अवयवों से घटित समुदाय को समास कहते हैं, अतः गृहीत कुट पद से घटित समुदाय ही बहुव्रीहि समास है। समास में वैयाकरण

न्यायामृतम्

दिजनने तद्विषयत्वं तन्त्रम्, स्वस्मिंस्तु स्वाभेद एवेति युक्तम्, पक्षादन्यत्रैवायं नियम इति सर्वत्र सुवचत्वात्। दुःखादिविषयकस्य द्वेषस्य स्वाभेदे सत्यपि स्वविषयकत्वव्यतिरेकेण दुःखादाविव स्वस्मिन्निवृत्तिहेतुताया इच्छाविरोधित्वस्य चादर्शनाच्च। ब्रह्माज्ञानस्य च स्वाभेदे सत्यपि स्वविषयकत्वव्यतिरेकेण ब्रह्मणीव स्वस्मिन्प्रकाशप्रतिबन्धकत्वादेरदर्शनाच्च। स्मरणरूपस्य परोक्षानुभवरूपस्य च वृत्तिज्ञानस्य स्वाभेदे सत्यपि

अद्वैतसिद्धिः

बहुव्रीहिविषयः स च वैयाकरणानां मीमांसकानां च शक्त्या अन्येषां लक्षणयेत्यन्यदेतत्, यथा 'चैत्रशालीया आनीयन्ता'मित्यत्र उपलक्षणस्यापि चैत्रस्य स्वशालास्थस्य तच्छब्दविषयत्वं, तथा कुटस्यापि पुटादिवदन्यपदार्थभूतसमुदायान्तर्गतस्य बहुव्रीहिविषयत्वोपपत्तेः। तथा च दृष्टान्तासिद्धिरिति—वाच्यम्, स्वाविषय इत्यस्य औत्सर्गिकविषयान्यपदार्थभिन्न इत्यर्थकत्वम्। तथा च स्वपदार्थसंबन्धादन्यत्रेव स्वपदार्थेऽपि यथा तत्र फलम्, तथा स्वसंबन्धादन्यत्रेव स्वस्मिन्नपि चित्फलमित्यत्र दृष्टान्तपर्यवसानात्। स्वविषयव्यतिरेकेण समुदायप्रयोजकरूपेण विषयत्वेऽपि समुदायिताप्रयोजकरूपेणाविषयत्वात् स्वाविषयत्वोक्तेर्वा।

ननु—एतावता स्वस्मादन्यत्र व्यवहारजनने तद्विषयत्वं स्वस्मिन् स्वाभेद एवेति पर्यवसितोऽर्थः, स चायुक्तः, पक्षादन्यत्रैवायं नियम इत्यस्य सर्वत्र सुवचत्वात्, स्वाभेदे सत्यपि स्वविषय इव स्वस्मिन्विषयत्वव्यतिरेकेण द्वेष इच्छाविरोधित्वस्याज्ञाने स्वावारकत्वस्य स्मृत्यादिरूपे परोक्षज्ञाने स्वव्यवहारजनकत्वस्य मैत्रचैतन्ये

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

और मीमांसक शक्ति मानते हैं और तार्किकादि लक्षणा—यह विषयान्तर है। जैसे 'चैत्रशालोयाः छात्रा आनीयन्ताम्'—इत्यादि व्यवहारों में उपलक्षणीभूत स्वशालास्थ चैत्र भी 'चैत्रशालीय' पद से गृहीत होता है, वैसे ही अन्यपदार्थभूत कुट धातु भी पुट संश्लेषणे इदि के समान ही उक्त बहुव्रीहि की विषय मानी जाती है। अतः खण्डनोक्त अविषय में कार्यकारित्व का 'गाङ्कुटादिभ्यः' यह उदाहरण नहीं बनता।

समाधान—खण्डनोक्त 'स्वाविषये' पद का 'औत्सर्गिक विषयान्यपदार्थभिन्ने'—यह अर्थ विवक्षित है। अतः जैसे स्वपदार्थ के सम्बन्ध से अन्यत्र कार्य होता है, और स्वपदार्थ में भी, वैसे ही चैतन्य का कार्य स्व में भी होता है—इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का सम्यक् समन्वय हो जाता है। समुदाय-प्रयोजक (कुटादित्व) धर्म से बहुव्रीहि समास के विषयीभूत कुट को समुदायिता-प्रयोजक (कुटत्व) रूप से अविषय कह दिया गया है।

शङ्का—आप (अद्वैती) के यहाँ तक कथित वक्तव्य का निचोड़ यह निकला कि 'स्व से भिन्न में व्यवहार-जननार्थ स्व-विषयता अपेक्षित है और स्व में स्वाभेद ही व्यवहार-प्रयोजक होता है।' किन्तु यह युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि ''पक्षादन्यत्रैवायं नियमः''—ऐसा तो सर्वत्र ही कहा जा सकता है, फलतः अनुमान मात्र का उच्छेद हो जाता है। स्व में स्व का अभेद रहने पर भी विषय के समान स्व में विषयता न होने के कारण व्यवहार-जनकत्व नहीं देखा जाता, जैसे द्वेष के विषय में विषयता रहने के कारण इच्छा-विरोधित्व होता है, किन्तु स्वयं द्वेष में द्वेष का अभेद होने पर भी इच्छाविरोधित्व नहीं देखा जाता। अज्ञान अपने विषय का ही आवरक होता है, स्वयं अज्ञान

न्यायामृतम्

स्वविषयकत्वव्यतिरेकेण स्वविषय इव स्वस्मिन् व्यवहारादिहेतुताया अदर्शनाच्च वृत्तेरपि चिद्वत् स्वव्यवहारादिहेतुत्वे स्वप्रकाशत्वं स्यात्। मैत्रचैतन्यस्य चैत्रचैतन्येन पारमार्थिकाभेदे सुषुप्तौ भेदकल्पनाराहित्ये च सत्यपि तद्विषयकत्वव्यततिरेकेण तद्व्यवहारादिहेतुत्वव्यतिरेकस्य दर्शनाच्च। स्वात्मानं जानामीति स्वविषयकत्वस्यानुभवाच्च। एवं च—

कुर्यात्स्वकार्यं स्वस्मिश्चेज्ज्ञानं स्वाविषये तदा।
द्वेषाज्ञानादिकं कुर्यात्स्वकार्यमपि चाऽऽत्मनि॥

अद्वैतसिद्धिः

सुषुप्तौ चैत्रचैतन्येन पारमार्थिककाल्पनिकभेदयो राहित्येऽपि तद्व्यवहारजनकत्वस्यादर्शनाच्च, आत्मानं जानामीत्यात्माभिन्नज्ञाने 'स्वविषयत्वानुभवाच्चेति—चेन्न, तर्हि द्वेषादौ स्वाभेदेऽपि स्वविषयत्वादर्शनात् प्रकृतेऽपि तथा स्यात्। अथ—व्यवहाररूपफलदर्शनात् प्रकृत एव स्वाभेदस्यान्यत्राद्दष्टमपि स्वविषयतानियामकत्वं कल्प्यत इति—चेत्, तर्हि स्वव्यवहाररूपफलदर्शनादत्रैव स्वाभेदस्य स्वकार्यजनकतानियामकत्वम्, न द्वेषादौ, तथा फलादर्शनादिति समः समाधिः। न च—अत्र गृहीततद्विषयत्वस्य तूष्णीं त्यागे सर्वत्रैवं प्रसङ्ग इति—वाच्यम्, तद्विषयत्वत्यागबोजस्य बाधकस्य प्रागेवोक्तत्वात्, सर्वत्र तस्याभावात्। यत्तूक्तं मैत्रचैतन्य इत्यादि, तन्न, तदैक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

आवरक नहीं होता। स्मृत्यादि रूप परोक्ष ज्ञान में स्वव्यवहार-जनकत्व नहीं देखा जाता। सुषुप्ति अवस्था में मैत्र-शरीरस्थ और चैत्र-शरीरस्थ चैतन्यों का पारमार्थिक और कल्पिनिक भेद न होने पर भी उनके व्यवहार-जनकत्व का सांकर्य नहीं होता। 'आत्मानं जानामि'—इस प्रकार आत्माभिन्न ज्ञान में भी विषयता अनुभूत होती है, अतः अविषय में कार्य-कारित्व सम्भव नहीं चैतन्य को भी अपने में व्यवहारजननार्थ स्व-विषयत्व की नियमतः अपेक्षा होती है।

समाधान—यदि द्वेषादि में स्वाभेद रहने पर भी स्व-विषयत्व नहीं देखा जाता, तब प्रकृत में भी ब्रह्म का स्व में अभेद रहने पर स्व-विषयत्व क्यों होगा ?

शङ्का—कार्य को देखकर कारण की कल्पना होती है। यद्यपि अन्यत्र अभेद में स्वविषयकत्व की प्रयोजकता नहीं देखी जाती, तथापि प्रकृत में व्यवहाररूप फल देख कर स्वाभेद को ही स्वविषयकत्व का नियामक माना जाता है।

समाधान—केवल प्रकृत में ही व्यवहाररूप फल को देख कर स्वाभेद में स्वविषयकत्व-नियामकता क्यों मानी जाती है, अन्यत्र (द्वेषादि में) क्यों नहीं ? यदि कहा जाय कि वहाँ वैसा फल नहीं देखा जाता, तब प्रकृत में भी फलादर्शन को समाधान के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

शङ्का—व्यवहार-नियामकत्वेन अनुभूयमान घटादिगत ज्ञानीय विषयता का पक्ष में अकारण परित्याग कैसे हो सकता है ?

समाधान—स्वविषयकत्व के त्याग का प्रकृत में बाधरूप कारण बताया जा चुका है। घटादि-स्थल पर वह बाध न होने के कारण विषयता का मानना न्यायसंगत है, उसके परित्याग की आवश्यकता नहीं। यह जो कहा कि सुषुप्ति अवस्था में मैत्र-चैतन्य और चैत्र-चैतन्य का अभेद होने पर भी विषयताभाव-प्रयुक्त ही व्यवहाराभाव होता है। वह

न्यायामृतम्

स्वविषयकत्वेऽपि स्वकर्मत्वाभावादवेद्यत्वमिति तु निरस्तम्, घटः स्वप्रकाशः, घटत्वाद्, व्यतिरेकेण पटवदित्याभाससाम्यं च। ननु चक्षुरादिसिद्धस्य पक्षत्वे बाधः अन्यथा आश्रयासिद्धिरितिचेत्, इहापि वृत्तेः पक्षत्वे बाधः अन्यथा आश्रयासिद्धिरिति-

अद्वैतसिद्धिः

विरहकाले मैत्रचैतन्य इत्यस्यैवाभावात्, साक्षिचैतन्येन व्यवहारापादनस्येष्टत्वात्। यदि च संस्कारात्मनाऽवस्थितान्तःकरणं तदापि भेदकम्, तदा भेदस्यैव सत्त्वाच्च।

यत्तूक्तमात्मानमित्यादि, तदपि न, अहमर्थाश्रितवृत्तिरूपज्ञानविषयत्वस्यैव तत्रानुभवात्। न च घटः स्वप्रकाशः, घटत्वादित्याभाससाम्यम्, प्रयोजकत्वपरिहारेण परिहृतत्वाद्, घटे स्फुरणाभेदतद्विषयत्वयोरभावे व्यवहाराभावप्रसङ्गेन साम्याभावाच्च। ननु - अनुभूतिपदेन वृत्तेः पक्षत्वे बाधः, तदन्यस्याश्रयासिद्धिरिति—चेन्न, वृत्तेर्जड़तया अप्रकाशत्वे प्रकाशत्वं यत्र विश्राम्यति तस्यैव पक्षत्वात्, प्रतिकर्मव्यवस्थायामेव वृत्त्यतिरिक्तानुभवस्य साधनाच्च। एवं च—त्वदीयापरोक्षव्यवहारयोग्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कहना संगत नहीं, क्योंकि भेदक के विरह काल में मैत्र-चैतन्य और चैत्र-चैतन्य ही नहीं कहा जा सकता, साक्षिचैतन्य के द्वारा व्यवहारापादन में इष्टापत्ति है। यदि सुषुप्ति काल में भी संस्काररूपेण अन्तःकरण की अवस्थिति मानी जाती है, तब भेदक विद्यमान होने के कारण व्यवहार-साङ्कर्य क्यों होगा ? 'आत्मानमहं जानामि' इत्यादि स्थलों पर अहमर्थाश्रित वृत्तिरूप ज्ञान की विषयता ही आत्मा में मानी जाती है, फल-विषयता नहीं—यह कह चुके हैं।

स्वप्रकाशत्व-साधक अनुमान में ''घटः स्वप्रकाशः, घटत्वात्'—इत्यादि अनुमान भासों का साम्य प्रदर्शित नहीं किया जा सकता, क्योंकि दृक् और दृश्य का अत्यन्त वैजात्य होता है, अतः उसमें साम्य-प्रयोजक धर्म का सर्वथा अभाव होने के कारण साम्य-प्रदर्शन सम्भव नहीं। घट में स्फुरण (अनुभूति) का अभेद तो है ही नहीं, अब यदि वहाँ अनुभूति की विषयता भी नहीं मानी जाती, तब व्यवहार का सर्वथा अभाव प्रसक्त होता है, अतः वहाँ अनुभूति-विषयत्व रहने के कारण स्वप्रकाशत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु ब्रह्म मे अनुभव का अभेद होने के कारण व्यवहार-निर्वाहकता बन जाती है, विषयत्व मानने की आवश्यकता नहीं, फलतः स्वप्रकाशत्व पर्यवसित हो जाता है—इस प्रकार का महान् वैषम्य रहने पर साम्य-प्रदर्शन सम्भव नहीं हो सकता।

शङ्का—स्वप्रकाशत्व-साधक अनुमान में पक्षोपस्थापक 'अनुभूति' पद से वृत्ति का ग्रहण करने पर साध्य का बाघ होता है, क्योंकि वृत्ति को स्वप्रकाश नहीं माना जाता। वृत्ति से भिन्न कोई अनुभव प्रसिद्ध नहीं, अतः 'अनुभूति' पद से अप्रसिद्ध अनुभव का ग्रहण करने पर अप्रसिद्धाश्रयता या आश्रयाप्रसिद्धि दोष होता है।

समाधान—वृत्ति जड़रूप होती है, उसमें प्रकाशत्व सम्भव नहीं, अतः अनुभूयमान प्रकाशत्व जहाँ विश्रान्त होता है, उसी तत्त्व को 'अनुभूति' पद से ग्रहण कर पक्ष बनाया जाता है। वृत्ति से अतिरिक्त मुख्य अनुभब की सिद्धि प्रतिकर्म-व्यवस्था में की जा चुकी है।

इसी प्रकार (१) त्वदीय अपरोक्ष व्यवहार-योग्यता का ज्ञान त्वदीय अपरोक्ष

न्यायामृतम्

समम् । त्वज्ज्ञानं तवापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणं ज्ञानत्वात् , मदीयज्ञानवदिति स्वप्रकाशत्वानुमाने त्वज्ज्ञानं तवापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति अवेद्यत्वानधिकरणम् , ज्ञानत्वान्मदीयज्ञानवदिति प्रकरणसमता । विवादपदानि ज्ञानानि घटज्ञानान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणानि, ज्ञानत्वात् , घटज्ञानवदित्यत्रापि विवादपदानि ज्ञानानि घटज्ञानान्यत्वे सति चिदविषयत्वानधिकरणानि ज्ञानत्वाद् , घटज्ञानवदितिप्रकरणसमतैव ॥ १२ ॥

अद्वैतसिद्धिः

त्वज्ज्ञानं, त्वदीयापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणं, ज्ञानत्वात् , मदीयज्ञानवत् । विवादपदानि ज्ञानानि, घटज्ञानान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणानि, ज्ञानत्वाद् , घटज्ञानवदित्यपि—साधु । न च—त्वज्ज्ञानं, त्वदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति अवेद्यत्वानधिकरणं, ज्ञानत्वात् , मदीयज्ञानवत् । घटज्ञानं, पटज्ञानान्यत्वे सति चिदविषयत्वानधिकरणं, ज्ञानत्वात् , पटज्ञानवदिति च यथायोग्यं प्रकरणसमतेति—वाच्यम् , विपक्षे बाधकस्योक्तत्वेन स्थापनाया अधिकबलत्वात् ॥

इत्यद्वैतसिद्धावनुभूतेः स्वप्रकाशत्वोपपत्तिः ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्यवहार-योगयत्व-विशिष्ट वेद्यत्व का अनधिकरण होता है, क्योंकि ज्ञान है, जैसे मदीय ज्ञान । (२) विवादास्पद ज्ञान घटज्ञानान्यत्वविशिष्ट वेद्यत्व के अनधिकरण होते हैं, क्योंकि ज्ञान हैं, जैसे घटज्ञान—इत्यादि अनुमान-प्रयोग भी स्वप्रकाशत्व-साधन में समर्थ हैं ।

शङ्का—उक्त प्रथम अनुमान का प्रतिपक्षप्रयोग है—भवदीय ज्ञान भवदीय अपरोक्ष-व्यवहारयोग्यत्व से विशिष्ट अवेद्यत्व का अनधिकरण है, क्योंकि ज्ञान है, जैसे मदीय ज्ञान । द्वितीय अनुमान का प्रतिपक्ष-प्रयोग है—घट-ज्ञान घट-ज्ञानान्यत्व-विशिष्ट चिदविषयत्व का अनधिकरण होता है, क्योंकि—ज्ञान है, जैसे पट-ज्ञान ।

समाधान—श्रुत्यनुकूलत्वरूप विपक्ष-बाधक तर्कों का प्रदर्शन किया जा चुका है, अतः स्थापनानुमान अधिक बल-शाली होने के कारण हीनबल प्रतिपक्ष के द्वारा सत्प्रतिपक्षित नहीं हो सकता ।

: १३ :

आत्मनः स्वप्रकाशत्वविचारः

न्यायामृतम्

एतेनात्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वं निरस्तम्, चित एवास्वप्रकाशत्वे चिद्रूपत्वेन तदसिद्धेः परपक्षे आत्मनि चित्वायोगस्योक्तत्वाच्च। "विज्ञाता प्रज्ञाते"ति ज्ञातृत्वश्रुतेश्च।

एतेन विमतं ज्ञानं भिन्नाश्रयविषयं ज्ञानत्वाज्ज्ञानान्तरवत्। विमतं न स्वाश्रयविषयं गुणत्वाद् अग्नेरौष्ण्यवदिति विद्यासागरोक्तं निरस्तम्, मामहं जानामीति-

अद्वैतसिद्धिः

एवं च चिदभिन्नस्यात्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वं चिद्रूपत्वात् साधनीयम्। यथा च नात्मनि चिद्रूपत्वासिद्धिः, तथोपपादितम्। उपपादयिष्यते च श्रुत्या। न च 'विज्ञाता प्रज्ञाते'ति श्रुतिविरोधः, वक्ष्यमाणानेकश्रुतिविरोधेन तस्याः वृत्तिरूपज्ञानाश्रयत्वपरत्वात्। यत्तु विद्यासागरोक्तं 'विमतं ज्ञानं भिन्नाश्रयविषयकं, ज्ञानत्वात्, ज्ञानान्तरवत्। विमतं, न स्वाश्रयविषयकं, गुणत्वात्, अग्न्यौष्ण्यादिवदि'ति स्वप्रकाशत्वसाधनं, तत् परीत्या, अस्मन्मते स्वप्रकाशे ज्ञानत्वस्यात्मन्यभावात् तादृग्ज्ञाने गुणत्वाभावाच्च, 'मामहं जानामी'ति प्रत्यक्षस्य वृत्तिविषयतयोपपादितत्वेन विरोधाभा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

चैतन्य वस्तु की स्वप्रकाशता सिद्ध हो जाने पर 'चिद्रूपत्वात्'—इस हेतु के द्वारा आत्मा में स्वप्रकाशत्व सिद्ध किया जा सकता है—आत्मा स्वयंप्रकाशः, चिद्रूपत्वात्।" आत्मा में चिद्रूपत्व की असिद्धि नहीं—यह कहा जा चुका है और श्रुतियों के द्वारा उसका उपपादन आगे भी किया जायगा।

शङ्का—"अविज्ञातो विज्ञाता" (बृह० उ० ३।७।२३) इत्यादि श्रुतियों में विज्ञाता, प्रज्ञातादि शब्दों के द्वारा आत्मा में ज्ञानाश्रयता का प्रतिपादन चिद्रूपता का विरोधी है।

समाधान—आत्मा में वक्ष्यमाण ज्ञानरूपता की प्रतिपादक श्रुतियों से विरुद्ध होने के कारण ज्ञानाश्रयता-प्रतिपादक श्रुति का वृत्तिरूप ज्ञान की आश्रयता में ही तात्पर्य निश्चित होता है, चैतन्यरूप ज्ञान की आश्रयता में नहीं।

यह जो विद्यासागर ने आत्मा में ज्ञानाश्रयता ध्वनित करते हुए आत्मा में स्वप्रकाशत्व की सिद्धि करने के लिए अनुमान-प्रयोग किए हैं—(१) "विमतं ज्ञानं भिन्नाश्रयविषयकम्, ज्ञानत्वात्, ज्ञानान्तरवत्" (२) "विमतं न स्वाश्रयविषयकम्, गुणत्वाद्, अग्न्यौष्ण्यवत्" (न्या० चं० पृ० ४६८)। [प्रथम अनुमान में 'मामहं जानामि'—इत्याद्याकारक ज्ञान को पक्ष तथा घटादि-ज्ञान को दृष्टान्त बनाया गया है। घटादि विषयक ज्ञान का आश्रय आत्मा होता है और विषय घटादि। द्वितीय अनुमान में आत्मा के ज्ञान, इच्छादि गुणों को पक्ष बनाया गया है। दृष्टान्तभूत अग्निगत ऊष्ण स्पर्श का आश्रयीभूत अग्नि उस औष्ण्य का विषय (दाह्य) नहीं होता, वैसे ही प्रकृत में ज्ञानादि का आश्रयीभूत आत्मा ज्ञान का विषय नहीं होता, अतः अवेद्य या स्वप्रकाश सिद्ध होता है]। वे अनुमान-प्रयोग तार्किकादि वादिगणों की रीति को अपना कर किए गए हैं, क्योंकि वेदान्त-सिद्धान्त-सम्मत आत्मस्वरूप ज्ञान में ज्ञानत्व, गुणत्वादि धर्म नहीं माने जाते। प्रथम अनुमान का पक्षभूत 'मामहं जानामि'—यह ज्ञान वृत्त्यात्मक सिद्ध किया जा चुका है, अतः आत्मा की ज्ञानरूपता (चिद्रूपता) में

न्यायामृतम्

प्रत्यक्षबाधात् । अज्ञान इव ज्ञानेऽपि आश्रयविषययोरैक्योपपत्त्याऽप्रयोजकत्वाच्च । अन्तःकरणविषयिण्यामन्तःकरणाश्रितायां शब्दादिजन्यवृत्तौ आद्यस्य व्यभिचाराच्च। द्वितीयस्यापि दीपगतभास्वररूपस्य घट इव दीपेप्यन्धकारविरोधित्वेन तद्विषयतया

अद्वैतसिद्धिः

वात् । न च—अज्ञान इव स्वाश्रयविषयत्वोपपत्त्या अप्रयोजकमिति—वाच्यम् , वेद्यत्वे आत्मनो वेदनाभावादज्ञानदशायामात्मनि संशयविपर्ययव्यतिरेकनिर्णयप्रसङ्गात् । न चात्मन्यहमनहं वेति कश्चित्सन्दिग्धे, अन्य एवेति वा विपर्यस्यति । नाहमिति वा व्यतिरेकं निर्णयतीत्यस्वप्रकाशत्वे बाधकसत्त्वात् । न च– त्वन्मते सन्देहाद्यविषयस्याहमर्थस्यानात्मत्वात्तदन्यस्मिञ्छब्दैकगम्यात्मनि सन्देहादिसत्त्वादप्रयोजकत्वं तदवस्थमेवेति— वाच्यम् , अहमर्थस्य चिदचिद्ग्रन्थिरूपतया अहंत्वावच्छेदेनाचिदंशे सन्देहाद्यभाववत् चिदंशेऽपि सन्देहाद्यभावात् । न च शब्दजान्तःकरणविषयतद्वृत्तौ व्यभिचारि ज्ञानत्वमिति—वाच्यम् , तस्य स्फुरणार्थकत्वात् । न च द्वितीयहेतोस्तेजोरूपस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

किसी प्रकार का विरोध नहीं होता ।

शङ्का—चिद्रूप होने पर भी आत्मा जैसे अज्ञान का आश्रय और विषय (सं. शा. १।३१९ में) माना गया है, वैसे ही ज्ञान का भी आश्रय और विषय हो सकता है, अवेद्यत्व-साधन (ज्ञानत्व) अप्रयोजक (अनुकूल तर्क-रहित) है।

समाधान—'आत्मा यदि वेद्यः स्यात्, तर्हि अज्ञानदशायां संशयाद्यास्पदं स्यात्'—इस प्रकार अनुकूल तर्क के रहने पर अप्रयोजकत्व दोष प्रसक्त नहीं होता। अर्थात् अज्ञानावस्था में आत्म-ज्ञान का अभाव होने पर भी 'अहमनहं वा'—ऐसा संशय, 'आत्मा मत्तोऽन्य एव'—इस प्रकार का विपर्यय अथवा 'अहमनहमेव'—ऐसा व्यतिरेक-निश्चय किसी को नहीं होता, इसका एक मात्र कारण यही है कि वह वेद्य नहीं स्वप्रकाश है, फलतः संशयादि का कभी भी न होना ही आत्मा की अस्वप्रकाशता का बाधक है।

शङ्का—यह सत्य है कि अहमर्थ के विषय में किसी को संशयादि नहीं होते, किन्तु वह अहमर्थ आप (अद्वैती) के मतानुसार आत्मा नहीं, अज्ञात्मा ही है और उससे भिन्न औपनिषद पुरुष शब्दैकसमधिगम्य है, उसके विषय में सन्देहादि सभी को होते हैं, अतः वह वेद्य है, उसका ज्ञान होने पर ही संशयादि की निवृत्ति होती है, पहले नहीं, फलतः 'ज्ञानत्व' हेतु में अप्रयोजकता (अस्वप्रकाशत्व की असाधकता) जैसी-की-तैसी बनी है।

समाधान—अद्वैत मत में अहमर्थ को चित् और अचित् की ग्रंथि (चिदचित्तादात्म्यापन्न) माना जाता है, उसके एक अहन्त्वरूप अचिदंश में सन्देहादि के न होने पर तत्तात्म्यापन्न चिदंश में भी सन्देहादि नहीं हो सकते।

शङ्का—शब्द-जन्य अन्तःकरणविषयक वृत्ति का आश्रय भी अन्तःकरण है, उस वृत्तिरूप ज्ञान में 'ज्ञानत्व' हेतु के रहने पर भी उसमें भिन्नाश्रयविषयकत्वरूप साध्य नहीं रहता, अतः ज्ञानत्व हेतु व्यभिचारी है।

समाधान—उक्त अनुमान में स्फुरणरूप (प्रत्यक्षात्मक) ज्ञान विवक्षित है, शब्द-जन्य परोक्ष वृत्ति में व्यभिचार प्रदर्शित नहीं किया जा सकता।

शङ्का—'विमतं न स्वाश्रयविषयकम्, गुणत्वात्'—इस द्वितीय अनुमान का

न्यायामृतम्

तत्र व्यभिचाराच्च । त्वन्मते तस्यागुणत्वाच्च ।

नापि "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योति"रिति श्रुतिः आत्मनः स्वप्रकाशत्वे मानम् । तथा हि—"अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्ये"त्यादिना "किं ज्योतिरयं पुरुष" इत्यन्तेन ज्ञानसाधनालोकाद्यभावे जीवस्य किं ज्ञानसाधनमितिपृष्टे "आत्मैवास्य ज्योति"रित्युपक्रान्त आत्मा तावत्परमात्मैव, "स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तःसुप्तानभिचाकशीती"त्यादितल्लिंगात् । द्युभ्वाद्यधिकरणन्यायेनात्मशब्दस्य तत्रैव मुख्यत्वाच्च । तथा चात्रायं

अद्वैतसिद्धिः

घट इव स्वाश्रयेऽपि तमोनिवर्तकतया तद्विषये व्यभिचारः, रूपस्य ज्ञानादिवत् सविषयत्वाभावात् । 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योति'रित्यादिश्रुतिरप्यत्र प्रमाणम् । तथा हि—'अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्ये'त्यादिना 'किं ज्योतिरेवायं पुरुष'इत्यन्तेन ज्ञानसाधनालोकाद्यभावे जीवस्य कथं स्फुरणमित्युक्ते 'आत्मैवास्य ज्योतिः स्वयंज्योति'रित्यादिना स्वातिरिक्तानपेक्षतया स्वप्रकाशत्वमुक्तम् । न चात्मशब्दस्य परमात्मपरत्वम्, पूर्ववाक्ये आत्मनि नाड़ीसंबन्धप्रतिपादनाद्, उत्तरवाक्ये च 'कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति'रित्युत्तरवाक्यपर्यालोचनया संदंशन्यायेन जीवपरत्वात् । न च द्युभ्वाद्यधिकरणन्यायेनात्मशब्दस्य तत्रैव मुख्यत्वम्, प्रधानाद्यनात्मनिराकरणार्थतया स्वशब्दादित्यात्मशब्दो हेतुत्वेनोक्तेः, न तु मुख्यत्वाभिप्रायेण, जीवस्याप्रसक्तेः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

'गुणत्व' हेतु तेज के रूप में व्यभिचरित है, क्योंकि तेज का रूप जैसे घटादिगत अन्धकार का निवर्तक होता है, वैसे ही अपने आश्रयीभूत तेज में रहने वाले अन्धकार का भी निवर्तक होता है, अतः उक्त तेज के रूप में गुणत्व के रहने पर भी स्वाश्रयविषयकत्वाभावरूप साध्य नहीं रहता ।

समाधान—ज्ञानादि के समान रूप को सविषयक ही नहीं माना जाता, अतः उसमें स्वाश्रयविषयकत्व का अभाव ही है, स्वाश्रयविषयकत्वाभावाभावरूप स्वाश्रयविषयकत्व नहीं रह सकता, अतः उसमें व्यभिचार नहीं होता ।

"अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः" (बृह० ४।३।९) इत्यादि श्रुतियाँ भी स्वप्रकाशत्व में प्रमाण हैं । यहाँ "अस्तमित आदित्ये, याज्ञवल्क्य ! चन्द्रमस्यस्तमिते, शान्तेऽग्नौ, शान्तायां वाचि किं ज्योतिरेवायं पुरुषः ?" (बृह० उ० ४।३।६) इस खण्डलक के द्वारा यह जिज्ञासा प्रकट की गई कि ज्ञान के साधनीभूत आलोकादि का अभाव हो जाने पर जीव का स्फुरण क्योंकर होगा ? उसका समाधान किया गया कि आत्मैवास्य ज्योतिः, ज्योतिरेवायं पुरुषः" अर्थात् वह स्व से भिन्न और किसी प्रकाशक की अपेक्षा नहीं रखता, स्वप्रकाश है । यहाँ 'आत्मा' शब्द को परमात्मपरक नहीं माना जा सकता, क्योंकि पूर्व वाक्य में शरीरस्थ नाड़ियों के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया गया और उत्तर वाक्य में कहा गया—"कतम आत्मा, योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः"—इस प्रकार प्राणादि उपाधियों का प्रदर्शन किया गया, अतः सन्दंश-पतित जीव ही 'आत्मा' शब्द का वाच्यार्थ निश्चित होता है । "द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्" (ब्र. सू. १।३।१) इस अधिकरण में 'आत्मा' शब्द का परमात्मा ही मुख्यार्थ माना गया है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ द्यु, भू, आदि के आधारत्वेन प्रसक्त सांख्योक्त प्रधानादि अनात्म पदार्थों का निराकरण करने के लिए 'स्वशब्दात्'—इस प्रकार

न्यायामृतम्

पुरुष इत्युपसंहारोऽप्यस्येत्यस्यानुषंगेणायमीश्वरोऽस्य जीवस्य स्वयमेव ज्योतिर्ज्ञान-हेतुरित्येवंपरः। अस्मिन्नेव प्रकरणे "वाचैवायं ज्योतिषास्ते" इति ज्योतिःशब्दस्य ज्ञानसाधने प्रयोगात्। स्वप्रकाशत्वपरत्वे सदा स्वप्रकाशत्वेन श्रुतावत्रेत्यस्य वैय-

अद्वैतसिद्धिः

मुख्यत्वस्योभयसाधारण्याच्च। अत एव—'अत्रायं पुरुषः स्वय'मित्युपसंहारस्य अस्येति पदानुषङ्गेण अयमीश्वरो जीवस्य स्वयमेव ज्योतिर्ज्ञानहेतुरित्येवंपरत्वं—निरस्तम्, उक्तन्यायेन उपक्रमविरोधात्। न च—वाचैवायं ज्योतिषास्त इति ज्योतिःशब्दस्य वाचि ज्ञानसाधने प्रयोगादत्रत्यज्योतिःशब्दस्यापि ज्ञानसाधनपरत्वम्, न तु ज्ञानपरत्वमिति—वाच्यम्, लौकिकज्योतिषि रूढस्य ज्योतिःशब्दस्य वाचि ज्ञानसाधनत्वेन प्रवृत्तिवदत्रापि तमोविरोधित्वेन रूपेणाज्ञानविरोधिन्यपि प्रयोगसंभवात्। न च स्वप्रकाशपरत्वे सदा स्वप्रकाशत्वेन श्रुतावत्रेत्यस्य वैयर्थ्यम्, जाग्रदवस्थायामादित्यादिज्योतिःसंभवेन दुर्विवेकतयास्यामवस्थायां सुविवेकतया अत्रेति विशेषणसाफ-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

'आत्मा' शब्द को हेतु बनाया गया है, न कि मुख्यत्वाभिप्राय से। जीव की वहाँ प्रसक्ति ही नहीं थी और मुख्य चैतन्यरूप आत्मा तो जीव और ब्रह्म-उभय-साधारण होता है। जैसे "क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः' इत्यादि स्थल पर 'आत्मा' शब्द जीव का वाचक होता है, वैसे ही आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च"—इत्यादि स्थल पर 'आत्मा' शब्द ब्रह्म का वाचक होता है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि "आत्रायं पुरुषः स्वयम्" (बृ० उ० ४।२।९) इस उपसंहार का अस्य पद का अनुषङ्ग करके यही अर्थ निश्चित होता है कि "अयम् ईश्वरो जीवस्य स्वयमेव ज्योति ? (ज्ञान-हेतुः)। इस प्रकार उक्त 'आत्मा' शब्द से परमेश्वर का ही ग्रहण किया गया है, जीव का नहीं।

न्यायामृतकार का वह कहना इसी लिए निरस्त हो जाता है कि जब नाड़ी आदि उपाधियो के सम्बन्ध से जीवपरकत्व का निर्णय हो जाता है, तब 'अस्य' पद का अध्याहार कर अन्यार्थ की कल्पना उचित नहीं।

शङ्का—"वाचैवायं ज्योतिषास्ते" (बृह० उ० ४।३।५) यहाँ पर ज्योतिः' शब्द ज्ञान-साधनीभूत वाक् के लिए प्रयुक्त हुआ है, अतः "अत्रायं पुरुषः ज्योतिः' (बृह०-उ० ४।३।२) यहाँ पर भी 'ज्योति' पद ज्ञान-साधन का ही बोधक है, ज्ञान का नहीं।

समाधान—'ज्योति' शब्द लौकिक आदित्यादि ज्योति में रूढ़ है, उसका ज्ञान-साधनत्वेन जैसे वाक् में गौण प्रयोग होता है, वैसा ही अज्ञानरूपतमोविरोधित्वेन ज्ञान में भी प्रयोग सम्भव है।

शङ्का—'स्वयंज्योतिः' का अर्थ यदि स्वयंप्रकाश किया जाता है, तब वहाँ अत्र—यह पद देने की क्या आवश्यकता ? क्योंकि स्वप्रकाश तत्त्व तो सदा सर्वत्र स्वप्रकाश है, उस का स्वप्रकाल परिच्छेदक नहीं हो सकता।

समाधान—यद्यपि स्वप्रकाश तत्त्व जाग्रदादि सभी अवस्थाओं में स्वप्रकाश है, तथापि विभिन्न ज्योतियों के चकाचौंध में उसकी स्वप्रकाशता का विवेक सम्भव नहीं होता और समस्त अनात्मभूत ज्योतियों के शान्त हो जाने पर स्वप्रकाशता निखर जाती हैं, अतः 'अयं' शब्द से स्वप्रावस्था का निर्देश किया गया है।

न्यायामृतम्

र्थाच्च। आत्मैवास्येतिषष्ठ्या स्वविषयत्वस्यैवोक्तेश्च। "स्वयंदासास्तपस्विन" इत्यादाविवान्यावेद्यत्वपरत्वे चामुख्यार्थत्वापातात्। वेद्येऽपि प्रदीपादौ स्वविषयप्रकाशत्वमात्रेण लोके स्वप्रकाशपदप्रयोगाच्च। तत्रापि सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यत्वं निमित्तमितिचेन्न, घटादेरपि स्वप्रकाशत्वापातात्। न हि घटादि ज्ञाने दीपे वा घटत्वादिकमस्ति।

यच्चोक्तं विवरणे "आत्मा स्वप्रकाशः, स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकविधुरत्वात्, प्रकाशाश्रयत्वात् प्रकाशकर्तृत्वात् प्रदीपवदित्यनुमानत्रयम्। तत्र साध्यं अवेद्यत्वं चेत्, दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यम्। सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यत्वं चेत्,

अद्वैतसिद्धिः

ल्यात्। न चास्येति षष्ठ्या विषयत्वाभिधानम्, स्वयंदासा इत्यादाविवानन्यवेद्यत्वपरत्वात्। न चामुख्यार्थत्वापत्तिः, मुख्यविषयासंभवेनेष्टत्वात्। न च प्रदीपादौ स्वविषयत्वेन स्वप्रकाशत्वव्यवहारः, सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यप्रकाशत्वस्यैव तत्रापि व्यवहारनिदानत्वात्। अत एव न घटादावप्रकाशे अतिप्रसङ्गः।

विवरणानुमानानि च—आत्मा स्वप्रकाशः, स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकविधुरत्वात्, प्रकाशाश्रयत्वात्, प्रकाशकर्तृत्वात्, प्रदीपवत्। ननु च—अवेद्यत्वं चेत् साध्यं, साध्यवैकल्यम्, सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यत्वं चेदर्थान्तरम्, घटादाविवास्वप्रकाशत्वेऽ-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—"आत्मैवास्य ज्योतिः" (बृह० उ० ४।३।६) यहाँ 'अस्य'—यह षष्ठी विभक्ति जीवरूप विषय का अभिधान कर रही है, अतः परमेश्वर जीवविषयिणी ज्योति है—यही अर्थ वहाँ निश्चित होता है।

समाधान—जैसे स्वयंदासाः तपस्विनः'—इत्यादि व्यवहारों के समान 'स्वयंज्योतिः' कहा जाता है अर्थात् आत्मा से अन्य उसका कोई प्रकाशक नहीं।

शङ्का—'स्वयंज्योतिः' पद का पर ज्योति के अभाव में तात्पर्य मानने पर गौणार्थता प्रसक्त होती है।

समाधान—मुख्यार्थ सम्भव न होने पर सर्वत्र गौण अर्थ ही माना जाता हे। 'प्रदीपः स्वयं प्रकाशते'—इत्यादि व्यवहार भी स्वविषयकप्रकाशपरक नहीं माने जाते अपितु सजातीय प्रकाशान्तर से अप्रकाशित प्रकाशत्व में ही उक्त वाक्यों का पर्यवसान माना जाता है, केवल सजातीय प्रकाश-निरपेक्षत्व अर्थ करने पर 'घटः स्वयं प्रकाशते'—इत्यादि प्रयोगों की प्रसक्ति होती है, अतः सजातीय प्रकाश-निरपेक्ष प्रकाशत्व-पयन्त अर्थ करना आवश्यक है।

विवरण-प्रदर्शित स्वप्रकाशता के साधक अनुमान-प्रयोग हैं—

(१) "स्वयंप्रकाशोऽयमात्मा, स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकाभावात्, प्रदीपसंवेदनवत्। (२) आत्मा स्वयंप्रकाशः, विषयप्रकाशकर्तृत्वात्, प्रदीपवत्। (३) आत्मा स्वयंप्रकाशः विषयप्रकाशाश्रयत्वाद्, आलोकवत्। (४) अजन्यप्रकाशगुणश्चात्मा, प्रकाशगुणत्वाद्, आदित्यादिवत्। (५) आत्मा स्वयंप्रकाशः अनिन्द्रियगोचरत्वे सत्यपरोक्षत्वात्, संवेदनवत्" (पं. वि. पृ. ६१०)।

[आत्मा स्वप्रकाश है, क्योंकि उसकी सत्ता कभी भी प्रकाश-व्यभिचरित नहीं होती, या प्रकाश का आश्रय है, अथवा प्रकाश का कर्त्ता है]।

शङ्का—उक्त अनुमानों में 'अवेद्यत्व' यदि साध्य है, तब दृष्टान्त में साध्य-वैकल्य

न्यायामृतम्

अर्थान्तरम् । घटादिवदप्रकाशत्वेऽप्युपपत्तेः । स्वविषयप्रकाशत्वं चेत्, अपसिद्धान्तः सिद्धसाधनं च । किं चाद्यस्य ज्ञातैकसति दुःखादौ व्यभिचारः । अन्त्ययोर्वाद्यसिद्धिः, त्वन्मते आत्मनः प्रकाशत्वात् । निरस्तम् चाविद्यानुमानभंगे ज्ञानप्रभानुगतं प्रकाशत्वम् । यदप्युक्तं विवरणे—आत्मा न स्वोत्पत्त्यनन्तरम् उत्पद्यमानप्रकाशाश्रयः प्रकाशाश्रयत्वादादित्यादिवदिति तत्रास्माकं सिद्धसाधनं तवासिद्धिश्च ।

अद्वैतसिद्धिः

प्युपपत्तेः, ज्ञानप्रभानुगतप्रकाशत्वासिद्धिश्च, ज्ञातैकसति दुःखादावाद्यहेतोर्व्यभिचारः, द्वितीयतृतीययोस्त्वन्मत आत्मनः प्रकाशत्वेनासिद्धिरिति—चेन्न, स्वप्रकाश्यत्वस्य बाधिततया तदप्रकाश्यत्वेन पक्षस्य विशेषिततया वार्थान्तराभावात् । सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यप्रकाशत्वमेव साध्यम् । एवं च न घटादिवदस्वप्रकाशत्वेनोपपत्तिः, स्वाप्रकाश्यसजातीयाप्रकाश्यत्वेनावेद्यत्वस्य लाभात्, विजातीयस्याप्रकाशत्वात् । ज्ञानप्रभानुगतं च प्रकाशत्वमावरणाभिभावकत्वम् । तच्च ज्ञानस्य चित्त्वेनान्यत्र तेजोविशेषत्वादिनेत्यन्यदेतत् । आवरणत्वं चाज्ञानतमसोः अर्थव्यवहारप्रतिबन्धकत्वमनुगतमेव । तच्चाज्ञानस्य साक्षात् तमसो ज्ञानप्रतिबन्धद्वारेत्यन्यदेतत् । न च दुःखे व्यभिचारः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है, क्योंकि प्रदीपादि दृष्टान्तों में अवेद्यत्व नहीं माना जाता। यदि सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यत्व को साध्य बनाया जाता है, तब अर्थान्तरता है, क्योंकि सजातीय प्रकाशाप्रकाश्यत्व तो अस्वप्रकाशभूत घटादि में भी बन जाता है। ज्ञान और प्रभा—उभयानुगत प्रकाशत्व की सिद्धि भी नहीं होती। दुःखादि की अज्ञात सत्ता नहीं मानी जाती, अतः प्रथम अनुमान का वहाँ व्यभिचार होता है, क्योंकि दुःखादि में स्वप्रकाशत्वरूप साध्य का अभाव होने पर भी 'स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकविधुरत्वरूप हेतु रहता है। द्वितीय (प्रकाशाश्रयत्व) और तृतीय (प्रकाशकर्तृत्व) हेतु आप (अद्वैती) के मतानुसार आत्मा में सिद्ध नहीं, क्योंकि आप आत्मा को प्रकाशरूप मानते हैं, न तो प्रकाश का आश्रय मानते है और न प्रकाश का कर्त्ता।

समाधान—घटादि अस्वप्रकाश वस्तु को लेकर अर्थान्तरता दी गई, अस्वप्रकाशत्व का अर्थ वेद्यत्व होता है। आत्मा से भिन्न दृश्यवर्ग जड़ है, जड़-वेद्यत्व आत्मा में बन नहीं सकता, अतः आत्मा में स्ववेद्यत्व ही मानना होगा, वह बाधित है, अतः अर्थान्तरता नहीं होती अथवा स्ववेद्यत्वाभाव-विशिष्टत्व को पक्ष का विशेषण मान लेना चाहिए, उससे भी अर्थान्तरता की निवृत्ति हो जाती है। सजातीय प्रकाशाप्रकाश्यप्रकाशत्व को साध्य बनाया गया है, अतः घटादि के समान अस्वप्रकाशत्व की प्रकृत पक्ष में उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि स्वाप्रकाश्यत्व और सजातीय प्रकाश के द्वारा भी अप्रकाश्यत्व का आत्मा में लाभ होने से अर्थान्तरता नहीं, विजातीय (अनात्म) पदार्थ प्रकाशरूप नहीं होता है। ज्ञान और प्रभा—दोनों में अनुगत आवरणाभिभावकत्वरूप धर्म सुलभ है। ज्ञान में चित्त्वेन आवरणाभिभावकत्व और प्रदीपादि में 'तेजोविशेषत्वादिरूप से माना जाता है। अज्ञान और अन्धकार—दोनों में अर्थव्यवहारप्रतिबन्धकत्वरूप आवरणत्व भी अनुगत है। वह प्रतिबन्धकत्व अज्ञान में साक्षात् और अन्धकार में ज्ञान-प्रतिवन्ध के द्वारा माना जाता है। दुःखादि में व्यभिचार नहीं, क्योंकि दुःखादि अपनी उत्पत्ति के प्रथम क्षण में प्रकाश-व्यभिचरित होते हैं अथवा हेतु का 'प्रकाशत्व' विशेषण लगा देना

न्यायामृतम्

एतेन विवादाध्यासिता संवित् स्वसमानाश्रयस्वसमानकालीनस्वगोचरज्ञान-विरहप्रयुक्ताव्यवहारा न भवति, संवित्वाद्, अनन्तरं व्यवह्रियमाणसंविद्वत् इत्यानन्द-

अद्वैतसिद्धिः

तस्याक्षणे प्रकाशव्यतिरेकसत्त्वात्, प्रकाशत्वेन विशेषणाच्च। नापि द्वितीयतृतीययोर-सिद्धिः, परीत्या तयोरुक्तेः, प्रतिबिम्बस्य बिम्बाधीनतया तदाश्रितत्वेन बिम्बज्ञान-हेतुत्वोपपत्तेश्च। अत एवात्मा स्वानन्तरोत्पत्तिकप्रकाशाश्रयो न, प्रकाशाश्रयत्वादादि-त्यवदित्यपि साधु। न च सिद्धसाधनम्, घटादिविषयकज्ञानस्य त्वयापि जन्यत्व-स्वीकारात्।

आनन्दबोधोक्तं च—विवादाध्यासिता संवित्, स्वसमानाश्रयस्वसमानकाल-स्वगोचरज्ञानविरहप्रयुक्तव्यवहारविरहवती न भवति, संवित्त्वादनन्तरव्यवह्रियमाण-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

चाहिए। द्वितीय (प्रकाशाश्रयत्व) और तृतीय (प्रकाश-कर्तृत्व) हेतु पक्ष में असिद्ध नहीं, क्योंकि उक्त दोनों प्रयोग तार्किक संकेत को मान कर किए गए हैं। दूसरी बात यह भी है कि प्रतिबिम्ब सदैव बिम्ब के अधीन या आश्रित होता है, अतः बिम्ब स्वरूप शुद्धचिदाश्रितत्व होने के कारण बिम्बस्वरूप शुद्धचिन्निष्ठ हेतुत्व उपपन्न हो जाता है।

अत एव 'आत्मा स्वानन्तरोत्पत्तिकप्रकाशाश्रयो न, प्रकाशाश्रयत्वाद्, आदित्य-वत्'—यह प्रयोग भी निर्दोष है। इसमें सिद्धसाधनता दोष नहीं, क्योंकि घटादिविषयक ज्ञान को आप भी जन्य मानते हैं।

आनन्दबोधाचार्य का स्वप्रकाशत्व-साधक अनुमान-प्रयोग है—विवादाध्यासिता संवित् स्वसमानाश्रयस्वसमानकालस्वगोचरसंवेदनविरहप्रयुक्तव्यवहारविरहा, न भवति संवित्त्वाद्, अनन्तरव्यवह्रियमाणसंविद्वत्" (प्रमाणमाला पृ० १२) [विवादास्पद आत्मरूप संवित् को पक्ष बनाया गया है, वही यहाँ 'स्व' पद से गृहीत है। स्व-समानाधिकरण, स्व-समानकालीन एवं स्वगोचर जो ज्ञान, उसके विरह से प्रयुक्त जो व्यवहाराभाव, उससे युक्तत्वाभाव को साध्य बनाया गया है। स्वगोचर ज्ञान के न रहने पर घटादि अस्वप्रकाश पदार्थों का व्यवहार नहीं होता, अतः घटादि से उक्त संवित् भिन्न है, इसका ज्ञान न होने पर भी इसका व्यवहार होता है, अतः यह स्वप्रकाश है, क्योंकि यह अपने व्यवहार के लिए अन्य संवित् पर निर्भर नहीं। पूर्व कालीन ज्ञान के न रहने पर भी इदानीन्तन ज्ञान से व्यवहार सम्पन्न हो जाता है, अतः पूर्वकालीन स्वगोचर ज्ञानाभाव-प्रयुक्त व्यवहाराभावाभाव सिद्ध है, इस सिद्ध-साधनता का परिहार करने के लिए स्वसमानकालीन ज्ञान कहा गया है। तथापि स्वसमान-कालीन स्वगोचर चैत्रीय ज्ञान का विरह होने पर भी मैत्रीय व्यवहार मैत्रीय ज्ञान के आधार पर होता ही है, अतः पुनः प्रसक्त सिद्धसाधनता दोष को दूर करने के लिए स्वसमानाश्रय ज्ञान कहा गया है। अनन्तर व्यवह्रियमाणसंविद्वत्—इस दृष्टान्त वाक्य का अर्थ यह है कि प्रथमतः व्यवसाय ज्ञान होता है, उसके अनन्तर अनुव्यवसाय और अनुव्यवसाय के अनन्तर व्यवसायविषयक व्यवहार होता है, अतः व्यवसायानन्तर-भावी जो अनुव्यवसाय उसके, अनन्तर व्यवह्रियमाण व्यवसाय को दृष्टान्त बनाया गया है]।

न्यायामृतम्

वोधोक्तं निरस्तम् , स्ववेद्यत्वेऽप्युपपत्त्यास्माकं सिद्धसाधनात् । ब्रह्मणोऽवेद्यत्वश्रुतिस्तु साकल्येनावेद्यत्वपरेतिदृश्यत्वभंग एवोक्तम् । एतेनैवानुभूतिर्न स्वविष (यो वा) या वा, स्वाविषयत्वे सति स्वजातीयाविष (यो वा) या वा, क्रियात्वात् , छिदावत् । प्रकाशत्वादाऽऽलोकवत् । वस्तुत्वाद् घटवत् । चैत्रीयानुभवो वा चैत्रीयापरोक्ष-व्यवहारयोग्यानुभवो वा न चैत्रीयापरोक्षानुभवविषयः अनुभवत्वात् , मैत्रानुभवदित्यादीनि नवीनानुमानानि निरस्तानि, असिद्ध्यनैकान्तिकत्वबाधसत्प्रतिपक्षाद्युक्तदोषात् । तस्माज्ज्ञानस्य भाट्टरीत्या ज्ञाततानुमेयत्वेऽतीतं जानामीत्यनुभवस्याऽहं सुखीतिवद् अहं जानामीत्यपरोक्षानुभवस्य चायोगात् ।

प्राभाकररीत्यायं घट इति जन्यज्ञानस्यैव स्वप्रकाशत्वे विमतं न स्वविषयं तदसन्निकृष्टकरणजन्यप्रमात्वादित्याद्यनुमानेन अयं घटः घटमनुभवामीतिज्ञानयोः

अद्वैतसिद्धिः

संविद्वत् । न च—स्ववेद्यत्वेनोपपत्त्या सिद्धसाधनम् , अस्य परवेद्यताङ्गीकर्तृविषयत्वात् , स्वाविषयत्वरूपपक्षविशेषणमहिम्ना तवानभिमतपर्यवसानात् । अवेद्यत्वं तु ब्रह्मणः श्रुति-सिद्धमेव। न च साकल्येनावेद्यत्वपरा, सङ्कोचे कारणाभावात् । एतेन—ज्ञाततालिङ्गानु-मेयत्वे 'अहं सुखी'तिवद् अहं जनामीति परोक्षानुभवविरोधः । गुरुमते अयं घट इत्यस्य जन्यस्यैव स्वविषयत्वे स्वजनकेन्द्रियसन्निकर्षाश्रयत्वप्रसङ्गः, व्यवसायानुव्यवसाययोः

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि ब्रह्म को स्ववेद्य मान लेने पर भी स्वगोचर-ज्ञान-प्रयुक्त व्यवहार हम (माध्व) मानते हैं, अतः स्वगोचरज्ञानविरहप्रयुक्ताव्यवहारा-भाव के सिद्ध होने से सिद्धसाधनता होती है।

न्यायमृतकार का वह कहना उचित नहीं, क्योंकि ज्ञान में परप्रकाश्यत्ववादी तार्किकों के मतानुसार यह साध्य बनाया गया है, अतः ब्रह्म को स्ववेद्य नहीं कहा जा सकता। स्वाविषयत्वरूप पक्ष-विशेषण के प्रभाव से आप के द्वारा अनङ्गीकृत पक्ष में पर्यवसान होता है। अवेद्यत्व तो ब्रह्म में श्रुति-सिद्ध है।

शङ्का—श्रुति के द्वारा ब्रह्म में जो अवेद्यत्व प्रतिपादित है, उसका तात्पर्य यह है कि जैसे घटादि परिच्छिन्न पदार्थों का साकल्येन ज्ञान होता है, वैसे साकल्येन ज्ञान ब्रह्म का सम्भव नहीं, क्योंकि उसके अनन्त गुण और अनन्त कर्म हैं, अतः वह साकल्येन वेद्य नहीं, अवेद्य ही है।

समाधान—श्रुति का तात्पर्य ब्रह्म की सर्वथा अवेद्यता में है, साकल्येनावेद्यता मात्र के बोधन में श्रुति का संकोच अकारण नहीं किया जा सकता।

शङ्का—ज्ञान को यदि भाट्टमतानुसार ज्ञाततारूप लिङ्ग के द्वारा अनुमेय माना जाता है, तब अहं सुखी के समान 'अहं जानामि'—इस प्रकार ज्ञानविषयक साक्षात्कार नहीं बन सकता। प्रभाकार-मतानुसार 'अयं घटः'—यह जन्य ज्ञान यदि स्वविषयक है, तब स्व-जनकीभूत इन्द्रिय-सन्निकर्ष का स्व को आश्रय होना चाहिए, अर्थात् स्वं यदि स्वविषयकं स्यात्, तर्हि स्वस्मात्पूर्वमपि स्वस्य सत्त्वं स्यात्'—इस प्रकार प्रतिकूल तर्क के द्वारा जन्य ज्ञान में स्वविषयकत्व का निरास किया जा सकता है। प्रभाकार मत का व्यवसाय एवं अनुव्यवसाय के पार्थक्य एवं क्रमिकत्व का अनुभव भी विरुद्ध पड़ जाता है, क्योंकि प्रभाकर व्यवसाय और अनुव्यवसाय का कोई भेद नहीं मानते।

न्यायामृतम्

क्रमानुभवेन च विरोधात् । तार्किकरीत्यानुव्यवसायस्यापि परप्रकाश्यत्वे ज्ञानस्य प्रत्यक्षात्मविशेषगुणत्वेन इच्छादिवदवश्यवेद्यत्वाद् बुभुत्सितग्राह्यत्वे धर्मिज्ञानं विना बुभुत्साया एवायोगेनानवस्थानाद्, अयं घटः, घटं जानामीति ज्ञानद्वयातिरिक्तज्ञानधारानुभवेनानुभवविरोधात् । चैत्रदुःखादिकं चैत्रीयनित्यापरोक्षज्ञानविषयः, तं प्रति ज्ञातैकसत्त्वात्, यद्यं प्रति ज्ञातैकसत्, तत्तदीयनित्यज्ञानविषयः, यथेश्वरप्रयत्न इत्यादिना नित्यज्ञानसिद्धौ तत् स्वविषयं नित्यज्ञानत्वात्, स्वव्यवहारेऽन्यानपेक्षत्वात्, स्वसंशयादिविरोधित्वाच्च, ईश्वरज्ञानवत् । न च द्वितीयादावसिद्धिः । ज्ञानधारानुभवादित्याद्यनुमानैः चैत्रस्योक्तज्ञानाभावे सुप्तोत्थितस्य परामर्शो न स्यादित्याद्यनुकूलतर्कसनाथैर्विरोधात् । अद्वैतिरीत्यात्मरूपस्य ज्ञानस्यावेद्यत्वे च दोषाणामुक्तत्वाद् आत्मनो नित्यगुणभूतं ज्ञानं स्ववेद्यत्वरूपस्वप्रकाशत्ववत् । आत्मापि यावद्द्रव्यभाविना तेनाभिन्नत्वात्

अद्वैतसिद्धिः

पार्थक्यानुभवविरोधश्च । न्यायमते अनुव्यवसायस्यापि परवेद्यत्वे ज्ञानस्य प्रत्यक्षात्मविशेषगुणत्वेन इच्छादिवदवश्यवेद्यत्वात् ज्ञानधारानुभवापत्तिः, विच्छेदे चरमस्य निष्प्रामाणिकत्वापत्तिः, सामान्यप्रत्यासत्तेरभावात् । एवं च व्यवसायसुखादिगोचरं स्वविषयं नित्यमेव ज्ञानं सिध्यति । स्वविषयतायां च न स्वजनकसन्निकर्षाद्यपेक्षा सन्निकर्षाद्यनपेक्षेश्वरसर्वविषयनित्यज्ञानवत् । तथा चैवं प्रयोगः—'चैत्रसुखदुःखादिकं, चैत्रीयनित्यापरोक्षज्ञानविषयः, तं प्रति ज्ञातैकसत्त्वाद्, यद्यं प्रति ज्ञातैकसत्, तत्तं प्रति तादृग्भानविषयः, यथेश्वरप्रयत्न'इति नित्यज्ञानसिद्धौ 'तत्, स्वविषयम्, नित्यज्ञानत्वात्, स्वव्यवहारे अन्यानपेक्षत्वात्, स्वसंशयादिविरोधित्वाच्च, ईश्वरज्ञानवद्'—इति । तस्मादात्मनो नित्यगुणभूतज्ञानं स्वविषयत्वरूपस्वप्रकाशत्ववद्, आत्मापि, तद्विषयः, यावद्द्रव्यभाविना तेनाभिन्नत्वात्, मामहं जानामीत्यनुभवाद्, 'आत्मस्व-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न्याय-मत में सभी ज्ञान प्रत्यक्षात्मक आत्मा के विशेष गुण माने जाते हैं, अतः इच्छादि के समान सभी ज्ञानों का परतः प्रकाश माना जाता है, किन्तु अनन्त ज्ञान-परम्परा अनुभव में नहीं आती । ज्ञान-धारा का कहीं विच्छेद मानने पर अन्तिम ज्ञान अपने प्रमापक और प्रकाशक के अभाव में निष्प्रामाणिक हो जाता है, सामान्य प्रत्यासत्ति से भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि सामान्य प्रत्यासत्ति सर्वाभ्युपगत नहीं । परिशेषतः व्यवसाय और सुखादि को विषय करने वाला स्वविषयक नित्यज्ञान सिद्ध होता है । स्वकीय विषयीभूत स्व के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष की अपेक्षा वैसे ही नहीं होती, जैसे कि सन्निकर्षाद्यनपेक्ष सर्वविषयक ईश्वरीय ज्ञान को । इस विषय में अनुमान-प्रयोग भी है—(१) चैत्रीय सुख-दुःखादि चैत्रीय नित्यभूत अपरोक्ष ज्ञान के विषय होते हैं, क्योंकि चैत्र के प्रति सुखादि की ज्ञातैक सत्ता होती है, जिस पदार्थ की जिस पुरुष के प्रति ज्ञातैकसत्ता होती है, वह पदार्थ उस पुरुष के नित्य ज्ञान का विषय होता है, जैसे ईश्वर का प्रयत्न । इस प्रकार नित्य ज्ञान की सिद्धि हो जाने पर स्वविषयत्व की भी सिद्धि की जाती है—(२) 'वह ज्ञान स्वविषयक होता है, क्योंकि नित्य ज्ञान है, अथवा अपने व्यवहार में अन्यानपेक्ष है, अथवा स्वविषयक संशयादि का विरोधी है, जैसे ईश्वर का ज्ञान । इस लिए आत्मा का नित्य गुणभूत ज्ञान स्वविषयत्वरूप स्वप्रकाशत्व से युक्त होता है, आत्मा भी उसका विषय होता है, क्योंकि यावद्द्रव्यभावी

न्यायामृतम्

मामहं जानामीत्यनुभवात् । आत्मरूपा संवित् स्वविषया, स्वजन्यव्यवहारविषयत्वात् स्वसत्तायामप्रकाशमानत्वरहितत्वाद् यो यज्जन्यव्यवहारविषयादिः, स तद्विषयो यथा घटः । आत्मरूपा संवित् स्वविषयिणी, स्वसमानाधिकरणस्वसमानकालीनसत्त्वप्रकारकस्वविशेष्यकसंशयविरोधित्वाद्, उक्तविशेषणवद्विपर्ययविरोधित्वाद्, यद्विशेष्यकोक्तसंशयादिविरोधि तत्तद्विषयकं यथा घटसंवित् । स्वसमानाधिकरणपदस्थाने स्वापरोक्षव्यवहारयोग्येति वा वक्तव्यम् । अयं घट इत्यादि ज्ञानमपि घटे व्यधिकरणादि संशयविरोधीति व्याप्तिग्रहणार्थमेव हेतुविशेषणानि, न त्वसिद्धिवारकाणि—इत्याद्यनुमानैश्च स्ववेद्यत्वरूपस्वप्रकाशत्ववान् स्वप्रकाशदीप्त्याश्रयप्रदीपवत् । तस्माद्यौगिकापुनरुक्तानन्तवैदिकशब्दैर्वाच्यतया वेद्यत्वादनन्तगुणं ब्रह्मेति ।

आत्मनः पराभिमतस्वप्रकाशत्वभंगः ॥ १३ ॥

अद्वैतसिद्धिः

रूपा संवित्, स्वविषया, स्वजन्यव्यवहारविषयत्वात्' । 'उक्ता संवित्, स्वविषयिणी, स्वसमानाधिकरणस्वत्वप्रकारकस्वविशेष्यकसंशयविरोधित्वात् उक्तविशेषणवद्विपर्ययविरोधित्वाद्वा' इति—निरस्तम् ।

आद्यानुमाने साक्षिरूपापरोक्षनित्यज्ञानविषयत्वेन सिद्धसाधनम्, सहोत्पन्नज्ञानेनापि ज्ञातैकसत्त्वोपपत्त्या ज्ञानगतनित्यतापर्यन्तसाधने तस्यासामर्थ्यं च । न च चैत्रस्य तादृग्ज्ञानाभावे सुप्तोत्थितस्य परामर्शानुपपत्तिः, संस्कारेण तदुपपत्तेः, नित्यज्ञानस्य परामर्शविरोधित्वाच्च । स्वविषयत्वानुमाने च दृष्टान्तासिद्धिः, ईश्वरेऽपि स्वविषयकनित्यज्ञानासिद्धेः अप्रयोजकत्वं च, स्वाविषयत्वेऽपि व्यवहारादेरुपपादितत्वात् । किं च चैत्रनित्यज्ञानस्य स्वविषयत्वे नैकं नियामकम्, ईश्वरज्ञानस्य न्यायमते

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ज्ञानरूप गुण से अभिन्न होने के कारण 'मामहं ज्ञानामि'—इस प्रकार अभिन्नरूप से प्रतीत होता है। (३) अनुमान के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है कि आत्मरूप सवित स्वविषयिणी होती है, क्योंकि स्वजन्य व्यवहार की विषय है। (४) उक्त संवित् स्वविषयिणी होती है, स्व-समानाधिकरण स्वत्वप्रकारक स्वविशेष्यक संशय अथवा स्व-समानाधिकरण स्वत्वाभावप्रकारक स्वविशेष्यक निपर्यय का विरोधी है।

समाधान—प्रथम अनुमान (चैत्रीयखदुःखादिकं चैत्रीयनित्यापरोक्षज्ञानविषयः, तं प्रति ज्ञातैकसत्त्वात्) में साक्षिरूप नित्य ज्ञान की विषयता को लेकर सिद्ध-साधनता दोष होता है। दूसरी बात यह भी है कि सहोत्पन्न ज्ञान के द्वारा भी ज्ञातैकसत्ता की उपपत्ति हो जाती है, ज्ञानगत नित्यता-पर्यन्त-साधन का सामर्थ्य उक्त अनुमान में नहीं है। 'चैत्र को यदि वैसा ज्ञान नहीं हुआ, तब सुषुप्ति से उठने पर चैत्र को स्मरण क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—संस्कारों के द्वारा स्मरण हो जायगा। दूसरी बात यह भी है कि नित्य ज्ञान स्मरण का विरोधी भी होता है। द्वितीय (स्वविषयत्व-साधक) अनुमान में दृष्टान्तासिद्धि है, क्योंकि ईश्वर में भी स्वविषयक नित्य ज्ञान सिद्ध नहीं एवं हेतु में अप्रयोजकत्व दोष भी है, क्योंकि स्वाविषय में भी व्यवहारादि का उपपादान किया जा चुका है। दूसरी बात यह भी है कि चैत्रीय ज्ञान की स्वविषयता में कोई एक भी नियामक नहीं। न्यायमतानुसार ईश्वर-ज्ञान में वस्तुत्व के समान सर्वविषयत्व बन

अद्वैतसिद्धिः

वस्तुत्ववत् सर्वविषयत्वोपपत्तेः, नाप्यभेदः, दुःखादावभावात् । नापि समानाधिकरणत्वम् , आत्मन्यभावाद् , धर्मादौ तत्सद्भावाच्चेत्यननुगतमेव वाच्यम् । तथा च किमपराद्धं व्यवसायस्वप्रकाशत्ववादिना गुरुणा ? अन्यत्र सन्निकर्षस्य नियामकत्वेऽपि स्वस्मिन्नभेदस्य संभवात् , पार्थक्यानुभवाननुभवरूपस्यानुभवकलहस्य त्वन्मतसमानत्वात् । तस्माद्व्यवहार एवाननुगतं कारणमस्तु । तत्प्रयोजकानुगमार्थं किमिति निर्बन्धः ? पश्चादप्यननुगम एव पर्यवसानात् । एवं च न स्वविषयत्वरूपं स्वप्रकाशत्वं, किन्त्ववेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वमिति सिद्धम् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ आत्मनः स्वप्रकाशत्वोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाता है । ज्ञानरूप गुण के साथ आत्मा का अभेद भी स्वविषयत्व नियामक नहीं हो सकता, क्योंकि दुःखादि गुणों के साथ ज्ञान का अभेद कोई भी नहीं मानता। सामानाधिकरण्य को भी नियामक नहीं कह सकते, क्योंकि दुःखादि में ज्ञान का सामानाधिकरण्य रहने पर भी आत्मा में ज्ञान-सामानाधिकरण्य नहीं, प्रत्युत अविषयीभूत धर्मादि के साथ ज्ञान का सामानाधिकरण्य होता है, अतः वह विषयता का नियामक कैसे होगा ? अतः स्वनिष्ठ स्वविषयत्व का नियामक स्वाभेद और दुःखादि निष्ठ स्वविषयत्व का सामानाधिकरण्य नियामक है—इस प्रकार अननुगत पदार्थों को ही विषयता का नियामक मानना होगा, तब व्यवसाय ज्ञान को स्वप्रकाश माननेवाले प्रभाकर ने क्या अपराध किया ? क्योंकि स्व-भिन्नगत विषयता की नियामकता सन्निकर्ष में होने पर भी स्व में अभेद को नियामक मानना तथा व्यवसाय और अनुव्यवसाय के पार्थक्य का अनुभवाननुभवरूप विवाद तो आप के मत में भी समान है। इस लिए व्यवहार में ही अननुगत कारण माना जा सकता है, प्रयोजक का अनुगम करने की क्या आवश्यकता ? अनुगम-कल्पना के पश्चात् भी अननुगम की शरण लेनी ही पड़ती है, अतः स्वविषयत्वरूप स्वप्रकाशत्व सिद्ध नहीं होता, अपितु अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व को ही स्वप्रकाशत्व का निरवद्य स्वरूप कहा जा सकता है ।

: १४ :

अवाच्यत्वभंगविचारः

न्यायामृतम्

यच्चेदमुच्यते ब्रह्म सर्वशब्दावाच्यमिति। तत्रावाच्यपदेनोच्यते चेत्, वाच्यत्वसिद्धिः। नापि तेनापि लक्ष्यते, अवाच्यरूपमुख्यार्थस्यान्यस्याभावाद्, भावे वा ब्रह्म नावाच्यम्, किं तु तीरवदवाच्यरूपमुख्यार्थसम्बन्धिमात्रमिति स्यात्। मुख्यार्थहीनस्यापि ब्रह्मलक्षकत्वे घटशब्दोऽपि घटलक्षकः स्यात्। एवं निर्विशेषं स्वप्रकाशं परमार्थसदित्यादिशब्दैर्ब्रह्मोच्यते चेद्वाच्यत्वसिद्धिः। नापि तैरपि लक्ष्यते, निर्विशेषस्वप्रकाशादिरूपमुख्यार्थस्यान्यस्याभावात्। एवं लक्ष्यशब्देनोच्यते चेद्वाच्यत्वसिद्धिः, लक्ष्यते चेल्लक्ष्यत्वहानिः, गंगाशब्दलक्ष्यस्याऽगांगात्ववत् लक्ष्यपदलक्ष्यस्यालक्ष्यत्वात्।

अद्वैतसिद्धिः

निर्धर्मकतया अवेद्यतया च ब्रह्म आनन्दादिपदलक्ष्यं, न वाच्यम्, प्रवृत्तिनिमित्ताभावादिति। ननु—अवाच्यशब्देनोच्यते चेद्, वाच्यत्वसिद्धिः, लक्ष्यते चेद्, अवाच्यरूपमुख्यार्थस्याभावात् कथं लक्षणा? भावे वा ब्रह्म नावाच्यं, किंतु तीरवदवाच्यरूपमुख्यार्थसंबन्धिमात्रमिति स्यात्। मुख्यार्थहीनस्यापि ब्रह्मलक्षकत्वे घटपदमपि घटलक्षकं स्यादिति—चेन्न, अवाच्यरूपमुख्यार्थाभावेऽपि नञ्समभिव्याहृतवाच्यशब्देन वाच्यत्वात्यन्ताभावबोधनद्वारा स्वरूपे लक्षणयैव पर्यवसानात्। एवं निर्विशेषपदमपि, अखण्डपदलक्षकताग्रामेव मुख्यार्थावश्यम्भावनियमात्। ननु—एवं लक्ष्यपदेनापि लक्ष्यत्वे तीरस्यागङ्गात्ववत् ब्रह्मणोऽलक्ष्यत्वापत्तिरिति—चेन्न, इष्ट-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ब्रह्म निर्धर्मक तथा अवेद्य है, अतः उसे आनन्दादिपदों का लक्ष्य हीं कहा जा सकता है, वाच्य नहीं, क्योंकि उसमें शक्यतावच्छेदकीभूत जात्यादि का अभाव है।

शङ्का—ब्रह्म यदि 'अवाच्य' पद से अभिहित होता है, तब उसमें 'अवाच्य' शब्द को वाच्यता माननी पड़ती है, जो कि 'यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० उ० २।४) इस श्रुति से विरुद्ध है। यदि 'अवाच्य' शब्द की ब्रह्म में लक्षणा की जाती है, तो वह संभव नहीं, क्योंकि जो किसी पद का वाच्यार्थ होता है, उसी में लक्षणा मानी जाती है, 'अवाच्य' ब्रह्म जब किसी शब्द का वाच्यार्थ नहीं, तब उसमें लक्षणा कैसे हो सकेगी? यदि लक्षणा होती है, तब ब्रह्म किसी-न-किसी पद का वाच्य होगा, उसे अवाच्य नहीं कहा जा सकता, किन्तु जैसे 'तीर' पद का मुख्यार्थ तीर गङ्गा पद-वाच्य प्रवाह का सम्बन्धी मात्र होता है, वैसे ही 'अवाच्य' पद का लक्ष्य या 'अवाच्य' पद के मुख्यार्थ का सम्बन्धी ब्रह्म होगा। मुख्यार्थ-रहित 'अवाच्य' पद भी यदि ब्रह्म का लक्षक माना जाता है, तब 'घट' पद भी घट का लक्षक हो जायगा, क्योंकि घट से भिन्न उसका वाच्यार्थ नहीं होता।

समाधान—'अवाच्य' पद का अवाच्यरूप मुख्यार्थ न होने पर भी नञ-समभिव्याहृत (अ + वाच्य) 'वाच्य' शब्द वाच्यत्वात्यन्ताभाव-बोधन के माध्यम से स्वरूप मात्र में लक्षणया पर्यवसित होता है। इसी प्रकार 'निर्विशेष' पद भी लक्षणा के द्वारा स्वरूप मात्र में पर्यवसित होता है। गङ्गादि अखण्ड पदों की लक्षकता में ही तीरादि पदों के मुख्यार्थ की आवश्यकता होती है, 'अवाच्यादि' सखण्ड पदों की लक्षकता में मुख्यार्थ-प्रसिद्धि आवश्यक नहीं होती।

शङ्का—'लक्ष्यं ब्रह्म'—इस वाक्य के घटक 'लक्ष्य' पद का भी ब्रह्म वाच्य न

न्यायामृतम्

ननु निर्विशेषादिशब्दानां विशेषाभावादिविशिष्टं वाच्यम् , तच्च न ब्रह्म तस्य विशेषाभावाद्युपलक्षितत्वादिति चेत् , तर्हि विशेषाभावोपलक्षितशब्दवाच्यत्वमनिवार्यम् । ननु विशेषाभावोपलक्षितत्वादिकं वा तद्विशिष्टत्वं वा निर्विशेषादिपदवाच्यम् , तच्च न ब्रह्म किं तु तदाश्रयव्यक्तिभूतं विशेष्यं एवं च मुख्यार्थसिद्धिः । ब्रह्मणो निर्विशेषादिशब्दलक्ष्यत्वेऽपि निर्विशेषत्वाद्यहानिश्चेति चेन्न, व्यक्तिः शब्दार्थः जातिस्तूपधान-

अद्वैतसिद्धिः

त्वात् , सर्वथा निर्धर्मकत्वात् , लक्ष्यव्यवहारस्य च वाच्यत्वाभावनिबन्धनत्वात् , तथा प्रतिपादितं प्राक् । न चैवं लक्ष्यत्वाभावेन वाच्यत्वव्यवहारप्रसङ्गः, गौणस्य तस्यापीष्टत्वात् , सत्यज्ञानादिपदानां च कल्पितधर्मवाचिनां ब्रह्मरूपव्यक्तिलक्षकतयाऽखण्डार्थत्वानपायात् । न च—सत्त्वादिधर्माश्रयतया लक्ष्यत्वाभावे मञ्चसंबन्धित्वमात्रेण लक्ष्यस्य पुंसः अमञ्चत्ववत् सत्त्वादिसंबन्धित्वमात्रेण लक्ष्यस्य ब्रह्मणः असत्त्वाद्यापत्तिरिति—वाच्यम् , कल्पितचन्द्रत्वादिजातेः परमार्थचन्द्रादिव्यक्तितादात्म्येनाचन्द्रत्वाभाववदत्रापि सत्त्वाद्यभावानापत्तेः । तदुक्तम्—'लक्ष्यव्यक्तिरपि ब्रह्मे'ति । अत एव—स्वप्रकाशादेरब्रह्मत्वे यद्यद् , ब्रह्मतयेष्टं, तत्तदब्रह्मेति साधु समर्थितो ब्रह्मवाद इति—निरस्तम् ,

यत्तु निर्विशेषादिपदानां च समासपदतया लक्ष्यादिपदानां यौगिकतया वाक्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होकर लक्ष्य ही माना जाता है, तब जैसे तीर अर्थ गङ्गारूप अर्थ से भिन्न होता है, वैसे ही ब्रह्म भी लक्ष्यरूप अर्थ से भिन्न अलक्ष्य ही माना जायगा।

समाधान—ब्रह्म की अलक्ष्यता भी अभीष्ट ही है, क्योंकि सर्वथा निर्धर्मक ब्रह्म लक्ष्यत्वादि धर्मों का भी आधार नहीं बन सकता। ब्रह्म में लक्ष्यत्व का व्यवहार वाच्यत्वाभाव-निबन्धन हो जाता है—ऐसा पहले कहा जा चुका है।

शङ्का—कोई भी पदार्थ लक्ष्य नहीं, तो वाच्य होता है और वाच्य न होने पर लक्ष्य माना जाता है, ब्रह्म में लक्ष्यता यदि नहीं, तब उस में वाच्यता का व्यवहार प्रसक्त होता है।

समाधान—वाच्यत्व का गौण व्यवहार वहाँ माना जा सकता है। सत्य, ज्ञानादि शब्द भी सत्यत्वादि कल्पित धर्मों के वाचक होकर ब्रह्मरूप व्यक्ति के लक्षक माने जाते हैं, अतः उन में अखण्डार्थकत्व बन जाता है।

शङ्का—सत्त्वदिधर्माश्रयत्वेन ब्रह्म यदि लक्ष्य नहीं, तब 'मञ्चाः क्रोशन्ति'—इत्यादि स्थलों पर मञ्चसम्बन्धित्वेन लक्ष्यभूत पुरुष में अमञ्चत्व के समान सत्त्वसम्बन्धित्वेन लक्ष्यभूत ब्रह्म में भी असत्त्वादि की आपत्ति होगी।

समाधान—जैसे कल्पित चन्द्रत्वादि जाति में परमार्थभूत चन्द्रादि व्यक्ति-तादात्म्य के कारण अचन्द्रत्व नहीं माना जाता, वैसे ही ब्रह्म में सत्त्वाद्यभाव की प्रसक्ति नहीं होती, जैसा कि कहा गया है—"लक्ष्य व्यक्तिरपि ब्रह्म सत्त्वादि न जहाति नः ॥" अत एव न्यायामृतकार ने जो कहा है—'स्वप्रकाशादि पदार्थ यदि ब्रह्म नहीं, तब जो-जो भी ब्रह्मत्वेन अभीष्ट हो, उसे अब्रह्म मानने पर ब्रह्मवाद का समर्थन नहीं, वञ्चना मात्र है। वह कहना भी निरस्त हो जाता है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि निर्विशेषादि पद समास पद हैं और

न्यायामृतम्

मिति मते जातिविशिष्टा व्यक्तिः शब्दार्थ इति मते च यत्र विशेष्ये निर्विशेषत्वादिकं तस्य तदवाच्यत्वायोगात्। जातिरेव शब्दार्थः, व्यक्तिस्तु लक्ष्येतिमतस्य च व्युत्पत्तिविरोधादिनान्यत्र निरासात्। अस्मिन्पक्षे घटादिव्यक्तेरपि घटादिशब्दावाच्यत्वेन ब्रह्मणस्ततो विशेषार्थं जातिवाचिभिः सत्यादिशब्दैः मंचशब्देन पुरुष इव ब्रह्म जात्याधारव्यक्तिसम्बन्धितयैव लक्ष्यत इति वक्तव्यत्वेन मुख्यार्थाभावादिदोषतादवस्थ्याच्च। सत्यं ज्ञानमित्यादौ ब्रह्मणः सत्यत्वादिधर्माश्रयतयैव लक्ष्यत्वे घटादिवत् सखण्डार्थत्वापाताच्च। किं च निर्गुणस्वप्रकाशादेरब्रह्मत्वे यद्यद् ब्रह्मतयेष्टं तत्तदब्रह्मेति साधु समर्थितो ब्रह्मवादः।

नन्ववाच्यादिशब्दाः समस्तरूपाः लक्ष्यादिशब्दास्तु यौगिकाः उभयेषामपि वाक्यतुल्यात्वान्न वाचकतेति चेन्न, अन्विताभिधानपक्षे तेषामपि वाचकत्वात्। अभिहितान्वयपक्षेऽपि वाक्य एवाभिहितान्वयस्वीकारेण प्रकृतिप्रत्यययोरन्विताभिधायित्वात्। समासे पदार्थसंसर्गस्य यौगिके प्रकृतिप्रत्ययार्थसंसर्गस्य चानभिधेयत्वेऽपि पदार्थस्य प्रत्ययार्थस्य च वाच्यत्वात् तदर्थस्य च ब्रह्मणः वाच्यत्वापरिहाराच्च। यदि तु ब्रह्म न पदार्थः किं तु पदार्थसंसर्गरूपम्, तर्हि सखण्डं स्यात्। यदि तु अवाच्यमित्यादौ पदद्वयादिकं न स्वार्थसंसर्गपरं किं तु ब्रह्ममात्रलक्षकम्, तर्हि न तेनावाच्यत्वादिसिद्धिः। तस्मान्निर्विशेषादिशब्दवाच्यत्वं दुर्वारम्। तदुक्तम्—

पदं च निर्गुण इति कथं गौणं वदिष्यति।
गुणाभावोपलक्ष्यं चेत्पदं तदपि वाचकम्॥ इति
येन लक्ष्यमिति प्रोक्तं लक्ष्यशब्देन सोऽवदम्॥
एवं च— अवाच्यलक्ष्यादिपदैर्लक्ष्यं चेद्वाच्यतादिकम्। इति
स्यान्नदीशब्दलक्ष्यस्यानदीत्वमिव हि ध्रुवम्॥

अद्वैतसिद्धिः

तुल्यत्वान्न वाचकतेति वक्तुमशक्यम्, अन्विताभिधानपक्षे तेषामपि वाचकत्वाद्, अभिहितान्वयपक्षेऽपि वाक्य एवाभिहितान्वयस्वीकारेण प्रकृतिप्रत्यययोरन्विताभिधायकत्वाद् वाक्यतुल्यस्यापि वाचकत्वाद् ब्रह्मणः पदार्थसंसर्गरूपत्वे सखण्डत्वापत्त्या पदार्थत्वे वाच्यत्वापरिहारादिति, तन्न, पदलक्ष्यत्वेऽप्यपदार्थत्वोपपत्तेः, अखण्डत्वेऽपि वाक्यार्थत्वस्योपपादितत्वादन्विताभिधाने अन्वितवाचकस्यापि स्वरूपे लक्षणाङ्गी-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

लक्ष्यादि शब्द यौगिक हैं, अतः पद न होकर वाक्य के तुल्य हैं, अतः उनमें वाचकता कहना ही असम्भव है—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रभाकर-सम्मत अन्विताभिधानवाद में समासादि पदों को भी वाचक माना जाता है। अभिहितान्वय पक्ष में भी वाक्य में ही अभिहितान्वय माना जाता है, क्योंकि प्रकृति और प्रत्यय—दोनों में ही अन्विताभिधायकत्व विवक्षित होता है, अतः वाक्य के तुल्य शब्दों को भी वाचक मानते हैं। ब्रह्म को पदार्थ-संसर्ग रूप मानने पर सखण्ड मानना होगा और पदार्थ रूप मानने पर उसमें वाच्यत्व का होना अनिवार्य है।

न्यायामृतकार का वह कहना उचित नहीं, क्योंकि पद की लक्ष्यता रहने पर भी पदार्थत्व निभ जाता है, अखण्डत्व होने पर भी वाक्यार्थत्व का उपपादन किया जा चुका है, अतः अन्विताभिधानवाद में अन्वितार्थ के वाचक शब्द की स्वरूप में लक्षणा

न्यायामृतम्

'यतो वाचो निवर्तन्ते, अशब्दमस्पर्श''मित्यादिश्रुतिस्तु अद्भुतत्वाद्यभिप्राया।

न तदीदृगिति ज्ञेयं न वाच्यं न च तर्क्यते।
पश्यंतोऽपि न पश्यति मेरो रूपं विपश्चितः॥ इत्यादौ दर्शनात्—
अद्भुतत्वादवाच्यं तदतर्क्याज्ञेयमेव च।
अनन्तगुणपूर्णत्वादित्यूदे पैंगिनां श्रुतिः॥
अवाच्यमितिलोकोऽपि वक्त्याश्चर्यतमं भुवि॥ इत्युक्तेश्च।

पराभिमतार्थे अशब्दमित्यादिशब्दवाच्यत्वस्यापि निषेधेन अशब्दशब्दावाच्यस्याशब्दत्वासिद्ध्या स्वव्याघाताच्च। "यतो वाच" इत्यत्र मनसा सहेति श्रुतमतो वृत्तेरिवान्तःकरणवृत्तिव्याप्ये ब्रह्मणि वाग्वृत्तेरपि सर्वथा निषेधायोगाच्च। यत आनन्दं ब्रह्मण इति यदानन्दाद्यनेकशब्दमुख्यार्थत्वाय निवर्तन्त इत्येकामुख्यार्थत्वस्यैव न्याय्यत्वाच्च। त्वन्मते "यतो वाचो निवर्तन्त" इत्यादेरपि लक्षणया चिन्मात्रपरत्वेन वाच्यत्वाविरोधित्वाच्च। "अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति तस्मादुच्यते परं ब्रह्मेतीति श्रुत्या

अद्वैतसिद्धिः

कारात्। न च तर्ह्यवाच्यत्वासिद्धिः, अखण्डब्रह्मसिद्ध्युपायत्वेन प्राप्तस्यावाच्यत्वादेः निवारकाभावेनानुषङ्गिकतया सिद्धेः। 'यतो वाचो निवर्तन्ते. अशब्दमस्पर्श'मित्यादिश्रुतयश्चात्रानुसन्धेयाः, अवाच्यशब्दवदशब्दशब्देऽपि व्याघाताभावात्। न चेयं श्रुतिरद्भुतत्वाभिप्राया, श्रूयमाणार्थत्वे बाधकाभावात्। न च 'यतो वाच' इत्यत्रापि मनसा सहेति श्रुतमतो वृत्तेरिवान्तःकरणवृत्तिव्याप्ये ब्रह्मणि वाग्वृत्तेरपि सर्वथा निषेधायोगः, लक्षणायाः स्वीकारेण शक्तिमात्रस्यैव निराकरणात्। न च – आनन्दाद्यनेकपदामुख्यार्थत्वापेक्षया निवर्तन्त इत्येकपदार्थामुख्यत्वमेव युक्तमिति– वाच्यम्, ब्रह्मणो निर्धर्मकतया तत्र शक्त्यभावेन बहुत्वस्याप्रयोजकत्वाद्वाच्यत्वविरोध्यर्थद्वारैवाखण्डार्थपरतया

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मानी गई है। 'ब्रह्म यदि वाच्य है, तब उसमें अवाच्यता सिद्ध नहीं होती'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अखण्ड ब्रह्म की सिद्धि का साधन होने के कारण प्राप्त अवाच्यत्वादि का कोई बाधक न होने के कारण आनुषङ्गिक रूप से अवाच्यत्वादि की सिद्धि हो जाती है। "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० उ० २।४) ''अशब्दमस्पर्शम्'' (कठो० ३।१५) इत्यादि श्रुतियाँ भी अवाच्यत्वादि की साधिका हैं। 'अवाच्य' शब्द के समान ही 'अशब्द' शब्द में भो किसी प्रकार का व्याघात नहीं। 'यह श्रुति ब्रह्म की अद्भुतता को कहती है'—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि उसकी मुख्यार्थपरता में कोई बाधक नहीं। 'यतो वाचः'—यहाँ पर भी 'मनसा सह'—इस प्रकार का उल्लेख है, अतः वृत्ति के समान अन्तःकरण-वृत्ति-व्याप्यभूत वाग्वृत्ति का ब्रह्म में सर्वथा निषेध नहीं हो सकता—ऐसा कहना संगत नहीं, क्योंकि उक्त स्थल पर लक्षणा वृत्ति मानकर शक्ति वृत्तिमात्र का ही निराकरण किया गया है।

शङ्का—आनन्दादि अनेक पदों में अमुख्यार्थता की अपेक्षा 'निवर्तन्ते'—इस एक पद को ही अमुख्यार्थक मानना उचित है।

समाधान—ब्रह्म निर्धर्मक है, अतः उसमें शक्ति नहीं मानी जाती। वाक्यगत बहुत्व मुख्यार्थता का प्रयोजक नहीं होता अतः वाच्यत्व-विरोधी (वाच्यत्वाभाव) अर्थ के द्वारा अखण्डार्थपरता मानी जाती है, अतः वाच्यत्व पक्ष में विरोध जैसा-का-

न्यायामृतम्

"वचसां वाच्यमुत्तमं परमात्मेति चाप्युक्त" इत्यादिस्मृत्या वेदान्ततात्पर्यविषयो ब्रह्म वाच्यम्, वस्तुत्वाल्लक्ष्यत्वाच्च, तीरवत्। परमार्थसदादिपदं कस्यचिद्वाचकम्, पदत्वाद्, घटपदवत्। सत्यज्ञानादिवाक्यं वाच्यार्थतात्पर्यवत्पदयुक्तम्, वाक्यत्वात्, अग्निहोत्रादिवाक्यवदित्याद्यनुमानैश्च विरोधाच्च। विपक्षे लक्ष्यत्वं न स्यात्। तथा हि लाक्षणिकशब्दो न श्रुत एवार्थान्तरधीहेतुः, तत्रागृहीतशक्तिकत्वात्, किंतु पूर्वंधीस्थे-वाच्यार्थेऽनुपपत्तिदर्शने सति तत्त्यागेन स्वरूपतो वाच्यार्थसम्बन्धित्वेन चावगत-

अद्वैतसिद्धिः

तद्विरोधतादवस्थ्यात्। अत एव कस्मादुच्यते परं ब्रह्मेत्यादिश्रुतेः परमात्मेति चाप्युक्त इत्यादिस्मृतेश्च तत्तच्छब्दबोध्यत्वमात्रेण वाच्यत्वाभिलापः, न तु शक्यत्वाभिप्रायेणेति ताभ्यां न विरोधः। तात्पर्यविषयो ब्रह्म वाच्यं वस्तुत्वाल्लक्ष्यत्वाच्च तीरवदिति—चेत्, निर्धर्मकतया वाच्यत्वबाधात्, तदुन्नीतसधर्मकत्वाद्युपाधिसंभवाच्च। परमार्थसत्य-पदादिकं कस्यचिद्वाचकम्, पदत्वादित्यपि न, किमत्र पदत्वम्? न तावत्सुप्तिङन्त-त्वम्, समासपदस्याशक्तत्वेन राजपुरुषादौ व्यभिचारात्, नापि शक्तत्वम्, साध्या-विशेषाद्, अवयवद्वारा समासपदस्य वाचकत्वं चेद्, इष्टमेव। नापि सत्यज्ञानादि-वाक्यं वाच्यार्थतात्पर्यवच्छब्दयुक्तं वाक्यत्वादित्यपि, विषं भुङ्क्ष्वेत्यादौ व्यभिचारात्।

ननु—अवाच्यत्वे लक्ष्यत्वानुपपत्तिः, वाच्यार्थसंबन्धित्वेन ज्ञातस्यैव लक्ष्य-त्वात्, तज्ज्ञानं च न शब्दभिन्नेन, उपनिषन्मात्रगम्यत्वात्, नापि स्वप्रकाशतया, नित्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तैसा विद्यमान है। अत एव "कस्मादुच्यते परं ब्रह्म" (अथ. शि. उ. ४) इत्यादि श्रुति तथा "परमात्मेति चाप्युक्तः"—इत्यादि स्मृतियों में तत्तत् शब्द-बोध्यत्व मात्र से वाच्यत्व का अपलाप किया गया है, शक्यत्वाभिप्राय से नहीं, अतः उक्त श्रुति और स्मृति से कोई विरोध उपस्थित नहीं होता। 'तात्पर्यविषयो ब्रह्म वाच्यम्, वस्तुत्वात् लक्ष्य-त्वाच्च, तीरवत्'—यह अनुमान बाधित है, क्योंकि निर्धर्मक ब्रह्म में 'वाच्यत्व' साध्य का रहना सम्भव नहीं। बाधोन्नीत सधर्मकत्वादि धर्म उक्त अनुमान में उपाधि भी है। 'परमार्थसत्यपदादिकं कस्यचिद्वाचकम्, पदत्वात्'—यह अनुमान भी समुचित नहीं, क्योंकि यहाँ पदत्व क्या है? 'सुप्तिङन्तत्व' को पदत्व नहीं कह सकते, क्योंकि समास पद सुप्तिङन्त होने पर भी शक्त या वाचक नहीं माने जाते, अतः राजपुरुषादि में पदत्व व्यभिचरित है। शक्तत्व को भी पदत्व नहीं कह सकते, क्योंकि वाच्यत्वरूप साध्य और शक्तत्वरूप हेतु में कोई अन्तर नहीं, अतः हेतु में साध्याविशेषत्व दोष होता है। समास पदों की अपने अवयवों (घटक पदों) के द्वारा वाचकता अभीष्ट ही है। 'सत्यज्ञानादिवाक्य' वाच्यार्थपरकपदों से घटित है, क्योंकि वाक्य है'—यह अनुमान 'विषं भुङ्क्ष्व'—इस वाक्य में व्यभिचरित है, क्योंकि वहाँ वाक्यत्व रहने पर भी वाच्यार्थपरक पद-घटितत्वरूप साध्य नहीं रहता।

शङ्का—ब्रह्म यदि किसी पद का वाच्य नहीं, तब लक्ष्य भी नहीं बन सकता, क्योंकि वाच्यार्थसम्बन्धित्वेन ज्ञात पदार्थ को ही लक्ष्यार्थ कहते हैं। ब्रह्म का ज्ञान शब्द को छोड़ कर और किसी प्रमाण से सम्भव नहीं, क्योंकि वह औपनिषद है, उपनिषद् के द्वारा ही अधिगत होता है। ब्रह्म यदि स्वप्रकाश है, तब उसे नित्य सिद्ध मानना होगा, उसकी सिद्धि के लिए शब्द-प्रयोग व्यर्थ है। उसे लक्ष्य मानने पर 'अवाच्य' शब्द

न्यायामृतम्

स्यार्थान्तरस्य बोधकः। गंगाशब्दादौ तथा दर्शनात्। अन्यथातिप्रसंगाच्च। तथा च ब्रह्मणोऽपि लक्ष्यत्वे वाच्यार्थसम्बन्धित्वेन ज्ञेयत्वात्। औपनिषदत्वश्रुत्या वेदैकगम्यस्य चाशब्देनाज्ञेयत्वात् स्वप्रकाशतया नित्यसिद्धौ च शब्दवैयर्थ्यात् अवाच्ये च शब्दस्य लक्षकस्यैव वक्तव्यत्वात् तत्रापि वाच्यसम्बन्धित्वेन ज्ञेयत्वेनानवस्थेति कथमवाच्ये लक्षणा। एवं च—

वाच्ययोगितया बुद्धं लक्ष्यं ब्रह्म च वैदिकम्।
अवाच्यं चेति वक्तव्ये लक्षके ह्यनवस्थितिः॥

न च वाचकस्यापि गृहीतसंगतिकस्यैव बोधकत्वात्सम्बन्धग्रहणस्य च संबन्धिज्ञानाधीनत्वात्, सम्बन्धिनश्च ब्रह्मणः शब्दैकगम्यत्वात्, तवाप्यनवस्थेति वाच्यम्, यौगिकशब्दानां वाक्यतुल्यत्वेन संगतिग्रहणानपेक्षणात्। एवमवाच्यं चेद् ब्रह्म न सिद्ध्येत्, स्वतः सिद्धेर्निरस्तत्वाद् औपनिषदत्वेन चाशब्देनासिद्धेः। लक्षकस्य च शब्दस्य वाच्यार्थसम्बन्धित्वेन ज्ञातं प्रत्येव साधकत्वेनावाच्यस्य सिद्ध्ययोगात्।

ननु चात्र पक्षो ब्रह्म पदवाच्यं चेत्, सिद्धसाधनम्। लक्ष्यं चेद्, विरोधः। अत एवावाच्यत्वे लक्ष्यत्वं न स्यादिति तर्कोऽप्ययुक्तः। आपाद्यापादकयोरप्रसिद्ध्या व्याप्त्यसिद्धेश्च उक्तं हि—

कथं लक्ष्यत्वमत्यन्तावाच्यस्येति न चोद्यताम्।
अत्यन्तावाच्यशब्देन लक्ष्यस्यैवावबोधनात्॥

इति चेन्न, वेदान्ततात्पर्यविषयत्वादिना रूपेण पक्षीकरणात्। अन्यथा त्वदीयेऽवाच्यत्वानुमानेऽपि पक्षो ब्रह्म वाच्यं चेद्विरोधः, लक्ष्यं चेदाश्रयासिद्धिरिति स्यात्। अस्ति च यत्र प्रयोजकाभावस्तत्र प्रयोज्याभाव इति सामान्यव्याप्तिः। उक्ता च लक्ष्यत्वे वाच्यत्वस्य तंत्रता। न चेक्षुक्षीरमाधुर्यादौ वाक्यार्थे च व्यभिचारः, तस्यापि माधुर्यवाक्यार्थादिसाधारणशब्दवाच्यत्वात्।

विशदं क्षीरमाधुर्यं स्थिरमाज्यस्य तीक्ष्णकम्।
गुडस्य पनसादीनां निर्हारीत्यभिधीयते॥

इत्युक्तत्वेन अन्विताभिधानस्यान्यत्र समर्थितत्वेन चासाधारणशब्दवाच्यत्वाच्च। अभिहितान्वयपक्षेऽपि वाक्यार्थो नोच्यते नापि लक्ष्यते किं त्वन्विताभिधाने विशेषान्वय इव वृत्तिं विनैव संसर्गमर्यादया प्रतीयत इति तार्किकमते वाक्यार्थे लक्ष्यत्वस्याप्यभावाच्च।

अद्वैतसिद्धिः

सिद्धे शब्दवैयर्थ्यात्। अवाच्यशब्दस्य च लक्षकस्यैव वक्तव्यत्वात्तत्रापि वाच्यसंबन्धित्वेन ज्ञेयत्वे अनवस्थेति—चेन्न, तथा ज्ञानमुपस्थितावुपयोगि। ब्रह्म स्वप्रकाशतया स्वत एवोपस्थितमिति किं तेन? न चैवं शब्दवैयर्थ्यम् आवरणाभिभावकवृत्तावुपयो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

को ही उसका लक्षक मानना होगा, 'अवाच्य' पद की लक्ष्यता भी उसमें अवाच्यपदवाच्य-सम्बन्धित्वेन ही माननी होगी, तब तो अनवस्था होती है।

समाधान—पदार्थ की उपस्थिति में उसका ज्ञान उपयोगी होता है, ब्रह्म स्वप्रकाश होने के कारण स्वतः ही उपस्थित है, अतः उसके ज्ञान की क्या आवश्यकता? यदि नित्य सिद्ध है, तब उसके लिए शब्द-प्रयोग व्यर्थ है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आवरण-निवर्तक वृत्ति की उत्पत्ति में शब्द-प्रयोग सार्थक होता है।

न्यायामृतम्

न च वाक्यार्थशब्दस्य समासत्वेन लक्षकत्वात् न वाचकतेति वाच्यम्, समासस्य लक्षकत्वपक्षेऽपि राजपुरुष इत्यत्र राजशब्दस्येव वाक्यशब्दस्य षष्ठ्यर्थलक्षकत्वेऽपि पुरुषशब्दस्येव अर्थशब्दस्य वाचकत्वात्। एतेन समासस्य वाक्यतुल्यत्वेनाभिहितान्वयेऽभिधानं विनैव स्वार्थबोधकतेति निरस्तम्। वाक्यशब्दार्थशब्दयोर्यावर्थौ तत्संसर्गत्वेन रूपेण समासावाच्यत्वेऽपि अर्थत्वरूपेणार्थपदवाच्यत्वात्।

ननु प्रवृत्तिनिमित्ताभावात् कथं वाच्यत्वम्? उक्तं हि—

दृष्टा गुणक्रियाजातिरूढयः शब्दहेतवः।
नात्मन्यन्यतमोऽमीषां तेनात्मा नाभिधीयते॥ इति।

न च घटादाविवारोपितं निमित्तमस्तीतिशंक्यम्, आरोपिते श्रुतितात्पर्यायोगेन तात्पर्यविषयस्य वाच्यत्वायोगादिति चेन्न, सत्यादिशब्दानां लक्षकत्वे सिद्धे

अद्वैतसिद्धिः

गात्। अत एव नानवस्था। तस्मात् प्रवृत्तिनिमित्तस्य दुर्निरूपत्वादवाच्यत्वम्। तदुक्तम्— दृष्टा गुणक्रियाजातिसंबन्धाः शब्दहेतवः।
नात्मन्यन्यतमो ह्येषां तेनात्मा नाभिधीयते॥ इति।

न चारोपितगुणाश्रयतया वाच्यता, तस्य तात्पर्याविषयतया तात्पर्यविषये अवाच्यत्वस्य स्थितत्वात्। न च सत्यादिपदानां लक्षकत्वे सिद्धे निमित्ताभावः, तस्मिंश्च लक्षकत्वमिति परस्पराश्रयः, निर्विशेषवाक्येन नेति नेतीत्यनेनैव निमित्ताभावस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अत एव अनवस्था भी नहीं। फलतः ब्रह्म में शब्द-प्रवृत्ति-निमित्त दुर्निरूपित होने के कारण ब्रह्म को अवाच्य माना जाता है, जैसा कि कहा गया है—

दृष्टा गुणक्रियाजातिसंबन्धाः शब्दहेतवः।
नात्मन्यन्यतमो ह्येषां तेनात्मा नाभिधीयते॥

[गुण, क्रिया, जाति और सम्बन्ध ही शब्द के प्रवृत्ति-निमित्त माने जाते हैं, इनमें से कोई भी निमित्त ब्रह्मवृत्ति नहीं माना जाता, अतः वह किसी शब्द का वाच्य नहीं होता]।

शङ्का—'पीतोऽयं शङ्खः'—इत्यादि व्यवहारों में जैसे आरोपित गुणाश्रयत्वेन शङ्ख में पीत पद की वाच्यता होती है, वैसे ही अरोपित गुणों की आश्रयता को लेकर ब्रह्म में भी वाच्यता बन सकती है।

समाधान—आरोपित पदार्थ के प्रतिपादन में वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य नहीं माना जाता, जो शुद्ध वस्तु तात्पर्य का विषय होती है, उसमें तो अवाच्यत्व सिद्ध ही है।

शङ्का—ब्रह्म में सत्यादि पदों की लक्षकता सिद्ध हो जाने पर वाच्यतावच्छेदक का अभाव और वाच्यतावच्छेदक का अभाव सिद्ध हो जाने पर सत्यादि पदों की लक्षकता सिद्ध होती है, अतः अन्योऽन्याश्रय दोष है।

समाधान—ब्रह्म में शब्द-प्रवृत्ति-निमित्तभूत (वाच्यतावच्छेदकात्मक) विशेष धर्मों का अभाव सत्यादि पदों की लक्षकता-सिद्धि पर निर्भर नहीं, अपितु "नेति-नेति" (बृह० उ० २।३।६) इत्यादि निर्विशेषार्थक श्रुतियों के आधार पर ही सिद्ध हो जाता है।

न्यायामृतम्

निमित्ताभावस्तस्मिंश्च सिद्धे लक्षकत्वमित्यन्योऽन्याश्रयात्। स्वरूपमात्रप्रश्नोत्तरत्वेन (तल्लक्षकते) क्ष्यतेत्यस्य च निरासात्। निर्विशेषवाक्यस्य च स्वरूपमात्रपरत्वे सत्यत्वाद्यविरोधात्। तस्य निर्विशेषत्वविशिष्टपरत्वे तु निमित्तस्य सत्त्वेन निर्विशेषशब्दवाच्यत्वापातात्। अभावनिमित्तकशब्दवाच्यत्वे च निर्गुणत्वभंगे उक्तरीत्या प्रामाणिकत्वाविशेषेण भावनिमित्तकशब्दवाच्यत्वस्यापि दुर्वारत्वात्। तस्माद् ब्रह्मणि सर्वेषां वैदिकशब्दनां लक्षणेत्येतदयुक्तम्। उक्तं हि—

एकस्यापि च शब्दस्य गौणार्थस्वीकृतौ सताम्।
महती जायते लज्जा यत्र तत्राखिला रवाः॥
अमुख्यार्था इति वदन् यस्तन्मार्गानुवर्तिनाम्।
कथं न जायते लज्जा वक्तुं शाब्दत्वमात्मनः॥ इति।

तस्माद्यौगिकानंतवैदिकशब्दवाच्यत्वादनंतगुणं ब्रह्म जीवादिभिन्नमिति।

अवाच्यत्वभंगः॥ १४॥

अद्वैतसिद्धिः

सिद्धत्वात्। न च—निर्विशेषवाक्यस्य स्वरूपमात्रपरत्वे प्रवृत्तिनिमित्ताविरोधः, निर्विशेषत्वविशिष्टपरत्वे च तस्यैव सत्त्वेन निर्विशेषपदवाच्यत्वस्यैव प्रसङ्ग इति—वाच्यम्, द्वारतया उपस्थितस्य स्वपरविरोधित्वान्निर्विशेषस्य वाच्यत्वासंभवाच्च। तस्मान्निर्विशेषत्वादेव जीवब्रह्माभेदः सिद्धः, भेदकासंभवात्। तथा च।

ब्रह्मण्यवाच्ये यो विद्वान्वाच्यतामधिगच्छति।
स निस्त्रपो निमित्तानां विरहैः प्रतिबोध्यताम्॥

इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणः शब्दावाच्यत्वोपपत्तिः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—निर्विशेषार्थक वाक्यों का भी ब्रह्म के स्वरूप मात्र में ही तात्पर्य होता है, प्रवृत्ति-निमित्तभूत विशेष धर्मों के निराकरण में नहीं, निर्विशेषत्व-विशिष्ट में तात्पर्य मानने पर निर्विशेषत्वरूप प्रवृत्ति-निमित्त के रहने पर 'निर्विशेष' पद की वाच्यता प्रसक्त होती है, अतः उन वाक्यों से प्रवृत्ति-निमित्त का अभाव कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान—निर्विशेषत्व-विशिष्ट ब्रह्म में उक्त वाक्यों का मुख्य तात्पर्य न होने पर भी अवान्तर तात्पर्य अवश्य माना जाता है, क्योंकि स्वरूप मात्र के बोध में निर्विशेषत्व का ज्ञान एक द्वार है, निर्विशेष-बोध स्व-पर साधारण समस्त विशेषों का विरोधी होता है, अतः सभी विशेष धर्मों के साथ निर्विशेषत्वरूप विशेष का भी निषेध हो जाता है, निर्विशेष पद की वाच्यता ब्रह्म में प्रसक्त नहीं होती। ब्रह्म निर्विशेष है, अतः जीव से उसका भेदक धर्म न होने के कारण जीव और ब्रह्म का अभेद सिद्ध होता है। अवाच्य ब्रह्म में जो विद्वान् किसी पद की वाच्यता समझता है, वह निर्लज्ज है, प्रवृत्ति-निमित्तभूत धर्मों का अभाव दिखा कर उसकी आखें खोल देनी चाहिए।

: १५ :

सामान्यतो भेदखण्डनविचारः

न्यायामृतम्

यच्चेदमुच्यते भेदः किं स्वरूपम् ? धर्मो वा ? नाद्यः निरपेक्षत्वाद्यापातात्। नान्त्यः, अनवस्थाद्यापत्तेः। कुंभस्य स्तंभाद् भेदे प्रतीते स्तम्भस्य कुंभाद् भेदधीरित्यन्योन्याश्रयाद्यापत्तेश्चेति। अत्र ब्रूमः किं भेदप्रतीतिरेव नास्तीत्युच्यते ? किं वा सा कारणजन्या नेति ? उत बाध्यविषयेति ? नाद्यः, भेदभ्रमनिरासाय वेदान्तश्रवणाद्ययोगात्। भेदाप्रतीतौ बहुयत्नैस्तन्निरासायोगाच्च। स्वपरपक्षदूषणभूषणादेर्भेदाप्रतीतौ बहुविप्लवापत्तेश्च, भेदः स्वरूपं धर्मो वेति विकल्पायोगाच्च। न हि पर्यायेण विकल्पः संम्भवति। द्वितीये कारणाजन्यत्वमजन्यत्वेन वा स्यात्, अकारणजन्यत्वेन वा स्यात्। नाद्यः, भेदप्रतीतेर्नित्यत्वापत्त्या स्वप्रातिकूल्याचरणापातात्। न द्वितीयः, व्याघातात्। जनकस्यैव कारणत्वात्। तृतीयेति किं शुष्कतर्कैरेव भेदस्य बाध्यत्वा-

अद्वैतसिद्धिः

स्यादेतद्—इदमयुक्तम्, भेदस्य प्रमाणसिद्धत्वात्। न च—भेदस्य स्वरूपत्वे अनपेक्षत्वापत्त्या धर्मत्वम्, तथा चानवस्था, स्तम्भकुम्भयोः परस्परभेदग्रहोऽन्योन्यभेदग्रहसापेक्ष इति अन्योन्याश्रयश्च, एवं च भेदासिद्धिरिति—वाच्यम्, तत् किं भेदे प्रतीतिरेव नास्ति ? कारणाजन्या वा ? बाध्यविषया वा ? नाद्यः, विकल्पादिकरणरूपव्यवहारविप्लवापत्तेः, न हि भिन्नतया अज्ञातेन विकल्पः। न द्वितीयः, अकारणकोत्पत्तेर्व्याहतत्वेन नित्यत्वापत्त्या तन्निरासकमोक्षोपायाननुसरणापत्तेः। न तृतीयः, उक्तशुष्कतर्कस्याबाधकत्वात्। अन्यथा ऐक्यस्य स्वरूपत्वे अनपेक्षत्वापत्तिः, धर्मत्वे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अद्वैतवादी—ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं—यह कहना युक्ति-युक्त नहीं क्योंकि उसमें भेद प्रमाणों के आधार पर सिद्ध हो जाता है।

शङ्का—भेद यदि वस्तु का स्वरूप माना जाता है, तब उसमें प्रतियोगि-सापेक्षत्व (प्रतियोगि-निरूप्यत्व) का अभाव प्रसक्त होता है, अतः भेद को वस्तु का धर्म मानना होगा। उस धर्म का भेद भी वस्तु का धर्मान्तर और उस का भी भेद धर्मान्तर—इस प्रकार अनवस्था होती है। स्तम्भ से कुम्भ का भेद-ग्रह हो जाने पर कुम्भ से स्तम्भ का भेद-ग्रह होगा—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष होने के कारण भेद-सिद्धि सम्भव नहीं।

समाधान—तब क्या (१) भेद की प्रतीति ही नहीं होती ? या (२) भेद-प्रतीति किसी कारण से जन्य नहीं ? अथवा (३) बाध्यार्थ को विषय करती है ? प्रथम (भेदाप्रतीति) पक्ष में भेद-भ्रम का निराकरण करने के लिए वेदान्त-श्रवणादि में प्रवृत्ति ही न होगी, भेद का निरास भी न हो सकेगा, स्वपक्ष-परपक्ष एवं दूषणभूषणादि की व्यवस्था न रहेगी 'भेदः स्वरूपम् ? धर्मो वा ?' ऐसा विकल्प भी न हो सकेगा क्योंकि विविध कल्परूप विकल्पों का भेद ज्ञात न होने पर विकल्प करना सम्भव नहीं। द्वितीय पक्ष को मान लेने पर अकारणक पदार्थ की उत्पत्ति सम्भव नहीं, अतः भेद को नित्य मानना होगा, तब उसके निरासार्थ मोक्षोपायों का अनुसरण व्यर्थ हो जायगा। तृतीय पक्ष (भेद का बाधित होना) भी सम्भव नहीं, क्योंकि श्रुत्यादि प्रमाणों से भेद सिद्ध है, अतः कथित अनवस्थादिरूप शुष्क (व्याप्त्यादि-निरपेक्ष) तर्कों से भेद का बाध हो नहीं सकता, अन्यथा भेद के समान ही अभेद के विषय

न्यायामृतम्

ध्यवसायः ? श्रुत्यादिना वा ? नाद्यः, ऐक्यस्यापि ब्रह्मस्वरूपत्वे तद्वदेव निरपेक्षत्वाद्यापातात्, धर्मत्वेऽनवस्थेत्यादि तर्कबाध्यत्वसाम्यात्। त्वयैव वेदान्तानामैदंपर्यं दर्शयितुमिदं शास्त्रं प्रवृत्तं न तर्कशास्त्रवत् केवलाभिर्युक्तिभिः किंचित्सिद्धान्तं साधयितुं दूषयितुं वा प्रवृत्तमित्युक्तत्वाच्च।

एवं च—भेदः स्वरूपं धर्मो वेत्यादिरूपा विभीषिका।
अकारमात्रप्रक्षेपे स्यादभेदे विभिषिका॥

भेदाभावादन्यदैक्यं नास्तीति चेदैक्याभावादन्यो भेदो नास्तती समं भेददूषणेनैवैक्यसिद्धिश्चेदैक्यदूषणेनैव भेदसिद्धिः स्यात्। एवं च—

भेदस्य खण्डनेनैव यद्यभेदः प्रसिध्यति।
अभेदखण्डनेनैव तर्हि भेदोऽपि सिद्धयतु॥

भेद एव दूष्योऽस्माकं न त्वभेदः साध्य इति चेद्, अभेद एव दूष्योऽस्माकं न तु भेदः साध्य इति समम्। स्वपक्षस्य जल्पादौ त्वयापि स्थाप्यत्वात्। वितण्डायां तु मयाप्यस्थाप्यत्वात्। न च वितण्डा तवैवेतिनियमः। सत्यपि पक्षपरिग्रहे तवेव ममापि तदा तदस्थापनेन वितण्डाधिकारात्। अन्यथा तार्किकादेः शब्दानित्यत्ववादी मीमांसकादिना सह वितण्डा न स्यात्। उक्तं च वितण्डा तु सताममन्यैस्तत्त्वमेषु निगूहित" मिति। पक्षपरिग्रहहीनस्य तु निर्मर्यादस्यापसिद्धान्तादिनिग्रहानर्हतया न वितण्डायामप्यधिकारः। नाप्यौपनिषदंमन्यस्यापि तवैव वितण्डेतिनियमः, त्वदिच्छानुसारित्वात्प्राश्निकानाम्, उपनिषदां परपक्षनिरासमात्ररूपत्वाभावाच्च। परपक्षनिरासकेन द्वितीयाध्यायेनैव गतार्थत्वेन स्वपक्षसाधनार्थानामाद्याद्यध्यायानां वैयर्थ्यापाताच्च। भाषितं च त्वयैवाद्यद्वितीययोः संगतिं दर्शयता स्वपक्षसाधनं प्रथमं कृतं तद्वयभ्य-

अद्वैतसिद्धिः

अद्वैतहानिरित्यादिना ऐक्यबुद्धिरपि बाधितविषया स्यात्। न च—मम वैतण्डिकस्य परपक्षमात्रं खण्डनीयमिति—वाच्यम्, स्वपक्षसत्त्वेऽपि तव तथात्वे ममापि तथात्वाविरोधात्। न च मम परपक्षखण्डनमात्रेण स्वमतभूतैक्यसिद्धिः, ममापि तावन्मात्रेण स्वमतभूतभेदसिद्धिसंभवात्। न च—मां प्रति भेदखण्डनमात्रनियोगे ममैव वैतण्डिकत्वमिति वाच्यम्, मां प्रत्यप्यैक्यखण्डनमात्रनियोगसंभवात् मध्यस्थस्य त्वदनधीनत्वात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

में भी 'अभेदस्य स्वरूपत्वे अनपेक्षत्वापत्तिः, धर्मत्वे अद्वैतहानिः'—इत्यादि तर्कों के द्वारा अभेद-बुद्धि भी बाधित हो जायगी। यदि आप (अद्वैती) कहें कि हम (अद्वैती) तो वैतण्डिक हैं, अतः पर-पक्ष निराकरण मात्र हमारा काम है, अभेदादि का सिद्ध करना हमारा दायित्व नहीं। तब हम (द्वैती) भी अपना पक्ष (भेद) रखते हुए भी वैसा (पर-पक्ष-निराकरण) कर सकते हैं, कोई विरोध नहीं होता। यदि भेद-खण्डन मात्र से आप का अभेद सिद्ध हो जाता है, तब अभेद का निराकरण कर देने मात्र से हमारा भेद सिद्ध हो जाता है। यदि आप (अद्वैती) कहते हैं कि मध्यस्थ ने हमें (अद्वैतवादी को) केवल भेद-खण्डन के लिए नियुक्त किया है, अतः हम (अद्वैती) ही वैतण्डिक हैं, तब हम (द्वैती) भी यह कह सकते हैं कि मध्यस्थ ने हमें केवल अभेद-खण्डन का भार सौंपा है, अतः हम ही वैतण्डिक हैं, क्योंकि मध्यस्थ कोई आप का क्रीत दास तो है ही नहीं कि आप को हि वसा

न्यायामृतम्

हितं परपक्षप्रत्याख्यानादिति ।

त्वया स्थाप्यम्, मया दूष्यमिति समयबन्धे कथमिति चेन्न, मयापि स्वानभिमतस्यास्थाप्यत्वेन त्वयापि स्वाभिमतस्यादूष्यत्वेन तथा समयबन्धायोगात् । त्वया भेदः स्थाप्यः, मया दूष्य इति तद्बन्धे कथमिति चेत्, त्वयैक्यं स्थाप्यं मया दूष्यमिति तद्बन्धे कथम् ? तदापि अस्वव्याघातकैरेव त्वया ऐक्यं दूष्यमिति चेत्, भेदेऽपि तथेति

अद्वैतसिद्धिः

अस्वव्याघातकैरेव त्वयैक्यं दूष्यमिति यदा, तदा अस्वव्याघातकैरेव त्वया भेदो दूष्य इत्यपि स्यादिति—चेत्, मैवम्, न हि वयं भेदप्रतीतेः स्वरूपं कारणं वापलपामः। किंतु बाधितविषत्वं ब्रूमः, व्याप्तिसध्रीचीनतया अशुष्कस्तर्कैरेवानन्यपरया श्रुत्या स्मृत्या च भेदस्य बाधितत्वात्, विषयभेदादिना प्रत्यक्षविरोधस्य परिहृतत्वेन श्रुत्यादावुपचरितार्थत्वाभावात् । यत्त्वभेदस्याप्येवं निरासः । न चाभेदखण्डनयुक्तीनां स्वस्य स्वाभेदोऽपि सिध्येदिति स्वव्याघातादाभासता, भेदखण्डनयुक्तीनामपि भूषणयुक्त्यभेदेन स्वव्याघातकतायाः समानत्वादिति, तन्न, भेदखण्डनयुक्तीनां तत्त्वतो भेदनिवारकत्वेऽपि व्यावहारिकभेदस्यानिराकरणेन स्वाव्याघातकतोपपत्तेः । न चैवं ब्रह्मण्यनृतभेदस्य तत्त्वतो निषेधे तत्र तत्तादात्म्यापत्तिः, घटे कल्पितघटान्तरभेदभ्रमस्थले तत्तादात्म्यादर्शनात् । न चैवमभेदोऽपि तत्त्वतो निषेध्यः, तर्हि स्वरूपापर्यवसानेन शून्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कहे और हमें नहीं । यदि हम (द्वैती) स्वाव्याघातक तर्कों के द्वारा ही ऐक्य (अभेद) का खण्डन कर सकते हैं, तब आप (अद्वैती) भी स्वाव्याघातक तर्कों के द्वारा हो भेद का खण्डन कर सकते हैं, स्व-व्याघातक तर्कों के द्वारा नहीं ।

अद्वैती—हम (अद्वैती) न तो भेद-प्रतीति के स्वरूप का अपलाप करते हैं और न भेद-प्रतीति के कारण का किन्तु हम केवल इतना ही निवेदन करते हैं कि भेद-प्रतीति बाधित-विषयक है, क्योंकि व्याप्त्यादि से संवलित सबल, निर्दोष एवं अनन्यपरक तर्कों, श्रुतियों और स्मृतियों के आधार पर भेद का बाध होता है । भेद-प्रत्यक्ष केवल व्यावहारिक भेद को विषय करता है और "नात्र काचन भिदास्ति" (म० वा० ४) इत्यादि श्रुतियाँ तात्त्विकत्वेन भेद का निषेध करती हैं—इस प्रकार विषय-भेदादि के द्वारा प्रत्यक्ष के विरोध का परिहार हो जाने के कारण अभेदपरक श्रुतियों में औपचारिकत्व का आपादन सम्भव नहीं ।

यह जो न्यायामृतकार ने कहा है कि भेद खण्डन की पद्धति का अनुसरण कर अभेद का भी निरास किया जा सकता है । यदि कहा जाय कि अभेद-खण्डन परक युक्तियों को आभासात्मक ही मानना होगा, अन्यथा उनका स्व में भी अभेद सिद्ध न हो सकेगा । तब यह भी कहा जा सकता है कि सर्वाभेद होने पर भेद-दूषण परक युक्तियों का भेद-भूषणपरक युक्तियों से भी अभेद हो जाता है, तब भेद-निरासक युक्तियाँ अपनी निरासक होने के कारण स्व-व्याघतक हो जाती हैं—इस प्रकार स्व-व्याघातकता उभय पक्ष में समान है ।

वह न्यायामृतकार का कहना संगत नहीं क्योंकि भेद-खण्डक युक्तियाँ तात्त्विक भेद का ही निरास करती हैं, व्यावहारिक भेद का निराकरण नहीं करती कि उनमें स्व-व्याघातकता प्रसक्त हो । 'यदि तात्त्विक भेद का ही निषेध विवक्षित है, तब ब्रह्म में मिथ्या प्रपञ्च के तात्त्विक भेद का निरास हो जाने पर मिथ्या प्रपञ्च का तात्त्विक

न्यायामृतम्

न स्वव्याघातकैर्भेददूषणं युक्तम्। ब्रह्मातिरिक्तमैक्यमेव नास्तीति चेद्, घटाद्यतिरिक्तो भेदोऽपि नास्तीति समम्। श्रुतिविरोधादैक्यदूषकास्तर्का आभासा इति चेत्, प्रत्यक्षादिविरोधाद् भेददूषका अपि तथेति समम्। प्रत्यक्षं तर्कविरोधादप्रमाणं चेच्छ्रुतिरपि तद्विरोधादुपचरितार्थेति समम्। त्वन्मतेऽपि स्वस्य स्वाभिन्नत्वादभेदनिरासः स्वव्याहत इति चेत्, त्वन्मतेऽपि ब्रह्मणोऽनृताद् भिन्नत्वादभेदनिरासोऽपि स्वव्याहत इति समम्। ब्रह्मणोऽनृतादपि भेदो मिथ्येति चेन्न, स्वस्य स्वाभेदोऽपि मिथ्येति सुवचत्वात्।

न हि सत्यमसत्येभ्यो भिन्नं नेत्युक्तितोऽपि च।
सत्यं न सत्यमित्युक्तावधिकास्ति विरुद्धता॥
एवं च—शुष्कतर्कैर्भेदबाधे स्यादभेदोऽपि बाधितः।
प्रमितत्वात्तत्र तर्कास्तुच्छाश्चेत्प्रकृते न किम्॥

न द्वितीयः, श्रुतेः साक्षिप्रत्यक्षाद्यबाधकत्वस्योक्तत्वात्। श्रुत्यादेः सम्पग्व्याख्यातत्वाच्च। प्रत्यक्षस्यापि भाविबाधकशंकाभंगे उक्तन्यायैर्भेदधीबाधकत्वासम्भवाच्च। किं च कल्प्यमानमपि बाधकं किं भेदमेव गोचरयेत्? उताभेदम्? यद्वा यत्किंचित्?

अद्वैतसिद्धिः

वादापत्तेः। किंच ब्रह्मातिरिक्तमैक्यमस्माकं नास्त्येव। तस्य च तथा निषेधे श्रुतिविरोधः। न च—मम घटातिरिक्तो भेदो नास्ति, तस्य निषेधे प्रत्यक्षविरोध इति—वाच्यम्, प्रत्यक्षस्य पारमार्थिकसत्त्वाविषयत्वेनाविरोधित्वस्य प्रागेवोक्तत्वात्।

ननु—भेदबाधकं न भेदविषयमेव, तत्साधकतापत्तेः, नाप्यभेदविषयम्, एवं हि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अभेद होना चाहिए'—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि एक घट में अन्य घट के कल्पित भेद का निरास हो जाने पर भी घटान्तर का अभेद नहीं देखा जाता, अतः मिथ्या प्रपञ्च के तात्त्विक भेद का निरास हो जाने पर भी ब्रह्म में तादात्म्य या अभेद क्यों सिद्ध होगा ?

यदि कहा जाय कि ब्रह्म में तात्त्विक भेद के समान तात्त्विक अभेद का भी निरास अद्वैतवादी को मानना होगा, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि तब तो भेदाभेदातिरिक्त ब्रह्म का कोई स्वभाव ही स्थिर नहीं होता, अतः निःस्वभावत्वरूप शून्यत्व की प्रसक्ति होती है। दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्म से भिन्न ऐक्य या अभेद हम (अद्वैती) नहीं मानते, अतः ऐक्यरूप ब्रह्म का निषेध करने पर ब्रह्मपरक श्रुतियों से विरोध आता है।

शङ्का—जैसे ब्रह्म से अतिरिक्त अभेद (ऐक्य) नहीं, अतः अभेद का निषेध ब्रह्म का ही निषेध माना जाता है, जिसमें श्रुतियों का विरोध होता है, वैसे ही हम (द्वैती) भी भेद को घटादि से भिन्न नहीं मानते, अतः भेद का निषेध घट का ही निषेध माना जाता है, तब तो घट-सत्ता-साधक प्रत्यक्ष प्रमाण का विरोध उपस्थित होता है।

समाधान—प्रत्यक्ष प्रमाण पारमार्थिक सत्ता को विषय नहीं करता, अतः भेद की पारमार्थिक सत्ता के निषेध से प्रत्यक्ष का विरोध नहीं होता—यह पहले कहा जा चुका है।

शङ्का—भेद का बाधक प्रमाण मुख्य रूप से भेद को विषय नहीं कर सकता, अन्यथा वह भेद का बाधक न होकर साधक ही हो जायगा। इसी प्रकार भेद-बाधक

न्यायामृतम्

निरालम्बनज्ञानायोगात् ? नाद्यः, साधकत्वात् । द्वितीये तदन्यस्तद्विरोधी तदभावो वा नञर्थो वाच्यः । पक्षत्रयेऽपि दुष्परिहरो भेदः । तदनन्यत्वे च तद्विरुद्धत्वतदभावत्वयोरयोगात् । भेदाभावादिग्राहिणापि प्रतियोगिविलक्षणतयैव स्वविषयस्य ग्राह्यत्वाच्च । औदासीन्येन प्रवृत्तस्य इदमिति ज्ञानवद बाधकत्वात् । अत एव न तृतीयः । एतेन बाधकं भेदभ्रमाधिष्ठानतत्त्वगोचरमिति निरस्तम्, तस्यापि भेदाद् भेदाभावे भेदविलक्षणत्वेनाग्रहणे च तज्ज्ञानस्य भेदबाधकत्वायोगात् ।

किं च नायं भेद इति वा, नास्त्यत्र भेद इति वा, अन्यदेव भेदात्मना प्रत्यभा-

अद्वैतसिद्धिः

तदन्यः तद्विरोधि तदभावो वा नञर्थो विषयो वाच्यः । सर्वथा च भेदो दुष्परिहरः, तदनन्यत्वे तद्विरोधतदभावत्वयोरयोगाद्, भेदाभावग्राहिणापि प्रतियोगिविलक्षणतयैवाभावस्य ग्रहणाच्च, औदासीन्येन प्रवृत्तस्य इदमिति ज्ञानवदबाधकत्वाच्चेति– चेन्न, पारमार्थिकत्वाकारेण भेदाभावविषयस्यैव बाधकत्वात् । न च भेदे दुष्परिहरता, व्यावहारिकभेदेनैव व्यावहारिकतद्विरोधित्वतदभावत्वयोरुपपत्तिसंभवात्, 'यक्षानुरूपो बलिरिति न्यायात् । भेदभ्रमाधिष्ठानतत्त्वगोचरं ज्ञानं भ्रमबाधकमित्युपपन्नम्, उक्तरीत्या भेदवैलक्षण्येन तद्ग्रहणोपपत्तेः । यत्तु 'नायं भेदो नास्त्यत्र भेदोऽन्यदेव

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रमाण अभेद को भी विषय नहीं कर सकता, परिशेषतः (अभेदः—यहाँ पर) भेद-बाधक ज्ञान नञर्थंभूत अन्य, विरोधी और अभाव को ही विषय करेगा। सर्वथा ('भेदान्यः, भेदविरोधी, भेदाभावः'—इन तीनों स्थलों पर) भेद का भान अपरिहार्य है, क्योंकि 'अन्य' शब्द से भेद का उल्लेख नितान्त स्पष्ट है और जहाँ भेद नहीं होता, अभेद होता है, वहाँ न विरोध होता है, न अभाव, जैसे घट में घट का अनन्यत्व (अभेद) रहने के कारण घट में न तो घट का विरोध है और न घट में घटाभावत्व, अतः भेद-बाधक प्रमाण भेद को विषय करता हुआ भेद का बाधक क्योंकर होगा ? भेदाभाव-ग्राहक प्रमाण के द्वारा भी भेदरूप प्रतियोगि-भिन्नत्वेन ही अभाव का ग्रहण होता है; भेद-भिन्नत्वेन अभाव का ग्रहण न कर उदासीनरूप से ही अभाव का ग्राहक 'अभावः'– ऐसा ज्ञान भेद का वैसे ही बाधक नहीं हो सकता, जैसे 'इदं किञ्चित्' ज्ञान।

समाधान–पारमार्थिकत्वेन भेदाभावविषयक ज्ञान ही भेद का बाधक माना जाता है अर्थात् 'भेदः पारमार्थिको न'—इस प्रकार का पारमार्थिकत्वावच्छिन्नभेद-निष्ठप्रतियोगिक अभाव का ज्ञान होने पर भेद-ज्ञान नहीं रह सकता। यह जो शङ्का की गई कि अभेदपद-वाच्य भेदान्य, भेदविरोधी और भेदाभाव—तीनों भेद-सापेक्ष होने के कारण उपजीव्यभूत भेद के बाधक क्योंकर होंगे ? उस शङ्का का समाधान यह है कि उपजीव्य भेद व्यवहारिक और निषेध्य भेद पारमार्थिक है, अतः किसी प्रकार का विरोध नहीं, उपजीव्य-विरोध-परिहार-प्रकरण में इसका विस्तार आ गया है। 'अत्र भेदः'—यह ज्ञान व्यावहारिक भेद को और 'नात्र भेदः'—यह ज्ञान पारमार्थिक भेद को वैसे ही विषय करता है, जैसे यक्ष अपने अनुरूप बलि प्राप्त किया करता है। सर्वत्र अधिष्ठान-तत्त्वज्ञान भ्रम का निवर्तक होता है प्रकृत में भी भेद-भ्रमाधिष्ठान-तत्त्वविषयक ज्ञान भ्रम का बाधक होता है, अधिष्ठान-तत्त्वज्ञान व्यावहारिक भेद-भिन्नत्वेन होने में कोई विरोध नहीं होता।

न्यायामृतम्

दिति वा बाधकज्ञानेन भवितव्यं नेदं रजतमित्यादिवत्। तदेतत्सर्वथा भेदावगाहीति कथं तद्बाधकम् ? एकमेवानेकात्मना प्रत्यभादिति ज्ञानं बाधकमिति चेन्न, एकानेकयो-र्वस्तुतो भेदाभावे वैलक्षण्याग्रहणे च तस्य बाधकत्वायोगात्। एवं च—

भेदाद् भिन्नतया स्वार्थं बाधधीर्गाहते न वा।
आद्ये भेदः स्थिरोऽन्त्ये तु न सा स्याद् भेदबाधिका॥

अद्वैतसिद्धिः

भेदात्मना प्रत्यभा' दित्येवमाकारकं बाधकज्ञानं वाच्यम् 'नेदं रजत' मितिवत्, इदं च सर्वथा भेदावगाहीति कथं तत्र बाधकमिति, तन्न, प्रतियोगितया तद्ग्रहणस्य तद्बाधकत्वाविरोधित्वात्। न च—अत्र भेदो नास्तीति धीः सर्वथा न भेदाभावमवगाहत इति—वाच्यम्, अन्यत्र भेदसत्त्वे तद्भेदस्यात्रावश्यकत्वेनात्र भेदो नास्तीत्यस्यैव कुत्रापि नास्तीत्यत्र पर्यवसानाद् एकमेव नानात्मना अभादित्यादि बाधकमनुसन्धेयम्। कोऽप्यो-व्यावहारिकभेदेन तद्वत्तया ग्रहणाच्च यथा बाधकत्वयोगः, तथोक्तमेव। एतेन—

भेदाद् भिन्नतया स्वार्थं बाधधीर्गाहते न वा।
आद्ये भेदः स्थिरः, अन्त्ये तु न सा स्यात् भेदबाधिका॥

इति—निरस्तम्, स्वरूपेण स्थैर्येऽपि तत्त्वतोऽस्थिरत्वसंभवात्। एवं चाक्लप्त-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि 'नायं भेदः, 'नास्त्यत्र भेदः, अन्यदेव भेदात्मना प्रत्यभात्'—इस प्रकार ज्ञानों को ही भेद-भ्रम का वैसे ही बाधक मानना होगा, जैसे 'नेदं रजतम्'—यह ज्ञान रजत-भ्रम का बाधक होता है। किन्तु वे सभी बाधक ज्ञान भेदावगाही होते हैं, अतः भेद के बाधक कैसे होंगे ?

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि उक्त बाधक ज्ञान मुख्यरूप से भेद को विषय नहीं करते, अपितु प्रतियोगी या निषेध्यरूप से, अतः किसी प्रकार का विरोध नहीं।

शङ्का—'घटे पटभेदो नास्ति'—यह ज्ञान घट और पट के सभी भेदाभावों को विषय नहीं करता, केवल घटनिष्ठ पट-भेद के अभाव को ही विषय करता है, पटनिष्ठ घट-भेद के अभाव को नहीं, अतः सभी भेदों का निरास उससे नहीं हो सकता।

समाधान—यदि पट में घट का भेद है, तब घट में भी पट का भेद अवश्य रहेगा, किन्तु जब घट में पट का भेद नहीं, तब पट में भी घट का भेद नहीं रहता—इस प्रकार उक्त भेदाभाव-ज्ञान कहीं साक्षात् भेद का बाधक और कहीं परम्परया भेद का बाधक माना जाता है।

'एकमेव ब्रह्म नानात्मना अभात्'—यह ज्ञान भी नानात्व या भेद का बाधक माना जाता है। यहाँ भी यद्यपि एकत्व-भान-कोटि का नानात्व-भान-कोटि से भेद-ग्रह आवश्यक है, तथापि व्यावहारिक भेद को लेकर ही उपजीव्योपजीवकभाव बन जाता है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि बाधक ज्ञान बाध्यभूत भेद से अपने को भिन्नरूप से गृहीत करता है ? या नहीं। प्रथम पक्ष में भेद स्थिर रहता है अर्थात् भेद को यदि एक स्थान से हटाया जाता है; तब दूसरे स्थान पर, और दूसरे स्थान से हटाया जाता है, तब तीसरे स्थान पर—इस प्रकार भेद कहीं-न-कहीं स्थिर रहता है, उसका सर्वथा निरास सम्भव नहीं। द्वितीय (बाध्य से बाधक का भेद) निश्चित न होने पर बाध्यबाधक भाव सम्भव नहीं।

न्यायामृतम्

तस्मात् क्लृप्तविषयत्वात् नान्योन्याश्रयतादेरुत्थानम्। उत्थितस्य भवेदाभासत्वम्। एतेन यदुक्तं खण्डने—"निर्वचनवादिनीदं शोभते नास्मासु प्रतिभासमानोऽयं भेदः स्वरूपादिपक्षान्तर्भावबहिर्भावाभ्यां सदसत्त्वाभ्यां वा अन्येनापि धर्मेण वाऽनिर्वाच्य इत्यंगीकारादिति"। तन्निरस्तम्, तर्कबाधमात्रेणानिर्वाच्यत्वे ऐक्यस्यापि तत्प्रसंगात्।

किं च त्वयापि अनृतजडदुःखपरिच्छिन्नाद्यनात्मके ब्रह्मणि अनृतादिव्यावृत्ति-

अद्वैतसिद्धिः

विषयत्वादन्योन्याश्रयत्वादेरुत्थानम्, उत्थितस्य च नाभासत्वम्। किं चायं देश्याभासो निर्वचनवादिनः प्रति, नास्मान्। वयं हि भासमानो यो भेदः स स्वरूपादिपक्षान्तर्भावबहिर्भावाभ्यां वा अन्येन वा धर्मान्तरेणानिर्वाच्य इति ब्रूमः। न च तर्काभासेनानिर्वाच्यत्वे ऐक्यस्यापि तत्प्रसङ्गः, भेदबाधकस्यानाभासताया उक्तत्वाद्, ऐक्यभेदयोः श्रुत्यनुग्रहाननुग्रहाभ्यां विशेषाच्च।

ननु—ब्रह्मण्यनृतादिव्यावृत्तिः ब्रह्मज्ञानाबाध्या वाच्या, शून्याद्यनात्मकघाटदौ

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि स्वरूपतः (व्यावहारिक रूप में) भेद के स्थिर रहने पर भी तात्त्विकरूप में कहीं भी स्थिर नहीं रहता।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि भेद को अधिकरणस्वरूप न मान कर धर्म मानने पर भी अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं होता, क्योंकि घटप्रतियोगिक पटानुयोगिक भेद तथा पटप्रतियोगिक घटानुयोगिक भेद—इन दोनों का अपना-अपना विषय क्लृप्त (निश्चित) होता है, एक दूसरे की अपेक्षा ही नहीं होती, अतः अन्योऽन्याश्रय दोष उत्थित ही नहीं हो सकता और कथञ्चित उठा हुआ अन्योऽन्याश्रय दोष नही दोषाभासमात्र होता है।

वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि सामान्यतः भेदविषयक ज्ञान का विषय नियत नहीं होता, अतः घटप्रतियोगिक और पटप्रतियोगक भेद-ज्ञान परस्पर सापेक्ष धर्मभूत हैं, अन्योऽन्याश्रयता अवश्य उठ सकती है और उठी हुई अन्योऽन्याश्रयता दोषाभास नहीं दोष ही है। दूसरी बात यह भी है कि खण्डनकार के शब्दों में भेदीय-विकल्पाश्रित दोष हम पर लागू नहीं होते—["निर्वचनवादिनीदं शोभते, नास्मासु प्रतिभासमानोऽयं भेदः स्वरूपादिपक्षान्तर्भावबहिर्भावाभ्यां सदसत्त्वाभ्यां वाऽन्येनापि धर्मेण वाऽनिर्वाच्य इत्यङ्गीकारात्" (खं० खं० पृ०) अर्थात्] भेद के विषय में जो स्वरूप और धर्म के विकल्प उठाकर दोष दिये जाते हैं, वे दोष किसी एक पक्ष को अपना कर भेद के निर्वचन का दुःसाहस करने वाले वादी को ही दोषी ठहरा सकते हैं, हमारा (अद्वैतवादियों का) कुछ बिगाड़ नहीं सकते, क्योंकि हम स्वरूपवाद और धर्मवाद से ऊपर उठकर भेद तत्त्व को अनिर्वचनीय मानते हैं। 'यदि तर्काभासों के द्वारा बाधित हो जाने मात्र से भेद को अनिर्वचनीय माना जाता है, तब उसी प्रकार ऐक्य (अभेद) को भी अनिर्वाच्य ही मानना होगा'—ऐसा आक्षेप उचित नहीं, क्योंकि भेद-बाधक तर्कों में तर्काभासता नहीं, सत्तर्कता का उपपादन किया जा चुका है। भेद और अभेद में इतनी विशेषता है कि जहाँ भेद श्रुतियों के द्वारा कदर्थित है, वहाँ अभेद श्रुतियों के द्वारा समर्थित है।

शङ्का—ब्रह्मगत मिथ्या प्रञ्च के भेद को ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा अबाधित ही मानना

न्यायामृतम्

ब्रह्मज्ञानाबाध्येति वाच्यम्, शून्याद्यनात्मके घटादौ शून्यादितः स्वज्ञानाबाध्यभेद-दर्शनात्। अन्यथाऽनृतादिव्यावृत्तिबोधनेन तद्भ्रान्तिनिवारकस्य सत्यज्ञानादिवाक्यस्य भ्रान्त्यन्तरहेतुत्वं स्यात्। ब्रह्मण्यनृतत्वादेरधिष्ठानज्ञानाबाध्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वं च न स्यात्। उक्तं चैतद्देहात्मैक्याध्यासभंगे।

न च प्रतियोगिनोऽनृतत्वात्ततो व्यावृत्तिरप्यनृता। शुक्तौ रूप्याभेदवद् बाधगम्यस्य तद्भेदस्यापि प्रातिभासिकत्वापत्त्या भ्रान्तिबाधव्यवस्थायोगात् विस्तृतं

अद्वैतसिद्धिः

शून्यादितः स्वज्ञानाबाध्यभेददर्शनादिति--चेत्, ब्रह्मघटयोरधिष्ठानाध्यस्तत्वाभ्यां विशेषाद्, अनृतत्वस्य मृषात्वेन तद्व्यावृत्तेरपि मृषात्वस्य युक्तत्वेन घटे तज्ज्ञानबाध्यत्वस्य उभयोः समानत्वात्। न च—एवं प्रातिभासिकरूप्यादिव्यावृत्तेरपि प्रातिभासिकत्वापत्तिः, तथा च भ्रान्तिबाधव्यवस्था न स्यादिति—वाच्यम्, विशेषदर्शनजन्यत्व-तदजन्यत्वाभ्यां बाधभ्रान्तिव्यवस्थोपपत्त्या प्रातिभासिकत्वस्येष्टत्वात्। न चैवं सत्यादिवाक्यस्यानृतव्यावृत्तिबोधकस्याप्रामाण्यापत्तिः, तस्या आर्थत्वात्। न च—एवं व्यावृत्तिवन्मृषाप्रतियोगिकस्यात्यन्ताभावस्यापि मृषात्वेनाधिष्ठानज्ञानाबाध्यात्यन्ता-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होगा, क्योंकि जैसे शून्याद्यनात्मक घटादि में शून्यादि का भेद घट-ज्ञान से बाधित नहीं होता, वैसे ही मिथ्यानात्मक ब्रह्म में मिथ्या पदार्थों का भेद भी स्वज्ञान से बाधित नहीं हो सकता, अन्यथा ब्रह्म भी मिथ्या हो जायगा।

समाधान—ब्रह्म अधिष्ठान है और घट अध्यस्त—इन दोनों का महान् अन्तर है, अतः दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिभाव सम्भव नहीं। अनृत प्रपञ्च मिथ्या है, अतः ब्रह्मगत अनृत प्रपञ्च के भेद का मिथ्या होना न्यायोचित है, फलतः ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा उसका भी बाध हो जाता है, किन्तु घटगत शून्य-व्यावृत्ति तो घट-ज्ञान से बाधित नहीं—यह हमारे और आप के दोनों मतों में समान है।

शङ्का—जैसे मिथ्या प्रपञ्च का भेद मिथ्या होता है, वैसे शुक्तगत प्रातिभासिक रजत का भेद भी प्रातिभासिक मानना होगा, तब रजत-ज्ञान भ्रमरूप और रजत-भेद-ज्ञान उसका बाधक है—यह व्यवस्था कैसे बनेगी ?

समाधान—समानसत्ताक पदार्थों में भी अहि-नकुल के समान बाध्य-बाधकभाव होता है, अतः रजतादि प्रातिभासिक और उसके प्रतिभासिक ही भेद में बाध्य-बाधक-भाव होने में कोई बाधक नहीं। रजतज्ञान शुक्तिगत इदन्त्वरूप सामान्य धर्म-ज्ञान से जनित होने के कारण बाधित और रजत-भेद-ज्ञान शुक्तित्वरूप विशेष धर्म के दर्शन से जनित होने के कारण बाधक माना जाता है।

शङ्का—ब्रह्मगत अनृत प्रपञ्च का भेद यदि मिथ्या (बाधित) है, तब सत्यादि श्रुति-वाक्यों में बाधितार्थ-बोधकत्वेन अप्रामाण्यापत्ति होती है।

समाधान—उक्त मिथ्याभूत व्यावृत्ति को शब्दार्थ नहीं माना जाता, अपितु अर्थतः या अर्थापत्ति-गम्य मानते हैं।

शङ्का—प्रतियोगी के मिथ्या (बाधित) होने के कारण यदि अभाव को मिथ्या माना जाता है, तब प्रपञ्चप्रतियोगिक अत्यन्ताभाव को भी मिथ्या (बाधित) ही मानना होगा, तब प्रपञ्च में अधिष्ठानज्ञानाबाध्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व

न्यायामृतम्

चैतन्मिथ्यात्वभंगे । एवमात्मनि देहाद् आत्मज्ञानाबाध्यभेदाभावे देहात्मैक्यस्य मिथ्यात्वं न स्यादिति त्वदीया तदैक्याध्यासोक्तिरयुक्ता स्यात् । तथा नित्यस्यानित्यात्तात्विकभेदाभावे साधनचतुष्टयान्तर्गतो नित्यानित्यवस्तुविवेको भ्रमः स्यादिति तेनानित्यहानेन नित्ये प्रवृत्तिरयुक्ता स्यात् । एवं प्रपंचे सद्वैलक्षण्यादिरूपमनिर्वाच्यत्वमधिष्ठानज्ञानाबाध्यमिति वाच्यम् । अन्यथाऽधिष्ठानज्ञानाबाध्यत्वापातात् जगन्मिथ्यात्वप्रमाणानामतत्वावेदकत्वापाताच्च । एवमभेदस्य भेदात्तात्विकभेदाभावे

अद्वैतसिद्धिः

भावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वं न स्यादिति – वाच्यम् , अधिष्ठानज्ञानाबाध्यत्वस्य तत्राविशेषणत्वात् । न च—एवमात्मनि देहभेदस्य बाध्यत्वे देहात्मैक्यस्य मिथ्यात्वं न स्यादिति—वाच्यम् , भेदमिथ्यात्वस्य प्रतियोग्यैक्यामिथ्यात्वाप्रयोजकत्वस्योक्तत्वात् । न च – नित्यानित्यवस्तुविवेकस्य साधनचतुष्टयान्तर्गतस्य ज्ञानं भ्रमः स्यात् , तथा च तेनानित्यपरिहारेण नित्ये प्रवृत्तिर्न स्यादिति—वाच्यम् , हानोपादानोपयुक्तरूपावगाहिबुद्धेर्व्यावहारिकप्रामाण्यशालितया व्यावहारिकहानोपादानस्य निवर्तयितुमशक्यत्वात् । एतेन – प्रपञ्चे सद्वैलक्षण्यस्य मिथ्यात्वे सदैक्यापत्तिः, जगन्मिथ्यात्वप्रमाणानां चातत्त्वावेदकत्वापात इति – निरस्तम् ; मिथ्यात्वनिरुक्तावुक्तोत्तरत्वाच्च । एतेन – भेदा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान—ऐसे स्थल पर अत्यन्ताभाव का 'अधिष्ठानज्ञानाबाध्यत्व' विशेषण नहीं दिया जाता ।

शङ्का—आप (अद्वैती) देहात्मैक्य को अध्यस्त या मिथ्या मानते हैं, किन्तु ऐक्यात्यन्ताभावरूप देहात्मभेद को अबाधित नहीं, बाधित ही मानते हैं, अतः अधिष्ठानज्ञानाबाध्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व देहात्मैक्य में सिद्ध नहीं होता ।

समाधान– भेदगत मिथ्यात्व प्रतियोगिनिरूपित एकत्व के अमिथ्यात्व का प्रयोजक नहीं होता, अतः भेद के मिथ्या होने पर भी देहात्मैक्य मिथ्या क्यों नहीं होगा ?

शङ्का– साधन-चतुष्टय के अन्तर्गत नित्यानित्यवस्तु-विवेक भी यदि, मिथ्याभूत अनित्यवस्तु प्रतियोगिक भेदरूप होने के कारण मिथ्या है, तब उसके ज्ञान को भ्रमात्मक कहना होगा, तब उसके आधार पर अनित्यवस्तु-परित्यागपूर्वक नित्य वस्तु का उपादान क्योंकर होगा ?

समाधान—व्यावहारिक हानोपादान का प्रयोजक तात्त्विक ज्ञान नहीं अपितु व्यावहारिकप्रामाण्यक ज्ञान ही होता है, अतः उक्त विवेकज्ञान के तात्त्विक न होने पर भी अनित्य वस्तु-परित्यागपूर्वक नित्य वस्तु का परिग्रह क्यों नहीं होगा ?

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि प्रपञ्चगत सद्वैलक्षण्य (सद्भेद रूप अनिर्वाच्यत्व) यदि मिथ्या है, तब सदसदैक्य सत्य हो जायगा एव प्रपञ्चगत मिथ्यात्व के मिथ्या होने पर जगन्मिथ्यात्व-बोधक वेदान्त वाक्यों में अतत्वावेदकता प्रसक्त होती है ।

वह कहना भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि जगन्मिथ्यात्व-बोधक वेदान्त वाक्यों को तत्त्वावेदक नहीं, अपितु व्यावहारिकप्रामाण्यक ही माना जाता है ।

न्यायामृतम्

तयोरभेदस्तात्त्विकः स्यादिति भेददोषैरभेदबाधनम्, अभेदप्रमाणैर्भेदसाधनं च स्यात्। न च तात्त्विकभेदाभावेऽपि तात्त्विकाभेदाभावमात्रेण व्यवस्थेति वाच्यम्, अभेदाभावे भेदध्रौव्यात्। न च व्यवहारिकभेदाद् व्यवस्था, कल्पितेनाकल्पितकार्यप्रतिबन्धादित्युक्तत्वात्। एवं च—

ब्रह्मणोऽनृततो भेदः सत्यश्चेद् भेदखण्डनम्।
व्याहतं स्यादसत्यश्चेद्ब्रह्मणोऽनृतता भवेत्॥
भेदाभेदभिदा चेत्स्यात्कथं भेदो निवार्यते।
भेदाभेदभिदा नो चेत्कथं भेदो निवार्यते॥

किं च भेदस्य व्यावहारिकसत्यत्वरक्षार्थमेव त्वयाप्यन्योन्याश्रयादिकमुद्धार्यम्। न ह्यन्योन्याश्रयादिदुष्टस्य व्यावहारिकतापि दृष्टचरी। न हि मृदवास्तवीत्येतावता स्वजन्यघटजन्या। अन्यथाकाशवाय्वादेरेवान्योन्यमुपादानत्वाधिष्ठानत्वे स्यातामित्यज्ञानब्रह्मणोस्ते न कल्प्ये स्यातां। यदि चान्योन्याश्रयादिदुष्टस्यापि अविद्यासामर्थ्याद् व्यावहारिकता, तर्हीश्वरसामर्थ्यात् तादृशस्यापि पारमार्थिकतैवास्तु।

अपि च कथमत्रापादनक्रमः ? (१) यदि भेददर्शनं स्यात्, तर्ह्यन्योन्या-

अद्वैतसिद्धिः

दभेदस्य भेदाभावे अन्यतरखण्डनसाधनाभ्यामुभयखण्डनसाधने इति—निरस्तम्, तात्त्विकभेदाभावेऽपि कल्पितभेदेन व्यवस्थोपपत्तेः। न च कल्पितेनाकल्पितकार्यप्रतिबन्धायोगः, अविद्यया स्वप्रकाशरूपब्रह्मकार्यप्रतिबन्धदर्शनात्, कल्पितकान्तया विश्लेषकार्यप्रतिबन्धदर्शनाच्च।

ननु—भेदस्य व्यावहारिकसत्त्वार्थमपि त्वया अन्योन्याश्रयादिकमुद्धरणीयम्, परस्परसापेक्षेण व्यवहारस्याप्यभावात्; न हि व्यावहारिकमृदः स्वजन्यघटसापेक्षत्वम्। किं चात्र (१) न भेदमात्रेण तद्दर्शनमात्रेण वा अन्योन्याश्रयाद्यापादनम्, तथा

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न्यायामृतकार का यह कहना कि 'भेद और अभेद का तात्त्विक भेद न होने पर सत् और असत् का तात्त्विक ऐक्य हो जायगा और उन दोनों में से अन्यतर के खण्डन या साधन से उभय का खण्डन या साधन होने लगेगा।' संगत नहीं, क्योंकि तात्त्विक भेद के न होने पर भी कल्पित भेद को लेकर सभी व्यवस्था उपपन्न हो जाती है। कल्पित पदार्थ के द्वारा अकल्पित कार्य नहीं होता—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कल्पित अविद्या के द्वारा अकल्पित ब्रह्मरूप ऐक्य के कार्यभूत स्वप्रकाशरूप का एवं कल्पित कामिनी के द्वारा अकल्पित कान्ता-वियोग से प्रयुक्त कार्य का प्रतिबन्ध देखा जाता है।

शङ्का—भेद में व्यावहारिक सत्त्व का संरक्षण करने के लिए भी आप (अद्वैती) को कथित अन्योऽन्याश्रय दोष का उद्धार करना ही होगा, क्योंकि परस्पर सापेक्ष पदार्थों से व्यवहार भी सम्पन्न नहीं होता। व्यावहारिक मृत्तिकादि कारणों को अपने कार्यभूत घटादि के निर्माण में घटादि को अपेक्षा नहीं देखी जाती। दूसरी बात यह भी है कि (१) भेदमात्र या भेद के दर्शनमात्र से अन्योऽन्याश्रय में भेद-सिद्धि-विरोधित्व का 'घटपटौ यदि भिन्नौ भिन्नत्वेन प्रतीयमानौ वा स्याताम्, तदा स्वविशेष्यकभेदज्ञानप्रमात्वविरोध्यन्योऽन्याश्रयादिकं स्यात्'—इस प्रकार आपादन होता

न्यायामृतम्

श्रयादिकं स्यात् , न च तद्युक्तं तस्मान्नास्ति भेददर्शनमिति वा ? (२) यदि भेददर्शनं वास्तवं स्यात्तर्हि अन्योन्याश्रयादिकं स्यादिति वा ? (३) यदि भेददर्शनं प्रमा स्यात्तदाऽन्योन्याश्रयादिकं स्यादिति वा ? (४) यदि भेददर्शनं धर्मिप्रतियोग्यादि-सापेक्षं स्यात्तदान्योन्याश्रयादिकं स्यादिति वा ? नाद्यः, यदि भेददर्शनं न स्यात्तदा परः परमतमिव स्वमतमपि निराकुर्यात् सकलव्यवहारविधुरश्च स्यादित्यादि प्रतिकूलतर्क-पराहतेर्भेदादर्शने तन्निरासायोगेन विपर्ययापर्यवसानाच्च । न द्वितीयः, वास्तवेऽन्यो-न्याश्रयादेरभावेन व्याप्तिवैकल्यात् । दर्शनावास्तवत्वेऽपि अभेदवद् भेदस्यापि सत्त्वोप-पत्तेश्च । न तृतीयः, त्वया स्तम्भात्कुम्भस्य भेदप्रतीतौ कुम्भात्स्तम्भस्य भेदधीरिति प्रतीतावेवान्योन्याश्रयत्वस्योक्तत्वेन चोरापराधान्मांडव्यस्य शूलप्राप्तिवत् प्रतीतिगते-नान्योन्याश्रयेण प्रमात्वनिषेधायोगात् । न च प्रतीतेर्विचारासहत्वेन भ्रमत्वं विचारा-सहप्रपंचान्तर्गतचरमवृत्तिवत् प्रमात्वोपपत्तेः । जीवस्य ब्रह्मैक्यप्रतीतौ ब्रह्मणो जीवैक्य-धीरिति ऐक्येऽप्यन्योन्याश्रयस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च । रूप्यादिभ्रमस्यापि त्वयाऽख्याति-वाद्युक्तहेत्वभावादिबाधकानामुद्धृतत्वेन विचारासहत्वाच्च । चतुर्थेऽपि सापेक्षतामात्रं निवर्ततां भेददर्शनस्य किमायातम् ? प्रकारान्तराभावात्स्वयमपि निवर्तत इति चेत् , न

अद्वैतसिद्धिः

सति व्यावहारिकयोरपि तयोरसिद्धिः स्यात् । (२) नापि तत्प्रतीतिवास्तवत्वेन तदापत्तिः, चरमवृत्त्यवास्तवत्वेऽपि तद्विषयवास्तवत्ववदुपपत्तेः, वास्तवे अन्योन्या-श्रयादर्शनेन व्याप्त्यसिद्धेश्च । (३) न च प्रमारूपतत्प्रतीत्या तदापादनम् , प्रतीति-सामान्य एव त्वयान्योन्याश्रयस्योक्तत्वेन प्रमात्वपर्यन्ते तत्र दोषाभावात् । (४) नापि तत्प्रतीतेर्धर्मिप्रतियोगिसापेक्षत्वेन तदापादनम् , तावतापि तत्सापेक्षतामात्रस्यैव निवृत्तिरिति—चेन्न, अस्माकमविद्यासामर्थ्यात् सर्वानुपपत्तिविधूननोपपत्तेः । न हि मायायामसंभावनीयं नाम । तथा च परस्पराश्रितमपि इन्द्रजालवद्दर्शयिष्यति । न च—ईश्वरसामर्थ्यात्तादृशमपि सत्यं स्यादिति वाच्यम् , उभयसिद्धमृषाभूतेन्द्रजाल-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है, तब व्यावहारिक घट-पट की भी सिद्धि न हो सकेगी । (२) 'भेदधीर्यदि वास्तवी स्यात्, तदा स्वप्रमात्वविरोध्यन्योऽन्याश्रयादिकं स्यात्'—इस प्रकार भेद प्रतीतिगत वास्तत्व के द्वारा अन्योऽन्याश्रयता-सिद्धि का आपादन भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि चरम वृत्ति के अवास्तविक होनें पर भी उसके विषय की वास्तविकता के समान अन्योऽन्याश्रयत्व की सिद्धि हो सकती है । (३) 'यदि भेदधीः प्रमा स्यात्, तदा अन्योऽ-न्याश्रयः स्यात्'—इस प्रकार प्रमारूप भेद-ज्ञान से भी अन्योऽन्याश्रय की सिद्धि नहीं आपादित हो सकती, क्योंकि भेद की सामान्य प्रतीति में आपने अन्योऽन्याश्रय दिखाया है । (४) 'यदि भेददर्शनं प्रतियोग्यनुयोगिसापेक्षं स्यात् , तदा अन्योऽन्याश्रयादिकं स्यात्'—इस प्रकार धर्म्यादि-सापेक्ष भेद-प्रतीति के द्वारा भी अन्योऽन्याश्रय की सिद्धि का आपादन नहीं हो सकता, क्योंकि इतने से भी धर्म्यादि-सापेक्षता मात्र की निवृत्ति होगी, भेद-दर्शन पर कोई आँच नहीं आती ।

समाधान—हमारे (अद्वैतवादी के) मत में अघटित-घटना-पटीयसी माया के बल पर सभी अनुपपत्तियों का निरास हो जाता है । आचार्य मण्डन मिश्र ने कहा है— ''न हि मायायां काचिदनुपपत्तिः अनुपपद्यमानार्थैव हि माया'' (ब्र. सि. पृ. १०) ।

न्यायामृतम्

प्रतीतेः परेणाप्यपेक्षणीयत्वेन निवर्तयितुमशक्यत्वात् । प्रमात्वनिवर्तने च सामर्थ्याभावस्योक्तत्वात् । अन्यथा स्वाभिमताद्वैतमपि न सिद्धयेदित्युक्तम् । किं च त्वत्पक्षे घटस्य पटाद् भेद इव घटेनाभेदोऽपि व्यावहारिकः उक्तरीत्या ब्रह्मजीवैक्यमिव ब्रह्मण्यनृतव्यावृत्तिरपि तात्त्विकीति कथमभेदमुपेक्ष्य भेदे द्वेषः । एवं च—

ब्रह्मण्यनृतभेदस्य सत्यत्वे कलशे स्वतः ।
अभेदस्य च मिथ्यात्वे भेदे द्वेषस्तु किं कृतः ॥

सामान्यतो भेदखण्डनोद्धारः ॥ १५ ॥

अद्वैतसिद्धिः

स्थले कारणादिव्यवस्थोल्लङ्घिकार्यादिदर्शनवदन्यत्र तथा अदर्शनात् , दर्शने च मृषात्व एव पर्यवसानात् । आपादनं च—भेदस्तत्प्रतीतिश्च यदि मायिकी न स्यात् , सर्वव्यवस्थोल्लङ्घिनी न स्यात् , सर्वव्यवस्थोल्लङ्घिनी चेयम् । तस्मान्मायिकीति विपर्ययपर्यवसानात् , मायिके व्यवस्थोल्लङ्घनस्य दर्शनेन व्याप्तिसिद्धेः । उक्तश्रुत्या अस्वव्याघातकयुक्त्या च भेदस्य बाधादभेदस्याबाधाच्च स्वाभेदस्वभेदयोर्व्यावहारिकत्वे समानेऽपि स्वाभेदं परित्यज्य भेद एव सर्वथा प्रद्वेषो नाकारणकः ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ सामान्यतो भेदखण्डनम् ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

माया के लिए कुछ असम्भव नहीं, वह परस्परापेक्षित (अन्योऽन्याश्रित) पदार्थों का भी इन्द्रजाल के समान उपपादन कर देगी ।

ईश्वर की शक्ति के आधार पर रचित परस्परापेक्षी पदार्थों को सत्य क्यों नहीं मान लिया जाता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उभय मत-सिद्ध मिथ्याभूत इन्द्रजाल के रूप में कार्य-कारणभाव की व्यवस्था का उल्लङ्घन करने वाले ऐसे चमत्कार देखे जाते हैं, जो अन्यत्र सत्य व्यवहार में नहीं देखे जाते, यदि देखे जायँ, तब उन्हें भी मिथ्या ही मानना उचित है । इसके मायिकत्वापादन का प्रकार यह है—'भेदस्तत्प्रतीतिश्च यदि मायिकी न स्यात्, तदा सर्वव्यवस्थोल्लङ्घिनी न स्यात्, सर्वव्यवस्थोल्लङ्घिनी चेयं तस्मान्मायिकी ।' 'यत्र-यत्र मायिकत्वम्, तत्र-तत्र व्यवस्थोल्लङ्घित्वम्'—इस प्रकार की व्याप्ति इन्द्रजालादि-स्थल पर निश्चित हो जाती है । यद्यपि भेद और अभेद—दोनों व्यवहार भूमि में समान हैं, तथापि "नात्र काचन भिदाऽस्ति"—इत्यादि श्रुतियों और स्वाव्याघातक युक्तियों के द्वारा भेद का बाध तथा अभेद का अबाध होने के कारण अभेद को छोड़ कर भेद मात्र में हमारा विद्वेष अकारण नहीं, अतः भेद मात्र के निराकरण में अद्वैतिगण सदैव जागरूक हैं ।

: १६ :

विशिष्य भेदखण्डनविचारः

न्यायामृतम्

सम्भवति च भेदस्य स्वरूपत्वेन निर्वाहः । तत्र यदुक्तं निरपेक्षघटस्वरूपत्वे तद्वदेव भेदस्यापि निरपेक्षत्वं स्यादिति तन्न, व्याप्तेः स्वपरासम्मतेः । त्वन्मते सापेक्षाया अविद्यानिवृत्तेर्जीवब्रह्मैक्यस्य मतद्वयेऽपि स्थितौ व्यक्तिसापेक्षस्य जातिमात्रस्य प्रतीतौ सापेक्षस्य नीलतरत्वादिजातिविशेषस्य अर्थप्रकाशात्मकज्ञानस्य ब्रह्मणि ब्रह्माभेदस्यास्ति ब्रह्मेत्यादौ कालसापेक्षस्यास्तित्वस्य च निरपेक्षब्रह्मव्यक्त्यादिस्वरूपत्वात् । व्याप्त्यभावे चानुमानस्य तर्कस्य चाभासत्वात् । ऐक्यस्यास्वरूपत्वे च सत्त्वेऽद्वैतहानिः मिथ्यात्वे च तत्परस्य "तत्त्वमसी"त्यादेरतत्त्वावेदकत्वं भेदस्य सत्यता च स्यात् ।

अद्वैतसिद्धिः

ननु निरपेक्षस्वरूपत्वे सापेक्षत्वानुपपत्तिरिति यदुक्तं, तत्तावदयुक्तम्, अविद्यानिवृत्तेर्जीवब्रह्मैक्यस्य च तव मते मतद्वयेऽपि स्थितौ व्यक्तिसापेक्षस्य जातिमात्रस्य प्रतीतौ सापेक्षस्य नीलतरत्वादेरिवार्थप्रकाशात्मकज्ञानस्य ब्रह्मणि ब्रह्माभेदस्य 'अस्ति ब्रह्मे' त्यादौ कालसापेक्षस्यास्तित्वस्य निरपेक्षब्रह्मव्यक्त्यादिरूपताया दर्शनादिति— चेन्न, अविद्यानिवृत्तिजीवब्रह्मैक्ययोः प्रतीतौ सापेक्षत्वस्याविद्यकतया तात्त्विकनिरपेक्षत्वविरोधित्वाभावात् । जातिमात्रस्य व्यक्त्यभेदासिद्धेः, व्यक्तिसमानसत्ताकघटत्वादौ तदभावाद्, व्यक्त्यसमानसत्ताकसत्त्वादिजातौ तु सापेक्षत्वस्य काल्पनिकत्वात् नीलतरत्वादेर्व्यक्तिरूपत्वासिद्धौ हेतोरभावादर्थप्रकाशात्मकज्ञानस्य ब्रह्माभेदस्य च सापेक्षतायाः काल्पनिकत्वात् । अस्ति ब्रह्मेत्यादावप्येवमेव । तथा च तत्त्वतो निरपेक्षस्य सामानाधिकरण्यासिद्धया न तर्काभासताव्याप्तिसिद्धिः । अत एव—ऐक्यस्यास्वरूपत्वे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—जो यह कहा गया कि 'घटादि निरपेक्ष पदार्थों को भेदरूप प्रतियोगिसापेक्ष पदार्थों का स्वरूप नहीं माना जा सकता, वह अयुक्त है, क्योंकि आप (अद्वैती) के मतानुसार प्रतीति में सापेक्ष अविद्या-निवृत्ति तथा जीवब्रह्मैक्य को निरपेक्ष ब्रह्मस्वरूप माना जाता है, उभयमतानुसार प्रतीति मे सापेक्ष नीलतरत्वादि के समान स्थिति में व्यक्ति-सापेक्ष जातिमात्र को निरपेक्ष व्यक्तिरूप, प्रतीति में सापेक्ष अर्थप्रकाशात्मक ज्ञान एवं ब्रह्मगत ब्रह्माभेद को निरपेक्ष ब्रह्मरूप तथा 'अस्ति ब्रह्म'—इत्यादि में काल-सापेक्ष अस्तित्व को निरपेक्ष ब्रह्मरूप माना जाता है।

समाधान—अविद्या-निवृत्ति और जीवब्रह्मैक्य में जो प्रातीतिक सापेक्षत्व है, आविद्यक है, अतः वह तात्त्विक निरपेक्षता का विरोधी नहीं हो सकता। जातिमात्र में व्यक्त्यभेद असिद्ध है, क्योंकि व्यक्तिसमसत्ताक घटत्वादि जातियों में व्यक्तिस्वरूपता का अभाव है। व्यक्त्यसमानसत्ताक सत्तादि जातियों में तो सापेक्षत्व काल्पनिक होता है, अतः वास्तविक निरपेक्षता का विरोधी नहीं। नीलतरत्वादि घर्मों की व्यक्तिरूपता का साघक कोई हेतु नहीं, अर्थप्रकाशात्मक ज्ञान और ब्रह्माभेद में भी सापेक्षत्व काल्पनिक है। इसी प्रकार अस्ति ब्रह्म'—इत्यादि स्थल पर भी अस्तित्व में काल-सापेक्षत्व वास्तविक नहीं। फलतः तात्त्विक निरपेक्षता में सापेक्षत्व का सामानाधिकरण्य प्रसिद्ध नहीं, अतः निरपेक्षस्वरूप में सापेक्षत्वानुपपत्ति रूप तर्क को तर्काभास बनाने के लिए अनुकूल व्याप्ति की सिद्धि नहीं होती।

न्यायामृतम्

यत्र यदध्यस्तम्, तत्र तद्विरोधितज्ज्ञानाबाध्यं यथा शुक्तावरूप्यत्वमिति वा, यत्र यदैक्यमध्यस्तं तत्र तदभेदस्तज्ज्ञानाबाध्यो यथा दूरस्थवनस्पत्योर्भेद इति वा, यत्र यदध्यस्तं तत्र तद्विरोधितात्त्विकं यथा ब्रह्मण्यनृतत्वस्याध्यस्तत्वे सत्यत्वं तात्त्विकमिति वा व्याप्तेः। ऐक्यस्य च निरपेक्षत्वे तत्त्वंपदार्थपराणां "सत्यं ज्ञानं विज्ञानघन" इत्यादीनां ऐक्यपरमहावाक्यैकवाक्यत्वाभावेन वैयर्थ्यं स्यात्। न च प्रतियोगिनो भेदस्य

अद्वैतसिद्धिः

अद्वैतहानिः, मिथ्यात्वे भेदस्य सत्यत्वप्रसङ्गः, यत्र यदध्यस्तं, तत्र तद्विरोधि तज्ज्ञानाबाध्यम्, यथा शुक्तावरूप्यत्वम्। यत्र यदैक्यं बाध्यं, तत्र तद्भेदस्तज्ज्ञानाबाध्यः। यथा दूरस्थवनस्पत्योर्भेद इति वा। यत्र यदध्यस्तं तत्र तद्विरोधि तात्त्विकम्, यथा ब्रह्मण्यनृतत्वस्याध्यस्तत्वे सत्यत्वं तात्त्विकमिति वा व्याप्तेरिति—निरस्तम्, ऐक्यस्य ब्रह्मभेदानङ्गीकारात्, विरोध्यनुरोधिनां सर्वेषां ब्रह्मणि कल्पितत्वेन तज्ज्ञानबाध्यत्वेन व्याप्तीनामसिद्धेः।

ननु—ऐक्यस्य निरपेक्षत्वे तत्त्वंपदार्थपराणां 'सत्यं विज्ञानघन' इत्यादीनामैक्यपरमहावाक्यैकवाक्यत्वाभावेन वैयर्थ्यं स्यादिति-चेन्न, ऐक्यस्य स्वप्रकाशब्रह्मा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि ब्रह्मगत ऐक्य को ब्रह्मस्वरूप न मानने पर अद्वैतहानि, ऐक्य को मिथ्या मानने पर भेद में सत्यत्वापत्ति हो जाती है, क्योंकि ऐसी व्याप्ति प्रसिद्ध है—(१) जहाँ पर जो अध्यस्त होता है, वहाँ पर उस (अध्यस्त) का विरोधी पदार्थ उस (अधिष्ठान) के ज्ञान से बाधित नहीं होता, जैसे शुक्ति में रजतत्व अध्यस्त होता है और उस (अध्यस्त रजत का) विरोधी (अरूप्यत्व या रजतत्वाभाव) शुक्ति के ज्ञान से बाधित नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म में ऐक्य अध्यस्त है, अतः उस (ऐक्य) का विरोधी (भेद) ब्रह्म ज्ञान से बाधित न होकर सत्य होता है। या (२) जहाँ जिसका ऐक्य बाधित होता है, वहाँ उसका भेद उस (अधिष्ठान) के ज्ञान से बाधित नहीं होता, जैसे दूरस्थ दो वृक्षों में वृक्षों का ऐक्य बाधित होता है और वृक्षों का भेद वृक्ष-ज्ञान से बाधित नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म में अनन्त प्रपञ्च का ऐक्य बाधित होता है, अतः प्रपञ्च का भेद ब्रह्मज्ञान से बाधित नहीं होगा। या (३) जहाँ पर जो अध्यस्त होता है, वहाँ उसका विरोधी पदार्थ तात्त्विक होता है, जैसे ब्रह्म में अनृतत्व अध्यस्त होता है, वहाँ उस (मिथ्यात्व) का विरोधी सत्यत्व तात्त्विक होता है।

न्यायामृतकार का वह कहना इसी लिए निरस्त हो जाता है कि ब्रह्मगत ऐक्य में ब्रह्म का भेद नहीं माना जाता और ब्रह्म में विरोधित्वेन सम्मत सभी पदार्थ कल्पित होते हैं, अतः ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा बाधित भी होते हैं, वहाँ कथित व्याप्ति भंग हो जाती है।

शङ्का—ब्रह्मगत जीवैक्य को सापेक्ष माना जाता है, तब ऐक्यापेक्षित तत्त्वं पदार्थ-प्रतिपादक 'सत्यम्'—इत्यादि वाक्यों की 'तत्त्वमसि' के साथ एकवाक्यता होती है, किन्तु ब्रह्मगत ऐक्य यदि निरपेक्ष है, तब तत्त्वंपदार्थपरक "सत्यं विज्ञानघनः"—इत्यादि वाक्यों की ऐक्यपरक महावाक्यों के साथ एकवाक्यता न होने पर व्यर्थता प्रसक्त होती है।

समाधान—ऐक्य स्वप्रकाशरूप ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण स्थिति और प्रतीति में निरपेक्ष होने पर भी तत्त्वंपदार्थगत भेद-भ्रम निवर्तक वृत्ति के उत्पादन में सापेक्षता

न्यायामृतम्

सापेक्षत्वादैक्यं सापेक्षवदिति वाच्यम्, घटः पटो नेति नञर्थस्य भेदस्यैव तादात्म्यनिषेधत्वेन वैपरीत्यस्यैवोचितत्वात्। ऐक्ये भेदसापेक्षत्वस्य दुर्वारत्वाच्च।

अथ तत्र प्रतीत्योरेव सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वे इति तयोरेव भेदः, न तु तद्विषयस्य। एकस्यामेव तत्तायां संस्कारसापेक्षनिरपेक्षंस्मृत्यनुभवविषयत्वस्य एकस्मिन्नेवाग्न्यादौ व्याप्त्यादि धीसापेक्षनिरपेक्षानुमितिप्रत्यक्षविषयत्वादेर्दर्शनादिति चेत्, समं प्रकृतेऽपि। एवं च—

अज्ञानहानिवद् ब्रह्मरूपधीवदभेदवत्।
स्वरूपत्वेऽपि भेदस्य सापेक्षत्वं हि युज्यते॥

अद्वैतसिद्धिः

भिन्नतया स्थितिप्रतीत्यादौ निरपेक्षत्वेऽपि यथालक्षियार्थभेदभ्रमनिवर्तकवृत्तिजनने पदार्थसापेक्षतया स्वरूपपरवाक्यानामेकवाक्यतायाः सत्त्वात्, भेदरूपप्रतियोगिसापेक्षत्वेन तत्र सापेक्षत्वव्यवहारात्। न च घटः पटो नेति नञर्थस्य भेदस्येव तादात्म्यनिषेधरूपत्वेन वैपरीत्यम्, तादात्म्यस्य तन्निष्ठासाधारणधर्मरूपत्वे भेदस्याभेदानपेक्षत्वात्, अभेदरूपत्वे भेदसापेक्षत्वेनैव तस्य तदनपेक्षत्वात्। न चैतावता ऐक्यस्य सापेक्षत्वापत्तिः, काल्पनिकस्येष्टत्वात्। अत एव—अज्ञानहानिवद् ब्रह्मरूपधीवदभेदवत्स्वरूपत्वेऽपि भेदस्य सापेक्षत्वं हि युज्यत इति—निरस्तम्, तव सापेक्षत्वयोस्तात्त्विकतया दृष्टान्तवैषम्यात्। न च भेदेऽप्येवमेवास्तु, भेदस्य निषेधप्रति-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है। अर्थात् जीव और ब्रह्म के भेद-भ्रम की निवृत्ति तभी ऐक्य-ज्ञान से हो सकती है. जब वह ऐक्य जीवप्रतियोगिक और ब्रह्मानुयोगिक हो। अतः तत्त्वंपदार्थपरक सत्यादि वाक्यों की स्वरूपपरक वाक्यों के साथ एकवाक्यता होती है, व्यर्थता नहीं, ब्रह्मगत भेदाभावात्मक ऐक्य को अपने प्रतियोगीभूत भेद की अपेक्षा होने के कारण 'जीवब्रह्मणोरभेद'—इस प्रकार सापेक्ष व्यवहार होता है।

शङ्का—'घटः पटो न'—इत्यादि वाक्यों में नञर्थभूत भेद ही ऐक्याभावात्मक होता है, अतः उपर्युक्त भावाभावरूपता के विपरीत भावाभावात्मकता अनुभूत होती है। तादात्म्य के दो स्वरूप हो सकते हैं—(१) घटादिगत घटत्वादि के समान असाधारण धर्मरूपता अथवा (२) अभेदरूपता, प्रथम पक्ष में भेद को उस तादात्म्य की अपेक्षा होने पर भी अभेद की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि तादात्म्य और अभेद—दोनों भिन्न हैं। तादात्म्य को यदि अभेद रूप माना जाता है, तब भी उसे अपने प्रतियोगीभूत भेद की अपेक्षा होने पर भी अभेद की अपेक्षा नहीं। इतने मात्र से ऐक्य में सापेक्षत्व की यदि आपत्ति की जाती है, तब काल्पनिक सापेक्षत्व के द्वारा हमें इष्टापत्ति है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि यदि भेद अज्ञान-हानि या ब्रह्मरूप ज्ञान अथवा अभेद के समान वस्तु का स्वरूप माना जाता है, तब भी भेद को अभेद की अपेक्षा होती है। वह कहना संगत नहीं, क्योंकि हमारे मत में अज्ञान-निवृत्ति स्वरूप अज्ञान-हानि के निरपेक्ष होने पर भी उस से भिन्न कल्पित अज्ञान निवृत्तित्व-विशिष्ट सापेक्ष होता है, किन्तु आप (माध्व) के मत में घटप्रतियोगिक भेद स्वरूप में सापेक्षत्व और घटादि स्वरूप निरपेक्षत्व वास्तविक (सत्य) माना जाता है, अतः दृष्टान्त में वैषम्य आ जाता है। ऐक्य के समान भेद में काल्पनिक सापेक्षता नहीं मानी जा सकती,

न्यायामृतम्

अथ तत्र स्वरूपेण निरपेक्षस्यापि ब्रह्मणोऽभेदत्वेन सापेक्षत्वं तर्हि स्वरूपेण निरपेक्षस्यापि घटस्य भेदत्वेन सापेक्षत्वमस्तु प्रमेयत्वानिरपेक्षस्यापि अभावसादृश्यादेरभावत्वादिना सापेक्षत्वस्य स्वरूपेण निरपेक्षस्यापि दण्डादेर्ब्रह्मणश्च कारणत्वेन ज्ञानत्वेन च सापेक्षत्वस्य दर्शनात्। सप्रतियोगिकनिष्प्रतियोगिकव्यवस्था तु यदसाधारण्येन स्ववाचकपदप्रवृत्तिनिमित्तावच्छेदेन प्रतीतौ प्रतियोगिप्रतीतिसापेक्षं तत्सप्रतियोगिकम्, अन्यत्तु निष्प्रतियोगिकमिति। यदि च तत्रैकस्यैवार्थस्य लघुत्वकठिनत्वशब्दोल्लेखेन निरपेक्षस्यापि अगुरुत्वाद्रवत्वशब्दोल्लेखेन सापेक्षत्ववत् ब्रह्मशब्दोल्लेखेन

अद्वैतसिद्धिः

योगितया श्रुतत्वेन ब्रह्मरूपत्वाभावात्। न च तत्राभेदश्रुतिरस्ति। एतेन—स्वरूपेण निरपेक्षस्याप्यभेदस्याभेदत्वेन सापेक्षत्ववत् स्वरूपेण निरपेक्षस्यापि घटस्य भेदत्वेन सापेक्षत्वमस्तु, अवच्छेदकभेदेन सप्रतियोगित्वाप्रतियोगित्वे अपि यथा तद्वदिति—निरस्तम्, भेदस्य स्वरूपतो निरपेक्षत्वे निष्प्रतियोगिकत्वे च परान् प्रतीव स्वमपि प्रति अविशिष्टतया स्वव्याघातः। न चैवमभेदस्यापि स्वान् प्रतीव परान् प्रति तथा सति तथात्वापत्तिः, इष्टापत्तेः। घटत्वादिना भेदः परं कल्पितः, स्वरूपतस्त्वभेद एव। तथा सति परत्वं परं व्याहतम्, न स्वरूपत्वमपि।

यत्तु सप्रतियोगिकत्वनिष्प्रतियोगिकत्वव्यवस्था तु यदसाधारण्येन स्ववाचकप्रवृत्तिनिमित्तावच्छेदेन प्रतीतौ प्रतियोगिप्रतीतिसापेक्षम् तत्सप्रतियोगिकम्, अन्यत्तु निष्प्रतियोगिकमिति, तन्न, भेदस्य स्वरूपत्वे तदन्यत्वासिद्धेः। एतेन—एकस्यार्थस्य लघुत्वकठिनत्वादिना उल्लेखेन निरपेक्षत्वेऽपि अगुरुत्वाद्रवत्वादिना उल्लेखेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

क्योंकि 'नात्र काचन भिदा अस्ति', 'नेह नानास्ति किञ्चन—इत्यादि श्रुतियों के द्वारा निषेध-प्रतियोगित्वेन भेद का प्रतिपादन किया गया है। अतः वह ऐक्य के समान ब्रह्मरूप नहीं हो सकता। भेद के विषय में ब्रह्मस्वरूपता-प्रतिपादक कोई श्रुति नहीं।

न्यायामृतकार का जो यह कहना है कि जैसे अभेद स्वरूपेण निरपेक्ष होने पर भी अभेदत्वेन सापेक्ष और सप्रतियोगिक होता है, वैसे ही घट स्वरूपेण निरपेक्ष और निष्प्रतियोगिक होने पर भी भेदत्वेन रूपेण सापेक्ष और सप्रतियोगिक होता है।

वह कहना भी अत एव निरस्त हो जाता है कि घट जैसे अपनी दृष्टि में निरपेक्ष और निष्प्रतियोगिक है, वैसे ही पटादि की दृष्टि में भी, अतः भेदत्वेन उसे सापेक्ष कहना व्याहत है। अभेद के विषय में भी इसी प्रकार की समानता यदि दिखाई जाती है, तब हम उसे मान लेंगे। भेद घटत्वादिरूप से कल्पित है, परन्तु स्वरूपत अभेद ही है, क्योंकि एक ही ब्रह्म माया के द्वारा घटत्व, पटत्वादि नाना रूपों में कल्पित होने पर भी स्वरूपतः अभिन्न है। इस प्रकार केवल परत्व व्याहत है, स्वत्व नहीं।

यह जो सप्रतियोगिकत्व और निष्प्रतियोगिकत्व की परिभाषा दी गई है कि 'जो अपने असाधारण वाचक शब्द के वाच्यतावच्छेदकरूपेण प्रतीति में प्रतियोगि-सापेक्ष होता है, वह सप्रतियोगिक और उस से भिन्न निष्प्रतियोगिक होता है।' वह उचित नहीं, क्योंकि भेद घटादि स्वरूप है और घटादि में निष्प्रतियोगिकान्यत्व सम्भव नहीं।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि जैसे एक ही पदार्थ का लघुत्व कठिनत्वादि रूप में उल्लेख होने पर निरपेक्षत्व और अगुरुत्व, अद्रवत्वादि रूप में उल्लेख होने

न्यायामृतम्

निरपेक्षस्याप्यभेदशब्दोल्लेखेन सापेक्षत्वम्, तर्हीहापि घटशब्दोल्लेखेन निरपेक्षस्यापि भेदशब्दोल्लेखने सापेक्षत्वमस्तु। एकस्यैव गमनस्य गच्छतिचलतिशब्दोल्लेखाभ्यां प्रयत्नस्य च करोतियततिशब्दोल्लेखाभ्यां कर्मसापेक्षत्वनिरपेक्षत्वयोः शब्दस्वभाव-

अद्वैतसिद्धिः

सापेक्षत्वमपि यथा, तथा घट इत्युल्लेखेन निरपेक्षस्यापि भेद इत्युल्लेखे सापेक्षत्वोपपत्तिरिति—निरस्तम्, शब्दानुल्लेखेऽपि सापेक्षनिरपेक्षयोरनुभवाच्च, लयादिवत् नञनुल्लेखमात्रेण दृष्टान्तासंप्रतिपत्तेश्च। न च—एकस्यैव गमनस्य गच्छति-चलतिशब्दोल्लेखाभ्यामेकस्यैव च प्रयत्नस्य करोति प्रवर्तत इति शब्दोल्लेखाभ्यां कर्मसापेक्षत्वनिरपेक्षत्वयोः शब्दस्वभावप्रयुक्तिदर्शनादत्रापि घटभेदशब्दोल्लेखेन सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वे स्यातामिति—वाच्यम्, अर्थगतसकर्मकत्वादीनां शब्दस्वभावान-धीनत्वात्। प्रत्युत एकस्मिन्नेव तपधातावर्थभेदेन तयोर्दर्शनात् तपति ऋषिस्तपति पृथिवीं सवितेत्यादौ। एवं च दृष्टान्तेष्वर्थभेद एव, फलं धात्वर्थ इति मते संयोग-रूपार्थभेदात्। मतान्तरे तूत्तरसंयोगावच्छिन्नस्पन्दस्य गम्यर्थत्वं, पूर्वविभागफलक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पर सापेक्षत्व माना जाता है, वैसे ही घट का घटत्वेन (घटोऽयम्) उल्लेख होने पर निरपेक्षत्व और भेदत्वेन (भेदोऽयम्) उल्लेख होने पर सापेक्षत्व उपपन्न हो जाता है।

वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि किसी शब्द से उल्लेख न होने पर भी स्वभावतः कोई वस्तु सापेक्ष और कोई निरपेक्ष होती है, घट यदि एक है, तब किसी भी शब्द से उसका उल्लेख होने पर निरपेक्ष ही रहेगा, सापेक्ष नहीं हो सकता। जैसे नञ्-घटित न होनें पर भी लयादि पद अपने करणगत कार्यध्वंसरूप अर्थ को सप्रतियोगिकरूप में ही प्रस्तुत करते हैं, वेसे ही लघु, कठिनादि पद भो अपने गुरुत्व-शून्य और मृदुत्व-रहित अर्थ को सापेक्ष रूप में उपस्थित करते हैं, उभय रूपों में नहीं अतः उभयरूपता-प्रदर्शनपरक दृष्टान्त ही भंग हो जाता है।

शङ्का—शब्दोल्लेख अवश्य अपना महत्त्व रखता है, जैसे एक ही गमन क्रिया का 'गच्छति' शब्द से उल्लेख होने पर ग्रामादि कर्मकारक-सापेक्षत्व (सकर्मत्व) और 'चलति' शब्द से उल्लेख होने पर कर्म-निरपेक्षत्व (अकर्मकत्व) की प्रतीति होती है, वैसे ही 'घट' शब्द और 'भेद' शब्द के द्वारा एक ही विषय वस्तु में निरपेक्षत्व और सापेक्षत्व का भान असम्भावित नहीं।

समाधान—क्रियापदार्थगत सकर्मकत्वादि स्वतः होते हैं, किसी शब्द के अधीन नहीं होते, प्रत्युत एक ही 'तप' धातु में अर्थ-भेद के द्वारा सकर्मकत्व और अकर्मकत्व देखा जाता है—'सविता पृथिवीं तपति (तापयति) तथा 'ऋषिः तपति' (तपस्यति)। इसी प्रकार सभी दृष्टान्तों में अर्थ-भेद होने पर ही सापेक्षत्व और निरपेक्षत्व होता है, शब्दो-ल्लेखमात्र से नहीं, जैसे मण्डनमिश्र का मत है कि फल (ग्रामादि-संयोग) धातु-वाच्य और व्यापार (गमनादि) प्रत्यय-वाच्य होता है, किन्तु वैयाकरणगण कहते हैं कि फल और व्यापार—दोनों ही धातु-वाच्य होते हैं, मण्डनमतानुसार ग्रामादि-संयोगरूप गम धातु का अर्थ चल धातु के अर्थ से भिन्न होता है, अतः 'गम' धातु सकर्मक और 'चल' अकर्मक होतो है, मतान्तर (तार्किकादि के) मत में उत्तर-संयोगानुकूल क्रिया 'गम'

न्यायामृतम्

प्रयुक्तयोर्दर्शनात् । यदि च तत्राभेदत्वादिकमेव सापेक्षं न त्वभेदरूपो विशेष्यः, तर्ह्यत्रा-प्यन्योन्याभावत्वरूपं भेदत्वमेव सापेक्षं न तु भेदरूपो विशेष्य इति समम् । न च तर्ह्यन्योन्याभाव एव भेदोऽस्त्विति वाच्यम्, अन्योऽन्याभावस्यैव स्वरूपत्वोक्तेः । उक्तं हि—भावाभावस्वरूपत्वान्नान्योन्याभावता पृथगि''ति । उक्तं च—न स्वरूप-मात्रं भेदः, "किंत्वन्योन्याभावः, स च वस्तुनः सविशेषाभिन्न" इति । कथमभावस्य भावैक्यमिति चेद्, अविद्यानिवृत्त्यद्वैतयोरपि कथं ब्रह्मैक्यम्? भावस्याभावेन विरुद्धो न त्वन्याभावेनेति चेत्, समम् प्रकृतेऽपि, अभावाभावस्य भावत्वदर्शनात् । यदि चाविद्यानिवृत्तेर्ब्रह्मत्वं नाम प्राभाकरमत इवाधिकरणस्यैव निवृत्तिव्यवहारालम्बनता, तर्हि इहापि घटस्यैवान्योन्याभावव्यवहारालम्बनतेत्यस्तु । यदि चाद्वैतं न द्वैताभावः,

अद्वैतसिद्धिः

स्पन्दस्य चलत्यर्थत्वं, अनुकूलयत्नस्य करोत्यर्थत्वं, यत्नमात्रस्य यत्यर्थत्वमिति । न च—भेदत्वमेव सापेक्षम्, न तु भेद इति—वाच्यम्, सापेक्षतया विशेष्यस्यैवानुभ-वाद्, अन्यथा घटप्रतियोगिकं भेदत्वमित्युल्लेखः स्यात् ।

एतेन—'भावाभावस्वरूपत्वान्नान्योन्यभावता पृथक् ॥' इत्युक्तेः न स्वरूपमात्रं भेदः, किंत्वन्योन्याभावः, स च वस्तुनः सविशेषाभिन्न इत्युक्तेश्च घटादिरेव भावा-भावरूपतया भेद इति निरस्तम्, घटतदभावस्थले भावत्वाभावत्वयोर्विरुद्धत्वेन कल्पनात् कथं तदाश्रयैक्यम्? न च अविद्यानिवृत्त्यद्वैतयोरपि कथं ब्रह्मैक्यमिति—वाच्यम्, अस्मन्मते तत्राभावत्वस्य कल्पितत्वेन मायिकतया विरोधाभावात्, तव तु द्वयोरपि तात्त्विकत्वेन विरोधस्य दुष्परिहरत्वात् । अत एव—तत्तादात्म्यायोग्यत्वं वा,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

धातु का अर्थ होती है और पूर्व देश-विभागफलक क्रिया 'चल' धातु का अर्थ होती है । इसी प्रकार 'कृञ्' धातु का अर्थ अनुकूल यत्न और 'चल' धातु का अर्थ केवल यत्न होता है । फलतः एक ही अर्थ की सापेक्षता और निरपेक्षता में कोई दृष्टान्त सम्भव नहीं । 'भेदगत भेदत्व धर्म प्रतियोगित्वादि के समान सापेक्ष होता है, भेद नहीं—ऐसा कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि विशेष्यभूत भेदस्वरूप में सापेक्षता अनुभूत होती है, विशेषणभूत भेदत्व में नहीं, अन्यथा 'घटप्रतियोगिको भेदः' के समान 'घटप्रतियोगिकं भेदत्वम्'—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए ।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि 'भावाभावस्वरूपत्वान्नान्योऽन्याभावता पृथक्', 'न स्वरूपमात्रं भेदः किन्त्वन्योऽन्याभावः, स च वस्तुनः सविशेषाभिन्नः'—इत्यादि उक्तियों के अनुसार घटादि पदार्थ ही भावाभावरूपत्वेन भेद कहलाता है ।

वह कथन भी समीचीन नहीं, क्योंकि घट-घटाभाव-स्थल पर परस्पर-विरुद्ध भावत्व और अभावत्व की कल्पना की जाती है, अतः उन दोनों निरुद्ध धर्मों का आश्रय एक नहीं हो सकता । 'यदि भाव और अभाव की एकता नहीं होती, तब अभावरूप अविद्या-निवृत्ति और अद्वैत (द्वैताभाव) की भावरूप ब्रह्म के साथ एकता क्योंकर होती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अद्वैतमतानुसार वहाँ अभावत्व कल्पित और मायिक है, अतः वास्तविक भावत्व के साथ उसका कोई विरोध नहीं आता । किन्तु आपके मत में तो भावत्व और अभावत्व—दोनों वास्तविक हैं, अतः उनका विरोध दुरुद्धर है ।

न्यायामृतकार ने जो कहा है कि घट में पट भेदत्व क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर

न्यायामृतम्

किंतु तद्विरोधिभावान्तरं द्वैताभावोपलक्षितं ब्रह्मैव वा, तर्हि भेदोऽपि न तादात्म्याभावः, किंतु तद्विरोधि भावान्तरं तदभावोपलक्षितं स्वरूपमेव वाऽस्तु।

केचित्तु तत्तादात्म्यायोग्यत्वं वा तदैक्यधीव्यवहारविरोधित्वं वा तद्भेदत्वं यत्र यद्दर्शनं यत्तादात्म्याध्यासविरोधि तत्र तत्त्वं वा तद्भेदत्वमित्याहुः। इतरे तु स्ववृत्तिर्यत्किंचिद्धर्मानाधारनिष्ठयत्किंचिद्धर्मानाधारत्वरूपं वा स्वावृत्तिधर्माधारानिष्ठधर्माधारत्वरूपं वा स्वरूपत्वं भेदत्वम्। अनाधारत्वं चाधारत्वराहित्यं न त्वाधारान्यत्वमिति नान्योऽन्याश्रय इत्याहुः। एतेन प्रतियोगिनिरूप्यस्य भेदस्य वस्तुस्वरूपत्वे प्रतियोगिनोऽपि वस्तुस्वरूपत्वं स्यादिति निरस्तम्, व्याप्तेः स्वपरासम्मतेः। दुःख-

अद्वैतसिद्धिः

तदैक्यप्रमित्यविषयत्वं वा, यत्र यद्दर्शनं तत्र तत्तादात्म्याध्यासविरोधितत्वं वा, स्ववृत्तियत्किंचिद्धर्मानाधारनिष्ठयत्किंचिद्धर्मानाधारत्वस्वरूपं वा स्वावृत्तियत्किंचिद्धर्माधारानिष्ठधर्माधारत्वरूपं वा स्वरूपत्वं तद्भेदत्वम्, अनाधारत्वं चाधारत्वराहित्यम्, न त्वाधारादन्यत्वमिति नान्योन्याश्रय इति—निरस्तम्, स्वरूपत्वे सापेक्षत्वानुपपत्तेः, अतिरेके अनवस्थानाद्, अत्यन्ताभावान्योन्याभावयोरैक्यापत्तेः, प्रमितिदर्शनादिर्घटितत्वेन चक्षुराद्यगम्यातापत्तेश्च। किंच भेदस्य घटस्वरूपत्वे तन्निरूपकप्रतियोगिनोऽपि तत्स्वरूपतापत्तिः, न हि भेदरूपमात्रं घटः, किंतु पटप्रतियोगिकभेदरूप इति।

ननु नायं दोषः, भेदप्रतियोगिन उपलक्षणत्वेन स्वरूपतायामनन्वयाद्, अन्यथा

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कुछ लोग ऐसा देते हैं—(१) पट-तादात्म्यायोग्यत्व। (२) पटैक्य-धीव्यवहार-विरोधित्व अथवा (३) जिस (घट) में जिस (पट-भेद) की प्रतीति होती है, उस घट में पट-तादात्म्याध्यास-विरोधित्व। एवं उसी प्रश्न का उत्तर अन्य आचार्य देते हैं—(४) स्ववृत्ति (घटवृत्ति) जो घटत्वरूप यत्किञ्चित् धर्म, उस धर्म के अनाधारभूत पट में रहने वाले पटत्व धर्म का घटनिष्ठ अनाधारत्व ही घटगत पटभेदत्व है। अथवा (२) स्वावृत्ति (घटावृत्ति) जो पटत्वरूप यत्किञ्चित् धर्म, उसके आधारभूत पट में अवृत्ति घटत्व के आधारत्व को ही पट-भेदत्व माना जाता है। यहाँ अनाधारत्व का अर्थ आधारत्वात्यन्ताभाव है, आधारान्यत्व नहीं, अतः अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं होता।

न्यायामृतकर का वह कहना अतः एव निरस्त हो जाता है कि वस्तु का स्वरूप कभी भी सापेक्ष नहीं होता, अतः उक्त अयोग्यत्वादि को वस्तु का स्वरूप मानने पर सापेक्ष नहीं मान सकते और वस्तु का स्वरूप न मान कर अतिरिक्त धर्म मानने पर अनवस्था दोष होता है। उक्त अयोग्यत्वादि को योग्यत्वादि का अत्यन्ताभाव मानने पर अत्यन्ताभाव और अन्योऽन्याभावात्मक भेद की ऐक्यापत्ति होतो है। भेदत्व-घटक प्रमिति और प्रदर्शनादि पदार्थ चाक्षुष नहीं होते, अतः उनसे घटित भेद चाक्षुष भी नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि भेद को घटादिस्वरूप मानने पर भेद के निरूपक पटादि प्रतियोगी भी घट के स्वरूप में ही समाविष्ट हो जायँगे, क्योंकि केवल भेद को घट का स्वरूप नहीं: अपितु पटादिप्रतियोगिक भेद को घट का स्वरूप माना जाता है, तब पटस्वरूप घट से पट का भेद ही कैसे रह जायगा?

शङ्का—प्रतियोगी कभी अनुयोगी का स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतियोगि-निरूपितत्व का अर्थ होता है—प्रतियोग्युपलक्षितत्त्व, अतः उपलक्षरूप प्रतियोगी

न्यायामृतम्

निवृत्तेः पुमर्थत्वेऽपि दोषाभावस्य, साधकत्वप्रयोजकत्वेऽपि अनृतव्यावृत्यज्ञाननिवृत्योः, अज्ञानादिप्रकाशरूपज्ञानस्य च ब्रह्मस्वरूपत्वेऽपि अज्ञाननिवृत्तेर्मोक्षत्वेऽपि दुःखेऽदोषेऽनृतेऽज्ञाने च पुमर्थत्वस्य साधकत्वप्रयोजकत्वस्य ब्रह्मस्वरूपत्वस्य मोक्षत्वस्य चादर्शनात् । तत्राज्ञानादिकं कार्यानन्वयित्वेनोपलक्षणं सत् निरूपकमात्रम् , न तु कार्यान्वयित्वेन विशेषणमिति चेत् , समम् प्रकृतेऽपि । लोकेऽपि निरूपके "लम्बकर्णमानये"त्यादौ कार्यान्वयस्येव "चित्रगुमानय", "काशीवासी समागत"इत्यादौ तदनन्वयस्यापि दर्शनात् । न च व्याप्तिग्रहणेऽनुसृता लौकिकी रीतिर्व्यभिचारे नानुसरणीया । न च कर्णस्य कार्यान्वयदर्शनेन गवामपि तदापादनम् , वैपरीत्यापत्तेः, अज्ञानादेर्ब्रह्मस्वरूपत्वापत्तेश्च ।

ननु प्रतियोगिन उपलक्षणत्वे कदाचित् काकाऽज्ञानेऽपि गृहज्ञानवत् प्रतियोग्यज्ञानेऽपि भेदज्ञानं स्यादिति चेत् , तर्ह्यज्ञानाद्यज्ञानेऽपि कदाचित्तन्निवृत्त्यादिज्ञानं स्यात् । अथोपलक्षणस्यापि प्रतियोग्यादेर्ज्ञानमुपलक्ष्याभावसादृश्यादिज्ञानकारणं दृष्टमित्यदोषमिति चेत् , समं प्रकृतेऽपि । तस्मात्प्रतियोगिन उपलक्षणत्वान्न धर्मिण्यन्तर्भावः । एवं च—

पुरुषार्थे दुःखमिव ब्रह्मण्यज्ञानवत्तथा ।
मोक्षे च मोहवन्नाऽन्तर्गतं कुम्भादिकं पटे ॥
तटस्थत्वेऽपि कुम्भादेरप्रतीतौ न भेदधीः ।
अज्ञानदेरप्रतीतौ तद्धान्याद्यप्रतीतिवत् ॥

अद्वैतसिद्धिः

दुःखनिवृत्तेः पुमर्थतया दुःखस्यापि पुमर्थत्वं, दोषाभावस्य साधकताप्रयोजकत्वे दोषस्यापि सधाकताप्रयोजकत्वं, अनृतव्यावृत्त्यज्ञाननिवृत्त्योरज्ञानादिप्रकाशरूपज्ञानस्य च ब्रह्मरूपत्वे अनृतादीनामपि तद्रूपत्वं, अज्ञाननिवृत्तेर्मोक्षत्वे अज्ञानस्य च मोक्षत्वं च स्यात् । न च लम्बकर्णादौ कर्णादेर्विशेषणतयान्वयदर्शनादत्रापि तथा, चित्रग्वादिषु अनन्वयात्तथैव किं न स्यात् ? अन्यथोदाहृतस्थले अगतेः । न च प्रतियोगिन उपलक्षणत्वे तदज्ञानेऽपि काकाज्ञाने गृहज्ञानवत्तज्ज्ञानापत्तिः, इष्टापत्तेः, अन्यथोदाहृतागतेश्च । केचितु

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तटस्थ होकर भेद का परिचायक होता है, भेदस्वरूप में उसका अन्वय नहीं होता। अन्यथा (प्रतियोगी को भी अभाव के स्वरूप में समाविष्ट करने पर) दुःखप्रतियोगिक निवृत्ति में पुरुषार्थता होने के कारण प्रतियोगीभूत दुःख में भी पुरुषार्थता माननी होगी, दोषाभाव में कार्य-साधकता-प्रयोजकत्व रहने के कारण दोष को साधकता का प्रयोजक मानना होगा। अनृत-व्यावृत्ति और अज्ञान-निवृत्ति के ब्रह्मरूप होने के कारण अनृतादि को भी ब्रह्मरूप एवं अज्ञान-निवृत्ति को मोक्षस्वरूप होने के कारण अज्ञान को भी मोक्षरूप मानना होगा। लम्बकर्णादि में कर्णादि का विशेषणतया अन्वय होने पर भी सर्वत्र निरूपक पदार्थ का विशेषण विधया ही अन्वय नहीं होता, क्योंकि 'चित्रगुः देवदत्तः'— इत्यादि-स्थल पर गवादि का विशेषणत्वेन अन्वय नहीं, अपितु उपलक्षणत्वेन ही अन्वय होता है, वैसे ही प्रकृत में भी प्रतियोगी को भेद स्वरूप का उपलक्षण ही माना जाता है। निरूपक को सर्वत्र विशेषण मानने पर उदाहृत स्थलों पर अनुपपत्तियाँ बनी रहती हैं। यदि कहा जाय कि प्रतियोगी को काकादि के ..मान उपलक्षक मानने पर जैसे

न्यायामृतम्

(१) केचित्तु प्रतियोगिनो विशेषणत्वेऽपि न दोषः। शब्दोऽनित्य इत्यादौ शब्दत्वादेरिव कार्यानन्वयेऽपि विशेषणत्वोपपत्तेरित्याहुः।

अद्वैतसिद्धिः

प्रतियोगिनोऽनन्वयेऽपि 'शब्दः अनित्य' इत्यादौ शब्दत्वादेर्विशेषणत्वमिवात्रापि विशेषणत्वमित्याहुरिति—चेन्न, न हि वयं पटभेदो घटस्वरूपमित्यन्वयप्रविष्टत्वेन प्रतियोगितया निरूपकत्वमात्रेण वा पटस्य घटरूपतामापादयामः, किंतु समानाधिकरणप्रतीतिविषयस्वरूपं प्रति प्रतियोगितया निरूपकत्वेन, अभेदनिरूपकप्रतियोगिवत्। न चाज्ञाननिवृत्त्यादयः समानाधिकरणप्रतीतिविषयाः, भेदस्तु घटः पटो नेति समानाधिकरणप्रतीतिविषयः, अन्यथा समानाधिकरणनिषेधबुद्धिविषयत्वं भेदलक्षणं न स्यात्। एतेन—

पुरुषार्थे दुःखमिव ब्रह्मण्यज्ञानवत्तया।
मोक्षे च मोहवन्नान्तर्गतं कुम्भादिकं पटे ॥
तटस्थत्वेऽपि कुम्भादेरप्रतीतौ न भेदधीः।
अज्ञानादेरप्रतीतौ तद्वान्याद्यप्रतीतिवत् ॥ इति—निरस्तम्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

काकादि का अज्ञान रहने पर भी गृह का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही प्रतियोगिविषयक ज्ञान के विना भी अभाव का ज्ञान हो जायगा। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि उपलक्षण का सर्वत्र स्वभाव एक-जैसा ही होता है, यहाँ भी प्रतियोगी अज्ञान से अभाव-ज्ञान कभी अवरुद्ध नहीं होता। कतिपय आचार्य प्रतियोगी का अभावस्वरूप में अनन्वय होने पर भी 'शब्दोऽनित्यः' यहाँ शब्दत्वादि के समान प्रतियोगी को भी विशेषण मान लेते हैं।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं, क्योंकि हम (अद्वैतीगण) 'पटभेदो घटस्य स्वरूपम्'—इस प्रकार अन्वय में प्रविष्ट होने अथवा प्रतियोगितया निरूपक होने के कारण पटादि में घटादि-स्वरूपता का आपादन नहीं करते, अपितु समानाधिकरण-प्रतीति के विषयीभूत स्वरूप का प्रतियोगितया जो निरूपक है, वही अनुयोगी का स्वरूप होता है, जंसे अभेद-निरूपक प्रतियोगी ['घटो द्रव्यम्'—इस प्रकार की समानाधिकरण-प्रतीति के जनक शब्द का अर्थ होता है—घटप्रतियोगिकाभेदवद् द्रव्यम्। यहाँ अभेद के निरूपकीभूत घटात्मक प्रतियोगी को द्रव्य से अभिन्न माना जाता है, क्योंकि घट उक्त समानाधिकरण प्रतीति के विषयीभूत अभेद का प्रतियोगिविधया निरूपक है। 'घटे पटभेदः'—यहाँ पर पट-भेद समानाधिकरण प्रतीति का विषय नहीं, अतः घट के साथ उसका अभेद प्रसक्त नहीं होता, किन्तु यदि 'पटाभेदो घटः'—ऐसी प्रतीति होती है, तब अवश्य समानाधिकरण प्रतीति के विषयीभूत भेद का प्रतियोगी होने के कारण पट घट का स्वरूप हो जाता है। 'घटः पटो न'—इस वाक्य के द्वारा भी जनित समानाधिकरण-प्रतीति की विषयता भेद में सिद्ध होती है, अन्यथा भेद का समानाधिकरण निषेधबुद्धिविषयत्वरूप लक्षण सम्भव न हो सकेगा। अत एव यह भी निरस्त हो जाता है—

पुरुषार्थे दुःखमिव ब्रह्मण्यज्ञानवत्तथा।
मोक्षे मोहवन्नान्तर्गतं कुम्भादिकं पटे ॥ १ ॥
तटस्थत्वेऽपि कुम्भादेरप्रतीतौ न भेदधीः।
अज्ञानादेरप्रतीतौ तद्वान्याद्यप्रतीतिवद् ॥ २ ॥

न्यायामृतम्

ननु तथापि विदारणात्मनो भेदस्य घटस्वरूपत्वे घटस्यापि विदारणं एवं तदवयवानामपीति परमाणुरपि नैक इति शून्यतापत्तिरिति चेन्न, अविदारणात्मकस्याभेदस्य ब्रह्मस्वरूपत्वे पारमार्थिकस्य ब्रह्मणो व्यावहारिकेण घटादिना प्रातिभासिकेन रूप्यादिना शून्येन चाप्यविदारणेन तदैक्यं स्यादिति साम्यात्। यदि च तत्र जीवाभेद एव ब्रह्मस्वरूपं न तु घटाद्यभेदः, तर्ह्यत्रापि पटादिभ्यो भेद एव घटस्वरूपम्, न तु स्वस्मादिति समम्। एवं च—

विदारकत्वेऽपि पटाद् घटस्य स्याद्विदारणम्।
न तु स्वतो यथा ह्यैक्यं स्वेनैव न परेण तु॥

अद्वैतसिद्धिः

किंच विदारणात्मनो भेदस्य घटस्वरूपत्वे घटस्यापि विदारणं स्यात् एवं तदवयवानामपीति परमाणुरपि नैक इति शून्यतापत्तिः, एकाभावे तत्समाहाररूपानेकस्याप्यभावात्। ननु—अविदारणात्मकस्याभेदस्य ब्रह्मरूपत्वे पारमार्थिकब्रह्मणो व्यावहारिकप्रातिभासिकशून्यैरपि अविदारणे तदैक्यमपि स्यात्। न च जीवाभेद एव स्वरूपम्, न तु घटाद्यभेदः, तर्ह्यत्रापि घटादिभ्यो भेद एव पटस्वरूपम्, न तु स्वस्मादिति सममिति—चेन्न, स्वरूपत्वे भेदस्य स्वज्ञानाप्रतिबध्यज्ञानप्रतियोगिकत्वे स्वस्वरूपत्वेनाभेदवत् स्वप्रतियोगित्वनियमेन स्वविदारकत्वस्यावश्यकत्वाद्, घटधर्मेषु पट-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

[जैसे दुःखनिवृत्तिस्वरूप परमपुरुषार्थभूत मोक्ष में दुःख का एवं अज्ञान-निवृत्तिस्वरूप ब्रह्म में अज्ञान (मोह) का अन्तर्भाव नहीं होता, वैसे ही घटादि भी घटभेदात्मक पट के अन्तर्गत नहीं होते ॥ १ ॥ अभाव और सादृश्यादि के समान तटस्थभूत (उपलक्षणात्मक) अज्ञानादि की अप्रतीति होने पर नियमतः अज्ञाननिवृत्त्यादि की जैसे अप्रतीति होती है, वैसे ही उपलक्षणत्वेन काकादि की समानता होने पर भी प्रतियोगीभूत घटादि की अप्रतीति होने पर नियमतः भेद की अप्रतीति होती है ॥ २ ॥]।

दूसरी बात यह भी है कि भेद विदारणात्मक होता है, यदि वह घट का स्वरूप हो जाता है, तब वह घट को भी विदीर्ण कर देगा, घट के अवयवों का स्वरूप होकर उनको भी विशीर्ण कर देगा। यहाँ तक कि परमाणु-स्वरूप होकर भेद परमाणु को भी निभेदन कर देगा, परमाणु एकात्मक कभी नहीं रह जायगा। जब कोई एक नहीं, तब तत्समूहात्मक अनेक का भी अभाव हो जायगा, सर्व-शून्यत्वापत्ति हो जाती है।

शङ्का—विदारणात्मक भेद का विरोधी अभेद अविदारणात्मक या ऐक्यापादक होता है, यदि वह ब्रह्मरूप है, तब पारमार्थिक ब्रह्म के साथ व्यावहारिक और प्रातिभासिक पदार्थों का भी ऐक्यापादन कर देगा। पारमार्थिक, व्यावहारिक, प्रातिभासिक और शून्य का अन्तर या सीमाङ्कन ही समाप्त हो जाता है। यदि अभेदवादी केवल जीवाभेद को ही ब्रह्मस्वरूप मानते हैं, तब हम (द्वैती) भी पट में घटादिप्रतियोगिक भेद को ही पटस्वरूप मानेंगे, न कि पटप्रतियोगिक भेद को।

समाधान—घटनिष्ठ भेद के प्रतियोगीभूत पटादि का घटात्मकभेदरूप होना पूर्वनिर्धारित है, किन्तु पट में जो पटभेद नहीं रहता, उसका कारण यह है कि पटादि के तादात्म्य-ज्ञान का विषयत्व ही वहाँ प्रतिबन्धक होता है, पटादिप्रतियोगिकत्व नहीं, क्योंकि घटादि के अभेद में पटादिप्रतियोगिकत्व के रहने पर भी पटादि का अभेद माना

न्यायामृतम्

किं च भेदस्य स्वस्माद्विदारकत्वेऽपि (अवयवानां) कार्याणां विभागेन सूक्ष्मत्वमेव स्यात् , न तु शून्यत्वम् , न हि शून्यानां संयोगात्कस्यचिज्जन्म, येनावयवानां विभागेन शून्यपरिशेषः स्यात् । अपि च विदारकमपि लवित्रादि स्वयं यत्सम्बन्धि, तदेव विदारयति । न तु स्वात्मानं ततो धर्मभेदवादे कथंचिदेवं वक्तव्यम् , न तु स्वरूपभेदवादे । वस्तुतस्तु भेदो न विदारकः, किं तु विदारणं भावसाधनत्वाद्भेदशब्दस्य तथा च घटोऽपि विदारणं स्यान्न तु घटस्य, न हि विदारणस्य विदारणम् ,

अद्वैतसिद्धिः

प्रतियोगिकभेदत्ववद् घटप्रतियोगिकभेदत्वस्यापि अभ्युपगमात् , पटाद् भिन्नो घट इतिवद् घटाद्भिन्नो घट इति प्रतीतेर्वज्रलेपत्वाच्च । यत्तु स्वस्माद्विदारकत्वे अवयवानां विभागेन सूक्ष्मत्वमेव स्यात् , न तु शून्यत्वम् , न हि शून्यसंयोगात् किंचिदुत्पन्नमिति, तन्न, विभाजकत्वं न विदारकत्वम् , किंत्वेकत्वविरोधित्वम् । तथा चैकस्याभावे अनेकस्य सुतरामभावाच्छून्यतायामेव पर्यवसानाच्च । एतेन विदारकलवित्रादेः स्वसंबन्धिन्येव विदारकत्वम् , न तु स्वस्मिन्निति भेदश्चेत्स्वरूपं, तदा स्वं न विदारयेत् । किंच भेदस्य न विदारकत्वम् , भावव्युत्पत्त्या विदारणत्वात् । तथा च स्वरूपभेदेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाता है । फलतः स्वगत अभेद के समान भेद भी स्वप्रतियोगिक हो सकता है, अतः घटादिस्वरूप भेद में स्वभेदवत्त्वरूप स्वविदारकत्व सिद्ध हो जाता है [स्वज्ञानाप्रतिवध्यज्ञानप्रतियोगिकत्व का अर्थ है—स्वं भेदः तज्ज्ञनाप्रतिबध्यं ज्ञानं यस्य, तादृशस्वप्रतियोगिकत्वम् । भेद के प्रतियोगीभूत पटादि का तादात्म्य-ज्ञान घटादिस्वरूप भेद के ज्ञान से प्रतिबध्य नहीं होता, अतः उक्त ज्ञान-तादात्म्य घटादि में बाधित नहीं, घटादिस्वरूप भेद में स्वप्रतियोगित्व रहने के कारण कथित स्वविदारकत्व आवश्यक है] । घट के धर्मभूत भेद में पटप्रतियोगिक भेदत्व के समान घटप्रतियोगिक भेदत्व भी माना जाता है, क्योंकि 'पटाद् भिन्नो घटः' के समान 'घटाद् भिन्नो घटः'—ऐसी प्रतीति वज्रलेप है ।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि 'यदि भेद स्वाश्रय का विदारक होता है, तब परमाणु आदि के अवयव भी सूक्ष्म होते जायँगे, शून्य कभी नहीं हो सकते, क्योंकि शून्य के संयोग से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती कि संयोग के अभाव में शून्य शेष रह जाता ।'

न्यायमृतकार का वह कहना उचित नहीं, क्योंकि विदारकत्व का अर्थ विभागजत्व नहीं होता, अपितु एकत्व-विरोधित्व को विदारकत्व माना जाता है । इसके प्रभाव से जब कोई एक इकाई नहीं रहती, तब एकत्व-समूहात्मक अनेकत्व भी नहीं रहता, इसी का दूसरा नाम शून्यता है ।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि लवित्र (दराँती या हँसिया) आदि विदारक (काटनेवाले) औजार अपने से संयुक्त (सटी हुई) वस्तु का ही विदारण करते हैं, स्वयं अपने आप का नहीं, अतः भेद यदि घटादि का स्वरूप है, तब घटादि का विदारण क्योंकर होगा ? दूसरी बात यह भी है कि भेद विदारक नहीं होता अपितु 'भेदनं भेदः'—इस प्रकार भावार्थक घञ प्रत्यय से निष्पन्न 'भेद' शब्द भेदन या विदारण को कहता है, विदारक को नहीं, तब भेद घटात्मक होकर घट का विदारण नहीं कर सकता है, क्योंकि असिधारा का स्ववृत्तित्व (स्वयं अपने को काटना) सम्भव नहीं होता ।

न्यायामृतम्

स्ववृत्तिविरोधात् । एवं च—

विदारणस्य भेदस्य घटत्वे हि घटोऽपि च ।
विदारणं स्यान्न घटे स्वस्य स्वस्मिन्नवृत्तितः ॥

अंगीकृत्य चेदमुदितं वस्तुतस्तु न विभागरूपविदारणात्मा भेदः किंत्वन्योन्याभावः ।

क्रिया वाचित्वमाख्यातुमेकैकोऽर्थः प्रदर्श्यते ।
प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातवः ॥

इति वचनेन भिदेर्विभागोऽन्यत्वं चार्थौ यतः । अन्यथा संयुक्तयोरोष्ठयोर्भिन्नाविति व्यवहारो न स्यात् । उक्तं च—

भेदस्य च स्वरूपत्वे ये वदन्ति च शून्यताम् ।
अद्भुतास्ते यतोऽन्यस्य प्रतियोगित्वमिष्यते ॥ १ ॥
प्रतियोगिनो हि भेदोऽयं न तु स्वस्मात्कथंचन ।
विभागेनाल्पतैव स्यात्कुत एव च शून्यता ॥ २ ॥
न शून्यानां हि संयोगाद्भावो वस्तुन इष्यते ।
विदारणार्थो धातुश्च विभागगुणवाचकः ॥ ३ ॥

अद्वैतसिद्धिः

घटस्य न विदारणं स्यात्, स्ववृत्तिविरोधादिति—निरस्तम्, भेदस्य विदारणरूपविभागात्मकत्वेन विभागस्य विभज्यमानवृत्तित्वनियमेनावयवानवस्थया शून्यतापत्तेस्तादवस्थ्यात् । अत एव विभागरूपविदारणात्मा न भेदः, किंत्वन्योन्याभावः, धातूनामनेकार्थत्वात् । तदुक्तम्—

क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकैकोऽर्थः प्रदर्श्यते ।
प्रयोगतोऽनुसर्तव्या अनेकार्था हि धातवः ॥ इति

अन्यथा संयुक्तयोर्भिन्नाविति व्यवहारो न स्यादिति—निरस्तम्, अन्योन्याभाव-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न्यायामृतकार का वह कहना इसी लिए निरस्त हो जाता है कि भेद विदारण-रूप विभागात्मक है वह सदैव विभज्यमान पदार्थों में ही रहता है या यूँ कहा जाय कि अपने आश्रय को तब तक विभक्त करता जाता है, जब तक उसकी स्थिति है, अतः सर्वथा अवयव-परम्परा के अस्तित्व की समाप्ति या शून्यता में ही पर्यवसान हो जाता है ।

यह जो कहा गया है कि 'भेद विभागरूप विदारणात्मक नहीं होता, किन्तु अन्योऽन्याभावरूप होता है, धातु के अनेक अर्थ होते हैं, जैसा कि कहा गया है—

क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकैकोऽर्थः प्रदर्श्यते ।
प्रयोगतोऽनुसर्तव्या अनेकार्था हि धातवः ॥

[शास्त्रकारों ने जो धातुओं के एक-एक अर्थ का निर्देश किया है, वह दिग्दर्शनमात्र है, केवल क्रिया-वाचकत्व का प्रदर्शन करने के लिए वैसा कह दिया गया है, वस्तुतः धातुओं केअनेक अर्थ होते हैं, विविध प्रयोगों के आधार पर धातुओं का बह्वर्थकत्व निश्चित होता है] । अतः 'भिद्' धातु का अन्योऽन्याभाव भी अर्थ किया जा सकता है । 'भिद्' धातु यदि केवल विदारणार्थक मानी जाती है, तब संयुक्त दो घटों के लिए 'भिन्नाविमौ घटौ'—यह व्यवहार नहीं हो सकेगा ।

न्यायामृतम्

अविदारणेऽपि ह्यास्यस्य भिन्नावोष्ठौ तु तस्य हि । इति । एतेन अनेकत्वैकार्थसमवायिनो भेदस्य घटस्वरूपत्वे घटस्याप्यनेकत्वं स्यात् । तथा तदवयवानामपीति तद्विरुद्धमेकत्वं क्वापि न स्यात् । एकत्वाभावे चानेकत्वमपि न भवेत् । तथा च संख्यारहितस्य द्रव्यस्य शून्यतापत्तिरिति निरस्तम् । एकत्वैकार्थसमवायिनो घटेन घटाभेदस्य भटस्वरूपत्वे घटस्य पटेन सह धर्मिज्ञानाबाध्यत्वमनेकत्वं ब्रह्मणा च ब्रह्मणाभेदस्य ब्रह्मस्वरूपत्वे भावाद्वैतमते ब्रह्मणः अभावेन सहाप्यनेकत्वं स्यादिति साम्यात् । अथ स्वेनैकत्वेऽप्यन्येन सहानेकत्वमविरुद्धम्, तर्ह्यन्येन सहानेकत्वेऽपि स्वेनैकत्वमविरुद्धमिति समम् । किं च भेदस्य सादृश्यादिवदन्यनिरूप्यस्यैकमात्रवृत्तित्वादनेकत्वैकार्थसमवायित्वमसिद्धम् ।

अपि च भेदस्यानेकत्वैकार्थसमवायित्वेऽपि यत्र भेदात्मको घटस्तस्यानेकत्वं स्यात्, न तु घटस्य कथं चानेकत्वबलेन एकत्वाभावमुक्त्वा पुनस्तेनैवानेकत्वाभावं वदतः न पूर्वोत्तरविरोधः ? न ह्यत्र काप्यस्मद्रीतिरस्तीत्युक्तम्, येन परीत्यापादनमिति निस्तारः स्यात् । एतेन भेदस्य धर्मिस्वरूपत्वे संशयादिकं न स्यात् । धर्मि-

अद्वैतसिद्धिः

स्वरूपत्वे कपालादिरूपाश्रयप्रतियोगिकभेदस्य घटादिरूपाश्रितरूपतया स्वप्रतियोगिकभेदाश्रयत्वादेकत्वं कपालादिषु भज्येतेत्यवयवानवस्थया शून्यतायामेव पर्यवसानात् । अत एव—नानेकत्वैकार्थसमवायिना भेदेन एकत्वं निराकृत्य तेन पुनरनेकत्वनिराकरणं युज्यते, उपजीव्यविरोधादिति—निरस्तम्, अनेकत्वमस्पृष्ट्वैव स्वप्रतियोगिकभेदमात्रेण ऐक्यविरहस्यापाद्यत्वात् । अत एवोक्तमाचार्यैः—'अभेदैकार्थसमवायिन्या एकताया भेदेन विरोधा'दिति ।

यदुक्तं स्वस्मिन्वृत्तिविरोधादिति, तन्न, विभागादिरूपव्यापारस्यानङ्गीकाराद्

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि भेद को यदि अन्योऽन्याभाव का स्वरूप माना जाता है, तब कपालादिरूप आश्रय का घटादि में रहनेवाला भेद घटरूप होता है, घट का आश्रय कपाल है, अतः वह घटादि स्वरूप भेद भी कपालवृत्ति होकर कपाल को उसी कपाल से भिन्न कर देगा—एवं यदि स्वप्रतियोगिकभेदाश्रयः स्यात् स्वस्माद्भिन्नं स्यात् । इतना ही नहीं, अवयव-परम्परा के विभाजन का शून्यता में ही पर्यवसान हो जाता है ।

यह जो कहा गया कि जो भेद अनेकत्व-समानाधिकरण (अनेकत्वसमवायिसमवेत) है, वह एकत्व का निराकरण कर के अनेकत्व का निराकरण नहीं कर सकता, क्योंकि अनेकत्व भेद का उपजीव्य है, उसका बाध करना उपजीव्य-विरोध है, जो कि न्यायोचित नहीं माना जाता ।

वह कहना भी अनुचित है, क्योंकि अनेकत्व का बाध न करके ही स्वगत स्वप्रतियोगिक भेद एकत्व के अभाव का आपादक हो जाता है । अत एव आचार्यवरों का कहना है—"अभेदैकार्थसमवायिन्या एकताया भेदेन विरोधात् ।" [अर्थात् यद्धर्मविशिष्टाभेदसमानाधिकरणा या एकता, सा तद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदविरोधिनी—इस नियम के अनुसार एक कपाल का उसी कपाल से भेद होने पर वह कपाल एकात्मक नहीं रह सकेगा, अन्य कपालो में अनेकता तो रहेगी ही] ।

यह जो कहा गया कि 'स्वस्मिन् वृत्तिविरोधात् ।' वह संगत नहीं, क्योंकि क्रिया-

न्यायामृतम्

ज्ञानस्य संशयादिहेतुत्वात्तज्ज्ञानेनैव च तदभिन्नस्य भेदस्य ग्रहणाद्भेदज्ञानस्य च संशयादिविरोधित्वादिति निरस्तम्। प्रत्यक्चैतन्ये स्वयं भातेऽपि तदभिन्नस्यैक्यानवच्छिन्नानन्दस्य चाप्रकाशवत् धर्मिणः प्रकाशेऽपि तदभिन्नस्य भेदस्याप्रकाशोपपत्तेः। ऐक्यस्य च प्रकाशे च तत्र विप्रतिपत्तिर्न स्यात् तदुपदेशानर्थक्यं च स्यात्। न च स्वरूपज्ञानेनैक्यस्य स्वतो मानेऽप्यज्ञानविरोधिन्या वृत्तेरभावाद् विप्रतिपत्त्यादिति वाच्यम्, प्रत्यगर्थवदेव वृत्त्यभावेऽपि स्वतोभानेनैवैक्येऽपि विप्रतिपत्त्याद्ययोगात्। यदि

अद्वैतसिद्धिः

इतरविरोधितादिरूपव्यापारस्य सर्वत्र सत्त्वात्। किंच स्वरूपत्वे भेदस्य संशयादिर्न स्यात्, धर्मिज्ञाने भेदाज्ञानाभावात्, तदज्ञाने हेतोरेवाभावात्। ननु—अभेदस्यापि स्वरूपत्वे संशयाद्यनुपपत्तिस्तवापि समा, यदि चाभेदत्वेनाज्ञानात्तथा, ममापि भेदत्वेनाज्ञानात्तदिति—चेन्न, भेदस्य स्वरूपत्वे शून्यतापादकयुक्त्या कोटीनामेवोच्छेदात्। न च—अभेदस्यापि स्वरूपत्वे भेदकोट्युच्छेदस्तवापीति—वाच्यम्, कल्पितकोटिमादाय संशयोपपत्तेः। न च तवापि भेदकसत्त्वादिकोटिः कल्पिता, शून्यतापत्तेरित्युक्तत्वात्।

यत्तु प्राक् चैतन्ये स्वयंभातेऽपि तदभिन्नस्यैक्यस्यानवच्छिन्नस्यानन्दस्य चाप्रकाशवद्धर्मिणः प्रकाशेऽपि तदभिन्नस्य भेदस्याप्रकाशो भविष्यति, किञ्चैक्यप्रकाशे तत्र विप्रतिपत्तिर्न स्यात्, तदुपदेशानर्थक्यं च स्यादिति, तन्न, ऐक्यादीनां स्वप्रका-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विभागादिरूप व्यापार नहीं माना जाता। इतर-विरोधितादिरूप व्यापार तो सर्वत्र ही माना जाता है। दूसरी बात यह भी है कि भेद को आश्रय का स्वरूप मानने पर भेद का भी ज्ञान हो जाता है, भेदाज्ञानरूप कारण के अभाव में संशय कैसे होगा ?

शङ्का—जैसे भेद को धर्मी का स्वरूप मानने पर संशय का उच्छेद हो जाता है, वैसे ही अभेद को भी वस्तु का स्वरूप मानने पर संशयादि के अभाव की आपत्ति होती है।

समाधान—अभेद को धर्मिस्वरूप मानने पर संशय की कोटियों का उच्छेद तो नहीं होता, संशय की स्वरूप योग्यता बनी रहती है, किन्तु भेद को धर्मिस्वरूप मानने पर शून्यतापादन-क्रम से कोटियों का ही उच्छेद हो जाता है, संशय की स्वरूप योग्यता भी नहीं रहती।

शङ्का—अभेद को वस्तु का स्वरूप मानने पर भेद की कोटियों का उच्छेद आप को भी मानना पड़ता है।

समाधान—वास्तविक कोटियों का अभाव होने पर भी कल्पित कोटियों को लेकर संशय की उपपत्ति हो जाती है। भेदस्वरूपवाद में कोटियों की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि अवयव-परम्परा के विभाजन से शून्यता के ऐसे धरातल पर पहुँच जाते हैं, जहाँ पर कल्पना के पंख भी कट चुके होते हैं।

यह जो कहा गया कि पहले चैतन्य के स्वयंप्रकाशित होने पर भी चैतन्याभिन्न ऐक्य और अनवच्छिन्न आनन्द का जैसे अप्रकाश होता है, वैसे ही धर्मी का प्रकाश होने पर भी उससे अभिन्न भेद का अप्रकाश और संशयोपपत्ति हो जायगी। दूसरी बात यह भी है कि ऐक्य का प्रकाश होने पर वहाँ भेदाभेद की विप्रतिपत्ति (विवाद) नहीं होनी चाहिए, और ऐक्य का उपदेश भी व्यर्थ हो जाता है।

न्यायामृतम्

चैक्यस्याविद्यावरणादप्रकाशः, तर्हि भेदस्यापि सादृश्यादिदोषादप्रकाश इति समम्। एवं च—

स्वरूपत्वेऽपि भेदस्य युज्यते संशयादिकं।
स्वप्रभप्रत्यगात्मत्वेप्यभेदे संशयादिवत्॥

किं च भेदः स्वरूपेण प्रकाशत एव, उक्तरूपेण भेदत्वेन तु न प्रकाशते। भेदत्वेन भेदज्ञानमेव च संशयादिविरोधि। किं च संशयादिस्थलेऽपि भेदस्य भेदत्वेना प्रतीतिरप्यसिद्धा प्रायः सर्वतो भिन्नमेव हि वस्तु तत्र प्रतीयते। अन्यथा सर्वकोटिः संशयः स्यात्। किं तु तस्य घटप्रतियोगिकत्वं पटप्रतियोगिकत्वमित्यादयोऽनेके धर्माः सन्ति, तत्र सादृश्यादिवशाद्यत्प्रतियोगिकत्वं न भाति तत्र संशयः। न हि निरूपक-

अद्वैतसिद्धिः

शस्वरूपत्वेऽपि तस्याज्ञानतत्कार्यविप्रतिपत्त्यादीन् प्रति अविरोधितया तद्गोचरविरोधिवृत्तिपर्यन्तमुक्तानुपपत्त्यभावात्। न च तर्हि प्रत्यगर्थेऽपि विप्रतिपत्तिः स्यात्, चार्वाकादीनां तस्या अपि दर्शनात्। तस्मादज्ञानाश्रयत्वादिना प्रत्यगर्थप्रकाशमुपजीव्यं नाविद्यावृणोति, ऐक्याद्यंशं त्वावृणोत्येवेति तत्र विप्रतिपत्त्यादयः। न च—एवं सादृश्यादिदोषादत्रापि भेदांश आवृत इति—वाच्यम्, कोट्यनुपस्थितेः प्रधानपूर्वमारोपवादिनः तव तदसंभवात्।

यत्तु स्वरूपभेदो भेदत्वेन भासत एव, प्रायः सर्वभिन्नत्वेनैव प्रतीतेः, अन्यथा सर्वकोटिकः संशयः स्यात्। तत्र च घटप्रतियोगिकत्वादिरूपा अनेकधर्माः सादृश्यादिवशादगृहीताः संशयविषया भविष्यन्ति, न चानेकनिरूप्यस्य भेदस्य निरूपकानेकत्वादनेकत्वापत्तिः, तादृशस्यापीश्वरज्ञानादेरनेकद्वैतनिरूप्याद्वैतस्य चैक्यदर्शनाद्, एक

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वह कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि यद्यपि ऐक्यादि स्वप्रकाश ब्रह्मस्वरूप ही हैं, तथापि वह ऐक्य अज्ञान और अज्ञान के कार्यभूत विप्रतिपत्त्यादि का अविरोधी होने के कारण जब तक ऐक्यविषयक विरोधी वृत्ति का उदय नहीं होता, तब तक उक्त अनुपपत्तियाँ नहीं होती। 'इस प्रकार प्रत्यगर्थ के विषय में भी विप्रतिपत्ति प्रसक्त हो जायगी—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि चार्वाकादि प्रत्यगात्मा के विषय में भी विप्रतिपन्न होते ही हैं, अतः अज्ञानाश्रयत्वेन प्रत्यगात्मा के प्रकाशरूप उपजीव्य को अविद्या आवृत नहीं कर सकती, केवल ऐक्यांश को आवृत करती है, अतः विप्रतिपत्ति उपपन्न हो जाती है। इस प्रकार सादृश्यादि दोषों के कारण भेदांश ही आवृत होता है'—ऐसा भेदस्वरूपवादी नहीं कह सकते, क्योंकि कोटियों की उपस्थिति न होने के कारण आरोप नहीं हो सकता, आरोप में प्रधान की उपस्थिति आप आवश्यक मानते हैं।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि स्वरूपभूत भेद भी भेदत्वेन भासित होता है, क्योंकि प्रायः सर्वभिन्नत्वेन ही प्रतीति होती है, अन्यथा सर्वकोटिक संशय की प्रसक्ति बनी रहती है। भेदगत घटप्रतियोगिकत्वादिरूप अनेक धर्म सादृश्यादि के कारण अगृहीत होकर संशय के विषय बन जाते हैं। यदि भेद के अनेक निरूपक माने जाते हैं, तब भेद में अनेकत्वापत्ति क्यों नही होती? इस शङ्का का समाधान यह है कि जिनके अनेक निरूपक हैं, ऐसे ईश्वर के ज्ञानादि और अनेक द्वैत-निरूप्य अद्वैत की एकता अनुभूत होती है और एक निरूपक से निरूपित प्रागभाव और ध्वंस अनेक देखे जाते हैं, अतः

न्यायामृतम्

भेदेन निरूप्यभेदः। एकघटनिरूप्ययोः प्रागभावप्रध्वंसयोर्भेददर्शनात्। अनेकविषयनिरूप्यस्यापि ईश्वरज्ञानादेरनेकद्वैतनिरूप्यस्याद्वैतस्य चैक्यदर्शनात्। केचित् स्वरूपभेदवादे भेदज्ञानं न भ्रमविरोधि, किं त्वधिष्ठाने आरोप्यविरुद्धर्मादिज्ञानमित्याहुः। केचित्तु अदोषमूलताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिः स्वरूपभेदलक्षणम्। शुक्तेः शुक्त्यात्मत्वेनाप्रतीतिश्च दोषमूलेति नातिव्याप्तिः। एवं च भ्रमस्थले ताद्रूप्येणाप्रतीत्यभावाद-

अद्वैतसिद्धिः

निरूप्यप्रागभावध्वंसयोरनैक्यदर्शनाच्चेति, तन्न, न वयं निरूपकभेदेन भेदं ब्रूमः, किंतु प्रतियोगितावच्छेदकभेदेनाभावभेदस्यावश्यकतया, अन्यथा एकघटप्रतियोगिनां चतुर्णां ध्वंसादीनामैक्यापत्तेः। न चाधिकरणरूपाभाववादिनामधिकरणभेदेनैवाभावभेदः, ध्वंसप्रागभावयोरैक्यापत्तौ विलक्षणव्यवहारानापत्तेः। न चैवमद्वैतेऽप्यैक्यानुपपत्तिः, ब्रह्मेतरत्वरूपप्रतियोगितावच्छेदकस्यैक्यात्, प्रतियोगिभेदाभेदयोरतन्त्रत्वात्। यदपि भेदज्ञानं न भ्रमविरोधि, किंत्वधिष्ठान आरोप्यविरुद्धधर्मादिज्ञानमिति, तन्न, शाब्दाभेदभ्रमस्य शाब्दभेदज्ञानादनिवृत्त्यापत्तेः। यदपि कैश्चिदुक्तम्—अदोषमूला ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिः स्वरूपभेदलक्षणम्, शुक्तेश्च शुक्त्यात्मना अप्रतीतिः दोषमूलेति न तत्रातिव्याप्तिः। अदोषमूलेत्यस्य यद्यपि सप्तम्यन्तविशेषणत्वं न संभवति, तथापि विशिष्टविशेषणत्वेन तद्विशेषणत्वपर्यवसानादिति, तन्न, ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतेरभेद-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

निरूपक की एकता-अनेकता पर निरूपित का एकता-अनेकता निर्भर नहीं होती।

न्यायामृतकार का वह कहना भी समुचित नहीं, क्योंकि हम निरूपक के भेद से निरूपित वस्तु के भेद का आपादन नहीं करते, किन्तु प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से अभाव का भेद होना आवश्यक है। अन्यथा एक घटप्रतियोगिक ध्वंसादि चारों अभाव एक हो जायँगे, अधिकरणस्वरूप अभाववादी अधिकरण के भेद से अभाव का भेद नहीं मान सकते, अन्यथा ध्वंस और प्रागभाव को भी एक मानना होगा, तब ध्वंस और प्रागभाव के व्यवहारों में वैलक्षण्य न आ सकेगा। इसी प्रकार अद्वैत में ऐक्यानुपपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि ब्रह्मेतरत्वरूप प्रतियोगितावच्छेदक की एकता के कारण अभाव में एकता बनी रहती है, प्रतियोगी का भेद और अभेद अभाव के भेदाभेद का प्रयोजक नहीं होता।

यह जो कहा गया कि भेद-ज्ञान भ्रम का विरोधी नहीं होता, किन्तु अधिष्ठान में आरोप्य के विरुद्ध धर्मादि का ज्ञान भ्रम का विरोधी होता है।

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि वैसा मान लेने पर शाब्द अभेद-भ्रम की शाब्द भेद-ज्ञान से निवृत्ति न हो सकेगी।

यह जो किसी ने कहा है कि 'अदोषमूलक तादात्म्य-विषयिणी अप्रतीति के समय की प्रतीति को स्वरूप भेद कहते हैं [शुक्तित्वादि रूप से प्रतीति के विरहकाल में जो रजतादि की प्रतीति है, वही शुक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद है]। शुक्ति की शुक्तित्वरूपेण अप्रतीति दोषमूलक होती है, अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं होती। यद्यपि अदोषमूलत्व—यह सप्तम्यन्त (अप्रतीतौ) का विशेषण नहीं हो सकता, क्योंकि मुख्य पदार्थ का मुख्य पदार्थ के साथ ही अन्वय होता है, तथापि विशिष्ट का विशेषण विशेष्य और विशेषण—दोनों का विशेषण समझा जाता है।

अद्वैतसिद्धिः

साधारण्येनादोषमूलत्वपर्यन्तज्ञानं भेदव्यवहारकारणं वाच्यम्। तत्रादोषमूलत्वं फलैकोन्नेयमिति चाक्षुषत्वं न स्यात्, प्रतीतिघटितत्वात्, अप्रत्ययकाले च भेदो न स्यात्। किंच रजतात्मना शुक्तेः प्रतीतिसमये तत्र तद्भेदस्ते न स्यात्, अदोषमूलेत्यस्याभावविशेषणत्वेनाव्याप्तिवारणे असामर्थ्यात्, विशेष्यानधिकरणस्य सुतरां विशिष्टानधिकरणत्वात्। न हि पुरुषहीने दण्डिपुरुषसंभवः। न चादोषमूलेति अशरीरजन्यत्वमित्यत्र शरीरमिव प्रतियोगिविशेषणं बाधितसंग्रहाय, नञा समस्तप्रतीतेरसमस्तेनानन्वयात्। न ह्यब्राह्मणः समीचीन इत्यनेन समीचीनविप्राभावः प्रतीयते। अदोषमूलतादात्म्यप्रकारप्रतीत्यभावोक्तौ च शुक्ते रूप्यात्मना अप्रतीतिकाले सामग्रीविरहात् शुक्त्यात्मना चाप्रतीतौ स्वभेदापत्तेः तादवस्थ्यात्। न च—तदापि प्रतीयमानशुक्त्यात्मना प्रतीयमानत्वमीश्वरज्ञानमादायास्त्येवेति—वाच्यम्, एवं सत्यप्रतीतिदशाविरहेण प्रतीय-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वह कहना भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि भेद का उक्त लक्षण अभेद में भी अतिव्याप्त होता है, क्योंकि ताद्रूप्येण अप्रतीति के समय की प्रतीति अभेद-साधारण होती है। अदोषमूलत्वपर्यन्त के ज्ञान को भेद-व्यवहार का कारण कहना होगा। उसमें अदोषमूलत्व का अनुमान केवल फल के बल पर करना होगा, अतः विवक्षित भेद में चाक्षुषत्व की उपपत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि अचाक्षुषभूत प्रतीति से उक्त भेद-लक्षण घटित है। प्रतीति के न होने पर भेद की सत्ता नहीं मानी जा सकती। दूसरी बात यह भी है कि रजतरूपेण शुक्ति की प्रतीति के समय आपके मतानुसार वहाँ (शुक्ति में) रजत-भेद नहीं रह सकेगा, क्योंकि 'अदोषमूलत्व' विशेषण प्रतीत्यभाव का विशेषण है, अतः रजतरूप से प्रतीयमान शुक्ति के आश्रित रजत-भेद में अव्याप्ति का परिहार उससे नहीं हो सकता। जहाँ प्रतीतिरूप विशेष्य पदार्थ नहीं रहता, वहाँ अदोषमूलत्व-विशिष्ट प्रतीति की अधिकरणता का अभाव सहज-सिद्ध है, जैसे कि पुरुषरूप विशेष्य के न रहने पर दण्ड-विशिष्ट पुरुष का रहना कभी सम्भव नहीं होता।

शङ्का—जैसे 'अशरीरजन्यत्व' का अर्थ होता है—शरीर-जन्यत्व का अभाव, 'शरीर' जन्यत्वरूप प्रतियोगी का विशेषण माना जाता है, वैसे ही 'अदोषमूलतादात्म्याप्रतीतिः'—इस शब्द का अर्थ है—अदोषमूलक तादात्म्य-प्रतीति का अभाव, अतः अदोषमूलत्व उक्त प्रतीतिरूप प्रतियोगी का विशेषण है, अभाव का नहीं, अन्यथा 'नेदं रजतम्'—इत्यादि बाध का संग्रह नहीं हो सकेगा।

समाधान—'अदोषमूलतादात्म्याप्रतीति' शब्द का अर्थ होता है—अदोषमूलकतादात्म्यप्रतीति का अभाव, अतः अभावरूप समस्तार्थ का ही अदोषमूलत्व विशेषण है, न कि समास-घटक प्रतीतिरूप प्रतियोगी का, क्योंकि समस्तार्थान्वयी पदार्थ का समास-घटक पदार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता, जैसे कि 'अब्राह्मणः समीचीनः'—यहाँ पर ब्राह्मणाभाव का ही समीचीनत्व विशेषण है, ब्राह्मण का नहीं, अतः उक्त वाक्य से 'समीचीन ब्राह्मण का अभाव' अर्थ नहीं किया जा सकता। न्याय-प्राप्त अदोषमूलक तादात्म्यप्रकारक प्रतीति का अभाव-ऐसा अर्थ करने पर शुक्ति की रजतरूपेण अप्रतीतिकाल में (नीलपृष्ठत्वादि-ग्राहक) सामग्री का अभाव होने के कारण शुक्तिरूपेण अप्रतीति होने पर शुक्ति में स्वभेदापत्ति जैसी-की-तैसी बनी है।

शङ्का—जीव को जब शुक्तिरजतरूप में प्रतीति होती है, तब भी ईश्वर को शुक्ति-

न्यायामृतम्

भेदभ्रमोपपत्तिरित्याहुः। एवं च—

सापेक्षत्वात्सावधेश्च तत्त्वेऽद्वैतप्रसंगतः।
एकाभावादसंदेहान्न रूपं वस्तुनो भिदा॥ इति श्लोकः।
सापेक्षत्वात्सावधेश्च तत्त्वे द्वैतप्रसंगतः।
नैकाभावादसंदेदान्न रूपं वस्तुनोऽभिदा॥ इति पठनीयः।

एतेन भेदस्य घटस्वरूपत्वे घटभेदयोरेकतरपरिशेषः स्यादिति निरस्तम्। ऐक्यस्यानन्दस्य ज्ञानस्य च ब्रह्मस्वरूपत्वेऽप्येकतरपरिशेषः स्यादिति युक्तिसाम्यात्। तत्र वस्तुभेदाभावादिष्टापत्तिरिति चेत्, समम् प्रकृतेऽपि। तथा हि—एकतरपरिशेषः स्यादिति कोऽर्थः किं वस्तुभेदो न स्यात्, किं त्वेकमेव स्यादिति? किं वा घट इति वा भेद इति वा व्यवहारः स्यात्, न तूभयथेति ? यद्वा एतयोरेकस्यैवार्थक्रिया स्यात् नोभयार्थ-

अद्वैतसिद्धिः

मानपदवैयर्थ्यात्। न चान्योन्याभावत्वं तत्, तस्यानिरूपणात्। तदुक्तमाचार्यैः—

सापेक्षत्वात्सावधेश्च तत्त्वेऽद्वैतप्रसङ्गतः।
एकाभावादसन्देहान्न रूपं वस्तुनो भिदा॥' इति।

किंच घटस्य भेदत्वे एकतरपरिशेषापत्तिः। ननु—ऐक्यस्य ज्ञानस्यानन्दस्य च ब्रह्मस्वरूपत्वे एकतरपरिशेषापत्तिस्तवापि समाना, न च वस्तुन एकत्वेनेष्टापत्तिः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

रूपेण ही प्रतीति होती है, अतः शुक्ति तादात्म्यरूप से अप्रतीयमान नहीं।

समाधान—ईश्वर की प्रतीति को लेने पर तो कोई पदार्थ अप्रतीयमान ही नहीं हो सकता, अतः 'प्रतीयमान' पद ही व्यर्थ हो जाता है, अतः जैव प्रतीतियों का ही ग्रहण किया जाता है, ईश्वरीय प्रतीति का नहीं। अन्योऽन्याभावत्व को भेदत्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अन्योऽन्याभावत्व का निरूपण ही सम्भव नहीं, जैसा कि आचार्य चित्सुख मुनि कहते हैं—

सापेक्षत्वात् सावधेश्च तत्त्वेऽद्वैतप्रसङ्गतः।
एकाभावादसन्देहान्न रूपं वस्तुनो भिदा॥ (चित्सु० पृ० २८५)

[भेद को अधिकरण वस्तु का स्वरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि भेद प्रतियोगिसापेक्ष होता है, किन्तु वस्तु का स्वरूप निरपेक्ष होता है। सावधि (सप्रतियोगिक) भेद को वस्तु का स्वरूप मानने पर प्रतियोगी भी अनुयोगी वस्तु का स्वरूप हो जाता है, अद्वैतापत्ति होती है। भेद विदारणात्मक होता है, अपनी आश्रय-परम्परा का भेदन करता हुआ शून्य में पर्यवसान कर देता है। भेद यदि वस्तु का स्वरूप है, तब वस्तु का ज्ञान होते ही भेद का ज्ञान हो जाता है, भेद-ज्ञान सन्देह का विरोधी होता है, फलतः सन्देहमात्र का उच्छेद हो जाता है]। दूसरी बात यह भी है कि घट को भेदस्वरूप मानने पर घट और भेद में से एक ही शेष रह जाना चाहिये। 'अयं घटः' और 'अयं भेदः'—इस प्रकार का व्यवहार-भेद नहीं होगा।

शङ्का—एकतर-परिशेषता की आपत्ति तो आप (अद्वैतवादी) के मत में भी है, क्योंकि ऐक्य (अभेद), ज्ञान और आनन्द को आप ब्रह्मस्वरूप ही मानते हैं, तब ब्रह्म से भिन्न न तो अभेद की पृथक् सत्ता रह जाती है, न ज्ञान और आनन्द की। ब्रह्म वस्तु की एकता को लेकर यदि अभेदस्वरूपवाद में एकतर-परिशेष अभीष्ट ही है, तब

न्यायामृतम्

क्रियेति ? अथवा द्विवचनप्रयोगो न स्यादिति ? नाद्यः, इष्टापत्तेः । न द्वितीयः, प्रवृत्तिनिमित्तभेदेन तदुपपत्तेः । न तृतीयः, एकत्रैव दीपे शुक्लभास्वररूपोष्णस्पर्शावच्छेदेन प्रकाशदाहरूपार्थक्रियावदेकत्रैव घटत्वभेदत्वावच्छेदेन तदुपपत्तेः । न चतुर्थः, अर्थप्रशात्मकत्वनिरुपाधिकेष्टत्वरूपयोर्ज्ञानत्वानन्दत्वरूपविशेषणयोरनेकत्वेन विज्ञानानन्दावितिवदिहापि घटत्वभेदत्वयोरनेकत्वेन तदुपपत्तेः । एतेन भेदस्य स्वरूपत्वे घटभेदशब्दयोः पर्यायत्वं स्यादिति निरस्तम् , ऐक्यब्रह्मशब्दयोः पर्यायत्वं स्यादिति साम्यात् । यदि तत्रैकार्थपर्यवसानेऽपि शुक्लः पट इत्यादाविव प्रवृत्तिनिमित्तानेकत्वादपर्यायत्वम्, तर्हि प्रकृतेऽपि समम् । एतेन भेदस्य स्वरूपत्वे अस्य भेदः इदं भिन्नमिति च सम्ब-

अद्वैतसिद्धिः

प्रकृतेऽपि साम्यादिति—चेन्न, एकतरपरिशेषापत्त्या घट इति भेद इति विलक्षणव्यवहाराभावस्यापादनात् । न च प्रवृत्तिनिमित्तघटत्वभेदत्वयोर्भेदात्तदुपपत्तिः, भेदत्वस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । तथा हि—न तावज्जातिः, जात्यादिसाधारणत्वात् , नोपाधिः तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावत्वादिरूपः, तादात्म्यस्य भेदविरहरूपत्वे अन्योन्याश्रयात् , तन्निष्ठासाधारणधर्मरूपत्वे तदवच्छिन्नप्रतियोगिकात्यन्ताभावेऽतिव्याप्तेः, तस्यापि स्वरूपत्वे अनुगतव्यवहारानापत्तेः, न च—ज्ञानानन्दादावपि विलक्षणव्यवहारो न स्यादिति—वाच्यम् , कल्पितधर्मभेदमादायोपपत्तेः । न च—भेदत्वमपि तथास्त्विति—वाच्यम् , तर्ह्यनिराकार्योऽसि । किंच भेदस्य स्वरूपत्वे इदं भिन्नमस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भेदस्वरूप-पक्ष में भी वैसा सिद्ध किया जा सकता है ।

समाधान—एकतर-परिशेषापत्ति से हमारा तात्पर्य यह है कि भेद यदि घटादि वस्तु का स्वरूप है, तब भेद और अनुयोगी वस्तु में से एक की ही प्रतीति होगी दोनों की नहीं, अतः 'अयं घटः' अत्र भेदः'—इस प्रकार का विलक्षण व्यवहार नहीं होना चाहिए । 'घट' पद का प्रवृत्ति-निमित्त (शक्यतावच्छेदक) 'घटत्व' है और भेद का 'भेदत्व', इनके आधार पर भी पृथक् व्यवहार का निर्वाह नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'भेदत्व' का निर्वचन सम्भव नहीं—भेदत्व क्या (१) जातिरूप है ? या (२) उपाधि ? जात्यादि में भी रहने के कारण भेदत्व को जातिरूप नहीं मान सकते, क्योंकि जाति में जाति नहीं रहती । उपाधिरूप मानने पर उसका स्वरूप यदि तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावत्व' है, तब अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है, क्योंकि तादात्म्य का अर्थ होता है–भेदाभावत्व, अतः भेद का ज्ञान होने पर भेदाभाव का और भेदाभाव का ज्ञान होने पर भेद का ज्ञान होगा—यही अन्योऽन्याश्रयता है । तादात्म्य को यदि तन्निष्ठ असाधारण धर्म माना जाता है, तब तद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिक अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति होती है । उसको भी वस्तु का स्वरूप यदि माना जाता है, तब वस्तुओं का स्वरूप पृथक्-पृथक् होने के कारण अनुगत व्यवहार न हो सकेगा ।

ज्ञान और आनन्दादि को ब्रह्मरूप मानने पर भी पृथक् व्यवहार का अभाव क्यों नहीं प्रसक्त होता ? इस शङ्का का समाधान यह है कि कल्पित धर्मभेद को लेकर व्यवहार-वैलक्षण्य बन जाता है । यदि आप (द्वैती) भी भेदत्व को काल्पनिक मान लेते हैं, तब आपका निराकरण हम क्यों करेंगे ? दूसरी बात यह भी है कि भेद यदि वस्तु का स्वरूप है, तब 'इदं भिन्नम्', 'अस्य भेदः'—इस प्रकार भिन्न और भेद के

न्यायामृतम्

न्धितत्त्वेन धीर्न स्यात्, प्रत्युत घटो भेद इति धीः स्यादिति निरस्तम्। जीवब्रह्मणोरैक्यं आनन्दं ब्रह्मण इत्यादिवदुपपत्तेः। न ह्येकं ब्रह्मेति वदैक्यं ब्रह्मेत्यस्ति। जीवब्रह्मणोरैक्यमिति व्यपदेशमात्रमिति चेत्, मात्रशब्देन किमर्थो निषिध्यते? व्यवहारस्याबाधितत्वं वा? व्यवहारनिमित्तं वा? आद्येऽपि किं ब्रह्मस्वरूपं निषिध्यते? ऐक्यं वा? तत्सम्बन्धो वा? नाद्यः, निराश्रयस्यैक्यस्यानिर्वाहात्। निर्वाहे वा ब्रह्माद्वैतं शून्याद्वैते पर्यवस्येत्। न द्वितीयः भेदोन्मज्जनापातात्। न ह्युभयोदासीनतत्त्वसिद्धिः उभयात्मकत्ववत्। तस्यापि व्याहतत्वात्। तृतीयेऽप्यैक्यस्यान्यसम्बन्धित्वं वा मेरुमंदरादिवत्स्वातंत्र्यं वा स्यादिति प्रत्यग्ब्रह्मैक्यासिद्धिः। ऐक्यमात्रस्य मन्मते सत्त्वेन सिद्धसाधनादिकं च स्यात्। न द्वितीयः, उक्तरीत्या अर्थाबाधेन व्यवहारबाधायोगात्। न तृतीयः, निमित्ताभावे कार्यासम्भवात्। क्लृप्तभेदाख्यनिमित्ताभावाद् व्यपदेशमात्रत्वोक्तिरिति चेत्प्रकृतेऽपि तथास्तु। एवं च—

अपर्यायत्वैकतरापरिशेषविशेष्यताः।
अभेदस्येव भेदस्य स्वरूपत्वेऽपि संगताः॥

तत्र गत्यन्तराभावादैक्यस्य स्वरूपत्वं सिद्धमित्यपर्यायत्वादिकं कथं चिन्निर्वाह्यमिति चेद्, इहापि धर्मपक्षस्य त्वयैव दूषितत्वेन पृथक्त्वान्योन्याभाववैलक्षण्यभेदवादेऽपि पृथक्त्वादावंततरस्वरूपभेदस्यांगीकरणीयत्वेन च गत्यन्तराभावात्। तथा भेदस्य घटे पटात्मको नेत्यप्रतीतेः, घटः पटात्मको नेत्येव च प्रतीतेः। तत्र च पटतादात्म्य-

अद्वैतसिद्धिः

भेद इति संबन्धित्वेन धीर्न स्यात्। न चानन्दो ब्रह्मण इतिवदुपपत्तिः, प्रमाणसिद्धे ह्यैक्ये भेदव्यवहारस्यौपचारिकत्वं कल्प्यते राहोः शिर इत्यादिवत्। न च प्रकृते तथा, ऐक्ये मानाभावाद् बाधकाच्च। न च पक्षान्तरानुपपत्तेरेव पक्षान्तरपरिग्रहः, शशशृङ्गादौ भावत्वाभावत्वयोरन्यतरानुपपत्त्याऽन्यतरग्रहणापत्तेः। न च तत्रोभयत्र बाधकादलीकत्वेनोपपत्तिः, प्रकृतेऽप्युभयत्र बाधकादाविद्यकत्वेनोपपत्तेः संभवात्।

ननु—अस्ति भेदस्य स्वरूपत्वे ज्ञानं मृद् घट इतिवत् घटः पटात्मको नेति पटता-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मध्य में भेद-सापेक्ष सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होगी। 'जैसे 'आनन्दो ब्रह्मणः'—यहाँ पर ब्रह्मस्वरूप आनन्द का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है, वैसे ही भिन्न और भेद में सम्बन्ध का भान बन जायगा'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ब्रह्म और आनन्द की एकता प्रमाण-सिद्ध है, अतः उक्त भेद-व्यवहार में वैसे ही औपचारिकत्व की कल्पना हो जाती है, जैसे 'राहोः शिरः' में। यही रीति भिन्न और भेद के विषय में नहीं अपनाई जा सकती, क्योंकि उनकी एकता में कोई प्रमाण नहीं, प्रत्युत बाधक का सद्भाव है। पक्षान्तर (भेद-पक्ष) की अनुपपत्ति मात्र से अभेद-पक्ष यदि भेद-स्थल पर माना जाता है, तब शशशृङ्गादि में भावत्व और अभावत्व में से अन्यतर सम्भव न होने के कारण उससे भिन्न भाव या अभाव को क्यों नहीं मान लिया जाता? यदि कहा जाय कि शशशृङ्गादि में भावत्व और अभावत्व—दोनों का बाध हो जाने के कारण अलीकत्व (तुच्छत्व) शेष रह जाता है। तब प्रकृत में भी वास्तविक भेद और अभेद—दोनों पक्षों का बाध हो जाने के कारण आविद्यक सम्बन्ध मान लेना चाहिए।

शङ्का—भेद की वस्तुस्वरूपता में प्रमाण है, क्योंकि 'मृद् घटः' के समान 'घटः

न्यायामृतम्

निषेधरूपस्य भेदस्य मृद् घट इतिवद् घटसामानाधिकरण्येनाभेदस्यैव भानेन प्रत्यक्षात् तथा घटतद्भेदयोरेकस्य प्रतीतावितरस्य नियमेनप्रतीयमानत्वादिर्लिंगात्। "सत्यं भेदस्तुवस्तूनां स्वरूपं नात्र संशय"—इत्यागमाच्च भेदस्य स्वरूपत्वं सिद्धम्। न च पटाद्भेदस्य घटस्वरूपत्वे कुडयस्याघटस्वरूपत्वात् (घटस्वरूपत्वाभावात्) तस्य पटाद्भेदो न स्यादिति युक्तम्। अभेदस्य ब्रह्मस्वरूपत्वे घटतुच्छयोरब्रह्मस्वरूपत्वात् तयोः स्वाभेदो न स्यादिति साम्यात्। यदि तु ब्रह्माभेदो ब्रह्मस्वरूपं घटाद्यभेदस्तु तत्स्वरूपम्, तर्हि पटप्रतियोगिको भेदो घटधर्मिक एव घटस्वरूपं कुडयधर्किस्तु कुडयस्वरूपमिति समम्। यद्यपि (घटकुडयदिरूपाः) कुडयकुल्यादिरूपाः पटाद्भेदाः

अद्वैतसिद्धिः

दात्म्यनिषेधरूपस्य भेदस्य घटसामानाधिकरण्येनाभेदप्रत्यक्षं, तथा घटभेदयोरेकैकस्य प्रतीतावितरस्य नियमेन प्रतीयमानत्वादिकं लिङ्गम्। 'सत्यं भेदस्तु वस्तूनां स्वरूपं नात्र संशयः-इत्याद्यागमश्चेति—चेन्न, घटः पटात्मको नेत्यादेरन्योन्याभावभेदविषयतया भेदाभेदाविषयत्वाद्, अन्यथा नीलो घट इत्यादेरपि रूपाभेदविषयत्वापत्तेः। लिङ्गस्य चाभेदसिद्धेः पूर्वमसिद्धत्वात्, सामान्यव्याप्तेर्जातिव्यक्त्यादौ समानसंवित्संवेद्ये व्यभिचाराद्विशेषव्याप्तावपि प्रतियोगिनि व्यभिचाराच्च, आगमस्य चाधिष्ठानातिरेकेणासत्त्वपरत्वात्।

किंच पटाद् भेदः घटमात्ररूपं वा, घटकुडयादिसर्वरूपं वा ? आद्ये कुडयादिः पटभेदो न स्यात्। द्वितीये स्वरूपाणामननुगतत्वात् पटभेदानुगतप्रतीतिर्न स्यात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पटात्मको न'—इस प्रकार पट-तादात्म्यरूप भेद का घट-सामानाधिकरण्यरूप से अभेद का प्रत्यक्ष होता है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही नहीं, अपितु अनुमान प्रमाण भी है—'घटतद्भेदौ अभिन्नौ, घटभेदयोरेकैकस्य प्रतीतावितरस्य नियमेन प्रतीयमानत्वात्।' आगम प्रमाण भी उपलब्ध है—"सत्यं भेदस्तु वस्तूनां स्वरूपं नात्र संशयः।"

समाधान—'घटः पटात्मको न'—यह अनुभव अन्योऽन्याभाव के भेद (आधारता-नियामक सम्बन्ध) को विषय करता है, भेद के अभेदरूप सम्बन्ध को सिद्ध नहीं करता, अन्यथा 'नीलो घटः'—इत्यादि अनुभवों में रूपाभेदविषयकत्वापत्ति होती है। कथित लिङ्ग (घटभेदयोरैकैकस्य प्रतीतावितरस्य नियमेन प्रतीयमानत्वम्) भेद और आश्रय के अभेद-सिद्धि के पहले सिद्ध नहीं हो सकता, अतः असिद्ध है। लिङ्गगत व्याप्तियों में 'ययोरन्यतरस्य प्रतीतौ सत्यामितरस्य नियमेन प्रतीतिस्तयोरभेदः'—इस प्रकार की सामान्य व्याप्ति जाति-व्यक्त्यादि में व्यभिचरित है, क्योंकि जाति की प्रतीति होने पर व्यक्ति और व्यक्ति की प्रतीति होने पर नियमतः जाति की प्रतीति होती है, किन्तु जाति और व्यक्ति का अभेद नहीं माना जाता। घटः पटभेदाभिन्नः, पटसमानाधिकृत्वाद् पटभेदवत्—इस प्रकार की विशेष व्याप्ति प्रतियोगी में व्यभिचरित है, क्योंकि अभाव की प्रतीति होने पर प्रतियोगी की और प्रतियोगी की प्रतीति होने पर नियमतः अभाव की प्रतीति होती है, किन्तु अभाव और प्रतियोगी में अभेद नहीं माना जाता। प्रदर्शित आगम भी अधिष्ठान से अतिरिक्त सत्त्वाभाव का ही बोध कराता है, भेद के अभेद का गमक नहीं माना जाता।

दूसरी बात यह भी है कि पटप्रतियोगिक भेद घटमात्रस्वरूप होता है? अथवा

न्यायामृतम्

स्वरूपेणाननुगताः। तथाप्यनेकेषु घटज्ञानेच्छादिषु घटविषयत्वस्येवेहापि पटप्रतियोगिकत्वस्य पटैक्यव्यहवहारविरोधित्वादेर्वानुगमात्पटाद्भिन्नमिति व्यवहारानुगमः। एतेन भेदो यदीदमस्माद्भिन्नमिति वा, अस्यामुष्माद् भेद इति वा। धर्मिप्रतियोगिघटितत्वेन गृह्येत, तदा धर्मिप्रतियोगिज्ञाने सति भेदज्ञानम्, अस्यामुष्यादिति विलक्षणधर्मिप्रतियोगिज्ञानं च भेदज्ञाने सतीत्यन्योन्याश्रयः। यदि घटपटौ भिन्नाविति घटपटविशेषणतयाघटपटयोर्भेद इति तद्विशेष्यतया वा गृह्येत, तदापि घटपटप्रतीतौ तद्विशेषणत्वादिना भेदप्रतीतिः भेदप्रतीतौ च द्वित्वावच्छिन्नघटपटप्रतीतिरित्यन्यो-

अद्वैतसिद्धिः

न च—पटज्ञानेच्छादौ यथा पटविषयत्वेनानुगतेनानुगतव्यवहारः, तथा पटप्रतियोगिकत्वेनात्राप्यनुगतव्यवहार इति—वाच्यम्, एतावता हि ज्ञानादिषु पटविषयं ज्ञानं पटविषयेच्छेति पठविषयत्वांशे अनुगमवत् पटप्रतियोगिकत्वांश एवानुगमः स्यात्, न भेदांशेऽपि। न च भेदत्वमप्येकमित्युक्तम्। किंचेदमस्माद् भिन्नमिति वाऽस्यामुष्मात् भेद इति वा धर्मिप्रतियोगिघटितत्वेन भेदग्रहणे परस्पराश्रयः, धर्मिप्रतियोगिज्ञाने भेदज्ञानं तस्मिंश्च सत्यस्यामुष्मादिति विलक्षणधर्मिप्रतियोगिज्ञानमिति घटपटौ भिन्नाविति। घटपटविशेषणतया तयोर्भेद इति तद्विशेष्यतया वा ग्रहणेऽपि अन्योन्याश्रय एव। घटपटप्रतीतौ तद्विशेष्यत्वादिना भेदग्रहः, भेदग्रहे च द्वित्वावच्छिन्नघट-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

घट कुडचादि सर्वरूप ? प्रथम पक्ष में कुडचादिगत पट-भेद कुडचादि स्वरूप सिद्ध न होगा। द्वितोय पक्ष में पट-भेद की सर्वत्र पटभेदत्वेन अनुगत प्रतीति न हो सकेगी, क्योंकि घट, कुडचादि सर्व पदार्थों का अपना-अपना अननुगत स्वरूप होता है, एक वस्तु का स्वरूप दूसरी वस्तु में नहीं रह सकता।

शङ्का—घटविषयक ज्ञान, इच्छादि पदार्थों का जैसे घटविषयकत्वेन अनुगम होता है, वैसे ही पट-भेद के आधार अनन्त होने पर भी पटभेद का पटप्रतियोगिकत्वेन अनुगम हो जायगा और इसी उपाधि के माध्यम से सर्वत्र घट, कुडचादि में 'पटभेदः' पटभेदः'—इस प्रकार का अनुगत व्यवहार सम्पन्न हो जाथगा।

समाधान—जैसे घटादिविषयत्वेन ज्ञानादिगत विषयिता का ही अनुगम होता है, ज्ञान और इच्छादि का नहीं, क्योंदि ज्ञानादि पदार्थ पुरुषादि के भेद से अनन्त होते हैं, वैसे ही घटादिप्रतियोगित्वेन केवल भेदादिगत घटादिप्रतियोगिकत्व का ही अनुगम होगा, भेद का नहीं। भेदगत भेदत्व भी एक नहीं होता—यह कहा जा चुका है—अतः उसके द्वारा भी भेद का अनुगम नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि 'इदमस्माद् भिन्नम्' अथवा 'अस्य अमुष्माद् भेदः'—इस प्रकार धर्मिप्रतियोगि-घटितत्वरूप से भेद का ग्रहण करने पर अन्योऽन्याश्रय होता है, क्योंकि अनुयोगी और प्रतियोगी का ज्ञान होने पर भेद का ज्ञान और भेदज्ञान होने पर अनुयोगिता और प्रतियोगिता का ज्ञान होता है। 'घटपटौ भेदवन्तौ'—इस प्रकार घटपटविशेष्यक भेदविशेषणक विशिष्ट ज्ञान में भेदरूप विशेषण के ज्ञान की अपेक्षा और 'घटपटयोर्भेदः'—इस प्रकार भेदविशेष्यक और घटपटविशेषणक विशिष्ट ज्ञान में घटपटरूप विशेषण-ज्ञान की अपेक्षा होने से भी अन्योऽन्याश्रय दोष होता है, क्योंकि घट-पट की प्रतीति हो जाने पर घटपटविशेष्यक भेद-ग्रह और भेद-ग्रह हो जाने पर द्वित्वावच्छिन्न घट-पट की प्रतीति होगी।

न्यायामृतम्

न्याश्रय एवेति निरस्तम् । भेदस्य स्वरूपत्वेन स्वरूपप्रतीतेरेव भेदधीत्वे धीद्वयाभावात् । भासमानं हि वस्तु इदं न सर्वात्मकं किं तु स्वयमेवेति सामान्यतः सर्वतो व्यावृत्तमनुभूयते, अन्यथा इदं सर्वात्मकमेवेति विपर्ययादि स्यात् । न च सार्वज्ञ्यापत्तिदोषः, सामान्यतः सर्वज्ञानस्य प्राणभृन्मात्रवृत्तित्वात् । अन्यथा सर्वोपसंहारवती व्याप्तिर्न सिद्ध्येदिति सर्वानुमानतर्कोच्छेदः स्यात् । सर्वशब्दप्रयोगादिकं च न स्यात्, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" त्यादि वाक्यार्थधीश्च न स्यात् । ननु यद्यपि भेदो धर्मिस्वरूपमिति न तदपेक्षयाऽन्योन्याश्रयः, तथापि प्रतियोगिरूपं नेति तदपेक्षयान्योन्याश्रय इति चेन्न, विद्यमानभेदस्य तदैक्येन चाप्रतीतस्य स्वरूपप्रतीतिमात्रेण प्रतियोगित्वबुद्ध्युपपत्तेः । न हि सामान्यतः सर्वस्मिन्प्रतीतेऽपि तस्य पुरोवर्तिनो भेदग्रहेण पुरोवर्तिनः सामान्यतः सर्वस्माद्भेदाग्रहो दृष्टः । किं चास्तीदमित्यत्र साक्षिसिद्धेन कालेन सहैव वस्तुन इव न जानामीत्यत्र साक्षिसिद्धेन विषयेण सहैवाज्ञानस्येव "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"त्यत्र सर्वेण सहैवाऽभेदस्येव चेहापि साक्षिसिद्धेन प्रतियोगिना सहैव व्यावृत्तिप्रतीतेर्नाऽन्योन्याश्रयः । उक्तं हि—

सर्वं सामान्यतो यस्मात्सर्वैरप्यनुभूयते ।
तस्माद् व्यावृत्तता सर्वैः सर्वस्मादनुभूयते ॥ इति ।

सर्वस्मादित्यनेन च तदात्मकत्वेनाज्ञातं सर्वं विवक्ष्यते । यथा सर्वं खल्विदं ब्रह्म"त्यत्र

अद्वैतसिद्धिः

पटप्रतीतिरिति । न च—भेदस्य स्वरूपत्वात् स्वरूपप्रतीतेरेव भेदधीत्वेन धीद्वयाभावान्नोक्तदोष इति—शङ्क्यम्, स्वरूपज्ञानस्य द्वितीयत्वाभावेऽपि प्रतियोगिज्ञानस्य स्वरूपज्ञानातिरिक्तस्य द्वितीयस्यापेक्षणात् । न च—सर्वात्मकमिदमिति विपर्ययादर्शनेनेदं न सर्वात्मकमिति सामान्यतः सर्वतो व्यावृत्तं वस्त्वनुभूयत इति प्रतियोगिविशेषज्ञानानपेक्षणान्नान्योन्याश्रय इति - वाच्यम्, सर्वात्मकं नेत्यत्र सर्वत्वं वा प्रतियोगितावच्छेदकं स्वेतरसर्वत्वं वा । आद्ये स्वस्माद्वैलक्षण्ये स्वासिद्धिप्रसङ्गात्, द्वितीये अन्योन्याश्रयस्य स्पष्टत्वात् । न च—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'त्यत्र यथा ब्रह्मात्मत्वेनाप्रतीतं सर्वमुच्यते तद्वदत्रापि सर्वस्मादित्यनेन तदात्मकत्वेनाज्ञातं सर्वं विवक्ष्यत इति—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—भेद वस्तु का स्वरूप है, अतः स्वरूप की प्रतीति ही भेद-ज्ञान है, दो ज्ञानों का अभाव होने पर अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं।

समाधान—स्वरूप ज्ञान में द्वितीयत्व न होने पर भी स्वरूप-ज्ञान से अतिरिक्त प्रतियोगिज्ञानरूप द्वितीय की अपेक्षा रहने के कारण अन्योऽन्याश्रय दोष अवश्य है।

शङ्का—'इदं सर्वात्मकम्'—इस प्रकार का विपर्यय ज्ञान न होने पर भी 'इदं न सर्वात्मकम्'—इस प्रकार सामान्यतः सर्व-व्यावृत्त वस्तु अनुभूत होती है, अतः अभाव-ज्ञान में प्रतियोगी विशेष के ज्ञान की अपेक्षा न होने के कारण उक्त स्थल पर अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं होता।

समाधान—'इदं न सर्वात्मकम्'- यहाँ पर सर्वत्व को प्रतियोगितावच्छेदक माना जाता है? अथवा स्वेतरसर्वत्व को? प्रथम पक्ष में स्वपदार्थ यदि अपने से भी भिन्न है, तब उसकी सिद्धि ही नहीं हो सकती और द्वितीय पक्ष में तो अन्योऽन्याश्रय स्पष्ट ही है।

शङ्का—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—यहाँ पर जैसे ब्रह्मस्वरूपत्वेन अप्रतीत जगद् को

अद्वैतसिद्धिः

वाच्यम्, स्वग्रहात् पूर्वं स्वस्यापि स्वात्मनाऽज्ञातत्वात् स्वस्य प्रतियोगितापत्तेः, दृष्टान्ते सर्वशब्दस्यासंकुचितत्वे तवासंप्रतिपत्तेश्च। न च—वस्तुतो भेदाश्रयस्याभेदेनाज्ञातस्य ज्ञानं प्रतियोगिज्ञानत्वेन कारणम्, न तु भिन्नत्वप्रकारकज्ञानत्वेनेति—वाच्यम्, एवं हि चन्द्रे द्वित्वभ्रमो न स्यात्, वस्तुतो भेदाभावात्।

ननु—'अस्तीदं न जानामि' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादिषु साक्षिसिद्धकालविषयसर्वैः सह वस्त्वज्ञानाभेदानामिवेहापि साक्षिसिद्धेन प्रतियोगिना सहैव व्यावृत्तेः प्रतीतेर्नान्योन्याश्रय इति चेन्न, विशिष्टज्ञानस्य विशेषणज्ञानाजन्यत्वेऽपि प्रतियोगिसविकल्पकस्याभावज्ञानं प्रत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां जनकत्वात्। साक्षी च प्रमाणमनपेक्ष्य प्रतियोगिपटादिकं धर्मिभिन्नतया न गृह्णातीति कथं साक्षिसिद्धप्रतियोगिना भेदग्रहोपपत्तिः स्यात्? तदुक्तं चिन्तामणौ अन्यथा—निर्विकल्पकादपि घटो नास्तीति वृत्त्यापत्ते'रिति। न च—एतावता प्रतियोगितावच्छेदकपटत्वादिप्रकारकज्ञानमात्रमर्थनीयम्, न तु धर्मिभिन्नत्वज्ञानपर्यन्तमिति—वाच्यम्, धर्मितावच्छेदकभेदाज्ञाने प्रतियोगितावच्छेदकतया अभावनिरूपकत्वस्यैवाभावाद्, अन्योन्यधर्मभेदज्ञाने च विशिष्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सर्वं कह दिया जाता है, वैसे ही प्रकृत में भी 'सर्वस्मात्'—इस पद के द्वारा सर्वात्मकत्वेन अज्ञात वस्तुमात्र को सर्व कह दिया गया है।

समाधान—स्व से पहले तो स्व पदार्थ भी स्वात्मना अज्ञात होने के कारण स्व में भी प्रतियोगिता प्रसक्त होती है एवं दृष्टान्त में 'सर्व' शब्द संकुचितार्थक आप मानते भी नहीं।

शङ्का—वस्तुतः अभेदेन अज्ञात भेदाश्रय का ज्ञान प्रतियोगिज्ञानत्वेन ही कारण माना जाता है, भिन्नत्व प्रकारक ज्ञानत्वेन नहीं।

समाधान—इस प्रकार तो चन्द्र में द्वित्व-भ्रम नहीं हो सकेगा, क्योंकि वस्तुतः तो वहाँ भेद नहीं होता।

शङ्का—'अस्तीदं न जानामि', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—इत्यादि स्थलों पर साक्षिसिद्ध वर्तमान काल, अज्ञान का विषय तथा सर्व के साथ क्रमशः वस्तु, अज्ञान और अभेद की जैसे प्रतीति होती है, वैसे ही प्रकृत में भी साक्षिसिद्ध प्रतियोगी के साथ ही व्यावृत्ति (भेद) की प्रतीति होती है, अतः अन्योऽन्याश्रय दोषयुक्त नहीं होता।

समाधान—विशिष्ट-ज्ञान को विशेषण-ज्ञान से जन्य न मानने पर भी प्रतियोगिविषयक सविकल्पक ज्ञान अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा अभाव-ज्ञान के प्रति जनक होता है। प्रमाण की अपेक्षा न करके साक्षी प्रतियोगीभूत पटादि का धर्मिभिन्नत्वेन ग्रहण नहीं कर सकता, अतः साक्षिसिद्ध प्रतियोगी के द्वारा भेद-ग्रह क्योंकर बनेगा? न्यायतत्त्वचिन्तामणि में भी कहा है—"अन्यथा निर्विकल्पादपि घटो नास्तीति वृत्त्यापत्तेः" [प्रतियोगिविषयक सविकल्पक ज्ञान को अभाव-ज्ञान का जनक न मानने पर प्रतियोगिविषयक निर्विकल्पक ज्ञान से भी 'घटो नास्ति'—इस प्रकार की प्रतीति प्रसक्त होगी]।

शङ्का—इस प्रकार भी प्रतियोगितावच्छेदकीभूत घटत्वादिप्रकारक ज्ञानमात्र की अपेक्षा होती है, धर्मिभिन्नत्व-ज्ञान-पर्यन्त व्यर्थ है।

समाधान—प्रतियोगितावच्छेदक में धर्मितावच्छेदक के भेद का ज्ञान न होने पर

न्यायामृतम्

ब्रह्मात्मत्वेनाज्ञातं सर्वमिति न कश्चिद्दोषः ।

एतेन विशिष्य भेदप्रतीतौ स्तम्भात्कुम्भस्य भेदसिद्धौ कुम्भात्स्तम्भस्य भेदसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः। धर्मिणः सकाशद्भेदेन प्रतीतस्यैव प्रतियोगित्वात्। अप्रतीतभेदस्य प्रतियोगित्वे तु स्वस्यापि तत्स्यादिति निरस्तम्। त्वन्मतेऽपि बिम्बादेः प्रतिबिम्बादिना ब्रह्मणश्च ब्रह्मणा जीवेन चाभेदोऽपि इदमनेनाभिन्नमिति वा, अस्यामुष्माद्भेद इति वा, इमे अभिन्ने इति वा, अनयोरभेद इति वा प्रत्येतव्यः। धर्मिप्रतियोगिभावधीः द्वित्वावच्छिन्नधीश्च भेदज्ञानाधीनेति तद्विरुद्धाभेदज्ञानानुपपत्तिरिति साम्यात्। यदि च तत्राऽभेदं प्रति प्रतियोग्यादिधीर्न भेदज्ञानाधीना विरोधात् तर्हीहापि भेदं प्रति प्रतियोग्यादिधीरपि न भेदज्ञानाधीना असम्भवात्। अनयोरिति द्वित्वधीरिदमस्माद्भिन्नमित्यवध्यवधिमत्वधीश्चापेक्षाबुद्धयादिसामग्रीतः। न तु भेदज्ञानात्। न ह्यवधित्वादेर्भेदकस्य ज्ञानं नियमेन भेदज्ञानाधीनम्। भेदकज्ञानान्तरमपि भेदधीदर्शनात्। ऐक्यप्रतीताविवावधित्वाद्यवच्छेदकनीलत्वादिधीमात्रेण तत्स-

अद्वैतसिद्धिः

स्तम्भात् कुम्भस्य भेदप्रतीतौ कुम्भात् स्तम्भस्य भेदधीरित्यन्योन्याश्रयतादवस्थ्यात्।

ननु—त्वन्मतेऽपि बिम्बब्रह्मजीवानां प्रतिबिम्बब्रह्माभेदे 'इदमनेनाभिन्नमस्यामुष्मादभेदः एतयोरभेद' इत्येवं प्रतीतिः स्यात्। तथा च धर्मिप्रतियोगिभावधीर्द्वित्वावच्छिन्नधीश्च भेदज्ञानाधीनेति तद्विरुद्धाभेदज्ञानानुपपत्तिरिति—चेन्न, काल्पनिकभेदज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिभावद्वित्वावच्छिज्ञाननिर्वाहकस्य तात्त्विकाभेदज्ञानप्रतिबन्धकत्वायोगात्। किंचाभेदज्ञाने न धर्मिरूपप्रतियोगिज्ञानापेक्षा, तस्य निष्प्रतियोगिकवस्तुस्वरूपत्वात्, सप्रतियोगिकत्वव्यवहारस्तु निरूपकभेदसप्रतियोगिकत्वेन। अत एव—जीवस्य प्रतियोगितया ब्रह्माभेदनिरूपकत्वं तदभिन्नतया ज्ञातस्यैवेत्यन्योन्याश्रयः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रतियोगितावच्छेदकत्वेन अभाव के निरूपकत्व का ही अभाव है। अन्योऽन्य-वृत्ति धर्मितावच्छेदक (अनुयोगितावच्छेदक) तथा प्रतियोगितावच्छेदक धर्मों का भेद-ज्ञान आवश्यक होने पर विशेषतः स्तम्भप्रतियोगिक कुम्भानुयोगिक भेद के ज्ञान में कुम्भप्रतियोगिक स्तम्भानुयोगिक भेद की प्रतीति कारण होती है—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष जैसे-का-तैसा बना रहता है।

शङ्का—आप (अद्वैती) के मत में भी विम्ब और प्रतिबिम्ब ब्रह्म और जीव का ब्रह्म के साथ अभेद होने पर 'इदमनेनाभिन्नम्', 'अस्यामुष्मादभेदः''—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, अतः धर्मिता का ज्ञान प्रतियोगिता का ज्ञान एवं द्वित्वावच्छिन्न का ज्ञान भेद-ज्ञान के अधीन है, अतः उसके विरुद्ध अभेद-ज्ञान उपपन्न नहीं हो सकता।

समाधान—धर्मिता, प्रतियोगिता एवं द्वित्वावच्छिन्न के ज्ञान के निर्वाहक काल्पनिक भेद-ज्ञान में तात्त्विक अभेद-ज्ञान की प्रतिबन्धकता सम्भव नहीं। दूसरी बात यह भी है कि अभेद-ज्ञान में धर्मिरूप प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा नहीं क्योंकि वह (अभेद-ज्ञान) निष्प्रतियोगिक वस्तु का स्वरूप है। उसमें सप्रतियोगिकत्व का व्यवहार तो निरूपकीभूत भेद के सप्रतियोगिक होने के कारण हो जाता है।

यह जो कहा गया है कि ब्रह्मानुयोगिक अभेद का जीव प्रतियोगिविषया निरूपक तभी हो सकता है, जब कि ब्रह्माभिन्नतया ज्ञात हो, अतः अन्योऽन्याश्रयता स्थिर है,

न्यायामृतम्

म्भावाच्च । अन्यथा जीवस्य ब्रह्मभेदे ज्ञाते ब्रह्मणो जीवाभेदधीरिति तवाप्यन्योन्याश्रयः। धर्मिणा सहाभेदेन प्रतीतस्यैवाभेदप्रतियोगित्वात् । अप्रतीताभेदस्य प्रतियोगित्वे तु दहनस्यापि तुहिनाभेदप्रतियोगित्वं स्यात् । तत्त्वमसी''त्यत्र त्वंपदवाच्यस्य विशिष्टस्य च तत्स्यादिति समम् । तत्र विद्यमानाभेदस्यासति प्रतिबन्धके अभेदयोग्यचित्त्वादि-रूपेण प्रतीतिरभेदधीहेतुः भेदभ्रमे तु दोषः प्रतिबन्धक इति नाभेदधीरिति चेद्, अत्रापि स्वरूपभेदपक्षे वस्तुतोऽन्योन्यप्रतियोगिकयोर्घटपटस्वरूपभेदयोरन्योन्यप्रतियोगित्व-योग्यघटपटत्वादिरूपेण प्रतीतयोरसति प्रतिबन्धके अन्योन्यप्रतियोगितया विशिष्टधीः। धर्मभेदपक्षेऽपि विद्यमानभेदस्यासति प्रतिबन्धके भेदयोग्यनीलपीतत्वादिरूपेण प्रतीति-र्भेदधीहेतुः। दूरस्थवनस्पत्यादौ दूरादिर्दोषः प्रतिबन्धक इति न भेदधीरिति समम्।

अद्वैतसिद्धिः

धर्मिणा सहाभेदेन प्रतीतस्यैवाभेदप्रतियोगित्वाद्, अन्यथा दहनस्यापि तुहिनाभेदस-प्रतियोगित्वापत्तेरिति—निरस्तम्, भेदग्रहस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वाच्च । अत एव—'तत्त्वमसी'त्यत्र त्वंपदवाच्यस्य विशिष्टस्य ब्रह्माभेदप्रतियोगित्वप्रसङ्गविनिवारणाय विद्यमानाभेदस्यासति प्रतिबन्धके अभेदयोग्यचित्त्वादिरूपेण प्रतीतिरभेदधीहेतुः भेद-भ्रमे तु दोषः प्रतिबन्धक इति नाभेदधीरिति परसिद्धान्तं परिकल्प्य स्वरूपभेदपक्षे वस्तुतोऽन्योन्यप्रतियोगिकयोर्घटपटस्वरूपभेदयोरन्योन्यप्रतियोगित्वयोग्यघटपटत्वादि-रूपेण प्रतीतयोरसति प्रतिबन्धेऽन्योन्यप्रतियोगितया विशिष्टधीः धर्मभेदपक्षेऽपि विद्यमानभेदस्यासति प्रतिबन्धके भेदयोग्यनीलपीतत्वादिरूपेण प्रतीतिर्भेदहेतुः, दूरस्थ-वनस्पत्यादौ तु दूरादिदोषः प्रतिबन्धक इति न भेदधीरिति साम्येन समाधानं—निरस्तम्, वैषम्यस्योक्तत्वात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

क्योंकि धर्मी के साथ अभेदेन प्रतीत पदार्थ ही अभेद का प्रतियोगी हो सकता है, अन्यथा तुषार भी अग्निगत अभेद का प्रतियोगी हो जायगा।

वह कहना भी अत एव निरस्त हो जाता है, कि अग्नि में तुषार का भेद-ज्ञान अभेद ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है, अतः धर्मी के साथ अभेदेन अज्ञात पदार्थ भी अभेद का प्रतियोगी हो सकता है, अन्योऽन्याश्रयता नहीं।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि 'तत्त्वमसि (छां० ६।८।४)'—यहाँ पर त्वंपद-वाच्य विशिष्ट चैतन्य में ब्रह्मानुयोगिक अभेद की प्रतियोगिता का अतिप्रसङ्ग हटाने के लिए यह मानना पड़ता है कि विद्यमानभेदक पदार्थों की (कोई प्रतिबन्धक के न होने पर) अभेद-योग्य चित्त्वादिरूप से प्रतीति अभेद-ज्ञान की हेतु होती है और भेद-भ्रम में दोष के प्रतिबन्धक होने के कारण अभेद-ज्ञान नहीं होता—इस प्रकार परकीय (अद्वैती के) सिद्धान्त की कल्पना कर स्वरूप भेद-पक्ष में वस्तुतः अन्योऽन्यप्रतियोगिक घट पटस्वरूप दोनों भेदों का अन्योऽन्यप्रतियोगित्व-योग्य घटत्व-पटत्वादि रूप से प्रतीत होने पर किसी प्रतिबन्धक के अभाव में अन्योऽन्यप्रतियोगिकत्वेन विशिष्ट ज्ञान होता है। धर्म भेद-पक्ष में विद्यमानभेदक दो पदार्थों की भेद-योग्य नीलत्व-पीतत्वादिरूप से प्रतीति भेद-ज्ञान की नियामिका होती है। दूरस्थ वृक्षों में दूरादि दोषों की प्रतिबन्धकता के कारण भेद-ज्ञान नहीं होता।

न्यायामृकार का वह साम्याभासता-युक्त कहना इसी लिए निरस्त हो जाता

न्यायामृतम्

न ह्युक्तविशेषणे सति स्तम्भात्कुम्भस्य भेदाग्रहेण कुम्भात् स्तम्भस्य भेदाग्रहो दृष्टः। न चान्योन्याश्रयासंस्पर्शिनि मार्गे सति तदापादको मार्गो ग्राह्यः। गौर्गवयसदृशीत्यादावपि गवयादीनां गवादिभ्यो भेदः सन्नेव प्रतियोगित्वे हेतुः। न तु प्रतियोगित्वज्ञाने भेदज्ञानं हेतुः। न हि गौर्गवयसदृशीतिप्रत्यक्षधीरपि नियमेन गवयो गोभिन्न इति ज्ञानपूर्विकानुभूयते सुतरां शाब्दधीः। तत्र भेदवाचिशब्दाभावाद् अन्यथा चैत्रस्य मैत्रपितृत्वगुरुत्वादिके ज्ञात एव मैत्रस्य चैत्रपुत्रत्वादिज्ञानं गवयस्य गोसादृश्ये ज्ञात

अद्वैतसिद्धिः

ननु—यथा गौर्गवयसदृशीत्यादौ गवयादीनां गवादिभ्यो भेदः सन्नेव प्रतियोगित्वहेतुः, न तु ज्ञातः, न हि गौर्गवयसदृशीति प्रत्यक्षधीरपि नियमेन गवयो गोभिन्न इति धीपूर्विकाऽनुभूयते, सुतरां शाब्दधीः, तत्र भेदवाचिशब्दाभावात्, तथा प्रकृतेऽपि। अन्यथा चैत्रस्य मैत्रपितृत्वादौ ज्ञात एव मैत्रस्य चैत्रपुत्रत्वादिज्ञानं, गवयस्य गोसादृश्ये ज्ञात एव गौर्गवयसदृशीति ज्ञानमिति सप्रतियोगकपदार्थमात्रे अन्योन्यश्रयः स्यादिति—चेन्न, इष्टापत्तेः, अत एव सप्रतियोगित्वेन निष्प्रतियोगित्वेन च भेदसादृश्यादि दुर्वचं, सर्वत्र बाधकसत्त्वादिति अस्माकं सिद्धान्तः यत्तूक्तं। प्रतियोगिधर्मिभेदग्रहपूर्वकत्वनियमो नानुभूयत इति, तदिष्टमेव, तस्यैव सप्रतियोगित्वे बाधकत्वात्, प्रत्यक्ष एव सप्रतियोगिकपदार्थग्रहे एवमन्योन्याश्रयस्यापाद्यत्वे शाब्दे भेद-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है कि वहाँ यह वैषम्य दिखाया जा चुका है कि अभेद ज्ञान में धर्मिरूप प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि अभेद निष्प्रतियोगिक (अखण्ड) ब्रह्मवस्तु का स्वरूप होता है। भेदप्रतियोगिकत्वेन अभेद-ज्ञान में भेद-ज्ञान की अपेक्षा मानने पर कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि भेद प्रतियोगिकत्वरूप से अभेद में मिथ्यात्व माना ही जाता है।

शङ्का—जैसे 'गौर्गवयसदृशी'—यहाँ पर गवयादि में रहनेवाला गोप्रतियोगिक भेद केवल सत्तामात्र से ही गवयगत सादृश्यप्रतियोगिता का नियामक होता है, ज्ञात होकर नहीं, क्योंकि 'गौर्गवयसदृशी'—ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान भी नियमतः गवयानुयोगिक गोप्रतियोगिक भेद-ज्ञानपूर्ववक अनुभूत नहीं होता, शाब्द ज्ञान तो कभी भी भेद ज्ञान पूर्वक नहीं होता, क्योंकि उक्त वाक्य में भेद-वाचक कोई पद ही प्रयुक्त नहीं होता। वैसा ही प्रकृत में भी अन्योऽन्याश्रय का अभाव समझ लेना चाहिए, अन्यथा चैत्र में मैत्र-पितृत्वादि का ज्ञान हो जाने पर ही मैत्र में चैत्र-पुत्रत्व का ज्ञान, गवय में भी सादृश्य का ज्ञान हो जाने पर ही 'गौर्गवयसदृशी'—ऐसा ज्ञान होगा, इस प्रकार ससम्बन्धिक पदर्थमात्र के ग्रहण में अन्याऽन्याश्रय दोष व्याप्त हो जाता है।

समाधान—ससम्बन्धिक पदार्थों के ग्रहण में अन्योऽन्याश्रय अभीष्ट ही है, अत एव भेद, सादृश्यादि पदार्थ सप्रतियोगिक और निष्प्रतियोगिक के रूप में दुर्वच माने जाते हैं, क्योंकि दोनों पक्षों में बाधक विद्यमान है—यह हमारा सिद्धान्त-रहस्य है। यह जो कहा गया कि 'भेद-ज्ञान में प्रतियोग्यनुयोगि-भेद-ग्रहपूर्वकत्व का नियम अनुभूत नहीं होता, अतः अन्योऽन्याश्रय नहीं है।' उसमें भी इष्टापत्ति है, क्योंकि वही अनुभवाभाव भेद के सप्रतियोगिकत्व में भी बाधक है [अतः मौलिक आपत्ति के रूप में यह दुहराया जा सकता है कि 'घटादिकं यदि भेदस्वरूपं स्यात् तर्हि सप्रतियोगिकं स्यात्, किन्तु सप्रतियोगिकं नानुभूयते, अतो न भेदस्वरूपं तत्]।

न्यायामृतम्

एव गौर्गवयसादृश्यज्ञानमिति सप्रतियोगिकपदार्थज्ञानमात्रेऽन्योन्याश्रयः स्यात्

एवं च—सद्भेदस्य स्वरूपेण ज्ञातस्याप्रतिबन्धके।
प्रतियोगिता न भेदेन ज्ञाते तन्न मिथः श्रयः ॥
जीवस्य ब्रह्मणा ह्यैक्ये ज्ञाते जीवैकताभतिः।
ब्रह्मणीति तवाऽपि स्यादन्यथाऽन्योन्यसंश्रयः ॥

एतेन प्रतियोगिधीमात्रं भेदधीहेतुः। तन्निर्विकल्पकादपि भेदधीप्रसंगात्। किं तु प्रतियोगित्वेन। तत्रापि नान्यं प्रति प्रतियोगित्वधीर्भेदधीहेतुः, अतिप्रसंगात्। किं तु भेदं प्रति। तथा च भेदज्ञाने प्रतियोगित्वधीः। तज्ज्ञाने च भेदधीरित्यन्योन्याश्रय इति निरस्तम्। सप्रतियोगिके सादृश्यादावभेदे च साम्यात्। तत्र सादृश्याभेदादिप्रतियोगितावच्छेदकगवयत्वचित्त्वादिरूपेण धीरेव सादृश्याभेदादिधीहेतुश्चेदिहापि वस्तुतः प्रतियोगितावच्छेदकपीतादेः पीतत्वादिरूपेण धोरेव भेदधीहेतुः। यद्वा यत्र धर्मिप्रतियोगिनौ सन्निहितौ तत्र धर्मिप्रतियोगिस्वरूपयोस्तद्भावयोस्तद्भेदस्य च युगपद्धीः इदमनेन सदृशमितिवत्, तथा विशेषणविशेष्यभूतयोर्भेदभेदिनो विशेषणविशेष्यभावस्य च युगपदेव धीः, इमौ सदृशावितिवत्, सर्वस्येन्द्रियसन्निकृष्टत्वाद् योग्यत्वाच्च। युगपदेनकज्ञानोत्पत्तेर्विरुद्धत्वेऽपि दीपसहस्र इव समूहालम्बनैकज्ञानाविरोधात्।

अद्वैतसिद्धिः

वाचकपदासत्त्वस्यास्मान् प्रत्यदूषणत्वात्। एवं च प्रतियोगिधीमात्रं न भेदधीहेतुः, तन्निर्विकल्पकादपि तदापत्तेः, किंतु प्रतियोगित्वेन। तत्रापि नान्यं प्रति प्रतियोगित्वेन, किंतु भेदं प्रति। तथा चान्योन्याश्रयः। न च सप्रतियोगिकसादृश्यादावेवं स्यात्, इष्टापत्तेः, अभेदश्च न सप्रतियोगिक इत्युक्तत्वाच्च। यत्तु यत्र धर्मिप्रतियोगिनौ सन्निहितौ, तत्र धर्मिप्रतियोगिसद्भावयोस्तद्भेदस्य च युगपद्धीः, इदमनेन सदृशमितिवत्। तथा विशेषणविशेष्यभावस्य च युगद्धीः, इमौ सदृशावितिवत्, सर्वस्य योग्यस्य इन्द्रियसन्नि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यदि प्रत्यक्ष-स्थल पर ही सप्रतियोगिक (ससम्बन्धिक) पदार्थों के ज्ञान में उक्त अन्योऽन्याश्रयता का आपादन किया जाता है, तब शाब्द ज्ञान में अन्योऽन्यश्रयता प्रसक्त नहीं होतीं होती, क्योंकि उक्त वाक्य में भेद-वाचक कोई पद ही नहीं। इस प्रकार यह भी एक तथ्य है कि प्रतियोगी वस्तु का स्वरूपतः (निष्प्रकारक) ज्ञान भेद-ग्रह का का कारण नहीं होता, क्योंकि वैसा ज्ञान तो निर्विकल्पात्मक भी है, अतः उस से भी भेद-ज्ञान होना चाहिए, किन्तु होता नहीं, अतः प्रतियोगित्वेन (प्रतियोगित्वप्रकारक) ज्ञान को ही भेद-ज्ञान का कारण मानना होगा, प्रतियोगित्व भी अन्य-निरूपित नहीं, अपितु उसी भेद से निरूपित होना चाहिए, अतः प्रतियोगित्वादि के ज्ञान से भेद-ज्ञान और भेद-ज्ञान से प्रतियोगित्वादि का ज्ञान—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय निश्चित है। 'यदि भेद-ज्ञान में अन्योऽन्याश्रय दोष है, तब सादृश्यादि सभी सप्रतियोगिक पदार्थों के ज्ञान में यही दोष प्रसक्त होगा'—इस प्रकार की आपत्ति में भी इष्टापत्ति है, किन्तु अभेद-ज्ञान के विषय में यह दोष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि अभेद सप्रतियोगिक (ससम्बन्धिक) नहीं होता—यह कहा जा चुका है।

यह जो न्यायमृतकार ने कहा है कि जहाँ पर अनुयोगी और प्रतियोगी सन्निहित होते हैं, वहाँ प्रतियोगी, अनुयोगी और उनके भेद का एक साथ वैसे ही ज्ञान हो जाता

न्यायामृतम्

न हि मन्मते दण्डी चैत्र इतिविशिष्टधीरपि विशेषणज्ञानपूर्विका। उक्तं चैतत्। यत्र तु धर्मिप्रतियोगिनोरन्यतरस्यासन्निधानं तत्रापि संस्कारसचिवेन्द्रियसन्निकर्षेणैकमेव ज्ञानमुत्पद्यते तदनेन सदृशमितिवत्। अन्यथाऽभेदज्ञानमपि न स्यात्। तथा च नान्योन्याश्रयः, तदुक्तम्—

धर्मित्वप्रतियोगित्वतद्भावा युगपद्यदि।
विशेषणं विशेष्यं च तद्भावश्चैव गृह्यते॥
को विरोधः स्वरूपेण गृहीतो भेद एव तु।
अस्यामुष्मादिति पुनर्विशेषेणैव गृह्यत॥ इति।

यद्यपि व्यावृत्तिधीहेतुधीविशेषविषयत्वादिरूपव्यावर्तकत्वाद्यात्मकस्य विशेषणत्वादेर्विशिष्टज्ञानाधीनव्यावृत्तिज्ञानानन्तरं निर्णेयस्य न विशिष्टज्ञाने स्फुरणम्, तथाप्युपसर्जनत्वादिरूपविशेषणत्वादेर्विशिष्टज्ञाने स्फुरणं युक्तम्।

अद्वैतसिद्धिः

कर्षेण युगपत्सर्वविषयैकज्ञानसंभवात्। न हि मन्मते दण्डीति धीरपि दण्डज्ञानसाध्या। उक्तं चैतत् यत्र धर्मिप्रतियोगिनोरन्यतरस्यासन्निधानं, तत्रापि संस्कारसचिवेन्द्रियसन्निकर्षेण एकमेव ज्ञानमुत्पद्यते, तदनेन सदृशमित्यादिवत्। अन्यथा अभेदज्ञानमपि न स्यात्। तथा चान्योन्याश्रयः। तदुक्तम्—

'धर्मित्वप्रतियोगित्वतद्भावा युगपद्यदि।
विशेषणं विशेष्यं च तद्भावश्चैव गृह्यते॥' इति,

तन्न, प्रमेयत्वादिना घटे ज्ञातेऽपि घटाभाव इत्यप्रतीतेः घटत्वादिना घटस्य पूर्वमवश्यं ज्ञेयत्वेन युगपदेव धर्मिप्रतियोग्यादिबुद्ध्यसिद्धेः। न च—तत्र घटत्वादिना

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है, जैसे—'इदमनेन सदृशम्', क्योंकि समस्त योग्य पदार्थों का इन्द्रिय-सन्निकर्ष के द्वारा युगपत् ज्ञान होता है। दण्ड और पुरुष के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष होने के कारण दण्ड-विशिष्ट पुरुष का एक साथ ज्ञान होता है, दण्ड का ज्ञान हो जाने के पश्चात् 'दण्डी पुरुषः'—ऐसा ज्ञान नहीं होता, क्योंकि हमारे (माध्व) मत में 'दण्डी'—ऐसा ज्ञान दण्ड-ज्ञान-साध्य नहीं माना जाता। ऐसा ही कहा गया है—''यत्र धर्मिप्रतियोगिनोरन्यतरस्यासन्निधानम्, तत्रापि संस्कारसचिवेन्द्रियसन्निकर्षेण एकमेव ज्ञानमुत्मद्यने, तदनेन सदृशमितिवत्' [जहाँ प्रतियोगी और अनुयोगी में से एक ही गवयादि के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष होता है, वहाँ भी एक ही ज्ञान उत्पन्न होता है—अनेन सदृशी मदीया गौः]। यदि ऐसा न माना जाय, तब अभेद-ज्ञान भी न हो सकेगा, क्योंकि वहाँ भी भेद-स्थल के समान ही अन्योऽन्याश्रय दोष होता है, जैसा कि कहा गया है—

धर्मित्वप्रतियोगित्वतद्भावा युगपद् यदि।
विशेषणं विशेष्यं च तद्भावश्चैव गृह्यते॥

[अनुयोगित्व, प्रतियोगित्व और इन दोनों का सद्भाव यदि है, तब विशेषण, विशेष्य और उन दोनों का सद्भाव एक साथ गृहीत हो जाते हैं]।

न्यायामृतकार का वह कहना उचित नहीं, क्योंकि प्रमेयत्वादि रूप से घट का ग्रहण हो जाने पर भी 'घटाभावः'—इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती, अतः घटत्वादि रूप से घट का ज्ञान अभावज्ञान से पहले ही आवश्यक है, अतः प्रतियोगी, अनुयोगी

न्यायामृतम्

किं च—अन्यत्वाग्रहणे प्रोक्तः कथमन्योन्यसंश्रयः।
अन्यत्वं यदि सिद्धं स्यात्कथमन्योन्यसंश्रयः ॥

इत्युक्तत्वादुभयतःपाशा रज्जुः। एतेन विशेषणविशेष्यभावेनव भेदस्य प्रत्येतव्यत्वात्तद्भावप्रतीतेश्च भेदप्रतीत्यधीनताया दण्डचैत्रादौ दर्शनेन भेदप्रतीतिपरम्परया-

अद्वैतसिद्धिः

घटस्य पूर्वमवश्यं ज्ञेयत्वेन युगपदेव धर्मिप्रतियोग्यादिबुद्ध्यसिद्धः। न च—तत्र घटत्वादिज्ञानसामग्रीविलम्बादेव विलम्बः, तत्सत्त्वे इष्टापत्तिरिति—वाच्यम्, प्रतियोग्यविषयकाभावप्रत्ययापादनस्यैवमप्यपरिहारात्। न च तादृक्प्रतियोगिग्रहसामग्री कारणम्, तदपेक्षया प्रतियोगिग्रहस्यैव लघुत्वात्।

ननु—अन्यत्वाग्रहणे प्रोक्तः कथमन्योन्यसंश्रयः।
अन्यत्वं यदि सिद्धं स्यात् कथमन्योन्यसंश्रयः ॥

इत्युभयतःपाशा रज्जुरिति—चेन्न, न ह्यन्यत्वबुद्धिं व्यवहारक्षमामपि निराकुर्मः, किंत्वनाविद्यकत्वे नोपपद्यत इति ब्रूमः। किं च भेदस्य विशेषणविशेष्यभावेनैव ज्ञेयत्वात् तत्तद्भावप्रतीतेश्च भेदप्रतीत्यधीनतया दण्डचैत्रादौ दृष्टत्वेन भेदप्रतीतिपरम्परान-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

और अभाव—इन तीनों का एक काल में ज्ञान सम्भव नहीं। यदि कहा जाय कि ''प्रमेयत्वेन घट-ज्ञान-स्थल पर तो घटत्वेन घटज्ञान की सामग्री ही नहीं होती, अतः वहाँ तीनों के युगपत् ज्ञान का न होना हम भी मानते हैं, किन्तु सामग्री के हो जाने पर ही उक्त तीनों ज्ञान हम मानते हैं।' तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतियोगी का ज्ञान यदि अभाव-ज्ञान में कारण नहीं, तब उक्त स्थल पर भी केवल घटत्वेन घट का ग्रहण न होने पर भी प्रतियोग्यविषयक अभाव (केवल 'न'—इत्याकारक) का ज्ञान होना चाहिए। यदि अभाव-ग्रह में प्रतियोगी के ज्ञान की सामग्री को कारण माना जाता है, तब उस (कारण के कारण) की अपेक्षा प्रतियोगी के ज्ञान को हेतु मान लेने में ही लाघव है।

शङ्का—अन्यत्व (भेद) का ज्ञान सिद्ध न होने पर अन्योऽन्याश्रय दोष किस में दिया जाता है? यदि भेद-ज्ञान सिद्ध है, तब अन्योऽन्याश्रय हमारा क्या विगाड़ लेगा? इस प्रकार की उभयतः पशारज्जु के फन्दे से छुटकारा पाने के लिए अन्योऽन्याश्रय दोष को वहाँ से हटा देना चाहिए।

समाधान—भेद-व्यवहार-साधक भेद-ज्ञान का हम अपलाप नहीं करते, अपितु उस के आविद्यकत्व का समर्थन करते है और उसके अनाविद्यकत्व (तात्त्विकत्व) में अन्योऽन्याश्रयादि दिखा कर अनुपपत्ति दिखाना चाहते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि 'भिन्नो घटः, घटस्य भेदः'—इत्यादि व्यवहारों में भेद का विशेषण या विशेष्यरूप से भान होता है, विशेषण-विशेष्यभाव की प्रतीति भेद-प्रतीति के अधीन ही होती है—यह दण्ड और चैत्रादि में देखा गया है [अभिन्न अर्थ में विशेष्य-विशेषणभाव नहीं होता, अतः 'दण्डी चैत्रः''—यहाँ पर दण्डनिरूपित चैत्रनिष्ठ विशेष्यता और चत्रनिरूपित दण्डनिष्ठ विशेषणता तभी बनेगी, जब दण्ड से चैत्र और चैत्र से दण्ड का भेद हो]। अतः एक भेद-प्रतीति में दूसरी, दूसरी भेद-प्रतीति में तीसरी भेद-प्रतीति की अपेक्षा---इस प्रकार भेद-प्रतीति-परम्परा अनुसरण करने पर अनवस्था होती है।

न्यायामृतम्

नवस्थेति निरस्तम्, ब्रह्म जीवाभिन्नं जगन्मिथ्या स्वपक्षो निर्दोषः परपक्षो दुष्ट इत्यादावप्यभेदादेर्विशेषणादिभावेनैव प्रत्येतव्यत्वात्तत्प्रतीतेश्च भेदप्रतीत्यधीनत्वेनानवस्थाना(न्न प्राथमिकाभेदादि)न्नाऽभेदादिधीरिति साम्यात्। अथ दण्डादावभेदः सन्नेव विशेषणत्वादिहेतुः न तु भेदज्ञानं तज्ज्ञाने तथानुभवादतो नानवस्थेति चेत्समं प्रकृतेऽपि। विद्यमानभेदयोः स्वरूपेण प्रतीतयोरसति प्रतिबन्धे विशेषणत्वादिधीसम्भवादित्युक्तत्वात्। किं च भिन्नत्वेनैव ज्ञातस्य विशेषणतायां भिन्नं ब्रह्मेतिभेदधीपूर्वकं विशेषणतया विज्ञातस्याभेदस्य पुनर्ब्रह्माभेदज्ञानं न स्याद्, विरोधात्। एवं च

विशेषणत्वं भेदेन ज्ञानं नापेक्षतेऽन्यथा।
न स्याद्विशेषणं ह्यैक्यं ब्रह्माभिन्नं विरोधतः॥

एतेन प्रत्यक्षं किं भेदमेव गोचरयेत्? उत वस्त्वपि? नाद्यः, भेद इत्येवा-

---

अद्वैतसिद्धिः

वस्था स्यात्। न च—ब्रह्म जीवाभिन्नम्, जगन्मिथ्येत्यादावप्यभेदादेर्विशेषणतया भेदज्ञानस्यापेक्षणीयतयाऽनवस्थापत्तेः, न प्राथमिकाभेदादिधीरिति तवापि समानमिति—वाच्यम्, अविद्याकल्पितभेदेनाज्ञातेनापि विशेषणत्वाद्युपपत्तेः। न चैवं तवापि, भेदभेद्ययोः स्वरूपतो भेदाभावात्, भेदस्याधिकरणानतिरेकात्. धर्मो भेद इति पक्षे तु प्रतीत्यनवस्थोद्धारेऽपि विषयानवस्थाया दुष्परिहरत्वापत्तेः। न चाविद्यकभेदपक्षेऽप्यनवस्थादिदोषः, अनुपपत्तेरलङ्कारत्वात्। अत एव-अभिन्नं ब्रह्मेत्यत्राभेदस्य भिन्नतया ज्ञातस्य विशेषणत्वेन तेन सह ब्रह्माभेदबोधनानुपपत्तिः, प्राचीनभेदधिया प्रतिबन्धादिति—निरस्तम्, अनिर्वचनीयभेदज्ञानस्य तात्त्विकाभेदज्ञानाप्रतिबन्धकत्वात्।

किं च धर्मभेदपक्षे प्रत्यक्षं किं भेदमेव गोचरयति? उत वस्त्वपि? नाद्यः, भेद

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—यदि भेद-ग्रह में अनवस्था होती है, तब आप (अद्वैती) भी इस दोष के भागी हो जाते है, क्योंकि 'ब्रह्म जीवाभिन्नम्'—इस प्रकार के प्राथमिक अभेद-ज्ञान में भेद-ज्ञान और भेद-ज्ञान में अभेद ज्ञान-परम्परा अपेक्षित है।

समाधान—उक्त अभेद-ज्ञान में अपेक्षित भेद को हम (अद्वैती) आविद्यक मानते हैं, आविद्यक पदार्थ अज्ञात होकर भी अर्थक्रियाकारी माना जाता है, अतः अज्ञात भेद से अभेद-ज्ञान सम्पन्न हो जाता है, अनवस्थापत्ति नहीं होती, किन्तु आप (माध्व) के मत में ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि भेदस्वरूप बाद में भेद और भेद्यभूत घटादि में स्वरूपतः भेद नहीं, भेद अपने अधिकरण से अतिरिक्त नहीं माना जाता। 'धर्मो भेदः'—इस पक्ष में भेद-ज्ञान को हेतु न मानने से प्रतीति-परम्परा की अनवस्था का उद्धार हो जाने पर भी विषयानवस्था का परिहार नहीं किया जा सकता। आविद्यक भेद-वाद में अनवस्था आदि के द्वारा भेद की अनुपपत्ति का प्रदर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि अविद्या के लिए अनुपपत्ति या अघटना दूषण नहीं भूषण ही है।

यह जो कहा जाता था कि 'अभिन्नं ब्रह्म'—यहाँ पर भिन्नत्वेन ज्ञात पदार्थ अभेद का विशेषण नहीं बन सकता, अतः उस अभेद के साथ ब्रह्म के अभेद का बोध सम्भव नहीं, क्योंकि पूर्वभावी भेद-ज्ञान उसका प्रतिबन्धक हो जाता है।

वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि अनिर्वचनीय भेद-ज्ञान तात्त्विक अभेद-ज्ञान का प्रतिबन्धक नहीं होता। धर्मभेदवाद में यह भी जिज्ञासा होती है कि

न्यायामृतम्

प्रतीतेः। द्वितीयेऽपि किं भेदपूर्वकं वस्तु गोचरयेत् ? उत वस्तुपूर्वं भेदम् ? युगपद्वो-भयम् ? नाद्यः, भेद इत्येवाप्रतीतेः बुद्धेर्विरम्य व्यापाराभावाच्च। अत एव न द्वितीयः। न तृतीयः वस्तुग्रहस्य भेदग्रहहेतुत्वादिति निरस्तम्। बिम्बप्रतिबिम्बयोर्जीवब्रह्मणोश्च-

अद्वैतसिद्धिः

इत्येवाप्रतीतेः। द्वितीयेऽपि किं भेदपूर्वकं वस्तु गोचरयेत् ? उत वस्तुपूर्वकं भेदम्, युगपद्वा उभयम् ? नाद्यः, भेद इत्येवाप्रतीतेः, विरम्य व्यापारायोगाच्च। अत एव न द्वितीयः, न तृतीयः, वस्तुग्रहस्य भेदग्रहजनकतायाः स्थापितत्वात्। न च वस्तुमात्र-ज्ञानानन्तरभाविना विशिष्टज्ञानेन युगपदुभयग्रहः, प्रतियोगित्वादिना ज्ञातस्यैव भेदधीहेतुत्वाद्, अन्यथा पञ्चमीप्रयोगाद्यनुपपत्तेः। तत्र च प्रागुक्तो दोषः।

अत एव—विशिष्टधियो विशेषणज्ञानजन्यत्वमते अनयोर्भेद इति ज्ञानानन्तरमिमौ भिन्नाविति धियः संभवः, विशेषणज्ञानाजन्यत्वेऽपि युगपदेव उभयगोचरधियः संभव इति—निरस्तम्, अनयोर्भेद इत्यादौ षष्ठ्योल्लिख्यमानसंबन्धग्रहार्थं भेदग्रहस्य पूर्वमवश्यापेक्षणीयतया अनवस्थाया दुष्परिहरत्वात्। न च बिम्बप्रतिबिम्बयोर्जीव-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

क्या प्रत्यक्ष ज्ञान केवल धर्मभूत भेद का ही ग्रहण करता है ? अथवा उसकी आधारभूत वस्तु को भी ? प्रथम पक्ष में 'भेदः'—इतना ही उल्लेख होना चाहिए, किन्तु वैसा नहीं होता। द्वितीय पक्ष में भेद-ग्रहणपूर्वक वस्तु का ग्रहण करता है ? या वस्तु-ग्रहणपूर्वक भेद का ? अथवा एक काल में ही भेद और वस्तु—दोनों का ग्रहण करता है। प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि केवल 'भेदः'—ऐसी प्रतीति होती ही नहीं और यह भी सम्भव नहीं कि कोई ज्ञान प्रथम क्षण में केवल भेद का और द्वितीय क्षण में वस्तु का ग्रहण करे, क्योंकि शब्द, ज्ञान और कर्म—ये विरम्य कार्यकारी नहीं होते। अत एव द्वितीय पक्ष भी निरस्त हो जाता है, तृतीय पक्ष का औचित्य इस लिए नहीं रह जाता कि वस्तु-ग्रहपूर्वक भेद-ग्रहण का नियम सिद्ध कर दिया गया है, अतः कार्य और कारण का यौगपद्य नहीं हो सकता। 'प्रथम वस्तु मात्र का ग्रहण, उसके अनन्तर भावी विशिष्ट ज्ञान के द्वारा भेद और वस्तु—उभय का ग्रहण होता है'—यह भी संगत नहीं, क्योंकि केवल वस्तु का ज्ञान भेद-ज्ञान का हेतु ही नहीं होता, अपितु प्रतियोगित्वप्रकारक वस्तु का ज्ञान ही भेद-ज्ञान का हेतु होता है, अन्यथा वस्तु के लिए 'अस्माद् भिन्नम्'—ऐसा पञ्चमी का प्रयोग ही नहीं हो सकेगा। वस्तु का प्रतियोगित्वरूपेण ग्रहण मानने में भी पूर्वोक्त (अन्योऽन्याश्रय) दोष होता है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि जिस मत में विशिष्ट-ज्ञान को विशेषण-ज्ञान से जन्य माना जाता है, उस मत में 'अनयोर्भेदः'—इस ज्ञान के पश्चात् 'इमौ भिन्नौ'—ऐसा ज्ञान सम्भव है, क्योंकि उसमें विशेषण-ज्ञान की जन्यता न होने पर भी युगपद् उभय-विषयक बुद्धि उत्पन्न हो जाती है।

वह कहना इसी लिए निरस्त हो जाता है कि 'अनयोर्भेदः'—यहाँ पर षष्ठी विभक्ति से उल्लिख्यमान सम्बन्ध का ग्रहण करने के लिए भेद-ग्रहण प्रथम अपेक्षित होता है, अतः भेद-ज्ञान में भेद-ज्ञान परम्परा की अपेक्षारूप अनवस्था टाली नहीं जा सकती।

यह जो भेदविषयक विकल्पों की समानता दिखाते हुए कहा गया है कि बिम्ब

न्यायामृतम्

भेदग्राहि प्रत्यक्षं शब्दश्च किं भेदमेव गोचरयेदित्यादेः साम्यात्। वस्तुमात्रज्ञानानन्तरभाविना विशिष्टज्ञानेन युगपदुभयग्रहणाच्च। विशिष्टधीर्विशेषणधीपूर्विकेतिमते भूतले घटाभाव इति ज्ञानानन्तरमेव घटाभाववदिति ज्ञानवदनयोर्भेद इति ज्ञानानन्तरमेव इमौ भिन्नाविति धियः सम्भवेन। तत्पूर्विकत्व नेति मते तु युगपदेवोभयगोचरविशिष्टधियः सम्भवेनोक्तदोषानवकाशाच्च। यच्चोच्यते भेदस्यान्योन्याभावत्वे तत्प्रतियोगिनः स्तम्भकुंभयोस्तादात्म्यस्याप्रामाणिकत्वेनान्योन्याभावस्याप्यप्रामाणिकत्वं स्यादिति, तन्न रूप्यस्य द्वैतस्यात्यन्तासतश्चाप्रामाणिकत्वेन बाधगोचरस्य रूप्याभावस्याद्वैतस्यासद्वैलक्षण्यस्य चाप्रामाणिकत्वं स्यादिति साम्यात्। यदि तत्र प्रतियोगिनो निरूपकत्वमात्रत्वेनाप्रामाणिकत्वेऽपि तदभावस्य प्रामाणिकत्वम्, तर्हि प्रकृतेऽपि तथा। न ह्यस्मन्मते प्रामाणिकस्यैव निषेध इति नियमः। येषां

अद्वैतसिद्धिः

ब्रह्मणोश्चाभेदग्राहिप्रत्यक्षं शब्दश्च किमभेदमेव गोचरयेदित्यादिविकल्पसाम्यम्, अभेदस्य वस्तुस्वरूपत्वेनेदृग्विकल्पानवकाशात्। किं च भेदस्यान्योन्याभावत्वे तत्प्रतियोगिनोः स्तम्भकुम्भयोस्तादात्म्यस्याप्रामाणिकत्वेनान्योन्याभावस्याप्रामाणिकत्वं स्यात्। न च द्वैतादेरप्रामाणिकत्वे तद्विरहस्याप्रामाणिकत्वापत्तिः, अतिरेकपक्षे इष्टापत्तेः, अनतिरेकपक्षे त्वधिकरणप्रामाणिकत्वस्यैव प्रामाणिकत्वे तन्त्रतया प्रतियोग्यप्रामाणिकत्वेऽपि प्रामाणिकत्वोपपत्तेः। न च—अन्योन्याभावेऽपि तत्पक्षे तथाऽङ्गीक्रियतामिति—वाच्यम्, तस्याधिकरणरूपतायां शून्यवादाद्यापत्तेरुक्तत्वात्। यत्त्व-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

और प्रतिबिम्ब एवं जीव और ब्रह्म के अभेदावगाही प्रत्यक्ष और शब्द क्या केवल अभेद को विषय करते हैं? अथवा बिम्ब और प्रतिबिम्ब को भी? इत्यादि विकल्पों में भी वे ही दोष हैं।

वह कहना संगत नहीं, क्योंकि अभेद को वस्तुस्वरूप एवं निरपेक्ष माना जाता है, अतः वे विकल्प नहीं उठाए जा सकते। दूसरी बात यह भी है कि भेद को अन्योऽन्याभावस्वरूप मानने पर प्रतियोगीभूत स्तम्भ और कुम्भ का तादात्म्य अलीक और अप्रामाणिक होने के कारण तादात्म्याभावरूप अन्योऽन्याभाव भी अप्रामाणिक हो जायगा। यदि कहा जाय कि अन्योऽन्याभाव के अप्रामाणिकत्वापादन के समान ही द्वैताभाव में भी अप्रामाणिकत्व का आपादन किया जा सकता है, क्योंकि उसका प्रतियोगीभूत द्वैत आपके मत में अप्रामाणिक ही होता है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि द्वैताभाव को यदि अधिकरणीभूत ब्रह्म से अतिरिक्त माना जाता है, तब उसे अप्रामाणिक मानना अभीष्ट ही है और यदि अधिकरणस्वरूप माना जाता है, तब अधिकरण की प्रामाणिकता से ही अधिकरणस्वरूप द्वैताभाव में प्रामाणिकता ही सिद्ध होती है। वस्तुतः प्रतियोगी के अप्रामाणिक होने पर भी अभाव में प्रामाणिकता बन सकती है। अन्योऽन्याभाव की अधिकरणस्वरूपता में शून्यवाद की आपत्ति दी जा चुकी है, अतः अन्योऽन्याभाव को अधिकरणरूप मान कर अधिकरणगत प्रामाणिकत्व के द्वारा प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। 'अप्रामाणिक पदार्थ भी निषेध का प्रतियोगी होता है'—यह जो विपक्षियों ने कहा है, हम उसका निराकरण नहीं करते, किन्तु अधिकरण से अतिरिक्त निषेध को अप्रामाणिक मात्र मानते हैं।

न्यायामृतम्

नियमः तन्मतेऽपि पटे प्रमितस्य पटतादात्म्यस्य घटे निषेध इत्यस्तु। तन्मतेन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्घटप्रतियोगिकत्वेऽपि यत्र प्रतियोगिनमधिकरणे समारोप्य निषेधावगमः स संसर्गाभावः, यत्र त्वधिकरणे प्रतियोगितावच्छेदकमारोप्य निषेधावगमः सोऽन्योन्याभाव इति तयोर्भेदः। एतेन भेदेऽपि स्वेतरभेदस्य वक्तव्यत्वात्स्ववृत्तित्वमिति निरस्तम्। जीवब्रह्माभेदे स्वेनाभेदस्य वक्तव्यत्वात्स्ववृत्तित्वमिति साम्यात्।

अद्वैतसिद्धिः

प्रामाणिकस्य निषेधप्रतियोगित्वमित्युक्तं परैः, तन्न वारयामः, किन्त्वधिकरणातिरेके निषेधस्याप्रामाणिकत्वमात्रं ब्रूमः।

ननु—अत्र न कुम्भस्तम्भोभयतादात्म्यं निषेधप्रतियोगि, किंतु स्तम्भतादात्म्यं स्तम्भे प्रमितं कुम्भगतं निषिध्यत इति न प्रतियोग्यप्रामाणिकत्वमिति—चेन्न, तादात्म्यमात्रस्य निषेधप्रतियोगित्वे दूरस्थवनस्पत्योरिव बाधोत्तरकालमिमौ वनस्पती इतिवदिमे शुक्तिरजते इति प्रतीत्यापत्तेः। न चासन्निधानकृतो विशेषः, एतावतापि शुक्तितद्रजते इति प्रतीत्यापत्तेः। यत्त्वन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्लक्षणं यत्राधिकरणे प्रतियोगितावच्छेदकमारोप्य निषेधावगमः, सोऽन्योन्याभावः, यत्राधिकरणे प्रतियोगिनमारोप्य निषेधावभासः, स संसर्गाभाव इति, तन्न, अतीन्द्रिये भेदे संसर्गाभावे च तन्मते अव्याप्तेः। शब्दजन्याभावबुद्धौ व्यभिचारेणारोपस्याभावबुद्धावहेतुत्वाच्च। किंच भेदे स्वेतरभेदस्य वक्तव्यतया स्ववृत्तिविरोधोऽनवस्था वा। न च—ब्रह्माभेदेऽपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—स्तम्भ और कुम्भ का तादात्म्य अवश्य अलीक है, किन्तु यहाँ उसका निषेध नहीं किया जाता, निषेध किया जाता है—स्तम्भ के तादात्म्य का कुम्भ में और कुम्भ के तादात्म्य का निषेध स्तम्भ में, स्तम्भ का तादात्म्य स्तम्भ में और कुम्भ का तादात्म्य कुम्भ में प्रमाणित है, अतः यहाँ न तो प्रतियोगी अप्रामाणिक है और न उसके द्वारा अन्योऽन्याभाव में अप्रामाणिकत्व का आपादन किया जा सकता है।

समाधान—भ्रम-स्थल पर यदि केवल तादात्म्य अंश का निषेध किया जाता है, तब दूरस्थ दो वृक्षों के समान ही बाध के उत्तर काल में 'इमौ द्वौ वृक्षौ'—के समान ही शुक्ति-रजत-स्थल पर भी 'इमे शुक्तिरजते'—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए।

यह जो अन्योऽन्याभाव और ससंर्गाभाव का लक्षण करते हुए कहा गया है कि जहाँ अधिकरण में प्रतियोगितावच्छेदक का आरोप करके निषेध किया जाता है, वह अन्योऽन्याभाव और जहाँ अधिकरण में प्रतियोगी का आरोप करके निषेध जिया जाता है, वह संसर्गाभाव कहलाता है

वह उचित नहीं क्योंकि उन के मतानुसार अतीन्द्रिय भेद एवं अतीन्द्रिय संसर्गाभाव में अतीन्द्रिय वस्तु का पुरःस्थित अधिकरण में आरोप सम्भव न होने के कारण अव्याप्ति होती है। प्रतियोग्यादि का आरोप अभाव-ज्ञान का कारण भी नहीं होता, क्योंकि, शब्द-जन्य अभाव-ज्ञान में आरोप व्यभिचरित है। दूसरी बात यह भी है कि भेद में स्वेतर-भेद ही कहना होगा, तब भेद में भेद-परम्परा की अपेक्षा होने से अनवस्था होती है।

शङ्का—ब्रह्म में जगत् के अभेद के साथ अभेद का भी अभेद कहना होगा, अन्यथा अभेद ही ब्रह्म से भिन्न रहकर द्वैतापादक हो जायगा, अतः अभेद-पक्ष में भी

न्यायामृतम्

तत्राभेदान्तरं वा तस्यैव स्वनिर्वाहकत्वं वा चेदिहापि तथाऽस्तु। एतेन नृशृंगशशशृंगात्यन्ताभावयोरन्योन्याभावरूपभेदस्य सत्त्वादभावाभावस्य च भावत्वान्नृशृंगशशशृंगयोः सत्त्वं स्यात्। एवं घटध्वंसप्रागभावयोरन्योन्याभावस्य वक्तव्यत्वादभावाभावस्य भावत्वाद् घटध्वंसकाले घटः स्यादिति निरस्तम्, अविद्यानिवृत्तिः पंचमप्रकारेति मते भावाद्वैतमते च अविद्यानिवृत्तेः ब्रह्मतोऽन्योन्याभावस्य वक्तव्यत्वादभावाभावस्य भावत्वादविद्यानिवृत्तिकालेऽविद्या स्यादिति साम्यात्। यदि त्वभावसंसर्गाभाव एव भावः। न त्वन्योन्याभावः, तर्हि प्रकृतेऽपि समम्।

यच्चोक्तम्—भेदेषु जातिरूपमौपाधिकधर्मरूपं वा भेदत्वं वाच्यम्, तत्र पुनर्भेदो वाच्यः। अन्यथा भेदत्वस्यान्यस्माद्भेदो न स्यात्। तथा चान्योन्यवृत्तिरिति। तन्न, अभेदेष्वभेदत्वं वाच्यम्, तत्र पुनरभेदो वाच्यः, अन्यथा तस्य स्वाभेदो न स्यात्। तथा चान्योन्यवृत्तिरिति साम्यात्। न च घटस्य घटाभेदः जीवस्य जीवाभेदो वा

अद्वैतसिद्धिः

स्वाभेदस्य वक्तव्यतया स्ववृत्तित्वं समानमिति—वाच्यम्, अभेदस्य स्वनिर्वाहकत्वादित्यवेहि। न च भेदे तथा, भेदाधिकरणकभेदव्यवहारस्य स्वरूपेण निर्वाहे घटेऽपि तथात्वे धर्मपक्षकभेदानुपपत्तेः। किंच भेदे भेदत्वमुपाधिरूपं जातिरूपं वा वाच्यम्, तत्र पुनर्भेदो वाच्यः, अन्यथा भेदत्वस्यान्यस्माद् भेदो न स्यात्। तथा चान्योन्यवृत्त्या स्ववृत्त्यापत्तेः स्ववृत्तित्ववत्तस्यापि विरुद्धत्वात्। न च—अभेदेऽप्यभेदत्वं वाच्यम्, तत्र पुनरभेदो वाच्यः, अन्यथा तस्य स्वाभेदो न स्यादिति तत्रापि तथात्वापत्तिः, प्रमेयत्वाभिधेयत्वादिवदन्योन्यवृत्तित्वस्याभेदे अदोषत्वे भेदेऽपि साम्यमिति—वाच्यम्, अस्माकमभेदमात्रस्याभेदत्वस्य च ब्रह्माभेदाभिन्नतया अन्योन्यमित्यस्यैवा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

स्ववृत्तित्वापत्ति होती है।

समाधान—एक ही अभेद प्रपञ्च का ब्रह्म से अभेद करता हुआ अपना भी अभेद कर देता है, क्योंकि स्वयं भी प्रपञ्च के अन्तर्गत है, अतः अभेद का अभेदान्तर मानने की आवश्यकता नहीं। भेद के विषय में वैसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भेदाधिकरणक भेद-व्यवहार का स्वरूपेण निर्वाह मानने पर घटादि में भी धर्मपक्षक भेद की अनुपपत्ति होती है।

भेद में भेदत्व को भी जाति या उपाधि स्वरूप माना जाता है, उस भेदत्व में भी भेद मानना होगा, अन्यथा भेदत्व का अन्य पदार्थों से भेद न रह सकेगा। फलतः भेदत्व में भेद और भेद में भेदत्व—इस प्रकार भेदत्व और भेद—दोनों में अन्योऽन्यवृत्तिता माननी होगी, स्ववृत्तिता के समान ही अन्योऽन्यवृत्तिता को भी विरुद्ध और दोष माना जाता है, क्योंकि अन्योऽन्य-वृत्तिता का स्ववृत्तित्व में ही पर्यवसान होता है।

शङ्का—अभेद में भी अभेदत्व और उस अभेदत्व में भी अभेद मानना होगा, अन्यथा अभेदत्व का अभेद न हो सकेगा, फलतः अभेदत्व और अभेद में भी परस्पर-वृत्तिता (अभेद में अभेदत्व और अभेदत्व में अभेद) माननी होगी। प्रमेयत्व और अभिधेयत्वादि के समान अभेदत्व में अन्योऽन्य-वृत्तित्व यदि दोष नहीं माना जाता है, तब भेद में भी वह दोष न रहेगा।

समाधान—हमारे (अद्वैतवादी के) मत में अभेदत्व और अभेद—दोनों ब्रह्म

न्यायामृतम्

जीवस्य ब्रह्माभेदः, वेदान्तवैयर्थ्याद्यापत्तेः। अथ तत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोरिव प्रमितत्वादन्योन्यवृत्तिरदोषः, तर्हि प्रकृतेऽपि तथास्तु।

ननु भेदः किं भिन्ने वर्तते उताभिन्ने। नाद्य, अनवस्थाद्यापातात्। नान्त्यः, विरोधादिति चेद्, अभेदः अनात्मनोऽनिर्वाच्यत्वम्, आत्मनो निर्विशेषत्वं, स्वपक्षे दोषाभावः, परपक्षे दोषश्च किं तद्वति वर्तते? उत तद्रहितेत्यादेः साम्यात्। यद्यभेदादि स्वरूपं यदि

अद्वैतसिद्धिः

भावेनान्योन्यवृत्तित्वस्यैवापादयितुमशक्यत्वात्। न च तर्हि घटे घटाभेदस्य जीवे जीवाभेदस्य वा जीवब्रह्माभेदत्वे वेदान्तवैयर्थ्यम्, भेदभ्रमनिवर्तकवृत्तेर्महावाक्यं विनानुपपत्तेरुक्तत्वात्। यत्तु प्रमेयत्वादौ प्रमितत्वादन्योन्यवृत्तिरदोष इति, तन्न, आत्माश्रयादित्वदोषेण तत्रापि प्रमितत्वासिद्धेः। अत एव न कश्चित् केवलान्वयी।

किंच भेदः किं भिन्ने निविशते? अभिन्ने वा? आद्ये आत्माश्रयोऽन्योन्याश्रयो वा। द्वितीये विरोधः। न च—अभेदानिर्वाच्यत्वादिकं किं तद्वति तदभाववति चेत्यादिविकल्पस्यात्रापि साम्यमिति—वाच्यम्, अभेदस्य स्वरूपत्वेन तत्र तद्विकल्पानवकाशात्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

से अभिन्न होकर परस्पर भी अभिन्न हो जाते हैं, अतः वे दो न रह कर एक हो जाते हैं, तब उनके लिए अन्योऽन्य कहना सम्भव नहीं होता, अतः अन्योऽन्यवृत्तिता का आपादन वहाँ नहीं हो सकता। यदि घटगत घटाभेद या जोवगत जीवाभेद जोव-ब्रह्म का ही अभेद है, तब उससे अधिक वेदान्त और क्या सिखाएगा? अतः उसे व्यर्थ क्यों न मान लिया जाय? इस शङ्का का समाधान पहले ही किया जा चुका है कि वेदान्त वस्तुतः भिन्न पदार्थों में अभेद की स्थापना नहीं करता, केवल अभिन्न पदार्थों में भेद-भ्रम की भञ्जिका वृत्ति का उदय होना एक मात्र वेदान्त की देन है।

यह जो कहा गया कि प्रमेयत्व में अभिधेयत्व और अभिधेयत्व में प्रमेयत्व प्रमाण-सिद्ध है, अतः अन्योऽन्य-वृत्तित्व कोई दोष नहीं होता।

वह कहना संगत नहीं, क्योंकि प्रमेयत्व में अभिधेयत्व और अभिधेयत्व में प्रमेयत्व कभी प्रमाण-सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उस में आत्माश्रय अन्योऽन्याश्रयादि दोष बाधक है, अतः किसी भी अनात्म पदार्थ को केवलान्वयो (सर्वात्मा) नहीं माना जा सकता

यह भी जिज्ञासा यहाँ भेद के विषय में होती है कि क्या भेद भिन्न वस्तु में रहता हैं? या अभिन्न में? प्रथम पक्ष में यदि उसी भेद से युक्त (भिन्न) वस्तु में भेद रहता है, तब आत्मश्रय और यदि एक भेद दूसरे भेद से युक्त वस्तु में रहता है, तब दोनों भेदों का अन्योऽन्याश्रय है। द्वितीय विकल्प में विरोध है, क्योंकि अभिन्न वस्तु में भेद क्योंकर रहेगा?

शङ्का—जैसे भेद के विषय में 'भिन्नेऽभिन्ने वा'—इस प्रकार के विकल्प उठाए जाते हैं, वैसे ही अद्वैति-सम्मत अभेद और अनिर्वाच्यत्वादि के विषय में भी विकल्प उठाए जा सकते हैं कि अभेद अभिन्न में रहता है? या भिन्न में? अनिर्वाच्यत्व अनिर्वाच्य में रहता है? अथवा अनिर्वाच्यत्वाभाववाले में? इन विकल्पों का समाधान जो आप करेंगे, वही हम भी।

समाधान—अभेद तो वस्तु का स्वरूप होता है, धर्म नहीं, अतः उसके विषय में

न्यायामृतम्

वा स्वाश्रयत्वयोग्ये वर्तते। योग्यता च प्रमितिरूपकार्योन्नेया, तर्हि प्रकृतेऽपि तथास्तु। एवमन्येपि स्वव्याघातकाः क्षुद्रोपद्रवाः परिहार्याः। न ह्यत्र भेदखण्डने केनापि काप्यत्रा-स्वव्याघातिका अजातिरूपा युक्तिरुक्ता। तदुक्तम्—

एतादृशस्य वक्तारावुभौ जात्युत्तराकरौ।
मायी माध्यमिकश्चैव तावुपेक्ष्यौ बुभूषुभिः॥ इति।

विशिष्य भेदखण्डनोद्धारः॥ १६॥

अद्वैतसिद्धिः

अनिर्वाच्यादावस्य विकल्पस्यानिर्वाच्यत्वप्रयोजकस्यास्माकमनुकूलत्वात्। न च भेदोऽपि स्वरूपम्, प्रागेव निरासात्। न च—भेदः स्वाश्रयत्वयोग्ये वर्तते, योग्यता च प्रमारूपफलैकोन्नेया इति—वाच्यम्, योग्यताया भेदं विना वक्तुमशक्यत्वात्। न ह्यभिन्ने कदापि तद्योग्यता, धर्मान्तरस्यापि भेदमपुरस्कृत्य योग्यत्वाप्रयोजकत्वात्, भेदाभेदावज्ञात्वा भ्रमप्रमारूपफलभेदस्यैवाज्ञानेन भेदयोग्यतायाः प्रमारूपफलभेदा-नुन्नेयत्वाच्च।

अस्वव्याघातकैरेव जातिभिन्नैः सदुत्तरैः।
निरस्तं भेदमादाय स्वात्माभेदो निषीदति॥

इत्यद्वैतसिद्धौ विशेषतो भेदखण्डनम्॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उक्त विकलव उठ ही नहीं सकते। अनिर्वाच्यत्व में अनिर्वाच्यत्व का विकल्प तो हमारे अनुकूल ही है, क्योंकि जैसे प्रपञ्च में सदसद्भिन्नत्वरूप अनिर्वाच्यत्व रहता है, वैसे ही अनिर्वाच्यत्व में भी सदसद्भिन्नत्वात्मक अनिर्वाच्यत्व रहता है। अभेद के समान भेद को भी वस्तु का स्वरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि पहले ही उसका निरास किया जा चुका है।

शङ्का—भेद न भिन्न में रहता है और न अभिन्न में, अपितु स्वाश्रयत्व-योग्य पदार्थ में रहता है, योग्यता का अनुमान भेद-प्रमारूप फल के द्वारा होता है, अतः किसी प्रकार का दोष नहीं

समाधान—अभिन्न वस्तु में भेदाश्रयत्व की योग्यता नहीं देखी जाती, अतः भिन्न में ही योग्यता माननी होगी, अतः भेद में भेद की अपेक्षा अटल है। योग्यता प्रयोजक यदि कोई धर्मान्तर माना जाता है, तब वह भी भेद-निरपेक्ष होकर प्रयोजक नहीं हो सकता। भेद और अभेद को न जान कर कोई भ्रम और प्रमारूप फल-भेद का ज्ञान ही प्राप्त नहीं कर सकता अतः भेद की योग्यता प्रमारूप फल के द्वारा उन्नेय (अनुमेय) नहीं हो सकती। इस प्रकार स्वाव्याघातक असदुत्तररूप जाति से भिन्न सदुत्तररूप तर्कों के द्वारा भेद का निरास हो जाने पर स्वात्माभेद सुदृढ़ हो जाता है।

: १७ :

माध्वाभिमतविशेषपदार्थविचारः

न्यायामृतम्

वस्तुतस्त्वस्मन्मते भेदो वस्तुना सविशेषाभिन्नः। ततश्चाभिन्नत्वान्नानवस्थादि। भेदप्रतिनिषेधश्च विशेषस्य सत्त्वान्न पर्यायत्वादिकम्। विशेषश्च भेदहीनेऽप्येकतरपरिशेषाभावादिनिर्वाहकः। तदुक्तम्—

भेदहीने त्वपर्यायशब्दान्तरनियामकः।
विशेषो नाम कथितः सोऽस्ति वस्तुष्वशेषतः॥ इति।

प्रमाणं (त्वत्रा) तत्रार्थापत्तिः। तथा हि—विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे"त्यादि वाक्यबोध्यविज्ञानानन्दादीनां परमतेऽपि न तावद्भेदो भेदाभेदौ वा, अखण्डार्थत्वात्। एक-

---

अद्वैतसिद्धिः

ननु—अस्माकं भेदो न स्वरूपमात्रम्, किं त्वन्योन्याभावः, स च वस्तुना सविशेषाभिन्नः, ततश्चाभिन्नत्वान्नानवस्थादिः। भेदप्रतिनिधेर्विशेषस्य विद्यमानत्वान्न पर्यायत्वादिकम्, विशेषश्च भेदहीनेऽपि एकतरपरिशेषाभावादिनिर्वाहक इति—चेन्न, पर्यायत्वादिप्रमाजनकस्य स्वरूपातिरिक्तस्य विशेषस्याङ्गीकारे तस्यैव भेदत्वेन भेदस्य धर्मभेदोक्त्ययोगाद्, विशेषस्यापि भेदः सविशेषाभिन्न एव वाच्यः। तथा चानवस्थातादवस्थ्यम्। न च वैशेषिकाभिमतविशेषवत्तस्य स्वपरनिर्वाहकत्वम्, एतादृशविशेषे मानाभावात्। ननु—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादिवाक्यबोध्यविज्ञानानन्दादीनां त्वन्मतेऽपि भेदस्य भेदाभेदयोर्वाऽखण्डार्थकत्वेन 'एकधैवानुद्रष्टव्य'मित्यादिश्रुतिविरोधेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—हमारे (माध्व के) मत में भेद वस्तु का स्वरूपमात्र नहीं, किन्तु अन्योऽन्याभावरूप होता है। वह अन्योऽन्याभाव सविशेष घटादि वस्तु से अभिन्न माना जाता है, अतः धर्म भेदपक्षोक्त अनवस्था दोष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि भेद वस्तु से भिन्न नहीं माना जाता। भेद का प्रतिनिधिभूत विशेष पदार्थ घटादि में रहता है, अतः घटादि में भेदस्वरूपता होने पर भी 'भेद' पद की पर्यायता घटादि पदों में नहीं होने पाती, विशेष पदार्थ ही एकार्थकत्वापत्तिरूप पर्यायिता को नहीं आने देता। वह विशेष पदार्थ केवल भिन्न पदार्थों में ही नहीं रहता, अपितु भेद-रहित वस्तुओं में भी रह कर एकतर-परिशेषापत्ति का वारक रहता है, अतः भेद और घट—दोनों भिन्न न होने पर भी अपना-अपना व्यक्तित्व पृथक् बनाए रखते एवं 'भेदः' और 'घटः'—इस प्रकार के व्यवहार-वैलक्षण्य के निर्वाहक रहते हैं।

अद्वैतवादी—भेद और घटादि-पदों में अपर्यायित्वप्रकारक प्रमा का जनकीभूत स्वरूपातिरिक्त विशेष पदार्थ को मानने पर उसे ही भेदपदार्थ मानना होगा, तब तो भेद में धर्मरूपता का समर्थन आप न कर सकेंगे एवं उस घटादि-वृत्ति विशेष पदार्थ का भी भेद सविशेष घट से अभिन्न मानना होगा, अतः विशेष-परम्परा की अपेक्षा में अनवस्थापत्ति दुर्वार है। वैशेषिक-सम्मत विशेष पदार्थ का स्वपर-निर्वाहकत्व रूप यदि आप भी अपने इस विशेष पदार्थ को देना चाहते हैं, तब ऐसे विशेष पदार्थ की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं।

द्वैतवादी—उक्त विशेष पदार्थ में अर्थापत्ति प्रमाण है, जिससे आप (अद्वैतवादी) भी नकार नहीं सकते, क्योंकि "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृह० उ० ३।२८) इत्यादि

न्यायामृतम्

धैवानुद्रष्टव्य''मित्याद्यैकरस्यश्रुतिविरोधाच्च। तत्र भेदप्रतिनिधिर्विशेषोऽपि न चेत्कथं तच्छब्दानामपर्यायत्वं ? पदान्तरावैयर्थ्यं ? विज्ञानानन्दयोरेकतरापरिशेषः ? भ्रमाधिष्ठानत्वेन चैतन्यभानेऽपि मोक्ष इवेदानीमानन्दाप्रकाश इत्यादिभेदकार्यं स्यात् ? लक्ष्यार्थभेदाभावेऽपि वाच्यार्थभेदादपर्यायत्वं व्यावर्त्यभेदादवैयर्थ्यं चेति चाखण्डवादे निरस्तम्। न च सखण्डवादेऽपि प्रवृत्तिनिमित्तयोर्ज्ञानत्वानन्दत्वयोर्भेदादपर्यायत्वम्, "एवं धर्मानि''ति श्रुत्या तयोरपि भेदनिषेधात्। अर्थप्रकाशत्वनिरुपाधिकेष्टत्वरूपयोस्तयोरर्थप्रकाशनिरुपाधिकेष्टरूपाश्रयविशेषसापेक्षत्वाच्च। आकाशशब्दशब्दाश्रयशब्दयो-

अद्वैतसिद्धिः

श्चाङ्गीकर्तुमशक्यतया भेदप्रतिनिधेर्विशेषस्यापर्यायत्वाद्यर्थमवश्यं स्वीकार इति अर्थापत्तिरेव मानमिति—चेन्न, भेदे ऐकरस्यश्रुतिविरोधवद् अत्रापि तत्तादवस्थ्यात्। लक्ष्यार्थाभेदेऽपि वाच्यार्थभेदेनापर्यायत्वस्य व्यावर्त्यभेदादवैयर्थ्यस्य चान्यथैवोपपत्तेः। किंच तवापि ज्ञानानन्दत्वादिनिमित्तभेदादेवापर्यायत्वमस्तु, किं विशेषेण ? न च—'एवं धर्मा'निति श्रुत्या तयोरपि भेदनिषेधात् नैवमिति—वाच्यम्, तर्हि विशेषस्याप्याश्रितत्वेन धर्मतयाऽस्यापि भेदनिषेधात्तेनाप्यनुपपत्तिः। न च—ज्ञानत्वानन्दत्वयोरर्थप्रकाशत्वनिरुपाधिकेष्टत्वरूपयोरर्थप्रकाशनिरुपाधिकेष्टरूपाश्रयविशेष आवश्यक इति—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वाक्यों से बोधित विज्ञान और आनन्दादि का भेद या भेदाभेद मानने में अखण्डार्थकत्व तथा ''एकधैवानुद्रष्टव्यम्'' (बृह० उ० ४।४।२०) इस श्रुति का विरोध होता है, अतः वहाँ अपर्यायत्वादि की सुरक्षा के लिए हमारा भेद-प्रतिनिधिभूत विशेष पदार्थ अवश्य मानना होगा, उसको माने विना पर्यायत्वापत्ति से वचा नहीं जा सकता—यही विशेषार्थ-प्रमापक अर्थापत्ति प्रमाण है।

अद्वैतवादी—विज्ञान और आनन्दादि में भेद का विरोध करनेवाली एकरसता-प्रतिपादक ''एकधैवानुद्रष्टव्यम्''—यह श्रुति ही उक्त अर्थापत्ति की बाधिका है। अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति का परिहार अन्यथैवोपपत्ति से हो जाता है, विज्ञान और आनन्दादि में पर्यायत्वापत्ति और अन्यतर पद-वैयर्थ्यापत्ति अन्यथा (भेद माने विना) ही वाच्यार्थ-भेद और व्यावर्त्य-भेद के द्वारा परिहृत हो जाती है। आप (माध्व) के मत में भी ज्ञानत्व और आनन्दत्वादिरूप शक्यतावच्छेदक के भेद से ही अपर्यायत्व उपपन्न हो जाता है, उसके लिए भेद या उसके प्रतिनिधिरूप विशेष पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता ? यदि ''एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविनश्यति'' (कठो० ४।१४) इस श्रुति के द्वारा ज्ञानत्व और आनन्दत्व के भेद का निषेध हो जाने के कारण उनके द्वारा पर्यायत्वापत्ति का परिहार नहीं हो सकता, तब विशेष पदार्थ को मानकर भी उस आपत्ति से नहीं बच सकते, क्योंकि विशेष पदार्थ भी तो आश्रित होने से धर्म ही है, उसके भेद का भी निरास उक्त श्रुति से ही हो जाता है।

शङ्का—ज्ञानत्व और आनन्दत्व भी एक आश्रय में नहीं रह सकते, क्योंकि अर्थप्रकाशत्वरूप ज्ञानत्व को अर्थप्रकाशरूप आश्रय-विशेष और निरुपाधिक (अन्येच्छानधीन) इच्छा का विषयत्वरूप आनन्दत्व निरुपाधिकेष्टरूप आश्रय-विशेष की अपेक्षा करता है।

समाधान—वृत्तिरूप कल्पित अनेक ज्ञानादि व्यक्तियों में रहने के कारण

न्यायामृतम्

र्निमित्तभेदाभावेन पर्यायत्वापाताच्च। न ह्याकाशशब्दस्य शब्दाश्रयत्वादन्यन्निमित्तमस्ति । ज्ञानानन्दयोरेकतरपरिशेषे च मोक्षे आनन्दप्रकाशो न स्यात्। तस्माद्विज्ञानानन्दादेरैक्यश्रुतिबलादभेद इत्येकतरापरिशेषाद्यर्थं विशेषोऽप्यंगीकार्यः। एवं तत्त्वमसीत्यत्र शोधितात्तत्पदार्थाद् वाक्यार्थस्यैक्यस्य न तावत्परमते भेदो भेदाभेदो वा, ऐक्यस्य मिथ्यात्वाद्यापत्तेः। तत्र विशेषोऽपि न चेत् कथं स्वप्रकाशचैतन्यप्रकाशेऽप्यैक्यस्याप्रकाशः? तत्प्रकाशस्य भेदभ्रमाविरोधित्वेऽप्यैक्यप्रकाशस्य तद्विरोधः? तस्य निरपेक्षत्वेऽप्यैक्यस्य सापेक्षत्वमित्यादि ? न चाविद्यावरणादैक्यस्या-

अद्वैतसिद्धिः

वाच्यम्, ज्ञानत्वानन्दत्वयोर्जातिरूपत्वेन उक्तरूपत्वाभावात्। न च– आकाशशब्दाश्रयशब्दयोः प्रवृत्तिनिमित्ताभेदेन पर्यायत्वापत्तिः, तत्परिहाराय विशेषो वाच्य इति– वाच्यम्, पर्यायत्वेऽपि सहप्रयोगस्य व्याख्यानव्याख्येयभावादिनाप्युपपत्तेः। न च– एवं ज्ञानानन्दयोरेकतरपरिशेषेण मोक्षे आनन्दप्रकाशो न स्यादिति– वाच्यम्, तयोर्भेदाभावेन एकतरत्वस्यैवाभावात्, द्वयोर्वचने तरब्विधानात्। एतेन– शोधिततत्पदार्थादैक्यस्य न भेदः, नापि भेदाभेदौ, किंत्वत्यन्ताभेदः, एवं च विशेषानङ्गीकारे स्वप्रकाशचैतन्यभाने ऐक्याभानापत्तिः, तत्प्रकाशस्य भेदभ्रमाविरोधित्वेऽप्यैक्यप्रका-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ज्ञानत्वादि को जातिरूप माना जाता है, प्रकाशत्वादिरूप नहीं माना जाता।

शङ्का—'आकाश' शब्द और 'शब्दाश्रय' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त भिन्न न होने के कारण उनमें पर्यायवाचित्व प्रसक्त होता है पर्यायवाची शब्दों का सह प्रयोग नहीं होता, 'आकाशः शब्दाश्रयः'—ऐसा प्रयोग न हो सकेगा, अतः पर्यायत्वापत्ति का वारण करने के लिए 'विशेष' पदार्थ मानना होगा।

समाधान—'आकाशः' और 'शब्दाश्रयः'—इन दोनों पदों में पर्यायता होने पर भी उनका 'आकाशः शब्दाश्रयः'—इस प्रकार सह प्रयोग वैसे ही हो जाता है, जैसे 'पचनं पाकः'—इत्यादि विवरणार्थक पदों का सह प्रयोग होता है।

शङ्का—ज्ञान और आनन्द का स्वरूपतः अभेद है, तब मोक्ष अवस्था में ज्ञान और आनन्द में से अन्यतर (किसी एक) का ही परिशेष रह जाने के कारण आनन्द का प्रकाश (ज्ञान) नहीं होगा, अप्रकाशित (अज्ञात) सुख में पुरुषार्थत्व नहीं बनता।

समाधान—आनन्द और ज्ञान का भेद न होने के कारण मोक्ष अवस्था के आनन्द में जैसे उभयत्व नहीं कहा जा सकता, वैसे अन्यतरत्व भी नहीं कह सकते, क्योंकि "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" (पा० सू० ५।३।५७) इस सूत्र के द्वारा दो पदार्थों में से किसी एक की अतिशयता दिखाने के लिए 'तरप्' प्रत्यय का विधान किया जाता है, मोक्ष अवस्था में दो पदार्थों का पृथक् व्यक्तित्व न होने के कारण ज्ञान या आनन्द को एकतर पद से अभिहित नहीं किया जा सकता।

यह जो आक्षेप किया जाता है कि 'शोधित तत्पदार्थ (शुद्ध चैतन्य) से वाक्यार्थभूत ऐक्य का न तो भेद होता है और न भेदाभेद (अन्यथा ऐक्य में मिथ्यात्वापत्ति होती है), अतः तत्पदार्थ से ऐक्य का अत्यन्त अभेद ही माना जाता है। चैतन्य में यदि कोई विशेष पदार्थ नहीं रहता, तब चैतन्य का प्रकाश होने पर मोक्ष में ऐक्य का भी प्रकाश होना चाहिए, शुद्ध चैतन्य प्रकाश के भ्रमाविरोधी होने के कारण ऐक्य-प्रकाश को भी

न्यायामृतम्

प्रकाशः, विशेषाभावे अनावृतचिदभिन्नस्यैक्यस्यावरणायोगात् । न हि शुक्त्यज्ञानेन शुक्त्यंश एवावृतोऽनावृतश्च भवति । किं चैवं धर्मानि''ति श्रुतिबलादपि विशेषसिद्धिः । अत्र हि ब्रह्मणो धर्मानुक्त्वा तद्भेदो निषिध्यते । न च भेदप्रतिनिधेरभावे धर्मधर्मिभावो धर्माणामनेकत्वं च युक्तम् । न च धर्मानित्यनुवादः, श्रुतितोऽन्येन ब्रह्मधर्माप्राप्तेः । न चेयं श्रुतिरत्यन्तभेदनिषेधिका, भेदमात्रनिषेधात्तादृशभेदाभावस्य लोकत एव प्राप्यत्वाच्च । भेदाभेदौ च यः पश्येत्स याति तम एव चे'' त्यादि स्मृतेश्च । तदुक्तम्--

उक्त्वा धर्मान्पृथक्त्वस्य निषेधादेवमेव हि ।
विशेषो ज्ञायते श्रुत्या भेदादन्यश्च साक्षितः ॥ इति

अद्वैतसिद्धिः

शस्य तद्विरोधः, तस्य निरपेक्षत्वेऽपि ऐक्यस्य सापेक्षत्वं च नोपपद्यत इति—निरस्तम्, आवरकाज्ञानकल्पितांशमादाय सर्वस्योपपत्तेः । न च—एकस्या एव शुक्तेरावृतानावृतत्वे शुक्त्यंशभेद एव स्यादिति—वाच्यम्, तदंशकल्पकस्य फलस्याभावात् ।

ननु—'एवं धर्मा'निति श्रुतिरस्तु मानम्, अत्र हि ब्रह्मधर्मानुक्त्वा भेदो निषिध्यते । न च भेदप्रतिनिधेरभावे धर्मधर्मिभावो धर्माणामनेकत्वं च युक्तमिति—चेन्न,

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भ्रम-विरोधी नहीं होना चाहिए एवं चैतन्य तत्त्व के निरपेक्ष होने के कारण ऐक्य को भी निरपेक्ष होना चाहिए, सापेक्ष नहीं ।

वह आक्षेप भी इसी कारण निरस्त हो जाता है कि चैतन्य और आनन्द का तात्त्विक भेद न होने पर भी अनादि कल्पित भेद अवश्य माना जाता है, उसी आवरक भेद अंश के कारण चैतन्य का प्रकाश होने पर भी ऐक्य का अप्रकाश, चैतन्य के निरपेक्ष होने पर भी ऐक्य में सापेक्षत्व एवं चैतन्य प्रकाश के भ्रम-विरोधी न होने पर भी ऐक्य-प्रकाश में भ्रम-निवर्तकत्व उपपन्न हो जाता है ।

शङ्का—एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्म रह कर वस्तु के अंशों का भेद सिद्ध करते हैं, अत एव एक ही शुक्ति अपने चाकचिक्यरूप सामान्य अंश से ज्ञात और नीलपृष्ठत्वादि विशेष अंश से अज्ञात रह जाती है, क्योंकि उसकी दोनों अंशो का भेद होता है । एक ही चैतन्य तत्त्व चिदंश से प्रकाशित और ऐक्य अंश से अप्रकाशित तभी रह सकता है, जब कि चिदंश से ऐक्य अंश का भेद हो ।

समाधान—अंश-भेद वहीं माना जाता है, जहाँ अंश-भेद की फलभूत अनुभूति होती है, जैसे शुक्ति में 'चाकचिक्यरूपेण जानामि, नीलपृष्ठत्वेन न जानामि'—इस अनुभूति के आधार पर शुक्ति में अंश-भेद माना जाता है, किन्तु प्रकृत में 'चिदंशेन जानामि, एकत्वेन न जानामि'—ऐसी अनुभूति न होने के कारण चैतन्य तत्त्व में सांशत्व और अंश-भेद की कल्पना नहीं कर सकते ।

शङ्का—''एवं धर्मान् पृथक् पश्यन्'' (कठो० ४।१४) यह श्रुति चैतन्य तत्त्व में भी अंश-भेद की सिद्धि कर रही है, क्योंकि यह श्रुति स्पष्टरूप से चैतन्य के धर्मों का उल्लेख कर उनके भेद का निषेध कर रही है, अतः चैतन्य तत्त्व में भी भेद का प्रतिनिधिभूत विशेष पदार्थ मानना आवश्यक है, उसके विना धर्म-धर्मिभाव तथा धर्मों

न्यायामृतम्

किं च गुणगुण्याद्यभेदपक्षे पटोपलम्भेऽपि शौक्ल्याद्यनुपलम्भार्थं भेदाभेदपक्षेऽपि तयोरविरोधार्थमत्यन्तभेदपक्षेऽपि समवायः सम्बन्धः, सत्ता सती भेदो भिन्नः, अन्त्यविशेषो व्यावृत्तः, कालः सदास्ति, देशः सर्वत्रेत्यबाधितव्यवहारार्थं विशेषोऽङ्गीकार्यः। किं चाभावादावस्तित्वादिर्नाभावादितो भिन्नः, गुणादिष्वनन्तर्भावेन षट्पदार्थनियमभंगात्। अनियमपक्षेऽप्यस्तित्वेऽप्यस्तित्वान्तरमित्यनवस्थानात्। तत्र विशेषोऽपि न चेत्कथं विशेषणविशेष्यभावादि ? न च सत्ता सतीत्यादिधीर्भ्रान्तिः सन्घट इत्यादिवद् अबाधात्। नाप्युपचारः, देवदत्तः सिंहो नेतिवत् सत्ता सती नेति कदाप्यव्यवहारात्। ननु सत्तादेः सत्ताद्यन्तराभावेऽपि स्वभावविशेषादेव सद्व्यवहार

अद्वैतसिद्धिः

धर्मानित्यस्य निषेधानुवादत्वेन धर्मत्वानेकत्वादौ तात्पर्याभावात्। न च श्रुतितोऽन्यतो ब्रह्मधर्माः प्राप्ताः, आविद्यकमात्रस्य साक्षिसिद्धतया प्राप्तेः।

ननु—गुणगुणिनोरभेदपक्षे घटोपलम्भे शुक्लाद्यनुपलम्भार्थं भेदाभेदपक्षे तयोरविरोधार्थं अत्यन्तभेदपक्षेऽपि समवायः सम्बन्धः, सत्ता सती, अन्त्यविशेषो व्यावृत्तः, कालः सदास्ति, देशः सर्वत्रास्तीत्यबाधितव्यवहारार्थं विशेषोऽङ्गीकार्यः, अभावादावप्यस्तित्वादिर्नाभावादितो भिन्नः, गुणादिष्वनन्तर्भावेन षडेव पदार्था इति नियमभङ्गापत्तेः, अनियमपक्षेऽप्यस्तित्वेऽप्यस्तित्वान्तरमित्यनवस्थापत्तेः, तत्रापि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का अनेकत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

समाधान—उक्त श्रुति काल्पनिक धर्मों का 'धर्मान्'—इस पद से अनुवाद करके उनका निषेध कर रही है, अतः चैतन्यगत धर्मों के प्रतिपादन में उक्त श्रुति का तात्पर्य नहीं माना जा सकता।

शङ्का—उक्त श्रुति निषेध्यभूत धर्मों का अनुवाद तब कर सकती है, जब कि उन धर्मों की प्राप्ति प्रमाणान्तर से हो, किन्तु अन्य कोई ऐसा प्रमाण सुलभ नहीं, अगत्या इसी श्रुति वाक्य को ही धर्मों का विधायक और उनके भेद का निषेधक मानना होगा।

समाधान—प्रमाणतः प्राप्त पदार्थ का ही निषेध होता है—ऐसा आवश्यक नहीं, अपितु भ्रमतः प्राप्त आविद्यक वस्तु मात्र की सिद्धि साक्षी के द्वारा होती है और श्रुति के द्वारा उसका निषेध।

शङ्का—(१) गुण और गुणी के अभेद-पक्ष में घट का उपलम्भ होने पर भी घटात्मक शुक्लादि गुणों के अनुपलम्भ की उपपत्ति के लिए विशेष पदार्थ मानना होगा। (२) इसी प्रकार गुण और गुणी के भेदाभेद-पक्ष में भेद और अभेद के अविरोधित्व का उपपत्ति, (३) गुण और गुणी के अत्यन्त भेद-पक्ष में 'समवायः सम्बन्धः', 'सत्ता सती', 'अन्त्यविशेषो व्यावृत्तः', 'कालः सदास्ति', 'देशः सर्वत्रस्ति'—इत्यादि अबाधित व्यवहारों का निर्वाह करने के लिए हमारे विशेष पदार्थ का मानना अनिवार्य है। (४) 'अभावोऽस्ति'—इत्यादि व्यवहारों से सिद्ध अभावादिगत अस्तित्व को भी अभावादि अधिकरणों से भिन्न नहीं मान सकते, अन्यथा गुणादि में भी रहने के कारण अस्तित्व को गुणादि से भिन्न सप्तम भाव पदार्थ मानना होगा, तब 'षडेव भाव पदार्थाः'—यह नियम भङ्ग हो जाता है, जो लोग 'षडेव पदार्थाः'—ऐसा नियम नहीं

न्यायामृतम्

इति चेन्न, तस्यैव स्वभावविशेषस्यास्माभिर्विशेषशब्देनोक्तेः। समवायादिः स्वनिर्वाहक इति चेन्न, स्वस्य स्वयमेव निर्वाहकं स्वनिर्वाहकम्। विशेषाभावे च कथमेकस्यैव निर्वहणक्रियायां कर्तृत्वं कर्मत्वं च? अयमेव विशेषः वस्त्वभिन्नः स्वनिर्वाहक-

अद्वैतसिद्धिः

सोऽङ्गीकार्य इति—चेन्न, स्वभावविशेषादेव सर्वस्योपपत्तेः। न च—तर्हि विशेषस्याङ्गीकारेण मन्मतप्रवेश इति—वाच्यम्, तत्तदसाधारणस्वरूपस्यैव स्वभावविशेषशब्दार्थत्वेन त्वदुक्तविशेषानुक्तेः, तत्तदसाधारणरूपेण समवायादेः स्वनिर्वाहकत्वात्। अत एव—स्वनिर्वाहकत्वं हि स्वकर्मकनिर्वहणकर्तृत्वम्, तच्चैकस्मिन्विरुद्धमिति तदुपपादनायापि विशेषाङ्गीकार इति—निरस्तम्, स्वनिर्वाहकशब्दस्य स्वेतरानपेक्षव्यवहारविषयत्वमात्रार्थकत्वाद्, अन्यथा विशेषोऽप्यनवस्थाभिया वस्त्वभिन्न इति तवाङ्गीकारेण तद्दूषणापातात्, स्वरूपभेदपक्षोक्तैकतरपरिशेषादिदूषणतादवस्थ्यापत्तेश्च। न च—अन्त्यविशेषवदस्य धर्मिग्राहकमानेन तादृक्स्वभावतया सिद्धेः पर्यनुयोगायोग इति—वाच्यम्, दृष्टान्त इव दार्ष्टान्तिके स्वरूपातिरेकस्य त्वयैवानङ्गीकारेण

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मानते, उनके मत में भी अस्तित्वादिवृत्ति अस्तित्वदि-परम्परा मानने पर अनवस्थापत्ति होती है, इस अनवस्था का निवारक एक मात्र हमारा विशेष पदार्थ है, अतः उसको माने बिना और कोई गति नहीं।

समाधान—विशेष पदार्थ को मान कर भी यह प्रश्न उठ सकता है कि उस विशेष में ऐसी कौन-सी विशेषता है कि वह सभी विरोधों और सभी अनुपपत्तियों निराकरण की क्षमता रखता है? इस प्रश्न का एक मात्र उत्तर यही होगा कि इस (विशेष) का स्वभाव ही ऐसा है। तब स्वभाव तो प्रत्येक गुणादि वस्तु का ऐसा माना जा सकता है, जिससे सभी अनुपपत्तियों का निराकरण हो जाता है, विशेष पदार्थ की कल्पना व्यर्थ है। स्वभाव-विशेष को मान लेने से आप (माध्व) के विशेष पदार्थ की अभ्युपगमापत्ति नहीं होती, क्योंकि वस्तु का अपना असाधारण स्वरूप ही स्वभावविशेष है, जो कि आपके विशेष पदार्थ की परिभाषा में नहीं आता। समवायादि अपने असाधारण स्वरूप के कारण स्व-निर्वाहक होते हैं। यह जो कहा गया कि 'स्वनिर्वाहकत्व का अर्थ होता है—स्वकर्मक निर्वाह क्रिया का कर्तृत्व, ऐसा निर्वाहकत्व स्व में स्व का नहीं बन सकता, क्योंकि एक ही क्रिया के कर्मत्व और कर्तृत्व एक ही वस्तु में विरुद्ध पड़ जाते हैं, इस विरोध का निवारण करने के लिए विशेष पदार्थ को अवश्य मानना पड़ेगा।' वह कहना भी अत एव निरस्त हो जाता है कि 'स्वनिर्वाहक' शब्द का यहाँ अर्थ स्वेतरविशेषानपेक्षव्यवहारविषयत्वमात्र होता है, अन्यथा (विशेष पदार्थ के बिना स्वरूपभेद-पक्ष में पर्यायित्वापत्ति होने पर) आप जो यह मानते हैं कि विशेष पदार्थ को वस्तु से भिन्न मानने पर अनवस्था होती है, अतः विशेष पदार्थ आधार वस्तु से अभिन्न होता है, आप की उस मान्यता में भी 'घटादि' पद और 'विशेष' पद में पर्यायतापत्ति दोष होता है तथा स्वरूपभेद-पक्ष में कथित एकतर-परिशेषापत्ति भी तदवस्थ रहती है।

शङ्का—वैशेषिक-सम्मत अन्त्य विशेष पदार्थ के समान ही धर्मिग्राहक प्रमाण के द्वारा हमारा विशेष पदार्थ सर्वानुपपत्ति-वारक स्वभाव से सम्पन्न माना जाता है।

समाधान—दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का वैषम्य है, क्योंकि अन्त्य विशेष अपने

न्यायामृतम्

श्चेति नानवस्था तस्य तथात्वं च धर्मिग्राहकमानसिद्धम् । यत्र भेदाभावो भेदकार्यं च प्रमितं तत्रैव विशेषः कल्प्यत इति न प्रमितभेदे घटपटादौ विशेषमादाय भेदत्यागः । न हि सोमाभावे पूतीक इति तल्लाभेऽपि सः । एतेनोक्तस्थले भेद एवास्तु भेदकार्यार्थं न तु भेदप्रतिनिधिरस्त्विति निरस्तम् , तत्र भेदस्य बाधितत्वात् ।

अद्वैतसिद्धिः

वैषम्यात् । यत्तु यत्रैव भेदाभावो भेदकार्यं च प्रमितं, तत्रैव विशेषः कल्प्यते, न तु प्रमितभेदे घटपटादौ विशेषमादाय भेदत्यागः, न हि सोमाभावे पूतीक इति तल्लाभेऽपि स इति, तन्न, मुख्यत्वनियामकस्य तत्रैवात्राभावाद् विशेषभेदयोरुभयोरपि स्वरूपपर्यवसन्नत्वेन त्वद्वाग्भङ्गेरनवकाशात् । किंच भेदः स्वयमेव स्वकार्यं करोतु, अभेदकार्यार्थं तत्प्रतिनिधिरस्त्वित्याद्यापत्तेश्च । न चानन्दादावभेदवद् भेदस्य बोधाभावः, अलौकिकस्थले द्वयोः साम्यात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

आधार से भिन्न माना जाता है, किन्तु आप अपने विशेष पदार्थ को धर्मी से अतिरिक्त अङ्गीकृत नहीं करते ।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि जहाँ भेद का अभाव निश्चित है, किन्तु भेद का कार्य प्रमित होता है, वहाँ ही भेद के प्रतिनिधिभूत विशेष पदार्थ की कल्पना की जातो है, जहाँ पर भेद प्रमित है, ऐसे घट-पटादि-स्थल पर भेद का त्याग कर विशेष की कल्पना नहीं की जाती, क्योंकि सोमयाग में सोमलता के सुलभ न होने पर ही 'पूतीक' नाम की लता का ग्रहण किया जाता है—"यदि सोमं न विन्देत् पूतीकानभिषुणुयात्" (शाबर० ६।३।१४) । इस का अर्थ यह कदापि नहीं कि सोमरूप प्रधान द्रव्य का लाभ होने पर भी प्रतिनिधिभूत पूतीक से अनुष्ठान सम्पन्न किया जाय । फलतः जैसे सोम के सुलभ होने पर सोम और सुलभ न होने पर पूतीक रूप प्रतिनिधि का उपादान होता है, वैसे ही प्रकृत में भेदरूप प्रधान पदार्थ के सद्भाव में भेद से ही व्यवहार का सम्पादन होगा और भेद के बाधित होने पर भेद के कार्य का निर्वाह भेद के प्रतिनिधिभूत विशेष पदार्थ से किया जाना उचित है ।

न्यायामृतकार का वह कहना संगत नहीं, क्योंकि जैसे सोम और पूतीक का प्रधान-गुणभाव प्रमाण-सिद्ध है, वैसे भेद और विशेष के गुण-प्रधान भाव का कोई नियामक नहीं । विचार करने पर विशेष पदार्थ और भेद में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दोनों का वस्तु के स्वरूप में पर्यवसान् हो जाता है, केवल भिन्न वाग्भङ्गी (शब्द-प्रयोग) मात्र से किसी वस्तु का भेद सिद्ध नहीं होता । दूसरी बात यह भी है कि भेद तो अपना काम आप ही करे और अभेद के कार्य का सम्पादन करने के लिए अभेद का प्रतिनिधिरूप विशेष पदार्थ क्यों न मान लिया जाय ? यदि कहा जाय कि ज्ञान और आनन्दादि में अभेद के समान भेद की प्रतीति ही नहीं होती, अतः वहाँ भेद नहीं माना जा सकता, परिशेषतः भेद का प्रतिनिधिभूत विशेष पदार्थ ही मानना होगा, जो पर्यायतापत्ति और अन्यतर-शेषतापत्ति का निवारण करेगा । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'सत्यं ज्ञानम्', 'आनन्दो ब्रह्म'—इत्यादि अलौकि स्थल पर भेद और उसके प्रतिनिधिभूत विशेष पदार्थ—इन दोनों की समान स्थिति है, अर्थात् वहाँ न तो भेद की कल्पना की जा सकती हैं और न भेद के प्रतिनिधि विशेष पदार्थ की ।

न्यायामृतम्

एवं च (१)ब्रह्मस्वरूपभूतयोर्विज्ञानानन्दयोर्ब्रह्मभेदयोश्च एकतरपरिशेषाभावः, प्रमेयत्वादेः स्वाश्रितत्वादिकं वा भेदान्यनियम्यम्, भेदानियम्यत्वे सति नियम्यत्वाद्, यद्यदनियम्यत्वे सति नियम्यं तत्तदन्यनियम्यं यथा सम्मतम्। (२) ब्रह्मस्वरूपभूतं विज्ञानानन्दादिकं वा भेदान्यैकतरापरिशेषनिर्वाहकवद् भेदहीनत्वे सत्येकेतरापरिशेषरूपनिर्वाह्यवत्त्वात्। यद्यद्धीनत्वे सति यन्निर्वाह्यवत् तत्तदन्यनिर्वाहकवद्, यथा सम्मतम्। (३) स्वाश्रितं प्रमेयत्वादिकं वा भेदान्याश्रयाश्रयिभावनिर्वाहकवद्, भेदहीनत्वे सत्याश्रयाश्रयिभावरूपनिर्वाह्यवत्त्वात्, यद्यद्धीनत्वे सति यन्निर्वाह्यवत् तत्तदन्यनिर्वाहकवद्, यथा सम्मतमित्यदिप्रयोगो द्रष्टव्यः।

किं चायं विशेषः प्रत्यक्षसिद्धः। तथा हि—तन्तुपटादिबुद्धीनां भिन्नघटपटादि-

---

अद्वैतसिद्धिः

ननु—अनुमानमत्र मानम्, तथा हि—(१) ब्रह्मस्वरूपभूतयोर्विज्ञानानन्दयोर्ब्रह्माभेदयोश्च एकतरपरिशेषाभावः, प्रमेयत्वादेः स्वाश्रितत्वादिकं वा भेदान्यनियम्यम्, भेदानियम्यत्वे सति नियम्यत्वाद्, यद् यदनियम्यत्वे सति नियम्यम्, तत् तदन्यनियम्यम्, यथा संमतम्। (२) ब्रह्मस्वरूपभूतं विज्ञानानन्दादिकं वा, भेदान्यैकतरापरिशेषनिर्वाहकवद्, भेदहीनत्वे सति एकतरापरिशेषरूपनिर्वाह्यवत्त्वात्, यद्येन हीनत्वे सति यन्निर्वाह्यवद्, तत्तदन्यनिर्वाहकवद्, यथा संमतम्। (३) स्वाश्रितं प्रमेयत्वादिकं वा, भेदान्याश्रयाश्रयिभावनिर्वाहकवद्, भेदहीनत्वे सत्याश्रयाश्रयिभावरूपनिर्वाह्यवत्त्वाद्, यथा संमतमित्यादिकमिति चेन्न, त्वदभिमतविशेषादन्यस्यैवाविद्यादेः सर्वत्र नियामकत्वसंभवेनार्थान्तराद्, आविद्यकभेदनियम्यत्वेन बाधादसिद्धेश्च।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—विशेष पदार्थ की सिद्धि में अनुमान प्रमाण भी है—(१) ब्रह्मस्वरूपभूत विज्ञान और आनन्द की या ब्रह्म और तन्निष्ठ अभेद की एकतर-परिशेषता का जो अभाव है, वह अथवा प्रमेयत्वादि में जो आत्माश्रितत्व है, वह भेद से अन्य (किसी विशेष) पदार्थ के द्वारा प्रयोज्य होता है, क्योंकि भेद से अप्रयोज्य होकर प्रयोज्य है, जो पदार्थ जिस वस्तु से प्रयोज्य न होकर प्रयोज्य होता है, वह उस वस्तु से भिन्न किसी पदार्थ के द्वारा प्रयोज्य होता है, जैसे यागादि से अप्रयोज्य और प्रयोज्यस्वभावक स्वर्गादि याग से भिन्न अदृष्टादि के द्वारा सम्पादित होता है। अथवा (२) ब्रह्मस्वरूपभूत विज्ञान और आनन्दादि पदार्थ भेद से भिन्न किसी एकतरापरिशेषता-निर्वाहक (विशेष) पदार्थ से युक्त होते हैं, क्योंकि भेद से रहित होते हुए भी एकतरापरिशेषतारूप निर्वाह्य के आश्रय हैं, जो जिससे रहित होकर जिस निर्वाह्य का आश्रय होता है, वह उससे भिन्न किसी निर्वाहक का आश्रय होता है, जैसे अदाहकत्वरूप निर्वाह्य धर्म से युक्त अग्नि अपने से भिन्न किसी प्रतिबन्धकरूपनिर्वाहक से युक्त होती है। अथवा (३) स्वाश्रितप्रमेयत्वादि, भेद से अन्य किसी आत्माश्रयत्व निर्वाहक पदार्थ (विशेष) के आश्रय होते हैं, क्योंकि भेद से रहित हो कर आत्माश्रयत्वरूप निर्वाह्य के आश्रय हैं, जैसे कि उभय-सम्मत पदार्थ।

अद्वैती—आपके मनोनीत विशेष पदार्थ से अन्य अविद्यादि को सर्वत्र नियामक मान लेने से अर्थान्तरता एवं आविद्यक नियम्य और नियामक के मोक्षावस्था में न होने से बाध एवं असिद्धि दोष से युक्त भी उक्त अनुमान हैं।

न्यायामृतम्

बुद्धितो वैलक्षण्यं तावदनुभूयते। तच्च न तावत्सम्बन्धविषयत्वेन कुण्डबदरादिबुद्धितोऽपि वैलक्षण्यानुभवात्। नापि संयोगान्यसम्बन्धविषयत्वेन, पटतदज्ञानतदभावबुद्धितोऽपि वैलक्षण्यानुभवात्। नापि स्वरूपप्रत्यासत्तिसंयोगान्यसम्बन्धविषयत्वेन, घटतद्धर्मिकान्योन्याभावादिबुद्धेः घटपटादिबुद्धितो वैलक्षण्याभावापातात्। नाप्ययुतसिद्धिविषयत्वेन, आश्रयाश्रयिभावनियमो ह्ययुतसिद्धिः, तत्र तदानींतनाश्रयाश्रयिभावः कुण्डबदरादिबुद्धावपि भाति नियमस्तु न तन्तुपटादिबुद्धावपि, न हि प्रत्यक्षा तन्तुपटादिधीः तन्तुपटसम्बन्धनाशो वा तन्तुपटविभागो वा न भविष्यतीत्याकारा। नापि कुण्डबदरादिधीस्तयोः सम्बन्धनाशो वा कुण्डबदरविभागो वा भविष्यतीत्याकारा। नापि समवायिविषयत्वेन, उक्तरीत्या सम्बन्धनित्यत्वस्य वा सम्बन्ध्ययुत-

अद्वैतसिद्धिः

ननु—तथापि प्रत्यक्षमत्र मानम्, तथा हि—तन्तुपटादिबुद्धीनां भिन्नघटादिबुद्धितो वैलक्षण्यं तावदनुभूयते, तच्च न तावत्संबन्धविषयत्वेन, कुण्डबदरादिबुद्धितो वैलक्षण्यानुभवात्। नापि संयोगान्यसंबन्धविषयत्वेन, घटतज्ज्ञानतदभावबुद्धितोऽपि वैलक्षण्यानुभवात्। नापि स्वरूपप्रत्यासत्तिसंयोगान्यसंबन्धविषयत्वेन, घटतद्धर्मिकान्योन्याभावबुद्धेर्घटपटादिबुद्धितो वैलक्षण्याभावापातात्। नाप्ययुतसिद्धिविषयत्वेन, आश्रयाश्रयिभावनियमो ह्ययुतसिद्धिः, तत्र च तदानींतन आश्रयाश्रयिभावः कुण्डबदरादावपि भाति, नियमस्तु न तन्तुपटादिबुद्धावपि, न हि तन्तुपटादिधीः प्रत्यक्षा, अनयोः सम्बन्धनाशो वा, विभागो वा, न भविष्यतीत्याकारा, न वा कुण्डबदरादिधीस्तयोः सम्बन्धनाशो वा, विभागो वा, भविष्यतीत्याकारिका। नापि समवाय-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैती—विशेष पदार्थ की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से भी होती है—'तन्तुः पटः' इत्यादि ज्ञानों में 'पटाद् भिन्नो घट :'—इस प्रकार के ज्ञान से जो वैलक्षण्य अनुभूत होता है, वह केवल सम्बन्धविषयकत्व के कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'इह कुण्डे बदराणि—इस प्रकार के सम्बन्धविषयक ज्ञान से भी उसमें वैलक्षण्य अनुभूत होता है। 'तन्तुः पटः'—यह बुद्धि संयोगान्यसम्बन्ध को विषय करने के कारण संयोगविषयक कुण्डबदर-बुद्धि से विलक्षण है—यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'घटस्य ज्ञानम्', 'घटस्याभावः'—इस प्रकार की संयोगान्यविषयिणी बुद्धि से भी उसका वैलक्षण्य प्रतीत होता है। स्वरूपप्रत्यासत्ति और संयोग से अन्य (समवाय) सम्बन्ध को विषय करने कारण भी उक्त बुद्धि में वैलक्षण्य का निर्वाह नहीं किया जा सकता, क्योंकि वैसा मानने पर 'घटः पटो न'—इस प्रकार के ज्ञान में 'घटपटौ'—इस प्रकार के ज्ञान से वैलक्षण्य नहीं होना चाहिए। तन्तुः पटः'—यह ज्ञान तन्तु और पटरूप अयुतसिद्ध पदार्थों को विषय करने के कारण अन्य ज्ञानों से विलक्षण है—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि आश्रयाश्रयिभाव का नियम ही अयुत सिद्धि कहलाता है, यदि वर्तमान आश्रयाश्रयिभाव मात्र लिया जाता है, तब वह कुण्डे-बदराणि'—इस ज्ञान में भी है। सम्बन्ध का नियम तो तन्तु-पटादि में भी सम्भव नहीं क्योंकि तन्तु-पटादि का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं अर्थात् तन्तु और पट में 'अनयोः सम्बन्धस्य नाशो, अनयोर्विभागो न भविष्यति—इस प्रकार के ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता कि सम्बन्ध-नियम का प्रत्यक्षतः ग्रहण हो जाता। इसी प्रकार कुण्ड-बदरादि स्थल पर भी अनयोः सम्बन्धनाशो वा विभागो वा भविष्यति'—इस प्रकार

न्यायामृतम्

सिद्धत्वस्य वा तत्राऽस्फुरणात्। तस्मादभेदविषयत्वेनैव वैलक्षण्यं वाच्यम्। अयं घटः गजाश्वादिरेव सेना पत्रमेव ताटङ्कमित्यादौ पुरोवर्त्यादिना घटादेरिव आतानवितानात्मकाः तन्तवः पटः शुक्लः पट इत्यादावपि तन्त्वादिना पटस्याभेदप्रतीतेः। न चात्र पटत्वशुक्लत्वयोरेकस्थत्वमेव भातीति वाच्यम्। पटशुक्लयोरैक्यस्यापि तत्रान्तर्गतेः। अन्यथा क्वाप्यभेदो न सिद्ध्येत् घटः पटो नेति धीश्च भेदविषया न स्यात्। दण्डी चैत्र इत्यत्रापि दण्डिना चैत्रस्याऽभेदो भात्येव। न च शुक्लः पट इत्यत्र शुक्लवानेव शुक्लपदार्थ इति वाच्यम्। शुक्लरूपमित्यत्र यच्छुक्लन्तस्यैवेह प्रतीतेः। अन्यथेहापि शुक्ली-पट इतिधीः स्यात्। मतुब्लोपादिकल्पनं तु व्यवहारे न तु प्रतीतौ। पटस्य शौक्ल्यं रूपी

अद्वैतसिद्धिः

विषयत्वेन, उक्तन्यायेन सम्बन्धनित्यत्वस्य सम्बन्ध्ययुतसिद्धत्वस्य वा तत्रास्फुरणात्। तस्मादभेदविषयत्वेनैव वैलक्षण्यं वाच्यम्, अयं घटः, गजादिकं सेना, पत्रमेव ताटङ्क इत्यादौ पुरोवर्तिना घटादेरिवातानवितानात्मकास्तन्तव एव पटः, शुक्लः पट इत्यादावपि तन्त्वादिना पटस्याभेदप्रतीतेः। न च–अत्र पटत्वशुक्लत्वयोरेकस्थत्वमेव भातीति–वाच्यम्, पटशुक्लयोरैक्यस्यापि तत्रान्तर्गतेः, अन्यथा क्वाप्यभेदो न स्यात्। 'घटः पटो' नेति धीश्च भेदविषया न स्यात्। 'दण्डी चैत्र' इत्यादावपि दण्डिना चैत्रस्याभेदो भात्येव। न च-शुक्लः पट इत्यत्र शुक्लवानेव इति प्रतीयत इति—वाच्यम्, शुक्लं रूपमित्यत्र यत् शुक्लं तस्यैवेह प्रतीतेः। अन्यथेहापि दण्डीतिवत् शुक्लीति स्यात्। मतुब्लोपादिकल्पनं शब्दविषयकव्यवहारे, न तु प्रतीतौ। पटस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं होता। तन्तु-पट बुद्धि' समवायविषयक होने के कारण भी ज्ञानान्तर से विलक्षण नहीं कही जा सकती, क्योंकि 'नित्यः सम्बन्धः समवायः' अथवा 'अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः'—यही तो समवाय का लक्षण है, किन्तु 'तन्तुः पटः'—इस ज्ञान में सम्बन्धगत नित्यत्व या अयुतसिद्धसम्बन्धत्व का भान नहीं होता, अतः समवायविषयकत्वेन भी उक्त ज्ञान में वैलक्षण्य का निर्वाह नहीं हो सकता परिशेषतः कारण और कार्य के अभेद को विषय करने के कारण 'तन्तुः पटः'—यह ज्ञान अन्य ज्ञानों से विलक्षण है—यही मानना होगा, क्योंकि 'अयं घटः' 'गजादिकं सेना', 'पत्रमेव ताटङ्कः—इत्यादि स्थलों पर पुरोवर्ती द्रव्य के साथ घटादि का जैसे अभेद प्रतीत होता है, वैसे ही आतान-वितानात्मक तन्तु हो पट का रूप धारण कर लेते हैं। शुक्लः (तन्तुः) पटः'—इत्यादि स्थल पर भी तन्त्वादि के साथ पट का अभेद प्रतीत होता है। यदि कहा जाय कि 'शुक्लः पटः'—में पटत्व और शुक्लत्व का सामानाधिकरण्यमात्र प्रतीत होता है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि पट और शुक्ल द्रव्य की एकता भी उसी प्रतीति के अन्तर्गत है, अन्यथा कहीं पर भी अभेद की प्रतीति न हो सकेगी और 'घटः पटो न'—यह ज्ञान भेदविषयक भी न हो सकेगा। 'दण्डी चैत्रः'—इत्यादि स्थल पर भी दण्डी के साथ चैत्र का अभेद ही प्रतीत होता है। 'शुक्लः पटः—यहाँ 'शुक्लवान् पटः'—यही प्रतीत होता है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'शुक्लं रूपम्'—यहाँ प्रतीयमान शुक्ल गुण का 'शुक्लः पटः'—में भान हो रहा है, अन्यथा दण्डी के समान ही यहाँ पर भी शुक्ली पटः—ऐसा ही वाक्य होना चाहिए। 'शुक्लः पटः'—यहाँ भी शुक्ल पदोत्तर 'मतुप्' प्रत्यय का लोप हो गया है—ऐसी कल्पना

न्यायामृतम्

पट इत्यादिधीस्तु सम्बन्धविषया, न तु भेदविषया, सत्ता सतीत्यादिवत् भेदाभावेऽप्युपपन्ना। पटस्य तन्त्वन्यत्वे च गुरुत्वद्वयं स्यात् तन्तुयुक्ते भूतले पटवृत्तिश्च न स्यात्। मूर्तानां सामानाधिकरण्यायोगात्। व्यवहारार्थक्रियाभेदादि तु पत्रताटंकादिवदित्युक्तम्। तस्मात्तन्तुपटादिबुद्धिरभेदविषयैव। यदि चेयं केवलाभेदविषया, तर्हि समानाधिकरणं व्यवहारं न जनयेद्, घटः कलश इत्यव्यवहारात्। तेन ज्ञायते अधिकोऽप्यस्या विषयोऽस्तीति। न चायं भेदः पटो न शुक्ल इत्युल्लेखापातात्। भेदाभेदाविरोधाय विशेषस्यावश्यकत्वाच्च। तस्माद्योऽधिको विषयः, स एव विशेष इति सिद्धं विशेषस्य प्रत्यक्षत्वम्। तदुक्तम्—"येन प्रत्यक्षसिद्धेन व्यवहारोऽखिलो भवेदि"ति। "अभेदेऽपि विशेषोऽस्ति व्यवहारस्ततो भवेदि"ति स्मृतिसिद्धश्च विशेषः। तस्माद्भेदस्य वस्तुना सविशेषाभिन्नत्वान्न कोऽपि दोष इति।

विशेषसमर्थनम् ॥ १७ ॥

अद्वैतसिद्धिः

शौक्ल्यमित्यादिधीर्न भेदविषया, किंतु संबन्धविषया सती सत्तेत्यादिवद् भेदाभावेऽपि उपपन्ना च। पटस्य तन्त्वन्यत्वे च गुरुत्वद्वयापत्तिः। तन्तुमति पटवृत्तिश्च न स्यात्, मूर्तानां समानदेशताविरोधात्। व्यवहारार्थक्रियाभेदादिकं तु पत्रताटङ्कादिवद्युक्तम्। तस्मात्तन्तुपटादिबुद्धिरभेदविषयैव। यदि चैवं केवलाभेदविषया, तर्हि सामानाधिकरण्यव्यवहारं न जनयेत्, घटः कलश इत्याद्यव्यवपारात्। तेन ज्ञायते अधिकोऽप्यस्य विषयोऽस्ति। न चायं भेदः, घटः न शुक्ल इत्युल्लेखापातात्, भेदाभेदा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शब्दात्मक व्यवहार में ही हो सकती है, ज्ञानात्मक व्यवहार में नहीं, 'पटस्य शौक्ल्यम्'—यह ज्ञान भेदविषयक नहीं, किन्तु 'सत्ता सती'—इत्यादि के समान सम्बन्धविषयक होने से विषयवस्तु का भेद न होने पर भी उपपन्न हो जाता है। पट को तन्तुओं से भिन्न मानने पर तन्तुओं के गुरुत्व की अपेक्षा पट का गुरुत्व भिन्न प्रतीत होना चाहिए एवं तन्तुओं से भिन्न होने पर पट के लिए एक यह भी समस्या खड़ी हो जाती है कि जहाँ (भूतलादि में) तन्तु रहते हैं, वहाँ उसका रहना सम्भव नहीं, क्योंकि तन्तु भी मूर्त पदार्थ हैं और पट भी दो मूर्त पदार्थ एक ही समय एक आधार में नहीं रह सकते, अतः तन्तुरूप ही पट है—ऐसा सांख्याभिमत अभेदपक्ष ही अपनाना होगा। अभेद होने पर भी 'इमे तन्तवः', 'अयं पटः'—इस प्रकार का व्यवहार-भेद एवं पट में आवरकत्व और तन्तु में उसका अभाव—इस प्रकार प्रयोजन-भेद वैसे ही निभ जाता है, जैसे पत्र और ताटङ्क (ताड़पत्र या सुवर्ण-पत्र से रचित झूमर) का अभेद होने पर भी व्यवहार-भेदादि हो जाता है, वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है—"स्वात्मनि क्रियानिरोधबुद्धिव्यपदेशार्थक्रियाभेदाश्च नैकान्तिकं भेदं साधयितुमर्हन्ति, एकस्मिन्नपि तत्तद्विशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामेतेषामविरोधाव" (सां० त० कौ० पृ० ४४)। अतः 'तन्तुः पटः'—इस ज्ञान को अभेदविषयक ही मानना होगा। यदि यह ज्ञान केवल अभेदविषयक है, तब 'तन्तुः पटः'—इस प्रकार का सामानाधिकरण्य-व्यवहार वैसे ही नहीं होना चाहिए, जैसे 'घटः कलशः'—ऐसा व्यवहार नहीं होता, इससे यह जाना जाता है कि इस ज्ञान का अभेद से कुछ अधिक भी विषय है। वह अधिक विषय भेद नहीं हो सकता, अन्यथा 'पटः शुक्लः' के स्थान पर 'पटो न शुक्लः'—ऐसा प्रयोग होना चाहिए एवं भेद और अभेद के विरोध का

अद्वैतसिद्धिः

विरोधाय विशेषस्यावश्यकत्वाच्च। तस्माद्योऽधिको विषयः, स विशेष इति—चेन्न, सत्यप्यभेदे काल्पनिकभेदमादाय तथा व्यवहारोपपत्त्या विशेषस्यासिद्धेः। न च पटो न शुक्लः इति प्रतीत्यापत्तिः, फलबलेन काल्पनिकभेदस्य सामानाधिकरण्यादि-व्यवहारमात्रनिर्वाहकत्वकल्पनेन विपरीतोल्लेखनं प्रत्यहेतुत्वात्।

तस्मादेवं विशेषोऽयं न मानविषयः सखे।
विषादं जहि मत्सिद्धाविद्यया सर्वसङ्गतिः॥

इत्यद्वैतसिद्धौ विशेषखण्डनम्॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

परिहार करने के लिए विशेष पदार्थ का मानना परम आवश्यक है। फलतः जो वहाँ अधिक विषय प्रतीत होता है, वह 'विशेष' पदार्थ ही है। इस प्रकार 'तन्तुः पटः'—इस प्रकार के प्रत्यक्ष प्रमाण से विशेष पदार्थ की सिद्धि होती है।

अद्वैतवादी—तन्तु और पट का अभेद होने पर भी काल्पनिक भेद को लेकर सामानाधिकरण्यादि व्यवहार सम्पन्न हो जाता है, विशेष पदार्थ के मानने की कोई आवश्यकता नहीं। काल्पनिक भेद मानने पर भी 'पटो न शुक्लः'—ऐसी प्रतीति की आपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि नैमित्तिक कार्य या फलोपलम्भ के आधार पर ही निमित्त की कल्पना की जाती है, अतः काल्पनिक भेद केवल 'तन्तुः पटः'—इस प्रकार के सामानाधिकरण्यादि व्यवहारमात्र का निर्वाहक माना जाता है, 'पटो न शुक्लः'—इस प्रकार के विपरीत उल्लेख के प्रति उस भेद को हेतु नहीं माना जा सकता। इस लिए मित्रवर! (व्यासजी!) आप का यह विशेष पदार्थ किसी प्रमाण का विषय नहीं होता। 'उसके बिना भेदाभेदादि का संगति-स्थापन कैसे होगा? ऐसा विषाद मत कीजिए, क्योंकि अद्वैतमत-सिद्ध अविद्या के द्वारा सर्वत्र सङ्गति की स्थापना हो जाती है।

: १८ :

भेदपञ्चके प्रत्यक्षप्रमाणविचारः

न्यायामृतम्

ननु तथापि न तावज्जीवेश्वरभेदे प्रत्यक्षं मानम्, ईश्वरस्याप्रत्यक्षत्वेन तद्धर्मिकस्य तत्प्रतियोगिकस्य वा भेदस्याप्रत्यक्षत्वादिति चेद्,

उच्यते—प्रत्यक्षं तावत् जीवस्य ब्रह्मताभेदे प्रमाणम्, घटः पटो नेतिवन्नाहं सर्वज्ञः नाहं निर्दुःख इत्यनुभवात्। न च ब्रह्मणोऽप्रत्यक्षत्वात्ततो भेदोऽप्यप्रत्यक्षः। यत्र हि यत्सत्त्वमनुपलब्धिविरोधि, तत्र तदभावः प्रत्यक्षः, न तु प्रतियोगिप्रत्यक्षत्वं अभावप्रत्यक्षत्वे तन्त्रम्, जलपरमाणो पृथिवीत्वाभावस्य प्रत्यक्षत्वापातात्। स्तम्भः पिशाचो न भवति, घटः परमाणुर्न भवतीति प्रत्यक्षप्रतीतेश्च। प्रतीत्यनुसारेण च प्रयोजकं

अद्वैतसिद्धिः

एवं प्रत्यक्षतः प्राप्तभेदस्यैव निवारणात्।
असाक्षात्कृतजीवेशभेदादौ का कथा तव॥

तथा हि—ईश्वरस्याप्रत्यक्षत्वेन तद्धर्मिकस्य तत्प्रतियोगिकस्य वा भेदस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्। ननु—ईशधर्मिकभेदस्य जीवाप्रत्यक्षत्वेऽपि स्वधर्मिकभेदः तथापि तत्प्रक्षः, 'नाहं सर्वज्ञो नाहं निर्दुःख' इत्याद्यनुभवात्। न च—योग्यप्रतियोगिकत्वमभावयोग्यत्वे प्रयोजकमिति—वाच्यम्, स्तम्भः पिशाचो नेत्यादिप्रत्यक्षरूपफलबलेन संसर्गाभावे तथात्वेऽपि अन्योन्याभावे अधिकरणयोग्यताया एव तन्त्रत्वात्। वस्तुतस्तु—संसर्गाभावेऽपि न तन्मात्रं योग्यता, जलपरमाणौ योग्यपृथिवीत्वाभावग्रहप्रसङ्गात्, किंतु यत्र यत्सत्त्वमनुपलब्धिविरोधि, तत्र तस्याभावो योग्य इति अधिकरणनियतैव सर्वाभावसाधारणी योग्यता। सा च प्रकृतेऽप्यस्त्येव, अन्यथा अभेदश्रुतेर-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रत्यक्ष भेद का ही जब निराकरण हो गया, तब जीव और ईश्वरादि के अप्रत्यक्ष भेदों की बात ही क्या है? क्योंकि ईश्वर अप्रत्यक्ष है, अतः ईश्वरानुयोगिक अथवा ईश्वरप्रतियोगिक भेद का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

शङ्का—भेद के प्रत्यक्ष में अनुयोगी की प्रत्यक्ष-योग्यता ही अपेक्षित होती है, अतः ईश्वरानुयोगिक जीव-भेद का प्रत्यक्ष तो जीव को नहीं हो सकता, क्योंकि अनुयोगीभूत ईश्वर अप्रत्यक्ष है, किन्तु जीवानुयोगिक ईश्वरप्रतियोगिक भेद का प्रत्यक्ष तो जोव को हो ही जाता है, क्योंकि जीव का यह अपना अनुभव है कि 'मैं सर्वज्ञ (ईश्वर) नहीं हूँ', 'मैं दुःख-रहित (ईश्वर) नहीं हूँ।' प्रतियोगी की प्रत्यक्ष-योग्यता को अभावमात्र के प्रत्यक्ष में प्रयोजक नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'स्तम्भः पिशाचो न भवति'—इस प्रकार के अप्रत्यक्षपिशचप्रतियोगिक भेद का प्रत्यक्ष सर्वजनीन है, अतः संसर्गाभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी की प्रत्यक्षता प्रयोजक होने पर भी अन्योन्याभाव की प्रत्यक्षता में अनुयोगी मात्र की प्रत्यक्ष-योग्यता ही नियामक होती है। वस्तुतः संसर्गाभाव की प्रत्यक्षता में भी केवल प्रतियोगी की योग्यता पर्याप्त नहीं होती, अन्यथा जलीय परमाणु में घटादिगत योग्य पृथिवीत्व के अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष होना चाहिए। इस लिए यह नियम मानना पड़ता है कि 'यत्र यत्सत्त्वमनुपलब्धिविरोधि भवति, तत्र तस्याभावः प्रत्यक्षयोग्यः।' इसके अनुसार अभावमात्र के प्रत्यक्ष में अनुयोगी की योग्यता ही कारण होती है। वह तो प्रकृत (जीवानुयोगिक ईश्वर-भेद के प्रत्यक्ष) में सुलभ ही है, अन्यथा

न्यायामृतम्

कल्प्यम्, अन्यथा जीवेश्वराभेदश्रुतेरप्रसक्तप्रतिषेधत्वं स्यात्। तद्भेदश्रुतेश्च त्वदुक्तं प्रत्यक्षप्राप्तानुवादित्वं न स्यात्। ईश्वरस्य जीवाद्भेदे तु "तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप, उत्तमः पुरुषस्त्वन्य" इत्यादि तद्वचनानुमितमीश्वरप्रत्यक्षं प्रमाणं। नन्वत्र यो भाति अन्तःकरणाविद्याविशिष्टस्याहमर्थस्य निर्दुःखाद्भेदः, स ममापीष्टः, यस्तु नेष्टः शुद्धचैतन्यस्य निर्दुःखाद्भेदः, सोऽत्र न भातीति चेन्न, योऽहमस्वाप्सं तस्य ममाज्ञानं संसारश्च सोऽहं निर्दुःखो नेति सुषुप्तिकालीनान्तःकरणानवच्छिन्नाभेदेन च प्रत्यभिज्ञा-

अद्वैतसिद्धिः

प्रसक्तप्रतिषेधकतापत्तेः। भेदश्रुतेश्च त्वदुक्तप्रत्यक्षसिद्धभेदानुवादित्वं न स्यात्। ईश-धर्मिकजीवभेदेऽपि 'तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप। उत्तमः पुरुषस्त्वन्य' इत्यादितद्वचनानुमितप्रत्यक्षसिद्धत्वमेवेति—चेन्न, उक्तानुभवस्यान्तःकरणाद्यवच्छिन्न-चैतन्यस्य तदनवच्छिन्नचैतन्यप्रतियोगिकभेदावगाहितया शुद्धचैतन्यधर्मिकनिर्दुःखादि-प्रतियोगिकभेदानवगाहित्वात्। श्रुतिरप्यवच्छिन्नभेदानुवादिनी। भेदनिषेधश्रुतिस्तु अनुमानादिप्रसक्तभेदनिषेधपरा। न च 'योऽहमस्वाप्सं तस्य ममाज्ञानसंसारादि, सोऽहं निर्दुःखो ने'ति सुषुप्तिकालीनान्तःकरणावच्छिन्नाभेदेनाज्ञानाद्याश्रयाभेदेन च प्रत्यभि-ज्ञायमाने शुद्धे भेदप्रतीतिः, संसाराधारस्य तदनाधारात् भेद एव ह्यावयोर्विवादः, न तु चैतन्यस्य चैतन्यादिति—वाच्यम्, एतावता अज्ञानावच्छिन्न एव भेदग्रहो नतु शुद्धे। न हि सुषुप्तिकाले अन्तःकरणानवच्छिन्नत्ववदज्ञानानवच्छिन्नत्वमप्यस्ति।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(जीवानुयोगिक ब्रह्म-भेद का प्रत्यक्ष न मानने पर) "उदरमन्तरं कुरुते" (तै० उ० २।७) इत्यादि भेद-निषेधक वाक्यों में अप्रसक्त-प्रतिषेधकता प्राप्त होती है और द्वा सुपर्णा" (श्वेता० ४।६) इत्यादि भेद-बोधक वेदान्त-वाक्यों में प्रत्यक्ष भेद की अनुवादकता जो अद्वैती मानते हैं, वह भी न बन सकेगी। ईश्वरानुयोगिक जीव-भेद भी ईश्वर को प्रत्यक्ष होता है—यह तथ्य स्वयं भगवान् के "तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप" (गी० ४।५), "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" (गी० १५।१७) इत्यादि वचनों के द्वारा सिद्ध होता है।

समाधान—'नाहं निर्दुःखः'—यह अनुभव अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में अन्तः-करणानवच्छिन्न चैतन्य के भेद को विषय करता है, शुद्ध चैतन्यधर्मिक निर्दुःखब्रह्म-प्रतियोगिक भेद को विषय नहीं करता। "द्वा सुपर्णा—इत्यादि श्रुति भी अवच्छिन्न चैतन्य के भेद का ही अनुवाद करती है, किन्तु भेद-निषेधक श्रुति अनुमानादि के द्वारा प्रापित भेद का निषेध करती है।

शङ्का—योऽहमस्वाप्सम्, यस्य ममाज्ञानसंसारादि, सोऽहं निर्दुःखो न'—इस प्रकार सुषुप्तिकालीन अन्तःकरणानवच्छिन्न और अज्ञानाश्रयीभूत चैतन्य के साथ अभिन्न-रूप से प्रत्यभिज्ञायमान शुद्ध चैतन्य में ही भेद की प्रतीति होती है, क्योंकि संसार के आधारभूत चैतन्य में संसारानाधारभूत चैतन्य के भेद में ही हम दोनों का विवाद है, न कि शुद्ध चैतन्यानुयोगिक शुद्धचैतन्यप्रतियोगिक भेद के विषय में।

समाधान—आप के इस वक्तव्य का यह सार निकला कि अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य में ही भेद गृहीत होता है, शुद्ध में नहीं, क्योंकि सुषुप्तिकालीन चैतन्य जैसे अन्तःकरणरूप उपाधि से अनवच्छिन्न है, वैसे अज्ञानरूप उपाधि से अनवच्छिन्न नहीं होता। यह जो

न्यायामृतम्

यमाने शुद्धे प्रतीतेः संसाराधारस्य तदनाधाराद्भेद एव ह्यावयोर्विवादः, न तु चैतन्यस्य चैतन्यात्। साधितं चाहमर्थस्य शुद्धात्मत्वम्। यद्यपि घटाद्यपि निर्दुःखं तथापि निर्दुःखमात्राद्भेदधीरियं ब्रह्मणोऽपि भेदविषयैव। न चाद्वैतमते जीवदुःखेन ब्रह्मापि दुःखीति न निर्दुःखं ब्रह्मेति वाच्यम्, बहुजीववादे ब्रह्मभावरूपमुक्तेरपुमर्थत्वापातात्। एकजीववादेऽप्यौपाधिकश्यामत्वादेर्बिम्बमहाकाशयोरिव दुःखित्वादेर्ब्रह्मण्यसत्त्वात्। विस्तृतं चैतदविद्याश्रयभंगे, साधितं च प्रत्यक्षप्रामाण्यावसरे बाह्यप्रत्यक्षस्य बलवत्प्रत्यक्षेतरेण न बाधः, साक्षिप्रत्यक्षस्य तु न केनापि बाध इति। तस्माज्जीवेशभेदः प्रत्यक्षः। एवं शब्दादनुमानादिना वा चैत्रात्मादिकं ज्ञातवता मैत्रेण (१) नाहं चैत्रः, (२) घटो न ब्रह्म, (३) घटो न पटः, ४) नाहं घट, (५) नाहं ब्रह्म—इत्यनुभवात् पंचापि भेदाः प्रत्यक्षाः।

भेदपंचके प्रत्यक्षं ॥ १८ ॥

अद्वैतसिद्धिः

यत्तु चैतन्यस्य चैतन्याद् भेदो नास्तीति, तदस्माकमनुकूलम्, चैतन्ये स्वाभाविकस्याभेदस्यैवास्मद्रहस्यत्वात् भवत्प्रतिकूलं च। न हि भवतां चैत्रमैत्रादिचैतन्यानामैक्यमिति मतम्। अहमर्थस्य यथा न शुद्धात्मत्वं तथोक्तं प्राक्। साक्षिप्रत्यक्षस्याध्यस्तादिसाधारणतया तत्सिद्धत्वमात्रेण भेदे अबाधितत्वमसंभावितमेव। एतेन—जीवानां परस्परं भेदे प्रत्यक्षं प्रमाणमिति—निरस्तम्, नाहं चैत्र इत्यादेरवच्छिन्नभेदविषयत्वात्। 'घटो न ब्रह्म, घटो न पटः, नाहं घट' इत्यादिप्रत्यक्षस्य कल्पितभेदविषयत्वेन तात्त्विकभेदासिद्धेः। तस्मात् भेदपञ्चके न प्रत्यक्षं प्रमाणम्॥

इत्यद्वैतसिद्धौ भेदपञ्चके प्रत्यक्षभङ्गः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कहा कि शुद्ध चैतन्य का चैतन्य से भेद नहीं होता, वह तो हमें अभीष्ट ही है, क्योंकि चैतन्य में स्वभावतः अभेद ही होता है—यह हमारा (अद्वैती का) सिद्धान्त-रहस्य है, जो कि आप (द्वैती) के प्रतिकूल है, क्योंकि चैत्र, मैत्रादि चैतन्यों का अभेद है—ऐसा (द्वैती) का मत नहीं। अहमर्थ आत्मा नहीं—यह पहले (अहमर्थ-निरूपण) में कहा जा चुका है। साक्षिप्रत्यक्ष अध्यस्त और अनध्यस्त—दोनों का होता है, अतः साक्षि प्रत्यक्ष की विषयता मात्र के आधार पर भेद में अबाधितत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

यह जो कहा है कि जीवों के परस्पर भेद में प्रत्यक्ष प्रमाण है, वह इस लिए निरस्त हो जाता है कि 'नाहं चैत्रः'—यह प्रतीति अवच्छिन्न चैतन्य के भेद को ही विषय करती है। 'घटो न ब्रह्म' 'घटो न पटः', 'नाहं घटः'—इत्यादि प्रत्यक्ष कल्पित-भेद को ही विषय करता है, उसके आधार पर तात्त्विक भेद सिद्ध नहीं हो सकता, अतः भेदपञ्चक में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता।

: १९ :

जीवब्रह्मभेदे अनुमानविचारः

न्यायामृतम्

[ननु भवेन्नाम प्रत्यक्षमनुमानं तु न सम्भवति] तथा हि—

नाप्यनुमानम्—(१) जीवेश्वरौ भिन्नौ विरुद्धधर्माधिकरणत्वाद्, दहनतुहिनवदित्यत्र तात्त्विके भेदे साध्ये दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यात्। अतात्त्विके साध्ये सिद्धसाधनात्। दुःखादेरन्तःकरणधर्मत्वेनासिद्धेश्च। (२) ब्रह्म तत्त्वतो जीवाद्भिन्नम्, सर्वज्ञत्वाद् व्यतिरेकेण जीववदित्यत्राप्रसिद्धविशेषणत्वात्। ब्रह्म धर्मिसत्तासमानसत्ताकभेदवदितिसाध्यनिर्देशेऽप्यसाधारण्यात्। (३) नाप्यात्मत्वम्, नानाव्यक्ति-

अद्वैतसिद्धिः

नाप्यनुमानम्। (१) जीवेश्वरौ, भिन्नौ, विरुद्धधर्माधिरणत्वाद्, दहनतुहिनवदित्यत्र दुःखादेरन्तःकरणादिधर्मत्वेन स्वरूपासिद्धेः, एकत्रैव निर्दुःखत्वदुःखवत्त्योरवच्छेदकभेदेन दृष्टतया धर्मिभेदासाधकत्वाद्, भेदमात्रे सिद्धसाधनात्, तात्त्विकभेदे साध्यवैकल्यात् (२) ब्रह्म, तत्त्वतो जीवाद् भिन्नम्, सर्वज्ञत्वात्, व्यतिरेकेण जीववदित्यत्राप्रसिद्धविशेषणत्वात् ब्रह्म, धर्मिसत्तासमानसत्ताकभेदवदिति साध्यकरणे असाधारण्यात्, (३) आत्मत्वं, नानाव्यक्तिनिष्ठम्, जातित्वात्, पृथिवीत्ववदित्यत्रा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भेद-पञ्चक में अनुमान प्रमाण भी नहीं इस विषय में न्यायामृतकार ने जो अनुमान-प्रयोग दिखाए हैं, वे सब दूषित हैं, जैसे—(१) 'जीव और ईश्वर—दोनों भिन्न होते हैं, क्योंकि दुःख-दुःखाभावादि विरुद्ध धर्मों के आधार होते हैं, जैसे अग्नि और हिम'—इस अनुमान में दुःखादि को अन्तःकरण का धर्म मानने पर स्वरूपासिद्धि है, क्योंकि जीव दुःखरूप विरुद्ध धर्म का आधार ही नहीं होता। एक ही शरीर में अवच्छेदक के भेद से दुःख और दुःखाभावादि विरुद्ध धर्म देखे जाते हैं, अतः व्यभिचारित हो जाने से विरुद्ध धर्माश्रयत्व धर्मिभेद का साधक भी नहीं हो सकता। यहाँ यह भी जिज्ञासा होती है कि उक्त अनुमान के द्वारा तात्त्विकातात्त्विक-साधारण भेद मात्र सिद्ध किया जाता है ? अथवा तात्त्विक भेद ? प्रथम पक्ष में सिद्धसाधनता है, क्योंकि काल्पनिक भेद माना ही जाता है और द्वितीय पक्ष में दृष्टान्त साध्य-विकल है, क्योंकि दहन-तुहिनादि में तात्त्विक भेद नहीं माना जाता।

(२) -ब्रह्म तत्त्वतः जीव से भिन्न होता है, क्योंकि सर्वज्ञ है, जो जीव से भिन्न नहीं होता, वह सर्वज्ञ भी नहीं होता, जैसे जीव'—इस अनुमान में अप्रसिद्धविशेषणता है, क्योंकि तात्त्विक भेद कहीं पर भी प्रसिद्ध नहीं। उक्त अनुमान में 'ब्रह्म धर्मिसत्ता के ससानसत्तावाले भेद से युक्त होता है'—ऐसा साध्य बनाने पर हेतु में आसाधारणत संज्ञक अनैकान्तिक दोष होता है, क्योंकि सर्वज्ञत्व हेतु सपक्ष-विपक्ष से व्यावृत्त पक्ष मात्र-वृत्ति है।

(३) 'आत्मत्व धर्म नाना व्यक्तियों में रहता है, क्योंकि जातिरूप धर्म है, जैसे कि पृथिवीत्वादि'—इस अनुमान में एकात्मवादी अद्वैती के प्रति असिद्धि दोष है, क्योंकि नाना आत्मा न होने के कारण आत्मत्व को जाति नहीं कहा जा सकता और कल्पित नाना आत्मव्यक्तियों को लेने पर सिद्धसाधनता है।

(४) दुःख, गुणत्व-व्याप्य जाति के द्वारा सजातीय (ज्ञानादि) गुणों के आश्रय

न्यायामृतम्

ष्टम्, नातित्वात्पृथिवीत्ववदित्यादिभिरात्मभेदमात्रसिद्धिः, आत्मैक्यवादिनं प्रत्यसिद्धेः। (४) दुःखं गुणत्वावान्तरजात्या स्वजातीयाश्रयभिन्नाश्रितं गुणत्वाद्रूपवदित्यत्र शब्दे व्यभिचारात्। दुःखादीनामन्तःकरणधर्मत्वेन सिद्धसाधनाच्च। (५) विमतानि शरीराणि स्वसंख्यासंखेयात्मवन्ति, शरीरत्वात्, सम्मतवदित्यत्र योगिशरीरे व्यभिचारात्। (६) आत्मा धर्मिसत्तासमानसत्ताकात्मप्रतियोगिकभेदवान्, द्रव्यत्वाद्, घटवत्। (७) आत्मा द्रव्यत्वव्याप्यजात्या नाना अश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्वाद्, घटवदित्यत्र चात्मनो निर्गुणत्वेनासिद्धेः। उक्तसाध्य एव शरीरात्मसंयोगाधारत्वात् शरीरादित्यत्राभाससाम्यात्। नापि द्वा सुपर्णे'' त्यादिश्रुतिः, अनुवादकत्वात्। व्यावहारिकभेदपरत्वाद्वा। एवं भेदान्तरेऽपि प्रमाणं निरसनीयमिति चेत्,

अद्वैतसिद्धिः

त्मैक्यवादिनं प्रत्यसिद्धेः; कल्पितव्यक्तिनिष्ठत्वेन सिद्धसाधनाच्च (४) दुःखं, गुणत्वावान्तरजात्या सजातीयाश्रयात् भिन्नाश्रितम्, गुणत्वाद्रूपवदित्यत्र शब्दे व्यभिचारात्, दुःखादीनामन्तःकरणधर्मत्वेन सिद्धसाधनाच्च (५) विमतानि शरीराणि, स्वसंख्यासंख्येयात्मवन्ति, शरीरत्वात्, संमतवदित्यत्र योगिशरीरे व्यभिचारात्। (६) आत्मा, धर्मिसत्तासमानसत्ताकात्मप्रतियोगिकभेदवान्, द्रव्यत्वाद्, घटवत्, (७) आत्मा, द्रव्यत्वव्याप्यजात्या नाना, अश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्वाद्, घटवदित्यत्र चात्मनो निर्गुणत्वेनासिद्धेः; चैत्रश्चैत्रप्रतियोगिकोक्तभेदवान्, उक्तहेतोरुक्तदृष्टान्तवदित्याभाससाम्याच्च।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(ईश्वर) से भिन्न धर्मी (जीव) में रहता है, क्योंकि गुण है, जैसे रूप [गुणत्व-व्याप्य रूपत्वेन सजातीय रूप गुण के आश्रयीभूत तेज से भिन्न पृथिव्यादि में रहता है, वैसे ही दुःख भी गुणत्व-व्याप्य ज्ञानत्वेन सजातीय ज्ञानरूप गुण के आश्रयीभूत ईश्वर से भिन्न जीव में रहता है, फलतः जीव और ईश्वर का भेद सिद्ध हो जाता है] इस अनुमान का गुणत्व हेतु शब्द में व्यभिचारी है [क्योंकि गुणत्व-व्याप्य शब्दत्वेन सजातीय शब्द के आश्रयीभूत आकाश से भिन्न में शब्द नहीं रहता, किन्तु गुणत्व हेतु उसमें भी है]। दुःखादि भिन्न-भिन्न अन्तःकारणों के धर्म हैं—ऐसा मानने में सिद्ध-साधनाता भी है।

(५) 'विवादास्पद शरीर, स्वगत (बहुत्व) संख्या से युक्त आत्माओं के आश्रय होते हैं, क्योंकि शरीर हैं, जैसे उभय-सम्मत शरीर'—यह अनुमान योगी के शरीर में व्यभिचारी है [क्योंकि योगी के द्वारा रचित अनेकशरीरों में एक ही आत्मा होता है, अनेक नहीं]।

(६) 'आत्मा, धर्मिसत्ता-समानसत्ताक आत्मप्रतियोगिक भेदवाला होता है, क्योंकि द्रव्य है, जैसे घट'—इस अनुमान में भी स्वरूपासिद्धि है, क्योंकि आत्मा में नित्य-सम्बन्ध-शालित्वरूप द्रव्यत्व नहीं माना जाता।

(७) 'आत्मा, द्रव्यत्व-व्याप्य (आत्मत्व) जाति को लेकर अनेक होता है, क्योंकि अश्रावण विशेष गुणों (ज्ञानादि) का आश्रय है, जैसे घट'—इस अनुमान में भी स्वरूपासिद्धि दोष हैं, क्योंकि आत्मा निर्गुण है। इसी प्रकार इस अनुमान में ''चैत्रः चैत्रप्रतियोगिकभेदवान्, अश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्वाद्, घटवत्'—इस प्रकार के अनुमानाभास की समानता भी है।

न्यायामृतम्

[अत्राभिदध्महे—]

सन्त्यनुमानानि (१) ईश्वरः जीवप्रतियोगिकतात्त्विकभेदवान्, सर्वशक्तित्वात् सर्वज्ञत्वात् सर्वकार्यकर्तृत्वात् स्वतन्त्रत्वाच्च व्यतिरेकेण जीववत्। (२) जीवो वा ब्रह्मप्रतियोगिकतात्त्विकभेदवान् अल्पशक्तित्वाद् अल्पज्ञत्वाद् अल्पकर्तृत्वात् संसारित्वाच्च, व्यतिरेकेण ब्रह्मवत्। परमतेऽपि जीवब्रह्मणोर्व्यावहारिकभेदस्य सत्त्वात् पक्षदृष्टान्तभावः। अन्यथा परस्यापि जीवात्मानस्तत्त्वतः परमात्मनो न भिन्नाः आत्मत्वात्परमात्मवद् इत्यादि न स्यात्। एतेन सर्वाद्वैतवादिनं प्रति साध्यावैशिष्ट्यादिदोषान्न भेदेऽनुमोक्तिर्युक्तेति निरस्तम्, परेणापि स्वव्याहतिनिरासाय व्यावहारिकभेदमात्रेण हेतुसाध्यादिव्यवस्थायाः स्वीकृतत्वात्। भेदस्य वस्तुस्वरूपत्वेऽपि विशेषबलाद् वस्तुविशेषणत्वं चास्तीत्युक्तत्वात् भेदवत्वं न बाधितम्। न चाप्रसिद्धविशेषणता, जीवब्रह्माभेदेऽनिष्टप्राप्तेर्वक्ष्यमाणत्वेन तद्विपर्ययस्थाष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यादेरिवानुमानयोग्यत्वात्। यद्वा

अद्वैतसिद्धिः

एतेन—नवीनानुमानान्यपि—निरस्तानि, (१) ईश्वरः, जीवप्रतियोगिकतात्त्विकभेदवान्, सर्वशक्तित्वात्, सर्वज्ञत्वात्, सर्वकार्यकर्तृत्वात्, स्वतन्त्रत्वाद्वा. व्यतिरेकेण जीववत्। (२) जीवो वा, ब्रह्मप्रतियोगिकतात्त्विकभेदवान्, अल्पशक्तित्वाद्, अल्पज्ञत्वाद्, अल्पकर्तृत्वात्, संसारित्वाद्वा, व्यतिरेकेण ब्रह्मवद्, इत्यादिषु भेदस्य स्वरूपत्वेन तद्वत्त्वसाधने बाधात्। न च विशेषमादाय तदुपपादानम्, तस्य स्वरूपानतिरेकेण तद्वत्त्वसम्पादकत्वात्, अप्रसिद्धविशेषणतापत्तेश्च। न च—जीवब्रह्माभेदेऽनिष्टप्रसक्त्या अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यत्वादेरिव त्वत्सिद्धस्वप्रकाशत्वादेरेव च साध्यस्य मानयोग्यत्वसंभव इति—वाच्यम्, तात्त्विकभेदव्यतिरेकेऽपि उपाधिकल्पितभेदेन सर्वानिष्ट-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इसी प्रकार नवीन आचार्यों के अनुमान भी निरस्त हो जाते हैं, जैसे कि—

(१) 'ईश्वर जीवप्रतियोगिक तात्त्विक भेदवाला होता है, क्योंकि सर्वशक्तिमान् है, सर्वज्ञ है, सर्व कार्य-कर्त्ता है, स्वतन्त्र है, जो जीवप्रतियोगिक भेदवान् नहीं होता, वह (जीव) सर्वशक्त्यादि से सम्पन्न भी नहीं होता, जैसे जीव। (२) अथवा जीव ब्रह्मप्रतियोगिक तात्त्विक भेदवाला होता है, क्योंकि अल्पशक्तिवाला है, अल्पज्ञ है, अल्पकार्य-कर्त्ता है, संसारी हैं, जो ईश्वर प्रतियोगिक तात्त्विक भेदवाला नहीं होता, वह अल्प शक्तिवाला भी नहीं होता, जैसे ईश्वर'—इत्यादि अनुमानों में भेदस्वरूपवाद के अनुसार भेदवत्त्व सिद्ध करने पर बाध दोष होता है। कथित विशेष पदार्थ को लेकर भी भेदवत्त्वादि का उपपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह धर्मी से अभिन्न होने के कारण तद्वत्ता का उपपादक नहीं हो सकता। तात्त्विक भेद अप्रसिद्ध होने के कारण उक्त अनुमानों में अप्रसिद्धविशेषणता दोष भी है।

शङ्का—'यद्विपर्ययेऽसमीहितप्रसक्तिः, तत्कचन मानयोग्यम्'—इस व्याप्ति के अनुसार जीव-ब्रह्म का अभेद मानने पर ''द्वा सुपर्ण''—इत्यादि भेद-व्यवहार अनुपपन्न हो जाता है, अतः जीव-ब्रह्म का भेद मानना वैसे ही आवश्यक है, जैसे पृथिव्यादि अष्ट द्रव्यों से अतिरिक्त (शब्दाश्रयीभूत आकाश) अथवा अद्वैति-सम्मत स्वप्रकाशत्व।

समाधान—तात्त्विक भेद न मानकर औपाधिक भेद को लेकर भेद-व्यवहारादि का सम्पादन हो जाता है। उक्त व्याप्ति के आधार पर केवल भेद सिद्ध हो सकता है, भेदगत तात्त्विकत्व की कोई आवश्यकता नहीं।

न्यायामृतम्

(३) जीवः किंचिद्धर्मिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदप्रतियोगी, (४) ब्रह्म वा किंचिद्धर्मिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदप्रतियोगि, अधिष्ठानत्वाच्छुक्तिवदितिसामान्यतस्तत्सिद्धेर्नाप्रसिद्धिः।

केचित्तु जीवाद् भिन्न इत्येव साध्यम्, तथा च नाप्रसिद्धिः। मिथ्याभेदेन सिद्धसाधनं तु निरसिष्यते। यद्वा ब्रह्म जीवप्रतियोगिकधर्मिसत्तासमानसत्ताकभेदवदिति साधनान्नाप्रसिद्धिर्नापि सिद्धसाधनम्। न चोभयत्राप्यसाधारण्यम्, तस्यागृह्य-

अद्वैतसिद्धिः

परिहारसंभवात्। न च—जीवो ब्रह्म वा, किंचिद्धर्मिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदप्रतियोगी, अधिष्ठानत्वात्, शुक्तिवदिति सामान्यतः साध्यप्रसिद्धिरिति—वाच्यम्, यत्किंचिदभावप्रतियोगिघटादिज्ञानाबाध्यभेदप्रतियोगित्वेनात्मज्ञानाबाध्यभेदासिद्धेः, स्वप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदप्रतियोगित्वे साध्ये दृष्टान्ते स्वपदेन शुक्तेर्दार्ष्टान्तिके स्वपदेनात्मन उक्तेर्व्याप्तिग्रहानुपपत्तेः। यत्तु जीवाद् भिन्न इत्येव साध्यम्, मिथ्याभेदेन सिद्धसाधनं पश्चान्निरसनीयमिति, तन्न, निरसनोपायस्य निरसिष्यमाणत्वात्। न च ब्रह्म जीवप्रतियोगिकधर्मिसत्तासमानसत्ताकभेदवदित्येव साध्यम्, धर्मिपदेन ब्रह्मण उक्तावप्रसिद्धविशेषणत्वतादवस्थ्यात्, यत्किंचिद्धर्म्युक्तौ घटादिधर्मिसमानसत्त्वेन सिद्धसाधनात्, विपक्षबाधकरूपविशेषाभावे पूर्वोक्तासाधारण्यापत्तेश्च।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—'जीव अथवा ब्रह्म किसी-न-किसी धर्मी में रहनेवाले अबाध्य (तात्त्विक) भेद के प्रतियोगी होते हैं, क्योंकि अधिष्ठान हैं, जैसे शुक्ति [रजतनिष्ठ रजत-ज्ञानाबाध्य भेद की प्रतियोगी है] इस अनुमान के द्वारा सामान्यतः तात्त्विक भेद कहीं-न-कहीं सिद्ध हो जाता है, अतः उक्त अनुमानों में अप्रसिद्धविशेषणता दोष नहीं।

समाधान—प्रकृत में तात्त्विक या आत्मज्ञानाबाध्य भेद की सिद्धि अपेक्षित है, किन्तु घटादि-ज्ञानाबाध्य भेद-प्रतियोगित्व के द्वारा आत्मज्ञानाबाध्य भेद की प्रतियोगिता सिद्ध नहीं हो सकती। स्वप्रतियोगिविषयकज्ञानाध्यभेद-प्रतिगित्व को साध्य बनाने पर दृष्टान्त में स्व पद से शुक्ति और दार्ष्टान्त में स्वपद से आत्मा का ग्रहण करने पर अनुगत व्याप्ति-ग्रह नहीं बन सकता।

न्यायामृतकार ने जो किसी का मत दिखाते हुए कहा है कि प्रथमतः 'ईश्वरः जीवाद् भिन्नः' इतना ही तात्त्विकत्वाघटित साध्य बनाना चाहिए कि साध्याप्रसिद्धि का झमेला ही न रहे। यह साध्य सिद्ध हो जाने पर जब प्रतिवादी मिथ्या या अतात्त्विक भेद के द्वारा अर्थान्तरता या सिद्धसाधनता का उद्भावना करना चाहे, तब उसके निराकरण में यह कह देना पर्याप्त होगा कि सर्वथा निर्दुष्ट एवं सद्धेतु के द्वारा प्रसाधित पदार्थ कभी मिथ्या नहीं हो सकता, तात्त्विक ही मानना होगा।

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि आप कथित सिद्धसाधनता का निरास जिन उपायों के द्वारा करेंगे, हम उन्हीं का निरास कर देंगे—न रहेगा बाँस, न बजेगी बांसुरी। 'ब्रह्म जीवप्रतियोगिकधर्मिसत्तासमानसत्ताक भेदवाला होता है'—इतना ही यदि साध्य बनाया जाता है, तब 'धर्मि' पद के द्वारा ब्रह्म का ग्रहण करने पर ब्रह्म समानसत्ताक तात्त्विक भेद की प्रसिद्धि न होने के कारण अप्रसिद्धविशेषणता और 'धर्मि' पद से घटादि यत्किञ्चित् वस्तु का ग्रहण करने पर सिद्धसाधनता होती है।

न्यायामृतम्

माणविशेषावस्थायामेव दोषत्वादित्याहुः। इतरे तु ब्रह्म जीवप्रतियोगिकतात्त्विकभेदवन्नेति साधनाप्रसिद्धिः। परपक्षेऽपि घटादेर्जीवेन तात्त्विकाभेदाभावादित्याहुः।

अपरे त्विह साध्यस्य जीवप्रतियोगिकतात्त्विकभेदस्यान्योन्याभावरूपत्वान्न प्रसिद्धिर्दोषः। सा हि व्याप्तिग्रहविघटकत्वेन दोषः। पक्षता तु सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकप्रमाणाभाववत्त्वादिरूपा सन्देहानपेक्षा। सापेक्षत्वेऽपि शब्दोऽभिधेय इत्यादाविव जीवब्रह्मणोर्भेदेतात्त्विकत्वमस्ति न वेति सन्देहेनैव सा युक्ता। न तु ब्रह्म जीवात्तत्वतो भिन्नं न वेतिसन्देहसापेक्षा व्यतिरेकिणि च साध्याभावस्य व्याप्तेः। अत्र

अद्वैतसिद्धिः

यत्तु ब्रह्म जीवप्रतियोगिकतात्त्विकाभेदवन्नेति, तन्न, एवमपि तात्त्विकाभेदस्यातात्त्विकाभावेन सिद्धसाधनात्, अभावेऽपि तात्त्विकत्वविशेषणे अप्रसिद्धितादवस्थ्यात्। ननु—अत्र जीवप्रतियोगिकतात्त्विकभेदस्यान्योन्याभावरूपत्वान्नाप्रसिद्धिर्दोषः, यत्र ह्यभावव्यापकतया हेत्वभावो गृह्यते, तत्रैव साध्यप्रसिद्धिरङ्गम्, इह तु जीवतादात्म्यव्यापकता हेत्वभावस्य ग्राह्या, तदभावो हेतुना साध्यत इति किं साध्यप्रसिद्ध्या ? तां विनापि व्याप्तिग्रहोपपत्तेः, सन्देहरूपपक्षतासम्पत्तयेऽपि न तदपेक्षा, तस्यास्सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकमानाभावरूपत्वेन सन्देहाघटितत्वाद्, 'ब्रह्म तत्त्वतो जीवभिन्नं न वे'ति सन्देहाभावेऽपि 'जीवब्रह्मणोर्भेदे तात्त्विकत्वमस्ति न वे'ति सन्देहसंभवाच्च, प्रमेयत्वमेतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि न वेति सन्देहवदिति—चेत्, न, एवं हि प्रसिद्धेतर-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विपक्ष-बाधक तर्क के अभाव में पूर्व-प्रदर्शित असाधारणता दोष भी अटल रहता है।

न्यायामृतकार ने जो यह अनुमान किया है कि 'ब्रह्म जीवप्रतियोगिकतात्त्विकाभेदवत् न', उसमें तात्त्विक अभेद का यदि अतात्त्विक अभाव साध्य बनाया गया है, तब सिद्धसाधनता है और यदि तात्त्विक अभेद का तात्त्विक ही अभाव सिषाधयिषित है, तब अप्रसिद्धविशेषणता दोष बना रहता है।

शङ्का—'ब्रह्म तत्त्वतो जीवाद् भिन्नम्'—इस अनुमान में जो अप्रसिद्धविशेषणता दोष दिया गया, वह उचित नहीं, क्योंकि यहाँ भेद का अर्थ अन्योऽन्याभाव (तादात्म्याभाव) है। जिस व्यतिरेकी अनुमान में अभाव की व्यापकता हेत्वभाव में गृहीत होती है, वहाँ ही साध्याभावरूप व्याप्य की प्रसिद्धि के लिए प्रतियोगीभूत साध्य की प्रसिद्धि अपेक्षित होती है, किन्तु इस अनुमान में तो जीवतादात्म्याभावाभावरूप जीव-तादात्म्य की व्यापकता हेत्वभाव में ग्राह्य है और जीव-तादात्म्य का अभाव सर्वज्ञत्व हेतु के द्वारा सिद्ध किया जा रहा है, उसके प्रतियोगीभूत तादात्म्य की प्रसिद्धि आपके मतानुसार ब्रह्म में है ही, अतः साध्य (तादात्म्याभाव) की प्रसिद्धि से क्या काम ? उसके विना भी तादात्म्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूप व्याप्ति-ग्रह उपपन्न हो जाता है। पक्ष में साध्यसन्देहरूप पक्षता का सम्पादन करने के लिए भी साध्य-प्रसिद्धि अपेक्षित नहीं, क्योंकि यहाँ 'सिषाधयिषाविरहविशिष्ट-सिद्धि के अभाव को ही पक्षता माना जाता है, जो कि सन्देह से घटित नहीं। 'ब्रह्म तत्त्वतः जीव-भिन्न है ? अथवा नहीं ? इस प्रकार के सन्देह का अभाव होने पर भी 'जीव और ब्रह्म के भेद में तात्त्विकत्व है ? अथवा नहीं ? इस प्रकार का सन्देह वैसे ही बन भी जाता है, जैसे कि 'प्रमेयत्वम् एतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि ? न वा ?

न्यायामृतम्

च साध्याभावो जीवाभेदो जीवे प्रसिद्धः। यत्र तु व्यतिरेकिणि भावः साध्यं, तत्राभावस्य भावज्ञानाधीनत्वात् स दोष इत्याहुः।

यद्वा ब्रह्म जीवाद् भिन्नम्, दुःखाननुभवितृत्वाद्, घटवदितिप्रयोगान्नाप्रसिद्धविशेषणत्वासाधारण्ये। न च मिथ्याभेदेन सिद्धसाधनम्, भेदरूपार्थे साध्येऽर्थशून्यभ्रान्त्या सिद्धसाधनोक्त्ययोगात्। एतदनुमितिविषयतया प्रामाणिकत्वेन सिद्ध्यतो

अद्वैतसिद्धिः

भेदः पृथिव्यामिव प्रसिद्धजीवभेदो ब्रह्मणि सिद्ध्यतु, न तद्गततात्त्विकत्वमपि, व्यापकव्यतिरेकस्य व्याप्यव्यतिरेकमात्रसाधनसमर्थत्वाद्, अन्यथातिप्रसङ्गात्। यदपि भेदतात्त्विकत्वं धर्मिनिष्ठत्वेन उदशङ्कि, तदपि साध्द्यया प्रसिद्ध्या दुष्टम्। नापि ब्रह्म, जीवाद् भिन्नम्, दुःखाननुभवितृत्वाद्, घटवदित्यन्वयि, सर्वानुभवितरि हेतोरसिद्धेः। स्वनिष्ठेति विशेषणे जीवे व्यभिचारः, दुःखस्यान्तःकरणनिष्ठत्वात्, मिथ्याभेदेन सिद्धसाधनाच्च। न च—भेदे साध्ये अर्थशून्यभ्रान्त्या सिद्धसाधनोक्त्ययोग इति—वाच्यम्, भ्रान्तेर्वस्तुशून्यत्वस्यैवाभावात्। उक्तमिदमनिर्वाच्यवादे। न चैतदनुमितिविषयतया प्रामाणि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—जैसे पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते, पृथिवीत्वात्'—इस अनुमान में पृथिवी से इतर जलादि तेरह (जलादि आठ द्रव्य और गुणादि पाँच भाव) पदार्थों का भेद पृथिवी में प्रसिद्ध किया जाता है, वैसे ही प्रसिद्ध जीव का ब्रह्म में भेद प्रसिद्ध हो सकता है, किन्तु उस भेद में तात्त्विकवत्त्व प्रसिद्ध नहीं हो सकता, किन्तु व्यापकाभाव (तात्त्विकभेदप्रतियोगिक अभाव) ही व्याप्याभाव (सर्वज्ञत्वाभाव) को सिद्ध कर सकता है, अन्यथा धूमाभाव से भी वह्न्यभाव सिद्ध हो जायगा और तत्प्रतियोगित्वरूप व्याप्ति के आधार पर वह्नि से भी धूम की तात्त्विक अनुमिति होने लगेगी। यह जो 'भेदे तात्त्विकत्वं नास्ति'—इस प्रकार का निषेध भेदरूप धर्मी में मान कर ही किया जा सकता है—इस प्रकार धर्मि-निष्ठत्वेन तात्त्विकत्व की सिद्धि की जाती है, वह भी तात्त्विक भेदरूप अखण्ड साध्य की प्रसिद्धि न होने के कारण दुष्ट ही है।

ब्रह्म जीवाद् भिन्नम्, दुःखाननुभवितृत्वाद्, घटवत्—यह अन्वयी अनुमान भी समाचीन नहीं, क्योंकि जो ईश्वर सर्वज्ञ या सर्वानुभविता है, उसमें जीवगत दुःख का अनुभवितृत्व भी सम्भव है, अतः उक्त अनुमान का हेतु पक्ष में असिद्ध है। यदि कहा जाय कि ईश्वर में स्वगत दुःख का अनुभवितृत्व नहीं हो सकता, तब जीव में भी स्वगत दुःख का अनुभवितृत्व सम्भव नहीं, क्योंकि दुःख अन्तःकरण का धर्म है, चैतन्य का नहीं। अतः जीव में जीव-भेदरूप साध्य के न रहने पर भी स्वगतदुःखाननुभवितृत्वरूप हेतु रहता है, अतः व्यभिचारी है। ब्रह्म में जीव का मिथ्या भेद मानकर सिद्धसाधनता का उद्भावन भी इस अनुमान में किया जा सकता है।

शङ्का—भेदविषयक ज्ञान को भ्रान्ति, तब कहा जा सकता था कि रजतादि के समान यहाँ भी भेदरूप साध्य वस्तु का अभाव होता, भेदरूप साध्य के होने पर उसके ज्ञान को भ्रान्ति कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान—'विषयवस्तुशून्यत्वम्'—यह भ्रान्ति का लक्षण नहीं, अपितु अनिर्वचनीयार्थविषयक या विषयिता सम्बन्ध से अनिर्वचनीयार्थवत् ज्ञान को भ्रान्ति कहा जाता है—यह अनिर्वचनीयवाद में कहा जा चुका है।

न्यायामृतम्

भेदस्य मिथ्यात्वायोगाच्च। अन्यथा त्वदीयेषु मिथ्यात्वानुमानेषु कल्पितमिथ्यात्वादिना सिद्धसाधनं स्यात्। तात्त्विकत्वविशेषणेऽपि तात्त्विकत्वेन कल्पितभेदेन सिद्धसाधनमिति च स्यात्।

(१) यद्वा ब्रह्म जीवप्रतियोगिकधर्मिसत्तासमानसत्ताकभेदवद्, दुःखाननुभवितृत्वात्, अभ्रान्तत्वाद्, असंसारित्वाच्च, घटवत्। (२) जीवो वा ब्रह्मप्रतियोगिकधर्मिसत्तासमानसत्ताकभेदवान्, असर्वशक्तित्वाद्, असर्वज्ञत्वाद्, अस्वतन्त्रत्वाच्च, घटवदितिप्रयोगान्न दोषः। अत्र च जीवब्रह्मशब्देन त्वन्मतेऽपि तत्त्वमसी" त्यत्र तत्त्वंपदाभ्यां जीवाः परमात्मनस्तत्त्वतो न भिद्यन्ते, आत्मत्वात्, परमात्मव" दित्यत्र च जीवपरमात्मशब्दाभ्यां ये विवक्षिते, ते संसाराधारानाधारचैतन्ये विवक्षिते। ते च

अद्वैतसिद्धिः

कत्वेन सिद्धयतः कथं मिथ्यात्वम्? अनुमितिविषयतायाः प्रामाणिकत्वे अतन्त्रत्वात्। न चैवं मिथ्यात्वाद्यनुमानेऽपि कल्पितमिथ्यात्वादिना सिद्धसाधनापत्तिः, कल्पितत्वं व्यावहारिकत्वमभिप्रेतं? प्रातिभासिकत्वं वा? आद्य इष्टापत्तेः, अन्त्ये हेतोस्वसमानसत्ताकसाध्यसाधकतया प्रातिभासिकत्वाप्रसक्तेः।

एतेन – ब्रह्म, जीवप्रतियोगिकधर्मिसत्तासमानसत्ताकभेदवद्, दुःखाननुभवितृत्वाद्, अभ्रान्तत्वाद्, असंसारित्वाद्, घटवत्। जीवो वा, ब्रह्मप्रतियोगिकतादृग्भेदवान्, असर्वशक्त्यादिभ्य इति—निरस्तम्, उपहितस्य पक्षत्वे धर्मिसमसत्ताकत्वे सिद्धेऽपि तात्त्विकत्वासिद्धेः सिद्धसाधनात्। शोधिततत्त्वंपदार्थयोः पक्षत्वे तयोर्धर्मि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—अनुमिति के विषयीभूत अग्न्यादि पदार्थ तात्त्विक देखे जाते हैं, उक्त भेद भी अनुमिति का विषय होने से तात्त्विक है, अनिर्वचनीय नहीं, अतः उसके ज्ञान को भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता।

समाधान—अनुमिति की विषयता मात्र से तात्त्विकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि रजतार्थी की प्रवृत्ति के द्वारा मिथ्या रजत की भी अनुमिति हो जाती हैं।

शङ्का—अनुमिति का विषय यदि कल्पित भी हो सकता है, तब 'प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात्'—इस प्रकार प्रपञ्चगत मिथ्यात्व-अनुमित भी कल्पित हो सकती है, सत्य प्रपञ्च में कल्पित मिथ्यात्व मान लेने में कोई आपत्ति नहीं, अतः सिद्धसाधनता का उद्भावन मिथ्यात्वानुमान में हो सकता है।

समाधान–मिथ्यात्वगत कल्पितत्व से आपका अभिप्राय क्या व्यावहारिकत्व है? अथवा प्रातिभासिकत्व? प्रथम पक्ष में इष्टापत्ति है, द्वितीय पक्ष में असिद्धि, क्योंकि दृश्यत्वरूप व्यावहारिक हेतु के द्वारा स्वसमानसत्ताक (व्यावहारिक) मिथ्यात्वरूप साध्य की सिद्धि की जाती है, अतः उसमें प्रातिभासिकत्व क्योंकर सिद्ध होगा?

'ब्रह्म, जीवप्रतियोगिकधर्मिसमानसत्ताकभेदवत्, दुःखाननुभवितृत्वात्, अभ्रान्तत्वात्, असंसारित्वाद्, घटवत्, अथवा जीवः, ब्रह्मप्रतियोगिक धर्मिसमानसत्ताकभेदवान्, असर्वज्ञत्वात्'—इत्यादि अनुमान भी इसीलिए निरस्त हो जाते हैं कि उपाधि-विशिष्ट चैतन्य को पक्ष बनानें पर साध्य में धर्मिसमानसत्ताकत्व के सिद्ध हो जाने पर भी तात्त्विकत्व सिद्ध न होने के कारण सिद्धसाधनता है। शोधित तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ को पक्ष बनाने पर बाध होता है, क्योंकि शुद्ध चैतन्य तत्त्व में धर्मित्व न होनें के कारण

न्यायामृतम्

सत्ये इति न सिद्धसाधनम् । न च ब्रह्मणो धर्मित्वाभावाद्बाधः, धर्मित्वाभावं प्रति धर्मित्वाधर्मित्वाभ्यां व्याघातात् । इह धर्मिशब्देनाश्रयमात्रस्य विक्षितत्वाच्च । धर्मिशब्दस्य च पित्रादिशब्दवत्सम्बन्धिशब्दत्वान्न मिथ्यात्वं प्रति धर्मिभूतशुक्तिरूप्यसमानसत्ताकप्रातिभासिकभेदेन सिद्धसाधनम् । न हि माता पूज्येत्युक्ते स्वसुतमाता भार्या पूज्यते । धर्मिपदस्थाने स्वपदं वास्तु । सत्तात्रैविध्यं वदतस्तव मतेऽपि ब्रह्मणि बाधाभावरूपाया वा तदुपलक्षितस्वरूपरूपाया वा सत्तायाः सत्त्वान्न बाधः ।

यद्वा धर्मिसत्तासमानसत्ताकेतिपदस्थाने पारमार्थिकेति यावत्स्वरूपरूपमनुवर्तमानेति वा स्वाज्ञानाकार्येति वा स्वज्ञानाबाध्येति वा विशेषणं देयम् । स्वशब्दस्य

अद्वैतसिद्धिः

त्वाभावेन बाधापत्तेः, । न च—धर्मित्वाधर्मित्वाभ्यां व्याघातः, ब्रह्मणः सर्वनिषेधस्वरूपत्वेन व्याघाताभावात् । न च धर्मिशब्देनाश्रयमात्रविवक्षा, धर्मित्ववदाश्रयत्वस्यापि तत्रासत्त्वात् ।

यत्तु धर्मिशब्दस्य पित्रादिशब्दवत् सम्बन्धिशब्दत्वेन यत्किंचिद्धर्मिसमसत्ताकतया न सिद्धसाधनमिति, तन्न, शब्दस्वभावोपन्यासस्यानुमानं प्रत्यनुपयोगात् । एतेन—धर्मिपदस्थाने स्वपदमिति अपास्तम्, धर्मिपदतुल्ययोगक्षेमत्वात् । अत एव—धर्मिसत्तासमानसत्ताकपदस्थाने पारमार्थिकेति वा, यावत्स्वरूपमनुवर्तमानेति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

साध्य में धर्मिसमानसत्ताकत्व ही बाधित हो जाता है ।

शङ्का—धर्मित्वाभाव सिद्ध करने के लिए किसी धर्मि की अपेक्षा है, यदि ब्रह्म धर्मि नहीं, तब धर्मित्वाभाव किसमें सिद्ध होगा ? और यदि ब्रह्म धर्मि है, तब उसमें धर्मित्वाभाव कैसे रहेगा ? अतः उभयतःपशा रज्जु या उभयथा व्याघात दोष है ।

समाधान—ब्रह्म सर्व धर्म-रहित है, उसमें व्याघात भी नहीं टिक सकता । सर्व कल्पनाओं का विवर्तोपादान ब्रह्म निसर्गतः सर्वकल्पनातीत है । धर्मित्व का यदि आश्रयत्व अर्थ किया जाता है, तब धर्मित्व के समान आश्रयत्व का भी अभाव कहा जा सकता है ।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि उक्त अनुमान में धर्मिसमानसत्ताक'—इस वाक्य का घटक 'धर्मी' पद वैसे ही सापेक्ष है, जैसे पिता-पुत्रादि शब्द, अतः जैसे 'चैत्रः पिता'—इस वाक्य में 'पिता' शब्द से चैत्र का ही ग्रहण होता है, वैसे ही यहाँ समभिव्याहृत ब्रह्म ही धर्मीरूप में गृहीत होता है, और धर्मिसमानसत्ताक का अर्थ ब्रह्मसमानसत्ताक है, अतः 'धर्मी' शब्द किसी अन्य शुक्त्यादि पदार्थ का ग्रहण कर तत्समानसत्ताक प्रातिभासिक भेद को लेकर सिद्ध-साधनता का उद्भावन सम्भव नहीं ।

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि अनुमानोपन्यास के समय शब्दस्वभाव का वर्णन अर्थान्तर नामक निग्रहस्थान माना गया है, जैसे कोई कहता है—"नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वादिति हेतुः, हेतुर्नाम हिनोतेर्धातोस्तुनि प्रत्यये कृदन्तपदम्" (न्या० भा० ५।२।७) । न्यायामृतकार ने 'धर्मी' पद के स्थान पर जो 'स्व' पद का प्रयोग किया है, उसकी भी वही स्थिति है, जो कि धर्मिपद की ।

न्यायामृतकार ने जो कहा है कि 'धर्मिसत्तासमानसत्ताक' पद के स्थान पर (१) पारमार्थिक या (२) यावत्स्वरूपमनुवर्तमान या (३) स्वाज्ञानाकार्य या (४) स्वज्ञा-

न्यायामृतम्

च समभिव्याहृततत्तदर्थपरत्वस्य व्युत्पन्नत्वान्न कश्चिद्दोषः। अन्यथा तवापि स्वप्रागभावव्यतिरिक्तेत्याद्ययुक्तं स्यात्। न चात्राद्ये साध्ये दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यम्। घटो जीवप्रतियोगिक (स्वज्ञानाबाध्यभेदवानिति) टिप्पणसंमतः पाठः। प्रतियोगिज्ञानाबाध्याभेदाप्रतियोगित्वाद्, यद्यज्ज्ञानाबाध्ययद्धर्मिकाभेदाप्रतियोगि तत्तज्ज्ञानाबाध्यतत्प्रतियोगिकभेदवद्, यथा दूरस्थवनस्पत्योरेक इत्याद्यनुमानेन तत्सिद्धेः।

यद्वा ब्रह्म, तत्त्वतो जीवाभिन्नं नेति, साध्यम्। एवं च न साध्यवैकल्यशंकापि। त्वन्मतेऽपि कल्पिते घट अकल्पिताज्जीवात्तात्त्विकभेदवत् तात्त्विकाभेदस्याप्यभा-

अद्वैतसिद्धिः

वा स्वाज्ञानाकार्येति वा, स्वज्ञानाबाध्येति वा विशेषणं देयम्, स्वपदस्य समभिव्याहृततत्तदर्थपरत्वस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वादिति— निरस्तम्, आद्ये साध्यवैकल्याच्च। न च— घटो जीवप्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदवान्, जीवधर्मिकधर्मिज्ञानाबाध्याभेदाप्रतियोगित्वाद्, यद् यद्यज्ज्ञानाबाध्ययद्धर्मिकाभेदाप्रतियोगि, तत् तज्ज्ञानाबाध्यतत्प्रतियोगिकभेदवद्, यथा दूरस्थवनस्पत्योरेक इत्याद्यनुमानेन साध्यसिद्धेर्नाप्रसिद्धिरिति— वाच्यम्, यच्छब्दाननुगतेन पक्षधर्महेतौ व्याप्त्यग्रहाद्, धर्मित्वप्रतियोगित्वादिसामान्याकारेण व्याप्तिग्रहे विशिष्य साधनायोगात्। न च— एवं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तेत्यादौ का गतिरिति— वाच्यम्, तत्राप्येतद्दूषणसञ्चारेण व्यतिरेकिणि वानुमानान्तरे वा तात्पर्यात्।

नापि— ब्रह्म तत्त्वतो जीवाभिन्नं नेति साध्यम्, एवं च न साध्यवैकल्यशङ्कापि,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नाबाध्य विशेषण देना चाहिए। 'स्व'पद में समभिव्याहृत तत्तत्पदार्थ की बोधकता व्युत्पत्ति-सिद्ध है।

वह कहना इसीलिए निरस्त हो जाता है कि' प्रथम पारमार्थिकत्व विशेषण देने पर दृष्टान्त में साध्य-वैकल्य है, क्योंकि घटरूप दृष्टान्त में जीव-भेद पारमार्थिक नहीं होता।

शङ्का— घट जीवप्रतियोगिक प्रतियोगि-ज्ञान से अवाध्य भेदवाला होता है, क्योंकि जीवानुयोगिक धर्मिज्ञानाबाध्याभेद का अप्रतियोगी है, जो जिसके ज्ञान से अवाध्य जिसके अभेद का अप्रतियोगी होता है, वह उसके ज्ञान से अवाध्य उसके भेद-वाला होता है, जैसे कि दूरस्थ दो वृक्षों में से एक—इस अनुमान के द्वारा साध्य की प्रसिद्धि हो जाने के कारण अप्रसिद्धविशेषणता दोष नहीं रहता।

समाधान - यत्-तत् पदों से घटित व्याप्ति अनुगत नहीं होती, अतः दृष्टान्तगत व्याप्ति का पक्षवृत्ति हेतु में ग्रहण सम्भव नहीं। यत्त्व-तत्त्व के स्थान पर यत्किञ्चित् धर्मित्वप्रतियोगित्व-घटित व्याप्ति अपनाने पर घटादिरूप प्रतियोगी के ज्ञान से अवाध्य मिथ्या भेद घटादि में सिद्धि होने पर भी विशेषरूप से जीव-ज्ञानावाध्य भेद की सिद्धि नहीं हो सकेगी। यदि यत्त्व, तत्त्व और स्वत्वादि-घटित व्याप्ति, का अनुगम नहीं होता, तब स्वप्रागभावव्यतिरिक्तेत्यादि विशेषणों से घटित आप के अनुमानों में व्याप्ति-ग्रह क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इसी दोष के कारण उस अनुमान का व्यतिरेकी अथवा अनुमानान्तर में तात्पर्य माना जाता है।

'ब्रह्म तत्त्वतो जीवाभिन्नं न'— इस प्रकार का साध्य बनाने पर यद्यपि दृष्टान्त में साध्य-वैकल्प नहीं होता, क्योंकि कल्पित घट में कल्पित जीव के तात्त्विक भेद के समान

न्यायामृतम्

वात् । न चान्तःकरणस्यैव दुःखानुभवितृत्वात् तदननुभवितृत्वं जीवे नैकान्तम्, त्वन्मतेऽपि दुःखादेरन्तःकरणधर्मत्वेऽपि व्यावहारिकस्य स्वतोऽनर्थरूपदुःखानुभावात्मकबन्धस्य मोक्षसामानाधिकरण्याय जीवस्थत्वाश्यम्भावात् । त्वन्मतेऽपि यदनर्थरूपमहं दुःखीत्यनुभवितृत्वं जीवस्य तदभावो हेतुरिति न कश्चित्क्षुद्रोपद्रवः । न चासंसारित्वादेर्ब्रह्मण्यसिद्धिः जीवेनैकान्त्यं वा, त्वन्मतेऽप्यौपाधिकश्यामत्वादिवत्तस्य व्यवस्थितत्वात् । एवं च जीवेश्वरौ धर्मिज्ञानाबाध्यपरस्परप्रतियोगिकभेदवन्तौ, विरुद्धधर्माधिकरणत्वात्, दहनतुहिनवदित्याद्यपि सुस्थम् ।

विरोधश्च यद्यपि न सहानवस्थानम्, अद्वैतिनं प्रत्यऽसिद्धेः । नापि वध्यघातुकभावः, नाजात एकोऽन्यं हन्ति, नाप्यन्याधार इति न्यायेन तस्य भेदासाधकत्वात् । नापि परस्पराभावव्याप्यत्वं परस्पराभावरूपत्वं वा, कालभेदेन नीलरूपं रक्तरूपं नीलरूपप्रागभावं च प्रत्याश्रये घटे व्यभिचारात् । तथापि परस्परात्यन्ताभावव्याप्यत्वं वा परस्परात्यन्ताभावरूपत्वं वा कालभेदेनापि सामानाधिकरण्यायोग्यत्वं वा विरोधः । संयोगतदत्यन्ताभावयोश्च सामानाधिकरण्यं नेत्यावयोर्मतमिति न तदाश्रये व्यभिचारः । तादृशविरुद्धधर्माश्च स्वतंत्रत्वादयः ।

अद्वैतसिद्धिः

त्वन्मतेऽपि कल्पितघटे कल्पितजीवात् तात्त्विकभेदवत्तात्त्विकाभेदस्याप्यभावादिति—वाच्यम्, तात्त्विकाभेदस्यातात्त्विकेनाभावेन सिद्धसाधस्योक्तत्वात् । नापि—जीवेश्वरौ, धर्मिज्ञानाबाध्यपरस्परप्रतियोगिकभेदवन्तौ, विरुद्धधर्माधिकरणत्वात्, दहनतुहिनवत् । विरोधश्च परस्परात्यन्ताभावरूपत्वम्, तद्व्याप्यत्वं वा, कालभेदेनापि सामानाधिकरण्यायोग्यत्वं वा, संयोगतदत्यन्ताभावयोश्च सामानाधिकरण्यं मतद्वयेऽपि नेति न तदाश्रये व्यभिचार इति—वाच्यम्, धर्मिपदमादाय दोषस्य प्रागेवोक्तत्वाद्, अव्याप्यवृत्तिदुःखशब्दाद्यधिकरणे व्यभिचाराच्च, जीवब्रह्माभेदसिद्धौ स्वतन्त्रत्वास्वतन्त्रत्वादीनां सामानाधिकरण्यायोग्यत्वरूपविरोधस्यैवासिद्ध्या स्वरूपासिद्धेः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तात्त्विक अभेद का भी अभाव होता है, तथापि तात्त्विक अभेद के अतात्त्विक अभाव को लेकर कथित सिद्धसाधनता बनी रहती है।

यह जो अनुमान किया गया है—जीव और ईश्वर धर्मिज्ञानाबाध्य परस्परप्रतियोगिक भेदवाले होते हैं, क्योंकि दोनों विरुद्ध धर्मों के आश्रय हैं, जैसे अग्नि और तुषार। धर्मगत विरोध का अर्थ है—परस्परात्यन्ताभावरूपत्व या तद्व्याप्यत्व अथवा भिन्न कालों में भी एकाधिकरणायोग्यत्व। संयोग और संयोगात्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य दोनों मतों में नहीं माना जाता, अतः उनके आश्रय में व्यभिचार नहीं होता।

वह भी उचित नहीं, क्योंकि धर्मि पद को लेकर दोष पहले ही दिया जा चुका है। दुःख, शब्दादि अव्याप्यवृत्ति पदार्थों के आश्रय में व्यभिचार भी है, क्योंकि एक ही गगन में शब्द और शब्दाभावरूप विरोधी धर्मों की आधारता रहने पर भी भेद नहीं रहता। जीव और ब्रह्म का अभेद सिद्ध होने पर स्वतन्त्रत्व-अस्वतन्त्रत्वादि एक आधार में रह जाते हैं, अतः उनमें सामानाधिकरण्यायोग्यत्वरूप विरोध ही असिद्ध हो जाने से स्वरूपासिद्धि दोष भी है, कल्पित सार्वज्ञ्य और असार्वज्ञ्य की व्यवस्था वर्णगत औपाधिक ह्रस्वत्व और दीर्घत्व के समान कल्पित भेद को लेकर हो जाती है, अतः उसके अनुरोध पर स्वाभाविक भेद मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

न्यायामृतम्

न चासिद्धिः, अल्पशक्तिरसार्वज्ञ्यं पारतंत्र्यमपूर्णता।
उपजीवकत्वं जीवत्वमीशत्वं तद्विपर्ययः॥

"स्वाभाविकं तयोरेतन्नान्यथा तु कथंचन" इत्यादि श्रुतेः। न च कल्पिततायाः सार्वज्ञ्यासार्वज्ञ्यादिव्यवस्थाया वर्णे दीर्घत्वह्रस्वत्वव्यवस्थावत्कल्पितभेदेनैवोपपत्त्या तात्त्विकं भेदं प्रत्यप्रयोजकत्वं सगुणवादोक्तन्यायैः श्रुतसार्वज्ञ्यादेः ब्रह्मणि प्रत्यक्षप्रमाण्यवादोक्तन्यायैर्नित्यनिर्दोषानुभवरूपसाक्षिसिद्धासार्वज्ञ्यादेश्च जीवे सत्यत्वात्। एवं ब्रह्म स्वज्ञानाबाध्यजीवप्रतियोगिकभेदवत्, पदार्थत्वाद् घटवत्। जीवस्यापि जीवान्तराद्भिन्नत्वात् न व्यभिचारः। चेतनत्वं जीवत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदवद्वृत्ति, सर्वचेतनवृत्तित्वाच्चेतनावृत्तित्वरहितत्वाद्वा, शब्दार्थत्ववदित्यादीनि चानु-

अद्वैतसिद्धिः

कल्पितसार्वज्ञ्यासार्वज्ञ्यादिव्यवस्थाया वर्णे ह्रस्वत्वदीर्घत्वादिव्यवस्थावत् कल्पितभेदेनैवोपपत्त्या स्वाभाविकभेदं प्रत्यप्रयोजकत्वाच्च।

न च—"अल्पशक्तिरसार्वज्ञ्यं पारतन्त्र्यमपूर्णता।
उपजीवकत्वं जीवत्वमीशत्वं तद्विपर्ययः॥
स्वाभाविकं तयोरेतन्नान्यथा तु कथञ्चन॥"

इत्यादिश्रुत्या सार्वज्ञ्यादेः स्वाभाविकत्वोक्त्या कल्पितत्वासिद्धिः, अनाद्यविद्यासिद्धत्वेनेदानीन्तनत्वाभावेन च स्वाभाविकत्वोक्तेः, तच्छब्देनोपहितयोरेव परामर्शात्। न तत्र स्वाभाविकत्वोक्तिविरोधः, न ह्युपहितेऽपि सर्वज्ञत्वादिकमागन्तुकम्। नापि—ब्रह्म, स्वज्ञानाबाध्यजीवप्रतियोगिकभेदवत्, पदार्थत्वाद्, घटवत्। चेतनत्वम्, जीवत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदवद्वृत्ति, सर्वचेतनवृत्तित्वात् चेतनावृत्तित्वरहितत्वाद्वा, शब्दार्थत्ववदिति—वाच्यम्, स्वपदधर्मिपदाननुगमतादवस्थ्याद्, अन्त्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—ईश्वर और जीव में स्वाभाविक विरोधी धर्मों का प्रतिपादन श्रुति करती है—

अल्पशक्तिरसार्वज्ञ्यं पारतन्त्र्यमपूर्णता।
उपजीवकत्वं जीवत्वमीशत्वं तद्विपर्ययः॥
स्वाभाविकं तयोरेतन्नान्यथा तु कथंचन।

[अल्पशक्ति, असर्वज्ञता, परतन्त्रता, अपूर्णता और ईश्वरापेक्षित्व—यही जीवगत जीवत्व है और उनके विपर्यय का नाम ईश्वरत्व है। उक्त विरोधी धर्म जीव और ईश्वर में स्वाभाविक रहते हैं, विरोध को छोड़ कर कभी नहीं रहते]।

समाधान—अनादि अविद्या के द्वारा प्रसाधित एवं आधुनिकत्व या प्रातीतिकत्व न होने के कारण उक्त धर्मों को स्वाभाविक कह दिया गया है, क्योंकि 'तयोः'—इस पद में 'तत्' पद से शुद्ध चैतन्य का परामर्श न कर उपहित चेतन का ही परामर्श किया गया है, अतः उनमें स्वाभाविकत्व की उक्ति विरुद्ध नहीं, क्योंकि उपहित चेतन में सर्वज्ञत्वादि आगन्तुक नहीं होते, अतः उन्हें स्वाभाविक कहना अनुचित नहीं।

ये जो अनुमान किये गये हैं—(१) ब्रह्म अपने ज्ञान के द्वारा अबाध्य जीवप्रतियोगिक भेद का आश्रय होता है, क्योंकि पदार्थ है, जैसे घट। (२) चेतनत्व जीवत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकधर्मिज्ञानाबाध्य भेद के आधार में वृत्ति होता है, क्योंकि सभी चेतनों में वृत्ति है अथवा चेतनावृत्तित्व से रहित है, जैसे शब्दार्थत्व।

न्यायामृतम्

मानानि जीवेश्वरभेदे प्रमाणानि । विपक्षे ब्रह्मणोऽपि जीववत्संसाराद्यापत्तिः । एतेन

अप्रमेयेऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्न कथंचन ।
प्रमेयस्य त्वनात्मत्वात्तत्र भेदानुमेष्यते ॥

इति निरस्तम्, त्वन्मतेऽप्यात्मनः शब्दलिंगादिजन्यवृत्तिव्याप्यत्वात् । अन्यथा

अप्रमेयेऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्न कथंचन ।
प्रमेयस्य त्वनात्मत्वात्तदैक्यानुमितिः कथम् ॥

इति सुवचत्वेन त्वदीया आत्माभेदे अनुमाद्युक्तिरयुक्ता स्यात् ।

जीवब्रह्मभेदानुमानानि ॥ १९ ॥

अद्वैतसिद्धिः

हेतोर्जीवत्वे व्यभिचाराच्च, जड़वृत्तित्वाद्युपाधिसत्त्वेन विपक्षबाधकाभावेन चाप्रयोजकत्वात् । ब्रह्मणो जीववत्संसारित्वापत्तावि़ष्टापत्तिः । कल्पितभेदेन वा परिहारो विधेयः । तदुक्तम्—

'अप्रमेयेऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्न कथंचन ।
प्रमेयस्य त्वनात्मत्वात् तत्र भेदानुमेष्यते ॥'

शुद्धचैतन्ये धर्मानधिकरणतयानुमानाप्रसरः । यत्र प्रसरः, तत्रेष्टापत्तिरित्यर्थः । न च एवमैक्यानुमानमपि कथम् ? भवत्पद्यस्य तदैक्यानुमितिः कथमिति पठितुं शक्यत्वादिति—वाच्यम्, शुद्धचैतन्यैक्यस्य शब्दैकगम्यत्वेन तत्राननुमेयत्वस्येष्टत्वात् । न च तद्यैक्यानुमानोपन्यासानर्थक्यम्, तस्य भेदे तात्त्विकत्वभ्रममात्रनिरासफलकत्वात् । तस्मात् ।

अप्रसिद्धविशेषत्वादन्यथैवोपपत्तितः ।
सर्वशक्त्यल्पशक्त्यादेर्न भेदे तन्त्रता ततः ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ जीवब्रह्मभेदानुमानभङ्गः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वे अनुमान भी संगत नहीं, क्योंकि 'स्व' पद और 'धर्मि' पद से घटित होने के कारण अननुगम दोष से युक्त हैं, अन्तिम हेतु जीवत्व में व्यभिचरित भी है, 'जड़वृत्तित्व' उपाधि भी है तथा विपक्ष-बाधक तर्क से रहित होने के कारण अप्रयोजकत्व भी उनमें दोष है। यदि कहा जाय कि 'ईश्वरो यदि जीवाद्भिन्नो न स्यात्, तदा जीववदेव संसारी स्यात्'—इस प्रकार का विपक्ष-बाधक तर्क है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि ब्रह्म में संसारित्वापत्ति इष्ट ही है। अथवा कल्पित भेद को लेकर सभी अनुपपत्तियों का परिहार किया जा सकता है, जैसा कि कहा है—

अप्रमेयेऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्न कथञ्चन ।
प्रमेयस्य त्वनात्मत्वात् तत्र भेदानुमेष्यते ॥

[अप्रमेयभूत शुद्ध तत्त्व में अनुमान की कथमपि गति नहीं और प्रमेय वस्तु अनात्मा होती है, उसीमें भेद का अनुमान होता है अर्थात् शुद्ध चैतन्य किसी भी धर्म का अधिकरण न होने के कारण अनुमान वहाँ प्रवृत्त नहीं होता और जहाँ अनुमान की प्रवृत्ति होती है, वहाँ भेदानुमिति इष्ट ही मानी जाती है।

शङ्का—यदि शुद्ध में अनुमान की गति नहीं, तब उसमें अभेद या ऐक्य का अनुमान भी कैसे होगा ? अतः आप का पद्य ऐसे भी पढ़ा जा सकता है—

: १० :

जीवानामन्योन्यभेदेऽनुमानादिविचारः

न्यायामृतम्

जीवानामन्योन्यं भेदे तु (१) चैत्रो मैत्रप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदवान्, मैत्रानुसंहितदुःखाननुसंधातृत्वात्, घटवद् इह च दहनतुहिनादौ क्लृप्ततयानुसन्धानाननुसन्धानरूपविरुद्धधर्मयोरेव प्रयोजकत्वात्। (२) विमतं सुरभिधूमरहितं चन्दन-

अद्वैतसिद्धिः

एवं जीवानामपि न परस्परभेदानुमानम्। (१) चैत्रो मैत्रप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदवान्, मैत्रप्रतियोगिकतात्त्विकाभेदवान्नेति वा, मैत्रानुसंहितदुःखाननुसन्धातृत्वात्, मैत्रस्मृतसर्वास्मर्तृत्वात्, मैत्रानुभूतसर्वाननुभावितृत्वाच्च, घटवदित्यत्र प्रथमसाध्ये धर्मिपदविकल्पेन द्वितीयसाध्ये तात्त्विकाभेदस्यातात्त्विकभेदेन सिद्धसाधनाद्, उपहितस्य पक्षत्वे अर्थान्तरात्, चैतन्यमात्रपक्षत्वे हेत्वसिद्धेः, साधनैकदेशस्याननुसन्धानादेरुपाधित्वसंभवाच्च। (२) विमतो बन्धध्वंसः, स्वप्रतियोगितावच्छेदकाव-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अप्रयेमेऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्न कथंचन।
प्रमेयस्य त्वनात्मत्वात् तदैक्यानुमितिः कथम्॥

समाधान—शुद्ध चैतन्य की एकता तो वेदान्तैकसमधिगम्य है, अतः उसमें अननुमेयत्व अभीष्ट ही है। अभेदानुमान का उपन्यास केवल भेदगत तात्त्विकत्व-भ्रम की निवृत्ति के लिए ही किया जाता है। अतः भेद-साधक अनुमानों में अप्रसिद्ध विशेषणता होने एवं सर्वज्ञत्वासर्वज्ञत्वादि विरोधी धर्मों की अन्यथा (भेद के बिना) ही उपपत्ति होने के कारण विरोधी धर्मों में भेद-साधकता नहीं होती।

जीवों में परस्पर भेद का भी अनुमान नहीं हो सकता—(१) 'चैत्र मैत्रप्रतियोगिक धर्मिज्ञानाबाध्यभेद का आश्रय होता है अथवा मैत्रप्रतियोगिक तात्त्विक अभेदवान् नहीं होता, क्योंकि मैत्र के द्वारा स्मृत दुःखों का अस्मर्ता है, या मैत्र के द्वारा स्मृत समस्त विषयों का अस्मर्त्ता है अथवा मैत्र द्वारा अनुभूत समस्त विषय का अननुभविता है, जैसे 'घट'—इस अनुमान में प्रथम साध्य के घटक 'धर्मि' पद का पूर्ववत् विकल्प उठाकर एवं द्वितीय साध्य में तात्त्विक अभेद के अतात्त्विक अभाव को लेकर सिद्धसाधनादि दोषों का उद्भावन किया जा सकता है, उपाधि-विशिष्ट चैतन्य को पक्ष बनाने पर अर्थान्तरता है [क्योंकि द्वैती को अद्वैत-विरोधी भेद सिद्ध करना अभीष्ट है, किन्तु उपहितगत औपाधिक भेद अनुपहित गत ऐक्य या अद्वैतत्व का विरोधी नहीं होता, अतः अपने उद्देश्य के विपरीत अद्वैताविरोधी भेद सिद्ध हो जाने से अभिमत अर्थ की सिद्धि न होकर अर्थान्तर की सिद्धि होती है]। शुद्ध चैतन्य को पक्ष बनाने पर हेत्वसिद्धि है, क्योंकि शुद्ध चैतन्य में स्मर्तृत्वादि नहीं माने जाते। दृष्टान्तभूत घटादि जड़ पदार्थ किसी भी वस्तु का स्मरण नहीं करते, अतः इस अनुमान में प्रयुक्त हेतु का केवल 'अननुसन्धातृत्व' भाग घटादि में साध्य का व्यापक एवं चैत्रादि पक्ष में साधन का अव्यापक होने के कारण उपाधि भी है।

(२) विवादास्पद अविद्यादि बन्ध का ध्वंस, स्वप्रतियोगितावच्छेदक (बन्धत्व) धर्म से अवच्छिन्न बन्ध के आधारभूत चैत्रात्मा का जो (चैत्रप्रतियोगिक और प्रतियोगीभूत

न्यायामृतम्

प्रभववह्निरहितत्वादित्यादाविवासिद्धिवारकविशेषणत्वं न दोषः। (२) एवं चैत्रो मैत्रप्रतियोगिकतात्त्विकाभेदवान्न, मैत्रस्मृतसर्वास्मृतत्वात्, मैत्रानुभूतसर्वाननुभवितृत्वाच्च, घटवत्। (४) विमतो बन्धध्वंसः स्वप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नाधारप्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदवन्निष्ठः, बन्धध्वंसत्वात्, सम्मतवत्। (३) जीवः संसारी वा संसारध्वंसाधारो वा स्वज्ञानाबाध्यजीवप्रतियोगिकभेदवान् स्वज्ञानाबाध्यसंसारिप्रतियोगिकभेदवान्वा स्वज्ञानाबाध्यसंसारध्वंसाधिकरणप्रतियोगिकभेदवान्वा पदार्थ-

अद्वैतसिद्धिः

च्छिन्नाधारप्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदवन्निष्ठः, बन्धध्वंसत्वात् सम्मतवत्। (३) जीवः, संसारी, संसारध्वंसाधारो वा, स्वज्ञानाबाध्यजीवप्रतियोगिकभेदवान्, संसारिप्रतियोगिकस्वज्ञानाबाध्यभेदवान् वा, स्वज्ञानाबाध्यसंसारध्वंसाधिकरणप्रतियोगिकभेदवान्वा, पदार्थत्वाद्, घटवत्। विमत आनन्दः, स्वनिष्ठदुःखविरोधित्वव्याप्यधर्मेण सजातीयप्रतियोगिकस्वज्ञानाबाध्यभेदवान्, दुःखविरोधित्वाद्, दुःखाभाववद्, इत्यादिषु बन्धप्रतियोगिकभेदवति कालादौ ध्वंसस्य विद्यमानत्वेनार्थान्तराद्, दुःख-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

चैत्र के ज्ञान से अबाधित) मैत्रनिष्ठ भेद है, उसके अनुयोगीभूत मैत्रादि मुक्तात्माओं में रहता है, क्योंकि बन्ध का ध्वंस है, जैसे अर्जुन के शोकजातीय सन्ताप का कंसध्वंसी में ध्वंस एकात्मवाद में बद्धात्मवृत्ति बन्धन का ध्वंस जिस मुक्तात्मा में रहता है, वह भिन्न नहीं, अतः अनेकात्मवाद में ही यह सम्भव है कि बन्ध-ध्वंस भिन्न आत्मा में रहे। उसमें भी यदि 'स्वप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न' न कह कर स्वप्रतियोग्याधारप्रतियोगिक भेद का ग्रहण किया जाता है, तब भी बाध हो जाता है, क्योंकि जो बन्ध व्यक्ति जिस आत्मा में हैं, उसका ध्वंस उसी आत्मा में होगा, भिन्न आत्मा में नहीं, अतः 'प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं' कहा गया है। मुक्त आत्मा में रहनेवाले बन्ध-ध्वंस के प्रतियोगितावच्छेदकीभूत बन्धत्व से अवच्छिन्न बद्धात्मवृत्ति सकल बन्धनों के आश्रयीभूत भिन्न आत्माओं का मुक्तात्मा में भेद मानने पर ही बन्ध-ध्वंस भिन्नात्मवृत्ति हो सकेगा। व्यावहारिक भेद को लेकर सिद्ध-साधनता का उद्भावन न किया जा सके, अतः उसकी व्यावृत्ति करने के लिए भेद का विशेषण दिया गया—प्रतियोगिज्ञानाबाध्यत्व। व्यावहारिक भेद आत्मज्ञान से बाधित होता है]।

[(३) बद्ध और मुक्तात्मा का भेद सिद्ध कर बद्ध आत्माओं का परस्पर भेद सिद्ध करने के लिए अनुमान-प्रयोग किया जाता है, इसमें तीन पक्षों और तीन ही साध्यों के विकल्प हैं, जिनका क्रमशः अन्वय विवक्षित है, फलतः तीन अनुमान पर्यवसित होते हैं] (क) जीव स्वाज्ञानाबाध्य जीवप्रतियोगिक भेदवान् होता है, क्योंकि पदार्थ है, जैसे—घट। (ख) संसारी संसारिप्रतियोगिक स्वज्ञानाबाध्य भेद का आश्रय होता हैं, क्योंकि पदार्थ है, जैसे—घट। (ग) संसार-ध्वंस का आधार आत्मा, स्वज्ञानाबाध्य संसारध्वंसाधिकरणप्रतियोगिक भेदवाला होता है, क्योंकि पदार्थ है, जैसे—घट। विवादास्पद आनन्द (सुख), स्वनिष्ठ (आनन्दगत) दुःखविरोधित्व-व्याप्य (आनन्दत्व) धर्म के द्वारा सजातीय आनन्दप्रतियोगिक स्वज्ञानाबाध्य भेदवाला होता है, क्योंकि दुःख का विरोधी है, जैसे—दुःखाभाव। आनन्द का भेद सिद्ध हो जाने पर आत्मभेद अपने-आप सिद्ध हो जाता है।

इन कथित सभी अनुमानों में अर्थान्तरता दोष है, क्योंकि बन्धप्रतियोगिकभेद के

न्यायामृतम्

त्वाद्, घटवत्। विपक्षे बाधकस्य वक्ष्माणत्वात् नाभाससाम्यम्। आत्मभेदमात्रे तु आत्मा, आत्मप्रतियोगिकस्वज्ञानाबाध्यभेदवान्, पदार्थत्वाद्, घटवत्। विमत आनन्दः स्वनिष्ठदुःखविरोधित्वव्याप्यधर्मेण सजातीयप्रतियोगिकस्वज्ञानाबाध्यभेदवान्, दुःख-विरोधित्वाद्, दुःखाभाववत्। आत्मवैभवपक्षे आकाशः आत्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञाना-बाध्यभेदाधारविशेषगुणवद्विभुव्यतिरिक्तः, द्रव्यत्वात्, पृथिवीवदित्याद्यपि द्रष्टव्यम्। केचितु पृथिवीत्वं जलत्वतेजस्त्ववायुत्वमनस्त्वेतरद्रव्यत्वसक्षाद्व्याप्यजातिभिन्नं मेमत्वात्, जलत्ववत्। गगनत्वजातिवादिनं प्रति गगनत्वेतरेत्यपि विशेष-णोयम्। न चोक्तजातिमत्पदार्थान्तरसिद्ध्यार्थन्तरम्, लाघवेन क्लृप्ते धर्मिणि धर्ममात्रेणानुमानपर्यवसानात्। सत्ता द्रव्यत्वान्यात्मनिष्ठजात्यन्या द्रव्यत्वं वा सत्तान्यात्मनिष्ठजात्यन्यत्, मेयत्वात्, घटत्ववत्। आत्माणुत्वमते आत्मा द्रव्यत्व-

---

अद्वैतसिद्धिः

निगड़साधारणबन्धत्वासंभवाच्च, स्वपदाननुगमाच्च। चैत्रबन्धध्वंसः, चैत्रबन्धाधार-प्रतियोगिकभेदवन्निष्ठः, बन्धध्वंसत्वात्, संमतवदित्याभाससाम्याच्च, विपक्षबाधका-भावाच्च। ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकं न नानाबन्धानुगतबन्धत्वम्, तस्य सामान्या-भावत्वाभावात्।

एतेन—(१)आत्ममात्रभेदे आत्मा, आत्मप्रतियोगिकस्वज्ञानाबाध्यभेदवान्, पदार्थ-त्वाद्, घटवत्। आत्मवैभवपक्षे (२) आकाशः, आत्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदा-धारविशेषगुणवद्विभुव्यतिरिक्तः, द्रव्यत्वात्, पृथिवीवत्। (३) पृथिवीत्वं जलत्वतेजस्त्व-वायुत्वमनस्त्वेतरद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिभिन्नम्, प्रमेयत्वाज्जलत्ववत्। गगनत्वजा-तिपक्षे तदितरत्वमपि विशेषणम्। (४) सत्ता, द्रव्यत्वान्यात्मनिष्ठजात्यन्या, द्रव्यत्वं वा

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

आश्रयीभूत काल में भी ध्वंस रहता है, अखण्ड काल एक है, अतः प्रकृत साध्य एकत्व का विरोधी नहीं, अनेकत्व की सिद्धि इसके द्वारा नहीं हो सकती। दूसरी बात यह भी है कि दृष्टान्तभूत निगड़ादि बन्ध से लेकर दार्ष्टान्तभूत अविद्यादि बन्ध में रहनेवाले बन्धत्व धर्म का निर्वचन भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'चैत्रगत बन्ध का ध्वंस, चैत्रगतबन्ध के आधार से भिन्न में रहता है, क्योंकि बन्ध-ध्वंस है'—इत्यादि अनुमाना-भासों की समानता तथा विपक्ष-बाधक तर्कों का अभाव होने के कारण अप्रयोजकत्व दोष भी उक्त अनुमानों में है।

यह जो आत्मा के भेद मात्र को आत्मा का धर्म मान कर कहा गया है कि (१) आत्मा, आत्मप्रतियोगिक स्वज्ञानाबाध्य भेद का आधार होता है, क्योंकि पदार्थ है, जैसे घटादि। आत्मविभुत्व-पक्ष में (२) आकाश, आत्मप्रतियोगिक धर्मिज्ञानाबाध्य भेद के आधारभूत विशेष गुणविशिष्ट विभु द्रव्य से भिन्न होता है, क्योंकि द्रव्य है, जैसे—पृथिवी [काल और दिशादि में अर्थान्तरता की व्यावृत्ति करने के लिए विशेषगुणवत् कहा गया है, कालादि में रूपादि विशेष गुणों का अभाव होता है]। (३) पृथिवीत्व जाति, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व और मनस्त्व—इन पाँच जातियों से भिन्न द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति से भिन्न है क्योंकि प्रमेय है, जैसे जलत्व। गगनत्व को जो लोग जाति मानते हैं, उनके मतानुसार पृथिवीत्वादि के साथ गगनत्वेतरत्व भी विशेषण देना चाहिए। (४) सत्ता, द्रव्यत्व से अन्य आत्मनिष्ठ जाति से भिन्न होती है, अथवा द्रव्यत्व, सत्ता से अन्य

न्यायामृतम्

व्याप्यजातिमान् , अविभुद्रव्यत्वात् , पृथिवीवदित्यादिभिरात्मत्वजातिसिद्धौ तात्त्विकात्मभेदसिद्धिः । जातेर्धर्मिज्ञानाबाध्यभेदं विनाऽयोगात् । अन्यथा व्यक्त्यभेदः क्वापि दोषो न स्यात् । विपक्षे आत्मत्वस्य जातित्वे लाघवम् । औपाधिकत्वे तस्योपाधिज्ञानाधीनत्वेन गौरवं बाधकम् । आकाशादिकं तु धर्मिग्राहकमानेनैकतया सिद्धमिति नाकाशत्वं जातिरित्याहुः । जीवानामन्योन्यभेदेनुमानानि ॥ २० ॥

अद्वैतसिद्धिः

सत्तान्यात्मनिष्ठजात्यन्यत् , मेयत्वाद् । घटवत् , आत्माणुत्वमते (५) आत्मा, द्रव्यत्वव्याप्यजातिमान् , अविभुद्रव्यत्वाद् , घटवदित्यादिभिरात्मत्वजातिसिद्धौ तात्त्विकात्मभेदसिद्धिरिति—निरस्तम् ; आद्ये जडत्वमुपाधिः, आत्मपदयोः स्थाने चैत्रपदं प्रक्षिप्याभाससाम्यं च । द्वितीये शब्दानाश्रयत्वमुपाधिः, विभावात्मान्यत्वं विशेषणं दत्वा आत्माकाशभिन्नस्य विभोर्विशेषगुणवतः साधनप्रसङ्गाच्च । जातिपक्षकानुमानेषु कल्पितव्यक्तिभेदेनापि तस्याः जातेरुपपत्त्या तात्त्विकव्यक्तिभेदपर्यवसायित्वेनार्थान्तरात् । न च- जातेः धर्मिज्ञानाबाध्यभेदं विनाऽयोगः अन्यथा व्यक्त्यभेदः क्वापि जातिबाधको न स्यादिति—वाच्यम् , जातेर्व्यक्तिभेदसमानसत्ताकत्वनियमेन प्रातिभासिकभेदस्य व्यावहारिकजातिं प्रति न साधकत्वमिति व्यक्त्यभेदस्य जातिबाधकत्वसम्भवात् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ जीवभेदानुमानभङ्गः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

आत्मनिष्ठ जाति से भिन्न है, क्योंकि प्रमेय है, जैसे—घट। आत्माणुत्व मत में—(५) आत्मा, द्रव्यत्व-व्याप्यजातिवाला होता है, क्योंकि अविभु द्रव्य है, जैसे घट—इत्यादि अनुमानों के द्वारा आत्मत्व जाति के सिद्ध हो जाने पर आत्मा में तात्त्विक भेद सिद्ध हो जाता है।

वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है, क्योंकि प्रथम (आत्मपक्षक पदार्थत्व हेतुक) अनुमान में 'जड़त्व' उपाधि है। इसी प्रकार पक्ष और साध्य के घटकीभूत आत्मपद के स्थान पर 'चैत्र' पद का प्रक्षेप कर देने पर वही अनुमान अनुमानाभास हो जाता है, क्योंकि चैत्र में चैत्रप्रतियोगिक भेद बाधित है। इस अनुमानाभास का साम्य प्रकृत अनुमान में दिखाया जा सकता है। द्वितीय (आकाशपक्षक) अनमान में 'शब्दानाश्रयत्व' उपाधि है। उक्त अनुमान के घटक विभु अर्थ में 'आत्मान्यत्व' विशेषण देकर आत्मा और आकाश से भिन्न विशेष गुणवाले किसी अनिष्ट विभु द्रव्य की भी सिद्धि की जा सकती है। पृथिवीत्वादि जातिपक्षक अनुमानों में कल्पित व्यक्ति-भेद मानकर पृथिवीत्वादि में जातित्व की उपपत्ति कर तात्त्विक व्यक्तिभेद की सिद्धि को रोका और अर्थान्तरता का उद्भावन किया जा सकता है।

शङ्का—धर्मिज्ञानाबाध्य (तात्त्विक) भेद के विना जाति की उपपत्ति नहीं हो सकती, अन्यथा कल्पित भेद को लेकर तो गगनत्वादि में भी जातित्व का उपपादन किया जा सकता है, अतः 'एकव्यक्तिवृत्तित्व' कहीं भी जातित्व का बाधक न हो सकेगा।

समाधान—जाति के लिए तात्त्विक भेद की अपेक्षा नहीं, अपितु जाति में व्यक्ति-भेद का समानसत्ताकत्व नियत होता है, अतः प्रातिभासिक भेद प्रातिभासिक जाति को ही सिद्ध कर सकेगा, व्यावहारिक जाति को नहीं, फलतः गगनादि में व्यावहारिक व्यक्ति-भेद न होने के कारण एकव्यक्तिवृत्तित्व निश्चित रूप से गगनत्व जाति का बाधक है।

: २१ :

आत्मभेदे अनुकूलतर्कविचारः

न्यायामृतम्

आत्मभेदे तु अन्योऽन्यं सुखदुःखाद्यनुसन्धानं स्यात्। न चोपाधिभेदोऽननुसन्धाने तन्त्रम्, हस्तपादाद्युपाधिभेदेऽप्यनुसन्धानदृष्टेः। नापि विश्लिष्टोपाधिभेदस्तत्र तन्त्रम्। मातृसुखादेर्गर्भस्थेनानुसन्धनापातात्।

उद्यतायुधदोर्दण्डाः पतितस्वशिरोक्षिभिः।
पश्यन्तः पातयन्ति स्म कबन्धा अप्यरीन् युधि॥

इति भारतोक्त्या विश्लेषेऽप्यनुसन्धानदृष्टेश्च। नाप्यतीतादिशरीरेष्विव शरीरभेदस्तत्र

अद्वैतसिद्धिः

ननु—यद्यात्मैक्यं स्यात्, चैत्रेण सर्वदुःखाद्यनुसन्धानं स्याद् इति—चेन्न, औपाधिकभेदेनाननुसन्धानोपपत्तेः। ननु—हस्तपादाद्युपाधिभेदेऽप्यनुसन्धानदर्शनाद् उपाधिभेदोऽप्रयोजकः, न च विश्लिष्टोपाधिभेदस्तत्र तन्त्रम्, मातृसुखादेर्गर्भस्थेनानुसन्धानापातात्। भारते—

'उद्यतायुधदोर्दण्डाः पतितस्वशिरोक्षिभिः।
पश्यन्तः पातयन्ति स्म कबन्धा अप्यरीन्युधि॥'

इत्यादिना विश्लेषेऽप्यनुसन्धानोक्तेश्चेति—चेन्न, न हि वयं यत्किंचिदुपाधि-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैती—जीव-भेद की सिद्धि में उपोद्बलक तर्कों का प्रदर्शन हो सकता है—'यद्यात्मैक्यं स्यात्, चैत्रेण मैत्रादिदुःखानुसन्धानं स्यात्।'

अद्वैती—यद्यपि स्वरूपतः आत्मा एक है, तथापि वह अतःकरणादि उपाधि से अवच्छिन्न होकर ही दुःखादि का अनुसन्धाता होता है, अन्तःकरणादि उपाधियों का भेद होने से आत्मा भी औपाधिक भेदवान् माना जाता है, इतने मात्र से ही परकीय दुःखों का अननुसन्धातृत्व बन जाता है।

द्वैती—हस्त-पादादि उपाधियों का भेद होने पर भी पूरे शरीर के दुःखादि का ज्ञान आत्मा को होता है, क्योंकि पूरे शरीर में आत्मा एक है। इसी प्रकार यदि सभी शरीरों में आत्मा एक है, तब सभी शरीरों में होनेवाली घटनाओं की अनुभूति आत्मा को होनी चाहिए, नहीं होती, उसका एक मात्र कारण यह है कि शरीर के भेद से आत्मा का स्वाभाविक भेद होता है, औपाधिक नहीं। यदि कहा जाय कि हस्त-पादादि उपाधियाँ परस्पर श्लिष्ट (सम्बद्ध) हैं, अतः इनका भेद दुःखादि के अनुसन्धान का विरोधी नहीं, किन्तु शरीररूप उपाधियाँ परस्पर विश्लिष्ट (असम्बद्ध) हैं, अतः उनके भेद से सर्वानुसन्धातृत्व नहीं होता। तो वैसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्लिष्ट उपाधियाँ यदि अनुसन्धातृत्व को नहीं रोकतीं, तब माता के गर्भ में अवस्थित शिशु को मातृशरीर के दुःखादि का अनुस्मरण होना चाहिए, क्योंकि माता का शरीर और गर्भस्थ शिशु का शरीर परस्पर श्लिष्ट हैं, विश्लिष्ट नहीं। केवल इतना ही नहीं, अपितु उपाधियों का विश्लेष होने पर भी अनुसन्धातृत्व महाभारत में प्रतिपादित है—

उद्यतायुधदोर्दण्डाः पतितस्वशिरोऽक्षिभिः।
पश्यन्तः पातयन्ति स्म कबन्धा अप्यरीन् युधि॥

[योद्धाओं के केवल धड़ अपने सुदृढ़ बाहुओं में शस्त्रास्त्र धारण किए हुए अपने धराशायी

न्यायामृतम्

तन्त्रम्, तद्भेदेऽपि बाल्येऽहं दुःखीत्यनुसन्धानस्य जातिस्मरस्य च जन्मान्तरेऽहं दुःखीत्यनुसन्धानस्य योगिनश्च नानादेहगभोगानुसन्धानस्य च दर्शनात्। न च वयं सदा वर्तमानतया अनुभवं स्मरणं वा अनुसन्धानं ब्रूमः, किं नाम कदाचित् स्वीयतयाऽनुभवमात्रम्। न च तन्नास्त्यतीते सुखादौ। न चान्तःकरणरूपोपाधिभेदस्तत्र तन्त्रम्। योगिनोऽन्तःकरणमेकमेवेति वाच्यम्, चैतन्यैक्येऽप्यन्तःकरणभेदादननुसन्धानस्य मां प्रत्यद्याप्यसिद्धत्वेन शरीरभेदवच्चक्षुरादिकरणभेदवच्च तद्भेदस्याप्यप्रयोजकत्वात्।

अद्वैतसिद्धिः

मात्रमननुसन्धानप्रयोजकं ब्रूमः, किन्त्वन्तःकरणरूपोपाधिभेदमविद्याभेदं वा। स च भेदः कबन्धे योगिनि च नास्त्येव। तेन तत्रानुसन्धानं चैत्रमैत्रयोश्चास्तीति अननुसन्धानम्। एतेन—शरीररूपोपाधिभेदस्याननुसन्धानप्रयोजकत्वे बाल्यानुभूतस्य यौवने जातिस्मरेण पूर्वजन्मानुभूतस्य योगिना नानाशरीरानुभूतस्य च स्मरणं न स्यादिति—निरस्तम्, शरीरभेदस्य तत्रातन्त्रत्वाद्, योगिजातिस्मर्तॄणामन्तःकरणैक्यात्। न च—चैतन्यैक्ये अन्तःकरणभेदस्य नाननुसन्धानप्रयोजकत्वम्, चक्षुरादिकरणभेदेऽप्यनु-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शिरों में अवस्थित नेत्रों के द्वारा देख-देख कर शत्रुओं का संहार कर रहे थे]। अतः उपाधियों का विश्लेष होने पर भी अनुसन्धातृत्व तथा विश्लेष न होने पर भी अननुसन्धातृत्व यह सिद्ध कर रहा है कि उपाधि-भेद दुःखादि के अननुसन्धातृत्व का प्रयोजक नहीं होता।

अद्वैती—हम सामूहिकरूप से सभी उपाधियों पर शास्त्रार्थ नहीं करते, अपितु हमारा इतना ही कहना है कि अन्तःकरणरूप उपाधि के भेद अथवा अविद्या-भेद को ही अननुस्मरणता का नियामक मानते हैं। हस्त-पादादि का भेद होने पर भी अन्तःकरण का भेद न होने से जैसे पूरे शरीर की घटनाओं का भान होता है, वैसे ही योगिगणों के कबन्ध (धड़) और शिर का विश्लेष होने पर भी अन्तःकरण का भेद न होने से ही अनुसन्धातृत्व सम्पन्न हो जाता है और भिन्न-भिन्न शरीरों में अन्तःकरणों का भेद हो जाने के कारण चैत्रादि में वर्सानुसन्धातृत्व का न होना सर्वथा न्यायसंगत है।

न्यायामृतकार का जो यह कहना है कि शरीररूप उपाधि के भेद को अननुसन्धान का प्रयोजक मानने पर बाल्य शरीर में अनुभूत पदार्थों का युवा अवस्था में, जातिस्मर [जो विशिष्ट व्यक्ति अपने पूर्व जन्म का स्मरण करते देखे जाते हैं, उन व्यक्तियों] के द्वारा एव योगियों के द्वारा अपने भिन्न-भिन्न शरीरों में अनुभूत पदार्थों का स्मरण नहीं होना चाहिए, क्योंकि जैसे जातिस्मर और योगियों के शरीरों का भेद होता है, वैसे ही बाल्य और यौवन शरीरों का भी भेद होता है।

न्यायामृतकार का वह कहना इसीलिए निरस्त हो जाता है कि शरीररूप उपाधियों के भेद को अननुसन्धातृत्व का प्रयोजक नहीं माना जाता, अपितु अन्तःकरण के भेद को। जैसे बाल्य और युवा अवस्था के शरीरों का भेद हो जाने पर भी अन्तःकरण का भेद नहीं होता, वैसे जातिस्मर व्यक्तियों और योगियों के शरीरों का भेद होने पर भी अन्तःकरण का भेद नहीं होता, उनके सभी शरीरों का नियन्त्रण एक ही अन्तःकरण के द्वारा होता है।

न्यायामृतम्

त्वन्मते प्रत्यहं सुषुप्तावन्तःकरणलयेऽपि पूर्वेद्युरहं दुःखीत्यनुसन्धानाच्च सुषुप्तप्रलीनमुक्तानामन्तःकरणभेदाभावेन संसारिदुःखाद्यनुभवापाताच्च। न चान्तःकरणैकत्वानैकत्वे अनुसधनाननुसन्धानयोस्तन्त्रे, मुक्तादेः स्वरूपसुखाननुभवापातात् । अन्तःकरणना-

अद्वैतसिद्धिः

सन्धानदर्शनादिति - वाच्यम्, अन्यकरणभेदेन तथा दर्शनेऽप्यन्तःकरणभेदस्य तदैक्याध्यासापन्ने अननुसन्धानप्रयोजकत्वं कल्प्यते, अन्यथा ब्रह्मैक्यस्य जीवे श्रुतिसिद्धतया सर्वानुसन्धानापत्तेः। न च—अन्तःकरणस्य प्रत्यहं सुषुप्तौ विलयेन पूर्वदिनानुभूतस्याननुसन्धानापत्तिरिति—वाच्यम्, संस्कारात्मनावस्थितस्यैव पुनरुद्बोधेन तत्रान्तःकरणभेदाभावात् । न च—एवं सुषुप्तप्रलीनमुक्तानामननुसन्धानप्रयोजकान्तःकरणभेदाभावात् संसारिदुःखानुसन्धानापत्तिरिति—वाच्यम्, तेषामनुसन्धानप्रयोजकान्तःकरणैक्याध्यासरूपसामग्रीविरहात्। न हि प्रतिबन्धकमात्रेण कार्यविरहः, किंतु सामग्रीविरहेणापि । न च-एवं मुक्तस्य स्वरूपसुखानुभवोऽपि न स्यादिति—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—चैत्र मैत्रादि के शरीरों में यदि एक ही चेतन्य तत्त्व विराजमान है, तब अन्तःकरणरूप उपाधियों का भेद वसे ही अकिञ्चित्कर है, जैसे कि एक ही शरीर में चक्षुरादि करणों का भेद। अतः चैत्रादि को सभी के दुःखों का अनुस्मरण होना चाहिए।

समाधान—यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि केवल अन्तःकरण का भेद ही अननुसन्धातृत्व का प्रयोजक होता है, बाह्य करणों का भेद नहीं। अन्तःकरण के साथ चैतन्य का तादात्म्याध्यास ही जीवभाव का नियामक माना जाता है, अतः जीव के अहन्त्व का क्षेत्र अन्तःकरण की परिधि में ही अवस्थित होता है। उसके बाहर की घटनाओं का चित्राङ्कन उसके स्मृतिपटल पर होता ही नहीं। यदि अन्तःकरण की दीवारें अवरोधक न हों, तब जीव में ब्रह्म का अभेद श्रुतियों में प्रतिपादित ही है, सभी जीवों को सर्वानुसन्धान होना चाहिए।

शङ्का—अन्तःकरण का प्रत्येक दिन सुषुप्ति में विलय हो जाता है, सुषुप्ति के अनन्तर नये अन्तःकरण का अविद्या निर्माण करती है, अतः पूर्व दिन के अनुभूत पदार्थों का अनुस्मरण किसी को भी नहीं होना चाहिए।

समाधान—सुषुप्ति में संस्काररूपेण अन्तःकरण रहता है, स्थूल अन्तःकरण की व्यापार-प्रणालीक अवरोध हो जाने के कारण उसका विलय कह दिया जाता है, वस्तुतः उसका न तो विनाश होता है और न नूतन अन्तःकरण का निर्माण।

शङ्का—यदि अन्तःकरण का भेद न होने पर अनुसन्धान और भेद होने पर अननुसन्धान होता है, तब सुषुप्त पुरुष, प्रकृति या प्राकृत पदार्थों में प्रलीन तथा मुक्त पुरुष को अन्तःकरण का भेद न होने के कारण पूर्वानुसन्धान होना चाहिए।

समाधान - केवल अननुसन्धान के निमित्त का अभाव हो जाने से अनुसन्धान सम्भव नहीं, अनुसन्धान का निमित्त भी होना चाहिए, अनुसन्धान का प्रयोजक अन्तःकरण के साथ तादात्माध्यास है वह कथित तीनों प्रकार के पुरुषों में नहीं होता, अतः सामग्री का अभाव होने के कारण कार्य की आपत्ति नहीं दी जा सकती, केवल प्रतिबन्धक कार्याभाव का प्रयोजक नहीं होता, अपितु सामग्री का अभाव भी कार्याभाव का नियामक माना जाता है। मुक्त पुरुष को स्वरूप सुखानुभूति होती है, वह विशिष्ट

न्यायामृतम्

नात्वेऽप्यनुसन्धानस्योक्तत्वाच्च। न चाविद्यारूपोपाधिभेदस्तत्र तन्त्रम्, सुषुप्तौ चाविद्यास्तीति वाच्यम्, उक्तरीत्या ज्ञानप्रागभावभेदस्याप्यप्रयोजकत्वात्। यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीतिमते एकस्मिन्नपि जीवे ब्रह्मविषयकाज्ञानानां भिन्नत्वाच्च। मुक्तस्य संसारिदुःखाद्यनुसन्धानापाताच्च। न चाविद्यैकत्वानेकत्वे अनुसन्धानाननुसन्धानयोस्तन्त्रे, मुक्तस्य स्वरूपसुखाननुभवापातात्।

किं चानेकाविद्यासम्बन्धस्य दुःखानुसन्धानरूपानर्थस्य च विशिष्टगतत्वे बन्धमो-

अद्वैतसिद्धिः

वाच्यम्, तस्याजन्यत्वेनान्तःकरणानपेक्षत्वात्, जीवविभाजकोपाध्यज्ञानभेदाभेदाभ्यामनुसन्धानाननुसन्धानोपपत्तेश्च। न च—ज्ञानप्रागभाववदज्ञानस्यापि भेदाभेदयोस्तत्राप्रयोजकत्वम्, यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति मते एकस्मिन्नपि जीवे ब्रह्मविषयकाज्ञानानां भिन्नत्वेनानुसन्धानविरहप्रसङ्ग इति—वाच्यम्, ज्ञानप्रागभावानां ज्ञानसमसङ्ख्याज्ञानानां च जीवविभाजकत्वाभावेनानुसन्धानादावप्रयोजकत्वात्।

यत्तु—मुक्तस्यैव संसारदुःखानुसन्धानापत्तिः, अविद्यारूपोपाधिभेदाननुसन्धाने स्वरूपसुखस्याप्यननुभवापातः—इति, तन्न, वैषयिकसुखाद्यनुसन्धाने तस्य तन्त्रत्वेन स्वप्रकाशस्वरूपस्फुरणे तदनपेक्षत्वात्। ननु—एवमनेकाविद्यासंबन्धस्य दुःखानु-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विषयिणी नहीं, अतः जन्य न होने के कारण अन्तःकरण की अपेक्षा नहीं रखती।

जो आचार्य अज्ञान को जीव की विभाजक उपाधि मानते हैं, उनके मत में अज्ञान का भेद अननुसन्धान और अज्ञान का अभेद अनुसन्धान का प्रयोजक होता है।

शङ्का—जैसे चक्षुरादि का भेद रहने पर भी अनुसन्धान देखा जाता है, अतः चक्षुरादि का भेद अननुसन्धान का प्रयोजक नहीं माना जाता, वैसे ही एक ही पुरुष में ज्ञान के अनेक प्रागभाव रहते हैं, उन प्रागभावों का भेद अननुसन्धान का प्रयोजक नहीं होता। उसी प्रकार अज्ञान-भेद को अननुसन्धान का एवं अज्ञानाभेद को अनुसन्धान का प्रयोजक नहीं माना जा सकता, अन्यथा नाना अज्ञानवाद में पुरुष में जितने ज्ञान होते हैं, उतने ही अज्ञान माने जाते हैं, अतः एक ही जीव में ब्रह्म-विषयक अनेक अज्ञान होते हैं, इस प्रकार अज्ञान-भेद के रहने पर अनुसन्धान नहीं होना चाहिए।

समाधान—जीव-विभाजक उपाधि का भेद और अभेद अननुसन्धान और अनुसन्धान का क्रमशः प्रयोजक माना जाता है, जीव-विभाजक उपाधि न तो ज्ञान के प्रागभाव होते हैं और न ज्ञान-समसंख्यक अज्ञान, किन्तु चरम वृत्ति के द्वारा जो अज्ञान नष्ट होता है, उसे ही जीव-विभाजक माना जाता है।

यह जो कहा गया है कि मुक्त पुरुष में अननुसन्धान-प्रयोजक अज्ञान-भेद न रहने के कारण संसारावस्था के दुःखों का अनुस्मरण होना चाहिए, यदि अविद्यारूप उपाधि भेद का अनुसन्धान नहीं होता, तब स्वरूपभूत सुख का भी अनुसन्धान न होगा।

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि वैषयिक सुखादि के अनुसन्धान में ही अविद्या-भेद का अननुसन्धान अपेक्षित होता है, स्वप्रकाशरूप स्वरूप सुख के स्फुरण में अविद्या-भेदाननुसन्धान की कोई अपेक्षा नहीं होती।

शङ्का—अनेक अविद्या-सम्बन्ध और तत्प्रयुक्त दुःखानुसन्धानस्वरूप बन्धन यदि

न्यायामृतम्

क्षयोर्वैयधिकरण्यापातेन शुद्धगतत्वेन वाच्ये यच्छुद्धं चैत्रीयदुःखाननुसन्धातृ, तदेव मैत्रीयदुःखानुसन्धातृति कथमनुसन्धानाननुसंधानव्यवस्था। एतेन बिम्बप्रतिबिम्बयोरवदातत्वश्यामत्ववद् घटाकाशमहाकाशयोः परिच्छिन्नत्वापरिच्छिन्नत्ववद् एकस्यैव नभसस्तत्तत्कर्णपुटावच्छेदेन तत्र तत्र श्रोत्रभाववच्चौपाधिकभेदेन जीवब्रह्मणोरनुसन्धानाननुसन्धाने इति निरस्तम्, दुःखानुसन्धानरूपस्यानर्थस्योपहितनिष्ठत्वेन तस्य कल्पितत्वेन बद्धस्य निवृत्तिरेव, न तु मोक्ष इत्यापातात्। दुःखाद्यनुसन्धानस्य साक्षि-

अद्वैतसिद्धिः

सन्धानस्वरूपस्यानर्थस्य च विशिष्टगतत्वे बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापातेन शुद्धगतत्वे वाच्ये यच्छुद्धं चैत्रीयदुःखानुसन्धातृ, तदेव मैत्रीयदुःखानुसन्धातृति कथमनुसन्धानाननुसन्धानव्यवस्थेति—चेन्न, अविद्यात्मकबन्धनिवृत्त्यात्मकमोक्षस्य शुद्धगतत्वेऽपि दुःखाद्यनुसन्धातृत्वस्य उपहितवृत्तितया शुद्धभेदापादनायोगात्। न च संसारस्य शुद्धगतत्वे ब्रह्मणोऽपि संसारित्वापत्तिः, बिम्बप्रतिबिम्बयोरवदातत्वश्यामत्ववद् घटाकाशमहाकाशयोः परिच्छिन्नत्वापरिच्छिन्नत्ववद् एकस्यैव नभसस्तत्तत्कर्णपुटावच्छेदेन तत्र तत्र श्रोत्रतावच्च औपाधिकभेदेन संसारित्वासंसारित्वव्यवस्थोपपत्तेः।

अत एव—दुःखानुसन्धानरूपस्यानर्थस्य उपहितनिष्ठत्वेन तस्य कल्पितत्वेन बद्धस्य निवृत्तिरेव, न तु मोक्ष इत्यापात इति—निरस्तम्, उपाधेः कल्पितत्वेन निवृत्ता-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विशिष्ट चेतन में माना जाता है और मोक्ष शुद्ध में, तब बन्ध और मोक्ष का वैयधिकरण्य हो जाता है, अतः अविद्या-सम्बन्धादि को शुद्ध में मानना होगा, फिर तो जो शुद्ध चैतन्य चैत्रीय दुःख का अनुसन्धाता है, वही मैत्रादि के दुःखों का भी अनुसन्धाता, अतः किसी दुःख का अनुसन्धान और किसी का अननुसन्धान—यह व्यवस्था क्योंकर होगी ?

समाधान—अविद्यात्मक बन्ध-निवृत्तिस्वरूप मोक्ष यद्यपि शुद्ध चेतन में ही है, तथापि दुःखादि का अनुसन्धातृत्व जिस उपहित चेतन में माना जाता है, उसमें शुद्ध चैतन्य के भेद का आपादन सम्भव नहीं।

शङ्का—संसार यदि शुद्ध में माना जाता है, तब ब्रह्म भी जीव के समान संसारी हो जायगा, जीव ही तो ब्रह्म है, अतः एक चेतन ब्रह्मरूपेण असंसारी और जीवरूपेण संसारी कभी हो नहीं सकता।

समाधान—जैसे बिम्ब में निर्मलता और प्रतिबिम्ब में मलिनता घटाकाश में परिच्छिन्नत्व और महाकाश में अपरिच्छिन्नत्व रहता है, एवं एक ही आकाश में कर्णपुटावच्छेदेन श्रोत्रता रहती है, वैसे ही एक ही चैतन्य में औपाधिक भेद को लेकर संसारित्व और असंसारित्व उपपन्न हो जाता है।

न्यायामृतकार ने जो यह शङ्का की है कि दुःखानुसन्धानरूप अनर्थ यदि उपहित चेतन में है, तब उपहित के कल्पित होने के कारण उपहित का नाश ही मानना होगा, तब मुक्त कौन होगा ?

वह शङ्का भी अत एव निरस्त हो जाती है कि उपाधि अंश के कल्पित होने के कारण निवृत्त होने पर भी उपधेय कभी कल्पित नहीं होता, अत एव उसका निवृत्ति नहीं होती और वही मुक्ति का अधिकारी माना जाता है।

न्यायामृतम्

रूपतयोपाधिधर्मत्वाभावेन श्यामत्वादिवैषम्याच्च । प्रतिबिम्बस्य छायावद्वस्त्वन्तरत्वेनाकाशस्य तु त्वन्मतेऽपि कार्यद्रव्यतया सावयवत्वेन तैजसाहंकारकार्याणां श्रोत्राणां स्वत एव भिन्नत्वेन दृष्टान्तासम्मतेश्च ।

एतेना (त्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुरिति) श्रुतेर्विशिष्टस्यैव भोक्तृत्वात्तस्य च भिन्नत्वाद् व्यवस्थेति कौमुद्यक्तं निरस्तम्, शुद्धचिन्मात्रनिष्ठत्वे तु तत्र भेदाप्रतीत्या कल्पितभेदस्याप्यभावाद् भावे वा भेदस्यैव व्यवस्थारूपस्वकार्यकारिणो वह्नावुष्णत्व-

---

अद्वैतसिद्धिः

वप्युपधेयस्याकल्पिततया तन्निवृत्त्ययोगान्मोक्षान्वयोपपत्तेः । न च प्रतिबिम्बस्य छायावद्वस्त्वन्तरत्वेनाकाशस्यापि त्वन्मतेऽपि कार्यद्रव्यतया सावयवत्वेन तैजसाहङ्कारकार्याणां श्रोत्राणां स्वत एव भिन्नत्वेन दृष्टान्तासंमतिरिति—वाच्यम्, प्रतिबिम्बे वस्त्वन्तरत्वस्य निरसिष्यमाणत्वाद्, आकाशश्रोत्रभावस्य पररीत्या दृष्टान्तत्वाद्, 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण' इति श्रुतेर्विशिष्टस्यैव भोक्तृत्वात्तस्य भिन्नत्वाद् व्यवस्थेति कौमुद्युक्तप्रकारेणापि अनुसन्धानाननुसन्धानोपपत्तेश्च ।

अत एव—शुद्धचिन्मात्रगतत्वे तत्र भेदाप्रतीत्या भेदस्य कल्पितस्याप्यभावः, भावे वा भेदस्यैव व्यवस्थारूपस्वकार्यकारिणो वह्नावुष्णत्ववद्धर्मिज्ञानाबाध्यत्वम्,

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—बिम्ब और प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त उपहित और उपधेय के लिए सम्भव नहीं, क्योंकि प्रतिबिम्ब पदार्थ छाया के समान एक स्वतन्त्र वस्तु है एवं श्रोत्र भी आकाशस्वरूप न होकर आकाश का कार्य माना जा सकता है, आप (अद्वैती) आकाश को सावयव मानते हैं, अतः उससे श्रोत्ररूप कार्य का निर्माण हो जाता है अथवा तैजस अहङ्कार से श्रोत्र की रचना होने के कारण आकाश की अपेक्षा श्रोत्र स्वतः भिन्न है, उपाधितः नहीं । अतः बिम्बादि से पृथग्भूत प्रतिबिम्बादि दृष्टान्त के माध्यम से औपाधिक भेद का निरूपण क्योंकर संगत होगा ?

समाधान—प्रतिबिम्ब में वस्त्वन्तरत्व का निरास आगे किया जायगा । आकाश में श्रोत्ररूपता का दृष्टान्त तार्किकादि की रीति को अपनाकर दिया गया है ।

"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" (कठो० १।४) इस श्रुति के आधार पर विशिष्ट चैतन्य ही भोक्ता है, वह प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है ऐसा कौमुदीकार का जो सिद्धान्त है, उसके अनुसार अनुसन्धानाननुसन्धान की व्यवस्था हो जाती है ।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि यदि भोक्तृत्व शुद्ध चैतन्य में माना जाता है, तब वहाँ भेद प्रतीति न होने के कारण कल्पित भेद का भी सद्भाव नहीं हो सकता, यदि भेद का सद्भाव वहाँ माना जाता है, तब उसे तात्त्विक मानना होगा, क्योंकि वह अनुसन्धानाननुसन्धानरूप व्यवस्था का प्रयोजक होने के कारण अर्थक्रियाकारी है [अर्थक्रियाकारित्व को ही तात्त्विकत्व माना गया है—"अर्थक्रियासमर्थत्वं वस्तुत्वमभिधीयते" (तत्त्व. सं० पृ० ६००)] अतः वह्निगत दाहकत्वादि के समान धर्मिग्राहक प्रमाण से अबाधित होता है [अर्थक्रियास्थिति को ही स्वज्ञान का अविसंवादन या प्रामाण्य-निर्णायक माना गया है—"अर्थस्य दाहपाकादेः क्रिया निष्पत्तिस्तस्याः स्थितिरविचलनमविसंवादनं व्यवस्था वा" (प्र० वा० पृ० ४)] । भेद व्यवस्थापक और अभेद अव्यवस्थापक होता है, किन्तु यहाँ अभेद अपने अव्यवस्थारूप कार्य का

न्यायामृतम्

वह्न्यमिज्ञानाबाध्यत्वं अभेदस्य त्वव्यवस्थारूपस्वकार्याकारिणोऽनुष्णत्ववन्मिथ्यात्वमित्यापाताच्च। कल्पितभेदहीनस्य मुक्तस्य संसारिदुःखानुभवापाताच्च। एतेन नोपहितेऽनुसन्धानं किं तु तार्किकमते आत्मनि दुःखाद्याश्रयतादेहादिनेवेहापि चिन्मात्रेऽनुसन्धातृता। अविद्यारूपोपाधिनावच्छिद्यत इति निरस्तम्, तन्मते आत्मन इवात्र चित एवानर्थान्वयेन ब्रह्मःदुखित्वापादकस्य संसारिदुःखस्य सत्त्वेन तद्भावरूपमुक्तेरपुमर्थत्वापातात्। नित्यमुक्तत्वश्रुतेर्निर्विषयत्वापाताच्च। विस्तृतं चैतदविद्याश्रयभंगे।

ननु किमत्रांशानां जीवानामनुसन्धानमापाद्यम्? अंशिनो ब्रह्मणो वा? नाद्यः, हस्तावच्छिन्नेन पादावच्छिन्नदुःखाद्यननुसन्धानात्। नान्त्यः, तस्याभोक्तृत्वेन

अद्वैतसिद्धिः

अभेदस्य त्वव्यवस्थारूपस्वकार्याकारिणोऽनुष्णत्ववन्मिथ्यात्वमित्यापातः, आविद्यकभेदहीनस्य मुक्तस्य संसारिदुःखानुभवापातश्च इति—निरस्तम्, व्यवस्थायाः स्वसमानसत्ताकभेदकार्यत्वेन स्वाधिकसत्ताकभेदाऽनाक्षेपकत्वाद्, अव्यवस्थायाः शुद्धचैतन्याभेदाकार्यत्वेन तदकारित्वप्रयुक्तमिथ्यात्वस्यापादयितुमशक्यत्वात्, उपाध्यभेदस्यैव तत्र तन्त्रत्वात्। किंचोपाधिकल्पितांशजीवानां वानुसन्धानमापाद्यते? अंशिनो ब्रह्मणो वा? नाद्यः, हस्तावच्छिन्नेन पादावच्छिन्नदुःखाद्यननुसन्धानात्। न च—न वयं भोगायतनानां साङ्कर्यमापादयामः, येन पादे मे वेदना शिरसि मे सुखमिति न स्यात्, किंत्वनुसन्धानमात्रम्, तच्चांशानामस्त्येव, अन्यथा चैत्रदेहलग्नकण्टकोद्धरणाय मैत्रस्येव पादलग्नकण्टकोद्धरणाय हस्तस्य व्यापारो न स्यादिति—वाच्यम्, पादावच्छिन्न-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सम्पादन न करने के कारण वह्नि में आरोपित अनुष्णत्व के समान मिथ्या हो रहा है एवं आविद्यक भेद से हीन मुक्त पुरुष में संसारिगत दुःखों का अनुभवितृत्व प्रसक्त होता है।

न्यायामृतकार का वह कहना अत्यन्त अयुक्त है, क्योंकि कथित व्यवस्था अपने समानसत्ताक भेदरूप निर्वाहक की ही आक्षेपक होती है, अधिकसत्ताक या तात्त्विक भेद की आक्षेपिका कभी भी नहीं हो सकती और अव्यवस्था शुद्ध चैतन्य के अभेद से सम्पादित नहीं, अतः अव्यवस्थाऽजनकत्व-प्रयुक्त अभेदगत मिथ्यात्व का आपादन कभी नहीं हो सकता। अव्यवस्था का सम्पादक शुद्ध चैतन्याभेद नहीं, अपितु उपाधियों का अभेद ही माना जाता है। यह भी एक जिज्ञासा यहाँ होती है कि उपाधि के द्वारा जिनमें अशभाव कल्पित है, ऐसे जीवों में अनुसन्धान का आपादन किया जा रहा है? अथवा अंशिरूप ब्रह्म में? प्रथम पक्ष संगत नहीं, क्योंकि हस्तावच्छिन्न जीव के द्वारा पादावच्छिन्न दुःख का कभी अनुसन्धान नहीं होता।

शङ्का—भोगायतनभूत शरीरों की अव्यवस्था या सांकर्य का आपादन हम नहीं करना चाहते कि 'पादे में वेदना, शिरसि में सुखम्'—ऐसी अनुभूति न होती किन्तु हम अनुसन्धानमात्र का आपादन करते हैं, वह तो अंशों का होता ही है, अन्यथा चैत्र-शरीर-संलग्न कण्टक निकालने के लिए जैसे मैत्र की प्रवृत्ति नहीं होती, वैसे ही पैर में चुभा काँटा निकालने के लिए हाथ की भी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए।

समाधान—पादावच्छिन्न दुःख जैसे हस्तावच्छिन्न में उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही चैत्रीय दुःखादि के अनुसन्धान का मैत्र में अनुत्पाद है। जैसे हाथ में दुःखप्रयोजक

न्यायामृतम्

भोगाप्रसंगात्। दुःखादिज्ञानमात्रस्य च सर्वज्ञे तस्मिन्निष्टत्वादिति चेन्न तावदाद्ये दोषः न हि भोगायतनानां सांकर्यमापाद्यते, येन पादे मे वेदना शिरसि मे सुखमिति न स्यात्। किं त्वनुसन्धानमात्रम्। तच्चांशानामस्त्येव, अन्यथा चैत्रदेहलग्नकंटकोद्धाराय मैत्रस्येव पादे लग्नकंटकोद्धरणाय हस्तव्यापारो न स्यात्। न च पुत्रादाविवोपपत्तिः, दुःखाद्यनुमानपूर्वकक्रुपादेरनुपलम्भात्। एतेन नेत्राद्यवच्छिन्नस्यात्मनः शब्दाद्यनुपलम्भवदेकशरीरविशिष्टस्य शरीरान्तरेऽननुसन्धानमिति निरस्तम्, योऽहं रूपमद्राक्षं सोऽहं शृणोमीत्यनुभवात्। नाप्यन्त्ये दोषः, भोक्तृजीवाभिन्नत्वेन ब्रह्मणोऽपि भोक्तृत्वस्यापादनात्। आपादने च प्रमाणविरोधस्यालंकारत्वात्। न चान्तःकरणस्य तदवच्छिन्नस्य वानुसन्धातृत्वान्न ब्रह्मणस्तदिति वाच्यम्, दुःखभोगस्य शुद्धब्रह्मगतत्वोक्तेः।

अद्वैतसिद्धिः

दुःखस्य हस्तावच्छिन्ने अनुत्पादनवत् चैत्रीयदुःखाद्यनुसंधानस्य मैत्रेऽनुत्पादः। हस्ते दुःखप्रयोजकसामग्रीविरहवत् मैत्रे अनुसन्धानप्रयोजकोपाध्यैक्याभावात्। तथा च हस्तावच्छेदेनानुसन्धानमस्त्येवेति न तत्र व्यापाराभावापत्तिः। नान्त्यः तस्याभोक्तृत्वेन भोगाप्रसङ्गात्, दुःखादिज्ञानमात्रस्य च सर्वज्ञे तस्मिन्निष्टत्वात्। न च भोक्तृजीवाभिन्नत्वेन ब्रह्मणोऽपि भोक्तृत्वापत्तिः, बिम्बप्रतिबिम्बवद्व्यवस्थोपपत्तेः, अनुसन्धानस्यावच्छिन्नगततया शुद्धब्रह्मण्यापादनायोगाच्च। न चैतावता बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यम्, अविद्यात्मकबंधस्य शुद्धगतत्वेन सामानाधिकरण्योपपत्तेः, अविच्छिन्नस्यानुसन्धातृत्वेऽप्यवस्थात्रयानुस्यूताविद्याच्छिन्नद्वारा शुद्धे अनुसन्धातृत्वस्येष्टत्वाद्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सामग्री का विरह होता है, वैसे ही मैत्र में अनुसन्धान-प्रयोजक उपाधि की एकता नहीं, फलतः हस्तावच्छेदेन अनुसन्धान होता ही है, अतः वहाँ प्रवृत्ति के अभाव का आपादन नहीं किया जा सकता। द्वितीय विकल्प (ब्रह्मरूप अंशी में अनुसन्धान का आपादन) भी सम्भव नहीं, क्योंकि ब्रह्म भोक्ता नहीं होता, उसमें अनुसन्धानरूप भोग का आपादन नहीं हो सकता। सर्वज्ञ ब्रह्म में दुःखादि का ज्ञानमात्र तो अभीष्ट ही है। 'जीव भोक्ता है और ब्रह्म जीव से अभिन्न है, अतः ब्रह्म में भी भोक्तृत्व क्यों न होगा ? ऐसी शङ्का के समाधान में बिम्ब और प्रतिबिम्ब की प्रक्रिया का निरूपण किया जा सकता है [कि बिम्व और प्रतिबिम्ब का अभेद होने पर भी बिम्बगत कम्पनादि धर्मों का आरोप बिम्ब पर नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह कम्पन मूलतः जलरूप उपाधि का प्रतिबिम्ब पर प्रतीत होता है, बिम्ब पर उसका जैसे आरोप नहीं हो सकता, ऐसे ही जीव में भोक्तृत्व उसके उपाधिभूत अन्तःकरण की देन है, बिम्बभूत ब्रह्म पर उसका आरोप सम्भव नहीं]। दूसरी बात यह भी है कि भोक्तृत्व या अनुसन्धान केवल चेतन का धर्म नहीं, अपितु अवच्छिन्न चेतन का धर्म है, ब्रह्म अवच्छिन्न चेतन नहीं, अतः उसमें उसका आपादन कथमपि सम्भव नहीं। अनुसन्धान जीव में ही है, ब्रह्म में नहीं— इतने मात्र से बन्ध और मोक्ष का वैयाधिकरण्योद्भावन नहीं हो सकता, क्योंकि अविद्यात्मक बन्ध शुद्ध ब्रह्म में ही होता है, अतः ब्रह्मवृत्ति मोक्ष का सामानाधिकरण्य बन्ध में बन जाता है। ब्रह्म में परम्परया अनुसन्धान का समन्वय में माना भी जाता है, क्योंकि जीव रूप अवच्छिन्न चेतन में अनुसन्धातृत्व होता है, जीव से तादात्म्यापन्न

न्यायामृतम्

एतेनानवच्छिन्ने अभ्रान्ते च ब्रह्मण्यनुसन्धाने तन्त्रस्यान्तःकरणावच्छेदस्याभावात् न तस्याहं दुःखीति भ्रान्तिरूपमनुसन्धानमिति निरस्तम्। कल्पितस्याकल्पितस्य वा दुःखभोगस्य शुद्धचिद्गतत्वावश्यम्भावाद्, भ्रान्तजीवाभिन्नेश्वरस्याभ्रान्तत्वायोगाच्च। एतेनान्तःकरणावच्छिन्नान् अनुसन्धातॄन् प्रत्यविद्यावच्छिन्नस्यांशित्वात्तस्यैव दुःखानुसन्धानम्, न तु शुद्धस्येति निरस्तम्, चिन्मात्रमेवानुसन्धात्रित्युक्तत्वात्। अवच्छिन्नस्यानुसन्धानतृत्वेऽप्यवस्थात्रयानुस्यूताविद्यावच्छिन्नस्य वानुसन्धातृत्वेन तद्द्वारा शुद्धस्यानुसन्धानापरिहाराच्च। अन्तःकरणावच्छिन्नस्यैवानुसंधातृत्वेऽपि तद्गतस्यानुसन्धानस्य तदवच्छेद्याविद्यावच्छिन्ननिष्ठत्ववद्, अविद्यावच्छिन्ननिष्ठस्य तदवच्छेद्यशुद्धनिष्ठत्वापत्तेश्च। एतेन यथा स्वकर्णपुटपरिच्छिन्ननादोपलम्भेऽपि भागान्तरवर्तिनादानुपलम्भः, तथा सुखदुःखाद्युपलम्भानुपलम्भाविति निरस्तम्, आत्मभेदे कर्णपुटानां तत्तदीयत्वनियमवद् ऐकात्म्यवादे सर्वदेहानां स्वीयत्वेन तत्तदीयत्वनियमाभावेन स्वीयकर्णपुटद्वयपरिच्छिननादोपलम्भवत् सर्वदेहस्थदुःखाद्यनुसन्धानस्य दुर्वारत्वात्। न च कर्मणां तत्तदीयत्वेन शरीराणां तत्तदीयत्वम्। आत्मैक्ये कर्मणामपि तत्तदीयत्वनियमायोगात्। शरीरनियमेन कर्मनियमे त्वन्योन्याश्रयात्। तदुक्तम्—

> सिद्धौ हि कर्मभेदस्य स्यादुपाधिविभिन्नता।
> तत्सिद्धौ चैव तत्सिद्धिरित्यन्योन्यव्यपाश्रयः॥ इति॥

अद्वैतसिद्धिः

'अनेन जीवने'त्यादिश्रुतेः। किंच यथा स्वकर्णपुटपरिच्छिन्ननादोपलम्भे भागान्तरवर्त्तिनादानुपलम्भः, तथा सुखदुःखाद्युपलम्भानुपलम्भौ। न च—आत्मभेदे कर्णपुटानां तत्तदीयत्वनियामकवदेकात्मवादे सर्वदेहानां स्वीयत्वेन तत्तदीयत्वनियमाभावेन व्यवस्थानुपपत्तिरिति—वाच्यम्, तवात्मभेदेनेवावच्छेदकज्ञानादिभेदेन मम व्यवस्थोपपत्तेः। किंच व्यवस्थया भेदं वदन् प्रष्टव्यः केयं व्यवस्था? न तावद्धर्मभेदः, एकस्मिन्नेव सुखदुःखदर्शनेन व्यभिचाराद्, भिन्नाश्रयधर्मोक्तौ अन्योन्याश्रयाद्, विरुद्ध-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होता है—अविद्यावच्छिन्न चेतन, क्योंकि श्रुति कहती है—"अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य" (छां० ६।३।२)। अविद्यावच्छिन्न चेतन के माध्यम से अनुसन्धान ब्रह्म में माना भी जाता है। दूसरी बात यह भी है कि जैसे कर्णपुटावच्छिन्न नाद की उपलब्धि होती है और तदनवच्छिन्न नाद की उपलब्धि नहीं होती, वैसे ही उपाध्यवच्छिन्न दुःख का अनुसन्धान होता है और तदनवच्छिन्न दुःख का अनुसन्धान नहीं होता।

शङ्का—जैसे नानात्मवाद में कर्णपुटादि में चैत्रीयत्व-मैत्रीयत्वादि नियामक होता है, वैसे ही एकात्मवाद में सभी शरीरों में उस एक आत्मा का स्वीयत्व अवस्थित होता है, अतः सर्व दुःखानुसन्धातृत्व सहज सिद्ध होता है।

समाधान—जैसे आप (द्वैती) के मत में आत्मभेद व्यवस्थापक होता है, वैसे ही हमारे मत में अन्तःकरणरूप उपाधियों का भेद।

व्यवस्था के द्वारा आत्मभेद का आपादन करनेवाले वादी से पूछना चाहिए कि यह व्यवस्था क्या है? धर्मभेद को व्यवस्था नहीं कह सकते, क्योंकि एक ही शरीर में सुख-दुःखादि देखे जाते हैं, उनके लिए धर्मी का भिन्न होना आवश्यक नहीं।

न्यायामृतम्

एतेन यत्केनचिदुक्तम्—न सुखदुःखव्यवस्थया भेदसिद्धिः। व्यवस्थाशब्देन धर्मभेदोक्तौ एकस्मिन्नेकदैव सुखदुःखदर्शनेन व्यभिचारात्। भिन्नाश्रयधर्मोक्तौ अन्योऽन्याश्रयाद् विरुद्धधर्मोक्तौ विरोधस्य सहानवस्थानरूपत्वे असिद्धेः। बध्यघातुकभावरूपत्वे "नाजात"इति न्यायेन भेदासाधकत्वादिति निरस्तम्, व्यवस्थाशब्देनानुसन्धानाननुसन्धानयोरुक्तेः। तस्मादात्मैक्ये सुखदुःखादिव्यवस्था न स्यादेव। तदुक्तं—

सुखदुःखादिभोगश्च स्वरूपैक्ये न भेदतः।
द्वयो ह्युपाधिभेदेऽपि हस्तपादादिगो यथा॥
नानादेहगभोगानुसन्धानं योगिनो यथा।
न चेद्भोगानुसन्धानं तदिच्छायोगिनः कुतः॥ इति॥

उक्तं च—अनुसन्धानरहितमैक्यं चेदेकता न तत्।
चैतन्यैक्येऽनुसन्धानं प्रमाणं नैव चापरम्॥ इति॥

एवं बद्धमुक्तव्यवस्था, पण्डितमूर्खव्यवस्था, चैत्रप्रमया मैत्रस्य भ्रान्त्यनिवृत्तिः, चैत्रानुभूते मैत्रस्यास्मृतिरित्यादिव्यवस्था च न स्यात्। न च तत्तदुपाध्यपगमे तस्य तस्य मुक्तिः, उपाधिसम्बन्धस्योपहितनिष्ठत्वे आत्मान्योन्यश्रयचक्रकानवस्थान्यतरा-

अद्वैतसिद्धिः

धर्मोक्तौ तु विरुद्धत्वस्य सहानवस्थानरूपत्वे असिद्धेः, बाध्यबाधकभावरूपत्वे तस्यैकाश्रयत्वेनोपपत्त्या भेदासाधकत्वात्। नाप्यनुसन्धानाननुसन्धाने, तयोरुक्तेन प्रकारेण उपाधिभेदेनोपपत्तेरात्मभेदासाधकत्वस्योक्तत्वात्। अत एव बन्धमुक्त्यादिव्यवस्थापि न स्वाभाविकभेदसाधनाय, तत्तदुपाध्युपगमापगमाभ्यामेव व्यवस्थोपपत्तेः। न चोपाधेरप्युपहितनिष्ठत्वेनात्माश्रयादिदोषः, उपाधेरविशेषणत्वेन व्यक्त्यन्तरानपेक्षत्वेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भिन्नाश्रित धर्मभेद को व्यवस्था मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष होता है, क्योंकि धर्मी में भेद होने से धर्म-भेद और धर्म-भेद होने से धर्मी में भेद होगा। विरुद्ध धर्म को व्यवस्था मानने पर धर्मगत विरोध का अर्थ सहानवस्थान करने पर आसिद्धि होती है, क्योंकि अनुसन्धान और अननुसन्धान दोनों एक शरीर में भी देखे जाते हैं। वाध्य-बाधक भावरूप विरोध लेने पर भी एक ही आश्रय में शैत्याशैत्य-जैसे वाध्य वाधकभावापन्न पदार्थों का समन्वय हो जाता है, उसके द्वारा भी धर्मिभेद की सिद्धि नहीं होती। अनुसन्धान और अननुसन्धान का भी व्यवस्था पद से ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि ऊपर इसका समाधान किया जा चुका है कि अन्तःकरणरूप उपाधि के भेद और अभेद के द्वारा दोनों की उपपत्ति हो जाती है, अतः उससे आत्मभेद सिद्ध नहीं होता। बद्ध-मुक्त व्यवस्था भी अन्तःकरणरूप उपाधि के भेद से उपपन्न हो जाती है, उसके आधार पर भी स्वाभाविक आत्मभेद की सिद्धि नहीं होती।

शङ्का—उपाधि के विषय में सन्देह होता है कि अन्तःकरणादि उपाधि शुद्ध (अनुपहित) की उपाधि है? अथवा उपहित की? प्रथम पक्ष में व्याघात। द्वितीय पक्ष में स्वोपहित की उपाधि मानने पर आत्माश्रय, अन्योपाधि से उपहित की उपाधि मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष है, क्योंकि प्रथम उपाधि से युक्त की द्वितीय और द्वितीय उपाधि से उपहित की प्रथम उपाधि होगी। प्रथम और द्वितीय उपाधि की

न्यायामृतम्

पातात्। शुद्धनिष्ठत्वेऽपि किमेकैकोपाध्यपगमो मुक्तिः ? उत सर्वोपाध्यपगमः ? नाद्यः सदा मुक्तिरेव, न तु बन्ध इत्यापातात्। नान्त्यः, अधुना बन्ध एव, न कस्यापि मुक्तिरित्यापातात्। त्वन्मते इदानीं कल्पितबन्धवतः तत्त्वतो मुक्तत्वेऽपि यादृशः कल्पितोऽप्यनर्थरूपः ज्ञानेनोच्छेत्तव्यो बन्धः, तद्रहितस्य मुक्तशब्दार्थस्याभावात्। तदेवं नौपाधिकभेदमात्रेण बद्धमुक्तादिव्यवस्था युक्ता।

किं चोपाधेर्भेदकत्वमेवायुक्तम्। तथा हि—उपाधिः किमेकदेशेन सम्बध्यते ? कृत्स्नेन वा ? आद्ये त्वन्मते स्वाभाविकांशाभावेन औपाधिकत्वे वाच्येऽनवस्था। अन्त्ये

अद्वैतसिद्धिः

चात्माश्रयादिचतुर्णामनवकाशात्। एतेन—शुद्धनिष्ठत्वे किमेकैकोपाध्यपगमो मुक्तिः ? उत सर्वोपाध्यपगमः ? नाद्यः, सदा मुक्तिरेव, न तु बन्ध इत्यापातात्। नान्त्यः, अधुना बन्ध, एव न कस्यापि मुक्तिरित्यापातादिति—निरस्तम्, येनोपाधिना यस्य चैतन्यस्य परिच्छिन्नत्वं तस्मिन् चैतन्ये तदुपाध्यपगमस्यव मुक्तित्वे नानाजीववादे पूर्वोक्तदोषानवकाशात्। एकजीववादे सर्वोपाध्यपगमस्यैव मुक्तितया इदानीं मुक्त्यभावस्येष्टत्वात्। ननु—उपाधेः कथं भेदकत्वम्, तथा हि—उपाधिः किमेकदेशेन संबध्यते ? कृत्स्नेन वा ? आद्ये त्वन्मते स्वाभाविकांशाभावेनौपाधिकत्वं वाच्यम्, तथा चानवस्था। अन्त्ये न

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उपपत्ति के लिए तृतीय उपाधि यदि ऐसी मान ली जाय कि जो प्रथम उपाधि मे उपहित की मानी जा सके, तब चक्रिका दोष है, क्योंकि प्रथम उपाधि को दूसरी की, दूसरी को तीसरी की आर तीसरी को प्रथम की अपेक्षा होती है। इस चक्रिका से वचने के लिए यदि चौथो उपाधि मानी जाती है, तब अनवस्था दोष होता है।

समाधान—उपाधि चेतन तत्त्व को उपहित बनाती है एवं स्वयं अपने को उपहित का विशेषण न बनाकर तटस्थरूप में ही परिचायक होती है, अतः उपाधि से उपलक्षित पदार्थ की उपाधि माननें पर उक्त चारों (१) आत्माश्रय, (२) अन्योऽन्याश्रय, (३) चक्रक और (४) अनवस्था दोष नहीं होते।

यह जो कहा गया है कि अनेक उपाधियाँ यदि एक शुद्ध तत्त्व की मानी जाती हैं, तब क्या एक-एक उपाधि का अभाव मुक्ति है ? अथवा सभी उपाधियों का विनाश मुक्तिहै ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि किसी एक उपाधि का विगम तो अन्य उपाधियों से युक्त (बद्ध) व्यक्ति में भी सम्भव है। द्वितीय पक्ष में आज तक कोई पुरुष मुक्त नहीं हुआ—यह मानना पड़ेगा, क्योंकि सभी उपाधियों का विगम न पहले कभी हुआ और न आगे सम्भावित है, आज भी अनन्त उपाधियाँ विद्यमान हैं, जिन का विगम पहले कभी नहीं हो सकता।

वह कहना भी अत एव निरस्त हो जाता है कि जिस उपाधि के द्वारा जिस चैतन्य में परिच्छिन्नत्व आता है, उस उपाधि का विगम होने पर वही चैतन्य मुक्त होता है—इस प्रकार नाना जीववाद में पूर्वोक्त दोष लागू नहीं होता। एक जोववाद में समस्त उपाधियों का नाश ही मुक्ति पदार्थ है। आज तक किसी का मुक्त न होना अभीष्ट ही है।

शङ्का—उपाधि में उपधेय की भेदकता किस प्रकार आती है ? अर्थात् उपाधि क्या अपने उपधेय के किसी एकदेश के साथ सम्बन्धित होती है? अथवा पूर्ण उपधेय के साथ?

न्यायामृतम्

न भेदकता, कृत्स्नस्यैकोपाधिग्रस्तत्वात् । एवं गगनादावपि स्वाभाविकांशानंगीकारे घटाद्युपाधिसम्बन्धो न स्यादेव । तदुक्तम्—

न चेदुपाधिसम्बन्ध एकदेशेऽथ सर्वगः ।
एकदेशेऽनवस्था स्यात्सर्वगश्चेन्न भेदकः ॥ इति ।

आत्मभेदे अनुकूलतर्काः ॥ २१ ॥

अद्वैतसिद्धिः

भेदकता, कृत्स्नस्यैकोपाधिग्रस्तत्वात् । गगनादावपि स्वाभाविकांशाभावे घटाद्युपाधिसम्बन्धो न स्यादेव । तदुक्तम्—

न चेदुपाधिसम्बन्ध एकदेशेऽथ सर्वगः ।
एकदेशेऽनवस्था स्यात् सर्वगश्चेन्न भेदकः ॥'

इति - चेन्न, सर्वविकल्पासहत्वेन मिथ्याभूतस्यैवोपाधेर्मिथ्याभेदप्रयोजकत्वस्य प्रागेवोपपादनात् । यथा चात्मनां सर्वगतानां भेदे व्यवस्थानुपपत्तिः, तथा प्रपञ्चितं भाष्यकृद्भिः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ जीवभेदानुकूलतर्कभङ्गः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रथम कल्प में अनवस्था होती है, क्योंकि आप स्वाभाविक अंश मानते नहीं, औपाधिक सांशत्व के सम्पादन करने में उपाधि-परम्परा की अपेक्षा होने के कारण अनवस्था पर्यवसित होती है । यदि सम्पूर्ण चैतन्य के साथ उपाधि का सम्बन्ध होता है, तब आत्मभेद नहीं होगा, क्योंकि समग्र चेतन एक उपाधि से अवगुण्ठित होकर एक ही रह जाता है । 'निरंश गगन के साथ जैसे घटादि का सम्बन्ध होता है, वैसे ही निरंश चेतन के साथ अन्तःकरणादि उपाधियों का सम्बन्ध हो जायगा'—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि गगनादि में भी स्वाभाविक अंशों के न मानने पर घटादि के साथ सम्बन्ध न हो सकेगा, जैसा कि कहा गया है—

न चेदुपाधिसम्बन्ध एकदेशेऽथ सर्वगः ।
एकदेशेऽनवस्था स्यात् सर्वगश्चेन्न भेदकः ॥

समाधान—जहाँ सत्य उपाधि का सम्बन्ध स्थापित करना हो, वहाँ अवश्य समग्र और एकदेशादि के विकल्प उठाए जा सकते हैं, किन्तु प्रकृत में जो भेद प्रतीयमान है, उसका बाध उपाधि के बाध से ही हो सकता है, अतः अनादि अविद्या रूप मिथ्या उपाधि का सम्बन्ध माना गया है, वह अविद्या सर्वथा अनुपपन्न है, किसी विकल्प का समाधान न हो सकना उसका भूषण ही है—यह पहले ही कहा जा चुका है । सर्वगत आत्मा का भेद मानने पर श्रुति-प्रमाणित अभेद-व्यवस्था सर्वथा अनुपपन्न हो जाती है, अतः औपाधिक भेदवाद का सहारा लिया गया है—ऐसा भाष्यकार ने प्रस्थानत्रयी के अपने अपने भाष्य में विस्तारपूर्वक कहा है ।

: २२ :

भेदपंचकेऽनुमानविचारः

न्यायामृतम्

जड़ेशभेदे जड़जीवभेदे च (१) ब्रह्म जीवो वा अनात्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदवान्, पदार्थत्वाद्, घटवत्। (२) ब्रह्म जीवो वा घटप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदवान्, घटासम्बद्धकालसम्बन्धित्वात्, तदसम्बद्धदेशसम्बन्धित्वात्, तज्जनकाजन्यत्वाद् वा पटवत्। (३) ब्रह्म जीवो वा जड़प्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदवान्, जड़ानात्मकत्वाद्, यदेवं तदेवं यथा दूरस्थवनस्वत्योरेकः। विपक्षे तु घटसिद्धयैव ब्रह्मसिद्धया वेदान्तवैयर्थ्यम्। ब्रह्मणो जड़त्वानित्यत्वाद्यापत्तिः। मुक्तिसमानाधिकरण-

अद्वैतसिद्धिः

एवं जड़ेशभेदे जड़जीवभेदे च तात्त्विके प्रमाणं नास्ति। (१) ब्रह्म, जीवो वा, अनात्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदवान्, पदार्थत्वाद्, घटवत्, (२) ब्रह्म जीवो वा, घटप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदवान्, घटासंवन्धिकालसंबंधित्वात्, तदसंबन्धिदेशसंबन्धित्वात्, तज्जनकाजन्यत्वाद् वा पटवत्, (३) ब्रह्म जीवो वा, जड़प्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदवान्, जड़ानात्मकत्वाद्, यदेवं तदेवम्, यथा दूरस्थवनस्पत्योरेक इत्यादिषु पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः, परिच्छिन्नत्वस्य जड़त्वस्य जन्यत्वस्य चोपाधित्वाद्, अप्रयोजकत्वाच्च। जीवो ब्रह्म वा, आत्मप्रतियोगिकताहग्भेदाधिकरणम्, पदार्थत्वादित्याद्याभाससाम्याच्च। न च—घटाभेदे घटसिद्धयैव तत्सिद्धया वेदान्तवैयर्थ्यम्, ब्रह्मणो जड़त्वानित्यत्वाद्यापत्तिः, मुक्तिसमानाधिकरणबन्धाधारस्य जीवस्य जड़वन्नि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जड़ जगत् और ईश्वर एवं जड़ और जीव के तात्त्विक भेद में कोई प्रमाण नहीं। न्यायामृतकार ने जो इस विषय में अनुमान-प्रयोग किए हैं—(१) ब्रह्म अथवा जीव जड़प्रतियोगिक धर्मिज्ञानाबाध्य भेद का आश्रय होता है, क्योंकि पदार्थ है, जैसे—घट। (२) ब्रह्म या जीव घटप्रतियोगिक धर्मिज्ञानाबाध्य भेद का आधार होता है, क्योंकि घटासम्बन्धी काल का सम्बन्धी है अथवा घटासम्बन्धी देश का सम्बन्धी है, या घट-जनक सामग्री से अजनित है, जैसे—पट। (३) ब्रह्म अथवा जीव, जड़प्रतियोगिक धर्मिज्ञानाबाध्य भेद का आश्रय होता है, क्योंकि जड़ानात्मक है, जो जड़ानात्मक होता है, वह जड़प्रतियोगिक धर्मिज्ञानाबाध्य भेद का आश्रय होता है, जैसे दूरस्थ दो वृक्षों में से एक।

उन सभी अनुमानों में पूर्वोक्त दोषों से अतिरिक्ति परिच्छिन्नत्व, जड़त्व और जन्यत्वादि उपाधियाँ भी हैं, अनुकूल तर्कों से रहित होने के कारण अपने साध्य-साधन में सक्षम भी नहीं हैं। इसी प्रकार 'जीव अथवा ब्रह्म आत्मप्रतियोगिक धर्मिज्ञानाबाध्य भेद का अधिकरण होता है, क्योंकि पदार्थ है—इत्यादि अनुमानाभासों का साम्य भी उक्त अनुमानों में है।

शङ्का—'घट यदि ब्रह्म और जोव से अभिन्न है, तब घट की सिद्धि से ही ब्रह्म की सिद्धि हो जाती हैं, वेदान्त व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि ब्रह्म की सिद्धि ही वेदान्त का परम उद्देश्य है, वह घट की सिद्धि से ही पूरा हो जाता है। इतना ही नहीं, घट से अभिन्न हो जाने पर ब्रह्म में जड़त्व, अनित्यत्वादि की प्रसक्ति होती है, मुक्ति-समानाधिकरणीभूत बन्ध के आधारभूत जीव की भी जड़ के समान निवृत्ति हो जायगी एवं

न्यायामृतम्

संसाराधारस्य जीवस्य जड़वन्निवृत्त्यापत्तिः, गौरोऽहमित्यादिज्ञानं च प्रमा स्यादित्यादिबाधकम्।

(१)जड़ानामन्योन्यं भेदे तु घटस्तत्त्वतश्शुक्त्यभिन्नो न शुक्तिसम्बद्धकालासम्बंधित्वात्, तज्जनकाजन्यत्वात्, शुक्त्यारोपितरूप्यवत्। परमतेऽपि व्यावहारिकभेदस्य सत्त्वान्नासिद्ध्यादि शंक्यम्। अन्यथा भेदसिद्ध्यसिद्ध्योर्दोषतदभावयोश्चाभेदेन स्वक्रियादिविरोधः स्यात्।

अद्वैतसिद्धिः

वृत्त्यापत्तिः, गौरोऽहमित्यादिप्रतीतिश्च प्रमा स्यादित्यादिविपक्षबाधकान्नाभाससाम्यादिकमिति– वाच्यम्, स्वप्रकाशत्वेन सर्वप्रत्ययवेद्यत्वेन च ब्रह्मसिद्धावपि सविलासाज्ञाननिवर्तकज्ञानाय वेदान्तसाफल्यस्य बहुधाभिधानात्। घटादौ कल्पितव्यक्त्यन्तरेणाकल्पितभेदस्याभावेऽपि न यथा कल्पितव्यक्त्यात्मकत्वं तद्वत् प्रातिभासिकत्वं तद्वद्विशेषदर्शनेन निवृत्तिर्वा कल्पितव्यक्त्यन्तरेणैक्यज्ञानप्रमात्वं वा, तथा प्रकृतेऽपि कल्पितजड़ेन तदभावेऽपि न तदात्मकत्वादीति न विपक्षबाधकस्याप्यप्रसरः। एवं जड़ानामन्योन्यभेदेऽपि नानुमानम्।

(१) घटः, तत्त्वतः शुक्त्यभिन्नो न शुक्तिसंबद्धकालासंबन्धित्वात्, तज्जनकाजन्यत्वात्तत्रारोपितरूप्यवद्, व्यावहारिकभेदस्य त्वयाप्यङ्गीकारेण न पक्षदृष्टान्ताद्यनुपपत्तिः, अन्यथा भेदसिद्ध्यसिद्ध्योर्दोषतदभावयोश्चाभेदेन स्वक्रियाविरोधः स्यादिति। अत्र तात्त्विकशुक्त्यभिन्नत्वरूपप्रतियोग्यप्रसिद्ध्या साध्याप्रसिद्धेः, तत्त्वत इत्यस्य नेत्यत्र

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

'गौरोऽहम्'—इत्यादि प्रतीतियाँ भी प्रमारूप हो जाएँगी—इत्यादि विपक्ष-बाधक तर्कों के द्वारा प्रकृत अनुमान में आभास-साम्य का आपादन सम्भव नहीं।

समाधान—ब्रह्म स्वप्रकाश एवं सभी ज्ञानों का विषय होने के कारण स्वतः सिद्ध है, वेदान्त के द्वारा उसकी सिद्धि नहीं की जाती, अपितु सकार्य अज्ञान की निवृत्ति करने के लिए जिस अखण्डाकार वृत्ति की अपेक्षा होती है, उसका जन्म वेदान्त-वाक्यों से ही होता है। उसी में ही वेदान्त का साफल्य माना जाता है—यह कई बार कहा जा चुका है। घटादि में कल्पित व्यक्त्यन्तर (रजतादि) का अकल्पित भेद न होने पर भी जैसे कल्पित रजताद्यात्मकत्व नहीं होता, वैसे ही प्रातिभासिकत्व भी नहीं होता, विशेष-दर्शन के द्वारा घटादि की निवृत्ति भी नहीं होती और न घटादि में रजतादि के ऐक्य का ज्ञान प्रमात्मक होता है, वैसे ही प्रकृत में भी कल्पित जड़ का भेद न होने पर भी जड़ात्मकत्वादि नहीं होते, अतः विपक्षबाधक तर्कों का भी वहाँ प्रवेश नहीं।

जड़ पदार्थों के अन्योऽन्य भेद में भी अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता।

यह जो अनुमान किया गया है—(१) 'घट तत्त्वतः शुक्ति से अभिन्न नहीं होता, क्योंकि शुक्ति-सम्बद्ध देश-काल से असम्बन्धित है अथवा शुक्ति की जनक सामग्री से अजनित है, जैसे शुक्ति में आरोपित रजत। व्यावहारिक भेद आप (अद्वैती) भी मानते हैं, अतः पक्ष और दृष्टान्तादि की असिद्धि नहीं हो सकती। अन्यथा (व्यावहारिक भेद न मानने पर) भेद की सिद्धि और असिद्धि का अभेद, दोष और दोषाभाव का अभेद हो जाने के कारण स्वक्रिया-व्याघात हो जाता है।

उस अनुमान में तात्त्विक शुक्त्यभिन्नत्वरूप प्रतियोगी की अप्रसिद्धि होने के

न्यायामृतम्

(२)अनात्मा स्ववृत्तिधर्मानाधारज्ञानाबाध्यान्तर्गणिकभेदवान्, पदार्थत्वाद्, आत्मवत्। विपक्षे दूरस्थवनस्पत्योश्शुक्तिरूप्ययोश्चाभेदग्राहि प्रत्यक्षं तत्त्वावेदकं स्यात् मुक्तिसंसारादिसांकर्यं च स्यादित्यादिबाधकम्। आत्मनां परस्परमात्मानात्मनोश्च

अद्वैतसिद्धिः

विशेषणत्वे सुतरामप्रसिद्धेः, घटादिसमसत्ताकभेदमात्रेण हेतोरुपपत्त्या अप्रयोजकत्वाच्च, भेदस्य तात्त्विकत्वे बाधस्योक्तत्वेन बाधाच्च। (२) अनात्मा, स्ववृत्तिधर्मानाधारज्ञानबाध्यान्तर्गणिकभेदवान्, पदार्थत्वादात्मवद्। विपक्षे च दूरस्थवनस्पत्योः शुक्तिरूप्ययोश्चाभेदग्राहि प्रत्यक्षं तत्त्वावेदकं स्यात् मुक्तिसंसारादिसांकर्यं च स्यादित्यादिबाधकमिति यत्, तन्न, एकत्र घटे कल्पिता ये अनेके घटाः, तेषु स्ववृत्तिधर्मानधिकरणघटज्ञानबाध्यभेदवत्सु व्यभिचारात्। यत्किंचित्स्ववृत्तिधर्मानाधारोक्तौ घटत्वानधिकरणपटज्ञानाबाध्यभेदेनात्मज्ञानबाध्येनार्थान्तरम्। स्ववृत्त्यशेषधर्मानाधारोक्तौ तव मते ब्रह्मणोऽपि वाच्यत्वादिकेवलान्वयिधर्माधारत्वेन साध्याप्रसिद्धेः, कल्पितेन सह तात्त्विकभेदाभाववत् तात्त्विकाभेदस्याप्यभावेन उदाहृतस्थले तत्त्वावेदकत्वसाङ्कर्यादीनामप्रसङ्गात्।

यत्तु आत्मनामात्मानात्मनोश्च परस्परं तात्त्विकभेदे अनात्मा, स्वावृत्तिधर्माधि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कारण अभेदाभावरूप साध्य की अप्रसिद्धि है। 'तत्त्वतः' शब्द का 'न' के साथ सम्बन्ध करने पर तो साध्याप्रसिद्धि निश्चित ही है, क्योंकि भेद में ब्रह्मरूपता मानकर कथंचित् तात्त्विकत्व उपपन्न भी हो सकता है, किन्तु नञर्थरूप अभाव में तात्त्विकत्व की शङ्का भी नहीं हो सकती। घटादि के समानसत्ताक (व्यावहारिक) भेद को लेकर हेतु की उपपत्ति हो जाती है, अतः तात्त्विक भेद के प्रति उक्त हेतु अप्रयोजक भी है। भेद के तात्त्विकत्व मानने में श्रौत बाध दिखाया भी जा चुका है।

इसी प्रकार जो यह अनुमान किया गया है—(२) अनात्म पदार्थ, अनात्मवृत्ति धर्म के अनाधारभूत आत्मा के ज्ञान से अबाध्य आन्तर्गणिक (जड़रूप अन्तर्गण-सम्बन्धी या जड़ान्तरप्रतियोगिक). भेद का आश्रय होता है, क्योंकि पदार्थ है, जैसे—आत्मा [इस अनुमान के द्वारा घट में पटादि का भेद सिद्ध हो जाता है]। विपक्ष-बाधक तर्क का स्वरूप है—यदि दूरस्थवृक्षयोः शुक्तिरजतयोश्च अभेदावगाहि प्रत्यक्षं तत्त्वावेदकं स्यात्, तदा मुक्तिसंसारादिसांकर्यं स्यात्।

वह अनुमान भी उचित नहीं, क्योंकि एक घट में कल्पित जो अनेक घट, ऐसे स्ववृत्तिधर्मानाधारभूत व्यावहारिक घट के ज्ञान से बाधित भेदवाले कल्पित घटों में व्यभिचार है। यत्किञ्चित् स्ववृत्तिधर्मानाधार कहने पर घटत्वानधिकरणीभूत पट के ज्ञान से अबाधित भेद (जो कि आत्मज्ञान से बाधित है) को लेकर अर्थान्तरता होती है। स्ववृत्त्यशेषधर्मानाधार कहने पर आप (माध्व) के मत में ब्रह्म भी वाच्यत्वादि केवलान्वयी धर्मों का आधार माना जाता है, अतः साध्याप्रसिद्धि है। जैसे कल्पितप्रतियोगिक तात्त्विक भेद का अभाव होता है, वैसे तात्त्विक अभेद भी नहीं होता। उदाहृत स्थल पर तत्त्वावेदकत्व का सांकर्यादि प्रसक्त नहीं है।

यह जो आत्माओं का परस्पर तथा आत्मा और अनात्मा का तात्त्विक भेद सिद्ध करने के लिए प्रयोग किया गया है—(१) अनात्मा, स्वावृत्तिधर्माधिकरणप्रतियोगिक

न्यायामृतम्

तात्त्विकभेदे अनात्मा, स्वावृत्तिधर्माधिकरणप्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणं यत् स्वावृत्तिधर्माधिकरणम्, तत्प्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणम्, पदार्थत्वाद्, आत्मवत्, पक्षे स्वावृत्तिधर्माधिकरणमात्मा ततो भिन्नादात्मान्तराद्भिन्नत्वेन साध्यसिद्धिः। दृष्टान्ते तु स्वावृत्तिधर्माधिकरणं जड़ं, ततो भिन्नाज्जड़ान्तराद्भिन्नत्वेन। भेदस्य तात्त्विकत्वार्थं प्रतियोगिज्ञानाबाध्येतिविशेषणम्। जीवस्य ब्रह्मतो जीवाच्च जड़स्य सत्यभेदे पृथिवी, ब्रह्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणं यदप्त्वाद्यनधिकरणं तत्प्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदवती, वस्तुत्वाद्, अंबुवत्। अप्त्वादीत्यादिशब्देन तत्तद्वादिनः प्रति तत्तद्वादिसिद्धाः पृथिवीत्वादन्ये जड़निष्ठा धर्मा विवक्षिताः। पक्षे ब्रह्मभिन्नाज्जीवाद्भिन्नत्वेन साध्यसिद्धिः। दृष्टान्ते तु ब्रह्मभिन्ना-

अद्वैतसिद्धिः

करणप्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणं यत्स्वावृत्तिधर्माधिकरणं तत्प्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणम्, पदार्थत्वादात्मवत्, पक्षे स्वावृत्तिधर्माधिकरणमात्मा, ततो भिन्नादात्मान्तराद्भिन्नत्वेन साध्यसिद्धिः। दृष्टान्ते च स्वावृत्तिधर्माधिकरणं जड़म्, ततो भिन्नात् जड़ान्तरात् भिन्नत्वेन साध्यसत्त्वमिति, तन्न, पक्षदृष्टान्तयोः स्वपदार्थप्रतियोगिपदार्थयोरननुगमेन व्याप्यत्वासिद्धेः, अजड़त्वस्योपाधित्वाच्च, जड़त्वेन व्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षाच्च। यदपि जीवस्य ब्रह्मतो जीवाच्च जडस्य सत्यभेदे पृथिवी, ब्रह्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणं यदप्त्वाद्यनधिकरणम्, तत्प्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदवती, वस्तुत्वात्तोयवत्, अप्त्वादीत्यादिशब्देन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रतियोगिज्ञानाबाध्य भेद का जो स्वावृत्ति धर्म का अधिकरण है, तत्प्रतियोगिक प्रतियोगिज्ञानाबाध्य भेद का अधिकरण होता है, क्योंकि पदार्थ है, जैसे—आत्मा [यहाँ स्वपदार्थ है—घट, घटावृत्ति धर्म का अधिकरण 'चैत्र' है, चैत्रप्रतियोगिक चैत्रज्ञानाबाध्य है—चैत्र-भेद, उसका अधिकरणीभूत स्वपदोपात्त घटादि अनात्मा, तदवृत्ति धर्म का अधिकरण मैत्र है। इस प्रकार आत्माओं का परस्पर भेद सिद्ध होता है। तत्प्रतियोगिक अर्थात् मैत्रप्रतियोगिक मैत्रज्ञानाबाध्य जो मैत्र-भेद, तदधिकरण—ऐसा कहने से आत्मावधिक घटाद्यनात्मक पदार्थों का भेद सिद्ध होता है]। पक्ष (घट) में साध्य-सिद्धि का प्रकार है—घटावृत्ति धर्म का अधिकरण आत्मा है, उससे भिन्न जो अन्य आत्मा, उसका भेद सिद्ध होता है। दृष्टान्तीभूत आत्मा में साध्य का समन्वय इस प्रकार है—आत्मावृत्ति धर्म का अधिकरण जड़ पदार्थ, उससे भिन्न जो अन्य जड़ पदार्थ, उससे भिन्नत्व आत्मा में होता है।

न्यायामृतकार का वह अनुमान युक्त नहीं, क्योंकि पक्ष में स्व शब्द से घट और दृष्टान्त में स्व शब्द से आत्मा लिया गया है, अतः स्व शब्द और प्रतियोगि पद के अर्थ का अननुगम होने के कारण व्याप्यत्वासिद्धि दोष है, 'अजड़त्व' धर्म उपाधि भी है एवं जड़त्वरूप व्यतिरेकी हेतु के द्वारा सत्प्रतिपक्षता का भी उद्भावन हो सकता है—'अनात्मा उक्तसाध्याभाववान्, जड़त्वात्, यन्नैव तन्नैवं यथा आत्मा।

यह जो जीव का ब्रह्म से और जीव से जड़ का सत्य भेद सिद्ध करने के लिए प्रयोग किया गया है—पृथिवी, ब्रह्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्य भेद के अधिकरणीभूत जलत्वानधिकरण पदार्थ के सत्य भेद की अधिकरण होती है, क्योंकि वस्तु है, जैसे—जल। अप्त्वादि—यहाँ आदि शब्द से वादिमत-सिद्ध पृथिवीत्व से भिन्न जड़गत धर्म

न्यायामृतम्

त्पार्थिवाद्भिन्नत्वेनेति ज्ञेयम् । जीवस्य ब्रह्मजीवान्तराभ्यां जीवाच्च जडस्य भेदे। पृथिवी, ब्रह्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणम् यदप्त्वाद्यनधिकरणं आन्तर्गणिकभेदवच्च तत्प्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदवती, वस्तुत्वाद्, अंबुवत् । अत्र जीवस्य जीवान्तरादपि भेदार्थं पूर्वस्मादधिकमान्तर्गणिकभेदवादितिविशेषणम्। अत्र पक्षे ब्रह्मतः परस्परं च भिन्नाज्जीवाद्भिन्नत्वेन साध्यसिद्धिः। दृष्टान्ते तु ब्रह्मतः परस्परं च भिन्नात्पार्थिवाद् भिन्नत्वेनेति ज्ञेयम्। जीवस्य ब्रह्मजीवान्तराभ्यां जड़स्य च जीवाद् ब्रह्मणो जड़ाच्च भेदे पृथिवी, ब्रह्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणं यदद् वाद्यनधिकरणं आन्तर्गणिकभेदवच्च तत्प्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदवत्त्वे सति अप्त्वाद्यनधिकरणासंसारिधर्मिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदप्रतियोगिनी, वस्तुत्वाद् अंबुवत्।

अद्वैतसिद्धिः

तत्तद्वादिनः प्रति तत्तद्वादिसिद्धाः पृथिवीत्वभिन्नाः जड़निष्ठा धर्मा विवक्षिताः। पक्षे ब्रह्मभिन्नाज्जीवाद् भिन्नत्वेन साध्यसिद्धिः, दृष्टान्ते तु ब्रह्मभिन्नपार्थिवभिन्नत्वेनेति, तन्न, अप्त्वाद्यनधिकरणत्ववज्जीवत्वानधिकणेत्यपि विशेषणं दत्वा जीवब्रह्मभिन्नात्मनोऽपि साधनप्रसङ्गाद्, गन्धाधारत्वादिव्यतिरेकिणा सत्प्रतिपक्षसंभवाच्च, धर्मिपदविकल्पनिबन्धनदोषतादवस्थ्याच्च।

एतेन—जीवस्य ब्रह्मजीवान्तराभ्यां जीवाच्च जड़स्य भेदे पूर्वप्रयोग एव जीवस्य जीवान्तराद्भेदसिध्यर्थमन्तर्गणिकभेदवदित्यप्त्वानधिरकणेत्यत्र विशेषणं दत्वानुमानम्। अत्र च पक्षे ब्रह्मणः परस्परं च भिन्नाज्जीवाद् भिन्नत्वेन साध्यसिद्धिः, दृष्टान्ते तु ब्रह्मणः परस्परश्च भिन्नात् पार्थिवाद् भिन्नत्वेनेति—निरस्तम्। जीवस्य ब्रह्मजीवान्तराभ्यां जड़स्य च जीवात् ब्रह्मणो जडाच्च भेदे पृथिवी, ब्रह्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणम् अप्त्वाद्यनधिकरणमान्तर्गणिकभेदवच्च यत्तत्प्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदवत्त्वे सति अप्त्वाद्यनधिकरणासंसारिधर्मिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदप्रतियोगिनी, वस्तुत्वादम्बुवदित्यत्र ब्रह्मणो जडादपि भेदार्थं पूर्वस्मादधिकमप्त्वानधिकरणासंसारीत्यादि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विवक्षित हैं। पक्ष में ब्रह्म-भिन्न जीव से भिन्नत्व होने के कारण साध्य की सिद्धि होती है और दृष्टान्त में ब्रह्म-भिन्न पार्थिव से भिन्नत्व होने के कारण साध्य का समन्वय होता है।

वह अनुमान-प्रयोग भी समीचीन नहीं, क्योंकि अप्त्वानधिकरणत्व के समान 'जीवत्वानधिकरणत्व' विशेषण देकर जीव और ब्रह्म से भिन्न आत्मा की भी सिद्धि की जा सकती है। गन्धाधारत्वादि व्यतिरेकी हेतु के द्वारा सत्प्रतिपक्षता का भी प्रदर्शन हो सकता है। धर्मिपद-विकल्पप्रयुक्त दोष तो पूर्ववत् ही हैं।

न्यायामृतकार ने जो जीव का ब्रह्म तथा जीवान्तर से एवं जीव से जड़ का भेद सिद्ध करने के लिए पूर्वोक्त प्रयोग में ही जीव से जीवान्तर का भेद सिद्ध करने के लिए आन्तर्गणिक भेदवत्—ऐसा अप्त्वानधिकरण का विशेषण देकर अनुमान किया है—"पृथिवी ब्रह्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणं यदप्त्वाद्यनधिकरणमान्तर्गणिकभेदवच्च, तत्प्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदवती, वस्तुत्वाद्, अम्बुवत्।" यहाँ पक्ष में ब्रह्म निरूपित एवं भिन्नजीवनिरूपित भेद को लेकर साध्य की सिद्धि और दृष्टान्त में ब्रह्म एवं परस्पर भिन्न पार्थिव निरूपित भेद को लेकर साध्य का समन्वय होता है।

न्यायामृतम्

अत्र च ब्रह्मणो जडादपि भेदार्थं पूर्वस्मादधिकमण्वत्वाद्यनधिकरणासंसारीत्यादिविशेषणम्। अत्र पक्षे अण्वत्वाद्यनधिकरणासंसारि ब्रह्म, तद्धर्मिकभेदप्रतियोगित्वेन साध्यसिद्धिः। दृष्टान्ते तु अण्वत्वाद्यनधिकरणासंसारि पार्थिवं, तद्धर्मिकभेदप्रतियोगित्वेनेति ज्ञेयम्।

भेदमात्रे तु (१) ब्रह्म, भेदहीनं नावतिष्ठते स्वज्ञानाबाध्यभेदवद्वा, पदार्थत्वाद् घटवत्। (२) अनात्मा स्वान्यज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणम्, पदार्थत्वाद्, आत्मवत्। (३) ब्रह्मभेदो न सर्वनिष्ठात्यंताभावप्रतियोगी, ब्रह्मनिरूप्यत्वाद्, ब्रह्माभेदवत्। (४) ब्रह्मज्ञानं, स्वाबाध्यभेदवद्विषयम्, ज्ञानत्वात्, शुक्तिज्ञानवत्। (५) घटो घटसंसर्गान-

अद्वैतसिद्धिः

विशेषणम्। अत्र पक्षे अण्वत्वाद्यनधिकरणमसंसारि ब्रह्म, तद्धर्मिकभेदप्रतियोगित्वेन साध्यसिद्धिः, दृष्टान्ते त्वण्वत्वाद्यनधिकरणासंसारि पार्थिवम्, तद्धर्मिकभेदप्रतियोगित्वेन ज्ञेयम्। अत्र जीवत्वानधिकरणत्वस्य अण्वत्वानधिकरणेत्यत्र विशेषणत्वेन पूर्ववदाभाससाम्यात्, पाकजरूपाधिकरणत्वादिना सत्प्रतिपक्षाच्च, धर्मादिपदविकल्पग्रासाच्च।

एवं भेदमात्रेऽपि नानुमानम्। (१) ब्रह्म, भेदहीनं नावतिष्ठते स्वज्ञानाबाध्यभेदवद्वा, पदार्थत्वाद्, घटवद् इति; तन्न मुक्त्यसहवृत्तित्वस्य जडत्वस्य चोपाधित्वात्, स्वपदविकल्पग्रासाच्च। एतेन—(२) अनात्मा, स्वान्यज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणम्, पदार्थत्वाद्, आत्मवदिति—निरस्तम्। (३) ब्रह्मभेदो न सर्वनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, ब्रह्मनिरूप्यत्वाद्, ब्रह्माभेदवदित्यत्र ब्रह्माभिन्नावृत्तित्वमुपाधिः, ब्रह्माभेदस्याब्रह्मनिरूप्यत्वेन तदनिरूप्यतया साधनवैकल्यं च। (४) ब्रह्मज्ञानं, स्वाबाध्यभेदवद्विषयकम्, ज्ञानत्वाच्छुक्तिज्ञानवदित्यज्ञानात्मविषयत्वमुपाधिः। स्वपदेन ब्रह्मज्ञानोक्तौ तदबाध्यभेदाप्रसिद्ध्या साध्याप्रसिद्धिः, शुक्तिज्ञानोक्तौ सिद्धसाधनम्। (५) घटो घटसंसर्गा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वह अनुमान भी अत एव निरस्त हो जाता है कि अण्वानधिरण के समान जीवत्वानधिकरणत्व विशेषण देने के कारण ब्रह्म और जीव से भिन्न तृतीय आत्मा के साधक अनुमानाभास का साम्य इस अनुमान में स्पष्ट है। पाकजरूपाधिकरणत्वादि हेतु के द्वारा सत्प्रतिपक्षता दोष भी दिखाया जा सकता है एवं धर्म्यादि पदों के विकल्प उठाकर पूर्ववत् दोष उद्भावित किए जा सकते हैं।

इसी प्रकार भेदमात्र में भी अनुमान सम्भव नहीं। न्यायामृतकार के सभी प्रयोग दूषित हैं—(१) 'ब्रह्म, भेद-रहित होकर कभी नहीं रह सकता, अथवा स्वज्ञानाबाध्य भेद वाला होता है, क्योंकि पदार्थ है, जैसे—घट।' इस अनुमान में 'मुक्त्यासहवृत्तित्व' धर्म उपाधि हैं एवं स्व पद के विकल्पप्रयुक्त दोष भी हैं। इन्हीं दोषों के कारण (२) 'अनात्मा स्वान्यज्ञानाबाध्यभेदाधिकरणम्, पदार्थत्वाद्, आत्मवत्'—यह प्रयोग भी निरस्त हो जाता है। (३) 'ब्रह्मभेदो न सर्वनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, ब्रह्मनिरूप्यत्वाद्, ब्रह्माभेदवत्—इस अनुमान में ब्रह्माभिन्नावृत्तित्व' उपाधि है एवं ब्रह्माभेद अब्रह्म (ब्रह्मभेद) से निरूपित है, ब्रह्म से निरूपित नहीं, अतः दृष्टान्त में साध्य-वैकल्य भी है। (४) 'ब्रह्मज्ञानम्, स्वाबाध्यभेदवद्विषयकम्, ज्ञानत्वात्, शुक्तिज्ञानवत्'—इस अनुमान में 'अनात्मविषयकत्व' उपाधि है, स्वपद से ब्रह्मज्ञान का ग्रहण करने पर तदबाध्य भेद की अप्रसिद्धि हो जाने के कारण साध्याप्रसिद्धि दोष है और यदि स्वपद से शुक्ति-ज्ञान

न्यायामृतम्

वच्छिन्नप्रतियोगिकताकपटादिधर्मिकत्रैकालिकाभावप्रतियोगी, द्रव्यत्वात्, पटवत्। अत्र विपक्षे बाधकानामुक्तत्वात् नाभाससाम्यादि। (६) एवं समानाधिकरणकर्मप्रागभावसमानकालीनज्ञानबाधायोग्यो(ध्यो)भेदः परमार्थसन्, प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वात्, स्वासत्त्वागोचरप्रमां प्रति साक्षाद्विषयत्वाद्, आरोपितमिथ्यात्वकत्वात्, कल्पकरहितत्वात्, स्वविषयकसाक्षात्कारात्पूर्वभावित्वाच्चात्मवत्। (७) जीवब्रह्मभेदः परमार्थसन् अनादित्वादात्मवत्। (८) साक्षिवेद्यः सुखदुःखादिभेदः परमार्थसन्, अनिषेध्यत्वेन दोषाजन्यज्ञानं प्रति साक्षादिषयत्वाद्, आत्मवत्। (९) धर्माधर्मयागदानादिभेदः परमार्थसन्, श्रुतितात्पर्यविषयत्वाद्, ब्रह्मवदित्यत्याद्यूह्यम्। अत्र कण्टकोद्धारः जगत्सत्यत्वमानप्रस्तावे कृत इति। भेदपंचकेऽनुमानानि ॥ २२ ॥

अद्वैतसिद्धिः

नवच्छिन्नप्रतियोगिताकपटादिधर्मिकत्रैकालिकाभावप्रतियोगी, द्रव्यत्वात्, पटवदित्यत्र काल्पनिकाभावस्यापि कालत्रयवृत्तित्वसंभवेन सिद्धसाधनम्, घटसंसर्गानवच्छिन्नेतिवत्तादात्म्यानवच्छिन्नेत्यपि विशेषणं दत्वा पञ्चमाभावसाधनस्यापि प्रसङ्गश्च, विपक्षबाधकाभावस्य उभयत्र सत्त्वात्। (६) समानाधिकरणकर्मप्रागभावसमानकालीनज्ञानबाधायोग्यो भेदः, परमार्थसन्, प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वात्, स्वासत्त्वागोचरप्रमां प्रति साक्षाद्विषयत्वाद्, आरोपितमिथ्यात्वकत्वात्, कल्पकरहितत्वात्, स्वविषयकसाक्षात्कारात् पूर्वभावित्वाद्, आत्मवत्। (७) ब्रह्मजीवप्रतियोगिको भेदः, परमार्थसन्, अनादित्वादात्मवत्। (८) साक्षिवेद्यसुखदुःखादिभेदः, परमार्थसन्, अनिषेध्यत्वेन दोषाजन्यज्ञानं प्रति साक्षाद्विषयत्वात्। (९) धर्माधर्मयागदानादिभेदः, परमार्थसन्, श्रुतितात्पर्यविषयत्वादित्यादिष्वात्मसाधारणधर्माणां चेतनत्वादीनामुपाधित्वं जड़त्वादिना सत्प्रतिपक्षश्च, मिथ्यात्वसाधकानां प्राबल्यस्योक्तत्वेन तैर्बाधश्च। आद्ये च प्रातिभासिकत्वस्य दोषप्रयुक्तभानत्वात्मकत्वे असिद्धिः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का ग्रहण होता है, तब सिद्धसाधनता दोष होता है। (५) 'घटो घटसंसर्गानवच्छिन्नप्रतियोगिताकपटादिधर्मिकत्रैकालिकाभावप्रतियोगी, द्रव्यत्वात्, पटवत्'—इस अनुमान में काल्पनिक अभाव भी कालत्रय-वृत्ति हो सकता है, अतः सिद्ध-साधनता है। घटसंसर्गानवच्छिन्नके समान 'तादात्म्यानवच्छिन्न' विशेषण भी देकर ध्वंस, प्रागभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योऽन्याभाव से भिन्न कोई पञ्चम अभाव की भी सिद्धि की जा सकती है। विपक्ष बाधक तर्कों का अभाव तो उभयत्र समान ही है। (६) समानाधिकरणकर्मप्रागभावसमानकालीनज्ञानबाधायोग्यो भेदः परमार्थसन्, प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सति असत्त्वानधिकरणत्वात्, स्वासत्त्वागोचरप्रमां प्रति साक्षाद् विषयत्वाद्, आरोपितमिथ्यात्वकत्वात्, कल्पकरहितत्वात्, स्वविषयकसाक्षात्कारात् पूर्वभावित्वाद्, आत्मवत्। (७) ब्रह्मजीवप्रतियोगिको भेदः परमार्थसन्, अनादित्वाद्, आत्मवत्। (८) साक्षिवेद्यसुखदुःखादिभेदः, परमार्थसन्, अनिषेध्यत्वेन दोषाजन्यज्ञानं प्रति साक्षाद् विषयत्वात्। (९) धर्माधर्मयागदानादिभेदः परमार्थसन्, श्रुतितात्पर्यविषयत्वात्'—इत्यादि अनुमानों में आत्मा के चेतनत्वादि असाधारण धर्म उपाधि हैं। जड़त्वादि हेतु के द्वारा सत्प्रतिपक्षता भी है, मिथ्यात्व-साधक अनुमानों का प्राबल्य दिखाया जा चुका है,

अद्वैतसिद्धिः

ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वोक्तौ चरमवृत्त्यव्यवहितप्रातिभासिके व्यभिचारश्च। द्वितीयहेतौ तादृक्प्रमाविषयत्वस्य भेदपारमार्थिकत्वसिद्ध्यधीनत्वेन साध्याविशेषपर्यवसानम्। तृतीये चरमवृत्त्यन्यबाध्यमिथ्यात्वकत्वस्योपाधित्वम्। चतुर्थे अविद्यारूपकल्पकसत्त्वेनासिद्धिः। पञ्चमे दृष्टिसृष्टिपक्षे असिद्धिः, इतरत्राप्रयोजकता। अनादित्वं च अज्ञानादौ व्यभिचारि। दोषाजन्यज्ञानं प्रतीत्यत्र श्रुतितात्पर्यविषयत्वादित्यत्र चासिद्धिः, साक्ष्यवच्छेदकवृत्तेर्दोषजन्यत्वात्, मुख्यतस्तात्पर्यस्य तत्राभावात्। तस्माद् भेदपञ्चकं नानुमानविषयः॥

इत्यद्वैतसिद्धौ भेदपञ्चके अनुमानभङ्गः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अतः उनके द्वारा इन अनुमानों का बाध भी हो जाता है। प्रथम (प्रातिभासिकत्वानधिकरणेत्यादि) हेतु में प्रातिभासिकत्व को दोष-प्रयुक्तभानत्वस्वरूप मानने पर स्वरूपासिद्धि, ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वरूप मानने पर चरमवृत्ति के अव्यवहित पूर्वभावी प्रातिभासिक में व्यभिचार भी है, क्योंकि वह ब्रह्मज्ञान के बाधायोग्य नहीं और हेतु वहाँ भी रहता है। द्वितीय हेतु (स्वासत्त्वागोचरत्यादि) में कथित प्रमाविषयत्व भेदगत पारमार्थिकत्व-सिद्धि के अधीन है, अतः साध्याविशेषता में पर्यवसान होता है। तृतीय हेतु (आरोपितमिथ्यात्वकत्व) में 'चरमवृत्त्यन्यबाध्यमिथ्यात्वकत्व' उपाधि है। चतुर्थ हेतु (कल्पकरहितत्व) में अविद्यारूप कल्पक के रहने पर स्वरूपासिद्धि है। पञ्चम हेतु (स्वविषयकसाक्षात्कारादित्यादि) में दृष्टिसृष्टिवाद के अनुसार असिद्धि और इतर मतानुसार अप्रयोजकत्व दोष है। अनादित्व हेतु अज्ञानादि में व्यभिचारी है। 'दोषाजन्यज्ञानं प्रति'—यहाँ और 'श्रुतितात्पर्यविषयत्वात्'—यहाँ पर असिद्धि है, क्योंकि साक्षी की अवच्छेदकीभूत वृत्ति अविद्या दोष से जनित ही होती है। मुख्य तात्पर्य उसमें नहीं होता, अतः कथित पाँचों भेद अनुमान के विषय नहीं होते।

न्यायामृतम्

: २३ :

भेदश्रुतेरनुवादकत्वविचारः

किं च "द्वा सुपर्णा", "य आत्मनि तिष्ठन्", "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्", "अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य"–इत्यादि श्रुतिभिः

नैतदिच्छन्ति पुरुषमेकं कुरुकुलोद्वह ।
अन्यश्च परमो राजंस्तथान्यः पंचविंकः ॥

यथेश्वरश्च जीवश्च सत्यभेदौ परस्पर"मित्यादि स्मृतिभिः "भेदव्यपदेशाद्, भेदव्यपदेशाच्चान्यः, शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते पृथगुपदेशाद्" इत्यादिभिर्निर्णायकसूत्रैश्च सिद्धो भेदः । न च श्रुतिरनुवादः, जगत्सत्यत्वश्रुतेरनुवादकत्वप्रस्तावोक्तन्यायै-

---

अद्वैतसिद्धिः

ननु—भेदतात्त्विकत्वे 'द्वा सुपर्णा', 'य आत्मनि तिष्ठन्', 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्', 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य' इति श्रुतयो मानमिति— चेन्न, द्वा सुपर्णेत्यत्र पूर्वार्धे न भेदः प्रमेयः, अपदार्थत्वादवाक्यार्थत्वाच्च । द्वित्वस्य स्वाश्रयप्रतियोगिकभेदसमानाधिकरणत्वनियमात् । श्रुतिद्वित्वार्थापत्तिसमधिगम्यस्यापि भेदस्य श्रौतत्वमिति चेत् , न, द्वौ चन्द्रमसावित्यत्रेव कल्पितभेदेनाप्युपपत्तेः तात्त्विकभेदानाक्षेपकत्वात् । अत एव नोत्तरार्धस्यापि तात्त्विकभेदपरत्वम् , वस्तुतस्त्वस्याः श्रुतेः पैङ्गिरहस्यब्राह्मणे बुद्धिजीवपरतया व्याकृतत्वेन जीवे-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—भेद की तात्त्विकता में "द्वा सुपर्णा" (श्वेता० ४।६), "य आत्मनि तिष्ठन्" (शत० ब्रा० १४।५।५।३०), "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" (कठो. ५।१३), "अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" (श्वेता० ४।५) इत्यादि वेदान्त-वाक्य प्रमाण हैं ।

समाधान—'द्वा सुपर्णा'—इस श्रुति के पूर्वार्ग में भेद बोधित ही नहीं, क्योंकि भेद न तो पदार्थ है और न वाक्यार्थ । श्रुति में प्रतिपादित द्वित्व को भी भेद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि द्वित्व में केवल स्वाश्रयप्रतियोगिक भेद का सामानाधिकरण्य नियमतः रहता है [जैसे 'घटपटौ द्वौ' यहाँ पर द्वित्व के आश्रय घट-पट दोनों हैं, घट में पट का और पट में घट का भेद निश्चित है, वह भेद घट में अध्यस्त पट का या पट में अध्यस्त घट का भी हो सकता है, इतने मात्र से भेद में तात्त्विकत्व सिद्ध नहीं होता । ईश्वर में अध्यस्त जीव को लेकर द्वित्व बन जाता है, भेद में तात्त्विकत्व की आवश्यकता नहीं होती] ।

शङ्का—श्रुति-प्रतिपादित द्वित्व भेद के बिना सम्भव नहीं, अतः श्रुतार्थापत्ति के द्वारा अधिगत भेद को श्रौत कहना उचित ही है ।

समाधान—तैमिरिक को जैसे एक चन्द्र में 'द्वौ चन्द्रमसौ'—'ऐसो प्रतीति होती है, प्रतीयमान द्वित्व की उपपत्ति कल्पित द्वितीय चन्द्र व्यक्ति को लेकर हो जाती है, प्रथम और द्वितीय चन्द्र का भेद भी काल्पनिक ही माना जाता है, वैसे ही 'द्वौ सुपर्णे'—यहाँ पर भी कल्पित भेद को लेकर समस्त व्यवहार की उपपत्ति हो जाती है, उसके लिए तात्त्विक भेद मानने की क्या आवश्यकता ? अत एव उक्त श्रुति के उत्तरार्ग का भी तात्त्विक भेद में तात्पर्य नहीं माना जाता । वस्तुतः पैङ्गिरहस्य ब्राह्मण में इस श्रुति

न्यायामृतम्

जीवत्वावच्छिन्नजीवभेदस्याप्राप्तया न हिंस्यादिवदननुवादकत्वोपपत्तेः। शाखान्तरस्य विधिवाक्यस्येव पुंविशेषं प्रत्यर्थवत्त्वाच्च। "द्वयोः प्रणयन्ती" त्यादिवद्वर्तमानमात्र-

अद्वैतसिद्धिः

शभेदपरत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादावाधाराधेयभावस्य 'चेतनश्चेतनाना'मिति निर्धारणस्य 'अजोऽन्य' इत्यत्र भेदव्यपदेशस्य काल्पनिकभेदमादायाप्युपपत्तेः भेदतात्त्विकत्वापर्यवसायित्वात्, श्रुत्यन्तरविरोधाच्च। न चैतच्छ्रुतिविरोधात् सैव श्रुतिरन्यपरा, भेदश्रुतेः प्रत्यक्षसिद्धभेदानुवादत्वेन हीनबलत्वात्। न च जीवत्वावच्छिन्नजीवभेदस्याप्राप्त्या 'न हिंस्या'दित्यादिवदननुवादत्वम्, जीवेश्वरभेदस्य प्रत्यक्षसिद्धतया तदन्यथानुपपत्तिसिद्धेशधर्मिकजीवत्वावच्छिन्नभेदस्यापि प्रत्यक्षसिद्धतुल्यकक्ष्यतया तद्बोधकश्रुतेरनुवादत्वोपपत्तेः। न हिंस्यादित्यत्र नानुवादत्वशङ्कापि, ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यादेः पुरोवादकत्वनिर्णायकाभावात्। न च—पुंविशेषं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का बुद्धि और जीवात्मक द्वौ सुपर्णौ (पक्षियों) के प्रतिपादन में तात्पर्य माना गया है, अतः इस श्रुति को जीवेश-भेदपरक नहीं माना जा सकता।

"य आत्मनि तिष्ठन्"—इस श्रुति में प्रतीयमान आधाराधेयभाव, "चेतनश्चेतनानाम्"—इस श्रुति में कथित निर्धारण "अजोऽन्यः"—इत्यादि श्रुतियों में भेद-व्यवहार काल्पनिक भेद को लेकर उपपन्न हो जाता है, तात्त्विक भेद में इन श्रुतियों का पर्यवसान सम्भव नहीं, क्योंकि तात्त्विक भेद का "नेह नानास्ति"—इत्यादि श्रुतियों ने विरोध किया है। भेद-बोधक श्रुतियों के अनुरोध पर अभेदपरक वाक्यों को ही अन्यार्थपर्यवसायी क्यों नहीं मान लिया जाता? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रबल वाक्यों के अनुरोध पर ही दुर्बल वाक्यों का अन्यथा-नयन होता है, किन्तु प्रकृत में भेद-प्रतिपादक वाक्य प्रत्यक्ष-सिद्ध भेद के अनुवादकमात्र होने के कारण दुर्बल हैं और अभेदावगाही वाक्य अप्राप्त अर्थ के प्रापक होने के कारण प्रबल हैं।

शङ्का—भेद-बोधक वाक्यों को अनुवादक वैसे ही नहीं माना जा सकता, जैसे कि 'पृथिवी इतरभिन्ना' एवं 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि', क्योंकि जैसे घटत्वाद्यवच्छेदेन इतरभेद प्राप्त होने पर भी पृथिवीत्वावच्छेदेन भेद प्राप्त नहीं, 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' यहाँ पर ब्राह्मणत्वावच्छेदन हिंसा-निषेध प्राप्त होने पर भी सर्वभूतत्वावच्छेदेन प्राप्त नहीं, वैसे ही 'चैत्रो मैत्रो न'—इत्यादि प्रत्यक्ष के बल पर केवल चैत्रत्वाद्यवच्छेदेन ही भेद प्राप्त है, जीवत्वावच्छेदेन नहीं, अतः जीवत्वावच्छेदेन भेद के बोधक "य आत्मनि तिष्ठन्"—इत्यादि वाक्यों को अनुवादक नहीं माना जा सकता।

समाधान—जीव में ईश्वर का भेद प्रत्यक्ष-सिद्ध है। क्योंकि पहले यह माना जा चुका है कि भेद के प्रत्यक्ष में अनुयोगी की योग्यता कारण होती है, ईश्वरप्रतियोगिक भेद का अनुयोगी जीव यहाँ प्रत्यक्ष है, अतः ईश्वर-भेद को जीव में प्रत्यक्ष कहा गया है]। जीव में ईश्वर का भेद तब तक उपपन्न नहीं हो सकता, जब तक जीवों का भेद ईश्वर में न मान लिया जाय, अतः ईश्वरानुयोगिक जीवत्वावच्छिन्नप्रतियोगिक भेद अर्थापत्ति प्रमाण से अवगत प्रत्यक्ष-जैसा ही है, अतः, जीवेश-भेदबोधक "द्वा सुपर्णा—इत्यादि वाक्य अनुवादक ही निश्चित होते हैं, इनके द्वारा अभेदार्थपरक वाक्यों का अन्यथानयन सम्भव नहीं। "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'—इस वाक्य के अनुवादक न

अद्वैतसिद्धिः

प्रत्यस्यार्थवत्त्वं शाखान्तरस्थविधिवाक्यवदिति—वाच्यम् , एकस्यानेकशाखाध्ययनासंभवात् , प्रत्यक्षस्य सर्वपुरुषसाधारण्येन प्राथमिकप्रसरत्वेन च पुरुषविशेषं प्रत्यपि सार्थकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । न च—द्वयोः प्रणयन्ती'त्यादिवद् वर्तमानमात्रग्राहिप्रत्यक्षाप्राप्तकालत्रयाबाध्यभेदप्रापकत्वमिति—वाच्यम् , अजो ह्यन्य इत्यादौ त्रिकालाबाध्यत्वबोधकपदाभावात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होने का कारण सर्वप्राणियों की अहिंसा का प्रमाणान्तर से प्राप्त न होना ही है, 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'—यह वाक्य सर्वप्राणियों की अहिंसा का प्रतिपादक न होने के कारण ''न हिंस्यात्''—इस वाक्य की अनुवादकता का निर्णायक नहीं माना जा सकता ।

शङ्का—किसी शाखा में अवस्थित अनुवादक वाक्य भी शाखान्तरीय पुरुष के प्रति जैसे सार्थक या अज्ञात-ज्ञापक माना जाता है, अतः भेद-बोधक वाक्य भी उस पुरुष के प्रति अज्ञात-ज्ञापक माने जाते हैं, जिसको प्रत्यक्ष के आधार पर भेद निश्चित नहीं हुआ हैं [इसका स्पष्टीकरण विगत पृ० २३५ पर आ चुका है] ।

समाधान—''स्वाध्यायोऽध्येतव्यः''—यह विधि वाक्य केवल स्वकीय कुल-परम्परा-प्राप्त शाखा के अध्ययन का विधान करता है, एक पुरुष अनन्त अन्य शाखाओं का अध्ययन कर भी नहीं सकता, अतः शाखान्तरीय वाक्यों का शाखान्तरीय पुरुष के प्रति सार्थकत्व या अज्ञात-ज्ञापकत्व सम्भव नहीं । प्रत्यक्ष प्रमाण तो सर्व-साधारण सभी प्रमाणों की अपेक्षा पहले ही प्रवृत्त हो जाता है, ऐसा पुरुष कोई सम्भव नहीं, जिसे प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मभेद का ज्ञान न हो और भेद-बोधक श्रुति उसे अप्रकाशित भेद का प्रथम प्रकाश दें ।

शङ्का—जैसे ''द्वयोः प्रणयन्ति तस्माद् द्वाभ्यां यन्ति'' यह वाक्य चातुर्मास्य याग में पठित है [चार-चार मास के पश्चात् क्रियमाण चार खण्डों के इस याग की चातुर्मास्य संज्ञा है । इसमें (१) वैश्वदेव, (२) वरुणप्रघास, (३) साकमेध और (४) शुनासीरीय नाम के चार पर्व होते हैं । प्रथम पर्व फाल्गुन पूर्णिमा, द्वितीय आषाढ़-पूर्णिमा, तृतीय कार्तिक-पूर्णिमा तथा चतुर्थ फाल्गुन शुक्ल प्रतिपत् को किया जाता है । यहाँ सन्देह होता है कि चातुर्मास्य इष्टि की प्रकृतिभूत दर्शपूर्णमास याग से 'प्रकृतिवद् विकृतिः कार्या'—इस अतिदेश वाक्य के द्वारा उक्त चारों पर्वों में अग्नि-प्रणयन (गार्हपत्य कुण्ड से आहवनीय कुण्ड में अग्नि ले जाना) प्राप्त है, तब 'द्वयोः प्रणयन्ति'—इस वाक्य की क्या आवश्यकता ? इस सन्देह को दूर करते हुए महर्षि जैमिनि कहते हैं—''परिसंख्यार्थं श्रवणं गुणार्थमर्थवादो वा'' (जै० सू० ७।३।२२) अर्थात् उक्त प्रणयन केवल दो पर्वों में ही होगा, शेष दो पर्वों में इसकी परिसंख्या (निषेध) करने के लिए उक्त वाक्य के द्वारा अपूर्व प्रणयन का विधान किया गया है । अतः ''मध्यमयोर्वा गत्यर्थवादात्'' (जै० सू० ७।३।२४) इस सूत्र के द्वारा वरुणप्रघास एवं साकमेध—इन दो पर्वों में ही इस अपूर्व प्रणयन का अनुष्ठान होगा और शेष दो पर्वों से सामान्य प्राकृत प्रणयन होगा । वैसे ही यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा केवल वर्तमान काल के भेद का बोध होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष केवल वर्तमान् वस्तु को ही विषय करता है, अतीत और अनागत को नहीं—''सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना'' (श्लो. वा.

न्यायामृतम्

ग्राहिप्रत्यक्षाप्राप्तकालत्रयाबाध्यभेदप्रापकत्वोपपत्तेश्च। ऐक्ये षड्विधतात्पर्यलिंगवद्वा-र्थ्यार्थत्वाच्च। षड्विंशतिरित्येव ब्रूयादितिवत् प्रतिप्रसार्थत्वाच्च। प्रत्यक्षस्याप्रामाण्ये श्रुतेरनुवादकत्वायोगाच्च। श्रुतेः प्रत्यक्षनिरपेक्षानुवादत्वेन धारावाहिकद्वितीयादि-

अद्वैतसिद्धिः

न च—अभेदे षड्विधतात्पर्यलिङ्गवद्वार्थ्यार्थत्वं भेदश्रुतेरिति—वाच्यम्, तत्र प्रयोजनवत्त्वेऽप्यनुवादत्वापरिहाराद् अग्निर्हिमस्य भेषजमितिवत्। न च 'षड्विंशति-रित्येव ब्रूयादि'तिवत् प्रतिप्रसवार्थत्वम्, तदपेक्षया हीनबलत्वेन प्रतिप्रसवायोगात्, भेदनिषेधकश्रुतेः भेदतात्त्विकत्वनिषेधपरत्वेन भेदस्वरूपप्रतिपादकवाक्यस्य तत्प्रति-प्रसवायोगात्। न च प्रत्यक्षस्याप्रामाण्ये श्रुतेस्तत्सिद्धानुवादकत्वायोगः, तस्या ज्ञात-ज्ञापकत्वमात्रेणानुवादकत्वोपपत्तेः। न च—एवमपि निरपेक्षानुवादत्वेन धारावाहिक-द्वितीयादिज्ञानवत् प्रमात्वोपपत्तिरिति—वाच्यम्, निरपेक्षसापेक्षसाधारणानुवादत्व-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पृ. १६०)। अतः प्रत्यक्ष के अविषयीभूत त्रिकालाबाध्य भेद का बोध "अजो ह्यन्यः"—इत्यादि वाक्यों के द्वारा ही होता है।

समाधान—"अजो ह्यन्यः"—इत्यादि वाक्यों में त्रिकालाबाध्यत्व-प्रतिपादक पद का अभाव होने के कारण त्रिकालाध्य भेद की बोधकता सम्भव नहीं।

शङ्का—जैसे ज्ञात अभेद का पुनः पुनः प्रतिपादन षड्विध तात्पर्य की दृढ़ता के लिए होता है, वैसे ही ज्ञात भेद का प्रतिपादन क्यों नहीं हो सकता ?

समाधान—यह तो अनुवाद का विशेष प्रयोजन वैसे ही बताया गया, जैसे कि कहा जाय कि अग्नि में शीत-निवारण की अपूर्वक्षमता ध्वनित करने के लिए 'अग्नि-र्हिमस्य भेषजम्'—यह अनुवाद किया जाता है। अनुवाद का विशेष सार्थक्य कह देने मात्र से अनुवादकता समाप्त नहीं हो जाती, अन्यथा 'अग्निर्हिमस्य भेषजम् यह वाक्य भी अनुवादक न होकर अपूर्व विधि बन जायगा।

शङ्का—जैसे अश्वमेध कर्म में षड्विंशतिरित्येव ब्रूयात्'—यह वाक्य ज्ञात का ज्ञापक होने पर भी प्रतिप्रसवार्थक माना जाता है (द्र० विगत पृ० २४१) वैसे ही प्रत्यक्ष-प्राप्त भेद का "उदरमन्तरं कुरुते"—इत्यादि वाक्यों से बाध हो जाता है, बाधित भेद का प्रतिप्रसव (पुनरुज्जीवन) करने के लिए "अजोऽन्यः"—इत्यादि भेद-बोधक वाक्यों का साफल्य क्यों नहीं माना जा सकता ?

समाधान—भेद-निषेधक वाक्यों की अपेक्षा भेदपरक वाक्य दुर्बल होने के कारण प्रतिप्रसवार्थक नहीं माने जा सकते।

शङ्का—प्रत्यक्ष प्रमाण भी अबाधितार्थ-प्रकाशक न होने के कारण यदि अप्रमाण माना जाता है, किसी अर्थ का ज्ञापक ही नहीं माना जाता, तब भेद-श्रुति को ज्ञात-ज्ञापक क्योंकर कहा जायगा ?

समाधान—प्रत्यक्ष अबाधितार्थ का बोधक न होने पर भी ज्ञापक माना जाता है, उससे ज्ञापित भेद का ज्ञापक मात्र हो जाने के कारण भेदपरक वाक्यों को अनुवादक माना जाता है।

शङ्का—प्रत्यक्ष जब प्रमाण ही नहीं, तब उसकी अपेक्षा भेदपरक वाक्यों को अनुवादक नहीं माना जा सकता, निरपेक्ष ज्ञात-ज्ञापक ज्ञानों को धारवाहिक प्रत्यक्ष-

न्यायामृतम्

ज्ञानवत् प्रमात्वोपपत्तेश्च। विद्वद्वाक्यवत्सप्रयोजनानुवादत्वेन स्वार्थपरत्वाच्च। यत्तन्नेत्यादिनिषेधार्थानुवादलिंगाभावेन विधेयान्तरश्रवणेन च निषेधार्थानुवादायोगात्। विधानार्थानुवादे चानुवाद्यस्य तात्त्विकत्वनियमाच्च। अनुवादकत्वेऽपि याथार्थ्यरूपप्रामाण्य हानेश्च।

अद्वैतसिद्धिः

मात्रस्याप्रामाण्यप्रयोजकत्वाद्, दृष्टान्तस्यातिरिक्तकालकलाविषयत्वेनानधिगतार्थविषयतया विषमत्वात्। न च विद्वद्वाक्यवत् सप्रयोजनानुवादत्वेन स्वार्थपरता, तस्य स्वार्थबोधकत्वेऽपि द्वित्वसंपादकतया स्वार्थपरत्वाभावात्। न च यत्तन्नेत्यादिनिषेधार्थानुवादलिङ्गाभावेन निधेयान्तरश्रवणेन च निषेधार्थानुवादत्वायोगः, यत्तदित्यादेरनुवादलिङ्गत्वेऽपि अनुवादव्यापकत्वाभावाद्, अन्येनापि ह्युन्नयनसंभवाद्, 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यादौ यत्तत्पदाभावेऽपि निषेधानुवाददर्शनाद्, विधेयान्तरसत्त्वे तु निषेधार्थानुवादकत्वाभावेऽपि तदर्थानुवादत्वापरिहारात्। न चैवं विधानार्थानुवादे तात्त्विकत्वनियमः, यद्रजतं तदानयेत्यादौ अन्यविधानार्थं भ्रान्तिसिद्धानुवादे तात्त्विकत्वा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

स्थल पर प्रमा ही माना जाता है।

समाधान—निरपेक्ष ज्ञापक हो, या सापेक्ष, ज्ञात-ज्ञापक मात्र को अनुवादक और अप्रमा माना जाता है। दृष्टान्तभूत धारावाहिक स्थल पर द्वितीयादि ज्ञान द्वितीय क्षणादिरूप अधिक विषय के ज्ञापक होने के कारण प्रमा माने जाते हैं, किन्तु प्रकृत में वैसा सम्भव नहीं।

शङ्का—जैसे "य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते", "य एवं विद्वान् अमावस्यां यजते"—इत्यादि विद्वत्पद-घटित वाक्य अनुवादक होने पर भी मुख्य स्वार्थपरक माने जाते हैं, वैसे प्रकृत में भी अनुवादक होने पर भी स्वार्थपरत्व क्यों नहीं माना जा सकता।

समाधान—विद्वद्वाक्यों को स्वार्थपरक नहीं माना जाता, अपितु "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"—इस अधिकार वाक्य में अवस्थित दर्शयाग-समूह और पूर्णमास याग-समूह में द्वित्व-सम्पादक माना जाता है।

शङ्का—"या ते अग्ने अयाशया ननूः" (तै० सं० १।२।११) इत्यादि वाक्यों में यत्तदादि पद अनुवादकता के चिह्न माने जाते हैं, वैसा प्रकृत वाक्यों में कोई ऐसा अनुवादक पद नहीं, जिससे अनुवाद करके 'यत्तन्न'—इस रूप में निषेध किया जाता।

समाधान—'यत्तदादि' पद अनुवाद के लिङ्ग अवश्य हैं, किन्तु सभी अनुवादस्थलों में उनकी व्यापकता नहीं देखी जाती, क्योंकि यत्तदादि पदों के समान अन्य प्रकार से भी अनुवादकत्व का उन्नयन (कल्पन) हो सकता है, जैसे कि 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'—यहाँ पर यत्तदादि पदों के न होने पर भी रागप्राप्त हनन का अनुवाद कर निषेध किया जाता है—ब्राह्मणो हन्तव्य इति न। यह जो कहा कि उपासनादि विधेयान्तर का श्रवण होने के कारण निषेधार्थ अनुवादकत्व नहीं माना जा सकता, वह कहना उचित नहीं, क्योंकि निषेध्य का अनुवाद हो अथवा उद्देश्य का, दोनों अवस्थाओं में अनुवादरूपता तो माननी ही पड़ती है। विधानार्थ अनूद्यमान वस्तु तात्त्विक ही होती है—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि 'यद् रजतम्, तदानय'—इत्यादि स्थल पर आनयनादि का विधान करने के लिए प्रातीतिक रजत का भी अनुवाद देखा

न्यायामृतम्

किं चौपनिषदस्य ब्रह्मणोऽशास्त्रेणाप्राप्तेः तद्धर्मिकस्य तत्प्रतियोगिकस्य वा भेदस्य कथं शास्त्रनिरपेक्षप्रत्यक्षादिना प्राप्तिः ? न च शास्त्रसापेक्षप्राप्त्या शास्त्रस्यानुवादकता, भेदमात्रस्य प्राप्त्यनुवादत्वे तु घटेन घटैक्यश्रुतिरिप्यनुवादः स्यात्।

भेदश्रुतेरनुवादकत्वभंगः ॥ २३ ॥

अद्वैतसिद्धिः

दर्शनात् । न च—अनुवादत्वेऽपि यथार्थत्वरूपप्रामाण्याहानिरिति—वाच्यम्, तस्य बाधकाभावनिबन्धनत्वेन प्रकृते असंभवात् ।

ननु—औपनिषदस्य ब्रह्मणः शास्त्रातिरिक्तेनाप्राप्तेः तद्धर्मिकस्य तत्प्रतियोगिकस्य वा भेदस्य कथं शास्त्रनिरपेक्षप्रत्यक्षप्रत्यक्षादिना प्राप्तिरिति- चेन्न, प्रतियोगिग्रहार्थं तदपेक्षत्वेऽपि स्वसमानविषयप्रमाणपूर्वकत्वानियमेन प्रत्यक्षस्य भेदप्रापकत्वोपपत्तेः। यद्यपीशधर्मिकस्य भेदस्य प्रत्यक्षेणाप्राप्तिः, तथापि प्रत्यक्षसिद्धजीवधर्मिकेशभेदान्यथानुपपत्तिसिद्धस्यापि तस्य श्रुतार्थापत्तिसिद्धस्य श्रौतत्ववत् प्रत्यक्षसिद्धत्वोपपत्तेः॥

इत्यद्वैतसिद्धौ भेदश्रुतेरनुवादकत्वम् ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाता है, अतः उद्देश्य वस्तु का तात्त्विक होना आवश्यक नहीं । 'अनुवाद में भी स्मृति के समान यथार्थत्वरूप प्रामाण्य रहता है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अबाधितार्थक ज्ञान को यथार्थ ज्ञान कहा जाता है, प्रकृत में भेद बाधित होने के कारण यथार्थत्वरूप प्रामाण्य भी भेद ज्ञान में सम्भव नहीं ।

शङ्का—औपनिषद ब्रह्म उपनिषत् वाक्यों को छोड़ कर अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय ही नहीं माना जाता, अतः ब्रह्मानुयोगिक या ब्रह्मप्रतियोगिक भेद का शास्त्र-निरपेक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण कैसे होगा ?

समाधान—अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी और अनुयोगी का ज्ञान मात्र अपेक्षित है, वह स्मरणात्मक भी हो सकता है, ब्रह्म के प्रथम ग्रहण में उपनिषत् वाक्यों की अपेक्षा होने पर भी यह कोई नियम नहीं कि भेदावगाही प्रत्यक्ष के अव्यवहित पूर्व ही स्वसमानविषयक औपनिषद बोध होना चाहिए। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण भेद का प्रापक होता है। यद्यपि ईश्वरानुयोगिक भेद का प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं होता, तथापि प्रत्यक्ष-सिद्ध जीवधर्मिक ईश-भेद की अन्यथानुपपत्तिरूप श्रुतार्थापत्ति के द्वारा सिद्धि में श्रौतत्व के समान प्रत्यक्ष-सिद्धत्व उपपन्न हो जाता है।

: २४ :

भेदश्रुतेर्व्यावहारिकभेदपरत्वविचारः

न्यायामृतम्

न चाननुवादकत्वेऽपि बाध्यव्यावहारिकभेदपरा श्रुतिः, अप्रामाण्यापातात्। न चाभेदश्रुतिविरोधात्तदिष्टम्, तस्या लक्षणया अखण्डचिन्मात्रपरत्वेन भेदाविरोधित्वाद्, वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वाच्च। यदि तु भेदश्रुतिः प्रत्यक्षप्राप्तार्थत्वाद् दुर्बला, तर्ह्यैक्यश्रुतिरपि तद्विरुद्धत्वात्तथा स्यात्, मानान्तरप्राप्तिवत् तद्विरोधस्यापि दौर्बल्य-

अद्वैतसिद्धिः

अथवानुवादकत्वाभावेऽपि व्यावहारिकभेदपरत्वेनैव श्रुत्युपपत्तिः। न चाप्रामाण्यापातः, अर्थवादवाक्यवदुपपत्तेः, प्रतीयमानार्थे चाभेदश्रुतिविरोधेनाप्रामाण्यस्येष्टत्वाच्च। न चाभेदश्रुतेरखण्डचिन्मात्रपरत्वेन भेदाविरोधित्वम्, तद्द्वारीभूतार्थमादाय तद्विरोधात्। नापि वैपरीत्यम्, प्राप्ताप्राप्तार्थत्वाभ्यां विशेषात्। न च—ऐक्यश्रुतेरपि प्रत्यक्षविरुद्धत्वादप्रामाण्यम्, मानान्तरप्राप्तिवत् तद्विरोधस्यापि दौर्बल्यहेतुत्वादिति—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भेद-बोधक वाक्यों को अनुवादक न मानने पर भी व्यावहारिक भेद-बोधक माना जा सकता है। अभेदपरक श्रुति से विरुद्ध होने के कारण भेद-श्रुति में अप्रामाण्यापत्ति क्यों नहीं? इस प्रश्न का वही उत्तर है, जो महर्षि जैमिनि ने अर्थवाद वाक्यों के विषय में दिया है—'विधिना तु एकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० सू० १।२।७) अर्थात् जैसे अर्थवाद-वाक्य स्वतन्त्र प्रमाण न होकर विधि वाक्यों से एकवाक्यतापन्न होकर पूरक वाक्य के रूप में प्रमाण माने जाते हैं, वैसे ही भेद-बोधक वाक्य स्वतन्त्र प्रमाण न होकर अभेदपरक वाक्यों के साथ एकवाक्यतापन्न होकर निषेध्यार्थ-समर्पक के रूप में प्रमाण माने जाते हैं, स्वतन्त्रतः उनमें अप्रमाणता इष्ट ही है।

शङ्का—अभेदपरक वाक्य शुद्ध चैतन्यरूप अखण्डार्थ के समर्पक मात्र माने जाते हैं, किसी वस्तु का निषेध नहीं करते, अतः वे भेद के विरोधी नहीं होते।

समाधान—यद्यपि अखण्डार्थ-बोध भेद-विरोधी नहीं, तथापि अखण्डार्थ-बोध के द्वारीभूत भेदाभाव रूप अर्थ को लेकर अभेद-परक वाक्य भेद-विरोधी माने जाते हैं। अभेदावगाही वाक्यों का परम तात्पर्य अखण्ड चिन्मात्र में और अवान्तर वाक्यों का तात्पर्य भेदाभाव के बोध में माना जाता है, अतः परम तात्पर्य की दृष्टि से अभेदपरक वाक्य भेद के विरोधी न होने पर भी अवान्तर तात्पर्य की दृष्टि से विरोधी होते हैं]। इसके विपरीत भेदावगाही वाक्यों को अभेद-बोधक वाक्य का विरोधी क्यों नहीं मान लिया जाता? इस शङ्का का समाधान यह है कि "अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्" (जै० सू० ६।२।१९) इस शास्त्रैदम्पर्य की निर्णायक कसौटी पर चढाने से ज्ञात होता है कि भेद प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से प्राप्त होने के कारण शास्त्र तत्परक नहीं हो सकता, किन्तु प्रमाणान्तर से अनधिगत (अप्राप्त) अभेद रूप अर्थ में ही शास्त्र का परम तात्पर्य है, इस प्रकार मुख्यार्थ से गौणार्थ का बाध ही उचित है, विपरीत नहीं।

शङ्का—जैसे प्रत्यक्ष से प्राप्त का प्रापक होने के कारण भेदार्थक श्रुति अप्रमाण है, उसी प्रकार ऐक्य-श्रुति भी प्रत्यक्ष-विरुद्ध होने के कारण अप्रमाण क्यों नहीं? क्योंकि जैसे प्रमाणान्तर-प्राप्त-प्रापकत्व अप्रामाण्य माना जाता है, वैसे ही प्रमाणान्तर-विरुद्धार्थ-बोधकत्व भी।

न्यायामृतम्

हेतुत्वात् । यदि चैक्यश्रुतिः प्रत्यक्षाविरुद्धैक्यपरा, तर्हि भेदश्रुतिरपि तदसिद्धत्रिकालाबाध्यभेदपराऽस्तु । न च षड्विधतात्पर्यलिंगवत्त्वादैक्यश्रुतिः प्रबला, लिंगानां तात्पर्यमात्रज्ञापकत्वेनार्थतथात्वाज्ञापकत्वात् । स्वीकृतं च भेदश्रुतेरनुवादकत्वं त्यजता त्वयापि भेदपरत्वम् । अस्ति चात्रापि अत्ति अनश्नन् , पूर्णः परो जीवसंघो ह्यपूर्ण, इत्याद्युपपत्तिरूपं, सत्यं भिदा सत्यं भिदेत्यादावभ्यासरूपं च तात्पर्यलिंगम् । तद्बहुत्वं च त्वत्पक्षे प्रमाणसंप्लववद् व्यर्थमित्युक्तम् । वक्ष्यते च भेदश्रुतेरपि षड्विधलिंगवत्ता । निषेधवाक्यत्वाद् ऐक्यश्रुतिः प्रबलेति तु निरस्तम् । किं च भेद एवैक्यनिषेधरूपः ।

अद्वैतसिद्धिः

वाच्यम् , विरोधे विरोधिनो मानत्ववद् अनुवादकत्वोपपादकस्य मानताया अनपेक्षितत्वात् । किंच षड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्त्वाद् ऐक्यश्रुतेः प्राबल्यम् । न च—तात्पर्यमात्रज्ञापकत्वेन तेषामर्थतथात्वाज्ञापकत्वमिति- वाच्यम् , श्रुतेस्तत्परत्वज्ञापनेन परम्परयोपयोगात् , एतद्विरुद्धश्रुतेः श्रूयमाणेऽर्थे तात्पर्याभावसंपादनेनाधिकबलसंपादकत्वाच्च । न च—अत्रापि स्वाद्वत्ति अनश्नन् पूर्णः परः जीवसंघो ह्यपूर्णं' इत्याद्युपपत्तिरूपं 'सत्यं भिदा सत्यं भिदा सत्यं भिदे'त्यभ्यासादिरूपं तात्पर्यलिङ्गमस्तीति भेदश्रुतिरपि तत्परेति- वाच्यम् , अत्तीति अपूर्ण इति च जीवानुवादेन तस्य पूर्णब्रह्मरूपताविधानार्थत्वेन भेदोपपत्तित्वाभावात् । सत्यं भिदेति न भेदाभ्यासः, एतद्वाक्यस्याप्रामाणिकत्वात् ,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—प्रत्यक्ष बाधितार्थविषयक होने के कारण अप्रमाणभूत है, अप्रमाण से प्रमाणात्मक ऐक्य-श्रुति का बाध नहीं हो सकता किन्तु भेद-श्रुति में अनुवादकत्व का सम्पादक वह भी हो सकता है, क्योंकि 'तद् रजतमानय'—यहाँ पर भ्रमात्मक ज्ञान को भी अनुवादकता का प्रयोजक माना जा चुका है। दूसरी बात यह भी है कि यदि प्रत्यक्ष को प्रमाण मान भी लिया जाता है, तब भी उसमें व्यावहारिक प्रामाण्यमात्र रहेगा, किन्तु ऐक्य श्रुति में षड्विध तात्पर्य-ग्राहक लिङ्गों का संवलन ऐसे प्राबल्य का आधान करता है, जिससे वह सबका बाधक ही होती है, बाधित किसी से भी नहीं ।

शङ्का—षड्विध तात्पर्य-ग्राहक लिङ्ग प्रमाण ऐक्य-श्रुति में स्वार्थपरकत्व मात्र के ग्राहक हैं, अर्थतथात्वरूप प्रामाण्य के निर्णायक नहीं ।

समाधान—षड्विध लिङ्ग ऐक्य-श्रुति के स्वार्थपरकत्व और भेद-श्रुति में स्वार्थपरकत्वाभाव बताते हुए परम्परया प्राबाल्य के सम्पादक होते हैं।

शङ्का—अभेद के विषय में जैसे उपक्रमादि षड्विध लिङ्ग दिखाए जाते हैं, उसी प्रकार भेद में भी हैं, जैसे कि "तयोरन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति", अनश्नन् अन्यः" (मु० उ० ३।१।१), "पूर्णः परः, जीवसंघो ह्यपूर्णः'—इत्यादि उपपत्तिरूप (भेदक युक्तिस्वरूप) लिङ्ग, "सत्यं भिदा, सत्यं भिदा, सत्यं भिदा"—इत्यादि अभ्यासरूप लिङ्ग है, अतः भेद-श्रुति भी स्वार्थपरक है ।

समाधान—'अत्ति', 'अपूर्णः'—इत्यादि पदों के द्वारा जीव का अनुवाद करके उसमें पूर्ण ब्रह्मरूपता का विधान किया गया है, उससे भेद का उपपादन नहीं किया गया, अतः उसे भेदोपपत्ति नहीं कहा जा सकता । 'सत्यं भिदा—यह भेदाभ्यास नहीं, क्योंकि यह वाक्य ही प्रामाणिक नहीं, यदि प्रामाणिक भी मान लिया जाय, तब भी

न्यायामृतम्

किं च भेदश्रुतिरेव प्रबला, अनुपसंजातविरोधित्वात् , प्रत्यक्षादिसंवादात् , निरवकाशत्वाच्च। उक्तं हि—

स्वातंत्र्ये च विशिष्टत्वे स्थानमत्यैक्ययोरपि।
सादृश्ये चैक्यवाक्सम्यक्सावकाशा यथेष्टत ॥ इति

किं चायं भेदो न व्यावहारिकः, मुक्तावपि भेदस्य स्मृतेः श्रुतेश्च। न च सा मुक्तिरवान्तरा,

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥

इत्यादि स्मृतौ सर्गाद्यभावोक्तेः।

न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः।
श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः पिशगव (स्त्राः सुरुचः सु) स्त्राभरणाः सुपेशसः ॥

अद्वैतसिद्धिः

प्रामाणिकत्वे वा बाधायां सामानाधिकरण्येनाभेदे पर्यवसानात्।

ननु—भेदश्रुतिरेव प्रबला, 'असञ्जातविरोधित्वात् प्रत्यक्षादिसंवादान्निरवकाशत्वाच्चेति—चेन्न, अभेदश्रुतिरूपविरोधिनो जातत्वात् , प्रत्यक्षादेरप्रमाणत्वेन तत्संवादस्य प्राबल्याप्रयोजकत्वात् , शतमप्यन्धानामिति न्यायाद् , व्यावहारिकभेदविषयत्वेन सावकाशत्वाच्च। ननु—नायं भेदो व्यावहारिकः, मुक्तावपि भेदस्य श्रुतिस्मृतिभ्यां सिद्धेरिति—चेन्न, तस्या मुक्तेरवान्तरत्वात्। ननु—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥'

इत्यादिस्मृतौ सर्गाद्यभावोक्तेः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

'स्थाणुः चोरः'—के समान बाध-सामानाधिकरण्य का निर्देश माना जा सकता है, जिसका पर्यवसान अभेद में ही होता है।

शङ्का—अभेद-श्रुति की अपेक्षा भेद-श्रुति प्रथमोपस्थित होने के कारण असञ्जातविरोधी हे, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण का सहयोग भी प्राप्त है एवं निरवकाश भी है।

समाधान—अनादि-सिद्ध अपौरुषेय आगम के वाक्यों में पौर्वापर्यभाव सम्भव नहीं, अतः अभेदपरक वाक्यों के विरोधी रहने पर भेद-श्रुति को असञ्जातविरोधी नहीं कहा जा सकता। प्रत्यक्ष स्वयं अप्रमाण एवं निर्बल है, अतः उसका सहयोग प्रबलताधायक नहीं हो सकता, जैसा कि कहा गया है—"शतमपि अन्धानां न पश्यति" (सैकड़ों अन्धे मिल कर भी क्या देख लेंगे ?)। भेद-श्रुति निरवकाश भी नहीं, क्योंकि व्यावहारिक भेद के विषय में उसका प्रामाण्य माना जाता है, अतः वहाँ वह सावकाश है, अभेद श्रुति वहाँ उसका बाध नहीं करती। सालोक्यादि मोक्ष-स्थलों में जहाँ जीव और ईश्वर का भेद श्रुत है, वह अवान्तर मुक्ति भी व्यावहारिक क्षेत्र के परे नहीं।

शङ्का—गीता (१४।२) में भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है कि इस गीता-ज्ञान को पाकर जीव हमारा समानधर्मा हो जाता (साष्टि या सामीप्य मोक्ष को पा लेता) है। वह मुक्त आत्मा ले तो सृष्टि में उत्पन्न होता है और न प्रलय में पीड़ित। अर्थात्

न्यायामृतम्

इति स्मृतौ मायानिषेधाच्च ।

यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।
सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता ॥

इत्यत्र शुद्धब्रह्मज्ञानफलत्वोक्तेश्च । त्वयापि शुद्धब्रह्मविषयत्वेन स्वीकृताया भूमविद्यायाः फलोक्त्यवसरे "तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, स एकधा भवति त्रिधा भवति पंचधा भवति सप्तधे"ति भेदोक्तेश्च । "परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाण" इत्यादौ स्वरूपाभिव्यक्त्युक्तेश्च । "तदा विद्वान्पु-

अद्वैतसिद्धिः

न यत्र माया किमुतापरे हरे-
रनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः ।
श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः,
पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः ॥

इति स्मृतौ मायानिषेधाच्च। 'यो वेद निहितं गुहायां सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'त्यत्र शुद्धब्रह्मज्ञानफलत्वोक्तेश्च । त्वयापि शुद्धब्रह्मविषयत्वेन स्वीकृतायाः भूमविद्यायाः फलोक्त्यवसरे 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति पञ्चधा सप्तधे' त्यादिभेदोक्तेः 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' 'स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाण' इत्यादौ स्वरूपाभिव्यक्त्युक्तेश्च तथा 'विद्वान् पुण्यपापे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मोक्षधाम में सृष्टि और प्रलय होते ही नहीं । इतना ही नहीं, मायातीत स्थान में भी भेद का साम्राज्य प्रतिपादित है—

प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं न मिश्रं न च कालविक्रमः ।
न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः ॥
श्यामावदाता शतपत्रलोचनाः पिशङ्गवस्त्रा सुरुचः सुपेशसः ।
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणिप्रवेशनिष्काभरणाः सुवर्चसः ॥
(भा. पु. २।९।१०,११)

[जिस मोक्ष धाम में न रजोगुण है, न तमोगुण, न उनका मिश्रित रूप और न सत्त्व-गुण । जहाँ काल की विनाशकारी लीला नहीं हो सकती, जहाँ माया का भी जादू नहीं चलता, फिर माया के पिछलग्गुओं की बात ही क्या ? भगवान् विष्णु के उपासकगण हो निवास करते हैं, उनकी देव और दैत्य सभी अर्चना किया करते हैं, उन के विशाल कमल-दल मञ्जुल नेत्र, शुभ्र नीलमणि की आभा से भास्वरित कलेवर होते हैं, पीताम्बर के परिधान में उनकी कान्ति और सुषमा द्विगुणित हो जाती है। वे सभी चतुर्भुज होते हैं, सोने के जड़ाऊ भूषणों से भूषित होते हैं] । उक्त मोक्ष फल को गौण या अवान्तर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि "यो वेद निहितं गुहायां सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" (मुं० उ० २।१।१०) इस श्रुति में उस मोक्ष को शुद्ध ब्रह्म-ज्ञान का फल माना गया है। आप (अद्वैती) भी ब्रह्मविषयत्वेन निश्चित भूम-विद्या की फलोक्ति के अवसर पर "तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" (छां० ८।१।६) एव "पञ्चधा सप्तधा" (छां० ७।२६।२) इत्यादि श्रुतियों में भेदोक्ति को मानते हैं। "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छां० ८।३।४), "स तत्र पर्येति

न्यायामृतम्

ण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैती" त्यत्र कर्मक्षयोक्तेश्च। "जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः। पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेती" त्यादौ भेदज्ञानान्मोक्षोक्तेश्च। त्वन्मतेऽपि भेदभोगादिपरेषु फलाध्यायान्त्यपादस्थेषु "जगद्व्यापारवर्जं, संकल्पादेव च तच्छ्रुतेः, भोगमात्रसाम्यलिंगाच्चे"त्यादिसूत्रेषु प्रक्रान्तशुद्धब्रह्मविद्याफलस्यैव वक्तव्यत्वाच्च।

भेदश्रुतेर्व्यावहारिकभेदपरत्वभंगः ॥ २४ ॥

अद्वैतसिद्धिः

विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीत्यत्र कर्मक्षयोक्तेश्च 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेती'ति भेदज्ञानान्मोक्षोक्तेश्च त्वन्मतेऽपि भेदभोगादिफलेषु फलाध्यायान्त्यपादस्थेषु 'जगद्व्यापारवर्जम्' 'सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः' 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्चे'ति सूत्रेषु प्रक्रान्तशुद्धविद्याफलस्यैव वक्तव्यत्वाच्च परममुक्तित्वमेवेति—चेन्न, सगुणोपासनया ब्रह्मलोकं गतस्यापि 'न स पुनरावर्तते' इत्यादिश्रुत्या दैनन्दिनसर्गाद्यसंबन्धस्य प्रतिपादनेनावान्तरमुक्तावप्युपपत्तेः। 'न तत्र माये'त्यादिस्मृतौ च मायाशब्दस्य मात्सर्यादिपरत्वेन मूलमायाविरहाप्रतीतेः, अन्यथा श्यामावदातत्वादिति विरोधापत्तेः, 'यो वेद निहित'मित्यत्र शुद्धब्रह्मज्ञानफलभूता या सर्वकामावाप्तिः, सा न वैषयिकभोगरूपा, किंतु सर्ववैषयिकसुखानां एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'तिश्रुत्या ब्रह्मानन्दे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जक्षन् क्रीडन् रममाणः" (छां० ८।१२।३) इत्यादि श्रुति वाक्यों ने उक्त मोक्ष में स्वरूपाभिव्यक्ति का प्रतिपादन किया है तथा "विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मुं० ३।१।३) यह श्रुति वहाँ सकल कर्मों का क्षय बता रही है। "जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः" (श्वेता० ४।७) यह श्रुति भेद-युक्त ईश्वर के ज्ञान से मुक्ति का प्रतिपादन कर रही है। आप (अद्वैती) के मतानुसार भी ब्रह्मसूत्रस्थ फलसंज्ञक चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद में "जगद्व्यापारवर्जम्" (ब्र० सू० ४।४।१७), "सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः" (ब्र. सू. ४।४।१८), "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" (ब्र. सू. ४।४।२१) इत्यादि सूत्रों में प्रतिपादित भेद-सापेक्ष भोगादि फलों के रूप में शुद्ध विद्या का फल ही प्रदर्शित किया है, अतः उक्त मोक्ष को परम मोक्ष ही मानना न्याय-संगत है।

समाधान—सगुणोपासना के द्वारा ब्रह्म-लोक की प्राप्तिरूप अवान्तर मुक्ति में भा "न स पुनरावर्तते" (छां. ८।१५।१) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा अवान्तर सृष्टि और प्रलय के सम्बन्ध का अभाव कहा गया है, क्योंकि ब्रह्म-लोकस्थ जीवों के मुक्त हो जाने के पश्चात् ही महासृष्टि प्रवृत्त होती है। यह जो कहा गया कि उक्त मोक्ष में माया का अत्यन्ताभाव कहा गया है, वह कहना ठीक है, किन्तु वहाँ माया का अर्थ मद, मात्सर्यादि अशोभनीय गुणों का विच्छेद प्रतिपादित है, मूल माया का विरह नहीं, अन्यथा श्यामावदातादि विग्रहों का प्रतिपादन असंगत हो जाता है। "यो वेद निहितं गुहायाम्" (मुं. २।१।१०) इस श्रुति में प्रतिपादित जो ज्ञान का फलभूत सर्वफलावाप्ति है, वह वैषयिक भोगरूप नहीं, अपितु समस्त वैषयिक आनन्द को जो ब्रह्मानन्द की

अद्वैतसिद्धिः

अन्तर्भावोक्तेस्तदभिप्रायेति न तद्बलाज्ज्ञानाकामावाप्तेः शुद्धज्ञानफलत्वम् , भूमविद्याफलोक्त्यवसरे सर्वलोककामचारानेकधाभावादेः फलस्य भूमविद्यावाक्योपक्रमे प्राणविद्याफलत्वेनोक्तस्य ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रूयमाणाहीनद्वादशोपसत्त्वावत् निर्गुणविद्यास्तावकत्वेनाप्युपपत्तेः, स्वयंज्योतिरित्यादौ जक्षणप्रभृतीनां भेदगर्भत्वेन जक्षन्निव क्रीडन्निवेत्यादिबाधितत्वविवक्षया परममुक्तेस्तत्रोक्त्या त्वदभिमतभेदगर्भक्रीडादीनां परममुक्तित्वाभावात् , पुण्यपापे विधूयेत्यत्र परमसाम्यस्यैक्यरूपतया कर्मक्षयस्य ऐक्यरूपमुक्तिफलतया भेदगर्भमुक्तिफलत्वाभावात् , जुष्टमित्यत्रान्यपदस्य देहेन्द्रियादिविलक्षणात्मपरत्वेन जीवेशपरत्वाभावात् । तथा च भेदज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वम् अतोऽवगम्यते मन्मते भेदभोगादिपरेषु 'सङ्कल्पादेव तच्छुतेरित्यारभ्याध्यायपरिसमाप्तिपर्यन्ताधिकरणेषु सगुणविद्याफलस्य उक्ततया शुद्धब्रह्मविद्याफलाप्रतिपादकत्वात् । तस्मात् परममुक्तौ भेदस्याप्रसक्तेः व्यावहारिकत्वोपपत्त्या भेदश्रुतेर्व्यावहारिकपरत्वं स्थितम् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ भेदश्रुतेर्व्यावहारिकभेदपरत्वोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ही मात्रा कहा गया है—"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृह: उ. ४।३।३२) । उस अभिप्राय को लेकर विविध फलावाप्ति को शुद्ध ब्रह्म-ज्ञान का फल कह दिया गया है, वस्तुतः वह उपासना का फल है, ब्रह्म-ज्ञान का नहीं । भूम-विद्या की फलोक्ति के अवसर पर आरम्भ में ही जो समस्त लोकों में इच्छानुविधान तथा अनेकधा भवन श्रुत है—"तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" (छां. ८।१।६) "पञ्चधा सप्तधा" (छां. ७।२६।२) । वह वैसे ही निर्गुण-विद्या की प्रशंसा है, जैसे कि ज्योतिष्टोम के प्रकरण में श्रुत अहीन कर्म में द्वादश उपसत् संज्ञक होम का विधान [ज्योतिष्टोम के प्रकारण में पढ़ा है—"तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य" (तै. सं. ६।२।५।१) । 'ज्योतिष्टोम' कर्म को साह्न कहते हैं, क्योंकि उसमें सोम का अभिषव एक ही दिन होता है (अह्ना सह वर्तते इति साह्नः) । सोमाभिषववाले दिन से पूर्व जो होम किए जाते हैं, उन्हें 'उपसत्' कहते हैं । साह्न कर्म में उपसत् तीन तथा अहीन कर्म में द्वादश होते हैं । सोमाभिषव की आवृत्ति जिन कर्मों में होती है, उन्हें अहर्गण या अहीन कहा जाता है । यद्यपि उक्त वाक्य में द्वादशाहीनस्य'—इस वाक्य का सम्बन्ध ज्योतिष्टोम से नहीं, अपितु अहीन कर्मों से है, तथापि ज्योतिष्टोम को स्तुति के लिए वह वाक्य यहाँ पठित है] । "स्वयंज्योतिः" (बृह० उ० ४।३।९) इत्यादि स्थल पर 'जक्षन्निव क्रीडन्निव" छां० ८।१।३।३) यहाँ इव शब्द का प्रयोग मुख्यार्थ के बाधितत्व का अवद्योतक है, भेद-सापेक्ष रमणादि क्रियाओं का जहाँ अभाव है, वह परममुक्ति है, क्योंकि परम मुक्ति में आप (द्वैती) भी उक्त क्रियाओं का अभाव ही मानते हैं । "अथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदं सर्वमस्मीति मन्यते, सोऽस्य परमो लोकः" । (बृह० उ० ४।३।२०) यह श्रुति विद्वान् के स्वप्न की बोधिका मानी जाती है । यहाँ पर 'जक्षन् क्रीडन् रममाणः'—ऐसा ही पढ़ा है । यहाँ भी 'इव' शब्द का अध्याहार किया जाता है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि विद्वान् पुरुष बाधितानुवृत्ति के द्वारा प्राप्त विषयों का अनासक्त भाव से उपभोग करता हुआ भी निरन्तर ब्रह्मानन्द में निमग्न रहता है । अतः यह जीवन्मुक्तिरूप अवान्तर मुक्ति का ही वर्णन है, परम मुक्ति का नहीं । पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमपैति" (मुं० ३।१।३) इस श्रुति में ऐक्य और कर्मक्षयरूप फल का प्रति-

। २५ ।

जीवेशभेदे शब्दान्तरादिविचारः

न्यायामृतम्

किं च पूर्वतन्त्रे द्वितीयाध्याये यैः शब्दान्तरादिभिः कर्मभेद उक्तः, तैरेव जीवेश्वरभेदसिद्धिः। "एष एव जीवं प्रबोधयति एतस्माज्जीव उत्तिष्ठती"ति विरुद्धार्थधातुनिष्पन्नाख्यातरूपशब्दान्तरस्य, "नित्यः परो नित्यो जीव" इति प्रत्यभिज्ञायमानपुनः श्रुतिरूपाभ्यासस्य, "द्वा सुपर्णे"त्यादि संख्याया, "अशब्दमनश्नन्नि"त्यादेभेदकस्य गुणान्तरस्य, "यतो वाचो निवर्तन्त"इत्यादिप्रकरणान्तरस्य, जीवेशावितिनामधेयभेदस्य च सत्त्वात्। जीवेशभेदे शब्दान्तरादि ॥ २५ ॥

अद्वैतसिद्धिः

ननु—पूर्वतन्त्रे द्वितीयाध्याये यैरेव शब्दान्तरादिभिः कर्मभेद उक्तः, तैरेव जीवेशभेदोऽपि सिध्यति। तथा हि—एष एव जीवं प्रबोधयति 'एतस्माज्जीव उत्तिष्ठती'ति विरुद्धार्थधातुनिष्पन्नाख्यातरूपशब्दान्तरस्य 'नित्यः परो नित्यः जीव' इति प्रत्यभिज्ञायमानपुनः श्रुतिरूपाभ्यासस्य 'द्वा सुपर्णे'त्यादिसंख्याया अशब्दमनश्नन्नित्यादेर्भेदकस्य गुणान्तरस्य 'यतो वाचो निवर्त्तन्त' इत्यादिप्रकरणान्तरस्य जीवेशाविति नामधेयद्वयस्यापि सत्त्वाच्चेति—चेन्न, प्रत्यक्षादिसमकक्ष्यतया शब्दान्तरादीनां भेदकत्वेऽपि तात्त्विकाभेदाविरोधित्वात्। किंचादृष्टचरस्त्वं मीमांसकः यः कर्मभेदे शास्त्रभेदे वा प्रमाणत्वेन क्लृप्तानां शब्दान्तरादीनां चेतनभेदे प्रमाणत्वं कल्पयसि। न ह्यन्यभेदप्रयोजकस्यान्यभेदप्रयोजकता, विशिष्टभेदे प्रयोजकस्यापि विशेषणभेदस्य विशेष्यभेदकत्वापत्तेः, 'देवदत्त उत्तिष्ठति शिष्यं बोधयति यजति ददाति जुहोती'त्यादावपि भेदापत्तेः न शब्दान्तरस्य कर्तृभेदकता ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ शब्दान्तरादेरात्मभेदकत्वाभावः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पादन यह सिद्ध करता है, कि भेद-गर्भित फल परम मुक्ति में नहीं हो सकता। 'जुष्टम्' यहाँ पर 'अन्य' पद जीवेश-भेद का बोधक नहीं अपितु देहेन्द्रियादि से भिन्नत्व मात्र का सूचक है। "सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः" (ब्र.सू. ४।४।८) इससूत्र से लेकर चतुर्थाध्याय की समाप्ति तक सगुण-विद्या और उस के फलों की चर्चा हमारे मतानुसार की गई है। फलतः परम मुक्ति में भेद की अपेक्षा लेशमात्र भी नहीं भेद-श्रुति का तात्पर्य व्यावहारिक भेद मात्र में पर्यवसित होता है।

द्वैती—पूर्व मीमांसा के द्वितीय अध्याय में कर्म-भेदक छः प्रमाण बताए गये हैं—(१) शब्दान्तर, (२) अभ्यास, (३) संख्या, (४) संज्ञा (५) गुण और (६) प्रकरणान्तर। उन्हीं प्रमाणों के द्वारा जीव और ईश्वर का भेद भी सिद्ध होता है—(१) एष एवं जीवं प्रबोधयति एतस्मात् जीव उत्तिष्ठति'—इत्यादि विरुद्धार्थक धातु-निष्पन्न आख्यातरूप शब्दान्तर है। (२) "नित्यः परो नित्यः जीवः"—इस प्रकार अविशेष पुनः श्रवणरूप अभ्यास है। (३) अशब्दम् (कठो ३।१५) "अनश्नन्" (मुं. ३।१।१) इत्यादि गुणान्तर का उपदेश है, जिससे जीव और ईश्वर का भेद सिद्ध होता है। "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै. उ. २।४।१) इत्यादि वाक्यों से प्रकरणान्तर की

: २६ :

भेदश्रुतेः षड्विधतात्पर्यलिंगविचारः

न्यायामृतम्

सन्ति च भेदश्रुतेरपि षड्विधतात्पर्यलिंगानि। तथा हि— आथर्वणे "द्वा सुपर्णे" त्युपक्रमः, परमं साम्यमुपैतीत्युसंहारः, तयोरन्यः अनश्नन्नन्यः अन्यमीश" मित्यभ्यासः, शास्त्रैकगम्येश्वरप्रतियोगिकस्य तद्धर्मिकस्य वा कालत्रयबाध्यभेदस्य शास्त्रं विना अप्राप्तेरपूर्वता, पुण्यपापे विधूये"ति फलम्, अस्य महिमान" मिति स्तुतिरूपोऽर्थवादः, अत्ति अनश्नन्नि" त्युपपत्तिः। अत्र "मायामात्रमिदं द्वैत" मित्यादाविव द्विशब्द एव भेदवाचकः, तदाक्षेपको वा द्वित्वसंख्यैवैक्यविरोधिनीत्युपक्रमो भेद-

अद्वैतसिद्धिः

ननु— षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेतश्रुतिगम्यभेदस्य कथमतात्त्विकत्वम्? तथा हि— आथर्वणे द्वा सुपर्णेत्युपक्रमः, परमं साम्यमुपैतीत्युपसंहारः, 'तयोरन्यः अनश्नन्नन्यः अन्यमीश' मित्यभ्यासः, शास्त्रैकगम्येश्वरप्रतियोगिकस्य कालत्रयाबाध्यभेदस्य शास्त्रं विना अप्राप्तेरपूर्वता, 'पुण्यपापे विधूये'ति फलम्, 'अस्य महिमान'मिति स्तुतिरूपोऽर्थवादः, अत्ति अनश्नन्नित्युपपत्तिः। अत्र च 'मायामात्रमिदं द्वैत'मित्यादाविव द्विशब्द एव भेदवाचकः, तदाक्षेपको वा द्वित्वसंख्यैवैक्यविरोधिनीति वा भवत्युपक्रमो भेद-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उपस्थिति की जाती है। "जीवेशौ" (नृ. उ. ता. ९) इत्यादि में नामधेय के भेद से भेद का वर्णन है।

अद्वैती—जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण को जीव और ईश्वर का भेदक माना जाता है, शब्दान्तरादि भेदक प्रमाण भी उसी कक्षा के माने जाते हैं। वे भी जीव ओर ईश्वर के तात्त्विक अभेद के विरोधी नहीं होते। दूसरी बात यह भी है कि ऐसे आप (द्वैती) ही एक विलक्षण मीमांसक दृष्टिगोचर हुए हैं जो कर्म-भेदक प्रमाणों के द्वारा चैतन्य वस्तु का भेद करना चाहते हैं। अन्य के साधनों से अन्य साध्य की सिद्धि कभी नहीं हो सकती। इस प्रकार तो विशिष्ट भेद के प्रयोजक विशेषण-भेद को विशेष्य का भी भेदक मानना पड़ेगा। देवदत्तः उत्तिष्ठति, शिष्यं वोधयति, यजति, ददाति जुहोति— इत्यादि प्रयोगों के आधार पर एक ही देवदत्त का भी भेद हो जायगा।

द्वैती—तात्पर्य-ग्राहक षड्विध लिङ्गों से युक्त श्रुतियों के द्वारा अवगम्यमान भेद को अतात्त्विक कैसे कहा जा सकता है? अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषत् में "द्वा सुपर्णा" (मुं. ३।१।१) यह उपक्रम है। "परमं साम्यमुपैति" (मुं. ३।१।३) यह उपसंहार है। "तयोरन्यः अनश्नन् अन्यः" (मुं, ३।१।१) तथा "अन्यमीशम्" (मुं. ३।१।२) यह अभ्यास है। शास्त्रैक-समधिगम्य ईश्वरप्रतियोगिक त्रिकालाबाध्य भेद शास्त्र के विना अधिगत नहीं हो सकता—यही इस भेद की अपूर्वता (इतर प्रमाणानधिगति) है। इसी प्रकार पुण्यपापे विधूय" (मुं. ३।१।३)। यह फल-श्रुति है। "अस्य महिमानम्" (मुं. ३।१।२) यह स्तावक अर्थवाद है। अत्ति और अनश्नन् का प्रदर्शन ही जीवेश्वरभाव-भेद की उपपत्ति है। यहाँ पर "मायामात्रमिदं द्वैतम्" (गौड़. का. १।१७) इत्यादि वाक्यों में जैसे 'द्वि' शब्द भेद का वाचक है या भेद का आक्षेपक है अथवा द्वित्व संख्या ही अभेद की विरोधिनी है। वैसे ही उपक्रमस्थ द्वित्व या भेद-

न्यायामृतम्

विषयः । तद्भिन्नत्वविशेषितमेव तन्निष्ठबहुधर्मयोगित्वं तत्सादृश्यं न तु विशेष्यमात्रम् । नायं सः किं तु तत्सदृशः, नायं तत्सदृशः, कि तु स एवेति सादृश्यैक्ययोरेकतरविधानायान्यतरनिषेधाद् "गगनं गगनाकार" मित्यादि तु तत्सदृशवस्त्वन्तरनिषेधपरम् । गगनाद्येकदेशस्य तदेकदेशसादृश्यपरं वेत्युपसंहारोऽपि भेदपरः । अभ्यासत्वे चार्थत एव प्रकारत्वं तन्त्रम् न तु शब्दतः, अतिप्रसंगात् । "पश्यत्यन्यमीश" मित्यत्रेशगतान्यत्वं प्रति पश्यतीति प्रकृतो जीवः पदिन्यायेन प्रतियोगितया सम्बध्यत इति सिद्धोऽभ्यासः ।

अद्वैतसिद्धिः

विषयः । तद्भिन्नत्वविशेषितमेव च तद्गतबहुधर्मयोगित्वं तत्सादृश्यम् , न तु विशेष्यमात्रम् , नायं सः किंतु तत्सदृशः, नायं तत्सदृशः, किंतु स एवेति सादृश्यैक्ययोरेकतरविधानायान्यतरनिषेधाद् , 'गगनं गगनाकार' मित्यादि तु तत्सदृशवस्त्वन्तरनि षेधपरम् , गगनाद्येकदेशस्य तदेकदेशसादृश्यपरं वा इत्युपसंहारोऽपि भेदविषय एव । अभ्यासत्वेऽपि अर्थत एवैकप्रकारत्वं तन्त्रम् , न तु शब्दतः, अतिप्रसङ्गात् । अन्यमीशामित्यत्र ईशगतान्यत्वं प्रति पश्यतीति प्रकृतो जीव एव पदिन्यायेन प्रतियोगितया संबध्यत इत्यभ्यासोऽपि संभवतीति—चेत् , मैवम् , आथर्वणे प्रथममुण्डके 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवती'ति शौनकप्रश्नानन्तरं 'द्वे विद्ये वेदितव्ये' इति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विषयक निश्चित होता है । इसी प्रकार उपसंहार में जो परम साम्य या सादृश्य का प्रतिपादन है, वह भी भेदविषयक है, क्योंकि 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतबहुधर्मयोगित्व को ही सादृश्य कहा जाता है, केवल तद्धर्मयोगित्व को नहीं । सादृश्य और ऐक्य—दोनों परस्पर-विरोधी होते हैं । इनमें एक का विधान होने पर दूसरे का स्वतः निषेध हो जाता है, जैसे 'नायं सः, किन्तु तत्सदृशः । 'नायं तत्सदृशः किन्तु स एवायम् ।' 'गगनं गगनाकारम्'—यह जो अभिन्न वस्तु में सादृश्य व्यवहृत होता है, उसका तात्पय गगन-सदृश वस्त्वन्तरता के निषेधमात्र में होता है । अथवा गगन के एक देश का उसके अन्य एकदेश के साथ सादृश्य का प्रतिपादन किया गया है । सर्वथा परमं साम्यमुपैति—यह उपसंहार भेदविषयक सिद्ध होता है । अभ्यास के अविशेष पुनः श्रुतिः—इस लक्षण में भी अर्थतः अविशेषता या एकप्रकारता पाई जाती है, शब्दतः नहीं, अन्यथा सास्नादि-विशिष्ट व्यक्ति के अभिप्राय से उच्चरित 'गौः' शब्द के साथ पृथिवी एवं वाणी के अभिप्राय से प्रयुक्त गौः गौः शब्द जहाँ हैं, वहाँ गौर्गौर्गौः—इत्यादि स्थल पर अभ्यास माना जाने लगेगा, क्योंकि शब्दों में कोई अन्तर नहीं । फलतः अभ्यास भी भेदविषयक ही होता है । 'अन्यमीशम्'—यहाँ पर समभिव्याहृत 'पश्यति' पद से उपस्थापित जीव ही ईशगत अन्यत्व का प्रतियोगी वैसे ही होता है, जैसे—'सप्तमं पदं गृह्णाति'—इस विधि वाक्य के पद का तत्समभिव्याहृत 'एकहायन्या सोमं क्रीणाति'—इस वाक्य से उपस्थापित गौ ही प्रतियोगी (पदी) होती है (जै. सू. ४।१।२५) । फलतः अभ्यास भी भेदविषयक ही स्थिर होता है ।

अद्वैती—अथर्ववेदीय मुण्डक की प्रथम मुण्डकरूप पूर्व पीठिका यह है कि "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" (मुं० १।१।३)—इस प्रकार शौनक के पूछने पर महर्षि अङ्गिरस ने "द्वे विद्ये वेदितव्ये"—इस प्रकार दो विद्याओं

अद्वैतसिद्धिः

विद्याद्वयमवतार्य ऋग्वेदादिलक्षणामपरामुक्त्वा 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्ण'मित्यादिना परविद्याविषयमक्षरं प्रश्नानुसारेण प्रतिपादयता अभेदस्यैवोपक्रान्तत्वाद्, अन्यथा तदुत्तरत्वानुपपत्तेः। द्वितीयमुण्डके 'पुरुष एवेदं विश्वं ब्रह्मैवेदं वरिष्ठ'मिति मध्ये परामर्शात्। तृतीयमुण्डकान्ते च 'परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति, स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतो'त्यैक्यलक्षणफलेनोपसंहाराच्च मुण्डकत्रयात्मिकाया उपनिषद ऐक्यपरत्वे स्थिते 'असंयुक्तं प्रकरणा'दिति न्यायेनाभिक्रमणादिवन्मध्यस्थितवाक्यस्यापि द्वा सुपर्णेत्यादेस्तदनुकूलत्वे संभवति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का उपक्रम कर ऋग्वेदादिरूप अपर विद्या का उपदेश देकर कहा—"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्" (मुं० १।१।५) इसके द्वारा पर विद्या के विषयीभूत अक्षर तत्त्व का प्रश्न के अनुसार प्रतिपादन किया। इससे नितान्त स्पष्ट है कि अभेद ही उपक्रम (प्रश्न) का विषय है, अन्यथा उत्तर में वैसा कहना सम्भव नहीं था। द्वितीय मुण्डक में "पुरुष एवेदं विश्वम्" (मुं० २।१।१०) "ब्रह्मै—वेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्" (मुं० २।२।११) इस प्रकार का मध्य में परामर्श कर तृतीय मुण्डक में "परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति" (मुं० ३।२।७), "स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (मुं० ३।२।९) इस प्रकार ऐक्यात्म फल का उपसंहार में वर्णन किया गया। तीनों मुण्डक-भागों की पर्यालोचना करने पर पूरे मुण्डक उपनिषत् का तात्पर्य ऐक्य या अभेद में ही निश्चित होता है। मध्यपाती "द्वा सुपर्णा" आदि वाक्यों में भी सन्दंश-पतित्व होने के कारण अभिक्रमणादि में प्रयजाङ्गत्व के समान ऐक्य परत्व ही निश्चित होता है [श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या—इन छः विनियोजक प्रमाणों के प्रसङ्ग में प्रकरण प्रमाण का समर्थन करते हुए कहा गया है कि "असंयुक्तं प्रकरणाद् इतिकर्त्तव्यर्तार्थित्वात्" (जै. सू. २।३।११)। श्रुति, लिङ्ग और वाक्य से असंयुक्त (अविनियुक्त) पदार्थ का प्रकरण प्रमाण से विनियोग होता है, क्योंकि प्रधान को इतिकर्त्तव्य (अपने अङ्गकलाप) एवं अङ्गों को अपने प्रधान की आकांक्षा होती है, अत एव प्रकरण प्रमाण का स्वरूप उभयाकांक्षात्मक माना गया है। "दर्शपूर्णमासरूप प्रधान कर्म के प्रकरण (तै. सं. १।१।२) में पठित 'समिधो यजति', 'तनूनपातं यजति', 'इडो यजति', 'बर्हिर्यजति', स्वाहाकारं यजति'—इन पाँच वाक्यों के द्वारा प्रयाजसंज्ञक पाँच आहुतियाँ विहित हैं, प्रकरण प्रमाण के आधार पर दर्शपूर्णमासाख्य आग्नेयादि छः प्रधान यागों की अङ्गता उक्त प्रयाज कर्मों में स्थापित की गई है। प्रकरण प्रमाण के दो भेद होते हैं—(१) महाप्रकरण और (२) अवान्तर प्रकरण। कथित प्रयाज उदाहरण महाप्रकरण का है। अवान्तर प्रकरण का उदाहरण यह है कि प्रयाज के समीप में पठित "अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै" (तै. सं. २।६।१।४) इस वाक्य के द्वारा अभिक्रमणसंज्ञक क्रिया का विधान किया गया है। प्रयाजसंज्ञक पाँच आहुतियाँ करने के लिये आहवनीय अग्नि से कुछ दूर अध्वर्यु खड़ा होता है, अत एव प्रथम प्रयाज होम पूरा हाथ लम्बा करके जुहू के द्वारा किया जाता है और द्वितीयादि प्रयाजों को करने के लिए आहवनीय के समीप कुछ अभिक्रमण (समीप गमन) किया जाता है, इसी क्रिया का नाम अभिक्रमण इस समय भी याज्ञिक-परम्परा में प्रचलित है (द्र. शाबर. भा. पृ. ७३०)। सम्भव है किसी शाखा में प्रत्येक प्रयाज के पश्चात् आहवनीय की

अद्वैतसिद्धिः

महाप्रकरणविरोधेन विपरीततात्पर्यकल्पनया भेदोपक्रमत्वाभावात्, 'परमं साम्यमुपैती'त्यस्य पूर्वोक्तन्यायेन ऐक्यपरतया भेदोपसंहारत्वाभावात्। अतः अनश्नन्नित्यादिना न तात्त्विकभेदाभ्यासः, नापीशस्य शास्त्रगम्यतया तत्प्रतियोगिकस्तद्धर्मिको वा भेदोऽपूर्वः, ईशज्ञानमात्रे तदपेक्षायामपि प्रत्यक्षेण तत्समकक्ष्यमानेन च तयोः प्राप्तत्वात्। त्वदुक्तफलार्थवादयोरैक्यपक्षेऽपि संभवेन न भेदासाधारणलिङ्गता, अनश्नन्नित्यादेः काल्पनिकभेदेनोपपत्त्या तात्त्विकभेदोपपत्तित्वाभावात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

परिक्रमा की जाती हो और उसे ही अभिक्रमण कहते हों, जैसा कि श्री माधवाचार्य अपने जैमिनीयन्यायमाला-विस्तर में कहते हैं—"तत्र होमकाले यदेतदाहवनीयमभितः संचरणम्" (जै. न्या. मा. ३।१।१०)। इस अभिक्रमण के विषय में सन्देह होता है कि यह दर्शपूर्णमास का अङ्ग है ? अथवा उसके अङ्गभूत प्रयाज कर्म का ? सिद्धान्त सूत्र है—"साकाङ्क्षं त्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्वेण" (जं. सू. ३।१।२०)। तीन प्रयाजों को करने के पश्चात् "समानयत उपभृतः तेजः" अर्थात् बर्हिः संज्ञक प्रयाज को करने के लिए उपभृत् पात्र से घृत लेना चाहिए, उपभृत्पात्रस्थ घृत प्रयाज और अनुयाज ले लिए निश्चित होता है। इस प्रयाज के अङ्गभूत घृतानयन का कथन करने के पश्चात् अभिक्रमण और अभिक्रमण के पश्चात् प्रयाज का ही दूसरा अङ्ग पठित है "प्रयाजानिष्ट्वा हवींष्यभिघारयति" प्रयाजानुष्ठान से बचे घृत का उपयोग (प्रतिपत्ति कर्म) उत्तरवर्ती कर्म के हविर्द्रव्यों के अभिघारण में होता है। इस प्रकार प्रयाज के अङ्गों के मध्य में अभिहित अभिक्रमण सन्दंश-पतित वस्तु के समान प्रयाज का ही अङ्ग अवान्तर प्रकरण के आधार पर माना गया है, महाप्रकरण के द्वारा दर्शपूर्णमास का अङ्ग नहीं, क्योंकि महाप्रकरण से अवान्तर प्रकरण प्रबल होता है]। ठीक इसी प्रकार 'द्वा सुपर्णा'—यह वाक्य भी ऐक्यपरक पूर्वोत्तर भागों से सन्दष्ट होने के कारण ऐक्यपरक ही माना जायगा, भेद परक नहीं, अतः 'द्वा सुपर्णा'—इस वाक्य को भेदविषयक उपक्रम मानने में महाप्रकरण का विरोध होता है। इसी प्रकार परमं साम्यमुपैति'—इस वाक्य को भेदविषयक उपसंहार भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि "परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति"—इत्यादि ऐक्यपरक उपसंहार से विपरीत भेद परकोपसंहार की कल्पना में महाप्रकरण का विरोध उपस्थित होता है। महाप्रकरण का विरोध होने के कारण हो 'अनश्नन्'—इत्यादि को भेदाभ्यास नहीं माना जा सकता। जीवेश-भेद जब प्रत्यक्ष प्रमाण से अवगत है, तब उसे अपूर्व (इतर प्रमाणानधिगत) भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि शास्त्र का तात्पर्य केवल ईश्वर के ज्ञान में ही है, उसके भेद में नहीं, अतः ईश्वर धर्मिक भेद-ग्रह को अपूर्व कहना संभव नहीं होता, क्योंकि केवल इतर प्रमाणाप्रतिपादितत्व को ही अपूर्वता नहीं कह सकते, अन्यथा खपुष्पादि को भी अपर्व मानना होगा, अतः इतर प्रमाणाप्रतिपादितत्वे सति प्रमाणप्रतिपादितत्व को अपूर्वता कहना होगा, वह भेद में नहीं। आप ने जो 'पुण्यपापे विधूय'—में फलश्रुति 'अस्य महिमानम्'—में अर्थवादता की कल्पना की है, उसे हम वैसा ही मानते हैं, केवल इतना संशोधन अवश्य चाहेंगे कि वह फल-श्रुति और अर्थवादता महाप्राकरणिक अभेद की है, भेद की नहीं। 'अनश्नन्—इत्यादि में उपपत्तिरूपता भी व्यावहारिक भेदमात्र की सम्भव है, तात्त्विक भेद की नहीं।

न्यायामृतम्

एवं "वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिण" मित्युपक्रमः, "एष त आत्मान्तर्यामी"-त्युपसंहारः। "एष त आत्मान्तर्याम्यमृत" इत्येकविंशतिकृत्वोऽभ्यासः, अन्तर्यामित्वस्याप्राप्तत्वादपूर्वता, "स ब्रह्मवि" दित्यादिफलम्, तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वांस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यती"ति निन्दारूपोऽर्थवादः। "यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेदे" त्याद्युपपत्तिः। इयं च श्रुतिर्भेदपरैवेति सूत्रकृतैवोक्तम्-शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयत" इति सूत्रं भेदपरमिति त्वयापि भाषितत्वात्।

भेदश्रुतेः षड्विधतात्पर्यलिंगानि ॥ २६ ॥

अद्वैतसिद्धिः

ननु—अन्तर्यामिब्राह्मणं षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेतं वाक्यं भेदे प्रमाणम्। तथा हि—'वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं'मित्युपक्रमः, 'एष त आत्मान्तर्यामी'त्युपसंहारः, 'एष त आत्मेत्याद्येकविंशतिकृत्वोऽभ्यासः, अन्तर्यामित्वस्याप्राप्ततयाऽपूर्वता, 'स वै ब्रह्मवि'दित्यादि फलम्, 'तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वांस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यती'ति निन्दारूपोऽर्थवादः, 'यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद'इत्याद्युपपत्तिरिति—चेत्, मैवम्, 'आत्मेत्येवोपासीते'ति सूत्रितब्रह्मविद्याविवरणरूपायां चतुरध्याय्यां अनेन ह्येतत्सर्वं वेदेति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञापूर्वकं 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभव'दित्यभेदेनोपक्रम्य षष्ठाध्यायान्ते मैत्रेयीब्राह्मणे निगमनरूपे 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—भेदपरता के निर्णायक षड्विध लिङ्गों से युक्त अन्तर्यामिब्राह्मण (बृह० उ० ३।७) भेदवाद में एक सुपुष्ट प्रमाण है। उसमें षड्विध लिङ्गों की स्थिति इस प्रकार है—"वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणम् ?" (बृह. उ. ३।७।१) यह उपक्रम है। "एष त आत्मान्तर्यामी" (बृह० उ० ३।७।३) यह उपसंहार है। "एष त आत्मान्तर्यामी" (बृह० उ० ३।७।२-२३) यह इक्कीस वार पठित अभ्यास है। ब्रह्म के समान ही अन्तर्यामी भी एक मात्र उपनिषत् प्रमाण से ही अधिगत है, इतर प्रमाणों से बोधित नहीं—यही इसकी अपूर्वता है। "स वै ब्रह्मवित्" (बृह. उ. ३।७।१) यह फल-श्रुति है। "तच्चेत् त्वं याज्ञवल्क्य ! सूत्रमविद्वांस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीः उदजसे (ब्रह्मविदे उपहृता गाः नयसि) मूर्धा ते पतिष्यति" (बृह. उ. ३।७।१) यह सूत्रात्मा के अज्ञान की निन्दा उसके ज्ञान की प्रशंसा (अर्थवाद) है। एवं "यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद" (बृह. उ. ३।७।३)। यह उपपत्ति (युक्ति) है। इस श्रुति की भेदपरता "शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते" (ब्र० सू० १।२।२०) इस सूत्र तथा इसके भाष्य में स्वीकृत है—"शारीरश्च नान्तर्यामीष्यते" (शां० भा०)।

समाधान—बृहदारण्यक उपनिषत् के आरम्भिक चार अध्यायों में उसी ब्रह्मविद्या का विवरण प्रस्तुत किया गया है, जिसका "आत्मेत्येवोपासीत" (बृह० उ० १।४।७) इस वाक्य में सूत्ररूपेण उल्लेख है। "अनेन ह्येतत् सर्वं वेद" (बृह. उ. १।४।७) इस प्रकार एक तत्त्व के ज्ञान से सर्व ज्ञान की प्रतिज्ञा कर "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्वमभवत्" (बृह. उ. १।४।१०) ऐसा उपक्रम किया गया है और चतुर्थ अध्याय के अन्त में अवस्थित मैत्रेयी ब्राह्मण में "यत्र त्वस्य

अद्वैतसिद्धिः

पश्ये'दित्यादिनाऽभेदेनैवोपसंहाराद् अध्यायचतुष्टयस्याप्यभेदपरत्वे स्थिते तदन्तर्गतस्य ब्रह्मलोकान्तरसूत्रात्मप्रतिपादनपरस्य उत्तरब्राह्मणप्रतिपाद्यनिरुपाधिकसर्वान्तरब्रह्म-प्रतिपत्त्यनुकूलस्य महाप्रकरणानुरोधेन तद्विरोधिभेदपरत्वाभावात्, त्वदुपन्यस्त-लिङ्गानां भेदपरतानिर्णायकत्वेऽपि कल्पितभेदपरतया तात्त्विकाभेदाविरोधित्वात्। अत एव न 'शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयत' इति सूत्रविरोधः, नवा तद्भाष्य-व्याहतिः॥

इत्यद्वैतसिद्धौ भेदश्रुतेः षड्विधतात्पर्यलिङ्गभङ्गः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्" (बृह. उ. ४।५।१५) यह अभेदविषयक उपसंहार किया गया है। इससे यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है उक्त चारों अध्याय अभेदपरक ही हैं, उन्हीं के अन्तर्गत यह अन्तर्यामिब्राह्मण है, जो कि "कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोकाः ओताश्च प्रोताश्च" (बृह. उ. ३।६।१) इस प्रकार समस्त ब्रह्मलोकों में अन्तर्यामि (अनुस्यूत) तत्त्वविषयक प्रश्न का उत्तर दिया गया है, ऐसे उत्तर ब्राह्मण-प्रतिपाद्य निरुपाधिक ब्रह्म-प्रतिपत्ति के जनकीभूत अन्तर्यामिब्राह्मण को महाप्रकरण के अनुरोध पर अभेदपरक ही मानना होगा, भेदपरक नहीं। आप (द्वैती) के द्वारा प्रदर्शित तात्पर्य-ग्राहक लिङ्ग यद्यपि भेदपरता के निर्णायक हैं, तथापि कल्पित भेदपरता मान लेने पर महाप्रकरण-प्राप्त तात्त्विक अभेद परता का विरोध नहीं होता। अत एव न तो "शरीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते" (ब्र. सू. १।२।२०) इस सूत्र से किसी प्रकार का विरोध आता है और न उस सूत्र के भाष्य से, क्योंकि भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि "अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽयं शारीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशः, न पारमार्थिकः" (शां. भा. १।२।२०) अर्थात् शरीरोपाधिक जीव और अन्तर्यामी का जो भेद माना गया है, वह केवल अविद्या-कल्पित अतात्त्विक मात्र है, तात्त्विक नहीं।

: २७ :

ऐक्यस्वरूपविचारः

न्यायामृतम्

किं च तिष्ठतु भेदः । ऐक्यं (१) किमात्मस्वरूपम् ? (२) उतान्यत् ? नाद्यः, पर्यायत्वैकतरपरिशेषाद्यापत्तेः । सापेक्षस्यैक्यस्य निरपेक्षात्मत्वायोगाच्च । स्वप्रकाशस्यात्मनो विद्यादिसाक्षित्वेन सदा प्रकाशमानत्वेन शास्त्रवैयर्थ्याच्च । न च त्वन्मते अपर्यायत्वादिनिर्वाहको विशेषोऽस्ति । न च भेदभ्रमनिरासार्थं शास्त्रम्, अधिष्ठानाप्रकाशं विना भेदभ्रमस्यैवायोगात् । स्वरूपप्रकाशेन प्रकाशमानेऽप्यात्मन्यज्ञानविरोधिवृत्त्यभावाद्भ्रम इति त्वविद्याविषयभंगे निरस्तम् । अन्त्ये ऐक्यं सत्यम् ? मिथ्या वा ? आद्ये अद्वैतहानिः । अभावद्वैतमभावस्याधिकरणमात्रत्वं च प्रागेव निरस्तम् । भेदाभावोपलक्षित आत्मैक्यमित्यपि न युक्तम् । उपलक्षणीभूतभेदाभावस्य सत्त्वे अद्वैतहानिः, मिथ्यात्वे द्वितीयेऽन्तर्भावात् । न द्वितीयः, तत्त्वमसीत्यादेरतत्त्वापातात् । भेदस्य सत्यत्वापत्तेश्च ।

अद्वैतसिद्धिः

ननु- ऐक्यं (१) आत्मस्वरूपम् ? (२) उतान्यत् ? नाद्यः, एकतरपरिशेषाद्यापत्तेः, सापेक्षस्यैक्यस्य निरपेक्षात्मत्वायोगाच्च । नान्त्यः, सत्यत्वे अद्वैतहानेः, मिथ्यात्वे तत्त्वमसीत्यादेरतत्त्वावेदकतापत्तेरिति—चेन्न, आद्यमेवानवद्यम् । ज्ञानानन्दयोरात्मैक्येऽपि यथा नैकतरपरिशेषापत्त्यादिकं कल्पितानन्दत्वादिधर्मात् तथा प्रकृतेऽपि संभवाद्, ऐक्ये अभिज्ञेयत्वस्य प्रागुक्तेः तस्यापि निरपेक्षतया निरपेक्षात्मस्वरूपत्वाविरोधाद्, अज्ञानाद्यधिष्ठानतया भासमानात्मस्वरूपत्वेऽपि ऐक्यस्य तद्गोचरवृत्तिविशेषस्याज्ञाननिवर्तकस्य इदानीमसत्त्वात्संसारोपपत्तेः । अन्त्ये पक्षे दोषास्त्वनुक्तोपालम्भा एव ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—ऐक्य आत्मस्वरूप है ? अथवा भिन्न ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि ऐक्य और आत्मा—दोनों यदि एक स्वरूप है, तब दोनों में से एक ही शेष रह जाता है और ऐक्य ससम्बन्धिक होने के कारण निरूपक-सापेक्ष हैं, किन्तु आत्मा निरपेक्षस्वरूप, अतः विरुद्ध स्वभाव के दो पदार्थों को एक स्वरूप या अभिन्न नहीं माना जा सकता । द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि द्वैतापत्ति होती है एवं आत्मा से भिन्न होने पर ऐक्य अनात्मरूप होने के कारण मिथ्या हो जाता है, मिथ्या एकत्व के बोधक 'तत्त्वमसि'—इत्यादि महावाक्य अतत्त्वावेदक (अप्रमाण) हो जाते हैं ।

समाधान—प्रथम आत्मस्वरूप पक्ष ही ग्राह्य है । ज्ञानादि का आत्मा के साथ ऐक्य होने पर भी एकतर-परिशेषतादि की आपत्ति नहीं, क्योंकि कल्पित आनन्दत्वादि धर्मों को लेकर भेद बन जाता है—यह कहा जा चुका है, वैसे ही प्रकृत में भी सम्भव है। ऐक्य अभिज्ञेयत्वेन रूपेण अनपेक्ष होने के कारण अनपेक्ष आत्मस्वरूप हो सकता है—यह भी पहले कहा जा चुका है। यद्यपि ऐक्य अज्ञानादि के अधिष्ठानभूत भासमान आत्मा का ही स्वरूप है, तथापि तद्विषयक वृत्तिविशेष के संसारावस्था में न होने के कारण अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती । द्वितोय पक्ष में जो दोष न्यायामृतकार ने दिये हैं, वे अनुक्तोपालम्भन मात्र हैं, क्योंकि ऐक्य को आत्मस्वरूप से अतिरिक्त हम मानते ही नहीं ।

न्यायामृतम्

किं चान्यत्वपक्षे ऐक्यं (१) किमेकत्वसंख्या ? (२) तन्निष्ठसकलधर्माश्रयत्वं वा ? (३) तन्निष्ठासाधारणधर्माश्रयत्वं वा ? (४) भेदाभावो वा ? (५) तदनिष्ठधर्मानधिकरणत्वं वा ? नाद्याः, निर्धर्मके ब्रह्मणि तत्त्वतः संख्याद्यभावात् । न चतुर्थः, भेदस्यैक्याभावरूपत्वेनान्योन्याश्रयात् । न पंचमः, शून्यस्यापि ब्रह्मैक्यापातात् । विशेषनिषेधशेषाभ्यनुज्ञानेन सधर्मकत्वापाताच्च ।

किं चाभेदे अभेदत्वपारमार्थिकत्वासद्वैलक्षण्यादीनि तत्त्वतः सन्ति चेत्तैरेव सद्वितीयत्वम्, न चेदभेदत्वादिहानिरिति दिक् ।

अद्वैतसिद्धिः

अत एव अतिरिक्तमैक्यं नैकत्वसंख्या, न वा तन्निष्ठाशेषधर्मवत्त्वम्, न वा तन्निष्ठासाधारणधर्मवत्त्वम्, निर्धर्मके ब्रह्मणि तेषामभावात् । नापि भेदविरहः, भेदस्यैक्यविरहरूपत्वेनान्योन्याश्रयात् । नापि तदवृत्तिधर्मानधिकरणत्वम्, शून्यस्यापि ब्रह्मैक्यापातादिति—निरस्तम्, तदवृत्तिधर्मानाधारत्वोपलक्षितस्वरूपस्याभेदत्वात् । शून्यस्य निःस्वरूपत्वात् न शून्यस्यैक्यरूपता । न च—तदवृत्तिधर्मनिषेधेन तद्वृत्तिधर्मविधानप्रसङ्गः, विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञाफलकत्वादिति—वाच्यम्, शेषविधायकत्वस्य सर्वत्रासंप्रतिपत्तेः । अन्यथा वायो न नीलरूपमित्यस्यापि गौरं प्रति विधायकत्वापातात् ।

ननु—अभेदे अभेदत्वपारमार्थिकत्वासद्वैलक्षण्यादीनि तत्त्वतः सन्ति वा ? न वा ? आद्ये सद्वितीयत्वापत्तिः' द्वितीये अभेदत्वादिहानिरिति—चेन्न, तत्त्वतः स्वरूप-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि अतिरिक्त ऐक्य को एकत्व संख्या या धर्मिनिष्ठ अशेष धर्मों की आश्रयता अथवा धर्मिगत असाधारण धर्म की आधारता स्वरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि निर्धर्मक ब्रह्म में उनका अभाव है। ऐक्य को भेदाभावरूप मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होता है, क्योंकि भेद का स्वरूप होता है—ऐक्याभाव। ब्रह्मावृत्ति धर्मानधिकरणत्व को ब्रह्मगत ऐक्य मानने पर शून्य को भी ब्रह्मगत ऐक्य मानना होगा, क्योंकि शून्य भी ब्रह्मावृत्ति धर्मों का अनधिकरण ही माना जाता है।

न्यायामृतकार का वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि ब्रह्मावृत्ति-धर्मानाधारत्वोपलक्षित स्वरूप को ही ब्रह्मगत ऐक्य या अभेद माना जाता है। शून्य निःस्वरूप होने के कारण उक्तानाधारत्वोपलक्षितस्वरूपता शून्य में सम्भव नहीं।

शङ्का—विरोधी पदार्थों में एक का निषेध दूसरे का विधान समझा जाता है, अतः तदवृत्ति धर्मों का निषेध करने पर तद्वृत्ति धर्मों का विधान मानना होगा, तब तो ब्रह्म में ऐक्य का स्वरूप ब्रह्मवृत्ति धर्मों की आश्रयता होगा, जो कि निर्धमक ब्रह्म में सम्भव नहीं।

समाधान—विशेष-निषेध को सर्वत्र शेष का विधायक नहीं माना जा सकता, अन्यथा वायु में नीलरूप का निषेध भी श्वैतरूप का विधायक हो जायगा।

शङ्का—अभेद पदार्थ में अभेदत्व, पारमार्थिकत्व, असद्विलक्षणत्वादि धर्म तत्त्वतः रहते हैं ? अथवा नहीं ? प्रथम कल्प मानने पर सद्वितीयत्वापत्ति और द्वितीय कल्प में अभेदत्वादि की हानि होती है।

समाधान—अभेद में अभेदत्वादि रहते हैं किन्तु अभेद के स्वरूपभूत होने के

न्यायामृतम्

न चैक्यस्य दुर्वचत्वेऽप्यात्मस्वरूपमात्रमबाधितमिति वाच्यम्, तन्मात्रस्य सम्मतत्वेन त्वच्छास्त्राविषयत्वात् । भेद एवं खण्डयोऽस्माकं न त्वभेदः साध्य इति तु निरस्तम् । ऐक्यस्वरूपभंगः ॥ २७ ॥

अद्वैतसिद्धिः

भूतैरेव तैरभेदरूपताया अद्वैतस्य चाहान्युपपत्तेः। न च—एवमभेदस्याबाधितात्मस्वरूपपर्यवसाने तस्य चात्मस्वरूपस्य परैरपि संमतत्वेन त्वच्छास्त्राविषयत्वमिति—वाच्यम्, जीवावृत्तिधर्मानधिकरणत्वोपलक्षितात्मस्वरूपस्य परैरनङ्गीकारात् । तदेवमुक्ते जीवब्रह्माभेदे 'तत्त्वमसि' स वा अयमात्मा ब्रह्म'इत्यादिश्रुतिर्मानम् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ ऐक्यरूपोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कारण सद्वितीयत्व के आपादक नहीं होते और न ब्रह्म में सत्त्व-हानि के समान अभेद में अभेत्वादि की हानि होती है ।

शङ्का—आप (अद्वैती) की कथित व्यवस्था के आधार पर अबाधित ब्रह्म स्वरूप ही ब्रह्मगत अभेद में पर्यवसित होता है, अबाधित ब्रह्मस्वरूप तो द्वैतिगणों के शास्त्रों में भी प्रतिपादित हैं, तब ब्रह्मगत ऐक्य आप (अद्वैती) के अद्वैतवेदान्त का असाधारण विषय क्योंकर होगा ?

समाधान—जीवावृत्तिधर्मानधिकरणत्वोपलक्षित आत्मस्वरूप को ऐक्य माना जाता है, वह द्वैतिगण नहीं मानते, क्योंकि वे जीवावृत्ति सर्वज्ञत्वादि धर्म ब्रह्म में मानते हैं। इस प्रकार के जीव और ब्रह्म के अभेद में "तत्त्वमसि" (छा. ६।८।७) तथा "स वा अयमात्मा ब्रह्म" (बृह. उ. ५।१९) इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं ।

: २८ :

ऐक्यप्रमाणतदुपजीव्यविरोधविचारः

न्यायामृतम्

यच्चेदमुच्यते जीवब्रह्माभेदे "तत्त्वमसी" त्यादिश्रुतिर्मानम्। यद्यप्यत्र सार्वज्ञ्या-सार्वज्ञ्यादिविशिष्टयोस्तत्त्वंपदवाच्योरैक्यं जरद्गवादिवाक्यवद्योग्यताविरहान्न युक्तम्। तथापि सोऽयं देवदत्त इत्यादिवद् विरुद्धांशत्यागेन लक्षितयोरैक्यं युक्तम्। उक्तं हि—

युष्मदस्मद्विभागज्ञे स्यादर्थवदिदं वचः।
अनभिज्ञेऽनर्थकं स्याद्बधिरेष्विव गायनम्॥ इति।

इयं च नवप्रकरणी षड्विधतात्पर्यलिंगवत्त्वात्प्रबला। तथा हि—"एकमेवा-द्वितीय"मित्युपक्रमः, "तत्त्वमसी"त्युपसंहारः, तत्त्वमसि तत्त्वमसीति नवकृत्वोऽभ्यासः, जीवब्रह्मैक्यस्यान्यतोऽप्राप्तत्वादपूर्वता, "अथ सम्पत्स्यत" इति फलम्, "येनाश्रुतं श्रुतं भवती"त्यादिरर्थवादः, मृत्पिण्डादिदृष्टान्तैरुपपादनादुपपत्तिरपि। एवं विमता आत्मानः परमात्मनः परमार्थतो (तत्त्वतो) न भिद्यन्ते आत्मत्वात्, परमात्मवदित्याद्यनुमानानि चेति।

अत्र ब्रूमः—विरुद्धाकारत्यागः किं अविवक्षामात्रेण? अनित्यत्वेन वा? मिथ्यात्वेन वा? नाद्यः, विरुद्धाकारस्याविवक्षायामप्यनपायात्। न हि "असद्वा इदमग्र आसीत् सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"त्यादि श्रुत्या असत्त्वशून्यत्वयोश्चित्त्वजडत्वयोर्वा अविवक्षामात्रेण ब्रह्मणः शून्येन जडेन वैक्यं सुवचम्। न द्वितीयः, तथात्वे तत्त्वं भविष्यसीति

अद्वैतसिद्धिः

ननु—सार्वज्ञ्यासार्वज्ञ्यादिविशिष्टयोरैक्यमयोग्यत्वपराहतम् कथमुदाहृत-श्रुत्या बोध्यमिति—चेन्न, सोऽयमित्यादाविव विरुद्धाकारत्यागेन शुद्धाकारैक्य-बोधनात्। ननु—विरुद्धाकारत्यागः किमविवक्षामात्रेण? उतानित्यत्वेन? उत मिथ्यात्वेन? नाद्यः, विरुद्धाकारस्याविवक्षायामप्यनपायात्। न हि 'असद्वा इदमग्र आसीत्सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादिश्रुत्या सत्त्वशून्यत्वयोश्चित्त्वजडत्वयोर्वेहाविवक्षामात्रेण ब्रह्मणः शून्येन जडेन च ऐक्यं सुवचम्। न द्वितीयः, तत्त्वं भविष्यसीति निर्देशापत्त्या

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—ब्रह्म सर्वज्ञत्वादि धर्मों से विशिष्ट है और जीव अल्पज्ञत्वादि धर्मों से, अतः तत् और त्वं पद के वाच्यभूत विशिष्ट पदार्थों का ऐक्य या अभेद बाधित होने के कारण 'तत्त्वमसि,—इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित कैसे होगा?

समाधान—'सोऽयम्'—इत्यादि वाक्य जैसे विरोधी आकार-परित्यागपूर्वक शुद्ध अर्थों के ऐक्य का बोध कराते हैं, वैसे ही 'तत्त्वमसि—इत्यादि वाक्य भी।

शङ्का—विरुद्ध आकारों का परित्याग क्या अविवक्षा मात्र से होता है? या अनित्य होने के कारण? या मिथ्या होने के कारण? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि कतिपय धर्मों की अविवक्षा होने पर भी विरोधी आकार अपरिहृत रहते हैं, जैसे कि "असद्वा इदमग्र आसीत्" (तै. उ. २।७।१), "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छां. ३।१४।१) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा सत्त्व-शून्यत्व एवं चित्त्व-जड़त्व की अविवक्षा होने मात्र से ब्रह्म की शून्य अथवा जड़ पदार्थ के साथ एकता प्रतिपादित नहीं हो सकती। द्वितीय (अनित्य होने के कारण विरोधी धर्मों का त्याग) पक्ष मानने पर "तत्त्वमसि"—ऐसा वर्तमान निर्देश सम्भव न हो सकेगा, क्योंकि जीवगत अल्पज्ञता अनित्य होने के कारण

न्यायामृतम्

निर्देशापत्त्याऽसोतिवर्तमाननिर्देशायोगात् । दशाभेदेन भेदाभेदयोः सत्त्वापत्त्या त्वयाप्यनंगोकाराच्च, जीवेशयोः स्वातंत्र्यपारतंत्र्यादेर्नित्यत्वे श्रुत्यादेरुक्तत्वाच्च । न तृतीयः, निर्दोषश्रुतिसाक्षिसिद्धयोर्विरुद्धधर्मयोर्मिथ्यात्वायोगादित्युक्तत्वात् । सोऽयमित्यादौ तु तत्तादेर्न त्यागः, क्रमेणैकत्र तत्तेदन्तयोरविरोधादित्युक्तम् ।

अद्वैतसिद्धिः

असीति वर्तमाननिर्देशायोगाद् , दशाभेदेन भेदाभेदयोः सत्त्वापत्त्या त्वयाप्यनङ्गीकाराच्च, जीवेशयोः स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यादेर्नित्यत्वाच्च । न तृतीयः, निर्दोषश्रुतिसाक्षिसिद्धयोर्विरुद्धधर्मयोर्मिथ्यात्वायोगादिति—चेन्न, विरुद्धाकारस्याविवक्षयैव त्यागात् । त्यागश्च ब्रह्मानुभवाविषयत्वम् , न त्वपायः, तस्य चरमसाक्षात्कारसाध्यत्वात् । तथा च तत्तेदन्ते इवानपेते अपि सार्वज्ञ्यासार्वज्ञ्ये नाश्रयाभेदविरोधाय । अविवक्षा च प्रधानप्रमेयनिर्वाहाय । न च – सोऽयमित्यत्र तत्तेदन्तयोर्न त्यागः । क्रमेणैकत्र तयोरविरोधादिति—वाच्यम् , अभेदपरे अस्मिन्विशेषणयोरैक्यापत्त्या क्रमेणैकत्र सत्त्वेऽपि तत्त्यागस्यावश्यकत्वात्., 'असद्वे'त्यादौ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादौ च न शून्यजडैक्या-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भविष्य में जब कभी नष्ट हो जायगी, तब वह ईश्वर से अभिन्न होगा, अतः आचार्य शिष्य को 'तत्त्वं भविष्यसि'—ऐसा कह सकेगा, 'तत्त्वमसि' नहीं । अल्पज्ञत्व की दशा में भेद और अल्पज्ञत्वाभाव की दशा में अभेद इस प्रकार भेदाभेद मानना पड़ेगा, जो कि आप भी नहीं मानते, क्योंकि ब्रह्म में स्वातन्त्र्य और जीव में पारतन्त्र्य नित्य ही माने जाते हैं । तृतीय (विरुद्ध धर्मों का मिथ्यात्व) पक्ष सर्वथा असंगत है, क्योंकि निर्दोष श्रुति और साक्षी के द्वारा सिद्ध जीवेशगत विरुद्ध धर्मों को मिथ्या कभी नहीं कहा जा सकता ।

समाधान—विरुद्ध आकारों का त्याग अविवक्षा के कारण ही होता है । त्याग का अर्थ यहाँ ब्रह्मानुभव की अविषयता है, अपाय या नाश नहीं, क्योंकि उनका नाश तो चरम वृत्ति के द्वारा ही होता है । अतः जैसे सोऽयम्'—इत्यादि स्थल पर देवदत्तादिगत 'तत्ता' और 'इदन्ता' देवदत्त की एकता के बाधक नहीं होते, वैसे ही 'तत्त्वमसि'—यहाँ पर सर्वज्ञत्व और असर्वज्ञत्व आश्रयीभूत चैतन्य की एकता के विरोधी नहीं होते । विरोधी धर्मों की अविवक्षा इस लिए की जाती है कि अभेदरूप प्रधान प्रमेय की उपपत्ति हो सके ।

शङ्का—'सोऽयम्'—यहाँ पर 'तत्ता' और 'इदन्ता' का त्याग नहीं होता, क्योंकि एक देवदत्त में पहले 'तत्ता' और उसके पश्चात् 'इदन्ता' वैसे ही रह जाती हे, जैसे एक ही घट में श्याम रूप के पश्चात् रक्त रूप । इसी प्रकार संसारावस्था में जीव अल्पज्ञ और मोक्षावस्था में सर्वज्ञ हो जाता है ।

समाधान—'सोऽयम्'—यह वाक्य निर्विवाद रूप से अभेदपरक है । यदि तत्ताविशिष्ट और इदन्ता-विशिष्ट का अभेद माना जाता है, तब तत्ता और इदन्तारूप विशेषणों का भी अभेद प्रसक्त होता है, अतः क्रमिक धर्मों का भी यहाँ त्याग करना आवश्यक हो जाता है । "असद्वा इदमग्र आसीत्' एवं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—यहाँ पर शून्य और जड़ के साथ ब्रह्म की एकतापत्ति इस लिए नहीं होती कि शून्य और सद् मे चित् और जड़ में विरुद्ध आकार का परित्याग कर देने पर जीव और ब्रह्म के समान

न्यायामृतम्

किं चैक्यश्रुत्या प्रत्यक्षसिद्धं जीवमनूद्य तस्य ब्रह्मत्वं वा, श्रुतिसिद्धं ब्रह्मानूद्य जीवत्वं वा, उभयानुवादेनाभेदो वा विधेयः, सर्वथाप्युपजीव्यविरोधान्नैक्ये प्रामाण्यम्, प्रत्यक्षेण जीवस्य ब्रह्मतो भिन्नत्वेन श्रुत्या च सर्वज्ञत्वादिना ब्रह्मग्राहिण्या ब्रह्मणस्तद्धीनत्वेनानुभूयमानाज्जीवाद्भिन्नत्वेन ग्रहणात्। उपजीवकयोर्हि विरोधे न तावद्द्वयोः प्रामाण्यं वस्तुनो द्वैरूप्यापातात्। नापि द्वयोरप्रामाण्यं वस्तुनो निःस्वभावत्वापातात्। नाप्युजीव्यस्यैवाप्रामाण्यम्, दुर्बलेन प्रबलबाधायोगात्। तस्मात्परिशेषादुवजीवकस्यैवाप्रामाण्यम्। तदुक्तम्—

शास्त्रगस्यपरेशानाद्भेदः स्वात्मन ईयते।
अनुभूतिविरोधेन कथमेकत्वमुच्यते ॥
सार्वज्ञ्यादिगुणं जीवाद् भिन्नं ज्ञापयति श्रुतिः।
ईशं तामुपजीव्यैव वर्तते ह्यैक्यवादिनी ॥ इति।

ईश्वरस्यानुमेयत्वेऽप्युपजीव्यविरोध एव, अनुमित्यापि तस्य सर्वज्ञत्वादिनैव सिद्धेः।

अद्वैतसिद्धिः

पत्तिः शून्यसतोः चिज्जडयोर्वा विरुद्धाकारपरित्यागेन जीवब्रह्मणोरिवानुस्यूतस्याकारस्याभावाद्, असतो निःस्वरूपत्वाज्जडस्य बाध्यस्वरूपत्वात् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ जीवब्रह्माभेदे प्रमाणम् ॥

ननु—ऐक्यश्रुया प्रत्यक्षसिद्धं जीवमनूद्य ब्रह्मत्वं वा बोधनीयं, श्रुतिसिद्धं ब्रह्मानूद्य तस्य जीवत्वं वा, उभयानुवादेनाभेदो वा विधेयः, सर्वथाप्युपजीव्यविरोधात् नैक्ये प्रामाण्यम्, प्रत्यक्षेण जीवस्य ब्रह्मभिन्नत्वेन श्रुत्या च सर्वज्ञत्वादिमद्ब्रह्मग्राहिण्या तद्धीनत्वेनानुभूयमानाज्जीवाद् भिन्नत्वेन ब्रह्मणो ज्ञायमानत्वात्। न चानुमानेन ब्रह्मो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अनुस्यूत आकार का अभाव है, क्योंकि असत् तो निःस्वरूप ही होता है और जड़ भी बाध्यस्वरूप होता है।

शङ्का—अभेद-बोधक तत्त्वमस्यादि श्रुति के द्वारा प्रत्यक्ष-सिद्ध जीव का अनुवाद कर के ब्रह्मत्व का विधान किया जाय या श्रुति-सिद्ध ब्रह्म का अनुवाद करके जीवत्व का विधान किया जाय अथवा जीव और ब्रह्म—दोनों का अनुवाद करके अभेद का विधान किया जाय, सर्वथा उपजीव्यभूत प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध होने के कारण उक्त श्रुति ब्रह्म और जीव की एकता का अवगम न करा सकने के कारण एकता में प्रमाण नहीं हो सकती, क्योंकि जीव का प्रत्यक्ष प्रमाण और ब्रह्म का श्रुति प्रमाण से जो ग्रहण होता है, उसमें मूलतः उपजीव्य प्रत्यक्ष प्रमाण ही है—जीव, जीवगत अल्पज्ञत्वादि एवं ब्रह्म-भेद का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से ही होता है। इसके विना सर्वज्ञत्वादिहीनत्वेन अनुभूयमान जीव का भेद ब्रह्म एवं ब्रह्मगत सर्वज्ञत्वादि का प्रतिपादन श्रुति नहीं कर सकती। [जीव और ब्रह्म की अभेद-बोधिका श्रुति को ब्रह्म और जीव की उपस्थिति अपेक्षित है, वह जिस प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है, वह उपजीव्यभूत श्रुति ब्रह्म की सर्वज्ञत्वेन और प्रत्यक्ष अल्पज्ञत्वेन जीव की उपस्थिति कराता है। ये दोनों प्रमाण जीव और ब्रह्म के अभेद का विरोध करते हैं, क्योंकि न तो सर्वज्ञ अल्पज्ञ हो सकता है और न अल्पज्ञ सर्वज्ञ]। यदि ब्रह्म की उपस्थिति अनुमान के द्वारा कराई जाती

न्यायामृतम्

न चैवं निषेध्यार्पिका इदंरूप्यमितिधीरपि नेदं रूप्यमित्यस्योपजीव्या स्यादिति वाच्यम्, यद्धि यदपेतं यस्य बाधे स्वस्यापि बाधापत्तिश्च, तत्तस्योपजीव्यमिह तच्च यद्धर्म्यादिग्राहकं स्वप्रामाण्यादिग्राहकं च तदेव, न तु निषेध्यार्पकम्। न हि ब्रह्मरूपधर्मिज्ञानाप्रामाण्ये (ऐक्यज्ञानप्रामाण्यज्ञानाप्रामाण्ये च) च ब्रह्मात्मैक्यज्ञानाप्रामाण्यवत् प्रतिषेध्यज्ञानाप्रामाण्ये प्रतिषेधज्ञानाप्रामाण्यं प्रतिषेधशास्त्रविपरिलोपापातात्। न

अद्वैतसिद्धिः

पस्थितिः, तेनापि सर्वज्ञत्वादिना ब्रह्मणो विषयीकरणेन उपजीव्यविरोधतादवस्थ्यादिति--चेन्न, शक्तिग्रहादौ तयोरुपजीव्यत्वेऽपि स्वप्रमेयेऽनुपजीव्यत्वात्। तदुक्तं वाचस्पत्ये—'यत् उपजीव्यं, तन्न बाध्यते, यद्बाध्यते तन्नोपजीव्य'मिति। यथा कथंचिदपेक्षामात्रेणोपजीव्यत्वे नेदं रजतमित्यत्रापि इदं रजतमित्यस्योपजीव्यतापत्तेः।

ननु—यद्धि यदपेक्षं यस्य बाधे स्वस्य बाधापत्तिश्च तत्तस्योपजीव्यम्, प्रकृते च धर्म्यादिग्राहकस्यैव स्वप्रामाण्यग्राहकतया तद्बाधे स्वबाधापत्तिः, निषेध्यार्पणस्थले तु न तथा। न हि ब्रह्मस्वरूपधर्मिज्ञानाप्रमाण्ये ऐक्यज्ञानाप्रामाण्यवत् प्रतिषेध्यज्ञानाप्रामाण्ये प्रतिषेधज्ञानाप्रामाण्यम्, प्रतिषेधशास्त्रविलोपप्रसङ्गादिति- चेत्, सत्यम्, सार्वज्ञ्यादिविशिष्टं न तावद्धर्मि, किंतु ब्रह्मस्वरूपमात्रम्। विशिष्टधर्मिज्ञानप्रामाण्यं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है, तब वह भी ब्रह्म का सर्वज्ञत्वेन उपस्थापक होने के कारण अभेद का विरोधी ही ठहरता है।

समाधान—'तत्त्वमसि'- इस श्रुति के कथित प्रत्यक्ष और श्रुति प्रमाण उपजीव्य हैं, किन्तु केवल 'तत्' और 'त्वम्' पदों के शक्ति-ग्रहण अंश में ही उपजीव्य है, अभेदावगति अंश में नहीं, जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने कहा है—"यदुपजीव्यम्, तन्न बाध्यते, यद् बाध्यते, तन्नोपजीव्यम्" (भामती १।१।१)। फिर भी यदि जीवोपस्थापक प्रत्यक्ष और सर्वज्ञब्रह्मोपस्थापक श्रुति को पूर्णतया अभेद-श्रुति का उपजीव्य मान लिया जाता है, तब 'नेदं रजतम्'—यह वाक्य भी रजत का बाध न कर सकेगा, क्योंकि इसका भी उपजीव्यभूत रजतोपस्थापक इदं रजतम्—यह वाक्य विरोधी है, अतः उपजीव्य-विरोध मुख्य प्रमेय अंश का ही देखा जायगा, वह प्रकृत में नहीं।

शङ्का—जो पदार्थ जिस वस्तु की अपेक्षा करता है और जिस वस्तु का बाध हो जाने पर स्वयं का बाध हो जाता है, उस पदार्थ की वह वस्तु उपजीव्य मानी जाती है, प्रकृत में तत्त्वंपदार्थरूप धर्मी के ग्राहक उक्त प्रत्यक्ष और श्रुति प्रमाण ही अभेद-श्रुति निष्ठ प्रामाण्य के ग्राहक हैं, उनका बाध होने पर स्वयं अभेद-श्रुति का ही बाध हो जाता है, अतः वे उपजीव्य हैं, किन्तु 'नेदं रजतम्'—यहाँ पर निषेध्यरूप रजत के उपस्थापक 'इदं रजतम्' में वह बात नहीं, क्योंकि जैसे ब्रह्मरूप धर्मिग्राहक ज्ञान में अप्रामाण्य आ जाने से अभेद-ग्राहक ज्ञान में अप्रामाण्य आ जाता है, वैसे प्रतिषेध्यभूत रजतविषयक भ्रम-ज्ञान में अप्रामाण्य आ जाने पर 'नेदं रजतम्'—इस प्रकार के प्रतिषेध-ज्ञान में अप्रामाण्य नहीं आता। अन्यथा प्रतिषेध शास्त्र का ही सर्वथा विलोप हो जायगा।

समाधान—अभेद-श्रुति का धर्म्युपस्थापक प्रमाण अवश्य उपजीव्य है किन्तु न तो सर्वज्ञत्वादि-विशिष्ट पदार्थ उसका धर्मी है और न उसका उपस्थापक अभेद-श्रुति का

न्यायामृतम्

चेदं रूप्यमितिधीरपि धर्मिग्राहित्वेनैवोपजीव्या, धर्मिण इदमंशस्यापि नेदंरूप्यमिति प्रत्यक्षेणैव सिद्धेः। न च जीवोऽपि तत्त्वमस्यादिवाक्यसिद्धः, अप्राप्ते शास्त्रस्यार्थवत्त्वात्। अस्तु वेदं रूप्यमिति धीरपि धर्मिग्राहकत्वेनोपजीव्या, तथापि नेदमित्यत्रेदमंशमात्रं धर्मि, न तु रजतत्वविशिष्टम्, इदमंशमात्रे रूप्यत्वनिषेधेनैवेष्टसिद्धेः। एवं च यदुपजीव्यं तन्न बाध्यम्, इदमंशस्याबाधात्। यच्च बाध्यं रजतत्ववैशिष्ट्यम्, न तदुपजीव्यम्, रजतत्वविशिष्टस्याधर्मित्वात्। नन्वेवमैक्येऽपि ब्रह्मस्वरूपमात्रं धर्मि, न तु सार्वज्ञ्यादिविशिष्टम्। एवं च यदुपजीव्यं न तद्बाध्यं यच्च बाध्यं न तदुपजीव्यमिति चेत्, किं सार्वज्ञ्यादिना भावरूपेणासंसारित्वादिनाऽभावरूपेण वाऽसाधारणधर्मेण ब्रह्मोद्देश्यम्? चित्त्वादिना साधारणधर्मेण वा? स्वरूपेणैव वा? आद्ये सुस्थ उपजीव्यविरोधः। द्वितीये चित एव जीवैक्यं सिद्ध्येत्, न तु ब्रह्मणः। तच्च तवापि

अद्वैतसिद्धिः

ऐक्यज्ञानप्रामाण्ये नापेक्ष्यते, किंतु स्वरूपज्ञानप्रामाण्यमात्रम्। अन्यथा 'इदं रजत' मित्यस्यापि धर्मिज्ञानत्वेन उपजीव्यतया निषेधज्ञानप्रामाण्ये रजतत्वविशिष्टेदंज्ञानप्रामाण्यं स्यात्। रजतत्ववैशिष्ट्यस्य धर्मित्वाप्रयोजकत्ववत् सार्वज्ञ्यादिवैशिष्ट्यस्यापि तदप्रयोजकत्वस्य प्रकृतेऽपि समानत्वात्।

ननु—एवमसाधारणसार्वज्ञ्यादिधर्मावच्छेदेन ब्रह्मणोऽनुद्देश्यत्वे साधारणधर्मेण स्वरूपेण वा उद्देश्यता वाच्या, तत्राद्ये इष्टापत्तिः, चित्त्वादिसाधरणधर्मैक्यस्यास्माभिरप्यङ्गीकाराद्, द्वितीये ब्रह्मैक्यासिद्धिः, साधारणस्वरूपमात्रोद्देशादिति—चेन्न. ब्रह्मैक्यासिद्धिरित्यत्र ब्रह्मशब्देन सार्वज्ञ्यादिविशिष्टं चेदभिमतम्, तदेष्टापत्तिः, तदा

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उपजीव्य। वस्तु-स्थिति यह है कि यहाँ धर्मी केवल ब्रह्म है, अतः सर्वज्ञत्व-विशिष्टरूप धर्मिविषयक ज्ञानगत प्रामाण्य अभेद-ज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य में अपेक्षित नहीं, किन्तु केवल ब्रह्मस्वरूपविषयक ज्ञानगत प्रामाण्य अपेक्षित है, अन्यथा 'नेदं रजतम्'— इस ज्ञान का भी रजत्व-विशिष्ट रजत धर्मी माना जा सकता है और उसका उपस्थापक 'इदं रजम्'— यह ज्ञान प्रमाण हो जायगा, क्योंकि उसके उपजीवक 'नेदं रजतम्'—इस निषेध ज्ञान में प्रामाण्य निश्चित है, वह धर्मिज्ञान में प्रामाण्य के विना सम्भव नहीं। अतः यह मानना होगा कि जैसे दृष्टान्त में रजतत्व-वैशिष्ट्य धर्मिता का प्रयोजक नहीं, वैसे ही प्रकृत में सर्वज्ञत्वादि का वैशिष्ट्य भी धर्मिता का नियामक नहीं होता।

शङ्का—'सर्वज्ञं ब्रह्म जीवाभिन्नम्'—इस प्रकार सर्वज्ञत्वादि असाधारण धर्मावच्छेदन ब्रह्म यदि उद्देश्य नहीं, तब या तो चेतनत्वादि साधारण धर्म से ब्रह्म को उद्देश्य बनाना होगा या कि स्वरूपतः। चेतनत्वरूप साधारण धर्म से जीव और ब्रह्म की एकता हम (द्वैती) भी मानते हैं, क्योंकि ब्रह्म भी चेतन है और जीव भी। द्वितीय पक्ष में ब्रह्म की एकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि आप लक्ष्यभूत शुद्ध चैतन्य रूप से ही ब्रह्म को उद्देश्य बनाते हैं।

समाधान—आप (द्वैती) का जो यह कहना है कि 'ब्रह्मैक्यासिद्धिः'—यहाँ पर 'ब्रह्म' शब्द से यदि सर्वज्ञत्व-विशिष्ट ब्रह्म अभिमत है, तब हमें भी इष्टापत्ति है, क्योंकि 'तत्' और 'त्वम्' पद के द्वारा लक्षित शुद्ध चैतन्यरूप पदार्थों का ऐक्य ही प्रतिपादित है, सर्वज्ञत्वादि-विशिष्ट का नहीं।

न्यायामृतम्

सम्मतम् । न तृतीयः, शब्देनासाधारणब्रह्मस्वरूपोद्देशस्यासाधारणधर्मेण । विनाऽसिद्धयोपजीव्यविरोधतादवस्थ्यात् । साधारणस्वरूपोद्देशे च ब्रह्मैक्यासिद्धेः ।

एतेन न सार्वज्ञ्यादिवाक्यसिद्धं ब्रह्म धर्मि, किं तु निर्गुणादिवाक्यसिद्धमिति निरस्तम् , तत्सिद्धस्याप्युक्तपक्षाबहिर्भावात् । निर्गुणादिवाक्येनापि धर्मिग्राहकविरोधेन गुणनिषेधासम्भवाच्च । एतेन सार्वज्ञ्याद्युपलक्षितो धर्मीति निरस्तम् , जोवव्यावृत्तब्रह्मत्वस्योपलक्ष्यतावच्छेदकत्वे धर्मिग्राहकविरोधात् । चित्त्वस्य तत्त्वे सिद्धसाधनात् । सोऽयं देवदत्त इत्यादौ तु तत्ताविशिष्ट एवोद्देश्यः । यद्धत्तया ज्ञात एव यदन्वयधीः तत्त्वरूपस्य विशेषणत्वस्य तत्तादौ सम्भवादित्युक्तम् । न च प्रकृतेऽपि संसारित्वेन ज्ञाते ब्रह्मैक्यधीः, तज्ज्ञानस्य प्रमात्वे ब्रह्मैक्यायोगात् । भ्रमत्वे चोपजीव्यस्योपजीवकेन बाधापातात् । (पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपती) त्यात्राधिष्ठानलक्षणायामपि न दोषः । तत्र तुषोपवापस्यान्यतोऽप्राप्त्या तत्र तुषोपवापविधानेनैवष्ट-

अद्वैतसिद्धिः

त्वमा च लक्षितयोरेव पदार्थयोरैक्यबोधस्य प्राक् प्रतिपादितत्वात् । अत एव—शब्देन असाधारणब्रह्मस्वरूपोद्देशस्यासाधारणधर्मेण विनाऽसिद्धेरुपजीव्यविरोधतादवस्थ्यमिति—निरस्तम् , असाधारणधर्मस्य उद्देश्यसमर्पणे उपलक्षकत्वात् । न च—उपलक्ष्यतावच्छेदकाभावे उपलक्ष्यत्वासिद्धिः, चित्त्वस्य तत्त्वे सिद्धसाधनादिति—वाच्यम् , स्वरूपोपलक्षण उपलक्ष्यतावच्छेदकस्यानपेक्षणात् । यत्तु चित्त्वेनैक्ये सिद्धसाधनम् , तन्न, चित्त्वैक्यस्येष्टत्वेऽपि तदाश्रयैक्यस्य तवानिष्टत्वाद् , इष्टौ चाविवादात् । अत एव—'पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपतीत्यत्राधिष्ठानलक्षणायां अन्यतोऽ

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यह जो कहा गया है कि असाधारण ब्रह्मस्वरूप को सर्वज्ञत्वादि असाधारण धर्म के बिना उद्देश्य नहीं बनाया जा सकता, अतः सर्वज्ञत्व-विशिष्ट ब्रह्मोपस्थापकरूप उपजीव्य का विरोध पूर्ववत् ही विद्यमान है ।

वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि असाधारण धर्म उद्देश्यता-समर्पण में उपलक्षक मात्र रहता है, विशेषण नहीं । फिर भी चित्त्वादि उपलक्ष्यतावच्छेदक के बिना उपलक्ष्यत्व कैसे बनेगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वस्तु का स्वरूप जहाँ उपलक्षित होता है, वहाँ उपलक्ष्यतावच्छेदक की आवश्यकता नहीं होती, अतः एव 'चित्त्व' धर्म को उपलक्ष्यतावच्छेदक मानकर जो सिद्धसाधनता का उद्भावन किया, वह भी नहीं हो सकता । यह जो कहा कि चित्त्वरूप से ब्रह्म और जीव का ऐक्य विवक्षित होने पर सिद्धसाधनता है । वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि आप (द्वैती) 'चित्त्व' धर्म को ही एक मानते हैं, उनके आश्रयीभूत जीव और ब्रह्म को एक नहीं मानते । यदि उन्हें भी एकरूप मान लें, तब हमारा और आप का कोई विवाद ही नहीं रह जाता ।

यह जो कहा गया कि जैसे "पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति"—यहाँ पर पुरोडाश पकाने के लिए रखे गये कपाल में तुषोपवाप (धान की भूसी भरना) किया जाता है । [वहाँ सन्देह यह है कि भूसी भरते समय या उससे पहले पुरोड का कपाल में पाक नहीं होता, अपितु भविष्य में पुरोडाश-श्रपण होगा, अतः तुषोपवाप के समय कपाल को पुरोडाशकपाल कैसे कहा जा सकता है ? इस सन्देह का (जै. सू. ४।१।२६ में) समाधान

न्यायामृतम्

सिद्धिः । इह तु चितो जीवैक्येन नेष्टसिद्धिः ।

एवं च—चिताचिदैक्यं सिद्धं नः सार्वज्ञ्यादिविशिष्टयोः ।
ऐक्यं तु धर्मिग्राहिभ्यां श्रुत्याक्षाभ्यां विरुध्यते ॥

अन्यथा परमाणुः सावयवः, ईश्वरोऽसर्वज्ञः आदित्यो यूप इत्यादावप्युजीव्यविरोधो न स्यात् । उत्पत्तिशिष्टगुणविरुद्धगुणविधेरुत्पत्तिवाक्यविरोधश्च न स्यात् । तत्रापि परमाणुत्वादिविशिष्टो न धर्मी, किं तु स्वरूपमात्रमिति सुवचत्वात् । निरवयवत्वा·

अद्वैतसिद्धिः

प्राप्ततुषोपवापविधानरूपेष्टसिद्धिवदत्र न लक्षणयाभीष्टसिद्धिः, येन लक्षणा स्यादिति—निरस्तम् , चित्त्वैक्यस्य प्राप्तत्वेऽपि आश्रयैक्यस्याप्राप्तस्य लक्षणाप्रापणीयस्य सत्त्वात् , सोऽयमित्यत्रापि उक्तप्रकारस्यावश्यवाच्यत्वात् । न च— तत्ताविशिष्टस्य तत्रोद्देश्यता यद्वत्तया ज्ञात एव यदन्वयधीः, तत्वस्य विशेषणत्वस्य तत्तादौ संभवादिति—वाच्यम् , दत्तोत्तरत्वात् ।

ननु- एवं परमाणुः सावयवः, ईश्वरो न सर्वज्ञः, आदित्यो यूप इत्यादावुपजीव्यविरोधो न स्याद् , उत्पन्नशिष्टगुणविधौ सगुणोत्पत्तिवाक्यविरोधश्च न स्यात् , तत्रापि परमाणुत्वादिविशिष्टं न धर्मी, किंतु स्वरूपमात्रमिति सुवचत्वादिति—चेन्न,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

किया गया है कि 'पुरोडाश' पद एक कपालस्वरूप का उपलक्षक है; अतः] वहाँ पुरोडाश की लक्षणा कर लेने पर अन्यतः अप्राप्त तुषोपवापरूप कार्य का विधान हो जाता है, किन्तु तत्त्वमसि—यहाँ पर 'तत्' पद की चैतन्यमात्र में लक्षणा कर लेने पर भी चित्त्वगत एकत्व अन्यतः प्राप्त होने के कारण विहित नहीं हो सकता, अतः जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध नहीं होती, अतः लक्षणा का आश्रयण व्यर्थ है ।

वह कहना भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि 'चित्त्व' धर्म की एकता अन्यतः प्राप्त होने पर भी उनके आश्रयीभूत पदार्थों की एकता प्राप्त नहीं, उसी का लक्षणापुरःसर विधान किया जा सकता है । 'सोऽयम्'—यहाँ पर भी लक्षणापूर्वक एकत्व-विधान की प्रणाली अपनाई जाती है ।

शङ्का—तत्ता-विशिष्ट पदार्थ को उद्देश्य कर जीवैकत्व का विधान मानने पर तत्ता को उपलक्ष्यतावच्छेदक मानना होगा, क्योंकि यह नियम है—'यद्वत्तया ज्ञाते यदन्वयधीः, तस्य तत्र विशेषणत्वम् ।'

समाधान—इस शङ्का का पहले ही उत्तर दिया जा चुका है कि यहाँ लक्षणा विशिष्ट पदार्थ में नहीं की जाती, अपितु वस्तु के स्वरूप में की जाती है, अतः यहाँ उपलक्ष्यतावच्छेदक की आवश्यकता नहीं ।

शङ्का—यदि 'तत्त्वमसि'—यहाँ पर उपजीव्य-विरोध नहीं होता, तब 'परमाणुः सावयवः', 'ईश्वरो न सर्वज्ञः', 'आदित्यो यूपः'—इत्यादि स्थलों पर भी उपजीव्य-विरोध नहीं होगा, अतः वहाँ गौणी वृत्ति आदि का आश्रयण व्यर्थ हो जाता है । इसी प्रकार 'वैश्वदेवेन यजेत" (तै. ब्रा. १।४।१०) यहाँ पर उत्पन्न आग्नेयादि कर्मों के उद्देश्य से वैश्वदेवरूप देवता का विधान करने में वैश्वदेवीमामिक्षाम्" (मै. सं. १।१०।१) इत्यादि सगुणोत्पत्ति-वाक्यों का विरोध भी न होगा, क्योंकि यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि परमाणुत्वादि-विशिष्ट को धर्मी नहीं माना जाता, किन्तु स्वरूप मात्र को, विशिष्ट में ही सावयत्वान्वय का विरोध होता है, स्वरूप मात्र में नहीं ।

न्यायामृतम्

दिना विना परमाण्वादेर्धर्मिकरणमेव न सिद्ध्यतीति चेत्, समं प्रकृतेऽपि। सर्वज्ञत्वादिना विनेश्वरस्यापि धर्मिकरणासिद्धेः। आरोपितेन सार्वज्ञ्यादिना व्यावृत्तं धर्मीति चेत्, तत्राप्यारोपितेन निरवयवत्वादिना व्यावृत्तो धर्म्यस्तु। निरवयवत्वादिग्राहिणः प्रमाणत्वान्न तथेति चेत्समं प्रकृतेऽपि। एतेनैक्यश्रुतेर्जीवान्यद् ब्रह्म नास्तीत्यत्र तात्पर्यमिति निरस्तम्, निरीश्वरवादान्तर्भावेन बहुश्रुतिविरोधात्। यदि तु सार्वज्ञ्यासार्वज्ञ्यादिके विरुद्धधर्मे सत्यपि चित्त्वादिनैक्यं विवक्षितम्, तन्ममापि सम्मतम्। एतेनैक्यश्रुतेर्लक्षणया चिन्मात्रपरत्वेनैक्यपरत्वाभावान्न तस्या धर्मिग्राहकत्वेन श्रुत्यादिकमुप-

---

अद्वैतसिद्धिः

परमाण्वादेः स्वरूपेणापि सावयत्वादिकं प्रति धर्मित्वे परमाणुत्वादिकं धर्मिसमानसत्ताकं परमाण्वादौ न स्यात्, तदीयसमसत्ताकत्वस्य तत्सावयवत्वबोधकप्राबल्याधीनत्वात्, तत्प्राबल्येऽनुमानाभावात्, प्रत्युत भ्रान्तवाक्यत्वेन दुर्बलत्वात्। आदित्यो यूप इत्यत्राभेदो न प्रमेयः, स्तुतिद्वारान्यशेषत्वात्, स्तुतेश्च प्रत्यक्षाविरुद्धैर्गुणैरपि संभवे प्रत्यक्षविरुद्धार्थकल्पनायोगाद्, उत्पन्नशिष्टगुणविधौ तूत्पत्तिवाक्यस्थितामिक्षादिपदस्य द्रव्यसामान्यपरत्वे तत्पदवैयर्थ्यापत्तिः, 'तद्धितार्थान्तर्गतास्येति सर्वनाम्ना यजतिचोदनाद्रव्यदेवताक्रियमिति न्यायेन यागचोदनमात्रेण च द्रव्यसामान्यलाभात्, प्रकृते अनन्यशेषतया प्रबलत्वात् प्रमाणवाक्यत्वाच्च तद्विरोध्यैक्यप्रतिपादकतया स्वरूपलक्षणाया युक्ततमत्वाच्च।

ननु—रूप्यरूपनिषेध्यार्पकस्यापेक्षितस्यापि परीक्षितत्वाभावाद्, यद्यपि दुर्बल-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—परमाण्वादि यदि स्वरूपतः भी सावयवत्वादि के प्रति धर्मी माने जाते हैं, तब भी धर्मिसमानसत्ताक परमाणुत्वादि नहीं रह सकेगा, क्योंकि परमाणुत्व में धर्मिसमसत्ताकत्व सावयवत्व-बोधक वाक्य के प्राबल्य पर आश्रित है। उसका प्राबल्य होने पर परमाणुः सावयवः—यह अनुमान नहीं हो सकेगा, प्रत्युत भ्रान्त वाक्य हो जाने के कारण दुर्बल है। आदित्यो यूपः'—यहाँ पर यूप और आदित्य का अभेद प्रमेय नहीं, क्योंकि यह वाक्य स्तुति के द्वारा पशुयाग का स्तावकरूप अङ्ग माना जाता है, स्तुति तो प्रत्यक्षाविरुद्ध गुणों के द्वारा भी हो सकती है, प्रत्यक्ष-विरुद्ध अर्थ की कल्पना सम्भव नहीं। उत्पन्नशिष्ट गुणों के विधान में उत्पत्ति वाक्यस्थ आमिक्षादि पदों को द्रव्यमात्रपरक मानने पर व्यर्थ ही मानना पड़ता है, क्योंकि 'विश्वेदेवा देवता अस्या'—इस तद्धितार्थ-व्युत्पत्ति के नियामक "सा अस्य देवता' (पा. सू.४।२।२४) इस सूत्र में 'अस्य'—इस सर्वनाम पद के द्वारा "यजतिचोदनाद्रव्यदेवताक्रियम्" (जै. सू. ४।२।२७) इस न्याय के आधार पर याग के नाम मात्र से द्रव्य सामान्य का लाभ हो ही जाता है, क्योंकि किसी देवता के उद्देश्य से द्रव्य के त्याग का ही नाम याग है, अतः 'यजति' के श्रवण मात्र के द्रव्य देवता और क्रिया का लाभ हो जाता है, फलतः 'आमिक्षा' पद से द्रव्य सामान्य की उपस्थिति व्यर्थ है। प्रकृत में "तत्त्वमसि"—यह वाक्य किसी अन्य का शेष नहीं, प्रबल है और प्रमाण वाक्य है, अतः विरोधी अर्थों की एकता के लिए लक्षणा का होना परम आवश्यक है।

शङ्का—रजतरूप निषेध्य अर्थ का समर्पक इदं रजतम—यह ज्ञान अपेक्षित (उपजीव्य) होने पर भी परीक्षित न होने के कारण दुर्बल है, अतः उपजीव्यत्वमात्र

न्यायामृतम्

जीव्यं न वा तद्विरोध इति निरस्तम्, इष्टापत्तेः। यद्वा येन विना यस्यानुत्थानम्, तत्तस्योपजीव्यम्, इदं रूप्यमितिधीश्च प्रतिषेध्यार्पकतयोपजीव्यैव, तथापि न दोषः, न ह्युपजीव्यत्वमेव प्राबल्ये तन्त्रम्, किं तु परीक्षितत्वविशिष्टम्। न चाविशिष्टस्य व्यभिचाराद्विशिष्टमप्रयोजकं भवति। परीक्षा च न तावत्प्रतिषेध्यार्पकशुक्तिरूप्याभेदज्ञानांशेऽस्ति, त्वन्मतेऽपि तस्य व्यावहारिकप्रामाण्यापातात्। इह तु निषेध्यार्पिकापि भेदश्रुतिः साक्षिप्रत्यक्षं च निर्दोषत्वात्परीक्षितम्। इत्थमेव च दोषाभावादिज्ञानरूपपरीक्षायामनाश्वासे प्रमाणतदाभासव्यवस्था न स्यादित्युक्तं प्रत्यक्षप्राबल्यप्रस्तावे। यद्यपि धर्म्यर्पके इदंज्ञानांशे परीक्षितत्वविशिष्टमुपजीव्यत्वमस्ति, तथापि न तद्बाध्यमित्यनुपदमेवोक्तम्। तदुक्तम्—

भ्रमेऽप्यभ्रमभागोऽस्ति तन्मात्रमुपजीव्यतु।
बाधकज्ञानवृत्तिः स्यान्न चैवं सुपरीक्षितः॥ इति।

अद्वैतसिद्धिः

त्वम्, उपजीव्यत्वमात्रस्य प्राबल्याप्रयोजकत्वात्, तथापीह निषेध्यार्पकभेदश्रुतिः, साक्षिप्रत्यक्षं च निर्दोषत्वात् परीक्षितमपि प्रबलं तद्विरोधात् कथमैक्यपरत्वमिति—चेन्न, निर्दोषाया अपि श्रुतेः भेदपरत्वस्यैवाभावेन तद्विरोधस्यैक्यश्रुतावसंभावितत्वात्। न हि श्रुतेरुपक्रमादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गशून्यार्थपरत्वम्, तन्नियामकाभावात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्, साक्षिणोऽपि निर्दोषत्वमात्रेण परीक्षतत्वाभावाद्, दुःखाभावादावारोपितसुखादेरपि प्रामाणिकत्वापत्तेः, मन्मते प्रातिभासिकमात्रस्य साक्षिसिद्धस्य मिथ्यात्वात्, सक्षिणोऽपि निर्दोषजवृत्त्युपरक्तत्वेनाबाध्यत्वासिद्धेरुक्तत्वाच्च। प्रमाणतदभावव्यवस्थापि प्रातिभासिकव्यावहारिकयोः करणसंसर्गिदोषप्रयुक्तत्वाप्रयुक्तत्वाभ्याम्, व्यावहारिकस्य चैतन्यमात्रस्थाज्ञानदोषप्रयुक्तत्वात्। तस्मादुपजीव्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्राबल्य का कारण नहीं माना जा सकता। तथापि प्रकृत में भेदरूप निषेध्यार्थ की उपस्थापिका भेद-श्रुति और साक्षिप्रत्यक्ष सर्वथा निर्दोष और परीक्षित होने के कारण प्रबल हैं, इनका विरोध रहने पर 'तत्त्वमसि'—इत्यादि वाक्यों को ऐक्यपरक क्योंकर माना जा सकता है ?

समाधान—श्रुति निर्दोष है, तथापि वह भेदपरक न होने के कारण ऐक्य-श्रुति का विरोध नहीं कर सकती, क्योंकि जिस अर्थ में उपक्रमादि षड्विध लिङ्गों का अभाव है, उस अर्थ में श्रुति का परम तात्पर्य कभी नहीं हो सकता, अन्यथा 'असद्वा इदमग्र आसीद्'—इत्यादि वाक्यों को भी शून्यवादपरक कहा जा सकेगा। फलतः भेद-श्रुति का परम तात्पर्य तात्त्विक भेद के प्रतिपादन में कभी नहीं हो सकता। साक्षी यद्यपि निर्दोष है, तथापि उसे परीक्षित नहीं कहा जा सकता, अन्यथा दुःखाभावादि में आरोपित सुखादि भी साक्षिसिद्ध होने के कारण प्रामाणिक हो जाएँगे, हमारे (अद्वैत) मत में प्रातिभासिक मात्र साक्षिसिद्ध होने पर भी मिथ्या माना जाता है और यह भी कहा जा चुका है कि साक्षी प्रत्यक्ष में भी अनिर्दोषज वृत्ति की उपरक्तता के कारण अबाध्यत्व सिद्ध नहीं होता। प्रातिभासिक में अप्रमाणता और व्यावहारिक में प्रमाणता का व्यवहार भी करण-सम्बन्धी दोषों की प्रयोज्यता और अप्रयोज्यता के आधार पर होता रहता है। व्यावहारिक पदार्थमात्र चैतन्यस्थ

न्यायामृतम्

तस्मादुपजीव्यविरोधाद्—

उत्पत्तिवाक्यविज्ञातं कर्म सर्वमनूद्यते ।
न चाश्रितगुणे शक्यं तद्विरोधि गुणान्तरम् ॥

इति वार्तिकोक्तरीत्या आमिक्षावाक्योपजीवकस्य वाजिनवाक्यस्य तद्विरोधिगुणविधायकत्ववत् प्रत्यक्षोपजीवकस्य "यजमानः प्रस्तर" इत्यादेस्तद्विरुद्धयजमानत्वबोधकत्ववच्च "तत्त्वमस्या" दि वाक्यस्य नैक्यबोधकता युक्ता । तदुक्तम्—

यजमानप्रस्तरत्वं यथा नार्थः श्रुतेर्भवेत् ।
ब्रह्मत्वमपि जीवस्य प्रत्यक्षस्याविशेषतः ॥ इति

यजमानप्रस्तारादिवाक्यादैक्यश्रुतेर्वैषम्यशंका तु प्रत्यक्षस्य शब्दाबाध्यत्वप्रस्तावे निरस्ता । नैवं भेदश्रुतेरैक्यश्रुतिरुपजीव्या, धर्मिणो जीवस्य प्रत्यक्षेण ईश्वरस्य च सर्वज्ञादिवाक्ये शब्दधीप्रामाण्यादेश्च प्रत्यक्षेणैव सिद्धेः । तस्य च सर्वस्य भेदानुगुणत्वात्प्रतिषेध्यार्पकविरोधस्य च प्रतिषेधशास्त्रप्रामाण्यानापादकत्वादित्युक्तत्वात् । श्रुतिं विनैवैक्यप्राप्तेर्वक्ष्यमाणत्वाच्च । ऐक्यश्रुतेस्तु निषेध्यप्रसक्तिर्भेदश्रुतिप्रत्यक्षाभ्यामेव । त्वत्पक्षे हि भेदश्रुतिरपि निषेध्यार्पिकैव, न तु सत्यचिन्मात्रपरा, तत्त्वावेदकत्वापत्तेः । निषेध्यार्पकमपरीक्षितं चेन्न बाध्यमित्युक्तम् । एतेन—

अभेदं नोल्लिखन्ती धीनं भेदोल्लेखनक्षमा ।
तथा चाऽऽद्ये प्रमा सा स्यान्नान्त्ये स्वापेक्ष्यवैशसात् ॥

इति निरस्तम् । तदुक्तं नोपजीव्यो ह्यभेदोऽत्र कचिद्भेदश्रुतेर्बलादिति ।

ऐक्यश्रुतेरुपजीव्यबाधः ॥ २८ ॥

अद्वैतसिद्धिः

विरोधाभावात् , प्रत्युताभेदश्रुतेरेव सर्वशेषितया भेदश्रुतिं प्रत्युपजीव्यत्वाद् भेदश्रुतेरेव तद्विरोधेन तदनुकूलतया नेयत्वात् सर्वविरोधशून्यं तत्त्वमस्यादिवाक्यम् । तथा चैक्यपरमिति सिद्धम् ॥

इत्यैक्यश्रुतेरुपजीव्यविरोधाभावः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अज्ञानरूप दोष से प्रयुक्त होता है । फलतः उपजीव्य-विरोध का अभाव है, भेद-श्रुति उपजीव्य भी नहीं, प्रत्युत अभेद-श्रुति ही सभी श्रुतियों की अपेक्षा शेषी या प्रधान होने के कारण भेद-श्रुति की भी उपजीव्य है, अतः भेद-श्रुति का अभेद-श्रुति के अनुकूल अर्थ करना होगा, फलतः 'तत्त्वमसि'—इत्यादि महावाक्य सर्वथा विरोध-रहित होकर अभेदपरक होते हैं—यह सिद्ध हो गया ।

: २९ :

तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थविचारः

न्यायामृतम्

किं च त्वन्मते पदद्वये लक्षणा, ततो वरं मद्रीत्यैकस्मिंस्तत्पदे त्वंपदे वा अमुख्यवृत्तिः। तथा हि—तत्साहचर्यात्तदितिव्यपदेशः। "वसन्तादिभ्यष्ठक्" इत्यत्र "साहचर्यात्ताच्छब्द्यं भविष्यति वसन्तसहचरितमध्ययनं वसन्त" इति महाभाष्योक्तेः। प्रसिद्धं च जीवस्य ब्रह्मसहचरितत्वं द्वा सुपर्णेत्यादौ। यद्वा तदाश्रितत्वात्तदितिव्यपदेशः। (समर्थः पदविधि) रित्यत्र समर्थपदाश्रितत्वात्पदविधिरुपचारेण समर्थ इति पदेनोच्यत इति महाभाष्योक्तेः, "सर्वाः प्रजाः सदायतना" इति

अद्वैतसिद्धिः

ननु—एवं पदद्वयेऽपि लक्षणा स्यात्, तथा च मन्मतमाश्रित्य एकपदलक्षणैवाश्रयणीया। तथा हि—'द्वा सुपर्णा सयुजे'त्यादौ जीवस्य ब्रह्मसाहचर्योक्तेस्तत्साहचर्यात्तदिति व्यपदेशः, 'वसन्तादिभ्यष्ठगि'त्यत्र वसन्तसहचरिते अध्ययने वसन्तपदप्रयोगस्य महाभाष्ये उक्तत्वात्, 'सन्मूलाः प्रजाः सदायतना'इत्यादिवाक्यशेषात्। प्रसिद्धतदाश्रितत्वाद्वा तदिति व्यपदेशः, 'समर्थः पदविधि'रिति सूत्रे समर्थपदाश्रितत्वेन पदविधिः समर्थपदप्रयोगस्य महाभाष्योक्तेः, 'सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सर्वा'-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैती—आप (अद्वैती) 'तत्त्वमसि' में उभय पद-लक्षणा मानते हैं, उससे हमारी एकपद-लक्षणा लघु है—

(१) **तत्सहचरितत्वात्**—"सहचरणस्थानेत्यादि" न्याय सूत्र (२।२।६१) के अनुसार 'तत्त्वमसि' का अर्थ "तत्सहचरितस्त्वमसि'—ऐसा किया जा सकता है, क्योंकि "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया"—इत्यादि श्रुति-वाक्य जीव को ब्रह्म का सहचारी बताते हैं। तत्सहचरित में तद्व्यपदेश वैसे ही हो जाता है, जैसे 'वसन्तादिभ्यष्ठक्" (पा. सू. ४।२।६३) इस सूत्र में वसन्त-सहचरित वसन्त-वर्णनपरक ग्रन्थ के लिए 'वसन्त' पद का प्रयोग माना गया है। महाभाष्यकार कहते हैं—"अयुक्तोऽयं निर्देशः, तदधीते वेदेति च वर्तते, न च वसन्तो नामाध्ययनमस्ति। नैष दोषः, साहचर्यात् ताच्छब्द्यं भविष्यति" अर्थात् "तदधीते वेद वा'—इस अधिकार में 'वसन्त' पद के उत्तर 'ठक्' प्रत्यय का विधान किया गया है—वसन्तमधीते वेद वा 'वासन्तिकः', किन्तु 'वसन्त' पद काल-विशेष का वाचक है, किसी अध्ययनीय ग्रन्थादि का नहीं, अतः 'वसन्त' पद का औपचारिक प्रयोग वसन्त-वर्णनपरक ग्रंथ के लिए तत्साहचर्यात् किया गया है। प्रतिपाद्य और प्रतिपादक (वाक् और अर्थ) का औत्पत्तिक (नित्य) सहचार माना गया है। फलतः प्रकृत में केवल 'तत्' पद की तत्सहचरित में लक्षणा करके अर्थ किया जाता है—'ब्रह्मसहचरितस्त्वमसि'।

(२) **तदाश्रितत्वाद्वा**—"सन्मूलाः प्रजाः सदायतनाः" (छां. ६।८।४) इस वाक्य शेष के आधार पर यह निश्चित होता है कि जीवादि प्रजा सद्रूप ब्रह्म के आश्रित है, अतः ब्रह्म के आश्रित होने के कारण जीव को वैसे ही ब्रह्मस्वरूप कह दिया है, जैसे कि "समर्थः पदविधिः" (पा. सू. २।१।१) इस सूत्र में समर्थ पद के आश्रित समासादि विधेय पदार्थों को समर्थ कह दिया गया है [उक्त सूत्र में वार्तिक के माध्यम से आक्षेप और समाधान किया गया है—"समर्थाधिकारस्य विधेयसामानाधिकरण्यात्

न्यायामृतम्

वाक्यशेषाच्च । अथवा "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीदि"त्यादिवत् ततो जातत्वात्तदितिव्यपदेशः । "इग्यणः सम्प्रसारणम्"—इत्यत्र यथा काकाज्जातः काकः श्येनाज्जातः श्येनः, एवं संप्रासारणाज्जातो वर्णः सम्प्रसारण" मिति महाभाष्योक्तेः । "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजा" इति वाक्यशेषाच्च ।

ब्राह्मणो मुखमित्येव मुखाज्जातत्वहेतुतः ।
यथावदच्छ्रुतिस्तद्वज्जीवो ब्रह्मेतिवाग्भवेत् ॥ इति स्मृतेश्च

अथवा "धान्यमसि धिनुही" त्यत्र तण्डुले धान्यशब्दवत् तदधीनत्वात्तदितिव्यपदेशः, "प्राणबन्धनं हि सोम्य मन" इति वाक्येशेषे जीवस्येशाधीनत्वोक्तेः । "यदधीना यस्य सत्ता तत्तदित्येव भण्यत" इति भारतोक्तेश्च ।

अद्वैतसिद्धिः

इति वाक्यशेषात् । प्रसिद्धतज्जत्वाद्वा तत्पदप्रयोगः, 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासी'दित्यादिवत् , 'इग्यणः संप्रसारण'मित्यत्र संप्रसारणाज्जातो वर्णः संप्रसारणमिति भाष्योक्तेः । 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मन'इति वाक्यशेषेण जीवस्येशाधीनत्वोक्त्या तदधीनत्वाद्वा तच्छब्दप्रयोगः, 'धान्यमसि धिनुहि'इत्यत्र मन्त्रे तण्डुले धान्यपदप्रयोगवत् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

निर्देशोऽनर्थकः, सिद्धं तु समर्थानामिति वचनात्" । इस की व्याख्या में आचार्य कैयट कहते हैं—'समर्थानां यः समासः, स समर्थ एव, योऽप्यसमर्थानां 'भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्ये'त्यादौ, सोऽपि नियमाभावान्निर्वृत्त एव । तस्यासमर्थस्यापि अनेन समर्थवचनेन न किञ्चित् क्रियते, निष्पन्नत्वाल्लक्षणान्तरेण साधुत्वव्यवस्थापनाच्च । 'अकिञ्चितकुर्वाणम्'—इत्यादयोऽप्यसमर्था नञ्समासाः परिगणने निरस्ता इति तदर्थमप्येतन्न भवति । [illegible]द्धं त्विति । समर्थ-पदसम्बन्धित्वात् पदविधिरुपचारात् समर्थशब्देनोच्यते" (महाभाष्य० पृ० ४८)] ।

(३) तज्जत्वाद्वा—तज्जत्व उपाधि को लेकर जैसे ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" (मा. सं. ३१।११) यहाँ ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण को मुख कह दिया गया है। "इग्यणः सम्प्रसारणम्" (पा. सू. १।१।४५) इस सूत्र में भाष्यकार ने कहा है—"यथा काकाज्जातः काकः, श्येनाज्जातः श्येनः एवं सम्प्रसारणाज्जाते सम्प्रसारणमिति (महाभाष्य पृ. ३९३) अर्थात् यण् (य, व, र, ल,) के स्थान में प्रयुक्त इक् (इ, उ, ऋ. लृ.) की सम्प्रसारण संज्ञा इस लिए है कि वह सम्प्रसारण से उत्पन्न है। इसी प्रकार तदर्थ से जनित त्वमर्थ को कह दिया गया है—तत् त्वमसि (ब्रह्मणो जातस्त्वमसि) ।

(४) 'तदधीनत्वाद्वा'—तदधीनत्व निमित्त को लेकर 'त्वम्' को तत् कह दिया गया है। तत्त्वमसि-महावाक्य के "प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः" (छां. ६।८।२) इस वाक्यशेष का भाष्य किया गया है—"प्राणोपलक्षितदेवताश्रयं मनः, तदुपलक्षितो जीवः" (शां. भा. पृ० ३६९) । अर्थात् जीव ब्रह्मरूप परदेवता के अधीन है, अतः जीव को वैसे ही ब्रह्म कह दिया गया है, जैसे "धान्यमसि धिनुहि देवान्" (मा. सं. १।२०) यहाँ पर चावलों को धान कह दिया गया है [कात्यायन श्रौत सूत्र (२।६) में कहा है—'धान्यमसीति तण्डुलानुप्य पिनष्टि" अर्थात् पुरोडाश बनाने के लिए सिल पर चावल रख कर 'धान्यमसि धिनुहि देवान्'—यह मन्त्र बोलते हुए पीसना चाहिए। चावलों में 'धान्य पद का प्रयोग इसी लिए हो गया है कि चावल धान के कार्य हैं, अधीन हैं] ।

न्यायामृतम्

अथवा अतिदेशोऽयं तद्वत्त्वमसीत्यर्थः । "बहुगणे"त्यादि सूत्रे बहुगणवतुडतयः संख्यावद्भवन्ति अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह तेन वयं मन्यामहे ब्रह्मदत्तवदयं भवतीति महाभाष्योक्तेः । "सारूप्यादि"ति जैमिनिसूत्रे "आदित्यो यूप" इत्यादिकं सादृश्यादित्युक्तत्वाच्च । "तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवदि"ति ब्रह्मसूत्रे ब्रह्मगुणयोगाज्जीवे तदिति व्यपदेश इत्युक्तत्वाच्च ।

भिन्नाज्जीवात् परो भिन्नस्तथापि ज्ञानरूपतः ।
प्रोच्यन्ते ब्रह्मरूपेण वेदवादेषु सर्वशः ॥

इति स्मृतेश्च । अन्यथा तत्त्वमसीति वाक्यमबोधकं स्यात् । यथोक्तं महाभाष्ये "यो गामश्व इति ब्रूयात् न जातुचित्संप्रत्ययः स्यादि"ति ।

अद्वैतसिद्धिः

तत्सादृश्याद्वा तत्पदप्रयोगः, सारूप्यादि'ति जैमिनिसूत्रे 'आदित्यो यूप'इत्यादिकं सादृश्यादित्युक्तत्वात् 'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञव'दित्यत्र ब्रह्मसूत्रे ब्रह्मगुणयोगाज्जीवे तद्व्यपदेश इत्युक्तेः, महाभाष्ये च बहुगणेत्यादिसूत्रे वतिं विनैव सङ्ख्यावदिति वत्यर्थो गम्यते । अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्तेत्याह तेन वयं मन्यामहे ब्रह्मदत्तवदयं भवतीत्युक्तेश्चेति—चेन्न, अभेदे तात्पर्येऽवधृते तन्निर्वाहकलक्षणाबाहुल्यस्यादोषत्वात् । न हि लक्षणैक्यानुरोधेन तात्पर्यपरित्यागः । तदुक्तं न्यायचिन्तामणौ—'तात्पर्यात्तु वृत्तिः, न तु वृत्तेस्तात्पर्य'मिति । जहदजहल्लक्षणया मुख्यपरत्वे संभवति तत्सहचरिताद्यर्थपरत्वकल्पनस्या-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(५) तत्सादृश्याद्वा—महर्षि जैमिनि के "सारूप्यात्" (जै. सू. १।४।२५) इस सूत्र में बताया गया है कि आदित्य के समान चमकीला होने के कारण यूप को आदित्य कह दिया गया है । उसी प्रकार ब्रह्म के सदृश चेतन होने के कारण जीव को ब्रह्म कह दिया गया है, अतः तत् त्वम् का अर्थ है—तत्सदृशस्त्वमसि । "तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्" (ब्र. सू. २।३।२९) इस सूत्र में निर्णय दिया गया है कि जीव ब्रह्म के समान विभुत्वादि गुणों से सम्पन्न होने के कारण ब्रह्मरूप कह दिया गया है । महाभाष्यकार ने भी "बहुगणवतुडतिसंख्या" (पा. सू. १।१।२३) इस सूत्र में कहा है—"अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते, तद्यथा—एष ब्रह्मदत्तः, अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह ते (वयं) मन्यामहे ब्रह्मदत्तवदयमिति ।" (महाभाष्य पृ० ३०७) । अतः 'तत् त्वम्' का यही अर्थ निश्चित होता है कि 'तद्वत्त्वमसि' ।

अद्वैती—तात्पर्य-ग्राहक लिङ्गों के आधार पर 'तत्त्वमसि' में अभेदपरकत्व का निश्चय हो जाने पर उसका निर्वाह करने के लिए जो उभय पद की लक्षणा की जाती है, वह कोई दोष नहीं, क्योंकि एकपद की लक्षणा करके तात्पर्य-विषयता को भंग नहीं किया जा सकता, जैसा कि न्याय तत्त्व चिन्तामणि में कहा है—"तात्पर्यात्तु वृत्तिः, न तु वृत्तेस्तात्पर्यम्" [तात्पर्य-ग्रह के अनुसार लक्षणादि वृत्तियों की कल्पना की जाती है, वृत्ति के अनुसार तात्पर्य का निर्णय नहीं किया जाता, अन्यथा अग्निर्माणवकः' में मुख्य वृत्ति के अनुरोध पर माणवक को अग्निरूप मानना ही होगा] । प्रकृत में तात्पर्य-ग्रह के अनुरूप जहदजहल्लक्षणा करके जब अभीष्ट अर्थ की सिद्धि हो जाती है, तब तत्सहचरितत्वादि निमित्तों की कल्पना सर्वथा अनुचित है । अभेदपरता मानने पर भी 'तत्त्वमसि'—इस वाक्य में बोधकता की अनुपपत्ति नहीं होती—यह

न्यायामृतम्

यद्वा शाखासदेशे चन्द्रे शाखाशब्दवत् जीवान्तर्यामितया जीवसदेशे ब्रह्मणि त्वमितिव्यपदेशः, "य आत्मनि तिष्ठन्नि"त्यादि श्रुतेः।
यद्वा "ब्राह्मणो वै सर्वा देवता" इत्यादिवत् जीवाश्रयत्वाद् ब्रह्मणि त्वमितिव्यपदेशः।

अद्वैतसिद्धिः

नुचितत्वाच्च। यथा अभेदपरत्वे न बोधकत्वानुपपत्तिः, तथोक्तं प्राक्। 'द्वा सुपर्णा सयुजा'इत्यादिना न जीवस्य ब्रह्मणा सहचरितत्वोक्तिः, किन्त्वन्तःकरणेनेति न तेन सहचरितत्वप्रसिद्धिरपि। न वा सन्मूलाः प्रजा इत्यादिना जीवस्य तदाश्रितत्वप्रसिद्धिः, प्रजाशब्दस्य प्रजायमानवाचकत्वेन जीवस्य नित्यस्याप्रतिपादनात्। अत एव न तज्जन्यत्वेनापि तच्छब्दप्रयोगः।

ब्राह्मणो मुखमित्येव मुखाज्जातत्वहेतुतः।
यथावदुच्यते तद्वज्जीवो ब्रह्मेति वाग्भवेत्॥

इति स्मृतिरप्यस्मृतिरेव, श्रुतिविरोधात्। यत्तु तद्गुणसारत्वादित्यादिना जीवे ब्रह्मगुणयोग उक्त इत्युक्तम्, तन्न, बुद्धिगुणसूक्ष्मत्वयोगात् जीवे ब्रह्मणीव सूक्ष्मत्वमित्येवंपरत्वात्सूत्रस्य। एतेन—शाखासदेशे चन्द्रे शाखेतिवत् जीवान्तर्यामितया जीवसदेशे ब्रह्मणि त्वमिति प्रयोगः, आत्मनि तिष्ठन्निति श्रुतेः, ब्राह्मणो वै सर्वा देवता इत्यादिवत्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पहले कहा जा चुका है।

"द्वा सुपर्णा सयुजा"—इत्यादि वाक्यों के द्वारा जीव में ब्रह्म-सहचरितत्व का प्रतिपादन नहीं किया गया, किन्तु जीव में अन्तःकरण का सहचरितत्व कहा गया है, ब्रह्म-सहचरितत्व की प्रसिद्धि भी नहीं। "सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः"—इस वाक्य के द्वारा भी जीव में ब्रह्माश्रितत्व अभिहित नहीं, क्योंकि यहाँ 'प्रजा' पद से जायमान पदार्थों का ग्रहण किया गया है, जीव नित्य है, अतः उसका ग्रहण नहीं हो सकता, अतः यह जो कहा कि ब्रह्मजन्यत्वेन जीव को ब्रह्म कहा गया, वह सम्भव नहीं। यह जो स्मृति-वाक्य उद्धृत किया जाता है—

ब्राह्मणो मुखमित्येव मुखाज्जातत्वहतुतः।
यथावदुच्यते तद्वज्जीवो ब्रह्मेति वाग्भवेत्॥

वह स्मृति भी श्रुति-विरुद्ध होने के कारण अप्रमाण है। 'तद्गुणसारत्वात्' (ब्र. सू. १।१,२३) इस सूत्र के द्वारा जो जीव में ब्रह्म के गुणों का सम्बन्ध स्थापित किया गया, वह अनुचित है, क्योंकि उस सूत्र में तद्गुणसारत्वात् का अर्थ है बुद्धिगुणसात्वात् अर्थात् बुद्धि के सूक्ष्मत्वादि गुणों का जीव में समन्वय होने के कारण जीव को ब्रह्म के समान सूक्ष्म कहा जाता है—इस अर्थ में उक्त सूत्र का तात्पर्य है।

यह जो कहा गया कि जैसे शाखा के समानदेश में अवस्थित चन्द्र के लिए 'शाखा चन्द्रः' कह दिया जाता है, वैसे ही जीव का अन्तर्यामी होने के नाते जीव के समानदेश में विद्यमान ब्रह्म के लिए त्वम् (तत् त्वम्) कह दिया गया है, श्रुति भी कहती हैं—"आत्मनि तिष्ठन्" (श. ब्रा. १४।५।५।३०)। ब्राह्मण में सभी देवताओं का निवास होने के कारण जैसे ब्राह्मणो वै सर्वा देवता'—ऐसा व्यवहार हो जाता है, वैसे ही जीव में व्याप्त होने के कारण ब्रह्म को जीवरूप कह दिया जाता है। अथवा ब्रह्म

न्यायामृतम्

यद्वा ब्रह्मणः सर्वकर्तृत्वाद् "यजमानः प्रस्तर" इत्यादिवत्तत्सिद्ध्या त्वमिति व्यपदेशः।
एवं च—

तदधीनत्वतादेश्यतात्स्थ्यताद्धर्म्यपूर्वकैः ।
निमित्तैस्तत्त्वमस्यादिसामानाधिकरण्यगीः ॥

न चैवं मुख्यार्थत्यागदोषः, अन्तर्यामिणि त्वमित्यादेर्मुख्यतया वक्ष्यमाणत्वात्। त्वद्रीत्या पदद्वयलक्षणातः मद्रीत्या एकपदलक्षणाया ज्यायस्त्वाच्च। किं च जहदजहल्लक्षणायां वाच्यान्तर्गतत्वेन प्राग्धीस्थस्याप्यनन्तरमनुपपत्तिदर्शनेन त्यक्तस्य पुनः स्वीकारः। जहल्लक्षणायां तु अधीस्थस्याप्यत्यक्तस्यैव स्वीकारः। त्यक्तस्वीकारादपि वरं अधीस्थस्वीकारः। एवं च—

एकस्यामुख्यवृत्त्यैव तत्त्वमित्यस्य सम्भवे ।
भेदेनैवैक्यपरतानेकलक्षणया कुतः ॥

न च सदेवेत्यादिवाक्ये लक्षणया प्रकृते शुद्धे प्रकृतवाचिनस्तत्पदस्याऽभिधवेति-वाच्यम्, शुद्धस्यावाच्यत्वात्। तदित्येकपदलक्षणानिरासाय "तदैक्षत तत्तेजोऽसृजते" त्याद्यनेकपदलक्षणायोगाच्च।

यद्वा सुपां सुलुगि"त्यादि सूत्रात् तृतीयाविभक्त्यादेर्लुक् प्रथमैकवचनादेशो वा।

अद्वैतसिद्धिः

जीवाश्रयत्वाद्वा ब्रह्मणः सर्वकर्तृत्वेन यजमानः प्रस्तर इत्यादिवत् तत्सिद्ध्या वा ब्रह्मणि त्वमिति व्यपदेश इति—निरस्तम्।

ननु—जहदजहल्लक्षणायां वाच्यान्तर्गतत्वेन प्राग्धीस्थस्य बाधकात् त्यक्तस्य पुनः स्वीकारः, जहल्लक्षणायां अधीस्थस्यात्यक्तस्यैव स्वीकारः त्यक्तस्वीकाराद्वरमधीस्थस्य स्वीकार इति—चेन्न, अनुपपत्त्या विशेषणत्यागेऽपि विशेष्यांशात्यागात्। एतेन—तच्छब्दात् परतृतीयादिविभक्तेः सुपां सुलुगित्यादिना प्रथमैकवचनादेशो वा लुग्वा, तथा च तेन त्वं तिष्ठसीति वा, ततः सञ्जात इति वा, तस्य त्वमिति वा, तस्मिन्

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जीव का आश्रय है या जीव के सब कार्यों का साधक है, अतः तत्सिद्धिपेटिका (जै. सू. १।४।१३) में कथित तत्सिद्धि (तत्कार्यकारित्व) आदि गौणी वृत्ति के निमित्तों को लेकर 'यजमानः प्रस्तरः'—इत्यादि के समान ब्रह्म को त्वम् (जीवरूप) कह दिया है।

वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि मुख्यरूप से जब अभेद-व्यवहार सम्पन्न हो जाता है, तब गौण रूपों की कल्पना सर्वथा अनुचित है।

शङ्का—जहदजहल्लक्षणा में तदादि पदों के वाच्यार्थ के अन्तर्गत होने के कारण बुद्धिस्थ तद्देशकाल-विशिष्ट वस्तु का प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा बाध हो जाने से त्याग और 'अयम्' पद के श्रवण से फिर उसी अर्थ का ग्रहण करना पड़ता है, उसकी अपेक्षा केवल जहल्लक्षणा में अबुद्धिस्थ और अत्यक्त तीरादि पदार्थ का ग्रहण मात्र होता है, अतः अजहल्लक्षणा ही उचित है।

समाधान—विशिष्ट पदार्थों की अभेदानुपपत्ति होने के कारण विशेषण का त्याग होने पर भी विशेष्य अंश का त्याग नहीं होता।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि 'तत् त्वम्'—यहाँ पर 'तत्' पद के उत्तर

न्यायामृतम्

ततश्च तेन त्वं तिष्ठसीति वा ततस्त्व जात इति वा, तस्य त्वमिति वा, तस्मिस्त्वमिति वार्थः। "अनेन जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति, सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजा, ऐतदात्म्यमिदं सर्व"मित्यादि वाक्यशेषात्। मीमांसकैः "उत यत्सुन्वन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहु"रित्यत्र यत्र सुन्वन्ति तत्र हविर्धाने स्थित्वा सामिधेनीरनुब्रूयादिति सप्तम्यर्थे प्रथमास्वीकाराच्च। न्याय्यं च निरवकाशप्रधानभूतानेकप्रातिपदिकस्वारस्याय संख्यार्थत्वेन सावकाशप्रधानैकविभक्त्यस्वारस्यम्। प्रोद्गातृणामित्यत्र

अद्वैतसिद्धिः

त्वमिति वार्थः, 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजा ऐतदात्म्यमिदं सर्व'मित्यादिवाक्यशेषात्। तथा च मीमांसका 'उत यत्सुन्वन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहु' रित्यत्र यत्तच्छब्दयोः सप्तम्यर्थे प्रथमां स्वीकृत्य यत्र सुन्वन्ति तत्र हविर्धाने स्थित्वा सामिधेनीरनुब्रूयादिति व्याख्याञ्चक्रुः। न्याय्यं च निरवकाशप्रधानभूतानेकप्रातिपदिकस्वारस्याय सङ्ख्यर्थत्वेन सावकाशप्रधानैकविभक्त्यस्वारस्यमिति—निरस्तम्, प्रोद्गातृणामित्यत्र विभक्तिस्वारस्याय प्रातिपदिकस्या-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वस्तुतः तृतीया विभक्ति है, किन्तु उसके स्थान पर "सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः" (पा० सू० ७।१।३९) इस सूत्र के द्वारा प्रथमा का प्रयोग हो गया है अथवा 'तृतीया का लोप हो गया है, अतः 'तत् त्वमसि' का 'तेन (ब्रह्मणा) त्वं तिष्ठसि' या 'ततः (ब्रह्मणः) त्वं सञ्जातः', या 'तस्य (ब्रह्मणोंऽशः) त्वम्' अथवा 'तस्मिन् (ब्रह्मणि) त्वमसि—ऐसा अर्थ अभिमत है, क्योंकि "अनेन जीवेनात्मनानुप्रभूतः (अनुव्याप्तः) पेपीयमानः (अत्यर्थं रसान् गृह्णन्) मोदमानस्तिष्ठति" (छां० ६।११।१), "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः" (छां० ६।८।४), "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" (छां० ६।८।७) इत्यादि वाक्यशेषों के आधार पर वैसा ही अर्थ निश्चित होता है। मीमांसक गण भी "उत यत् सुन्वन्ति सामिधेनीः, तदन्वाहुः"—इस वाक्य का (जै० सू० ३।७।७ में) अर्थ करते हैं—'उत' इत्ययं शब्दोऽथशब्दार्थे वर्तते, अथ यत् यस्मिन् हविर्धाने सोममभिषुण्वन्ति, तत् तस्मिन् सामिधेनीरनुब्रूयुः। [ज्योतिष्टोम में हविर्धानसंज्ञक मण्डप में दक्षिण और उत्तर दिशा में सोम लता रखने के लिए दो शकट खड़े किए जाते हैं, दक्षिण हविर्धान शकट के समीप सोम लता का रस निकाला जाता है, उसके समीप खड़े होकर सामिधेनी ऋचाओं का उच्चारण होता है (द्र. जै. न्या. मा. पृ. २१२]। यहाँ पर भी यत्तत् पदों के उत्तर सप्तम्यर्थ में ही प्रथमा विभक्ति मानी गई है। न्यायोचित भी यही है, क्योंकि 'तत्' त्वमसि' में प्रथमा विभक्ति संख्यार्थ में सावकाश एव अप्रधान भूत है, किन्तु तृतीया विभक्ति में निरवकाशता एवं अनेक प्रातिपदिकों का स्वारस्य निहित है, अतः 'तेन त्वमसि'—ऐसा अर्थ करना ही उचिततर है।

न्यायामृतकार का वह कहना भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि जसे "प्रैतु होतुश्चमसः, प्रब्रह्मणः, प्रयजमानस्य, प्रोद्गातृणाम्" (श. ब्रा. ४।१।६।२९) इस वाक्य में अवस्थित 'प्रोद्गातृणाम्' पद पर (जै. सू. ३।५।८ में) विचार करते समय प्रश्न उठाया गया है कि सोम-भक्षण करनेवाला उद्गाता एक ही होता है, तब बहुवचन संगत कैसे होगा ? इसके उत्तर में प्रत्यय की एकत्व में लक्षणा न कर प्रकृति की ही समस्त

न्यायामृतम्

तु विभक्त्यन्तरे प्रथमैकवचनस्येव षष्ठी बहुवचनस्यान्यत्राविधानात् बहुवचनानुसारेण प्रातिपदिकस्य प्रस्तोत्रादिच्छन्दोगेषु लक्षणाश्रिता। दृष्टं च "प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयती"त्यत्र प्रयाजशेषप्रातिपदिकस्वारस्याय प्रयाजाशेषं हविःषु प्रक्षिपतीति विभक्त्यस्वारस्यम्। एवंच—

आवकाशोज्झितानेकमुख्यनामानुसारतः ।
युक्तोऽताहग्विभक्तेर्हि बाधः प्रयाजशेषवत् ॥

अद्वैतसिद्धिः

न्यथानयनवदत्रापि प्रातिपदिकस्यैवान्यथानयनाच्च। न च—षष्ठीबहुवचनस्य प्रथमैकवचनवदन्यत्राविधानेन तस्यान्यथानयनमसंभवीति बहुवचनानुसारेण प्रातिपदिकस्य प्रस्तोत्रादिछन्दोगेषु लक्षणाऽऽश्रितेति—वाच्यम्, 'सक्तून् जुहोती' त्यत्रेवान्यत्र नयनस्य संभावितत्वात्। किं च न तावत् प्रतिपादकस्य निरवकाशत्वम्, विभक्तेः सङ्ख्यामिव विशेष्यांशे सावकाशत्वात्। नापि प्राधान्यम्, प्रधानार्थवाचकप्रत्ययस्यैव प्राधान्यात्। तदुक्तं—'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः तयोः प्रत्ययः प्राधान्येने'ति। नापि प्रातिपदिकानेकत्वं स्वारस्ये तन्त्रम्, 'गभीरायां नद्या'मित्यादौ अनेकत्वेऽप्यस्वारस्यदर्शनात्। तात्पर्यबलात्तत्र तथेति चेत्, समं प्रकृतेऽपि। यत्तु 'प्रयाजशेषेण

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सामगायक पुरुषों में लक्षणा की गई है, वैसे ही प्रकृत में भी 'तत्' पद के उत्तर प्रत्यय की लक्षणा करणत्वादि में न कर प्रकृति की हो शुद्ध चैतन्य में लक्षणा करनी चाहिए।

शङ्का—दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का वैषम्य है, क्योंकि जैसे प्रथमा विभक्ति के एक वचन का "सुपां सुलक्"—इत्यादि सूत्र के द्वारा तृतीयादि के अर्थ में विधान है, वैसे षष्ठी विभक्ति के बहुवचन का एकत्वादि में विधान नहीं, अतः 'प्रोद्गातृणाम्'—यहाँ पर विभक्ति की लक्षणा न कर प्रकृति की ही लक्षणा की गई है, किन्तु प्रकृत में कोई वैसा प्रतिबन्ध नहीं, अतः 'तत्त्वमसि'—इस वाक्य में प्रथमा का तृतीयार्थ में ही प्रयोग समझना चाहिये।

समाधान—जैसे "सक्तून् जुहोति" (आप. श्रौ. सू. १३।२४।१६) इस वाक्य पर (जै० सू० २।१।१२) में विचार कर स्थिर किया गया है कि द्वितीया विभक्ति का तृतीय में विपरिणाम करके 'सक्तुभिर्जुहोति'—ऐसा ही अर्थ हरना चाहिए। वैसे ही 'प्रोद्गातृणाम्'—यहाँ भी विभक्ति का अन्यथा नयन किया जा सकता था, नहीं किया गया, क्योंकि प्रकृति की अपेक्षा प्रत्यय प्रधान माना जाता है, और 'गुणे त्वन्यायकल्पना'—इस न्याय के अनुसार गौणीभूत प्रकृति की ही लक्षणा उचित है।

दूसरी बात यह भी है कि यहाँ प्रातिपदिक निरवकाश भी नहीं, क्योंकि जैसे विभक्ति संख्यार्थ में सावकाश है, वैसे ही विशेष्य अंश में प्रकृति भी सावकाश है। प्राधान्य भी प्रकृति का सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्यय का ही प्राधान्य माना गया है— "प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः, तयोः प्रत्ययः प्राधान्येन"। यह जो कहा कि अनेक प्रातिपदिकों का स्वारस्य तृतीया में है, वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि 'गभीरायां नद्याम्'—यहाँ पर अनेक प्रातिपदिकों के रहने पर भी स्वारस्य प्रतीत नहीं होता। तात्पर्य के आधार पर वैसी कल्पना करने पर प्रकृत में भी वैसा माना जा सकता है।

यह जो कहा गया है कि प्रयाजशेषेण हवींषि अभिघारयति" (तै. सं. २।६।१)

न्यायामृतम्

यद्वा तस्य त्वमित्यर्थे तत्त्वमिति समस्तं पदम्। यद्वा ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसीत्यत्र तदित्यनेन नात्मा परामृश्यते, किंत्वैतदात्म्यं नपुंसकलिंगत्वात्। ऐतदात्म्यमित्यस्य चैष चासावात्मा च एतदात्मा तस्येदं ऐतदा-

अद्वैतसिद्धिः

हवींष्यभिघारय'तीत्यत्र प्रयाजशेषं हविःषु प्रक्षिपतीति तृतीयाविभक्त्यस्वारस्यं, सक्तून् जुहोती'त्यादावपि द्वितीयाविभक्त्यस्वारस्यं, तदगत्या, 'प्रयाजशेषेण'त्यादौ उपयुक्तसंस्कारव्यतिरेकेण प्रकारान्तरस्यासंभवात्, सक्तूनित्यादौ भूतभाव्युपयोगाभावेन संस्कार्यत्वाभावात्। एतेन—तस्य त्वं तत्त्वमिति समस्तं पदमिति—निरस्तम्, असमासेनैव षष्ठ्यर्थलक्षणादिरहितेन उपपत्तौ षष्ठीसमासस्यान्याय्यत्वाद्, अन्यथा स्थपत्यधिकरणविरोधापत्तेः। ननु—ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसी'त्यत्र तत्पदेन नात्मा परामृश्यते, किंतु ऐतदात्म्यम्, नपुंसकत्वाद्, ऐतदा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इस वाक्य में प्रयाज कर्म में उपयुक्त घृत का उत्तर भावी कर्म के हविर्द्रव्य में प्रक्षेप मात्र होता है, अतः तृतीया का अर्थ किया गया है—'प्रयाजशेषं हविःषु प्रक्षिपति' [क्योंकि (जै. सू. ४।१।१४ में) यह निश्चय किया गया है कि प्रयाज-शेष घृत से हवि का अभिघारण प्रतिपत्ति कर्म है, उपयोक्ष्यमाण द्रव्य का संस्कार कर्म नहीं। यदि प्रयाज करने के पश्चात् कुछ शेष नहीं बचता या बचा हुआ घृत नष्ट हो जाता है, तब हविः संस्कारार्थ नूतन घृत नहीं लिया जाता, अतः इडो भक्षयति के समान प्रयाजशेषं प्रक्षिपति—ऐसा विनियोग ही उचित होता है]। 'सक्तून् जुहोति'—इस वाक्य से विहित कर्म को भी व्रीहि-प्रोक्षण के समान उपयोक्ष्यमाण द्रव्य का संस्कार नहीं माना जा सकता. क्योंकि होमरूप कर्म के द्वारा सक्तुओं (भूने हुए जौ) का विनाश हो जाता है, वे बचते ही नहीं कि भविष्य में उनका उपयोग हो सके, अतः सक्तु-होम को प्रधान कर्म मानकर व्रीहिभिर्यजेत के समान 'सक्तुभिर्जुहोति—'ऐसा अर्थ किया जाना समुचित ही है।

न्यायामृतकार ने जो 'तत्त्वमसि'—में तस्य त्वम्—ऐसे षष्ठी तत्पुरुष समास की कल्पना की है, वह भी उचित नहीं, क्योंकि षष्ठी समास की कल्पना में 'तत्' पद की सम्बन्धरूप षष्ठ्यर्थ में लक्षणा करनी पड़ती है, उसके विना ही असमस्त पद के द्वारा उचित अर्थ की उपपत्ति हो जाने पर षष्ठी समास की कल्पना न्यायोचित नहीं, अन्यथा स्थपत्यधिकरण का विरोध होगा ["रौद्रं चरुं निरवपेत"—इस वाक्य से विहित वास्तु इष्टि का विधान कर कहा गया है—"एतया निषादस्थपतिं याजयेत्"। 'निषादस्थपति' पद में सन्देह है कि 'निषादानां स्थपतिः'—ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास विवक्षित है? अथवा 'निषादश्चासौ स्थपतिः'—इस प्रकार का कर्मधारय समास? सिद्धान्त किया गया है—"स्थपतिर्निषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात्" (जै. सू. ६।१।५१) अर्थात् षष्ठी समासमूलक सम्बन्धादि में लक्षणा की कल्पना के विना ही कर्मधारय समास के द्वारा निषादरूप स्थपति (राजगीर या थवई) अर्थ मानना ही उचित हैं]।

शङ्का—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" (छां० ६।८।७) यहाँ पर 'तत्' पद से आत्मा का परामर्श नहीं किया जाता, क्योंकि 'ऐतदात्म्यम्'—ऐसा नपुंसक-निर्देश है इसके आधार पर पुंल्लिङ्ग आत्मा का परामर्श न कर 'एष

न्यायामृतम्

त्म्यम् । एतदीयं वस्तु त्वमसीत्यर्थः । परमते हि एतत् सद् आत्मा यस्य तदैतदात्म्य-मितिव्याख्यातत्वाद् भावप्रत्ययो व्यर्थः । ततो वरमर्थान्तराश्रयणम्, विचित्रा हि तद्धितगतिरिति वचनात् ।

स स्रष्टा चैव संहर्ता नियन्ता रक्षिता हरिः ।
तेन व्याप्तमिदं सर्वमेतदात्म्यमतो विदुः ॥ इति स्मृतेश्च ।

केचित्तु शरीरवाचिनां देवमनुष्यादिशब्दानां शरीरिपर्यन्तत्वदर्शनात् । जीवस्य

अद्वैतसिद्धिः

त्म्यमित्यस्य एष चासावात्मा च एतदात्मा तस्येदमैतदात्म्यम् । एवं च एतदीयं वस्तु त्वमसीत्यर्थः, न त्वभेदः, एतदात्मा यस्य तदैतदात्म्यमित्यर्थे भावप्रत्ययवैयर्थ्यापत्तेः । ततो वरमर्थान्तराश्रयणम् ; विचित्रा हि तद्धितगतिरिति वचनात् ।

स स्रष्टा चैव संहर्ता नियन्ता रक्षिता हरिः ।
तेन व्याप्तमिदं सर्वमैतदात्म्यमतो विदुः ॥

इति स्मृतेश्चेति—चेन्न, तस्येदमित्यर्थे ष्यञोऽविधानात् प्रयोगादर्शनाच्च । स्वार्थे च सौख्यमित्यादिप्रयोगदर्शनात् । तथा च एतत् सद् आत्मा यस्य सर्वस्य तदेतदात्मा तस्य भाव ऐतदात्म्यं सामानाधिकरण्यं च स्वार्थिकत्वाद्वा, भावभवित्रोरभेदोपचाराद्वा, 'यो वै भूमा तत्सुख'मितिवत् । यत्तु स्मृतावेतद्व्यापकत्वेन ऐतदात्म्योक्तिः, सा न युक्ता, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधात् ।

ननु—शरीरवाचिनां देवमनुष्यशब्दानां शरीरिपर्यन्तत्वदर्शनाद् ब्रह्मशरीरभूत-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

चासौ आत्मा एतदात्मा, तस्येदम् ऐतदात्म्यम्—ऐसा अर्थ करना ही उचित है, अतः 'ऐतदात्म्यम् (एतदीयं वस्तु) त्वमसि—ऐसी संगमनिका में भेद ही प्रतीत होता है, अभेद नहीं, क्योंकि अद्वैतमतानुसार 'एतदात्मा यस्य तदैतदात्म्यम्—ऐसा अर्थ करने पर भाव-प्रत्यय (ष्यञ्) व्यर्थ हो जाता है । उससे अर्थान्तर की कल्पना ही उचिततर है, तद्धित प्रत्यय के लिए प्रसिद्ध है—'विचित्रा हि तद्धितगतिः' । स्मृति भी वैसा ही कहती है—

स स्रष्टा चैव संहर्ता नियन्ता रक्षिता हरिः ।
तेन व्याप्तमिदं सर्वमैतदात्म्यमतो विदुः ॥

समाधान—तस्येदम्—इस अर्थ में जो आपने 'ष्यञ्' प्रत्यय का विधान किया है, वह उचित नहीं, क्योंकि ऐसा कहीं प्रयोग देखने में नहीं आता, सौख्यम्—इत्यादि स्थलों पर स्वार्थ में ष्यञ् का प्रयोग तो देखा जाता है, अतः 'एतत् सद् आत्मा यस्य सर्वस्य, तद् एतदात्मा, तस्य भावः ऐतदात्म्यम्—ऐसी व्यवस्था हो न्याय-संगत है । ऐतदात्म्यम् का जो आत्मा के साथ सामानाधिकरण्य-निर्देश है, वह स्वार्थ-विहित प्रत्यय अथवा भाव और भविता पदार्थ के अभेदोपचार के द्वारा वैसे हो संगत हो जाता है, जैसे "यो वै भूमा, तत् सुखम्" (छां० ७।२३।१) यहाँ पर भूम्नो भावः, भूमा—इस प्रकार भूमारूप भाव और भवितारूप सुखात्मा का सामानाधिकरण्य-निर्देश किया गया है । स्मृति-वाक्य में जो एतद्व्यापकत्वेन ऐतदात्म्य की उक्ति है, वह युक्त नहीं, क्योंकि एक-विज्ञान से सर्व-विज्ञान की अभेदपरक प्रतिज्ञा का विरोध होता है ।

शङ्का—शरीर-वाचक देव मनुष्यादि शब्द शरीरि-पर्यन्त अर्थ के बोधक होते

न्यायामृतम्

च तस्यात्मा शरीरमित्यादिश्रुत्येश्वरशरीरत्वात् तत्त्वमिति व्यपदेशः शरीरशरीरि-भावनिबन्धन इत्याहुः। इतरे तु आदित्यो ब्रह्मेत्यादिवत् जीवे ब्रह्मत्वोपासनार्थस्तत्त्व-मसीतिनिर्देशः, न तु वस्तुतत्त्वनिष्ठ इत्याहुः। यद्वा स आत्मा तत्त्वमसीत्यत्र यद्यपि

अद्वैतसिद्धिः

जीववाचित्वंपदस्य ब्रह्मपर्यन्तत्वेन तत्त्वमिति व्यपदेशः शरीरशरीरिभावनिबन्धनः, 'यस्यात्मा शरीर'मित्यादिश्रुतेरिति मुख्यमेवास्मन्मते पदद्वयमिति—चेन्न, शरीरिपर्यन्त-त्वमिति तल्लक्षकत्वं वा ? तत्रापि शक्तत्वं वा ? शरीरविषयवृत्त्यैव तत्प्रतिपादकत्वं वा ? नाद्यः, मुख्यत्वानुपपादनात्। न द्वितीयः, शरीरवाचिनामित्यसाधारण्येन निर्देशानुपपत्तेः प्रवृत्तिनिमित्तमनुष्यत्वादिजातेः शरीरिण्यवृत्तेरुक्तत्वाच्च। न तृतीयः, अन्यविषयवृत्तेरन्यानुपयोगेन शरीरशरीरिणोरनादिभ्रमसिद्धाभेदनिबन्धनोऽयं प्रयोगो वाच्यः। तथा चात्राप्यभेदनिबन्धन एवायं प्रयोगः, अभेदस्तु बाधकाभावादत्र तात्त्विक इत्येव विशेषः। यत्तु 'आदित्यो ब्रह्मेति'वत् जीवे ब्रह्मत्वोपासनार्थस्तत्त्वमसीति निर्देश इति, तन्न, अनुपासनाप्रकरणस्थत्वेन दृष्टान्तवैषम्याद्, उक्तरीत्या वस्तुनिष्ठत्वे संभवति तत्त्यागायोगाच्च।

ननु—'स आत्मा तत्त्वमसीत्यत्रातत्त्वमसीति पदच्छेदः, 'शब्दोऽनित्य'इत्यत्रा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

हैं, ब्रह्म का शरीर जीव होता है—ऐसा 'यस्यात्मा शरीरम्' (श० ब्रा० १४।५।५।३०) यह श्रुति कहती है, अतः तत्त्वम्—यह शरीरी ब्रह्म और शरीरभूत जीव का अभेद-व्यवहार होने के कारण तत् और त्वम्—दोनों पद मुख्य वृत्ति से ही प्रवृत्त हैं, दोनों में से किसी को भी लाक्षणिक मानने की आवश्यकता नहीं।

समाधान—शरीरि-पर्यन्त अर्थ-बोधकता से आपका तात्पर्य क्या शरीरि-लक्षकत्व है ? या शरीरिशक्तत्व ? अथवा शरीरविषयक वृत्ति के द्वारा शरीरि-प्रतिपादकत्व ? प्रथम पक्ष में शब्द की मुख्यता नहीं रहती, अपितु लक्षकता आ जाती है। द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि उभय-वाचक पदों के लिए 'शरीर-वाचिनाम्'—ऐसा नहीं कह सकते एवं उक्त शब्दों की प्रवृत्ति-निमित्त (शक्यता-वच्छेदक) मनुष्यत्वादि जातियों का शरीरी में अभाव है—यह कहा जा चुका है। तृतीय पक्ष में अन्यविषयक वृत्ति का अन्यत्र उपयोग नहीं, अतः केवल शरीर और शरीरी के अनादि भ्रम-सिद्ध अभेद को ही उक्त-प्रयोग का नियामक मानना होगा, फिर तो यहाँ भी अभेद-प्रयुक्त ही प्रयोग है, प्रकृत में अभेद का कोई बाधक नहीं, अतः वह तात्त्विक ही सिद्ध होता है।

यह जो कहा गया है कि 'आदित्यो ब्रह्म" (छां० ३।१९।१) के समान जीव में ब्रह्मत्व की उपासना के लिए 'तत्त्वमसि'—ऐसा निर्देश किया गया है। वह उचित नहीं, क्योंकि दृष्टान्त उपासना के प्रकरण में निर्दिष्ट है, और प्रकृत में उपासना का प्रकरण नहीं, अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का वैषम्य है। इसी प्रकार आदित्य में ब्रह्म का वास्तविक अभेद बाधित होने के कारण उपासनार्थत्व की कल्पना की जाती है, किन्तु प्रकृत में भाग-त्याग-लक्षणा के द्वारा वास्तविक अभेद जब बन जाता है, तब उसका त्यागना उचित नहीं।

शङ्का—जैसे 'शब्दो नित्यः, कृतकत्वाद्, घटवत्'—यहाँ घटरूप दृष्टान्त के

न्यायामृतम्

द्वेधा पदच्छेदः सम्भवति, तथापि शब्दो नित्य इत्यत्रानित्यघटदृष्टान्तेनानित्य इति-च्छेदवद् अत्रापि भिन्नशकुनिसूत्रादिदृष्टान्तैरतदितिच्छेदः। न हि आद्ये खण्डे स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्ध इत्युक्तयोः शकुनिसूत्रयोः, षष्ठे लवणमेतदुदकमित्यादिनोक्तयोः, लवणोदकयोः, सप्तमे पुरुषं सोम्य गन्धारेभ्य इत्यादिनोक्तयोः पुरुषगन्धारदेशयोः, नवमेऽपहार्षीत्स्तेयमकार्षीदित्यादिनोक्तयोः स्तेनापहार्ययोश्चैक्यं स्तेनापहार्यदृष्टान्ते हि स्पष्ट ऐक्यज्ञानिनोऽनर्थः। परकीयब्रह्मत्वाभिमानी हि स्तेनः, न तु विद्यमानब्रह्मत्वा-

अद्वैतसिद्धिः

नित्य इति पदच्छेदो यथा घटदृष्टान्तानुसारेण, तथाऽत्रापि शकुनिसूत्रादिदृष्टान्तानु-सारात्। न हि प्रथमखण्डे शकुनिसूत्रयोः स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्ध इत्युक्तयोः शकुनिसूत्रयोः, षष्ठे लवणमेतदुदकमित्यादिनोक्तयोर्लवणोदकयोः, सप्तमे 'पुरुषं सोम्य गन्धारेभ्य' इत्यादिनोक्तयोः पुरुषगन्धारदेशयोः, नवमे च 'अपहार्षीत् स्तेयमकार्षी' दित्यादिनोक्तयोः स्तेनापहार्ययोः ऐक्यम्। स्तेनापहार्यदृष्टान्ते हि स्पष्टमैक्यज्ञानि-नोऽनर्थः, परकीयब्रह्मत्वाभिमानी हि स्तेनः, न तु विद्यमानब्रह्मत्वाज्ञानीति—चेन्न, शकुनिसूत्रादौ दृष्टान्ते विद्यमानोऽपि भेदो नातदितिपदच्छेदप्रयोजकः, तं विनैव तदुप-पत्तेः, घटदृष्टान्तस्तु न नित्यत्व उपपद्यत इति वैषम्यात्। तथा हि—ज्वरादिरोगग्रस्तस्य तन्निर्मोके स्वास्थ्ये विश्रान्तिवज्जाग्रत्स्वप्नयोः करणव्यापारजनितश्रमापनुत्तये जीवस्य देवतात्मस्वरूपावस्थानमित्यस्मिन्नर्थे शकुनिसूत्रदृष्टान्त इत्यन्यथैवोपपत्तेः, 'स्वमपीतो

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अनुरोध पर शब्दोऽनित्यः ऐसा पदच्छेद किया जाता है, वैसे ही "स आत्मा तत्त्वमसि" (छां० ६।८।७) यहाँ पर भी 'अतत्त्वमसि'—ऐसा पदच्छेद करना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म और जीव की स्थिति स्पष्ट करने के लिए यहां चार दृष्टान्त दिए गए हैं—छान्दोग्योपनिषत् के छठे अध्याय के ही प्रथम खण्ड में शकुनि (पक्षी) और सूत्र का, षष्ठ खण्ड में लवण और उदक का, सप्तम में पुरुषरूप पथिक और गन्धार देश का और नवम खण्ड में अपहर्त्ता (चोर) और अपहार्य वस्तु का दृष्टान्त। यहाँ शकुनि-सूत्रादि का ऐक्य सम्भव नहीं, प्रत्युत स्तेन और अपहार्य वस्तु के दृष्टान्त में ऐक्य-ज्ञान का स्पष्ट विरोध है, क्योंकि परकीय ब्रह्म का अपने में अभिमान करनेवाला व्यक्ति ही स्तेन (चोर) कहा जा सकता है, अपने में विद्यमान ब्रह्मत्व का अज्ञानी स्तेन नहीं कहला सकता।

समाधान—शकुनि-सूत्रादि दृष्टान्त में विद्यमान भेद 'अतत्त्वमसि'—इस प्रकार के पदच्छेद का प्रयोजक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृत में भेद के बिना ही शाब्द बोध निष्पन्न हो जाता है। हाँ, शब्द में नित्यत्व को पक्ष बनाने पर अवश्य ही घटरूप दृष्टान्त उपपन्न नहीं होता, अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की विषमता है। प्रकृत में वर्णित दृष्टान्त अन्यथा ही घट जाते हैं—जैसे ज्वरादि रोग से ग्रस्त व्यक्ति की ज्वर-निवृत्ति के पश्चात् स्वास्थ्य में विश्रान्ति होती है, वैसे ही जाग्रत् और स्वप्न में करण-व्यापार-जनित श्रम की निवृत्ति के लिए जीव का शान्त ब्रह्मस्वरूप में अवस्थान शकुनि-सूत्र दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है, वह अवस्थान अभेद स्वरूप ही है, क्योंकि "स्वमपीतो भवति (छां० ६।८।१) यह श्रुति कहती है कि सुषुप्ति अवस्था में जीव अपने स्वरूपभूत ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है।

न्यायामृतम्

ज्ञानी । न च सत्यानृताभिसन्धिमात्रमिह विवक्षितम्, तथात्वे सत्यानृतवाग्दृष्टान्तेन पूर्वं रपहार्षीत्स्तेयमकार्षीदित्यपहारदृष्टान्तायोगात् । आद्यखण्डे सुषुप्तविषये स्वमपीतो भवतीत्यत्र ब्रह्मणि स्वशब्दो न जीवाभेदाभिप्रायः ।

स्वातंत्र्यात्स्व इति प्रोक्त आत्मायं चाततत्त्वतः ।
ब्रह्मायं गुणपूर्णत्वात् भगवान् विष्णुरव्ययः ॥

इति श्रुतेः आत्मीयार्थत्वसम्भवाच्च । अपीतो भवतीत्यस्यापि तिरोहितः सन् प्राप्तो भवतीत्येवार्थः, न त्वभिन्न इति । अपेरपिधाने, इणश्च गतौ, निष्ठायाश्च कर्तरि शक्तेः क्लृप्तत्वादैक्ये योगरूढ्योरभावाच्च । ऐक्यार्थत्वे अपीत इत्यस्य भवतेश्चाकर्मकत्वेन श्रुतद्वितीयायोगाच्च, अश्रु ततृतीयाकल्पनाप्रसंगाच्च ।

"स्वं कुलायं यथाऽपीतः पक्षी स्यादेवमीश्वरम् ।
अप्येति जीवः प्रस्वापे" इति स्मृतेश्च ॥

अद्वैतसिद्धिः

भवती'ति श्रुतेः । ननु—ब्रह्मणि स्वशब्दो न जीवाभेदाभिप्रायः, किंतु आत्मीयत्वाद्यर्थः स्वातन्त्र्याभिप्रायो वा, 'स्वातन्त्र्यात्स्व' इति प्रोक्त इत्यागमाद्, 'अपीतो भवती' त्यस्यापि तिरोहितः सन् प्राप्तो भवतीत्येवार्थः, न त्वभिन्न इति अपेः पिधाने, इणो धातोश्च गतौ, निष्ठायाः कर्तरि शक्तेः क्लृप्तत्वाद्, ऐक्ये योगरूढ्योरभावाच्चेति- चेत्, न, स्वशब्दस्य स्वरूपे मुख्यस्यार्थान्तरपरत्वे गौणीलक्षणयोरन्यतरापत्तेः, अभेदे योगरूढ्योरभावेऽपि उपसर्गप्रकृतिप्रत्ययपर्यालोचनया लब्धस्वरूपप्राप्तिरूपार्थस्याभेदे पर्यवसानात् । अत एव—ऐक्यार्थत्वे अपीत इत्यस्य भवतेश्चाकर्मकतया श्रुतद्वितीयायोगः

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—'स्वमपीतो भवति'—इस श्रुति में 'स्वम्' और 'अपीतः'—दोनों पद अभेदपरक नहीं, अपितु 'स्वम्' पद आत्मीयार्थक है अथवा स्वातन्त्र्य का बोधक है, जैसा कि आगम प्रमाण कहता है—

स्वातन्त्र्यात् स्व इति प्रोक्त आत्मायं चातत्त्वतः ।
ब्रह्मायं गुणपूर्णत्वाद् भगवान् विष्णुरव्ययः ॥

इसी प्रकार 'अपीतो भवति' का अर्थ होता है—'तिरोहितः सन् प्राप्तो भवति ।' 'अभिन्नो भवति'—ऐसा अर्थ नहीं कर सकते, क्योंकि अपिपूर्वक इण धातु से क्त प्रत्यय करने पर 'अपीतः' शब्द बना है । यहाँ 'अपि' पद की पिधान (तिरोधान) में, 'इण्' धातु की गति में और निष्ठा (क्तः) प्रत्यय की कर्त्ता में शक्ति निश्चित होती है, ऐक्यार्थ में न यौगिक शक्ति है और न रूढ़ ।

समाधान—'स्व' शब्द स्वरूप में मुख्यरूप से शक्त है, उसे आत्मीयत्वादिपरक मानने पर गौणी या लक्षणा वृत्ति माननी होगी । 'अपीतः' शब्द की अभेदार्थ में योग और रूढ़ शक्ति का अभाव होने पर भी उपसर्ग, प्रकृति और प्रत्यय की पर्यालोचना से अधिगत स्वरूप प्राप्तिरूप अर्थ का अभेद में पर्यवसान हो जाता है ।

यह जो आक्षेप किया गया कि 'अपीतः' और 'भवति' दोनों क्रियाएँ अकर्मक हैं, अतः 'स्वम्' में श्रुत द्वितीया विभक्ति के स्थान पर अश्रुत तृतीया विभक्ति की कल्पना कर 'स्वेनापीतो भवति'—ऐसा स्वरूप निष्पन्न करना होगा ।

वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि अपीतः का 'तिरोहितः' अर्थ न

न्यायामृतम्

यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ सँल्लयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष "इति सुषुप्तिविषयश्रुत्यन्तरे भिन्नश्येननीडदृष्टान्तोक्तेश्च। प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्त" इति सुषुप्तौ भेदश्रुतेश्च। त्वन्मतेऽपि भेदपरेण "सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेने"ति सूत्रेण विरोधाच्च। "त्वत्पक्षेऽपि जागरण इव सुषुप्तावप्याविद्यक-

अद्वैतसिद्धिः

अश्रुततृतीयाकल्पनमिति—निरस्तम्। अत एव—'यथा अस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियते एवमेवायं पुरुष' इति सुषुप्तिसमये श्रुत्यन्तरे भिन्नश्येननीडदृष्टान्तोक्तिरिति च—निरस्तम्, सर्वसाम्यस्य दृष्टान्ततायामतन्त्रत्वात्। न च—प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः स इति सुषुप्तिविषये भेदश्रुत्या त्वन्मतेऽपि भेदपरेण सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेनेति सूत्रेण त्वत्पक्षेऽपि जागरण इव सुषुप्तावपि आविद्यकजीवब्रह्मभेदस्वीकारेण च विरोध इति—वाच्यम्, यतो जाग्रत्स्वप्नयोरिव स्फुटतरविक्षेपो नास्तीत्यभिप्रायेण स्वस्वरूपप्राप्त्युक्तिः, न त्वात्यन्तिकाभेदाभिप्रायेण, अन्यथा सुषुप्तिमुक्त्योरविशेषापत्तेः। यदि सज्जगतो मूलम्, तदा कथं नोपलभ्यत इत्याशङ्कायां विद्यमानमपि वस्तु नोपलभ्यते, अन्यथा तूपलभ्यत इत्यमुमर्थं स्पष्टीकर्तुं लवणोदकदृष्टान्त इति, तत्राप्यन्यथोपपत्तेः। यद्येवं लवणमिवेन्द्रियैरनुपलभ्यमानमपि जगन्मूलं सद् उपायान्तरेण उपलब्धुं शक्यत इति तस्यैवोपलम्भे क उपाय इत्याशङ्कायाम् 'आचार्यवान् पुरुषो वेदे'त्युपायं वक्तुं गान्धारपुरुषदृष्टान्त इति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होकर 'प्राप्तः' अर्थ है, जो कि अकर्मक नहीं, सकर्मक है।

यह जो कहा गया है कि "यथा अस्मिन् आकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियते, एवमेवायं पुरुषः" (बृह० उ० ४।३।१९) इस श्रुति में भी सुषुप्ति समय के लिए श्येन और नीड़ का दृष्टान्त दिया गया है, यहाँ भी श्येन और नीड़ परस्पर भिन्न होते हैं, अभिन्न नहीं।

वह कहना भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का सर्वथा साम्य विवक्षित नहीं होता।

शङ्का—'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः सः' (बृह० उ० ४।३।२१) इस सुषुप्तिविषयक श्रुति में आत्मभेद प्रतिपादित है, आप के अद्वैत मतानुसार भी "सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन" (ब्र० सू० १ ३।४२) इस सूत्र में जागरण के समान सुषुप्ति में भी जीव और ब्रह्म का आविद्यक भेद दिखाया गया है। अतः इन भेदपरक प्रमाणों से विरोध होने के कारण सुषुप्ति में अभेद की सिद्धि नहीं हो सकती।

समाधान—जाग्रत् और स्वप्न के समान सुषुप्ति में स्फुटतर विक्षेप नहीं—इस अभिप्राय से स्वस्वरूप की प्राप्ति कही गयी है, आत्यन्तिक अभेद के अभिप्राय से नहीं, अन्यथा सुषुप्ति और मुक्ति में कोई अन्तर ही नहीं रह जायगा।

यदि जगत् का मूल कोई सत्पदार्थ है, तब उसकी उपलब्धि क्यों नहीं होती? इस शङ्का का समाधान है—विद्यमान वस्तु भी कभी उपलब्ध नहीं होती और अन्यथा (साधन-सम्पत्ति और प्रतिबन्ध की निवृत्ति हो जाने पर) तो उपलब्ध हो जाती है—इस भाव को स्पष्ट करने के लिए लवण और उदक का दृष्टान्त दिया गया है। उस दृष्टान्त को भी प्रकृत में इस प्रकार घटाया जाता है कि जैसे उदक में विलीन लवण

न्यायामृतम्

जीवब्रह्मभेदस्य सत्त्वाच्च । न च नवमखण्डे "नानात्ययानां वृक्षाणां रसानां" इत्यादिनोक्तानां नानावृक्षरसानां । दशमे "इमाः सोम्य नद्य" इत्यादिनोक्तयोर्नदीसमुद्रयोश्चैक्यं शंक्यम् । न हि नानावृक्षरसा अन्योन्यं भेदत्यागेन प्राक्सिद्धेन मधुनैक्यमापद्यन्ते

अद्वैतसिद्धिः

तत्राप्यन्यथवोपपत्तेः । तथा चाचार्यवान् विद्वान् येन क्रमेण सता संबध्यते स क इत्याशङ्कायां सत्याभिसन्धस्यार्थप्राप्तिरनृताभिसन्धस्यानर्थप्राप्तिरिति वक्तुं स्तेनास्तेनदृष्टान्त इति तत्राप्यन्यथैवोपपत्तेः । न च सत्यानृतदृष्टान्तेन पूर्तेरपहार्षीत् 'स्तेयमकार्षी' दिति उदाहरणायोगः, तदुपपादकत्वेन पृथक् दृष्टान्तत्वाभावात् ।

ननु—नवमखण्डे 'नानात्ययानां वृक्षाणां रसानि'त्यादिनोक्तानां नानावृक्षरसानां दशमे 'इमाः सोम्य नद्य' इत्यादिनोक्तयोर्नदीसमुद्रयोश्चैक्यं वक्तुं न हि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उपलब्ध नहीं होता, साधन-विशेष (अग्नि पर जल को सुखा देने) से लवण की उपलब्धि होती है, वैसे ही साधन सम्पत्ति से जगत् के मूल तत्त्व की उपलब्धि हो जाती है।

यदि उदक में लवण के समान ही अनुपलभ्यमान जगत् का मूल तत्त्व भी उपायविशेष से उपलब्ध हो जाता है, तब वह कौन उपाय है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा गया है—"आचार्यवान् पुरुषो वेद" (छां० ६।१४।२)। इस अर्थ को और स्पष्ट करने के लिए गान्धार देश और पथिक पुरुष का दृष्टान्त दिया गया है। उस दृष्टान्त के द्वारा अभेदावगति न करा कर यह कहा गया है कि जैसे गान्धार के समान सुदूर देश का पथिक लोगों से पूछ-पूछ कर अपना गन्तव्य पा लेता है, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता आचार्यों की सहायता से ब्रह्म-जैसे दुरधिगम तत्त्व की भी प्राप्ति पुरुष कर लेता है।

आचार्यवान् (आचार्य का अन्तेवासी) अधिकारी पुरुष कैसे सद्रूप ब्रह्म को प्राप्त करता या मुक्त होता है ? इस प्रश्न को सुलझाने के लिए स्तेन (चोर) और अस्तेन का दृष्टान्त दिया गया है। वह दृष्टांत भी भेदाभेदरूपता का निर्णायक नहीं, अपितु अन्यथा ही घटाया जाता है [कि जैसे चौर्य कर्म को छिपानेवाला अनृताभिसन्ध चोर व्यक्ति परीक्षा में असफल होकर कारागार में पड़ा विविध यातनायों को भोगता रहता है, वैसे ही आचार्य-सेवा-वञ्चित आत्मा को अन्यथा कर्त्ता-भोक्ता मानता हुआ (अनृताभिसन्ध) पुरुष संसार-बन्धन में जकड़ा हुआ विविध दुःखों का उपभोग करता रहता है, किन्तु आचार्यवान् पुरुष चौर्य कर्म-रहित (सत्याभिसन्ध) व्यक्ति के समान परीक्षा में समुत्तीर्ण होकर सदैव कारागार से छुटकारा पाकर मुक्त हो जाता है]।

शङ्का—यदि इस दृष्टान्त से मोक्षामोक्ष का उपपादन करना ही उद्देश्य था, तब सत्याभिसन्ध और अनृताभिसन्ध की उक्तिमात्र से उद्देश्य की पूर्ति हो सकती थी अपहारानपहार के दृष्टान्त की क्या आवश्यकता थी ?

समाधान—सत्याभिसन्धि और अनृताभिसन्धि का उपपादन करने के लिए ही अपहारानपहार की चर्चा की गई है, वह कोई स्वतन्त्र दृष्टान्त नहीं है।

शङ्का—छान्दोग्योपनिषत्गत छठे अध्याय के नवम खण्ड में का है—"यथा सोम्य मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां रसं गमयन्ति। ते यथा तत्र न विवेकं लभन्ते तथेमाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः" [जैसे मधमक्खियाँ नाना दिशाओं में अवस्थित वृक्षों के पुष्प-रसों को ला-ला कर मधु के रूप में एकता-प्रदान

न्यायामृतम्

न वा प्राग्भेदभ्रान्तिविषयाः पश्चात्तदविषयाः, किं तु तन्तव इव घटमन्योऽन्यं भिन्ना एव प्रागसिद्धं मधूत्पादयन्ति। न चेदं दार्ष्टान्तिकानुगुणम्। नदीसमुद्रदृष्टान्तेऽपि किं नदीसमुद्रावयविनोरैक्यम्? किं वा तदवयवजलाणूनाम्? उत द्रव्यान्तरारम्भः? नाद्यद्वितीयौ, माषराशौ प्रक्षिप्तमाषतदवयवानामिव क्षीरे प्रक्षिप्तनीरतदवयवानामिव चान्योऽन्यं मिश्रीभावेऽपि प्राग्भिन्नानां पश्चादप्यैक्यायोगात्। "ता एवापो ददौ तस्य स मुनिः संशितव्रत" इति कौर्मेया इन्द्रकमण्डलुस्था आपः स्वकमण्डलौ निक्षिप्तास्ता एव वसिष्ठो दत्तवानित्युक्तेश्च। सप्तनदीनां मिश्रीभूतानामपि पुनर्वि (यु) भज्य समुद्रगमनदर्शनाच्च। "यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवती"ति सावधारण-श्रुतिविरोधाच्च।

उदकं तूदके सिक्तं मिश्रमेव यथा भवेत्।
न चैतदेव भवति यतो वृद्धिः प्रदृश्यते॥

इति सयुक्तिकस्मृतिविरोधाच्च। समुद्रे तु महत्त्वाद् वृद्ध्यदर्शनं। पूतापूतयोः शीतोष्ण-योर्मधुरलवणयोर्जलयोर्मेलने उभयगुणदर्शनाच्च। "ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ती"ति अवधित्वादिनिर्देशायोगाच्च। वाचस्पतिनापि "अवस्थितेरिति काशकृत्स्न" इति सूत्रे

अद्वैतसिद्धिः

शक्यम्, न हि नानावृक्षरसा अन्योन्यभेदत्यागेन प्राक् सिद्धेन मधुना ऐक्यमापद्यन्ते, न वा प्राक् भेदभ्रान्तिविषयाः पश्चात्तदविषयाः, किंतु तन्तव इव पटमन्योन्यभिन्ना एव प्रागसिद्धं मधूत्पादयन्ति, न चेदं दार्ष्टान्तिकानुगुणम्। नदीसमुद्रदृष्टान्तेऽपि किं नदीसमुद्रावयविनोरैक्यम्? किं वा तदवयवजलाणूनाम्? उत द्रव्यान्तरारम्भः? नाद्य-द्वितीयौ, माषराशौ प्रक्षिप्तमाषतदवयवानामिव क्षीरे प्रक्षिप्तनीरतदवयवानामिव चान्यो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

करती है, उस अवस्था में नाना रस अपना विवेक (भेद) जैसे अनुभव नहीं करते, वैसे सुषुप्ति काल में नाना जीव ब्रह्म से एकतापन्न होकर अपना भेद खो बैठते हैं]। इसी प्रकार दशम खण्ड में कहा है—'इमाः सोम्य नद्यः समुद्रमेवापियन्ति, तत्र न विदुरयमहमस्मीति। एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः' [जैसे अनन्त नदियाँ समुद्र में मिल कर अपना पार्थक्य समाप्त कर देती हैं, वैसे ही जीवगण सुषुप्ति में ब्रह्म से एकरूपतापन्न होकर अपना भेद समाप्त कर देते हैं]।

वहाँ सन्देह होता है कि वृक्षों के नाना रसों की मधु से एवं नदियों की समुद्र से एकता क्योंकर हो सकती है? दार्ष्टान्त के अनुसार ब्रह्म-स्थानापन्न मधु रसों के मिलने से पहले ब्रह्म के समान सिद्ध ही नहीं कि रसों का उससे एकीभाव हो। विविध रसों में पहले जीवों के समान भेद-भ्रान्ति हो और पश्चात् उसकी निवृत्ति—यह बात भी नहीं, किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि परस्पर भिन्नरूप में अवस्थित तन्तु जैसे अपने से भिन्न और पहले असत् पटरूप कार्य को उत्पन्न करते हैं, वैसे ही विविध रस संयुक्त होकर मधुरूप असत् कार्य को जन्म देते हैं—यह स्थिति आप (अद्वैती) के दार्ष्टान्त से मेल नहीं खाती। इसी प्रकार नदी-समुद्र दृष्टान्त में भी क्या नदीरूप अवयव और समुद्ररूप अवयवी की एकता विवक्षित है? अथवा नदी के अवयवभूत जलीय परमाणुओं की एकता? या नदियों के मेल से समुद्ररूप द्रव्यान्तर की उत्पत्ति अभिप्रेत है? प्रथम और द्वितीय पक्ष उचित नहीं, क्योंकि जैसे माष (उड़द) के ढेर में प्रक्षिप्त माष और

न्यायामृतम्

नदीसमुद्राभेदस्य निरस्तत्वाच्च। भेदाज्ञानं तु क्षीरनीरयोरिव व्यामिश्रीभूतस्वर्णताम्रादेरिव च मिश्रीभावाद्युक्तम्। अन्त्ये न कस्यापि केनाप्यैक्यं दार्ष्टान्तिकानानुगुण्यं च। "ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवती"त्यत्रापि प्रकृतनदीरुद्दिश्य

अद्वैतसिद्धिः

न्यमिश्रीभावेऽपि प्राग्भिन्नानां पश्चादप्यैक्यायोगात्। तृतीये तु भेद एव, एवं दार्ष्टान्तिकानानुगुण्यं चेति—चेन्न, स्फुटावच्छेदकविरहेण स्पष्टभेदाभावाभिप्रायेण दृष्टान्तानामुपात्तत्वेन दृष्टान्ते वास्तवभेदाभेदयोरौदासीन्येन त्वदुक्तदूषणगणानामगणनीयत्वात्। अत एव - सतोभेदस्याज्ञानमात्रे दृष्टान्त इति—निरस्तम्; भेदसत्तायामौदासीन्यात्। न चैवमस्फुटभेदविषयत्वस्यात्यन्तिकाभेदेऽनुपयोगः, सूक्ष्मोपाध्यवच्छिन्नस्य महोपाध्यवच्छिन्नैक्यवत्तदवच्छिन्नस्यापि तद्विलये अनवच्छिन्नैक्यमिति सम्भावनाबुद्धिजननद्वारोपयोगित्वसंभवात्। अत एव 'ताः समुद्रात् समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवती'त्यत्र प्रकृतनदीरुद्दिश्य समुद्रभवनविधाने सुवर्णं कुण्डलं भवतीतिवत्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उनके अवयव अभिन्न नहीं होते अथवा दूध में मिलाए गए जल और जल के अवयव संयुक्त होने पर भी अभिन्न नहीं होते, वैसे ही समुद्र के साथ न तो नदियों की एकता हो सकती है और न नदी के अवयवभूत जल-कणों की। तृतीय (द्रव्यान्तरारम्भ) पक्ष में तो अवयव और अवयवी का भेद ही रहता है जो कि दार्ष्टान्त के अनुरूप नहीं।

समाधान—मधुरूप में अवस्थित रसों और समुद्ररूप में विद्यमान नदियों के विस्पष्ट व्यावर्तक का अभाव होने के कारण भेद-भान न होना ही उक्त दृष्टान्तों के द्वारा प्रतिपिपादयिषित है। वास्तविक भेद और अभेद के प्रदर्शन में उदासीन दृष्टान्तों के द्वारा इतना ही सिद्ध किया गया है कि जैसे समुद्र में नदियों के भेद की प्रतीति नहीं होती, वैसे ही ब्रह्म में जीवों के भेद का भान नहीं होता, अतः आप (द्वैती) के द्वारा उद्भावित दोष यहाँ प्राप्त नहीं होते। न्यायामृतकार का जो यह कहना है कि उक्त दृष्टान्तों से केवल यह दिखाया गया है कि सुषुप्ति अवस्था में जीवों के विद्यमान भेद का अज्ञान होता है। वह कहना भी इसीलिए निरस्त हो जाता है कि उक्त दृष्टान्त भेद की सत्ता में उदासीन हैं, उनसे भेद की विद्यमानता सिद्ध नहीं की जा सकती।

शङ्का—कथित दृष्टान्तों के द्वारा प्रदर्शित अस्फुट भेद की विषयता का आत्यन्तिक अभेद रूप दार्ष्टान्त में कोई उपयोग नहीं।

समाधान—अन्तःकरण एक ऐसी स्थूल उपाधि है, जिसके रहने पर जीव-भेद स्फुट रहता है और सुषुप्ति में अन्तःकरण का विलय हो जाने पर भेद स्फुट नहीं रहता, अतः अन्तःकरणानवच्छिन्न चैतन्य का सुषुप्ति में अनवच्छिन्न शुद्ध चैतन्य के साथ वैसे ही अभेद संभावित हो जाता है, जैसे कि अन्तःकरणावच्छिन्न का अविद्या रूप महान् (सूक्ष्म) उपाधि से अवच्छिन्न का अभेद होता है [घटावच्छिन्न आकाश उस समय मठावच्छिन्न आकाश से अभिन्न होता है, जब कि मठ में घट रख दिया जाय एवं वहाँ घट के फूट जाने पर घटावच्छिन्न आकाश का महाकाश से अभिन्न हो जाना भी सम्भावित होता ही है]। अत एव "ताः समुद्रात् समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति" (छां० ६।१०।१) यहाँ पर प्रक्रान्त नदियों को उद्देश्य बनाकर समुद्रभवन का वैसे ही विधान हो जाता है जैसे सुवर्ण कुण्डल हो जाता है, वैसे वह समुद्र ही

न्यायामृतम्

समुद्रभवनविधाने ते तण्डुला ओदनं भवन्तीतिवत् ताः समुद्र एव भवन्तीति स्यात्। अतो नद्योऽनियतजलराशिरूपात्खातरूपाद्वा देवतारूपाद्वा समुद्राद् गच्छन्ति तं प्रविशन्ति च समुद्रस्तु स एव नैतासां समुद्रत्वमिति वा स समुद्र एव न तु नदीत्वं प्राप्नोतीति वार्थः। तस्मात्सतोऽप्यन्योन्यं भेदस्याज्ञान एव इमौ दृष्टान्तौ। अत एव नानारसवाक्ये दार्ष्टान्तिके "एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपत्स्यामहे इति त इह व्याघ्रो वे"ति नदीसमुद्रवाक्ये च दार्ष्टान्तिके "सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति त इह व्याघ्रो वे"ति सतो भेदस्याज्ञानेनवानर्थ उक्तः।

अद्वैतसिद्धिः

ताः समुद्र एव भवन्तीति व्यपदेशः स्यात्। अतो नद्योऽनियतजलराशिरूपात् समुद्राद् गच्छन्ति तं प्रविशन्ति च, समुद्रस्तु स एव, नैतासां समुद्रत्वमिति वा, समुद्र एव न तु नदीत्वं प्राप्नोतीति वार्थः। सतोऽप्यन्योन्यं भेदस्याज्ञान एवेमौ दृष्टान्तौ। अत एव—नानारसवाक्ये दार्ष्टान्तिके 'एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपत्स्यामह इति त इह व्याघ्रो वे'ति नदीसमुद्रवाक्ये च दार्ष्टान्तिके 'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह'इति 'त इह व्याघ्रो वे'ति सतो भेदस्याज्ञानेनैवानर्थ उक्त इति—निरस्तम्, स्पष्टभेदविषयताभावाभिप्रायेण दृष्टान्तत्वात्। यच्च भेदाज्ञाननिबन्धनव्याघ्रादिरूपानर्थपरा श्रुतिरिति, तन्न, सति संपद्येत्येस्यासन्नत्वात् 'न विदु'रित्यनेन सत्संपत्त्यज्ञानमुच्यते न तु भेदाज्ञानम्। तथा च सत्संपत्तेर्ज्ञानपूर्वकत्वाभावात् तत्तद्वासनया तत्तद्व्याघ्रादिभाव एव भवतीत्ये-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नदियाँ हो जाता है—ऐसा व्यवहार हो गया। अतः नदियाँ अनियत जलराशिरूप समुद्र से निकलकर उसमें ही समा जाती हैं, समुद्र जैसे-का-तैसा ही है। अथवा नदियों में समुद्रत्व नहीं या समुद्र ही नदीभाव को प्राप्त नहीं होता—यह दृष्टान्त का अर्थ है। फलतः ये दोनों दृष्टान्त विद्यमान भेद के अज्ञान को ही सूचित करते हैं।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि सभी दृष्टान्त भेद-सूचक हैं, अतः उनके द्वारा दार्ष्टान्त में भेद-साधन के द्वारा अनर्थ ध्वनित किया गया है, जैसा कि "नानारस"—वाक्य के दार्ष्टान्त में कह भी दिया है—"एवमेव खलु सोम्य! इमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः—सति सम्पत्स्यामहे" एवं नदी समुद्र वाक्य के दार्ष्टान्त में भी कहा है कि "सतः आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे"। इस प्रकार सुषुप्ति में प्राप्य और प्रापक के विद्यमान भेद का वेदन (ज्ञान) ही नहीं रहता, भेद का सद्भाव बना रहता है।

न्यायामृतकार का वह कहना उचित नहीं, क्योंकि सुषुप्ति में स्पष्ट भेद नहीं रहता, अस्फुट भेद रहता है किन्तु कथित दृष्टान्तों के द्वारा स्फुट भेद का अभाव ही सिद्ध किया जाता है, अस्फुट भेद नहीं। यह जो कहा गया कि भेदाज्ञान-प्रयुक्त व्याघ्रादिरूप अनर्थ का प्रतिपादन उक्त श्रुति करती है, वह कहना संगत नहीं, क्योंकि उक्त श्रुति में "न विदुः"—इस वाक्य की आसत्ति (समीपता) "सति सम्पद्य"—इसके साथ होने के कारण सत्सम्पत्ति (समुद्ररूपतापत्ति) का ही अज्ञान प्रतिपादित है, भेद का अज्ञान नहीं। सत्सम्पत्ति ज्ञानपूर्वक नहीं होती, अतः व्याघ्रादि की वासनाएँ उच्छिन्न न होकर व्याघ्रादि भावरूप अनर्थ को सँजोए रखती हैं—ऐसा ही उक्त श्रुति का आशय है

न्यायामृतम्

न हि गृहे प्रविष्टस्य गृहादागतस्य वा तदैक्यम्। तस्माद् दृष्टान्तानुसारेणातत्त्वमसीतिच्छेदो युक्तः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—

यथा पक्षी च सूत्रं च नानावृक्षरसा यथा।
यथा नद्यः समुद्रश्च शुद्धोदलवणे यथा॥
यथा स्तेनापहार्यौ च यथा पुंविषयावपि।
तथा जीवेश्वरौ भिन्नौ सर्वदैव विलक्षणौ॥ इति।

किं चाष्टमे खण्डे "स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहि"ति स्वातंत्र्यशंकानास्पदसुषुप्तिनिदर्शनेन एकादशे च अस्य यदेकां शाखां जीवो जहाती"त्यादिना अन्वयव्यतिरेकोक्त्या पञ्चदशे च पुरुषं सोम्योतोपतापिन"मित्यादिना स्वातंत्र्यशंकानास्पदमरणनिदर्शनेनेश्वराधीनत्वस्योक्तत्वादतदित्येव च्छेदो युक्तः। एवं च—

अद्वैतसिद्धिः

तत्परत्वात्॥

तस्माद् दृष्टान्तवर्याणां भेदे तात्पर्यहानितः।
एतेषामनुसारेण छेदो नातदिति स्फुटम्॥

ननु—अष्टमखण्डे स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति स्वातन्त्र्यशङ्कानास्पदसुषुप्तिनिदर्शनेन एकादशे चास्य यदेकां शाखां जीवो जहातीत्यादिना अन्वयव्यतिरेकोक्त्या पञ्चदशे च पुरुषं सोम्योतोपतापिनमित्यादिना स्वातन्त्र्यशङ्कानास्पदमरणनिदर्शनेन ईश्वराधीनत्वस्योक्तत्वादतदित्येव छेदो युक्त इति—चेन्न, स्वप्नान्तमित्यादेः सुषुप्त्यवस्थायामेव जीवत्वविनिर्मुक्तं स्वं देवतारूपं दर्शयिष्यामीत्यनेनाभिप्रायेण उद्दाल-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भेद प्रतिपादन अभीष्ट नहीं, फलतः—

तस्माद् दृष्टान्तवर्याणां भेदे तात्पर्यहानितः।
एतेषामनुसारेण छेदो नातदिति स्फुटम्॥

[कथित दृष्टान्त सर्वथा निर्दोष हैं, उनका तात्पर्य भेद के साधन में कदापि नहीं, अतः उनके अनुरोध पर 'अतत्त्वमसि'—इस प्रकार का भेदावभासी पदच्छेद सम्भव नहीं]।

शङ्का—"अतत्त्वमसि"—ऐसा पदच्छेद करना ही युक्ति-संगत है, क्योंकि छान्दोग्योपनिषद्गत षष्ठ अध्याय के अष्टम खण्ड में उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को कहा—"स्वप्नान्तं सोम्य मे विजानीहि", "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति"—इससे जीव में स्वातन्त्र्य-शङ्का को दूर करते हुए ईश्वराश्रयत्व और ईश्वर का भेद स्पष्ट प्रतिपादित है। एकादश खण्ड में "अस्य चैकां शाखां जीवो जहाति अथ सा शुष्यति" इससे जीव का सम्बन्ध रहने पर शाखा हरी और उसके न रहने पर शाखा सूख जाती है—ऐसे अन्वयव्यतिरेक का कथन किया गया तथा पञ्चदश खण्ड में "पुरुषं सोम्य! उतोपतापिनं (ज्वरितं मुमूर्षुम्) ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति तस्य यावन्न वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्, तावज्जानाति।" इससे भी जीव में स्वातन्त्र्य-शङ्का-निवृत्तिपूर्वक ईश्वराधीनत्व प्रतिपादित है।

समाधान—अष्टम खण्ड में ईश्वराधीनत्व का प्रतिपादन नहीं, अपितु सुषुप्ति अवस्था में ही जीवभाव से रहित स्व को देवतास्वरूप दिखाएंगे—इस अभिप्राय से उद्दा-

न्यायामृतम्

वाक्यशेषानुसारेण मुख्यार्थस्यैव सम्भवे।
तद्विरुद्धानेकपदलक्षणा नैव युज्यते॥

एकादश खण्डे "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठती"त्यत्र च जीवशब्द ईश्वरपरः, मोदमान इति संसारिणः पृथगुक्तेः। "एतस्यैव सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठती"त्यत्राणिमशब्दः परमसूक्ष्मेश्वरपरः। "स एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्व" मिति इहैव श्रुतावीश्वरे तस्य प्रयोगात्, न तु परीत्या धानापरः। तासां किमत्र पश्यसीति अण्व्य इवेमा धाना भगव इति भावप्रत्ययरहितेन स्त्रीलिंगेन

अद्वैतसिद्धिः

केनावतारितत्वेनेश्वराधीनत्वपरत्वाभावात्। जलादुत्थितानां वीचीतरङ्गफेनबुद्बुदानां पुनस्तद्भावं गतानां विनाशो दृष्टः। जीवानां प्रत्यहं स्वरूपतां गच्छतां मरणप्रलययोश्च नाशाभावः कथमित्याशङ्कायां तत्परिहारत्वेनोक्तस्य वृक्षशाखानिदर्शनस्य जीवाधिष्ठितं शरीरं जीवति, तदपेतं च म्रियते, न तु जीवो म्रियत इत्येतत्परत्वात् 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत' इति वाक्यशेषात्। यथा सोम्योतोपतापिनमित्यस्यापि 'आचार्यवान् विद्वान् केन क्रमेण सत् संपद्यत इत्याशङ्कायां तत्क्रमप्रदर्शनपरत्वेन ईश्वराधीनत्वे तात्पर्याभावात्।

यत्तु एकादशे 'जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठती'त्यत्र जीवशब्द ईश्वरपरः मोदमान इति संसारिणः पृथगुक्तेरिति, तन्न, मोदमान इत्यस्य दृष्टान्तत्वेन प्रक्रान्तवृक्षविशेषणत्वेन संसारिपरत्वाभावेन जीव इत्यत्र श्रुतार्थत्यागायोगात्। यच्च द्वादशे एतस्यैव सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठतीति, अत्र अणिमशब्दः सूक्ष्मेश्वरपरः, स एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वमिति इहैव श्रुतावीश्वरे तस्य प्रयोगात्, न तु धानापरः, तासां किमत्र पश्यसीति अण्व्य इवेमा धाना इति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

लक ने उपक्रम किया है। एकादश खण्ड में भी 'जल से उत्पन्न फेन, बुद्बुदादि जल में विलीन होकर नष्ट हो जाते हैं, किन्तु जीवगण प्रतिदिन स्व-स्वरूप में विलीन होकर नष्ट क्यों नहीं होते? इस शङ्का का परिहार वृक्ष-शाखा के दृष्टान्त से किया गया है कि जीवाधिष्ठित शरीर जीवित रहता है और जीव से वियुक्त होने पर मर जाता है, किन्तु जीव नहीं मरता—ऐसा ही उसका आशय है, क्योंकि वाक्य-शेष में स्पष्ट कहा गया है—"जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवो म्रियते।" इसी प्रकार पञ्चदश खण्ड में भी "आचार्यवान् केन क्रमेण सत् सम्पद्यते? इस शङ्का के समाधान में उसका क्रम दिखाया गया है, ईश्वराधीनत्व के प्रतिपादन में उसका तात्पर्य नहीं।

यह जो कहा गया कि एकादश खण्ड में "जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति"—यहाँ 'जीव' शब्द ईश्वरपरक है, क्योंकि 'मोदमानः' इस पद के द्वारा संसारी जीव का पृथक् निर्देश है। वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि मोदमानः—यह प्रक्रान्त वृक्ष का विशेषणभूत दृष्टान्त है, जीवपरक नहीं, अतः 'जीव' पद से अभिहित जीव का परित्याग कर ईश्वर की कल्पना नहीं कर सकते।

यह जो कहा है कि द्वादश खण्ड में "एतस्यैव सोम्येषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति"—यहाँ 'अणिम' शब्द सूक्ष्मभूत ईश्वर का बोधक है, क्योंकि इसी श्रुति में "स एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'—इस प्रकार 'अणिम' शब्द ईश्वरपरक देखा जाता है, धाना (वट-वीज) का बोधक नहीं, क्योंकि "तासां किमत्र पश्यसीति अण्व्य

न्यायामृतम्

बहुवचनान्तेनेवशब्दशिरस्केन चाणुशब्देन निर्दिष्टतया तद्विपरीताणिमशब्दानर्हत्वात् , 'न निभालयस' इत्युक्तादृश्यत्वायोगाच्च। यदि च पञ्चदशे विदुषो ब्रह्मप्राप्तिमात्रं विवक्षितम् , तदा तस्य 'वाङ् मनसि संपद्यत' इत्यादि 'तेजः परस्यां देवतायाम्'—इत्यन्तमेव वाक्यं स्यात्। "तस्य यावन्न वाङ् मनसि संपद्यत" इत्यादिव्यर्थं स्मृतिश्च—

यदा प्राणान् ददातीशस्तदा चेतनकोऽखिलम्।
जानाति ग्रस्तकरणस्तेन वेत्ति न किंचन॥ इति

अद्वैतसिद्धिः

भावप्रत्ययरहितेन स्त्रीलिङ्गेन बहुवचनान्तेन इवशब्दशिरस्केनाणुशब्देन निर्दिष्टतया तद्विपरीताणिमशब्दानर्हत्वाच्चेति--चेन्न, एषोऽणुरात्मेत्यत्र भावप्रत्ययरहितप्रयोगविषयेऽपीश्वरे एषोऽणिमेति प्रयोगदर्शनेन धानासु तथा वक्तुं शक्यत्वात्। न च तर्हि न निभालयस इत्युक्तादृश्यत्वायोगः, अनुभूतायां धानायामेव महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति स त्वयाऽनभिव्यक्तत्वात् न ज्ञायत इत्येवंपरत्वात्।

ननु--यदि पञ्चदशे विदुषो ब्रह्मप्राप्तिमात्रं विवक्षितम् , तदा तस्य वाङ्मनसि संपद्यत इत्यादि तेजः परस्यां देवतायामित्यन्तमेव वाक्यं स्यात् , यावन्ना वाङ्मनसि संपद्यत इत्यादि व्यर्थं स्यादिति--चेन्न, लौकिकमरणे यः सत्संपत्तिक्रमः, स एव विदुषोऽपि, विशेषस्तु ज्ञानाज्ञानकृत इति अमुमर्थं प्रतिपादयितुं दृष्टान्तेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सत्संपत्तिक्रम इति वैयर्थ्याभावात्। न च 'तत् सत्यं स आत्मा' इत्यत्रात्म-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इवेमा धानाः"—इस प्रकार भाव-प्रत्यय-रहित स्त्रीलिङ्ग-बहुवचान्त ऐसे 'अण्व्यः' शब्द से धानाओं का प्रतिपादन किया गया है, जिसके उत्तर 'इव' शब्द भी प्रयुक्त है, अतः उसके विपरीत भाव-प्रत्ययान्त पुँल्लिङ्ग-एकवचनान्त 'अणिमा' शब्द से धानाओं का अभिधान नहीं हो सकता।

वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि "एषोऽणुरात्मा"—यहाँ पर भाव-प्रत्यय-रहित 'अणु' शब्द के द्वारा अभिहित ईश्वर है, फिर भी 'एषोऽणिमा' ऐसा प्रयोग ईश्वर में जब देखा जाता है, तब धानापरक भी वह प्रयोग क्यों न हो सकेगा ?

यदि 'अणिमा' शब्द से धाना का ही अभिधान किया जाता है, तब "न निभालयसे"—इस प्रकार अदृश्यत्व का कथन क्यों ? इस शङ्का का समाधान यह है कि धाना की अदृश्यता के प्रतिपादन में उसका तात्पर्य नहीं, अपितु 'अनुभूतायामेव धानायां महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति, स त्वयाऽनभिव्यक्तत्वात् न ज्ञायते'—ऐसा उसका तात्पर्य है।

शङ्का—यदि पन्द्रहवें खण्ड में विद्वान् की ब्रह्म-प्राप्तिमात्र विवक्षित है, तब "तस्य वाक् मनसि सम्पद्य"—यहाँ से लेकर "तेजः परस्यां देवतायम्"—यहाँ तक का ही वाक्य होना चाहिए "यावन्न वाङ्मनसि सम्पद्यते"—इत्यादि व्यर्थ हो जाता है।

समाधान—अविद्वान् व्यक्ति के मरण में जो क्रम है, वही विद्वान् के मरण में भी है, विशेषता केवल इतनी है कि ज्ञान न होने के कारण अविद्वान् संसार में पुनः आता है और विद्वान् नहीं—इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा विद्वान् की सत्सम्पत्ति का क्रम दिखाया गया है, दृष्टान्त का कोई भी अंश व्यर्थ नहीं।

शङ्का—"तत् सत्यं स आत्मा" (छां. ६।८।७) यहाँ पर 'आत्मा' शब्द के

न्यायामृतम्

स आत्मेत्यत्र च सोऽणिमशब्दोक्त ईश्वर आत्मा आतत इत्येवार्थः, न तु जीवात्मेति।

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तेनात्मेति हि भण्यते॥

इति भारतोक्तेः। "नानुमानमतच्छब्दात् प्राणभृच्चे" ति सूत्रे "तमेवैकं जानथात्मान" मिति वाक्योक्तो न जीवः तद्वाचिशब्दाभावादिति त्वयापि सिद्धान्तितत्वेनात्मशब्दस्य जीवेष्वमुख्यत्वाच्च। "स इमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोदि"त्यत्रापि जीवशब्देनेश्वर उच्यते, न तु संसारी जीव इति भगवतोऽनिरु-

अद्वैतसिद्धिः

शब्देनाणिमशब्दोक्तेश्वर एव गृह्यते, न तु जीवः।

"यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति गीयते॥"

इति वचनादिति--वाच्यम्, कतम आत्मेत्यादौ आत्मशब्दस्य जीवे प्रसिद्धत्वाद्, वचनोक्तविषयात्तृत्वस्य जीव एव च संभवात् तत्परिग्रहस्यैवोचितत्वात्। यच्च 'तमेवैकं जानथ आत्मान'मिति वाक्योक्तो न जीवः तद्वाचिशब्दाभावादिति सिद्धान्तितम्, तदात्मशब्दस्य न जीवे अमुख्यत्वाभिप्रायेण किंतु प्रधानादौ, जीवस्य तु आत्मत्वेऽपि परिच्छिन्नतया जगत्कर्तृत्वासंभवाद् व्युदास इत्येवंपरम्। जीवेनात्मनेति सामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च। न च जीवशब्देन ईश्वर एवोक्तः, रूढिपरित्यागे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वारा अणिमपदास्पद ईश्वर ही गृहीत होता है, जीव नहीं, क्योंकि महाभारत में कह है—

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति गीयते॥

['आत्मन्' शब्द 'आप्लृ व्याप्तौ', 'आङ्पूर्वक डुदाञ् दाने', 'अद भक्षणे' अथवा 'अत सात्यगमने'—इन चार धातुओं से निष्पन्न होता है, अतः जो सर्वव्याप्त, अपने उदर में विश्व का आदान करनेवाला, मृत्यु-पर्यन्त समस्त चराचर जगत् का भक्षक एवं जो सतत गतिशील है, ऐसे परमेश्वर को आत्मा कहा जाता है]।

समाधान—"कतम आत्मा" (बृह. उ. ४।३।७) इत्यादि श्रुतियों में 'आत्मा' शब्द जीव का वाचक प्रसिद्ध है एवं उक्त महाभारतोक्त वाक्य में कथित विषय-भक्षकत्व जीव में ही सम्भव है, अतः प्रकृत 'आत्म' शब्द से जीव का ही ग्रहण करना उचित है। यह जो "तमेवैकं जानथ आत्मानम्" (मुं० २।२।५) इस वाक्य में गृहीत 'आत्मा द्यु-भु आदि का आयतनभूत परमात्मा (ब्रह्म) ही विवक्षित है, क्योंकि "स्वशब्दात्" (ब्र. सू. १।३।१) 'आत्मा' शब्द ब्रह्म का वाचक है, जीव का नहीं—इस प्रकार का सिद्धान्त किया गया है, वह सिद्धान्त जीव में आत्मशब्द की अमुख्य वृत्ति है—इस आशय से नहीं किया गया, अपितु सांख्यादि-सम्मत प्रधानादि का मुख्यरूप से वाचक नहीं। यद्यपि 'आत्म' शब्द से जीव भी अभिहित है, तथापि वह परिच्छिन्न होने से द्यु-भु आदि का आयतन नहीं हो सकता, अतः उसका निरास किया गया है। यदि जीव 'आत्म' शब्द का अर्थ न माना जाय, तब 'अनेन जीवेन आत्मना" (छां. ६।३।२) इस प्रकार सामानाधिकरण्य-निर्देश अनुपपन्न हो जायगा। यहाँ 'जीव' शब्द ईश्वर का

न्यायामृतम्

द्रस्याख्ये''ति श्रुतेः, "विष्णुर्जीव इतिप्रोक्तः सततं प्राणधारणादि''ति स्मृतेश्च। जीवेऽपि योगसम्भवेन; रूढ़िकल्पकाभावाच्च। "अहं हि जीवसंज्ञो वै मयि जीवः समाहित" इति मोक्षधर्मे भगवद्वचनाच्च। प्राणधारकत्वरूपनिमित्तस्येश्वर एव मुख्यत्वाच्च संसारिणस्त्रिवृत्करणपूर्वकं नामरूपात्मकप्रपंचकर्तृत्वायोगाच्च। तेजोऽबन्नानां तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त इमास्तिस्रो देवता" इति पूर्वमेव चेतनत्वसिद्ध्या पुनर्जीवप्रवेशोक्त्ययोगाच्च।

एकमेवाऽद्वितीयमित्युपक्रमः। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं च प्रागेव व्याख्यातम्।

अद्वैतसिद्धिः

कारणाभावाद्, रूढेश्च क्लृप्तत्वाद्, अहं हि जीवसंज्ञ इत्यादेश्च अभेदपक्षेऽपि संभवात्। न च प्राणधारकत्वमीशमात्रवृत्ति, जीवसाधारणत्वात्। न च त्रिवृत्करणपूर्वकनामरूपव्याकरणस्य जीवेऽसंभवः अस्मदादावसंभवेऽप्यत्रिवृत्कृतभूतारब्धलिङ्गशरीराभिमानिनो हिरण्यगर्भस्य नामरूपात्मकप्रपञ्चव्याकरणसंभवात्। न च—तर्हि पुनर्जीवप्रवेशोक्त्ययोगः, 'तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त इमास्तिस्रो देवता' इति पूर्वमेव चेतनत्वसिद्धेरिति—वाच्यम्, अव्याकृतभूतसृष्टौ साक्षात्कारणत्ववत् ब्रह्माण्डादिसृष्टौ न साक्षात्कारणता किंतु स्वाभिन्नजीवद्वारेणेत्येवंपरत्वात्। किंच 'एकमेवाद्वितीयमित्युपक्रमात् न श्येनादिदृष्टान्तानुसारादतदिति पदच्छेदो युक्तः, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानविरोधाद्, ब्रह्मजीवैक्यस्याप्रसक्तत्वेन निषेधानुपपत्तेश्च।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वाचक नहीं हो सकता, क्योंकि जीव में रूढ है, विना पुष्कल कारण के रूढ़ि का परित्याग नहीं हो सकता, क्योंकि वह विशेष अर्थ में निश्चित होती है। 'अहं जीवसंज्ञकः'—इस प्रकार की अनुभूति के आधार पर भी ब्रह्म से जीव का भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि अभेद पक्ष में भी वह सम्भव है। प्राण-धारकत्व भी जीव और ब्रह्म—उभयवृत्ति होता है, केवल ईश्वरवृत्ति नहीं। यह जो कहा गया कि त्रिवृत्करण पूर्वक नाम-रूप का व्याकरण जीव में सम्भव नहीं, वह यद्यपि अस्मदादि साधारण जीवों में सम्भव नहीं, तथापि अत्रिवृत्कृत भूतो से आरब्ध लिङ्ग शरीर के अभिमानी हिरण्यगर्भ में नाम-रूपात्मक प्रपञ्च का व्याकरण सम्भव है।

शङ्का—भूतादि-सृष्टि के अनन्तर जीवरूप से पुनः प्रवेश का प्रतिपादन व्यर्थ है, क्योंकि अचेतन जगत् में चैतन्य-सम्पादनार्थ प्रवेश का प्रतिपादन किया गया है, वह चैतन्यरूपता तो भूतों में पहले से ही है, क्योंकि "तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त" (छां० ६।२।३) इत्यादि वाक्यों से प्रतिपादित ईक्षण-कर्तृत्व रूप चैतन्य उनमें पहले से ही विद्यमान है।

समाधान—अव्याकृत भूत-सृष्टि की साक्षात् कारणता जैसे हिरण्यगर्भ में है, वैसे व्याकृत ब्रह्माण्ड-सृष्टि की साक्षात् कारणता नहीं, किन्तु स्वाभिन्न जीव के द्वारा ही है, अतः प्रवेश-प्रतिपादन व्यर्थ नहीं। दूसरी बात यह भी है कि 'एकमेवाद्वितीयम्'—इस प्रकार के अभेदावभासी उपक्रम को देखते हुए केवल श्येनादि दृष्टान्त के आधार पर 'अतत्त्वमसि'—ऐसा पदच्छेद करना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि एक विज्ञान से सर्व-विज्ञान की प्रतिज्ञा का भी विरोध हो जाता है, जो कि अभेद-पक्ष की ही पोषिका है। यदि ब्रह्म और जीव का ऐक्य अप्रसक्त है, तब उसका निषेध भी 'अतत्' पद से भी नहीं हो सकता।

न्यायामृतम्

न चैक्याप्रसक्तेरतत्त्वमसीतिनिषेधायोगः । "इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठ"मित्यादाविव श्रुतितात्पर्यापरिज्ञानेन वा "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसी" दित्यादाविवानादिकुसमयेन वा देहेन्द्रियादीन्प्रति स्वातन्त्र्यरूपस्येश्वरलक्षणस्य सर्वैरपि आत्मन्यभिमन्यमानत्वेन प्रत्यक्षेण वा प्रसक्तस्यैक्यस्य निषेधोपपत्तेः । एवं च "एकमेवाद्वितीय" मिति समाभ्यधिकराहित्यस्योपक्रमात् । ऐतदात्म्यमिति तस्यैवोपसंहाराद् अतत्त्वमसीति नवकृत्वोऽभ्यासात् शास्त्रं विना शास्त्रैकगम्येश्वरभेदस्याप्रसक्त्या अपूर्वत्वाद्, अथ संपत्स्यत इति फलश्रवणाद्, येनाश्रुतं श्रुतं भवतीत्याद्यर्थवादात्

अद्वैतसिद्धिः

न च—'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठ'मित्यादाविव श्रुतितात्पर्यापरिज्ञानेन 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसी'दित्यादाविवानादिकुसमयेन वा देहेन्द्रियादीन् प्रति स्वातन्त्र्यरूपस्य ऐश्वर्यस्य सर्वैरपि स्वात्मन्यभिमन्यमानत्वेन प्रत्यक्षेण वा प्रसक्तिरैक्यस्येति—वाच्यम्, ऐक्यतात्पर्यस्य प्रमितत्वेन सुसमयत्वस्य व्यवस्थापितत्वेन च तात्पर्यापरिज्ञानकुसमयप्राप्तत्वस्य वक्तुमशक्यत्वाद्, ऐक्यलिङ्गस्यापि आभिमानिकत्वाभावेन तेन चेत् प्रसक्तिः, तदा निषेद्धुमशक्यतैव, देहेन्द्रियादीनां जीवस्यैक्येनाध्यस्तत्वात् तान् प्रति स्वातन्त्र्याभिमानस्य सार्वलौकिकस्य वक्तुमशक्यत्वाद्, यत्किंचित्प्रति स्वातन्त्र्यस्य ईश्वरलक्षणत्वाभावाच्च । एतेन—एकमेवाद्वितीयमिति समाभ्यधिकराहित्यस्योपक्रमाद्, ऐतदात्म्यमिति तस्यैवोपसंहाराद्, अतत्त्वमसीति नवकृत्वोऽभ्यासाद्, शास्त्रं विना शास्त्रैकगम्यस्य ईश्वरभेदस्याप्रसक्ततयाऽपूर्वत्वाद्, अथ सम्पत्स्यत इति फलश्रवणाद्, येनाश्रुतं श्रुतं भवतीत्यर्थवादात्, शकुनिसूत्रादिदृष्टान्तैरुपपादनात्, षड्विधतात्पर्यलि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—जैसे "अपाम सोममृता अभूम" (ऋ. ८।४८।३) "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्" (   ) इत्यादि श्रुतियों के तात्पर्य का परिज्ञान न होने के कारण यज्ञादि में प्राप्त वरिष्ठत्व का "इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठम्" (मुं. १।२।१०) इस श्रुति के द्वारा निषेध किया जाता है या "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्" (छां. ३।२१।१) इत्यादि श्रुति में अनादि कुसंस्कार-सिद्ध असद्रूपता का निषेध किया जाता है, वैसे ही देह, इन्द्रियादि के प्रति स्वातन्त्र्यरूप ऐश्वर्य का अभिमानरूप ऐक्य प्रत्यक्षतः प्रसक्त है, उसी का निषेध 'अतत्त्वमसि' के द्वारा किया जा सकता है।

समाधान—ऐक्यविषयक तात्पर्य प्रमित एवं सत्सम्प्रदायागत है, उसे तात्पर्यापरिज्ञान या कुसम्प्रदायागत नहीं कहा जा सकता। ऐक्यविषयक लिङ्ग भी वास्तविक हैं, आभिमानिक नहीं, उनके द्वारा यदि अभेद की प्राप्ति मानी जाती है, तब उसका निषेध ही नहीं हो सकता। देहेन्द्रियादि में जीवैक्य का अध्यास होने के कारण देहेन्द्रियादि के प्रति सार्वलौकिक स्वातन्त्र्याभिमान नहीं कहा जा सकता, जीव में यत्किञ्चित् पदार्थ के प्रति ही स्वतन्त्र्य मानना होगा, जो कि ईश्वर का लक्षण नहीं, अतः उपहित का भेद होने पर भी शुद्ध का ऐक्य निर्विवाद-सिद्ध है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि "एकमेवाद्वितीयम्"—यह उपक्रम ब्रह्म के समान या उससे अधिक वस्तु के अभाव मात्र का प्रतिपादक है, उसी का "ऐतदात्म्यम्"—से उपसंहार किया गया है, उसी का अतत्त्वमसि—इस प्रकार नौ वार अभ्यास किया गया, शास्त्रातिरिक्त प्रमाण से ईश्वर-भेद में अनधिगन्तृत्वरूप अपूर्वत्व भी

न्यायामृतम्

शकुनि सूत्रादिदृष्टान्तैरुपपादनात् षड्विधतात्पर्यलिङ्गानि भेदपराण्येवेति।

तत्त्वमसिवाक्यार्थः ॥ २९ ॥

अद्वैतसिद्धिः

ङ्गानि भेदपराण्येवेति—निरस्तम्, एकमेवेत्यत्र समाभ्यधिकराहित्यमात्रेण भेदोपक्रमत्वाभावाद्, अभेदेऽपि तत्संभवाद्, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानविरोधाद्, द्वितीयाभावमात्रस्यैवोपक्रमात्। अत एवाभ्यासोपसंहारावपि भेदविषयौ न भवतः अभेदे तु यथाऽपूर्वता तथोक्तम्। फलार्थवादोपपत्तीनामभेद एव संभवाच्च। तथा शाखान्तरस्थिताभेदवाक्यानामुपासनाप्रकरणस्थितानां तूपासनापरतया नाभेदपरवाक्यविरोधः॥

इति तत्त्वमसिवाक्यार्थनिरूपणम्॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है, उसी की 'अथ सम्पत्स्यते'—यह फलश्रुति भी है, 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति'—यह अर्थवाद भी उसी ईश्वर-भेद का है और शकुनि-सूत्रादि दृष्टान्तों के द्वारा उपपादन भा उसी का किया गया, अतः तात्पर्य-ग्राहक षड्विध लिङ्ग भेदपरक ही हैं।

वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि "एकमेवाद्वितीयम्'—यह उपक्रम समान या अधिक वस्तु के निषेध मात्र को लेकर नहीं बन सकता, क्योंकि अभेदपरक भी वह हो सकता है, भेद-पक्ष में एक-विज्ञान से सर्व-विज्ञान का प्रतिज्ञान विरुद्ध हो जाता है—यह कई वार कहा जा चुका है, अतः समस्त द्वैत के अभाव का उपक्रम मानना होगा, अत एव अभ्यास और उपसंहार भी भेदपरक नहीं हो सकते, अभेद-पक्ष में अपूर्वता का सुसामञ्जस्य किया जा चुका है, फल, अर्थवाद और उपपत्ति तो अभेद-पक्ष में ही सम्भावित हैं। शाखान्तरस्थ अभेद-वाक्यों के उपासनापरक होने पर भी प्रकृत अभेदपरक वाक्य का कोई विरोध नहीं होता।

: ३० :

अहं ब्रह्मास्मीत्यादिश्रुत्यर्थविचारः

न्यायामृतम्

एतेनाहं ब्रह्मास्मीत्याद्यपि व्याख्यातम्। उक्तरीत्या एकपदलक्षणया ब्रह्मसाहचर्यादिना जीवे ब्रह्मेतिव्यपदेशस्य वा सादेश्यादिना ब्रह्मण्यहमितिव्यपदेशस्य वोपपत्तौ

अद्वैतसिद्धिः

बृहदारण्यकस्थितस्य तु 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मी'ति वाक्यस्यानुपासनाप्रकरणस्थतया अभेदप्रमापकत्वमेव। न च तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत, स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणामिति भेदपरवाक्यशेषविरोधः, तत्रापि देवादिषु प्रबुद्धं पुरुषं निर्धार्य 'स एव तदभव'दिति ब्रह्माभेदपरत्वेन भेदपरत्वाभावात्। न च—अत्र वाक्ये ब्रह्मण एव प्रकृतत्वान्नानेन जीवब्रह्मैक्यसिद्धिरिति—शङ्क्यम्, यो देवानामिति जीवपरामर्शिवाक्यशेषानुसारेण ब्रह्मपदस्य कार्यब्रह्मपरत्वात्, शुद्धब्रह्मपरत्वे च बोधनिमित्तस्य तस्मात्तत्सर्वमभवदिति सार्वात्म्यलक्षणफलकीर्तनस्यायुक्तत्वापत्तेः। न च—'नाम ब्रह्मेत्युपासीतादित्यो ब्रह्मेत्यादेश' इत्यादाविवतिशब्दशिरस्कतया नामाद्यभेदाभावादत्रापीतिशब्दशिरस्कतया ब्रह्मभेदाभाव इति—शङ्क्यम्, अनुपासनाप्रकरणस्थत्वेनाभेदाविवक्षाया नाम ब्रह्मेत्यादाविव वक्तुमशक्यत्वात्। न चेतिशब्दवैयर्थ्यम्, आत्मेत्येवोपासीत इत्यादाविव शब्दज्ञानयोः

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

बृहदारण्यकस्थ "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि" (बृह० उ० १।४।१०) यह वाक्य किसी उपासना के प्रकरण में नहीं, अतः अभेद का निश्चितरूप से प्रमापक है। "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत, स एव तदभवत्" (बृह० उ० १।४।१०) इस भेदपरक वाक्य-शेष से भी उसका विरोध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहाँ भी देवादि में तत्त्वज्ञानी पुरुष को उद्देश्य कर "स एव तदभवत्'—इस प्रकार ब्रह्माभेदपरक ही वह वाक्य है, भेदपरक नहीं।

शङ्का—उक्त वाक्य में केवल शुद्ध ब्रह्म का प्रकरण है, अतः इसके द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध नहीं हो सकती।

समाधान—"यो देवानाम्"—इस प्रकार जीव-परामर्शी वाक्य के अनुसार उक्त वाक्यस्थ 'ब्रह्म' पद कार्य ब्रह्म का बोधक है, शुद्ध ब्रह्मपरक मानने पर बोधप्रयुक्त 'तस्मात् तत्सर्वमभवत्'—इस प्रकार सर्वात्मकत्वरूप फल का कीर्तन अयुक्त हो जाता है।

शङ्का—जैसे "नाम ब्रह्मेत्युपासीत" (छां० ७।१।५) "आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः" (छां० ३।१९।१) इत्यादि वाक्यों में 'ब्रह्म' पद के अनन्तर इति का प्रयोग यह सिद्ध कर रहा है कि नामादि के साथ ब्रह्म का अभेद नहीं, वैसे ही "अहं ब्रह्मास्मीति" (बृह० १।४।१०) यहाँ भी इतिपरक 'ब्रह्म' पद का प्रयोग है, अतः यहाँ भी ब्रह्म के अभेद का अभाव ही मानना चाहिए।

समाधान—उपासना के प्रकरण में पठित 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत'—इत्यादि वाक्यों की समानता अनुपासना-प्रकरणस्थ 'ब्रह्मास्मीति'—इस वाक्य से नहीं हो सकती, अतः यहाँ उन वाक्यों के समान अभेद की अविवक्षा नहीं कर सकते। इति शब्द के वैयर्थ्य की शङ्का भी नहीं हो सकती, क्योंकि "आत्मेत्येवोपासीत" (बृह० उ० १।४।७) इत्यादि

न्यायामृतम्

पदद्वयलक्षणयैक्यपरत्वायोगात् । किं चाहंशब्दो जीवान्तर्यामिणि मुख्यः ।

सर्वान्तर्यामिको विष्णुः सर्वनाम्नाऽभिधीयते ।
एषोऽहं त्वमसौ चेति न तु सर्वस्वरूपतः ॥

इत्यादि स्मृतेः "अहं मनुरभवं सूर्यश्चे"त्यन्तर्यामिणि अहंशब्दप्रयोगाच्च । न हि त्वत्पक्षेऽपि विशिष्टचैतन्यरूपो वामदेवो विशिष्टचैतन्यरूपमनूसूर्यादिर्भवति ।

अद्वैतसिद्धिः

स्वाभाविकसकर्मकत्वप्राप्तौ तन्निराकरणपरत्वेनोपयोगात् । यच्च-अहंशब्दो जीवान्तर्यामिणि मुख्यः, अहंमनुरभवं सूर्यश्चेति अन्तर्यामिण्यहंशब्दप्रयोगात्,

सर्वान्तर्यामिको विष्णुः सर्वनाम्नाभिधीयते ।
एषोऽहं त्वमसौ चेति न तु सर्वस्वरूपतः ॥

इति वचनाच्चेति, तन्न, शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववदिति न्यायेन वामदेवजीवचैतन्यस्य वस्तुतो ब्रह्माभेदेन सूर्यादिभावस्योक्ततया अन्तर्यामिपरत्वाभावाद्, 'तद्यो यो देवानां प्रत्युबुद्ध्यत स एव तदभव'दिति पूर्ववाक्ये तत्त्वबोधनिमित्तकब्रह्मभावस्य प्रकृततया पश्यन् प्रतिपेदे इत्यादेरपि बोधनिमित्तब्रह्मभावपरतया अन्तर्यामिपरत्वाभावात् । स्मृतेरपि असाधारणतत्तदात्मनि शक्तेरावश्यकतया तत्सहचारेणान्तर्यामिणि एषोऽहमित्यादिप्रयोगः, न तु सर्वस्वरूपत इति । निषेधस्य तूपहितयो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वाक्यों के समान शब्द और ज्ञान की स्वभाव-सुलभ सकर्मकता का निराकरण 'इति' शब्द के प्रभाव से किया जाता है ।

यह जो कहा जाता है कि 'अहम्' शब्द जीव-व्याप्त अन्तर्यामी का मुख्यरूप से बोधक होता है, क्योंकि "अहं मनुरभवं सूर्यश्च" (बृह० उ० १।४।१०) इत्यादि स्थलों पर 'अहम्' शब्द अन्तर्यामी के लिए ही प्रयुक्त हुआ है । आगम भी कहता है—

सर्वान्तर्यामिको विष्णुः सर्वनाम्नाभिधीयते ।
एषोऽहं त्वमसौ चेति न तु सर्वस्वरूपतः ॥

[सर्वान्तर्यामी भगवान् विष्णु ही 'एष, अहम्, त्वम्, असौ—इत्यादि सर्वनाम पदों के द्वारा अभिहित होता है, सर्वस्वरूप होने के कारण नहीं] ।

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" (ब्र. सू. १।१।३०) इस सूत्र में यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि वामदेवादि ने जो यह कहा है कि "अहं मनुरभवं सूर्यश्च" (बृह० उ० १।४।१०)। वह उनका उपदेश "अहं ब्रह्मास्मि"—इस प्रकार जीव-ब्रह्माभेदविषयिणी शास्त्रीय दृष्टि से किया गया है, क्योंकि "तद्यो यो देवानां प्रत्युबुध्यत, स, एव तदभवत्" (बृह० उ० १।४।१०) इस पूर्व वाक्य में प्रक्रान्त तत्त्वज्ञान-प्रयुक्त ब्रह्मभाव को ही ध्यान में रख कर कहा गया है—"तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे" (बृह० उ० १।४।१०)। अतः वामदेव का यह दर्शन भी बोधनिमित्तक ब्रह्मभावपरक ही है, अन्तर्यामिपरक नहीं । कथित आगम वाक्य का भी किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता, क्योंकि 'अहम्' शब्द की तत्तद् असाधारण जीवात्मा में शक्ति माननी ही पड़ती है, उसका सहचारी अन्तर्यामी है, तत्सहचरितत्व निमित्त को लेकर 'अहम्' शब्द की गौणी वृत्ति अन्तर्यामी में भी हो जाती है—'एषोऽहम् ।' यह जो स्वरूपैक्य का निषेध है—'न सर्वस्वरूपतः', वह अहन्त्व

न्यायामृतम्

अहंमन्वादिशब्दैश्चिन्मात्रलक्षणायां चोत्तमपुरुषायोगः। "अहं भूमिमददामार्याये" त्याद्ययोगश्च। न हि चिन्मात्रं भूमिमदात्। भगवान्विष्णुर्हीन्द्राय भूमिमदात् तस्मादहं नामाभवत्तस्योपनिषदहमिति, अहंनामा हरिर्नित्यमहेयत्वात्प्रकीर्तित" इत्यादि श्रुतेश्च। श्रुत्यन्तरे "अहं तत्तेजोरश्मीन्नारायाणं पुरुषं जातमग्रतः तमिममहं विजानाती"ति अहेये अहं शब्दप्रयोगाच्च। अन्यथा अहं विजानामीति स्यात्। ततश्चान्तर्याम्यैक्यमेवात्रोच्यते। उक्ता चान्तर्यामिणि नियम्यानन्त्यादिना भेदप्रसक्तिः। तथा च श्रुत्यन्तरम्-

अद्वैतसिद्धिः

रैक्याभावनिबन्धनत्वान्न विरोधः, अत एव—विशिष्टचैतन्यरूपे वामदेवे विशिष्टचैतन्यरूपमनुसूर्यादिभावो न संभवतीति—निरस्तम्, शास्त्रदृष्ट्या तूक्तत्वात्। न च तर्हि शुद्धचित्यभवमित्युत्तमपुरुषायोगः, भूतपूर्वगत्या संभवात्। न च—अहं भूमिमददामार्यायेत्याद्ययोगः, न हि चिन्मात्रं भूमिददात्रिति—वाच्यम्, उपहितचितमादाय तेषामुपपत्तेः। अहं नामाभवत्तस्योपनिषदहमित्यादेश्च तादृशोपासनापरत्वेन शक्तिनिर्णायकत्वाभावात्। तस्मान्नान्तर्याम्यभेदपरेयं श्रुतिः, अन्तर्यामिणि भेदाप्रसक्तेश्च। न च नियम्यानन्त्यादिना प्रसक्तिः, एकस्मिन्नपि जीवे अनेकावयवनियामकत्वस्यैकस्मिन्नपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

और अन्तर्यामित्वरूप उपाधियों से विशिष्ट स्वरूपों की एकता होने के कारण है।

यह जो आक्षेप किया जाता है कि वामदेव का "अहं मनुरभवं सूर्यश्च"—यह कहना संगत नहीं, क्योंकि विशिष्ट चैतन्यरूप वामदेव में विशिष्ट चैतन्यस्वरूप मनु और सूर्य का अभेद सम्भव नहीं।

वह आक्षेप अत एव निरस्त हो जाता है कि वहाँ सूत्रकार ने ही निर्णय दे दिया है—"शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशः" (ब्र. सू. १।१।३०)। अर्थात् शास्त्र-बोधित शुद्ध चैतन्य की एकता को ध्यान में रख कर ही वैसा कहा गया है, विशिष्ट चैतन्यों की एकता को लेकर नहीं। यदि मनु और सूर्य की शुद्ध चैतन्य के साथ एकता विवक्षित है, तब वामदेव को 'शुद्धचितिः मनुरभवत् सूर्यश्च'—ऐसा कहना चाहिए था, अहमभवम्—ऐसा क्यों कहा? इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि भूतपूर्व गति (बाधितानुवृत्ति) को लेकर 'स्थाणुः चोरः' के समान वैसा व्यवहार हो सकता है।

शङ्का—यदि 'अहम्' शब्द के द्वारा शुद्ध चेतन का ही ग्रहण होता है, तब "अहं भूमिमददामार्याय" (ऋ० ४।२६।२) इस ऋचा का अर्थ संगत न हो सकेगा, क्योंकि शुद्ध चैतन्य आर्यगणों को भूमि का दान नहीं कर सकता।

समाधान—यहाँ 'अहम्' शब्द से उपहित (विशिष्ट) चेतन का ग्रहण कर लेने से दातृत्वादि की उपपत्ति हो जाती है। "अहंनामाभवत्" (बृह० उ० १।४), "तस्योपनिषदहम्" (बृह० उ० ५।५।४) इत्यादि वाक्यों के द्वारा 'अहम्' शब्द को शक्ति का निर्णय नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये वाक्य उपासनापरक हैं, उपासना तो आरोप पूर्वक ही होती है। अतः "अहं मनुरभवम्"—यह श्रुति अन्तर्यामी के अभेद की बोधिका नहीं हो सकती, क्योंकि अन्तर्यामी में भेद प्रसक्त ही नहीं कि उसका निषेध करने के लिए ऐक्य-प्रतिपादन की अपेक्षा हो।

शङ्का—'एक नियामक अनेक नियम्य पदार्थों का नियमन नहीं कर सकता, अतः नियम्य-भेद के द्वारा नियामकभूत अन्तर्यामी में भेद प्रसक्त हो जाता है।

न्यायामृतम्

"स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एक" इति। अन्यथा "य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मी"ति छान्दोग्ये स एनान् ब्रह्म गमयती"ति भेदपरोत्तरवाक्यविरोधः। किं च "स य एतमेवंविद्वानुपास्त"इत्युत्तरवाक्ये उपास्तिश्रवणात् त्वन्मते चोपास्यस्यारोपितत्वान्नानेनैक्यसिद्धिः। "योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि वायु"रितीशावास्ये च "वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीर"मित्युत्तरवाक्यविरोधः। न हि शरीरादेरपि जीवैक्यम्। "अग्ने! नय सुपथा राये अस्मानि"त्यादि भेदपरोत्तरवाक्यविरोधश्च। "तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽह" मित्यैतरेये च "चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्ने" रितिभेदपरोत्तरमन्त्रविरोधः। "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मी"ति बृहदराण्यके च "तद्यो यो देवानां प्रत्युबुध्यत तथा ऋषीणां तथा मनुष्याणा"मिति भेदपरवाक्यशेषविरोधः। किं चात्र वाक्ये ब्रह्मण एव प्रकृतत्वात् नानेन जीवब्रह्मैक्यसिद्धिः। "य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मी"त्युत्तरवाक्ये त्विवितिशब्दयोगात्

अद्वैतसिद्धिः

राजन्ये अनेकदेशनियामकत्वस्य च दर्शनात्। "स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः"इत्यस्यापि नान्तर्याम्यैक्यपरता, ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादिना शुद्धस्य ब्रह्मणः प्रकृततया तस्मिन्नुपाधिकृतभेदस्य तात्त्विकत्वप्रसक्तौ तन्निराकरणार्थत्वेन ऐक्योपदेशोपपत्तेः। न चैवं छान्दोग्ये य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मीत्यत्र स एवैनान् ब्रह्म गमयतीत्यत्र भेदपरोत्तरवाक्यविरोधः, तस्य उपासनाप्रकरणस्थत्वेनाहंग्रहोपासनापरतया विरोधाभावात्। न चोपासनाप्रकरणस्थितवाक्यबलादैक्यासिद्धावपि अनुपासनाप्रकरणस्थितादपि तदसिद्धिः शङ्क्या, अन्यशेषत्वस्य तस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—जैसे एक जीव अपने शरीरस्थ अनेक अवयवों का नियमन कर लेता है, एक ही चक्रवर्ती राजा अपने अधीनस्थ अनेक देशों का नियन्त्रण कर लेता है, वैसे एक नियन्ता परमेश्वर विश्व का नियमन कर सकता है, अतः अनेक नियम्य-निरूपित नियन्तृगत भेद मानने की आवश्यकता नहीं। "स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः" (तै० उ० २।१।१) यह श्रुति भी अन्तर्यामी की एकता का प्रतिपादन नहीं कर सकती, क्योंकि वहाँ "ब्रह्मविदाप्नोति परम" (तै० उ० २।१।१) इत्यादि वाक्यों के द्वारा शुद्ध ब्रह्म का ही प्रकरण उपस्थापित है, उसमें उपाधि-कृत भेद की तात्त्विकत्वापत्ति को दूर करने के लिए ऐक्योपदेश उपपन्न हो जाता है।

शङ्का—शुद्ध चैतन्यगत औपाधिक भेद की तात्त्विकत्वापत्ति की निवृत्ति के लिए ही यदि ऐक्योपदेश होता है, तब छान्दोग्योपनिषत् में "य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते, सोऽहमस्मि" (छां० ४।११।१) इस श्रुति के द्वारा भी शुद्ध चैतन्य का अभेद ही बोधित करना होगा, तब "स एवैनान् ब्रह्म गमयति" (छां० ५।१०।२) इस उत्तरवर्ती वाक्य से विरोध उपस्थित होता है, क्योंकि इस वाक्य के द्वारा पूर्ववाक्य में निर्दिष्ट जीवों के लिए 'एनान्' का प्रयोग कर भेद का प्रतिपादन किया गया है।

समाधान—उक्त वाक्य आदित्य-पुरुष में अहन्त्वारोपपूर्वक अहंग्रहोपासना का बोधक है, शुद्ध चैतन्य का नहीं, अतः उत्तर वाक्य से उसका कोई विरोध नहीं।

शङ्का—उपासना के प्रकरण में अवस्थित एकत्वावभासक वाक्य यदि एकता के बोधक नहीं, तब अनुपासना-प्रकरणस्थ वैसे ही वाक्य एकता का बोध नहीं करा सकते,

न्यायामृतम्

त्वन्मते चेतिशब्दयुक्तानाम् "आदित्यो ब्रह्मे"त्यादीनामुपासनार्थत्वात्। "अथ योऽन्यां देवतामुपास्त" इत्युत्तरवाक्ये उपास्तिश्रवणाच्च नानेनैक्यसिद्धिः।

यद्वात्र ब्रह्मशब्दो बृंहणार्थ इति न परब्रह्मैक्यसिद्धिः। अन्यथा पूर्ववाक्ये "आत्मानमेवावेदि"त्यनेनैव ब्रह्मेति ज्ञानस्य सिद्धत्वाद् ब्रह्मास्मीतिव्यर्थम्। एतेन—"अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दन"इत्यादि स्मृतयोऽपि व्याख्याताः। अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशु"रित्यत्राप्यन्तर्यामिभेदज्ञानी निन्द्यते। अन्यथा पदद्वयादिलक्षणादिदोषात्। यद्वा योऽन्यो जीवः अन्यां विलक्षणां देवतामुपास्ते। किमिति ? अन्योऽसौ परमात्मा अहस्मीति न स वेद यथा पशुरित्यर्थः, अन्यथा

अद्वैतसिद्धिः

तत्प्रयोजकस्याभावाद् , 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्त' इत्युत्तरवाक्यस्य भेदज्ञाननिन्दापरतया तदनुसारेण पूर्ववाक्यस्योपासनापरत्वायोगात्। यत्तु ब्रह्मशब्दोऽत्र बृंहणार्थ इति न परब्रह्मैक्यसिद्धिः, अन्यथा पूर्ववाक्ये आत्मानमेवावेदहमित्यनेनैव ब्रह्मेति ज्ञानस्य सिद्धत्वाद् ब्रह्मास्मीति व्यर्थमिति, तन्न, आत्मशब्देन जीवचैतन्यमनूद्य बृंहितत्वाद्युपलक्षितब्रह्मचैतन्याभेदविधिपरत्वेन सार्थकत्वात्। तथा च स्मृतिः 'अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दन' इत्यादिकापि सङ्गच्छते। यत्तु 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशु'रित्यत्रान्तर्यामिभेदज्ञाननिन्दनमिति, तन्न, अन्तर्यामिणोऽप्रकृतत्वात् पदद्वयलक्षणादेस्तात्पर्यानुरोधेन लब्धत्वात्। यत्तु अत्र योऽन्यो जीव अन्यां विलक्षणां देवतामुपास्ते अन्योऽसौ परमात्मा अहमस्मीति न स वेद यथा

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

क्योंकि एक-जैसे वाक्यों का स्वभाव समान ही माना जाता है।

समाधान—एक-जैसे वाक्यों का स्वभाव समान नहीं माना जा सकता, क्योंकि उपासना के प्रकरण में स्थित वाक्य में उपासना-विधि की शेषता होने के कारण भेदपरकत्व मानना होगा, किन्तु अनुपासन-प्रकरणस्थ वाक्यों में उपासना-विधि की शेषता का कोई प्रयोजक न होने के कारण अभेदपरकत्व माना जा सकता है। "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते" (बृह० उ० १।४।१०) यह उत्तर वाक्य भेद का निन्दक है, अतः पूर्ववर्ती "अहं ब्रह्मस्मि" इत्यादि वाक्यों को उपासनापरक नहीं माना जा सकता।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि "अहं ब्रह्मास्मि"—यहाँ 'ब्रह्म' शब्द बृंहणार्थक है, अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' का अर्थ होता है—"अहं शरीरादिवृद्धिकारकः", अतः इस वाक्य के द्वारा जीव-ब्रह्म का अभेद सिद्ध नहीं हो सकता। अन्यथा जीव और ब्रह्म की एकता "आत्मानमेवावेद" (बृह० उ० १।४।१०) इस पूर्व वाक्य से सिद्ध है, अतः "अहं ब्रह्मास्मि"—इस वाक्य से उसका प्रतिपादन व्यर्थ है।

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि 'आत्मानमेवावेद'—इस वाक्य में उपात्त 'आत्म' शब्द के द्वारा जीव चैतन्य का अनुवाद करके बृंहित्वादि से उपलक्षित ब्रह्म के अभेद का वह वाक्य विधान करता है, अतः सार्थक है, जैसा कि स्मृतिवाक्य कहता है—"अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनः।" "योऽन्यां देवतामुपास्त"—यहाँ पर अन्तर्यामी के भेद-ज्ञान की निन्दा नहीं की जा सकती, क्योंकि यहाँ अन्तर्यामी का प्रकरण ही नहीं।

यह जो कहा गया है कि "योऽन्यां देवतामुपास्ते'—इस वाक्य का अर्थ यह है—'योऽन्यो जीवः अन्यां विलक्षणां देवतामुपास्ते अन्योऽसौ परमात्मा अहमस्मीति, न स

न्यायामृतम्

हमर्थस्यापि विशेष्यत्वे देवतामुपास्त इत्ययुक्तम् । न च व्यवहितान्वयदोषः, यस्ये येनार्थसम्बन्ध इति न्यायेन सन्निधानाद्योग्यतायाः प्रबलत्वात् । अथवा स्वातन्त्र्येणाऽन्यसद्भावनिषेधायश्रुतिस्त्वियम् । "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति पश्यन्नज्ञ इति स्म ह । आह तद्ब्रह्मणोऽधीना भिन्नाजीवास्तु सर्वश"इत्यादि स्मृतेः स्वान्त्र्यज्ञानी पशुरित्यर्थः । केचित्तूपास्त इत्यादिश्रवणात्पुंप्रयत्नसाध्यज्ञानविजातीयवृत्त्यंतररूपोपासनाया एव निषेधः, न तु ज्ञानस्येत्याहुः । "स यो ह वैतत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती"त्यत्रापि द्वितीयो ब्रह्मशब्दो जीवपरः । बृहजातिजीवकमलासनशब्दशशिश्वितिव-

अद्वैतसिद्धिः

पशुरित्यर्थ इति, तत्तुच्छम्, व्यवहितान्वयदोषात् । अहं शब्दसन्निहितान्य इत्यस्य य इत्यत्र नयनात् । न च—'यस्य येनार्थसंबन्ध' इति न्यायेन सन्निधानाद्योग्यतायाः प्रबलत्वमिति—शङ्क्यम्, यथास्थितार्थसंबन्धेऽप्युक्तक्रमेण योग्यतासत्त्वात् । न चेयं श्रुतिः स्वातन्त्र्येणान्यसद्भावनिषेधिका, अन्यत्वप्रतियोगिनि स्वातन्त्र्योपस्थापकपदाभावात् । यत्तु कैश्चिदुपास्त इति श्रवणात् प्रयत्नसाध्यज्ञानविजातीयवृत्त्यन्तररूपपोपासनाया एव निषेधः, न तु ज्ञानस्येत्युक्तम्, तन्न, "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यते"ति पूर्ववाक्ये न स वेदेति निन्दावाक्ये च वेदनस्यैव निर्देशात् मध्यस्थितोपास्तेरपि ज्ञानपरत्वात् ॥

एवं मुण्डके 'स यो ह वैतत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्येतदपि वाक्यमभेद-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वेद यथा पशुः ।

वह कहना अत्यन्त तुच्छ है, क्योंकि इस अर्थ में 'अन्योऽसावन्योऽहस्मि' इन पदों का 'अन्योऽसौ अहमस्मि'—ऐसा व्यवहित अन्वय सर्वथा अनुचित है । यदि कहा जाय कि ।

"यस्य येनार्थसम्बन्धः दूरस्थस्यापि तस्य सः ।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥"

इस प्रशस्त उक्ति के आधार पर सन्निधि की अपेक्षा योग्यता का विशेष प्राबल्य माना गया है । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि यथावस्थित पदार्थों का अन्वय करने पर भी योग्यता भङ्ग नहीं होती, अतः यहाँ व्यवहित अन्वय करना अत्यन्त अनुचित है । "अन्योऽसावन्योऽहमस्मि"—यह वाक्य ईश्वर से भिन्न द्वितीय स्वतन्त्र पदार्थ का निषेध करता है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ निषेध के प्रतियोगीभूत पदार्थ में स्वातन्त्र्य का प्रतिपादक कोई पद नहीं ।

यह जो कहा जाता है कि यहाँ 'उपास्ते'—इस वाक्य का श्रवण होने के कारण वस्तु-तन्त्रभूत ज्ञान की अपेक्षा विजातीय प्रयत्न-साध्य वृत्तिरूप उपासना का ही निषेध है, ज्ञान का नहीं ।

वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि "तद् यो यो देवानां प्रत्यवुध्यत"—इस पूर्व वाक्य तथा "न स वेद"—इस निन्दा-वाक्य में ज्ञान का ही निर्देश है, अतः मध्य वाक्यस्थ उपासना भी ज्ञानरूप ही है ।

मुण्डकोपनिषत् में—"स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु. ३।२।९) यह वाक्य भी अभेदपरक है ।

न्यायामृतम्

चनात् । ब्रह्मणि जीवाः सर्वेऽपी"त्यादिस्मृतेश्च । "द्वे ब्रह्माणी वेदितव्ये" इत्यादौ जीवे तत्प्रयोगाच्च । तथा च यः परमं ब्रह्म वेद स जीव एव भवति न तु परं ब्रह्मेत्यर्थः । अत एवाद्यो ब्रह्मशब्दः परमत्वेन विशेषितः । यद्वा ब्रह्म भवति बृंहितत्वरूपब्रह्मत्वाक्रान्तो भवतीत्यर्थः । संपूज्य ब्राह्मणं भक्त्या शूद्रोऽपि ब्राह्मणो भवे"दितिवत् । न हि शूद्रः स्वपूज्यब्राह्मणव्यक्तिरेव भवति किं तु ब्रह्मणत्वजात्याक्रान्तः, ब्रह्मण्यपि ब्रह्मशब्दस्य बृंहणार्थत्वाद्, "ब्रह्मत्वं बृंहितत्वं स्याज्जीवानां न परात्मते"ति स्मृतेश्च । "अस्य महिमानमिति वीतशोक"इति वाक्यशेषाच्च । अन्यथा पूर्वत्र "यथा नद्यः स्यन्द-

अद्वैतसिद्धिः

परमेव । न च—द्वितीयब्रह्मशब्दो जीवपर एव, तस्य जातिजीवकमलासनाद्यनेकार्थत्वात्, द्वे ब्रह्मणी इत्यादौ जीवे ब्रह्मशब्दप्रयोगसंभवाच्च, यः परमं ब्रह्म वेद स जीव एव भवति, न तु परमं ब्रह्मेत्यर्थः । अत एव आद्यो ब्रह्मशब्दः परमत्वेन विशेषित इति—वाच्यम्, जीवे ब्रह्मपदप्रयोगसंभवेऽपि प्रकृते परब्रह्मोपदानमेवोचितम्, जीवभावस्याब्रह्मभावस्य च प्रागेव सिद्धतया ब्रह्मज्ञानसाध्यत्वाभवात् । एवं च अर्थाद् द्वितीयब्रह्मभवनमपि परमत्वविशेषितमेव । यच्च ब्रह्म भवतीत्यस्य बृंहितत्वरूपब्रह्मत्वाक्रान्तो भवती'त्यर्थः, संपूज्य ब्राह्मणं भक्त्या शूद्रोऽपि ब्राह्मणो भवेद् इतिवत् । न हि शूद्रोऽपि पूजितब्राह्मणव्यक्तिर्भवति, किंतु ब्राह्मणत्वजात्याक्रान्त इति, तन्न, पूर्वोक्तयुक्त्या प्रकृते व्यक्त्यभेदस्यैव संभवेन दृष्टान्तवैषम्यात् । न च—'अस्य महिमान'मिति वाक्यशेषात्तदीयमहत्त्वप्राप्तिरेव, न तु तद्भाव इति-युक्तम्, देहेन्द्रियादिप्रपञ्चविलक्षणं यो वेद,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—उक्त श्रुति में द्वितीय 'ब्रह्म' शब्द जीव का ही बोधक है, क्योंकि 'ब्रह्म' शब्द ब्राह्मणत्व जाति, जीव और ब्रह्मादि अनेक अर्थों का वाचक होता है । "द्वे ब्रह्मणी" (मै० उ० ६।२२) इत्यादि वाक्यों में 'ब्रह्म' शब्द का जीव अर्थ हो सकता है, अतः उक्त वाक्य का यह अर्थ है—'यः परमं ब्रह्म वेद, स जीव एव भवति, न तु परमं ब्रह्म ।' अत एव प्रथम 'ब्रह्म' शब्द का परमात्मार्थक परम पद विशेषण लगाया है ।

समाधान—यद्यपि जीव में 'ब्रह्म' पद का प्रयोग हो सकता है, तथापि प्रकृत में 'ब्रह्म' पद से परम ब्रह्म का ग्रहण करना ही उचित है, क्योंकि जीव में जीवत्व और ब्रह्मत्वाभाव तो पहले ही सिद्ध है, अतः वह ब्रह्म-ज्ञान से साध्य नहीं हो सकता इस प्रकार द्वितीय 'ब्रह्म' का भी परमत्व विशेषण अर्थात् सिद्ध होता है ।

यह जो कहा गया है कि 'ब्रह्म भवति' का अर्थ होता है—'ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मतत्त्वरूप ब्रह्मत्व से वैसे ही आक्रान्त (युक्त) हो जाता है, जैसे ब्राह्मण-पूजक शूद्रब्राह्मणत्वाक्रान्त—"सम्पूज्य ब्राह्मणं भक्त्या शूद्रोऽपि ब्राह्मणो भवेत् ।" ब्राह्मण-पूजक शूद्र भी ब्राह्मण नहीं होता, अपितु ब्राह्मणत्व जाति से युक्त हो जाता है ।

वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि भागत्याग लक्षणा के द्वारा प्रकृत में जब ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्म—इन दो व्यक्तियों का ही अभेद सम्भव हो जाता है, तब जात्याक्रान्तत्व-साधक दृष्टान्त का वैषम्य हो जाता है—"अस्य महिमानम्" (श्वेता० ४।७) इस वाक्य के आधार पर ब्रह्म की महत्ता ही प्राप्त होती है, ब्रह्मरूपता नहीं—ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि देहेन्द्रियादि प्रपञ्च से विलक्षण वस्तु एवं प्रपञ्च और उसकी विभूति को जो जानता है, वह शोक-रहित हो जाता है—ऐसे अर्थ में ही उक्त वाक्य

न्यायामृतम्

माना''इति भिन्ननदीसमुद्रदृष्टान्तोक्तिः। ''परात्परं पुरुषमुपैति दिव्य''मिति ब्रह्म प्राप्त्युक्तिश्चायुक्ता स्यात्। किं च त्वत्पक्षे नित्यं ब्रह्मभूतस्यापूर्वब्रह्मभावोक्तिरयुक्ता। आरोपनिवृत्तेः साध्यत्वेऽप्यशाब्दत्वात्। ''ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति''त्यत्रापि जीव एव सन् ब्रह्म प्राप्नोतीति कर्तृकर्मभावेन भेद एवोच्यते। ''कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये

अद्वैतसिद्धिः

प्रपंचं तद्विभूतिं च यो वेद, स वीतशोको भवतीत्येवंपरत्वात्। न च—'यथा नद्यः स्यन्दमाना' इति भिन्ननदीसमुद्रदृष्टान्तोक्तिरयुक्तेति— वाच्यम्, स्पष्टभेदविलयनमात्रपरत्वेन दृष्टान्तोपपत्तेरुक्तत्वात्। परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यमिति न देशान्तरस्थब्रह्मप्राप्त्युक्तिपरा, तस्याः सगुणोपासनाफलत्वेन ब्रह्मविद्याफलत्वासंभवेन स्वरूपभूतब्रह्मप्राप्तिपरत्वात्।

न च—अद्वैतमते नित्यं ब्रह्मभूतस्यापूर्वब्रह्मभावोक्तिरयुक्तेति—वाच्यम्, कण्ठगतचामीकरादौ भ्रान्तिनिवृत्तिमात्रेण प्राप्तप्राप्तिरूपतया फलत्वदर्शनात्। न चारोपनिवृत्तेरशाब्दत्वम्, श्रुतार्थापत्तिगम्यतया शाब्दत्वोपपत्तेः। 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुतिरप्यैक्यपरा। न चात्र प्रथमब्रह्मपदस्य जीवपरत्वाभावे कर्तृकर्मभावविरोधः, साक्षा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का तात्पर्य है। तद्रूपतापत्ति मानने पर नदी-समुद्रादि का भेदावभासी दृष्टान्त असंग हो जाता है—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि स्पष्ट भेद का विलयन ही उक्त दृष्टान्त के द्वारा सिद्ध किया जाता है। ''परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्'' (मुं० ३।२।८) यह श्रुति देशान्तरस्थ ब्रह्म की प्राप्ति का प्रतिपादन करती है—यह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि देशान्तरस्थ ब्रह्म को प्राप्ति सगुण-उपासना का फल है, उसे ब्रह्म-विद्या का फल नहीं माना जा सकता।

अद्वैत मत में जीव ब्रह्मरूप ही है, तब वह ब्रह्मरूपता को कैसे प्राप्त करेगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कण्ठगत सुवर्ण-माला में जैसे किसी को विस्मरण के कारण अप्राप्तता का भ्रम हो जाता है और भ्रम की निवृत्ति मात्र से प्राप्तता का व्यवहार होने लगता है। वैसे ही प्रकृत में भी भ्रम की निवृत्तिमात्र से ब्रह्मरूपता की प्राप्ति मानी जाती है।

शङ्का—यद्यपि आरोपित (अब्रह्मत्व) की निवृत्ति को ब्रह्मज्ञान का फल माना जा सकता है, तथापि जीव में आरोपित अब्रह्मत्व की निवृत्ति किसी भी वाक्य का अर्थ नहीं।

समाधान—'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'—इस वाक्य के सुनने पर अर्थात् यह स्फुट हो जाता है कि जीव में अब्रह्मरूपता भ्रमतः प्रसक्त हो गई थी, अन्यथा ब्रह्म को ब्रह्म क्यों कहा? फलतः श्रुतार्थापत्ति की सहायता से सभी महावाक्यों का आरोपित-निवृत्तिरूप पर्यवसित अर्थ भी शाब्द बोध का विषय माना जाता है।

ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'' (बृह० उ० ४।४।६) यह श्रुति भी जीव और ब्रह्म की एकता का बोध कराती है। यह जो कहा जाता है कि उक्त श्रुति के प्रथम 'ब्रह्म' शब्द का जीव अर्थ है, अतः 'जीवः सन् ब्रह्माप्येति'—ऐसा अर्थ निकलता है, आप्ति क्रिया का कर्त्ता जीव और कर्म ब्रह्म है—इस प्रकार भी जीव और ब्रह्म का भेद ही सिद्ध होता है, फलतः आप्ति को अभेद स्वरूप न मानकर सारूप्यादिरूप ही मानना होगा। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि ब्रह्मरूपता के साक्षात्कार से पहले जो औपाधिक भेद था, उसी को लेकर कर्तृकर्मभाव का निर्देश उपपन्न हो जाता है।

न्यायामृतम्

सर्वं एकीभवन्तो''त्यत्रापि एकीभावः स्थानैक्यं मत्यैक्यं साहश्यं वा, न स्वरूपैक्यम्।

अविरोधश्च साहश्यमेकदेशस्थितिस्तथा।
एकीभावस्तथा प्रोक्तो नैकीभावः स्वरूपयोः॥

इति वचनात्। ''अह्नीतस्ततो गता गावः सायं गोष्ठे एकीभवन्ति'', ''एकीभूता नृपाः सर्वे ववर्षुः पाण्डवं शरैः'', ''अस्मिन्ग्रामे महाजना एकीभूताः'', ''कीटो भ्रमरेणैकीभूत'' इत्यादौ प्रयोगाच्च। त्वत्पक्षे ऐक्यस्य प्रागेव सिद्धत्वादभूततद्भावार्थच्विप्रत्ययबाधः।

अद्वैतसिद्धिः

त्कारप्राक्कालीनौपाधिकभेदमादाय तादृङ्निर्देशोपपत्तेः। परेऽव्यये सर्व एकीभवन्तीत्येतदप्यभेदे मानम्। न च गावः सायं गोष्ठे एकीभवन्ति। एकीभूता नृपाः सर्वे ववर्षुः पाण्डवं शरैः। कीटो भ्रमरेणैकीभूत इति स्थानैक्यमतैक्यसाहश्यनिबन्धनैकीभावस्य गोनृपकीटभ्रमरादौ दर्शनाद्, अत्रापि तैरेव निमित्तैः गौण एकीभाव इति—वाच्यम्, मुख्यत्वे संभवति गौणत्वस्यायोगात्। ब्रह्मैक्यमात्रपरत्वेन सकृदुच्चरितस्य नानेकार्थपरत्वशङ्कापि। न चैक्यस्य प्रागेव सिद्धतया अभूततद्भावार्थच्विप्रत्ययायोगः, स्वगृहनि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

''परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति'' (मुं० ३।२।७) यह श्रुति भी अभेदपरक है।

शङ्का—(१) स्थानैक्य, (२) मतैक्य और (३) साहश्य—इन तीन निमित्तों को लेकर गौण एकीभाव का व्यवहार होता है, जैसे—(१) 'गावः सायं गोष्ठे एकीभवन्ति', (२) 'एकीभूता नृपाः सर्वे ववर्षुः पाण्डवं शरैः', (३) 'कीटो भ्रमरेण एकीभूतः'। प्रकृत में भी इन्हीं निमित्तों को लेकर ही जीव और ब्रह्म का भी गौण एकीभाव सम्भव हो जाता है, वस्तुतः नहीं।

समाधान—मुख्य एकीभाव का बाध होने पर ही गौण एकीभाव की कल्पना की जाती है। प्रकृत में जब मुख्य एकीभाव ही सम्भव है, तब गौण एकीभाव की कल्पना नितान्त अयुक्त है।

शङ्का—''कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति'' (मुं० ३।२।७) इस श्रुति में कहा गया है कि पुण्य-पापादि कर्म और विज्ञानात्मा जीव पर ब्रह्म के साथ एकीभाव को प्राप्त होते हैं। इनमें कर्म का एकीभाव है—कर्म की निवृत्ति और जीव का एकीभाव है—अभेद। अतः सकृद् उच्चरित 'एकीभाव' शब्द के दो अर्थ करने होंगे—कर्म-निवृत्ति और अभेद, जो कि आवृत्ति के विना सम्भव नहीं, अतः आवृत्तिप्रयुक्त वाक्य-भेद दोष प्रसक्त होता है।

समाधान—'एकीभवन्ति' शब्द केवल ब्रह्मैक्यार्थक है, अतः 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति'—इस न्याय का विरोध उपस्थित नहीं होता।

शङ्का—आप (अद्वैती) के मत में जीव और ब्रह्म का सदैव एकीभाव है, अनेकीभाव कभी नहीं, तब 'एकीभवन्ति'—यहाँ 'च्वि' प्रत्यय का प्रयोग न हो सकेगा, क्योंकि ''कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः'' (पा. सू. ५।४।५०) इस सूत्र में भाष्यकार ने कहा है—''च्विविधावभूततद्भावग्रहणं कर्त्तव्यम्, इह मा भूत—सम्पद्यन्ते यवाः सम्पद्यन्ते शालय इति।'' अर्थात् सूत्रस्थ सम्पद्यकर्तरि की लक्षणा अभूततद्भव अर्थ में करनी चाहिए, अतः अतद्रूप वस्तु की तद्रूपता होने पर 'च्वि' प्रत्यय होता है—अब्रह्म ब्रह्म भवति—ब्रह्मीभवति, अनेकः एको भवति—एकीभवति। जब जीव का ब्रह्म से कभी अनैक्य

न्यायामृतम्

तथा सकृत्प्रयुक्तस्यैकीभवन्तीत्यस्य कर्मसु निवृत्तिरर्थः विज्ञानात्मन्यैक्यमर्थं इति अनेकार्थत्वम्। तथा "परेऽव्यये" इति श्रुतसप्तमीहानिः, अश्रुततृतीयाकल्पनापत्तिः। तथा "निरंजनः परमं साम्यमुपैती"ति पूर्ववाक्येन "परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यमि"त्युत्तरवाक्येन च विरोधः स्यात्। नाप्यन्तर्यामिप्रकरणस्थं "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे"ति वाक्यं अक्षरप्रकरणस्थं "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ"ति वाक्यं चैक्ये मानम्। अत इत्यनेन प्रस्तुतं सर्वनियन्तारं परामृश्यान्यो द्रष्टा नास्तीत्युक्ते अस्मिन्ग्रामे अयमेव सर्वनियोजकः, नान्यः पुरुषोऽस्तीत्यादावन्यशब्दस्य प्रस्तुतसदृशान्यपरतया व्युत्पन्नत्वेनेहापि सर्वनियामकद्रष्ट्रन्तरनिषेधात्। उक्तं हि—"समानमितरच्छ्येनेनेत्यत्र इतरशब्दस्य पूर्वनिर्दिष्टसदृश-

अद्वैतसिद्धिः

क्षिप्ताज्ञातनिधिवत् सतोऽप्यावृतत्वेनाभूतसमतया च्विप्रत्ययोपपत्तेः। न च परेऽव्यय इति श्रुतसप्तमीहानिरश्रुततृतीयाकल्पनापत्तिश्चेति—वाच्यम्, श्रुत्यन्तरानुसारेण सप्तम्या अननुसरणीयत्वात्। न च 'परमं साम्यमुपैति', 'परात्परं पुरुषमुपैती'ति पूर्वोत्तरवाक्यविरोधः, तस्य प्रागेव निरासात्। तथान्तर्यामिप्रकरणस्थं 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे' तिवाक्यं अक्षरप्रकरणस्थं 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृति' वाक्यं च ऐक्ये प्रमाणम्। न चात इत्येनेन प्रस्तुतं सर्वनियन्तारं परामृश्यान्यो द्रष्टा नास्तीत्युक्तेः स्वनियामकद्रष्ट्रन्तरनिषेध आयाति, न तु द्रष्टृसामान्यनिषेधः, अस्मिन् ग्रामे अयमेव सर्वनियामको नान्यः पुरुषोऽस्तीत्यदावन्यशब्दस्य प्रस्तुतसदृशान्यपरतया व्युत्पन्नत्वात् समानमितरच्छ्ये-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

या भेद है ही नहीं, तब जीव को ब्रह्मीभवति या एकीभवति नहीं कहा जा सकता।

समाधान—घर में गड़ी हुई निधि के समान भूत (सद्) वस्तु भी आवृत होने के कारण अभूत-जैसी हो जाती है, अतः 'च्वि' का प्रयोग उपपन्न हो जाता है।

शङ्का—"परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति" (मुं० ३।२।७) इस श्रुति में ब्रह्म-वाचक 'पर' पद और 'अव्यय' पद के उत्तर सप्तमी का एकीभवन्ति के साथ अन्वय करने के लिए परेणाव्ययेन एकीभवन्ति इस प्रकार तृतीया विभक्ति में लक्षणा करनी होगा।

समाधान—"तत्त्वमसि"—इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध पर उक्त सप्तमी विभक्ति को स्वार्थपरक नहीं माना जा सकता। "परमं साम्यमुपैति" (मुं० ३।१।३) यह पूर्व वाक्य पर ब्रह्म का जीव में साम्य और "परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" (मुं० ६।२।८) यह उत्तरभावी वाक्य पर ब्रह्म से भी परे किसी दिव्यभाव की प्राप्ति बताता है—इस प्रकार इनके आपात प्रतीयमान विरोध का परिहार पहले ही किया जा चुका है कि परात् पर का अर्थ विशिष्ट ब्रह्म से पर शुद्ध ब्रह्म है।

इसी प्रकार अन्तर्यामी के प्रकरण में अवस्थित "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" (बृह० उ० ३।७।२३) यह वाक्य और अक्षर-प्रकरणगत "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" (बृह० उ० ३।८।११) यह वाक्य भी जीव और ब्रह्म की एकता में प्रमाण है।

शङ्का—उक्त श्रुति में 'अतः' पद से प्रक्रान्त सर्वनियन्ता ईश्वर का परामर्श करके 'अन्यो द्रष्टा नास्ति'—इस वाक्य के द्वारा उस नियन्ता के सदृश अन्य द्रष्टा का निषेध ही प्राप्त होता है, सामान्य द्रष्ट्रन्तर का निषेध नहीं। 'अस्मिन् ग्रामे अयमेव सर्वनियामकः, नान्यः पुरुषोऽस्ति'—इत्यादि व्यवहारों में 'अन्य' शब्द से प्रस्तुत पुरुष के समान अन्य का ही ग्रहण होता है, जैसे इषुसंज्ञक अभिचार कर्म में कुछ अङ्गों का

न्यायामृतम्

परत्वं। एवं च "कन्दर्पः सुन्दरो लोके नान्योऽस्तीह पुमानि"त्युक्ते कन्दर्पतोऽन्यः पुमान्नेति न प्रतीयते किंतु कन्दर्पसदृशः सुन्दरो नेति भासते। एवं परात्मसदृशद्रष्टृभावोऽत्र भासते। अन्यथा अन्तर्यामिवाक्ये "य आत्मनोऽन्तरः, यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयती"ति पूर्ववाक्येन "एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः अतोऽन्यदार्त"मित्युत्तरवाक्येन च विरोधः। तत्र परमात्मनोऽन्यं चेतनमंगीकृत्य तस्यार्तियुक्त-

अद्वैतसिद्धिः

नेनेत्यत्र इतरशब्दस्य पूर्वनिर्दिष्टसदृशपरत्वोक्तेश्चेति--वाच्यम्, अनेन ह्येतत्सर्वं वेदेति प्रतिज्ञातस्य एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्योपपादनार्थं अन्यत्वेन प्रतीतेन जीवेनाभेदबोधनात्। अचेतनवर्गस्य अतोऽन्यदार्तं, नेति नेतीति निषेधाच्च जीवब्रह्माभेद एव वाक्यप्रमेयः। दृष्टान्ते तु अभेदस्याविवक्षितत्वात् त्वदुक्तप्रकाराश्रयणे बाधकाभावात्।

न चात्राप्यन्तर्यामिवाक्ये 'य आत्मनोऽन्तरः यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयती'ति पूर्वक्येन 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः अतोऽन्यदार्तमि'त्युत्तरवाक्येन च विरोधः, तत्र परमात्मनोऽन्यं चेतनमङ्गीकृत्य तस्यार्तियुक्तत्वेनास्वातन्त्र्यस्यैवोक्तिरिति—वाच्यम्, पूर्ववाक्यस्यौपाधिकभेदमात्रेणोपपत्तेः। उत्तरवाक्येन न चेतनान्तरस्यार्तियोगो विधीयते, किंतु 'एषोऽन्तर्यामी त आत्मे'ति जीवस्वरूपभूतादन्तर्यामिणो व्यतिरिक्तं सर्वम् आर्तं विनश्वरमिति वा मिथ्येति वा बोधनान्न विरोध-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विधान करके कहा गया है—"समानमितरत् श्येनेन।" अर्थात् इतर अङ्गों का अनुष्ठान श्येन याग के समान कर लेना चाहिए। [यहाँ 'इतर' शब्द के विषय में शबरस्वामी नें कहा है—"इतरशब्दश्चासन्निहितेऽनुपपन्नः, सन्निहित एव भवति, यथा इतरः प्रावारो दीयताम्, इतरः कम्बलो दीयतामिति सन्निहितो दीयते।" आगे चल कर सिद्धान्त सूत्र में कहा है—"न केवलमयं सन्निहितवचनः एव, पूर्वोक्तसदृशमसन्निहितमपि ब्रूते। यदा हि वस्त्राण्यनुक्रम्येतरशब्दः प्रयुज्यते—देवदत्ताय कम्बलो दीयताम्, विष्णुमित्राय कौशेयम्, यज्ञदत्ताय क्षौमम्, इतरच्चैत्राय। तदा वस्त्रमेव दीयते, न हिरण्यं रजतं वा। इह ज्यौतिष्टोमिकेभ्योऽधिकान् लोहितोष्णीषादीन् धर्माननुक्रम्येतरशब्दः प्रयुक्तः" (शाबर० पृ० १५३६)। वर्तिककार ने एक वाक्य में भाष्य का भाव स्पष्ट कर दिया है—"यदितरज्ज्योतिष्टोमात् प्रप्तम्, तच्छ्येनेन समानं कर्तव्यम्, तथा च लोहितोष्णीषादिविकारमात्रमतिदिश्यते"]। फलतः पूर्व-निर्दिष्ट के सदृश अर्थ में ही 'इतर' शब्द व्युत्पन्न है।

समाधान—प्रकृत में आरम्भिक वाक्य है—"अनेन ह्येतत्सर्वं वेद" (बृह० उ० १।४।७) इसके द्वारा एक के विज्ञान से सर्व-विज्ञान की प्रतिज्ञा की गई है, उसके उपपादनार्थ अन्यत्वेन प्रतीयमान जीव का अभेद बोधित किया गया है और "अतोऽन्यदार्त्तम्" (बृह० उ० ३।७।२३) तथा "नेति-नेति" (बृह० उ० ३।९।२६) इत्यादि वाक्यों के द्वारा अचेतन-वर्ग का निषेध किया गया है, अतः उक्त वाक्य का जीव और ब्रह्म के अभेद में ही तात्पर्य पर्यवसित होता है। "अस्मिन् ग्रामेऽयमेव सर्वनियामकः"—इस दृष्टान्त में अभेद विवक्षित नहीं, अतः वहाँ प्रदर्शित प्रकार में कोई बाधक नहीं है।

शङ्का—यहाँ भी अन्तर्यामि-वाक्य में "य आत्मन सर्वान्तरः", (बृह० उ० ३।४।१) इस पूर्व वाक्य और "एष ते आत्मा अन्तर्याम्यमृतः" (बृह० उ० ३।७।३) एवं "अतोऽन्यदार्तम्" (बृह० उ० ३।७।२३) इत्यादि उत्तर वाक्यों से विरोध स्पष्ट है,

न्यायामृतम्

त्वेनास्वातन्त्र्यस्यैवोक्तेः। अक्षरवाक्ये च "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्या-चन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत" इत्यादि पूर्ववाक्येन विरोधः स्यात्, द्वितीयाद्वै भयं भवती-त्यस्यापि विरोधिनः समानाद्भयंभवतीत्येवार्थः लोके तादृशादेव भयदर्शनात्। अस्य च लोकसिद्धानुवादित्वात्। "समानाद्धि भयं भवे"दिति स्मृतेश्च। पूर्वत्र "तस्मादेका-की बिभेती"ति उत्तरत्र च "तस्मादेकाकी न रमत" इति श्रवणाच्च। यदाह्यैवैष

अद्वैतसिद्धिः

शङ्का। अत एव– अक्षरवाक्येऽपि 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठः' इत्यादिपूर्ववाक्येन विरोध—इत्यपास्तम्। किंच द्वितीयाद्वै भयं भवतीति भेदस्य भयहेतुत्वेन निन्दितत्वादप्यभेद एवोपनिषद्भस्यः। न च—अस्य विरोधिनः समानाद् भयं भवतीत्येवार्थः, लोके तादृशादेव भयं भवतीति लोकसिद्ध-नुवादित्वात् पूर्वत्र 'तस्मादेकाकी बिभेति' उत्तरत्र 'तस्मादेकाकी न रमत' इति श्रवणाच्चेति—वाच्यम्, यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्न बिभेमीति तत एवास्य भयं वीया-येति श्रुतेः। सामान्यतो द्वितीयमात्रदर्शनस्यैव भयहेतुत्वाद् विशेषकल्पनायोगात्। एकाकी बिभेतीति पूर्ववाक्ये परमार्थदर्शनरहितस्य तन्निमित्तभयसंभवाद् एकाकी

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

क्योंकि उनमें परमात्मा से भिन्न चेतनान्तर को मानकर उसमें आर्ति (पराधीनत्वादि दुःखादि) के योग में अस्वातन्त्र्य प्रतिपादित है।

समाधान—पूर्व वाक्य के औपाधिक भेद को लेकर उपपन्नार्थक हो जाता है और उत्तर वाक्य के द्वारा चेतनान्तर में आर्ति-योग का विधान नहीं किया जाता, किन्तु "एष ते आत्माऽन्तर्यामी" (बृह० उ० ३।७।२२) इस वाक्य के द्वारा बोधित जीवस्वरूप अन्तर्यामी से भिन्न सब कुछ आर्त (विनश्वर या मिथ्या) है—ऐसा प्रति-पादित किया जाता है, अतः किसी प्रकार का विरोध नहीं आता। अत एव अक्षर-वाक्य में भी 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" (बृह० उ० ३।४।४) इत्यादि पूर्व वाक्य के साथ उद्भावित विरोध निरस्त हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि "द्वितीयाद्वै भयं भवति" (बृह० उ० १।४।२) इस प्रकार भेद में भय हेतुत्व दिखाकर भेद की निन्दा की गई है, अतः अभेद में ही उपनिषत् का तात्पर्य स्थिर होता है।

शङ्का—'अपने समान विरोधी से भय होता है'—ऐसा ही अर्थ यहाँ विवक्षित है, क्योंकि लोक में भी समान प्रतिस्पर्धी से भय का अनुभव होता है, अतः लोक-सिद्ध भय का अनुवाद मात्र उक्त वाक्य से किया जाता है, उसके अनुरूप "तस्मादेकाकी बिभेति" (बृह० उ० १।४।२) इस पूर्व वाक्य तथा "तस्मादेकाकी न रमते" (बृह० उ० १।४।३) इस उत्तर वाक्य में कहा गया है कि अपने समान विरोधी से भय होता है, अतः सहयोगी व्यक्ति के विना अकेले पुरुष का मन नहीं लगता।

समाधान—"यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय, कस्माद् ह्यभेष्यद् द्वितीयाद्वै भयं भवति" (बृह० उ० १।४।२) इस वाक्य के द्वारा सामान्यतः द्वितीय मात्र के दर्शन को भय का हेतु कहा गया है, आप (द्वैती) की समान विरोधी अन्य से भयरूप विशेष अर्थ की कल्पना निराधार है। "एकाकी बिभेति" (बृह० उ० १।४।२) इस पूर्व वाक्य में यह दिखाया गया है कि परमार्थ-दर्शन-

न्यायामृतम्

"एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुत" इत्यत्रापि एतस्मिन्निति विशेषणात्स्वगतस्यैव भेदस्य निषेधः। एवं "एको देवः सर्वभूतेषु गूढ" इत्यादि श्रुतिः, "एक एव हि भूतात्मा भूते-भूते व्यवस्थित" इति स्मृतिश्चान्तर्याम्यैक्यपरा। भूतशब्दस्य "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ती" त्यादाविव चेतनपरत्वात्।

अद्वैतसिद्धिः

बिभेतीत्युक्तम्। उत्तरवाक्ये तस्मादेकाकी न रमत इत्यत्र इष्टसंयोगजन्यरतेरेकाकिन्यभावाद् एकाकिनो रतिर्नास्तीत्युक्तम्। ततश्चातत्त्वज्ञविषयोक्तवाक्यानुसारेण तत्त्वज्ञविषयमध्यवाक्यस्य स्वार्थसमर्पणेनाप्युपयुक्तत्वात् तद्विरोध्यर्थपरत्वायोगात्। 'एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवती'ति भेदनिन्दयाप्यभेदसिद्धिः। न च एतस्मिन्निति श्रवणात् स्वगतभेदनिषेधोऽयम्, न भेदमात्रनिषेध इति—शङ्क्यम्, अल्पार्थकारशब्दस्वारस्यादप्यर्थकोत्पदस्वारस्याद् एतस्य प्रतियोगित्वेनानुल्लेखाच्च भेदमात्रनिषेधपरतया तद्विशेषनिषेधपरत्वकल्पनायोगात्। एवं "एको देवः सर्वभूतेषु गूढ" इत्यादिश्रुतिरप्यत्रैक्ये प्रमाणम्। न च—अन्तर्याम्यैक्यपरेयं श्रुतिः, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादाविव भूतशब्दस्य चेतनपरत्वादिति—वाच्यम्, दृष्टान्तासंप्रतिपत्तेः, चेतनस्य जायमानत्वाद्ययोगाद्, भूतहिंसानिषेधवाक्य इव चेतनाधिष्ठितप्राणशरीरादेरेव भूतशब्दवाच्यत्वात्। अत एव 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

रहित व्यक्ति को अदर्शन-प्रयुक्त भय सम्भावित है, अतः एकाकी (अकेला) डरता है। "एकाकी न रमते" (बृह० उ० १।४।३) इस उत्तर वाक्य में यह कहा गया है कि इष्ट पदार्थ के संयोग से जो रति (सुख) होती है, वह अकेले में नहीं होती, अतः अतत्त्वज्ञ व्यक्ति के उद्देश्य से प्रवृत्त उक्त वाक्य के अनुसार तत्त्वज्ञ-विषयक मध्य वाक्य अपने अविरोधी अर्थ के बोधन में उपयुक्त हो सकता है, विरोधी अर्थ कल्पना नहीं की जा सकती।

एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति" (तै० उ० २।७) इस वाक्य के द्वारा भी भेद की निन्दा प्रतिपादित होने के कारण अभेद की सिद्धि होती है।

शङ्का—भेद तीन प्रकार का होता है—(१) सजातीय-भेद, (२) विजातीय-भेद तथा (३) स्वगत-भेद। इनमें में 'एतस्मिन्'—ऐसे प्रयोग के द्वारा केवल स्वगत-भेद सूचित कर उसका निषेध किया गया है, सभी भेदों का नहीं।

समाधान—'उद् अरम्'—यहाँ पर स्वल्पार्थक 'अर' पद के स्वारस्य, अप्यर्थक 'उत्' पद के प्रभाव तथा 'एतस्य'—इस प्रकार प्रतियोगित्वेन किसी का उल्लेख न होने के कारण उक्त वाक्य में भेदमात्र की निषेध-बोधकता निश्चित होती है, केवल स्वगत-भेद के निषेधपरकत्व की कल्पना उचित नहीं।

इसी प्रकार "एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़" (श्वेता० ६।११) यह श्रुति भी ऐक्य (जीवब्रह्माभेद) में प्रमाण है।

शङ्का—उक्त श्रुति अन्तर्यामी की एकता का ही प्रतिपादन करती है, क्योंकि "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तै० उ० ३।१।१) इत्यादि श्रुतियों के समान 'भूत' शब्द चैतन्यपरक होता है, अतः सभी चेतनों (जीवों) में गूढ़ (व्याप्त) एक अन्तर्यामी का ही वहाँ स्पष्ट प्रतिपादन है।

समाधान—आपके दृष्टान्त से हम सहमत नहीं, क्योंकि 'यतो वा इमानि भूतानि

न्यायामृतम्

यावन्मोक्षं तु भेदः स्याज्जीवस्य परमस्य च ।
ततः परं न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावतः ॥
विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति ॥

इत्यादि स्मृतिष्वपि भेदशब्दो मित्रभेद इत्यादाविव वैमत्यार्थः । जीवस्य परमैक्यं तु बुद्धिसारूप्यमेव चे"त्यादि स्मृतेः । जीवस्य हि आमोक्षमीश्वरकामविरुद्ध-कामिता न तु मोक्षे । अत एव मुक्तः सत्यकामः । असन्तमभद्रमित्यर्थः । क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारते"त्यस्यापि क्षेत्रज्ञं सर्वज्ञं मां सर्वक्षेत्रेष्वपि विद्धीत्यर्थः । तत्रव

अद्वैतसिद्धिः

व्यवस्थितः ।' इत्यादिस्मृतिरपि । एवं

यावन्मोहं तु भेदः स्यात् जीवस्य परमस्य च ।
ततः परं न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावतः ॥
विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति ॥

इत्यादिस्मृत्या भेदस्याविद्यकत्वप्रतीतेरभेद एव तात्त्विक इति गम्यते । न चात्र भेदशब्दो मित्रभेद इत्यादाविव वैमत्यार्थः, तथा सति लक्षणापत्तेः, अन्योऽन्याभावादेरेव मुख्यत्वात्, श्रुतार्थत्यागस्यान्याय्यत्वात् ।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत इत्यादिस्मृतिरप्यत्र मानम् । न च—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जायन्ते'—यहाँ 'भूत' शब्द का चैतन्य अर्थ नहीं कर सकते, क्योंकि चैतन्य नित्य तत्त्व है, उसमें श्रुत्युक्त जायमानत्व कैसे बनेगा ? "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इस वाक्य के समान 'भूत' शब्द चैतन्य से अधिष्ठित (चित्तादात्म्यापन्न) प्राणादि-घटित शरीर का वाचक माना जाता है । अत एव "एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः"—यह स्मृति भी अन्तर्यामी की एकता का प्रतिपादन न कर जीव और ब्रह्म की ही एकता प्रमाणित करती है ।

इसी प्रकार—"यावन्मोहं तु भेदः स्यात् जीवस्य च परस्य च ।
ततः परं न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावतः ॥
विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्नं कः करिष्यति ॥

इत्यादि स्मृति-वाक्यों के द्वारा जीव-ब्रह्म-भेद में आविद्यकत्व प्रतिपादित होने के कारण अभेद ही तात्त्विक है—ऐसा निश्चित होता है ।

'उक्त स्मृति-वाक्यों में गृहीत 'भेद' पद मित्र-भेद के समान केवल वैमत्य (मत-भेद) का ही प्रतिपादक है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वैमत्यत्व या विरुद्ध-मतित्व को 'भेद' शब्द का शक्यतावच्छेदक मानने की अपेक्षा अन्योऽन्याभावत्व या भेदत्वरूप अखण्ड धर्म को शक्यतावच्छेदक मानने में ही लाघव है, अतः वैमत्य में उसकी लक्षणा ही माननी पड़ेगी, जो कि (मुख्य वृत्ति के सम्भव होने पर उसका त्याग और अमुख्य वृत्ति का आश्रयण) अनुचित है ।

"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत" (गी० १३।२) इत्यादि स्मृतियाँ भी

न्यायामृतम्

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
तत् क्षेत्रं यच्च यादृक्च तत्समासेन मे शृणु। इत्युक्त्वा
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः॥

इत्याद्युक्त्वा "एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृत"मित्यनेन "यस्य पृथिवी शरीर" मिति श्रुत्या ईश्वरशरीरतयोक्तं चेतनाचेतनात्मकं सर्वं क्षेत्रमित्युक्तत्वात्। मोक्षधर्मे—

क्षेत्राणि च शरीराणि बीजानि च शुभाशुभे।
तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते॥ इति
प्रकृतेश्च विकाराणां द्रष्टारमगुणान्वितम्।
क्षेत्रज्ञमाहुर्जीवं तु कर्तारं गुणसंवृतम्॥

अद्वैतसिद्धिः

क्षेत्रज्ञं सर्वज्ञं मां सर्वक्षेत्रेषु विद्धीत्यथः। 'महाभूतान्यहङ्कार' इत्याद्युक्त्वा 'एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्' इत्यनेन 'यस्य पृथिवी शरीर'मित्यादिश्रुत्येश्वरशरीरतयोक्तं चेतनाचेतनात्मकं सर्वं क्षेत्रमित्युक्तत्वादिति—वाच्यम्, सर्वनियामकतया सकलक्षेत्रसंबन्धस्य प्रागेव सिद्धेः पौनरुक्त्यापत्तेः, तत्तत्क्षेत्राधिष्ठातृत्वेन क्षेत्रज्ञपदवाच्यजीवाभेदपरत्वस्यैवोचितत्वात्। अत एव

क्षेत्राणि च शरीराणि बीजानि च शुभाशुभे।
श्रुतानि वेत्ति योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते॥
प्रकृतेश्च विकाराणां द्रष्टारमगुणात्मकम्।
क्षेत्रज्ञमाहुर्जीवं तु कर्तारं गुणसंवृतम्॥

इत्यादिस्मृतौ क्षेत्रज्ञशब्दस्य सर्वान्तर्यामिसर्वज्ञपरत्वेऽपि प्रकृते तदसंभवः,

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जीवब्रह्मैक्य में प्रमाण हैं।

शङ्का—उक्त स्मृति-वाक्य का "क्षेत्रज्ञं सर्वज्ञं मां सर्वक्षेत्रेषु विद्धि"—ऐसा ही अर्थ निश्चित होता है, क्योंकि "महाभूतान्यहङ्कारः"—इस प्रकार प्रकृति के मूल तत्त्वों को गिनाकर कहा है—"एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्" और उस विस्तृत चेतनाचेतनात्मक क्षेत्र को ईश्वर का शरीर कहा गया है—"तस्य पृथिवी शरीरम्" (बृह. उ. ३।७।७)। फलतः सर्वात्मक क्षेत्र का ज्ञाता सर्वज्ञ ही होता है।

समाधान—सर्व क्षेत्र-सम्बन्धी सर्व-नियामक ईश्वर में तो सर्वज्ञत्व पहले से ही सिद्ध है, 'क्षेत्रज्ञ' पद के द्वारा भी सर्वज्ञत्व का अभिधान होने पर पुनरुक्ति हो जाती है, अतः तत्तत्क्षेत्र के अधिष्ठातृरूप क्षेत्रज्ञपद-वाच्य जीवों के साथ ईश्वर का अभेद-प्रतिपादन ही उचित है। अत एव।

क्षेत्राणि च शरीराणि बीजानि च शुभाशुभे।
श्रुतानि वेत्ति योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते॥
प्रकृतेश्च विकाराणां द्रष्टारमगुणात्मकम्।
क्षेत्रज्ञमाहुर्जीवं तु कर्तारं गुणसंवृतम्॥

इत्यादि स्मृतियों में 'क्षेत्रज्ञ' शब्द सर्वान्तियामिरूप सर्वज्ञपरक होने पर भी प्रकृत में वैसा

न्यायामृतम्

इति चोक्तेः। न चैवं रूढार्थत्यागः, जीवेऽपि क्षेत्रज्ञशब्दस्य यौगिकत्वात् 'शास्त्रस्था वा'—इति न्यायाच्च। एवमन्यान्यपि वाक्यानि योज्यानि। तस्मान्नागम ऐक्ये प्रमाणम्।

अहं ब्रह्मास्मीत्यादिश्रुत्यर्थः ॥ ३० ॥

अद्वैतसिद्धिः

जीवे सुप्रसिद्धत्वाच्च। न च शास्त्रस्था वेति न्यायः, तस्य एकतराशास्त्रीयविषयत्वात्। एवमन्यान्यपि वाक्यानि यथासंभवमैक्ये योज्यानि। तस्मादागम ऐक्ये मानम् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ अहं ब्रह्मास्मीत्याद्यनेकश्रुतिस्मृत्यर्थकथनम् ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सम्भव नहीं एवं जीव में प्रसिद्धतर भी है।

शङ्का—यहां पर ''शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्'' (ज. सू. १।३।९) इस सूत्र में प्रतिपादित यवादि शब्दों को शास्त्रीय प्रसिद्धि को ही जैसे महत्त्व दिया गया है, वैसे शास्त्रीय प्रसिद्धि के अनुसार 'क्षेत्रज्ञ' शब्द को सर्वज्ञपरक ही मानना चाहिए।

समाधान—जहाँ पर शास्त्रीय प्रसिद्धि और अशास्त्रीय प्रसिद्धियों का विरोध होता है, वहाँ ही शास्त्रीय प्रसिद्धि का प्राबल्य माना जाता है। अत एव यवादि शब्दों को कंगु आदि में म्लेच्छ-प्रसिद्धि का निराकरण कर दीर्घशूक वाले अन्न में आर्य-प्रसिद्धि को विशेषता दी गई, किन्तु प्रकृत में वैसा नहीं। इसी प्रकार के अन्यान्य वाक्यों की भी यथासम्भव अभेदपरता में योजना कर लेनी चाहिए। इस प्रकार आगम की ऐक्यार्थ में प्रमाणता सिद्ध हो जाती है।

: ३१ :

ऐक्यानुमानविचारः

न्यायामृतम्

नाप्यनुमानम्। जीवाः परमात्मनस्तत्त्वतो न भिद्यन्ते, आत्मत्वात्, परमात्मवदित्यत्र त्वात्मत्वस्य ज्ञातृत्वादिरूपत्वे तवाऽसिद्धेः। अवेद्यत्वादिरूपत्वे ममासिद्धेः। जातिरूपत्वे विरोधात्। अबाध्यत्वादिरूपत्वेऽनैकान्त्यात्। विस्तृतं चैतज्जडत्वभंगे।

अद्वैतसिद्धिः

एवमनुमानमपि तत्र मानम्—जीवाः, परमात्मनस्तत्त्वतो न भिद्यन्ते, आत्मत्वात्, परमात्मवत्। ननु—आत्मत्वं जातिरत्र हेतुः, तथा चाभेदे हेतूच्छित्तिरेव प्रतिकूलतर्क इति—चेन्न, तत्त्वतोऽभेदेऽपि व्यावहारिकभेदेनव व्यावहारिकजातेरनुच्छेदोपपत्तेः। ज्ञातृत्वादित्यप्यत्र हेतुः, जीवे उपधेये अन्तःकरणोपहितवृत्तेस्तस्यासिद्धेरभावात्। व्यवहारे स्वभिन्नज्ञानानपेक्षत्वं हेतुः। तवापि जीवस्य स्वाभिन्ननित्यज्ञानस्याबाध्यव्यवहारविषयत्वात्। अबाध्यत्वमप्यत्र हेतुः। न च जडे व्यभिचारः, तत्र बाध्यत्वेन हेतोरभावात्, तात्त्विकभेदस्य सर्वत्रासत्त्वेन व्यभिचारानवकाशात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जीव और ब्रह्म की एकता में अनुमान भी प्रमाण है—'जीव ब्रह्म से तत्त्वतः भिन्न नहीं, क्योंकि आत्मा है, जैसे—परमात्मा।'

शङ्का—उक्त अनुमान में 'आत्मत्व' जाति को हेतु बनाया गया है, यदि आत्मा एक ही है, तब गगनत्व के समान एक व्यक्ति-वृत्ति आत्मत्व धर्म को जाति नहीं कहा जा सकेगा, अतः इस प्रकार का प्रतिकूल तर्क पर्यवसित होता है—यद्यात्मैक्यं स्यात् तदा आत्मत्वजातिरूपस्य हेतोरसिद्धिः स्यात्।

समाधान—पारमार्थिक अभेद होने पर भी व्यावहारिक भेद होने के कारण जीवात्मा और परमात्मा में रहने वाली आत्मत्वरूप व्यावहारिक जाति का उच्छेद नहीं होता। उक्त अनुमान में ज्ञातृत्व को भी हेतु बनाया जा सकता है—'जीवाः परमात्मनस्तत्त्वतो न भिद्यन्ते, ज्ञातृत्वात्, परमात्मवत्।' ज्ञातृत्व आत्मा में असिद्ध नहीं, क्योंकि अन्तःकरण-तादात्म्यापत्ति के कारण अन्तःकरणगत ज्ञातृत्व जीव में एवं मायोपाधिक परमेश्वर में मायिक ज्ञातृत्व माना जाता है। 'व्यवहार में स्वभिन्नज्ञानानपेक्षत्व को भी हेतु बना सकते हैं—जीवाः ब्रह्मणस्तत्त्वतो न भिद्यन्ते, व्यवहारे स्वभिन्नज्ञानानपेक्षत्वात्, परमात्मवत्। आप (माध्व) के मत में भी जिस साक्षिरूप नित्य ज्ञान के द्वारा अबाधित व्यवहार का निर्वाह किया जाता है, उसे जीव से भिन्न नहीं, अभिन्न ही माना जाता है और अभिन्न ज्ञान को लेकर भी जीव में ज्ञानवत्त्वरूप ज्ञातृत्व भेद के प्रतिनिधिभूत विशेष पदार्थ से निष्पादित होता है [इसी भाव को ध्वनित करने के लिए सिद्धिकार ने यहाँ 'स्वाभिन्ननित्यज्ञानस्य जीवस्य' कहा है अर्थात् 'स्वसमादभिन्नं साक्षिरूपं नित्यं ज्ञानं यस्य तादृशस्य जीवस्य]। उक्त ऐक्य-साधक अनुमान में 'अबाध्यत्व' भी हेतु हो सकता है—'जीवाः परमात्मनस्तत्त्वतो न भिद्यन्ते, अबाध्यत्वात्, परमात्मवत्।' इस हेतु का जड़ जगत् में व्यभिचार नहीं दिया जा सकता, क्योंकि अबाध्यत्व हेतु वहाँ रहता ही नहीं। दूसरी बात यह भी है कि साध्याभावरूप तात्त्विक भेद कहीं रहता ही नहीं कि साध्याभाववद्वृत्तित्वरूप व्यभिचार कहीं सम्भावित हो।

न्यायामृतम्

जीवाः परमात्मनो व्यवहारतोऽपि न भिद्यन्ते, आत्मत्वात्, परमात्मवदित्याद्याभाससाम्याच्च। विमता जीवाश्चैत्रात्तत्त्वतो न भिद्यन्ते, जीवत्वात्, चैत्रवत्। विमतं वस्तुतो ब्रह्मतो न भिन्नम्, वस्तुत्वाद् ब्रह्मवदित्यत्रापि चैत्रादयो व्यवहारतोऽपि न भिद्यन्ते, जीवत्वाच्चैत्रवदित्याभाससाम्यात्। विमतानि शरीराणि चैत्राधिष्ठितानि शरीरत्वाच्चैत्रशरीरवदित्यत्र चैत्राधिष्ठितत्वेऽप्यन्याधिष्ठितत्वसम्भवेनैक्यासिद्धेः।

अद्वैतसिद्धिः

न च-एवं व्यावहारिकभेदव्यतिरेकोऽप्येवमेव साध्यतां जीवपरमात्मनोरिति—वाच्यम्, तत्र प्रत्यक्षविरोधस्यैव बाधकत्वात्, श्रुत्यनुग्रहाद्याभाससाम्यापादनाप्रयोजकत्वानवकाशात्। अत एव—विमता जीवाश्चैत्रात् तत्त्वतो न भिद्यन्ते, जीवत्वाच्चैत्रवदिति जीवैक्ये, विमता जीवा वस्तुतो ब्रह्मणो न भिद्यन्ते, वस्तुत्वाद्, ब्रह्मवदिति ब्रह्मजीवक्ये च यदनुमानम्, तत्र व्यवहारतोऽपि न भिद्यन्त इत्यप्येवं साध्यतामित्याभाससाम्यम् - अपास्तम्।

एवं विमतानि शरीराणि, चैत्राधिष्ठितानि, शरीरत्वात्, संमतवत्। न च—एतावता न जीवैक्यसिद्धिः, चैत्राधिष्ठितत्वेऽपि अन्याधिष्ठितत्वसंभवात्, चैत्रमात्रा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—तात्त्विक भेद का अभाव जैसे सिद्ध किया जाता है, वैसे व्यावहारिक भेद का अभाव भी—'जीवाः ब्रह्मणो व्यवहारतोऽपि न भिद्यन्ते, आत्मत्वात्, परमात्मवत्।

समाधान—'नाहमीश्वरः'—इस प्रकार ईश्वरप्रतियोगिक जीवानुयोगिक भेद का प्रत्यक्ष ही उक्त अनुमान का बाधक है, अतः व्यावहारिक भेद का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।

न्यायामृतकार ने जो उक्त अनुमान में अनुमानाभास का साम्य प्रदर्शित किया है—'जीवाः परमात्मनो व्यवहारतोऽपि न भिद्यन्ते, आतमत्त्वाद्-इत्याभाससाम्यम्।' वह उचित नहीं, क्योंकि आभाससाम्य के द्वारा प्रकृत हेतु में अप्रयोजकत्व का जो आपादन किया जाता है, वह नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृत अनुमान अभेदपरक श्रुति से अनुगृहीत है, अतः यदि जीवे ब्रह्मणस्तात्त्विकभेदाभावो न भवेत्, तर्हि तत्त्वमस्यादि श्रुतिर्बाध्येत'—इस प्रकार के अनुकूल तर्क से अप्रयोजकत्वापादन सम्भव नहीं रह जाता।

'विमता जीवाः चैत्रात् तत्त्वतो न भिद्यन्ते, जीवत्वात्, चैत्रवत्'—इस अनुमान के द्वारा जीवों की एकता और 'विमता जीवा वस्तुतो ब्रह्मणो न भिद्यन्ते, वस्तुत्वाद् ब्रह्मवत्'—इस अनुमान के द्वारा ब्रह्म जौर जीव की एकता सिद्ध की जाती है। यहाँ पर जो न्यायामृतकार ने 'व्यवहारतोऽपि न भिद्यन्ते'—ऐसा साध्य बनाते हुए अनुमानभास का साम्य दिखाया है, वह भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि ऐक्यपरक श्रुतियों से समर्थित होने के कारण अभेद-साधक अनुमान में अप्रयोजकत्व की आशङ्का नहीं कर सकते।

सभी शरीरों में एक जीव सिद्ध करने के लिए अनुमान-प्रयोग है—'विवादास्पद शरीर एक चैत्र के द्वारा ही अधिष्ठित होते हैं, क्योंकि शरीर हैं, जैसे चैत्र का शरीर।

शङ्का—'अधिष्ठितत्वमात्र' के आधार पर एक जीव की सिद्धि नहीं हो सकती,

न्यायामृतम्

चैत्रेणैवाधिष्ठितानीत्युक्तौ त्वीश्वरस्यापि चैत्रशरीराधिष्ठातृत्वेन दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यात् । चैत्रस्यैव भोगायतनानीत्युक्तौ च त्वन्मते यस्य भोक्तृत्वं अन्तःकरणविशिष्टस्य, तस्य प्रतिशरीरं भेदः, यस्य चैक्यं शुद्धचैतन्यस्य तस्याभोक्तृत्वमितिबाधात् । विमतानि शरीराणि चैत्रमनसैव युक्तानि, शरीरत्वाच्चैत्रशरीरवदित्याद्याभाससास्याच्च । आत्मा द्रव्यत्वातिरिक्तापरजात्या नाना न भवति, विभुत्वाद् , गगनवदित्यत्र

अद्वैतसिद्धिः

धिष्ठितत्वे तु अन्तर्याम्यधिष्ठितत्वेन दृष्टान्ते साध्यवैकल्यापत्तिरिति—वाच्यम् , चैत्रमात्रसंसार्यधिष्ठितत्वस्य साध्यत्वात् । चैत्रमात्रभोगायतनानीति वा साध्यम् । न च—भोक्तृत्वमन्तःकरणविशिष्टस्य, तच्च प्रतिशरीरं भिन्नम् , यच्चैकं शुद्धचैतन्यं तन्न भोक्त्रिति बाध इति—वाच्यम् , भोक्तृत्वस्य विशिष्टवृत्तित्वेऽपि विशेष्यवृत्तित्वानपायात् । न चैवं विमतानि शरीराणि चैत्रमनसैव युक्तानीत्याभाससाम्यम् , मनसोऽप्यैक्ये व्यवस्थायाः सर्वथानुपपत्तेः, श्रुत्यनुग्रहाननुग्रहाभ्यां विशेषाच्च, दृष्टिसृष्टिपक्षे तदभ्युपगमाच्च । आत्मा, द्रव्यत्वापरजात्या नाना न, विभुत्वाद् , आकाशवत् । न च—प्रति-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

क्योंकि प्रत्येक शरीर जीव तथा अन्तर्यामी—इन दोनों से वैसे ही अधिष्ठित होता है, जैसे किसी शरीर में भूतावेश होने पर वह शरीर दो जीवों का आश्रय बन जाता है । 'चैत्रमात्राधिष्ठितत्वात्'—ऐसा हेतु बनाने पर चैत्र के शरीररूप दृष्टान्त में साध्य का वैकल्य हो जाता है, क्योंकि चैत्र का शरीर भी चैत्रमात्र से अधिष्ठित नहीं, अपितु चैत्र से भिन्न अन्तर्यामी के द्वारा भी अधिष्ठित होता है ।

समाधान—यद्यपि चैत्र-शरीर के चैत्र और अन्तर्यामी—ये दोनों अधिष्ठाता हैं, तथापि उनमें संसारी आत्मा एक ही है, अतः 'चैत्रमात्रसंसार्यधिष्ठितत्व' हेतु में कोई दोष नहीं । अथवा 'चैत्रमात्रभोगायतनानि'—ऐसा साध्य बनाया जा सकता है, अन्तर्यामी को भोक्ता नहीं माना जाता, अतः उसके द्वारा अधिष्ठित शरीर भी उसका भोगायतन नहीं कहला सकता ।

शङ्का—भोक्तृत्व धर्म अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्य में रहता है, विशिष्ट चैतन्य सभी शरीरों में एक नहीं, भिन्न-भिन्न होता और सर्वत्र व्याप्त जो एक शुद्ध चैतन्य है, उसमें भोक्तृत्व नहीं रहता ।

समाधान—विशिष्ट-वृत्ति धर्म को विशेष्य-वृत्ति भी माना जाता है, अतः शुद्ध चैतन्यरूप विशेष्य में भोक्तृत्व रहता है और वह सभी शरीरों में एक ही है । 'विमतानि शरीराणि चैत्रमनसैव युक्तानि'—इस प्रकार के अनुमानाभास का साम्य प्रकृत अनुमान में नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि सभी शरीरों में आत्मा के एक होने पर भी अन्तःकरण या मन के भेद से व्यवस्था बन जाती है और मन को भी सर्वत्र एक मान लेने पर व्यवस्था की सर्वथा अनुपपत्ति हो जाती है, अतः अनुमानाभास प्रतिकूल तर्क से पराहत है किन्तु प्रकृत अनुमान अपराहत । दूसरी विशेषता यह भी है कि प्रकृत अनुमान अभेदपरक श्रुति से अनुमोदित है, किन्तु उक्त अनुमानाभास अनुमोदित नहीं । वस्तुतः दृष्टि-सृष्टिवाद में सभी शरीर एक ही मन से युक्त माने ही जाते हैं और स्वप्न के समान सभी व्यवस्था की उपपत्ति हो जाती है, अतः उक्त अनुमान को अनुमानाभास नहीं, सदनुमान ही कहा जाता है ।

जीवैक्य-साधक अनुमानान्तर का भी प्रयोग किया जाता है—आत्मा द्रव्यत्व-

न्यायामृतम्

त्वन्मते गगनस्य प्रतिकल्पं भेदेन साध्यवैकल्यात्, परिच्छिन्नत्वेन साधनवैकल्याच्च। आत्मत्वस्य परमाणुत्ववदजातित्वे त्वात्मभेदसिद्ध्यार्थान्तरत्वाच्च।

विमतो भेदो, मिथ्या, एकस्यां दृशि कल्पितो वा भेदत्वाद् दृश्यत्वाच्च, चन्द्रभेदवद्, एकस्यां दृशि क्षणिकवादिकल्पितभेदवद्वेत्यत्र तूक्तरीत्या मिथ्यात्वानिरुक्तेः, सत्यासत्यभेदानुगतभेदत्वसामान्यस्यासिद्धेश्च। चन्द्रस्य कल्पिताद् द्वितीयचन्द्राद्भे-

अद्वैतसिद्धिः

कल्पमाकाशस्य भेदेन साध्यवैकल्यं परिच्छिन्नत्वेन साधनवैकल्यं चात्मत्वस्य परमाणुत्वादिवदजातित्वेऽपि आत्मभेदसिद्ध्या चार्थान्तरमिति—वाच्यम्, आत्मत्वाधिकरणं, द्रव्यत्वापरजात्यैककाले नाना न, समानकालीनमूर्तमात्रसंयुक्तत्वाद्, गगनवदित्यत्र तात्पर्यात्। पक्षविशेषणमहिम्ना च नार्थान्तरम्। विमतो भेदः, मिथ्या, एकस्यां दृशि कल्पितो वा, भेदत्वाद्, दृश्यत्वाद्वा, चन्द्रभेदवद्, एकस्यां दृशि क्षणिकवादिकल्पितभेदवद्वा। मिथ्यात्वं प्रागुक्तमेव। न च कल्पितसाधारणभेदत्वासिद्धिः, भेदे अकल्पितत्वस्यैवासिद्धेः। अत एव—चन्द्रस्य कल्पितद्वितीयचन्द्राद् भेदस्य सत्यत्वेन दृष्टान्ते

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्याप्य (आत्मत्व) जाति के द्वारा नाना नहीं होता, क्योंकि विभु है, जैसे—आकाश।

शङ्का—कल्प के भेद से आकाश का भेद एवं द्रव्यत्व-व्याप्य आकाशत्व जाति मानने पर आकाशरूप दृष्टान्त में साध्य का वैकल्य है। औपनिषद मत में आकाश को विभु न मान कर परिच्छिन्न ही माना जाता है, अतः दृष्टान्त में विभुत्वरूप साधन का भी अभाव है एवं उक्त अनुमान में अर्थान्तरता दोष भी है, क्योंकि द्रव्यत्व-व्याप्य जाति के द्वारा ही सर्वत्र भेद होता है—ऐसी बात नहीं, परमाणुओं में वैसी परमाणुत्व जाति के न रहने पर भी भेद माना जाता है, ऐसे ही आत्मत्व को जाति न मानने पर भी आत्मा का भेद हो सकता है।

समाधान—'आत्मत्व जाति की आधार वस्तु द्रव्यत्व-व्याप्य जाति के द्वारा एक काल में नाना नहीं होती, क्योंकि समकालीन समस्त मूर्त पदार्थों से संयुक्त है, जैसे गगन'—इस प्रकार के परिष्कृत रूप में उक्त अनुमान का तात्पर्य है ['समानकालीन' पद के प्रभाव से कल्पान्तरीय मूर्त के साथ कल्पान्तरीय गगन का असंयोग लेकर साध्य-वैकल्य नहीं होता। परिच्छिन्न मानने पर भी आकाश सर्व मूर्त-संयोगी माना जाता है, अतः साधन-वैकल्य भी नहीं। परमाणुओं का द्रव्यत्व-व्याप्य जाति के द्वारा भेद नहीं माना जाता, अतः पक्षधर्मता के आधार पर अर्थान्तरता भी नहीं]।

आत्म-भेद-मिथ्यात्व-साधन के द्वारा भी आत्मैक्य की सिद्धि की जा सकती है—विवादास्पद भेद मिथ्या अथवा एक ही चैतन्य में कल्पित है, क्योंकि भेद है, अथवा दृश्य है, जैसे चन्द्र-भेद या क्षणिकवादी के द्वारा आत्मा में कल्पित भेद। यहाँ मिथ्यात्व का निर्वचन पूर्ववत् ही माना जाता है। न्यायामृतकार ने जो कहा है कि भेद सर्वत्र सत्य ही होता है, सत्य और मिथ्या उभय प्रकार का नहीं, अतः कल्पिताकल्पित-उभय-साधारण भेदत्व असिद्ध है। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि भेद सर्वत्र कल्पित ही होता है, अकल्पित होता ही नहीं, अतः कल्पित और अकल्पित चन्द्र के भेद में निश्चित मिथ्यात्व के द्वारा आत्मभेद में भी मिथ्यात्व सिद्ध हो सकता है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि सत्य चन्द्र का कल्पित द्वितीय चन्द्र से भेद सत्य

न्यायामृतम्

दस्य सत्यत्वेन दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्याच्च। मुक्तेः संसाराद् ब्रह्मणोऽनृतादात्मनो देहाद्भेदे च व्यभिचाराच्च। अभेदो मिथ्या, अभेदत्वाद्, देहात्माभेदवदित्याभाससाम्याच्च। दृश्यत्वादेर्निरस्तत्वाच्च। विमता भेदप्रतीतिः, भ्रान्तिः, भेदप्रतीतित्वात्, चन्द्रभेदप्रतीतिवदित्यत्र ब्रह्मणोऽनृताद्भेदप्रतीतौ व्यभिचाराद् आभाससाम्याच्च।

विमतं तत्त्वतः स्वान्तर्भेदहीनं महत्त्वतः।
यदित्थं तत्तथा यद्वत्खं तथेदं ततस्तथा॥

इत्यत्र त्वन्मते गगनस्य सावयवत्वात् संयोगित्वेन सांशत्वस्य सुसाधत्वाच्च, साध्य-

अद्वैतसिद्धिः

साध्यवैकल्यम्, मुक्तेः संसाराद् ब्रह्मणो अनृताद् भेदे च व्यभिचार इति—निरस्तम्, न चैवमभेदो मिथ्या अभेदत्वाद् देहात्माभेदवदित्यादि सुसाधम्, शून्यवादापत्तेरुक्तत्वात्। एवं विमता भेदधीः, मिथ्या, भेदधीत्वाच्चन्द्रभेदधीवत्। न च ब्रह्मानृतभेदप्रतीत्यादौ व्यभिचारः, तासामपि पक्षसमत्वात्। आभाससाम्यस्य तात्त्विकत्वे प्रत्येतव्यत्वानुपपत्त्यैव निरासः। अत एव।

विमतं तात्त्विकस्वान्तर्भेदशून्यं महत्त्वतः।
यदेवं तत्तथा यद्वत् खं तथेदं ततस्तथा॥

इत्यत्र गगनस्य सावयत्वेन न साध्यवैकल्यम्, स्वान्तःपदेन स्वावयवातिरिक्त-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ही होता है, अतः दृष्टान्तभूत इस भेद में मिथ्यात्वरूप साध्य का अभाव है एवं भेदत्व हेतु व्यभिचरित भी है, क्योंकि मुक्ति और संसार तथा ब्रह्म और मिथ्या पदार्थों के सत्य भेद में भी रहता है। वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि जैसे दो मिथ्या पदार्थों का भेद मिथ्या होता है, वैसे ही सत्य और मिथ्या का भेद भी मिथ्या ही होना है। भेद-मिथ्यात्व के समान अभेद में भी जो मिथ्यात्व सिद्ध किया जाता है—अभेदो मिथ्या, अभेदत्वाद्, देहात्माभेदवत्। वह अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि किसी वस्तु को भी सत्य न मानने पर शून्यवाद की आपत्ति होती है—यह कहा जा चुका है।

भेद के समान भेद-ज्ञान भी मिथ्या ही होता है—भेद-ज्ञान, मिथ्या होता है, क्योंकि भेद-ज्ञान है, जैसे चन्द्र-भेदविषयक ज्ञान। ब्रह्म और अनृत पदार्थों की भेद-प्रतीति में भेद-ज्ञानत्व व्यभिचरित है—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्रह्म और अनृत पदार्थों के भेद को विषय करनेवाली प्रतीतियाँ भी पक्ष के समान हैं, अर्थात् उनमें भी मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए उन्हें पक्ष के अन्तर्गत ही समझ लेना चाहिए।

यह जो कहा गया है कि ब्रह्म और अनृत पदार्थों के भेद की प्रतीति को सत्य मानना ही होगा, अतः इस प्रतीति में मिथ्यात्व-साधक अनुमान को अनुमानाभास कहना निश्चित है, उस अनुमानाभास का साम्य प्रकृत अमुमान में दिखाया जा सकता है। वह कहना संगत नहीं, क्योंकि ब्रह्म और अनृत पदार्थों के भेद की प्रतीति को तात्त्विक (सत्य) हम नहीं मानते।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है—

विमतं तत्त्वतः स्वान्तर्भेदहीनं महत्त्वतः।
यदित्थं तत्तथा यद्वद् खं तथेदं ततस्तथा॥

[विवादास्पद आत्मत्वाधार वस्तु तत्त्वतः स्वाश्रित पदार्थों के भेद से रहित है, क्योंकि महान् (विभु) है, जैसे—आकाश] इस अनुमान में आकाशरूप दृष्टान्त साध्य-

न्यायामृतम्

वैकल्यात्। संवित् स्वान्तर्गणिकस्वाभाविकभेदहीना, उपाधिभेदमन्तरेणाविभाव्यमानभेदत्वाद्, गगनवदित्यत्र साध्यवैकल्यात्। इच्छादेरपि घटेच्छा पटेच्छेत्युपाधिभेदेनैव विभाव्यमानभेदत्वेन व्यभिचाराच्च। विमतः अव्याप्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताको भेदः स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगी, भेदत्वात्, संयुक्तप्रतियोगिताकभेदवदित्राव्याप्यवृत्तिशब्देन स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोग्युक्तौ बाधात्। अवयववृत्त्युक्तौ त्ववयववृत्तिद्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिकभेदस्यापक्षत्वापातात्। विमतो भेदः केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगी, पदार्थत्वात्, नित्यद्रव्यव-

अद्वैतसिद्धिः

स्योक्तेः। एवं संवित्, स्वान्तर्गणिकस्वाभाविकभेदहीना, उपाधिमन्तरेणाविभाव्यमानभेदत्वाद्, गगनवत्। न च साध्यवैकल्यम्, नैयायिकदिशा दृष्टान्तत्वोक्तेः। न च—इच्छादेरपि घटपटाद्युपाधिभेदेन विभाव्यमानभेदतया व्यभिचारस्तेष्विति—वाच्यम्, इच्छादीनामेकान्तःकरणपरिणामत्वेन तत्रापि साध्यसत्त्वात्। विमतो अव्याप्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताको भेदः, स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगी, भेदत्वात्, संयुक्तभेदवत्। विमतो भेदः, केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगी, पदार्थ-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विकल है, क्योंकि आप (अद्वैती) उसे सावयव मानते हैं, अतः वहाँ वृक्षादि के समान स्वगत अवयवों का भेद ही रहता है, उसका अभाव नहीं।

न्यायामृतकार का वह कहना उचित नहीं, क्योंकि इस अनुमान में 'स्वान्तः' पद के द्वारा स्वकीय अवयव से भिन्न स्वाश्रित पदार्थ विवक्षित है [वस्तुतः अवयव और अवयवी का भेदवाद हो, या अभेदवाद, सर्वथा अवयवी में अवयवों की स्थिति नहीं मानी जाती, अपितु अवयवों में ही अवयवी की वृत्तिता मानी जाती है, अतः गगन को सावयव मानने पर भी अवयवों को स्वान्तः (गगनाश्रित) नहीं कहा जा सकता। उक्त अनुमान का आशय यह है कि जैसे आकाश में स्वाश्रित गन्धर्वनगरादि का भेद नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म में स्वाश्रित जगत् का भेद नहीं होता]।

इसी प्रकार ब्रह्म और जगत् के भेद का अभाव सिद्ध किया जाता है—संवित् (चितिः) स्वान्तर्गणिक स्वानुयोगिक या स्वप्रतियोगिक स्वाभाविक भेद से रहित है, क्योंकि घटादि उपाधियों के विना जिसका स्वाभाविक भेद प्रतीत नहीं होता, ऐसी वस्तु संवित् है, जैसे—गगन। नैयायिकों के मत से गगन को दृष्टान्त बनाया गया है, अतः गगन को सावयव मान कर दृष्टान्त में साध्याभाव का उद्भावन नहीं हो सकता।

शङ्का—घटस्येच्छा, पटस्येच्छा—इस प्रकार घटादि उपाधियों के विना तो इच्छादि पदार्थों का भी भेद नहीं प्रतीत होता, अतः इच्छादि पदार्थों में स्वाभाविक भेद के रहने पर भी हेतु रह जाता है, अतः व्यभिचारी है।

समाधान—इच्छादि में साध्य का अभाव नहीं, अपितु साध्य का सद्भाव ही है, क्योंकि घटेच्छादि अनन्त इच्छाएँ एक ही अन्तःकरण का परिणाम होने के कारण एकात्मक या अभिन्न ही मानी जाती हैं, स्वभावतः नाना नहीं।

भेद-मिथ्यात्व-सिद्धि के द्वारा अभेद-साधन के ये भी प्रकार हैं—विवादास्पद अव्याप्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद स्वाधिकरण-वृत्ति अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है, क्योंकि भेद है, जैसे—संयुक्त पदार्थों का भेद। विवादास्पद भेद

न्यायामृतम्

दित्यत्र च स्वरूपेणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे साध्येऽत्यन्तासत्त्वापातात्। पारमार्थिकत्वादिधर्मावच्छेदेन तत्प्रतियोगित्वे साध्येऽर्थान्तरात्। अन्योन्याभावत्वं स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिवृत्ति, त्रैकालिकाभावमात्रवृत्तित्वे सत्यभावत्वसाक्षाद् व्याप्यधर्मत्वाद्, अत्यन्ताभावत्ववदित्यत्र मन्मतेऽपि शुक्तौ शुक्तिभेदस्यारोपितत्वेन सिद्धसानात्। त्रैकालिकस्य मिथ्यात्वायोगेन विरोधाच्च, संयोगादिवत् सत्यत्वेऽपि

अद्वैतसिद्धिः

त्वात्, नित्यद्रव्यवत्। स्वरूपेणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे यथा न तुच्छत्वं पारमार्थिकत्वाकारेणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे ब्रह्मवत् सद्रूपतोपपत्त्या न यथार्थान्तरम्, तत् प्रागुक्तम्। अन्योऽन्याभावत्वम्, स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिवृत्ति, त्रैकालिकाभाववृत्तित्वे सति अभावत्वसाक्षाद्व्याप्यत्वाद्, अत्यन्ताभावत्ववदित्यनुमानं पूर्वोक्तसंयुक्तप्रतियोगिकभेदरूपदृष्टान्तसिद्ध्यर्थम्। न च शुक्तौ शुक्तिभेदस्यारोपितस्य सत्त्वेन सिद्धसाधनम्, असदन्यथाख्यातिवादिनस्तवानङ्गीकृत्वेन तस्य साध्यत्वात्। न च त्रैकालिकत्वे मिथ्यात्वायोगः, मायाचित्संबन्धस्य कालत्वेन सर्वकालस्थितेरतद्विरोधित्वात्। न चाव्याप्यवृत्तितया संयोगादिवत् समानाधि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

केवलान्वयी अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है, क्योंकि पदार्थ है, जैसे—नित्य द्रव्य। स्वरूपेणात्यन्ताभाव के प्रतियोगी में तुच्छत्व नहीं ओर पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व में ब्रह्म के समान सद्रूपता की उपपत्ति हो जाने से अर्थान्तरता नहीं—यह पहले ही पृ० २५ पर कहा जा चुका है।

अन्योऽन्याभावत्व, स्व-समानाधिकरण अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी में रहता है, क्योंकि त्रैकालिक अभाव में वृत्ति एवं अभावत्व का साक्षाद् व्याप्य धर्म है, जैसे-अत्यन्ताभावत्व [प्रागभावत्वादि और रूपात्यन्ताभावत्वादि में व्यभिचार-वारणार्थं क्रमशः त्रैकालिकाभावमात्रवृत्तित्व और अभावत्वसाक्षाद्व्याप्य कहा गया है]—इस अनुमान के द्वारा पूर्वोक्त भेदपक्षक मिथ्यात्व-साधक अनुमान के दृष्टान्तीभूत 'संयुक्तभेद' में साध्य (स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व) सिद्ध हो जाता है।

इस अनुमान में सिद्धसाधनता का उद्भावन करते हुए न्यायामृतकार ने जो कहा है—"मन्मते शुक्तौ शुक्तिभेदस्यारोपितत्वेन सिद्धसाधनम्।" वह कहना उचित नहीं, क्योंकि आप (माध्व) भ्रम-विषयीभूत रजतादि को असत् मानते हैं, अतः शुक्ति में शुक्ति-भेद की सत्ता नहीं मानी जा सकती, तब उस भेदत्व में स्वाधिकरण-वृत्ति अत्यन्ताभाव का प्रतियोगिवृत्तित्व कैसे रहेगा? अन्यथाख्यातिवादी तार्किक भी व्यधिकरणप्रकारक भ्रमवादी हैं, अतः उनके मत में भी वैसा सिद्ध नहीं, अपितु साधनीय ही है। त्रैकालिक अत्यन्ताभाव जब तीनों कालों में विद्यमान है, तब उसमें त्रैकालिकाभावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व कैसे रहेगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि माया और चतन्य के सम्बन्ध का नाम काल है, अतः माय-चित्सम्बन्ध और मिथ्यात्व का कोई विरोध ही नहीं त्रैकालिक वस्तु में माया-चित्सम्बन्ध भी रहेगा और उक्त मिथ्यात्व भी।

शङ्का—भेद पदार्थ का भी अभाव यदि अपने अधिकरण में है, तब संयोगादि के समान भेद को भी अव्याप्यवृत्ति मानना होगा, अव्याप्यवृत्ति संयोगादि तो स्वभावतः

न्यायामृतम्

स्वात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यसम्भवेनार्थान्तरत्वाच्च। तत्र विप्रतिपत्तौ च दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यात्। एवमन्यान्यप्यनुमानानि दूष्याणि। धर्मिग्राहकप्रत्यक्षश्रुत्यादिबाधः, पूर्वोक्तैर्भेदानुमानैः सत्प्रतिपक्षत्वम्, अप्रयोजकत्वम्, सुखदुःखाद्यनुसंधानापत्तिरूपप्रतिकूलतर्कपराहतिरित्यादयो भेदमिथ्यात्वानुमानसाधारणदोषाः।

ऐक्यानुमानभंगः ॥ ३१ ॥

अद्वैतसिद्धिः

करणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेनार्थान्तरम्, पक्षविशेषणमहिम्ना अव्याप्यवृत्तित्वस्यासंभवेन तदयोगात्। अनुसन्धानाद्यव्यवस्थादिकं प्रागेव निराकृतम्। अप्रयोजकत्वाभाससाम्यसत्प्रतिपक्षोपाध्यादि पूर्वोक्तप्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानवन्निराकरणीयम्। एवमात्मत्वमेकत्वव्याप्यम्, आत्ममात्रवृत्तित्वात्, चैत्रत्ववदित्याद्यपि द्रष्टव्यम् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ जीवब्रह्माभेदानुमानम् ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

स्वसमानाधिकरण अभाव के प्रतियोगी होते हैं, किन्तु मिथ्या नहीं, सत्य ही होते हैं—इस प्रकार सत्यत्वाविरोधी स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्व की सिद्धि होने पर अर्थान्तर नाम का निग्रहस्थान प्रसक्त होता है।

समाधान—संयोगादि की व्यावृत्ति के लिए प्रदत्त अव्याप्यवृत्तित्वानवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूप पक्ष-विशेषण के बल से भेदरूप पक्ष में अव्याप्यवृत्तित्व सम्भव न होने के कारण अर्थान्तर दोष नहीं होता। भेदमिथ्यात्व-साधक अनुमान में जो सुख-दुःखादि का वैलक्षण्यानुसन्धानरूप प्रतिकूल तर्क प्रस्तुत किया जाता है, उसका निराकरण औपाधिक भेद मानकर पहले ही किया जा चुका है। न्यायामृतकार-द्वारा उद्भावित अप्रयोजकत्व, आभास-साम्य, सत्प्रतिपक्षत्व और सोपाधिकत्वादि दोषों का परिहार प्रपञ्च मिथ्यात्वानुमान में प्रदर्शित रीति से कर लेना चाहिए।

इसी प्रकार 'आत्मत्वम्, एकत्वव्याप्यम्, आत्ममात्रवृत्तित्वात् चैत्रत्ववत्'—इत्यादि प्रयोगों के द्वारा भी ऐक्य की सिद्धि की जा सकती है।

: ३२ :

अंशत्वेनैक्यसिद्धिविचारः

न्यायामृतम्

न च "अंशो ह्येष परमस्य", "पादोऽस्य विश्वा भूतानी"ति श्रुतौ "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन"इत्यादि स्मृतौ "अंशो नानाव्यपदेशादि"ति सूत्रे चांशत्वोक्तेरैक्यम्। अयं ज्येष्ठस्यांशः, अयं तु कनिष्ठस्यांशः, चैत्रस्य चतुर्थांशबलो मैत्रः, अनर्घ्यस्यास्य रत्नस्यायं रत्नाभासः सहस्रांश इत्यादिवत् मार्गविन्यस्तचैत्रपादाकृतौ चैत्रपाद इतिवच्च भेदेनैवोपपत्तेः। त्वन्मतेऽपि ब्रह्म प्रति जीवस्यांशत्वं न तावदारंभकत्वम्, ब्रह्मणोऽनादित्वात्। नापि खण्डत्वम्, अच्छेद्यत्वात्। नापि समुदायित्वम्, समुदायस्य समुदाय्यनन्यत्वेन व्यवहारदशायामपि संसारिजीवान्यशुद्धब्रह्माभावापातात्। नापि भिन्नाभिन्नद्रव्यत्वम्, अनंगीकारात्। नापि प्रदेशत्वम्, खण्डपटस्य पटं प्रतीव निष्प्रदेशं ब्रह्म प्रत्यकल्पितस्य तस्यायोगात्। नापि घटाकाशस्याकाशं प्रतीव कल्पित-

अद्वैतसिद्धिः

'पादोऽस्य विश्वा भूतानी'ति श्रुतौ 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इति स्मृतौ चांशत्वव्यपदेशादपि जीवब्रह्माभेदसिद्धिः। यद्यपि ब्रह्म प्रति जीवस्यांशत्वं न तावदारम्भकत्वम्, ब्रह्मणोऽनादित्वात्। नापि खण्डत्वम्, अच्छेद्यत्वात्। नापि समुदायित्वम्, समुदायस्य समुदाय्यनन्यत्वेन व्यवहारदशायामपि संसार्यन्यशुद्धब्रह्माभावापातात्। नापि भिन्नाभिन्नद्रव्यत्वम्, अनङ्गीकारात्। नापि पटं प्रति खण्डपटस्येव प्रदेशत्वम्, निष्प्रदेशब्रह्म प्रति कल्पनां विना तदयोगात्। तथापि घटाकाशस्य महाकाशं प्रतीव कल्पितप्रदेशत्वरूपमंशत्वं जीवस्यावच्छेदपक्षे संभवति।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

"पादोऽस्य विश्वा भूतानि" (छां० ३।१२।६) इस श्रुति और "ममैवांशो-जीवलोके" (गी० १५।७) इत्यादि स्मृतियों में अंशत्व-व्यवहार के द्वारा भी जीव और ब्रह्म का अभेद सिद्ध होता है। यद्यपि जैसे तन्तु पट के आरम्भक (जनक) होने के कारण पट के अंश (अवयव) कहलाते हैं, वैसे जीव को ब्रह्म का अंश (अवयव) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्रह्म अनादि तत्त्व होने के कारण जीव से आरब्ध नहीं। पाषाण के खण्ड को जैसे पाषाण का अंश माना जाता है, वैसे भी जीव को ब्रह्म का अंश नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्रह्म अभेद्य और अखण्ड तत्त्व है, उसका खण्ड हो ही नहीं सकता। जैसे वानरसमूह का प्रत्येक वानर समूही होनें के कारण अंश कहलाता है, वैसे ब्रह्मरूप समूह का समूही होने के कारण जीव को ब्रह्म का अंश नहीं कहा जा सकता, क्योंकि समूह समूही से भिन्न नहीं माना जाता, अतः व्यवहार-दशा में भी संसारी आत्मा से भिन्न शुद्ध ब्रह्म को नहीं माना जा सकेगा। तन्तु और पट का भेदाभेद माननेवाले जैसे पट का भेद और अभेद—दोनों रहने के कारण तन्तुओं को पट का अंश मानते हैं, वैसे भी जीव को ब्रह्म का अंश नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन दोनों का भेदाभेद अद्वैती नहीं मानते। जैसे खण्ड पट को पूर्ण पट का प्रदेश होने के कारण अंश कहा जाता है, वैसे भी जीव को ब्रह्म का अंश नहीं कह सकते, क्योंकि ब्रह्म निष्प्रदेश है, उसमें प्रदेश-कल्पना के विना जीव को ब्रह्म का अंश नहीं कह सकते।

तथापि जैसे घटाकाश में महाकाश की कल्पित प्रदेशता को लेकर अंशत्व का व्यवहार होता है, वैसे ही अवच्छेदवाद में जीव को ब्रह्म का अंश माना जाता है।

न्यायामृतम्

प्रदेशत्वम्, प्रतिबिम्बपक्षे तदयोगात्। स्वतो निरंशे औपाधिकांशायोगस्योक्तत्वाच्च। नाप्यत्यन्ताभिन्नत्वम्, तत्रांशशब्दाप्रयोगात्, पटाद्भिन्नेऽप्येकस्मिन् तन्तौ पटांशत्वव्यवहाराच्च। तस्मात् तत्सदृशत्वे सति ततो न्यूनत्वं जीवस्यांशत्वं न तु तदेकदेशत्वम्।

अभिन्नांशास्तु मत्स्याद्यास्तेजसः कालवह्निवत्।
जीवा भिन्नांशकास्तत्र तेजसः प्रतिबिम्बवत्॥ इति स्मृतेः।

किं च त्वन्मते जीवस्यांशत्वं किं शुद्धचैतन्यं प्रति ? ईश्वरं प्रति वा ? नाद्यः, पादोऽस्य

अद्वैतसिद्धिः

स्वतो निरंशेऽपि औपाधिकांशो यथा युज्यते, तथोक्तं पुरस्तात्। न तु सदृशत्वे सति ततो न्यूनत्वम्, स्थूलपटं प्रति सूक्ष्मपटस्याप्यंशत्वापत्तेः। वस्त्वेकदेशे मुख्यस्यांशशब्दस्य स्वतो निरंशेऽपि कल्पितैकदेशे प्रयोगस्यार्थान्तरे प्रयोगकल्पनापेक्षयाऽभ्यर्हितत्वात्। 'अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके' इति सूत्रे 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य, एतमेवं विदित्वा मुनिर्भवति य आत्मनि तिष्ठ'न्नित्यादिभेदव्यपदेशस्य 'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मेमे कितवा उतेत्याथर्वणमन्त्रे अभेदव्यपदेशस्य चोदाहृतत्वाच्चोक्तार्थपरिग्रहस्योचितत्वात्। आत्यन्तिकभेदगर्भार्थान्तरस्वीकारे चैतत्सूत्रविरोधापत्तेः, कुत्रचिदन्यत्र प्रयोगमात्रेण सर्वत्रैतत्कल्पने बहुविप्लवापत्तेश्च। अत एव ननु—जीवस्य शुद्धचैतन्यांशत्वं वा ? ईश्वरांशत्वं वा ? पादोऽस्येत्यनया

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

स्वतः निरंश वस्तु में औपाधिक अंशों का प्रकार पहले कहा जा चुका है। न्यायामृतकार ने जो यह कहा है—'तस्मात् तत्सदृशत्वे सति ततो न्यूनत्वं जीवस्यांशत्वम्।' वह कहना उचित नहीं, क्योंकि वैसा मानने पर एक पट की अपेक्षा भिन्न वैसे ही छोटे पट को भी उसका अंश मानना होगा। 'अंश' शब्द मुख्यतः वस्तु के एक देश का वाचक है, अतः द्वैतिसम्मत ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न जीव में अंशत्व-व्यवहार की अपेक्षा अद्वैतिसम्मत काल्पनिक अंशत्व को लेकर जीव में ब्रह्मांशता-व्यदेश अधिक न्यायसंगत है।

[जीव और ब्रह्म का अत्यन्त भेद मानने पर सूत्रकार ने जो भेद और अभेद—दोनों प्रकार के शास्त्रीय व्यवहारों को दिखाकर अभेद-पक्ष की वास्तविकता स्वीकार की है, वह असंगत हो जाती है, अर्थात्] "अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयते एके" (ब्र. सू. २।३।४३) इस सूत्र में जो कहा है कि "सोऽन्वेष्टव्यः, स विजिज्ञासितव्यः" (छां० ८।७।१), "एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति" (बृह० उ० ४।४।२), "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति" (शत० ब्रा० १४।५।५।३०) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा जीव और ब्रह्म का भेद-व्यवहार तथा "ब्रह्म दाशा, ब्रह्म दासा, ब्रह्म इमे कितवाः" इस आथर्वण मन्त्र के द्वारा दाश (केवर्त), दास (भृत्य) और कितव (जुआरी) आदि को ब्रह्मरूप बताते हुए जीव और ब्रह्म का अभेद सिद्ध किया गया है। वह जीव को ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न मानने पर विरुद्ध पड़ जाता है। किसी स्थल पर कोई एक व्यवहार मात्र देखकर उस पक्ष का निर्णय नहीं किया जाता, अपितु तात्पयार्थ के केन्द्र-बिन्दु तक पहुँच कर ही सिद्धान्त स्थिर किया जा सकता है [जैसे कि भाष्यकार ने कहा है—"ननु भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वं सिध्यतीत्युक्तम्। स्यादेतदेवं यद्युभावपि भेदाभेदौ प्रतिपिपादयिषितौ स्याताम्, अभेद एव त्वत्र प्रतिपिपादयिषितः, ब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तौ पुरुषार्थसिद्धेः" (ब्र. सू. २।३।४७)]।

न्यायामृतम्

विश्वा भूतानि" इति श्रुताविदंशब्देन सहस्रशीर्षत्वादिविशिष्टप्रकृतेश्वरस्य "ममैवांश" इति स्मृतौ चेश्वरप्रयुक्तास्मच्छब्देनेश्वरस्यैवोक्तेः। नान्त्यः, त्वन्मते ईश्वरस्याप्युपहितत्वेन घटाकाशं प्रति करकाकाशस्येवेश्वरं प्रति जीवस्यांशत्वायोगात्। न च मठाकाश एव पुनर्घटेनेवेश्वरोपाधिनावच्छिन्नमेव चैतन्यं पुनर्जीवोपाधिनावच्छिद्यते। तथात्वे हि मुक्तस्य शुद्धब्रह्मत्वं न स्यात्। तस्मात्त्वन्मतेऽपि न मुख्यांशत्वम्। अत एव त्वयापि भाषितम्—"अंश इवांशः, न हि निरवयवस्य मुख्यांशः सम्भवति"—इति। एवं च—

शतांशश्चन्द्रबिम्बस्य गुरुबिम्बं यथा तथा।
भेदेऽपि न्यूनतामात्राज्जीवो ब्रह्मांश उच्यते॥

तस्मान्नांशत्वेनैक्यसिद्धिः। अंशत्वेनैक्यसिद्धिभंगः॥ ३२॥

अद्वैतसिद्धिः

श्रुत्या बोध्यम्? नाद्यः, पादोऽस्य विश्वा भूतानीति श्रुताविदंशब्देन सहस्रशीर्षत्वादिविशिष्टप्रकृतेश्वरस्य ममैवांश इति स्मृतौ चेश्वरे प्रयुक्तास्मच्छब्देनेश्वरस्यैवोक्तेः। नान्त्यः, त्वन्मते ईश्वरस्याप्युपहितत्वेन घटाकाशं प्रति करकाकाशस्येवेश्वरं प्रति जीवस्यांशत्वायोगात्। न च—गृहाकाश एव पुनर्घटेनेवेश्वरोपाधिनाऽवच्छिन्नमेव चैतन्यं पुनर्जीवोपाधिनावच्छिद्यत इति—वाच्यम्, तथात्वे हि मुक्तस्य शुद्धब्रह्मत्वं न स्यात्, तस्मात्त्वन्मतेऽपि न मुख्यमंशत्वम्, नाप्यौपाधिकं वक्तुं शक्यम्, अतो मदुक्तप्रकार एवादरणीय इति—निरस्तम्, अर्थान्तरपरिग्रहे विरोधस्योक्तत्वात्, श्रुतिस्मृतिगतसर्वनाम्ना सहस्रशीर्षत्वाद्युपलक्षितचैतन्यपरामर्शादुक्तदूषणानवकाशाच्च। तस्मात् "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते' इत्यादिश्रुत्या जीवब्रह्माभेदे प्रमितेऽपि मन्तृमन्तव्यत्वादिभेदव्यपदेशनिर्वाहार्थं काल्पनिकांशत्वस्य श्रुतिस्मृतिव्याहतत्वेन तद्बलादप्यभेदोऽवगम्यत इति सिद्धम्॥

इत्यद्वैतसिद्धौ अंशत्वेनाप्यैक्यसिद्धिः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि "पादोऽस्य"—इस श्रुति के द्वारा जीव को शुद्ध ब्रह्म का अंश बोधित किया जा रहा है? अथवा ईश्वर (विशिष्ट चेतन) का? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि उक्त श्रुतिगत 'अस्य'—इस पद के द्वारा सहस्रशीर्षत्वादि-विशिष्ट प्रकृत ईश्वर का ही परामर्श किया जाता है। "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः" (गी० १५।७) यह स्मृति भी वैसा ही कहती है। द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि आप के मत में जीव के समान ईश्वर भी उपहित होने के कारण जैसे घटाकाश का करकाकाश अंश नहीं हो सकता, वैसे जीव भी ईश्वर का अंश नहीं हो सकता। 'जैसे मठावच्छिन्न आकाश ही घट के द्वारा अवच्छिन्न होता है, ऐसे ही ईश्वर की उपाधिभूत सहस्रशीर्षत्वादि के द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य ही जीव के उपाधिभूत अन्तःकरण के द्वारा अवच्छिन्न होता है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर जीव मुक्त होकर भी शुद्ध चेतन का स्वरूप न होकर ईश्वररूप विशिष्ट चैतन्य का ही स्वरूप होगा। अतः आप (अद्वैती) के मतानुसार भी जीव में न मुख्य अंशत्व सम्भव होता है और औपाधिक, फलतः हम ने जो प्रकार दिखाया है, वही आदरणीय है।

: ३३ :

बिम्बप्रतिबिम्बैक्यविचारः

न्यायामृतम्

नापि जीवब्रह्मणोर्बिम्बप्रतिबिम्बत्वान्मुखप्रतिमुखवदैक्यम् , दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यात् , तथा हि- बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्ये न तावत्प्रत्यक्षं मानम् , इमे चैत्रतच्छाये भिन्ने इतिवद् इमे चैत्रतत्प्रतिबिम्बे भिन्ने इत्येव पार्श्वस्थेन ग्रहणात् । स्वेनापि स्वकरतत्प्रतिबिम्बे भिन्ने इत्येव ग्रहणाच्च । ननु यथा बहिःस्थितश्चैत्रो यत्स्वलक्षणः प्रतिपन्नः, तत्स्वलक्षण एव वेश्मान्तःस्थोऽपि भाति, तथा यत्स्वलक्षणं ग्रीवास्थं मुखं तत्स्वलक्षण-

अद्वैतसिद्धिः

तथा जीवब्रह्मणोर्मुखप्रतिमुखवद् बिम्बप्रतिबिम्बरूपत्वादप्यभेदोऽवगन्तव्यः । ननु—दृष्टान्ते नाभेदः संप्रतिपन्नः, चैत्रतच्छाये भिन्ने इतिवत् चैत्रतत्प्रतिबिम्बे भिन्ने इत्येव पार्श्वस्थितेन ग्रहणात् , स्वेनापि स्वकरतत्प्रतिबिम्बे भिन्ने इति ग्रहणाच्चेति—चेन्न, आपाततो भेदप्रतीतावपि सयुक्तिकप्रत्यक्षेण बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्यसिद्ध्या दृष्टान्तत्वोपपत्तेः । यथा लक्षणापरिज्ञाने भेदभ्रमवतोऽपि बहिःस्थितश्चैत्रो यत्स्वलक्षणत्वेन प्रतिपन्नः, ततो गृहस्थे तथा भाति तस्मिन् चैत्र एवायमिति धीः, तथा ग्रीवास्थं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न्यायामृतकार का वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न जीव का ग्रहण करने पर श्रुति, सूत्रादि का विरोध दिखाया जा चुका है और श्रुति, स्मृति के 'अस्य'—इत्यादि सर्वनाम पदों के द्वारा सहस्रशीर्षत्वादि उपाधि से उपलक्षित शुद्ध चैतन्य का परामर्श कर लेने पर किसी प्रकार का दोष प्रसक्त नहीं होता, अतः "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि (गच्छसि) त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः" (अथर्व० १।४।२०), "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः, नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते" (महावाक्यो० ३) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा जीव और ब्रह्म का अभेद प्रमित होने पर भी मन्तृत्व-मन्तव्यत्वादि भेद-व्यवहार का निर्वाह करने के लिए काल्पनिक अंशांशिभाव का जो श्रुतियों और स्मृतियों में व्यवहार किया गया है, उसके बल पर भी जीव और ब्रह्म का अभेद ही अवगत होता है—यह सिद्ध हो गया ।

जीव और ब्रह्म का मुख और प्रतिमुख के समान बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होने के कारण भी अभेद होता है ।

शङ्का—दृष्टान्त में अभेद नहीं भेद ही निश्चित होता है, क्योंकि चैत्र का पार्श्ववर्ती व्यक्ति चैत्र और उसकी छाया का जैसे भेद देखता है—इमे चैत्रतच्छाये भिन्ने', वैसे ही चैत्र और उसके प्रतिबिम्ब का भेद देखता है—चैत्रतत्प्रतिबिम्बे भिन्ने' । केवल इतना ही नहीं, वह पार्श्वस्थ पुरुष अपने हाथ और उसकी छाया को भी भिन्न ही देखता है—'मम करतत्प्रतिबिम्बे भिन्ने' ।

समाधान—दृष्टान्त में आपाततः भेद की प्रतीति होने पर भी सयुक्तिक प्रत्यक्ष के द्वारा बिम्ब और प्रतिबिम्ब की एकता सिद्ध हो जाती है । जैसे कोई व्यक्ति चैत्र को प्रथम बार बाहर देख कुछ समय के पश्चात् अन्दर देखता है और उसे चैत्र के लक्षण का परिज्ञान न रहने के कारण आपाततः भ्रम हो जाता है कि यह वही (चैत्र) है ? अथवा अन्य व्यक्ति ? किन्तु ध्यान देकर जब देखता है, तब निश्चित हो जाता है, कि

न्यायामृतम्

मेव दर्पणस्थमपि भाति, न तद्वस्त्वन्तरत्वे युज्यते तस्मादेकमेकदेशस्थं च मुखं भ्रान्त्या भिन्नं भिन्नदेशस्थं च भातीति चेद्, उच्यते—किमनेन सव्येतरहस्तयोरिवात्यन्तसादृश्यधीरुपन्यस्ता ? प्रत्यभिज्ञा वा ? नाद्यः, तयैक्यासिद्धेः। अन्त्येऽसिद्धिः। किंचित्स्वच्छताम्रादौ प्रतीते मुखच्छायामात्रे मुखसंस्थानविशेषाप्रतिपत्त्या प्रत्यभिज्ञाभावस्य स्पष्टत्वात्। स्वनेत्रगोलकादौ स्वस्याभिज्ञाभावेन प्रत्यभिज्ञायोगाच्च। सूर्यं पार्श्वे प्रतिसूर्यं इतिवत् दर्पणे मम मुखच्छायेत्येवानुभवेन दर्पणे मम मुखं लग्नमिति

अद्वैतसिद्धिः

मुखं यत्स्वलक्षणकं प्रतिपन्नं दर्पणस्थमपि तथेत्यवधार्य तथैवेदं मुखमिति स एवायं कर इति च स्वपरसाधारणप्रतीतिरप्यनुभवसिद्धा। न च—किंचित्स्वच्छताम्रादौ मुखछायामात्रे प्रतीतेऽपि संस्थानविशेषाप्रतीत्या प्रत्यभिज्ञाया असिद्धिरिति—वाच्यम्, सर्वत्राप्रतीतावपि निर्मलदर्पणादावेव तत्सिद्ध्या दृष्टान्तसिद्धेः। ननु—स्वनेत्रगोलकादौ स्वस्याभिज्ञाविरहात् प्रत्यभिज्ञापि कथमिति—चेन्न, दर्पणाहतचक्षूरश्मीनामग्रावच्छेदेन संबन्धात् स्वनेत्रगोलकादीनामभिज्ञायाः सन्निहितपूर्वसमय एव संभवात्। यत्तु—सूर्यपार्श्वस्थिते प्रतिसूर्ये प्रत्यभिज्ञाविरहादत्रापि प्रत्यभिज्ञाविरहः—इति, तन्न, तत्रोपाधेरत्रैवानाकलनेनौपाधिकत्वानिर्णयात्। तथा च—उपाधिनिबन्धन-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

बाहर जैसा चैत्र का स्वरूप देखा था, वैसा ही है, अतः यह वही (चैत्र) है। वैसे ही प्रकृत में भी जब देखता है कि ग्रीवास्थ मुख या कर की जो रूप-रेखा देखी, वही दर्पण में प्रतीत होती है, अतः दर्पण में प्रतीयमान वह मुख या कर वही है, उससे भिन्न कोई वस्त्वन्तर नहीं—इस प्रकार की स्वपर-साधारण प्रतीति अनुभाव-सिद्ध है।

शङ्का—अर्धस्वच्छ ताम्रादि में मुख की छाया मात्र प्रतीत होती है, मुख की पूर्णतया रूप-रेखा प्रतीत न होने के कारण प्रत्यभिज्ञा (तदेवेदं मुखम्) नहीं होती, अतः वहाँ एकता सिद्ध कैसे होगी ?

समाधान—ऐसे अस्पष्ट स्थलों को लेकर उक्त दृष्टान्त प्रस्तुत नहीं किया गया, अपितु स्वच्छ दर्पणादि में प्रत्यभिज्ञा-सक्षम प्रतिबिम्ब को दृष्टान्त बनाया गया है।

शङ्का—प्रत्यभिज्ञा द्वितीय ज्ञान है, उससे पहले अभिज्ञारूप प्रथम ज्ञान जिसका होता है, प्रत्यभिज्ञा उसी की होती है, किसी व्यक्ति को अपने नेत्र-गोलकादि से संवलित भाल-स्थल की दर्पणादि की सहायता के विना अभिज्ञा नहीं होती, तब उसकी प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी ?

समाधान—दर्पण से टकरा कर नेत्र-रश्मियों का अग्र-भाग मुख पर फैल कर अभिज्ञात्मक प्रथम ज्ञान को जन्म देता है और उसके अनन्तर द्वितीय क्षण में प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। [विवरणकार ने उक्त शङ्का का इस प्रकार समाधान किया है—"कतिपयावयवदर्शनादपि लोकवदवयविनश्चाक्षुषत्वोपपत्तेः" (पं० वि० पृ० २७४)]।

यह जो कहा गया कि जैसे समुद्र में डूबते हुए सूर्य के पार्श्व में अवस्थित प्रति सूर्य (सूर्य की प्रतिकृति) में प्रत्यभिज्ञा नहीं, अपितु 'इमौ द्वौ सूर्यौ'—ऐसा ज्ञान होता है, वैसे प्रकृत में भी प्रत्यभिज्ञा का अभाव है।

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि दृष्टान्त में जैसे उपाधि-भेद का निश्चय न होने के कारण प्रति-सूर्य-प्रतीति को औपाधिक नहीं माना जाता है, वैसे प्रकृत में नहीं,

न्यायामृतम्

प्रतीत्यभावाच्च, चैत्रप्रतिबिम्बमेव दृष्टं न चैत्रः, चैत्रस्तु तेनानुमित इत्यनुभवायोगाच्च। प्रतिमुखे प्रत्यङ्मुखत्वादिना दृश्यमानेऽपि स्वमुखे तद्बुद्ध्यभावाच्च। अत एव बालानां स्वप्रतिबिम्बे बालान्तरभ्रमः, क्वचित्प्रतिमुखे मम मुखमिति व्यपदेशस्तु स्वच्छायाशिरसि स्वशिरोव्यवहारवत्, मार्गविन्यस्तस्वपादाकृतौ स्वपादव्यवहारवच्च गौणः। भेदज्ञाने सत्यभेदव्यवहारस्य गौणत्वनियमात्।

अद्वैतसिद्धिः

त्वज्ञानं तल्लक्षकत्वज्ञानं चाभेदसाक्षात्कारे सामग्री। तस्यां सत्यां दर्पणे मम मुखं लग्नमिति अनुभवाभाव एवानुभवविरुद्धः। यत्तु—चैत्रप्रतिबिम्बो दृष्टो न चैत्रः, किंतु तेनानुमित इति विपरीतानुभवविरोधः—इति, तन्न, वस्तुतोऽभेदे ज्ञातेऽपि उपाध्यवच्छिन्नो दृष्टोऽनवच्छिन्नोऽनुमित इति प्रतीत्यविरोधात् शरद्गङ्गया वर्षर्तुगङ्गानुमानवत्। न च—एवं प्रतिमुखे प्रत्यङ्मुखत्वादिना दृश्यमाने स्वमुखे तद्बुद्धिः स्याद्, बालानां च स्वप्रतिबिम्बे बालान्तरभ्रमो न स्यादिति—वाच्यम्, तयोः स्वलक्षणकत्वाज्ञाननिबन्धनत्वात्। अत एव कदाचित् प्रतिमुखेऽपि मम मुखमिति बुद्धिव्यपदेशौ। न चायं व्यवहारो भेदज्ञानपूर्वकत्वेन मार्गे स्वपद्व्यां स्वपदव्यवहारवद् गौणः, स्वलक्षणकत्वज्ञानदशायां भेदज्ञानस्यासत्कल्पत्वात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अपितु दर्पणादि उपाधियों का विलग निर्णय होने के कारण वैसा नहीं माना जा सकता। फलतः उपाधि का विस्पष्ट ज्ञान और तल्लक्षणकत्व (यल्लक्षणकं मुखम्, तल्लक्षणकमिदम्—इत्यादिरूप) का ज्ञान—ये दोनों अभेद-साक्षात्कार की समग्री हैं, इनके रहने पर दर्पण में 'मम मुखं लग्नम्'—इस प्रकार के अभेद-साक्षात्कारात्मक अनुभव का न होना ही अनुभव-विरुद्ध है।

यह जो कहा गया कि 'चैत्रप्रतिबिम्बो दृष्टः, न चैत्रः, किन्तु प्रतिबिम्बेनानुमितश्चैत्रः'—इस प्रकार की विपरीत प्रतीति अभेद-साक्षात्कार की विरोधी है। वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि वस्तुतः अभेद का ज्ञान हो जाने पर भी 'उपाध्यवच्छिन्नो दृष्टोऽनवच्छिन्नोऽनुमितः'—ऐसी प्रतीति में ही उक्त प्रतीति का पर्यवसान होता है, अतः कोई विरोध नहीं, जैसे शरत्कालीन गंगा के द्वारा वर्षाकालीन गङ्गा का अनुमान होता है, वैसे ही प्रकृत में विशिष्ट-दर्शन से शुद्ध का अनुमान होता है।

शङ्का—जब मुख पूर्व दिशा के अभिमुख हो तो सम्मुखस्थ दर्पण में प्रतिमुख पश्चिमामुख प्रतीत होता है, अतः आपके मतानुसार दर्पणस्थ प्रतिमुखगत पश्चिमाभिमुखता का ही भान मुख में होना चाहिए और बालकों को जो अपने प्रतिबिम्ब में द्वितीय बालक का भ्रम होता है, वह नहीं होना चाहिए।

समाधान—उक्त दोनों स्थलों पर तल्लक्षणकत्व का ज्ञान न होने के कारण अभेद ज्ञान नहीं हो पाता, भेद-भ्रम हो जाता है। वस्तुतः बिम्ब से भेद न होने के कारण कदाचित् प्रतिमुख में 'मम मुखम्'—इस प्रकार का ज्ञान और शब्द-प्रयोग भी हो जाता है। यह ज्ञान भेदपूर्वक होने के कारण मार्गस्थ स्वकीय पद-चिह्नों में स्व-पद-व्यवहार के समान गौण है—ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि तल्लक्षणकत्व-ज्ञान के रहने पर न भेद-ज्ञान होता है और न तन्निमित्तक गौण-व्यवहार।

न्यायामृतम्

किं च बिम्बप्रतिबिम्बयोर्भेदसाक्षात्कारे तावन्न विवादः, अन्यथा त्वयापि कस्य भ्रमत्वमुच्येत ? न च भेदं भेदकं च साक्षात्कुर्वन्नभेदमपि साक्षात्कुर्वन् दृष्टः। न चैक्ये साक्षात्कृतेऽपि सोपाधिकभेदभ्रमो युक्तः, तदुपादानस्याप्यैक्याज्ञानस्यैक्य-ज्ञानेन निवृत्तेः। न चोपाधिनिवृत्तिसहकृतमेवैक्यज्ञानं अज्ञाननिवर्तकम्, ज्ञाते कदापि न जानामीत्यननुभवेन ज्ञानस्य स्वप्रागभावं प्रतीवाज्ञानं प्रत्यप्यन्यानपेक्षस्यैव

अद्वैतसिद्धिः

ननु—अविवादः स्याद् भेदसाक्षात्कारे, अन्यथा त्वयापि कस्य भ्रमत्वमुच्येत ? न च भेदं भेदकं च साक्षात्कुर्वन् अभेदं साक्षात्कुर्वाणो दृष्ट इति – चेत्, श्वैत्यव्याप्य-शङ्खत्वसाक्षात्कारे पीतसाक्षात्कारवद् उपाधिमाहात्म्यादभेदं साक्षात्कुर्वाणो भेदं साक्षात्करोतीत्यङ्गीक्रियते, अनुभवस्य दुरपह्नवत्वात्। न चैवमुपादानस्य ऐक्याज्ञानस्य ऐक्यज्ञानेन निवृत्तेः भ्रमानुपपत्तिः, तन्निवर्तने उपाधिविरहस्यापि सहकारित्वात्। न च—एवं तज्ज्ञाने सति तन्न जानामीत्यननुभवेन तस्य स्वप्रागभावं प्रतीवाज्ञानं प्रत्यप्य-न्यानपेक्षस्यैव निवर्तकत्वमिति - वाच्यम्, न जानामीति व्यवहारप्रयोजकाज्ञानांश-निवर्तनेऽपि भ्रमस्यानुभूयमानत्वेन तदुपादानांशस्य निवृत्तौ जीवन्मुक्तौ प्रारब्धकर्मण

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—उक्त स्थल पर भेद-साक्षात्कार तो निर्विवादरूप में आप (अद्वैती) को भी मानना होगा, अन्यथा आप भ्रमरूपता किसमें सिद्ध करेंगे ? भेद और भेदक का साक्षात्कार मान लेने पर अभेद-सक्षात्कार कैसे होगा ?

समाधान—जैसे श्वेतत्व-व्याप्य शङ्खत्व का साक्षात्कार होते समय पीत शङ्ख का साक्षात्कार माना जाता है, वैसे ही उपाधि के बल पर अभेद का साक्षात्कार करता हुआ पुरुष भेद का भी साक्षात्कार कर लेता है—यह अनुभव-सिद्ध है, निर्दोष अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता। 'ऐक्य-साक्षात्कार से ऐक्याज्ञान के निवृत्त हो जाने पर दर्पण में मुख-भ्रम कैसे होगा ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहाँ केवल अभेद-साक्षात्कार से भ्रम के उपादानभूत अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, उपाधि का विरह भी उसकी निवृत्ति का सहायक है, अतः उपाधि के रहते-रहते भ्रान्ति का होना स्वाभाविक है।

शङ्का—जैसे कहीं पर ज्ञान का उदय न होने पर 'न जानामि'—यह व्यवहार इस लिए होता है कि वहाँ ज्ञान का प्रागभाव है और ज्ञान के उदय मात्र से 'न जानामि'—यह व्यवहार नहीं रहता, इससे यह सिद्ध होता है कि केवल ज्ञान अन्य किसी की सहायता के बिना ही अपने प्रागभाव का निवर्तक होता है, वैसे ही अज्ञान मात्र की निवृत्ति में भी ज्ञान अन्य की अपेक्षा नहीं करता, तब यहाँ अभेद-साक्षात्कार अपने विरोधी अज्ञान की निवृत्ति में उपाधि के अभाव को अपेक्षा क्यों करेगा ?

समाधान—ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी जैसे जीवन्मुक्ति की उपपत्ति के लिए प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति नही मानी जाती, वैसे ही प्रकृत में अभेद-साक्षात्कार हो जाने पर 'न जानामि'—इस प्रकार का व्यवहार न रहने के कारण इस व्यवहार के प्रयोजक अज्ञानांश की निवृत्ति मानी जाती है, किन्तु भ्रम अनुभूयमान है, अतः उसकी उपपत्ति के लिए उसके उपादानभूत अज्ञानांश की स्थिति माननी होगी और उसकी निवृत्ति में प्रतिबन्धकीभूत उपाधि के अभाव की सहकारिता

न्यायामृतम्

निवर्तकत्वादित्युक्तत्वात् । न च बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्ये ज्ञातेऽपि तदवच्छिन्नचैत (न्यैक्या) न्याज्ञानात्तत्र भेदभ्रमः, अतिप्रसंगात् । न च बिम्बप्रतिबिम्बैक्यज्ञानाभावेऽपि मूलाविद्याकार्योऽयं भेदभ्रमः, व्यावहारिकत्वापत्तेः । न च सोपाधिकभ्रमं प्रति नाज्ञानज्ञाने उत्पादकनिवर्तके, किं तूपाधिसन्निधानरूपदोषतदपगमाविति वाच्यम्, दोषो निमित्तं कार्यानुगुणम्, मिथ्याभूतमज्ञानमेव तूपादनमिति त्वन्मतहानेः । अन्यथा ह्यज्ञानाकार्यत्वेन ज्ञानानिवर्त्यत्वेन च बिम्बप्रतिबिम्बभेदः सत्यः स्यादितिदिक् ।

नाप्यनुमानं तत्र मानम्, अत्यन्तसादृश्यस्य सव्येतरकरादौ व्यभिचाराद्, विरोधाच्च । वैधर्म्याभावस्य चासिद्धेः । क्रियासाम्यस्य च च्छायादावनैकान्त्यात् । बिम्बकारणमात्रजन्यत्वस्य च बिम्बादर्वाचीने प्रतिबिम्बेऽसिद्धेः । पृथग्दृष्टकार्यानुरोधेन

अद्वैतसिद्धिः

इवोपाधेरेव प्रतिबन्धकतया तद्विरहापेक्षाथा आवश्यकत्वात् । एतेन—भेदभ्रमस्यास्य मूलाविद्योपादानकत्वे व्यावहारिकत्वापत्तिः, अज्ञानानुपादानकत्वे अपसिद्धान्तः, बिम्बप्रतिबिम्बभेदस्य सत्यत्वापत्तिश्चेति—निरस्तम्, उक्तन्यायेनोपपत्तेर्व्यावहारिकत्वेऽप्यनुपपत्त्यभावाच्च ।

तयोरैक्ये अनुमानमपि प्रमाणम् । अत्र यद्यप्यत्यन्तसादृश्यं सव्येतरकरादौ व्यभिचारि, तथापि प्रतिबिम्बो बिम्बाभिन्नः तद्गतासाधारणधर्मवत्त्वात्, तद्विरुद्धधर्मानधिकरणत्वाद्, बिम्बाजनकाजन्यत्वाच्च । न च द्वितीयहेतोरसिद्धिः, प्रत्यङ्मुखत्वादिविरुद्धधर्मस्य उपाधिकृतत्वेन स्वाभाविकविरुद्धधर्मानधिकरणत्वस्य सत्त्वात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भी आवश्यक है ।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि उक्त भेद-भ्रम का उपादान कारण मूलाज्ञान को माना जाता है ? या नहीं ? प्रथम पक्ष में मूलाज्ञानोपादानक घटादि के समान भेद-भ्रम को भी व्यावहारिक मानना होगा और अज्ञान को उपादान कारण न मानने पर अपसिद्धान्त एवं बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेद ब्रह्म के समान सत्य भी हो जायगा ।

वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि भेद के अज्ञानोपादानक होने पर भी उपाधि-विरह-सापेक्ष अभेद-साक्षात्कार को भ्रम के उपादानभूत अज्ञान का निवर्तक मान लेने से सर्वोपपत्ति हो जाती है और उसे व्यावहारिक मान लेने पर भी कोई अनुपपत्ति नहीं होती ।

बिम्ब और प्रतिबिम्ब की एकता में अनुमान प्रमाण भी है । यद्यपि प्रतिबिम्बो बिम्बाद् न भिद्यते, अत्यन्तसदृशत्वात्'—इस प्रकार प्रयुक्त 'अत्यन्त सदृशत्व' हेतु सव्य (वाम) और इतर (दक्षिण) करादि में व्यभिचरित है, क्योंकि उन दोनों हाथों का अत्यन्त सादृश्य होने पर भी भेद ही है, अभेद नहीं । तथापि प्रयोगान्तर सम्भव है—'प्रतिबिम्बो बिम्बाभिन्नः, तद्गतासाधारणधर्मवत्त्वात्, तद्विरुद्धधर्मानधिकरणत्वाद् बिम्बाजनकाजन्यत्वाच्च ।' न्यायामृतकार ने जो द्वितीय (विरुद्धधर्मानधिकरणत्व या वैधर्म्याभाव) की असिद्धि कही है, वह उचित नहीं, क्योंकि बिम्बगत प्राङ्मुखत्व के विरुद्ध प्रतिबिम्ब में जो प्रत्यङ्मुखत्व देखने में आता है, वह दर्पणरूप उपाधि का प्रभाव है, स्वाभाविक विरुद्ध धर्माधिकरणता नहीं । 'बिम्ब के अनन्तर उत्पद्यमान प्रतिबिम्ब

न्यायामृतम्

परिवेषेन्द्रचापच्छायाप्रतिसूर्यादाविव कारणस्य कल्प्यत्वात् । प्रतिबिम्बमपि हि च्छायाविशेषः । न हि भेरीघातादिक्लृप्तहेत्वभावाद् ध्वनावुपरतेऽप्युपलभ्यमानः प्रतिध्वनिर्न शब्दान्तरम् । एतेन दर्पणादौ न मुखव्यक्त्यन्तरमस्ति तज्जन्मकारणशून्यत्वात्, शशमस्तके विषाणवद्"—इति विवरणोक्तं निरस्तम् । एतेनैवाभिज्ञायां भेदो

अद्वैतसिद्धिः

न च बिम्बानन्तरजाते प्रतिबिम्बे तृतीयहेतोरसिद्धिः, ऐक्यवादिनं प्रति बिम्बानन्तरत्वस्यैवासिद्धेः । ननु – पृथक्कार्यानुरोधेन परिवेषेन्द्रचापच्छायाप्रतिसूर्यादाविवात्रापि पृथक्कारणं कल्पनीयम्, प्रतिबिम्बमपि हि छायाविशेषः, न हि भेरीघातादिक्लृप्तहेत्वभावाद् ध्वनावुपरतेऽपि श्रूयमाणः प्रतिध्वनिर्न शब्दान्तरमिति—चेन्न, प्रतिबिम्बस्य छायाविरोधिन्यालोकेऽपि संभवेन छायाविशेषत्वासिद्धेः, प्रतिध्वनेस्तु भिन्नकालत्वेन तद्भेदस्य प्रकृतेऽनुपयोगात्, कार्यपार्थक्यसिद्ध्युत्तरकालकल्प्यकारणभेदस्य प्रथमं वक्तुमशक्यत्वात्, क्लृप्तहेतुभावेन कार्यस्यैव भावाच्च, प्रत्यक्षस्य भेदाभेदयोः समत्वात्, युक्त्या अभेद एव प्राबल्याच्च । अत एवोक्तं विवरणे—'दर्पणादौ न मुखव्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

में भिन्न सामग्री-जन्यत्व आवश्यक होने के कारण तृतीय (बिम्बाजनकाजन्यत्वरूप) हेतु असिद्ध है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐक्यवादी (अद्वैती) प्रतिबिम्ब को बिम्ब के अनन्तर जायमान नहीं मानते । [दर्पणसत्त्वे प्रतिबिम्बसत्त्वम्, तदभावे तदभावः'—इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक से उपाधिगत प्रतिबिम्ब की जनकता सिद्ध नहीं होती, अपितु बिम्ब के साथ उपाधि के सम्बन्ध मात्र की जनकता मानी जा सकती है, उससे भिन्न न जायमान प्रतिबिम्ब की कोई सत्ता होती है और न उसकी उपाधि में जनकता]।

शङ्का—जैसे परिवेष (चन्द्रादि का वलय या कुण्डल), इन्द्र-धनुष तथा प्रतिसूर्य—ये सब छायात्मक हैं, जलीय कणों पर प्रतिफलित रश्मियों के विभक्त वर्ण प्रतीत होते हैं, इन छायात्मक कार्यों की पृथक् सत्ता के आधार पर उनके कारणों की कल्पना अनिवार्य है। वैसे ही प्रतिबिम्ब भी एक प्रकार की छाया ही है, इसका भी कोई पृथक् कारण उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार भेरी पर दण्डाघातादि के उपरत हो जाने पर उत्पद्यमान प्रतिध्वनि को शब्दान्तर एवं उसका गिरि-गह्वरादि को पृथक् कारण माना जाता है। फलतः बिम्बाजनकीभूत कल्प्यमान कारण की प्रतिबिम्बगत जन्यता के द्वारा बिम्ब से भिन्न प्रतिबिम्ब क्यों नहीं सिद्ध होगा ?

समाधान—जहाँ प्रकाश का अवरोध होता है, वहाँ ही छाया होती है, प्रकाश-देश में नहीं, प्रतिबिम्ब तो प्रकाश-देश में भी अनुभूत होता है, अतः उसे छायात्मक नहीं माना जा सकता। प्रतिध्वनि का दृष्टान्त प्रकृतोपयोगी, नहीं, क्योंकि वह ध्वनि न रहने पर उत्पन्न होती है, किन्तु बिम्ब के न रहने पर प्रतिबिम्ब प्रतीत नहीं होता। कार्य की पृथक् सत्ता सिद्ध हो जाने के पश्चात् ही उसके कारण की कल्पना होती है, प्रतिबिम्ब जब पृथक् कार्य ही सिद्ध नहीं हुआ, तब पहले से ही उसके कारण की कल्पना कैसे हो सकती है ? दर्पणरूप क्लृप्त हेतु के रहने पर बिम्ब-सम्बन्ध रूप कार्य तो माना ही जाता है, रही बात प्रतिबिम्ब के प्रत्यक्ष की, वह तो भेद और अभेद—दोनों पक्षों में समान है, युक्ति के आधार पर तो अभेद-पक्ष का ही प्राबल्य सिद्ध होता है, अत एव श्री प्रकाशात्मयति ने अनुमान प्रयोग किया है—"दर्पणादौ न मुखव्यक्त्यन्तरमस्ति,

न्यायामृतम्

भाति प्रत्यभिज्ञायां त्वभेदः। तत्र भेदधीर्मुखान्तरहेत्वभावेनोपपत्तिहीनत्वाद् भ्रान्तिः, अभेदधीस्तु सोपपत्तिकत्वात् प्रमेति निरस्तम्, अभेदधीरेव नास्तीत्युक्तत्वात्। छायादाविव कारणस्य कल्प्यत्वेन भेदबुद्धेः सोपपत्तिकत्वाच्च। क्लृप्तद्रव्यानन्तर्भावे तमोवद् द्रव्यान्तरत्वसम्भवाच्च। "नोपरक्तं न वारिस्थम्"ति स्मार्तव्यवहारस्तु चित्रितः सिंह इति लोकव्यवहारवद् "यथा दारुमयी योषा यथा चर्ममयो मृगः" इत्यादिस्मार्तव्यवहारवच्च गौणः। त्वत्पक्षेऽपि हि वारिस्थशब्दो न मुख्यः, वारिणि सूर्यान्तरा-

अद्वैतसिद्धिः

क्त्यन्तरमस्ति, तज्जनकशून्यत्वात्, शशशिरसि विषाणवदिति। एवमभेदधिय उपपादितत्वाद् अस्याः प्राबल्यम्। व्यक्त्यन्तरहेत्वभावात् सैव नास्तीत्यपास्तं प्राक्। न च—छायादाविव कारणभेदस्य कल्प्यत्वेन भेदबुद्धिः सोपपत्तिका तथा क्लृप्तद्रव्यानन्तर्भावे तमोवद् द्रव्यान्तरतैवेति—वाच्यम्, अन्योन्याश्रयापत्तेः। भेदसोपपत्तिकत्वे द्रव्यान्तरत्वकारणान्तरत्वयोः कल्पनम्, तस्मिंश्च सोपपत्तिकत्वमिति। अत एव 'नोपरक्तं न वारिस्थ'मिति स्मार्तव्यवहारो मुख्यः, न तु यथा चित्रितः सिंहः, यथा दारुमयी योषा, यथा चर्ममयो मृग इत्यादिवद् गौणः। न च—त्वत्पक्षेऽपि वारिस्थशब्दो न मुख्यः, वारिणि सूर्यान्तराभावाद् गगनस्थस्य वारिस्थत्वायोगादिति—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तज्जनकशून्यत्वात्, शशशिरसि विषाणवत्" (पं० वि० पृ० २८३)। इस प्रकार विवरणकार ने अभेद-पक्ष का ही प्राबल्य स्थापित किया है। प्रतिबिम्ब को व्यक्त्यन्तर बताते हुए न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि "सैव (अभेदबुद्धिरेव) नास्ति", वह व्यक्त्यन्तर-स्थापना के हेतु का अभाव होने के कारण पहले ही निरस्त हो चुका है।

शङ्का—जैसे छायादि के हेतुभूत कारणान्तर की कल्पना की जाती है, वैसे ही प्रतिबिम्ब के कारणान्तर की कल्पना हो जाने के कारण बिम्ब की अपेक्षा प्रतिबिम्ब में भेद-बुद्धि ही युक्ति-युक्त ठहरती है, अतः परिगणित द्रव्यों के अन्तर्गत न होने के कारण प्रतिबिम्ब को अन्धकार के समान द्रव्यान्तर माना जा सकता है।

समाधान—भेद में सोपपत्तिकत्व सिद्ध हो जाने पर प्रतिबिम्ब में द्रव्यान्तरत्व और कारणन्तरकत्व सिद्ध होगा और प्रतिबिम्ब में द्रव्यान्तरत्व और कारणान्तरकत्व सिद्ध हो जाने पर सोपपत्तिकत्व की कल्पना होगी—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष होता है। अत एव (बिम्ब और प्रतिबिम्ब का अभेद होने के कारण) स्मृतिकारों ने जलगत सूर्य-प्रतिबिम्ब के लिए जलस्थ सूर्य का जो व्यवहार किया है, वह मुख्य व्यवहार है

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन।
नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्॥ (मनु० ४।३७)

[उदय होते हुए, अस्त होते हुए, ग्रहण लगे हुए, जल में प्रतिबिम्बित और मध्याह्नकालीन सूर्य का दर्शन नहीं करना चाहिए]। यहाँ 'वारिस्थमादित्यम्'—यह व्यवहार मुख्य है, वैसा गौण नहीं, जैसा कि चित्रित रेखाओं के लिए 'चित्रितः सिंहः' काष्ठ-निर्मित स्त्री-मूर्ति के लिए 'दारुमयी योषा' या जैसे चर्म-निर्मित मृग के लिए 'चर्ममयो मृगः'—ऐसा गौण व्यवहार।

शङ्का—आप (अद्वैती) के मतानुसार भी उक्त 'वारिस्थ' शब्द को गौण ही

न्यायामृतम

भावात् । गगनस्थस्य च वारिस्थत्वायोगात् । भेदस्तूक्तप्रत्यक्षेण न्यूनाधिकपरिमाणत्व-चलत्वोपाधिसंयुक्तत्वासंयुक्तत्वत्वगाद्विग्राह्यत्वाग्राह्यत्वप्रत्यक्प्राङ्मुखत्वरूपेण कस्तूरीतत्प्रतिबिम्बयोः सौरभतदभावरूपेण, गुडतत्प्रतिबिम्बयोर्माधुर्यतदभावरूपेण, वह्नितत्प्रतिबिम्बयोरौष्ण्यतदभावरूपेण, पर्वततत्प्रतिबिम्बयोर्गुरुत्वतदभावरूपेण, सशब्दभेरीतत्प्रतिबिम्बयोः शब्दतदभावरूपेण चानुमानेन —

यथैषा पुरुषे छाया एतस्मिन्नेतदाततम् ।
छाया यथा पुंसदृशी पुमधीना च दृश्यते ॥
एवमेवात्मकाः सर्वे ब्रह्माद्याः परमात्मनः । इत्यादि श्रुत्या

अद्वैतसिद्धिः

वाच्यम् , वारिस्थत्वेनोपस्थिताशेषवारिस्थसूर्यनिषेधात् । ननु—वारिस्थत्वेन सूर्य एवोपस्थितः तयोरभेदो न प्रत्यक्षसिद्धः, नापि युक्तः, न्यूनाधिकपरिमाणवत्त्वचलत्वोपाधिसंयुक्तत्वासंयुक्तत्वत्वगादिग्राह्यत्वाग्राह्यत्वप्रत्यङ्मुखत्वाप्रत्यङ्मुखत्वादिना कस्तूरीबिम्बप्रतिबिम्बयोः सौरभासौरभादिना च भेदसिद्धेरिति चेन्न, न्यूनपरिमाणादिना सौरभादिना च उपाधिगतस्य भेदः साधनीयः । तथा च उपाधिगतत्वस्य बिम्बे कल्पितत्वेन पक्षहेत्वोरसिद्धेः, कल्पितहेत्वादिना तत्समानसत्ताकसाध्यसिद्धावविवादाच्च । नापि—

"यथैषा पुरुषे छाया एतस्मिन्नेतदाततम् ।
छाया यथा पुंसदृशी पुमधीना च दृश्यते ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मानना होगा, मुख्य नहीं, क्योंकि वारि (जल) में द्वितीय सूर्य की तो स्थिति मानी नहीं जाती और बिम्बभूत गगनस्थ सूर्य का वारि में अवस्थित होना संभव नहीं ।

समाधान—उक्त स्मृति-वाक्य में वारिस्थत्वेन उपस्थित सभी सूर्यों का दर्शन निषिद्ध है ।

शङ्का—वारिस्थत्वेन सूर्य ही उपस्थित होता है, वारिस्थ और गगनस्थ सूर्य का अभेद प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं, वैसा होना युक्ति-युक्त भी नहीं, क्योंकि उन दोनों का न्यूनाधिक परिमाण प्रतीत होता है, उनमें से एक (प्रतिबिम्ब) में चलनादि क्रिया और जलादि उपाधियों से युक्त है और दूसरा (गगनस्थ) सूर्य उनसे असंयुक्त, एक त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य और दूसरा अग्राह्य, एक पश्चिमाभिमुख है और दूसरा पूर्वाभिमुख है । कस्तूरी और उसके प्रतिबिम्ब में बिम्ब सौरभ-युक्त और प्रतिबिम्ब सौरभ-रहित है, अतः बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेद सिद्ध हो जाता है ।

समाधान—न्यूनाधिक परिमाण और सौरभादि के योगायोग से बिम्ब और दर्पणादि उपाधियों का ही भेद सिद्ध होता है, बिम्ब और प्रतिबिम्ब का नहीं, क्योंकि जब प्रतिबिम्ब बिम्ब से अभिन्न है, तब उसमें सौरभादि का अयोग क्योंकर होगा ? वस्तु-स्थिति यह है कि उपाधिगतत्व धर्म बिम्ब में कल्पित है, उपाधि में प्रतिबिम्ब नाम की कोई वस्तु ही नहीं होती, अतः 'प्रतिबिम्बो बिम्बाद् भिद्यते, बिम्बावृत्तिधर्मवत्त्वात्'—इस अनुमान का न तो पक्ष ही प्रसिद्ध है और न हेतु ।

"यथैषा पुरुषे छाया एतस्मिन्नेतदाततम् ।
छाया यथा पुंसदृशी पुमधीना च दृश्यते ॥

न्यायामृतम्

तवैव सदृशश्चायं बिम्बस्य प्रतिबिम्बवत् ,
बहवः सूर्यका यद्वत्सूर्यस्य सदृशा जले।
एवमेवात्मका लोके परात्मसदृशा मताः॥

इत्यादिस्मृत्या च सिद्धः। न च बिम्बातिरेकेण दर्पणे कस्तूर्यन्तराभावात्तत्र गन्धाभाव इति वाच्यम्, तथापि यत्स्वलक्षणं कस्तूर्यादि, तत्स्वलक्षणस्यैव दर्पणस्थत्वेनारोपित-तया तद्रूपादियुक्तस्येव तद्गन्धादियुक्तस्यैव दर्पणस्थत्वेन प्रतीत्यापत्तेः। घटे गगनस्येव दर्पणे कल्पितभेदयुक्तमुखस्याप्यभावे उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेन मुखप्रतिमुखयोरव-दातत्वश्यामत्ववत् जीवब्रह्मणोः संसारासंसारादिव्यवस्थितमिति त्वन्मतहानेश्च। न हि शुक्तौ न शुक्तिरियमितिभेदभ्रान्तिमात्रेण रूप्यं न शुक्तावध्यस्तम्, आरोपितेन दर्पणस्थ-

अद्वैतसिद्धिः

एवमेवात्मकाः सर्वे ब्रह्माद्याः परमात्मनः॥"

इति श्रुत्या भेद इति—वाच्यम्, कल्पितभेदमात्रेण सादृश्योपपत्तेः तात्त्विकत्वे श्रुतितात्पर्याभावाद्, ऐक्यप्रतिपादकानेकश्रुतिविरोधाच्च। ननु—तत्स्वलक्षणकस्यैव दर्पणस्थत्वेनारोपिततया तद्रूपादियुक्तस्येव तद्गन्धादियुक्तस्यापि दर्पणस्थत्वेन प्रतीतिः स्यादिति—चेन्न, तत्स्वलक्षणकत्वेनारोपितत्वेऽपि यावत्स्वलक्षणकत्वेनारोपितत्वान-ङ्गीकारेण गन्धादिप्रतीत्यापादनस्याशक्यत्वात्।

ननु—एवं दर्पणे मुखस्याभावे उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेन मुखप्रतिमुखयो-रवदातत्वश्यामत्ववत् जीवब्रह्मणोः संसारित्वासंसारित्वादिव्यवस्था कथमिति—चेत्, न, आरोपितेनादर्शस्थत्वेन विशिष्टे प्रतिबिम्बे तद्धर्मस्य मालिन्यादेः संभवात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

एवमेवात्मकाः सर्वे ब्रह्माद्याः परमात्मनः।"

इस श्रुति के आधार पर भी बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेद सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यथा-तथा पदों के द्वारा बिम्ब और प्रतिबिम्ब का जो सादृश्य श्रुति ने दिखाया है, वह अभेद-पक्ष में भी कल्पित भेद को लेकर उपपन्न हो जाता है, भेद की तात्त्विकता में उक्त श्रुति का तात्पर्य कदापि नहीं, क्योंकि वैसा करने में ऐक्य-प्रतिपादक अनेक श्रुतियों का विरोध होता है।

शङ्का—यदि बिम्ब वस्तु में ही दर्पणस्थत्व मात्र आरोपित होने के कारण जैसे तद्रूप-युक्तत्व प्रतीत होता है, वैसे ही सौरभादि-युक्तत्व भी प्रतीत होना चाहिए।

समाधान—जिस रूप से जो वस्तु कल्पित होती है, उसमें वही रूप प्रतीत होता है, सभी रूप नहीं, क्योंकि सभी रूपों से कोई वस्तु कहीं कल्पित नहीं मानी जाती, अतः सौरभादि का आपादन नहीं किया जा सकता।

शङ्का—जब दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब माना जाता है, तब प्रतिबिम्ब में उपाधि-पक्षपातित्व दिखाकर प्रतिमुखगत मालिन्य के समान प्रतिबिम्बभूत जीव में संसारित्व और बिम्बभूत मुखगत मालिन्याभाव के समान ब्रह्म में संसारित्वाभाव प्रतिपादित हो सकता है, किन्तु दर्पणगत छाया को प्रतिबिम्ब न मानकर उक्त सिद्धान्त-रहस्य क्योंकर प्रकट किया जा सकेगा ?

समाधान—आरोपित आदर्शस्थत्व धर्म से विशिष्ट चैतन्यरूप प्रतिबिम्ब में

न्यायामृतम्

त्वेन विशिष्टं प्रतिबिम्बं तत्र मालिन्याध्यास इति चेत्, न, मालिन्यवद् दर्पणस्थत्वस्या-प्यारोपितत्वेनैकविशिष्टे इतरारोपायोगात्, प्रतिमुखमेव दर्पणस्थं न तु मुखमिति प्रति-बिम्बे दर्पणस्थत्वानुभवने प्रतिबिम्बत्वस्य तत्स्थत्वगर्भितत्वाभावाच्च मालिन्यस्थानीय-संसारस्यापि विशिष्टनिष्ठत्वापत्त्या शुद्धाश्रितमोक्षसामानाधिकरण्यायोगाच्च । एतेन वृक्षस्था कपिसंयोगाधारताग्रेणेव मुखस्था मालिन्याधारता उपाधिनावच्छिद्यते। तथा च दर्पणावच्छिन्न एव मालिन्यधीर्युक्तेति निरस्तम्, संसारस्यापि शुद्धचिन्मात्रगत-त्वापाताद्, वृक्षः कपिसंयुक्त इतिवत् मुखं मलिनमित्यनुभवापत्त्या मुखं न मलिनम्,

अद्वैतसिद्धिः

न च—उपाधिस्थत्वस्यापि आरोप्यत्वेन कथं मालिन्याश्रयतावच्छेदकत्वम्? एकविशिष्टे इतरारोपाभावादिति—वाच्यम्, आरोपपूर्वप्रतीतधर्मविशिष्टस्यैवारोप्याश्रयत्वात्, न तु तस्य सत्यत्वमपीति परप्रक्रियानिबन्धनदोषानवकाशात्। न च—प्रतिमुखमेव दर्पणस्थं न तु मुखमिति प्रतिबिम्बदर्पणस्थत्वानुभवेन कथं प्रतिबिम्बत्वस्य तत्स्थत्व-गर्भतेति—वाच्यम्, अविद्योपहितस्याविद्याश्रयत्ववत् दर्पणोपहितस्य दर्पणाश्रितत्व-संभवात्। एतेन—मालिन्यस्थानीयस्य संसारस्य विशिष्टवृत्तित्वात् शुद्धाश्रितमोक्ष-सामानाधिकरण्यायोग इति—निरस्तम्, संसारस्तावदुपहितवृत्तिः, तथा चोपधेयांश-मादाय सामानाधिकरण्यसंभवात्। तथा च वृक्षस्थकपिसंयोगाधारता अग्रेणेव मुखे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उपाधि के मालिन्यादि धर्मों की कल्पना सम्भव है।

शङ्का—मालिन्य वस्तुतः अनारोपित दर्पण में है, अतः वस्तुतः दर्पणस्थ पदार्थ पर भी मालिन्य का आरोप हो सकता है, किन्तु बिम्ब में आरोपित दर्पणस्थत्व मालि-न्यादि का आश्रयतावच्छेदक कैसे होगा? क्योंकि एक (दर्पणस्थत्वादि) आरोपित धर्म से विशिष्ट पदार्थ में अन्य (मालिन्यादि) धर्म का आरोप नहीं हो सकता।

समाधान—आरोप के पूर्व प्रतीयमान धर्म से विशिष्ट पदार्थ ही आरोप्य का आश्रय माना जाता है, पूर्व प्रतीत धर्म में सत्यत्व या अनारोपितत्व की अपेक्षा नहीं होती, प्रकृत में मालिन्यारोप से पूर्व प्रतीयमान दर्पणस्थत्व है, वह आरोपित हो या अनारोपित मालिन्यारोप का आश्रयतावच्छेदक हो सकता है। परकीय प्रक्रिया के द्वारा दूसरे पर कोई दोषारोपण नहीं किया जा सकता।

शङ्का—'प्रतिमुखमेव दर्पणस्थम्, न तु मुखम्'—इस प्रकार प्रतिबिम्ब में ही दर्पण-स्थत्व अनुभूत होता है, अतः दर्पणस्थत्व-विशिष्ट में प्रतिबिम्बित्व क्यों कर बनेगा?

समाधान—जैसे अविद्या से उपहित चेतन ही अविद्या का आश्रय माना जाता है, वैसे ही दर्पणोपहित में दर्पणाश्रितत्व बन जाता है। न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि मालिन्य-स्थानापन्न संसाररूप बन्धन विशिष्ट चेतन में और मोक्ष शुद्ध चेतन में—इस प्रकार बन्ध और मोक्ष का वैयधिकरण्य हो जाता है। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि संसार तो उपहित चेतन में ही माना जाता है, किन्तु उपधेयांश को लेकर बन्ध और मोक्ष का सामानाधिकरण्य बन जाता है। जैसे वृक्षस्थ कपिसंयोग की आधारता अग्र (शिखर) भाग से अवच्छिन्न होती है, वैसे ही मुखगत मालिन्य दर्पण-सम्बन्ध के द्वारा अवच्छिन्न होता है [अग्रे वृक्षः कपिसंयोगी—ऐसी प्रतीति के समान ही दर्पण-सम्बन्धवति मुखे मालिन्यम्'—ऐसी प्रतीति होती है, अतः दोनों में अवच्छेद्यावच्छेदक-

न्यायामृतम्

किं तु प्रतिमुखमेवेत्यनुभवविरोधाच्च। यदि च कस्तूर्यादिप्रतिबिम्बे तत्स्वलक्षणाननुगमेऽपि तदाकारतामात्रेण तत्त्वम्, तर्हि च्छायाप्रतिमुद्राप्रतिमादीनामपि तत्त्वं स्यात्। न च प्रतिमुखे प्रत्यङ्मुखत्वादिधीर्भ्रान्तिः, प्रतिबिम्बं बिम्बाभिमुखं नेति कदाप्यननु-

अद्वैतसिद्धिः

मालिन्यं दर्पणसम्बन्धेनावच्छिद्यते। एतावानेव विशेषः—वृक्षे कपिसंयोगस्तु साहजिकः, मुखे औपाधिकं मालिन्यम्। तेनोपहिते उपाध्यवच्छिन्न एव मुखे मालिन्यधीः, एतेन—दर्पणमालिन्यस्य मुखनिष्ठत्वे संसारस्यापि शुद्धनिष्ठतापत्तिः, वृक्षः संयुक्त इतिवत् मुखं मलिनमिति प्रतीत्यापत्तिः, मुखं न मलिनम् किंतु प्रतिमुखमित्यनुभवविरोधापत्तिश्चेति—निरस्तम्। ननु—कस्तूर्यादिप्रतिबिम्बस्य स्वलक्षणाननुगमेन कथं बिम्बैक्यम्? न च तदाकारतामात्रेण तत्त्वं, तर्हि छायाप्रतिमुद्राप्रतिमादीनामपि तत्त्वं स्यात्, प्रत्यङ्मुखत्वादेर्भेदकस्यात्रापि सत्त्वाच्च। न च प्रत्यङ्मुखत्वधीर्भ्रान्ता, प्रतिबिम्बं बिम्बाभिमुखं नेति कदाप्यननुभवादिति—चेन्न, दर्पणादिप्रतिबिम्बे स्वलक्षणानुगमेन बिम्बैक्ये व्यवस्थिते प्रतिबिम्बत्वावच्छेदेनैव तत्कल्पनाद्, छायादौ स्वलक्षणकत्वस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भाव भी समान ही मानना होगा]। इतना अन्तर अवश्य रहता है कि वृक्ष में कपि-संयोग सहज-सिद्ध और मुख में मालिन्य औपाधिक होता है। अतः उपहित (उपाध्यवच्छिन्न) मुख में ही मालिन्य की अनुभूति होती है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि यदि दर्पणगत मालिन्य बिम्बभूत मुख में माना जाता है, तब संसाररूप बन्धन भी बिम्बभूत शुद्ध चैतन्य में ही मानना होगा और 'वृक्षः कपिसंयोगी' के समान 'मुखं मलिनम्'—ऐसी प्रतीति भी होनी चाहिए और वैसा मानने पर 'मुखं न मालिनम, किन्तु प्रतिमुखम्'—इस सर्वजनीन अनुभूति का विरोध होता है।

वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि शुद्ध मुख में मालिन्य का आरोप नहीं होता, अपितु दर्पण-सम्बन्ध से विशिष्ट मुख में ही मालिन्य का आरोप माना जाता है, अतः इस दृष्टान्त के आधार पर शुद्ध चेतन में संसारापत्ति नहीं दी जा सकती।

शङ्का—कस्तूरी आदि और उसके प्रतिबिम्ब में जब एक स्वलक्षण (स्वरूप) का अनुगम नहीं देखा जाता, तब बिम्ब और प्रतिबिम्ब की एकता कैसे सिद्ध होगी? केवल तदाकारतामात्र के अनुगम से अभेद हो भी नहीं सकता, क्योंकि पुरुष और उसकी छाया, मुद्रा और प्रतिमुद्रा, पुरुष और उसकी प्रतिमा में एकाकारता रहने पर भी अभेद नहीं माना जाता। यदि इनमें प्रत्यङ्मुखत्वादि विरुद्ध धर्मों का योग होने के कारण अभेद नहीं हो सकता, तब मुख और उसके प्रतिबिम्बादि में उन्हीं विरुद्ध धर्मों का योग होने के कारण अभेद सिद्ध नहीं होगा। प्रत्यङ्मुखता की प्रतीति को भ्रान्तिरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'प्रतिबिम्बं बिम्बाभिमुखं न—ऐसा अनुभव कभी नहीं होता, किन्तु 'प्रतिबिम्बं बिम्बाभिमुखम्'—ऐसी ही सदैव अबाधित प्रतीति होती है। अभिमुखता का अर्थ ही आमने-सामने या विरुद्धदिक्स्थत्व ही होता है।

समाधान—दर्पणादि और उसके प्रतिबिम्ब में समानस्वलक्षणता के आधार पर अभेद व्यवस्थित हो जाने पर प्रतिबिम्बत्वावच्छेदेन (सभी प्रतिबिम्बो के अपने-अपने बिम्बों के साथ) अभेद की कल्पना (अनुमिति) हो जाती है, छाया और प्रतिमादि

न्यायामृतम्

भवाद् अबाधेऽप्यारोपितत्वे प्रतिमुखस्वरूपस्य सालक्षण्यस्य चारोपितत्वापातात्, छायादावपि वैधर्म्यधीर्भ्रान्तिरिति सुवचत्वेन तस्यापि पुरुषादिनैक्यापत्तेश्च।

एतेन—दर्पणाभिहता दृष्टिः परावृत्त्य स्वमाननम्।
व्याप्नुवन्त्याभिमुख्येन व्यत्यस्तं दर्शयेन्मुखम्॥ इति निरस्तम्।

परावृत्त्य स्वमुखस्यैव ग्रहणे पार्श्वस्थस्य मुखद्वयप्रतीत्ययोगात्। अस्मिन्पक्षे दर्पणादेर्नेत्राद्यभिघातकत्वमात्रेणोपक्षीणत्वेन दर्पणैक्य इव दर्पणभेदेऽप्यनेकमुखप्रतीतेः, मणिदर्पणकृपाणेषु च विरुद्धरूपानेकमुखप्रतीतेश्चायोगात्। अस्याः प्रक्रियायाः ब्रह्मप्र-

अद्वैतसिद्धिः

कृत्राप्यदर्शनेन साम्याभावात्। नापि प्रत्यङ्मुखत्वादि भेदकम्, मलिनत्ववदुपाधिकृतत्वात्। अत एव जपाकुसुमे रक्तताप्रतीतिवत् तद्धीर्भ्रान्ता। दर्पणाहतं चक्षुः प्रत्यङ्मुखं भवति, तस्य च स्वाभिमुखतया ग्रहणसामर्थ्याच्चान्याभिमुखस्यापि मुखादेस्तथाग्रहणोपपत्तेश्च। तदुक्तं—

"दर्पणाभिहता दृष्टिः परावृत्त्य स्वमाननम्।
व्याप्नुवन्त्याभिमुख्येन व्यत्यस्तं दर्शयेन्मुखम्॥"

न च परावृत्त्य स्वमुखस्यैव ग्रहणे पार्श्वस्थस्य मुखद्वयप्रतीत्ययोगः, स्वमुखस्यैवेति नियमासिद्धेः, उपाधिसन्निहितमात्रस्यैव तथा ग्रहणात्। न च—एवं दर्पणादेरभिघातकतामात्रेण उपक्षीणतया दर्पण इव दर्पणभेदेऽप्यनेकमुखप्रतीतिर्न स्यादिति—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

में कहीं पर भी एकरूपता का अनुगम नहीं देखा जाता, अतः उनका अभेद क्योंकर होगा? प्रत्यङ्मुखत्वादि धर्मों को बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेदक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मालिन्यादि के समान प्रत्यङ्मुखत्वादि धर्म औपाधिक ही होते हैं, स्वाभाविक नहीं, अत एव जपाकुसुम में रक्तता की प्रतीति के समान प्रत्यङ्मुखत्वादि की प्रतीति भ्रमरूप ही मानी जाती है। सामने के दर्पण से टकराकर नेत्र-रश्मियाँ प्रत्यङ्मुख हो जाती हैं, उनका यह निश्चित स्वभाव है कि अपने अभिमुख पदार्थ का ही ग्रहण करती हैं, अतः विपरीत दिशा में मुड़ी हुई नेत्र-रश्मियाँ मुख की वास्तविक दिशा का ग्रहण न कर विपरीतदिशोन्मुखता का ग्रहण करती हैं, जैसा कि कहा है—

दर्पणाभिहता दृष्टिः परावृत्त्य स्वमाननम्।
व्याप्नुवन्त्याभिमुख्येन व्यत्यस्तं दर्शयेन्मुखम्॥ (बृह० वा० पृ० ५५७)

शङ्का—यदि अपने ही नेत्र की रश्मियाँ परावर्तित होकर अपने ही मुख का ग्रहण करती हैं, तब पार्श्वस्थ व्यक्ति को दर्पण में जो (एक अपना और दूसरा पार्श्वस्थ का) दो मुख दिखते हैं, वह असंगत हो जायगा, क्योंकि वह भी अपना ही मुख देख सकता है, दूसरे का नहीं।

समाधान—अपनी नेत्र-रश्मियाँ अपना ही मुख-ग्रहण करती हैं— ऐसा कोई नियम नहीं, दर्पणरूप उपाधि के सन्निहित दृश्यमात्र का दर्शन होता है।

शङ्का—यदि दर्पणादि का आघातमात्र में ही उपयोग है, तब एक मुख के सामने अनेक दर्पणों में जो अनेक मुख दिखाई देते हैं, वह असम्भव हो जायगा, क्योंकि जैसे एक दर्पण अपने आघात से नेत्ररश्मियों का परावर्तन करता है, वैसे अनेक दर्पण भी करेंगे और परावर्तित रश्मियों के द्वारा वही ग्रीवास्थ एक मुख दिखना चाहिये।

न्यायामृतम्

तिबिम्बे जीवे असम्भवाच्च। नेत्रस्य परावृत्यानेत्रं प्रत्याभिमुख्येऽपि स्वात्मानं प्रत्याभिमुख्यप्रतीत्ययोगाच्च। विरलावयवस्य जलस्य नेत्राभिघातकत्वे स्वच्छजलान्तर्गतशिलाद्यग्रहणापत्तेश्च। दर्पणाद्यभिहतेन नेत्रेण बहुयोजनव्यवहितोर्ध्वभागस्थसूर्यादिग्रहणे पृष्ठभागस्थस्यापि व्यवहितस्य ग्रहणापत्तेश्च। अस्यां प्रक्रियायां स्वच्छताया

अद्वैतसिद्धिः

वाच्यम्, अभिघातकानेकत्वेन चक्षुषोऽनेकाग्रसम्पत्त्या प्रत्यग्रं स्वाभिघातकावच्छेदकमुखग्राहकतया दृष्टान्तवैषम्यात्। न च—मणिदर्पणकृपाणादिषु विरुद्धरूपानेकमुखप्रतीतिः कथमेवं युज्यत इति—वाच्यम्, अन्वयव्यतिरेकसिद्धोपाधिप्राबल्यनिबन्धनत्वादिति गृहाण। न च चक्षुःपरिवृत्तिप्रक्रिया ब्रह्मप्रतिबिम्बे जीवे न संभवतीति—वाच्यम्, चाक्षुषप्रतिबिम्बमात्रविषयतयैवास्या उपपादितत्वात्। न च विरलावयवस्य जलस्य नेत्राभिघातकत्वे जलान्तर्गतशिलाद्यग्रहणप्रसङ्गः, सर्वावच्छेदेनाभिघाताभावेनान्तरेऽपि चक्षुषः प्रवेशसंभवात्। न च—एवं बहुदूरव्यवहितोर्ध्वभागसूर्यादिग्रहणे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—नेत्र की रश्मियाँ परिगणित नहीं कि उन्हीं का परिवर्तन अनेक दर्पणों से हो, रश्मियाँ अनन्त हैं, उनमें से कुछ एक दर्पण से, कुछ दूसरे, कुछ तीसरे दर्पण से टकराकर भिन्न-भिन्न समूहों में विभक्त हो जाती हैं, प्रत्येक समूह परावर्तित होकर एक-एक मुख का ग्रहण करता है, इसलिए अनेक दर्पणों में अनेक मुखों का दिखना असम्भव नहीं, अत एव उँगली की सहायता से दो भागों में विभाजित नेत्ररश्मियाँ दो चन्द्र देखती हैं।

शङ्का—सम्मुख की मणि, दर्पण और कृपाणादि विविध उपाधियों में जो अनेक विरुद्ध आकार के अनेक मुख दिखाई देते हैं, वे आप (अद्वैती) के मतानुसार उपपन्न नहीं हो सकते, क्योंकि नेत्ररश्मियों के अनेक भागों में विभक्त समूह अपने-अपने परावर्तकों के द्वारा परावर्तित होकर नियत आकार-प्रकार के ग्रीवास्थ एक ही मुख का ग्रहण करते हैं।

समाधान—जैसे मालिन्य औपाधिक है, वैसे वर्तुल, वक्र, स्थूलभावादि भी मणि, कृपाण, दर्पणादि उपाधियों की ही देन है—यही अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होता है।

शङ्का—चाक्षुष रश्मियों को परावर्तन प्रक्रिया ब्रह्म के प्रतिबिम्बभूत जीव पर संभव नहीं हो सकती।

समाधान—वह प्रक्रिया तो केवल चाक्षुष प्रतिबिम्ब-स्थल के लिए ही है, सर्वत्र उसकी आवश्यकता नहीं।

शङ्का—मणि, दर्पणादि का तल एक सान्द्र निविड़ अवयवों से बना हुआ ऐसा मसृण है कि वह चाक्षुष रश्मियों का परावर्तन कर देता है, किन्तु जल का तलप्रान्त विरलावयवों वाला उतना घन नहीं कि नेत्र-रश्मियों का परावर्तन कर सके, अन्यथा नेत्र-रश्मियों के द्वारा जल में पैठकर तलहटी के पत्थरों का ग्रहण सम्भव न हो सकेगा।

समाधान—आदर्श-तल की अपेक्षा जल-तल का अवश्य अन्तर है, अत एव पूर्णतया रश्मि-समूह का परावर्तन नहीं हो पाता, कुछ रश्मियाँ परावर्तित होकर गगन-प्राङ्गणस्थ चन्द्र का ग्रहण करती हैं और कुछ जल में समाकर धरातल के रेत और पत्थरों का ग्रहण करती हैं।

न्यायामृतम्

अनुपयोगेन शिलाद्यभिहतनेत्रस्यापि स्वमुखग्राहकत्वापाताच्च। प्रतिचन्द्रादिदर्शनेन चन्द्रादिदर्शनजन्यसुखादेः कपिलादिप्रतिबिम्बदर्शनेन कपिलादिदर्शनजन्यपुण्यादेश्च प्रसंगाच्च। सूर्यकस्यापि सूर्यवद् दुर्दर्शत्वादिप्रसंगाच्च। अतिस्वच्छदर्पण इव किंचित्स्व-

अद्वैतसिद्धिः

पृष्ठभागस्थस्य व्यवहितस्यापि ग्रहणापत्तिरिति—वाच्यम् चक्षुषो गमनागमनाभ्यां विशेषात्। न हि दूरस्थसूर्यग्रहणं वदता पृष्ठकुडयादिकं भित्त्वा चक्षुर्गच्छतीत्युक्तं भवति। न च—एवं शिलाभिहतमपि चक्षुः परावृत्य मुखं गृह्णात्विति—वाच्यम्, तत्रापि प्रतिबिम्बं तत्रोत्पद्यतामित्यापत्तेः, अस्वच्छतया परिहारस्यास्माकमपि समत्वात्। तव स्वच्छ एव उत्पद्यते, मम तत एव चक्षुः परावर्तते इत्यङ्गीकारात्। न चैवं प्रतिबिम्ब-दर्शनेनापि बिम्बदर्शनजन्यसुखपुण्यादिप्रसङ्गः, यत्र तद्दर्शनमात्रजन्यता नान्यतः, तत्रेष्टापत्तेः यत्र चोपाधिविनिर्मुक्तज्ञानत्वेन विशिष्य जन्यता, तत्रापादकाभावात्। न चैवं सूर्यकस्यापि सूर्यवद् दुर्दर्शत्वापत्तिः, गोलके सूर्यतेजःसाम्मुख्यस्य दुर्दर्शताप्रयो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—दर्पणादि के आघात से परावर्तित नयन-रश्मियाँ यदि सुदूर गगन में अनन्त परमाणु-पटल-व्यवहित सूर्य का ग्रहण कर लेती हैं, तब दर्शक को पृष्ठस्थ कुडचादि का भी दर्शन हो जाना चाहिए, क्योंकि वह अत्यन्त निकट पीछे ही तो है।

समाधान—परावर्तित नेत्र-रश्मियाँ सुदूर गगन में जा कर सूर्य का ग्रहण करती हैं—इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वे अपने पृष्ठ भाग का भेदन करती हुई ऊपर जाती हैं कि मार्ग में पड़े पृष्ठ भाग का ग्रहण कर लें। कुडचादि अवरोधक द्रव्यों से व्यवहित वस्तु का ग्रहण कभी नहीं होता, अत एव गाढ़ मेघ-पटली से व्यवहित सविता का दर्शन नहीं होता। पृष्ठ भाग अवरोधक द्रव्य से व्यवहित है, उसका ग्रहण तभी हो सकता है, जब परावर्तित नायन रश्मियाँ किसी दूसरे सम्मुखस्थ दर्पण से फिर परावर्तित की जायँ।

शङ्का—सामने के दर्पण से टकराकर मुड़ी हुई चाक्षुष रश्मियाँ यदि अपना मुख ग्रहण करती हैं, तब दीवार से टकराकर मुख का ग्रहण क्यों नहीं करतीं?

समाधान—आप (द्वैती) के मतानुसार भी दीवार में प्रतिबिम्ब क्यों नहीं उत्पन्न होता? आपको कहना होगा कि स्वच्छता का अभाव होने के कारण दीवार में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। वही हमारा भी कहना है कि सभी द्रव्य नेत्र-रश्मियों के परावर्तक नहीं होते, दर्पण-जैसे स्वच्छ द्रव्यों में ही परावर्तन की क्षमता होती है।

शङ्का—प्रतिबिम्ब-दर्शन यदि बिम्ब-दर्शन हो है, तब चन्द्र-दर्शन से जो आह्लाद होता है, वह चन्द्र-प्रतिबिम्ब के दर्शन से और कपिलादि के दर्शन से जो पुण्य होता है, वह उसके प्रतिबिम्ब के दर्शन से होना चाहिए।

समाधान—ब्रह्म-दर्शन अवश्य मोक्ष का साधक है, किन्तु सोपाधिक ब्रह्म का दर्शन नहीं। इसी प्रकार सोपाधिक चन्द्र के दर्शन से यदि आह्लाद और सोपाधिक कपिल के दर्शन से पुण्य नहीं होता, तो उसमें अनौचित्य क्या?

शङ्का—जलादिगत मध्याह्न सूर्य के प्रतिबिम्ब को देखने में कोई कठिनाई अनुभव में नहीं आती, जब कि प्रचण्ड भास्कर को सीधा देख पाना सम्भव नहीं, किन्तु आप (अद्वैती) के मतानुसार कोई अन्तर नहीं होना चाहिये बिम्बभूत सूर्य के समान ही प्रतिबिम्ब भी दुर्दर्श होना चाहिये, क्योंकि वह बिंब से भिन्न नहीं, तद्रूप ही है।

न्यायामृतम्

च्छताम्रादावपि मुखसंस्थानविशेषप्रतीत्यापाताच्च। अवच्छेदपक्षे द्विगुणीकृत्य वृत्त्यसम्भवेऽपि प्रतिबिम्बनपक्षे तत्सम्भवेनान्तर्यामित्वमिति स्वोक्तिविरोधाच्च। उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वोक्त्ययोगादित्युक्तत्वाच्च। एतेन नेदं रूप्यमितिवन्नेदं मुखमिति-

अद्वैतसिद्धिः

जकस्य सूर्यकग्रहणकालेऽभावात्। न च स्वच्छदर्पण इव किंचित्स्वच्छताम्रादौ मुखसंस्थानविशेषप्रतीत्यापातः, उपाधिगतात्यन्तस्वच्छताव्यतिरेकप्रयोजकमालिन्यादेरेव तत्र प्रतिबन्धकत्वाद्, अन्यथा तवापि तादृक्संस्थानविशेषवत् प्रतिबिम्बं तत्र कथं नोत्पद्यत इत्यस्य दुष्परिहरत्वापत्तेः।

ननु—अवच्छेदपक्षे द्विगुणीकृत्य वृत्त्यसंभवेऽपि प्रतिबिम्बपक्षे तत्संभवेनान्तर्यामित्वमिति स्ववचनविरोधः, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वमित्युक्त्ययोगश्चेति—चेन्न,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—चाक्षुष प्रत्यक्ष का सहायकभूत आलोक विषय पर होना चाहिये, नेत्र-गोलक पर नहीं, जैसा कि श्रीगंगेश उपाध्याय ने कहा है—विषयेणालोकसंयोगविशेषश्च तत्र कारणम्, न तु चक्षुषा, प्रकाशस्थेन चक्षुषा अन्धकारस्थस्याग्रहणाद्, वैपरीत्ये च ग्रहणात्" (न्या. त. चि. पृ० ७७०)। सूर्य को सीधा देखने में नेत्र-गोलक पर पड़ी प्रखर भास्करीय रश्मियाँ नायन रश्मियों को पूर्णतया गतिशील नहीं होने देतीं, प्रचण्ड मार्तण्ड दुर्दर्श हो जाता है। जब नेत्र-गोलक जल के सम्मुख होता है, तब सौर्य तेज की मार से बच निकलीं नेत्र-रश्मियाँ शीतल जल का अवगाहन कर सुतप्त तपन-मण्डल को भी अपने चंगुल में घर दबोचतीं हैं, दुर्दर्श सुदर्श हो जाता है।

शङ्का—स्वच्छ दर्पण से परावर्तित होकर नेत्र-रश्मियाँ जैसे मुखमण्डल की रेखोपरेखा का ग्रहण कर लेती हैं, वैसे ही अर्धस्वच्छ ताम्र-पत्रादि से परावर्तित होकर क्यों नहीं करतीं ?

समाधान—उपाधिगत स्वच्छता के अभाव का प्रयोजक ताम्रफलकगत मालिन्य ही मुख-संस्थान-विशेष के दर्शन का प्रतिबन्धक होता है, अन्यथा आप (द्वैती) के मतानुसार अर्धस्वच्छ ताम्र-पटल पर मुख का पुंखानुपुंख प्रतिबिम्ब क्यों नहीं प्रकट होता ?

शङ्का—[आप (अद्वैतवादी) को भी यह मानना पड़ेगा कि बिम्ब की अपेक्षा प्रतिबिम्ब भिन्न वस्तु है, क्योंकि ''यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यमयति'' (बृह० उ० ३।७।२२) यह श्रुति जीव से भिन्न जीव में व्याप्त जिस अन्तर्यामी चेतन का प्रतिपादन करती है, वह तभी संभव है, जब कि एक ही अन्तःकरण में दो चेतन वैसे ही सिद्ध हों, जैसे एक ही प्राङ्गण में चन्द्र और प्रदीप—दोनों के दो प्रकाश विद्यमान होते हैं। यद्यपि अवच्छेदवाद में यह संभव नहीं, क्योंकि अन्तःकरण देश में एक ही सामान्य चेतन (ब्रह्म) ही अन्तःकरण से अवच्छिन्न (जीव) माना जाता है। तथापि प्रतिबिम्बवाद में संभव है, क्योंकि जैसे दर्पण या जल में बिंबभूत और प्रतिबिंबभूत—दोनों आकाश होते हैं, वैसे ही एक ही अन्तःकरण में बिंबभूत चेतन (अन्तर्यामी) और प्रतिबिंबभूत चैतन्य (जीव) विद्यमान होते हैं]। विवरणकार ने शङ्का-समाधान के रूप में यह तथ्य प्रकट किया है—''अवच्छिन्नप्रदेशेष्वनवच्छिन्नस्य द्विगुणीकृत्य वृत्त्ययोगात्···''यो विज्ञाने तिष्ठन्''—इत्यादौ जीवव्यतिरिक्तस्यैव ब्रह्मणो जीवसन्निधानेन विकारान्तरवस्थानश्रवणात् प्रतिबिम्बपक्षे तु जलगतस्वाभाविकाकाशे सत्येव

न्यायामृतम्

स्वरूपेण न बाधः, किं तु नात्र मुखमिति संसृष्टतयैवेति न दर्पणे मुखव्यक्त्यन्तरमस्तीति निरस्तम्। नात्र मुखच्छायासीदित्यननुभवेन प्रत्युत एतावन्तं कालमत्र प्रतिसूर्य आसीदितिवदत्र प्रतिमुखमासीदित्येवानुभवेन "प्रतिबिम्बमिवादर्शे" इत्यादि स्मृत्या-च प्रतिमुखे दर्पणस्थत्वस्याप्यबाधात्। न हि भूमौ मेघो नेत्येतावता मेघच्छायापि बाधिता।

छायापुरुषवत्तस्माच्छायावत्प्रतिसूर्यवत्।
प्रतिध्वानादिवद् भिन्नं प्रतिबिम्बं हि बिम्बतः॥

अद्वैतसिद्धिः

सर्वोपाध्यवच्छिन्नत्वैकदेशोपाध्यवच्छिन्नत्वाभ्यामुपाधिकल्पितभेदेन च स्वोक्त्य-विरोधोपपत्तेः। अत एव दर्पणे न मुखमित्येव उपाधिसंसृष्टतया निषिध्यते, न तु 'नेदं रूप्य'मितिवत् नैतन्मुखमिति स्वरूपेण। ननु—नात्र मुखच्छायास्तीत्यननुभवेन प्रत्युतै-तावन्तं कालम् अत्र प्रतिसूर्य आसीदितिवत् प्रतिमुखमासीदित्येवानुभवेन प्रतिबिम्ब-मिवादर्शे इत्यादिस्मृत्या च प्रतिमुखे दर्पणस्थत्वस्याप्यबाध एव, न हि भूमौ मेघो नेत्ये-तावता मेघच्छायापि तत्र बाधितेति—चेन्न, मुखप्रतिमुखयोरेकस्वलक्षणकत्वेनैक्यव्यव-स्थित्या मुखस्यैव तत्स्थत्वनिषेधेन प्रतिमुखस्य तत्सत्त्वनिषेधसंभवात्। मेघच्छायाप्र-तिसूर्यादीनां न तथेति न मेघादिनिषेधेन छायादिनिषेधः। स्मृतिस्तु प्रातीतिकार्थमादाय

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रतिबिम्बाकाशदर्शनादेकत्रैव द्विगुणीकृत्य वृत्त्युपपत्तेः जीवावच्छेदेषु ब्रह्मणोऽपि नियन्तृ-त्वादिरूपेणावस्थानमुपपद्यते इति प्रतिबिम्बपक्ष एव श्रेयान्" (पं० वि० पृ० २९०-९१) इस प्रकार प्रतिबिंब की भिन्न सत्ता प्रतिपादन करनेवाले वचन और उपाधि में प्रतिबिम्ब-पक्षपातित्व के कथन से बिम्ब और प्रतिबिंब की एकता विरुद्ध पड़ जाती है।

समाधान—जैसे एक ही आकाश मठ और घट दो उपाधियों से अवच्छिन्न होकर द्विगुणीकृत माना जाता है, ऐसे ही समष्टि उपाधि और व्यष्टि उपाधि से अवच्छिन्न एवं उपाधि-भेद से भिन्न चैतन्यों को द्विगुणीकृत मानकर उक्त वचन प्रवृत्त हुए हैं, अतः उनसे किसी प्रकार का विरोध नहीं। अत एव 'दर्पणे न मुखम्'—यह उपाधि-विशिष्ट मुख का ही निषेध है 'नेदं रजतम्' के समान 'नैतन्मुखम्'—इस प्रकार का स्वरूपतः निषेध नहीं।

शङ्का—सम्मुखस्थ दर्पण में 'नात्र मुखच्छाया'—ऐसा अनुभव नहीं होता, प्रत्युत 'एतावन्त' कालमत्र प्रतिसूर्य आसीत्'—के समान 'प्रतिमुखमासीत्'—ऐसा ही अनुभव होता है, अतः 'नात्र मुखम्'—इस निषेध के द्वारा दर्पण में मुख का निषेध होने पर भी मुख-छाया का वैसे ही बाध नहीं होता, जैसे कि 'नात्र भूमौ मेघः'—इस प्रकार मेघ का निषेध हो जाने पर भी मेघ की छाया का निषेध नहीं होता। 'प्रतिबिंबमिवादर्शे'—इत्यादि स्मृति-वाक्यों के द्वारा भी प्रतिबिंब में दर्पणस्थत्व प्रमाणित होता है।

समाधान—मुख और प्रतिमुख की एकस्वरूपता के कारण एकता के व्यवस्थित हो जाने पर मुखगत दर्पणस्थत्व-निषेध ही प्रतिमुखगत दर्पणस्थत्व का निषेध माना जाता है। मेघ और मेघ-छाया, सूर्य और प्रतिसूर्य की वैसी एकता स्थापित नहीं होती, अतः 'नात्र भूमौ मेघः'—इस प्रकार के निषेध से मेघमात्र का निषेध होता है, मेघ-छाया का नहीं। उक्त स्मृति-वाक्य प्रातीतिक प्रतिबिम्ब को दृष्टान्त बनाकर प्रवृत्त

न्यायामृतम्

अन्यथा प्रतिबिम्बाद्बिम्बानुमितिर्न स्यात् । साध्याविशिष्टयात् "नेक्षेतोद्यन्तमादित्य" मित्यनेन उद्यत्प्रतिबिम्बदर्शनस्यापि निषेधः स्यात् । वारिस्थसूर्यदर्शननिषेधेनाकाशस्थ-तद्दर्शनस्यापि निषेधः स्यात्, त्वत्पक्षे गगनस्थस्यैव वारिस्थत्वेन प्रतीतेः । प्रतिबिम्ब-दर्शनेनैव दृष्ट्वा स्नायादि"ति शास्त्रार्थोऽप्यनुष्ठितः स्यात् । न च तात्त्विकाभेदेऽपि कल्पित-भेदाच्छास्त्रीया व्यवस्था, औदुम्बरतया ज्ञातेनानौदुम्बरेणौदुम्बरो यूपो भवतीतिशास्त्रा-र्थासिद्धिप्रसंगाद् आत्मतया ज्ञातदेहश्रवणादिना "आत्मा श्रोतव्य" इति शास्त्रार्थ-सिद्धिप्रसंगाच्च । किं चानादेर्जीवस्य नोपाध्यधीनत्वादिरूपं प्रतिबिम्बत्वम्, किंतु

अद्वैतसिद्धिः

दृष्टान्तपरा । न च—एवं प्रतिबिम्बाद् बिम्बानुमानोच्छेदः साध्याविशेषादिति—वाच्य-म्, उपाधिकल्पितभेदेन विशेषोपपत्तेः । एतेन—'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य'मित्यनेन उद्यत्प्र-तिबिम्बदर्शनस्यापि निषेधस्यात्, वारिस्थः सूर्यदर्शननिषेधेनाकाशस्थसूर्यदर्शनस्यापि निषेधश्च स्यात्, प्रतिबिम्बदर्शनेनैव दृष्ट्वा स्नायादिति शास्त्रार्थोऽप्यनुष्ठितः स्यादिति—निरस्तम्, कल्पितभेदादेव शास्त्रीयव्यवस्थोपपत्तेः न च—औदुम्बरतया ज्ञातेनानौ-दुम्बरेण औदुम्बरो यूपो भवतीति शास्त्रार्थसिद्धिप्रसङ्गः, आत्मतया ज्ञातदेहश्रवणा-दिनात्मा श्रोतव्य इति शास्त्रार्थसिद्धिप्रसङ्गश्चेति—वाच्यम्, प्रमया उपपत्तौ संभवन्त्यां भ्रमेण तदुपपादनस्यायुक्तत्वात् । ननु—अनादेर्जीवस्य नोपाध्यधीनं प्रतिबिम्बत्वम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

हुआ है । बिंब और प्रतिबिंब का तात्त्विक भेद न होने पर भी प्रतिबिंब के द्वारा जो बिंब का अनुमान होता है, वह उपाधि के द्वारा कल्पित भेद को लेकर माना जाता है ।

न्यायामृतकार ने जो कहा है कि यदि बिंब और प्रतिबिंब—दोनों एक वस्तु हैं, तब 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'—इस निषेध-वाक्य के द्वारा बिम्ब के समान प्रतिबिंब के दर्शन का भी निषेध हो जाना चाहिये, जलगत सूर्य-प्रतिबिंब मात्र को देख स्नान कर लेने पर "दृष्ट्वा स्नायात्'—इस विधि की गतार्थता हो जानी चाहिये ।

वह कहना इसलिए निरस्त हो जाता है कि कल्पित भेद को लेकर शास्त्रीय व्यवस्था बन जाती है अर्थात् औपाधिक और अनौपाधिक पदार्थ भिन्न मानकर यह कहा जा सकता है कि 'दृष्ट्वा स्नायात्'—यह शास्त्र अनौपाधिक सूर्य के दर्शन को निमित्त बना रहा है, अतः प्रतिबिंबभूत या औपाधिक सूर्य का दर्शन कर किया गया स्नान न वैध कहला सकता है और न उक्त विधि की गतार्थता हो सकती है ।

शङ्का—आप (अद्वैती) के मतानुसार यदि गगनस्थ सूर्य ही जलस्थत्वेन ज्ञात है, भिन्न नहीं, तब औदुम्बरत्वेन ज्ञात अनौदुम्बर पदार्थ को लेकर "औदुम्बरो यूपो भवति" (तै० सं० २।१।१।६) इस विधि की एवं आत्मत्वेन ज्ञात शरीर को लेकर "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" (बृह० उ० २।४।६) इस श्रवण-विधि की गतार्थता हो जानी चाहिये ।

समाधान—व्यावहारिक दृष्टि से अतद्रूपेण ज्ञान भ्रम और तद्रूपेण ज्ञान प्रमा कहलाता है, व्यावहारिक विधि-विधानों में तद्रूपेण ज्ञान (प्रमा) के विषयीभूत पदार्थ को उद्देश्य या विधेय माना जाता है, अतः औदुंबरत्वेन ज्ञात औदुंबर का ही यूप बनाना एवं आत्मत्वेन ज्ञात आत्मा का ही श्रवण करना आवश्यक है ।

शङ्का—आप (अद्वैती) को 'जीवो ब्रह्मणो न भिद्यते, प्रतिबिम्बत्वात् (बिंबाधी-

न्यायामृतम्

तदधीनत्वे सति तत्सदृशत्वरूपं तच्च, भेदव्याप्तमिति विरुद्धो हेतुः। उक्तं हि सूत्रकृता— "अत एव चोपमा सूर्यकादिवदि"ति। भाष्यकृता च अत एव भिन्नत्वतदधीनत्वतत्सादृश्यैरेव सूर्यकाद्युपमा नोपाध्यधीनत्वादिने"ति। बिम्बप्रतिबिम्बैक्यभंगः ॥ ३३ ॥

अद्वैतसिद्धिः

किंतु तदधीनत्वे सति तत्सदृशत्वम्, तच्च भेदव्याप्तमिति विरुद्धो हेतुः। उक्तं हि सूत्रकृता—'अत एव चोपमा सूर्यकादिव'दिति—चेत्, न, उपाध्यधीनत्वं हि उपाधौ सत्येव सत्त्वम्। तच्च नानादित्वविरोधि, अनादिजीवस्यापि तत्संभवात्। अत एव प्रतिबिम्बपदस्य भेदसादृश्यार्थकत्वमादाय विरुद्धत्वोक्तिर्हेतावयुक्ता। तदेवम्—

प्रतिबिम्बस्य बिम्बेनैक्ये व्यवस्थिते।
ब्रह्मैक्यं जीवजातस्य सिद्धं तत्प्रतिबिम्बनात् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेनैक्यसिद्धिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नत्वात्')—इस अनुमान में 'बिंबाधीनत्वे सति बिंबसदृशत्वात्'—इतना हेतु बनाना होगा, क्योंकि केवल बिम्बाधीनत्व रूप प्रतिबिम्बत्व अनादि जीव में नहीं माना जाता, अपितु ब्रह्माधीनत्वे सति ब्रह्मसदृशत्व को प्रतिबिम्बत्व माना जाता है, क्योंकि सूत्रकार ने कहा है—"अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्" (ब्र० सू० ३।२।१८) [जीवात्मा और परमात्मा का भेद होने के कारण ही जीव के लिए सूर्यकादि की उपमा दी गई है—

बहवः सूर्यका यद्वत् सूर्यस्य दृशा जले।
एवमेवात्मकाः लोके परमात्मसदृशाः मताः ॥]

'ब्रह्माधीनत्वे सति ब्रह्मसदृशत्व' हेतु भेदसापेक्ष होने के कारण अभेद का नहीं भेद का ही साधक होता है, अतः विरुद्ध नाम का हेत्वाभास है।

समाधान—प्रतिबिम्बगत उपाध्यधीनत्व का अर्थ है—'उपाधौ सत्येव सत्त्वम्', वह अनादित्व विरोधी नहीं, क्योंकि अनादि जीव में भी रह सकता है। अतः सादृश्य-घटित हेतु की कल्पना उचित नहीं, अत एव उक्त सूत्र का भाष्यकार ने अर्थ किया है— "यत एव चायमात्मा चैतन्यरूपो निर्विशेषो वाङ्मनसातीतः परप्रतिषेधोपदेश्योऽत एव जलसूर्यकादिवदित्युपमा दीयते"। फलतः बिम्ब से प्रतिबिम्ब का अभेद व्यवस्थित हो जाने पर जीव का ब्रह्म से ऐक्य सिद्ध हो जाता है, क्योंकि जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है।

: ३४ :

जीवाणुत्वविचारः

न्यायामृतम्

अणुत्वाच्च जीवो व्याप्तादीशाद्भिन्नः । नन्वेतदयुक्तम्, "नित्यः सर्वगतः स्थाणु"-रित्याद्यागमैः जीवो नाणुः प्रत्यक्षगुणाश्रयत्वात्, प्रत्यक्षत्वाच्च, घटवदित्याद्यनुमानैश्च विपक्षे देहव्यापि स्पर्शादिज्ञानं न स्यादित्यादिबाधकसहितैस्तस्य विभुत्वादिति चेन्न, अणुर्ह्येषआत्मा यं वा एते सिनीतः पुण्यं च पापं च "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पत"इत्यादिश्रुत्या "अणुमात्रोऽप्ययं जीव"इत्यादिस्मृत्या जीवो न व्याप्तः । उत्क्रान्तिमत्त्वाद्गतिमत्त्वादागतिमत्त्वात्क्रियावत्त्वाच्च खगशरीरवदित्याद्यनुमानैश्च विपक्षे हेतूच्छित्तिबाधकसहितैरणुत्व-

अद्वैतसिद्धिः

ननु—अणुत्वाज्जीवस्य कथं व्यापकादीश्वरादभेद इति—चेन्न, 'नित्यः सर्वगतः', 'स वा एष महानज आत्मा' इत्यादिश्रुत्या जीवो नाणुः, प्रत्यक्षगुणाश्रयत्वात् प्रत्यक्षत्वाच्च, घटवद्, आत्मत्वादभूतत्वाच्चेश्वरवदित्याद्यनुमानैश्च जीवानणुत्वसिद्धेः, विपक्षे च देहव्यापिसुखज्ञानाद्यनुपलम्भापत्तिर्बाधिक । न च—"अणुर्ह्येष आत्मा यं वा एते सिनीतः पुण्यं च पापं च",

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते" ॥

इति श्रुत्या जीवोऽणुरिति—वाच्यम्, व्यापकत्वप्रतिपादकबहुश्रुतिविरोधेन दुर्विज्ञेयत्वपरत्वाद् देहव्यापिगुणोपलम्भस्यान्यथयितुमशक्यत्वात् । एतेन—जीवो न व्यापकः, उत्क्रान्तिमत्त्वाद्, गतिमत्त्वात्, क्रियावत्त्वाच्च, खगशरीरवद्, विपक्षे हेतु-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—जीव अणु है, अतः महत्परिमाणवाले ईश्वर से उसका अभेद कैसे होगा ?

समाधान—जीव अणु नहीं, क्योंकि "नित्यः सर्वगतः" (जा० द० उ० १०।२), "स वा एष महानज आत्मा" (बृह० उ० ४।४।२२) इत्यादि श्रुतियों और 'जीवो नाणुः, प्रत्यक्षभूतगुणाश्रयत्वात्, प्रत्यक्षत्वाच्च घटवत्', 'जीवो नाणुः, आत्मत्वादभूतत्वाच्च परमात्मावत्'—इत्यादि अनुमानों के द्वारा जीव में व्यापकत्व सिद्ध होता है। 'जीवो यद्यणुः स्यात्, तर्हि देहव्यापिसुखाद्युपलम्भो न स्यात्'—ऐसे विपक्ष-बाधक तर्कों का सहयोग भी उक्त अनुमानों को प्राप्त है।

शङ्का—"अणुरेष आत्मा (मु ३।१।९),
बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ (श्वेता. ५।९)

इत्यादि श्रुतियों से जीव अणु सिद्ध होता है।

समाधान—श्रुतियों में जीव की व्यापकता के प्रतिपादक वाक्य बहुत हैं और अणुरूपता के बोधक वाक्य थोड़े, अतः बहुत वाक्यों के विरोध से बचने के लिए उक्त वाक्यों में 'अणु' शब्द का सूक्ष्म या दुर्विज्ञेय अर्थ करना ही उचित है। दूसरी बात यह भी है कि जो देह-व्यापी सुख-दुःखादि की उपलब्धि होती है, उसका अन्यथाकरण संभव नहीं, अतः उसके आधार पर जीव व्यापक ही सिद्ध होता है, अणु नहीं।

न्यायामृतकार ने जो अनुमान किया है कि 'जीवो न व्यापकः, उत्क्रान्तिमत्त्वाद्

न्यायामृतम्

सिद्धेः । न चासिद्धिः, "सोऽस्माच्छरीरादुत्क्रम्यामुं लोकमधिगच्छति, अमुष्मादिमं लोकमागच्छतो''त्यादि श्रुतिभिः "तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवतत" इत्यादिस्मृतिभिश्च तत्सिद्धेः। न च गत्यादिश्रुतिर्बुद्धिविषया "नाकस्य पृष्ठे सुकृते तेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति, ते अशुभमनुभूयावर्तन्त''इत्यादिश्रुतौ गतेः सुखदुःखाद्यनुभवसामानाधिकरण्योक्तेः। "स एनान्ब्रह्म गमयती''त्यादिश्रुतौ तत्र

अद्वैतसिद्धि

च्छित्त्यापत्तिर्बाधिकेति—निरस्तम्, हेत्वसिद्धेः । न च—'सोऽस्माच्छरीरादुत्क्रम्यामुं लोकमधिगच्छति, अमुष्मादिमं लोकमागच्छती'त्यादिभिः श्रुतिभिः 'तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तत" इत्यादिस्मृतिभिश्च हेतुसिद्धिरिति—वाच्यम्, उत्क्रमणादीनां बुद्धिगतानां तदुपहिते श्रुत्या प्रतिपादनात्। न च—'नाकस्य पृष्ठे सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति, ते अशुभमनुभूयावर्तन्त' इत्यादौ श्रुतौ सुखदुःखाद्यनुभवसामानाधिकरण्यस्य गतावुक्तेः कथं तस्या बुद्धिगतत्वमिति—वाच्यम्, आत्मनि सुखदुःखाद्यनुभवस्यापि बुद्ध्युपाधिकत्वेन तत्सामानाधिकरण्यस्य गतौ स्वाभाविकत्वासाधकत्वात्। ननु—'स एनान् ब्रह्म गमयती'त्यादिश्रुतौ 'तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना' इत्यादिस्मृतौ च गतेर्मुक्तिसामानाधिकरण्योक्तेः कथमसिद्धिरिति—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

गतिमत्त्वात्, क्रियावत्त्वाच्च, खगशरीरवत्'—इस अनुमान के समर्थन में विपक्ष-बाधक तर्क भी दिखाया है—यदि जीव को व्यापक माना जाता है, तब श्रुति-प्रतिपादित गतिमत्त्वादि हेतुओं का उच्छेद हो जायगा।

वह अनुमान अत एव निरस्त हो जाता है कि जीवरूप पक्ष में धर्मिसमानसत्ताक अनौपाधिक उत्क्रान्तिमत्त्वादि हेतु सिद्ध नहीं।

शङ्का—"सोऽस्माच्छरीरादुत्क्रम्यामुं लोकमधिगच्छति, अमुष्मादिमं लोकमागच्छति" (छां. ८।६।५) इत्यादि श्रुतियों और "तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते" (गी० ८।२५) इत्यादि स्मृतियों के द्वारा जीव में उत्क्रान्त्यादिमत्त्वरूप हेतु सिद्ध होता है।

समाधान—अन्तःकरणगत उत्क्रमणादि क्रिया का ही अन्तःकरणोपहित चेतन में श्रुतियों ने प्रतिपादन किया है।

शङ्का—"नाकस्य पृष्ठे सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति" (मु० १।२।२०) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा उत्क्रमण या गति का प्रतिपादन उसी जीव में किया है, जो सुख-दुःखादि का अनुभव करता है, अतः उत्क्रान्ति को अन्तःकरण का धर्म नहीं कहा जा सकता है।

समाधान—सुख-दुःखादि का अनुभव भी आत्मा में औपाधिक ही है, स्वाभाविक नहीं, अतः अन्तःकरणगत अनुभव और उत्क्रान्ति का जीव में औपाधिक भान होने पर भी सामानाधिकरण्य उपपन्न हो जाता है।

शङ्का—"स एनान् ब्रह्म गमयति" (छां० ४।१५।६) इत्यादि श्रुति और "तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः" (गी० ८।२४) इत्यादि स्मृति के द्वारा गति का प्रतिपादन मुक्ति के आधारभूत जीव में ही किया गया है, अतः जीव में गतिरूप हेतु की असिद्धि क्योंकर होगी?

न्यायामृतम्

प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना" इत्यादि स्मृतौ च मुक्तिसामानाधिकरण्योक्तेश्च। तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामती"त्यात्मनिष्ठत्वश्रुतेश्च। अन्यथा बन्धमोक्षादिकमपि बुद्धेरेव स्यात्। न च श्रुतिर्बुद्ध्युपाधिकगत्यादिविषया। "तद्यथानः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेमवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन् याती"ति स्वाभाविकगत्याश्रयशकटदृष्टान्तोक्तेः। "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामती"त्यादि श्रुतौ त्वद्रीत्या प्राणा-

अद्वैतसिद्धिः

चेन्न, अव्यापकस्यैवाव्यापकं प्रत्येव गमनम्। ब्रह्म च व्यापकं तत्प्रति गमनासंभवेन गमनपदस्य उपाधिकृतभेदराहित्यपरतया गतिमुक्तिसामानाधिकरण्याप्रतिपादकत्वात्।

ननु—'प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामतो'त्यात्मनिष्ठत्वश्रुतेर्नासिद्धिः, अन्यथा मोक्षादिकमपि बुद्धेरेव स्यात्, नापि श्रुतेर्बुद्ध्युपाधिकगत्यादिविषयत्वं संभवति, 'तद्यथा अनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन् याती'ति स्वाभाविकगत्याश्रयशकटदृष्टान्तोक्तेरिति—चेन्न, एष इति बुद्ध्युपहितस्यैव परामर्शेन शुद्धात्मनिष्ठत्वस्य गतावनुक्तेः, मोक्षे तु बुद्ध्युपरमेण तन्निष्ठत्वस्यासंभावितया वैषम्यात्, सर्वसाम्यस्य दृष्टान्ततायामप्रयोजकत्वात्, तद्बलेन स्वाभाविकत्वपर्यन्तत्वस्यासिद्धेः। न च—'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामतो'त्यादिश्रुतौ

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—अव्यापक पदार्थ की ही अव्यापक देश में गति हुआ करती है किन्तु व्यापकोभूत जीव का व्यापकीभूत ब्रह्म के प्रति गमन सम्भव नहीं, अतः यहाँ 'गमन' पद का उपाधिकृत भेद के अभाव में ही तात्पर्य स्थिर किया जाता है, उक्त श्रौत-स्मार्त वाक्य गति और मुक्ति का मुख्य सामानाधिकरण्य बोधित नहीं कर सकते।

शङ्का—"प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति" (बृह० उ० ४।४।२) इस श्रुति के द्वारा विशेषतः गति में आत्मनिष्ठत्व का प्रतिपादन किया गया है, अन्यथा मोक्षादि भी बुद्धि के धर्म हो सिद्ध होंगे। उक्त श्रुति-वाक्य बुद्ध्युपाधिक गति का प्रतिपादन कर भी नहीं सकते, क्योंकि स्वाभाविक गति के आश्रयीभूत शकट का दृष्टान्त देकर जीव में स्वाभाविक गति सिद्ध की गई है—तद्यथा अनः सुसमाहितम् उत्सर्जद् यायाद्, एवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना अन्वारूढ उत्सर्जन् याति" (बृह० उ० ४।३।३५) [जिस पर पूरा भार लदा है, गाड़ीवान् सवार है—ऐसा पुराना अनः (शकट) चीं-चाँ, शब्द करता हुआ देश-देशान्तर में चलता रहता है। वैसे ही पुण्य-पाप का पूर्ण भार जिस पर लदा हुआ है और प्राज्ञात्मा (अन्तर्यामी परमेश्वर) जिसका अधिष्ठाता (चालक) है, ऐसा शरीरस्थ जीवात्मा रोता-पीटता लोक-लोकान्तर में जाता रहता है]।

समाधान—'प्रद्योतेनैष आत्मा'—इस वाक्य में 'एष' पद के द्वारा अन्तःकरणोपहित आत्मा का ही परामर्श किया गया है, अतः उक्त श्रुति के द्वारा अनुपहित (शुद्ध) आत्मा में गति का प्रतिपादन नहीं हो सकता। मोक्ष में तो अन्तःकरण का अभाव हो जाता है, अतः मोक्ष को अन्तःकरणनिष्ठ कहना सम्भव ही नहीं, अतः गति और मुक्ति में महान् अन्तर है। शकट का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह केवल गति, भार-युक्तता और शब्दोत्सर्जन को जीव में दिखाने के लिए है, गत्यादि की वास्तविकता में उसका तात्पर्य नहीं, क्योंकि दार्ष्टान्त में दृष्टान्त का सर्वथा साम्य कहीं भी अपेक्षित नहीं होता, अतः उसके बल पर जीव में वास्तविक गति सिद्ध नहीं हो सकती।

न्यायामृतम्

ख्यबुद्धिगतितः प्रागेव जीवगत्युक्तेश्च । "मन उदक्रामन्मीलित इवाश्नन्पिबन्नास्ते वे" त्यादिश्रुतौ मनस उत्क्रमणेऽपि आत्मनस्तदभावश्रवणाच्च । "तदा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपति दिव्य"मित्यादि श्रुतौ नामरूपाद्विमोक्षानन्तरमपि गतिश्रवणाच्च । परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते", "स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येती"त्यादिश्रुतौ मुक्तेऽपि गत्युक्तेश्च ।

अद्वैतसिद्धिः

प्राणाख्यबुद्धिगतितः प्रागेव जीवे गत्युक्तेः कथं बुद्धिगत्याऽन्यथासिद्धिरिति—वाच्यम्, प्राणाख्यांशेन क्रियाशक्तिशालिना पश्चाद्गतावप्यंशान्तरेण प्रथममुत्क्रमणसंभवात् । एतेन—'मन उदक्रामन्मीलित इवाश्नन् पिबन्नास्ते वे'त्यादिश्रुतौ मनउत्क्रमणेऽपि आत्मनस्तदभावश्रवणाच्च कथं तद्गत्यैव गतिमत्त्वमिति—निरस्तम्, उपहितस्योपाधिनिबन्धनगतिमत्त्वे बुद्ध्यनुपहितस्य तदभावाविरोधात् । न च-तथा 'विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्य'मित्यादिश्रुतौ नामरूपविमोक्षानन्तरमपि गतिश्रवणात् कथं सा औपाधिकीति—वाच्यम्, परमपुरुषस्य सर्वत्र सन्निहितत्वेन तं प्रति गमनासंभवेन उपैतीत्यस्यापि पूर्ववदर्थान्तरपरत्वात् । अत एव "परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः स तत्र पर्येती'त्यादिश्रुतिरपि न गत्यर्था ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—"तमुत्क्रान्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" (बृह० उ० ४।४।२) इस श्रुति में प्राणोपलक्षित अन्तःकरण में अनूत्क्रमण (पश्चाद् उत्क्रमण) और जीव में प्रथमतः उत्क्रमण प्रतिपादित हैं, अतः अन्तःकरण की गति का जीव में आरोप क्योंकर होगा ?

समाधान—जैसे कोई पक्षी अपने एक पंख को गति देकर उड़ा और फिर दूसरे पंख को भी चालू कर देता है, ऐसे ही जीव के अन्तःकरण में ज्ञान शक्ति (बुद्धि) और क्रिया शक्ति (प्राण) का संवलन होता है, अतः उसमें पहले ज्ञान शक्ति की सहायता से उत्क्रमण सम्भव है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा कि "मन उदक्रामन्मीलित इवाश्नन् पिबन्नास्ते वा' (ऐत० १।४।४) इस श्रुति में स्पष्ट कहा है कि मन उत्क्रमण कर गया अमनस्क आत्मा इसी शरीर में खाता-पीता रहा, अतः अन्तःकरण की गति को लेकर आत्मा में औपाधिकगति का उपपादन नहीं हो सकता ।

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि उपाधि की गति से उपहित (उपाधि-विशिष्ट) आत्मा ही गतिशील होता है, अनुपहित चेतन नहीं । "तदा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" (मुं० ३।२।८) यह श्रुति नामरूपात्मक मन आदि समस्त उपाधियों की निवृत्ति के पश्चात् आत्मा में जिस गति का प्रतिपादन कर रही है, आत्मा की उस गति को औपाधिक क्योंकर कहा जा सकता है ? इस शङ्का का समाधान यह है कि इस श्रुति में जो कहा गया है 'परं पुरुषमुपैति', उसका गति में तात्पर्य नहीं, क्योंकि पर पुरुष (ब्रह्म) तो सर्वत्र व्याप्त है, उसका देशान्तर में जा कर प्राप्त करना उचित नहीं, अतः आवरण-निवृत्ति ही 'उपैति' पद से विवक्षित है, गति नहीं । "परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छां० ८।३।४), "स तत्र पर्येति" (छां० ८।१२।६) इत्यादि श्रुतियाँ भी गति की बोधिका नहीं मानी जातीं ।

न्यायामृतम्

किं च बुद्धिगतेन गत्यादिना तदवच्छिन्नात्मनि गत्यादि जायते वा ? बुद्धिगतमेवारोप्यते वा ? उपचर्यते वा ? नाद्यः, घटगत्या तदवच्छिन्ने नभसि गत्यन्तराद्दष्टेः, अन्यथा यतो घटस्य बुद्धेर्वा, गतिः तत्राकाशस्यात्मनो वा सच्छिद्रत्वं अन्यत्र द्विगुणीकृत्य वृत्तिश्च स्यात् । न च प्रतिबिम्बपक्षे नोक्तदोष इति वाच्यम्, तस्य वस्त्वन्तरत्वमते दोषाभावेऽपि दर्पणाभिहता दृष्टिः परावृत्य स्वमुखं गृह्णातीति त्वन्मते उपाधिगत्या बिम्बे न गतिः प्रतिबिम्बे तु सेत्यस्यायोगात् । नान्त्यौ, कर्तुरवच्छिन्नस्यैतदात्मप्रदेशस्य भोगायतनलोकान्तराप्राप्तेः, किं तु गतया बुद्ध्यावच्छिन्नप्रदेशान्तरमेव भुङ्क्त इति स्वीकारे कृतहान्यादिप्रसंगात्, कर्तुर्भोक्तुश्चावच्छिन्नस्य भिन्नत्वाद्, अभिन्ने चानवच्छिन्ने कर्तृत्वाद्यभावात्, बाधकं विना बहूनां वाक्यानामप्रामाण्यस्य

अद्वैतसिद्धिः

ननु—बुद्धिगतेन गत्यादिना किं तदवच्छिन्नात्मनि गत्यादि जायते ? उत बुद्धिगतमेवारोप्यते ? उतोपचर्यते ? नाद्यः, घटगत्या तदवच्छिन्ने नभसि गत्यन्तरादर्शनात् । अन्यथा यतो घटस्य बुद्धेर्वा गतिः तत्राकाशस्यात्मनो वा सच्छिद्रत्वं स्यात् । अन्यत्र द्विगुणीकृत्य वृत्तिश्च स्यात् । न च प्रतिबिम्बपक्षे नोक्तदोष इति—वाच्यम्, तस्य वस्त्वन्तरत्वमते उक्तदोषाभावेऽपि दर्पणाहता दृष्टिः परावृत्य स्वमुखं गृह्णातीति त्वन्मते उपाधिगत्या बिम्बे न गतिरिति प्रतिबिम्बेऽप्यस्यायोगात् । नान्त्यौ, कर्तुरवच्छिन्नस्यैतदात्मप्रदेशस्य न भोगायतनलोकप्राप्तिः, किंतु गतया बुद्ध्याऽवच्छिन्नस्य प्रदेशान्तरस्यैवेति स्वीकारे कृतहान्यादिप्रसङ्गात् कर्तुर्भोक्तुश्चावच्छिन्नस्य भिन्नत्वात्

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—बुद्धिगत गति क्रिया के द्वारा क्या बुद्धयवच्छिन्न चेतन (जीव) में दूसरी गति उत्पन्न की जाती है ? अथवा वही बुद्धिगत गति ही जीव में आरोपित होती है ? या जीव में गति का उपचार मात्र होता है ? प्रथम पक्ष युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि घटरूप उपाधि की गति के द्वारा घटावच्छिन्न आकाश में अन्य गति का उत्पादन नहीं देखा जाता, अन्यथा घटावच्छिन्न आकाश के भी घट के समान उस देश से फट कर चले जाने पर महाकाश में छेद हो जाना चाहिए और घटाविच्छन्न आकाश जहाँ चला गया, वहाँ द्विगुण आकाश हो जाना चाहिए । इसी प्रकार व्यापकीभूत आत्मा में से बुद्धयवच्छिन्न चेतन भाग के फटकर कहीं अन्यत्र चले जाने पर आत्मा में छेद हो जाना चाहिए और अन्यत्र द्विगुण आत्मा की उपलब्धि होनी चाहिए । प्रतिबिम्ब-पक्ष में यह दोष नहीं—ऐसा आप (अद्वैती) नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतिबिम्ब को वस्त्वन्तर मानने पर तो दोष नहीं होता, किन्तु आप (अद्वैती) के मतानुसार दर्पणाघात से परिवर्तित दृष्टि के द्वारा गृहीत बिम्ब को ही प्रतिबिम्ब मानने पर उपाधि की गति से बिम्ब में गति न होने के कारण प्रतिबिम्ब में भी गति नहीं होनी चाहिए । द्वितीय और तृतीय पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि जैसे किसी घट को जब एक कमरे से उठा कर दूसरे कमरे में रख दिया जाता है, तब यह स्पष्टरूप से अनुभव किया जाता है कि पहले कमरे में जो घटावच्छिन्न आकाश का प्रदेश था, उससे दूसरे कमरे में घटावच्छिन्न आकाश-प्रदेश भिन्न हो जाता है, वैसे ही इस कर्म-लोक में जो बुद्धयवच्छिन्न चतन्य-प्रदेश कर्त्ता था, वह भोग-लोक में नहीं रहता, क्योंकि वहाँ बुद्धि के जाने पर बुद्धयवच्छिन्न चैतन्य-प्रदेश दूसरा हो जाता है, जो भोक्ता माना जाता है, फलतः कर्त्ता

न्यायामृतम्

उपचरितार्थत्वस्य चाऽयोगाच्च। न च व्यावहारिकस्य गत्यादेः, सत्त्वान्नात्यन्ताप्रामाण्यम्, अमूर्ते मूर्तावच्छिन्नेऽपि व्यावहारिकगत्यदृष्टेः, व्यावहारिकत्वे घटगतिवद् बुद्धिगतव्यावहारिकगत्युपाधिकत्वायोगाच्च। न च व्यावहारिकत्वेऽपि धर्मिणा परमार्थसदात्मना सत्त्वाभावादौपाधिकत्वं धर्मिणोऽवच्छिन्नात्मनोऽप्यपरमार्थत्वात्। विस्तृतं चैतत्कर्तृत्वाध्यासभंगे।

केचित्तु आत्मत्वमणुनिष्ठं द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातित्वात्, पृथिवीत्ववत्, जीवो वा न व्याप्तः, भूतेतरत्वे सति परत्वासमवायिकरणानाधारत्वे सत्यसर्वज्ञत्वात्, शब्देतरानित्यविशेषगुणाश्रयत्वात्, संस्काराश्रयत्वाच्च, कटवत्। जीवोऽणुः, ज्ञाना-

अद्वैतसिद्धिः

अभिन्ने वाऽनवच्छिन्ने कर्तृत्वाद्यभावादिति—चेन्न, उपाधिगत्या उपहिते गतिप्रयोग औपचारिक एव। न चैवं कृतहान्याद्यापत्तिः, यद्बुद्ध्यवच्छिन्नेन येनैवात्मना यत् कृतं तदवच्छिन्नेन तेनैव भोगजननात्। न ह्यात्मनो निरवयवस्य प्रदेशोऽस्ति। यत्तु अवच्छिन्नस्य कर्तुर्भोक्तुर्भेद इत्युक्तम्, तन्न, अवच्छेद्यात्मनोऽवच्छेदकबुद्धेश्चैक्ये ऽवच्छिन्ने भेदस्य वक्तुमशक्यत्वात्। न चात्मत्वमणुनिष्ठं द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातित्वात् पृथिवीत्ववदित्यनुमानम्, व्यापकावृत्तित्वस्योपाधित्वात्, स्पर्शादिसामानाधिकरण्यस्याप्येवं साधनप्रसङ्गाच्च। जीवो न व्यापकः, भूतेतरत्वे सति परत्वासमवायिकारणा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

और भोक्ता का भेद हो जाने पर कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष होता है। दोनों लोकों में जो अनवच्छिन्न चैतन्य एक है, वह न कर्त्ता माना जाता है और न भोक्ता।

समाधान—उपाधि की गति से उपहित चेतन (जीव) में गति का प्रयोग औपचारिक ही माना जाता है। कृत-हानि और अकृताभ्यागम दोष देना संगत नहीं, क्योंकि निरवयव वस्तु के प्रदेश नहीं माने जाते, वह सर्वत्र एक है और वही है अतः कर्म-लोक में वही चेतन बुद्ध्यवच्छिन्न होकर कर्त्ता और भोग-लोग में वही अवच्छिन्न स्वरूप कर्त्ता और भोक्ता में किसी प्रकार का भेद नहीं माना जाता, क्योंकि दोनों लोकों में अवच्छेदक (बुद्धि) भी वही और अवच्छेद्य (चैतन्य) भी वही, तब अवच्छिन्न का भेद क्योंकर होगा ?

'आत्मत्वम्, अणुनिष्ठम्, द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातित्वात्, पृथिवीत्ववत्'—इस अनुमान के द्वारा भी आत्मा में अणुत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस अनुमान में 'व्यापकावृत्तित्व' धर्म उपाधि है [पृथिवीत्वरूप दृष्टान्त व्यापक (विभु) द्रव्य में नहीं रहता, अतः 'व्यापकावृत्तित्व' धर्म साध्य का व्यापक है, आत्मत्वरूप पक्ष तो व्यापक आत्मा में रहता है, अतः 'व्यापकावृत्तित्व' धर्म साधन का अव्यापक है]। उक्त अनुमान के द्वारा यदि आत्मत्व में अणुनिष्ठत्व सिद्ध किया जाता है, तब स्पर्शादिगुणसामानाधिकरण्य भी सिद्ध किया जा सकेगा—'आत्मत्वं स्पर्शादिसमानाधिकरणम्, द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यधर्मत्वात्' पृथिवीत्ववत्'। यदि प्रत्यक्ष-बाधित होने के कारण यह सिद्ध नहीं किया जा सकता, तब अणुनिष्ठत्व भी सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि आत्मा में अणुत्व प्रत्यक्ष-विरुद्ध है।

कुछ लोगों ने जो अनुमान किए हैं कि (१) "जीवो न व्यापकः, भूतेतरत्वे सति परत्वासमवायिकारणानाधारत्वे सत्यसर्वज्ञत्वात्। (२) जीवो न व्यापकः,

न्यायामृतम्

समवायिकरणाश्रयत्वात्, मनोवदित्याद्यनुमानैर्जीवस्याणुत्वमित्याहुः। अणुत्वेऽपि जीवस्य देहव्यापिस्पर्शादिज्ञानं ज्ञानरूपगुणव्याप्त्या युक्तम्। जीवस्याणुत्वेऽपि

अद्वैतसिद्धिः

नाधारत्वे सत्यसर्वज्ञत्वात् शब्देतरानित्यविशेषगुणाश्रयत्वात् संस्काराश्रयत्वाच्च कटवदित्यत्रानात्मत्वमुपाधिः, अनित्यविशेषगुणसंस्कारादीनामुपाधिवृत्तित्वेनासिद्धिश्च। एवं महत्त्वस्यापि सुसाधत्वं च। जीवः, अणुः, ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाश्रयत्वात्, मनोवद् इत्यत्र मध्यमपरिमाणवत्त्वेन मनसो दृष्टान्तासंप्रतिपत्तेः, जडत्वस्योपाधित्वाच्च। सर्वत्र चात्र व्यापिसुखज्ञानाद्युपलम्भः प्रतिकूलस्तर्कः, एकस्याणोरेकदा व्यवहितदेशद्वयावच्छेदासंभवेन 'पादे मे सुखं शिरसि वेदना' इत्यादियुगपदनुभवविरोधश्च। न च गुणिनः अणुत्वेऽपि गुणव्याप्त्या व्यापिसुखज्ञानानुमानविरोधः, गुणिव्यतिरेकेणास्यासंभावितत्वात्। अन्यथा घटव्यतिरेकेणापि घटरूपं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शब्देतरानित्यविशेषगुणाश्रयत्वात् संस्काराश्रयत्वाच्च कटवत्'' [आकाश में व्यभिचार-वारणार्थ प्रथम अनुमान में भूतेतरत्व तथा काल और दिशा में व्यभिचार न हो, अतः 'परत्वासमवायिकारणानाधारत्व' विशेषण दिया गया है, क्योंकि घटादि में जो पटादि की अपेक्षा विद्यमान दैशिक परत्व का असमवायिकरण घटगत दिक्संयोग और कालिक परत्व का असमवायिकारण काल-संयोग है, उस के आश्रय दिशा और काल ही होते हैं, जीव नहीं। द्वितीय अनुमान गत हेतु के 'शब्देतरत्व' विशेषण से आकाश 'अनित्य' पद से ईश्वर और 'विशेष' शब्द से दिक्काल में व्यभिचार हटाया गया है]। उन अनुमानों में अनात्मत्व' उपाधि है [कटादि में साध्य का व्यापक एवं जीव में साधन का अव्यापक होने के कारण 'अनात्मत्व' उपाधि है]। इच्छादि विशेष गुण और संस्कारादि भी अन्तःकरण के धर्म माने जाते हैं, जीव में उनका अभाव होने के कारण हेत्वसिद्धि भी दोष है। महत्त्व-साधक अनुमान के द्वारा सत्प्रतिपक्षता भी हो सकती है।

'जीवोऽणुः, ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाश्रयत्वात्, मनोवत्'—इस अनुमान में दृष्टान्तासिद्धि दोष है, क्योंकि हम (अद्वैती) मन में मध्यम परिमाण मानते हैं, अणु परिमाण नहीं। इस अनुमान में 'जड़त्व' उपाधि भी है [मनोरूप दृष्टान्त और जीव-रूप पक्ष में न रहने के कारण 'जड़त्व' धर्म साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक होता है]। उक्त सभी अनुमान 'यदि जीवोऽणुः स्यात् तर्हि शरीरव्यापिसुखादीनामुपलब्धिर्न स्यात्'—इस प्रतिकूल तर्क के द्वारा पराहत हैं। एक अणु पदार्थ एक काल में अनेक व्यवहित देशों में रह नहीं सकता, अतः जीव को अणु मानने पर, पादे में सुखम्, शिरसि वेदना—इस प्रकार के अनुभव का विरोध भी है।

शङ्का—जीव के अणु रहने पर भी उस में उक्त अनुभव के आधार पर आत्मगत सुखादि के ज्ञान रूप गुण में व्यापकता का अनुमान कर लेने पर उक्त अनुमानों में किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता।

समाधान—गुणी द्रव्य के व्यापक न होने पर केवल गुण में व्यापकता कभी सम्भव नहीं। व्यापकत्व भी महत्त्व परिमाण का नाम है, जो कि गुण होने के कारण गुणी में ही रहता है, ज्ञान गुणी नहीं, अतः उसमें व्यापकत्व क्योंकर रहेगा? गुणी के बिना भी यदि गुण रहता है, तब घट के बिना भी घट के रूप की उपलब्धि होनी

न्यायामृतम्

तद्गुणव्याप्तिस्तु प्रदीपगुणभूतायाः प्रभायाः प्रदीपं विनान्यत्र वर्तनवत् जातिसमवायादेर्धर्मितोऽन्यत्र वर्तनवद् वन्ह्यौष्ण्यस्य तत्समीपे वर्तनवद् गन्धस्य द्रव्यं विनान्यत्र वर्तनवच्च युक्ता। वह्निसमीपस्थौष्ण्यस्य तत्समीपस्थानुद्भूतरूपतेजोऽन्तरगुणत्वे वह्ने रुद्भूतस्पर्शो न सिद्ध्येत्। न च गन्धे आश्रयद्रव्यावयवगतिः कल्प्या, सर्वतो योजनादिव्यापि-

अद्वैतसिद्धिः

स्यात्। प्रदीपादन्यत्र दृश्यमानापि प्रभा न दीपगुणः, किंतु अनुद्भूतस्पर्शं द्रव्यान्तरम्। न च—जातिसमवायादेर्धर्मितोऽन्यत्र वर्तमानत्ववदत्रापि गुणस्य बुद्धेरन्यत्रोपलम्भः स्याद् इति—वाच्यम्, जातिसमवायादिवदत्रापि तर्हि व्यापकत्वप्रसङ्गात्, धर्मिणो विहायापि स्थितौ तस्या नियामकाभावात्। न च कारणनियमान्नियमः, तर्ह्यव्यवहितसमवायिकारणनियमादेव नियमे अणुमात्रदेशता दुर्वारैव। न च—वह्नेरौष्ण्यं बहिर्नोपलभ्येत, समीपवृत्त्यनुद्भूतरूपतेजसस्तदित्युच्यमाने वह्नेरौष्ण्यं न सिध्येदिति—वाच्यम्, बाधके सति सविधे तेजोऽन्तरकल्पनेऽपि दृश्यमानवह्नावनुभूयमानौष्णस्पर्शे बाधकाभावेन तस्मिस्तेजोऽन्तरत्वकल्पनस्याशक्यत्वात्। एतेन—केतक्यादौ परितो गन्धानुभवाद् गुणानां गुणिनैरपेक्ष्यम्। न च तत्र केतक्यवयवानां परितः प्रसरतां ते

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

चाहिए। प्रदीप का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह उचित नहीं, क्योंकि छोटे-से प्रदीप की प्रभा में व्यापकता अवश्य देखने में आती है, किन्तु वह प्रभा दीपक का गुण नहीं, अपितु तेजोमय प्रदीप से निःसृत विसृत्वर ऐसी तैजस रश्मियाँ ही हैं, जिन का स्पर्श अनुद्भूत होता है, वह गुण नहीं, एक द्रव्य से उत्पन्न द्रव्यान्तर ही है। यह जो कहा गया कि जैसे घटादि व्यक्ति के अपने आश्रय से अन्यत्र उपलब्ध न होने पर भी घटादिगत घटत्व जाति और समवाय अन्यत्र उपलब्ध होते हैं, वैसे ही ज्ञानरूप गुण का भी अपने आश्रयीभूत अणु आत्मा से अन्यत्र उपलम्भ हो सकता है। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि जाति और समवाय के समान आत्मा में भी व्यापकत्व मानना पड़ेगा, अन्यथा धर्मी के विना ज्ञान की सर्वत्र उपलब्धि सम्भव नहीं हो सकेगी।

यदि आतमरूप धर्मी से अन्यत्र ज्ञान की सत्ता मानी जाय, तब दूसरे शरीर के भी सुखादि का ज्ञान होना चाहिये, यदि तत्तत् शरीर का सम्बन्ध ज्ञान का नियामक माना जाता है, तब अन्य कारणों की अपेक्षा समवायिकारण प्रधान और सन्निहिततर होता है, अतः आत्मा यदि अणु है, तब उसके ज्ञानरूप गुण में भी अणुदेशता ही रहेगी, व्यापकता नहीं हो सकती।

शङ्का—यदि धर्मी के विना धर्म अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता, तब वह्नि का औष्ण्य (ताप) भी बाहर (अन्यत्र) उपलब्ध नहीं होना चाहिए। यदि कहा जाय कि अन्यत्र उपलभ्यमान औष्ण्य उस वह्नि का नहीं, अपितु उससे उत्पन्न ऐसे तेजोऽन्तर का है, जिसका स्पर्श अनुद्भूत है। तब मूलभूत वह्नि में औष्ण्य सिद्ध न हो सकेगा।

समाधान—वह्नि के समीप देश में उपलभ्यमान औष्ण्य का आश्रय उस वह्नि का बाध हो जाने के कारण तेजोऽन्तर को माना जाता है, किन्तु अग्नि में उपलभ्यमान औष्ण्य का आधार उस अग्नि को मानने में कोई बाधक नहीं होता, अतः वह्नि में औष्ण्य क्यों सिद्ध नहीं होगा ?

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि केतकी की (क्योड़ा), भी अमन्द गन्ध चारों

न्यायामृतम्

गन्धोपलम्भायानेकस्थूलावयवापसारेण सद्यो गुरुत्वादिह्रासस्य द्रव्यक्षयस्य चापातात् । स्फटिककरण्डकान्तःस्थकस्तूर्यादौ चावयवान्तरानुप्रवेशकल्पने मानाभावात् प्रत्यभिज्ञा-विरोधाच्च । "नित्यः सर्वगतः स्थाणु"रित्यत्र "नित्यसर्वगते विष्णावणुर्जीवो व्यवस्थित" इत्यादिस्मृत्यनुसारेण सर्वगतस्थश्चासावणुश्चेतिविग्रहः । अन्ये तु क्रमेण नानादेहसम्बन्धाज्जीवस्य सर्वगतत्वोक्तिरित्याहुः । प्रत्यक्षत्वादितिहेतुस्त्वप्रयोजकः,

अद्वैतसिद्धिः

गन्धाः, तर्हि द्रव्यक्षयप्रसङ्गात् । न चावयवान्तरप्रवेशात्तदक्षयः, स्फटिककरण्डिकास्थ-कस्तूर्यादौ अवयवान्तरप्रवेशकल्पने मानाभावाद् इति – निरस्तम् , समवायिनैरपेक्ष्ये कार्यस्य निराश्रयत्वापत्तौ तत्प्रत्यासत्तिनिबन्धनकारणान्तरस्याप्युच्छेदे कार्यत्वहानेरेव तत्र कल्पनायां मानत्वात् ।

यत्तु—नित्यः सर्वगतस्थाणुरित्यत्र 'नित्ये सर्वगते विष्णावणुर्जीवो व्यवस्थितः' इति स्मृत्यन्तरानुसारात् सर्वगतस्थः अणुश्चेति विग्रहः इति तन्न, 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'स वा एष महानज आत्मे'ति श्रुत्यनुसार्यर्थस्यैवोचितत्वाद् अणुरिति पदच्छेदे तद्विरोधापत्तेः । यत्तु—क्रमेण नानादेहसंबन्धादणोरेव सर्वगतत्वोक्तिः—इति, तन्न, अशेषवाचिसर्वशब्दसङ्कोचे मानाभावात् । यदपि प्रत्यक्षत्वादिनैवाव्यापकत्वं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ओर दूर-दूर तक उपलब्ध होती है, अतः गुणों की उपलब्धि में गुणी की नियमतः अपेक्षा नहीं होती । वह उपलभ्यमान गन्ध चारों ओर फैले केतकी के कणों की है—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि केतकी पुष्प से अवयवों का विभाजन मानने पर उस पुष्प का नाश या अपचय हो जाना चाहिए । अवयवों के रिक्त स्थान पर अवयवान्तर का प्रवेश हो जाता है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्फाटिक मञ्जूषास्थ कस्तूर्यादि में अवयवान्तर-प्रवेश की कल्पना प्रामाणिक नहीं ।

न्यायामृतकार का वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि समवायि कारण के विना निराश्रय कार्य की कल्पना उचित नहीं, किसी कार्य का व्यवहित पदार्थ समवायिकारण नहीं हो सकता, अब यदि उसके समीपस्थ समवायिकारणान्तर की भी कल्पना न की जाय, तब उसमें कार्यत्व की हानि प्रसक्त होती है, यह प्रसक्ति ही वहाँ कारणान्तर की कल्पना में प्रमाण है ।

न्यायामृतकार ने जो "नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयम्" (गी० २।२४) इस गीता-वाक्य में 'सर्वगतस्थाणु'—ऐसा पाठ मान कर "नित्ये सर्वगते विष्णावणुर्जीवो व्यवस्थितः"—इस स्मृत्यन्तर के अनुरोध पर 'सर्वगतस्थश्चाणुश्च'-ऐसा विग्रह किया है। वह संगत नहीं, क्योंकि "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" (गौड़० का० ३।३), "स वा एष महानज आत्मा" (बृह० उ० ४।४।२४) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार 'सर्वगतः स्थाणुः'—ऐसा ही पाठ मानना होगा, 'अणु' का अलग छेद करने पर उक्त श्रुति-वाक्यों का विरोध होता है । यह जो अणु आत्मा के क्रमशः सर्व शरीर-सम्बन्धों को लेकर सर्वगतत्व की उपपत्ति की गई है, वह उचित नहीं, क्योंकि 'सर्व' शब्द अशेषार्थ का वाचक होता है, उसका 'क्रमशः एकैकगतः'—ऐसा संकुचित अर्थ करना न्याय-संगत नहीं ।

न्यायामृतकार ने यह जो कहा है—प्रत्यक्षत्वादिति हेतुस्त्वप्रयोजकः, तेनैवाविभुत्वस्यापि सुसाधत्वात्", अर्थात् व्यापकत्व-साधक 'प्रत्यक्षत्व' हेतु अनुकूल तर्क-रहित

न्यायामृतम्

तेनैवाविभुत्वस्यापि सुसाधत्वाद् उक्तश्रुत्यादिविरुद्धश्च। किं चात्मनां व्याप्तत्वे सर्वशरीरेन्द्रियाणां सर्वदा सर्वात्मसंयुक्तत्वेन सर्वात्मसाधारण्यात्। कर्मणामपि साधारणदेहादिकृतत्वेनासाधारण्यायोगात्। अहंत्वारोपादेरपि नियामकमूलसम्बन्धाद्यभावे नैयत्यायोगात्। सर्वाण्यपि शरीराणि सर्वेषां भोगायतनानि स्युरिति प्रतिकूलतर्कपराहतिः। एतेन चैत्रभोगार्थस्यांकुरादेः तददृष्टजन्यत्वाद् आत्मसमवेतस्य चादृष्टस्य

अद्वैतसिद्धिः

साधनीयमित्युक्तम्, तन्न, प्रतिकूलतर्कस्योक्तत्वाद् व्यापकत्वसाधने तस्यैवानुकूलत्वेनाप्रयोजकत्वाभावाच्च। ननु—आत्मनो व्यापकत्वे 'सर्वाणि शरीराणि सर्वस्यैव भोगायतनानि स्युः, सर्वशरीरेन्द्रियादीनां सर्वदा सर्वात्मसंयुक्तत्वात्, कर्मणामपि साधारणदेहादिकृतत्वेनासाधारण्यायोगाद्, अहन्त्वारोपादेरपि नियामकमूलसंबन्धादेरभावेन नैयत्यायोगादिति—चेन्न, तवापीश्वरस्य व्यापकत्वेन सर्वशरीराणां तद्भोगजनकत्वापत्तेः समानत्वात्। न च तददृष्टाजन्यत्वात्तत्संयुक्तत्वेऽपि न तत्र भोगजननम् तर्हीहापि समम्। न च कर्मणामेव कथमसाधारण्यम्? पूर्वतत्कर्मजन्यत्वाद्, एवमनादितैव। अन्यथा ईशात्मनि तवाप्यगतेः चैत्रभोगजनकाङ्कुरादेः तददृष्टजन्यत्वाद्

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है, विरुद्ध भी है, क्योंकि उसी हेतु के द्वारा अविभुत्व सिद्ध किया जाता है—जीवात्मा अविभुः, प्रत्यक्षत्वात्, घटादिवत्।

समाधान—जीवगत अणुत्व-साधन के विरोध में 'यदि जीवोऽणुः स्यात् तर्हि शरीरव्यापिसुखाद्युपलम्भो न स्यात्'—इस प्रकार का विपरीत तर्क प्रस्तुत किया जा चुका है, वही तर्क व्यापकत्व-साधन के अनुकूल भी है, अतः व्यापकता के साधन में जो अप्रयोजकत्व दोष का उद्भावन किया गया है, वह निरस्त हो जाता है।

शङ्का—'जीव यदि व्यापक है, तब सभी शरीर सभी जीवों के भोगायतन बन जायँगे, क्योंकि सभी शरीर, इन्द्रियादि में सभी जीवों का सम्बन्ध विद्यमान है। धर्माधर्मादि भी सर्वात्मसम्बन्धी देह के द्वारा उपार्जित होने के कारण सर्वसाधारण ही होंगे, प्रत्येक जीव के अपने-अपने असाधारण कर्म न बन सकेंगे। 'जिस शरीर में जिस जीव का अहंत्व आरोपित है, वह शरीर उस जीव का भोगायतन है—ऐसा नियम भी नहीं कर सकते, क्योंकि अहंत्वारोप का नियामक कोई मूल सम्बन्ध न होने के कारण कोई व्यवस्था नहीं बन सकती।

समाधान—आप (द्वैती) के मत में भी ईश्वर को व्यापक माना जाता है, अतः सभी शरीर उसके भोगायतन क्यों नहीं माने जाते? यदि कहा जाय कि जो शरीर जिसके अदृष्ट से जनित है, वह उसका भोगायतन होता है, ईश्वर के अदृष्ट से कोई शरीर नहीं बना, अतः कोई भी शरीर उसका भोगायतन नहीं हो सकता। तो हम (अद्वैती) भी उसी नियम के आधार पर व्यवस्था कर सकेंगे। अदृष्टों में तत्तज्जीव का असाधारण सम्बन्ध कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर है—उसके जनक पूर्व अदृष्टों के आधार पर और उस अदृष्ट में उससे पूर्वभावी जनक अदृष्टों के आधार पर असाधारणता आती जाती है, अदृष्ट-परम्परा अनादि है। अन्यथा ईश्वर के विषय में आप भी उसी दोष के भागी बनते हैं, जो जीव की व्यापकता के पक्ष में उद्भावित करते हैं।

चैत्र के भोग की जनक सामग्री विश्व में बिखरी हुई है कश्मीरस्थ चैत्र के अदृष्टों

न्यायामृतम्

साक्षादंकुराद्यसम्बन्धेनात्मद्वारा सम्बन्धस्य वाच्यत्वाद् , आत्मनो विभुत्वमिति निरस्तम् , चैत्रभोगाहेतोरप्यंकुरादेरात्मद्वारकादृष्टसम्बन्धेऽपि तदजन्यत्वेन तज्जन्यत्वे तस्यातन्त्रतया प्रतियोग्यनुयोगिभाववाच्यवाचकज्ञानज्ञेयादाविवादृष्टकार्ययोरपि सम्बन्धान्तरस्यैव वक्तव्यत्वात् । अस्ति हि कारीर्यदृष्टस्य वृष्ट्या सह तदुद्देशेन विहित-

अद्वैतसिद्धिः

आत्मसमवेतस्यादृष्टस्य साक्षादङ्कुरासंबन्धाद् आत्मद्वारकसंबन्धस्य वाच्यतायामात्मनो विभुत्वम् । न च—चैत्रभोगाहेतोरप्याङ्कुरादेरात्मद्वाराऽदृष्टासंबन्धेऽपि तदजन्यत्वेन तस्यातन्त्रत्वमिति—वाच्यम् , जनकादृष्टनिरूपितात्मद्वारकसन्निकर्षस्यातिप्रसङ्गाभावेन तन्त्रत्वात्, जनकता तु अदृष्टस्य फलैकोन्नेया । एवमेवोपपत्तौ प्रतियोग्यभाववाच्यवाचकज्ञानज्ञेयादाविवादृष्टकार्ययोरपि संबन्धान्तरस्वीकारे मानाभावः । यत्तु कारीर्यदृष्टस्य वृष्ट्या सह तदुद्देशेन विहितक्रियाजन्यत्वादिरूपः संबन्धोऽस्तीत्युक्तम्, तन्न तत्रापि यजमानात्मद्वारकसंयुक्तसमवायस्यैव जलक्षरणादिप्रयोजकत्वात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

से जनित केरलस्थ अङ्कुर (भोग्य वस्तु) के साथ उसके जनक चैत्र समवेत अदृष्ट का सम्बन्ध साक्षात् नहीं, आत्मा के द्वारा (स्वाश्रयात्मसंयोगित्व) ही कहना होगा, वह तभी सम्भव है, जब कि आत्मा व्यापक हो ।

शङ्का—व्यापक आत्मा का तो उसके भोग की जनक और अजनक सभी वस्तुओं से सम्बन्ध है, चैत्रीय अदृष्ट से अजनित वस्तु के साथ भी उसके अदृष्ट का स्वाश्रयात्मसंयोग सम्बन्ध है, किन्तु वह वस्तु न तो उसके अदृष्ट के अधीन है और न उसके भोग की जनक, अतः 'यद् यदीयादृष्टजन्यम्, तत्तदीयभोगजनकम्'—यह व्याप्ति कैसे बनेगी ?

समाधान—व्यापक आत्मा का जो सभी पदार्थों के साथ नैसर्गिक सम्बन्ध है, वह शुद्ध आत्मत्वेन आत्मा का है, उससे भिन्न अदृष्टवदात्मत्वेन आत्मा का अदृष्ट-प्रयुक्त सम्बन्ध भोग्य वस्तु के साथ पुनः उत्पन्न होता है, उस सम्बन्ध-विशेष को लेकर किसी प्रकार का अतिप्रसङ्ग नहीं होता । कौन वस्तु भोग की जनक है ? यह प्रत्यक्ष का विषय नहीं, अपितु भोग रूप (सुख-दुःखादि) फल के द्वारा अनुमेय होता है । इसी अदृष्टद्वारक आत्म सम्बन्ध को लेकर जब सभी व्यवस्था उपपन्न हो जाती है, तब प्रतियोगी और अभाव, वाच्य और वाचक, ज्ञान और ज्ञेयादि के समान अदृष्ट और उसके कार्य के साथ पृथक् साक्षात् सम्बन्ध मानने में कोई प्रमाण नहीं ।

यह जो कहा गया कि "कारीर्या वृष्टिकामो यजेत" इस वाक्य से विहित 'कारीरी' इष्टि के द्वारा उत्पादित अदृष्ट के साथ वृष्टिरूप फल का 'स्वोद्देश्यकक्रियाजन्यत्वरूप साक्षात् सम्बन्ध होता है । वह कहना उचित नहीं, क्योंकि वहाँ भी यजमान आत्मा के द्वारा वृष्टि का 'स्वसंयुक्तात्मसमवेतत्व' सम्बन्ध ही अदृष्ट के साथ होता है । अदृष्ट ही स्वाश्रयसंयोग सम्बन्ध से वृष्टि (जल-क्षरण) का प्रयोजक माना जाता है । यह सब कुछ हमने तार्किक रीति का अनुसरण कर कहा है, स्वमत की व्यवस्था तो पूर्वोक्त ही है, अर्थात् अनादि आत्मा का शरीर के साथ पूर्व-पूर्व कर्ममूलक आध्यासिक तादात्म्यरूप सम्बन्ध होता है । उससे घटित आत्मसंबन्धों को लेकर सभी व्यवस्था सम्पन्न हो जाती है ।

न्यायामृतम्

क्रियाजन्यत्वादिरूपः सम्बन्धः। न च "बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट" इति श्रुतौ बुद्धिगुणेनाराग्रमात्रत्वमात्मनो गुणेन तु विभुत्वमुक्तमिति वाच्यम्, "तद्यथा अणुनश्चक्षुषः प्रकाशो व्याप्त एवमेवाऽस्य पुरुषस्य प्रकाशो व्याप्तोऽणुर्ह्येवैष पुरुष" इति श्रुत्यनुसारेण बुद्धेर्ज्ञानस्य गुणेनावरः आत्मगुणेन त्वाऽऽराग्रमात्र इति अन्वयादिति दिक्। तस्मादणुत्वादपि जीवो व्याप्तादीश्वराद्भिन्न इति। जीवाणुत्वम् ॥ ३३ ॥

तस्मादविरोधाध्यायोक्तन्यायैर्दोषिभ्यो जीवेभ्योऽत्यन्तभिन्नस्य निर्दोषस्य ब्रह्मणः साक्षात्कारायांगीभूतं निदिध्यासनमंगभूतं श्रवणादिकं च मुमुक्षुणा कार्यमिति सिद्धम्।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीमद्ब्रह्मण्यतीर्थपूज्यपादानां
शिष्येण व्यासयतिना संगृहीते न्यायामृते
द्वितीयः परिच्छेदः ॥ २ ॥

अद्वैतसिद्धिः

एतच्च सर्वं पररीत्योक्तम्। स्वमते च व्यवस्था प्रागुक्तैव। तथा च 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट' इति श्रुतौ बुद्धिगुणेनाराग्रमात्रत्वोक्तेः स्वाभाविकमेव विभुत्वम्। न चात्रात्मगुणेनाराग्रमात्रत्वं बुद्धेर्गुणेन चावरत्वमिति व्युत्क्रमयोजना, "तद्यथाणुनश्चक्षुषः प्रकाशो व्याप्तः, एवमेवास्य पुरुषस्य प्रकाशो व्याप्तः अणुर्ह्येवैष पुरुष" इति श्रुत्यनुसारादिति—वाच्यम्, व्यापकत्वबोधकानेकश्रुतिविरोधेन बुद्धेर्गुणेनेत्येतदनुसारेण चास्या एव औपाधिकाणुत्वपरत्वात्, पुरुषस्येति षष्ठ्या राहोः शिर इत्यादिवदुपचरितार्थत्वाच्च। तथा च न व्युत्क्रमेणान्वयः, तस्मादणुत्वं नात्मभेदकम् ॥ इति अद्वैतसिद्धौ आत्मनोऽणुत्वभङ्गः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" (श्वेता० ५।८) इस श्रुति में कहा गया है कि बुद्धि के सङ्कल्प, सूक्ष्मत्वादि और आत्मा (शरीर) के बाल्य, यौवनादि धर्मों से युक्त होने के कारण यह अवर (जीव) आरा के अग्र (बैलों को हाँकने की छड़ी के आगे जो लोहे का काँटा लगा रहता है, उसकी नोक) के समान अणु होता है। इससे यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा में अणुत्व-व्यवहार औपाधिक है, स्वभावतः वह विभु है।

शङ्का—उक्त श्रुति में आत्मगुणेनाराग्रमात्रत्वम्, बुद्धेर्गुणेन चावरत्वम्'—ऐसी व्युत्क्रम से योजना विवक्षित है, जैसा कि श्रुति कहती है—"तद्यथाणुनश्चक्षुषः प्रकाशो व्याप्तः, एवमेवास्य पुरुषस्य प्रकाशो व्याप्तः, अणुर्ह्येवैष पुरुषः" [जैसे अणुरूप चक्षु का प्रकाश व्यापक होता है, वैसे ही इस जीव का प्रकाश (ज्ञान) व्यापक होता है, किन्तु यह पुरुष (जीवात्मा) अणु ही है]।

समाधान—व्यापकता-बोधक श्रुतियों और "बुद्धेर्गुणेन"—इस श्रुति के अनुरोध पर "तद्यथाणुनश्चक्षुषः"—यह श्रुति ही औपाधिक अणुत्व की ही बोधिका मानी जाती है एवं 'पुरुषस्य प्रकाशः'—यहाँ षष्ठी विभक्ति 'राहोः शिरः' के समान औपचारिक मात्र है, क्योंकि पुरुष (चैतन्य) और प्रकाश (ज्ञान) का भेद नहीं, अभेद ही होता है। अतः व्युत्क्रम से जो अन्वय किया जाता है, वह संगत नहीं। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि 'अणुत्व' धर्म जीव का ब्रह्म से भेदक नहीं हो सकता।

अद्वैतसिद्धिः

स्थितानि ग्रन्थेषु प्रकटमुपदिष्टानि गुरुभिर्गुणः,
वा दोषो वा न मम परवाक्यानि वदतः।
परं त्वस्मिन्नास्ति श्रमफलमिदं यन्निजधिया,
श्रुतीनां युक्तीनामकलि गुरुवाचां च विषयः॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीचरणशिष्य-
श्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायामद्वैतसिद्धौ आत्मनिरूपणं नाम
द्वितीयः परिच्छेदः॥ २॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

गुरुजनों के द्वारा उपदिष्ट एवं ग्रन्थों में विस्पष्टरूप से अवस्थित परकीय वाक्यों का अनुवादमात्र कर दिया है, इसमें मेरा (श्री मधुसूदन सरस्वती का) कोई गुण या दोष नहीं। हाँ, मेरे श्रम का इतना फल अवश्य है कि मैंने अपनी बुद्धि के द्वारा श्रुतियों युक्तियों और गुरुवचनों के रहस्यों का संकलन कर दिया है।

द्वितीयोऽयं परिच्छेदोऽपरो गोविन्दसागरः।
व्यासः सरस्वती चेमे सरिते यत्र संगते॥

स्वामियोगीन्द्रानन्दविरचितायाम् अद्वैतसिद्धिव्याख्यायां
द्वितीयः परिच्छेदः॥ २॥

न्यायामृताद्वैतसिद्धी

[तृतीयः परिच्छेदः]

: १ :

मननिदिध्यासनयोः श्रवणांगत्वविचारः

न्यायामृतम्

श्रीमद्धनुमद्भीममध्वान्तर्गतरामकृष्णवेदव्यासात्मकलक्ष्मीहयग्रीवाय नमः।

नन्वेतदयुक्तं विवरणे श्रवणमंगि, प्रमाणस्य प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानात्। मननिदिध्यासने तु चित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणसंस्कारपरिनिष्पन्नतदेकाग्रवृत्तिकार्यद्वारेण ब्रह्मानुभवहेतुतां प्रपद्येते इति फलतोपकार्यंगे इत्युक्तत्वादिति चेन्न,

यतो विचारः करणं नैव बोधे शब्दप्रमाणजे।
न चायं सन्निपत्यांगं शब्दस्य करणात्मनः॥
करणान्तर्गतो येन विचारो हन्तिवद्भवेत्।
सन्निपात्यपि नैवासौ शेषी मत्यादिकं प्रति॥
अन्यथा हि भवेद्धन्तेः प्रयाजान्प्रति शेषिता।
होषादेश्च यथा भिन्नफले सौभरशेषिता॥
श्रवणादेस्तथा भिन्नफले स्याच्छब्दशेषिता।
तस्मान्न युक्ता मत्यादेः श्रवणं प्रति शेषिता॥

अद्वैतसिद्धिः

तदेवमैकात्म्ये व्यवस्थिते तत्साक्षात्काराय श्रवणमङ्गि, मननिदिध्यासने तदङ्गतया मुमुक्षुभिरनुष्ठेये। तदुक्तं विवरणे—'श्रवणमङ्गि, प्रमाणस्य प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानात्, मननिदिध्यासने तु चित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणसंस्कारपरिनिष्पन्नतदेकाग्रवृत्तिकार्यद्वारेण ब्रह्मानुभवहेतुतां प्रतिपद्येते' इति फलोपकार्यङ्गे। ननु—श्रवणं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रत्यूषस्मरणीयानां स्मरणमेव केवलम्।
साधयत्याशु साध्यानि किमन्यैः श्रवणादिभिः॥

जीव और ब्रह्म की एकता व्यवस्थित हो जाने पर उस ऐक्य का साक्षात्कार करने के लिए मुमुक्षु को सक्षात्कार के प्रधानभूत अङ्ग श्रवण एवं उसके अङ्गभूत मनन और निदिध्यासन का सम्पादन करना चाहिए, जैसा कि विवरणकार ने कहा है—"विशिष्ट शब्दावधारणं (श्रवणं) प्रमेयावगमं प्रति अव्यवधानेन कारणं भवति, प्रमाणस्य प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानात्। मननिदिध्यासने तु चित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणतासंस्कारपरिनिष्पन्नतदेकाग्रप्रवृत्तिकार्यद्वारेण ब्रह्मानुभवहेतुतां प्रतिपद्येते इति फलं प्रत्यव्यवहितस्य करणस्य विशिष्टशब्दावधारणस्य व्यवहिते मननिदिध्यासने तदङ्गेऽङ्गीक्रियेते" (पं० वि० पृ० ४११) [विशिष्ट शब्दावधारणरूप श्रवण ऐक्यरूप प्रमेय के साक्षात्कार का अव्यवहित पूर्ववर्ती होने के कारण प्रमाण (प्रधान अङ्ग) है, क्योंकि प्रमाण सदैव प्रमेयावगम के अव्यवहित पूर्वकाल में रहता है, मनन और निदिध्यासन—दोनों श्रवण-रूप अङ्गी के अङ्ग होते हैं, क्योंकि मनन के द्वारा ब्रह्मजीवैक्यमात्रविषयक संस्कार

न्यायामृतम्

तथा हि न तावच्छ्रवणरूपो विचारः शाब्दज्ञाने करणं वेदेन धर्म इव ब्रह्मणि प्रमीयमाणे विचारस्यानुमानादौ तर्कस्येव शब्दरूपे शब्दज्ञानरूपे वा करणे इतिकर्तव्यमात्रत्वात्। एतेनानुमितौ लिंगज्ञानवत् शाब्दज्ञाने तात्पर्यविशिष्टशब्दज्ञानं करणमिति-विद्यासागरोक्तं निरस्तम्। आकांक्षादियुक्तशब्दज्ञानस्यैव करणत्वसम्भवेऽपि विवरणे अन्योऽन्याश्रयात् शाब्दप्रमाकरणतां निषिध्य तात्पर्यभ्रमरूपप्रतिबन्धनिरासोपक्षीण-तयोक्तस्य तात्पर्यज्ञानस्यापि करणकोटित्वे मननादेरपि तदापत्तेः। किं च तात्पर्यज्ञान-

अद्वैतसिद्धिः

तावद्विचाररूपं शाब्दज्ञाने न करणम्, वेदेन धर्म इव ब्रह्मणि प्रमीयमाणे विचारस्या-नुमानादौ तर्कस्येव शब्दरूपे तज्ज्ञानरूपे वा करणे इतिकर्तव्यमात्रत्वादिति— चेन्न, शब्दशक्तितात्पर्यावधारणं तावद् विचारः। अवधृततात्पर्यकश्च शब्दः करणमिति विचारस्य करणकोटिप्रवेशेनेतिकर्तव्यतात्वाभावाद् अङ्गित्वनिर्णयात्। तदुक्तं विद्या-सागरेण—अनुमितौ लिङ्गज्ञानवत्तात्पर्यविशिष्टशब्दज्ञानं करणम्, अतस्तात्पर्यावधा-रणरूपविचारस्याङ्गित्वम्। न च—आकाङ्क्षादिसहितशब्दज्ञानस्यैव करणत्वसंभवे तात्पर्यभ्रमनिरासोपक्षीणतयोक्ततात्पर्यज्ञानस्य करणकोटिप्रवेशे मननादेरपि तत्कोटि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उत्पन्न किये जाते हैं और निदिध्यासन के द्वारा उन्हीं का दृढीकरण होता है, जिसकी सहायता से मन की तदाकारावगाहिनी वृत्ति का उदय होता है, उस काल में श्रवण के द्वारा ऐक्य-साक्षात्कार उत्पन्न होता है, अतः साक्षात्काररूप फल के व्यवहित या परम्परया उपकारक होने के कारण मनन और निदिध्यासन श्रवणरूप अङ्ग के अङ्ग माने जाते हैं]।

शङ्का—विचाररूप श्रवण को ऐक्यविषयक शाब्द ज्ञान का करण नहीं मान सकते, क्योंकि वैदिक शब्द या शब्द-ज्ञानरूप करण के द्वारा जब धर्म के समान ही ब्रह्म का प्रमा ज्ञान उत्पन्न किया जाता है, तब उसमें विचार को वैसे ही इतिकर्तव्यमात्र (सहायकमात्र) माना जाता है, जैसे अनुमान में तर्क को, [जिस व्यापार की सहायता से करण में कार्य-निष्पादन की क्षमता आती है, उस व्यापार को इतिकर्त्तव्य कहा जाता है, करण नहीं, जैसे उद्यमन-निपातनरूप क्रिया की सहायता से ही कुठार काष्ठ-छेदन करता है, वहाँ कुठार को करण और उद्यमनादि क्रिया को सहायक व्यापार-मात्र कहते हैं, वैसे ही विचार की सहायता से ही विधिवाक्यों के द्वारा धर्म और वेदान्त वाक्यों से जीवब्रह्मैक्यावबोध उत्पन्न किया जाता है, उसमें शब्द या शब्द-विषयक ज्ञान को करण और विचार को इतिकर्त्तव्य ही कहा जाता है]।

समाधान—'विचार' शब्द का अर्थ 'शब्दशक्तिरूप तात्पर्य का अवधारण' होता है, जिस शब्द के तात्पर्य का निश्चय हो जाता है, उस शब्द को ही करण माना जाता है, अतः विचार भी करण-कोटि में प्रविष्ट हो जाता है, वह इतिकर्त्तव्य नहीं अपितु इतिकर्तव्य का अङ्गी होता है, जैसा कि श्रीविद्यासागर ने कहा है—"अनुमितौ लिङ्गज्ञानवत् तात्पर्यविशिष्टज्ञानं करणम्" [जैसे अनुमिति में लिङ्ग-ज्ञान करण होता है, वैसे शाब्द ज्ञान में तात्पर्य-विशिष्ट ज्ञान को करण माना जाता है]।

शङ्का—आकाङ्क्षादि सामग्री से युक्त शब्द-ज्ञान में ही जब करणता सम्भव हो जाती है, तब तात्पर्य ज्ञान का करण-कोटि में प्रवेश व्यर्थ है, क्योंकि वह तो तात्पर्य-

न्यायामृतम्

स्यापि करणत्वे वेदेऽपि तात्पर्यभ्रमसम्भवाद्, बाह्यागमेऽपि तात्पर्यप्रमासम्भवात् शाब्दज्ञानकरणस्य दुष्टत्वादुष्टत्वव्यवस्था न स्यात्। तस्मान्न तात्पर्यज्ञानं करणम्।

अद्वैतसिद्धिः

प्रवेशः स्यादिति—युक्तम्, एवं साकांक्षादिधियोऽपि निराकांक्षत्वादिभ्रमनिरासकत्वमात्रेणोपयोगापत्तौ आकांक्षादिकमपि करणकोटिप्रविष्टं न स्यात्। न चान्योन्याश्रयः, सामान्यतोऽर्थावगमनेन तात्पर्यग्रहसंभवात्। अन्यथा नानार्थादौ विनिगमनादिकं च न स्यात्। तथा च सर्वत्र तात्पर्यज्ञानस्याजनकत्वेऽपि यत्र तात्पर्यसंशयविपर्ययोत्तरं शाब्दधीः, तत्र तात्पर्यज्ञानस्य हेतुता ग्राह्या संशयविपर्ययोत्तरप्रत्यक्षे विशेषदर्शनस्येव। अत एव न विवरणविरोधोऽपि।

ननु—तात्पर्यज्ञानस्य करणकोटिप्रवेशे वेदेऽपि तात्पर्यभ्रमसंभवाद् बाह्यागमेऽपि तात्पर्यप्रमासंभवात् शाब्दज्ञानकरणस्य दुष्टत्वादुष्टत्वव्यवस्था न स्याद् इति—चेन्न, वेदे कदाचित् कस्यचित् कुत्रचित्तात्पर्यभ्रमेऽपि निर्दुष्टत्वेन यथार्थतात्पर्यमस्त्येव, परागमे तु पौरुषेयतया प्रतारणादिमत्पुरुषप्रणीततया दुष्टत्वेन न तथेति दुष्टत्वादुष्टत्व-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भ्रम के निरासमात्र में गतार्थ हो जाता है, अन्यथा मननादि का भी करण-कोटि में प्रवेश मानना पड़ेगा।

समाधान—यदि तात्पर्य-ज्ञान का करण-कोटि में प्रवेश नहीं किया जाता, तब आकाङ्क्षादि का भी करण-कोटि में प्रवेश सम्भव न हो सकेगा, क्योंकि साकाङ्क्षत्वादि का ज्ञान भी निराकांक्षत्वादि-भ्रम की निवृत्ति में ही उपक्षीण हो जाता है।

तात्पर्य-ज्ञान हो जाने पर शाब्द बोध और शाब्द बोध हो जाने पर तात्पर्य-ग्रह—इस प्रकार का अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि तात्पर्य-ग्रह सर्वत्र कारण नहीं होता, अपितु जैसे संशयादि के उत्तरभावी प्रत्यक्ष में ही विशेष-दर्शन अपेक्षित होता है, वैसे ही संशय और विपर्यय के उत्तरभावी शाब्द ज्ञान में ही अपेक्षित होता है। वहाँ भी सामान्यतः अर्थावगम हो जाने मात्र से तात्पर्य-ग्रह हो जाता है, विशेषतः संसर्गावबोध की उसमें अपेक्षा नहीं होती।

शङ्का—यदि तात्पर्य-ज्ञान का तात्पर्य-भ्रम की निवृत्ति के लिए करण-कोटि में प्रवेश माना जाता है, तब वेद में भी तात्पर्य-भ्रम हो सकता है और वेद-बाह्य तैर्थिकों के आगमों में भी तात्पर्य-प्रमा सम्भव है, अतः शाब्दज्ञान के करण में दुष्टत्वादुष्टत्व की व्यवस्था न हो सकेगी।

समाधान—वेद में कदाचित् ही किसी व्यक्ति को कहीं पर तात्पर्य-भ्रम हो जाने पर भी अपौरुषेय वेद के सर्वथा निर्दुष्ट होने के कारण यथार्थ तात्पर्य निश्चित है, किन्तु अन्य बाह्य आगम पौरुषेय माने जाते हैं, वञ्चनादि की भावना से भी पुरुष उनका प्रणयन कर सकता है, अतः वे दुष्ट हैं, उनसे यथार्थ तात्पर्य-ज्ञान सम्भव नहीं, इस प्रकार दुष्टत्वादुष्टत्व की व्यवस्था हो जाती है, फलतः जैसे याग में अवघातादि क्रियाओं को सन्निपत्य उपकारक माना जाता है [करणीभूत, द्रव्य और देवता से दूर (आरात्) रह कर उपकारक अङ्ग को आरादुपकारक कहा जाता है, जैसे दर्शपूर्णमास याग में प्रयाजादि, किन्तु द्रव्य और देवता के साथ सन्निपत्य (सटकर) उपकार करनेवाले अवघातादि व्यापारों को सन्निपत्य उपकारक मानते हैं, क्योंकि अवघात व्रीहिरूप द्रव्य

न्यायामृतम्

न चाकरणमपि तद्यागस्यावघातादिकमिव शब्दस्य सन्निपत्योपकारकं येन करणकोटिनिविष्टं स्यात्। तद्वत्करणीयद्रव्यशेषत्वादेरभावात्।

किं च सन्निपत्योपकारकत्वेऽपि न फलोपकारकमनानिदिध्यासनरूपांगं प्रति शेषिता, अन्यथाऽवघातादिः प्रयाजादिं प्रति शेषी स्यात्। एतेन करणभूतशब्दगतातिशयहेतुत्वाच्छ्रवणस्य करणत्वेनांगित्वं मननिदिध्यासनयोस्तु सह(का)चारिभूतचित्तगतातिशयहेतुत्वाच्छ्रवणे फलोपकार्यंगतेति चित्सुखोक्तं प्रत्युक्तम्, सोमयागसहकारिभूतदीक्षणीयाद्यंगत्वेन तद्गतातिशयहेतोः प्रयाजप्रोक्षणादेः सोमयागे सन्निपत्यांगत्वेन तद्गतातिशयहेत्वभिषवग्रहणादिकं प्रत्यंगत्वप्रसंगात्। गोणांगत्वं

अद्वैतसिद्धिः

व्यवस्थासंभवात्। तात्पर्यांशस्यावघातादेरिव यागे शब्दे सन्निपत्योपकारकतया करणकोटिप्रविष्टत्वेनाङ्गित्वम्। न च दृष्टान्ते करणद्रव्यशेषत्वात् तथा, सर्वसाम्यस्य दृष्टान्तत्वाप्रयोजकत्वात्। ननु –सन्निपत्योपकारकत्वेऽपि न फलोपकारकमनननिदिध्यासनरूपाङ्गं प्रति शेषिता, अन्यथा प्रयाजादिकं प्रत्यवघातादिः शेषी स्यादिति— चेन्न, विशिष्टयागप्रविष्टतया शेषित्वे इष्टापत्तेः; असाधारण्येन शेषिता तु असाधारणफलोपकारकत्वे स्यात्, असंभावनाविशेषनिवृत्तिरूपासाधारणोपकारजनकत्वात् सापि श्रवणस्य संभावितैव। अत एवोक्तं चित्सुखाचार्यैः—'करणीभूतशब्दगतातिशयहेतुत्वात् श्रवणस्य करणत्वेनाङ्गित्वम्, मनननिदिध्यासनयोस्तु सहकारिभूतचित्तगतातिशयहेतुत्वाद् फलोपकार्यङ्गते'ति। न च –एवं सोमयागसहकारिभूतदीक्षणीयाद्यङ्गस्य तद्गतातिशयहेत्वभिषवग्रहणादिकं प्रत्यङ्गत्वप्रसङ्ग इति—वाच्यम्, पूर्ववदु-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

से सटकर व्रीहि (धान) के छिलके उतार देता है, वैसे ही शब्द बोध के करणीभूत पद या पद-ज्ञान के समीप आकर (उसका विशेषण बनकर) उपकारक होने के कारण तात्पर्यज्ञान को सन्निपत्योपकारक कहते हैं]। दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में इतना अन्तर अवश्य है कि अवघात व्रीहिरूप द्रव्य का सन्निपतन करता है, किन्तु तात्पर्यग्रह करणीभूत पद या पद-ज्ञान का, दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में सर्वथा साम्य विवक्षित नहीं।

शङ्का—तात्पर्य अंश को सन्निपत्य उपकारक मान लेने पर भी फलोपकारकीभूत मनन और निदिध्यासन के प्रति तात्पर्य में अङ्गिता (प्रधानता) या शेषिता वैसे ही नहीं मानी जा सकतो, जैसे कि प्रयाजादि के प्रति अवघातादि में।

समाधान-साधारणरूप से उपकारक पदार्थ को भी अङ्गी मानने पर अवघातादि में भी प्रयाजादि की अङ्गिता (प्रधानता) मानी जा सकती है, किन्तु विशेषतया उपकारक को अङ्गी मानने पर नहीं, किन्तु श्रवण असम्भावना-निवृत्तिरूप विशेषता के कारण अङ्गी और मनन-निदिध्यासन उसके अङ्ग माने जा सकते हैं। अत एव श्रीचित्सुखाचार्य ने कहा है—"करणीभूतशब्दगतातिशयहेतुत्वात् श्रवणस्य करणत्वेनाङ्गित्वम्, मनननिदिध्यासनयोस्तु सहकारिभूतचित्तगतातिशयहेतुत्वात् फलोपकार्यङ्गता" (चित्सु० पृ० ५३२)।

शङ्का—यदि करणगत अतिशय के आधायक पदार्थ को अङ्गि माना जाता है, तब "सोममभिषुणोति"—इस वाक्य से विहित सोमाभिषव (सोम-रस निकालना) भी करणीभूत सोमगत अतिशय का आधायक होने के कारण 'ज्योतिष्टोम' याग के अङ्गभूत दीक्षणीयादि इष्टियों के प्रति प्रधान हो जायगा।

न्यायामृतम्

त्वनंगत्वे पर्यवस्यति। एतेन करणीभूतशब्दधर्मशक्तितात्पर्यविषयत्वाच्छ्रवणस्य करणान्तर्भावेनांगित्वमिति तत्त्वशुद्ध्युक्तं निरस्तम्।

किं च शब्देनापरोक्षज्ञप्तावप्रतिबद्धापरोक्षज्ञप्तौ वोत्पाद्यायां मनननिदिध्यासनयोरिवापरोक्षज्ञप्तौ प्रतिबद्धापरोक्षज्ञप्तौ वोत्पाद्यायां श्रवणस्याप्यपेक्षितत्वात् त्रयाणामपि शब्दं प्रति फलोपकार्यंगत्वे कथं परस्परमंगांगिभावः? अन्यथा "यो वृष्टिकामो योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः स सौभरेण स्तुवीत, हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्याद् ऊर्गित्यन्नाद्यकामाय ऊ इति स्वर्गकामाय"—इतिश्रुतानां वृष्ट्यादिफलाय सौभरेतिकर्तव्य-

अद्वैतसिद्धिः

कोत्तरत्वात्। तदुक्तं तत्त्वशुद्धौ—'करणीभूतशब्दधर्मशक्तितात्पर्यविषयत्वात् श्रवणस्य करणान्तर्भावेनाङ्गित्व' मिति।

न च—शब्देनापरोक्षज्ञप्तौ अप्रतिरुद्धापरोक्षज्ञप्तौ चोत्पाद्यायां मनननिदिध्यासनयोरिव परोक्षज्ञप्तावप्रतिरुद्धपरोक्षज्ञप्तौ चोत्पाद्यायां श्रवणस्याप्यपेक्षिततया त्रयाणामपि फलोपकार्यङ्गत्वमेवेति कथं परस्पराङ्गाङ्गिभाव इति—वाच्यम्, मनननिदिध्यासने फले जनयितव्ये शब्दस्य सहकारित्वं सम्पादयतः श्रवणं तु तस्य जनकतामेवेति विशेषात्। यत्र च नैवं, तत्र तुल्यवदङ्गतैव। एतेन—"यो वृष्टिकामो योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः स सौभरेण स्तुवीत, हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्याद् ऊर्गित्यन्नाद्यकामाय ऊ इति स्वर्गकामाये'ति श्रुतानां वृष्ट्यादिफलाय सौभरेतिकर्त-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—पूर्वोक्त प्रयाज और अवघातादि के समान ही यहाँ भी साधारणतया विशिष्ट याग में प्रवेश होने के कारण अङ्गित्व मानने पर इष्टापत्ति है, अन्यथा नहीं, जैसा कि तत्त्वशुद्धिकार ने कहा है—करणीभूतशब्दधर्मशक्तितात्पर्यविषयत्वात् श्रवणस्य करणान्तर्भावेनाङ्गित्वम्"।

शङ्का—जैसे शब्द के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान या प्रतिबन्धाभाव-विशिष्ट अपरोक्ष ज्ञान के उत्पादन में शब्द को मनन और निदिध्यासन की अपेक्षा होती है, वैसे ही परोक्ष ज्ञान या अप्रतिबद्ध परोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में शब्दरूप करण श्रवण की अपेक्षा करता है, अतः श्रवण, मनन और निदिध्यासन में समान रूप से फलोपकार्यङ्गत्व सिद्ध होता है, इनमें परस्पर अङ्गाङ्गिभाव क्योंकर सिद्ध होगा?

समाधान—श्रवण और मननादि में यह अन्तर है कि ज्ञानरूप फल की उत्पादन प्रक्रिया में मनन और निदिध्यासन शब्दरूप करण के सहायक का ही सम्पादन करते हैं, किन्तु श्रवण शब्दरूप करण में जनकता का सम्पादन करता है, अर्थात् शब्द श्रवणमात्र से परोक्ष ज्ञान उत्पन्न कर देता है, किन्तु मनन और निदिध्यासन मात्र के अनुष्ठान से अश्रुत शब्द अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता। जहाँ पर ऐसा वैषम्य उपलब्ध नहीं होता, वहाँ समानरूप से ही अङ्गभाव माना जाता है।

शङ्का—समानरूप से फलोपकारिता होने पर भी यदि श्रवण और मननादि में परस्पर अङ्गाङ्गिभाव माना जाता है, तब "यो वृष्टिकामो योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः, स सौभरेण स्तुवीत—हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात्, ऊर्गित्यन्नाद्यकामाय, ऊ-इति स्वर्गकामाय" (तां० ब्रा० ८।८।१८) [प्रत्येक साम के सात भाग माने जाते हैं—(१) हिङ्कारः, (२) प्रस्तावः, (३) उद्गीथः, (४) ओंकारः, (५) प्रतिहारः,

न्यायामृतम्

ताभूतानां निधनगतहीषादीनां परस्परमंगांगिभावः स्यात्। करणापूर्वोत्पत्तौ च यागार्थस्यावघातादेः परमापूर्वोत्पत्तौ तदर्थप्रयाजादिः शेषः स्यात्। क्लृप्तं च परोक्षज्ञानं लोके शब्दफलम्। न चाकरणमपि श्रवणं प्रति निदिध्यासनस्यांगत्वे श्रुतिवाक्ये स्तः।

अद्वैतसिद्धिः

व्यतानिधनगतहीषादीनां श्रवणमननादिवत् परस्परमङ्गाङ्गिभावप्रसङ्ग इति—निरस्तम्, करणस्वरूपसंपादकत्वसहकारिसंपादकत्वरूपतत्प्रयोजकस्यात्रेव तत्राभावात्। न च—एवं करणापूर्वोत्पत्तौ यागार्थस्यावघातादेः परमापूर्वोत्पत्तौ तदर्थः प्रयाजादिः शेषः स्यादिति—वाच्यम्, एकफल उभयोर्यागार्थत्वाभावेन विशेषात्। ननु—क्लृप्तं परोक्षज्ञानं लोके शब्दस्य फलम्। तथा च शब्दातिशयाधायकस्य श्रवणस्य साक्षात्कारफलज-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(६) उपद्रवः, (७) निधनम्। यहाँ पर 'सौभर' एक सामविशेष की संज्ञा है। सौभर साम से साध्य स्तोत्र के द्वारा जायमान वृष्टि, अन्नाद्य और स्वर्गरूप फलों के उत्पादन में व्यवस्था की गई है कि वृष्टि रूप फल की निष्पत्ति के लिए 'हीष्' शब्दोच्चारणपूर्वक निधन भाग का गान करे, अन्नाद्य के लिए 'ऊर्क्' एवं स्वर्ग के लिए 'ऊ' शब्द का उच्चारण करते हुए निधनसंज्ञक भक्ति का गान करना चाहिए] इस श्रुति के द्वारा सौभरगत इतिकर्त्तव्यता सम्पादनार्थ निधनसंज्ञक भाग में हीषादि विहित हैं, अतः हीषादि में भी श्रवणादि के समान अङ्गाङ्गिभाव होना चाहिए।

समाधान—यह कहा जा चुका है कि श्रवण शब्दरूप करणगत जनकता या करणता का सम्पादक है और मनन-निदिध्यासन करण के सहकारी पदार्थ का सम्पादन करते हैं—इस विशेषता के कारण श्रवणादि में परस्पर अङ्गाङ्गिभाव माना जाता है, किन्तु हीषादि में यह विशेषता न होने के कारण समभाव से ही अङ्गता मानी जाती है।

शङ्का—करण के जनकत्वरूप स्वरूप का सम्पादन करने के कारण यदि श्रवण को अङ्गी और करण की किसी सहायक सामग्री के उपस्थापक को यदि अङ्ग माना जाता है, तब अवघात को अङ्गी और प्रयाजादि को अङ्ग मानना होगा, क्योंकि यागरूप करण के [दो स्वरूप माने जाते हैं—(१) द्रव्य और (२) देवता, किसी देवता के उद्देश्य से द्रव्यत्याग का नाम ही याग होता है, अतः याग के] द्रव्यात्मक स्वरूप का सम्पादक अवघात (कूटना) है, क्योंकि धानों को ओखली में कूटा जाता है, उससे निकले चावलों को पीस कर पुरोडाश बनाते हैं, वही याग का द्रव्य होता है।

समाधान—श्रवण और मनन एक ही साक्षात्काररूप फल के उद्देश्य से क्रमशः करणत्व-सम्पादक एवं सहकारिसम्पादक होने के कारण अङ्गी और अङ्ग माने जाते हैं, किन्तु प्रयाज और अवघात में यह बात नहीं, क्योंकि प्रयाज परमापूर्वरूप फल के करणीभूत उत्पत्त्यपूर्वक के सहायक अङ्गापूर्व का उपस्थापक एवं अवघात उत्पत्त्यपूर्वरूप फल के उद्देश्य से करणस्वरूप का सम्पादक होता है, समान फल के उद्देश्य से नहीं, अतः प्रयाज और अवघातादि में अङ्गाङ्गिभाव नहीं हो सकता।

शङ्का—लोक में शब्द को परोक्ष ज्ञानरूप फल का ही जनक माना जाता है प्रत्यक्ष ज्ञान का जनक नहीं, तब शब्द के सहायक (शब्दगत अतिशय के जनक) श्रवण में साक्षात्काररूप फल की जनकता क्योंकर होगी?

न्यायामृतम्

लिंगं तु विपरीतम् । नापि प्रकरणम्, श्रवणस्य फलासम्बन्धेन प्राधान्यासिद्धावितिकर्तव्यताकांक्षायोगात् । स्थानसमाख्ये त्वसम्भाविते ।

किं च तात्पर्यज्ञानस्य शाब्दप्रमाहेतुतायास्त्वया निषेधात्तदर्थस्य विचारस्य कथं प्रमाफलम्, येन मननादेः फलोपकार्यंगता स्यात् । यच्चोक्तं मननस्य चित्तैकाग्रयायोग्यत्वरूपासम्भावनानिरसनं द्वारं निदिध्यासनस्य तु विपरीतसंस्काररूपविपरीतभावनानिरसनं द्वारमिति । तन्न, सूक्ष्मवस्तुज्ञाने चित्तैकाग्रयस्य हेतुत्वे दृष्टेऽपि

अद्वैतसिद्धिः

नकाङ्गित्वं कथमिति—चेत्, साक्षात्त्वं न जातिः न वा इन्द्रियजन्यत्वादिकं नियामकम्, किंतु विषयगताज्ञाननिवर्तकत्वमेवापरोक्षत्वे प्रयोजकम् । तथा चाज्ञाननिवर्तकत्वं विषयपर्यन्तत्वेन । तच्चात्मपर्यन्तत्वादत्रास्त्येवेति नादृष्टकल्पना । इत्थं च प्रकरणबलादपि सिद्धमस्याङ्गित्वम्, श्रवणस्य फलसंबन्धेन प्राधान्यसिद्धावितिकर्तव्यताकाङ्क्षायाः संभवात् ।

ननु—यद्यपि चित्तैकाग्रयस्य सूक्ष्मवस्तुज्ञानहेतुत्वं दृष्टमस्ति, तथापि मननं न

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—ज्ञानगत 'साक्षात्त्व' धर्म को कोई जातिरूप नहीं माना जाता और न इन्द्रिय-जन्यत्वादि को उसका प्रयोजक कहा जाता है, कि शब्द-जन्य ज्ञान में उसे न माना जा सके । यहाँ विषयगत अज्ञान के निवर्तक ज्ञान को साक्षात्कार या प्रत्यक्ष माना जाता है, वह विषय-संसृष्टाज्ञान-निवर्तकत्व शब्द-जन्य ज्ञान में भी है, क्योंकि आत्मविषयक श्रवण के द्वारा उत्पादित ज्ञान भी आत्मविषयक अज्ञान का विर्तक माना जाता है, अतः यह भी साक्षात्कार या प्रत्यक्ष कहलाता है, श्रवण-जन्य शब्दगत किसी अदृष्ट धर्म की कल्पना नहीं मानी जाती ।

इसी प्रकार उभयाकांक्षात्मक प्रकरण प्रमाण के बल पर भी श्रवण में अङ्गित्व (प्राधान्य) सिद्ध होता है [सभी कार्यों में मूलभूत तीन जिज्ञासायें होती हैं—किं कार्यम् ? केन कार्यम् ? कथं कार्यम् ? "आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः" (बृह० उ० २।४।६) यहाँ पर किं कार्यम् ? इस प्रथम प्रश्न का उत्तर है—आत्मा द्रष्टव्यः (साक्षात्कर्त्तव्यः) । केन कार्यम् ? इस द्वितीय प्रश्न का उत्तर है—आत्मा श्रोतव्यः (श्रवणेन साक्षात्कर्तव्यः) । कथं कार्यम् ? इस तृतीय प्रश्न का उत्तर है—मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (मनननिदिध्यासनसाहाय्येन)] । मनन और निदिध्यासनरूप इति-कर्तव्य का लाभ करने के लिए कथंभावाकांक्षा तभी उठ सकती है, जब कि उससे पहले करणाकांक्षा में श्रवण का साक्षात्काररूप फल के साथ अन्वय सम्पन्न हो जाय, करण को अंगी और सहायक व्यापार को सदैव अंग ही माना जाता है, क्योंकि मनननिदिध्यासनाभ्यां किं कार्यम् ? इस प्रकार अंगी की आकांक्षा में श्रवण का ही समर्पण किया जाता है—मनननिदिध्यासनाभ्यां श्रवणं भावयेत् [आशय यह है कि मनन और निदिध्यासन के द्वारा एकाग्र किए गए चित्त में ही श्रवण के द्वारा आत्मसाक्षात्कार उत्पन्न होता है] ।

शङ्का—[आप (अद्वैती) का जो यह कहना है कि मनन चित्तगत एकाग्रतासम्पादन के द्वारा असम्भावना को निवृत्त कर आत्मसाक्षात्कार में उपयोगी होता है और निदिध्यासन विपरीत भावना-निवृत्तिपूर्वक साक्षात्कार में सहायक होता है, वह

न्यायामृतम

युक्त्यनुसन्धानरूपमननस्यायुक्तत्वशंकानिवर्तकताया एव दृष्टत्वेन तद्रहिते उक्तायोग्यत्वशंकानिवर्तकताया अदृष्टत्वेन च दृष्टहानाद्यापातात् । मननविधेरपूर्वविधित्वापाताच्च । "मतिर्यावदयुक्तते"त्यादिस्मृतिविरोधाच्च । निदिध्यासनस्य तु विपरीतसंस्कारनिवर्तकत्वे दृष्टेऽपि तन्निवृत्तेर्न ज्ञानहेतुता दृष्टा, रूप्यसंस्कारानुवृत्तावपि शुक्तिसाक्षात्कारदर्शनात् । तस्माच्छ्रवणसामर्थ्यरूपलिंगेन "ततस्तु तं पश्यते निष्कलं

अद्वैतसिद्धिः

चित्तैकाग्र्यहेतुः युक्त्यनुसन्धानरूपमननस्यायुक्तत्वशङ्कानिवर्तकताया एव दृष्टत्वेन चित्तैकाग्र्यहेतुत्वकल्पने सति दृष्टहान्यापत्तेः मननविधेरपूर्वविधित्वापाताच्च 'मतिर्यावदयुक्तते'ति स्मृतिविरोधाच्चेति—चेन्न, तादृक्छंकाया सत्यां नानाकोटौ चित्तविक्षेपस्य तस्याश्च निवृत्तौ युक्तत्वेनावधारणविषयकोटौ चित्तप्रवणतायास्तावत्पर्यन्तत्वस्य दृष्टत्वेन दृष्टहान्यापूर्वविधिस्मृतिविरोधाभावात् निदिध्यासनस्य तु विपरीतभावनानिवर्तकता सकलसिद्धा । ननु—तन्निवृत्तेः न ज्ञानहेतुता दृष्टा रूप्यसंस्कारानुवृत्तावपि शुक्तिसाक्षात्कारदर्शनादिति—चेत् , 'इयं शुक्ति'रिति ज्ञानानन्तरं तद्रजततया ज्ञातमिति स्मृतेर्ज्ञानगोचरसंस्कारसत्त्वेऽपि तद्रजतमित्यस्मरणेन विपरीतसंस्कारनिवृत्तेस्तत्रापि सत्त्वात् ।

ननु—शब्दसामर्थ्यरूपेण लिङ्गेन 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान'इत्यादि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कहना उचित नहीं, क्योंकि] यद्यपि चित्त की एकाग्रता सूक्ष्म वस्तु के ज्ञान का कारण होती है, तथापि मनन चित्तैकाग्रता का हेतु नहीं होता, क्योंकि युक्त्यनुन्धानरूप मनन के द्वारा प्रतिपाद्यगत अयुक्तत्व की शङ्का का निराकरण ही देखा जाता है, ऐकाग्र्य की उत्पत्ति नहीं, वैसी कल्पना करने पर दृष्ट की हानि और अदृष्ट का कल्पना करनी होगी, मननविधि मननगत ऐकाग्र्य-जनकत्वरूप अज्ञात अर्थ की समर्पिका होने के कारण अपूर्व विधि माननी होगी, एवं 'मतिर्यावदयुक्तता'—इस स्मृति-वाक्य का भी विरोध होगा, क्योंकि इस वाक्य में मति (मनन) में अयुक्तत्व-शङ्का-निवर्त्तकत्व ही कहा गया है, ऐकाग्र्य जनकत्व नहीं ।

समाधान—अयुक्तत्व-शङ्का के रहने पर चित्त विविध कोटियों में बँटा विक्षिप्त-सा रहता है, उस शङ्का के निवृत्त हो जाने पर एकमात्र विषय-कोटि में युक्तत्वावधारणपूर्वक चित्त समाहित-सा होता देखा जाता है, अतः उक्त तीनों दोष प्रसक्त नहीं होते ।

शङ्का—निदिध्यासन में तो विपरीत भावना-निवर्तकत्व सर्व-सम्मत ही है, किन्तु ज्ञान की उत्पत्ति के लिए विपरीत भावना (विपरीत संस्कारों) का निवृत्त होना आवश्यक नहीं, क्योंकि शुक्ति में रजतविषयक विपरीत संस्कारों के रहने पर भी शुक्ति का साक्षात्कार देखा जाता है ।

समाधान—जहाँ शुक्ति का साक्षात्कार होता है, वहाँ भी 'इयं शुक्तिः'—ऐसे ज्ञान के अनन्तर 'तद् रजततया ज्ञातम्'—इस प्रकार ज्ञान की स्मृति होती है, अतः ज्ञानविषयक संस्कारों के रहने पर भी 'तद् रजतम्'—इस प्रकार का स्मरण न होने के कारण विपरीत संस्कारों की निवृत्ति अवश्य होती है ।

शङ्का—["सामर्थ्यं सर्वभावानां लिंगमित्यभिधीयते" इस वृद्धोक्ति के अनुसार

न्यायामृतम्

ध्यायमान" इत्यादि वाक्येन निदिध्यासनस्य फलसम्बन्धात् प्रकरणेन च श्रवणादिकं निदिध्यासने सन्निपात्यंगम्। युक्तश्च विप्रकृष्टात्फलोपकारात् सन्निकृष्टः स्वरूपोपकारः। अत एव नवमे पार्वणहोमयोरारादुपकारकत्वत्यागेन सन्निपत्योपकारकतोक्ता। न च "द्रष्टव्यः श्रोतव्य" इति दर्शनाव्यवहितपाठरूपसन्निधानाच्छ्रवणस्य दर्शनान्वयः। सन्निधानस्य लिंगादितो दुर्बलत्वात्। किं च "श्रुत्वा मत्वा तथा ध्यात्वा तदज्ञानविपर्ययौ। संशयं च पराणुद्य लभते ब्रह्मदर्शन" मिति स्मृत्या श्रवणस्याज्ञाननिवृत्तिद्वारा, मननस्य तु संशयविपर्ययनिवृत्तिद्वारा परोक्षतत्त्वनिश्चयसाध्ये साक्षात्कारफलके निदिध्यासनेऽगताऽसिद्धा। तदुक्तम्—

अपरोक्षदृशिश्चैव श्रवणान्मननादनु।
सम्यङ्निश्चिततत्त्वस्य निदिध्यासनया भवेत्॥ इति।

उक्तं च सुधायां "निदिध्यासनं ब्रह्मदर्शनसाधनं तत्सिद्धये श्रवणमनने अपि कर्तव्ये" इति। न च भावनाप्रकर्षजन्यत्वेन साक्षात्कारस्य कामुकस्य कामिनीसाक्षात्कारवद-

अद्वैतसिद्धिः

वाक्येन निदिध्यासनस्य फलसंबन्धात् प्रकरणेन च श्रवणादिकं निदिध्यासने सन्निपत्याङ्गमिति—चेन्न, निदिध्यासनपदस्य बर्हिर्देवसदनमित्यादाविव साक्षात्काररूपफलसम्बन्धे न शक्तिरिति शब्दसामर्थ्याभावात्। वाक्येऽपि योग्यताबलाच्छ्रवणमेवाध्याह्रियते। तथा च तच्छ्रवणाद्ध्यायमानो निष्कलं ब्रह्म पश्यतीत्यनुकूलार्थस्यैव पर्यवसानात्। तस्माद् "द्रष्टव्यः श्रोतव्य' इति दर्शनेनाव्यवहितपाठरूपसन्निधानात् श्रवणस्य दर्शनेन साक्षादन्वयादङ्गित्वम्। किंच निदिध्यासनरूपभावनाप्रकर्षजन्यत्वे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शक्ति या योग्यतारूप लिंग प्रमाण दो प्रकार का होता है—(१) शब्द-सामर्थ्य (शब्दगत अभिधा शक्ति) और (२) अर्थ-सामर्थ्य (स्रुवादि पदार्थों में घृतावदान-योग्यता) इन में से] शब्द-सामर्थ्यरूप लिंग प्रमाण के द्वारा निदिध्यासन में आत्मसक्षात्काररूप फल की जनकता सिद्ध होती हैं, क्योंकि "ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" (मुं० ३।१।३) यह वाक्य ध्यानरूप निदिध्यासन के द्वारा आत्मदर्शन की उत्पत्ति का प्रतिपादन करता है और प्रकरण प्रमाण के द्वारा श्रवण में निदिध्यासन की अंगता (सन्निपत्यांगता) अवगत होती है।

समाधान—यहाँ शब्द-सामर्थ्य से पद-सामर्थ्य विवक्षित है? अथवा वाक्य-सामर्थ्य? "निदिध्यासितव्य":— यह पद तो निदिध्यासनगत साक्षात्कार-जनकत्वरूप अर्थ का प्रतिपादक नहीं, अतः "बर्हिर्देवसदनं दामि" (मै० सं० १।१।२) इस मन्त्र के घटक 'दामि' पद का बर्हिर्लवन में सामर्थ्य माना जाता है, वैसा 'निदिध्यासन' पद में उक्त सामर्थ्य सम्भव नहीं। दूसरे वाक्य-सामर्थ्य से तो श्रवण में भी साक्षात्कार-हेतुता का लाभ हो जाता है, क्योंकि 'ततस्तु तं पश्यते'—इस वाक्य में 'ततः' पद का 'श्रवणतः' अर्थ किया जा सकता है या वहाँ श्रवण का अध्याहार किया जा सकता है, अतः उक्त श्रुति-वाक्य का 'तच्छ्रवणाद् ध्यायमानो निष्कलं ब्रह्म पश्यति'—ऐसे अनुकूल अर्थ में ही पर्यवसान हो जाता है। "द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'—इस प्रकार अव्यवहित पद-पाठ के द्वारा श्रवण का ही साक्षात्कार के साथ अन्वय न्याय-संगत है, अतः श्रवण अंगी और मननादि उस के अंग सिद्ध होते हैं।

न्यायामृतम्

प्रमा(ण)त्वापातः, त्वयापि—

वेदान्तवाक्यजज्ञानभावनाजापरोक्षधीः ।
मूलप्रमाणदार्ढ्येन प्रामाण्यं प्रतिपद्यते ॥ इत्युक्तेः ।

न निदिध्यासनस्य प्रमाकरणत्वमसिद्धमिति वाच्यम् , त्वया प्रतिबन्धनिरासकत्वेनोक्तस्य श्रवणस्यापि तदसिद्धेः । निदिध्यासनानन्तरं पुनरनुस्मृतः शब्द एव करणं निदिध्यासनं तु तत्सहकारि श्रवणादि तु निदिध्यासनांगमिति सम्भवाच्च । अथवा श्रवणाद्यंगकनिदिध्यासनमपरोक्षज्ञानकरणमनः सहकारि । तस्मात्—

ध्याने श्रुत्यादिभिः साक्षा त्काररूपफलान्विते ।
मननश्रवणे अंगे निरस्याज्ञानसंशयौ ॥
न तु विवरणमत इव श्रवणमंगि निदिध्यासनादिकं तु तदंगमिति ।
मनननिदिध्यासनयोर्विवरणोक्तश्रवणांगत्वभंगः ॥ १ ॥

अद्वैतसिद्धिः

साक्षात्कारस्य कामिनीसाक्षात्कारवत् अप्रमात्वापातः । न च मूलप्रमाणदार्ढ्यात् प्रमात्वं, तर्हि तदेव साक्षात् करणमस्तु ? किं तदुपजीविनान्येन ? एतेन—निदिध्यासनसहकृतमनःकरणत्वमपि—निरस्तम् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वम् ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि यदि-निदिध्यासनरूप भावना के प्रकर्ष से आत्मसाक्षात्कार माना जाता है, तब वह कामिनी-साक्षात्कार के समान ही अप्रमात्मक हो जायगा। यदि निदिध्यासन-प्रतिपादक वेद-वाक्य रूप मूल की दृढ़ता एवं निर्दोषता के कारण उक्त साक्षात्कार में अप्रमात्व की प्रसक्ति नहीं होती, तब मूलरूप वेद को ही साक्षात्कार का करण मान लेना चाहिए, उस का बल पाकर कथंचित खड़े निदिध्यासन को करण मानने की क्या आवश्यकता ? अत एव निदिध्यासन-सहकृत मन में भी साक्षात्कार की करणता निरस्त हो जाती है, क्योंकि उक्त वाक्य के द्वारा श्रवण में ही साक्षात्कार की करणता सिद्ध होती है, मन आदि में नहीं।

: २ :

श्रवणादिवाक्यस्य नियमविधित्वविचारः

न्यायामृतम्

यच्चोक्तं विवरणे श्रवणादीनां विषयावगमं प्रत्यन्वयव्यतिरेकसिद्धोपायत्वादिना तद्विधेरपूर्वसंख्याविधित्वायोगेन नियमविधित्वमिति। तन्न, यतः

श्रवणं ह्यापरोक्ष्याय त्वन्मते श्रवणेन च।
नापरोक्ष्यं क्वचिद्दृष्टं तेनापूर्वविधिर्भवेत्॥

तथा हि त्वन्मते परोक्षज्ञाने कामनाभावात् तत्कामस्य विचारविध्यनधिकारित्वेन परोक्षज्ञानं प्रति साधनत्वेन विचारविधानायोगात् त्वदभिप्रेतायाश्चापरोक्षज्ञानं प्रति-विचारसाधनताया अत्यन्ताप्राप्तत्वेनापूर्वविधित्वमेव युक्तम्। ननु गान्धर्वशास्त्रादि-विचारस्य षड्ज़ादिसाक्षात्कारहेतुता क्लृप्तेति चेन्न, न तावद्विचार्यशास्त्रार्थसाक्षात्कारे स हेतुः क्लृप्तः। कर्मकाण्डविचारेण तदर्थसाक्षात्कारादर्शनात्। आत्मनो-

अद्वैतसिद्धिः

तच्च श्रवणादिकं विषयावगमं प्रत्यन्वयव्यतिरेकसिद्धोपाय इति तद्विधेर्नापूर्वविधित्वम्, किंतु नियमविधित्वमेव। ननु—अत्र श्रवणस्यापरोक्षफलं प्रति साधनत्वम्, तच्चान्यतो नावगतमित्यपूर्वविधित्वमिति चेन्न, गान्धर्वशास्त्रविचारे षड्ज़ादिसाक्षात्कारे हेतुताया दृष्टत्वात्। न च—एतावता शास्त्रविचारः सर्वत्रार्थसाक्षात्कारहेतुरिति न सिद्धम्, धर्मशास्त्रविचारे व्यभिचारादिति—वाच्यम्, अपरोक्षार्थकशास्त्रविचारत्वेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

[विधि वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) अपूर्व विधि, (२) नियम विधि और (३) परिसंख्या विधि। प्रमाणान्तर से अनधिगत अर्थ के विधायक "अग्निहोत्रं जुहोति" (मै० सं० १।८।७) इत्यादि वाक्यों को अपूर्व विधि, पाक्षिक अप्राप्त अर्थ के विधायक "व्रीहीनवहन्ति"—इत्यादि वाक्यों को नियम विधि और इतरनिवृत्तिफलक वाक्यों को परिसंख्या विधि माना जाता है, जैसे "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः" (बाल्मीकि० किष्कि० १७।३९) इत्यादि वाक्य, क्योंकि वहाँ बालि का कहना है कि पाँच नखवाले प्राणियों में वानर भक्ष्य नहीं, अतः मुझे क्यों मारा ? इनमें] श्रवण-विधि को अपूर्व विधि नहीं माना जा सकता, क्योंकि लोक-प्रसिद्ध अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ही श्रवणादि में साक्षात्कार की हेतुता अधिगत हो जाती हैं, अतः श्रवण-विधि को अत्यन्त अनधिगत अर्थ का बोधक नहीं कहा जा सकता, फलतः 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः"—इस वाक्य को नियम विधि मानना उचित है।

शङ्का—श्रवण-विधि को अपूर्व विधि ही मानना चाहिए, क्योंकि इसके द्वारा विधेय है—'श्रवणनिष्ठ अपरोक्षज्ञान-साधनत्व', वह अन्य किसी प्रमाण से अधिगत नहीं।

समाधान—षड्जादि स्वर-प्रकारों के प्रतिपादक गन्धर्व-शास्त्र के सविधि श्रवण में षड्जादि के साक्षात्कार की साधनता प्रत्यक्ष-सिद्ध है। यद्यपि इतने मात्र से 'यो यः शास्त्रश्रवणादिरूपविचारः, स स शास्त्रप्रतिपाद्यार्थसाक्षात्कारजनकः'—ऐसी सर्वोपसंहारिणी व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि धर्मप्रतिपादक शास्त्र के श्रवण में धर्म के साक्षात्कार की साधनता सम्भव नहीं, अर्थात् "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (जै. सू. १।१।२) इस सूत्र में धर्म को विधि वाक्य मात्र से समधिगम्य माना गया है, प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय ही नहीं माना गया—"ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्माद् नेन्द्रियगोचरः"

न्यायामृतम्

परोक्षत्वात्तद्विचारस्तथा कर्माणि तु नैवमिति चेन्न, अपरोक्षे विचारवैयर्थ्यात् । न हि यो योऽपरोक्षः, स स विचार्यते । नापि विचारेण वा विचार्यशास्त्रेण वा जन्यसाक्षात्कारे स हेतुः क्लृप्तः आत्मसाक्षात्कारोद्देशेन शास्त्रविचारविधिं विनात्मसाक्षात्कारस्य शास्त्रविचारजन्यत्वानिश्चयात् । नापि विचार्यशास्त्रार्थस्य साक्षात्कारयोग्यस्य साक्षात्कारे स हेतुः क्लृप्तः । कालान्तरे साक्षात्करिष्यमाणत्वेन तद्योग्ये विचार्यशास्त्रार्थे स्वर्गादौ निध्यादौ च विचारेण तददर्शनात् । तस्मात्षड्जादिसाक्षात्कारे गान्धर्वादि-

अद्वैतसिद्धिः

साक्षात्कारजनकतायास्तद्दर्शनबलेन सिद्धेः । आत्मा च षड्जादिवदपरोक्षः, न धर्मादिः । न च—अपरोक्षे विचारवैयर्थ्यम्, न हि यद्यदपरोक्षं तत्तद्विचार्यत इति नियम इति—वाच्यम्, अपरोक्षे विचार्यत्वनियमाभाववदविचार्यत्वनियमोऽपि नास्ति । षड्जादावपरोक्षेऽपि विचार्यत्वदर्शनात् तद्वदेव साफल्यसंभवाच्च । सन्दिग्धत्वसप्रयोजनत्वयोरेव सर्वत्र विचार्यत्वे प्रयोजकत्वात् । एतेन—विचार्यशास्त्रार्थस्य साक्षात्कारयोग्यस्य साक्षात्कारे स हेतुरिति न युज्यते, कालान्तरे साक्षात्करिष्यमाणत्वेन तद्योग्ये विचार्यशास्त्रार्थे स्वर्गनिध्यादौ विचारेण तदभावादिति—निरस्तम्, निध्यादिसाक्षात्कारे तदसन्निकर्षादजातेऽपि विचारस्य तद्धेतुता न गच्छति । तत्र विचार इन्द्रियसहकारित्वेन तद्विलम्बेन विलम्बात्, प्रकृते तु शाब्दत्वात् साक्षात्कारस्य न तदपेक्षा, अपरोक्ष-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(श्लो. वा. पृ. ४९) । तथापि यद यद् अपरोक्षार्थकशास्त्रश्रवणम्, तत्तत् शास्त्रार्थप्रत्यक्ष-साधनम्'—इस प्रकार की व्याप्ति में किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं । आत्मा षड्जादि के समान प्रत्यक्ष है, धर्म के समान परोक्ष नहीं, अतः आत्मविषयक वेदान्तशास्त्र के श्रवण में आत्मसाक्षात्कार की करणता अन्यतः अधिगत है ।

शङ्का—यदि आत्मा प्रत्यक्ष है, तब आत्मश्रवण व्यर्थ है, क्योंकि ऐसा कोई नियम तो है ही नहीं कि 'यद् यदपरोक्षम्, तत्तद्विचार्यत एव ।'

समाधान—अपरोक्ष वस्तु में विचार्यत्व का जैसे नियम नहीं, वैसे अविचार्यत्व का भी नियम नहीं । षड्जादि के अपरोक्ष होने पर भी उनमें जैसे विचार्यत्व और विचार का साफल्य देखा जाता है, वैसे ही प्रकृत में भी श्रवण का साफल्य सम्भव है। सन्दिग्धत्व और सप्रयोजनत्व को ही सर्वत्र विचार्यत्व का प्रयोजक माना जाता है, वह प्रकृत में भी है, जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—"तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः" (ब्र० सू० १।१।१) ।

न्यायामृतकार ने जो कहा है कि साक्षात्कार-योग्यार्थक शास्त्रों के विचार में जो विचार्यार्थ के साक्षात्कार की हेतुता कही जाती है, वह युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि कालान्तर में अपरोक्ष होने वाले स्वर्ग और निधि भी प्रत्यक्ष-योग्य पदार्थ हैं, किन्तु उनके प्रतिपादक शास्त्रों के शतशः विचार करने पर भी स्वर्गादि का साक्षात्कार नहीं होता ।

वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि किसी प्रतिबन्धक या असन्निकर्षादि के कारण स्वर्ग और निधि आदि का साक्षात्कार नहीं होता, तब भी विचारनिष्ठ साक्षात्कार की हेतुता समाप्त नहीं होती, दृष्टान्त में प्रतिपाद्य स्वर्गादि वस्तु का प्रत्यक्ष इन्द्रिय-सन्निकर्ष से जन्य होता है, उस सन्निकर्ष का विलम्ब होने के कारण स्वर्गादि

न्यायामृतम्

शास्त्रविचारो हेतुत्वेन क्लृप्त इति वाच्यम्, न च प्रकृतकार्यविजातीयकार्ये प्रकृतविचारविजातीयविचारस्य हेतुताक्लृप्तिमात्रेण प्रकृते तस्यापूर्वविधित्वहानिः, अपूर्वविधिमात्रोच्छेदापातात्।

किं च पाक्षिकप्राप्तौ हि नियमः, सा च साधनान्तरप्राप्तौ, न च रूपादिरहितात्मज्ञानेऽन्यप्राप्तिरस्ति। नन्वपू(र्वीये)र्वार्थेषु व्रीहिषु नखविदलनादेरप्राप्तावपि

अद्वैतसिद्धिः

योग्यार्थसाक्षात्कारत्वेन कार्यत्वस्य तादृशार्थकशास्त्रविचारत्वेन साधनत्वस्य सत्त्वात्। एतेन—प्रकृतकार्यविजातीयकार्ये प्रकृतविचारविजातीयविचारस्य हेतुताक्लृप्तिमात्रेण तस्यापूर्वविधित्वत्यागे अपूर्वविधिमात्रोच्छेदापात इति—निरस्तम्।

ननु—पाक्षिकप्राप्तौ नियमः, सा च साधनान्तरप्राप्तौ, न च रूपादिरहितात्मज्ञाने तत्प्राप्तिरस्तीति—चेन्न, निर्विशेषात्मनि मानान्तराप्राप्तावपि आत्मनि सामान्यतस्तत्प्राप्तिरस्तीति नियमसंभवात्। यथाऽपूर्वीयेषु व्रीहिविशेषेषु नखविदलनादेरप्राप्तावपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु प्रकृत में आत्मसाक्षात्कार शब्दमात्र से उत्पन्न होता है, अतः विचार के द्वारा अविलम्ब आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। यो योऽपरोक्षयोग्यार्थकशास्त्रविचारः, स स शास्त्रार्थप्रत्यक्षस्योपायः'—यह व्याप्ति निर्दोष है।

यह जो न्यायामृतकार ने कहा है कि दृष्टान्त के द्वारा षड्जादि का साक्षात्कार कार्य और गन्धर्वशास्त्र का श्रवण कारण है, वह क्रमशः प्रकृत आत्मसाक्षात्काररूप कार्य एवं वेदान्त-श्रवणरूप कारण से विजातीय है, विजातीय कार्यकारणभाव के अधिगत होने पर विजातीय कार्यकारणभाव की न तो अधिगति होती है और न उसके विधायक वाक्य में अपूर्व विधित्व का अभाव ही होता है, अन्यथा "यजेत स्वर्गकामः"—इत्यादि वाक्य भी अपूर्वविधि नहीं कहला सकेंगे, क्योंकि स्वर्गत्वेन और यागत्वेन कार्य-कारणभाव का अधिगम न होने पर भी उनसे विजातीय घटत्वेन और दण्डत्वेन कार्यकारणभाव की अधिगति हो चुकी है।

न्यायामृतकार का वह कहना इसी लिए निरस्त हो जाता है कि अपरोक्षयोग्यार्थसाक्षात्कारत्वेन कार्यता और अपरोक्षयोग्यार्थकशास्त्रविचारत्वेन कारणता मानने में कोई दोष प्रसक्त नहीं होता।

शङ्का—'व्रीहीनवहन्ति'—यह विधि नियम विधि तभी हो सकी, जबकि वितुषीभाव के लिए अवघात की पाक्षिक प्राप्ति थी, वह पाक्षिक प्राप्ति भी तभी सम्भव हो सकी, जबकि पक्षान्तर में नख-विदलन, पाषाण-घर्षणादि अन्य साधनों से भी धान की भूसी उतरती हुई देखी जाती है, किन्तु आत्मा धान के समान रूपवान् द्रव्य नहीं, अरूपी है, अतः साधनान्तरों से उसका आवरण हटते या साक्षात्कार होते नहीं देखा जाता, तब श्रवण को पाक्षिक क्योंकर माना जा सकता है?

समाधान व्रीह्यादि द्रव्य दो प्रकार के होते हैं—(१) लौकिक और (२) अलौकिक। लौकिक व्रीहि द्रव्य को जब प्रोक्षणादि संस्कारों के द्वारा यज्ञीय बनाया जाता है, तब वह (दृष्टादृष्टसंस्कार-विशिष्ट अत एव अदृश्य होने के कारण) अलौकिक कहलाता है। यद्यपि अलौकिक व्रीहि के उद्देश्य से कहीं भी नखविदलनादि का विधान नहीं, प्रत्यक्षतः नखविदलनादि की प्राप्ति लौकिक व्रीहि में ही है, तथापि

न्यायामृतम्

व्रीहिमात्रे तत्प्राप्त्या "व्रीहीनवहन्ती"ति यथा नियमः, तथा निर्विशेषात्मनि मानान्तराप्राप्तावप्यात्ममात्रे तत्प्राप्त्या नियम इति चेन्न, व्रीहीनित्यत्र व्रीहिशब्दोऽपूर्वीयद्रव्यपरो न तु व्रीहिपरः। अन्यथा यवेष्ववघात औपदेशिको न स्यात्। नीवारेषु च व्रीहिरूपद्वाराभावेनातिदिष्टोऽपि बाध्येतेति नवमे स्थापितत्वेनापूर्वीयद्रव्य एव विदलनादिप्राप्तेर्वक्तव्यत्वात्। अन्यथा वैतुष्यमात्रेऽवघातनियमे द्रव्यार्जने याजनाद्युपायनियमवत् तस्य पुरुषार्थत्वप्रसंगेन लौकिकेष्वपि व्रीहिषु दलने प्रत्यवायः स्यात्। न च

अद्वैतसिद्धिः

व्रीहिसामान्ये तत्प्राप्त्या व्रीहीनवहन्तीति नियमविधिः।

ननु—व्रीहीनवहन्तीत्यत्र व्रीहिपदमपूर्वीयद्रव्यपरं न तु व्रीहिमात्रपरम्, अन्यथा यवेष्ववघात औपदेशिको न स्यात्, नीवारेषु च व्रीहित्वाभावेनातिदिष्टोऽपि बाध्येतेति नवमे स्थापितत्वेनापूर्वीयद्रव्य एव नखविदलनादिप्राप्तिर्वक्तव्या। अन्यथा वैतुष्यमात्रे अवघातनियमे द्रव्यार्जने याजनाद्युपायनियमवत् तस्य पुरुषार्थत्वप्रसङ्गेन लौकिकेष्वपि व्रीहिषु दलने प्रत्यवेयादिति—चेन्न, नियम्यमानावघातस्यापूर्वीयद्रव्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दोनों प्रकार के व्रीहि द्रव्यों का तादात्म्य होने के कारण अवघात की पाक्षिकी प्राप्ति और उसके विधायक वाक्य को नियम विधि जैसे माना जाता है, वैसे ही आत्मा दो प्रकार का है—(१) निर्विशेष (शुद्ध चैतन्य) और (२) सविशेष (अहङ्कारादि उपाधि से विशिष्ट)। उनमें निर्विशेष का साक्षात्कार अन्य साधनों से न होने पर भी सविशेष का साक्षात्कार लोक-प्रसिद्ध है, दोनों आत्माओं का तादात्म्य होने के कारण उसके साक्षात्कार में श्रवण की पाक्षिकी प्राप्ति एवं श्रवणविधि में नियम विधित्व की उपपत्ति हो जाती है।

शङ्का—"व्रीहीनवहन्ति"—यहाँ 'व्रीहि' पद का तात्पर्य न तो याग के साधनीभूत द्रव्य मात्र में है और न व्रीहित्वेन व्रीहि में, अपितु अपूर्वीय (पुरोडाशप्रकृतिभूत अलौकिक द्रव्य में है, जैसा कि पार्थसारथि मिश्र ने कहा है—"व्रीहिपदमपि हविष्प्रकृतिद्रव्यवाचिपदाभिप्रायम्, न स्वरूपाभिप्रायम्" (शा० दी० पृ० ६२१)। अन्यथा ('व्रीहि' पद को साधन द्रव्यमात्र का वाचक या व्रीहित्वेन व्रीहि का वाचक मानने पर) इसी वाक्य से यवादि द्रव्यों में भी अवघात प्राप्त हो जाता है, यव में पृथक् अवघात का उपदेश असंगत होगा और व्रीहि के सुलभ न होने पर उपादेय नीवार में अतिदेश वाक्य से प्राप्त अवघात का बाध हो जायगा, क्योंकि नीवार में 'व्रीहित्व' धर्म नहीं रहता—यह सब कुछ जैमिनिदर्शन के नवम अध्याय (९।२।१२) में चर्चित है। फलतः असंस्कृत लौकिक व्रीहि में नहीं, अलौकिक में ही नख-विदलनादि साधनान्तर की प्राप्ति कहनी होगी, अन्यथा (अपूर्वीय व्रीहि में नख-विदलनादि अन्य साधनों की प्राप्ति न होने पर) लौकिकालौकिक व्रीहि सामान्य में अवघात का नियम यज्ञार्थ न होकर वैसे ही पुरुषार्थ हो जायगा, जैसे कि ब्राह्मण के लिए, याजनादिनैव द्रव्यमुपार्जनीयम्'—यह नियम पुरुषार्थ होता है, तब तो लौकिक व्रीहि में भी नख-विदलनादि कर देने पर पुरुष को प्रत्यवायी होना चाहिए, क्योंकि क्रत्वर्थ अङ्गों में वैगुण्य हो जाने पर यज्ञ विगुण हो जाता है और पुरुषार्थ अङ्गों का व्यत्यय हो जाने पर पुरुष प्रत्यवेत होता है।

समाधान—'व्रीहीनवहन्ति'—यहाँ 'व्रीहि' पद व्रीहित्वेन सामान्य व्रीहि को ही

न्यायामृतम्

सामान्ये दलनादिप्राप्त्या विशेषेऽवघातनियमः । इह निर्विशेषसविशेषरूपविशिष्टद्वयानुगते विशेषाभावादिद्वारा वेदान्तवेद्ये चिन्मात्रे मानान्तराप्राप्तेः । यत्रापूर्वीयेष्ववघातनियमस्तत्रैव दलनप्राप्तिसम्भवे वैयधिकरण्यायोगाच्च । सम्भवति ह्यपूर्वीयेष्वपि व्रीहिषु नियमादृष्टाजनकस्यापि दलनस्य प्राप्तिः । न हि तस्य प्राप्तिर्नाम तेन तस्य

अद्वैतसिद्धिः

मात्रविषयत्वेऽपि सामान्यविषयकप्राप्त्यैव नियमोपपत्तौ विशेषविषयप्राप्तेरनपेक्षितत्वात् । न च—निर्विशेषसविशेषरूपविशिष्टद्वयानुगते विशेषाभावादिद्वारा वेदान्तवेद्ये चिन्मात्रे न मानान्तरप्राप्तिरिति—वाच्यम्, उभयानुगते सविशेषतया प्रमेयतायां मानान्तरप्राप्तेः सत्त्वात् । सजातीये प्राप्त्यापि यत्र सजातीयान्तरे नियमसंभवः, तदा किमु वाच्यमेकस्मिन्नेवात्मनि अवस्थाविशेषेण मानान्तरप्राप्त्या विशेषान्तरे नियम इति । न च- एवं विशेषान्तरे प्राप्त्या विशेषान्तरनियमे वैयधिकरण्यमिति—वाच्यम्, व्यक्तिसामानाधिकरण्याभावेऽपि अनन्यगत्या सामान्यधर्ममादाय सामानाधिकरण्याङ्गीकारात् ।

ननु—अत्रान्यैव गतिरस्ति अपूर्वीयव्रीहिषु नियमादृष्टाजनकस्यापि दलनस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कहता है, अत एव नीवार में "व्रीहीणां मेध ! सुमनस्यमानः"—इस मन्त्र की ऊहा करने के लिए नीवार में भी व्रीहि के ही अवयव माने गये हैं—"नीवारादिगता ये व्रीह्यंशाः, तेऽत्र साधनम्" (शा० दी० पृ० ६२७)। अतः अवघात का विधान तो सामान्य व्रीहि के ही उद्देश्य से होता है, किन्तु नियम्यमान अवघात केवल अपूर्वीय व्रीहि में होता है, नियम विधि का निर्वाह भी सामान्यविषयक प्राप्ति से ही हो जाता है, उसके लिए विशेषविषयक प्राप्ति की अपेक्षा नहीं होती ।

शङ्का—वेदान्त-विचार के द्वारा साक्षात्कार न सविशेष का होता है और न निर्विशेष का, क्योंकि दोनों ही विशिष्ट हैं, एक सविशेषत्व से और दूसरा निर्विशेत्व धर्म से विशिष्ट है, अतः इन दोनों में अनुस्यूत चैतन्यमात्र को वेदान्त-प्रतिपाद्य माना जाता है, उसमें इतर साधनों की प्राप्ति न होने के कारण श्रवण-विधि को अपूर्व विधि मानना चाहिए ।

समाधान—उक्त उभयानुगत चैतन्य सविशेष से तादात्म्यापन्न और निर्विशेष से अत्यन्ताभिन्न है, अतः सविशेष के ग्रहण में प्रवृत्त प्रमाण के द्वारा उभयानुगत चैतन्य भी अधिगत हो जाता है । जब अलौकिक व्रीहि-सजातीय लौकिक व्रीहिगत नखविदलनादि की प्राप्ति को अलौकिक व्रीहि में भी मान लिया जाता है, तब सविशेष आत्मा में साधनान्तर से प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति को उभयानुगत आत्मा में क्यों नहीं माना जा सकता ? यहाँ तो वस्तु में कोई अन्तर नहीं, केवल अवस्था का भेद है ।

शङ्का—लौकिक व्रीहि में नख-विदलनादि साधनान्तरों की प्राप्ति और अलौकिक व्रीहि में अवघात-नियमन, सविशेष आत्मा के साक्षात्कार में साधनान्तर की प्राप्ति और निर्विशेष आत्मा में श्रवण-नियमन—इस प्रकार तो दृष्टान्त के समान दार्ष्टान्ति में भी वैय्याधिकरण्य प्रसक्त होता है ।

समाधान—व्यक्ति-घटित सामानाधिकरण्य के अनुपपन्न होने पर अगत्या व्रीहित्व और 'आत्मत्व' धर्मों के द्वारा सामानाधिकरण्य का निर्वाह किया जाता है ।

न्यायामृतम्

वैतुष्यसम्पादनम्। तथात्वेऽवघातनियमायोगात्, किं तु शक्तत्वेन प्रसक्तिमात्रम्। तच्च दलनादेरपूर्वीयेष्वप्यस्ति। निर्विशेषात्मनि तु प्रत्यक्षादेः प्रसक्तिरपि नास्तीति विशेषः। अवघातसाध्यवैतुष्यस्य दलनादिसाध्याद्वैजात्येऽपि विघ्नन्तरापेक्षितवैतुष्यस्य सामान्यस्य दलनेनापि सिद्धेर्नियमः।

कौमुद्यां तु यथा मन्त्रार्थज्ञानस्य तन्मूलकल्पसूत्रीयग्रहणकवाक्यादिप्राप्त्या पक्षेऽप्राप्तमन्त्रसाध्यत्वं नियम्यते "मन्त्रैरेव स्मृतिः साध्ये"ति। तथा वेदान्तमूलस्त्रीशूद्रसाधारणस्मृतिपुराणादिप्राप्त्या पक्षेऽप्राप्तवेदान्तश्रवणादिपरिपूर्णार्थो नियमः। "तस्माद् ब्राह्मणो नावैदिकमधीयीते"ति श्रुतेः। "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य" इति स्मृतेश्चेत्युक्तम्। तन्न, "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहये"दित्यादिस्मृतिविरोधात्। न ह्यविचारि-

अद्वैतसिद्धिः

प्राप्तिरस्ति। न हि यत्र तेन वैतुष्यसम्पादनं तत्र तत्प्राप्तिः, किंतु शक्तत्वेन प्रसक्तिमात्रमिति—चेन्न, एवं तद्योग्यत्वमिति पर्यवसितोऽर्थः। तच्च तज्जातीयेऽन्वयी न तु तत्र, तथा च वैयधिकरण्यतादवस्थ्यम्। प्रकृते च सविशेषनिर्विशेषरूपदशाद्वयानुगतैकात्मविषयतया वैयधिकरण्यशङ्कानवकाशश्च।

तत्त्वकौमुदीकृतस्तु—'यथा मन्त्रार्थज्ञानस्य कल्पसूत्रात्मीयग्राहकवाक्यादिनापि प्राप्तत्वेन पक्षे अप्राप्तमन्त्रसाध्यत्वं नियम्यते मन्त्रैरेव स्मृतिः साध्येति तथा वेदान्तमूलस्त्रीशूद्रसाधारणस्मृतिपुराणादिप्राप्त्या पक्षे अप्राप्तवेदान्तश्रवणादिपरिपूरणार्थो नियमः। 'तस्मात् न ब्राह्मणोऽवैदिकमधीयीत'इति श्रुतेः 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य' इत्यादिस्मृतेश्चेति—आहुः। न च—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहये'दित्यादि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—दृष्टान्तभूत अपूर्वीय व्रीहि में भी नियमादृष्ट के अजनकीभूत नख-विदलनादि की प्राप्ति होती है, क्योंकि नख-निदलन के द्वारा वैतुष्य (तुष-विमोक) का सम्पादन प्राप्ति नहीं माना जाता, अपितु जो जहाँ शक्त है, उसकी वहाँ प्राप्ति मानी जाती है, अपूर्वीय व्रीहि के वैतुष्य में भी नख-विदलन शक्त है, अतः वहाँ भी वह प्राप्त माना जाता है।

समाधान—इस प्रकार की प्राप्ति का सीधा अर्थ है—योग्यता। तज्जातीयार्थसम्पादकत्व की योग्यता का स्वरूप होता है, अतः फलोपधानात्मक प्राप्ति अन्यत्र और नियमन अन्यत्र—ऐसा वेयधिकरण्य तो जैसे का तैसा ही रहता है। प्रकृत में सविशेष और निर्विशेषरूप दो अवस्थाओं में अनुस्यूत आत्मा को लेकर प्राप्ति और नियमन का सामानाधिकरण्य निश्चित है, अतः यहाँ वैय्यधिकरण्य की शङ्का भी नहीं होती।

तत्त्वकौमुदीकार ने नियम विधित्व इस प्रकार घटाया है कि जैसे यागादि में अनुष्ठेयार्थ का स्मरण मन्त्रों के द्वारा भी किया जा सकता है और कल्पसूत्रादि पद्धति ग्रन्थों के द्वारा भी, वहाँ यह नियम किया जाता है—मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्। वैसे ही वेदान्त वाक्यों से भी आत्मबोध होता है, और वेदान्तमूलक स्त्रीशूद्रसाधारण पुराणादि ग्रन्थों से भी, वहाँ यह नियम किया जाता है—वेदान्त-श्रवणेनैवात्मा द्रष्टव्यः, जैसा कि श्रुति कहनी है—''तस्मान्न ब्राह्मणोऽवैदिकमधीयीत'' (मै० उ० ७।१०)। स्मृति भी कहती है—''श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः।''

शङ्का- यदि इतिहास और पुराणादि की व्यावृत्ति करने के लिए वेदान्त-श्रवण

न्यायामृतम्

तेन गहनेन तेनोपबृंहणं युक्तम्। "अपि स्मर्यते"–इत्यादिना सूत्रकारेणाप्युपबृंहणाच्च। न च वेदान्ततात्पर्यनिर्णयायैव तद्विचारो न तु ब्रह्मज्ञानायेतिवाच्यम्, कर्मविषयस्मृतिभिः कर्मज्ञानस्येव ब्रह्मविषयकात् भारतादौ मुमुक्षून् शुकादीन् प्रत्युपदिष्टादितिहासादपि साक्षाद्ब्रह्मज्ञानस्योदयात्। समुपबृंहयेदित्यस्य तु वेदतात्पर्यं वेदवाक्यानुसारेणेवाऽनेकशाखाद्यभिज्ञऋषिप्रणीतनिर्णयात्मकेतिहासानुसारेणैव ज्ञेयमित्यर्थः। न तु सर्वेणापीतिहासादिनावेदतात्पर्यमेव ज्ञेयं अर्थस्तु न ज्ञेय इति। "नावैदिक"मिति श्रुतिस्त्ववैदिकबाह्यागमाद्यध्ययनं निषेधति। न तु वैदिकेतिहासादेः। "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमी"त्यारस्य "इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेद"मिति श्रुत्या "वेदानध्यापयामास महाभारतपंचमानि"त्यादि स्मृत्या च विरोधात्। वेदांगाध्ययनस्यापि निषेधापाताच्च। "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य"इति तु श्रुतीनां मूलप्रमाणत्वाभिप्रायम्।

अद्वैतसिद्धिः

स्मृतिविरोधः अविचारितेन उपबृंहणायोगादिति–वाच्यम्, वेदान्ततात्पर्यनिर्णायतद्विचारापेक्षायामपि ब्रह्मज्ञाने तद्विचारापेक्षाविरहात्। न च–कर्मविषयकस्मृतिभिः कर्मज्ञानस्येव ब्रह्मविषयाद् भारतादेरितिहासादपि साक्षाद्ब्रह्मज्ञानस्योदयाद् ब्रह्मज्ञानेऽपि तदपेक्षेति–वाच्यम्, उभयत्रापि स्मृत्यादेः स्वातन्त्र्येणाप्रमाणतया श्रुतितात्पर्यनिर्णायकत्वात्। अत एवोक्तं–'वेदं समुपबृंहये'दिति, न तु वेदार्थं जानीयादिति। यत्तु–'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य'इत्यादिकं श्रुतिमूलप्रमाणाभिप्रायकम्–इति, तन्न, पञ्चमीप्रतीतहेतुत्वस्य साक्षात् संभवे पारम्पर्यकल्पनायोगात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का नियम माना जाता है, तब "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्"–इत्यादि स्मृति-वाक्यों से विरोध उपस्थित होता है, क्योंकि उनके विचार के विना तो वेदों का उपबृंहण (विस्तार करना) सम्भव नहीं।

समाधान–पुराणादि का विचार वेदान्त-तात्पर्य-निर्णय में अपेक्षित होने पर भी ब्रह्म-ज्ञान में उसकी अपेक्षा के विना ही केवल वेदान्त-विचार ही पर्याप्त होता है।

शङ्का–जैसे कर्म काण्ड के प्रतिपादक स्मृति ग्रंथों से कर्म का अवबोध माना जाता है, वैसे ही ब्रह्मविषयक महाभारतादि इतिहास ग्रन्थों से भी आत्मज्ञान का उदय होता है, अतः आत्मज्ञान में इतिहासादि की अपेक्षा क्यों नहीं ?

समाधान–कर्म और ब्रह्म–दोनों के अवगम में स्मृति ग्रन्थों का स्वतन्त्र (श्रुति-निरपेक्ष) प्रामाण्य नहीं माना जाता, अतः वे केवल वैदिक तात्पार्य के निर्णायक मात्र हैं, आत्मज्ञान के जनक नहीं, अत एव 'वेदं समुपबृंहयेत्'–इतना ही कहा गया है, 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थं जानीयात्–ऐसा नहीं कहा गया है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः"–ऐसा स्मृतियों ने जो कहा है, वह अपने मूलभूत श्रुतिवाक्यों के द्वारा सम्पादन करने के लिए, साक्षात् नहीं, अतः स्मृति वाक्यों का निराकरण करने की आवश्यकता ही नहीं।

वह कहना संगत नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य में जो हेतुत्वार्थक पञ्चमी (श्रुतिवाक्येभ्यः) विभक्ति प्रयुक्त हुई है, उसका साक्षाद् हेतुत्व अर्थ जब सम्भव हो जाता तब परम्परया हेतुत्व का लाभ उचित नहीं माना जाता।

न्यायामृतम्

किं च विप्रकीर्णनानाशाखार्थसंग्रहादिरूपेणेतिहासादिना तत्त्वनिश्चयदर्शनात्, सति च तस्मिन् विविदिषाद्वारा तदर्थाया अन्तःकरणशुद्धेरपेक्षितत्वात्। आपरोक्ष्यस्य च विषयस्वभावादेव सिद्धया वेदजन्ये ब्रह्मज्ञाने इतिहासादिजन्यादधिकस्यापरोक्ष्याननुभवेन च तस्य नियमादृष्टासाध्यत्वात्। ज्ञानस्य च स्वप्रागभावनिवर्तन इवाऽज्ञाननिवर्तनेऽप्यदृष्टनिरपेक्षत्वादन्यस्य च नियमादृष्टसाध्यस्याभावान्न नियमविधिर्युक्तः। तस्मात्—

अद्वैतसिद्धिः

न च—विप्रकीर्णनानाशाखार्थसंग्रहादिरूपेणेतिहासादिना तत्त्वनिश्चयदर्शनात् सति च तस्मिन् विविदिषाद्वारा तदर्थाया अन्तकरणशुद्धेरनपेक्षितत्वाद् आपरोक्ष्यस्य विषयभावादेव सिद्धया वेदजन्यब्रह्मज्ञाने इतिहासजन्यादधिकस्यापरोक्ष्यस्याननुभवेन तस्य नियमादृष्टासाध्यत्वात् ज्ञानस्य च स्वप्रागभावनिवर्तन इव अज्ञाननिवर्तने अदृष्टनिरपेक्षत्वाद्, अन्यस्य च नियमादृष्टसाध्यस्याभावात् न नियमविधिरिति—वाच्यम्, 'तमेतं वेदानुवचनेने'त्यादि श्रुतिबलाद् यज्ञादिजन्यादृष्टस्य नियमादृष्टस्य च विविदिषाद्वारकान्तःकरणशुद्धेरेव सर्वादृष्टसाध्यायाः संभवेन ज्ञानस्वरूपोपकारितया तत्साध्याज्ञाननिवृत्तौ तदपेक्षत्वाच्च विद्यायुक्ततदयुक्तकर्मजन्यफलगतचिराचिरस्वरूपातिशयवत् नियमादृष्टजन्यसाक्षात्कारे तदजन्यतत्त्वनिश्चयापेक्षयातिशयकल्पनस्यावश्यकत्वाच्च नियमविधित्वसंभवात्। तस्मात्—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—स्मृत्यधिकरण में श्री माधवाचार्य ने कहा है—विप्रकीर्णार्थसंक्षेपात् सार्थत्वादस्ति मानता। (जै० न्या० मा० पृ० २७) अर्थात् नाना शाखाओं में बिखरे हुए अर्थ का संकलन इतिहास पुराणादि स्मृति ग्रन्थों में किया गया है, अतः उनके द्वारा भी तत्त्व-निश्चय होता है, जब उनमें साक्षात् तत्त्व-निश्चायकत्व सम्भव है, तब विविदिषा के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धिगत के सम्पादन में उनका उपयोग मानना उचित नहीं। वेद-जन्य ब्रह्म-ज्ञान और इतिहासादि-जन्य ब्रह्म-ज्ञान में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता, अतः उसके लिए नियम-जन्य अदृष्ट की न तो उपयोगिता है और न किसी कार्य में अपेक्षा है। इसी प्रकार नियम-जन्य अदृष्ट की ज्ञान में भी कोई उपयोगिता नहीं, क्योंकि ज्ञान जैसे अपने प्रागभाव की निवृत्ति में अदृष्ट की अपेक्षा नहीं करता, वैसे अज्ञान-निवृत्तिरूप अपने कार्य के सम्पादन में भी अदृष्ट की अपेक्षा नहीं करता। फलतः नियमादृष्ट व्यर्थ होकर रह जाता है। अन्य कोई ऐसा कार्य नहीं, जो नियमादृष्ट का प्रयोजक हो सके, अतः श्रवण-विधि को नियम विधि मानना उचित नहीं।

समाधान—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन" (बृह० उ० ४।४।२२) इस श्रुति के बल पर यज्ञादि-जन्य अदृष्ट और नियमादृष्ट का साक्षात् उपयोग विविदिषा-जननपूर्वक अन्तःकरण की शुद्धि में होता है, शुद्ध अन्तःकरण में उदय होकर आत्मज्ञान उन अदृष्टों की सहायता से अज्ञान की निवृत्ति करता है। नियमादृष्ट-जन्य साक्षात्कार में नियमादृष्टाजन्य साक्षात्कार की अपेक्षा कुछ अतिशय (विशेषता) वैसे ही माना जाता है, जैसे विद्या-वियुक्त कर्म से जनित फल में विलम्बोत्पत्तिकत्व और विद्या-सहित कर्म से उत्पन्न फल में अविलम्बोत्पत्तिकत्वरूप अतिशय होता है—"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छां.१।१।१०)

न्यायामृतम्

नियमाददृष्टसाध्यस्य व्यावर्त्यस्याप्यभावतः ।
श्रवणादेर्नियमनं परपक्षे न युज्यते ॥

एतेन शूद्रप्रणीतात्मविद्याप्रबन्धादिप्राप्तिनिमित्तकाप्राप्तांशपूरणार्थो नियमविधिरिति निरस्तम् ।

श्रवणादिविधेर्विवरणोक्तनियमविधित्वभंगः ॥ २ ॥

अद्वैतसिद्धिः

नियमाददृष्टसाध्यस्य व्यावर्त्यस्यापि संभवात् ।
श्रवणादेर्नियमनं सर्वथैवोपपद्यते ॥ इति ।

अत एव शूद्रप्रणीतात्मप्रबन्धादिप्राप्तिनिमित्तकाप्राप्तांशपूरणार्थो नियमविधिरित्याचार्यान्तरोक्तिरपि व्याख्याता ॥

इति विवरणोक्तनियमोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

फलतः श्रवण-विधि में नियमविधित्व सम्भव है। जैसे व्रीहिगत अवघात के नियम से नख-विदलनादि साधनान्तर की निवृत्ति होती है, वैसे ही वेदान्त-श्रवण का नियम कर देने से शूद्र-प्रणीत आत्मार्थक प्रबन्धों के श्रवण की व्यावृत्ति सुलभ हो जाती है, श्रवणादि का नियमन सर्वथा उचित है। जहाँ कोई शूद्र-प्रणीत आगम के श्रवण से आत्मज्ञान करने के लिए उद्यत हो जाता है, वहाँ वेदान्त-श्रवण अप्राप्त है, उस अप्राप्त अंश की पूर्ति नियम विधि का प्रयोजन है। इसी प्रकार अन्य आचार्यों के द्वारा वर्णित नियम-विधित्व की व्याख्या हो जाती है।

: ३ :

श्रवणादिविधेयत्वोपपत्तिविचार

न्यायामृतम्

किं च न तावच्छक्तितात्पर्यावधारणं वा तद्विशिष्टशब्दावधारणं वा तात्पर्यप्रमापकलिंगावधारणं वा आगमाचार्योपदेशजन्यज्ञानं वा श्रवणम्। परमते ज्ञानविध्यभावात्। अवाच्ये च ब्रह्मणि शक्त्यसम्भवात्। तात्पर्यमपि न तावदापातधीजन्यस्य विचारनिवर्त्यस्य संशयस्य धर्मिणि, तस्य प्रागेव निश्चितत्वेन तन्निश्चयार्थं तात्पर्यनिश्चयसाधनस्य विचारस्य वैयर्थ्यात्। अन्यथा विचारानन्तरमपि संशयादिप्रसंगात्। नापि संशयधर्मिगतप्रकारविशेषे तद्विशिष्टे तदुपलक्षिते वा, अखण्डार्थताहानेः। नापि गुरुमुखाद्वेदान्तानां ब्रह्मणि संयोजनं श्रवणम्, संयोगस्याऽप्युक्ततात्पर्यावधारणाधर्नातिरेकात्। नापि वाक्यविशेषप्रयोगरूपवादकथा श्रवणम्, तत्र श्रवणपदाप्रयोगात्। अत एव न परमते मननिदिध्यासनविधिर्युक्तः, तयोरपि ज्ञानविशेषव्यतिरेकेण दुर्निरूप-

अद्वैतसिद्धिः

ननु किमिदं श्रवणं नाम? शक्तितात्पर्यावधारणं वा? तद्विशिष्टशब्दावधारणं वा? तात्पर्यप्रमापकलिङ्गावधारणं वा? आगमाचार्योपदेशजज्ञानं वा? नाद्यः, अवाच्ये ब्रह्मणि शक्त्यसंभवात्। तात्पर्यमपि न तावदापातधीजन्यस्य विचारनिवर्त्यस्य संशयस्य धर्मिणि, तस्य प्रागेव निश्चितत्वेन तन्निश्चयार्थं तात्पर्यनिश्चयसाधनस्य विचारस्य वैयर्थ्यात्, अन्यथा विचारानन्तरमपि संशयादिप्रसङ्गात्। नापि संशयधर्मिगतप्रकारविशेषे तद्विशिष्टे तदुपलक्षिते वा, अखण्डार्थताहानेः, अवधारणस्य ज्ञानत्वे विधेयत्वस्य त्वयानङ्गीकारात्। अत एव न द्वितीयादि। नापि गुरुमुखाद्वेदान्तानां ब्रह्मणि संयोजनं श्रवणम्, तस्याद्यपक्षानतिरेकात्। नापि वाक्यविशेषप्रयोगरूपवादकथा श्रवणम्, तत्र श्रवणपदाप्रयोगात्। अत एव मननिदिध्यासनयोरपि न विधिः, तयोरपि ज्ञानानतिरे-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—यह श्रवणपदार्थ क्या है? क्या (१) शब्द के शक्तिरूप तात्पर्य का अवधारण? या (२) तात्पर्य-विशिष्ट शब्द का अवधारण? या (३) तात्पर्य के प्रमापक लिङ्गों का अवधारण? अथवा (४) आगम और आचार्योपदेश से जन्य ज्ञान? प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि अद्वैती ब्रह्म को किसी शब्द का वाच्य नहीं मानते, अतः उसमें किसी शब्द की शक्ति का अवधारण क्योंकर सम्भव होगा? तात्पर्य (वेदान्त पदों की शक्ति) का भी आपातज्ञान-जन्य और विचार-निवर्त्य (ब्रह्म जीवादभिन्नम्? न वा? इस प्रकार के) संशय के धर्मी (ब्रह्म) में विधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका निश्चय तो पहले ही है, उसका निश्चय करने के लिए विचार व्यर्थ है, अन्यथा विचार के अनन्तर भी संशय होना चाहिए। इसी प्रकार ब्रह्मरूप धर्मी के किसी प्रकार या उस प्रकार से विशिष्ट या प्रकार से उपलक्षित ब्रह्म में भी तात्पर्य विहित नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म को सप्रकार मानने पर उसकी अखण्डरूपता समाप्त हो जाती है। तात्पर्य के अवधारण का भी विधान नहीं हो सकता, क्योंकि अवधारण ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान वस्तुतन्त्र है, पुरुष-तन्त्र नहीं, अतः आप (अद्वैती) उसमें विधेयत्व नहीं मानते। इन्हीं दोषों के कारण श्रवण पदार्थ के द्वितीयादि विकल्प भी नहीं अपनाए जा सकते।

गुरुमुख से वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म में संयोजन भी श्रवण नहीं कहला सकता,

न्यायामृतम्

त्वात्। न चानिच्छतोऽपि दुर्गन्धादिज्ञानदर्शनेन ज्ञानस्याविधेयत्वेऽपि निदिध्यासनस्य ज्ञानसन्तानत्वेन विधेयत्वम्, अनिच्छतोऽपि दुर्गन्धज्ञानसन्तानदर्शनात्। न चावधारणं नाम न ज्ञानं किं तु ध्यानमुभयविजातीयं चेतो वृत्त्यन्तरं वा। श्रवणादिक्रिया तावत्कर्तव्येह प्रयत्नत इति सुरेश्वरेण क्रियाशब्दप्रयोगादिति वाच्यम्, तात्पर्यरूपे विषये उपक्रमादिरूपे प्रमाणे च सति जायमानस्य ज्ञानाद्बहिर्भावानुपपत्तेः। न हि वाचो धेनुत्वे

अद्वैतसिद्धिः

कादिति—चेन्न, आद्यपक्षस्यैव क्षोदक्षमत्वात्। न च तत्र शब्दशक्त्यसंभवो दोषः, शुद्धे शक्त्यसंभवेऽपि विशिष्टशक्तेस्तद्बोधोपयोगिन्या अवधारणीयायाः संभवात्, तात्पर्यस्यापि संशयधर्मिणो निश्चितत्वेन तत्रासंभवेऽपि संशयकोट्युपलक्षिते निर्विशेषे संभवेन विचारवैयर्थ्यात्। न चाखण्डार्थताहानिः, स्वरूपमात्रोपलक्षकतया अखण्डार्थताया उपपादितत्वात्। न चावधारणस्य ज्ञानरूपतया अविधेयता, तस्य तर्कत्वेन ज्ञानविजातीयचेतो वृत्त्यन्तरत्वात्, सुरेश्वराचार्यैः 'श्रवणादिक्रिया तावत् कर्तव्येह प्रयत्नत' इति श्रवणादौ क्रियापदप्रयोगात्। एवमेव मनननिदिध्यासनयोरपि विधेयत्वमुन्नेयम्। न च—तात्पर्यरूपे विषये उपक्रमादिरूपे च प्रमाणे सति जायमानस्य तस्य ज्ञानबहिर्भावानुपपत्तिः तद्बहिर्भूतवाग्धेनूपासनादौ प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वादर्शनादिति—वाच्यम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

क्योंकि वह कथित प्रथम पक्ष से भिन्न नहीं। वाक्यविशेषप्रयोगरूप वाद कथा को भी श्रवण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें 'श्रवण' पद का प्रयोग ही नहीं होता। इसी लिए मनन और निदिध्यासन का भी विधान नहीं हो सकता, क्योंकि वे भी ज्ञान स्वरूप ही हैं।

समाधान—कथित विकल्पों में प्रथम पक्ष को अपनाने पर कोई दोष नहीं। शब्द-शक्ति के विषय में असम्भव दोष जो दिया गया, वह संगत नहीं, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म में शब्द की शक्ति सम्भव न होने पर भी विशिष्ट में शक्ति ब्रह्म-ज्ञानोपयोगिनी मानी जा सकती है। तात्पर्य भी संशय के धर्मीभूत ब्रह्म में निश्चित होने पर भी संशय-कोटि से उपलक्षित निर्विशेष में सम्भव होने के कारण विचार का वैयर्थ्य प्रसक्त नहीं होता। संशय-कोटियों के द्वारा स्वरूप मात्र उपलक्षित होता है, अतः अखण्डार्थत्व की भी हानि नहीं होती। ज्ञानस्वरूप होने के कारण तात्पर्यावधारण में विधेयता का अभाव कहना भी उचित नहीं, क्योंकि अवधारण को ज्ञान से विजातीय चैतसिक वृत्त्यन्तर माना जाता है, जो पुरुष-तन्त्र होने के कारण विधेय हो जाता है, अत एव सुरेश्वराचार्य ने श्रवणादि के लिए 'क्रिया' पद का प्रयोग किया है—

श्रवणादिक्रिया तावत् कर्तव्येह प्रयत्नतः।
यावद् यथोक्तं विज्ञानमाविर्भवति भास्वरम्॥ (बृह० वा० पृ० १०६९)

इसी प्रकार मनन और निदिध्यासन में विधेयत्व की उपपत्ति कर लेनी चाहिए।

शङ्का—तात्पर्य-ग्रह के जनकीभूत उपक्रमोपसंहारादि प्रमाणों के द्वारा निष्पन्न होने के कारण तात्पर्यावधारण को ज्ञान से विजातीय नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञान से विजातीय वागादि में धेनूपासनादि क्रियाओं में प्रमाणतन्त्रत्व और वस्तुतन्त्रत्व नहीं देखा जाता, पुरुषतन्त्रत्व ही माना जाता है।

समाधान—हमारे (अद्वैती के) मत में उपक्रमादि लिङ्गों को प्रमाण नहीं माना

न्यायामृतम्

नोपासनादिकं प्रमाणवस्तुपरतन्त्रम्। एतेन तर्कात्मको विचारः श्रवणमिति प्रत्युक्तम्, व्याप्तिज्ञानपरतन्त्रत्वेनानुमितेरिव तर्कज्ञानस्याप्यपुंतन्त्रत्वात्। न हि पुंतन्त्रः प्रतिमादौ नारायणाद्यारोपो व्याप्तिज्ञानाद्यपेक्षः। तस्मात्—

श्रुत्यादेर्धीस्वरूपत्वाद् विध्यनर्हत्वतो धियाम्। परपक्षे नैव युक्तः श्रवणादिविधिः क्वचित्॥

परमते श्रवणादिविध्यनुपपत्तिः॥ ३॥

: ४ :

श्रोतव्य इत्यादेरनुवादकत्वभंगः

केचित्तु अधीतात्स्वाध्यायात्प्रयोजनवदर्थदर्शनात्तन्निर्णयाय पुरुषः स्वयमेव तत्त्वदर्शिन आचार्यान्न्याययुक्तवाक्यार्थग्रहणरूपे श्रवणे प्रवर्तत इति श्रोतव्य इत्यनुवादः। आचार्योपदिष्टस्यार्थस्य स्वात्मन्येवमेव युक्तमिति हेतुतः प्रतिष्ठापनरूपस्य मननस्य श्रवणप्रतिष्ठार्थत्वेन प्राप्तत्वान्मन्तव्य इति चानुवादः। निदिध्यासितव्य इत्येव तु विधिः। अविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपध्यानात्मकनिदिध्यासनकर्तव्यताया अन्यतोऽप्राप्तेः। द्रष्टव्य इत्यनेन तु तस्य ध्यानस्य विशदतरावभासत्वरूपादर्शनसमानाकारता विधीयत इत्याहुः तन्न, त्वयापि "सहकार्यंतरविधि"रिति सूत्रे "तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्य"मित्यादि वाक्ये औपदेशिकार्थाधिगमस्य पुनः पुनर्ब्रह्मसंशीलनस्य च विधेरनंगीकृतत्वेन तयोरेव श्रोतव्यो मन्तव्य इत्याभ्यां विधिसम्भवात्। औपदेशिकार्थाधिगमादौ श्रवणादिपदप्रयोगात्।

किं चोपायत्वदशाप्रभृति भगवज्ज्ञानं प्रीतिरूपमिति वदतस्तव मते कृतश्रवणमननं पुरुषं प्रति भगवतोऽत्यन्तानुकूलत्वाद् अनुकूलविषयचिन्तने च रागत एव प्रवृत्तेश्चिन्तनरूपनिदिध्यासनस्यैव विधिर्न स्यात्। तत्र रागप्राप्ते चिन्तनेऽविच्छिन्नत्वादिगुणविधानं चेत्, रागप्राप्तवाक्यार्थग्रथने गुरुमुखपूर्वकत्वादिगुणविधानं श्रवणादिवाक्येष्वस्तु। किं च ज्ञानस्य विशदतरावभासत्वं न तावदधिकविषयत्वं स्मरणस्य स्वजनकानुभवात्तज्जन्यस्मरणाच्चाधिकविषयत्वायोगात्। नापि साक्षात्त्वम्, स्मृतौ तदसम्भवात्। पुत्रादिध्यानस्येव साक्षात्त्वस्य भ्रान्तिमात्रत्वे च मोक्षहेतुत्वायोगात्। दर्शनश्रुतानामुपचरितार्थत्वापत्तेश्च। श्रोतव्य इत्यादेरनुवादत्वभंगः॥ ४॥

अद्वैतसिद्धिः

मन्मते लिङ्गस्य प्रामाण्यानभ्युपगमेन सति प्रमाण इत्यस्यैवाभावाद्, उपक्रमादेः प्रमाणत्वपक्षे तत्पूर्वकालीनत्वेनास्य प्रमाणे सतीत्येतदंशासिद्धेः, तस्मात् श्रवणादेरधीरूपतया मनोव्यापारत्वेन विधेयत्वोपपत्तिः। सिद्धान्तबिन्दुकल्पलतिकयोर्विस्तरः। यच्चानुवादित्वादिवर्णनं वाचस्पत्ये, तत् प्रस्थानान्तरत्वान्न विधित्वोक्तिविरोधि॥

इत्यद्वैतसिद्धौ श्रवणादेर्विधेयत्वोपपत्तिः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाता, अतः उन लिङ्गों की सहायता से उत्पन्न होनेवाले तात्पर्यावधारण को प्रमाणतन्त्र नहीं कह सकते। उपक्रमादि को प्रमाण मान लेने पर भी 'प्रमाणे सति जायमानत्वात्'— ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तात्पर्य पहले से ही विद्यमान होता है, पश्चादुत्पद्यमान नहीं अतः श्रवणादि ज्ञानरूप न होकर मानस व्यापाररूप होने के कारण विधेय बन जाते हैं, इस का विस्तार सिद्धान्तबिन्दु और कल्पलतिका में किया जा चुका है। वाचस्पत्योपव्याख्यान में जो श्रवणादि में अनुवादित्व का वर्णन श्रीव्यासतीर्थ ने किया है, वह प्रस्थानान्तर होने के कारण विधिवाद का विरोधी नहीं।

: ५ :

श्रवणविधेर्विवरणोक्तविचारविधायकत्वविचारः

न्यायामृतम्

यच्चोक्तं विवरणे-श्रवणविधिरेव विचारविधायक इति विचारविधायकं जिज्ञासासूत्रं श्रवणविधिमूलमिति। तन्न, त्वया विचारविधौ श्रवणासाध्यपरोक्षज्ञानाधीनाया अपरोक्षज्ञानकामनाया अधिकारिविशेषणत्वांगीकारेणान्योन्याश्रयापातात्। किं चायं जिज्ञासासूत्रोक्तो विचारस्तत्त्वनिर्णायकन्यायानुसन्धानरूपः, अन्यथा न्यायग्रथनात्मकशास्त्रारम्भसिद्धये तत्कर्तव्यतोक्त्ययुक्तेः। इतरस्य वेदेतिकर्तव्यतानुपपत्तेश्च। न च श्रवणमुक्तन्यायानुसन्धानरूपम्, मननाभेदप्रसंगात्। नन्वद्वितीये ब्रह्मणि

अद्वैतसिद्धिः

एवं विचारविधायकश्रवणविधिरेव जिज्ञासासूत्रमूलम् न च—विचारविधौ श्रवणसाध्यापरोक्षज्ञानाधीनाया अपरोक्षज्ञानकामनाया अधिकारिविशेषणत्वाङ्गीकारेण अन्योन्याश्रयापात इति—वाच्यम्, अधीतवेदस्य विदितपदपदार्थसङ्गतिकस्यापाततो जायमानपरोक्षज्ञानाधीनापरोक्षज्ञानकामनाया अधिकारिविशेषणत्वेनोक्तान्योन्याश्रयानवतारात्। न च—जिज्ञासासूत्रोक्तो विचारस्तत्त्वनिर्णायकन्यायानुसन्धानरूपः, अन्यथा न्यायग्रथनात्मकशास्त्रारम्भसिद्धये तत्कर्तव्यतोक्त्ययुक्तेः, इतरस्य वेदेतिकर्तव्यतात्वानुपपत्तेश्च, श्रवणं च नोक्तन्यायानुसन्धानरूपं मननाभेदप्रसङ्गात् अतो न श्रवणविधिजिज्ञासासूत्रयोर्मूलमूलिभाव इति—वाच्यम्, जिज्ञासासूत्रस्य श्रवण-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विचार-विधायक श्रवणादि-विधि को ही जिज्ञासा सूत्र ("अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा") का मूल स्रोत माना जाता है।

शङ्का—विचार-विधि में अन्योऽन्याश्रय दोष भी होता है, क्योंकि श्रवण-साध्य अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा जनित अपरोक्ष-कामना को अधिकारी का विशेषण माना जाता है, अतः अपरोक्ष ज्ञान हो जाने पर अपरोक्ष-कामना से श्रवणादि में प्रवृत्ति और श्रवणादि से अपरोक्ष ज्ञान हो जाने पर अपरोक्ष-कामना का लाभ होगा।

समाधान—"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"—इस विधि वाक्य से प्रेरणा पाकर वेदाध्ययन में पुरुष प्रवृत्त होता है, पद-पदार्थ का संगति-ग्रह जिसको है, ऐसे पुरुष को वेदाध्ययन करते समय ही आपाततः आत्मविषयक परोक्ष ज्ञान हो जाता है, परोक्ष ज्ञान से अपरोक्ष ज्ञान की कामना उत्पन्न हो जाती है, वही कामना अधिकारी का विशेषण बन जाती है, अतः अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं होता, क्योंकि अपरोक्षज्ञानार्थ श्रवणादि में प्रवर्तमान अधिकारी का विशेषणभूत कामना अपरोक्ष ज्ञान के अधीन न होकर श्रवण के विना ही आपाततः उपजायमान परोक्ष ज्ञान से उत्पन्न हो जाती है।

शङ्का—जिज्ञासा-सूत्र में वर्णित विचार को तत्त्व-निर्णायक न्यायानुसन्धानरूप मानना होगा, अन्यथा न्यायों (अधिकरणों) के संग्रहरूप वेदान्त ग्रन्थ का आरम्भ सिद्ध करने के लिए श्रवणादि की कर्तव्यता का कथन असंगत हो जायगा, क्योंकि विचार से भिन्न शब्द-रचनादि को अपौरुषेय वेद में इतिकर्त्तव्य नहीं माना जा सकता, उक्त न्यायार्थों के अनुसन्धान को श्रवण नहीं कह सकते, क्योंकि वही मनन का भी स्वरूप है, श्रवण और मनन का अभेद हो जायगा। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि श्रवण-विधि को जिज्ञासा-सूत्र का मूल नहीं कह सकते।

न्यायामृतम्

वेदान्तानां शक्तितात्पर्यावधारणं श्रवणम्। तच्चोपक्रमोपसंहारादितात्पर्यलिंगविचाराधीनमिति विचारविधायकं श्रवणविधिमूलमेव जिज्ञासासूत्रम्। मननं तु श्रुतस्यार्थस्य युक्तिभिरनुचिन्तनमिति चेन्न, विवरणे श्रवणमंगि, प्रमाणस्य प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानादिति करणत्वेनोक्तस्य श्रवणस्येतिकर्तव्यतारूपविचारत्वायोगात्।

किं च युक्तिभिरनुचिन्तनं नाम यदि श्रवणनिश्चितस्य तात्पर्यस्य तद्विषयस्य वा स्मरणं वा प्रत्यभिज्ञा वा संस्कारदार्ढ्यफलकं श्रवणसमानाकारमभिज्ञान्तरं वा, तर्हि तस्याऽऽवश्यकश्रवणावृत्त्यैव सिद्धेर्मननविधिवैयर्थ्यम्। त्रिविधस्यापि तस्य श्रवणानन्तर्गतयुक्त्यनपेक्षत्वेन "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभि"रिति व्यवस्थापकस्मृतिविरोधश्च। "श्रवणं यावदज्ञानं मतिर्यावदयुक्तते"ति मननस्य श्रवणानिवर्त्या-

अद्वैतसिद्धिः

विधिसमानविषयकतया मूलमूलिभावाभावेऽपि श्रवणविधिविषयशक्तितात्पर्यावधारणात्मकश्रवणाक्षिप्तोपक्रमोपसंहारादितात्पर्यलिङ्गविचारमादाय समानविषयत्वसंभवेन तदुपपत्तेः। मननं तु श्रुतस्यार्थस्य युक्तिभिश्चिन्तनमिति न तदभेदोऽपि, अर्थाक्षिप्तविचारस्येतिकर्तव्यतात्वेऽपि तात्पर्यावधारणरूपे श्रवणे उक्तस्याङ्गित्वस्यानपायात्। यत्तु—युक्तिभिरनुचिन्तनं नाम यदि श्रवणनिश्चितस्य तात्पर्यस्य तद्विषयशब्दस्य वा स्मरणम्, प्रत्यभिज्ञानं वा, संस्कारदार्ढ्यफलकं श्रवणसमानाकारमभिज्ञान्तरं वा, तर्हि तस्यावश्यकश्रवणावृत्त्यैव सिद्धेः मननविधिवैयर्थ्यम्, त्रिविधस्यापि तस्य श्रवणानन्तर्गतयुक्त्यनपेक्षत्वेन श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिरिति स्मृतिविरोधश्च, 'श्रवणं यावदज्ञानं मतिर्यावदयुक्तता' इति मननस्य श्रवणानिवर्तिता-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—जिज्ञासा-सूत्र का विषय तात्पर्य-ग्राहक लिङ्गों के द्वारा वेदान्त-वाक्यों का विचार है और श्रवण है—शब्दों की शक्ति का अवधारण, अतः दोनों का विषय एक न होने के कारण समानविषयकत्वेन जो मूलमूलीभाव होना था, वह यद्यपि नहीं हो सकता, तथापि श्रवण-विधि के विषयीभूत शक्तितात्पर्यावधारणात्मक श्रवण के द्वारा आक्षिप्त तात्पर्यलिङ्गक वेदान्त-विचार को लेकर समानविषयता सम्भव हो जावे के कारण मूलमूलीभाव उपपन्न हो जाता है। श्रुत अर्थ का अनुकूल युक्तियों से अभिचिन्तन करना मनन है, अतः श्रवण से इसका अभेद भी नहीं होता। आत्मा के अपरोक्ष बोध में वेदान्त-वाक्य करण, और वदान्त-विचार इतिकर्तव्य है। वेदान्त-विचार का श्रवण ही आक्षेपक होता है, क्योंकि उसके विना श्रवण सम्पन्न ही नहीं होता, अतः श्रवण अङ्गी और मननादि अङ्ग होते हैं।

यह जो न्यायामृतकार ने कहा है कि आपके अनुसार युक्तिद्वारक अनुचिन्तनरूप मनन तीन प्रकार का हो सकता है—(१) श्रवण के द्वारा निश्चित शब्द-तात्पर्य का या तात्पर्यविषयक शब्द का स्मरण, अथवा (२) प्रत्यभिज्ञान, या संस्कारों का दृढ़तापादक श्रवणसमानाकार ज्ञानान्तर। वह त्रिविध मनन आवश्यकीभूत श्रवण की आवृत्ति से ही सिद्ध हो जाता है, पृथक् मनन-विधि व्यर्थ हो जाती है। दूसरी बात यह भी है कि उक्त तीनों प्रकारों के मनन में श्रवणानन्तर्गत युक्तियों की अपेक्षा ही नहीं, अतः "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः"—इस स्मृति का विरोध भी होता है, इतना ही नहीं, "श्रवणं यावदज्ञानं मतिर्यावदयुक्तता"—इस स्मृति का

न्यायामृतम्

युक्तत्वशंकानिवर्तत्ववाचिस्मृतिविरोधश्च । यदि त्वनुचिन्तनं श्रवणेन तात्पर्ये गृहीतेऽप्यस्यात्र तात्पर्यं युक्तं न वेति संशयादिनिवर्तकयुक्त्यनुसन्धानरूपम्, तर्हि युक्तायुक्तत्वसंशयादेः संशयपूर्वपक्षसिद्धान्तैर्मीमांसाशास्त्रे ग्रथितात्संशयादिनिवर्तकान्न्यायजातादन्येनानिवृत्तेस्तादृशन्यायग्रथनात्मकमीमांसाशास्त्रारम्भोपयुक्तविचारकर्तव्यताप्रतिपादयदाद्यं सूत्रं मननविधिमूलमेव स्यात् ।

एतेन गुरुमुखाद्वेदान्तानां ब्रह्मणि संयोजनं श्रवणम् । मननं तु युक्तितोऽसम्भावनानिरसनमिति कौमुद्युक्तस्तयोर्भेदः प्रत्युक्तः । श्रवणे उक्तयुक्त्यननुप्रवेश इष्टसिद्धेः । अनुप्रवेशे च भेदासिद्धेः । तेनैवासंम्भावनानिरसनसिद्धेश्च । युक्त्यननुसन्धानेऽपि श्रुतपदप्रयोगाच्च । न च कौमुद्युक्तस्य वादकथारूपश्रवणस्य युक्त्यनुसन्धानात्मकमननाद्भेदः, वादकथायास्तत्त्वनिर्णायकन्यायचर्चारूपत्वेन मननाद्भेदायोगात् । वाक्यार्थग्रहणं विना निरालम्बनचर्चायोगेन तदर्थवाक्यार्थग्रहणरूपत्वे चेष्टापत्तेः । न्यायानुसन्धानार्थप्रश्नोत्तररूपवाक्यविशेषप्रयोगरूपत्वे च तत्र श्रवणपदाप्रयोगात् । विचारविधायकस्याद्यसूत्रस्य श्रवणविधिमूलत्वासिद्धेश्च । ननु समन्वयाध्यायोक्ततात्पर्यनि

अद्वैतसिद्धिः

युक्तत्वशङ्कानिवर्तकत्वप्रतिपादकस्मृतिविरोधश्च इति, तन्न, अनुचिन्तनस्य श्रुतार्थविषयकयुक्तायुक्तत्वादिसंशयनिवर्तकयुक्त्यनुसन्धानरूपत्वेन विवक्षिततया त्वदुक्तदोषानवकाशात् । न च—एवं युक्तायुक्तत्वसंशयादेः संशयपूर्वपक्षसिद्धान्तात् मीमांसाशास्त्रग्रथितात् संशयादिनिवर्तकात् न्यायजातादन्येनानिवृत्तेः तादृशन्यायग्रथनात्मकमीमांसाशास्त्रारम्भोपयुक्तविचारकर्तव्यतां प्रतिपादयदाद्यसूत्रं मननविधिमूलमेव स्यात्, न तु श्रवणविधिमूलमिति—वाच्यम्, तात्पर्यविषययुक्तायुक्तत्वादिसंशयादिनिवर्तकविचारापेक्षया तात्पर्यनिर्णायकश्रवणाक्षिप्तलिङ्गविचारस्याभ्यर्हिततया तदाक्षेपकश्रवणविधिमूलत्वस्यैव वक्तुं शक्यत्वाद्, युक्तायुक्तत्वविचारस्यानुषङ्गिकत्वाच्च ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भी विरोध होता है, क्योंकि इस स्मृति में श्रवण के द्वारा अनिवर्तित अयुक्तत्व-शङ्का का निवर्तन मनन से माना गया है ।

न्यायामृतकार का वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि यहाँ 'अनुचिन्तन' पद से श्रुतार्थविशेष्यक युक्तायुक्तत्वप्रकारक संशय का निवर्तकीभूत अनुसन्धान विवक्षित है, अतः आपके द्वारा उद्भावित दोष प्रसक्त नहीं होते ।

शङ्का—कथित युक्तायुक्तत्वविषयक संशय की निवृत्ति विषय, संशय, पूर्व पक्ष, उत्तर पक्ष एवं प्रयोजनरूप पाँच अङ्गों से घटित, शारीरिक मीमांसा शास्त्र-ग्रन्थित, संशय-निवर्तक अधिकरणकदम्ब के विना नहीं हो सकती, अतः ऐसे अधिकरण-ग्रथनात्मक मीमांसा शास्त्र के आरम्भ में उपयुक्त विचार की कर्तव्यता का प्रतिपादक "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र० सू० १।१।१) यह सूत्र मननमूलक सिद्ध होता है, श्रवणमूलक नहीं ।

समाधान—श्रुतार्थविशेष्यक युक्तायुक्तत्वप्रकारक संशय के निवर्तकीभूत विचार की अपेक्षा तात्पर्य-निर्णायक, श्रवणाक्षिप्त, लिङ्गद्वारक विचार अभ्यर्हित (प्रथमोपादेय) है, अतः विचाराक्षेपक श्रवण-विधिमूलक ही "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"—यह प्रथम सूत्र निश्चित होता है । युक्तायुक्तत्वविचार तो केवल प्रासङ्गिक है ।

न्यायामृतम्

(श्चाय) र्णायकोपक्रमादियुक्त्यनुसन्धानं श्रवणम् । द्वितीयाध्यायोक्तार्थासत्त्वाशंका-निवर्तकयुक्त्यनुसन्धानं तु मननं सुरेश्वरेण

वेदान्तश्रवणं यत्तदुपायस्तर्क एव च ।
श्रुतिलिंगादिको न्यायः शब्दशक्तिविवेककृत् ॥
आगमार्थविनिश्चित्यै मन्तव्य इति भण्यते ।
वेदशब्दानुरोध्यत्र तर्कोऽपि विनियुज्यते ॥ इत्युक्तेः ।

अन्यैरपि वेदान्तानामशेषाणामादिमध्यावसानतः ।
ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमितिधीः श्रवणं भवेत् ॥
समन्वयाध्याय एतत्सूक्तं धीस्वास्थ्यकारिभिः ।
तर्काः सम्भावनार्थस्य द्वितीयाध्याय ईरिताः ॥

इत्युक्तेरिति चेन्न, विवरणे "यौक्तिकासम्भावनाविपरीतभावनानिरासितर्काणां प्रथम-ज्ञानेऽन्तभूर्तत्वा"दित्यादिनार्थोपपत्तीनामपि श्रवणान्तर्गतिमुक्त्वा ब्रह्मात्मपरिभावना-प्रचयनिमित्तकतदेकाग्रवृत्त्ययोग्यत्वमसम्भावना विपरीतभावना तु शरीराद्यध्यास-

---

अद्वैतसिद्धिः

यद्वा—समन्वयाध्यायोक्ततात्पर्यनिश्चायकोपक्रमादियुक्त्यनुसन्धानं श्रवणं द्वितीयाध्यायोक्तार्थासत्त्वशङ्कानिवर्तकयुक्त्यनुसन्धानं मननम् । ननु—एवं विवरणो-क्तिविरोधः यौक्तिकासंभावनाविपरीतभावनानिरासितर्काणां प्रथमज्ञानान्तर्भूतत्वाद् इत्यादिना अर्थापत्तीनामपि श्रवणान्तर्गतिमुक्त्वा "ब्रह्मात्मत्वविपरीतभावनाप्रचय-निमित्ततदेकाग्रवृत्त्ययोग्यत्वमसंभावना विपरीतभावना तु शरीराध्याससंस्कारप्रचयः"

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अथवा समन्वयसंज्ञक प्रथमाध्याय में प्रतिपादित, तात्पर्य-निश्चायक, उपक्रमादि युक्तियों का अनुसन्धान श्रवण और अविरोधाख्य द्वितीयाध्याय में कथित अर्थासत्त्व-शङ्का निवर्तक युक्तियों का अनुचिन्तन मनन है [जैसा कि सुरेश्वराचार्य ने कहा है—

दर्शनस्याविधेयत्वात् तदुपायो विधीयते ।
वेदान्तश्रवणं यत्तदुपायः तर्क एव च ॥
श्रुतिलिङ्गादिको न्यायः शब्दशक्तिविवेककृत् ।
आगमार्थविनिश्चित्यै मन्तव्य इति भण्यते ॥ (बृह० वा० पृ० १०६८)

विद्यारण्यस्वामी ने भी कहा है—

वेदान्तानामशेषाणामादिमध्यावसानतः ।
ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमिति धीः श्रवणं भवेत् ॥
समन्वायाध्याय एतत्सूक्तं तीर्थकरादिभिः ।
तर्काः सम्भावनार्थाश्च द्वितीयाध्याय ईरिताः ॥ (पं० तृप्ति० १०१-२)]

शङ्का—तात्पर्यग्राहक युक्तियों के अनुसन्धान को श्रवण मानने पर विवरण ग्रंथ का विरोध होता है, क्योंकि विवरणकार ने "यौक्तिकासम्भावनाविपरीतभावनानिरासि-तर्काणां प्रथमज्ञानान्तर्भूतत्वात्" (पं० वि० पृ० ४०८) इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा अर्थोप-पत्ति (अर्थगतायुक्तत्व-शङ्का-निवर्तक मननाख्यतर्क) का श्रवण में अन्तर्भाव कह कर "ब्रह्मात्मत्वविपरीतभावनाप्रचयनिमित्ततदेकाग्रवृत्त्ययोग्यत्वसम्भावना, विपरीतभावना तु शरीराध्याससंस्कारप्रचयः" (पं० वि० पृ० ३९३) इत्यादि ग्रंथ के द्वारा असम्भावना-

न्यायामृतम्

संस्कारप्रचयः" इत्यादिना असम्भावनानिवर्तकस्य मननस्यार्थनिश्चयानन्तरभाविभावनाप्रचयहेतुचित्तैकाग्र्यहेतुताया एवोक्तत्वात्, जिज्ञासासूत्रस्यांशे मननविधिमूलत्वापाताच्च। "मन्तव्यश्चोपपत्तिभि"रिति स्मृतिस्थोपपत्तिशब्दस्य "मतिर्यावदयुक्तते"ति स्मृतिस्थायुक्तशब्दस्य च "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य" इति श्रुतिशब्दस्येव सामान्यपरताहानेन "आदौ यच्छ्रद्धया सिद्धं पश्चान्न्यायेन साधित"मिति न्यायेन युक्त्यनपेक्षश्रद्धामात्रेण प्रतिवाक्यमयमस्य वाक्यस्यार्थ इति गुरुमुखाद्वाक्यार्थग्रहणं श्रवणं पश्चान्न्यायानुसन्धानं मननमिति भेदसम्भवे युक्तिष्वेव श्रवणमननभेदकल्पनायोगाच्च। उक्तस्य वाक्यार्थ-

अद्वैतसिद्धिः

इत्यादिना असंभावनानिवर्तकस्य मननस्यार्थनिश्चयानन्तरभाविभावनाप्रचयहेतुचित्तैकाग्र्यहेतुताया एवोक्तत्वादिति—चेन्न, भिन्नप्रस्थानतया विवरणविरोधस्याकिंचित्करत्वात्। न च जिज्ञासासूत्रस्यांशे मननविधिमूलत्वापातः, समन्वयोक्तविचारस्याभ्यर्हिततया श्रवणविधिमूलत्वस्यैव वक्तव्यत्वोपपत्तेः।

ननु—'मन्तव्यश्चोपपत्तिभि'रिति स्मृतिगतोपपत्तिशब्दस्य मतिर्यावदयुक्ततेति स्मृतिस्थायुक्तशब्दस्य श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य इति श्रुतिशब्दस्येव सामान्यपरत्वाहानेन 'आदौ यच्छ्रद्धया सिद्धं पश्चान्न्यायेन साधितम्।' इति न्यायेन युक्त्यनपेक्षश्रद्धामात्रेण प्रतिवाक्यमयमस्य वाक्यस्यार्थ इति गुरुमुखाद्वेदार्थग्रहणं श्रवणं पश्चात् न्यायानुसंधानं मननमिति भेदसंभवे युक्तिष्वेव श्रवणमननभेदकथनायोग इति—चेन्न, वाक्यार्थग्रहणस्य प्रमारूपतया अविधेयत्वस्योक्तत्वात्। ननु—उक्तस्य वाक्यार्थग्रह-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

निवर्तक मनन को अर्थ-निश्चय के अनन्तरभावी भावना-प्रचय की हेतुभूत चित्तगत एकाग्रता का हेतु कहा है।

समाधान—एक प्रस्थान का दूसरे प्रस्थान से यदि कुछ अन्तर या विरोध न रहे, तब उसे प्रस्थानान्तर ही नहीं कहा जा सकता, अतः वार्तिक प्रस्थान के अनुसार प्रदर्शित मननादि के स्वरूप में विवरण-प्रस्थान का विरोध बाधक नहीं माना जाता। जिज्ञासा-सूत्र में मनन-विधिमूलकत्व की आपत्ति भी नहीं दी जा सकती, क्योंकि समन्वयाध्यायोक्त विचार के अभ्यर्हित होने के कारण जिज्ञासा-सूत्र में श्रवण-विधिमूलकत्व मानना उचित ही है।

शङ्का—"मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः"—इस स्मृति वाक्य का 'उपपत्ति' शब्द और "मतिर्यावदयुक्तता"—इस स्मृति का 'अयुक्त' शब्द वैसे ही सामान्यार्थ का समर्पक है, जैसे "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः"—इसका 'श्रुति' शब्द, अर्थात् उक्त 'उपपत्ति' शब्द के द्वारा शब्दोपपत्ति और अर्थोपपत्ति—दोनों प्रकार की युक्तियों का मनन में अन्तर्भाव प्रतिपादित है, अतः दोनों उपपत्तियों का भेद करना उचित नहीं, अतः "आदौ यच्छ्रद्धया सिद्धं पश्चान्न्यायेन साधितम्"—इस न्याय के अनुसार गुरु के मुख से 'अस्य वाक्यस्यायमर्थः'—इस प्रकार श्रद्धापूर्वक प्रत्येक वैदिक वाक्य का अर्थ ग्रहण करना ही श्रवण और पश्चात् उसी अर्थ में न्यायानुसन्धान मनन है—इस प्रकार जब श्रवण और मनन का मौलिक अन्तर हो जाता है, तब केवल शब्द-युक्ति और अर्थ-युक्ति का भेद डाल कर उनका भेद करना उचित नहीं।

समाधान—वाक्यार्थ का ग्रहण प्रमाज्ञानरूप होने के कारण विधेय नहीं होता—

न्यायामृतम्

ग्रहणस्य श्रवणादित्रयानन्तर्भावेन चतुर्थस्यापि मुमुक्ष्वनुष्ठेयत्वापाताच्च। केवलं गुरुमुखाद्वेदार्थं श्रुतवति न श्रुतमनेनेति प्रसंगाच्च। प्रमाणभूतश्रुतितात्पर्ये निश्चितेऽर्थसत्त्वार्थमुपपत्त्यपेक्षायोगेन मननस्यार्थासत्त्वरूपाप्रामाण्यशंकानिवर्तकत्वे वक्तव्ये निश्चितप्रामाण्यस्य पुंसो मननाभावप्रसंगाच्च । न चापेक्षितसर्वतर्काणां श्रवणान्तर्गतावपि श्रुत्यविरुद्धमनुमानमर्थापत्तिर्वा मननमिति युक्तम्, ब्रह्मण औपनिषदत्वश्रुत्यानुमानाद्यगोचरत्वात्। श्रवणनियमने शब्देतरस्य सर्वस्य करणस्य निषेद्धव्यत्वाच्च। अन्यथा कदाचिदनु-

अद्वैतसिद्धिः

णस्य श्रवणादित्रयानन्तर्भावे चतुर्थस्यापि मुमुक्ष्वनुष्ठेयत्वापात इति—चेन्न, तस्य ज्ञानरूपतया अनुष्ठानानर्हत्वात्, श्रद्धामात्रात् स्वत एव जातत्वेनापुंतन्त्रत्वाच्च। न चैवं केवलं गुरुमुखात्तदर्थं श्रुतवति श्रुतमनेनेति प्रयोगानुपपत्तिः, विधेयत्वान्यथानुपपत्त्या अर्थान्तरत्वे स्थिते अस्य प्रयोगस्य गौणतादिना कथंचिदुपपादनीयत्वात्। अत एव स्मृतिगतोपपत्त्ययुक्ततापदयोर्न सामान्यपरता। न च—प्रमाणभूतश्रुतितात्पर्ये निश्चिते अर्थसत्त्वार्थमुपपत्त्यपेक्षायोगेन मननस्यार्थासत्त्वरूपाप्रामाण्यशङ्कानिवर्तकत्वे वक्तव्ये निश्चितप्रामाण्यस्य पुंसो मननाभावप्रसङ्ग इति—वाच्यम्, तादृशं प्रति तदभावस्येष्टत्वात्, कृष्णले अतिदेशप्राप्तस्यावघातस्य द्वारबाधेन बाधदर्शनात्। तस्मा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यह कहा जा चुका है। 'उक्त वेदार्थ-ग्रहण श्रवणादि के अन्तर्गत एक चतुर्थ अनुष्ठेय अर्थ है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह श्रवणादि के अन्तर्गत हो या अनन्तर्गत, उसका ज्ञानरूप होना निश्चित है, वह पुरुष की इच्छा से उत्पन्न नहीं होता, अपितु श्रद्धामात्र से स्वतः उत्पन्न होता है, अतः पुरुषाधीन न होने के कारण कथमपि विधेय नहीं हो सकता।

शङ्का—गुरु-मुख से वेदार्थ-ग्रहण यदि श्रोता पुरुष के अधीन नहीं, तब 'अनेन श्रुतम्' (श्रवणेन सम्पादितम्) ऐसा प्रयोग वेदार्थ-श्रोता पुरुष के लिए नहीं हो सकेगा।

समाधान—उक्त अर्थ-ग्रहण को ज्ञानरूप मानने पर उसमें विधेयत्व नहीं बन सकता, अतः उसे ज्ञानरूप न मान कर 'श्रुतम्'—इस प्रयोग को गौणार्थक माना जा सकता है। अत एव कथित स्मृति-वाक्यगत 'उपपत्ति' और 'अयुक्तता'—इन दोनों पदों में सामान्यार्थपरकत्व नहीं माना जा सकता।

शङ्का—श्रुति स्वतः प्रमाण है और उसका तात्पर्य निश्चित है, अतः उसके अर्थगत सत्त्व के लिए युक्ति की अपेक्षा ही नहीं होती, अतः मनन में अर्थासत्त्वरूप अप्रामाण्य-शङ्का की निवर्तकता ही कहनी होगी, तब जिस पुरुष को प्रामाण्य का निश्चय है, अप्रामाण्य-शङ्का है ही नहीं, उस पुरुष की मनन में प्रवृत्ति क्योंकर होगी ?

समाधान—विधि-वाक्य-विहित पदार्थों का जहाँ बाध हो जाता है, वहाँ विधेयार्थ का अनुष्ठान न होना अभीष्ट ही है, जैसे कृष्णल चरु (सुवर्ण-कणों) में अतिदेश-वाक्य के द्वारा प्राप्त अवघात का अनुष्ठान नहीं होता, क्योंकि वहाँ तुष-विमोकरूप (प्रयोजन) का बाध होने के कारण अवघात प्राप्त ही नहीं होता। वैसे ही जिस पुरुष को अप्रामाण्य-सन्देह नहीं, वह न तो मनन का अधिकारी होता है और न

न्यायामृतम्

मानादिनापि ब्रह्मनिश्चयसम्भवेन श्रवणे नियमेन न प्रवर्तेतापि। तस्माद्युक्त्यनुसन्धानरूपो विचारो न श्रवणम्, किं तु मननमेवेति मननविधिमूलमेव जिज्ञासासूत्रम्। उक्तं हि सुधायां "जिज्ञासा नाम युक्त्यनुसन्धानात्मकविचारापरपर्यायं मनन"मिति ॥ ५ ॥

अद्वैतसिद्धिः

त्तात्पर्यावधारणं श्रवणम्। तच्च लिङ्गविचाराधीनमिति विचारकर्तव्यतापरमाद्यसूत्रं श्रवणविधिमूलकम्, न तु मननविधिमूलकमिति सिद्धं जिज्ञासासूत्रस्य श्रवणविधिमात्रमूलकत्वम् ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मनन का उसे अनुष्ठान करने की आवश्यकता। फलतः वैदिक शब्दों के शक्तिरूप तात्पर्य का अवधारण ही श्रवण का स्वरूप निश्चित होता है, तात्पर्यावधारण तभी सम्भव है, जब कि तात्पर्य-ग्राहक लिङ्गों के द्वारा वेदान्त-विचार किया जाय, अतः विचार की कर्त्तव्यता के प्रतिपादक "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"—इस प्रथम सूत्र की मूल श्रवण-विधि ही होती है, मनन-विधि नहीं—यह सिद्ध हो गया।

: ६ :

विचारस्य श्रवणविधिमूलत्वविचारः

न्यायामृतम्

किं च त्वन्मते कर्मकाण्डविचारो यथोत्तरक्रतुविधिप्रयुक्तस्तथा ब्रह्मकाण्ड-विचारो ज्ञानविधिप्रयुक्तः किं न स्यात् ? उत्तरक्रतुविधिभिः स्वानुष्ठाप्यार्थनिर्णयाय तद्विचारस्येव "तरति शोकमात्मविदि"त्यादिना शोकनिवृत्तिहेतुत्वेनावगतेनात्मज्ञानेन स्वसिद्धये वेदान्तविचारस्याऽऽक्षेपात्। युक्तं चानेकेषां क्रतुविधीनामाक्षेपकत्वादप्येकस्येव तत्। यदि चाध्ययनविधेर्नित्यत्वेनार्थज्ञानार्थत्वाभावेनादृष्टार्थत्वाद्विचार-विध्यभावे विषनिर्हरणमन्त्रस्येव तरतीत्यादेरर्थपरत्वाभावान्न तदाक्षेपकता, तर्हि तत एवोत्तरक्रतुविधीनामपि सा न स्यात्। अथाध्ययनविधेर्नित्यत्वेऽपि शब्दसामर्थ्यात्

अद्वैतसिद्धिः

ननु—त्वन्मते कर्मकाण्डविचारो यथोत्तरक्रतुविधिप्रयुक्तः, तथा ब्रह्मकाण्ड-विचारोऽपि ज्ञानविधिप्रयुक्त इत्येव किं न स्यात् ? उत्तरक्रतुविधिभिः स्वानुष्ठाप्यार्थ-निर्णयान्तविचारस्येव 'तरति शोकमात्मवि'दित्यादिना शोकनिवृत्तिहेतुत्वेनावगतेना-त्मज्ञानेन स्वसिद्धये वेदान्तविचारस्याक्षेपात्। युक्तं चानेकेषां क्रतुविधीनामाक्षेपक-त्वादप्येकस्यैवाक्षेपकत्वमिति—चेन्न, यद्यपि कार्येण कारणाक्षेपः संभवति, तथापि तस्य वैधत्वसिद्ध्यर्थं विधिमूलत्वस्यावश्यं वक्तव्यत्वात्। अन्यथा कर्मकाण्डविचार-स्यापि कर्मज्ञानादेवाक्षेपे अध्ययनविधेर्वोत्तरक्रतुविधीनां वा आक्षेपकत्वोक्तिरयुक्ता स्यात्, मननविधिमूलत्वं वदता त्वयापि अस्याक्षेपस्यावश्यं परिहरणीयत्वात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—आप (अद्वैती) के मतानुसार जैसे कर्म-काण्ड का विचार विचारोत्तर-भावी "अग्निहोत्रं जुहोति"—इत्यादि कर्मों के विधि वाक्यों से प्रयुक्त होता है [अपने-अपने विधि वाक्यों से बोधित अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान तभी होगा, जब कि उनका साङ्गोपाङ्ग ज्ञान हो। वह ज्ञान असन्दिग्धरूप में तभी होगा, जब पूर्व काण्ड की विचारणा (मीमांसा) की जाय। वैसे ही ब्रह्म-काण्ड का विचार भी ज्ञान-विधि-प्रयुक्त है—ऐसा क्यों न मान लिया जाय ? क्योंकि जैसे विचारोत्तर क्रियमाण कर्मों के विधि वाक्य अपने विधेयभूत यागादि पदार्थों के निर्णय-पर्यन्त विचार की अपेक्षा करते हैं, वैसे ही "तरति शोकमात्मवित्" (छां० ११७।३) इत्यादि वाक्यों से अवगत, शोक-निवर्तक आत्मज्ञान अपनी सिद्धि के लिए वेदान्त-विचार की अपेक्षा करता है। यही उचित भी है कि जो आप (अद्वैती) ने अनेक क्रतु-विधियों में विचार की आक्षेपकता मानी है, उसकी अपेक्षा एक ही आत्मज्ञान-विधि में विचार की आक्षेपकता लघु और न्यायोचित है।

समाधान—यद्यपि सर्वत्र कार्य के द्वारा कारण का आक्षेप होता ही है, तथापि आक्षेप्यार्थ में वैधत्व सिद्ध करने के लिए विधि वाक्य के द्वारा आक्षिप्तत्व परमावश्यक है, अन्यथा कर्मकाण्ड-विचार का कर्म-ज्ञान मात्र से आक्षेप हो जाने पर अध्ययन-विधि या उत्तरकालीन कर्म-विधि में विचार की आक्षेपकता का कथन अयुक्त हो जायगा। आप (द्वैती) वेदान्त-विचार में मननमूलकत्व मानते हैं, अतः आपको भी उक्त शङ्का का समाधान करना आवश्यक है। प्रकृत में श्रवण-विधि को वेदान्त-विचार का आक्षेपक मानने पर ही विचार में वैधत्व आ सकता है, अन्यथा नहीं।

न्यायामृतम्

न प्रतीतार्थोन त्याज्य इति क्रतुविधीनामाक्षेपकता, तर्हि तत एव तरतीत्यादेरपि सा स्यात्। अस्ति च ब्रह्मकाण्डवत्कर्मकाण्डेऽपि साक्षाद्विचारविधिः । "स्थाणुरयं भारवाहः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।" पठेद्वेदानथार्थानधीयीत,

"यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥ इत्यादि

तस्माच्छ्रवणविध्याक्षिप्तो विचार इति विवरणमतं न युक्तम्। अत एव कर्मकाण्डविचारस्यार्थज्ञानपर्यन्ताध्ययनविधिप्रयुक्तत्वेऽपि ब्रह्मविचारः श्रवणविधिप्रयुक्त इति कौमुद्युक्तं च निरस्तम्, विचारस्य श्रवणविधिप्रयुक्तत्वनिरासात्। कर्मविचारवत् ब्रह्मविचारस्याप्यध्ययनविधिप्रयुक्तत्वसम्भवाच्च।

ननु साक्षात्कारफलकमावृत्तिगुणकं मननाद्यंगकमिदं श्रवणमध्ययनविधिप्रयुक्तश्रवणमात्राद्भिन्नमितिविध्यन्तरं युक्तमिति चेन्न, ब्रह्मविचारस्याध्ययनविधिप्रयुक्ततत्वेऽपिसाक्षात्कारस्यापरोक्षैकरसात्मविषयकत्वेनैव सिद्धेः। आवृत्तेश्च विध्यन्तरांगीकारेऽप्यवघातादिवद् दृष्टफलत्वेनैव वक्तव्यत्वात्। कर्मकाण्डेऽपि तात्पर्यावधारणपर्यन्तं विचारावृत्तेरपेक्षितत्वात्। ततः परं ब्रह्मकाण्डेऽपि तदावृत्तेरनपेक्षणात्। मननस्य च

अद्वैतसिद्धिः

एतेन—अर्थावगमपर्यन्ताध्ययनविधिप्रयुक्तत्वस्य कर्मविचारवद् ब्रह्मविचारेऽपि संभवे न श्रवणविधिप्रयुक्तत्वम्। न च—साक्षात्कारफलकमावृत्तिगुणकं मननाद्यङ्गकमिदं श्रवणमध्ययनविधिप्रयुक्तश्रवणमात्राद् भिन्नमिति विध्यन्तरं युक्तमिति—वाच्यम्, ब्रह्मविचारस्याप्यध्ययनविधिप्रयुक्तत्वेऽपि साक्षात्कारस्यापरोक्षैकरसात्मविषयत्वेनैव सिद्धेः, आवृत्तेश्च विध्यन्तराङ्गीकारेऽपि अवघातवद् दृष्टफलत्वेन वक्तव्यत्वात् कर्मकाण्डेऽपि तात्पर्यावधारणपर्यन्तविचारावृत्तेरपेक्षितत्वात्, ततः परं ब्रह्मकाण्डेऽपि तदावृत्तेरनपेक्षितत्वात्। मननस्य च कर्मकाण्डेऽपि तदर्थनिश्चयायापेक्षितत्वादध्ययन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि जैसे कर्मज्ञान-पर्यन्त कर्म-विचार में अध्ययन-विधि-प्रयुक्तत्व माना जाता है, वैसे ही ब्रह्म-विचार में भी अध्ययन विधि-प्रयुक्तत्व सम्भव है, अतः उसमें श्रवण-विधि-प्रयुक्तत्व मानने की क्या आवश्यकता? यदि कहा जाय कि अध्ययन-विधि-प्रयुक्त केवल श्रवण की अपेक्षा "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" (ब्र० सू० ४।१।१) में जिसकी आवृत्ति प्रतिपादित है, ऐसा आत्मसाक्षात्कारफलक और मननाङ्गक श्रवण भिन्न होता है, अतः इस श्रवण का विधान करने के लिए अध्ययन-विधि की अपेक्षा भिन्न "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" (बृह० उ० ४।५।६) इस विधि की आवश्यकता है। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वेदान्तविचार का लाभ तो अध्ययन-विधिसे हो हो जाता है और आत्मसाक्षात्कार अपरोक्षैकरस आत्मा को विषय करता है, उसमें किसी साधन की अपेक्षा ही नहीं। "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्"—इस सूत्र के द्वारा जिसकी आवृत्ति प्रतिपादित है, उस श्रवण की प्राप्ति के लिए श्रवण-विधि की अपेक्षा आवश्यक है, किन्तु उस श्रवण का विचाररूप दृष्ट फल वैसे ही माना जाता है, जैसे आवर्त्यमान अवघात का तुष-विमोक रूप दृष्ट फल। कर्म-काण्ड में भी तात्पर्यावधारण-पर्यन्त विचार की आवृत्ति अपेक्षित होती है और तात्पर्यविधारण हो जाने के पश्चात् ब्रह्म-काण्ड में भी आवृत्ति की अपेक्षा नहीं होती। मनन की तो कर्म-काण्ड में भी वेदार्थ-

न्यायामृतम्

कर्मकाण्डेऽपि तदर्थनिश्चयायापेक्षितत्वादध्ययनविधिविहितैकदेशारण्यकाध्ययनानुवादेन वाक्यान्तरेणारण्याद्यंगांतरविधानवत् मुंडककारीर्याद्यध्ययनानुवादेन शिरोव्रतभूभोजनाद्यंगविधानवत् "तां चतुर्भिरादत्त" इत्यत्रार्थप्राप्तादानानुवादेन संख्याविधानवद्वाध्ययनविध्याक्षिप्तविचारैकदेशानुवादेन त्वद्रीत्या मननाद्यंगविधानस्य सम्भवात्, तस्मात्—

युक्तिचिन्तनरूपस्य विचारस्य विधायकम्। सूत्रं तद्रूपमननविधातृ श्रुतिमूलकम् ॥ न तु विवरणकारमत इव श्रवणविधिमूलम्। श्रवणविधेर्विचारविधायकत्वभंगः ॥६॥

अद्वैतसिद्धिः

विधिविहितैकदेशारण्यकाध्ययनानुवादेन वाक्यान्तरेणारण्याद्यङ्गान्तरविधानवत् मुण्डककारीर्याद्यध्ययनानुवादेन शिरोव्रतभूमिभोजनाद्यङ्गविधानवत् 'तां चतुर्भिरादत्त' इत्यर्थप्राप्ताभ्र्यादानानुवादेन संख्याविधानवद्वाध्ययनविध्याक्षिप्तविचारैकदेशानुवादेन त्वद्रीत्या मननाद्यङ्गविधानस्य संभवादिति—निरस्तम्, मननविधिमूलत्ववादिनोऽपि समानत्वादध्ययनविधेः स्वाध्यायावाप्तिफलकतया अर्थज्ञानफलकत्वाभावाद्, अध्येतव्य इति कर्मप्रधानतव्यप्रत्ययेन स्वाध्यायस्यैव फलत्वावगमात्। न च तस्यापुरुषार्थतया फलवदर्थावबोधपर्यन्तं व्यापारः, 'चित्रया यजेत पशुकाम' इत्यादावपि काम्यमानपश्वादेरण्यफलत्वापत्तेः, परंपरया पुरुषार्थसाधनतया फलत्वे प्रकृतेऽपि तस्य संभवात्। तस्माच्छ्रवणविधिर्मूलं विचारविधायकजिज्ञासासूत्रस्य, न तु मननविधिरिति सिद्धम् ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ विचारस्य श्रवणविधिमूलत्वोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

निश्चय के लिए अपेक्षा होती है। अध्ययन-विधि से विहित समस्त शाखा-अध्ययन के एक देशभूत आरण्यक-अध्ययन का अनुवाद करके जैसे वाक्यान्तर से अरण्यादि अङ्गान्तर का विधान किया गया, जैसे मुण्डकाध्ययन का अनुवाद कर "तेषामेवैतेषां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्" (मुं० ३।२।१०) इस वाक्य से शिरोव्रत का विधान किया गया, जैसे कारीरी-प्रतिपादक वाक्यों के अध्ययन का अनुवाद करके भूमिभोजन का विधान किया गया ["कारीरीवाक्यान्यधीयानाः तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाचरन्ति" शाबर. पृ० ६३२] एवं "तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते"—इस वाक्य से अर्थप्राप्त अभ्री (काष्ठ-निर्मित कुदाल) के आदान का अनुवाद करके "देवस्य त्वा सवितुः"—इत्यादि चार मन्त्रों का विधान किया गया, वैसे ही अध्ययन-विधि के द्वारा आक्षिप्त विचार के एक देशभूत वेदान्त-विचार का अनुवाद कर आप (अद्वैती) की रीति से मननादि अङ्ग-कलाप का विधान हो सकता है।

वह कहना इसी लिए निरस्त हो जाता है कि मनन-विधिवादी आप (माध्व) के लिए भी उक्त आशङ्का का समाधान करना आवश्यक है। दूसरी बात यह भी है कि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"—इस अध्ययन-विधि का स्वाध्याय (अपनी शाखा) की अवाप्ति ही फल है, अर्थ-ज्ञान नहीं, क्योंकि 'अध्येतव्यः'—यहाँ कर्म-वाचक 'तव्य' प्रत्यय के द्वारा स्वाध्यायरूप कर्म कारक ही अध्ययन का फल प्रतीत होता है। यदि स्वाध्याय अपुरुषार्थ होने के कारण फल नहीं माना जाता, अतः फलवान् अर्थावबोध तक विधि का व्यापार माना जाता है, तब "चित्रया यजेत पशुकामः" (तै० सं० २।४।६।१)

: ७ :

अध्ययनविधेर्नित्यत्वेऽपि विचारविधायकत्वविचारः

न्यायामृतम्

यत्तु भामत्युक्तम् "श्रवणादिविध्यभावादध्ययनविधिरेव काण्डद्वयविचराक्षेपक" इति, तत् "स्वाध्यायस्य हि तथात्वेने"त्यत्र सूत्रभाष्यादौ "अध्ययनस्य चार्थज्ञानपर्यन्तत्वादि"ति टीकायां च तस्य तदाक्षेपकताया उक्तत्वादिष्टम्, श्रवणादिविधिस्तु समर्थयिष्यते। ननु तत्रैव टीकायां योऽनधीत्येत्यकरणे प्रत्यवायस्मरणेनाध्ययनस्य नित्यताप्युक्ता, तत्कथं तस्यार्थज्ञानपर्यन्तत्वमिति चेन्न, अर्थज्ञा(नार्थत्वे)नपर्यन्तत्वेऽप्यध्ययनविधेरवैयर्थ्यायाधीतेनैव वेदेन कर्तव्यतां ज्ञात्वानुष्ठितं कर्म फलायालमित्यादिनियमाश्रयणात्। असत्यध्ययने यथोक्तनित्यादिकर्मानुष्ठानासिद्ध्या प्रत्यवायश्रवणो-

अद्वैतसिद्धिः

प्रस्थानान्तरे तु अध्ययनविधेरेवार्थावगमपर्यन्तत्वात् काण्डद्वयविचाराक्षेपकत्वम्, श्रवणादिषु च न विधिः। तेषामन्वयव्यतिरेकसिद्धसाक्षात्कारसाधनताकत्वादित्युक्तम्। न च—अध्ययनाभावे प्रत्यवायश्रवणादध्ययनस्य नित्यताया अप्यवगमात् कथं तस्यार्थावगमपर्यन्तत्वमिति—वाच्यम्, अर्थज्ञानार्थत्वेऽपि अध्ययनविधेरवयर्थ्याय अधीतेनैव वेदेन कर्तव्यतां ज्ञात्वा अनुष्ठितं कर्म फलायालमित्यादिनियमाश्रयणादसत्यध्ययने यथोक्तनित्यादिकर्मानुष्ठानासिद्ध्या प्रत्यवायश्रवणोपपत्तिः। तथा चार्थ-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इत्यादि-स्थल पर भी काम्यमान पशु को भी साक्षात् पुरुषार्थ (सुखादिरूप) न होने के कारण फल न मान सकेंगे और पुरुषार्थ-साधनत्वेन परम्परया फल मानने पर प्रकृत में भी सम्भव है। अतः श्रवण-विधि ही विचार-विधायक जिज्ञासा-सूत्र का मूल है।

वाचस्पत्य प्रस्थान में अध्ययन-विधि का ही अर्थज्ञान-पर्यन्त व्यापार माना जाता है, अतः अध्ययन-विधि को ही कर्म विचार के समान ब्रह्म विचार का भी आक्षेपक माना जाता है, साक्षात्कार के उद्देश्य से श्रवणादि का विधान नहीं माना जाता, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर श्रवणादि में साक्षात्कार की हेतुता सिद्ध है [जैसा कि श्री वाचस्पति मिश्र ने कहा है—"अन्यतः प्राप्ता एव हि श्रवणादयो विधिसरूपैर्वाक्यैरनूद्यन्ते" (भामती० पृ० १३०)। इसकी व्याख्या में कल्पतरुकार ने कहा है—"दर्शनार्थं कर्तव्यत्वेनान्वयव्यतिरेकावगतान् श्रवणादीननुवदन्ति वचांसि"।

शङ्का—यह जो कहा गया कि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"—यह विधि वाक्य कहता है कि स्वाध्याय (अपनी शाखा) का अध्ययन तब तक करना चाहिए, जब तक अर्थावगम न हो। वह कहना संगत नहीं, क्योंकि जीवन में अध्ययन का कभी अभाव हो जाने पर प्रत्यवाय बताया है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ (मनु० २।१६)

इससे यह सिद्ध होता है कि स्वध्याय नित्य कर्म है, उसे जीवन-पर्यन्त करना होगा।

समाधान—यद्यपि अध्ययन का अर्थज्ञान ही प्रयोजन है, तथापि अध्ययन-विधि की अव्यर्थता के लिए ऐसा नियम बनाया जाता है कि "अधीतेनैव वेदेन कर्तव्यतां ज्ञात्वा अनुष्ठितं कर्म फलप्रदं भवति' अतः कदाचित् अध्ययन न हो सकने पर अधीत वेद के द्वारा ज्ञात नित्य कर्म का अनुष्ठान न हो पाने के कारण प्रत्यवाय प्रतिपादित है।

न्यायामृतम्

पपत्तिः । तथा चार्थज्ञानार्थस्याप्यध्ययनस्य फलतो नित्यत्वमिति केचित् । अपरे तु अनध्ययनेन सन्ध्यानुपासनेनेव साक्षात्प्रत्यवायस्मरणेनाध्ययनस्यादृष्टार्थत्वेऽप्यर्थ-ज्ञानस्यापि दृष्टत्वादपेक्षितत्वाच्च तादर्थ्यमपीत्युभयार्थता पशुपुरोडाशादिवदित्याहुः ।

अथवा श्रुतिबलाद्ध्यादेः क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वार्थत्ववद्दर्शपूर्णमासादेर्नित्यकाम्य-त्ववच्चाध्ययनस्याप्युभयार्थता । प्रत्यवायस्येव "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति"इत्यादि श्रुत्या "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य"इति स्मृत्या च ब्रह्मज्ञानार्थत्वस्याप्यवगमात् । यद्वोक्त-श्रुत्याध्ययनस्य ब्रह्मज्ञानार्थत्वेऽपि "यदेव विद्यया करोती"त्यादिश्रुत्या ब्रह्मज्ञानस्यैवा-वश्यकत्वात् ज्ञानार्थत्वेऽप्यध्ययनस्याकरणे प्रत्यवायश्रवणं युक्तम् । एतेन नित्यत्वाद-ध्ययनविधिर्न विचाराक्षेपक इति यद्विवरणाभिप्रेतं तन्निरस्तम् । तस्मात्—

ब्रह्मज्ञानफलस्यापि स्वाध्यायाध्ययनस्य या ।
टीकायां नित्यता प्रोक्ता सापि नैव विरुध्यते ॥

अध्ययनविधेर्नित्यत्वेऽपि विचारविधायकत्वम् ॥ ७ ॥

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञानार्थस्यापि अध्ययनस्य फलतो नित्यत्वमिति केचित् । अपरे तु—अनध्ययने संध्यानु-पासन इव साक्षात् प्रत्यवायश्रवणेनाध्ययनस्यादृष्टत्वेऽप्यर्थज्ञानस्यापि दृष्टत्वादपेक्षित-त्वाच्च तादर्थ्यमपीत्युभयार्थता पशुपुरोडाशादिवदिति—आहुः । अत्र चाध्ययनविधेर्नि-त्यत्वे सत्युभयविचाराक्षेपकत्वं परेणाप्यङ्गीकृतं, तदयुक्तम् , जिज्ञासासूत्रस्य मनन-विधिमूलत्ववादिनस्तस्य तदङ्गीकारानर्हत्वात् , अयुक्तत्वशङ्कानिवर्तकमननरूपविचार-स्यापि अध्ययनविध्याक्षिप्तत्वेन तत्र विधिवैयर्थ्यात् सूत्रस्य तन्मूलत्वासिद्धेः ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ वाचस्पत्युक्तस्वाध्यायविधिविचाराक्षेपकत्वस्योपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अतः अर्थज्ञानप्रयोजनक अध्ययन भी फलतः नित्य कर्म होता है—ऐसा कुछ लोग मानते हैं । अन्य आचार्यों का कहना है कि जैसे सन्ध्या-वन्दनादि नित्य कर्मों के न करने पर साक्षात् प्रत्यवाय का स्मृतिकारों ने प्रतिपादन किया है, वैसे ही अध्ययन के अभाव में भी साक्षात् शूद्रत्वापत्तिरूप प्रत्यवाय कथित है, अतः अध्ययन अदृष्टार्थक नित्य कर्म भी है और उससे अर्थज्ञानरूप दृष्ट फल देखा जाता है, अतः वह दृष्टार्थक भी है, इस प्रकार अध्ययन वैसे ही दृष्टादृष्टोभयार्थक कर्म है, जैसे 'पशुपुरोडाशादि' [जिस देवता के उद्देश्य से पशुयाग किया जाता है, पशुयाग के पश्चात् उसी देवता के उद्देश्य से पुरो-डाशद्रव्यक याग करना आवश्यक है, अतः "अग्नीषोमीयस्य वपया प्रचर्याग्नीषोमीय-पुरोडाशमनु निर्वपति" (तै० सं० ६।३।१०) इस विधि से अग्नीषोमीय पशुयाग के पश्चात् विधीयमान पशुपुरोडाश याग का प्रयोजन क्या है ? इस प्रश्न के दो उत्तर दो अधिक-रणों में दिए गए हैं—पहला उत्तर (१०।१।९ में) दिया गया है कि "अग्नीषोमीयं पशुपुरोडाशम्'—ऐसा कहने से पशुयाग में उपयुक्त देवा का स्मरणरूप दृष्ट फल होता है, अतः यह उपयुक्तदेवतासंस्कारात्मक प्रतिपत्ति कर्म है । दूसरा उत्तर (४।१.६) में दिया गया है कि पशुपुरोडाशयाग के पुरोडाशरूप द्रव्य-त्याग अंश से अदृष्ट होता है, फलतः पशुपुरोडाशयाग दृष्टादृष्टाथक क्रत्वथपुरुषार्थोभयात्मक माना जाता है] ।

यहाँ अध्ययन-विधि के नित्यत्व-पक्ष में इस विधि को कर्म-विचार और ब्रह्म-विचार-उभय का आक्षेपक जो माध्वगणों ने माना है, वह उचित नहीं, क्योंकि वे लोग विचार-विधायक जिज्ञासा-सूत्र का मनन-विधि को मूल या आक्षेपक मानते हैं, अतः

: १८ :

ज्ञानरूपस्य श्रवणादेर्विधेयत्वविचारः

न्यायामृतम्

अस्माकं तु

श्रवणं शब्दजं ज्ञानमुपपत्त्यनुचिन्तनम्।
मतिर्निरन्तरा चिन्ता निदिध्यासनमुच्यते॥

आपातदर्शनभिन्नं कृतिसाध्यत्वेन विधानार्हं प्रतिवाक्यमयमस्य वाक्यस्यार्थ इति सिद्धार्थोक्तिरूपेणगुरूपदेशेनानेकशाखास्थवाक्यार्थग्रहणमात्रं श्रवणम्। तच्चाज्ञानमात्रविरोधि, न तु मननमिव संशयादिविरोधि, मननरूपन्यायावतारांगसंशयधर्मिज्ञानरूपत्वात्। उक्तं हि सुधायाम्—"श्रवणजं ज्ञानं पूर्ववृत्त"मिति मीमांसातः श्रवणस्य पूर्ववृत्तत्वम्। मननं तु "अयमेव वाक्यार्थो युक्तो नान्य"इति निर्णयहेतुयुक्त्यनुसन्धानम्। तत्र समन्वयाध्यायोक्ता उपक्रमादियुक्तयो वाक्यार्थतत्त्वनिर्णायिकाः। युक्तिसमयपादाभ्यामुक्तास्तु युक्तत्वनिर्णायिका इत्युभयविधयुक्त्यनुसन्धानमपि मननान्तर्गतम्, तच्च संशयादिविरोधि। निरन्तरं ध्यानं निदिध्यासनम्, तच्चापरोक्षज्ञानसाधनम्। एतच्च "तन्निर्धारणार्थनियम"इति सूत्रभाष्यादौ स्पष्टम्। उक्तञ्च भामत्यामपि तृतीयाध्याये इत्थमेव श्रवणादीनां भेदः। विचारादिविधिस्त्वपूर्वविधिः, ब्रह्मज्ञाने वेदविचारहेतुतया अत्यन्ताप्राप्तत्वात्। न हि वेदार्थज्ञानाय वेदविचारः कर्तव्य इति वचनव्यक्तिः, ब्रह्मज्ञानस्यानुद्देश्यत्वात्। नापि ब्रह्मज्ञानाय ब्रह्मविचारः कर्तव्य इति, तथात्वे ब्रह्मणो विधेयविशेषणतया गुणत्वापातात्। किं तु ब्रह्मज्ञानाय वेदविचारः कर्तव्य इत्येव वचनव्यक्तिः। यद्यपि ब्रह्मपरवेदविचार एव ब्रह्मविचारः, तथापि न ब्रह्मविचाररूपेण विधानम्। किं तु वेदविचाररूपेण तथा च श्रुतिः "तस्मादेनं सर्ववेदानधीत्य विचार्यं च ज्ञातुमिच्छे"दिति। टीका च ब्रह्मज्ञानोद्देशेन जिज्ञासाविधानात्कुतोऽप्राधान्यमिति। एवं च यथा घटादावितरभेदे सिद्धेऽपि पृथिवीत्वोपहिते तदसिद्धेः

अद्वैतसिद्धिः

यत्तु शब्दजज्ञानस्वरूपमेव श्रवणं विधेयमिति, तन्न, आपातदर्शनस्य तद्विना जायमानत्वात्। न च तद्भिन्ने प्रतिवाक्यमस्य वाक्यस्यायमर्थ इति सिद्धार्थोक्तरूपदेशेनानेकशाखास्थवाक्यार्थज्ञानम्, वेदान्तरूपवाक्यार्थविचारस्य सामान्यतः साधन-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अध्ययन-विधि को ब्रह्मविचार का आक्षेपक क्योंकर मान सकेंगे ? इस अयुक्तत्व-शङ्का का निवर्तकीभूत मननरूप विचार भी अध्ययन-विधि से आक्षिप्त है, अतः मनन की विधि ही अनावश्यक है, अतः जिज्ञासा-सूत्र में मननविधिमूलकत्व क्योंकर सिद्ध होगा ?

यह जो कहा गया है कि शब्द-जन्य ज्ञानरूप श्रवण आत्मदर्शनार्थ विधेय होता है, वह कहना उचित नहीं, क्योंकि आपात दर्शन शब्द-जन्य ज्ञान के बिना ही हो जाता है। 'तद्भिन्न (आपात दर्शन से भिन्न) ज्ञान के उद्देश्य से 'अस्य वाक्यस्यायमर्थः, अस्य वाक्यस्यायमर्थः'—इस प्रकार गुरु-मुख के द्वारा अनेक शाखा के प्रत्येक वेदान्त वाक्य का अर्थावबोधरूप श्रवण विधेय होता है'—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि वेदान्तरूप वाक्यार्थ-विचार में सामान्यतः दर्शन-साधनता प्राप्त (अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा अधिगत) है, अतः उसका विधान नहीं हो सकता।

न्यायामृतम्

पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यत इत्यत्र न सिद्धसाधनता, यथा वा स्थानप्रकरणाधिकरणोक्त-रीत्या राजसूयान्तर्गतेष्टिपशुसोमेषु प्रातिस्विकरूपे चोदकत इतिकर्तव्यताप्राप्तावपि राजसूयरूपे तदप्राप्तिः, तथा वेदविचारत्वोपहिते ब्रह्मज्ञानहेतुताया अप्राप्तेरपूर्व-विधिता। न हि कर्मकाण्डादिना ब्रह्मकाण्डेऽव्यवान्तरकारणादिवाक्ये पदवर्णस्वरादिना च आपाततोऽपि ब्रह्मधीरस्ति। अत एवानुव्याख्याने "जिज्ञास्योऽयं विधीयत" इति भाष्ये च "आत्मेत्येवोपासीतेत्यादिविधीनामिति" निरुपपदविधिपदप्रयोगः।

अद्वैतसिद्धिः

त्वेन प्राप्तत्वात्। न च यथा घटादावितरभेदे सिद्धेऽपि पृथिवीतरेभ्यो भिद्यत इत्यत्र न सिद्धसाधनम्, यथा च स्थानप्रकरणाधिकरणोक्तरीत्या राजसूयान्तर्गतेष्टिपशुसोमेषु प्रातिस्विकरूपेण चोदकत इतिकर्तव्यताप्राप्तावपि राजसूयरूपे तदप्राप्तिः, तथा वेदान्त-विचारत्वोपहिते ब्रह्मज्ञानहेतुताया अप्राप्तेरपूर्वविधितेति— वाच्यम्, सामान्यतः प्राप्त-साधनसाध्यभावमनादृत्य विशेषोपाधिना आप्राप्तसाधनत्वप्राप्तये अपूर्वविध्यङ्गीकारे ज्योतिष्टोमादिवाक्यविचारेऽपि तेन रूपेण तद्वाक्यार्थज्ञानं प्रत्यप्राप्तसाधनतासिद्धये

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—जैसे घटादि में इतर-भेद सिद्ध होने पर भी 'पृथिवी, इतरेभ्यो भिद्यते'—इस प्रकार पृथिवीत्वावच्छेदेन इतरभेदानुमान में सिद्धसाधनता नहीं होती, जैसे स्थानप्रकरणाधिकरण में [जै० सू० (३।३।१०) में स्थान प्रमाण की अपेक्षा प्रकरण प्रमाण का प्राबल्य दिखाया गया है, अतः उस अधिकरण को स्थानप्रकरणाधिकरण या प्रकरणप्राबल्याधिकरण कहा जाता है। 'राजसूय' याग बहुत-से इष्टि, पशु और सोम योगों का एक समूह होता है, उसके घटकीभूत एक 'अभिषेचनीय' नामक सोम याग की सन्निधि में "अक्षैर्दीव्यति" (तै. सं. १।८।१), "राजन्यं जिनाति" (मै. सं. ४।४।६) इन वाक्यों से विहित विदेवन (जुआ खेलना) आदि क्रियाएँ तथा "शौनः शेपमाख्य-पयति"—इस वाक्य के द्वारा ऐतरेय ब्राह्मण (५।५) में वर्णित हरिश्चन्द्रोपाख्यान का ख्यापन कथित है। वहाँ सन्देह उठाया गया है कि विदेवनादि कर्म सन्निधिरूप स्थान-प्रमाण से अभिषेचनीय के अङ्ग हैं? अथवा महा प्रकरण प्रमाण के बल पर समूचे राजसूय के अङ्ग हैं? स्थान की अपेक्षा प्रकरण का प्राबल्य दिखाते हुए विदेवनादि को राजसूय का ही अङ्ग बताया गया है। प्रकरण नाम है—उभयाकांक्षा का। विदेवनादि में कैमर्थ्याकांक्षा और राजसूय में कथंभावाकांक्षा है, इन्हीं आकांक्षाओं को प्रकरण कहा जाता है, उनके द्वारा विदेवनादि अङ्गों का सम्बन्ध पूरे राजसूय से स्थापित किया गया है। वहाँ यह भी] कहा गया है कि यद्यपि राजसूय-घटक अभिषेचनीयादि की व्यष्टि आकांक्षा तो 'प्रकृतिवद्विकृतिः' कर्तव्या'—इस अतिदेश वाक्य से प्राप्त आङ्गों को लेकर शान्त हो जाती है, तथापि राजसूयत्वेन समष्टि आकांक्षा निवृत्त नहीं होती, वैसे ही वेदान्त-विचारत्व से उपहित (गुरुमुखोच्चरितवेदान्तवाक्य-जन्य ज्ञानत्वेन श्रवणगत आत्मसाक्षात्कार की हेतुता प्राप्त नहीं, उसका विधान सम्भव है।

समाधान—उक्त श्रवण में जब सामान्यतः साक्षात्कार-हेतुता प्राप्त है, तब विशेषतः अप्राप्ति के द्वारा अपूर्व विधित्व का उपपादन संगत नहीं, अन्यथा "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" यह वाक्य यजुर्वेद और सामवेद—दोनों में पठित है, उनमें यजुर्वेदीय वाक्य को अपूर्व विधि मानना (जै. सू. ३।३।३ में) निश्चित किया गया है, उससे ज्ञात

न्यायामृतम्

यद्वा निदिध्यासनस्याव्यक्तस्वभावब्रह्मसाक्षात्कारहेतुता नान्यतः प्राप्तेति स तावदपूर्वविधिः। तथाऽज्ञातादौ निदिध्यासनासम्भवेन श्रवणमननयोर्निदिध्यासने लिंगादेव प्राप्तावपि नियतविषयकनिदिध्यासनविषयगुणान्यगुणेषु लिंगेन तयोरप्राप्ते-स्तद्विधिरप्यपूर्वविधिरेव। एवं च श्रवणमननयोर्निदिध्यासितव्यगुणांशे दृष्टद्वाराऽन्यत्र त्वदृष्टद्वारेण निदिध्यासनांगतेति ध्येयम्।

यद्वा गुरुप्रसादपूर्वकत्वरहितस्वयत्नमात्रसाध्यवाक्यार्थग्रहणादिप्राप्तिनिमित्तकः श्रोतव्य इत्यादिनियमोऽस्तु। "आचार्यवान् पुरुषो वेदे"त्यादिश्रुतेः। अथवा दुःशास्त्र-रूपोपायान्तरप्राप्तिनिमित्तको नियमोऽस्तु। पाशुपताद्यागमविचारस्य ब्रह्मप्रमाहेतुत्वा-

अद्वैतसिद्धिः

अपूर्वविध्यन्तरकल्पनापत्तेः।

एतेन—निदिध्यासनस्याव्यक्तस्वभावब्रह्मसाक्षात्कारहेतुता नान्यतः प्राप्तेति स तावदपूर्वविधिः, तथा अज्ञातादौ निदिध्यासनासंभवेन श्रवणमननयोर्निदिध्यासने लिङ्गादेव प्राप्तावपि नियतविषयकनिदिध्यासनविषयगुणान्यगुणेषु लिङ्गेन तयोरप्राप्तेः तद्विधिरप्यपूर्वविधिरेव, एवं च श्रवणमननयोर्निदिध्यासितव्यगुणांशे दृष्टद्वारेण, अन्यत्र त्वदृष्टद्वारेण निदिध्यासनाङ्गतेति—निरस्तम्, श्रवणादीनां निर्गुणविषयतया सगुण-विषयत्वाभावात्, विपरीताङ्गाङ्गिभावस्य स्थापितत्वाच्च, सूक्ष्मार्थगोचरनिदिध्यासनस्य तादृशार्थविषयकसाक्षात्कारहेतुताया दृष्टत्वेनापूर्वत्वाभावाच्च।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

हो जाने के कारण सामवेदीय वाक्य को अपूर्व विधि नहीं माना जाता, किन्तु आप की रीति से विशेषतः (सामवेदीय वाक्य के द्वारा) प्राप्त न होने के कारण उस वाक्यान्तर को भी अपूर्व विधि मानना होगा।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि निदिध्यासन में अव्यक्तस्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार की हेतुता अन्यतः (निदिध्यासितव्यः—इस वाक्य को छोड़ कर अन्य किसी प्रम ण से) प्राप्त नहीं, अतः निदिध्यासन-विधि अपूर्व विधि है। अज्ञात पदार्थ में निदिध्यासन सम्भव नहीं, अतः सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रमाण के द्वारा निदिध्यासन में श्रवण और मनन की प्राप्ति होने पर भी सर्व वेदोक्त अनन्तगुणों का निदिध्यासन सभी व्यक्तियों से हो नहीं सकता, अतः यथाशक्ति प्रत्येक व्यक्ति गुणों का आत्मा में उपसंहार कर निदिध्यासन करेगा, उन नियत गुणों से भिन्न गुणों को लेकर निदिध्यासन में भी श्रवण और मनन की प्राप्ति न होने के कारण श्रवण और मनन की विधि को भी अपूर्व विधि मानना होगा, इस का फल यह होगा कि निदिध्यासितव्य गुणांश में दृष्ट-द्वारा और उनसे भिन्न गुणों को लेकर अदृष्ट के द्वारा श्रवण और मनन में निदिध्यासन की अङ्गता होगी, इस प्रकार एक कालावच्छेदेन श्रवणादि में सन्निपत्योपकारित्व और आरादुपकारित्व—दोनों धर्म प्रसक्त होते हैं।

न्यायामृतकार का वह कहना अनुचित है, क्योंकि श्रवणादि निर्गुण ब्रह्म विषयक हैं, सगुणविषयक हो ही नहीं सकते एवं पहले ही यह व्यवस्था दी जा चुकी है कि मनन और निदिध्यासन दोनों श्रवण के अङ्ग होते हैं, श्रवण उनका अङ्ग नहीं होता। दूसरी बात यह भी है कि सूक्ष्मार्थविषयक निदिध्यासन में सूक्ष्मार्थविषयक साक्षात्कार की हेतुता प्रत्यक्ष-सिद्ध है, अतः निदिध्यासन-विधि को अपूर्व विधि नहीं कहा जा सकता।

न्यायामृतम्

भावेऽपि जगत्कारणज्ञानहेतुतायाः प्राप्तेः। अत एव शास्त्रयोनिसूत्रम्। "दुरागमास्तदन्ये ये तैर्न ज्ञेयो जनार्दन" इति स्मृतिश्च "सच्छास्त्रमभ्यसेन्नित्यं दुःशास्त्रं तु परित्यजेदि" त्यनुव्याख्यानं च।

यद्वा विचारसाध्यज्ञानविशेष्यात्मज्ञानेष्वनुमानादेः प्राप्त्या नियमोऽस्तु, "नैषा तर्केणे"त्यादि श्रुतेः। न च यदाकारज्ञानं विचारहेतुकं तदाकारज्ञाने उपायान्तरप्राप्तिर्नियमे तन्त्रम्। इदं तत्वत एव परामृष्टव्यमित्यादावेकस्मिन्विशेष्ये उपायान्तरप्राप्तिमात्रेण नियमदर्शनात्। न ह्येकस्मिन्नेवाकारे तात्त्विकत्वातात्त्विकत्वयोः प्राप्तिरस्ति। परमते तु विशेषस्यैवौपनिषदत्वात्तत्रैवोपायान्तराप्राप्तिरिति वैषम्यम्। सम्भवति च शब्दयुक्तिजन्यज्ञानवाचिभ्यां श्रोतव्यमन्तव्यपदाभ्यां दुरागमरूपशब्दाभासतदनुग्राहकन्यायाभासजन्यज्ञानव्यावर्तनम्। एवं श्रवणस्याप्यध्ययनवद् गुरुनिरूप्यत्वादगुरुमुखाभ्यासव्यावृत्तिः। तस्माज्ज्ञानरूपमपि श्रवणादि विधेयम्।

केचित्तु कार्यत्वाद्यनुमानस्य श्रुतिविचारस्य च नियमेन प्राप्तावाज्यभागौ यजतीतिवदेकस्मिन् शेषिणि शेषद्वयप्राप्तौ शेषान्तरनिवृत्तिफलकपरिसंख्येत्याहुः। तन्न, तत्राखण्डोपकारस्य समुच्चिताज्यभागप्रयाजादिसाध्यत्ववदिह ज्ञानसमुच्चितप्रमाणसाध्यत्वाभावात्। शब्देतिकर्तव्यताभूततर्कसाहित्यस्य चेष्टत्वात्। अन्ये तु "अन्या वाचो विमुंचथे"ति श्रुतेरब्रह्मविचारनिषेधपरत्वमित्याहुः। तन्न, ब्रह्मज्ञानेऽब्रह्मविचारस्याप्राप्तेः। इतरे तु श्रुत्यादिविचारस्यापातप्रतीतब्रह्मतदन्यज्ञानसाधनत्वे प्राप्ते "इत्यश्वाभिधानीमादत्त" इतिवदेकस्य शेषस्य शेषिद्वयसम्बन्धप्राप्तौ शेष्यन्तरनिवृत्तिफलकपरिसंख्येत्याहुः। तन्न, श्रुत्यादिनाऽऽपाततोऽन्यप्रतीतावपि श्रुत्यादिविचारस्यान्यज्ञानसाधनत्वेनाप्राप्तेः। अपरे तु "श्रवणाज्जनलोकादि"रित्यादिवचनेनापोदितं यच्छ्रवणस्य ज्ञानहेतुत्वं तस्य प्रतिप्रसवार्थं ज्ञानोद्देशेन श्रवणादिविधानमित्याहुः। तन्न, श्रवणादितिवाक्यस्य श्रवणाद् दृष्टज्ञानद्वारा जनलोकादिरित्येवंपरत्वेन ज्ञानसाधनत्वानपवादकत्वादिति। स्वमते श्रवणादिविधिसमर्थनम्॥ ८॥

: ६ :

ज्ञानविधिसमर्थनविचारः

न्यायामृतम्

अत्र परैरुक्तं अनिच्छतोऽपि दुर्गन्धादिज्ञानदर्शनात् ज्ञानस्य प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वेनाविधेयत्वाल्लिङादयः श्रूयमाणा अपि शिलातलप्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यवत् कुण्ठीभवन्तीति। तन्न, "पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति", "विदुषा कर्म कर्त्तव्यं तस्मात्पश्येत नित्यशः" इत्यादिना तद्विधानात्। तत्र तद्धेत्विन्द्रियसंप्रयोगादिविधौ लक्षणाप्रसंगात्।

अद्वैतसिद्धिः

ननु—अत्र श्रूयमाणलिङादेः का गतिरिति—चेत्, शिलातलप्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यवत् कुण्ठीभावात् 'जर्तिलयवाग्वा वा जुहुया' दित्यादावविवार्थवादत्वमेव। न च—'पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति', 'विदुषा कर्म कर्तव्यं तस्मात् पश्येत नित्यशः।' इत्यादिना ज्ञानस्यापि विधानं दृष्टमिति—वाच्यम्, तत्र तद्धेरिवन्द्रियसंयोगादेर्विधेयत्वाद् अनन्यगत्या लक्षणाया इष्टत्वात्। न च 'न विधौ परः शब्दार्थ' इत्यनेन विरोधः, 'गोभिः श्रीणीत मत्सर'मित्यादौ विधिवाक्येऽपि लक्षणादर्शनेन तस्यौत्सर्गिकत्वाद्, अर्थवादानुरोधेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—वाचस्पत्य मतानुसार श्रवणादि-वाक्य यदि विधि नहीं, तब उनमें विध्यर्थक 'तव्य' प्रत्यय का प्रयोग क्यों किया गया ?

समाधान—वहाँ विधि-प्रत्यय का प्रयोग वैसे ही व्यर्थ या कुण्ठित हो जाता है, जैसे शिलातल पर चलाया गया छूरा कुण्ठित हो जाता है। अथवा जैसे "जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयात्, गवीधुकयवाग्वा वा जुहुयात्, न ग्राम्यान् पशून हिनस्ति, नारण्यान् अथो खल्वाहुरनाहुतिर्वे जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च पयसाऽग्निहोत्र जुहुयात्" इस वाक्य पर विचार करते हुए (जै० सू० १०।८।७ में) यह सिद्धान्त किया गया है कि "पयसाऽग्निहोत्रं जुहोतीत्यस्य विधेः प्रक्लृप्तौ जर्तिलगवीधुकहोमवचनमनाहुतिवचनमप्यर्थवादार्थं स्यात्। कथम् ? जर्तिलगवीधुकाहुतिर्गुणवती, न तत्र ग्राम्याः पशवो हिंस्यन्ते नारण्याः। एवं जर्तिलयवाग्वा जुहुयादिति न कर्त्तव्यार्थं कीर्त्यते" (शाबर० पृ० २०६५)। उसी प्रकार आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'—इत्यादि वाक्यों में 'तव्य' प्रत्यय का प्रयोग कर्तव्यता का प्रतिपादक नहीं, अपितु आत्मा के प्राशस्त्य का वैसे ही प्रतिपादक है, जैसे 'अहो दर्शनीयोऽयं महात्मा'।

शङ्का—ज्ञान वस्तुतन्त्र है, अतः उसकी विधि नहीं होती—यह कहना संगत नहीं, क्योंकि दर्शपूर्णमास में "पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति"—इस वाक्य के द्वारा यजमान की पत्नी के द्वारा घृत का अवेक्षण (दर्शन) करना चाहिए—इस प्रकार ज्ञान का विधान किया गया है। इतना ही नहीं, "विदुषा कर्म कर्तव्यं तस्मात् पश्येत नित्यशः"—इस स्मृति-वाक्य के द्वारा भी दर्शन का विधान किया गया है।

समाधान—उक्त स्थलों पर दर्शन का नहीं, अपितु दर्शन के हेतुभूत इन्द्रिय-संयोग का विधान किया गया है, क्योंकि पुरुषाधीन न होने के कारण दर्शन का विधान सम्भव नहीं, अतः अगत्या दर्शन की लक्षणा इन्द्रिय-व्यापारादि में की जाती है। 'विधि वाक्यों में लाक्षणिक पद का प्रयोग नहीं होता, जैसा कि शबर स्वामी ने कहा है—"न विधौ परः शब्दार्थः" (शाबर० पृ० १४१)—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि "गोभिः श्रीणीत मत्सरम्"—इस विधि वाक्य के 'गो' पद की लक्षणा गोदुग्ध में की गई है।

न्यायामृतम्

संप्रयोगस्यापीन्द्रियनिष्ठक्रियाद्वारा कृतिसाध्यत्वेन साक्षात्तदसाध्यत्वात्। परंपरया कृतिसाध्यत्वस्य च ज्ञानेऽपि सम्भवात्। अनिच्छतश्चानिष्टसम्प्रयोगदर्शनात्। "भक्षेही"ति भक्षमन्त्रे च तृप्तेरनुनिष्पादिततयाननुष्ठेयत्वेन तृप्तिप्रकाशकभागस्य

अद्वैतसिद्धिः

विधौ न परः शब्दार्थ इत्यर्थकत्वाच्च। न च—साक्षात्कृतिसाध्यत्वस्य इन्द्रियसंप्रयोगेऽप्यभावाद् इन्द्रियनिष्ठक्रियाद्वारा परंपरया कृतिसाध्यत्वस्य ज्ञानेऽपि संभवाद्, अनिच्छतो दुर्गन्धादिज्ञानवद् अनिष्टसंप्रयोगस्यापि दर्शनाच्च ज्ञानसाम्यं संयोगस्येति—वाच्यम्, स्वर्गादाविव स्वेच्छाधीनकृतिसाध्यत्वस्य विधेयताप्रयोजकस्य ज्ञाने अभावात्, संप्रयोगस्य तु तद्वैपरीत्येन विशेषात्। न च—'भक्षेही'ति भक्षमन्त्रेषु तृप्तेरनु-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मत्सर नाम है—सोमरस का, उसको दूध में मिलाकर पकाने का वहाँ विधान किया गया है। अतः 'न विधौ पर शब्दार्थः'—यह सामान्य नियम है, इसके साथ 'असति बाधके'—ऐसा जोड़ कर सम्पूर्ण अर्थ का लाभ किया करते हैं कि अर्थवाद के अनुरोध पर विधि वाक्य के पदों का अन्यथा नयन नहीं किया जा सकता।

शङ्का—यह जो कहा गया है कि दर्शनादि के हेतुभूत इन्द्रिय-संयोग का विधान उक्त स्थल पर होता है, वह कहना युक्त नहीं, क्योंकि संयोग भी ज्ञान के समान ही साक्षात् कृति-साध्य नहीं होता, इन्द्रियगत क्रिया के द्वारा परम्परया कृति-साध्यता तो ज्ञान में भी है, क्योंकि दुर्गन्ध वस्तु का सन्निकर्ष होने पर इच्छा न रहते हुए भी जैसे दुर्गन्ध का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही इच्छा न रहने पर भी अनिष्ट वस्तु का संयोग हो जाता है, अतः संयोग और ज्ञान—दोनों समानरूप से अविधेय होते हैं।

समाधान—विधेयता का प्रयोजकीभूत स्वेच्छाधीन कृतिसाध्यत्व जैसे स्वर्गादि में नहीं रहता, वैसे ही ज्ञान में भी नहीं रहता, किन्तु संयोग में वैसी बात नहीं अपितु स्वेच्छाधीन कृति से जन्य ही संयोग होता है।

शङ्का—ज्योतिष्टोम में सोम-रस की आहुति दे देने के पश्चात् बचे हुए सोम-रस का भक्षण विहित है—"अभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि सोमं भक्षयन्ति" (तै० सं० ६।३।११।४)। भक्षण-प्रकाशक मन्त्र है—["भक्षेहि माऽऽविश दीर्घायुत्वाय शन्तनुत्वाय रायस्पोषाय वर्चसे सुप्रजास्त्वाय। एहि वसो ! पुरोवसो ! प्रियो मे हृदोऽसि। अश्विनोस्त्वा बाहुभ्यां सघ्यासम्। नृचक्षसं त्वा देव ! सोम ! सुचक्षा अवख्येषम्। मन्द्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां वाग्जुषाणा सोमस्य तृप्यतु,...एहि विश्वचर्षणे शम्भूर्मयोभूः स्वस्ति मा हरिवर्ण प्रचर क्रत्वे दक्षाय रायस्पोषाय सुवीरतायै मा मा राजन्वि बीभिषो मा मे हार्दि त्विषा वधीः वृषणे शुष्मायायुषे वर्चसे। वसुमद्गणस्य सोम देव ते मतिविदः प्रातःसवनस्य गायत्रच्छन्दस इन्द्रपीतस्य नराशंसपीतस्य पितृपीतस्य मधुमत उपहूतस्योपहूतो भक्षयामि।...हिन्व मे गात्रा हरिवो गणान् मे मा वितीतृषः। शिवो मे सप्तर्षीनुपतिष्ठस्व मा मेऽवाङ्नाभिमतिगाः" (तै० सं० ३।२।५) इस] मन्त्र में चार क्रियाओं का उल्लेख है—(१) ग्रहण (रसपूर्ण चमस पात्र का हाथ में धारण), (२) अवेक्षण (निरीक्षण), (३) भक्षण (निगरण) और (४) जरण (पाचन)। 'भक्षेहि' से लेकर 'बाहुभ्यां सघ्यासम्' तक ग्रहण, 'नृचक्षसं' से लेकर 'अवख्येषम्' तक अवेक्षण, 'मन्द्राभिभूतिः' से लेकर 'भक्षयामि' तक भक्षण

न्यायामृतम्

तत्र विभज्य विनियोगाभावेऽप्यवेक्षणस्यानुष्ठेयत्वात्तत्प्रकाशकभागस्यावेक्षणे विभज्य-विनियोग इति तृतीयेऽभिहितत्वात्। एकश्रोत्रगतानेकतारगकारेषु च बुभुत्साप्रयत्ना-भ्यामभीष्टगकारज्ञानदर्शनात्। ज्ञानस्य च "यदेव विद्यया करोती"त्यंगत्वश्रवणात्। अविहितस्य चांगत्वानुपपत्तेः। दुर्गन्धादिज्ञानस्येच्छाविषयत्वाभावेऽपि ब्रह्मज्ञानस्य

अद्वैतसिद्धिः

निष्पादिततयाऽननुष्ठेयत्वेन तृप्तिप्रकाशकभागस्य तत्र विभज्य विनियोगाभावेऽपि अवेक्षणस्यानुष्ठेयत्वात् तत्प्रकाशकभागस्य अवेक्षणे विनियोग इति तृतीयाध्यायोक्ति-विरोध इति—वाच्यम्, इन्द्रियसंप्रयोगरूपावेक्षणस्य तृप्त्यादिवदनुनिष्पादित्वाभावे-नानुष्ठेयतया तत्प्रकाशकभागस्य तस्मिन्विभज्य विनियोग इत्येवंपरत्वात्। यच्च—एकश्रोत्रगतानेकगकारेषु बुभुत्साप्रयत्नाभ्यामभीष्टगकारज्ञानदर्शनेन ज्ञानस्यापि विधेय-त्वमिति, तन्न, अनभिमतविषयवमुख्यस्यैव बुभुत्साप्रयत्नसाध्यतया ज्ञानं प्रति तयोर-जनकत्वात्। न च—"यदेव विद्यया करोती"ति विद्याया अङ्गत्वश्रवणाद् अविहितस्य चाङ्गत्वानुपपत्त्या विद्याया विधेयत्वमिति—वाच्यम्, तस्य वाक्यस्योद्गीथोपासना-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

और हिन्व' से लेकर 'गाः' तक सम्यक् जरण का प्रकाशक है। इनमें तृप्तिरूप क्रिया पुरुष के अधीन या पुरुष की कृति से साक्षात् साध्य नहीं, अतः तृप्तिप्रकाशक मन्त्र भाग का तृप्ति में विभज्य विनियोग न हो सकने पर भी अवेक्षण अनुष्ठेय है [जैसा कि वार्तिककार नें कहा है—"ग्रहणादीनि तु सर्वाणि पृथक प्रयत्नसाध्यानि" (तं० वा० पृ० ७८५)] अतः अवेक्षण-प्रकाशक भाग के अवेक्षण व्यापार में विनियोग का महर्षि जैमिनि नें जो (३।२।९ में) प्रतिपादन किया है, अवेक्षण को क्रियारूप न मानकर ज्ञानरूप मानने में उसका विरोध होता है।

समाधान—चक्षु-सम्प्रयोग से जनित ज्ञान मुख्यरूप से अवेक्षण कहलाता है और उसके जनक इन्द्रिय-सम्प्रयोग को गौणरूप से अवेक्षण कह देते हैं। यह सम्प्रयोग तृप्त्यादि के समान अनुनिष्पन्न होनेवाला नहीं, अनुष्ठेय है, अतः अवेक्षण-प्रकाशक भाग का इसमें विनियोग किया जाना उचित ही है।

शङ्का—विद्यारण्य स्वामी नें जो यह कहा है कि जहाँ वेदशाला के अन्दर बहुत-से माणवक वेद का घोष कर रहे हैं और उनमें से किसी छात्र का पिता बाहर खड़ा उस सामूहिक घोष को सुनकर अपने पुत्र का शब्द विशेषतः नहीं जान सकता—अध्येतृवर्ग-मध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवद्। भानेऽप्यभाताऽसौ" (पं० द० १।१२)। वह कहना अनुचित है, क्योंकि तीव्र बुभुत्सा और विशेष प्रयत्न करने पर पुत्रादि के शब्द का साक्षात्कार होता देखा जाता है, इसी प्रकार आत्मसाक्षार भी प्रयत्न-साध्य (विधेय) हो सकता है।

समाधान—उक्त स्थल पर तीव्र बुभुत्सा और विशेष प्रयत्न के द्वारा पुत्रोक्त शब्द से भिन्न शब्दों का अभान ही साध्य होता है, पुत्र के शब्द का प्रत्यक्ष नहीं।

शङ्का—"यदेव विद्यया करोति" (छां० १।१।१०) इस श्रुति के द्वारा विद्या (ज्ञान) में अङ्गत्व का प्रतिपादन ही उसकी विधेयता सिद्ध कर रहा है, क्योंकि अविहित पदार्थ कभी अङ्ग नहीं होता—"न चाविहतमङ्गं भवति"। अत एव (जै० सू० १।४।६ में) उपादेयत्व, विधेयत्व और अङ्गत्व की समानाधिकरण धर्म माना गया है एवं अङ्गत्व का लक्षण ही परोद्देशप्रवृत्तकृतिविषयत्व किया गया है—"शेषः परार्थ-त्वात्" (जै० सू० ३।१।२)।

न्यायामृतम्

तद्विषयत्ववत् । ज्ञानान्तरस्य नियमादृष्टासाध्यत्वेऽपि ब्रह्मज्ञानस्य तत्साध्यत्ववत् पर्वतादिज्ञानस्य नयनोन्मीलने सति प्रयत्नान्तरनिरपेक्षत्वेऽपि ध्रुवारुन्धत्यादिज्ञानस्य तत्सापेक्षत्ववच्चातिसूक्ष्मब्रह्मज्ञानस्येच्छाप्रयत्नसाध्यत्वसम्भवात् । शास्त्रार्थज्ञानस्य च नियमेन पुंतन्त्रत्वदर्शनात् । ब्रह्मणश्च शास्त्रार्थत्वात् । प्रशस्ताप्रशस्तज्ञानयोश्च विधि-

अद्वैतसिद्धिः

प्रकरणस्थतया तत्रत्यविद्यापदस्य उपासनापरतया विहितत्वेनाङ्गत्वाविरोधात्, 'तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टे'रित्यत्र विद्याया अङ्गावबद्धाया अङ्गत्वनिरासेऽपि न विधेयत्वहानिः ।

ननु—यथा दुर्गन्धादिज्ञानस्येच्छाविषयत्वाभावेऽपि ब्रह्मज्ञानस्य तद्विषयत्वम्, यथा च ज्ञानान्तरस्य नियमादृष्टासाध्यत्वेऽपि ब्रह्मज्ञानस्य तत्साध्यत्वम्, यथा पर्वतादिज्ञानस्य नयनोन्मीलने सति प्रयत्नान्तरनिरपेक्षत्वेऽपि ध्रुवारुन्धत्यादिज्ञाने तत्सापेक्षत्वम्, तथाऽतिसूक्ष्मब्रह्मज्ञानस्य इच्छाप्रयत्नसाध्यत्वसंभव इति—चेन्न, प्रामाणिकदृष्टविजातीयकिंचिद्धर्मदर्शनेनाप्रामाणिकवैजात्यस्य कल्पयितुमशक्यत्वात्, प्रयत्नान्वयव्यतिरेकयोश्च ज्ञानसाधनजनने उपक्षीणतया ध्रुवारुन्धत्यादिनिदर्शनान्यथासिद्धतया तन्न्यायेन ब्रह्मज्ञाने कृतिसाध्यत्वस्य वक्तुमशक्यत्वाच्च । न च—शास्त्रार्थज्ञानस्य नियमेन पुंतन्त्रत्वदर्शनाद् ब्रह्मणश्च शास्त्रार्थत्वात् तज्ज्ञानस्य पुंतन्त्रत्वमिति—वाच्यम्, तत्रापि ज्ञानसाधनस्यैव पुंतन्त्रत्वात् । यच्च प्रशस्ताप्रशस्तज्ञानयोर्विधिनिषेधदर्शनम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—उक्त वाक्य उद्गीथोपासना के प्रकरण में पठित है, अतः वहाँ विधेयभूत विद्या का अर्थ उपासना है, क्योंकि "तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः" (ब्र० सू० ३।३।४२) इस सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि उद्गीथोपासनारूप विद्या में कर्माङ्गत्व न होने पर भी विधेयता होती है ।

शङ्का—जैसे दुर्गन्धादि अनिष्ट पदार्थों के ज्ञान में इच्छा की विषयता न होने पर भी ब्रह्म-ज्ञान में इच्छा-विषयत्व होता है, जैसे अन्य ज्ञानों के नियमादृष्ट से साध्य न होने पर भी ब्रह्म-ज्ञान श्रवण-नियमादृष्ट से साध्य होता है और जैसे पर्वतादि के दर्शन में नेत्र खोलने से अतिरिक्त प्रयत्न की अपेक्षा न होने पर भी ध्रुव और अरुन्धती आदि तारों के दर्शन में विशेष प्रयत्न की अपेक्षा होती है, वैसे ही अतिसूक्ष्म ब्रह्म-ज्ञान में इच्छा और प्रयत्न की साध्यता होती है, फलतः ब्रह्म-ज्ञान विधेय है ।

समाधान—इच्छा के अविषयीभूत दुर्गन्धादि ज्ञानों का वैलक्षण्य जब ब्रह्म-ज्ञान में प्रमाण-सिद्ध है, तब अनेक अप्रामाणिक अविधेयों के वैलक्षण्य की कल्पना के द्वारा ब्रह्म-ज्ञान में विधेयत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता । प्रयत्न का अन्वय और व्यतिरेक ज्ञान के साधनीभूत इन्द्रिय-प्रयोग और श्रवणादि की उत्पत्ति में ही गतार्थ हो जाता है, अतः ध्रुव और अरुन्धती आदि का दृष्टान्त अन्यथासिद्ध है, उसके आधार पर ब्रह्मज्ञान में कृति-साध्यत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता ।

शङ्का—किसी विषय का ज्ञान करने के लिए उसके प्रतिपादक शास्त्र का अध्ययन किया जाता है, अतः सभी शास्त्र-प्रतिपाद्य विषयों में पुरुषाधीनत्व नियत है, ब्रह्म भी शास्त्र-प्रतिपाद्य है, अतः इसमें भी पुरुष-प्रयत्न-साध्यत्व निश्चित है ।

समाधान—वहाँ पर भी शास्त्रार्थ ज्ञान के साधन पदार्थ ही पुरुष-प्रयत्न-साध्य

न्यायामृतम्

निषेधदर्शनात्। इच्छादिना चोत्पत्तिनिरोधयोरनुभवात्। तत्र च करणव्यापारस्येव पुंतन्त्रत्वांगीकारे नामादिषु ब्रह्मोपासनायां त्वया विधेयत्वेनांगीकृतायामपि मनोनिरोधादेरेव पुंतन्त्रत्वम्, न तूपासनाया इति प्रसंगात्। अनेकशाखाजन्यज्ञानरूपस्य च श्रवणस्य तदुपक्रमोपसंहारैकरूप्याद्यनुसन्धानरूपस्य च मननस्य श्रुतमतानेकगुणविशिष्टतया निरन्तरानुस्मरणरूपस्य च निदिध्यासनस्यातिप्रयत्नसाध्यत्वानुभवात्। निदिध्यासनादेश्च "खण्डा स्मृतिर्धारणा स्यादखण्डा ध्यानमुच्यते। अप्रयत्नात्समाधिश्च" इत्यादि स्मृत्या प्रयत्नसाध्यत्वप्रतीतेः। त्वन्मतेऽपि परोक्षज्ञानसन्तानरूपस्य

अद्वैतसिद्धिः

तदपि ज्ञानकारणविषयकमेव। यच्च इच्छादिना उत्पत्तिनिरोधयोरनुभवः, सोऽपि करणव्यापारविषयक एव। न च – एवं नामादिषु ब्रह्मोपासनायां त्वया विधेयत्वेनाङ्गीकृतायां पुंतन्त्रत्वं न सिध्येत्, तत्रापि मनोधारणादेरेव पुंतन्त्रत्वस्य वक्तुं शक्यत्वादिति – वाच्यम्, ज्ञानविध्युक्तानुपपत्तेस्तत्राभावेन निरोधादीनामन्यपरत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। न च - उक्तज्ञानरूपश्रवणादिष्वतिप्रयत्नसाध्यत्वस्यानुभवसिद्धत्वाद् विधेयत्वमिति—वाच्यम्, अनुभवान्यथासिद्धेरुक्तत्वात्। न च—त्वयापि निदिध्यासनस्य परोक्षज्ञानसन्तानरूपस्य विधेयत्वं वदता सन्तानिनां ज्ञानानामपि विधेयत्वमङ्गीकर्तव्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होते हैं ज्ञान नहीं। यह जो कहा गया है कि प्रशस्त ज्ञान में विधेयत्व और अप्रशस्त ज्ञान में निषेध्यत्व अनुभव-सिद्ध है, वह भी ज्ञान के कारणीभूत पदार्थों में ही विधेयत्व और निषेध्यत्व को विषय करता है। इच्छादि के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति और निरोध का जो अनुभव होता है, वह भी करण के व्यापार को ही विषय करता है।

शङ्का—साक्षात् अनुभूयमान धर्मों का यदि सर्वत्र परम्परया निर्वाह करने लग जायँ, तब नामादि में ब्रह्म की उपासना को आप (अद्वैती) ने जो विधेय माना है, वह भी मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वहाँ भी उपासना के साधनीभूत मनोधारणा में पुरुष-तन्त्रत्व माना जा सकता है।

समाधान—किसी नियामक के बिना सर्वत्र लाक्षणिक व्यवहार नहीं माना जाता, ज्ञान-विधि में कथित अनुपपत्तियाँ उपासना-विधि में नहीं, अतः निरोधादि और उपासनादि को अन्यपरक मानने की आवश्यकता नहीं।

शङ्का—कथित ज्ञानरूप श्रवणादि में विशेष प्रयत्न-साध्यत्व अनुभूत होने के कारण विधेयत्व मानना अनिवार्य है।

समाधान—श्रवणादि में अनुभूयमान प्रयत्न-साध्यत्व का उपपादन भी साधनों में स्थिर किया जा चुका है।

शङ्का—आप (अद्वैती) भी निदिध्यासन को परोक्ष ज्ञान की सन्तति (धारा) मानकर विधेय मानते हैं, अतः उस सन्तान के सन्तानीभूत ज्ञान में विधेयत्व मानना अनिवार्य है, क्योंकि सन्तानी (सन्तानानुस्यूत) का विधान न होने पर सन्तान का विधान वैसे ही नहीं हो सकता, जैसे कि तरङ्गित जल में क्रिया न होने पर तरङ्गों में क्रिया नहीं हो सकती।

समाधान—ज्ञानरूप निदिध्यासन में भी परम्परया ही विधेयत्व होता है—मनन की आवृत्ति का साक्षात् विधान माना जाता है, अतः 'मननं कार्यम्' का वैसे ही अर्थ

न्यायामृतम्

निदिध्यासनस्य विधेयत्वात्। सन्तानिनां च कृत्यसाध्यत्वे सन्तानस्य तदयोगात्। श्रवणादीनां ज्ञानातिरेकेण दुर्निरूपत्वस्योक्तत्वात्। तेषां च ज्ञानानात्मकत्वे "श्रवणं यावदज्ञान"मित्यज्ञानविरोधित्वस्मृतेः श्रवणेनाज्ञानं निवृत्तमित्यनुभवस्य चानुपपत्तेः। "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीते"त्यादौ च विज्ञानानन्तरभाविनः प्रज्ञाशब्दार्थस्य विचारत्वानुपपत्तेः। ध्यानस्य च त्वयापि विधेयत्वेनांगीकृतत्वात्। तस्य च ज्ञानानात्मकत्वे तेन स्वविषये व्यवहाराभावप्रसंगात्। ध्यानान्यज्ञानेन च ध्यानविषये व्यवहारांगीकारे

अद्वैतसिद्धिः

मेव तदविधाने सन्ततिविधानानुपपत्तेरिति—वाच्यम्, आवृत्तिगुणयोगस्यैव विधेयत्वाद् उपनिषदमावर्तयेदित्यत्रेव। न च—श्रवणादेः ज्ञानानात्मकत्वे श्रवणं यावदज्ञानमित्यज्ञानविरोधित्वस्मृतेः श्रवणेनाज्ञानं निवृत्तमित्यनुभवस्य चानुपपत्तिरिति—वाच्यम्, आवृत्तिगुणयोगवाक्यार्थप्रमित्युपयुक्ततात्पर्यनिर्णयद्वारा उपक्रमादिलिङ्गविचारात्मकश्रवणादेरज्ञानादिविरोधितया स्मृत्यनुभवयोरुपपत्तेः। 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीते' त्यादौ ज्ञानविध्यायुक्तानुपपत्त्या प्रज्ञाशब्दस्य विचारलाक्षणिकत्वोपपत्तेः। न च—त्वया विधेयत्वेनाङ्गीकृतस्य ध्यानस्य ज्ञानभिन्नत्वे तस्य स्वविषये व्यवहारजनकत्वं न स्यादिति—वाच्यम्, तदन्यज्ञानेनैव तत्कारणतयाऽऽवश्यकेन तद्विषये व्यवहारोपपत्तेः प्रमाणवतोऽस्य गौरवस्यादोषत्वात्। अत एव ध्यानविषये जानामी-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

'मननमावर्तनीयम्' किया जाता है, जैसे उपनिषदमावर्तयेत्।

शङ्का—श्रवण यदि ज्ञानस्वरूप नहीं, तब "श्रवणं यावदज्ञानम्"—इस अज्ञानविरोधित्वार्थक स्मृति वाक्य तथा 'श्रवणेनाज्ञानं निवृत्तम्'—इस अनुभव का विरोध होता है।

समाधान—'श्रवणेनाज्ञानं निवृत्तम्'—इस अनुभव का तात्पर्य होता है 'परम्परया श्रवणेनाज्ञानं निवृत्तम्', अर्थात् आवृत्तिगुणक उपक्रमादिमूलक विचारात्मक श्रवण से तात्पर्य-निर्णय, तात्पर्य-निर्णय से वाक्यार्थविषयिणी प्रमा और उस प्रमा से अज्ञान की निवृत्ति होती है, उस निवृत्ति में परम्परया श्रवण भी कारण है, अतः उक्त स्मृति वाक्य और अनुभव का विरोध नहीं होता। "विज्ञाय-प्रज्ञां कुर्वीत" (बृह० उ० ४।४।२१) इत्यादि श्रुतियों में भी ज्ञानविधित्वानुपपत्ति की सहायता से 'प्रज्ञा' पद की विचार में लक्षणा की जाती है।

शङ्का—आप निदिध्यासनरूपेण जिस ध्यान का विधान मानते हैं, वह यदि ज्ञान से भिन्न क्रियारूप है, तब वह अपने आश्रय से भिन्न में ही फल का जनक होगा, अपने विषय में व्यवहार का जनक नहीं हो सकेगा।

समाधान—ध्यान-जन्य ज्ञान ही अपने विषय के अज्ञान का निवर्तक एवं व्यवहार का प्रवर्तक माना जाता है। यद्यपि यह क्रम कुछ गुरुता-ग्रस्त है, तथापि प्रामाणिक होने के कारण गौरव को कोई दोष नहीं माना जाता। अत एव ध्यान की विषय वस्तु में 'जानामि'- इस प्रकार के अनुभव और स्मरण—दोनों ध्यान-भिन्न ध्यान-जन्य ज्ञान से प्रयुक्त माने जाते हैं। "तस्याभिध्यानात्" (श्वेता० १।१०) इस श्रुति के द्वारा ध्यान में मायाख्य अज्ञान के निवर्तकत्व की उक्ति का भी तात्पर्य ध्यानानन्तरभावी साक्षात्कारके द्वारा अज्ञान-निवर्तकत्व में ही है, अतः इस श्रुति से भी किसी

न्यायामृतम्

गौरवात्। ध्यानविषये च कदाचिन्न जानामीत्यनुभवप्रसंगात्। संस्कारस्य च ज्ञानजन्यत्वेन ध्याने स्मरणाभावप्रसंगात्। "तस्याभिध्याना"दिति श्रुतौ च ध्यानस्य मायाख्याविद्यानिवर्तकत्वोक्तेः। त्वयापि विधेयतयांगीकृतोपासनायां च श्रुतौ "मनो ब्रह्मेत्युपासीत य एवं वेदे"ति तथा "आत्मेत्येवोपासीत यस्तद्वेदे"त्यादि बहुस्थलेषु ज्ञानार्थविद्धातुप्रयोगेणोपासनाया ज्ञानात्मकत्वात्। प्रमाणादिपरतन्त्रस्यापि ज्ञानस्य प्रतिग्रहीत्रादिपरतन्त्रस्यापि दानादेरिव पुंतन्त्रत्वोपपत्तेः। ब्रह्मपरवाक्यमध्येऽप्युपासनाविधिवत् ज्ञानविधेरपि सम्भवात्। वृथैव वैदिकलिङादेरस्वारस्यायुक्तेः।

न च ज्ञानस्याक्रियात्वेनाविधेयत्वम्, धात्वर्थस्य पूर्वापरीभूतस्य वा क्रियात्वासिद्धेः; शास्त्रार्थं जानामीत्यादौ पचतीत्यादाविव पूर्वापरीभावप्रतीतेः। स्पन्दस्याक्रियात्वे तु यागादेरप्यक्रियात्वं स्यात्। तस्मात्—

अद्वैतसिद्धिः

त्यनुभवस्मरणे तद्भिन्नज्ञानप्रयुक्ततया व्याख्याते। तस्याभिध्यानादिति श्रुतौ ध्यानस्य मायाख्याविद्यानिवर्तकत्वेऽपि तदुक्तिः ध्यानानन्तरभाविसाक्षात्कारद्वाराभिप्रायेति न तया विरोधः। यत्तूपासीतेत्युपक्रम्य 'य एवं वेदे'त्युपसंहारेण त्वयापि विधेयत्वेनाङ्गीकृतायामुपासनायां विदिधातुप्रयोगेण उपासनायाः ज्ञानत्वावगमाद् अन्यत्रापि ज्ञानत्वं न विधेयत्वविरोधीति, तन्न, उक्तानुपपत्त्या विदेस्तत्रामुख्यत्वेनैव ज्ञानत्वागमकत्वाद् धात्वनेकार्थत्वेन वा। न च—मानतन्त्रतामात्रेण कथमपुंतन्त्रता प्रतिग्रहीत्रादितन्त्रस्यापि दानादेस्तद्दर्शनादिति—वाच्यम्; न ह्यन्यतन्त्रतामात्रेणाविधेयत्वं ब्रूमः

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रकार का विरोध नहीं होता।

यह जो कहा गया है कि "आत्मेत्येवोपासीत" (बृह० उ० १।४।७) ऐसा उपक्रम कर "अनेन ह्येतत् सर्वं वेद" (बृह० उ० १।४।७) ऐसा जहाँ उपसंहार किया गया है, वहाँ आप (अद्वैती) भी विधेयत्वेन स्वीकृत उपासना के लिए 'विदि' धातु का प्रयोग करते हैं, अतः उपासना में ज्ञानत्व निश्चित होता है; उपासना में ज्ञानत्व यदि विधेयत्व का विरोधी नहीं, तब आत्मसाक्षात्कार में भी ज्ञानत्व विधेयत्व का विरोधी नहीं हो सकता।

वह कहना अयुक्त है, क्योंकि ज्ञान में विधेयत्व की अनुपपत्ति होने के ही कारण उपासना में भी 'विदि' धातु का गौण प्रयोग ही माना जाता है, मुख्य नहीं। अथवा धातु के अनेक अर्थ होते है, अतः 'विदि' धातु का यहाँ उपासना ही अर्थ है, ज्ञान नहीं।

शङ्का—ज्ञान प्रमाणाधीन हो जाने मात्र से पुरुषाधीन क्यों नहीं रहता ? दानादि क्रिया प्रतिग्रहीता के अधीन होने पर भी दाता पुरुष के अधीन होती है, अतः ज्ञान में प्रमाण-तन्त्रत्व होने पर भी पुरुषाधीनत्व रह जाने के कारण विधेयत्व उपपन्न हो जायगा।

समाधान—अन्याधीनता मात्र होने के कारण ज्ञान में अविधेयता हम नहीं मानते, किन्तु कारण-कलाप के रहने पर जो पदार्थ पुरुष की इच्छा से अन्यथा (अन्यरूपापन्न) नहीं होता, उसे हम (अद्वैती) अविधेय मानते हैं [जैसे घट के साथ

न्यायामृतम्

पत्न्यवेक्षितमित्यादौ ज्ञानस्यैव विधानतः ।
सूक्ष्मशास्त्रार्थबुद्धेश्च कृतिसाध्यत्वदर्शनात् ॥
ध्यानस्यापि च विज्ञानव्यतिरेकानिरूपणात् ।
ज्ञानस्वरूपमपि च श्रवणादि विधीयते ॥

ननु तथापि ज्ञानस्यानवगमे तत्कर्तव्यताबोधनासम्भवात्तदवगमस्य च विषयावगमं विनाऽयोगाद्विषयस्याप्यवगमे फलस्य जातत्वाद् व्यर्थो विधिरिति चेन्न, त्वयापि विचारविध्यंगीकाराद् विचारस्य च विषयनिरूप्यत्वेन साम्यात् । सामान्यतो ब्रह्मज्ञानमात्रेण च तद्विषयकश्रवणादेः कर्तव्यताबोधनसम्भवात् । वेदान्तवाक्यानुग्राहकन्यायानुसन्धानादिरूपतया च ब्रह्मज्ञानात्प्रागेव ज्ञातस्य मननादेः ब्रह्मज्ञानाय विधानसम्भवाच्चेति ॥ ९ ॥

अद्वैतसिद्धिः

किंतु पुम्भिच्छाभिर्यत्कारणे सति अन्यथा कर्तुमशक्यत्वम् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ ज्ञानस्य पुरुषतन्त्रताभङ्गः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इन्द्रिय-सम्बन्धादि सामग्री के रहने पर 'अयं घटः'—ऐसा ही ज्ञान होगा, अन्यथा नहीं किन्तु गमनादि क्रिया में यह बात नहीं होती, क्योंकि वहाँ गमन के साधनीभूत अश्वादि सामग्री के रहने पर भी पुरुष सर्वथा स्वतन्त्र होता है—अश्व पर चढ़ कर जाय या पैदल ही, भाष्यकार कहते हैं—"पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा वा कर्त्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं वा कर्म, यथाश्वेन गच्छति, पद्भ्यामन्यथा वा गच्छतीति…न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्, किं तर्हि ? वस्तुतन्त्रमेव तत्…तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव" (ब्र० सू० १।१।२)] ।

: १० :

ज्ञानविधिविचारः

न्यायामृतम्

ननु तथापि ज्ञानं न विधेयं तथा हि—विधीयमानं ज्ञानं किं शाब्दम् ? किं वा तदभ्यासः ? यद्वा तत्त्वमनपेक्ष्यारोपितविषयतया मनसः संकल्पप्रवाहरूपं ध्यानम् ? किं वा परोक्षफलं ज्ञानान्तरम् ? नाद्यः, कर्मकाण्ड इव गृहीतसंगतेः स्वतः सिद्धत्वेन कृत्यसाध्यत्वेन विध्यनपेक्षणात् । द्वितीये तद्विधिर्मोक्षाय चेत्, तस्य नैयोगिकफलत्वेन स्वर्गादिवदनित्यत्वं स्यात्, साक्षात्काराय चेत्स नादृष्टं फलम्, प्रमाणायत्तत्वात्तस्य । नापि फलं दृष्टम्, परोक्षज्ञानाभ्यासेन साक्षात्कारादर्शनात् । अत एव न तृतीयः, प्रोषितपुत्रादिध्यानेनारोपितरूपसाक्षात्कारदर्शनेऽपि तत्त्वसाक्षात्कारादर्शनात् । चतुर्थे शब्दस्य ब्रह्मणि प्रामाण्यं न स्यात् । ब्रह्मणि प्रमाणीभूतज्ञानकर्तव्यतायामेव प्रमाणत्वादिति चेत् न, तावदाद्ये दोषः, कर्मकाण्डेऽप्यापातजन्यस्य स्वतः सिद्धत्वेऽपि विमर्शजन्यस्य कृतिसाध्यत्वात् । अन्यथाऽध्ययनविधेरुत्तरक्रतुविधेर्वा तद्विचारापेक्षकता

अद्वैतसिद्धिः

किं च विधीयमानं ज्ञानं किं शाब्दम् ? किं वा तदभ्यासः ? यद्वा तत्त्वमनपेक्ष्यारोपितविषयतया ध्यानम् ? किं वापरोक्ष्यफलकं ज्ञानान्तरम् ? नाद्यः, कर्मकाण्ड इव गृहीतसङ्गतेः स्वतःसिद्धत्वेन कृत्यसाध्यतया विध्यविषयत्वात् । न च-कर्मकाण्डेऽप्यापातजन्यस्य स्वतःसिद्धत्वेऽपि विमर्शजन्यस्य कृतिसाध्यत्वम्, अन्यथा अध्ययनविधेरुत्तरक्रतुविधेर्वा तदाक्षेपकता न स्यादिति—वाच्यम्, तज्जनकविचार एव विधेयताप्रयोजककृतिसाध्यत्वपर्यवसानेन तादृशज्ञानेऽप्यसंभवात् । न द्वितीयः, स किं मोक्षाय विधीयते ? साक्षात्काराय वा ? नाद्यः, तस्य नैयोगिकत्वेन स्वर्गादिवदनित्य-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ज्ञान-विधिवाद में यह भी जिज्ञासा होती है कि विधीयमान ज्ञान क्या (१) श्रवणरूप शाब्द ज्ञान है ? या (२) शाब्द ज्ञान का अभ्यासरूप मनन ? या (३) तत्त्व की अपेक्षा के बिना ही आरोपितविषयक निदिध्यानसंज्ञक ध्यान ? अथवा (४) आपरोक्ष्यफलक कोई अन्य ज्ञान ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि जैसे कर्मकाण्ड में वैदिक शब्दों से जन्य शाब्द ज्ञान उस पुरुष को स्वतः ही हो जाता है, जिसे शब्दों का संगति-ग्रह हो चुका है, उसमें कृति-साध्यता न रहने के कारण विधेयता नहीं बनती, जैसा कि भामतीकार कहते हैं—"नापि शाब्दबोधे पुरुषो नियुज्यते, तस्याप्यधीतवेदस्य पुरुषस्य विदितपद-तदर्थस्य समधिगतशाब्दन्यायतत्त्वस्याप्रत्यूहमुत्पत्तेः" (ब्र० सू० १।१।१) ।

शङ्का—कर्मकाण्ड में भी आपात-जन्य शाब्द ज्ञान के स्वतः सिद्ध होने पर भी विचारपूर्वक ज्ञान प्रयत्न-साध्य होता है, अन्यथा अध्ययन-विधि या विचारोत्तरभावी कर्म के विधि वाक्यों में विचार की आक्षेपकता नहीं होगी, क्योंकि असन्दिग्ध वेदार्थ-ज्ञान भी अयत्न-साध्य (बिना विचार के ही) हो जाता है ।

समाधान—वहाँ भी ज्ञान के साधनीभूत विचार में ही विधेयता का प्रयोजक कृति-साध्यता धर्म माना जाता है, ज्ञान में नहीं ।

द्वितीय पक्ष में (शाब्द ज्ञान के अभ्यास में विधेयत्व मानने पर) सन्देह होता है कि वह (शाब्द ज्ञानाभ्यास) क्या मोक्ष के लिए विहित होता है ? अथवा साक्षात्कार

न्यायामृतम्

न स्यात्। द्वितीयेऽपि न दोषः। दृष्टफलत्व इव नैयोगिकफलत्वेऽपि बन्धध्वंसस्य ध्वंसत्वाच्छ्रुत्यादिबलाच्च नित्यत्वोपपत्तेः। तृतीयेऽपि न दोषः। मोक्षस्य नैयोगिकफलत्वेऽपि नित्यताया उक्तत्वात्। ध्यानादिना प्रसन्नदेवतासाक्षात्कारदर्शनेन ध्यानसंस्कृतमनसा ब्रह्मसाक्षात्कारोपपत्तेश्च। चतुर्थेऽपि न दोषः, ज्ञानविधिवाक्यस्य

अद्वैतसिद्धिः

त्वापातात्। न च—बन्धध्वंसस्य नैयोगिकत्वेऽपि ध्वंसत्वात् श्रुत्यादिबलाच्च नित्यत्वोपपत्तिरिति—वाच्यम्, न हि मन्नय इव त्वन्नयेऽपि बन्धध्वंसमात्रं मुक्तिः किंतु लोकान्तरप्राप्तिः, तस्यामुक्तदोषतादवस्थ्यापत्तिः। न चानावृत्तिश्रुत्या नित्यत्वम्, 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इति श्रुत्या नयोगिकस्यानित्यत्वावगमात्। न चैतच्छ्रुतिविरोधेन तस्यानित्यत्वाबोधकत्वम्, 'यत्कृतकं तदनित्य'मिति युक्त्युपोद्बलिततया प्राबल्यात्। न द्वितीयः, तत् किं दृष्टफलकम्? अदृष्टफलकं वा? नाद्यः, परोक्षज्ञानाभ्यासेन तत्त्वसाक्षात्कारादर्शनात्। न द्वितीयः, प्रमाणायत्तत्वात्तस्य। अत एव न तृतीयः, ध्यानस्य ज्ञानरूपत्वाभावाच्च। न चतुर्थः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

के लिए? यदि मोक्ष के लिए विहित है, तब अभ्यासरूप विधेय पदार्थ के अनुष्ठान से जन्य नियोग (अपूर्व या अदृष्ट) के द्वारा जनित होने के कारण स्वर्ग के समान ही मोक्ष को भी अनित्य ही मानना पड़ेगा।

शङ्का—बन्ध-ध्वंसरूप मोक्ष नियोग-जन्य होने पर भी अनित्य (सान्त) नहीं, क्योंकि वह ध्वंसरूप है एवं "तेषां शान्तिः शाश्वती" (कठो० ५।१३) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा उसकी नित्यता सिद्ध की गई है।

समाधान—तार्किकादि मतों में जैसे मोक्ष को ध्वसंरूप माना जाता है, वैसे आप (माध्व) के मत में नहीं, अपितु लोकान्तर-प्राप्ति को आप मोक्ष मानते हैं, लोकान्तर-प्राप्ति में अदृष्टजन्यत्व होने से अनित्यत्व दोष प्रसक्त होता है। "न स पुनरावर्तते" (छां. ८।१५।१), "तेषां न पुनरावृत्तिः" (बृह० उ० ६।२।१५) इत्यादि श्रुतियों के आधार पर भी उसमें नित्यत्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि "तद्यथेहकर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" (छां० ८।१।६) इत्यादि श्रुतियों से नियोग-जन्य मोक्ष में अनित्यत्व ही सिद्ध होता है। दो विरोधी श्रुतियों में बाध्य-बाधकभाव कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'यत् कृतकम्, तदनित्यम्'—इस युक्ति से उपोद्बलित होने के कारण 'तद्यथेह'—यह श्रुति नित्यत्व-प्रतिपादक श्रुति से प्रबल है, अतः बाधक हो जाती है। द्वितीय (साक्षात्काराय विधीयतेऽभ्यासः) पक्ष में भी जिज्ञासा होती है कि उस अभास का साक्षात् दृष्ट फल है? अथवा अदृष्ट? प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि 'यत्र-यत्र ज्ञानाभ्यासत्वम्, तत्र-तत्र दृष्टफलकज्ञानजनकत्वम्'—यह व्याप्ति परोक्ष ज्ञान के अभ्यास में व्यभिचरित है, क्योंकि परोक्ष ज्ञान का अभ्यास तत्त्व-साक्षात्कार का जनक नहीं होता। द्वितीय पक्ष में यह मानना होगा कि ज्ञानाभ्यास से अदृष्ट और उस अदृष्ट से तत्त्व-साक्षात्कार होता है, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि तत्त्व-साक्षात्कार को प्रमाण-जन्य माना जाता है, अदृष्ट-जन्य नहीं। अत एव तृतीय (ध्यानं विधेयम्) पक्ष भी उचित नहीं रह जाता, क्योंकि ध्यान को ज्ञानस्वरूप नहीं माना जाता। चतुर्थ (ज्ञानान्तर) पक्ष भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि शाब्द ज्ञान से

न्यायामृतम्

ज्ञानकर्तव्यतायां प्रमाणत्वेऽपि ब्रह्मण्यपि महातात्पर्यवत्त्वात्, सत्यज्ञानादिवाक्यस्याविधिपरत्वाच्चेति। ज्ञानविधिसमर्थनम् ॥ १० ॥

अद्वैतसिद्धिः

शब्दस्यापि प्रामाण्याभावापाताद् ब्रह्मणि प्रमाणीभूतज्ञानकर्तव्यतायामेव प्रामाण्यात्। न च महातात्पर्यमादाय ब्रह्मण्यपि प्रामाण्यम्, तादृशज्ञानस्यापि प्रमाणायत्ततया विधिफलत्वाभावात्। तस्मात् पत्न्यवेक्षितमाज्यमित्यादावपि ज्ञानस्याविधानाद् ध्यानस्यापि विज्ञानव्यतिरेकसाधनात् सूक्ष्मशास्त्रार्थबुद्धौ कृत्यन्वयव्यतिरेकयोस्तत्साधनविषयतयान्यथासिद्धत्वाच्च नात्मज्ञानं विधातुं शक्यते। तदेवं श्रवणस्य ज्ञानरूपत्वे विधेयत्वानुपपत्तिः। तस्मात् ज्ञानविजातीयं श्रवणम् अपरोक्षज्ञानजनकशब्देतिकर्तव्यतारूपविचारात्मकं मनननिदिध्यासनाङ्गकं प्रमेयावगमं प्रत्यङ्गतया प्रधानभूतमपरोक्षज्ञानफलकतया विधीयत इति सिद्धम् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ ज्ञानविधिभङ्गः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भिन्न ज्ञान का विधान माननें पर ब्रह्म में शब्द का प्रामाण्य नहीं रहेगा, क्योंकि ब्रह्म के प्रमाणीभूत ज्ञान की कर्तव्यता में ही शब्द का प्रामाण्य गतार्थ हो जाता है। शब्द का अवान्तर तात्पर्य ज्ञान की कर्तव्यता में होनें पर भी महातात्पर्य ब्रह्म में मानकर ब्रह्म में भी शब्द का प्रामाण्य क्यों नहीं ? इस का उत्तर यह है कि विधेयत्वेन अभिमत ज्ञानान्तर भी प्रमाणमात्राधीन होने के कारण विधेय नहीं हो सकता। अतः ''पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति''—इत्यादि स्थल पर भी ज्ञान में विधेयत्व नहीं, ध्यान में विधेयत्व होने पर भी ध्यान को ज्ञानस्वरूप नहीं माना जा सकता अपितु ज्ञान से भिन्न मानस क्रियारूप ही माना जाता है, सूक्ष्म शास्त्रार्थ के ज्ञान में अनुभूयमान कृति का अन्वय-व्यतिरेक ज्ञान के साधनों में गतार्थ होता है, इस प्रकार आत्मज्ञान का कथमपि विधान सम्भव नहीं हो सकता, अतः ज्ञानरूप श्रवण में विधेयत्व की अनुपपत्ति होनें के कारण ज्ञान से विजातीय विचारात्मक श्रवण का ही आत्मविषयक अपरोक्ष ज्ञान के उद्देश्य से विधान मानना होगा, उसी श्रवण के मनन एवं निदिध्यासन अङ्ग हैं और वह श्रवण स्वयं आत्मसाक्षात्कार के करणभूत शब्द का इतिकर्त्तव्य (सहायक व्यापार) होता है।

: ११ :

शाब्दप्रत्यक्षविचारः

न्यायामृतम्

यच्चोक्तम्—"तत्त्वमसी"त्यादिवाक्यादेवापरोक्षधीः। "तद्धास्य विजज्ञौ तमसः पारं दर्शयती"त्यादावुपदेशादेवापरोक्षज्ञानोक्तेः। "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था" इत्यत्र शाब्दज्ञानस्य विशब्देन विशेषविषयत्वे सिद्धे सुशब्देनापरोक्षत्वोक्तेश्च। 'विमतं शाब्दज्ञानमपरोक्षम्, अपरोक्षमात्रविषयकत्वात्, सुखादिज्ञानवत्।' 'अपरोक्षत्वम्, वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानवृत्ति, अपरोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात्, ज्ञानत्ववद्'-इत्याद्यनुमानाच्च। न च 'विमतः शब्दो नापरोक्षधीहेतुः, शब्दत्वाज्ज्योतिष्टोमादिशब्दवद्-इत्यादिना सत्प्रतिपक्षत्वम्, दशमस्त्वमसीत्यादौ शब्दादेवापरोक्षधीदर्शनेन व्यभिचारात्। न च तत्रापीन्द्रियमेव करणं शब्दस्तु सहकारीति युक्तम्, क्वचिद्बहुलतमे तमसि क्वचिच्च लोचनहीनस्यापि वाक्याद्दशमोस्मीऽत्यपरोक्षधीदर्शनादिति।

मैवम्, "तद्धास्य विजज्ञा"वित्यादेः परोक्षज्ञानेनापि चरितार्थत्वात्। दर्शयतीत्यादेस्तु ग्राममार्गोपदेष्टरि ग्रामं दर्शयतीतिवत्परंपरया साक्षात्कारसाधनत्वेन कृतार्थ-

अद्वैतसिद्धिः

ननु—कथमपरोक्षज्ञानजनकत्वं शब्दस्य ? मानाभावादिति—चेन्न, "तद्धास्य विजज्ञौ तमसः पारं दर्शयती"त्यादेः "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" इत्यादेश्च मानत्वात्। पूर्ववाक्ये तज्जनकापरोक्षज्ञानस्योपदेशमात्रसाध्यत्वोक्तेः, द्वितीयश्रुतौ शाब्दज्ञानस्य विपदेन विशेषविषयत्वस्य लाभात् सुपदेनापरोक्षत्वोक्तेः। न च विजज्ञावितीत्यादेः परोक्षज्ञानेनापि चरितार्थता, "तमसः पारं दर्शयती"त्युत्तरवाक्यस्वरसेन अपरोक्षज्ञानपरत्वसिद्धेः। न च ग्राममार्गोपदेष्टरि ग्रामं दर्शयतीतिवत् परम्परया

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—शब्द में अपरोक्ष ज्ञान की जनकता प्रमाण-सिद्ध नहीं, क्योंकि परोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करना ही शब्द का स्वभाव माना जाता है।

समाधान—"तद्धाऽस्य विजज्ञौ" (छां० ६।१६।३) "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" (मुं० ३।२।६) इत्यादि श्रुतियाँ शब्दगत अपरोक्षज्ञान-जनकता में प्रमाण हैं, क्योंकि पहली श्रुति में कहा गया है कि श्वेतकेतु को अपने पिता (उद्दालक) के उपदेश से आत्म-साक्षात्कार हुआ और द्वितीय श्रुति कहती है कि 'वेदान्त वाक्य-जन्य (द्वैताभावोपलक्षितात्मरूपविशेषविषयक) विज्ञानरूप सुनिश्चय (अपरोक्षसाक्षात्कार) के द्वारा आलोकित कर लिया है अखण्डार्थ जिन्होंने, ऐसे यतिगण मुक्त हो जाया करते हैं।' इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द में भी अपरोक्ष ज्ञान की जनकता होती है।

पूर्व वाक्यस्थ "विजज्ञौ' पद का 'परोक्षेण ज्ञातवान्'—ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि "तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः" (छां० ७।२६।२) इस उत्तरभावी (उपसंहार) वाक्य में मूलाज्ञान का नाशक वह परावर-दर्शन प्रस्तुत किया गया है, जो कि अपरोक्ष साक्षात्कार को छोड़ कर अन्य ज्ञान कभी नहीं हो सकता, उसके अनुरोध पर "तद्धास्य विजज्ञौ"—इस वाक्य के "विजज्ञौ' पद का भी 'अपरोक्षेण ज्ञातवान्'—यही अर्थ करना होगा।

शङ्का—'तमसः पारं दर्शयति'—यहाँ 'दर्शयति' पद वैसे ही गौणार्थक है, जैसे

न्यायामृतम्

त्वात्। अन्यथा "मनसैवानुद्रष्टव्य" मित्यादिश्रुतिविरोधात् । वेदान्तविज्ञानेत्यत्र सुशब्देनाप्रामाण्यशंकाभावादेरुक्तेः। अन्यथा वेदान्तबोध्यस्य च विचारकर्तव्यतादेरर्चिरादेश्चापरोक्ष्यापातात्। आद्यानुमानस्य अयं घटः त्वं सुखवानसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञाने वक्ष्यमाणरीत्या व्यभिचारात् । अज्ञानावृत्ते पेक्ये आपरोक्ष्याभावेनासिद्धेश्च।

अद्वैतसिद्धिः

प्रयोजकतयोपचारः साक्षात्साधनत्वे बाधकाभावेन तस्यात्रान्याय्यत्वाद्, उपदेशातिरिक्तकारणस्य नारदसनत्कुमाराख्यायिकायामप्रतीतेश्च। न च मनसैवानुद्रष्टव्यमित्यादिश्रुतिविरोधः, तस्याश्चित्तैकाग्र्यपरत्वात्। न च—सुपदस्याप्रामाण्यशङ्काविरहपरत्वेन द्वितीयवाक्येन तेनापरोक्षरूपताप्राप्तिः, अन्यथा वेदान्तबोध्यस्य विचारकर्तव्यतादेश्चापरोक्षत्वापातादिति—वाच्यम्, निश्चितपदेनैवाप्रामाण्यशङ्काविरहादेर्लब्धतया सुपदस्यातत्परत्वात्। नापि वेदान्तवोध्यस्य ब्रह्मातिरिक्तस्याप्येवमापरोक्ष्यापत्तिः, अर्थपदस्य मुख्यतस्तात्पर्यविषयपरत्वाद्, वेदान्तबोध्यताया ब्रह्ममात्रपर्यवसन्नत्वाच्च।

एवमनुमानमप्यत्र मानम्—'अपरोक्षत्वम्, तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्ति,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

किसी ग्राम के मार्ग-दर्शक को 'अयं ग्रामं दर्शयति'—ऐसा कह दिया जाता है, अतः सनत्कुमार का दर्शन कराना परोक्ष ज्ञान कराना ही है, जो आगे चल कर मानस साक्षात्कार का प्रयोजक बन जाता है।

समाधान—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"—इस वाक्य में साक्षात्कारार्थक 'दृश्' धातु का प्रयोग है, उसी का 'दर्शयति' में भी, अतः 'दृश्' की मुख्य शक्ति अपरोक्ष ज्ञान में ही है, जहाँ इसका बाध हो जाता है, वहाँ ही इसका परोक्ष ज्ञानरूप गौण अर्थ किया जाता है, जैसे 'ग्रामं दर्शयति' में, किन्तु 'तमसः पारं दर्शयति' में मुख्यार्थ का बाध न होने के कारण उसको छोड़ कर परोक्ष ज्ञान अर्थ करना सर्वथा अन्याय है। उक्त नारद और सनत्कुमार की आख्यायिका में शब्दात्मक उपदेश से अतिरिक्त दर्शन के किसी अन्य साधन का निर्देश भी नहीं, अतः शब्द को ही अपरोक्ष ज्ञान का साधन मानना होगा। "मनसैवानुद्रष्टव्यम्" (बृह० उ० ४।४।१९) इस श्रुति के द्वारा मन में अपरोक्ष ज्ञान की साधनता का प्रतिपादन नहीं, अपितु चित्त की एकाग्रता के विधान में ही उसका तात्पर्य है।

शङ्का—यह जो कहा गया कि "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः"—इस द्वितीय वाक्य में 'सु' पद ज्ञानगत अपरोक्षता का गमक है, वह कहना संगत नहीं, क्योंकि 'सु' पद ज्ञानगत अप्रामाण्य की शङ्का का निवर्तक है, अपरोक्षता का बोधक नहीं, अन्यथा 'सुनिश्चितार्थ' शब्द के द्वारा विचारित वेदान्त वाक्यों से जन्य अपरोक्ष ज्ञान की विषयता वेदान्तार्थ में प्राप्त होने के कारण विषयगत अपरोक्षता सिद्ध होती है, अतः वेदान्तार्थभूत अर्चिरादि मार्ग और पुरीततादि प्रदेशों में अपरोक्षता प्रसक्त होगी।

समाधान—अप्रामाण्य-शङ्का की निवृत्ति तो 'निश्चित' पद के द्वारा ही हो जाती है, 'सु' पद के द्वारा ज्ञानगत अपरोक्षता ही अवगमित होती है। उक्त वाक्य में 'अर्थ' पद मुख्य तात्पर्य-विषयीभूत ब्रह्म का ही बोधक है, समस्त अर्चिमार्गादि का ग्राहक नहीं, अतः समस्त अर्थों में अपरोक्षता प्रसक्त नहीं होती।

शब्दगत अपरोक्ष ज्ञान की जनकता में अनुमान भी प्रमाण है—'अपरोक्षत्वम्,

आपरोक्ष्ययोग्यत्वविवक्षायां तु भित्त्यन्तरितघटविषयकशब्दज्ञाने व्यभिचारात् । द्वितीयानुमाने अपरोक्षत्वं ज्योतिष्टोमादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्तीत्यपि सुसाधत्वेनाभास-साम्यात् ।

शब्दत्वहेतुना सत्प्रतिपक्षत्वाच्च । किं चास्य शब्दस्यापरोक्षधीहेतुत्वे प्रत्यक्षे-

---

अद्वैतसिद्धिः

अपरोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात्, ज्ञानत्ववत्' । न च—कर्मकाण्डजन्य-ज्ञानवृत्तीत्येवमपि साध्येतेति—वाच्यम्, विपक्षबाधकसत्त्वासत्त्वाभ्यां विशेषात् । तथा हि—तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानाजनकत्वे अपरोक्षभ्रमनिवृत्तिर्न स्यात् । न च मनसैवापरोक्षज्ञानम्, मनसः कुत्राप्यसाधारण्येन प्रमाकरणत्वाभावाद्, आत्मनः स्वप्रकाशत्वात् सुखादीनां साक्षिवेद्यत्वात् । न च शब्दे अपरोक्षज्ञानजनकत्ववद् अन्यत्राक्लृप्तमेव मनसि तत्कल्पनीयम् । एवं हि सर्वांशस्यैव मनसि कल्प्यत्वेन विशेषात् । न चैवं ज्योतिष्टोमादिविषयककर्मकाण्डजन्यज्ञाने कल्पकमस्ति । तत्र हि कल्पनीयमनुष्ठानाय वा ? फलाय वा ? नाद्यः, परोक्षज्ञानादेव तत्संभवात् । तत एवानुष्ठानात् फलसिद्धेर्न द्वितीयोऽपि ।

न च विमतः शब्दो नापरोक्षधीहेतुः शब्दत्वादिति प्रतिसाधनम्, 'दशम-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्ति, अपरोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात्, ज्ञानत्व-वत्' । यहाँ विपक्ष-बाधक तर्क है—'तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं यदि अपरोक्षं न स्यात्, तर्हि अपरोक्षभ्रमनिवर्तकं न स्यात् ।'

शङ्का—"मनसैवानुद्रष्टव्यम्"—इस श्रुति के आधार पर मन को ही आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान का साधन मान लेना चाहिए, जैसा कि उक्त श्रुति की पातनिका में आचार्य शङ्कर अपने भाष्य में कहते हैं—"ब्रह्मदर्शने साधनमुच्यते—मनसैव परमार्थ-ज्ञानसंस्कृतेनाचार्योपदेशपूर्वकं चानुद्रष्टव्यम्" (बृह० उ० पृ० ६८२) ।

समाधान—मन ज्ञानमात्र का साधारण कारण ही माना जाता है, किसी प्रमा का भी उसे असाधारण कारण मानने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि आत्मा स्वप्रकाश है और सुखादि अन्तःकरण के धर्म होने के कारण साक्षिभास्य होते हैं ।

शङ्का—शब्द में भी अपरोक्ष ज्ञान की करणता अन्य कोई भी नहीं मानता किन्तु आप (अद्वैती) उसकी कल्पना जैसे कर लेते हैं, वैसे ही मन में भी अपरोक्ष ज्ञान की करणता क्यों नहीं मान लेते ?

समाधान—शब्द में शाब्द ज्ञानरूप असाधारण प्रमा की करणता निश्चित है, केवल अपरोक्ष ज्ञान के करणत्व की ही कल्पना की जाती है, किन्तु मन से जन्य ज्ञान में अपरोक्षत्व और मन में अपरोक्ष ज्ञान के करणत्व—इन दोनों की कल्पना करनी पड़ेगी, अतः इस सर्वांश-कल्पना की गुरुता के कारण वैसी कल्पना नहीं की जा सकती ।

अपरोक्ष भ्रम की निवृत्ति के लिए जैसे 'तत्त्वमसि'—इत्यादि महावाक्यों से जन्य ज्ञान में अपरोक्षत्व मानना अनिवार्य है, वैसे "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"—इत्यादि कर्मकाण्ड के वाक्यों से जन्य ज्ञान में नहीं, क्योंकि ज्योतिष्टोमादिविषयक ज्ञान में अपरोक्षत्व की कल्पना क्यों होगी ? कर्मानुष्ठान-सिद्धि के लिए ? अथवा फल की सिद्धि के लिए ? दोनों पक्ष अनुचित हैं, क्योंकि कर्मविषयक परोक्ष ज्ञान मात्र से कर्मानुष्ठान और उसी अनुष्ठान से फल की सिद्धि हो जाती है ।

न्यायामृतम्

ऽन्तर्भावापत्तिः। न च यथा बाह्यप्रत्यक्षत्वे योगिमनोऽन्यत्वे सति बाह्यप्रत्यक्षप्रमितिकरणत्वं तन्त्रम्, तथा स्वतोऽपरोक्षविषयशब्दान्यत्वे सति प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वं प्रत्यक्षत्वे तन्त्रमिति वाच्यम्, वक्ष्यमाणरीत्या क्वापि शब्दादपरोक्षज्ञानाभावेन विशेषणकल्पकाभावात्। यश्च शब्दत्वहेतोर्दशमस्त्वमसीत्यादौ व्यभिचार उक्तः, स किं स्वात्मनो दशमत्वं पश्यन्तं प्रति प्रयुक्ते दशमस्त्वमसीति वाक्ये? अन्यं प्रति वा? नाद्यः, तस्य दृष्टघटं प्रति प्रयुक्तादयं घट इति वाक्याज्जन्यज्ञानस्येव परोक्षत्वेऽपि प्रत्यक्षसिद्धार्थानुवादित्वमात्रेण प्रत्यक्षत्वाभिमानात्। द्वितीयेऽपि यदीन्द्रियव्यापारोऽस्ति तदा रत्नतत्त्व इवोपदेशसहकृतेन्द्रियेणैव दशमत्वेऽपरोक्षधीः। यदि स नास्ति तदा धर्मवांस्त्वमसि पर्वतोऽग्निमानित्यादाविव विशेष्यस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि विशेषणे दशमत्वे परोक्षधीरेव।

तत्राप्यपरोक्षेति मयोच्यमानत्वात्प्रतीतिकलहोऽयं निरवधिक इति चेत्, न

अद्वैतसिद्धिः

स्त्वमसीत्यादावेव व्यभिचारात्। न च—तत्रापीन्द्रियमेव करणं शब्दस्तत्सहकारीति—वाच्यम्, क्वचित् बहुलतमे तमसि लोचनहीनस्यापि तद्वाक्यादपरोक्षभ्रमनिवर्तकस्य दशमोऽस्मीत्यपरोक्षज्ञानस्य दर्शनात्। यत्रापीन्द्रियसद्भावः, तत्रापि तदप्रयोजकमेव। न च—धर्मवांस्त्वमसि पर्वतोऽग्निमानित्यादौ विशेष्यापरोक्षत्वेऽपि विशेषणपारोक्ष्यवद् अत्रापि दशमत्वे पारोक्ष्यमस्त्विति—वाच्यम्, अत्र परोक्षत्वे अपरोक्षभ्रमानिवृत्तिप्रसङ्गात्।

ननु—एवमपि शब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वं किं स्वाभाविकम्? उतापरोक्षविषय-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—शब्दगत अपरोक्ष साक्षात्कार-करणत्व के कथित अनुमान का सत्प्रतिपक्ष प्रयोग इस प्रकार है—'विमतः शब्दो नापरोक्षधीहेतुः. शब्दत्वात्, धर्मकाण्डवत्।'

समाधान—'दशमस्त्वमसि'—इत्यादि शब्दों में इस अनुमान का 'शब्दत्व' हेतु व्यभिचरित है, क्योंकि वहाँ अपरोक्ष ज्ञान-जनकत्व ही अनुभूत होता है। 'वहाँ भी इन्द्रिय ही अपरोक्ष ज्ञान का जनक है, शब्द उसका सहायक मात्र है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ शब्द-ग्राहक श्रोत्र इन्द्रिय से तो दशम व्यक्ति का प्रत्यक्ष हो नहीं सकता, चक्षु इन्द्रिय को ही उसका जनक मानना होगा, किन्तु घोरतम अन्धेरे में नेत्रहीन दशम व्यक्ति को भी उक्त शब्द के द्वारा अपरोक्ष भ्रम का निवर्तक 'अहमेवास्मि दशमः'—इस प्रकार का अपरोक्ष ज्ञान देखा जाता है, अतः जहाँ दशम व्यक्ति सनेत्र है, वहाँ भी इन्द्रिय को उस अपरोक्ष साक्षात्कार का प्रयोजक नहीं माना जा सकता।

शङ्का—जैसे 'धर्मवान् त्वमसि', 'पर्वतोऽग्निमान्'—इत्यादि स्थलों पर विशेष्य भाग का प्रत्यक्ष होने पर भी शब्द के द्वारा केवल विशेषण अंश में परोक्षता ही निश्चित होती है, वैसे, ही 'दशमस्त्वमसि'—यहाँ पर भी दशमत्व में पारोक्ष्य ही रहता है, अपारोक्ष्य नहीं।

समाधान—दशमत्वविषयक अपरोक्ष निश्चय न होने पर दशमत्वाभावविषयक भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती, अतः दशमत्वरूप विशेषण अंश में भी अपरोक्षता ही माननी होगी।

द्वैती—शब्द को यदि किसी प्रकार अपरोक्ष ज्ञान का प्रयोजक मान भी लिया जाय,

न्यायामृतम्

तावच्छब्दस्यापरोक्षधीहेतुत्वं स्वाभाविकम्, अतिप्रसंगात्। नाप्यपरोक्षविषयकत्वनिमित्तकम्, 'जीवाः परमात्मनो न भिद्यन्ते, आत्मत्वाद्'इत्यादिलिंगजन्यायाः श्रवणात्प्रागापततो वेदान्तजन्याया भाषाप्रबन्धजन्याया अनधीतवेदान्तजन्यायाश्चैक्यप्रतीतेरापरोक्ष्यापातेन श्रवणनियमादेरयोगात्। किं च अर्थस्यापरोक्षत्वं न तावदपरोक्षधीरूपत्वम्, तस्य ब्रह्मणि सत्त्वेऽपि दशमत्वादावसत्त्वात्। चैत्रस्यापरोक्षज्ञाने मैत्रस्य शब्दादिना साक्षात्कारादर्शनाच्च। नाप्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वम्, व्यवहारापरोक्ष्यस्य परोक्षविषयत्वरूपत्वेऽन्योऽन्याश्रयात्। अपरोक्षोऽयमित्येवंरूपत्वे त्वज्ञानावृते पेक्ये तदभावात्। त्वयापि न प्रकाशत इत्यादिव्यवहारार्थमेवावरणकल्पनात्। उक्त-

अद्वैतसिद्धिः

निमित्तकम्? नाद्यः, अतिप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, जीवाः परमात्मनो न भिद्यन्ते आत्मत्वादित्यादिना जायमानानुमितेः श्रवणात् प्रागापततो वेदान्तजन्याया भाषाप्रबन्धजन्याया अनधीतवेदान्तजन्याया ऐक्यप्रतीतेश्चापरोक्ष्यापातात् श्रवणनियमादेरनियमात्। किंचार्थस्यापरोक्ष्यं न तावदपरोक्षबुद्धिरूपत्वम्, ब्रह्मण्यस्य सत्त्वेऽपि दशमत्वादावभावात्, चैत्रापरोक्षज्ञाने मैत्रस्य शब्दादिना आपरोक्ष्यादर्शनाच्च। नाप्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वम्, व्यवहारापरोक्ष्यस्य तादृगर्थभेदविषयकत्वरूपत्वे अन्योन्याश्रयात्, अपरोक्षोऽयमित्येवंरूपत्वे अज्ञानावृतेऽपि तदभावात्, त्वयापि न प्रकाशत इत्यादिव्यवहारार्थमेवावरणकल्पनाद्, उक्तव्यवहारयोग्यत्वरूपत्वे व्यवहितघटे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तब भी जिज्ञासा होती है कि क्या शब्द में अपरोक्ष ज्ञान-जनकत्व स्वाभाविक है? या अपरोक्षवस्तुविषयकत्वेन? प्रथम पक्ष मानने पर धर्मविषयक ज्ञान में भी अपरोक्षत्व की अतिप्रसक्ति होती है। द्वितीय पक्ष अपनानें पर वेदान्तश्रवण से ही अभेद-साक्षात्कार होता है—ऐसा नियम न बन सकेगा, क्योंकि श्रवण से पहले भी 'जीवाः परमात्मनो न भिद्यन्ते, आत्मत्वात्'—इत्यादि अनुमानों से जन्य अनुमिति ज्ञान या विचार के बिना आपाततः जायमान अभेद-ज्ञान अथवा वेदान्ताध्ययन के बिना ही भाषा-निबन्धों के स्वयं अनुशीलन से जनित ऐक्य-ज्ञान भी अपरोक्षात्मविषयक होने के कारण अपरोक्ष हो सकता है।

दूसरी बात यह भी है कि विषयगत अपरोक्षता क्या (१) अपरोक्षज्ञानरूपत्व है? या (२) अपरोक्षव्यवहारविषयत्व? अथवा (३) अपरोक्षज्ञानविषयत्व? प्रथम (अपरोक्षज्ञानरूपत्व) प्रत्यक्षत्व ब्रह्म में रहने पर भी दशमत्वादि में नहीं रहता, क्योंकि दशमत्वादि को बुद्धिरूप नहीं माना जाता। चैत्रीय अपरोक्ष ज्ञान का मैत्र को शब्दादि के द्वारा परोक्ष ज्ञान ही होता है, अपरोक्ष नहीं, अतः अपरोक्षज्ञानविषयत्व विषयगत अपरोक्षता का स्वरूप या प्रयोजक नहीं हो सकता। द्वितीय (अपरोक्षव्यवहारविषयत्व) धर्म को भी विषयगत अपरोक्षत्व नहीं कह सकते, क्योंकि व्यवहारगत अपरोक्षत्व का यदि अर्थ है—अपरोक्षार्थविषयकत्व, तब अर्थगत अपरोक्षता में व्यवहारगत अपरोक्षता और व्यवहारगत अपरोक्षता में विषयगत अपरोक्षता की अपेक्षा होने से अन्योऽन्य-आश्रय होता है। 'अपरोक्षोऽयम्'—इस प्रकार प्रतीति को यदि अपरोक्ष व्यवहार माना जाता है, तब आवृत अपरोक्ष अर्थ में अव्याप्ति होती है, क्योंकि आप (अद्वैती) भी विषयगत आवरण इसी लिए मानते हैं कि 'न

न्यायामृतम्

व्यवहारयोग्यत्वरूपत्वे भित्तिव्यवहिते घटे शब्दादपरोक्षधीप्रसंगात्। अपरोक्षज्ञानजन्यत्वरूपत्वे च वक्ष्यमाणपक्षान्तर्भावात्। तस्मादर्थस्यापरोक्षधीविषयत्वमेवापरोक्षत्वं वाच्यम्। तत्र चैतज्ज्ञानविषयत्वेन तदुक्तावन्योन्याश्रयात्। ज्ञानान्तराभिप्राये तु केषांचिदपरोक्षे स्वर्गादावस्माकं शब्दादपरोक्षधीः स्यात्। एकपुरुषाभिप्राये च पूर्वेद्युश्चैत्रस्यापरोक्षे इदानीं शब्दादपरोक्षधीः स्यात्। एककालाभिप्राये च प्रत्यक्षेऽग्नौ लिंगाच्छब्दाच्चापरोक्षधीः स्यात्। न चेष्टापत्तिः, करणशक्तिमतिलङ्घ्य ज्ञानस्य विषयानुसारित्वे चाक्षुषादिविषयकस्मृत्यनुमितिस्पार्शनज्ञानादेश्चाक्षुषत्वाद्यापातात्। लिंगशब्दादिसिद्धे चेन्द्रियात्परोक्षधीप्रसंगात्। अनुमिते च शब्दादनुमितिप्रसङ्गात्। एवं च—

परोक्षे चापरोक्षेव चाक्षुषे स्पार्शिनीव च।
अपरोक्षे परोक्षा धीर्युक्ता करणशक्तितः॥

तस्माद् ये विरुद्धे न त्वावान्तरजातीपरोक्षत्वापरोक्षत्वे तदाश्रययोर्ज्ञानयोर्भिन्नत्वात्। यश्चैको विषयस्तत्र विरुद्धजात्यभावाद्विरुद्धजात्याधारज्ञानविषयत्वस्य च चाक्षुषस्पार्शनज्ञानविषयत्वस्येवैकस्मिन् सम्भवात्प्रत्यक्षविषयमपि शाब्दज्ञानं परोक्षमेव।

किं च धर्मिमात्रस्य प्रत्यक्षत्वाभिप्राये प्रत्यक्षे घटादौ अयं गुरुः पर्वतोऽग्निमानित्यादिशब्दादपरोक्षधीः स्यात्। नापि सप्रकाराभिप्रायं, प्रकृते तदभावात्। न हि

अद्वैतसिद्धिः

शब्दादपरोक्षज्ञानप्रसङ्गाद्, अपरोक्षज्ञानजन्यत्वरूपत्वे च वक्ष्यमाणपक्षान्तर्भावात्। तस्मादर्थस्यापरोक्षधीविषयत्वमेवापरोक्षत्वं वाच्यम्। तत्र चैतज्ज्ञानविषयत्वेन तदुक्तावन्योन्याश्रयः, ज्ञानान्तराभिप्राये तु केषांचिदपरोक्षे स्वर्गादावस्माकं शब्दादपरोक्षधीप्रसङ्गात्। एकपुमभिप्राये तु पूर्वापरोक्षे शब्दादिना इदानीमपरोक्षधीप्रसङ्गात्। एककालाभिप्राये प्रत्यक्षाग्नौ लिङ्गाच्छब्दाद्वा आपरोक्ष्यं स्यादिति—चेन्न, यं शाब्द-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रकाशते'—इस प्रकार के व्यवहार की उपपत्ति हो जाय और 'अपरोऽयम्'—ऐसा व्यवहार न हो सके। यदि 'अपरोक्षोऽम्'—इस प्रकार के व्यवहार की योग्यता को विषयगत अपरोक्षता मानने पर कुड्यादि से व्यवहित घटादि में भी उक्त योग्यता रहने के कारण अपरोक्षता प्रसक्त होती है। अपरोक्षज्ञान-जन्यत्व को विषयगत अपरोक्षता मानने पर वक्ष्यमाण अन्योऽन्याश्रयतादि-ग्रस्त तृतीय पक्ष में अन्तर्भाव हो जाता है। परिशेषतः तृतीय (अपरोक्ष ज्ञानविषयत्व) पक्ष को ही विषयगत अपरोक्षता मानना होगा। इसमें जिज्ञासा होती है कि घट में अपरोक्षता का नियामक घट-ज्ञान माना जाता है ? या ज्ञानान्तर ? प्रथम पक्ष में अन्योऽन्याश्रयता है, क्योंकि घटगत अपरोक्षता घटज्ञानगत अपरोक्षता के अधीन है और घटज्ञानगत अपरोक्षता घटगत अपरोक्षता के अधीन। ज्ञानान्तर का ग्रहण करने पर देवगणों के प्रत्यक्षभूत स्वर्गादि का मनुष्यों को भी शब्द के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान होना चाहिए। तत्पुरुषीय विषयगत अपरोक्षता में तत्पुरुषीय अपरोक्ष ज्ञान को नियामक मानने पर अतीत घटादि का वर्तमान में अपरोक्ष ज्ञान होना चाहिए। तत्पुरुषीय तत्कालीन विषयगतापरोक्षता में तत्पुरुषीय तत्कालीन अपरोक्ष ज्ञान को प्रयोजक मानने पर प्रत्यक्षभूत अग्नि का लिङ्ग या शब्द के द्वारा अपरोक्षज्ञान होना चाहिए।

न्यायामृतम्

दशमस्त्वमसि तत्त्वमसीत्यादिबोधकबोध्यं दशमत्वैक्यादिप्रागपरोक्षम्, वाक्यवैयर्थ्यात्। न च स्वरूपाभिन्ने ऐक्ये स्वरूपज्ञानेनापरोक्षतो भात्यपि वृत्त्यर्थं शब्दः। त्वया स्वरूपज्ञानप्रयुक्तभानप्रतिबन्धार्थमेवावरणकल्पनात्। एतेनापरोक्षे ब्रह्मणि परोक्षधीः परोक्षे कामिन्यादावपरोक्षधीरिवाप्रमाणं स्यादिति निरस्तम्। स्मृतेऽनुभववद् अनुमितेऽग्नाविन्द्रियेणापरोक्षधीवत् पूर्वं परोक्षे पश्चाद्योगजसाक्षात्कारवत् परोक्षतत्त्वायामपरोक्षप्रत्यभिज्ञानवच्चापरोक्षज्ञानविषयेऽर्थे परोक्षत्वजात्याधारज्ञानोदयेऽप्यपरोक्षस्य परोक्षत्वेनानुल्लेखेनाप्रामाण्यानापत्तेः। कामिनीसाक्षात्कारस्तु बाधादप्रमाणम्, न तु परोक्षार्थविषयकापरोक्षत्वजात्याधारत्वात्। तथात्वे योगजसाक्षात्कारादेरप्यप्रामाण्यप्रसंगात्।

किं चैवं शब्दादेवापरोक्षधीरिति त्वदेकदेशिमते दोषाभावेऽपि इन्द्रियमादावभिज्ञानमुत्पाद्य संस्कारसचिवं प्रत्यभिज्ञानमिव शब्द आदौ परोक्षज्ञानमुत्पाद्य मननादिसाध्यप्रतिबन्धनिवृत्तिसचिवोऽपरोक्षज्ञानं जनयतीति त्वदेकदेशिमते प्रथमोत्पन्नपरोक्षज्ञानस्याप्यप्रामाण्यं स्यात्। एतेन प्रमातारमपेक्ष्य देशतः कालतः स्वभावतो वा विप्रकृष्ट एव परोक्षज्ञाननियमात्स्वप्रकाशप्रमातृचैतन्याभिन्नत्वेनाविप्रकृष्टे ब्रह्मणि परोक्षधीरेव न युक्तेति निरस्तम्, प्रत्यक्ष वह्नौ लिंगादप्यपरोक्षधीप्रसंगात्। अविप्रकृष्ट एवापरोक्षज्ञाननियमेन विप्रकृष्टतत्त्वाव्याप्त्यादाविन्द्रियजन्यप्रत्यभिज्ञाव्याप्त्यादिज्ञानस्यापि परोक्षत्वापाताच्च। तत्र संस्कारादेरेव सन्निकर्षत्वेऽत्राप्यावरणकृतविप्रकर्षस्य सत्त्वाद् वृत्तेरावरणनिवर्तकत्वेऽपि वृत्त्युदयात्प्राग्विप्रकर्षात् पराचीनस्य चाविप्रकर्षस्याप्राचीनवृत्त्या आपरोक्ष्येऽतन्त्रत्वात्। ननु कर्तृत्वादिरूपापरोक्षाध्यासस्य परोक्षप्रमयाऽनिवृ-

---

अद्वैतसिद्धिः

बोधमादाय यस्य बोध्यत्वम्, तत्साक्षात्कारार्थं तदभिन्नार्थावगाहित्वनिमित्तकमित्युक्तदोषानवकाशात्।

न च—एवं प्रत्यक्षान्तर्भावः शब्दस्य स्यादिति—वाच्यम्, बोध्यभिन्नार्थकशब्दातिरिक्तत्वे सति प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वस्य प्रत्यक्षस्यान्तर्भावे तन्त्रत्वात्। ननु—"मनसैवानुद्रष्टव्य"मित्यादेरिव मनःकरणताप्रतिपादकस्य प्रकृते अभावाद् अनौपदेशिकं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अद्वैती—'उद्दालकः तत्त्वमसीतिवाक्येन श्वेतकेतुं बोधयति'—यहाँ उद्दालक बोधक और श्वेतकेतु बोध्य, उक्त वाक्य-जन्य ज्ञान शाब्द बोध है और उसका करण है—उक्त महावाक्य। उक्त ज्ञान का विषयीभूत आत्मा श्वेतकेतुरूप प्रमाता या बोध्य से अभिन्न है, अतः उक्त शाब्द ज्ञान में जो प्रमात्रभिन्नार्थावगाहित्व है, वही उस शाब्द बोध की अपरोक्षता का नियामक है। कर्म काण्ड-जन्य ज्ञान के विषयीभूत स्वर्ग और धर्मादि प्रमाता से भिन्न हैं, अतः उस ज्ञान में अपरोक्षत्व प्राप्त नहीं होता। घटादि-बोधक वाक्यों के द्वारा जनित ज्ञान का विषय भी प्रमाता से भिन्न है, अतः उस ज्ञान में भी अपरोक्षत्व प्रसक्त नहीं होता। इसी प्रकार विषयगत अपरोक्षत्व का लक्षण अनावृतत्व है, अपरोक्षज्ञानविषयत्व नहीं, अतः अन्योऽन्याश्रय दोष भी नहीं होता।

शङ्का—शब्द-जन्य ज्ञान यदि प्रत्यक्ष है, तब प्रत्यक्ष प्रमा का कारण होने से शब्द को प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत मानना होगा।

न्यायामृतम्

त्तेरौपनिषदे ब्रह्मणि मानान्तराप्रवृत्तेः शब्दादपरोक्षज्ञानानुत्पत्त्यावनिर्मोक्षः स्यादिति-चेन्न, तस्य ज्ञाननिवर्त्यतया निरस्तत्वात्। निदिध्यासनसंस्कृतमनसाऽपरोक्षधी-सम्भवाच्च। "यन्मनसा न मनुत" इत्यादि श्रुतिस्तु "मनसैवानुद्रष्टव्य"मित्यादिश्रुति-विरोधेनापक्वमनोविषया। "मनसा तु विरुद्धेने"त्यादिश्रुतेः। अन्यथा शब्दस्य करण-

अद्वैतसिद्धिः

शब्दस्य साक्षात्कारकरणत्वमिति—चेन्न, "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी"त्यादौ तत्र साधुरिति तदन्यासाधुत्वे सति तत्साधुत्वरूपसाध्वर्थविहिततद्धितश्रुत्या एव मानत्वात्। ननु मनसः करणत्वेऽपि औपनिषदत्वस्य निदिध्यासनापेक्षिततया अन्यथा-सिद्धिः, न, "यन्मनसा न मनुत"इति मनसः करणत्वनिषेधात्। न च "यतो वाचो निवर्तन्त"इति शब्दस्यापि करणत्वानुपपत्तिः, औपनिषदत्वश्रुत्यनुसारेण तस्याः शक्त्या अबोधकत्वपरत्वात्। तदुक्तं—'चकितमभिधत्ते श्रुतिरपी'ति। न च—मनसैवा-नुद्रष्टव्यमिति तृतीयाश्रुत्यनुसारेण न मनुत इत्यस्यैवापक्वमनोविषयतयाऽन्यथानयन-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—प्रमात्रभिन्नार्थकशब्दातिरिक्तत्व-विशिष्ट प्रत्यक्षप्रमाकरणत्व धर्म ही प्रत्यक्ष-प्रमाणत्व का प्रयोजक होता है, प्रत्यक्षात्मक शाब्द बोध का जनक शब्द प्रमात्रभिन्नार्थक ही होता है, अतः उसे प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता।

शङ्का—जैसे "मनसैवानुद्रष्टव्यम्" (बृह० उ. ४।४।१९) इत्यादि श्रुतियों से मन में प्रत्यक्ष ज्ञान की करणता प्रतिपादित, है वैसे शब्द में किसी भी प्रमाण के द्वारा प्रत्यक्ष प्रमा की करणता प्रतिपादित नहीं, अतः मन में प्रत्यक्ष ज्ञान की करणता औपदेशिक न होने के कारण मनोगत औपदेशिक करणता के द्वारा शब्दगत प्रत्यक्ष प्रमा की कारणता का अनुमान आगम-बाधित हो जाता है।

समाधान—"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृह० उ० ३।९।२६) इत्यादि श्रुतियों में 'उपनिषत्' पद के उत्तर "तत्र साधु" (पा० सू० ४।४।९८) से विहित तद्धित ('अण्') प्रत्यय के द्वारा अपरोक्ष ब्रह्मगत साधुता यही है कि वह उपनिषत् प्रमाण-जन्य अपरोक्ष ज्ञान का विषय है, अन्य प्रमाण-जन्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं, फलतः आत्मापरोक्ष प्रमा की करणता 'औपनिषद' पद से प्रतिपादित हो जाती है।

शङ्का—उक्त सूत्र में साधुत्व का अर्थ योग्य मात्र होता है, अतः ब्रह्म-साक्षात्कार की करणता मन में मान कर भी ब्रह्म में औपनिषदत्व बन सकता है, क्योंकि उपनिषद् में उसका निदिध्यासन प्रतिपादित है।

समाधान—"यन्मनसा न मनुते" (केन० ३।५) इस श्रुति के द्वारा मन में आत्मसाक्षात्कार की करणता का निषेध किया गया है, अतः मन को अपरोक्ष प्रमा का करण कभी नहीं मान सकते। "यतो वाचो निवर्तन्त" (तै० उ० २।४।१) इस श्रुति के द्वारा शब्दगत करणता का निषेध नहीं किया जाता, अपितु 'औपनिषद' पद के अनुसार शब्द-शक्ति की अविषयता का ही वहाँ निषेध माना जाता है, जैसा कि महिम्नस्तोत्र में कहा गया है—'चकितमधिधत्ते श्रुतिरपि" (शिव० म० २) अर्थात् श्रुति अभिधा वृत्ति से नहीं, लक्षणा वृत्ति से ही ब्रह्म का बोध कराती है।

शङ्का—'मनसैवानुद्रष्टव्यम्"—यहाँ तृतीया विभक्तिरूप श्रुति मन में निश्चितरूप से ज्ञान-करणता का प्रतिपादन करती है, अतः इसके अनुसार "यन्मनसा न मनुते"—

न्यायामृतम्

त्वेऽपि "यतो वाचो निवर्तन्त" इत्यादिश्रुतिबाधः स्यात् । मनसा न क्वाप्यपरोक्षधी-र्दृष्टेति चेन्न, योगजसाक्षात्कारदर्शनात् । शब्देनापि तददर्शनाच्च । मनसस्तत्करणत्वे उक्तश्रुतेरिव शब्दस्य तत्करणत्वे श्रुत्यादेरदर्शनाच्च । "औपनिषदः पुरुष" इत्यादि तु मनसः करणत्वेऽप्यौपनिषदनिदिध्यासनापेक्षत्वात् । तदुक्तम्—

शब्देन दृश्यते ब्रह्मेत्यत्र मानं न दृश्यते ।
मनसा दृश्यते ब्रह्मेत्यत्र मानं तु दृश्यते ॥

इति शाब्दप्रत्यक्षभंग ॥ ११ ॥

अद्वैतसिद्धिः

साम्यमिति—वाच्यम्, एवं साम्येऽपि मनसः करणत्वे ह्यधिककल्पना । शब्दस्य करणत्वे त्वल्पकल्पनेति विशेषात् । तस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वाद-विद्यानिवृत्त्यात्मकमोक्षसाधनब्रह्मसाक्षात्काराय मननाद्यङ्गकं श्रवणमङ्गि नियमविधि-विषय इति सिद्धम् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ शब्दादपरोक्षोपपत्तिः ॥

विश्वेश्वराख्यस्य गुरोः प्रसादादद्वैतसिद्धिर्मधुसूदनस्य ।
अभूदभूमिः खलु दूषणानां गुणैरमेयैरवगुम्फितश्रीः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इस श्रुति के द्वारा अपक्व मन में करणता का निषेध मानना उचित होगा । अतः शब्द की करणता का विधान और निषेध—दोनों उपलब्ध हैं, वैसे ही मन की करणता का विधान और निषेध—दोनों उपलब्ध है, दोनों का सामञ्जस्य भी समान है, अतः शब्द की करणता के साधन में कोई विनिगमक सम्भव नहीं ।

समाधान—दोनों का विधान और निषेध समान होने पर भी मनोगत करणत्व की कल्पना में गौरव है, क्योंकि मन में प्रमा-करणत्व और मनोजन्य बोध में अपरोक्षत्व—दोनों धर्मों की कल्पना करनी है, किन्तु शब्द में परोक्ष प्रमा की करणता तो सिद्ध ही है, केवल शब्द-जन्य ज्ञान में अपरोक्षत्व की कल्पना ही करनी पड़ती है । फलतः 'तत्त्वमसि'—इत्यादि महावाक्यों में अपरोक्ष ज्ञान की जनकता निश्चित होने के कारण अविद्या-निवृतिस्वरूप आत्मसाक्षात्कार का लाभ करने के लिए मननाद्यङ्गक श्रवणरूप अङ्गी नियम विधि का विषय (विधेय) होता है—यह सिद्ध हो गया । श्रीसुरेश्वराचार्य की स्पष्ट घोषणा है—

तत्त्वमस्यादिवाक्येभ्यः सर्वज्ञानप्रसूतितः ।
सर्वज्ञानापनुत्तेश्च ज्ञेयकार्यसमाप्तितः ॥ (बृह० वा० पृ० १८३०)
दर्शनस्याविधेयत्वात् तदुपायो विधीयते ।
वेदान्तश्रवणं यत्नादुपायस्तर्क एव च ॥ (बृह० वा० पृ० १०६८)
श्रवणं मननं तद्वत्तथा शमदमादि यत् ।
पुमान् शक्नोति तत्कर्त्तुं तस्मादेतद्विधीयते ॥ (बृह० वा० पृ० १०५३)

विश्वेश्वरछन्दसंज्ञक गुरुवर की कृपा से मधुसूदन सरस्वती की यह अद्वैतसिद्धि समस्त दोषों से अछूती एवं अनन्तगुणों से अलङ्कृत हो गई है ।

न्यायामृतम्

तस्मात्साधनाध्यायोक्तन्यायैर्मोक्षाय श्रवणादिसाध्यनिदिध्यासनजन्यसाक्षात्कारेणेश्वरः प्रसन्नीकरणीय इति सिद्धम् ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीमद्ब्रह्मण्यतीर्थपूज्यपादानां
शिष्येण व्यासयतिना संगृहीतेन्यायामृते
तृतीयः परिच्छेदः ॥ ३ ॥

अद्वैतसिद्धिः

ससंभ्रममपेक्षया परगुणोन्नतिर्दुःसहा
नितान्तमनपेक्षया निजपुमर्थहानिः परा ।
अतः सुमतयो यथानयमुपेक्ष्य दुर्मत्सरं
प्रयोजनवशानुगाः कुरुत मत्कृतौ सत्कृतिम् ॥

इति श्रीमत्पमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसस्वतीश्रीचरणशिष्य-
श्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायामद्वैतसिद्धौ श्रवणादिनिरूपणं नाम
तृतीयः परिच्छेदः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इस (अद्वैतसिद्धि) ग्रन्थ में सहसा सभी व्यक्तियों के कूद पड़ने पर परकीय वैदुष्य और अलौकिक प्रतिभा का दर्शन होगा, जो कि ईर्ष्यालु व्यक्तियों के लिए दुःसह होगा और इस ग्रन्थ को सर्वथा तिलाञ्जलि दे देने पर अपने मोक्षरूप पुरुषार्थ की हानि होगी, अतः विमलान्तःकरण के मुमुक्षुगणों को ही अपना उद्देश्य सिद्ध करने के लिए ईर्ष्या का सर्वथा परित्याग कर हमारी (मधुसूदन सरस्वती की) इस रचना का सत्कारपूर्वक अध्ययन करना चाहिए (पृथ्वी छन्द) ।

सारस्वतं साधनाह्वं सुप्रवाहमतारिषम् ।
स्वल्पेनैव प्रयासेन गुरुपादाभिवन्दनात् ॥

न्यायामृताद्वैतसिद्धी

[चतुर्थः परिच्छेदः]

: १ :

अविद्यानिवृत्तिविचारः

न्यायामृतम्

नन्वेतदयुक्तम्—अविद्यानिवृत्तिर्हि मोक्षः। ज्ञानं चाविद्यां दीप इवान्धकारं प्रसादनिरपेक्षमेव निवर्तयति। स्यादेतत्—अविद्यानिवृत्तेरात्ममात्रत्वे न साध्यत्वम्। अनात्मत्वे तु सत्त्वेऽद्वैतहानिः। अनिर्वाच्यत्वेऽविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वं स्यात्। न च वृत्तिविशिष्ट आत्माऽज्ञानहानिः। वृत्तिनिवृत्तौ मोक्षनिवृत्त्यापतादितिचेद्, वृत्त्युपलक्षितस्यात्मनोऽज्ञानहानित्वात्। उपलक्षणे निवृत्तेऽपि मुक्तेरनिवृत्तिः पाके निवृत्तेऽपि पाचकस्येव युक्ता, उक्तं हि—

अद्वैतसिद्धिः

ननु मुक्तिस्तावदविद्यानिवृत्तिर्न संभवति। तथा हि—सा किमात्मरूपा? तद्भिन्ना वा? नाद्यः, असाध्यत्वापत्तेः द्वितीयेऽपि किं सती? मिथ्या वा? आद्ये अद्वैतहानिः, द्वितीये अविद्यातत्कार्यान्यतरत्वापत्तिरिति—चेन्न, चरमवृत्त्युपलक्षितस्यात्मनोऽज्ञानहानिरूपत्वात्। तथा चोपलक्षणसाध्यतयैव मुक्तेरपि साध्यता। न चोपलक्षणनिवृत्त्या मुक्तेरपि निवृत्तिः, पाके निवृत्तेऽपि पाचकानिवृत्तिदर्शनात्। तदुक्तम्—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वेद्यं मदामदं देवमवेद्यं कामदं सदा।
कामारिं गणपस्याप्यतातं तातमाश्रये॥

शङ्का—अविद्या-निवृत्ति को मुक्ति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अविद्या-निवृत्ति क्या आत्मरूप होती है? अथवा भिन्न? आत्मरूप मानने पर वह नित्य हो जाती है, किसी साधन से साध्य नहीं रहती, उसके लिए साधनों का उपदेश निरर्थक हो जाता है। आत्मा से यदि भिन्न है, तब 'सत्य है? या मिथ्या? सत्य मानने पर अद्वेत-हानि और मिथ्या मानने पर उसे अविद्यारूप मानना होगा या अविद्या का कार्य, उभयथा नश्वर मानना होगा

समाधान—अन्तिम अखण्डाकार वृत्ति से उपलक्षित आत्मा ही अविद्या-निवृत्ति-स्वरूप होता है। अखण्डाकार वृत्तिरूप उपलक्षण-कृति-साध्य होने के कारण मुक्ति में भी साध्यत्व व्यवहृत होता है। उपलक्षण की निवृत्ति हो जाने पर उपलक्षित की निवृत्ति हो जाती है—ऐसी बात भी नहीं, क्योंकि पाक उपलक्षण के निवृत्त हो जाने पर भी पाचक की निवृत्ति नहीं देखी जाती, जैसा कि श्री चित्सुखाचार्य ने कहा है—

न्यायामृतम्

"निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः।
उपलक्षणहानेऽपि स्यान्मुक्तिः पाचकादिवत् ॥" इति।

यद्वा आत्मान्यैव निवृत्तिः। तत्र चानिर्वाच्यत्वं सदसद्विलक्षणत्वं चेन्निवृत्तिरनिर्वाच्यैव, अविद्याद्यन्यतरत्वे तु निवृत्तिमत्त्वं तन्त्रम्, न च निवृत्तेर्निवृत्तियुँक्ता। अनिर्वाच्यत्वं ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपं बाध्यत्वं चेत्, पंचमप्रकारः। उक्तं हि—

न सन्नासन्न सदसन्नानिर्वाच्यश्च तत्क्षयः।
यक्षानुरूपो बलिरित्याचार्याः प्रत्यपीपदन् ॥ इति।

एवं च नाद्वैतहानिः, सतो द्वितीयस्याभावात्। नाप्यविद्याद्यन्यतरत्वापत्तिः, अनिर्वाच्यत्वाभावात्। अथवा भावाद्वैतमते आत्मान्या सत्यैव निवृत्तिरिति।

उच्यते—न तावदात्मान्यत्वपक्षो युक्तः, आत्मा वृत्तिव्याप्योऽपि नेति मतेऽपसिद्धान्तात्। वृत्त्युपलक्षितस्य वृत्तेः पश्चादिव पूर्वमपि सत्त्वाच्च। पाकोपलक्षितोऽपि पाकात्पूर्वमस्त्येव। किं तु तदज्ञानात्पाचक इत्यव्यवहारः। न चात्र मुक्त इति व्यवहारः साध्यः, किं तु मुक्तिः। एवं च—

वृत्त्योपलक्षितचितः पश्चादिव पुरापि च।
सद्भावान्मोहकालेऽपि मोहहानिः प्रसज्यते ॥

किं च पाककर्तृत्वं पाचकत्वमिति मते पश्चान्न पाचकः, तद्व्यवहारस्तु भ्रष्टाधि-

अद्वैतसिद्धिः

"निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः।
उपलक्षणनाशेऽपि स्यान्मुक्तिः पाचकादिवत् ॥" इति।

न च वृत्त्युपलक्षितस्य पश्चादिव पूर्वमपि सत्त्वेन मोहकालेऽपि तद्धान्यापत्तिः, पूर्वमसिद्धस्योपलक्षणत्वायोगात्, नहि पाकसंबन्धात् पूर्वं पाचको भवति तथा व्यवह्रियते वा। यत्तु—पाककर्तृत्वमेव पाचकत्वम्, तदा अपचति तत्प्रयोगो भूतपूर्वन्यायेनौपचारिकः। यदि तु पाककर्तृतावच्छेदकावच्छिन्नत्वं तत्कर्तृत्वात्यन्ताभावान-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः।
उपलक्षणनाशेऽपि स्यान्मुक्तिः पाचकादिवत् ॥ (त० प्र० ४।८)

[जैसे शुक्ति के ज्ञात होने पर रजत की निवृत्ति हो जाती है, अतः ज्ञात शुक्ति को ही रजत-निवृत्तिरूप माना जाता है, वैसे ही ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मा अविद्या-निवृत्तिरूप होता है, ज्ञातत्वरूप उपलक्ष के निवृत्त हो जाने पर भी अज्ञान-निवृत्तिरूप मोक्ष की निवृत्ति वैसे ही नहीं होती, जैसे कि पाचक, लावकादि क्रिया की निवृत्ति हो जाने पर भी पाचकादि की निवृत्ति नहीं होती]।

शङ्का—जैसे पाकादिरूप उपलक्षक के पहले भी पाचक रहता है, वैसे ही वृत्ति या ज्ञानरूप उपलक्षण के पूर्व भी अज्ञाननिवृत्ति होनी चाहिए, किन्तु उस समय अज्ञान ही रहता है, अज्ञान की निवृत्ति क्योंकर रहेगी ?

समाधान—असिद्ध पदार्थ उपलक्षक नहीं होता, पाक क्रिया के निष्पन्न कर लेने पर ही देवदत्त को पाचक कहा जाता है, उससे पहले नहीं, अतः वृत्ति से पहले अज्ञानावस्था में उस की निवृत्ति प्रसक्त नहीं होती।

न्यायामृतकारने जो यह कहा है कि 'पाचकत्व' क्या है ? (१) पाककर्तृत्व ? या

न्यायामृतम्

कारे दण्डनायक इतिवद् भूतपूर्वगत्यव। कर्तृत्वावच्छेदकावच्छिन्नत्वरूपं कर्तृत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वरूपं वा तद्योग्यत्वं पाकानवच्छिन्नाधिकरणताकपाकबोधितव्यावृत्त्यधिकरणत्वरूपं पाकोपलक्षितत्वं वा पाचकत्वमिति मतेऽपि तदुभयं पश्चादप्यस्ति। न चेह मुक्तावात्मातिरिक्तं योग्यत्वाद्यस्ति, चिन्मात्रं तु प्रागपि। एवं च—

वृत्त्योपलक्षितस्यापि चिन्मात्रत्वे न साध्यता।
पाकोपलक्षितस्येव त्वाधिक्ये सविशेषता॥

किं च वृत्त्युपलक्षितात्मरूपस्याज्ञानध्वंसस्य प्रागेव सिद्धत्वेन श्रवणादिवैयर्थ्यम्। असिद्धत्वेनात्ममात्रत्वम्, आत्मनो नित्यसिद्धत्वात्। अभावापलापपक्षेऽपि कैवल्यादिविशिष्टस्यैवाधिकरणस्याभावत्वात्। अन्यथा तत्राप्युक्तदोषात्। आत्मान्यत्वे तु मुक्तावप्यविद्याभेदयोरनिवृत्ति। एवं च—

प्रागेव सिद्धो मोक्षश्चेच्छ्रवणादिश्रमो वृथा।
असिद्धौ नात्ममात्रत्वमन्यत्वे सद्वितीयता॥

अद्वैतसिद्धिः

धिकरणत्वं वा, तद्द्वयमपि पश्चादस्ति। न चैवं मुक्तावात्मातिरिक्तं योग्यत्वादिकमस्ति, चिन्मात्रं तु प्रागप्यस्ति इत्यसाध्यतापत्तिः, पाकोपलक्षितत्ववद् वृत्त्युपलक्षितत्वस्याधिकत्वे सविशेषतापत्तिः—इति, तन्न, उपलक्ष्यस्वरूपस्यासाध्यत्वेऽपि उपलक्षणगतसाध्यत्वोपपत्तेः, घटाकाशे उत्पत्तिवत्। यद्वा अविद्यानिवृत्तिस्तद्विरोधिवृत्तिरेव यावत्कार्योत्पत्तिविरोधिकार्यमेव ध्वंस इत्यङ्गीकारात्। न च—वृत्तौ नष्टायां विरोधिनः कार्यान्तरस्यानुदयात् तदापि ध्वंससत्त्वेन स न ध्वंस इति—वाच्यम्, यावद्विरोधिकार्योदयमेव तथात्वाद्, यावद्विभागं तस्य ध्वंसरूपत्वेऽपि विभागध्वंसस्याधिकरणरूपतावच्चरमवृत्तिपर्यन्तं विरोधिकार्यरूपत्वेऽपि ध्वंसस्य चरमवृत्तिध्वंसस्याधिकरणरूपतैव।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(२) पाककर्तृतावच्छेदकावच्छिन्नत्व ? अथवा पाककर्तृत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वरूप पाककर्तृत्वयोग्यत्व ? प्रथम पक्ष मानने पर पाक न करनेवाले देवदत्त के लिए 'पाचक' पद का प्रयोग भूतपूर्व गति को लेकर हो जाता है। शेष दोनों धर्म पश्चात् भी रहते हैं, किन्तु मुक्ति में आत्मा से अतिरिक्त कोई योग्यत्वादि धर्म नहीं रहता और चैतन्यमात्र तो वृत्ति से पहले भी है, अतः मोक्ष में असाध्यता प्रसक्त होती है। पाकोपलक्षितत्व के समान वृत्त्युपलक्षितत्वरूप धर्म को मानने पर मोक्षावस्था में सविशेषता प्रसक्त होतो है, निर्विशेषता नहीं रहती।

न्यायामृतकार का वह कहना उचित नहीं, क्योंकि जैसे घटगत जन्यत्व का व्यवहार घटाकाश में हो जाता है, वैसे हो उपलक्ष्य के असाध्य होने पर भी उपलक्षणगत साध्यता के द्वारा उपलक्षित मोक्ष में साध्यत्व बन जाता है। अथवा अविद्या-निवृत्ति का अर्थ अविद्याविरोधी वृत्ति होता है। अविद्या का कार्य द्वैतप्रपञ्च जब तक है, तब तक अविद्या-विरोधी वृत्ति का कार्य न होना ही ध्वंस है।

शङ्का—वृत्ति के नष्ट हो जाने पर उस का कोई ऐसा कार्य उत्पन्न माना जाता है, जो पूर्व कार्य का विरोधी हो, अतः विरोधी कार्य को ध्वंस नहीं माना जा सकता।

समाधान—जब तक विरोधी कार्य का उदय होता रहता है तभी तक ही विरोधी कार्य को ध्वंस माना जाता है, जैसे जब तक विभाग है, तब तक उसे संयोग-

न्यायामृतम्

किं चेयं प्रक्रिया किमन्यत्रापि ? इहैव वा ? नाद्यः, बिम्बप्रतिबिम्बैक्याज्ञान-निवृत्तावपि ज्ञातं तदैक्यमित्यापत्त्या तदैक्यधीकाले सोपाधिकतद्भेदभ्रमोपादाना-ज्ञानानुवृत्त्ययोगात् । नान्त्यः, नियामकाभावात् । विश्वमिथ्यात्वश्रुतेर्ज्ञानाद्विश्वनिवृत्ति-परत्वेन स्वतात्पर्यविषयनिवृत्तीतरमिथ्यात्वपरत्वोपपत्तेः । अपि च वृत्त्युपलक्षित आत्मा जीवन्मुक्तावप्यस्तीति तदापि मोक्षः स्यात् । न च सर्वकर्मनाशोपलक्षितत्वे सति वृत्त्युपलक्षित आत्मा मोक्षः, तदा चारब्धकर्मास्तीति वाच्यम्, विशेष्यवैयर्थ्यात् । कर्मनाशोपलक्षितस्य कर्मकालेऽपि सत्त्वाच्च । अविद्यानाश इव कर्मनाशेऽप्यात्ममात्रत्वे तदन्यत्वे चोक्तदोषाच्च । एतेन वृत्तिनिवृत्त्युपलक्षित आत्मा मुक्तिः, स च वृत्तेः प्राङ्ना-

अद्वैतसिद्धिः

ननु—इयं प्रक्रिया किमन्यत्र ? इहैव वा ? नाद्यः बिम्बप्रतिबिम्बैक्याज्ञान-निवृत्तिरपि ज्ञाततदैक्यरूपेति तदैक्यधीकाले सोपाधिकतद्भेदभ्रमोपादानाज्ञानानुवृत्त्य-योगात् । नान्त्यः, नियामकाभावात् । न चेह निवृत्तेर्ज्ञाताधिष्ठानातिरेके विश्वमिथ्या-त्वश्रुतिपर्यालोचनया निवृत्तेरपि निवृत्त्यापत्तिर्नियामिका, तस्या ज्ञानाद्विश्वनिवृत्ति-परत्वेन स्वतात्पर्यविषयनिवृत्तीतरमिथ्यात्वपरत्वादिति—चेन्न, न तावदाद्ये दोषः, सोपाधिकभ्रमे उपाधिविरहकालीनस्यैव तस्य तथात्वात् । नापि द्वितीयः, नेति नेतीतिश्रुतेः स्वारस्येनात्मातिरिक्तसर्वनिवृत्तावेव तात्पर्यात् । न च वृत्त्युपलक्षित

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ध्वंस कहते हैं और विभाग का ध्वंस अधिकरणस्वरूप हो जाने पर ध्वंस नहीं माना जाता, वैसे ही चरम वृत्ति की स्थिति-पर्यन्त ध्वंस का विरोधी कार्य होता है और चरम वृत्ति का ध्वंस अधिकरणस्वरूप ही होता है ।

द्वैती—यह प्रक्रिया (अज्ञान-निवृत्ति के ज्ञानाधिष्ठानमात्ररूपता की प्रक्रिया) यहाँ ही होती है ? या अन्यत्र भी ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि बिम्ब और प्रति-बिम्ब के ऐक्यविषयक अज्ञान की निवृत्ति भी बिम्ब और प्रतिबिम्ब के ज्ञात ऐक्य का स्वरूप होगी, अतः बिम्ब और प्रतिबिम्ब के ऐक्य-ज्ञान-काल में बिम्ब-प्रतिबिम्ब का सोपाधिक भेद-भ्रम के उपादानभूत अज्ञान की अनुवृत्ति नहीं हो सकती । अन्तिम पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि ऐसा कोई नियामक सम्भव नहीं कि जिसके आधार पर उक्त प्रक्रिया को केवल प्रकृत में ही सीमित रखा जाय ।

शङ्का—प्रकृत में अज्ञान-निवृत्ति को यदि ज्ञात अधिष्ठान से अतिरिक्त माना जाता है, तब विश्व-मिथ्यात्व-गमक श्रुति की पर्यालोचना करने पर निवृत्ति की भी निवृत्ति प्रसक्त होती है, यही प्रसक्ति नियामक है, अतः प्रकृत में ही उक्त प्रक्रिया रहेगी, अन्यत्र नहीं ।

समाधान—विश्व-मिथ्यात्व-बोधक श्रुति का तात्पर्य ज्ञान से विश्व की निवृत्ति के बोधन में है, अतः अज्ञान-निवृत्ति से भिन्न प्रपञ्च का ही मिथ्यात्व पर्यवसित होता है ।

अद्वैती—प्रथम पक्ष में कोई दोष नहीं, क्योंकि सोपाधिक भ्रम में उपाधि-विरह कालीन ध्वंस ही अधिकरणरूप माना जाता है । द्वितीय पक्ष में भी कोई दोष नहीं, क्योंकि "नेति नेति" (बृह० उ० ३।९।२६) इत्यादि श्रुतियों का स्वारस्य आत्मा से भिन्न समस्त प्रपञ्च की निवृत्ति में ही निश्चित होता है ।

शङ्का—वृत्त्युपलक्षित आत्मा जीवन्मुक्ति में भी है, अतः उस काल में भी

न्यायामृतम्

स्तीति निरस्तम्, वृत्तिनिवृत्तेरात्मत्वादावुक्तदोषात्। जीवन्मुक्तस्य सुषुप्त्यादौ वृत्तिनिवृत्त्युपलक्षितस्य सत्त्वाच्च। एतेनैव चरमसाक्षात्कारेण निवृत्ते न तेन वोपलक्षित आत्मा मोक्षः। जीवन्मुक्तौ च न चरमः साक्षात्कारोऽस्तीति निरस्तम्, चरमसाक्षात्कारात्पश्चादिव पूर्वमपि तदुपलक्षितस्य सत्त्वात्। सन्निवृत्तेरात्मत्वादौ दोषोक्तेश्च। पूर्वस्माच्चरमज्ञाने आनन्दाभिव्यक्तिरूपविशेषाभावे चरमक्षणेन वा चरमश्वासेन वोपलक्षित आत्मा मुक्तिरित्यापाताच्च। एवं च—

निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः।
इत्येतन्नैव घटते जीवन्मुक्तौ प्रसक्तितः॥

किं च वदान्तश्रवणादिसाध्येन पुरुषार्थेन भाव्यम्, न च त्वन्मते तद्युक्तम्। मुक्त्यनुस्यूतस्य सुखज्ञप्तिरूपस्यात्मनः पुरुषार्थत्वेऽप्यसाध्यत्वात्। चरमवृत्त्युपलक्षित-

अद्वैतसिद्धिः

आत्मा जीवन्मुक्तावप्यस्तीति तदापि मोक्षापत्तिः, मुक्तिमात्रापादनस्येष्टत्वात्, परममुक्तेश्चरमसाक्षात्कारोपलक्षितात्मस्वरूपत्वेन तदापादकाभावात्। न च चरमसाक्षात्कारनिवृत्तेरात्मत्वे साध्यत्वापत्तिः, अविद्यानिवृत्तेरसाध्यत्वेऽप्रवृत्त्यापत्तिवद् अत्र तदभावात्। न च—जीवन्मुक्तिप्रयोजकवृत्त्यपेक्षया परममुक्तिप्रयोजकवृत्तौ आनन्दाभिव्यक्तिगतविशेषाभावे चरमक्षणेन चरमश्वासेन वा उपलक्षित आत्मा मुक्तिरिति किं न स्यादिति—वाच्यम्, प्रारब्धकर्मप्रयुक्तविक्षेपाविक्षेपाभ्यामभिव्यक्तिविशेषस्याङ्गीकारात्।

एतेन—वेदान्तश्रवणादिसाध्यः पुमर्थो वाच्यः, न च स त्वन्मते वक्तं शक्यः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मोक्षापत्ति होती है।

समाधान—जीवन्मुक्ति-काल में मुक्ति सामान्य का आपादन किया जा रहा है? अथवा परम (विदेह) मुक्ति का? सामान्य मुक्ति तो उस काल में भी है और परम मुक्ति का जो प्रयोजक चरम वृत्त्युपलक्षित आत्मस्वरूपता है, जीवन्मुक्ति में उसका अभाव होने के कारण परम मुक्ति का आपादन नहीं किया जा सकता।

शङ्का—यह जो चरमसाक्षात्कारोपलक्षित आत्मा को परम मुक्ति का स्वरूप माना गया, वह उचित नहीं, क्योंकि जीवन्मुक्ति-प्रयोजक साक्षात्कारात्मक वृत्ति की अपेक्षा परम मुक्ति के आपादकीभूत चरम साक्षात्कार में न तो कोई स्वरूपतः अन्तर है और आनन्दाभिव्यक्ति में, अतः जीवन के चरम क्षण या चरम श्वास से उपलक्षित आत्मा को ही परम मुक्ति का स्वरूप मानना चाहिए।

समाधान—जीवन्मुक्तिकालीन आनन्दाभिव्यक्ति प्रारब्ध कर्म-जनित विक्षेप के कारण मन्द और परम मुक्तिकालीन आनन्दाभिव्यक्ति शारद पूर्ण चन्द्र की विमल चन्द्रिका के समान अत्यन्त उत्कट निर्मल होती है, वह चरम श्वास-कालीन होने पर भी उससे प्रयुक्त न होकर चरम साक्षात्कार से ही प्रयुक्त होती है, अतः चरम साक्षात्कारोपलक्षित आत्मा को ही परम मुक्ति का स्वरूप मानना न्याय-संगत है।

न्यायामृतकार ने जो कहा है कि आप (अद्वैती) को वेदान्त-श्रवणादि से साध्य पुरुषार्थ मानना होगा, किन्तु आपके मत में वैसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मुक्ति में अनुस्यूत आनन्दाभिव्यक्तिस्वरूप आत्मा ही पुरुषार्थ है, वह नित्य है, कृति-साध्य

न्यायामृतम्

स्याप्यद्वैतभंगापत्त्या सिद्धात्ममात्रत्वात्। वृत्तेस्तु साध्यत्वेऽपि स्वतोऽपुरुषार्थत्वात्। तथा चात्मान्यो वृत्तिसाध्य आवरणनिवृत्तिरूप आनन्दप्रकाशः पुरुषार्थो वक्तव्य इति कथमात्मैव निवृत्तिः। एवं च—

यः पुमर्थः स साध्यो न आत्मानन्दचिदात्मकः।
या च साध्या वृत्तिरिष्टा न तत्र पुरुषार्थता॥

तस्मान्नाज्ञानहानिरात्मस्वरूपम्।

अनिर्वाच्यत्वपक्षोऽप्ययुक्तः। अनिर्वाच्यस्याध्यस्तत्वेन मोक्षे तदध्यासोपादानाज्ञानानुवृत्त्यापत्तेः। अध्यस्तस्याप्यभावत्वेन निरुपादानत्वे सघटे घटाभावाध्यासस्य प्रपंचान्तर्गतस्य घटध्वंसस्य घटान्योऽन्याभावस्य च ज्ञानान्निवृत्तिर्न स्यात्। किं च निवृत्तेरबाध्यत्वे कथमबाध्यरूपसद्वैलक्षण्यम्? बाध्यत्वे तु तन्निवृत्तिः स्यात्। ज्ञानान्निवृत्तेरेव बाध्यत्वात्। प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकसत्त्वनिषेधस्यापि तद्व्याप्तत्वात्। निवृत्तेर्निवृत्तिरयुक्तेति चेन्न, अत एवानिष्टत्वेन तव तदापादनात्। न च निवृत्तेर्निवृत्तिरस्तु अज्ञानानुन्मज्जनं तु प्रागभावनिवृत्तिरूपघटनाशेऽपि प्रागभावस्येव युक्तमिति वाच्यम्, अप्रामाणिकानन्तनिवृत्त्यापाताद्, आत्मान्यस्याभावात्। तन्मात्रस्य चाहेतुत्वेन निवृत्तेर्निवत्तिहेत्वभावाच्च।

पञ्चमप्रकारत्वपक्षोऽप्ययुक्तः, चतुर्थप्रकारत्वस्येव निरस्तत्वेन तस्याष्टमरसतुल्यत्वात्। बौद्धैरपि—

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥ (मा. का. १।९)

इत्युक्तत्वेन तत्त्वस्थितौ बौद्धमतानुसरणापाताच्च। बाध्यत्वाबाध्यत्वयोर्दोषोक्तेश्च।

अद्वैतसिद्धिः

मुक्त्यनुस्यूतसुखज्ञप्तिरूपस्यात्मनः पुरुषार्थत्वेनाऽप्यसाध्यत्वात्, वृत्तेः साध्यत्वेऽपि स्वतोऽपुमर्थत्वात्। तस्मादात्मव्यतिरिक्त एव वृत्तिसाध्य आवरणनिवृत्तिरूपः आनन्दप्रकाशः पुमर्थो वाच्यः। तथा च कथमात्यैव निवृत्तिरिति—अपास्तम्, प्राप्तप्राप्तिरूपतया फलस्यानन्दप्रकाशस्य स्वरूपतोऽसाध्यत्वेऽपि तत्तिरोधायकाज्ञाननिवर्तकवृत्तेः साध्यत्वमात्रेण साध्यत्वोपपत्तेः, कण्ठगतचामीकरादौ तथा दर्शनात्। तस्मादज्ञानहानिरात्मस्वरूपं तदाकारा वृत्तिर्वेति सिद्धम्। ये तु पञ्चमप्रकारादिपक्षाः, ते तु

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं। वृत्ति साध्य होने पर भी स्वतः पुरुषार्थ नहीं मानी जाती। अतः आत्मा से भिन्न ही वृत्ति-साध्य आवरण-निवृत्तिस्वरूप आनन्द-प्रकाश को परम पुरुषार्थ मानना होगा, फिर चरमवृत्त्युपलक्षित आत्मा को निवृत्तिस्वरूप पुरुषार्थ क्यों कहा जाता है?

न्यायामृतकार का वह कहना अत एव परास्त हो जाता है कि आनन्द-प्रकाश स्वरूपतः सिद्ध होने के कारण यद्यपि साध्य नहीं, तथापि उसके तिरोधायक अज्ञान की निर्वर्तिका वृत्ति अवश्य साध्य होती है, अत एव पुरुषार्थ में साध्यता का उपचार हो जाता है, गले में पहने हुए हारादि पदार्थों में वैसा ही देखा जाता है कि विस्मरण से अप्राप्ति और स्मरण से प्राप्ति का व्यवहार सर्व-विदित है। फलतः अज्ञान की हानि आत्मस्वरूप अथवा आत्माकार वृत्तिस्वरूप है—यह सिद्ध हो गया। इष्टसिद्धिकारादि के द्वारा प्रतिपादित अज्ञान-निवृत्ति के जो पञ्चम प्रकारादि पक्ष हैं, वे केवल मन्द

न्यायामृतम्

मिथ्यात्वमनिर्वाच्यत्वादिकमिति मते दृश्यत्वादेर्निवृत्तौ व्यभिचाराच्च। प्रातिभासिक-व्यावहारिकान्यस्यास्य पारमार्थिकत्वेनाद्वैतहानेश्च । प्रतियोगिनोऽनिर्वाच्यत्वेनाज्ञान-नाशस्यापि घटनाशवदनिर्वाच्यत्वावश्यम्भावाच्च । प्रतियोगिवैलक्षण्येऽपि सदस-दात्मकत्वापत्त्या पंचमप्रकारत्वासिद्धेश्च। एवं च—

यक्षानुरूपबलिवत्प्रतियोगिविलक्षणः।
मोहध्वंसो यदि तदा भवेत्सदसदात्मकः ॥

सत्त्वपक्षोऽप्ययुक्तः, अभावद्वैतस्य निरासात्। ध्वंसस्य प्रतियोगिसमसत्ताकत्वेनावि-द्याया अपि सत्त्वापत्तेश्च। एवं च—

प्रागेव सिद्धो मोक्षश्चेच्छ्रवणादिश्रमो वृथा।
असिद्धौ नात्ममात्रत्वमन्यत्वे सद्द्वितीयता ॥

अविद्यानिवृत्तिभंगः ॥ १ ॥

अद्वैतसिद्धिः

मन्दबुद्धिव्युत्पादनार्था इति न तत्समर्थनमर्थयामः ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ अविद्यानिवृत्तिनिरूपणम् ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अधिकारी के व्युत्पादनार्थ हैं, अतः उन पक्षों का हम (मधुसूदन सरस्वती) समर्थन नहीं करना चाहते ।

: २ :

अविद्यानिवर्तकविचारः

न्यायामृतम्

यच्चोच्यते ब्रह्मरूपायाः स्वप्रकाशचितोऽज्ञानसाधकत्वेन तदनिवर्तकत्वेऽपि तद्विषया वेदान्तश्रवणादिजन्याऽपरोक्षवृत्तिर्निवर्त्तिकेति । तन्न, असत्यात् सत्यसिद्धे-र्निरस्तत्वेनासत्यया वृत्त्या सत्याया निवृत्तेरसिद्धेः । अज्ञाने न जानामीतिज्ञप्तिरूपचिद्वि-रोधस्यैवानुभवेनाज्ञप्तिरूपवृत्तिविरोधस्यासम्भवाच्च । चिता प्रकाशमाने सुखादावज्ञा-

अद्वैतसिद्धिः

अविद्यानिवर्तकं च यद्यपि न स्वप्रकाशब्रह्मरूपज्ञानमात्रम्, तस्य तत्साधक-त्वात्, तथापि श्रवणादिसाध्यापरोक्षवृत्तिसमारूढं तदेव । अत एवैतदपास्तम्—किं स्वप्रकाशचिदविद्यानिवर्तिका ? तदाकारा अपरोक्षवृत्तिर्वा ? नाद्यः, तस्या इदानीमपि सत्त्वात् । न द्वितीयः, असत्यात्सत्यसिद्धेरयोगाद् अज्ञाने न जानामीति ज्ञप्तिरूपचि-द्विरोधस्यानुभवेनाज्ञप्तिरूपवृत्तिविरोधस्यासंभवात्, चित्ता प्रकाशमानसुखादाव-ज्ञानादर्शनाच्च । किंच इच्छानिवर्त्यद्वेषवज्जातिनिबन्धनवृत्तिनिवर्त्यस्याज्ञानस्याविशेषेण सत्त्वापत्तिः इति वृत्त्युपारूढचितो वा चित्प्रतिबिम्बधारिण्या वृत्तेर्वा निवर्तकत्वात् । न चासत्यायाः सत्योत्पादकत्वविरोधः, अभावस्य भावजनकत्ववदस्य संभवात्, प्रातिभासिकस्य व्यावहारिकसुखजनकत्वदर्शनाच्च । नापि न जानामीति ज्ञप्तिरूप-चिद्विरोधित्वानुभवविरोधः, चिदसंसृष्टवृत्तेर्विरोधित्वस्यानङ्गीकारात् । यत्तूक्तं द्वेषवत्

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अविद्या-निवर्तक यद्यपि स्वप्रकाश-ब्रह्मस्वरूप ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वही तो अविद्या का आधार और साधक होता है। तथापि श्रवणादि के द्वारा साध्य अपरोक्ष वृत्ति में समारूढ़ ब्रह्म चैतन्य ही अविद्या का निवर्तक होता है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि क्या स्वप्रकाश चैतन्य को अविद्या का निवर्तक माना जाता है ? अथवा ब्रह्माकार अपरोक्ष वृत्ति को ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि स्वप्रकाश चैतन्य तो अविद्या-काल में भी है, वह निवर्तक क्योंकर होगा ? द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि वह वृत्ति अनात्मा और असत्य है, किन्तु अविद्या-निवृत्ति आत्मस्वरूप सत्य, असत्य पदार्थ कभी भी सत्य का साधक नहीं होता। दूसरी बात यह भी है कि वृत्ति स्वयं अनात्मरूप होने से अज्ञान का ही कार्य है, अतः अज्ञान की वह विरोधी नहीं हो सकती, 'न जानामि'—इस प्रकार वृत्ति-समारूढ़ चैतन्य में ही अज्ञान की विरोधिता अनुभूत होती है, क्योंकि चैतन्य-द्वारा प्रकाशित सुखादि में अज्ञान नहीं देखा जाता। जैसे राग और द्वेष का जात्या विरोध होता है, वैसे ही वृत्ति और अज्ञान का विरोध मानने पर राग से निवर्त्य द्वेष जैसे सत्य होता है, वैसे ही वृत्ति से निवर्त्य अज्ञान को भी सत्य ही मानना होगा।

न्यायामृतकार का वह कहना संगत नही, क्योंकि केवल वृत्ति को अज्ञान का निवर्तक नहीं माना जाता, अपितु वृत्त्यारूढ़ चैतन्य या चैतन्य-प्रतिबिम्ब-धारिणी वृत्ति को अज्ञान का निवर्तक मानते हैं। असत्यरूप वृत्ति में भी सत्यभूत अज्ञान-निवृत्ति की उत्पादकता वैसे ही बन जाती है, जैसे अभाव में भाव की जनकता, प्रातिभासिक पदार्थ में व्यावहारिक सुख की जनकता अनुभव-सिद्ध है। यह जो कहा गया कि वृत्ति में अज्ञान की विरोधिता नहीं होता, अपितु 'न जानामि'–इस प्रकार चैतन्यरूप ज्ञान में

न्यायामृतम्

नादर्शनाच्च। वृत्तेर्जातिविशेषेणैव तन्निवर्तकत्वे इच्छादिनिवर्त्यद्वेषादिवदज्ञानस्य सत्त्वापत्त्या शुक्त्यादिज्ञानवदर्थप्रकाशकत्वेन तन्निवर्तकत्वे वक्तव्ये चैतन्यस्यापि तत्त्वेन तन्निवर्तकत्वावश्यम्भावाच्च। न च निर्विशेषे वृत्तिश्चैतन्यादधिकप्रकाशिका। त्वन्मतेऽयं घट इत्यादिवृत्तावपि घटस्य प्रकाशेऽपि चितोऽप्रकाशाच्च। उक्तं चैतदविद्याविषयभंगे।

किं च तन्निवर्तकत्वे तत्स्थित्यसहिष्णुस्थितिकत्वरूपविरोधस्य तन्त्रत्वात्कार्यस्य चोपादानेनाविरोधान्न वृत्तिः स्वोपादानाज्ञाननिवर्तिका। उपान्त्यजन्योऽन्त्यः शब्दस्तन्निवर्तकोऽपि न तदुपादानकः। आतंचनादिना निवृत्तक्षीरत्वगोमयत्वाद्यवस्था एव च तत्तदवयवा दधिवृश्चिकाद्युपादानानीति न क्वापि कार्येणोपादाननाशः। एतेन वृत्तिप्रतिबिम्बिता चिदेवाविद्यानिवर्तिका, उक्तं हि—

अद्वैतसिद्धिः

सत्यत्वमिति तन्न, अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारत्वनिबन्धननिवर्तकत्वस्य शुक्त्यादिज्ञानवदत्रापि संभवेन तन्निवर्त्यरूप्यवत् सत्यत्वानापत्तेः। यत्तूक्तं—चरमवृत्तेर्घटादिवृत्त्या चिद्विषयत्वे अविशेषः—इति, तन्न, अवच्छिन्नानवच्छिन्नविषयतया विशेषात्। यत्तु—स्वनिवर्तकत्वे स्थितिविरोधः स्वोपादाननिवर्तकत्वं त्वदृष्टचरम्—इति, तन्न, अन्यत्रादृष्टस्यापि प्रमाणबलादत्रैव कल्पनात्। तथा हि—'मायां तु प्रकृतिं विद्या'दित्यवगतमायोपादानकत्वस्याप्यात्मतत्त्वसाक्षात्कारस्य 'तरति शोकमात्मवित् सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्ये'त्यादिना तन्निवर्तकत्वस्य च प्रमितत्वात्। वृत्तिप्रतिबिम्बतचितो निवर्तकत्वे तु नोक्तवचसः शङ्कापि। तदुक्तम्—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

हो अज्ञान-विरोधित्व अनुभूत होता है। वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि चैतन्य से असंसृष्ट केवल वृत्ति में अज्ञान की विरोधिता नहीं मानी जाती। यह जो कहा गया कि द्वेष के समान अज्ञान में सत्यत्वापत्ति होती है, वह कहना भी अनुचित है, क्योंकि अधिष्ठान तत्त्व का साक्षात्कार होने के नाते वृत्ति को अज्ञान का वैसे ही निवर्तक माना जाता है, जैसे शुक्ति-साक्षात्कार को रजत का निवर्तक माना जाता है, अतः रजत के समान ही अज्ञान में सत्यत्वापत्ति नहीं होती। घटादि-वृत्ति घटावच्छिन्न चैतन्य को विषय करती है और अखण्डाकार चरम वृत्ति अनवच्छिन्न चैतन्य को विषय करती है, अतः दोनों में अविशेषता का प्रदर्शन संगत नहीं रह जाता। यह जो कहा गया कि चरम वृत्ति को यदि स्व का निवर्तक माना जाता है, तब स्व की स्थिति ही दुष्कर हो जाती है और वृत्ति में स्वोपादानभूत अज्ञान की निवर्तकता कही देखी नहीं गई। वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि प्रमाण के बल पर सिद्ध पदार्थ को दृष्टान्ततः समर्थन की अपेक्षा नहीं होती। "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" (श्वेता० ४।१०) इत्यादि श्रुतियाँ यह प्रमाणित करती हैं, कि आत्मतत्त्व-साक्षात्कार को उपादान कारण माया ही है और 'तरति शोकमात्मवित्" (छां० ७।१।३), "सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरति" (मुं. २।१।१०) इत्यादि प्रमाणों से अवगत होता है कि आत्मसाक्षात्कार अपने उपादान कारणीभूत अज्ञान का निवर्तक होता है। वृत्ति-प्रतिबिम्बित चैतन्य को यदि अज्ञान का निवर्तक माना जाता है, तब तो न्यायामृतकार के 'स्वोपादाननिवर्तकत्वं त्वदृष्टचरम'—इस कथन की शङ्का भी नहीं की जा सकती, क्योंकि अज्ञान अपने उस

न्यायामृतम्

"तृणादेर्भासिकाप्येषा सूर्यदीप्तिस्तृणं दहेत् ।
सूर्यकान्तमुपारुह्य तं न्यायं चिति योजयेत् ॥"

इति निरस्तम् । अपरोक्षवृत्तौ सत्यां चिद्प्रतिविम्बनेनानिवृत्तेरदर्शनाच्च । किं च निवर्तकस्य ज्ञानस्य न तावच्छुद्धात्मा विषयः, तस्यादृश्यत्वात् । उक्तं चैतद् दृश्यत्वभंगे ।

नाप्यऽन्यः, तस्याध्यस्तत्वेन तज्ज्ञानस्य भ्रान्तित्वापातात् । अपि चान्त्यज्ञानस्य निवर्तकं स्वयमेव वा ? अन्यद्वा ? नाद्यः, प्रागभावः प्रतियोगिहेतुरितिपक्षे तन्मात्रस्याहेतुत्ववत्प्रतियोगी ध्वंसहेतुरितिपक्षेऽप्यतिप्रसंगेन तन्मात्रस्याहेतुत्वात् । दग्धदा-

अद्वैतसिद्धिः

"तृणादेर्भासिकाप्येषा सूर्यदीप्तिस्तृणं दहेत् ।
सूर्यकान्तमुपारुह्य तन्न्यायं चिति योजयेत् ॥"

न च—अपरोक्षवृत्तौ सत्यां चिद्प्रतिविम्बनिबन्धननिवृत्तिविलम्बादर्शनात् न विशिष्टे निवर्तकतेति—वाच्यम्, शुद्धजडस्य शुद्धचितश्च जडतया तद्भासकतया चाज्ञानानिवर्तकतया विशिष्टे निवर्तकताया आवश्यकत्वात् । यत्तु—निवर्तकं ज्ञानमपि न शुद्धविषयकम्, तस्यादृश्यत्वात्, नापि विशिष्टविषयकम्, तस्याध्यस्तत्वेन भ्रमत्वापत्तेः—इति, तन्न, उपहितस्य विषयत्वेऽपि उपाधेरविषयत्वेनाभ्रमत्वात् । यत्तु—अन्त्यस्य ज्ञानस्य किं निवर्तकम् ? स्वयम् ? अन्यद्वा ? नाद्यः, अन्यनिरपेक्षप्रतियोगिनो ध्वंसजनकत्वे क्षणिकत्वापत्तेः, दग्धदारुदहनस्यापि ईश्वरेच्छादिनैव नाशात् । कतकर-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

निवर्तक (वृत्ति-प्रतिबिम्बित चैतन्य) का उपादान कारण ही नहीं होता। उसमें अज्ञान की निवर्तकता का प्रतिपादक प्रमाण है—

"तृणादेर्भासिकाप्येषा सूर्यदीप्तिस्तृणं दहेत् ।
सूर्यकान्तमुपारुह्य तन्न्यायं चिति योजयेत् ॥"

शङ्का—अपरोक्ष वृत्ति के उदय हो जाने मात्र से अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, प्रतिबिम्बभूत चैतन्य के विलम्ब से अज्ञान की निवृत्ति में विलम्ब नहीं देखा जाता, अतः अज्ञान को निवर्तकता केवल वृत्ति में ही सिद्ध होती है, वृत्ति-विशिष्ट चैतन्य में नहीं ।

समाधान—शुद्ध वृत्ति जड़ होने के कारण अज्ञान की निवर्तक नहीं हो सकती और शुद्ध चैतन्य तो अज्ञान का साधक ही है, निवर्तक नहीं, अतः विशिष्ट को ही अज्ञान का निवर्तक मानना आवश्यक है ।

शङ्का—अज्ञान का निवर्तक ज्ञान भी शुद्धार्थविषयक नहीं हो सकता, क्योंकि शुद्ध चैतन्य अवेद्य है, किसी ज्ञान का विषय नहीं होता, तद्विषयक ज्ञान सम्भव नहीं और विशिष्ट चैतन्य अध्यस्त है, अतः उसका ज्ञान बाधितार्थविषयक होने के कारण अप्रमा है।

समाधान—द्वैताभावादि उपाधियों से उपलक्षित शुद्ध चैतन्यविषयक ज्ञान प्रमा होने के कारण अज्ञान का निवर्तक माना जाता है ।

शङ्का—अज्ञान की निवर्तकीभूत चरम वृत्ति या ज्ञान का निर्तक कौन ? क्या वह स्वयं अपना निवर्तक है ? अथवा कोई अन्य ज्ञान ? प्रथम पक्ष मानने पर उस ज्ञान को क्षणिक मानना होगा, क्योंकि अन्य-निरपेक्ष होकर जो प्रतियोगी अपना निवर्तक या

न्यायामृतम्

ह्यदहनस्यापीशेच्छादिनैव नाशात् । कतकरजस्तु न पंकं नाशयति, नापि स्वयं स्वेनैव नश्यति, विश्लेषमात्रदर्शनात् । नान्त्यः, शुद्धात्ममात्रस्य किंचिदपि प्रत्यहेतुत्वात् । तदन्यस्य च निवृत्तत्वादिति । अविद्यानिवर्तकभंगः ॥ २ ॥

अद्वैतसिद्धिः

जस्तु न पङ्कं नाशयति, नापि स्वम्, विश्लेषमात्रदर्शनात् । नान्त्यः, शुद्धात्मनः किंचिदपि प्रत्यहेतुत्वात्, तदन्यस्य च निवर्त्यत्वाद्—इति, तन्न, तन्तुनाशस्य पटनाशप्रयोजकत्वदर्शनेन स्वोपादानाविद्यानाशस्यैव तन्नाशकत्वात् । न च—अविद्यानाशे तदुपलक्षित आत्मा वा ? वृत्तिर्वा ? पूर्वत्र शुद्धस्याहेतुत्वम्, द्वितीये प्रतियोगिमात्रस्यैव नाशकतापर्यवसानमिति—वाच्यम्, उभयथाप्यदोषाद्, वृत्तिमादायैव ब्रह्मण उपहितत्वेन शुद्धत्वाभावात् । प्रतियोगिनः प्रतियोगित्वेन नाशकतायामितरानपेक्षत्वे हि क्षणिकत्वम्, रूपान्तरावच्छेदेन यत् कारणं तस्यापेक्षणे न तदिति उपादाननाशत्वावच्छिन्नस्य स्वस्यैव क्षणिकत्वानापादकं नाशकत्वं स्यात् । द्वितीयकारणनिरपेक्षप्रतियोगिनः प्रतियोगित्वोपादाननाशत्वरूपद्वयावच्छिन्नस्य नाशकत्वोपपत्तेः । वस्तुतस्तु—अविद्यानिवृत्तेर्वृत्तिरूपतया न निवर्तकखण्डनावकाशः, वृत्तिनिवृत्तेरात्मरूपतया न तज्जनकखण्डनावकाशोऽपीति सर्वमवदातम् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ अविद्यानिवर्तकनिरूपणम् ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अपने ध्वंस का जनक माना जाता है, उसे क्षणिक कहते हैं, इसी लिए जो अग्नि अपने दाह्य काष्ठादि को भस्म कर चुकी है, उसको स्वयं अपना नाशक न मान कर ईश्वरीय इच्छा को उसका नाशक माना जाता है। कतक-चूर्ण भी न तो अन्य मल पङ्कादि का नाशक होता है और न स्वयं अपना, क्योंकि उसके द्वारा केवल जल से पङ्कादि का विश्लेषणमात्र देखा जाता है। द्वितीय पक्ष (अज्ञान-निवर्तक चरम वृत्ति का निवर्तक अन्य ज्ञान) भी सम्भव नहीं, क्योंकि उससे अन्य तो शुद्ध चैतन्य ज्ञान ही है, वह किसी कार्य का हेतु ही नहीं होता और शुद्ध चैतन्य से भिन्न सब कुछ चरम वृत्ति की निवर्त्य कक्षा में ही आ जाता है, निवर्तक नहीं बन सकता।

समाधान—तन्तु के ध्वंस में पट-ध्वंस की प्रयोजकता देखी जाती है, अतः अन्तिम वृत्ति या ज्ञान के नाश का प्रयोजक अन्तिम वृत्ति के उपादानभूत अज्ञान का नाश ही होता है। यह जो कहा गया कि चरम वृत्ति का नाशक शुद्ध चैतन्य है ? या स्वयं वह वृत्ति ? शुद्ध चैतन्य तो किसी कार्य का हेतु नहीं होता और वृत्ति को स्वयं अपना नाशक मानने में क्षणिकत्वापत्ति होती है। वह कहना अत्यन्त असंगत है, क्योंकि दोनों पक्षों में कोई दोष नहीं—उसका निवर्तक चैतन्य उस वृत्ति से उपलक्षित होने के कारण शुद्ध नहीं माना जाता और वृत्ति को अपना निवर्तक द्वैत-नाशकत्वेन माना जाता है. प्रतियोगित्वेन केवल अपने ध्वंस का साधक नहीं, अतः क्षणिकत्वापत्ति भी नहीं, होती। चरम वृत्ति यदि चरम वृत्तित्वेन अपने ध्वंस का साधक होती, तब अवश्य उसमें घटत्वेन घट-ध्वंस-साधक घटादि के समान क्षणिकत्व प्रसक्त होता किन्तु यहाँ प्रतियोगितावच्छेदकीभूत वृत्तित्वेन वृत्ति को अपना निवर्तक न मान कर द्वैत-नाशकत्वेन रूपेण अपना निवर्तक माना जाता है। अथवा स्वोपादानभूताज्ञाननाशत्व और

: ३ :

मुक्तेरानन्दरूपत्वेन पुरुषार्थत्वविचारः

न्यायामृतम्

यच्चोच्यते न वैशेषिकादीनामिवास्माकं मुक्तौ दुःखनिवृत्तिमात्रम्, किं तु निरतिशयानन्दस्फुरणमपि। उक्तं हि—

तस्मादविद्यास्तमयो नित्यानन्दप्रतीतितः।
निःशेषदुःखोच्छेदाच्च(पुरुषार्थः परो) पुमर्थः परमो मतः॥

इति। तत्र न तावत्सुखात्मता पुरुषार्थः, सुखी स्यामितिवत् सुखं स्यामितीच्छाया अदर्शनात्। स्वतः पुरुषार्थे चेच्छाया अनियम्यत्वात्। अन्यथा आत्मनाशादिरपि बौद्धादिनियमितेच्छया पुमर्थः स्यात्। अत एव नापरकीयं सुखं पुरुषार्थः, तथेच्छाभावाद्

अद्वैतसिद्धिः

ननु त्वन्मते मुक्तौ न दुःखोच्छेदमात्रम्, किंतु निरतिशयानन्दस्फुरणमपि। तदुक्तम्—

'तस्मादविद्यास्तमयो नित्यानन्दप्रतीतितः।
निःशेषदुःखोच्छेदाच्च पुरुषार्थः परो मतः॥' इति।

तत्र न सुखात्मता तावत्पुरुषार्थः, सुखी स्यामितिवत् सुखं स्यामितीच्छाया अदर्शनात्, पुमर्थताया इच्छानियम्यत्वात्। अन्यथा बौद्धमतसिद्धात्मनाशादिरपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वृत्तित्व—उभय धर्मावच्छिन्न स्वनिवर्तकत्व माना जाता है, अतः केवल प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्ननिवर्तकत्व रूप क्षणिकत्व का प्रयोजक धर्म न होने के कारण क्षणिकत्व प्रसक्त नहीं होता। वस्तुतः अविद्या-निवृत्ति वृत्तिरूप ही मानी जाती है, क्योंकि समस्त द्वैत-विरोधिनी वृत्ति अन्तिम होती है, उसके पश्चात् और कुछ भी नहीं होता, उस वृत्ति में अज्ञान-निवृत्ति-जनकत्वरूप नाशकत्व ही नहीं माना जाता, अज्ञान-नाशकत्व-खण्डन प्रपञ्च ही निराधार हो जाता है। उस वृत्ति के लिए 'पश्चात् सा कुत्र गता ?'—ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जब कोई काल ही नहीं रहता, तब वहाँ न 'पश्चात्' कह सकते हैं और न 'कुत्र'। स्थूल दृष्टि से ऐसा भी कहा जा सकता है कि वृत्ति की निवृत्ति ब्रह्मरूप हो जाती है, अतः उसका निवर्तक कोई नहीं होता।

—∞✡∞—

द्वैती—आप (अद्वैती) के मतानुसार मुक्ति में वैशेषिकादि के समान दुःख का उच्छेदमात्र नहीं होता, अपितु निरतिशयानन्द का परिस्फुरण भी होता है, जैसा कि कहा गया है—

तस्मादविद्यास्तमयो नित्यानन्दप्रतीतितः।
निःशेषदुःखोच्छेदाच्च पुरुषार्थः परो मतः॥

किन्तु सुखरूपता को पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि पुरुषों की अभिलाषा 'सुखी स्याम्'—ऐसी ही देखी जाती है, 'सुखं स्याम्'—ऐसी नहीं। इच्छा ही पुरुषार्थता की नियामिका होती है, अर्थात् 'येन रूपेण यस्य धीविषयत्वम्, तेन रूपेण तस्य पुंसः इच्छाविषयत्वव्याप्यम्, तेन रूपेण तस्य पुंस पुमर्थता—इस प्रकार इच्छाविषयतावच्छेदकरूप से पुरुषार्थता घटित होती है। अन्यथा बौद्ध मत-सिद्ध आत्मनाशादि को भी पुरुषार्थ मानना पड़ेगा। अत एव अपरकीय सुख को भी पुरुषार्थ नहीं कह सकते,

न्यायामृतम्

गौरवाच्च । सुखसाधने परकीयेऽप्यस्वकीयेऽपुरुषार्थत्वस्य च दर्शनेनेष्टत्वाविशेषात् सुखेपि तत्कल्पनाच्च 'दुःखतत्साधनयोः स्वकीयतयवापुमर्थत्वस्य दर्शनेन सुखादेरपि तथैव पुमर्थत्वाच्च । त्वन्मतेऽपरकीयेन मुक्तस्वरूपसुखेन संसारिणः सुप्तचैत्रस्वरूपसुखेन जाग्रतो मैत्रस्य च पुरुषार्थप्रसंगाच्च । नापि सुखापरोक्ष्यं पुरुषार्थः, ईश्वरादीनामस्मदादिसुखदुःखापरोक्ष्येणार्थानर्थप्रसंगात् । एतेन उपलब्धानामेव सुख-

अद्वैतसिद्धिः

पुमर्थः स्यात् । अत एव नापरकीयं सुखं पुमर्थः, तथेच्छाविरहात्, गौरवाच्च सुखसाधने परकीयेऽपि स्वकीये पुमर्थत्वस्यापरकीयेऽप्यस्वकीये अपुमर्थत्वस्य च दर्शनेन इष्टत्वाविशेषात्, सुखेऽपि तत्कल्पनाच्च दुःखतत्साधनयोः स्वकीयतयैवापुमर्थत्वस्य दर्शनेन सुखादेरपि तथैव पुरुषार्थत्वाच्चेति—चेन्न, सुखादौ हि पुमर्थता नापरकीयत्वप्रयुक्ता, नापि स्वकीयत्वप्रयुक्ता, गौरवात् किंतु साक्षात्क्रियमाणतया, संबन्धस्य चानित्यत्वसाधनपारतन्त्र्यादेरिवावर्जनीयसन्निधिकत्वात् । न च—ईश्वरस्याप्यस्मदादिसुखं पुमर्थः स्यादिति- वाच्यम्, हेयतया अज्ञातत्वे सतीत्यस्यापि तत्र प्रयोजकत्वादीश्वरादिना चात्मादिसुखस्य हेयत्वेनैव ज्ञानात् स्वरूपसुखे चेष्टापत्तेः । न च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

क्योंकि वैसी (अपरकीयं सुखं मे स्यात्) इच्छा ही नहीं देखी जाती एवं ऐसा मानने में गौरव भी है [क्योंकि स्वकीयत्वाभाव परकीयत्व और स्वकीयत्वाभावाभाव अपरकीयत्व है, फलतः स्वकीयत्व की अपेक्षा 'अपरकीयत्व' धर्म गुरु है] । अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर भी स्वकीयत्वेन सुखेच्छा में ही पुरुषार्थता-प्रयोजकत्व सिद्ध होता है—परकीय सुख-साधन जहाँ स्वकीयत्वेन ज्ञात होता है, वहाँ पुरुषार्थत्व देखा जाता है और अपरकीय सुख-साधन में जहाँ स्वकीयत्व का भान नहीं होता, वहाँ पुरुषार्थत्व नहीं देखा जाता । दूसरी बात यह भी है कि सुख-साधन और सुख—दोनों में समानरूप से इष्टता रहती है, अतः स्वकीयत्वेन सुख-साधन में पुरुषार्थता देख कर सुख में भी स्वकीयत्वेन ही पुरुषार्थत्व की सहज कल्पना हो जाती है । दुःख और दुःख के साधनों में (दुःखं दुःखसाधनं च मे न स्यात्—ऐसी) स्वकीयत्वेन अपुरुषार्थता अनुभूत होती है, अतः सुख और सुख-साधन में भी स्वकीयत्वेन ही पुरुषार्थता माननी तर्क-संगत है ।

अद्वैती—सुखादि में पुरुषार्थता न तो अपरकीयत्वेन होती है और न स्वकीयत्वेन क्योंकि ऐसा मानने में गौरव है, अतः उसकी अपेक्षा साक्षात्क्रियमाणत्वेन रूपेण पुरुषार्थता मानने में लाघव है । सुखादि में स्वकीयत्वरूप सम्बन्ध का भान वैसे ही अनिवार्यरूप में हो जाता है, जैसे पुरुषार्थभूत(पुरुष-कृति-साध्य) वस्तु में अनित्यत्व और कारणाधीनत्वादि का भान, जैसा कि विवरणकार ने कहा है—"सम्बन्धस्त्वनित्यत्वसाधनपारतन्त्र्यादिवदवर्जनीयसन्निधिरिति" (पं० वि० पृ०) ।

शङ्का—यदि सुखादिगत साक्षात्क्रियमाणत्व ही पुरुषार्थत्व है, तब ईश्वर को सभी पदार्थों का साक्षात्कार होने के कारण जीव के सुख का भी साक्षात्कार होता है, अतः जीव के सुख में ईश्वरीय पुरुषार्थत्व होना चाहिए ।

समाधान—जीव का वैषयिक सुख तो ईश्वर की दृष्टि में हेय है, अतः उसमें ईश्वरीय पुरुषार्थत्व अतिप्रसक्त नहीं होता, क्योंकि पुरुषार्थता का पूर्ण लक्षण 'हेयत्वेना-

न्यायामृतम्

साधनानां पुरुषार्थत्वादिष्टत्वाविशेषात्सुखमप्युपलब्धमेव पुरुषार्थो न तु स्वसम्बद्धं गौरवात् । सम्बन्धस्त्वनियतत्वसाधनपारतन्त्र्यादिवदवर्जनीयसन्निधिरिति विवरणोक्तं प्रत्युक्तम् । परकीयसुखसाधनस्योपलभ्यमानस्याप्यपुरुषार्थत्वाच्च । सुखं मे स्यादिति सम्बन्ध इवानित्यत्वादौ प्रार्थनाभावाच्च । नाप्यपरकीयस्य सुखस्य साक्षात्कारः पुरुषार्थः, सुषुप्तस्वरूपसुखसाक्षात्कारादिना ईश्वरादेः पुरुषार्थप्रसंगात् ।

किं च अपरकीयसुखसाक्षात्कारो न तावत्स्वसम्बद्धः स्वस्य पुरुषार्थः, मुक्तस्य सुखसाक्षात्काररूपतया तं प्रत्यपि तस्यापुरुषार्थत्वापत्तेः । नाप्यपरकीयसुखसाक्षात्कारः स्वेतरासम्बद्धः स्वस्य पुरुषार्थः, मुक्तस्वरूपेण सुखानुभवेन संसारीतरासम्बद्धेन संसारिणः पुरुषार्थप्रसंगात् । नाप्यपरकीयसुखानुभवरूपता पुरुषार्थः, तादृशेच्छायाः

अद्वैतसिद्धिः

गौरवम्, स्वसंबन्धित्वेन पुमर्थतावादिनोऽपि निलीनसुखे पुरुषार्थतानिवृत्त्यर्थं तथावश्यं वर्णनीयत्वात् ।

यत्तु—साक्षात्कारेऽपि स्वकीयतया पुरुषार्थतापक्षे मुक्तस्य सुखसाक्षात्काररूपतया तं प्रत्यपि तस्यापुरुषार्थतापत्तिः, स्वेतरासंबन्धित्वेन स्वस्य पुरुषार्थत्वे मुक्तस्वरूपेण सुखेन संसारीतरासंबन्धेन संसारिणः पुरुषार्थप्रसङ्गः—इति, तन्न, साक्षात्क्रियमाणत्वेनैव हि पुमर्थता मुक्तसुखसाक्षात्कारस्य तं प्रति पुमर्थत्वेऽपि न संसारिणस्तथा, तं प्रत्यभासमानत्वाद्, भाने वाऽसंसारित्वेनेष्टापत्तिः । यत्तु—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ज्ञायमानत्वे सति साक्षात्क्रियमाणत्व' माना जाता है। यदि जीव के स्वरूप सुख में ईश्वरीय पुरुषार्थत्व की आपति की जाती है, तब इष्टापत्ति है। 'अद्वैतवादियों का यह साक्षात्क्रियमाणत्वरूप पुरुषार्थता का लक्षण गौरव-ग्रस्त है'—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि अज्ञात सुखादि में पुरुषार्थत्वापत्ति हटाने के लिए उस वादी को भी पुरुषार्थता के लक्षण में साक्षात्क्रियमाणता का निवेश करना आवश्यक है, जो वादी सुखादि में स्वकीयत्वेन पुरुषार्थता मानता है।

यह जो कहा गया है कि अपरकीय या स्वकीय सुख-साक्षात्कार भी स्व-सम्बद्ध-रूप से पुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मुक्त पुरुष सुख-साक्षारूप होता है, सुख-साक्षात्कार-सम्बन्धी नहीं, अतः मुक्त पुरुष के लिए वह सुख-साक्षात्कार भी पुरुषार्थ न बन सकेगा। स्वात्मक सुख-साक्षात्कार भी मुक्त-सम्बन्धी न होने पर भो मुक्तेतरासम्बन्धी है, अतः सुख-साक्षार को स्वेतरासम्बद्धरूप से पुरुषार्थ मानने पर मुक्तस्वरूप सुखसाक्षात्कार संसारी पुरुष के लिए पुरुषार्थ बन जायगा, क्योंकि वह भी संसारीतरासम्बद्ध है।

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि केवल साक्षात्क्रियमाणत्वरूप से ही पुरुषार्थता मानी जाती है। मुक्तस्वरूप सुख-साक्षात्कार मुक्त पुरुष का पुरुषार्थ होने पर भी संसारी व्यक्ति का वह पुरुषार्थ नहीं बन सकता, क्योंकि उसके प्रति वह उक्त रूप से भासमान नहीं, यदि उसे भी उसका भान होता है, तब वह व्यक्ति भी मुक्त या असंसारी माना जायगा, अतः असंसारित्वरूप से वहाँ पर पुरुषार्थता इष्ट ही है।

आचार्य आनन्दबोध ने जो कहा है—'प्रत्यक्प्रकाशमानत्वेन सुखं पुमर्थः', उसका

न्यायामृतम्

कदाप्यदर्शनात् । एतेन प्रत्यक्प्रदृश्यमानमनतीतं सुखं पुरुषार्थ इत्यानन्दबोधोक्तं निरस्तम् । प्रत्यक्शब्देन स्वरूपत्वस्य स्वकीयत्वस्यापरकीयत्वस्य वा विवक्षणीयत्वात् , तस्य च दूषितत्वात् ।

अपि च सुखत्वेन सुखसाक्षात्कारः पुरुषार्थः, स च परमते न मोक्षेऽस्ति । एतेन परमते दुःखाभावस्य तदपरोक्षस्य वा पुरुषार्थत्वं निरस्तम् । तस्मादहं सुखीतिस्वसम्बन्धिसुखानुभवः स्वस्य पुरुषार्थः । स च परमते नेति न मोक्षः पुरुषार्थः ॥ ३ ॥

अद्वैतसिद्धिः

प्रत्यक्प्रकाशमानत्वेन सुखं पुमर्थः—इति, तदप्येतेन व्याख्यातम् , प्रत्यक्प्रकाशमानत्वेन साक्षात्क्रियमाणताया एवोक्तेः । यत्तु—सुखत्वेन प्रकाशमानं सुखं पुमर्थः, न च तत्परमते मोक्षेऽस्ति—इति, तन्न, साक्षात्क्रियमाणत्वेनैवातिप्रसङ्गनिरासे अधिकोक्तेगौरवकरत्वात् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ मुक्तेरानन्दरूपत्वेन पुरुषार्थत्वम् ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

साक्षात्क्रियमाणत्वेन रूपेण सुखादि की पुरुषार्थता में ही तात्पर्य है, अतः उसमें न्यायामृतकारद्वारा उद्भावित दोष निराधार हो जाते हैं ।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि सुखसाक्षात्कार में भी सुखत्वेन रूपेण ही पुरुषार्थता माननी होगी, किन्तु द्वैतीगण सुख-साक्षात्कार में सुखरूपता नहीं मानते ।

वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि साक्षात्क्रियमाणत्वरूप से ही पुरुषार्थता मानने पर जब किसी प्रकार का अतिप्रसङ्ग नहीं होता, तब सुखत्वादि अधिकरूपों के निवेश की क्या आवश्यकता ? गौरव ही होगा ।

न्यायामृतम्

: १४ :

चिन्मात्रस्य मोक्षभागित्वविचारः

किं चायं मोक्षः कस्य पुरुषार्थः ? किमहमर्थस्य ? किं वा चिन्मात्रस्य ? नाद्यः, त्वन्मतेऽहमर्थस्य मुक्त्यनन्वयात्। नान्त्यः, अहं मुक्तः स्यामितिच्छावच्चिन्मात्रं मुक्तं स्यादितीच्छाया अदर्शनात्। उक्तं चैतदहमर्थस्यानात्मत्वभंगे। किं च सुखस्यदुःखाभावमात्रत्वे वैशेषिकमोक्षवदपुमर्थता। अतिरेके सद्वितीयत्वम्। अपि चात्मनः सुखमात्रत्वे प्रकाशमात्रत्वे च सुखप्रकाशाभावेनापुमर्थत्वम्। उभयात्मकत्वे चाऽखण्डत्व-

---

अद्वैतसिद्धिः

ननु—कस्यायं मोक्षः पुमर्थः ? किमहमर्थस्य ? आहोस्विच्चिन्मात्रस्य ? नाद्यः, त्वन्मतेऽहमर्थस्य मुक्त्यनन्वयात्। नान्त्यः, 'अहं मुक्तः स्या'मितिवच्चिन्मात्रं मुक्तं स्यादितीच्छाया अननुभवादिति—चेन्न, अहमर्थगतं चिदंशं मुक्तिकालान्वयिनं प्रति पुमर्थस्य मोक्षे संभव इत्युक्तप्रायत्वात्। न च—सुखस्य दुःखाभावमात्रत्वे वैशेषिकमोक्षवदपुमर्थता अतिरेके सद्वितीयत्वमिति—वाच्यम्, दुःखाभावातिरेकेऽप्यात्मानतिरेकात्। न च—आत्मनः सुखमात्रत्वे सुखप्रकाशाभावेनापुमर्थत्वम्, उभयात्मकत्वे चाखण्डार्थत्वहानिरिति—वाच्यम्, सुखप्रकाशयोरेकात्मरूपतया उभयत्वस्यैवाभावात्। न चार्थभेदाभावे सुखप्रकाश इति सहप्रयोगायोगः, अविद्याकल्पितदुःख-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैती—यह मोक्ष किसका पुरुषार्थ है ? अहमर्थ का ? अथवा चिन्मात्र का ? अहमर्थरूप विशिष्ट अर्थ का तो आप (अद्वैती) मोक्ष में अन्वय ही नहीं मानते और चिन्मात्र की मुक्ति मानने पर मुमुक्षा का स्वरूप मानना होगा—'चिन्मात्रं मुक्तं स्यात्', किन्तु वैसे इच्छा अहमर्थ की नहीं देखी जाती, अपितु 'अहं मुक्तः स्याम्'—ऐसी ही इच्छा अनुभूत होती है।

अद्वैती—अहमर्थ-घटक चैतन्यांश ही वह मुमुक्षु पुरुष माना जाता है, जो कि मोक्षकालान्वयी और मोक्ष उसी का पुरुषार्थ है—इसका स्पष्टीकरण प्रायः किया जा चुका है। मोक्षस्वरूप सुख को दुःखाभाव से अतिरिक्त आत्मस्वरूप माना जाता है, अतः उसमें न तो वैशेषिक मोक्ष के समान अपुरुषार्थत्वापत्ति होती है और न द्वैतापत्ति।

शङ्का—सुख और प्रकाश (ज्ञान) दो भिन्न पदार्थ हैं, आत्मा में केवल सुखरूपता या केवल प्रकाशरूपता मानने पर अपुरुषार्थत्वापत्ति होतो है, क्योंकि अज्ञात सुख या सुखानात्म प्रकाश को पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता। आत्मा में यदि सुख और प्रकाश—उभयरूपता मानी जाती है, तब अखण्डरूपता की हानि हो जाती है।

समाधान—तात्त्विक सुख और प्रकाश में कोई अनौपाधिक अन्तर नहीं होता अतः सुख और प्रकाश में न तो द्वित्व या उभयत्व माना जाता है और न सुखाभिन्न-प्रकाशात्मक आत्मा में अखण्डरूपता की हानि होती है।

शङ्का—'सुख और प्रकाश में यदि भेद नहीं, तब 'घटः कलशः' के समान 'सुखं प्रकाशः' ऐसा प्रयोग होना चाहिए 'घटकलशः' के समान 'सुख-प्रकाश आत्मा'—ऐसा उन दोनों पर्यायवाची पदों का सहप्रयोग नहीं होना चाहिए।

समाधान—'सुख' पद के द्वारा आत्मा में अविद्या-कल्पित दुःखरूपता और

न्यायामृतम्

हानिः । किं च दुःखाभावस्य सुखस्य च तत्त्वतो दुःखाद्भेदेऽपसिद्धान्तः, अभेदे त्वपुमर्थता । किं च स्वप्रकाशस्य सुखस्य स्वतः स्फुरणेऽपि दुःखाभावस्यास्फुरणादपुमर्थतेतिदिक् ।

निर्विशेषसुखस्य पुरुषार्थत्वभंगः ॥ ४ ॥

अद्वैतसिद्धिः

जडात्मकत्वरूपव्यावर्त्यभेदेन तदुपपत्तेः । यत्तु—दुःखाभावस्य सुखस्य च तत्त्वतो दुःखाद्भेदे अपसिद्धान्तः, अभेदे त्वपुमर्थता—इति, तन्न, दुःखस्य कल्पितत्वेन तद्भेदस्य तत्समानयोगक्षेमतया तात्त्विकत्वाभावेनापसिद्धान्ताभावात् । यत्तु—स्वप्रकाशस्य सुखस्य स्वतः स्फुरणेऽपि दुःखाभावस्यास्फुरणादपुमर्थता—इति, तन्न, दुःखाभावस्यात्मानतिरेकेणात्माभिन्ने सुखे स्फुरति तस्यापि स्फुरणात् , तत्त्वेनास्फुरणस्याप्रयोजकताया उक्तत्वात् । तस्मात्स्वप्रकाशचिदभिन्नं सुखं पुमर्थः ॥

इति चिन्मात्रस्य मोक्षभागित्वोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

'प्रकाश' पद के द्वारा आत्मगत आविद्यक जड़रूपता की व्यावृत्ति की जाती है, अतः व्यावर्त्य-भेद से सुख और प्रकाश—दोनों का सहप्रयोग सार्थक माना जाता है ।

यह जो कहा गया है कि दुःखाभाव और सुख का दुःख से तात्त्विक भेद मानने पर अपसिद्धान्त और भेद न मानने पर दुःखात्मक सुख में अपुरुषार्थता प्रसक्त होती है ।

वह कहना संगत नहीं, क्योंकि दुःख के कल्पित होने के कारण उसका भेद भी दुःखसमानसत्ताक (काल्पनिक) ही माना जाता है, तात्त्विक नहीं, अतः अपसिद्धान्त नहीं होता ।

शङ्का—यद्यपि सुख और दुःखाभाव—दोनों आत्मस्वरूप हैं, तथापि सुख स्वप्रकाश होने के कारण स्वतः स्फुरित होकर पुरुषार्थ बन जाता है, किन्तु अस्वप्रकाशभूत दुःखाभाव का स्वतः स्फुरण नहीं होता, अतः उसमें पुरुषार्थत्व क्योंकर बनेगा ?

समाधान—दुःखाभाव सुखस्वरूप आत्मा से अभिन्न है, अतः दुःखाभाव का सुखत्वेन रूपेण स्फुरण हो जाता है, उसमें भी पुरुषार्थता बन जाती है । दुःखाभाव का दुःखाभावत्वेन रूपेण स्फुरण पुरुषार्थता का प्रयोजक न होने के कारण आवश्यक नहीं, फलतः स्वप्रकाशचिदभिन्न सुख पुरुषार्थ है—यह सिद्ध हो गया ।

: ५ :

जीवन्मुक्तिविचारः

न्यायामृतम्

यच्चोच्यते तत्त्वसाक्षात्कारेण नष्टाविद्योऽनुवृत्तदेहादिप्रतिभासश्च जीवन्मुक्तः। न च तत्त्वज्ञानादविद्यानाशे सद्यः शरीरादि निवर्तेतेति वाच्यम्। चक्रभ्रमणवद् भयकंपादिवच्चाविद्यासंस्कारादपि तदनुवृत्तेः। न च क्रियाज्ञानयोरेव संस्कारः, निःसारितपुष्पायां तत्पुटिकायां पुष्पवासनादर्शनात्। विमतो नाशः संस्कारव्याप्तः, संस्कारनाशान्यत्वे सति नाशत्वात्, ज्ञाननाशवदित्यनुमानाच्च। संस्कारः कार्योऽपि ध्वंस इव निरुपादानः, अविद्येव च शुद्धात्माश्रित इति नाविद्यापेक्षः। संस्कारनिवृत्तिश्चाऽऽवृत्तात्तत्त्वसाक्षात्कारात्। यद्वा अविद्यालेशानुवृत्त्या तदनुवत्तिरिति।

अत्र ब्रूमः—न तावत्संस्कारपक्षो युक्तः। भावकार्यमध्यस्तं संस्कारं देहादिकं

अद्वैतसिद्धिः

तच्च जीवन्मुक्तानां स्वानुभवसिद्धम्। जीवन्मुक्तश्च तत्त्वज्ञानेन निवृत्ताविद्योऽप्यनुवृत्तदेहादिप्रतिभासः। न च तत्त्वज्ञानादविद्यानाशे सद्यःशरीरपातापत्तिः, निवृत्तसर्पभ्रमस्यापि संस्काराद् भयकम्पानुवृत्तिवत्, दण्डसंयोगनाशेऽपि चक्रभ्रमणवच्च संस्कारानुवृत्तेरविद्यानिवृत्तावपि तत्कार्यानुवृत्तिसंभवात्। न च—क्रियाज्ञानयोरेव संस्कार, नान्यस्येति—वाच्यम्, निःसारितपुष्पायां सम्पुटिकायां पुष्पवासनादर्शनात्, विमतो नाशः संस्कारव्याप्तः, संस्कारनाशान्यत्वे सति नाशत्वात्, ज्ञाननाशवत् इत्यनुमानाच्च, संस्कारः कार्योऽपि ध्वंस इव निरुपादानकः अविद्येव च शुद्धा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कथित आत्मगत सुखरूपता जीवन्मुक्त पुरुष में स्वानुभव-सिद्ध होती है। तत्त्वज्ञान के द्वारा जिस पुरुष की अविद्या के निवृत्त हो जाने पर भी अविद्या के कार्यभूत देहादि का प्रतिभास होता रहता है, वह पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है।

शङ्का—तत्त्वज्ञान से अविद्या का नाश हो जाने पर भी शरीर को तुरन्त छूट जाना चाहिए, क्योंकि शरीरादि प्रपञ्च का उपादान कारण अविद्या ही है, उपादान कारण के विना कार्य टिक ही नहीं सकता।

समाधान—जैसे रज्जु में सर्प-भ्रम के निवृत्त हो जाने पर भी भ्रम के कार्यभूत भय-कम्पादि कुछ समय तक बने रहते हैं, जैसे कुलाल जिस दण्ड के सहारे चाक को घुमाता है, उस दण्ड के चाक पर से हटा देने पर भी वेगसंज्ञक संस्कार के बल पर चाक कुछ देर तक अपने-आप घूमता रहता है, वैसे ही अविद्या का नाश हो जाने पर भी अविद्या के कार्यभूत शरीरादि की अनुवृत्ति अविद्या-नाश-जन्य संस्कारों के आधार पर हो सकती है। 'संस्कार केवल कर्म और ज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं'—ऐसा कोई नियम नहीं, दोनें में से फूलों के निकाल लेनें पर भी दोनें में फूलों की वासना रहती है, लशुन-भाण्ड में से लशुन के निकाल लेनें पर भी भाण्ड में लशुन की वास बनी रहती है, इससे यह निश्चय होता है कि बहुत से पदार्थों का नाश संस्कारों को जन्म देता है, अतः 'अविद्यानाशः संस्कारव्याप्तः, संस्कारनाशान्यनाशत्वात्, ज्ञाननाशवत्'—इस अनुमान के द्वारा यह निश्चय होता है कि अविद्या-नाश-जन्य संस्कार कार्य होनें पर भी ध्वंस के समान निरुपादान होकर भी अविद्या के समान ही शुद्ध चैतन्य के आश्रित रहते हैं जिनसे जीवन्मुक्त के शरीरादि की स्थिति अविद्या के विना भी रहती है।

न्यायामृतम्

तद्धेतुप्रारब्धकर्मादिकं च प्रत्युपादानत्वेनाज्ञानानुवृत्त्यापातात्। सर्पादिभ्रमसंस्कारस्तु सत्यो न त्वज्ञानोपादानकः। पूर्वसाक्षात्कारानिवृत्तस्याध्यस्तस्य तदनधिकविषयेणाऽऽवृत्तेनाप्युत्तरेण ज्ञानेन निवृत्त्यदर्शनाच्च। जीवन्मुक्तस्याविद्यावरणाभावेन तदा निरतिशयानन्दस्फूर्त्यापाताच्च। संस्कारस्तु नावरणमिति त्वयैवोक्तम्। एतेन तत्त्वे ज्ञातेऽपि द्विचन्द्रादिवद्दोषाद् बाधितानुवृत्तिरिति निरस्तम्, तत्रैवात्र तत्त्वज्ञानानिवर्त्य-

अद्वैतसिद्धिः

त्वमाश्रत इति नाविद्यासापेक्षः। न च—भावकार्यस्याध्यस्तस्य संस्कारदेहादितद्धेतुप्रारब्धकर्मादेः स्थित्यर्थः तदुपादानाज्ञानानुवृत्त्यापात इति—वाच्यम्, विनश्यदवस्थस्य समवायिकारणं विना स्थितिदर्शनात्। न च—क्षणमात्रस्थितावपि कथं बहुक्षणस्थितिरिति—वाच्यम्, सत्युपपादके क्षणगणकल्पनाया अप्रयोजकत्वात्। तत्र क्षणमात्रं स्थितिः, समसमयस्याजनकत्वात्, अत्र तु प्रतिबन्धकाभावसहकृतहेतोस्तावत्कालमभावात्। अत एव—पूर्वज्ञानानिवृत्तस्याध्यस्तस्य तदनधिकविषयेण कथं निवृत्तिरिति—निरस्तम्, प्रतिबन्धकाभावसहकारासहकाराभ्यां विशेषात्। जीवन्मुक्तिदशायामानन्दस्फूर्त्यापादनमिष्टमेव, तत्त्वे ज्ञाते द्विचन्द्रादिवद्दोषाद्बाधितानुवृत्तिसंभवाच्च।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—भावरूप कार्य अपने उपादान कारण के विना नहीं रहता, देहादि अध्यस्त कार्य का उपादान कारण अविद्या है, अतः अज्ञान के अभाव में देहादि का अवस्थान नहीं रह सकता।

समाधान—तन्तु आदि समवायी (उपादान) कारण का नाश हो जाने पर भी विनश्यदवस्थ पटादि कार्य एक क्षण उपादान कारण के विना भी रह जाता है।

शङ्का—उपादान कारण के विना पटादि कार्यों की एक क्षण के लिए स्थिति इस लिए मानी जा सकती है कि तन्तु-ध्वंस कारण है और पट-ध्वंस कार्य, कार्य और कारण की समान काल में अवस्थिति (समसमयता) नहीं मानी जा सकती, अन्यथा उनमें कार्य-कारणभाव का विनिगमन न हो सकेगा, किन्तु अज्ञान का नाश हो जाने पर जीवन्मुक्त का शरीर तो वर्षों तक बना रहता है—यह कैसे ?

समाधान—दृष्टान्त में क्षणान्तरावस्थान का कोई उपपादक नहीं, किन्तु प्रकृत में प्रारब्ध कर्म है, अतः यहाँ क्षणों की कल्पना नहीं कर सकते। अर्थात् उपादान कारण के विना पटादि कार्यों की क्षणमात्र स्थिति की नियामिका समसामयिक पदार्थों में जन्य-जनकभाव की अनुपपत्ति होती है, किन्तु प्रकृत में प्रारब्धकर्मरूप प्रतिबन्ध के अभाव से युक्त अज्ञान-ध्वंसरूप कारण के न रहने से शरीर-ध्वंस तुरन्त नहीं होता।

यह जो शङ्का की जाती है कि तत्त्वज्ञान में न तो कोई स्वरूपतः अन्तर होता है और न विषयतः, अतः जब उसी तत्त्व-ज्ञान से जीवन्मुक्त के शरीरादि की निवृत्ति पहले नहीं होती, तब पश्चात् कैसे होगी ?

उसके समाधान में इतना ही कहना है कि पहले वह ज्ञान प्रतिबन्धकाभावरूप सहकारी कारण से रहित था और प्रारब्ध कर्मरूप प्रतिबन्धक की समाप्ति हो जाने पर उक्त सहायक सामग्री से संवलित होकर शरीरादि का निवर्तक हो जाता है। जीवन्मुक्ति-दशा में अज्ञान की निवृत्ति हो जाने के कारण आनन्द-स्फुरण की आपादन अभीष्ट ही है, किन्तु वस्तु-स्थिति का ज्ञान हो जाने पर जैसे दो चन्द्रों की बाधितानुवृत्ति

न्यायामृतम्

दोषाभावात् ।

लेशपक्षेऽपि न तावल्लेशोऽवयवः, अज्ञानस्य निरवयवत्वात् । एतेनाविद्यैव दग्धपटन्यायेन कंचित्कालं तिष्ठतीति निरस्तम् । निरवयवे दग्धपटन्यायासम्भवात् । अनुवृत्तस्य ज्ञानानिवर्त्यत्वेन सत्त्वापाताच्च । अथ मतं लेशो नामाऽऽकारः । "इन्द्रो मायाभि"रित्यादिश्रुत्या अविद्याया अनेकाकारत्वेन प्रपंचे परमार्थसत्त्वादिभ्रमहेत्व.कारनिवृत्तावपि देहाद्यपरोक्षप्रतिभासहेत्वाकारोऽनुवर्तते । विरोधिनि तत्त्वज्ञाने सत्यपि तदनुवृत्तिश्चाऽऽरब्धकर्मभिर्ज्ञानप्रतिबन्धात् । कर्मानुवृत्तिश्च तद्धेत्वज्ञानलेशानुवृत्तेः । उक्तं च—

अविद्यालेशशब्देन मोहाकारान्तरोक्तितः ।
ज्ञानस्य प्रतिबन्धाच्च प्रबलारब्धकर्मभिः ॥ इत्यादि ।

आकारिनिवृत्तावप्याकारस्यानुवृत्तिर्व्यक्तिनिवृत्तावपि जातेरिव युक्तेति ।

तत्राऽऽकारो जातिशक्त्यादिरूपो धर्मो वा ? स्वर्णस्य कुण्डलादिरिवावस्था-

---

अद्वैतसिद्धिः

न च तत्रेवात्र ज्ञानानिवर्त्यदोषाभावेन वैषम्यम् , यावत्प्रतिबन्धकसत्त्वं ज्ञानानिवर्त्यस्य दोषस्यात्रापि संभवात् , सर्वज्ञानानिवर्त्यस्य तस्य कुत्राप्यसंप्रतिपत्तेः । तदुक्तं—'न हि जात्यैव कश्चिद् दोषोऽस्तो'ति ।

यद्वा - अविद्यालेशानुवृत्त्या देहाद्यनुवृत्तिः । ननु—लेशो नावयवः, अज्ञानस्य निरवयवत्वाद् , अत एवाविद्या दग्धपटन्यायेन तावत्तिष्ठतीत्यपि निरस्तम् , निरवयवे एतन्न्यायासंभवादिति—चेन्न, आकारस्यैव लेशशब्दार्थत्वाद् , 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत'इत्यादिश्रुत्या अविद्याया अनेकाकारत्वावगमात् । आकारिनिवृत्तावप्याकारस्यानुवृत्तिर्व्यक्तिनिवृत्तावपि जातेरिव । ननु—कोऽयमाकारो नाम जातिर्वा? शक्त्यादि-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

देखी जाती है, वैसे ही जीवन्मुक्त को संसार की बाधितानुवृत्ति होती रहती है । 'दृष्टान्त में बाधितानुवृत्ति का नियामक जैसे दृष्टि-दोष है, वैसे प्रकृत में कोई दोष नहीं'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रारब्ध कर्मरूप प्रतिबन्धक की अवस्थिति-पर्यन्त यहाँ भी कोई ज्ञानानिवर्त्य दोष अवश्य रहता है, जैसा कि कहा गया है—"न हि जात्यैव कश्चिद् दोषोऽस्ति" ।

अथवा अविद्या-लेश के आधार पर जीवन्मुक्त के शरीर की अनुवृत्ति मानी जाती है ।

शङ्का—यहाँ लेश का अर्थ अवयव नहीं कर सकते, क्योंकि अविद्या निरवयव पदार्थ है । अत एव दग्ध पट के समान भी अविद्या का भस्मावशेष लेश नहीं कहला सकता, क्योंकि निरवयव वस्तु में यह प्रक्रिया भी सम्भव नहीं ।

समाधान—'लेश' शब्द का अर्थ है—आकार, क्योंकि "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृह० उ० २।५।१९) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा अविद्या के अनेक आकार अवगत होते हैं । आकारी पदार्थ की निवृत्ति हो जाने पर भी आकार की वैसे ही अनुवृत्ति होती है, जैसे व्यक्ति की निवृत्ति होने पर भी जाति शेष रहती है ।

शङ्का—यह आकार क्या है ? क्या (१) जाति है ? या (२) शक्त्यादिरूप धर्म ? अथवा (३) सुवर्ण-कुण्डलादि के समान विशेष अवस्था ? प्रथम और द्वितीय

न्यायामृतम्

विशेषो वा ? अज्ञानव्यक्त्यन्तरं वा ? नाद्यद्वितीयौ, तयोर्देहादिभ्रमोपादानत्वेऽविद्यात्वापातात् । अनुपादानत्वे चोपादानान्तराभावेन देहादिभ्रमायोगात् । आत्मान्यत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वेन च तयोरविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वावश्यम्भावेनाज्ञाने निवृत्ते स्थित्ययोगाच्च । धर्मे उपादानत्वस्यावस्थायां चावस्थावन्तं विना स्थितेरयोगाच्च । न तृतीयः, अज्ञानैक्यपक्षे तदयोगात् । तद्भेदपक्षेऽपि व्यक्त्यन्तरं पूर्वाज्ञानादधिकविषयम् ? न वा ? नाद्यः, निर्विशेषे तदयोगात् । नान्त्यः, एकस्मिन्नपि विषये यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति मतस्य प्रतिकर्मव्यवस्थाभंगे दूषितत्वात् । चरमसाक्षात्कारान्यून विषयसाक्षात्कारस्य पूर्वमपि सत्वे पश्चादिव जीवन्मुक्तावपि तदज्ञानहेतुकाध्यासायोगाच्च । न च पूर्वज्ञानस्य कर्मणा प्रतिबन्धादज्ञानानिवर्तकतेति युक्तम्, ज्ञानस्य स्वप्रागभावनिवर्तन इवाज्ञाननिर्वतनेऽपि प्रतिबन्धायोगात् । स्थिते लेशे कर्मानुवृत्तिस्तदनुवृत्तौ

अद्वैतसिद्धिः

रूपो धर्मो वा ? सुवर्णकुण्डलादिवदवस्थाविशेषो वा ? नाद्यौ, तयोर्देहादिभ्रमोपादानत्वे अविद्यात्वापातात्, अनुपादानत्वे च उपादानान्तराभावेन देहादिभ्रमोत्पत्त्ययोगात् आत्मान्यत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वेन चाविद्यातत्कार्यान्यतरत्वावश्यंभावेनाज्ञाने निवृत्ते स्थित्ययोगाच्च । अत एव न तृतीयः अवस्थावन्तं विना अवस्थायाः स्थित्ययोगादिति—चेन्न, अनेकशक्तिमदविद्यायाः प्रपञ्चे पारमार्थिकत्वादिभ्रमहेतुशक्तेः प्रपञ्चे अर्थक्रियासमर्थत्वसम्पादकशक्तेश्च प्रारब्धकर्मसमकालीनतत्त्वसाक्षात्कारेण निवृत्तावपि अपरोक्षप्रतिभासयोग्यार्थाभासजनिकायाः शक्तेरनुवृत्तेः तद्वती अविद्यापि तिष्ठत्येवेति नोक्तदोषावकाशः । न चाविद्यायां कथं मुक्त इति व्यपदेशः ? शक्तिनाशमात्रात् । अत एव समये सर्वशक्तिमदज्ञाननाशः तज्जातीयेनाप्रतिरुद्धेन प्रत्ययेन । तथा च श्रुतिः—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विकल्प सम्भव नहीं, क्योंकि उन्हें देहादि भ्रम का उपादान मानने पर अविद्या रूप मानना होगा और उपादान न मानने पर देहादि भ्रम की उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योंकि इसका अन्य कोई उपादान सम्भव नही । आत्मा से भिन्न होने के कारण देहादि मिथ्या एवं ज्ञान के द्वारा निवर्तनोय है, अतः इसे या तो अविद्यास्वरूप मानना होगा या अविद्या का कार्य, सर्वथा अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर इसकी स्थिति सम्भव नहीं । अत एव तृतीय पक्ष (आकार को अविद्या की अवस्था-विशेष) मानना भी उचित नहीं रह जाता, क्योंकि अज्ञानरूप अवस्थावान् ही जब नहीं, तब उसकी अवस्था क्योंकर शेष रहेगी ?

समाधान—अविद्या में अनेक शक्तियां हैं, जिनकी सहायता से वह अपारमार्थिक प्रपञ्च, अपारमार्थिक में पारमार्थिकत्व-भ्रम एवं अर्थ क्रिया-सामर्थ्य का सम्पादन करती है । प्रारब्ध कर्म के समकालीन तत्त्वज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी अपरोक्ष प्रतिभास के योग्य अर्थ की कल्पक शक्ति बनी रहती है, अतः उस शक्ति की आश्रयीभूत अविद्या की अनुवृत्ति बनी रहती है, कथित दोष निराधार हैं ।

अविद्या बन्धन के बने रहने पर जीवन्मुक्त पुरुष के लिए 'मुक्तः'—ऐसा व्यवहार क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अविद्या की एक (आवरण) शक्ति का नाश हो जाने मात्र से वैसा व्यवहार हो जाता है और अपने ठीक समय (प्रारब्ध कर्म की समाप्ति) पर प्रारब्ध-समकालीन प्रतिबद्ध तत्त्व-सक्षात्कार के

न्यायामृतम्

च ज्ञानस्य प्रतिबन्धेन लेशस्थितिरित्यन्योन्याश्रयाच्च । न च "भूयश्चान्ते विश्वमाया-निवृत्ति"रित्यत्र भूय इति श्रवणात् लेशानुवृत्तेर्मानान्तरेणाधिगमान्न ज्ञप्तावन्योन्याश्रय इति वाच्यम्, तथापि स्थितावन्योन्याश्रयात्। श्रुतौ च भूयो योजनादित्यन्वयः। एतेन

अद्वैतसिद्धिः

'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रिति । न च—भूय इत्यस्य योजनादित्यनेनान्वयात् न लेशानुवृत्तावस्याः श्रुतेर्मानतेति—वाच्यम्, विशेषणान्वयापेक्षया विशेष्यान्वयस्याभ्यर्हितत्वात् तत्त्वभावादित्यनेन व्यवधानाद् अन्त इति पदवैयर्थ्याच्च विपरीतयोजनस्यासङ्गतेः । न च—लेशस्थितौ कर्मानुवृत्तिः तदनुवृत्तौ च ज्ञानप्रतिबन्धेन लेशस्थितिरित्यन्योन्याश्रय इति—वाच्यम्, न तावत् ज्ञप्तौ 'भूय-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सजातीयभूत अप्रतिबद्ध तत्त्व-साक्षात्कार के द्वारा समस्त शक्ति-समन्वित अज्ञान का विनाश कर दिया जाता है, जैसा कि श्रुति कहती है—"तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" (श्वेता० १।१०) अर्थात् ब्रह्म के मनन-निदिध्यासन-सहकृत योजनाख्य श्रवण के द्वारा उत्पादित तत्त्व-साक्षात्कार अपने प्रथम एक सावरोध मन्द आघात से सशेष अज्ञान का विनाश कर द्वितीय निरवरोध तीव्र प्रतिघात से निःशेष अज्ञान का उन्मूलन कर डालता है]।

शङ्का—उक्त श्रुति में भूयः' पदार्थ का अन्वय विचारणीय है—'तत्त्वभावाद् निवृत्तिः'—यहाँ पर तत्त्व-साक्षात्कार कारण और निवृत्ति कार्य है, इन दोनों की सकृत् निष्पत्ति होती है, भूयो भूयः या अनेक बार नहीं, अतः योग्यता के आधार पर 'भूयः' पदार्थ का अन्वय योजन संज्ञक श्रवण के साथ ही होता है, निवृत्ति पदार्थ के साथ नहीं कि पहले स्थूल अविद्या की निवृत्ति और भूयः (दुबारा) लेशाविद्या की निवृत्ति का लाभ हो जाता।

समाधान—योजनरूप श्रवण साधन, अङ्ग या गुण है और 'निवृत्ति' साध्य, अङ्गी या प्रधान है। गौणीभूत पदार्थ के साथ अन्वय की अपेक्षा प्रधान पदार्थ के साथ अन्वय अभ्यर्हित (उचिततर) माना जाता है। ["गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्" (जै. सू. ३।१।२२) इस सूत्र में यह स्थिर किया गया है कि गौणीभूत पदार्थों का प्रधान पदार्थ के साथ ही अन्वय होता है, परस्पर अन्वय सम्भव नहीं होता, क्योंकि सभी गौणीभूत पदार्थ प्रधान के अङ्ग होने के कारण समान होते हैं, जब कि अन्वय गुण और प्रधान का ही आकाङ्क्षित होता है, जैसे "वैकङ्कत" (मै.सं. १।६।७) पात्र का दर्शपूर्णमास से। भूयः पदार्थ का 'योजनात्' के साथ इसलिए भी अन्वय नहीं हो सकता कि 'तत्त्वभावात्'—इस पद का व्यवधान है और 'अन्ते' पद भी व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि जब भूयो योजन से ही विश्वमाया की निवृत्ति हो जाती है, तब अन्ते को कोई अवसर ही नहीं रह जाता और जब निवृत्ति के साथ भूयः का अन्वय होता है, तब प्रश्न होता है—कदा? उसका उत्तर हो जाता है—अन्ते अर्थात् प्रारब्ध कर्म का उपभोग हो जाने के पश्चात् समस्त शक्तियों से समन्वित माया की निवृत्ति हो जाती है।

शङ्का—लेशाविद्या की स्थिति होने पर ही प्रारब्ध कर्म की अनुवृत्ति मानी जा सकती है और प्रारब्ध कर्म की स्थिति होने पर तत्त्वसाक्षात् प्रतिबद्ध और लेशाविद्या की स्थिति होती है—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है।

न्यायामृतम्

ब्रह्मज्ञानस्याप्रायणमनुवृत्तिहेतुज्ञानार्थयज्ञादिकर्मभिः प्रतिबन्ध इति निरस्तम् । प्रतिबन्धायोगादेरुक्तत्वात् । अन्यथा शुक्तिज्ञानमपि तदज्ञानकार्येण भ्रमादिना उत्तरं ब्रह्मज्ञानमप्यारब्धकर्मणा प्रतिबध्येत । तदा भोगेन कर्मक्षीणमिति चेत् , न, भोगैकनाश्यत्वे ज्ञानानिवर्त्यत्वेन सत्त्वापातात् ।

एतेनाज्ञानस्यानेकशक्तित्वेनारब्धकर्मतत्कार्येतराध्याससम्पादनशक्तिमात्रस्य वा प्रपंचे पारमार्थिकसत्यत्वादिभ्रमहेतुशक्तिमात्रस्य वा प्रतिबन्धो लेशानुवृत्तत्वेन विवक्षित इति निरस्तम् । पूर्वज्ञानस्य शक्तिमात्रप्रतिबन्धकत्वे तदनधिकविषयस्य चरमस्यापि तत्त्वापत्या कदाप्यज्ञानहान्यसिद्धेः ।

तस्मात्परमते मोहकार्यत्वादखिलस्य च ।
ज्ञानेन मोहनाशाच्च जीवन्मुक्तिर्न युज्यते ॥

जीवन्मुक्तिभंगः ॥ ५ ॥

अद्वैतसिद्धिः

श्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रित्यादिश्रुतेरेव लेशानुवृत्तेरवगतत्वात् , नापि स्थितौ एककालीनत्वेन दोषाभावात् ।

यद्वा—अज्ञानस्य सूक्ष्मावस्था लेशः । यथा 'तस्मात् फले प्रवृत्तस्य यागादेः शक्तिमात्रकम् । उत्पत्तावपि पश्वादेरपूर्वं न ततः पृथक् ॥' इति वार्तिकेन यागे गतेऽपि यागसूक्ष्मावस्थारूपमपूर्वं यागे साधनतानिर्वाहकमङ्गीक्रियते, तथा अज्ञाने गतेऽपि तत्सूक्ष्मावस्थारूपो लेशो देहादिप्रतीत्यनुकूलः स्वीक्रियते, स्वर्गजनकताग्राहकश्रुतेरिवात्रापि जीवन्मुक्तिश्रुतेस्ताहगर्थस्वीकारात् । तस्मादविद्यालेशानुवृत्त्या जीवन्मुक्तिरुपपन्नतरा ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ जीवन्मुक्त्युपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—अन्योऽन्याश्रय दोष ज्ञप्ति में दिया जाता है ? या स्थिति में ? अथवा उत्पत्ति में ? लेशाविद्या और प्रारब्ध की ज्ञप्ति (ज्ञान) परस्पर सापेक्ष है—ऐसा ज्ञप्तिगत अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि लेशाविद्या का ज्ञान "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः"—इस श्रुति से ही होता है, प्रारब्ध-ज्ञान से नहीं । दोनों की स्थिति परस्पर-सापेक्ष है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों समकालीन हैं, अन्योऽन्याश्रित नहीं ।

अथवा अज्ञान की सूक्ष्म अवस्था का नाम लेश है । जैसे कि—

"तस्मात् फलैः प्रवृत्तस्य यागादेः शक्तिमात्रकम् ।
उत्पत्तावपि पश्वादेरपूर्वं न ततः पृथक् ॥"

इस वार्तिक में पश्वादि फलों के उत्पादनार्थ अनुष्ठीयमान यागादि के नष्ट हो जाने पर भी याग की अपूर्वाख्य सूक्ष्म अवस्था को यागगत फल-साधनता का निर्वाहक माना गया है, वैसे ही अज्ञान का नाश हो जाने पर भी अज्ञान का सूक्ष्मावस्थारूप लेश देहादि की प्रतीति का निर्वाहक माना जाता है, क्योंकि स्वर्गादिफलजनकता-ग्राहक श्रुति के समान ही यहाँ भी जीवन्मुक्ति-बोधक श्रुति का अर्थ किया जाता है । फलतः अविद्या-लेश की अनुवृत्ति से जीवन्मुक्ति उपपन्न हो जाती है ।

: ५ :

मुक्तौ तारतम्यविचारः

न्यायामृतम्

अस्माकं तु अपरोक्षज्ञानिनोऽपि स्वयोग्यपरमानन्दहेतुपरमकाष्ठापन्नभक्त्यभावे तत्साध्य मोचकस्येश्वरप्रसादस्याभावेन प्रारब्धकर्मणासंसारानुवृत्त्या जीवन्मुक्तिः। भावे तु प्रसादस्यापि भावेन निःशेषदुःखनिवृत्तिविशिष्टस्वतो नीचोच्चभावापन्नस्वरूपानन्दाविर्भावरूपमुक्तिर्युक्तेति।

अद्वैतसिद्धिः

यत्तु—परमतेऽपरोक्षज्ञानिनोऽपि स्वयोग्यपरमानन्दहेतुपरमकाष्ठापन्नभक्त्यभावे तत्साध्यस्य मोचकस्य ईश्वरप्रसादस्याभावेन प्रारब्धकर्मणा संसारानुवृत्तौ जीवन्मुक्तिः तद्भावे तु प्रसादस्यापि भावेन निःशेषदुःखनिवृत्तिविशिष्टस्वतोनीचोच्चभावापन्नस्वरूपानन्दाविर्भावरूपा मुक्तिरिति. तन्न, 'तावदेवास्य चिर'मित्यादिश्रुत्या अस्योत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारस्य प्रारब्धकर्मक्षयमात्रमपेक्षणीयं कैवल्यसंपत्त्यर्थमिति प्रतिपादनेन ईश्वरप्रसादापेक्षाया वक्तुमशक्यत्वात् स्मृतिपुराणादीनां श्रुतिविरोधेन स्तुतिपरत्वात् 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वा' मिति भक्तिजन्येश्वरप्रसादस्यापि तत्साक्षात्कारस्वरूप एवोपयोगस्य बोधितत्वेन स्मृत्यादीनामपि तदनुसारित्वात् वैपरीत्यनेन साध्यसाधनभावे मानाभावात्। न च प्रारब्धकर्मक्षये प्रसादविनियोगः, प्रसादनिरपेक्षभोगादेव तत्सिद्धेः। नापि मुक्तावुच्चनीचभावः, तस्य द्वितीयसा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यह जो द्वैती का कहना है कि हमारे (द्वैती के) मतानुसार जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति का यह अन्तर है कि अपरोक्ष ज्ञान होने पर भी जब जीवों में स्वोचित परमानन्दप्रद परमा भक्ति का अभाव होता है, तब भक्ति-साध्य विदेह कैवल्यप्रद ईश्वरीय प्रसाद या कृपा नहीं होती और प्रारब्ध कर्म के आधार पर संसारानुवृत्ति बनी रहती है, उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं और परा भक्ति एवं तत्साध्य भगवत्प्रसाद के सद्भाव में निःशेष दुःख-निवृत्ति से युक्त नैसर्गिक तरतमभावापन्न स्वरूपानन्द का आविर्भाव होता है—इसे ही विदेह मुक्ति कहते हैं।

वह कहना संगत नहीं, क्योंकि 'तावदेवास्य चिरम्" (छां० ६।१४।२) यह श्रुति स्पष्ट उद्घोषित कर रही है कि यस्य (इस जीवन्मुक्त तत्त्ववेता का) विदेह कैवल्य में उतना ही विलम्ब है, जब तक प्रारब्ध कर्म का क्षय नहीं होता। इससे अतिरिक्त ईश्वर-प्रसादादि की अपेक्षा का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस श्रुति से विरुद्ध होने के कारण ईश्वर-प्रसाद की अपेक्षा के प्रतिपादक स्मृति-पुराणादि के वाक्य केवल स्तुतिपरक माने जाते हैं, क्योंकि "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" (मुं० ३।२।१३) इस श्रुति के द्वारा भक्ति जन्य ईश्वरीय प्रसाद का भी उपयोग तत्त्व-साक्षात्कार में ही बताया गया है, अतः स्मृति-वाक्यों का भी उसी के अनुसार ही अर्थ करना होगा, उससे विपरीत साध्य-साधनभाव की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं। प्रारब्ध कर्म के प्रक्षय में भी ईश्वर-प्रसाद का विनियोग नहीं हो सकता, क्योंकि "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" (ब्रह्मवै. उत्तर. ५।८१।५५) इत्यादि वाक्यों के द्वारा प्रारब्ध कर्म का क्षय उपभोग से ही कहा गया है, ईश्वर-प्रसाद से नहीं। विदेह कैवल्य में जो उच्च-नीचभाव का प्रतिपादन किया गया, वह भी संगत नहीं, क्योंकि

न्यायामृतम्

ननु मुक्तौ न तारतम्यम्, मानाभावात्, "परमं साम्यमुपैती"ति साम्यश्रुतेश्च। सातिशयत्वे च मुक्तेः स्वर्गादिवदनित्यत्वं स्यात्। अधिकदर्शनेन दुःखद्वेषेर्ष्यादिकं च स्यादिति चेत्। उच्यते—मुक्तावतारतम्यं किं तत्र भेदभोगादेरेवासत्त्वात्? किं वा तत्सत्त्वेऽपि साम्यात्? नाद्यः, भेदप्रस्तावोक्तश्रुत्यादिभिस्तत्सिद्धेः। अन्त्येऽपि किं मुक्तजीवेशयोरतारतम्यम्? किं वा मुक्तजीवानामेव? नाद्यः, त्वन्मतेऽपि तयोर्विभुत्वाणुत्वशेषित्वशेषत्वस्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यादिना तारतम्यात्। अनेकेश्वरापत्त्या जगत्प्रवृत्त्ययोगाच्च। "अल्पशक्तिरसार्वज्ञ्य"मित्यादि भेदप्रस्तावोक्तश्रुतिभिः।

ब्रह्मेशानादिभिर्देवैर्यत्प्राप्तुं नैव शक्यते।
तद्यत्स्वभावः कैवल्यं स भवान्केवलो हरे॥

इत्यादि स्मृतिभिः "जगद्व्यापारवर्ज"मित्यादिसूत्रैः (१ 'मुक्तजीवभोगः ईश्वर-

अद्वैतसिद्धिः

पेक्षत्वेन तदासंभवात् 'परमं साम्यमुपैती'ति साम्यश्रुतेश्च। सातिशयत्वे मुक्तेः स्वर्गादिवदनित्यत्वं स्यात्। अधिकदर्शने दुःखद्वेषादिकं च स्यात्।

ननु—मुक्तौ अतारतम्यं किं भेदाभावात्, उत सत्यपि भेदे तत्साम्यात्। नाद्यः, श्रुत्या भेदसिद्धेः। नान्त्यः, साम्यं किं जीवेश्वरयोः, उत जीवानामेव। नाद्यः, तयोर्विभुत्वाणुत्वशेषशेषिभावस्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यादिना तारतम्यात् अनेकेश्वरापत्त्या जगत्प्रवृत्त्ययोगात् तद्द्वयतारतम्यप्रतिपादकस्मृतिभिः 'जगद्व्यापारवर्ज'मित्यादिसूत्रैरुत्कृष्टत्वनिकृष्टत्वग्राहकानुमानैर्विरोधाच्च। नान्त्यः, जीवान् प्रति शेषिणो लक्ष्मीतस्वात्

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उच्चनीचभाव द्वितीय पदार्थ सापेक्ष है और मोक्ष में द्वितीय का सद्भाव नहीं होता, प्रत्युत "परमं साम्यमुपैति" (मुं० ३।१।३) यह श्रुति मोक्ष में तरतमभाव का निषेध करने के लिए साम्य का प्रतिपादन करती है। यदि मोक्ष को तरतमभावरूप अतिशय से युक्त माना जाता है, तब मोक्ष को भी स्वर्गादि के समान अनित्य मानना होगा एवं अपने से अधिकसुखी व्यक्ति को देखकर वहाँ द्वेषादि कुत्सित भावों का सद्भाव भी सिद्ध होगा।

द्वैती—आप (अद्वैती) जो मुक्ति में अतारतम्य (साम्य) का प्रतिपादन करते हैं, वह क्या भेदाभाव के कारण? अथवा भेद के होने पर भी आत्माओं की समस्वरूपता के कारण? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि "द्वा सुपर्णा" (श्वेता० ४।६) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा भेद सिद्ध किया जा चुका है। द्वितीय पक्ष में जिज्ञासा होती है कि क्या मुक्त जीवों का ईश्वर से साम्य है? या जीवों का परस्पर? प्रथम कल्प संगत नहीं, क्योंकि ईश्वर में विभुत्व प्राधान्य और स्वातन्त्र्य है, इसके विपरीत जीवों में अणुत्व, अङ्गत्व और पारतन्त्र्य है, अतः उनका तारतम्य निश्चित है। सभी जीवों में ईश्वर का सर्वथा साम्य मानने पर अनेक ईश्वर मानने होंगे अनेकेश्वरवाद में विश्व की व्यवस्था समाप्त हो जायगी, इतना ही नहीं,

ब्रह्मेशानादिभिर्देवैर्यत् प्राप्तुं नैव शक्यते।
तद्यत्स्वभावः कैवल्यं स भवात् केवलो हरे॥

[ब्रह्मा और शङ्करादि देवों से जो (कैवल्य) प्राप्त नहीं हो सकता, वह कैवल्य जिसका स्वभाव है, हे भगवन्! आप वह हैं] इत्यादि तारतम्य-प्रतिपादक स्मृति वाक्यों, "जगद्व्यापारवर्जम्" (ब्र. सू. ४।४।१८) इत्यादि सूत्रों और तारतम्य-साधक अनुमानों से भी

न्यायामृतम्

भोगान्निकृष्टः, जीवभोगत्वात् संसारिभोगवत्।' एवं मुक्तजीवज्ञानादिकमपि पक्षीकृत्य प्रयोक्तव्यम्। (२) 'ईश्वरानन्दो जीवान्दादुत्कृष्टः, तदवश्यतन्नियामकानन्दत्वाद्, यदेवं तदेवम्, यथा सेवकानन्दात्सेव्यमानानन्दः।' (३) ईश्वरो जीवस्वभावानन्दादित उत्कृष्टस्वाभाविकानन्दादिमान्, तत्प्रेप्सुत्वे सति तत्र शक्तत्वाद्, यो यत्प्रेप्सुत्वे सति तत्र शक्तः स तद्वान्, यथा सम्मत इत्याद्यनुमानैश्च विरोधाच्च। न द्वितीयः, त्वन्मतेऽपि जीवान् प्रति शेषिणोऽपि लक्ष्मीतरत्वात् तान् प्रति नियामकाद्विष्वक्सेनादितश्चेतरजीवानां निकृष्टत्वात्। "सैषानन्दस्य मीमांसा भवति। ते ये शतं मानुषानन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्ये"त्यादितैत्तरीयश्रुत्या। "अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः, स एक आजानजदेवानामानन्दः। "यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहत" इत्यादि वाजसनेयश्रुत्या। अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवु"रित्याद्यैतरेयश्रुत्या

नृपाद्याः शतधृत्यन्तामुक्तिगा उत्तरोत्तरम्।
सर्वैर्गुणैः शतगुणा मोदन्त इति हि श्रुतिः॥
मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

इत्यादि स्मृतिभिः "वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवमि"त्यादि सूत्रैरुक्त-

अद्वैतसिद्धिः

तान् प्रति नियामकाद् विष्वक्सेनादितश्चेतरजीवानां निकृष्टत्वात्। 'सैषानन्दस्ये'त्यादितैत्तरीयादिश्रुतिभिः।

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

इत्यादिस्मृतिभिः 'वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवमि'त्यादिसूत्रैरुक्तश्रुतितर्कानुगृहीतैरनुमानैर्विरोधाच्चेति—चेन्न, भेदाभावेन तारतम्यासिद्धेः। यथा च श्रुत्यादेर्न भेदपरत्वं तथा प्रागेव गतम्। यत्तु द्वितीयपक्षमाशंक्य दूषणं, तदकाण्ड-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अद्वैती-सम्मत जीवेश्वर-साम्य का विरोध होता है। अन्तिम (जीवों का परस्पर साम्य) पक्ष भी सम्भव नहीं, क्योंकि जीवों के प्रति प्रधानभूत लक्ष्मी तत्त्व और जीवों के नियामक विष्वक्सेन से इतर जीव निकृष्ट माने जाते हैं। "सैषानन्दस्य··· ते ये शतं मानुषानन्दाः, स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः" (तै० उ० २।८।१) इत्यादि श्रुतियों और।

"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥"

इत्यादि स्मृतिवाक्यों "वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावाद् उभयसामञ्जस्यादेवम्" (ब्र. सू. ३।२।२०) इत्यादि सूत्रों तथा कथित एवं वक्ष्यमाण श्रुतिरूपतर्कों से उपोद्बलित अनुमानों से भी सर्वजीव-साम्य का विरोध होता है।

अद्वैती—मोक्ष अवस्था में न तो ब्रह्म से जीवों का भेद रहता है और न परस्पर, अतः उनका तारतम्य कभी भी सिद्ध नहीं होता। प्रदर्शित श्रुतियों का भेद में तात्पर्य नहीं—यह पहले ही कहा जा चुका है। यह जो द्वितीय (तत्सत्त्वेऽपि साम्यात्) पक्ष में

न्यायामृतम्

वक्ष्यमाणश्रुतितर्कानुगृहीतैः (१) 'अस्मदादिमुक्तभोगः, मुक्तचतुर्मुखभोगान्निकृष्टः, अस्मदादिभोगत्वात् संसारस्थास्मदादिभोगवत् ।' एवमस्मदादिज्ञानादिकं च पक्षीकृत्य प्रयोक्तव्यम् । (२) 'जीवस्वरूपानन्दः परतन्त्रानन्दत्वसाक्षाद्व्याप्यधर्मेण सजातीयानन्दप्रतियोगिकतारतम्यवान् , जीवानन्दत्वात् , तदीयवैषयिकानन्दवत् ।' (३) प्रकृ-

अद्वैतसिद्धिः

ताण्डवम् , भेदसत्त्वे अभेदात्मकपरमसाम्याभावात् तत्सत्त्वे भेदस्यैवाभावात् ।

किं च तारतम्याभिधानं परममुक्तौ ? उत ब्रह्मलोकादिवासरूपापरममुक्तौ वा ? नाद्यः, 'एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेरिति तृतीयान्त्याधिकरणे 'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शना'दित्येतत्सूत्रोक्तज्ञानगतैहिकत्वामुष्मिकत्वरूपविशेषवन्मुक्तावपि तारतम्यमाशङ्क्य निषेधात् । द्वितीये त्विष्टापत्तिः ।

यत्तु—मुक्तजीवभोगः ईश्वरभोगान्निकृष्टः जीवभोगत्वात् संसारिभोगवत् । एवं जीवज्ञानादिकमपि पक्षीकृत्य प्रयोग ऊहनीयः । ईश्वरानन्दः, जीवानन्दादुत्कृष्टः तन्नि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दोषाभिधान है, वह अनवसर-ग्रस्त एवं अत्यन्त असंगत है, क्योंकि किसी प्रकार का भी भेद रहने पर अभेदात्मक परम साम्य नहीं रह सकता और इस साम्य के रहने पर भेद नहीं रह सकता ।

यह भी जिज्ञासा होती है कि तारतम्याभिधान क्या परम मुक्ति में विवक्षित है ? अथवा ब्रह्मलोकादि-प्राप्तिरूप अपर मुक्ति में ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि ब्रह्मसूत्रस्थ तृतीयाध्याय के अन्तिम अधिकरण में मुक्तात्मगत तारतम्य का निषेध किया गया है । [वहाँ पहले यह सन्देह उठाया गया है कि श्रवणादि साधनों का अनुष्ठान करने पर उसका फलभूत ब्रह्म-साक्षात्कार क्या इसी जन्म में होता है? अथवा जन्मान्तर में ? इस सन्देह का निराकरण करते हुए सिद्धान्त किया गया है—"ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्" (ब्र. सू. ३।४।५१) अर्थात् प्रस्तुत साधनों का यदि कोई प्रतिबन्ध न करे, तब तत्त्व-साक्षात्कार इसी जन्म में होता है और किसी प्रतिबन्धक के रहने पर जन्मान्तर में, जैसे वामदेव ऋषि को हुआ था । इसके अनन्तर अन्तिम अधिकरण में शङ्का की गई है कि जैसे तत्त्व-साक्षात्कार में ऐहिकत्व-आमुष्मिकत्वादि विशेषताएँ होती हैं अर्थात् किसी मुमुक्षु को इस जन्म में ही तत्त्व-साक्षात्कार एवं तज्जन्य मोक्ष का लाभ होता है और किसी को जन्मान्तर में, वैसे ही क्या मोक्ष में भी कुछ तारतम्य होता है ? अथवा नहीं ? इस शङ्का का समाधान करते हुए कहा गया है—एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः" (ब्र. सू. ३।४।५२) अर्थात् तत्त्व-साक्षात्कार के समान मुक्ति में किसी प्रकार का अनियम या तारतम्य नहीं होता, क्योंकि सर्वत्र मुक्ति-अवस्था की एकरूपता निश्चित की गई है—"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्" (बृह० उ० ४।५।१५)] । द्वितीय (अपर मुक्ति में तारतम्याभिधान) पक्ष इष्ट ही है, क्योंकि उपासना के तारतम्य से उपासना-जन्य ब्रह्मलोकादि-प्राप्तिरूप अपर मुक्ति में तारतम्य माना ही जाता है ।

यह जो कहा गया है कि (१) 'मुक्तजीवभोगः, ईश्वरभोगाद् निकृष्टः, जीवभोगत्वात् , संसारिभोगवत्', इसी प्रकार जीव के ज्ञानादि को पक्ष बनाकर भी ऐसा ही प्रयोग किया जा सकता है । (२) 'ईश्वरानन्दः, जीवानन्दाद् उत्कृष्टः, तन्नियामकानन्द-

न्यायामृतम्

तबन्धनिवृत्तिः, स्वसजातीयबन्धनिवृत्त्याश्रयप्रतियोगिकतारतम्यवन्निष्ठा, बन्धनिवृत्तित्वात् , निगडबन्धनिवृत्तिवदित्याद्यनुमानैश्च विरोधाच्च । स्वरूपसुखानां प्रत्येकमेकत्वेनाणुत्वेन च संख्यापरिमाणकृतवैषम्याभावेऽपि जलसुधापानसुखयोरिव मधुरमधु-

अद्वैतसिद्धिः

यामकानन्दत्वात् यदेवं तदेवं यथा सेवकानन्दात् सेव्यानन्दः । ईश्वरः, जीवस्वभावानन्दादित उत्कृष्टस्वभावानन्दादिमान् तत्प्रेप्सुत्वे सति तत्र शक्तत्वाद् , यो यत्प्रेप्सुत्वे सति यत्र शक्तः स तद्वान् यथा संमतः इत्यादीनि तारतम्यसाधकानि—इति, तन्न; आद्ये मुक्तस्य ब्रह्मरूपतया उपाधिकृतजीवत्वाभावेनाश्रयासिद्धेः, ईश्वरत्वाभावेन साध्याप्रसिद्धेः, स्वरूपासिद्धेश्च । द्वितीयाद्यनुमाने जीवेश्वरविभागकाले तारतम्यसाधनं चेत्सिद्धसाधनं, तद्भिन्ने काले चेत् , पूर्वदोषानतिवृत्तिः । 'सैषानन्दस्ये'त्यादिश्रुतिभिः मानुषानन्दमारभ्य ब्रह्मानन्दपर्यन्तेषु उत्तरोत्तरशतगुणत्वरूपतारतम्यमुपाधितारतम्येन वदन्तीभिर्निरुपाधिके स्वरूपानन्दे तारतम्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् । एतेन—प्रकृता बन्धनिवृत्तिः, स्वसजातीयबन्धनिवृत्त्याश्रयप्रतियोगिकतारतम्यवन्निष्ठा बन्धनिवृत्तित्वात् निगडबन्धनिवृत्तिवदिति—निरस्तम् , तारतम्यस्य गुणगतजातित्वेन बन्धनिवृत्त्याश्रयात्मनि वक्तुमशक्यत्वात् । अत एव—निवृत्तिगततारतम्यसाधनमपि—अपास्तम् , निवृत्तेर्निरतिशयत्वादानन्दस्य स्वरूपतया उभयवादिसिद्धत्वेन गुणत्वाभावेन तत्रापि तस्य वक्तुमशक्यत्वात् । एतेन—स्वरूपसुखानां प्रत्येकमेकत्वेनाणुत्वेन च संख्यापरिमाणकृतवैषम्याभावेऽपि जलसुधापानजन्यसुखयोरिव मधुरमधुरतरत्वा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

त्वाद् , यदेवं तदेवं यथा सेवकानन्दात् सेव्यानन्दः' । (३) ईश्वरः जीवस्वभावानन्दादित उत्कृष्टस्वभावानन्दादिमान् , तत्प्रेप्सुत्वे सति तत्र शक्तत्वाद् , यो यत्प्रेप्सुत्वे सति यत्र शक्तः, स तद्वान् , यथा सम्मतः'—इत्यादि अनुमान उक्त तारतम्य के साधक हैं ।

वह कहना भी समुचित नहीं, क्योंकि मुक्त आत्मा ब्रह्मरूप है, उसमें जीवत्व और ईश्वरत्वादि औपाधिक धर्म नहीं माने जाते, अतः प्रथम अनुमान आश्रयासिद्धि, साध्याप्रसिद्धि और स्वरूपासिद्धि—इन तीनों दोषों से ग्रस्त है । द्वितीय और तृतीय प्रयोग के द्वारा जीवेश्वर-विभागरूप संसारावस्था में यदि तारतम्य सिद्ध किया जाता है, तब सिद्ध-साधनता दोष है और संसारातीत अवस्था में तारतम्य सिद्ध करने पर पूर्वोक्त आश्रयासिद्धि आदि दोषों से छुटकारा नहीं मिलता, क्योंकि "सैषानन्दस्य मीमांसा भवति···स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषानन्दाः, स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः" (तै. उ. २।८।१) इस श्रुति के द्वारा जो यह कहा गया है कि सौ मानुष आनन्दों के समान मनुष्य-गन्धर्वों का एक आनन्द, मनुष्य गन्धर्वों के ऐसे सौ आनन्दों के बराबर देव-गन्धर्वों का एक आनन्द होता है—इस प्रकार उत्तरोत्तर आनन्द-तारतम्य का प्रतिपादन किया गया है, वह उपाधि के तारतम्य को लेकर सोपाधिक आनन्द में ही है, सर्वथा निरुपाधिक संसारातीत स्वरूपानन्द में सम्भव नहीं ।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि प्रत्येक जीव के स्वरूपभूत सुख में एकत्व संख्या और अणुत्व परिमाण समानरूप से रहते हैं, अतः संख्या और परिमाण के द्वारा सभी स्वरूप सुखों में तारतम्य न होने पर भी जैसे इक्षु-क्षीरादि के रसों में माधुर्य-तारतम्य के समान जल-पान-जन्य एवं अमृत-पान-जन्य सुखों में सुख-तारतम्य अनुभूत

न्यायामृतम्

रतरत्वादिवत्स्वरूपकृतवैषम्यं युक्तम् ।

प्रसिद्धं च सालोक्यादिमुक्तितः सायुज्यादेरुत्कृष्टत्वम् । न च सायुज्यमैक्यम्, सारूप्यादिमति सालोक्यादिवत्सायुज्यवत्यपि सारूप्यादेः सत्त्वात् । "चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोती"त्यादिश्रुतौ "सायुज्यं चेदिभूजुज" इत्यादि स्मृतौ च भेदे सत्यपि सायुज्योक्तेश्च । "सयुजः परमात्मानं प्रविश्य च बहिर्गता" इत्यादि स्मृतौ सयुजां प्रवेशमात्रोक्तेश्च । सयुजोर्भावः सायुज्यमिति तच्छब्देन सम्बन्धस्यैवोक्तेश्च । "सालोक्यमथ सामीप्यं सारूप्यं योग एव चे"ति स्मृतौ सायुज्ये सम्बन्धार्थयोगपद-

अद्वैतसिद्धिः

दिवच्च स्वरूपकृतवैषम्यं मुक्ताविति—निरस्तम्, वैषयिकसुखे साधनतारतम्यप्रयुक्ततारतम्येऽपि स्वरूपानन्दे तदभावाच्च ।

न च सालोक्यादिमुक्तिः सायुज्यादिमुक्तितोऽपकृष्टेति प्रसिद्धिविरोधः, परापरमुक्तिरूपतया तदुपपत्तेः । सायुज्यादिमुक्तावुत्कृष्टत्वव्यपदेशोऽपकृष्टत्वाभावमात्रेण । ननु—सायुज्यं नैक्यम् । 'चन्द्रमसः सायुज्यँ सलोकतामाप्नोती'त्यादिश्रुत्या सत्यपि भेदे सायुज्योक्तेः, 'सयुजः परमात्मानं प्रविश्य च बहिर्गताः ।' इत्यादौ सयुजां प्रवेशमात्रोक्तेश्च, सयुजो भावः सायुज्यमिति युजशब्देन संबन्धस्यैवोक्तेः 'सालोक्यमपि सामीप्यं सारूप्यं योग एव च ॥' इति स्मृतौ सायुज्ये संबन्धवाचकयोगशब्दप्रयोगाच्च,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होता है, वैसे ही स्वरूपभूत सुखों में भी नैसर्गिक तारतम्य मानना होगा ।

वह कहना अत एव निरस्त हो जाता है कि जलादि विषय-जन्य सुख में विषयगत तारतम्य के कारण वैषम्य होता है, किन्तु स्वरूपभूत सुख में किसी प्रकार का भी तारतम्य सम्भव नहीं ।

शङ्का—"सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत" (श्रीमद्भा० ३।२९।१३) इत्यादि स्मृतिग्रन्थों में निर्दिष्ट 'सालोक्य (भगवान् के नित्य धाम में निवास), सार्ष्टि (भगवान् के ऐश्वर्य से सम्पन्न होना), सामीप्य (भगवान् की सन्निधि का लाभ) तथा एकत्वावाप्ति या सायुज्यादि मुक्तियों में सायुज्य की सालोक्यादि से उत्कृष्टता प्रसिद्ध है, इस प्रसिद्धि का मुक्ति में तारतम्य न मानने पर विरोध होता है ।

समाधान—सायुज्य विदेह कैवल्य या परम मुक्ति तथा सालोक्यादि मुक्तियाँ अपर मुक्ति के भेद हैं, अतः उनमें भेद-प्रसिद्धि का सामञ्जस्य हो जाता है । परम मुक्ति के सायुज्यादि भेदों में किसी प्रकार का तारतम्य न होने पर भी अपकृष्टत्वाभावनिबन्धन उत्कृष्टत्व का व्यवहार हो जाता है ।

शङ्का—सायुज्य का अर्थ जीव और ब्रह्म की एकत्वावाप्ति नहीं, क्योंकि "चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोति" (म० नारा० २५।१) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा आत्मा से भिन्न चन्द्रमादि का सायुज्य कहा गया है, जो कि अभेदात्मक नहीं हो सकता । इतना ही नहीं "सयुजः परमात्मानं प्रविश्य च बहिर्गताः"—इत्यादि वाक्यों के द्वारा कहा गया है कि सयुजसंज्ञक जीव ब्रह्म में प्रविष्ट होकर बाहर निकल आते हैं, अतः 'युज' शब्द के द्वारा सम्बन्ध मात्र का अभिधान तर्कसंगत प्रतीत होता है । "सालोक्यमपि सामीप्यं सारूप्यं योग एव च"—इत्यादि स्मृति ग्रंथों में सायुज्य के अर्थ में ही सम्बन्ध-वाचक 'योग' शब्द का प्रयोग भी किया गया है । फलतः क्षीर और नीर अथवा

न्यायामृतम्

प्रयोगाच्च । तस्मात्सायुज्यं नाम क्षीरनीरवदन्यदेहप्रविष्टग्रहदेवतादिवच्च संश्लेषमात्रम् , न त्वैक्यम् ।

हरौ नियतचित्तत्वाद् ग्रहवत्तत्प्रवेशनात् ।
मोक्षं तादात्म्यमित्याहुर्न तु तद्रूपतः क्वचित् ॥

इति स्मृतेः । न चोक्ततारतम्यश्रुतिरमुक्तविषया, प्रकृते मनुष्यगन्धर्वादावप्रकृतेऽन्यस्मिन्वा संसारिणि तैत्तरीयोक्तस्याकामहतत्वस्य वाजसनेयोक्तयोरवृजिनत्वाका-

अद्वैतसिद्धिः

तस्मात्सायुज्यं नाम क्षीरनीरवद् अन्यदेहाविष्टग्रहदेवतादिवच्च संश्लेषमात्रं, न त्वैक्यमिति - चेत् , न, व्यापकेनेश्वरेण संश्लेषस्य नित्यसिद्धत्वेनापुमर्थत्वात् । न चैतल्लोकस्थितस्य जीवस्य लोकान्तरस्थितालोकिकशरीरावच्छिन्नेनेश्वरेण संश्लेषः साध्यः, 'अत्र ब्रह्म समश्नुत' इति श्रुतेः । उत्क्रमणगमनादिसाध्यब्रह्मलोकावाप्तिवदुपाध्यवच्छिन्नजीवस्यानवच्छिन्नब्रह्माभेदरूपपरममुक्तेः पारलौकिकफलत्वाभावाद् 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यादो अवाप्तेर्ब्रह्मरूपत्ववत् सायुज्यस्यापि तद्रूपताया अङ्गीकरणीयत्वाच्च 'चन्द्रमसः सायुज्यमि'त्यादो एकोपाध्यवच्छिन्नस्योपाध्यन्तरावच्छिन्नेन ऐक्यानुपपत्तिवदत्रानुपपत्तेरभावात् प्रसिद्धार्थस्वीकारे बाधकस्योक्तत्वाच्च सायुज्यशब्दस्तावद्विभक्तत्वाभावाभिप्रायकः ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अन्य शरीर में प्रविशिष्ट प्रेत एवं देवादि के समान संश्लेषमात्र ही सायुज्य सिद्ध होता है, ऐक्यावाप्ति नहीं ।

समाधान—संश्लेष मात्र को 'सायुज्य' शब्द से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीव के साथ व्यापकीभूत ईश्वर का संश्लेष तो नित्य सिद्ध है, पुरुषार्थ (पुरुष-कृति-साध्य) नहीं कहा जा सकता । 'लौकिक जीव का अलौकिक (लोकोत्तर शरीर-संपन्न) ईश्वर के साथ संश्लेष नित्य सिद्ध न होने के कारण कृति-साध्य है'—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि "अत्र ब्रह्म समश्नुते" (कठ० ६।१४) यह श्रुति कहती है कि इसी लोक में तत्त्वज्ञानी को ब्रह्म का सायुज्य प्राप्त होता है । जैसे इस लोक से उत्क्रमण और गमन के द्वारा उपासक की ब्रह्म लोक-प्राप्ति को पारलौकिक फल माना जाता है, वैसे अन्तःकरणादिरूप उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य (जीव) को अनवच्छिन्न चैतन्य (ब्रह्म) की प्राप्तिरूप परम मुक्ति को पारलौकिक फल नहीं माना जाता, अपितु ऐहलौकिक ही माना जाता है, अतः "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० उ० २।१।१) इस श्रुति में कथित 'आप्ति' ब्रह्मरूपतावाप्ति होती है, वैसे ही सायुज्य भी ब्रह्मभावापत्ति ही है, अत एव स्मृतिकारों ने सायुज्य के लिए 'एकत्व' पद का भी प्रयोग किया है—"सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत" (श्रीमद्भा० ३।२९।१३)। "चन्द्रमसः सायुज्यम्"—इत्यादि स्थलों पर विभिन्न उपाधियों से विशिष्ट दो (जीव और चन्द्रमा) चैतन्यों की अखण्डैकरूपता सम्भव नहीं, अतः वहाँ सायुज्य का अर्थ संश्लेष हो सकता है, किन्तु प्रकृत जीव और ब्रह्म में अभेदानुपपत्ति नहीं, अतः यहाँ अभेद का ही वाचक 'सायुज्य' शब्द होता है। सायुज्य में प्रसिद्ध उत्कृष्टत्वादि का साम्याभिधान के द्वारा बाध सूचित किया जा चुका है, अतः ब्रह्म-सायुज्यादि में 'सायुज्य' शब्द का भेदाभाव में ही तात्पर्य है ।

न्यायामृतम्

महतत्त्वयोश्चायोगात् । अकामहतत्वं हि कामकृतोपद्रवाभावः, न त्वकामत्वम्, हतशब्दवैयर्थ्यात् । स च सत्यकामस्य मुक्तस्यैव, "सोऽश्नुते सर्वान्कामान्" "कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधी"त्यादिश्रुतेः । "स हि मुक्तोऽकामहत" इति ब्रह्माण्डोक्तेश्च । अवृजिनत्वमप्यदुःखत्वमपापत्वं वा, उभयमपि मुक्तस्यैव, अपरोक्षज्ञानिन्यपि प्रारब्धपापतत्कार्यदुःखयोः सत्त्वात् । न चाबाधे मुख्यार्थस्त्यागार्हः ।श्रोत्रियत्वं च मुक्तस्यैव मुख्यम् ।

प्राप्तश्रुतिफलत्वात्तु श्रोत्रियाः प्राप्तमोक्षिणः ।
त एव चाप्तकामत्वात्तथाऽकामहता मताः ॥

इति भारतोक्तेः ।

किं च प्रकृतमनुष्यगन्धर्वादिपरत्वे "श्रोत्रियस्य चे"त्यत्र "यश्च श्रोत्रिय" इत्यत्र चैकवचनं समुच्चयार्थश्चशब्दश्चायुक्तः । न हि सम्भवति वसिष्ठो ब्रह्मिष्ठोऽरुन्धतीपतिश्च तथेति । अप्रकृतसंसारिपरत्वे तु बाधः, चतुर्मुखाद्यानन्दस्यान्यस्मिन्संसारिण्यदर्शनात् । अपि च प्रकृतश्रोत्रियः सर्वत्राप्येकश्चेन्मानुषादिभ्यः सावधारणं शतगु-

अद्वैतसिद्धिः

यच्च—उत्तरोत्तरं शतगुणानन्दप्रकाशकवाक्येषु प्रतिवाक्यं मुक्तावकामहतशब्दप्रयोगात् मानुषानन्दवद् अकामहतमुक्तानन्देऽपि तारतम्यम्—इति, तन्न, 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तो'ति सर्वेषां लौकिकानन्दानां परमानन्दान्तर्भावाभिधानोपपत्तेः, न तु तस्य तस्याकामहतस्य तावानेवानन्द इति, येन तत्रापि तारतम्यं कल्प्येत । तथा च 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्' 'कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधो' त्यादिश्रुतेः 'स हि मुक्तोऽकामहत' इत्यादिब्रह्माण्डोक्तेश्च न विरोधः । ननु—एकस्यैव श्रोत्रियस्य सर्वत्र परामर्शे मानुषानन्दादिभ्यः सावधारणशतगुणित-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यह जो कहा गया है कि मनुष्यानन्द की अपेक्षा उत्तरोत्तर शतगुणानन्द-प्रकाशक महावाक्य के घटकीभूत प्रत्येक वाक्य में मुक्तात्मा के लिए 'अकामहत' शब्द का प्रयोग किया गया है, अतः मानुषादि आनन्दों में जैसे तारतम्य होता है, वैसे ही अकामहत (निष्काम) मुक्त पुरुषों के आनन्द में भी तारतम्य सिद्ध होता है ।

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृह० उ० ४।३।३२) इस श्रुति के द्वारा सभी लौकिक (वैषयिक) आनन्द पदार्थों में एक ही परमानन्द की मात्रा या (अंशरूपता) का प्रतिपादन किया गया है, अतः अमुक्त पुरुषों के आनन्द की अपेक्षा मुक्त पुरुष के आनन्द में शतगुणत्व का अभिधान भी उपपन्न हो जाता है । सभी मुक्त पुरुषों का आनन्द एक प्रकार का ही होता है, पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर वस्तुतः शतगुणित नहीं होता जाता कि उसमें तारतम्य की कल्पना हो जाती, अत एव 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्' (तै० उ० २।१।१) तथा "कामस्य यत्राप्ताः कामाः तत्र माममृतं कृधि" (ऋ० सं० ९।११३।११) इत्यादि श्रुतियों एवं "स हि मुक्तोऽकामहतः"—इस ब्रह्माण्डपुराण की उक्ति से कोई विरोध नहीं आता, क्योंकि मुक्त पुरुष का आनन्द सभी कामों (सुखों) का काम (सुख) है, मुमुक्षु पुरुष उसे ही प्राप्त करने की कामना किया करते हैं ।

शङ्का—"स एको मानुषानन्दः ते ये शतं मानुषा आनन्दाः, स एको मनुष्यगन्ध-

न्यायामृतम्

णितमनुष्यगन्धर्वाद्यनेकानन्दा एकस्मिन् विरुद्धाः। भिन्नश्चेदकामहतत्वादेरेकरूपतया श्रुतस्याव्यवस्थापकत्वादानन्दव्यवस्थाऽयोगः। अथ व्यवस्थार्थं तत्र तत्र तत्तत्पदाकामः तदितरपदकामश्च विवक्ष्यते, तदाऽश्रुतकल्पना बाधश्च, न हीन्द्रादिपदे राजपदे वा निष्कामस्य भिक्षुकस्येन्द्राद्यानन्दानुभवोऽस्ति। उक्तं हि—

कुत्रचित्कामिनः पुंसः कामाभावात् क्वचित्क्वचित्।
इन्द्रादिसुखभोगोऽस्तीत्यनुभूतिर्हि　　कुप्यति॥ इति

न चाबाधे वैराग्यप्रशंसामात्रपरत्वं युक्तम्। तस्माच्छ्रुत्या पूर्ववाक्येनामुक्तानां तारतम्यमुक्त्वा "श्रोत्रियस्य चे"त्यादिना "यश्च श्रोत्रिय" इत्यादिना चोत्तरवाक्येन

अद्वैतसिद्धिः

मनुष्यगन्धर्वाद्यनेकानन्दा एकस्मिन् विरुद्धाः, भिन्नाश्चेदकामहतत्वादेरेकरूपतया श्रुतस्याव्यवस्थापकत्वादानन्दव्यवस्थाऽयोगः। अथ व्यवस्थार्थं एतत्पदाकाम एतदितरपदकामश्च लक्ष्यते, तदाऽश्रुतकल्पना बाधश्च। नहीन्द्रादिपदे वा राजपदे वा निष्कामस्य भिक्षुकस्य इन्द्राद्यानन्दानुभवोऽस्ति, तस्माच्छ्रुत्या पूर्ववाक्येनामुक्तानां तारतम्यमुक्त्वा, 'श्रोत्रियस्य चे'त्यादिना 'यश्च श्रोत्रिय'इत्यादिना चोत्तरवाक्येन मुक्तस्य तदुच्यत इति—चेन्न, सर्वेषु वाक्येषु अकामहतस्य मुक्तस्यैकत्वेऽपि तदानन्दे सर्वानन्दा-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

र्णामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" (तै० उ० २।८।१) इस श्रुति के द्वारा निर्दिष्ट (१) मनुष्य, (२) मनुष्य-गन्धर्व, (३) देव-गन्धर्व, (४) पितृगण, (५) चिरलोकलोक पितृगण, (६) आजानज देव, (७) कर्म-देव, (८) देव, (९) इन्द्र, (१०) बृहस्पति तथा (११) प्रजापति के ग्यारह आनन्द-पर्यायों में दस वार 'श्रोत्रिय' पद से मुक्त पुरुष का परामर्श किया गया है। वहाँ जिज्ञासा होती है कि क्या एक ही मुक्त पुरुष का सर्वत्र परामर्श किया गया है? अथवा दस भिन्न-भिन्न मुक्त पुरुषों का ग्रहण किया गया है? यदि एक ही श्रोत्रिय का सर्वत्र परामर्श किया जाता है, तब 'मनुष्यगन्धर्वश्रोत्रिये मानुषानन्दशतगुणित एवानन्दो न तु मनुष्यगन्धर्वानन्दः'—इस प्रकार का आर्थिक अवधारण सम्भव न हो सकेगा, क्योंकि मनुष्य-गन्धर्व और देवगन्धर्वादि में जो श्रोत्रिय है, वह एक ही है एवं एक ही श्रोत्रिय में मनुष्य-गन्धर्वादि के अनेक विषय आनन्द-क्योंकर रह सकेंगे? यदि श्रोत्रिय व्यक्ति भिन्न-भिन्न है, तब अकामहतत्वादि विशेषण एकरूप होने के कारण उनके भेद का व्यवस्थापक नहीं हो सकता। प्रथम अकामहत की मनुष्यपद-कामना-रहित मनुष्य-गन्धर्वपद-कामना-युक्त श्रोत्रिय में लक्षणा करने पर अश्रुत-कल्पना और बाध होगा, क्योंकि इन्द्रादि या राजादि के पद की कामना से रहित विरक्त महात्मा को इन्द्रादि के आनन्द का कभी अनुभव नहीं हो सकता। इस लिए उक्त श्रुति के पूर्व वाक्य (स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः) से मनुष्यगन्धर्वादि अमुक्त पुरुषों के आनन्द का तारतम्य दिखा कर द्वितीय (श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य) वाक्य एवं "यश्च श्रोत्रिय"—इत्यादि उत्तर वाक्य से मुक्त पुरुष के आनन्द का तारतम्य प्रदर्शित किया जाना ही उचिततम है।

समाधान—सर्वत्र अकामहत मुक्त पुरुष एक होने पर भी उसके परमानन्द में सभी आनन्दों का अन्तर्भाव हो जाने के कारण सभी आनन्दों के सम्बन्धी का निर्देश

न्यायामृतम्

मुक्तस्य तदुच्यते। "अक्षण्वन्त" इति श्रुतिस्तु तत्प्रकरणे "ऋचां त्वः पोषमास्त" इत्यादिना ब्रह्मबहुत्वोक्तेर्मुक्तविषया ।

अपि च मुक्तसुखं परस्परं तारतम्यवत्, परस्परं तारतम्यवत्साधनसाध्यत्वात्, सम्मतवत्।' न चासिद्धिः मुक्तिः प्रयागमरणभगवद्द्वेषभक्त्यादिना ज्ञानकर्मसमुच्चयेन वा साध्येतिमते प्रयागमरणादीनां वर्णाश्रमकर्मणां च विषमत्वात्। ज्ञानैकसाध्येतिसिद्धान्तेऽपि "कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति। 'सर्वे गुणा ब्रह्मणैव ह्युपास्या नान्यैर्देवैः किमु सर्वैर्मनुष्यै"रित्यादिश्रुत्या "ब्रह्मापि यं वेद न चैव

अद्वैतसिद्धिः

नामन्तर्भावात् स एव तस्मिन् तस्मिन्नानन्दे वक्तव्ये परामृश्यते, तत्तदिन्द्रादिसाम्येन तस्य सर्वत्राभिधानोपपत्तेः 'अधिकं प्रविष्टं न तु तद्धानि'रिति न्यायात्। साम्ये हि तत्सजातीयधर्मवत्त्वं तन्त्रम्, न तु तदितरधर्मानधिकरणत्वमपि, गौरवात्।

यच्च—मुक्तसुखं परस्परतारतम्यवत् परस्परतारतम्यवत्साधनकत्वात् संमतवदिति, तन्न, असिद्धेः। ननु—मुक्तिः प्रयागमरणभगवद्द्वेषादिसाध्येति मते ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्येति मते च प्रयागमरणादीनां वर्णाश्रमकर्मणां च विषमत्वात् नासिद्धिः। ज्ञानैकसाध्येति मतेऽपि 'कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति' 'सर्वे गुणा ब्रह्मणैव ह्युपास्या नान्यैर्देवैः किमु सर्वैर्मनुष्यै'रित्यादिश्रुत्या 'ब्रह्मादि तद्वेद न चैव सम्यगन्ये

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

एक ही श्रोत्रिय पद से किया गया है। सभी इन्द्रादि पदों का साम्य भी मुक्त पद में आ जाने के कारण मुक्त को देव, इन्द्र और प्रजापति सब कुछ कहा जा सकता है। इन्द्रादि की समता अधिक होने पर भी देव पद को साम्य-प्रदर्शन अनुचित नहीं अधिक (व्याप्यविशेष) धर्म के आजाने पर भी व्यापक धर्म की निवृत्ति नहीं होती, जैसे ब्राह्मण परिव्राजक वन जाने पर अब्राह्मण नहीं होता, वैसे देव के इन्द्र बन जाने पर भी उसमें देवरूपता या देव-साम्य रहता है, क्योंकि देव-साम्य के लिए देवसजातीयधर्मवत्तामात्र की अपेक्षा होती है, इन्द्रादिसजातीयधर्मराहित्य की अपेक्षा नहीं, अन्यथा गौरव होगा।

यह जो सुख-तारतम्य-साधक अनुमान प्रयोग किया गया है—'मुक्तानां सुखं परस्परं तारतम्यवत्, परस्परतारतम्यवत्साधनसाध्यत्वात्, सम्मतवत्।' उसमें स्वरूपासिद्धि है, क्योंकि प्रथमतः वह सुख साध्य (जन्य) नहीं और तारतम्यरहित एक ब्रह्म-ज्ञान से अभिव्यङ्ग्य होता है, तारतम्यविशिष्ट साधन से साध्य नहीं होता।

शङ्का—जो लोग प्रयाग-मरण, भगवद्विद्वेषादि (श्रीमद्भा० १०।२९।१३) साधनों के द्वारा मुक्ति की सिद्धि और जो लोग ज्ञान और कर्म के समुच्चय से मुक्ति की निष्पत्ति मानते हैं, उनके मतानुसार प्रयाग-मरण, वर्णाश्रमादि-कर्मरूप विषम साधनों की साध्यता रहने के कारण मुक्ति में तारतम्यवत्साधनकत्वरूप हेतु सम्पन्न हो जाता है, अतः स्वरूपासिद्धि नहीं होती। जो लोग मुक्ति में ज्ञानमात्र-साध्यत्व मानते हैं, उनके मत में भी मुक्ति तारतम्य-युक्त साधनों से ही साध्य होती है, क्योंकि नचिकेता से यमराज कहते हैं कि मुझको छोड़ कर और कोई भी व्यक्ति उस मद-अमदादि विरोधिभावों से युक्त देव (ब्रह्म) को नहीं जान सकता—"कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति" (कठो० २।२१)। "सर्वे गुणा ब्रह्मणैव ह्युपास्या नान्यैर्देवैः, किमु सर्वैर्मनुष्यैः"—यह श्रुति तथा "ब्रह्मादि तद्वेद न चैव सम्यगन्ये कुतो देवमुनीन्द्रवर्याः"—इत्यादि स्मृति ग्रन्थ भी यही

न्यायामृतम्

सम्यगन्ये कुतो देवमुनीन्द्रमर्त्याः" इत्यादिस्मृत्या देवर्षिमनुष्यादिस्थमुक्तिहेतुब्रह्मज्ञानगतस्य बहुबहुतरशाखाश्रवणादिसाध्यत्वस्य बहुबहुतरब्रह्मगुणविषयकत्वं विनाऽयोगेनार्थापत्त्या च तत्सिद्धेः। चरमदेहोऽपि हि मर्त्यादिरेव।

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्।
स वै भृत्यः स वै स्वामी गुणलुब्धौ न कामुकौ॥
मुमुक्षोरमुमुक्षुस्तु वरो ह्येकान्तभक्तिमान्।

अद्वैतसिद्धिः

कुतो देवमुनीन्द्रमर्त्याः।' इत्यादिस्मृतिभिः देवादिमनुष्यादिस्थमुक्तिहेतुब्रह्मज्ञानगतस्य बहुबहुतरशाखाश्रवणसाध्यत्वस्य बहुबहुतरगुणविषयत्वं विनाऽयोगेनार्थापत्त्या च तत्सिद्धिरिति—चेन्न, केवलकर्मपक्षे समुच्चयपक्षे वा कर्मसाध्यत्वेन मुक्तेरनित्यत्वापत्तेः, 'नान्यः पन्थाः' इत्यादिश्रुतिविरोधाच्च, तृतीयपक्षे तूदाहृतश्रुतीनां ब्रह्मविद्यादुर्लभत्वप्रतिपादनपरत्वेन तदुक्तसाधनसाध्यत्वाप्रतिपादकत्वात्। न चार्थापत्त्या तत्सिद्धिः, ब्रह्मसाक्षात्कारस्य निर्गुणविषयतया गुणविषयत्वायोगात्। यत्तु—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्।
स वै भृत्यः स वै स्वामी गुणलुब्धौ न कामुकौ॥
मुमुक्षोरमुमुक्षुस्तु वरश्चैकान्तभक्तिमान्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कहते हैं कि ब्रह्मा ही अनन्तगुण-सम्पन्न भगवान् के सभी गुणों का अनुचिन्तन कर सकता है, ब्रह्मादि देवगण भी उस ब्रह्म तत्त्व को भली प्रकार न जान सके, अन्य देवताओं और मनुष्यों की तो बात ही क्या? अतः देवों से लेकर मनुष्यों तक अभिलष्यमाण मुक्ति का हेतुभूत ब्रह्मज्ञान विभिन्न शाखाओं के श्रवणादि साधनों से तब तक सिद्ध नहीं हो सकता, जब तक श्रवणादि सर्वशाखोपसंहृत ब्रह्मगत विविध गुणों (जगत्कारणत्वादि धर्मों) को विषय न करें—इस प्रकार अर्थापत्ति के आधर पर मुक्ति में तारतम्यवत्साधनसाध्यत्व सिद्ध हो जाता है।

समाधान—केवल कर्म या ज्ञान और कर्म के समुच्चय से मुक्ति की उत्पत्ति मानने पर मुक्ति में अनित्यत्वापत्ति है और "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वेता० ३।८) इत्यादि मुक्ति में ज्ञान-भिन्न कर्मादि साधनों का निषेध करनेवाली श्रुतियों से विरोध भी होता है। यह जो कहा गया है कि तृतीय उक्ति (ज्ञानैकसाध्यत्व) के पक्ष में "कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति"—इत्यादि श्रौत स्मार्त वचन देव, मनुष्यादि की विविध साधन-साध्य मुक्ति के प्रतिपादक हैं, वह उचित नहीं, क्योंकि उक्त वचन मुक्ति में विविध साधन-साध्यता के प्रतिपादक नहीं, अपितु मुक्ति के साधनीभूत ब्रह्म-ज्ञान की दुर्लभता को सूचित करते हैं। यह जो कहा कि अर्थापत्ति के आधार पर मुक्ति में विविध गुणविषयक ज्ञान की साध्यता सिद्ध होती है, वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि मोक्ष का साधनीभूत ब्रह्म-साक्षात्कार निर्गुणविषयक होता है, गुणविषयक नहीं।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि—

यस्ते आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्।
स वै भृत्यः स वै स्वामी गुणलुब्धौ न कामुकौ॥

न्यायामृतम्

इत्यादिस्मृत्या मुमुक्षुभक्तादमुमुक्षोर्निरुपाधिकभक्तस्याधिक्योक्तेश्च । तत्राधिक्यस्य लोकरीतिसिद्धत्वाच्च । "भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी"त्यादिस्मृत्याऽल्पभक्तिसाध्यमुक्तितोऽधिकमुक्तिहेतुभक्तेराधिक्योक्तेश्च ।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

इत्यत्रापिशब्देन, "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् । किं पुनर्ब्राह्मणाः

अद्वैतसिद्धिः

इत्यादिस्मृत्या मुमुक्षुभक्तापेक्षया अमुमुक्षोर्भक्तस्याधिक्योक्तेः, तदाधिक्यस्य लोकरीतिसिद्धत्वाच्च 'भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी'तिस्मृत्या अल्पभक्तिसाध्यमुक्त्यपेक्षया अधिकमुक्तिहेतुभक्तेरपि आधिक्यस्योक्तेश्च—इति, तन्न, 'यस्त आशिषः' इत्यादिना फलमनिच्छतो गुणलोभेन या भक्तिस्तस्यास्तु गरीयस्त्वं यत् प्रतिपादितं, तत्तत्त्वसाक्षात्कारे त्वरासम्पादकं न तु मुक्तितारतम्याक्षेपकम् । 'भक्तिः सिद्धे'रित्यादिना प्रतिपादितं गरीयस्त्वमपि तज्जनकत्वमात्रेण पुत्रात्पितुरिव । यत्तु—

अन्ये त्वेवमजानन्तः 'श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥' इत्यत्रापिशब्देन,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

[भगवन् ! आप से जो विविध फलों की याचना किया करता है, वह सच्चा भक्त नहीं, बनिया है । सच्चे सेवक और सच्चे स्वामी वे ही होते हैं, जो एक-दूसरे के गुणों पर मुग्ध हों, कामुक (लिप्सु) नहीं । मुमुक्षु से तो वह अमुमुक्षु ही श्रेष्ठ है, जो अहैतुक (निर्लिप्सु) भक्त है] इत्यादि स्मृति-वचनों के द्वारा मुमुक्षु (मोक्ष-कामनावान्) भक्त की अपेक्षा निष्काम भक्त को श्रेष्ठ कहा गया है, जैसा कि लोक में प्रसिद्ध है । 'भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी' (श्रीमद्भा० ३।२५।३३)—इस स्मृति-वाक्य के द्वारा स्वल्प भक्ति से साध्य मुक्ति की अपेक्षा अधिक मुक्ति की हेतु भूत भक्ति में आधिक्य बताया गया है, फलतः मुक्ति और उसके साधन में तारतम्य सिद्ध हो जाता है, अतः मुक्ति में तारतम्यवत्साधन-साध्यत्वरूप हेतु असिद्ध नहीं, सिद्ध ही है ।

न्यायामृतकार का वह कहना अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि "यस्त आशिषः"—इत्यादि वचनों के द्वारा फल-कामना-रहित या गुण के लोभ से सम्पादित भक्ति तत्त्व की गुरुता या श्रेष्ठता का प्रतिपादन तत्त्व-साक्षात्कार में शीघ्र प्रवृत्त करने के लिए किया गया है, मुक्ति में तारतम्य का आक्षेपक नहीं । यह जो कहा गया है कि "भक्तिः सिद्धेः गरीयसी" अर्थात् भक्ति ज्ञान से भी श्रेष्ठ है, वह कहना वैसा ही है, जैसे राम से कौशल्या को श्रेष्ठ कह दिया जाता है, भक्ति ज्ञान की जनक है, अतः उसका पद ज्ञान से अधिक माना गया है, कार्य-करण-क्षमता की अपेक्षा से नहीं ।

न्यायामृतकार ने यह जो कहा है कि—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ (गी० १३।२५)

[जो व्यक्ति स्वय तत्त्व-ज्ञान में असमर्थ होकर अन्य तत्त्ववेत्ता पुरुषों से सुनकर मेरी (भगवान् की) उपासना करते हैं, ऐसे श्रवण-परायण व्यक्ति भी मृत्यु को जीत लेते हैं] इस स्मृति में 'अपि' शब्द और—

न्यायामृतम्

पुण्या" इत्यत्र कैमुत्येन साधनतारतम्येन साध्ये तत्प्रतीतेश्च ।

साधनस्योत्तमत्वेन साध्यं चोत्तममाप्नुयुः ।
ब्रह्मादयः क्रमेणैव यथानन्दश्रुतौ श्रुताः ।। इति ब्राह्मे,

अद्वैतसिद्धिः

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।।'

इत्यत्र कैमुत्येन च साधनतारतम्येन साध्ये तत्प्रतीतिः इति, तन्न, न हि तरणेऽपीत्यस्यान्वयः, किंतु अधिकारिणि । तथा च विलम्बिततरणरूपफलसम्बन्धमात्रपर्यवसानात् कैमुत्यस्यापि त्वराफललाभमात्रेणोपपत्तेः साधनमात्रतारतम्यस्य फलतारतम्याप्रयोजकत्वाच्च । न हि दण्डतारतम्येन घटतारतम्यं क्वचिदपि दृश्यते । यत्तु—

साधनस्योत्तमत्वेन साध्यमुत्तममाप्नुयुः ।
ब्रह्मादयः क्रमेणैव यथानन्दश्रुतौ श्रुताः ।।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।। (गी० ९।३२)

[जब स्त्री, वैश्य और शूद्र जन भी मेरी (भगवान् की) भक्ति के द्वारा परम गति पा लेते हैं, तब पुण्यजन्मा ब्राह्मण, राज-ऋषि और भक्तगणों की बात ही क्या ?] यहाँ कैमुतिकन्याय से कथित साधनगत तारतम्य के द्वारा ही साध्यभूत मुक्ति में तारतम्य प्रतीत होता है । [जैसे 'श्यामोकादयोऽप्यन्नम्'—यहाँ 'अपि' शब्द के प्रभाव से सावां नाम के अन्न में उत्कृष्ट अन्नत्व का लाभ न होकर कदन्नत्व (अपकृष्ट अन्नत्व) का लाभ होता है, वैसे ही 'तेऽपि तरन्त्येव'—इस वाक्य में 'अपि' पद के प्रभाव से मन्द अधिकारियों को अपकृष्ट तरण (मोक्ष) की प्राप्ति अवगत होती है । 'यदा अपुण्याः स्त्र्यादयोऽपि परां गतिं यान्ति, तदा किमुत वक्तव्यम्—पुण्याः ब्राह्मणादयः परां गतिं यान्तीति'—यहाँ 'किमुत' शब्द के प्रभाव से स्त्र्यादि की अपेक्षा ब्राह्मणादि को उत्कृष्ट गति की प्राप्ति ध्वनित होती है] ।

वह कहना भी असंगत है, क्योंकि प्रथम वाक्य में 'अपि' शब्द का अव्यवहित पूर्वोपात्त अधिकारी वाचक 'ते' पद के साथ अन्वय होने के कारण अधिकारी में अपकर्ष का लाभ होता है कि स्त्र्यादि मन्द अधिकारी भी भक्ति के द्वारा मुक्त हो जाते हैं अर्थात् उन्हें कुछ विलम्ब से मुक्ति का लाभ होता है । इसी प्रकार द्वितीय प्रयोग में 'किमुत' शब्द के प्रभाव से ब्राह्मणादि उत्तम अधिकारियों को शीघ्र फल की प्राप्ति सूचित होती है, मुक्तिरूप फल में किसी प्रकार का तारतम्य अवगत नहीं होता । यदि उक्त स्थलों पर मन्द और उत्तम अधिकारियों के साधनों में तारतम्य का लाभ भी मान लिया जाय, तब भी साधनों का तारतम्य साध्यगत तारतम्य का प्रयोजक नहीं होता, क्योंकि दण्डादि के छोटा-बड़ा होने पर घटादि में वैषम्य नहीं देखा जाता ।

यह जो कहा गया है कि साधन के तारतम्य से साध्य में तारतम्य होता है, जैसा कि ब्राह्मपुराण में कहा गया है—

साधनस्योत्तमत्वेन साध्यमुत्तममाप्नुयुः ।
ब्रह्मादयः क्रमेणैव यथानन्दश्रुतौ श्रुताः ।।

न्यायामृतम्

"अधिकं तव विज्ञानमधिका च गतिस्तवे"ति मोक्षधर्मे च साधनतारतम्येन साध्ये तदुक्तेश्च ।

अद्वैतसिद्धिः

इति ब्राह्मे' 'अधिकं तव विज्ञानमधिका च गतिस्तवे'ति साक्षान्मोक्षधर्मे च साधनतारतम्येन साध्ये तदुक्तिः इति, तन्न, साधनोत्तमत्वेन साध्योत्तमत्वस्यापरममुक्तिविषयत्वात्, विज्ञानगताधिक्योक्तेरपि साक्षात्कारप्रयोजकसगुणविषयकज्ञानपरत्वाच्च, अत एव दहरादिविद्यानामधिकाल्पगुणविषयकत्वेन साधनतारतम्यं यत्पराभिमतं तदप्येवमिति न कश्चिद्दोषः ।

तस्मात्स्वरूपानन्दस्य स्वप्रकाशात्मरूपिणः ।
प्राप्तिर्मुक्तिर्न तत्रास्ति तारतम्यं कथंचन ॥ १ ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ मुक्तौ तारतम्यभङ्गः ॥

यो लक्ष्म्या निखिलानुपेक्ष्य विबुधानेको वृतः स्वेच्छया
यः सर्वान् स्मृतमात्र एव सततं सर्वात्मना रक्षति ।
यश्चक्रेण निकृत्य नक्रमकरोन्मुक्तं महाकुञ्जरं
द्वेषेणापि ददाति यो निजपदं तस्मै नमो विष्णवे ॥ २ ॥

श्रीमाधवसरस्वत्यो जयन्ति यमिनां वराः ।
वयं येषां प्रसादेन शास्त्रार्थे परिनिष्ठिताः ॥ ३ ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

[उत्तम साधनों के द्वारा उत्तम साध्य की प्राप्ति होती है, जैसा कि आनन्द-श्रुति (तै० उ० २।८।१) में आनन्द रूप फल का तारतम्य कहा गया है] । मोक्षधर्म में भी ऐसा ही कहा है—"अधिकं तव विज्ञानमधिका च गतिस्तव" [हे शुकदेव मुने ! आप का विज्ञान अधिक होने के कारण आप की गति (मुक्ति) भी अधिक है] ।

वह कहना भी सार्वत्रिक नहीं, क्योंकि केवल अपर मुक्ति और उसके साधनों में तारतम्य होता है, उक्त वाक्य उसी को इङ्गित करते हैं । मोक्षधर्म में विज्ञानगत आधिक्य का अभिधान भी साक्षात्कार के प्रयोजकीभूत सगुणविषयक ज्ञान में ही आधिक्य का बोधक है, अत एव दहरादि-उपासनाओं (छां० ८।१।१) में न्यूनाधिक गुणविषयकत्व होने के कारण साधनगत तारतम्य जो द्वैती को सम्मत है, वह भी अपरमुक्ति तक ही सीमित है, पर मुक्ति में किसी प्रकार का उत्कर्षापकर्ष नहीं—यह सिद्धान्त सर्वथा दोष-रहित है ।

स्वप्रकाशात्मरूप परमानन्द की प्राप्ति ही मुख्य मुक्ति है, उसमें किसी प्रकार का भी तारतम्य नहीं ॥ १ ॥

लक्ष्मी ने सभी देवताओं की उपेक्षा कर जिस एकमात्र (विष्णु) का वरण किया, जो स्मरणमात्र से अपने भक्तों की सर्वथा रक्षा किया करता है, जिसने अपने चक्रायुध के द्वारा महानक्र के टुकड़े-टुकड़े कर उसके मुख से दीन गज का उद्धार किया (श्रीमद्भा० ८।३।३३) और जो अपने घोर द्वेषी जनों को भी अपना नित्य धाम प्रदान कर देता है उस भगवान् विष्णु को नमस्कार है ॥ २ ॥

हमारे (श्रीमधुसूदन सरस्वती के) विद्या गुरु परिव्राजक-प्रवर श्री माधव सरस्वती की जय हो, जिनकी कृपा से हम (मधुसूदन सरस्वती) शास्त्रों में परिनिष्ठित (पारङ्गत) हो गए ॥ ३ ॥

अद्वैतसिद्धिः

सहजसरलां प्रेम्णा दीर्घां समस्तविशोधिनीं
सकृदपि कृपादृष्टिं सन्तो दिशन्तु भवद्विधाः ।
कथमपि सती पूता सद्यस्तया विषयीकृता
मम कृतिरियं हित्वा दोषान्भवत्वतिसद्गुणा ॥ ४ ॥
गुरूणां माहात्म्यान्निजविविधविद्यापरिचयात्
श्रुतेर्यन्मे सम्यङ्मननपरिनिष्पन्नमभवत् ।
परब्रह्मानन्दस्फुरणमखिलानर्थशमनं
तदेतस्मिन् ग्रन्थे निखिलमतियत्नेन निहितम् ॥ ५ ॥
इह कुमतिरतत्त्वे तत्त्ववादी वराकः
प्रलपति यदकाण्डे खण्डनाभासमुच्चैः ।
प्रतिवचनममुष्मै तस्य को वक्तु विद्वान्
न हि रुतमनुरौति ग्रामसिंहस्य सिंहः ॥ ६ ॥
कुतर्कगरलाकुलं भिषजितुं मनो दुर्धियां
मयायमुदितो मुदा विषविघातिमन्त्रो महान् ।
अनेन सकलापदां विघटनेन यन्मेऽभवत् परं
सुकृतमर्पितं तदखिलेश्वरे श्रीपतौ ॥ ७ ॥
ग्रन्थस्यैतस्य यः कर्ता स्तूयतां वा स निन्द्यताम् ।
मयि नास्त्येव कर्तृत्वमनन्यानुभवात्मनि ॥ ८ ॥
श्रीव्यासशङ्करसुरेश्वरपद्मपादान् वेदान्तशास्त्रसुनिबन्धकृतस्तथान्यान् ।
विद्याप्रदानिह यतिप्रवरान्दयालून् सर्वान् गुरून् सततमेव नमामि भक्त्या ॥ ९ ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सत्पुरुषो ! आप-जैसे विद्वानों की सहज निष्कपट कृपा-दृष्टि इस (अद्वैतसिद्धि) ग्रन्थ पर यदि एक बार भी पड़ जाय, तब हमारी यह कृति तुरन्त सभी प्रकार के दोषों से दूर होकर सदैव के लिए पवित्र एवं साद्गुण्य-समलङ्कृत हो जाय ॥ ४ ॥

गुरुजनों की कृपा, विविध विद्याओं के परिचय एवं मननादि-युक्त श्रवण के द्वारा मेरे (सधुसूदन सरस्वती के) अन्दर जो निखिल अनर्थ का शामक परमानन्द स्फुरित हुआ है, वह पूरे-का-पूरा मैंने बड़े प्रयत्न से इस ग्रन्थ में निहित कर दिया है ॥ ५ ॥

इस पद्य का अर्थ विगत पृ० ८५१ पर देखें ॥ ६ ॥

दुरभिसन्धिक द्वैतियों के कुतर्करूप विष से विषाक्त मनों का उपचार करने के लिए मैंने यह (ग्रन्थ) एक विषापहारी महा मन्त्र दे दिया है, इसके द्वारा सकल आपदाओं का विघटन हो जाने के कारण जो पुण्य उपार्जित हुआ है, वह सर्वेश्वर भगवान् विष्णु के चरणों में अर्पित है ॥ ७ ॥

इस ग्रन्थ का जो कर्त्ता (सोपाधिक चैतन्य) है, उसकी चाहे स्तुति की जाय या निन्दा, मेरा कुछ बिगड़ता नहीं, क्योंकि मैं स्वप्रकाश चिदानन्द हूँ, मुझमें कर्तृत्वादि है ही नहीं ॥ ८ ॥

वेदान्त शास्त्रीय निबन्धों के प्रणेता श्री वेदव्यास, श्री शङ्कराचार्य, श्री सुरेश्वराचार्य, श्री पद्मपादाचार्य, विद्याप्रद एवं दीक्षाप्रद अपने गुरुजनों को सदैव भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥ ९ ॥

न्यायामृतम्

"विकल्पो विशिष्टफलत्वा"दिति सूत्रे त्वया विकल्पेन मोक्षहेतुत्वेनोक्तानां दहराक्षरादिविद्यानामधिकाल्पगुणविषयत्वेन तारतम्याच्च। त्वद्रीत्या प्रत्येकं मोक्षहेत्वोर्निरन्तरचिन्ताभरन्यासरूपयोर्भक्तिप्रपत्त्योः स्वरूपतः कर्मापेक्षानपेक्षाभ्यामावृत्त्यनावृत्तिभ्यां च विषमत्वाच्च। न च तयोरुक्तरीत्याधिकाल्पत्वेऽपि विश्वासाल्पत्वाधिक्याभ्यां साम्यमिति वाच्यम्। विश्वासस्यावर्तनीयायां भक्तावेव यावदावृत्त्यपेक्षितत्वेनानावर्तनीयप्रपत्तितोऽधिकत्वात्। यदि च फलसाम्येन साधनसाम्यार्थं प्रपत्तावधिकविश्वासः कल्प्येत, तर्ह्यन्योन्याश्रयः। साधनवैषम्येऽपि साध्यसाम्ये चाधिकविधात्र्याः श्रुतेरनुपादेयत्वं फलदातुरीश्वरस्य वैषम्यादिकं च स्यात्। न च देवमनुष्यादीनां तत्र शक्त्यशक्तिमात्रेण शक्ताशक्तानुष्ठितनि(वृत्त)त्यकर्मण इव न फलवैषम्यमिति वाच्यम्, अशक्तार्जितस्य ज्ञानस्यान्धपंग्वादिकृतकाम्यकर्मण इव विकलत्वेन काम्यमोक्षसाधनत्वायोगेन तत्साधनत्वाय स्वोचितमुक्तिफलं प्रत्यविकलताया वक्तव्यत्वात्।

एतेन भक्तिप्रपत्त्योर्विषमत्वेऽपि शक्ताशक्तविषयत्वात्फलसाम्यमिति निरस्तम्, तथाऽश्रवणात्। कल्पने वातिप्रसंगात्। तस्मात्साधनतारतम्यान्मुक्तितारतम्यम्। अत एव

> कर्मणामल्पमहतां फलानां च स्वगोचरे।
> विभागस्थानसामान्यादविशेषेऽपि चोदितः॥

इति वार्तिकेनाविशेषेण स्वर्गसाधनत्वेन श्रुतयोरपि ज्योतिष्टोमाग्निहोत्रयोस्तारतम्यात्तत्साध्ये स्वर्गेऽपि तदुक्तम्। उक्तं च—

> युक्तं च साधनाधिक्यात्साध्याधिक्यं सुरादिषु।
> नाधिक्यं यदि साध्ये स्यात् प्रयत्नः साधने कुतः॥ इति

किं च "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येताथ सम्पत्स्यत" इत्यादि श्रुत्या "तस्य कार्यं न विद्यत" इत्यादिस्मृत्या च यस्य स्थितप्रज्ञस्य मोक्षाय कर्तव्यान्तराभाव उक्तस्तस्यापरोक्षज्ञानिनो भक्तस्य प्रपन्नस्य वा शुकादेर्नित्यादिकर्मब्रह्मध्यानादिकं च न तावदज्ञस्यैव विविदिषादिद्वारा वा पापक्षयादिद्वारा वा, प्रत्यवायपरिहारद्वारा वा ज्ञानादेः सन्निपत्यांगम्, तस्य सिद्धत्वात्। नापि फलोपकार्यङ्गम्, मुक्तौ ज्ञानकर्मणोः समुच्चयापातात्। कर्मणां विचित्रत्वेन मोक्षवैचित्र्यापाताच्च। मोक्षाय कर्तव्यान्तराभावपरोक्तश्रुत्यादिविरोधाच्च। नापि फलान्तरार्थम्, नित्यत्वात्, ज्ञानिनोऽनिष्टत्वाच्च। नापि लोकसंग्रहार्थमीश्वराज्ञापालनार्थं वा, तयोरपि स्वतोऽफलत्वात्। नापीश्वरप्रीत्यर्थम्, भक्त्यादिनैव मोक्षहेतुप्रीतेः सिद्धेः। नापि तत्प्रीत्यतिशयार्थम्, फलातिशयाभावे तस्य पारिभाषिकत्वापातात्, तद्वैयर्थ्याच्च। नापीश्वरवल्लीलार्थम्, आचार्यद्विद्यामवाप्यैतमात्मानमभिगम्य शान्तो भवेद्दान्तो भवेत् पश्यन्नपीममात्मानं कुर्यात्कर्माविचारय"न्नित्यादिनापरोक्षज्ञानिनः।

> मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु॥

इत्यादिना भक्तिप्रपत्तिमतश्च तद्विधानात्।

> शक्रेण वर्षकोटीश्च धूमः पीतोऽतिदुःखतः।
> वर्षायुतं च सूर्येण तपोऽर्वाक्शिरसा कृतम्॥

इत्यादिस्मृतिषु क्लेशेनानुष्ठानोक्तेश्च। सूर्यादयश्चापरोक्षज्ञानिनः। "न देवपदवीं प्राप्ता

न्यायामृतम्

ब्रह्मदर्शनवर्जिता" इत्यादिस्मृतेः। अद्वैतिभिः "यावदधिकार" मिति सूत्रे क्लेशेन कर्मानुष्ठातॄणां वसिष्ठादीनामपरोक्षज्ञानित्वोक्तेश्च। तस्मादपरोक्षज्ञानोत्तरं कर्मादिकं मुक्तावानन्दातिशयार्थमेव। ब्रह्माण्डे च—

ज्ञानान्मोक्षो भवत्येव सर्वाकार्यकृतोऽपि तु।
आनन्दो ह्रसतेऽकार्याच्छुभं कृत्वा च वर्धते॥ इति।

स्मर्यते च—

सर्वदुःखनिवृत्तिस्तु ज्ञानिनो निश्चितैव हि।
उपासया कर्मभिश्च भक्त्या चानन्दचित्रता॥ इति।

अत एव "स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयत" इति श्रुतौ ज्ञानिकृतस्य कर्मणो मोक्षान्वयादक्षयफलत्वमुक्तम्। न हि मोक्षादन्यत्राक्षयत्वम्। परमसाम्यश्रुतिस्तु दुःखाभावसत्यकामत्वादिना सरःसागरयोरिव स्वयोग्यानन्दपूर्त्या च साम्यात्। "लिंगभेदः परानन्दो दुःखाभावः समानता" इति स्मृतेः। अन्यथा मुक्तस्येश्वरवज्जगत्स्रष्टृत्वादि किं न स्यात्। तच्च "जगद्व्यापारवर्ज" मिति सूत्रे त्वयापि निषिद्धं अत्र जगद्व्यापारशब्द उपलक्षणार्थ इति तवापि सम्मतम्। अन्यथा मुक्तस्य स्वातन्त्र्याद्यपि स्यात्। "भोगमात्रसाम्यलिंगाच्चे" ति सूत्रस्थमात्रशब्दस्य तु मन्मते भोगसामान्य एव साम्यम्, न तु तद्विशेष इत्यर्थः। त्वन्मतेऽपि भोगमात्रे मुक्तस्य ब्रह्मसाम्याल्लिंगाज्जगद्व्यापारवर्जमिति व्याख्यातत्वादवधारणार्थो मात्रशब्दो न कात्स्न्यार्थः। सत्यकामत्वं च जगत्स्रष्टृत्वादि वाधिकानन्देऽपि कामस्यैवाभावाद्युक्तम्। वाराहे च—

स्वाधिकानन्दसंप्राप्तौ सृष्ट्यादिव्यापृतिष्वपि।
मुक्तानां नैव कामः स्यादन्यान्कामांस्तु भुंजते॥ इति।

सातिशयत्वेऽपि नित्यत्वं चेश्वरादपकृष्टत्व इव मुक्तान्तरेण साम्य इव च श्रुत्यादिबलाद्युक्तम्। अन्यथोत्कर्षस्याप्यनित्यत्वव्याप्त्या ब्रह्मानन्दोऽप्यनित्यः स्यात्। न च द्वेषेर्ष्यादिप्रसंगः,

निःशेषगतदोषाणां बहुभिर्जन्मभिः पुनः।
स्यादापरोदयं हि हरेर्द्वेषेर्ष्यादि ततः कुतः॥
भवेयुर्यदि चेर्ष्याद्याः समेष्वपि कुतो न ते।
तप्यमानाः समान्दृष्ट्वा द्वेषेर्ष्यादियुता अपि॥
दृश्यन्ते बहवो लोके दोषा एवात्र कारणम्।
यदि निर्दोष (तात)तैवात्र किमाधिक्येन दूष्यते॥ इत्युक्तेः।

न च मुक्तिः स्वरूपा (नन्दा)विर्भावमात्ररूपा स्वरूपाणि चैकरूपाणीति कथं तारतम्यमिति वाच्यम्, "यो यद्रूपः स तद्रूपः निसर्गो ह्येष भवती" त्यादिश्रुत्या।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजंत्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

न्यायामृतम्

इत्यादिस्मृत्या चतुर्मुखादेरितरेभ्य उत्कर्षस्य दृष्टेनादृष्टेन वाऽऽगन्तुकहेतुना साध्यत्वे तत्रापि हेत्वन्तरान्वेषणेऽनवस्थापत्त्याऽनादियोग्यताहठापरपर्यायस्वभावो हेतुर्वाच्य इत्यादियुक्त्या च तारतम्यस्वभावत्वात् । "तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणं रूपं तनुते एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वान्येषां भूतानां"मिति श्रुतौ लिंगशरीराविद्यानिवृत्तेरूर्ध्वमपि पितृत्वाद्युक्तेश्च । न च मुक्तस्य देहाद्यस्ति चेद्, दुःखादि स्यात् । न चेद् भोगायोग इतिवाच्यम्, ईश्वरवच्चिदात्मकस्य वा कर्मानारब्धस्यैच्छिकस्य प्राकृतदेहस्य वा सत्त्वात् । अस्ति हि तावच्चिद्रूपं शरीरम् ।

चिदानन्दशरीरेण सर्वे मुक्ता यथा हरिः ।
भुंजते कामतो योगांस्तदंतर्बहिरेव च ॥ इति श्रुतेः ।

न्यायविवरणे । न च मुक्तस्य चिदात्मको देहोऽपि नास्तीति वाच्यम्, अकृतिमत्वेन तस्यानपगमादित्युक्तेश्च । अस्ति च जडशरीरम्—

स्वेच्छया वा शरीराणि तेजोरूपाणि कानिचित् ।
स्वीकृत्य जागरितवद् भुक्त्वा त्यागः कदाचन ॥

इति ब्रह्मवैवर्तोक्तेः । तत्त्वप्रदीपे "शुद्धप्रकृतिमयानि ज्योतीरूपाणि सुखैकतानानि "शरीराण्यनुप्रविश्ये"त्युक्तत्वाच्च । "चिता वाऽचिता वाऽनित्येन वा नित्येन वाथानन्दी ह्येष भवती"ति देहद्वयश्रुतेश्च । मोक्षधर्मे च

प्रकृतिं चाप्यतिक्रम्य गच्छत्यात्मानमव्ययम् ।
परं नारायणात्मानं निर्द्वन्द्वं प्रकृतेः परम् ॥

इन्द्रियाण्यनुबुध्यन्ति स्वदेहं योगिनो नृप ।
करणान्यात्मनस्तानि सूक्ष्मैः पश्यति तैस्तु सः ॥

"स जिघ्रति यथान्यायं स्पर्शान्स्पृशति च प्रभो"इति । न च प्राकृतदेहयोगे दुःखाद्यापत्तिः, मुक्तस्य वश्यप्रकृतित्वेन प्रकृतिवशत्वाभावात् । न हि यस्य वन्ह्यादिर्वश्यस्तस्य तद्योगजं दुःखम् । उक्तं हि न्यायविवरणे—"मुक्तानां वशितायत"इति । तत्त्वप्रदीपे च "वश्यप्रकृतीना" मिति । भाष्ये च—"शरीरमनुप्रविश्य पुण्यानेव भोगाननुभवति, न तु दुःखादीन् । यथा प्रदीपो दीपिकादिषु प्रविष्टस्तत्स्थं तैलाद्येव भुङ्क्ते न तु कार्ष्ण्यादी"निति । सूत्रितं च "प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयती"ति । "न ह वै स शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ती"ति श्रुतिस्तु कर्मारब्धदेहविषया । मुक्तस्याशरीरत्वश्रुतिरपि तन्निरुक्त्यभावात् । न हि तानि शार्यन्ते । तच्छशरीरस्य लोकविलक्षणत्वाच्चाभावोक्तिः । अप्रहर्षमननानन्दमित्यादिवत् । उक्तं च—"ग्रामस्था अपि न ग्राम्या वैलक्षण्याद्धि सज्जना"इति । कथमन्यथा देहि (सदेहे) ष्वेव जयादिषु "देहेन्द्रियासुहीनाना"मित्युक्तिः । तस्मात्फलाध्यायोक्तन्यायैस्तरतमभावापन्नमुक्तब्रह्मरुद्रादिनियामको भगवान् श्रीपतिः सर्वोत्तम इति सिद्धम् ॥ ६ ॥

नमो निरस्तदोषाय समस्तदोषाय समस्तगुणराशये ।
विमलानन्ददेहाय कमलापतये सदा ॥ ६ ॥

न्यायामृतम्

मत्प्रेरकेण हरिणा यथा पूजा स्वस्य कारिता।
वाग्यज्ञरूपा लक्ष्मीशस्तथा प्रीणातु केशवः॥ २॥
मुक्तावपि ब्रह्मादीनां तारतम्यसमर्थनम्॥ ६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीमद्ब्रह्मण्यतीर्थपूज्यपादानां
शिष्येण व्यासयतिना संगृहीते न्यायामृते
चतुर्थः परिच्छेदः।

अद्वैतसिद्धिः

सिद्धीनामिष्टनैष्कर्म्यब्रह्मगानामियं चिरात्।
अद्वैतसिद्धिरधुना चतुर्थी समजायत॥ १०॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वती-
श्रीचरणशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचिता-
यामद्वैतसिद्धौ मुक्तिनिरूपणं नाम
चतुर्थः परिच्छेदः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

चिरकाल से श्री मण्डन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि, श्री सुरेश्वराचार्य की नैष्कर्म्यसिद्धि और श्री विमुक्तात्मा की इष्टसिद्धि नाम के तीन सिद्धि-ग्रन्थ ही प्रचलित थे, अब यह अद्वैतसिद्धि नाम का चौथा सिद्धि ग्रन्थ हो गया है॥ १०॥

भास्करवासरे पूर्णा सिद्धिव्याख्या सुखावहा।
भासेव भास्करी भूयाच्छास्त्रशश्वच्चक्षुषाम्॥ १॥
विश्वेशितुः पादसरोजमूले विश्वेश्वरीं मातरमानताः स्मः।
गुरून् कृपालून् करुणावतारान् ऋषीन् स्मरामः कलिकर्णधारान्॥ २॥
कोऽपि जयति संघर्षः सुरयो र्यमिनोर्महान्।
अमृतमनृतं जातं येन क्षीराब्धिलब्धिकम्॥ ३॥
अक्षरशो निराकरो वेदगम्यत्र दृश्यते।
सारस्वतमहादर्शे परो वादोऽपरोऽभवत्॥ ४॥
विपरीतगतेर्वापि धीमन्दरमहीभृतः।
लीलेव लक्ष्यते नूनं द्वैतमद्वैततां गतम्॥ ५॥
क्व नव्यन्यायमीमांसा-गाम्भीर्यभरितभ्रमा।
अद्वैतसरिता सिद्धिः क्व मे सीमितपौरुषम्॥ ६॥
तथापि तरणे तस्याः शक्तो येषां प्रसादतः।
तेषामृणं वहाम्येषः पूर्वव्याख्यातृधीमताम्॥ ७॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिश्रीऋषिरामशिष्यस्वामियोगीन्द्रानन्द-
विरचितायां सिद्धिव्याख्यायां चतुर्थः परिच्छेदः
सम्पूर्णोऽयं ग्रन्थः।

प्रथमं परिशिष्टम्

विद्वद्वरेण्यश्रीगौड़ब्रह्मानन्दविरचिता अद्वैतसिद्धिव्याख्या

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

नमो नवघनश्यामकामकामितदेहिने ।
कमलाकामसौदामकणकामुकगेहिने ॥ १ ॥

स्वामियोगीन्द्रानन्दप्रणीता

लघुचन्द्रिका-व्याख्या

सहस्रधारके यस्मिन्नृषयो नो मनीषिणः ।
पुनन्ति स्वं वचस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

जिस (भगवान्) का लीला-कलेवर नूतन मेघ-घटा के समान ऐसा मोहक श्याम वर्ण का है, जिसकी कामना सौन्दर्य के अधिष्ठाता कामदेव को भी बनी रहती है और जो लक्ष्मी (धन) की कामना रखने वाले दम्पत्ति के सुदामा-द्वारा लाए गए पृथुक-कणों का इच्छुक सद्गृहस्थ है, ऐसे भगवान् कृष्ण को नमस्कार है। [श्रीमद्भागवत की कथा है कि भगवान् के गुरुकुल का साथी सुदामा नाम का ब्राह्मण था। दरिद्रता से तंग आकर उसकी पत्नी ने उसे भगवान् कृष्ण के पास द्वारका भेजा और भगवान् को उपहार देने के लिए ब्राह्मणों से चार मुट्ठी पृथुक तण्डुल (चावल के चिपिटक या चिवड़ा) माँगकर दे दिए। द्वारका पहुँचने पर सुदामा का भगवान् ने बड़ा स्वागत-सत्कार किया। शिष्टाचार के पश्चात् भगवान् ने ही पूछा कि हमारे लिए उपहार क्या लाए हो— "किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृहात्" (श्री मद्भा० १०।८१।३)। सुदामा संकोच में पड़ा रहा भगवान् ने सोचा—"अयं श्रीकामो मामभजत्" (श्री मद्भा० १०।८१।६) अर्थात् यह सुदामा लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति) की कामना से आया है, अतः सम्पत्ति अवश्य दूँगा, किन्तु अपना उपहार तो ले लूँ। भगवान् ने वह चावलों की पोटली छीन ली और मुट्ठी भर-भर कर लगे फाँकने। एक मुट्ठी चबा पाए थे कि लक्ष्मी ने हाथ पकड़ लिया और कहा—"एतावतालं विश्वात्मन्" (श्रीमद्भा० १०।८१।११)। बस कीजिए कच्चे चावल फाँके जा रहे हैं, पेट दुखने लगेगा—यह कह कर लक्ष्मी ने शेष तीन मुट्ठी तण्डुल छीन लिए। इस कथा को अपने शब्दों में भरने के लिए ब्रह्मानन्द जी ने भगवान् का विशेषण दिया है—"कमलाकामसौदामकणकामुकगेहिने"। कमलां कामयते इति कमलाकामः (सुदामा, जैसा कि ऊपर भगवान् ने श्रीकामः कहा है)। इसका अन्वय सुदामा के साथ करने के लिए विट्ठलेश उपाध्याय ने सुदामैव सौदामः—ऐसी अघटित कल्पना की है। कतिपय विद्वान् 'कमलाकाम' पदार्थ का 'गेही' के साथ अन्वय करते हैं। ऐसा करने में यद्यपि किसी प्रकार की अन्वयानुपपत्ति नहीं होती, तथापि यहाँ गेही भगवान् कृष्ण हैं, कमला (लक्ष्मी) उनकी नित्य सहचरी है, अप्राप्त की कामना होती है, वे भला कमलाकाम क्योंकर होंगे ? वस्तुतः सुदामा कमलाकाम है और उसकी धर्मपत्नी कमलाकामा, अतः 'कमलाकामश्च, कमलाकामा चानयोरेकशेषः, तयोः कमलाकामयोः सौदामकणाः'—ऐसा अन्वय करके 'लक्ष्मी की कामनावाले स्त्री-पुरुषों के उपहार-स्वरूप सुदामा द्वारा लाए गये कण'—ऐसा अर्थ करना ही संगत प्रतीत होता है] ॥ १ ॥

श्रीनारायणतीर्थानां गुरूणां चरणस्मृतिः ।
भूयान्मे साधिकेष्टानामनिष्टानां च बाधिका ॥ २ ॥
अद्वैतसिद्धिव्याख्यानं ब्रह्मानन्देन भिक्षुणा ।
संक्षिप्तचन्द्रिकार्थेन क्रियते लघुचन्द्रिका ॥ ३ ॥

विष्णुः व्यापकं जीवस्वरूपम् । मोक्षं प्राप्त इव, स्वयं विजयते । कीदृशो विष्णुर्मोक्षं प्राप्त इव, तत्राह—"अखण्डधीगोचर" इति । संसर्गाविषयकमनोवृत्तिविशेषविषयीभूत इत्यर्थः ।

ननु तादृशधीविषयत्वे मोक्षप्राप्तिं प्रति नोद्देश्यतावच्छेदकत्वसम्भवः, उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्वस्य विधेयगतत्वेन व्युत्पत्तिसिद्धस्य प्रकृते बाधात् । यदा हि तादृशधीविषयीभूत आत्मा, तदा तस्य न मोक्षः, तस्याविद्यारूपबन्धशून्यात्मरूपत्वात् । तदुक्तं वार्तिके—"अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः", इति । "निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः" इति च । अविद्याया अस्तमयः संस्कारादिकार्यरूपेणाप्यनवस्थानम् । सा च स्थूलरूपा संस्कारादिरूपा च । तथा च विदेहताकालीनोऽस्तमय एव मुख्यो मोक्षः । ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मापि विदेहताकालीन एव । जीवन्मुक्तिकालीनस्य ज्ञातत्वोपहितत्वस्यापि कदाचित्सम्भवेन ज्ञातत्वेनो-

गुरुवर श्री नारायण तीर्थ के चरणों का स्मरण हमारे (श्री ब्रह्मानन्द के) इष्टार्थ का साधक तथा अनिष्टार्थ का निवर्तक हो ॥ २ ॥

ब्रह्मानन्द भिक्षु के द्वारा अद्वैतसिद्धि की व्याख्या लघुचन्द्रिका बनाई जा रही है, जिसमें पूर्व-रचित 'गुरुचन्द्रिका' नाम की व्याख्या का संक्षेप प्रस्तुत किया गया है ॥३॥

अद्वैतसिद्धि के प्रथम मंगल पद्य में प्रयुक्त 'विष्णु' पद का अर्थ व्यापक जीव है। वह वस्तु-दृष्ट्या सदा मुक्त होने पर भी मुक्त-जैसा माना जाता है। उस विष्णु का विशेषण है—'अखण्डधीगोचरः, उसका अर्थ है—अन्तःकरण की संसर्गाविषयक (अखण्डाकार) वृत्ति का विषय ।

शङ्का—यहाँ 'अखण्डधीगोचरो विष्णुः, मोक्षं प्राप्त इव'—इस प्रकार मोक्ष-प्राप्तिरूप विधेयार्थ की उद्देश्यतावच्छेदकता जो अखण्डधीगोचरत्व में प्रतीत होती है, वह सम्भव नहीं, क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय में सहज व्युत्पत्ति-सिद्ध समकालीनता का यहाँ बाध हो रहा है। अर्थात् जिस क्षण में आत्मा अखण्ड धी का विषय होता है, उस क्षण में वह मुक्त नहीं कहला सकता, क्योंकि अविद्यारूप बन्ध-शून्य आत्मरूपता ही मोक्ष पदार्थ है, जैसा कि पूर्वाचार्यों ने कहा है—"अविद्यास्तमयो मोक्षः, सा च बन्ध उदाहृतः" (ब्र० सि० पृ० ११९), "निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः" (त० प्र० ४।८)। अविद्यास्तमय का अर्थ स्थूल और सूक्ष्म (अविद्या-लेश या संस्कार) उभय प्रकार की अविद्या का अभाव है [फलतः बन्ध का सामान्याभाव मोक्ष पदार्थ है, अखण्डाकार वृत्ति भी अविद्या का कार्य है, अतः उसके समय अविद्या का सामान्याभाव कैसे सम्भव होगा ?] । इस प्रकार विदेहता-कालीन अविद्या-सामान्य का अस्तमय ही मुख्य मोक्ष है, जीवन्मुक्ति-कालीन स्थूल अविद्या मात्र की निवृत्ति को मुख्य मोक्ष नहीं मान सकते, क्योंकि जीवन्मुक्ति में जब अखण्डाकार वृत्ति नहीं अन्य वृत्ति होती है, तब वहाँ ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मरूपता के रहने पर भी, अखण्डाकार वृत्ति के समय ज्ञातत्व-विशिष्ट ही आत्मा होता है, ज्ञातत्वोपलक्षित नहीं । अतः सर्वदा ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मरूपता वहाँ सम्भव नहीं और ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मा को मोह-निवृत्तिरूप माना गया

पलक्षिततत्त्वस्य सर्वदा असम्भवात्तदुपलक्षिततत्त्वस्यैव मोहनिवृत्तित्वम्। जीवन्मुक्तौ संस्कारादिरूपेण मोहसत्त्वात् । स्थूलाज्ञाननिवृत्तेस्तत्त्वज्ञानविशेषादिमनःपरिणामरूपतासंभवेन ज्ञातात्मरूपत्वासंभवाच्च। न चोक्तविषयत्वक्षणे एव तादृशाविद्यास्तमयः सम्भवति, चरमधीरूपविद्यावतः क्षणस्याविद्यातत्प्रयुक्तदृश्यविशिष्टकालपूर्वत्वाभावनियमेन सिद्धस्याविद्यास्तमयस्य विदेहताकालीनस्य विद्यावति क्षणे संभवाभावात्, अत आह—"मिथ्याबन्धविधूननेन—विकल्पोज्झित" इति। ब्रह्मात्मैक्याज्ञानरूपबन्धनस्य तादृशास्तमयेन दृश्यशून्य इत्यर्थः। अत्र बन्धस्य मिथ्यात्वोक्त्या तदुच्छेदस्य ज्ञानाधीनत्वज्ञापनेन न ज्ञानोत्पत्तिकालीनत्वमिति ज्ञापितम्। तथा च विधेये उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्वबोधस्यौत्सर्गिकत्वात् सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकपक्षकजन्यतासम्बन्धेन कर्तृसाध्यकानुमितौ निरवच्छिन्ने कर्तरि विधेये तादृशकालावच्छिन्नत्वबाधवत् प्रकृतेऽपि तस्य बाधितत्वान्न तत्र तद्बोधः।

है। जीवन्मुक्ति में तो लेश या संस्कारादि के रूप में मोह बना रहता है। स्थूल अविद्या की निवृत्ति को तो तत्त्वज्ञानात्मक वृत्ति रूप ही माना जा सकता है, ज्ञातात्मरूप नहीं। अखण्डाकार वृत्ति-विषयता के समय आत्मा में अविद्या-सामान्य का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि उस समय अविद्यारूप उक्त वृत्ति ही रहती है, अतः विदेहता-कालीन अविद्यास्तमय अखण्ड वृत्ति रूप विद्या के समय कभी नहीं रह सकता, क्योंकि अखण्डाकार चरम वृत्तिरूप विद्या जिस क्षण में उत्पन्न होती है, अविद्या और अविद्या-प्रयुक्त दृश्य की निवृत्ति उसके उत्तर द्वितीय क्षण में होती है, अतः यह निश्चित है कि न तो विद्याक्षण का उत्तर क्षण अविद्या-विशिष्ट हो सकता है और न अविद्या-क्षण के पूर्व विद्या-क्षण हो सकता है, फलतः अविद्या तथा अविद्या-प्रयुक्त दृश्य जगत् से युक्त क्षण की पूर्ववृत्तिता का अभाव विद्या-क्षण में नियत होने के कारण विदेहावस्था में सिद्ध अविद्यानिवृत्ति चरम वृत्तिरूप विद्या के क्षण में सम्भव नहीं।

समाधान—उक्त शङ्का का समाधान करने के लिए अद्वैतसिद्धिकार ने कहा है—"मिथ्याबन्धविधूननेन विकल्पोज्झितः"। इसका अर्थ है—ब्रह्म और आत्मा के अभेद-साक्षात्कार के द्वारा ब्रह्मात्मैक्य विषयक अज्ञान रूप बंधन का अभाव या कथित अस्तमय हो जाने के कारण आत्मा दृश्य-रहित हो जाता है। यहाँ बन्धन में मिथ्यात्व की उक्ति से ज्ञान के द्वारा बन्धन की उच्छेद्यता ज्ञापित होती है, अतः तत्त्वज्ञान के उत्पत्ति-काल में बन्धनविधूनन न होकर उत्तरभावी द्वितीय क्षण में होता है, अतः अखण्डधीगोचरो विष्णुः मोक्षं प्राप्तः'—इस प्रकार के उद्देश्यतावच्छेदक (अखण्डधीगोचरत्व) और विधेय (मोक्ष या अविद्यास्तमय) का समकालीनत्व न होना अभीष्ट ही है। 'तब उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय के समकालीनत्व-नियम का उल्लङ्घन क्यों नहीं होता ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उक्त नियम काचित्क है सार्वत्रिक नहीं, उसका विशेष स्थलों पर बाध हो जाया करता है, जैसे—'सर्गाद्यकालीनं द्व्यणुकम्, स्वनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यत्वसम्बन्धेन कर्तृविशिष्टम्, कार्यत्वाद्, घटवत्' इस अनुमान में उद्देश्यतावच्छेदकीभूत सर्गाद्य (सृष्ट्यारम्भ) काल से कर्तारूप विधेय अवच्छिन्न नहीं, क्योंकि कर्तृभूत चैतन्य कालानवच्छिन्न (अनन्त) होता है, अतः यहाँ उक्त नियम का जैसे बाध होता है, वैसे ही 'अखण्डधीगोचरो विष्णुः मोक्षं प्राप्तः'—यहाँ पर भी, क्योंकि समान कालीन पदार्थों का कार्य-कारणभाव बाधित होता है, जैसा कि अद्वैतसिद्धिकार ने आगे

अत्र बन्धविधूननमविद्यातत्कार्यशून्यत्वं दृश्यशून्यत्वं अनादिसाधारणदृश्यशून्यत्वमिति तयोर्भेदः। विधूननेनेति तृतीया ज्ञापकहेतौ न तु कारकहेतौ; न ह्यविद्याया अस्तमयो नाम व्यावहारिकध्वंसरूपो विद्याजन्योऽस्मत्सिद्धान्ते स्वीक्रियते। दृश्यान्तरध्वंसो वा तज्जन्यः। तथा सति तस्य निवर्तकाभावेन "विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त" इत्यादिश्रुतिबोधितस्य विदुषि सर्वदृश्योच्छेदस्य बाधापत्तेः। तत्त्वज्ञानोत्पत्तिद्वितीयक्षणे हि तत्त्वज्ञानादिसर्वदृश्यनाशोत्पादाद् उक्तक्षणद्वितीयक्षणे उक्तनाशस्य नाशोत्पत्त्यसंभवः। तत्त्वज्ञानजन्यस्य नाशस्यैव तत्त्वज्ञाननाशहेतुत्वे स्वीकृतेऽप्युक्तबाधापत्तेस्तादवस्थ्यात् , तत्त्वज्ञानजन्यस्य दृश्यान्तरनाशस्य तत्त्वज्ञानस्य च यो नाशो तयोर्नाशकाभावात्। तयोः स्वनाशकत्वस्वीकारेऽप्युक्तापत्तितादवस्थ्याद् , अप्रामाणिका-

---

चलकर (पृ० १२९८ पर) कहा है—"समसमयस्याजनकत्वात्"।

"बन्धविधूननेन विकल्पोज्झितः"—यहाँ पर बन्ध-विधूनन और विकल्प-निवृत्ति—दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं अभिन्न नहीं, क्योंकि अविद्या और अविद्या के कार्य की निवृत्ति को बन्ध-विधूनन और अनादि-सादि उभय विध दृश्य-शून्यता को विकल्प-निवृत्ति कहा जाता है। 'विधूननेन'—यहाँ पर तृतीया विभक्ति ज्ञापक हेतु में है, कारक हेतु में नहीं ["कर्तृकरणयोस्तृतीया" (पा. सू. २।३।१८) इस सूत्र से विहित तृतीया विभक्ति साधकतमत्वरूप जनकत्व एवं "इत्थंभूतलक्षणे" (पा. सू. २।३।२१) इस सूत्र से विहित तृतीया ज्ञापकत्व रूप अर्थ की बोधिका मानी जाती है, जैसे जटाभिस्तापसः—यहाँ प्रयुक्त तृतीया तापसत्व-निरूपित जटागत ज्ञापकत्व की बोधिका है, वैसे ही प्रकृत में तृतीया दृश्यशून्यत्व-निरूपित बन्धविधूननगत ज्ञापकत्व को बोधित करती है, क्योंकि] जैसे 'विद्यया अविद्यास्तमयः'—यहाँ पर विद्या से जन्य कोई व्यावहारिक अविद्या-ध्वंस अद्वैत वेदान्त में नहीं माना जाता, अपितु अविद्या-ध्वसं ब्रह्मरूप ही माना जाता है, ब्रह्मरूप अविद्या-निवृत्ति की जनकता विद्या में सम्भव नहीं वैसे ही 'बन्धविधूननेन दृश्यनिवृत्तिः'—यहाँ पर भी बंधध्वंस से जनित दृश्यान्तररूप दृश्य-ध्वंस नहीं माना जाता, अतः उस की जनकता भी बन्धविधूनन में सम्भव नहीं। यदि विद्या से जन्य कोई व्यावहारिक अविद्या-ध्वंस माना जाता है, तब वह नित्य होकर द्वैतापादक हो जायगा, और "विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः" (मुं. ३।२।८) इस श्रुति से बोधित तत्त्वज्ञनिष्ठ सर्वदृश्योच्छेद का बाध भी हो जायगा। विद्योत्पत्ति के द्वितीय क्षण में तत्त्वज्ञानादि समस्त दृश्य का नाश हो जाता है, अतः तृतीय क्षण में उत्पन्न उक्त व्यावहारिक अविद्यास्तमय का नाश न हो सकेगा, फलतः वह नित्य हो जायगा। यदि तत्त्वज्ञान से जन्य अज्ञान-ध्वंस को ही तत्त्वज्ञान का नाशक माना जाता है, अतः द्वितीय क्षण में अनुवृत्त तत्त्वज्ञान ही तृतीयक्षणवृत्ति उक्त दृश्यान्तररूप दृश्य-ध्वंस का नाशक हो जाता है, तब भी उक्त श्रुति-बोधित मुक्तात्मा में नामरूप विमुक्ति का बाध उपस्थित होता है, क्योंकि द्वितीय क्षण में अनुवृत्त तत्त्वज्ञान के द्वारा जो दृश्यान्तर (तत्त्वज्ञानातिरिक्त दृश्य-वर्ग और तत्त्वज्ञान के जो दो ध्वंस उत्पन्न किए जाते हैं, उनका कोई नाशक न होने के कारण मुक्त आत्मा में वे ही बचे रहते हैं। उन ध्वंसो को अपना ध्वंसक मानने पर भी उक्त श्रुत्यर्थ-का बाध प्रसक्त होता है, क्योंकि तत्त्वज्ञान-ध्वंस का ध्वंस और दृश्यान्तर-ध्वंस का ध्वंस अपने नाशक के अभाव में विद्यमान रहता है। अप्रामाणिक अनन्त ध्वंसों की कल्पना गौरव-ग्रस्त भी है, इसलिए चरम अखण्डाकार

नन्तनाशकल्पने गौरवाच्च। तस्माच्चरमतत्त्वज्ञानस्य दृश्याश्रयकालपूर्वत्वाभावनियम एव स्वीक्रियते, न तु नाशहेतुत्वम्। यत्तु बद्धपुरुषैः प्रातीतिकमस्तमयादिकं कल्प्यते न तस्य नाशहेतुत्वम्।

यद्यपि ज्ञापकहेतुत्वमपि दृश्यास्तमयं प्रत्यविद्यास्तमयत्वेन नास्ति, जीवन्मुक्ते प्रातीतिकाविद्यास्तमये तद्व्यभिचारित्वात्, जीवन्मुक्ते प्रातीतिकस्य दृश्यास्तमयस्य कल्पने नियमाभावात्। तथापि दृश्यास्तमयकालीनत्वरूपेणाविद्यास्तमयस्य दृश्यास्तमयं प्रत्यस्त्येवेति ध्येयम्।

अथवा मास्तु प्रातीतिकं तादृशाविद्यास्तमयादिकम्। अविद्योच्छेदोपलक्षितः पूर्णानन्दरूप आत्मा मोक्षः। अविद्योच्छेदश्च तदीयस्थूलसूक्ष्मरूपाश्रयकालपूर्वत्वाभावः सर्वदृश्याश्रयकालपूर्वत्वाभावरूपेण दृश्योच्छेदेन व्याप्यः। मोक्षस्य दृश्योच्छेदोपलक्षितात्मरूपकैवल्यरूपत्वात्।

यद्वा ननु दृश्योच्छेदस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिक्षणे न सम्भवति। अनादिदृश्यानां ज्ञानानुच्छेद्यत्वादविद्यातत्कार्ययोरेव तदुच्छेद्यत्वात्, तत्राह—मिथ्याबन्धेति। मिथ्याबन्धविधूननेन विकल्पोज्झित इति योजना। तथा चाविद्योच्छेदेन दृश्योच्छेदवानित्यर्थलाभाद् अविद्योच्छेदस्य दृश्योच्छेदव्याप्यतालाभेनाविद्यारूपबन्धस्य मिथ्यात्वोक्त्या

वृत्ति को अविद्यादि के ध्वंस का हेतु नहीं माना जाता, अपितु चरम तत्त्वज्ञान-क्षण में दृश्याश्रयीभूत काल के पूर्ववृत्तित्व का अभाव ही नियमतः स्वीकृत है। फलतः उक्त तृतीया विभक्ति ज्ञापकत्वार्थ की ही बोधिका स्थिर होती है, जनकत्व-बोधिका नहीं। यहाँ जनकत्वरूप हेतुत्व का समर्थन करने के लिए जो मुक्त पुरुष में बद्ध पुरुषों के द्वारा अविद्या का प्रातीतिक ध्वंस माना जाता है, वह भी उचित नहीं, क्योंकि प्रातीतिक अविद्या-ध्वंस दृश्य के नाश का जनक नहीं माना जाता है।

यद्यपि दृश्य-ध्वंस की ज्ञापकता अविद्यास्तमय में अविद्यास्तमयत्वेन नहीं होती, क्योंकि जीवन्मुक्त पुरुषगत प्रातीतिक अविद्यास्तमय में दृश्य-नाशकता न होने के कारण व्यभिचार होता है। जीवन्मुक्त में प्रातीतिक दृश्यास्तमय की भी नियमतः कल्पना में कोई नियामक नहीं। तथापि दृश्यास्तमयकालीनत्व रूप से अविद्यास्तमय में दृश्यास्तमय की ज्ञापकता सम्भव है।

अथवा उक्त प्रातीतिक अविद्यास्तमय और दृश्यास्तमय के मानने की कोई आवश्यकता नहीं, अविद्योच्छेद से उपलक्षित पूर्णानन्द रूप आत्मा मोक्ष पदार्थ है। अविद्योच्छेद का अर्थ है—स्थूल-सूक्ष्मात्मक अविद्या के आश्रयीभूत काल का पूर्वत्वाभाव तथा दृश्योच्छेद का अर्थ सर्वदृश्याश्रयीभूत काल का पूर्वत्वाभाव, जैसे वह्नि का धूम व्याप्य और ज्ञापक होता है, वैसे ही उक्त अविद्योच्छेद दृश्योच्छेद का व्याप्य एवं ज्ञापक होता है, क्योंकि मोक्ष में अविद्योच्छेदात्मरूपता के समान ही दृश्योच्छेदोपलक्षित आत्मरूपता भी रहती है।

अथवा 'दृश्योच्छेद तत्त्वज्ञानोत्पत्ति के क्षण में सम्भव नहीं, क्योंकि अनादि दृश्य का ज्ञान से उच्छेद नहीं हो सकता, केवल अविद्या और अविद्या के कार्य का ही विद्या से उच्छेद होता है'—इस आक्षेप का समाधान करने के लिए कहा गया है—"मिथ्याबन्धेत्यादि"। 'मिथ्याबन्धविधूननेन विकल्पोज्झितः'—ऐसी योजना पूर्ववत् ही है, जिसका अर्थ है—'अविद्योच्छेद-प्रयुक्त दृश्योच्छेदवान्', इससे अविद्योच्छेद में दृश्योच्छेद की

अविद्याप्रयुक्तदृश्यमात्रस्य मिथ्यात्वलाभेनानादिदृश्यानामपि ज्ञानोच्छेदलाभादुक्तव्याप्यतायाः सम्भवः। तथा च सर्वदृश्योच्छेदोपलक्षितपरमानन्दरूपात्मरूपकैवल्यप्राप्तिस्तत्त्वज्ञानोत्तरमेव न तत्क्षण इति नोद्देश्यतावच्छेदकधीविषयत्वकालीनत्वं विधेये मोक्षलाभे विवक्षितम्। उज्झित इति निष्ठाप्रत्ययेनोच्छेदस्यातीतकाले मोक्षप्राप्तेर्लाभात् अत्यन्ताभावत्वविशिष्टरूपस्योच्छेदस्यापि दृश्यत्वात्तादृशे मोक्षकाले तस्यातीतत्वादिति भावः।

मोक्षं कीदृशं तत्राह—"परमेत्यादि"। निरतिशयापरिच्छिन्नसुखमात्रस्वरूपमित्यर्थः। ननु मुक्तस्य प्रकाशकाभावेन प्रकाशत इत्यर्थकं विजयत इत्ययुक्तम् तत्राह—स्वयमिति। प्रकाशकसम्बन्धं विनैवेत्यर्थः।

नन्वेवं विजयत इत्यनुपपन्नम्, तस्यापि प्रकाशसम्बन्धार्थकत्वात्, स्वयमित्यस्य प्रकाशान्तरं विनेत्यर्थकत्वेन विजयत इत्यस्य स्वात्मप्रकाशसम्बन्धार्थकत्वेऽपि विष्णोर्दृश्यत्वेन मिथ्यात्वापत्तिः। अथ विजयत इत्यस्योत्कर्षान्तरमेवार्थः न तु

व्याप्यता का लाभ होता है। अविद्यारूप बन्धन में मिथ्यात्व के कथन से अविद्या-प्रयुक्त दृश्यमात्र (सादि और अनादि-उभयविध दृश्य) में मिथ्यात्व अधिगत हो जाता है, मिथ्यात्व का अर्थ ज्ञानोच्छेद्यत्व है, अतः अनादि दृश्य में भी ज्ञानोच्छेद्यता का लाभ हो जाने के कारण उक्त व्याप्य-व्यापकभाव संघटित हो जाता है। इस प्रकार भी सर्वदृश्योच्छेदोपलक्षित परमानन्दात्मरूप कैवल्य की प्राप्ति तत्त्वज्ञान के उत्तर क्षण में ही सिद्ध होती है, तत्त्वज्ञान-क्षण में नहीं, अतः यहाँ अखण्डधीविषयत्वरूप उद्देश्यतावच्छेदक और मोक्ष-प्राप्ति रूप विधेय में समानकालीनत्व विवक्षित नहीं। 'उज्झितः' पद में निष्ठासंज्ञक 'क्त' प्रत्यय' का प्रयोग हुआ है, जो कि "निष्ठा" (पा० सू० ३।२।१०२) इस सूत्र के द्वारा भूतार्थवृत्ति धातु से विहित है, अतः अविद्योच्छेद के अतीत क्षण में ही मोक्ष-प्राप्ति निश्चित होती है, विद्या-क्षण में तो अविद्योच्छेद वर्तमान है, अतीत नहीं, फलतः तत्त्वज्ञान के द्वितीय क्षण में ही मोक्ष-प्राप्ति माननी होगी। अत्यन्ताभावरूप उच्छेद भी दृश्य है, अतः उसका मोक्ष-काल में अतीत हो जाना असंगत नहीं।

कैसा मोक्ष ? इस आकांक्षा को दूर करने के लिए कहा गया है—"परमानन्दैकतानात्मकम्।" उसका अर्थ है—निरतिशय (तारतम्य-रहित, जिसका निरूपण ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरण में किया गया है) और अपरिच्छिन्न सुखस्वरूपता। 'उक्त पद्य में प्रयुक्त 'विजयते' पद का अर्थ होता है—प्रकाशते, किन्तु मुक्तावस्था में सूर्यादि समस्त दृश्य का उच्छेद हो जाने के कारण मुक्त पुरुष का कोई प्रकाशक न होने के कारण 'प्रकाशते' (प्रकाश-सम्बन्धो)—ऐसा कहना क्योंकर संगत होगा ?'—इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कहा है—"स्वयम्", जिसका अर्थ है—'अन्यकर्तृक प्रकाश की विषयता के बिना प्रकाशमान' [परप्रकाशभूत घटादि के लिए 'घटः प्रकाशते' तभी कहा जा सकता है, जब दीपादि का प्रकाश घट पर पड़े, किन्तु स्वयंप्रकाश आत्मा को अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती]।

शङ्का—'स्वयं प्रकाशते' के अर्थ में भी 'विजयते' का प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि 'स्वयं प्रकाशते' का अर्थ होता है—अन्य प्रकाशक-निरपेक्ष प्रकाश का आश्रय। मोक्षावस्था में प्रकाशक के समान प्रकाश भी नहीं रहता। 'स्वयम्' पद के प्रभाव से 'स्वात्मक प्रकाश-सम्बन्धी'—ऐसा अर्थ करने पर विष्णु में दृश्यत्व की प्रसक्ति होती है [क्योंकि चैतन्यात्मक प्रकाश का विषयतारूप सम्बन्ध होने के कारण ही घटादि

प्रकाशसम्बन्धः, तदा प्रकाशमानानन्दरूपत्वालाभेन मोक्षस्य प्रयोजनत्वालाभः, तत्राह—"सत्यज्ञानसुखात्मक" इति। यथात्मन आनन्दत्वेनानन्दरूपं मोक्षं प्राप्त इवेत्युक्तम्, अत एवानन्दावाप्तिबोधकश्रुतेरनावृतानन्दैक्यमर्थो, न त्वानन्दसम्बन्धः, तथा प्रकाशरूपत्वेन विष्णोः प्रकाशत इत्यस्यानावृत्तचिदभेदबोधकत्वम् न तु प्रकाशसम्बन्धार्थकत्वम्। तथा च दृश्यत्वाभावात् न मिथ्यात्वापत्तिः। न च प्रकाशरूपतोक्तिर्व्यर्थेति वाच्यम्; अपरोक्षव्यवहारयोग्यसुखस्यैव पुरुषार्थत्वम्। उक्तयोग्यत्वं चानावृतचिद्रूपत्वेन तादृशचित्तादात्म्येन वा। तत्रोक्तरूपानन्दस्यान्त्यभावेऽप्याद्यमस्तीति ज्ञापनार्थत्वेन तस्याः सार्थकयात्। ननु ज्ञानस्याज्ञानतत्कार्यविरोधितायाः शुक्त्यादिज्ञानस्थले दृष्टतया युक्तत्वेऽप्यनादिसाधारणदृश्यमात्रविरोधित्वमदृष्टचरत्वान्न युक्तम्, तत्राह—"माये"त्यादि। मायया कल्पितं प्रयुक्तम्, अत एव मृषाभूतं यन्मातृतासुखं प्रमातृत्वादिरूपं द्वैतमात्मभिन्नं तदभिन्नप्रपञ्चाश्रय इत्यर्थः। तथा च शुक्त्या-

---

को दृश्य माना जाता है, वही सम्बन्ध जब विष्णुरूप चैतन्य तत्त्व में है, तब वह दृश्य और दृश्यत्वेन मिथ्या क्यों न होगा ?]। यदि विजयते पद के द्वारा 'प्रकाशरूपप्रकर्षाश्रयः'—ऐसा अर्थ न कर कोई अन्य अप्रकाशात्मक उत्कर्ष की आश्रयता का ग्रहण किया जाता है, तब मुक्ति में प्रकाशमान आनन्दरूपता का लाभ न होने के कारण पुरुषार्थता (पुरुषाभिलाषा) का लाभ नहीं होता, क्योंकि अप्रकाशमान वस्तु की इच्छा किसी को नहीं होती।

समाधान—उक्त आशङ्का का समाधान करने के लिए मूलकार ने कहा है—"सत्यज्ञानसुखात्मकः"। जैसे आत्मा आनन्दरूप होने के कारण 'आनन्दरूपं मोक्षं प्राप्त इव'—ऐसा कहा जाता है, अतः 'आनन्दी भवति'—इत्यादि आनन्दावाप्ति-बोधक श्रुतियों का अनावृतानन्दरूपता में तात्पर्य होता है, आनन्द-सम्बन्ध में नहीं, वैसे ही विष्णु प्रकाशरूप है, अतः 'प्रकाशते' पद अनावृतप्रकाशरूपता का ही बोधक माना जाता है, प्रकाश-सम्बन्ध का नहीं। फलतः विष्णुतत्त्व में प्रकाश-सम्बन्धित्वरूप दृश्यत्व-प्रसक्त न होने के कारण मिथ्यात्वापत्ति नहीं होती। प्रकाशरूपता का कथन व्यर्थ क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अपरोक्ष व्यवहार-योग्य सुख ही पुरुषार्थ माना जाता है। अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता अनावृतचिद्रूपत्व या अनावृतचित्तादात्म्य होने के कारण ही सम्भव होती है ['अपरोक्षं ब्रह्म'—इस व्यवहार का निर्वाहक ब्रह्मगत अनावृतचिद्रूपत्व और अपरोक्षो घटः'—इस व्यवहार का साधक घट में अनावृतचित् का तादात्म्य (विषयत्व) होता है]। उक्तरूप आनन्द में द्वितीय न होने पर भी प्रथम (अनावृतचिद्रूपत्व) है—इस आशय को प्रकट करने के लिए उक्त प्रकाशरूपता का अभिधान सार्थक है।

शङ्का—ज्ञान में अज्ञान और अज्ञान के कार्य की विरोधिता शुक्ति-रजतादि स्थल पर देखी जाती है, अतः उसके युक्त होने पर भी अनादि-साधारण समस्त दृश्य की विरोधिता अदृष्टचर होने के कारण अयुक्त है।

समाधान—उक्त शङ्का को दूर करने के लिए मूल में कहा गया है—"मायेत्यादि"। माया द्वारा कल्पित (प्रयुक्त) होने के कारण मिथ्याभूत जो प्रमातृत्वादि द्वैत प्रपञ्च, उसका आश्रय (विष्णु) है। [सामान्य निमित्त को प्रयोजक कहा जाता है चाहे वह किसी का जनक हो या पोषक, जैसे शुक्त्यज्ञान के न होने पर न तो

ध्यज्ञानस्येव चिन्निष्ठतत्सम्बन्धादेरपि तत्प्रयुक्तत्वेन शुक्त्यादिज्ञानस्य तद्विरोधिताया दृष्टतया ब्रह्मज्ञानस्यापि ब्रह्माज्ञानप्रयुक्तदृश्यमात्रविरोधित्वं युक्तमिति भावः। मृषा द्वैताश्रयत्वोक्त्या मुमुक्षावानधिकारी सूचितः।

ननु अखण्डब्रह्माकारज्ञानस्य दृश्योच्छेदकत्वे आपातज्ञानरूपस्यापि तस्य तत्स्यात्, तत्राह—"श्रुतिशिखोत्थेति"। श्रुतीनां कर्मोपासनाकाण्डरूपाणामुपकार्यत्वेन शिखेव मुख्यं यन्महावाक्यं तज्जनितेत्यर्थः। तथा च निष्कामकर्मोपासनानुष्ठापनद्वारकचित्तशुद्धिचित्तैकाग्रताद्वारोक्तश्रुत्युपकृतवाक्यजन्यज्ञानस्यैव तदिति भाव ॥ १ ॥

परममङ्गलरूपां परब्रह्मरूपविषयप्रयोजनोक्तिं संपाद्य परमगुरुगुरुविद्यागुरून् प्रणमति "श्रीरामे"त्यादि। ऐक्येन आत्मैक्येन। माधवानां परब्रह्मणाम् ॥ २ ॥

ममात्मंभरितां-मन्निष्ठां स्वार्थसम्पादकताम्। भावयितुं जनयितुम्, एष श्रमः एतद्ग्रन्थसम्पादनम्। परोक्तदूषणोद्धारपूर्वकस्वमतपरिच्छेदविशेषस्यैतद्ग्रन्थे क्रिय-

---

शुक्तिरजत की उत्पत्ति हो सकती है और न शुक्त्यज्ञान का चैतन्य के साथ सम्बन्ध रह सकता है, शुक्त्यज्ञान जहाँ रजत का जनक है, वहाँ चैतन्य के साथ अपने सम्बन्ध का पोषक। यद्यपि अज्ञान-चैतन्य-सम्बन्ध अनादि है. अज्ञान से जन्य नहीं, तथापि अज्ञान से पोषित होने के कारण अज्ञान-प्रयुक्त माना जाता है, अतः] जैसे शुक्ति-ज्ञान शुक्त्यज्ञानरूप तूलाज्ञान का विरोधी होने के कारण अज्ञान-प्रयुक्त चिन्निष्ठ अज्ञान-सम्बन्ध का विरोधी है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान भी ब्रह्माज्ञान-प्रयुक्त सादि-अनादि उभय विध दृश्यमात्र का विरोधी होगा। मिथ्या द्वैत की आश्रयता के कथन से इस अद्वैतसिद्धि के मुमुक्षावान् अधिकारी को सूचित किया गया है [जब किसी पुरुष को यह ज्ञान होगा कि मैं प्रमातृत्वादि मिथ्या प्रपञ्च का आश्रय हूँ, तब उसकी जिहासारूप मुमुक्षा उत्पन्न होगी और इस ग्रन्थ के श्रवण में प्रवृत्त हो जायगा]।

अखण्ड ब्रह्मविषयक सामान्य ज्ञान यदि दृश्य का उच्छेदक होता है, तब श्रवणादि साधनों के विना आपाततः जायमान ज्ञान भी दृश्य का उच्छेदक क्यों नहीं होता? इस शङ्का का समाधान करने के लिए सिद्धिकार ने अखण्ड धी का विशेषण दिया है—"श्रुतिशिखोत्था"। जैसे दीप-शिखा की प्रकाशन-क्षमता में तैल, वर्ती और पात्र का पूर्ण सहयोग होता है, वैसे ही 'तत्त्वमसि'—इत्यादि महावाक्यों की स्वार्थ-प्रकाशन-क्षमता में कर्म, उपासना और ज्ञान काण्ड की उपकारिता निश्चित है, क्योंकि निष्काम कर्म के अनुष्ठान से अन्तः करण शुद्ध होता है, शुद्ध अन्तःकरण में अहैतुकी भक्ति के सम्पादन से एकाग्रता आती है और एकाग्र अन्तःकरण में तत्त्वं पदार्थ-परिशोधनपूर्वक श्रुत महावाक्यों के द्वारा वह ज्ञान ज्योति उदय होती है, जो समूल द्वैत ध्वान्त को सदा के लिए समाप्त कर डालती है ॥ १ ॥

इस ग्रंथ का अज्ञात ब्रह्म विषय और ज्ञात ब्रह्म प्रयोजन (मुक्तिरूप) है, उसका प्रतिपादक होने से प्रथम पद्य अत्यन्त मंगलमय है, ग्रंथकार परम मंगल सम्पादन करने के पश्चात् क्रमशः अपने परम (गुरु के गुरु), दीक्षा-गुरु और विद्या-गुरु को प्रणाम करता है—"श्रीरामेत्यादि"। 'ऐक्येन साक्षात्कृतमाधवानाम्' का अर्थ है—जिन गुरुजनों ने अपने आतमा से अभिन्नरूप में माधव (मायापति) परब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, उनके चरणों की धूलि को नमस्कार है ॥ २ ॥

'ममात्मंभरिताम्' का अर्थ है—मेरे (मधुसूदन सरस्वती के) आत्मभरण (स्वार्थ) की सम्पादकता, उसको भावयितुं (उत्पन्न) करने के लिए यह श्रम (इस

माणस्यातिलोकोत्तरत्वेनान्यैरेतद्ग्रन्थदर्शनात् पूर्वमज्ञातत्वेनाकामितत्वान्मयैव पूर्वं कामितमुक्तपरिच्छेदरूपं फलं भावयिष्यत्ययं ग्रन्थो नान्यै कामितमिति भावः ॥ ३ ॥

सिद्धिः निश्चयः, इयं एतद्ग्रन्थाधीना,

"सिद्धीनामिष्टनैष्कर्म्यब्रह्मगानामियं चिरात् ।
अद्वैतसिद्धिरधुना चतुर्थी समजायत ॥"

इति एतद्ग्रन्थीयसमाप्तिस्थानीयपद्यस्थसिद्धिपदान्यपि तत्तद्ग्रन्थाधीननिश्चयपराण्येव । परिच्छेदसमाप्त्यादिस्थले सिद्धिपदं साधकग्रन्थपरं निश्चयपरमेव वा । अद्वैतनिश्चयोपयोगी प्रथमपरिच्छेद इत्याद्यर्थकत्वसम्भवेन लक्षणायां मानाभावात् । अस्मदादिभिस्तु स्वकीयसङ्केतविशेषेणास्मिन् ग्रन्थे अद्वैतसिद्धिपदं प्रयुज्यते ॥ ४ ॥

पूर्वकत्वादिति । (१) "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मे"त्यादिश्रुत्या जायमाने अद्वैतत्वोपलक्षितब्रह्मनिर्विकल्पकनिश्चये ब्रह्मणि द्वैताभावविशिष्टबुद्धेर्द्वारत्वात् , तस्याश्च निषेधत्वेन प्राप्तिपूर्वकत्वेन द्वैतवति ब्रह्मणि द्वैतवत्त्वकालावच्छेदेन द्वैताभाववत्त्वविषयक-

---

ग्रन्थ का निर्माण) किया गया है । भाव यह है कि इस ग्रन्थ में जो अद्वैतवेदान्त पर द्वैतवादियों के द्वारा प्रदत्त दोषों का उद्धार और अद्वैत मत का परिष्कार किया गया है, वह इतना लोकोत्तर है कि अभी तक किसी अन्य व्यक्ति को ज्ञात ही नहीं था, अत एव दूसरा व्यक्ति इसकी इच्छा नहीं कर सका, पहली बार मुझे (मधुसूदन सरस्वती को) ही इसकी इच्छा हुई, अतः मेरे इस स्वार्थ (अभीष्ट अर्थ) का ही यह ग्रन्थ साधक है ॥ ३ ॥

चतुर्थ पद्य में प्रयुक्त 'सिद्धि' पद का अर्थ है—निश्चय अद्वैत-निश्चयात्मक सिद्धि इस ग्रन्थ के अधीन होने के कारण यह ग्रन्थ भी सिद्धि कहलाता है । इस ग्रन्थ के अन्त में जो यह पद्य आया है—

सिद्धीनामिष्टनैष्कर्म्यब्रह्मगानामियं चिरात् ।
अद्वैतसिद्धिरधुना चतुर्थी समजायत ॥

इसमें प्रयुक्त 'सिद्धि' पदों का भी निश्चय ही अर्थ है, जो कि उन ग्रन्थों के अधीन होता है । परिच्छेद की समाप्ति पर जो कहा गया है—'अद्वैतसिद्धो प्रथमः परिच्छेदः ।' वहाँ 'सिद्धि' पद निश्चयात्मक सिद्धि के साधकीभूत इस ग्रंथ का बोधक है अथवा वह भी निश्चयपरक ही माना जा सकता है, अतः 'अद्वैतसिद्धौ प्रथमः परिच्छेदः'—इस वाक्य का अर्थ होता है—अद्वैतनिश्चयोपयोगी प्रथमः परिच्छेदः, अतः कहीं पर भी 'सिद्धि'पद की ग्रन्थादि में लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं । हम लोग तो अपने आधुनिक संकेत के आधार पर इस ग्रंथ के लिए 'सिद्धि' पद का प्रयोग करते हैं ॥ ४ ॥

मूल ग्रन्थ में जो यह कहा गया है कि 'अद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वात्' । उसका सामञ्जस्य तीन स्थलों पर किया जाता है—

(१) "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" (छां० ६।२।१) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा जायमान द्वैताभावोपलक्षितब्रह्मविषयक निर्विकल्पक निश्चय में 'ब्रह्म द्वैताभाववत्'—इस प्रकार की विशिष्ट बुद्धि द्वार है, क्योंकि उपलक्ष्यभूत धर्मी के ज्ञान में उपलक्षणीभूत धर्मविशिष्ट-बुद्धि हेतु मानी जाती है । द्वैताभाव-विशिष्ट-बुद्धि द्वैतनिषेधात्मक होने के कारण द्वैत-प्राप्ति की नियमतः अपेक्षा करती है, फलतः 'द्वैतवद्ब्रह्म द्वैताभाववत्'—इस प्रकार द्वैताभावरूप विधेयार्थ में द्वैतवत्त्वरूप उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्व का भान

त्वात्, "सदेव सोम्येदमग्र आसी"दिति पूर्ववाक्ये इदं शब्दार्थद्वैतसामान्यतादात्म्यस्य लब्धत्वेन तस्य द्वैताभावांशे उद्देश्यतावच्छेदकत्वेन तत्र तत्कालावच्छेद्यत्वभानस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वाद्, इदमात्मकसतोऽग्रकालसत्त्वस्य द्वैताभाववत्त्वस्य च द्वयोर्विधाने वाक्यभेदस्येष्टत्वात्, द्वैतवति द्वैताभावबोधस्याहार्यत्वेन शाब्दत्वासम्भवेऽपीदं पदस्य दृश्यत्वरूपेण द्वितीयपदस्य चात्मभिन्नत्वरूपेण बोधकत्वेनाहार्यत्वाभावात्, कालान्तरावच्छेदेन द्वैताभाववत्त्वविषयकधियश्च "तरति शोकमात्मवित्", "विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः", "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै"रित्यादिश्रुतिभिः ज्ञाननाश्यत्वानुमापकदृश्यत्वलिङ्गादिरूपमानान्तरेण च सिद्धत्वेन तज्जनने वाक्यवैयर्थ्यापत्तेः, एककालावच्छिन्नं प्रतियोग्यभावयोरेकाधिकरणवृत्तित्वधीरूपो मिथ्यात्वनिश्चयः।

नैसर्गिक है, क्योंकि 'एकमेवाद्वितीयम्'—इस वाक्य के पूर्ववर्ती "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छां० ६।२।१) इस वाक्य में 'इदं' पद के द्वारा ब्रह्मगत सामान्य द्वैत-तादात्म्य या द्वैतवत्त्व का बोधन किया जाता है, वह द्वैतवत्त्व द्वैताभावरूप विधेय का उद्देश्यतावच्छेदक है, विधेय में उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्व का भान नैसर्गिक होता है—यह कहा जा चुका है। [यदि "सदेव सोम्येदमग्र आसीद् अद्वितीयम्—यहाँ पर 'इदमात्मक सत्' पदार्थ के उद्देश्य से द्वैताभाव का विधान किया जाता है, तब उसी के उद्देश्य से अग्रे आसीत् (अग्रकाल-सत्त्व का भी विधान करना होगा, तब एक पदार्थ के उद्देश्य से अनेक पदार्थों का विधान करने पर "प्राप्ते कर्मणि नानैको विधातुं शक्यते गुणः" (तं. वा. पृ० ४८५) इस वार्तिक-वचन के अनुसार वाक्य-भेद दोष क्यों नहीं ?' इस शङ्का के समाधान में कहा गया है कि] प्रकृत में इदमात्मक सद् (ब्रह्म) के उद्देश्य से अग्रकाल-सत्त्व तथा द्वैताभाव—उभय के विधान करने पर वाक्य-भेद इष्ट ही है, अर्थात् उक्त स्थल पर दो ही वाक्य माने जाते हैं, एक वाक्य नहीं। यद्यपि द्वैतवत्त्वोद्देश्यतावच्छेदकद्वैताभावविधेयक (द्वैतवद् ब्रह्म द्वैताभाववत्—ऐसा) बोध आहार्य (भ्रमात्मक) कहलाता है [आहार्य ज्ञान का लक्षण किया गया है—स्वविरोधिधर्मधर्मितावच्छेदकस्वप्रकारकत्व, यहाँ द्वैताभाव का विरोधी 'द्वैतवत्त्व' धर्म उद्देश्यतावच्छेदक है और द्वैताभाव प्रकार है]। शाब्दबोध आहार्यात्मक नहीं माना जाता। तथापि उद्देश्यपरक 'इदं' पद दृश्यत्वेन द्वैत का बोधक और विधेय-घटक 'द्वैत' पद आत्मभिन्नत्वेन द्वैत का समर्पक है, अतः 'दृश्यवद् ब्रह्म आत्मभिन्नाभाववत्'—ऐसा बोध आहार्यात्मक न होने के कारण शाब्दबोध कहला सकता है [आत्मभिन्नाभाव का दृश्यवत्त्व शब्दतः विरोधी नहीं, आर्थिक विरोध तो अभीष्ट ही है, अन्यथा उससे मिथ्यात्व-निश्चय क्योंकर होगा ? क्योंकि समानकालीन विरोधिभावाभावविषयक निश्चय का नाम ही मिथ्यात्व-निश्चय होता है, उसी को उत्पन्न करने में 'एकमेवाद्वितीयम्'—इस वाक्य का सार्थक्य भी माना जाता है]। द्वैतकाल से भिन्नकालीन द्वैताभाव का निश्चय तो "तरति शोकमात्मवत्" (छां० (७।१।३), "विद्वान्नामरूपाद् विमुक्तः" (मुं० ३।२।८) तथा "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" (श्वेता० ४.१६) इत्यादि श्रुतियों और "द्वैतम्, ज्ञाननाश्यम्, दृश्यत्वात्"—इत्यादि अनुमानों से भी हो सकता है, उसी के उत्पन्न करने में "एकमेवाद्वितीयम्—इस वाक्य का वैयर्थ्य प्रसक्त होता है। परिशेषतः इस वाक्य के द्वारा समानकालीन द्वैत और द्वैताभाव का निश्चयरूप द्वैत-मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर ही अद्वैत-सिद्धि होती है।

अथवा मिथ्यात्वघटकस्याभावस्य सदा सर्वत्र विद्यमानत्वेनावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वेन मिथ्यात्वं नोक्तरूपम्, किन्तु तादृशान्यत्वविशिष्टेनाभावेन घटितम्। तथा च प्रत्यक्षादिप्रमाणस्याद्वैतश्रुतिबाध्यत्वेन ब्रह्मणि कालविशेषाद्यवच्छिन्नद्वैताभावबोधकत्वरूपे श्रुतिसङ्कोचे हेतोरभावेन तादृशाभावस्य त्रैकालिकत्वनिश्चयात्।

(२) सार्वज्ञ्यसर्वकार्योपादानत्वबोधकश्रुतेरपि लक्षणवाक्यविधया निर्विकल्पकनिश्चयजनकत्वेऽपि तत्र तादृशनिश्चयस्य सर्वद्वैततादात्म्यविशिष्टधीपूर्वकत्वात्, सर्वतादात्म्यस्यैव ब्रह्मणि सर्वविषयकत्वरूपत्वात् सर्वोपादानत्वस्य ब्रह्मणि स्वात्मकसर्वजनकरूपत्वाद्, "एकमेवाद्वितीय"मिति, "यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः", "तस्मादेतद् ब्रह्मनामरूपमि"ति श्रुतिद्वये लक्षणादिवृत्त्या द्वैतवत्परब्रह्मनिष्ठस्यावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वरूपत्रैकालिकत्वविशिष्टात्यन्ताभावस्य प्रतियोगि द्वैतमिति धीरूपो मिथ्यात्वनिश्चय इति। तत्पूर्वकत्वमुक्तनिर्विकल्पकनिश्चये आवश्यकम्।

(३) महावाक्यजन्याद्वैतनिश्चयस्यापि, "नेह नानास्ति किञ्चन", "नात्र काचन

अथवा मिथ्यात्व के "प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्"—इस लक्षण का घटकीभूत अत्यन्ताभाव सार्वदिक और सार्वदेशिक होता है, ऐसे अभाव का न कोई काल अवच्छेदक होता है और न कोई देश, अतः द्वैताभाव में द्वैतकालावच्छिन्नत्व कहना सम्भव न हो सकने के कारण मिथ्यात्व का लक्षण करना होगा—'स्वाश्रयनिष्ठावच्छिन्नवृत्तिकांयत्वविशिष्टस्वाभावप्रतियोगित्वम्।' मिथ्याभूत द्वैत प्रपञ्च स्वपदार्थ है, उसके आश्रयीभूत ब्रह्म में विद्यमान अवच्छिन्नवृत्तिकान्यत्व-विशिष्ट (निरवच्छिन्नवृत्तिक) द्वैताभाव का प्रतियोगित्व ही द्वैतगत मिथ्यात्व है। 'घटः सन्' 'पटः सन्'—इत्यादि प्रत्यक्ष परीक्षितप्रामाण्यक अद्वैतागम के द्वारा बाधित (इसी ग्रंथ के पृ० १३८ पर कथित) हो जाता है, अतः प्रत्यक्ष के अनुरोध पर द्वैत प्रपञ्च की किसी काल में सत्ता मानकर 'एकमेवाद्वितीयम्'—इस श्रुति का त्रैकालिक द्वैताभाव के बोधन में तात्पर्य न मान कर कालविशेषावच्छेदेन द्वैताभाव-बोधनरूप संकुचितार्थ में पर्यवसान नहीं किया जा सकता, फलतः इस श्रुति के द्वारा द्वैताभाव में त्रैकालिकत्व का निश्चय हो जाता है।

(२) "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" (मुं० १।१।९), "तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपम्" (मुं० १।१।९) इत्यादि सार्वज्ञ्य और सर्वकार्योपादानत्व की बोधक श्रुतियाँ भी लक्षण-वाक्य के रूप में ब्रह्मविषयक निर्विकल्पकनिश्चयात्मक अद्वैत-सिद्धि की जनक मानी जाती हैं। वहाँ भी वह निश्चय तभी हो सकता है, जब कि ब्रह्म में सर्व द्वैत का तादात्म्य निश्चय हो, क्योंकि ब्रह्म में सर्वतादात्म्य को सर्ववित्त्व (सर्व विषयकत्व) और ब्रह्म में स्वतादात्म्यापन्नसर्व-जनकत्व को सर्वोपादानत्व माना जाता है। यद्यपि उक्त श्रुति-वाक्यों में कोई द्वैताभाव-बोधक पद प्रयुक्त नहीं, तथापि "एकमेवाद्वितीयम्"—इस श्रुति से एकवाक्यतापन्न उक्त श्रुतियों के द्वारा लक्षणादि वृत्ति अपनाकर द्वैत-विशिष्ट ब्रह्मवृत्ति निरवच्छिन्नवृत्तिक अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्वरूप द्वैत में मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है। फलतः उक्त श्रुतियों से जन्य अद्वैत-सिद्धि भी द्वैत-मिथ्यात्व-निश्चयपूर्वक ही होती है।

(३) "तत्त्वमसि" (छां० ६।१४।३) इत्यादि महावाक्यों से जन्य अद्वैत-निश्चय भी तभी होगा, जब कि उससे पहले "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृह० उ०

भिदास्ति", इत्यादितत्पदार्थशोधकवाक्याधीनधीपूर्वकत्वाद्, उक्तवाक्येन वर्तमानार्थलट्प्रत्ययप्रयुक्तत्वाद् द्वैतविशिष्टब्रह्मरूपोद्देश्यार्थकेहपदयुक्तत्वाच्च वर्तमानकालावच्छेदेनोद्देश्यतावच्छेदकद्वैतवत्त्वावच्छेदकदेशकालावच्छेदेन च द्वैतविशिष्टे ब्रह्मणि अस्तित्वविशिष्टस्य द्वैताभावस्य बोधनाद्, अत्यन्ताभावस्यावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वस्वीकारे निरवच्छिन्नविशेषणतया तादृग्ब्रह्मवृत्तित्वबोधनात्, तत्सम्बन्धावच्छिन्नस्य प्रतियोगिसामानाधिकरण्यस्य निवेशादेवाव्याप्यवृत्तितामादाय मिथ्यात्वानुमाने अर्थान्तरवारणाद्, एकप्रसरताभङ्गापत्त्या ब्रह्मणीत्येकपदस्य ब्रह्माधेयत्वयोरुद्देश्यविधेययोरन्वयाबोधकत्वेऽपि ब्रह्मणीत्यनेन ब्रह्मनिरूपितत्वरूपस्योद्देश्यस्यैवास्तीत्यनेनाधेयत्वाश्रयत्वरूपविधेयस्यैव समर्पणेन ब्रह्मनिरूपिताधेयत्वे तत्तद्देशाद्यवच्छिन्नत्वलाभात्, "यस्मिन् पञ्च पञ्च जना आकाशश्च प्रतिष्ठित" इति

४।४।१९), "नात्र काचन भिदास्ति" (म० वा० र० ४) इत्यादि तत्पदार्थ-शोधक वाक्यों के द्वारा द्वैत-विशिष्ट ब्रह्म में द्वैताभाव का बोधन किया जा रहा है, क्योंकि 'अस्ति' में वर्तमानार्थक 'लट्' प्रत्यय प्रयुक्त है और द्वैतविशिष्टब्रह्मरूप उद्देश्य का समर्पक 'इह' पद वहाँ रखा गया है, अतः उद्देश्यतावच्छेदकीभूत द्वैतवत्त्व और अस्तित्व-शिष्ट द्वैत के अभाव का समकालीनत्व अवगत होता है। यदि अत्यन्ताभाव को निरवच्छिन्नवृत्तिक माना जाता है, तब निरवच्छिन्नत्वरूप विशेषण से विशिष्ट द्वैताभाव की वृत्तिता का बोध उक्त वाक्य से किया जा सकता है, क्योंकि 'प्रपञ्चो मिथ्या (स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगी) दृश्यत्वात्'—इस अनुमान में कपिसंयोगादि के समान प्रपञ्च में अव्याप्यवृत्तित्वरूप अर्थान्तर की सिद्धि को लेकर प्राप्त अर्थान्तर नाम के निग्रहस्थान को हटाने के लिए स्वसमानाधिकरण अभाव में 'निरवच्छिन्नवृत्तिकत्व' विशेषण दिया ही जाता है।

यद्यपि उक्त वाक्य के द्वारा द्वैताभावगत ब्रह्म-निरूपित आधेयता में द्वैतकालावच्छिन्नत्व का भान नहीं हो सकता, क्योंकि 'इह'—इस एक ही पद के द्वारा ब्रह्म और आधेयता—इन दोनों का बोध होता है, एक पद के द्वारा उपस्थापित अर्थ के एक देश (ब्रह्म) को उद्देश्य और दूसरे भाग (आधेयत्व) को विधेय [वैसे ही नहीं माना जा सकता, जैसे जै० सू० ३।५।१० में कहा है—"वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः"—इस वाक्य के द्वारा वषट्कार (होता) के उद्देश्य से प्राथम्य-विशिष्ट भक्षण का विधान किया जाता है, भक्षण के उद्देश्य से प्राथम्य मात्र का विधान नहीं हो सकता, क्योंकि 'प्रथमभक्षः' इस एक ही पद के द्वारा समर्पित भक्ष भाग को उद्देश्य और प्राथम्य भाग को विधेय] नहीं माना जा सकता, अन्यथा एकप्रसरता (पदगत एकार्थीभावरूप सामर्थ्य) भंग हो जाती है, क्योंकि एक पद का यह सामर्थ्य है कि वह अपने पूरे पदार्थ को उद्देश्य या विधेय के रूप में बोधित करता है।

तथापि जिस आधेयता में द्वैतकालावच्छिन्नत्व का भान होता है, वह 'इह' पद से बोधित न होकर 'अस्ति' पद से अवगमित मानी जाती है। 'ब्रह्म अप्रक्रान्त होने के कारण 'इह' पद का ब्रह्मणि अर्थ कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर है कि "नेह नानास्ति" (बृह० उ० ४।४।१९) इस वाक्य से पूर्व "यस्मिन् पञ्च पञ्च जना आकाशश्च

वाक्ये "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षु"रित्यादिवाक्ये चाकाशशब्दिताव्याकृतप्राणादि-सम्बन्धितया ब्रह्मण उक्तत्वात् पञ्चजनशब्दस्य गन्धर्वादिरूपस्य ब्राह्मणादिरूपस्य वा भाष्योक्तार्थस्य, "यस्य ब्रह्म च क्षत्त्रं चेतिवाक्ये ब्रह्मक्षत्रपदयोरिव सर्वदृश्योपलक्षणत्वेन प्राणस्येत्यादेरपि सर्वदृश्योपलक्षणत्वेन सर्वदृश्यसम्बन्धित्वेनैव ब्रह्मणः पूर्वमुक्तत्वाच्चाद्वैतसिद्धेः द्वैतमिथ्यात्वपूर्वकत्वम् ।

न च नानेत्यस्य नञ्पदनिष्पन्नत्वेन भेदार्थकतया स्वसमभिव्याहृतपदार्थब्रह्मभेदबोधकतया तादृशभेदविशिष्टस्य किञ्चनेति पदार्थस्यात्यन्ताभावे द्वैतवत्त्वदेशकालावच्छिन्नत्वस्य भानं न व्युत्पत्तिसिद्धम् , उद्देश्यतावच्छेदकतत्तद्देशकालावच्छिन्नत्वयोः तत्तद्देशकालादिविशिष्टोद्देश्यस्थले भानादिति वाच्यम् , तादृशाभावे तादृशावच्छिन्नब्रह्मवृत्तित्वबोधेऽप्युद्देश्यसिद्धेः । न हि तत्र तत्केनापि स्वीक्रियते । प्रलयेऽपि तादृशाभावे तार्किकादिभिस्तदस्वीकारात् मिथ्यात्ववादिनैव तत्स्वीकारात् ।

प्रतिष्ठितः" (बृह० उ० ४।४।१७) तथा "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः" (बृह० उ० ४।४।१८) इत्यादि वाक्यों में क्रमशः आकाश-वाच्य मायाख्य अव्याकृतसम्बन्धित्वेन और प्राणसंबन्धित्वेन ब्रह्म का ही ग्रहण किया गया है । 'पञ्चजन' शब्द भाष्योक्त गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र और निषाद—इन पांच पदार्थों के माध्यम से वैसे ही द्वैतमात्र का उपलक्षक है, जैसे कि "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च" (कठो० २।२५) यहाँ पर ब्रह्म और क्षत्र पद सर्व दृश्य का उपलक्षक है, अतः सर्वतादात्म्यापन्नत्व रूप से ब्रह्म प्रक्रान्त होने के कारण 'नेह नानास्ति'—यहाँ इह पद के द्वारा बोधित हो सकता है । सर्वथा यह निश्चित है कि अद्वैत-निश्चय द्वैत-मिथ्यात्व-निश्चपूर्वक ही होता है ।

शङ्का—"नेह नानास्ति किञ्चन"—यहाँ पर 'नाना' पद "विनञ्भ्यां नानाञौ न सह" (पा० सू० ५।२।२७) इस सूत्र के द्वारा असहार्थक नञ् पद से स्वार्थ में 'नाञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है, अतः असह वा भेदरूप अर्थ का वाचक है । नञ् का यह स्वभाव है कि वह स्व-समभिव्याहृत पद से उपस्थापित वस्तु के भेद का बोधन करता है, अतः प्रकृत में ब्रह्म-भेद का समर्पक सिद्ध होता है, जिसको लेकर 'नेह नानास्ति किञ्चन' का अर्थ होता है—'इह ब्रह्मभिन्नं किञ्चित् नास्ति ।' फलतः न तो यहाँ 'नञ्' पद से अत्यन्ताभाव का बोधन होता है और न उस में द्वैतवत्त्व-देशकालावच्छिन्नत्व का भान, क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदकदेशकालावच्छिन्नत्व का भान वहाँ पर ही विधेय में होता है, जहाँ पर उद्देश्य पदार्थ देशकाल से अवच्छिन्न हो, प्रकृत में ब्रह्म देशकाल-परिच्छेद से रहित है, अतः यहाँ वह कदापि सम्भव नहीं ।

समाधान—'इह (ब्रह्मणि) ब्रह्मभिन्नवस्तुसामान्याभावः'—इस प्रकार सामान्याभाव में द्वैतावच्छिन्न ब्रह्म की वृत्तितामात्र के ज्ञान से भी हमारा उद्देश्य (महावाक्य-जन्य अद्वैतसिद्धि के पहले द्वैत में मिथ्यात्व सम्पन्न हो जाता है, क्योंकि अद्वैतवादी को छोड़ कर ब्रह्म-भिन्न वस्तु-सामान्य के अभाव में द्वैतकालावच्छिन्न ब्रह्म की वृत्तिता अन्य कोई भी नहीं मानता । तार्किकादि भी प्रलयावच्छेदेन उक्त अभाव में द्वैतकालावच्छिन्न ब्रह्म-वृत्तिता नहीं मानते, केवल द्वैत-मिथ्यात्ववादी ही मानते हैं ।

वस्तुतः 'नाना' पद-वाच्य ब्रह्म-भेद प्रतियोगितावच्छेदक (प्रतियोगिविशेषण) के रूप में प्रतीत नहीं होता, किन्तु किंचन पदार्थ में उपलक्षणविधया प्रकारमात्र है ।

वस्तुतस्तु ब्रह्मभेदो न प्रतियोगितावच्छेदकतया भाति, किन्तूपलक्षणतया किंचन पदार्थे प्रकारः। तथा च तत्पदस्य सर्वनामतया प्रसिद्धार्थतया प्रत्यक्षादिमानसिद्धद्रव्यत्वादिविशिष्टबोधकत्वेन प्रसिद्धार्थकत्वात् प्रक्रान्तार्थकत्वाद्वा घटत्वादिविशिष्टवत् ब्रह्मबोधनात्, द्रव्यत्वादिविशेषरूपेणैव मिथ्यात्वलाभः। घटवत् द्रव्यवदित्येवमुद्देश्यतावच्छेदकभानेऽपि द्रव्यं नास्तीत्यादिविधेयांशे घटत्वादिविशिष्टस्योद्देश्यतावच्छेदत्वेन द्रव्यत्वादिविशिष्टाभावज्ञानस्य नाहार्यत्वापत्तिरिति भावः।

वादः तत्त्वबुभुत्सुना सह कथा। जल्पो विजिगीषुणा सह। वितण्डा-स्वपक्षस्थापनहीना। कथा पञ्चावयवपरिकरोपेतवाक्यम्। सिषाधयिषेत्यादि। सिषाधयिषाभावसामानाधिकरण्यविशिष्टस्य साध्यनिश्चयस्याभावरूपाया इत्यर्थः। संशयस्य संशयहेतुत्वस्वीकारस्य। अतिप्रसञ्जकत्वाद्-आहार्यपरामर्शादेर्हेतुत्वापादकत्वाद्। "पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे"ति। पक्षे धर्मिणि प्रतिनियतपक्षपरिग्रहेत्यर्थः। वादिनोर्भावाभावान्यतरकोटेरेकधर्मिणि प्रयोगेति यावत्। तथापि—अनुमित्यजनत्वेऽपीति। अनुमितिं प्रति तथाविधमेव यदङ्गत्वं तदभावेऽपीत्यर्थः। प्रथमस्यापिशब्दस्यैवकारसमानार्थकत्वाद् यद्यपीत्यस्य पूर्वं सत्त्वात्तथापीत्यन्यदध्याहार्यम्। एकेनैव वा तथापीत्यनेनार्थद्वयबोधः। अथवा अङ्गत्वपदस्य पूर्वशङ्किताङ्गत्वमर्थः।

किंचन पद का घटकीभूत 'किम्' पद सर्वनामसंज्ञक होने के कारण प्रसिद्धार्थक है, अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा सिद्ध घटादि द्रव्य का बोधक है। 'इह' पद भी प्रसिद्धार्थक या प्रकृतार्थक होने के कारण घटादि-विशिष्ट ब्रह्म का बोधक है, अतः 'ब्रह्मभेदोपलक्षितद्रव्यत्वविशिष्टाभावो घटत्वविशिष्टवद्ब्रह्मवृत्तिः'—इस प्रकार के बोध से द्वैत में द्रव्यत्वादि विशेषरूपेण मिथ्यात्व का लाभ हो जाता है। 'घटवति ब्रह्मणि द्रव्यं नास्ति', 'द्रव्यवति ब्रह्मणि जातिमान् नास्ति'—इत्यादि बोधों में उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय की शब्दतः भावाभावरूपता प्रतिपादित न होने के कारण आहार्यरूपता की आपत्ति नहीं हो सकती।

यहाँ 'वाद' पद का अर्थ है—तत्त्वबुभुत्सु पुरुष के साथ शास्त्र-चर्चा, विजयाभिलाषी व्यक्ति के साथ होनेवाली कथा को 'जल्प' और अपने पक्ष की स्थापना से हीन कथा को 'वितण्डा' कहा जाता है। 'कथा' उस वाक्यावलि का नाम है, जिसमें विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तर पक्ष और प्रयोजनरूप पाँच पदार्थ निहित होते हैं। मूल में पक्षता का जो लक्षण किया गया है—'सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकमानाभावरूपता', उसका अर्थ है--'सिषाधायिषाविरह-समानाधिकरण जो साध्य-निश्चय है, उस का अभाव। मूलकार ने जो कहा है—'आहार्यसंशयस्यातिप्रसञ्जकत्वात्', उस का अर्थ है—आहार्यसंशयनिष्ठस्य अनुमितिहेतुत्वस्वीकारस्यातिप्रसञ्जकत्वात्। अर्थात् आहार्य संशय को यदि अनुमिति का हेतु माना जाता है, तब आहार्यपरामर्शादि को भी अनुमिति का हेतु मानना पड़ेगा। "पक्षप्रतिपक्षपरिग्रह" का अर्थ 'पक्ष (स्थापनीय कोटि) और प्रतिपक्ष (विपरीत कोटि) का परिग्रह' नहीं, अपितु 'पक्ष में प्रतिपक्ष का परिग्रह'—ऐसा अर्थ अभीष्ट है, जिससे एक ही (प्रपञ्चादि) धर्मी में भाव (सत्यत्व) और अभाव (सत्याभाव) दोनों कोटियों का क्रमशः वादी और प्रतिवादी के द्वारा ग्रहण (प्रयोग) पर्यवसित होता है। "तथापि अनुमित्यनङ्गत्वेऽपि" का अर्थ है—अनुमिति के प्रति तथैव (पूर्वाशङ्कित) जो अङ्गता, उसका अभाव होने पर भी, क्योंकि प्रथम 'अपि' शब्द

"व्युदसनीयतया" विचारसाध्याभावप्रतियोगितया। "विचाराङ्गत्वं" विचार-प्रवृत्त्युपयुक्तस्य संशयाभावरूपफलज्ञानस्य विशेषणज्ञानविधया कारणे ज्ञाने विषयत्वम्। तथा च विप्रतिपत्तिवाक्यात् संशये जाते संदेह्मीत्याकारकेण संशयरूप-विशेषणज्ञानेन संशयाभावरूपज्ञानाधीनेच्छया विचारे प्रवृत्तिरित्येवंरीत्या विचारे विप्रतिपत्तिवाक्योपयोग इति भावः।

ननु वादिनोः स्वस्वकोटिनिश्चयकाले तत्संशयोत्पादानुपपत्तिः—अत आह—"तादृशेति"। विचाराङ्गेत्यर्थः। "स्वरूपयोग्यात्वात्" कारणत्वात्। प्राचीनमते विप्रत्तिपत्तिवाक्यस्य शाब्दधीरूपसंशयोत्पादकत्वस्वीकारात्। प्रत्यक्षस्यैव संशयत्व-मिति मते तु कारणीभूतकोटिद्वयोपस्थितिहेतुपदघटितत्वादित्यर्थः। तथा च वादिनो-र्निश्चयकाले संशयानुत्पत्तावपि संशयकारणत्वादिरूपेण ज्ञाता विप्रतिपत्तिः संशयं स्मारयति, ययोः सम्बन्धः पूर्वं गृहीतः, तयोरेकज्ञानस्यापरस्मारकत्वात्। तथा च तदैव तथा तस्या उपयोग इति भावः। "आभिमानिकनिश्चयाभिप्रायम्"—इति निश्चय-वानस्मीति ज्ञापयन्तौ विवदेते इत्यर्थकम्। तथा च वादिनोर्निश्चयकाले सभापत्यादीनां

एवकारार्थक है। यहाँ 'तथापि' का तथैव अर्थ कर देने पर पहले प्रयुक्त 'यद्यपि' की संगति बिठाने के लिए दूसरे 'तथापि' पद का अध्याहार कर लेना चाहिए। अथवा एक ही 'तथापि' पद से दोनों अर्थों का बोध हो सकता है। यद्वा 'तथापि' का 'तथैव' अर्थ न कर 'अङ्गत्व' पद का ही पूर्वशङ्किताङ्गत्व अर्थ किया जा सकता है। "व्युदस-नीयतया" का अर्थ निवतनीयतया नहीं, अपि तु विचार-साध्याभाव-प्रतियोगितया है। मूलकार ने जो विप्रतिपत्ति-जन्य संशय में विचाराङ्गत्व कहा है, उसका अर्थ है—विचार में प्रवृत्ति के उपयोगीभूत संशयाभावरूप फल के ज्ञान में विशेषण-ज्ञान विधया कारणीभूत संशय-ज्ञान का विषयत्व। फलतः बिप्रतिपत्ति वाक्य से संशय के उत्पन्न हो जाने पर 'सन्देह्मि'—इस प्रकार संशयरूप विशेषण का ज्ञान हो जाता है, तब संशयाभावरूप फल-ज्ञान-जन्य इच्छा के द्वारा विचार में वादी की प्रवृत्ति हो जाती है—इस प्रकार विचार में विप्रतिपत्ति वाक्य का उपयोग सिद्ध होता है।

'वादी और प्रतिवादी को जब अपनी-अपनी कोटि का निश्चय हो, तब विप्रति-पत्ति वाक्य से संशय नहीं होता, अतः विप्रतिपत्ति वाक्य में संशय-जनकत्व क्यों रहेगा ?'—इस शङ्का का समाधान करने के लिए मूलकार ने कहा है—"तादृशसंशयं प्रति विप्रतिपत्तेः क्वचिन्निश्चयादिप्रतिबन्धादजनकत्वेऽपि स्वरूपयोग्यत्वात्"। 'स्वरूप-योग्यत्वात्' का अर्थ है—कारणत्वात्, क्योंकि प्राचीन नैयायिक शाब्दबोधात्मक संशय की कारणता विप्रतिपत्ति वाक्य में मानते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान में ही संशयत्व माननेवाले आचार्यों के मतानुसार कारणत्वात् का अर्थ है—'कारणीभूतकोटिद्वयोपस्थितिहेतुपद-घटितत्वात्'। अर्थात् वादिगणों को जब अपनी-अपनी कोटि का निश्चय होता है, तब विप्रतिपत्ति वाक्य से संशय उत्पन्न न होने पर भी संशयकारणत्वेन ज्ञात विप्रतिपत्ति संशय का स्मरण कराती है, क्योंकि जिन दो पदार्थों का सम्बन्ध निश्चित हो जाता है, उनमें से एक पदार्थ का ज्ञान या ज्ञायमान एक पदार्थ दूसरे का स्मारक होता है। फलतः निश्चय काल में भी संशय-स्मारकत्वेन विप्रतिपत्ति वाक्य का उपयोग हो जाता है। "आभिमानिकनिश्चयाभिप्रायम्"—इस मूल वाक्य का अर्थ है कि प्रत्येक वादी 'निश्च-यवानस्मि'—इस प्रकार का अभिनय करता हुआ वादादि में प्रवृत्त होता है, इस लिए

संशयाभावमुद्दिश्य विचारे प्रवृत्तिरितिभावः ।

ननु विशेषणज्ञानस्य विशिष्टबुद्धिहेतुत्वमते नोक्तरीत्या विप्रतिपत्तिरुपयुज्यत इति चेत् । सत्यम् , तथापि स्वस्य परस्य वा संशयाभाववत्त्वे निश्चिते तत्र सिद्धत्वज्ञानात् , न तदुद्देश्येन प्रवृत्तिरतः संशयाभाववत्त्वनिश्चयविरोधिनी संशयवत्त्वधीरपेक्ष्यत एव । ननु वादिनोरन्येषां च सभास्थानां निश्चये वादिभ्यां निश्चिते संशयाभावमुद्दिश्य न विचारे तयोः प्रवृत्तिः, किन्तु विजयादिकमुद्दिश्य । तत्र च विप्रतिपत्तिर्नोपयुज्यत अत आह—"तस्मादिति" । "स्वकर्तव्येति" । उक्तस्थले तात्कालिके संशयाभावे निश्चितेऽपि निश्चयजन्यसंस्कारस्य कालान्तरे उच्छेदशङ्कया संशयोत्पत्तिसंभवज्ञानेन तदापि संशयाभावोऽनुवर्ततामितीच्छायाः सम्भवान्न विजयादिकमात्रमुद्दिश्य प्रवृत्तिः । किञ्च यथा समयबन्धः पतन्मतमवलम्ब्यैव युवाभ्यां विचारणीयमित्याकारको मध्यस्थेन क्रियते, अन्यथा वादिनोर्मतान्तरप्रवेशेऽव्यवस्थापत्तेः । यथा वा वादिनो

वादिगणों के निश्चय-काल में न तो संशय होता है और न अपने संशय को दूर करने के लिए विचार में उनकी प्रवृत्ति, अपि तु सभाध्यक्षादि को संशय से मुक्त करने के लिए प्रवृत्ति होती है ।

शङ्का—विप्रतिपत्ति वाक्य का व्युदसनीय संशयोपस्थापकत्वेन उपयोग होने पर भी जो लोग विशिष्ट-ज्ञान में विशेषण-ज्ञान को हेतु मानते हैं, उनके मतानुसार विशेषण-ज्ञान-जनकत्वेन विप्रतिपत्ति वाक्य का उपयोग नहीं होता ।

समाधान—विप्रतिपत्ति वाक्य से संशयरूप विशेषण का ज्ञान उत्पन्न होता है, वादी को 'संशयवानस्मि'—इस प्रकार की विशिष्ट बुद्धि होती है, अतः विशेषण-ज्ञान-जनकत्वेन विप्रतिपत्तिवाक्य का उपयोग सिद्ध हो जाता है । संशयवानस्मि'—इस प्रकार का ज्ञान न होने पर 'निश्चयवानस्मि'—इस प्रकार का फल-ज्ञान हो जायगा विचार में प्रवृत्ति न होगी, अतः फल-ज्ञान-विघटक विशिष्ट-ज्ञान में विशेषणीभूत संशय का ज्ञान विप्रतिपत्ति वाक्य से होता है, फलतः विशेषणज्ञान-जनकत्वेन विप्रतिपत्ति वाक्य का उपयोग सिद्ध हो जाता है ।

जब वादिगणों और सभास्थ सभी व्यक्तियों को निश्चय ही है, संशय नहीं, तब संशयाभाव के उद्देश्य से वादादि में प्रवृत्ति सम्भव नहीं, केवल विजयाभिलाषा से ही प्रवृत्ति का निर्वाह करना होगा, ऐसे स्थल पर विप्रतिपत्ति का कोई उपयोग नहीं, फिर उस का प्रदर्शन क्यों ? इस शङ्का का समाधान मूलकार ने किया है—'तस्मात् समयबन्धादिवत् स्वकर्तव्यनिर्वाहाय मध्यस्थेन विप्रतिपत्तिः प्रदर्शनीयैव'' । अर्थात् उक्त स्थल पर वर्तमान काल में संशयाभाव निश्चित होने पर भी सदैव यह संशयाभाव बना रहेगा—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि निश्चय-जन्य संस्कारों का कालान्तर में उच्छेद हो जाने से संशय की उत्पत्ति हो सकती है, अतः सदैव संशयाभाव बना रहे—इस प्रकार की इच्छा से भी विचार में प्रवृत्ति हो सकती है, केवल विजयादि के उद्देश्य से ही प्रवृत्ति होती है—ऐसा नियम नहीं किया जा सकता ।

दूसरी बात यह भी है कि जैसे शास्त्रार्थ के आरम्भ में मध्यस्थ कुछ आवश्यक समयबन्धों (संकेतों या निर्बन्धों) का निर्देश करता है कि 'वादिगणो ! अमुक मत का अवलम्बन कर आप लोगों को विचार करना चाहिए'—इत्यादि । अन्यथा वादी-प्रतिवादी का विचार व्यवस्थित न रह सकेगा । अथवा जैसे शास्त्रार्थ में प्रवेशार्थी

परीक्ष्येते, अन्यथा मूर्खस्य विचारे मध्यस्थस्यैव हास्यत्वापत्तेः, तथा विप्रतिपत्तिरपि मध्यस्थेन कार्यैव, अन्यथा प्रासङ्गिकविषयमादाय वादिनोरेकस्य जयस्वीकारापत्त्या प्रकृतविषये तयोर्जयपराजयव्यवस्थापनरूपस्य मध्यस्थकर्तव्यस्यानिर्वाहात्। विप्रतिपत्तौ कृतायां तु सभास्थैस्तच्छ्रवणात्तद्विषयकोटी अपलव्य प्रासङ्गिकविषयान्तरं न वादिभ्यामवलम्ब्य विजयः स्वीकर्तुं शक्यते। तस्मात्सार्वकालिकसंशयाभावप्रयोजकसंस्कारदार्ढ्यस्योक्तव्यवस्थापनस्य च स्वकर्तव्यस्य निर्वाहाय मध्यस्थेन विप्रतिपत्तिः कार्यैवेति भावः।

"प्रतिपन्ने"त्यादि। स्वसम्बन्धितया ज्ञाते सर्वत्र धर्मिणि। "त्रैकालिकस्य" सर्वदा विद्यमानस्य। "निषेधस्य"—अत्यन्ताभावस्य। "प्रतियोगि न वा"। येन सम्बन्धेन यद्रूपविशिष्टसम्बन्धितया यत् ज्ञातं तत्सम्बन्धतद्रूपावच्छिन्नं तन्निष्ठोक्ताभावस्य प्रतियोगित्वं निवेश्यम्, अन्यथा सम्बन्धान्तररूपान्तरावच्छिन्नमुक्तप्रतियो-

---

वादियों की सामान्य परीक्षा ली जाती है, अन्यथा मूर्ख व्यक्तियों के विचार में घुस जाने पर मध्यस्थ की ही हँसी होती है। वैसे ही मध्यस्थ के द्वारा विप्रतिपत्ति वाक्य का भी उद्भावन किया जाना आवश्यक है, अन्यथा किसी प्रासङ्गिक विषय को लेकर वादियों में से एक की विजय स्वीकार करनी पड़ेगी और मध्यस्थ का जो मुख्य कर्त्तव्य है—प्रकृत विषय में जय-पराजय की व्यवस्था, उसका निर्वाह न हो सकेगा। विप्रतिपत्ति वाक्य का निर्देश हो जानें पर किसी प्रकार की अनियमितता नहीं होनें पाती और सभास्थ व्यक्ति जागरुक हो जाते हैं, प्रकृत विषय-कोटियों को छोड़कर न तो वादी-प्रतिवादी इधर-उधर जाने पाते हैं और न किसी प्रासङ्गिक विचार में उनकी विजय-पराजय ही स्वीकार की जा सकती है। फलतः सार्वदिक संशयाभावविषयक संस्कारों की दृढता और अपनें व्यवस्थापन कर्त्तव्य का निर्वाह करने के लिए मध्यस्थ को विप्रतिपत्ति वाक्य का प्रयोग करना ही चाहिए।

विप्रतिपत्ति वाक्य-घटक "प्रतिपन्नोपाधौ" पद का अर्थ है—मिथ्यात्वेनाभिमत पदार्थ के सम्बन्धित्वेन ज्ञात धर्मी में। अर्थात् 'प्रतिपन्न' का अर्थ स्वसम्बन्धित्वेन ज्ञात और 'उपाधि' पद का अर्थ आश्रय है। "त्रैकालिक" का अर्थ सर्वदा विद्यमान है। "निषेध" का अर्थ अत्यन्ताभाव है। "प्रतियोगी ? न वा ?" यहाँ पर जिस सम्बन्ध से जिस धर्म से विशिष्ट पदार्थ का सम्बन्धित्वेन ज्ञात जो धर्मी है, उसी धर्मी में रहने वाले अत्यन्ताभाव का उसी सम्बन्ध और उसी धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगित्व को मिथ्यात्व का परिष्कृत रूप समझना चाहिए, अन्यथा सम्बन्धान्तर और धर्मान्तर से अवच्छिन्न उक्त प्रतियोगित्व को लेकर सिद्ध-साध्यता प्रसक्त होती है [तार्किक गण कपाल को समवाय सम्बध से घट का अधिकरण मानते हैं, अतः 'समवायेन घटत्वेन घटो नास्ति'—ऐसा अत्यन्ताभाव कपाल में नहीं मानते, किन्तु 'संयोगेन घटो नास्ति या पटत्वेन घटो नास्ति'—ऐसा अत्यन्ताभाव मानते हैं, क्योंकि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक या व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव सर्वत्र माना जाता है, इस अत्यन्ताभाव की व्यावृत्ति करनें के लिए आधेयतावच्छेदक और प्रतियोगितावच्छेदक धर्मों और सम्बन्धों की एकता का निवेश परम आवश्यक है, अतः मिथ्यात्व का परिष्कृत स्वरूप है—यत्सम्बन्धावच्छिन्नयद्धर्मावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतावद् यत् प्रतीयते, तत्सम्बन्धावच्छिन्नं तद्धर्मावच्छिन्नं तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्।

गित्वमादायसिद्धसाध्यतापत्तेः। स्वपदं रजतत्वादिविशिष्टपरम्। नव्यमते स्वत्वस्याननुगतत्वात्तत्तद्व्यक्तिपरत्वे व्यक्तिभेदेन मिथ्यात्वस्य भेदापत्तेः। तथा च रजततादात्म्येन ज्ञायमानं यच्छुक्त्यादिकं तन्निष्ठाभावीयं यद्रजतत्वतादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वं तस्य प्रातीतिक इव व्यावहारिकेऽपि रजते सत्त्वात्तत्र सिद्धसाधनवारणाय सर्वत्रेत्युक्तम्। कालिकाव्याप्यवृत्तिमदत्यन्ताभावमादायार्थान्तरतापत्तेस्त्रैकालिकेत्युक्तम्। यद्यपि अत्यन्ताभावस्यैव प्रतियोगिता भेदसहिष्णुना तादात्म्येनावच्छिन्ना, न तु भेदस्य; तादृशतादात्म्यस्य भेदाविरोधित्वाद्, भेदासहिष्णु च तादात्म्यं नास्त्येव अत्यन्ताभेदे तादात्म्यादिसम्बन्धासम्भवात्; तथापि प्रकृतानुमानात्तादात्म्यावच्छिन्नभेदप्रतियोगितासिद्धिमादायार्थान्तरं स्यात्। अतोऽत्यन्ताभावेत्युक्तम्। संसर्गाभावो

तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नरजतत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणता शुक्ति में प्रतीत होती है, अतः शुक्ति में 'तादात्म्येन रजतत्वेन रजतं नास्ति'—इस प्रकार के अत्यन्ताभाव का जो तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न और रजतत्वावच्छिन्न प्रतियोगित्व है, वही उसका मिथ्यात्व है]। 'स्वसम्बन्धितया ज्ञाते'—यहाँ 'स्व' पद रजतत्व-विशिष्ट अर्थ का बोधक है, क्योंकि नव्य नैयायिक 'स्वत्व' धर्म को अनुगत नहीं मानते, अतः 'स्व' पद का यथाश्रुत निवेश करने पर लक्षण अनुगत न होकर अननुगत हो जाता है, अतः 'स्व' पद को रजतत्वादि-विशिष्टपरक मानना आवश्यक है।

रजत-तादात्म्येन ज्ञायमान शुक्त्यादि में रहने वाले 'तादात्म्येन रजतं नास्ति'—इस प्रकार के अत्यन्ताभाव का रजतत्वतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगित्व जैसे प्रातिभासिक रजत में है, वैसे ही व्यावहारिक रजत में भी है, अतः इस प्रकार के मिथ्यात्व की सिद्ध-साधनता हटाने के लिए मूल में कहा है—"सार्वत्रिक"। शुक्ति में व्यावहारिक रजत का अभाव रहने पर भी सर्वान्तर्गत व्यावहारिक रजत के उपादानभूत व्यावहारिक अवयवों में तादात्म्येन रजत का सत्त्व ही माना जाता है, अत्यन्ताभाव नहीं, अतः सिद्ध-साधनता नहीं होती। सभी जन्य पदार्थ काल में रहते हैं और उनका अत्यन्ताभाव भी, अतः कालिकसम्बन्धेन स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व अभीष्ट ही है, किन्तु यह मिथ्यात्व नहीं, कालिक अव्याप्यवृत्तित्व मात्र है, इस अर्थान्तरता की व्यावृत्ति करने के लिए त्रैकालिक कहा गया है। काल में वस्तु का त्रैकालिक अभाव नहीं माना जाता, अतः अर्थान्तरता नहीं होती।

यद्यपि अद्वैत वेदान्त में कपालादि उपादान और घटादि उपादेय का जो तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता है, वह भेद-सहिष्णु होता है और अत्यन्ताभावीय प्रतियोगिता का ही अवच्छेदक होता है, भेदीय प्रतियोगिता का नहीं, क्योंकि वह अत्यन्ताभाव का ही विरोधी होता है, भेद का नहीं, और अभाव-विरोधी प्रतियोगिसम्बन्ध को ही प्रतियोगितावच्छेदक माना जाता है। वैसा तादात्म्य सम्बन्ध घटादि का कपालादि में ही रहता है, घटादि (स्वयं अपने) में नहीं, क्योंकि अत्यन्ताभेद में कोई भी सम्बन्ध नहीं रह सकता। फलतः उपादेयतावच्छेदकतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव से अत्यन्ताभाव का ही ग्रहण होता है, भेदादि का नहीं, फिर निषेध का अत्यन्ताभाव अर्थ करना व्यर्थ है, केवल अभाव अर्थ करना चाहिए।

तथापि प्रकृत अनुमान के द्वारा भेद की तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता की सिद्धि मानकरअ र्थान्तरता होती है, उसकी निवृत्ति के लिये 'अत्यन्त' पद सार्थक है।

वा निवेश्यः। तादृशाभावप्रतियोगितावच्छेदकरजतत्वादिमत्त्वस्य साध्यत्वे साध्याप्रसिद्धिः, अतस्तदपहाय तादृशप्रतियोगित्वमेव साध्यं कृतम्। तस्यापि शुक्तिरूप्यादावनुमानात्पूर्वमसिद्धिः। रजतसम्बन्धितया प्रतीयमानसर्वान्तर्गतव्यावहारिकरजतादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य तादृशावच्छिन्नस्य तत्राभावात्। अतो व्यावहारिकपक्षकविशेषानुमानेषु रजतत्वादिना घटो नास्तीति प्रतीतेः घटादिरेव दृष्टान्तः।

ननु तादृशप्रतियोगिताया व्यधिकरणावच्छेदकरजतत्ववत्त्वं शुक्तिरूप्यादावपि प्रसिद्धया तदेव साध्यं कुतो न कृतमिति—चेन्न। तथा सति व्यावहारिकरजतादिरूपे पक्षे तत्प्रसिद्धया सिद्धसाधनतापत्तेः। समानाधिकरणावच्छेदकरजतत्वस्यैव साध्यीकार्यत्वे प्रसिद्ध्यावश्यकत्वात्। सामान्यानुमाने तु शुक्तिरूप्यादिकं मूलोक्तं दृष्टान्तः। स्वत्वस्यानुगतस्य प्राचां मते स्वीकारेण स्वत्वविशिष्टसम्बन्धितया ज्ञायमाने सर्वत्र विद्यमानात्यन्ताभावस्य प्रातीतिकरजतत्वतादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्य प्रातीतिकरजतादौ सत्त्वात्। न चैवं सर्वदेशकालवृत्तिव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं पर्यव-

---

अथवा लाघव को ध्यान में रखते हुए अत्यन्ताभाव के स्थान पर संसर्गाभाव रखा जा सकता है। [यद्यपि 'संसर्गाभाव' पद से ध्वंस और प्रागभाव का भी ग्रहण होता है और उनकी प्रतियोगिता को लेकर अर्थान्तरता भी होती है, तथापि 'त्रैकालिक' विशेषण के द्वारा ध्वंस और प्रागभाव की व्यावृत्ति हो जाती है]।

'प्रतियोगि ? न वा ?'—यहाँ पर कथित प्रतियोगित्व को ही साध्य बनाया गया है, प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नत्व को नहीं, अन्यथा साध्याप्रसिद्धि हो जाती, क्योंकि रजतत्वेन ज्ञात सर्वान्तर्गत व्यावहारिक रजतावयव में रजत सामान्य का अभाव नहीं, अतः रजतत्व में उक्त प्रतियोगितावच्छेदकत्व दुर्घट है। उक्त प्रतियोगित्व भी शुक्ति-रजतादि में अनुमान के पूर्व सिद्ध नहीं, क्योंकि रजत-सम्बन्धिया प्रतीयमान सर्वान्तर्गत व्यावहारिकरजतावयवनिष्ठ अत्यन्ताभाव की उक्त प्रतियोगिता शुक्ति-रजत में नहीं है, अतः व्यवहारिकपक्षक विशेषानुमानों में 'रजतत्वेन घटो नास्ति'—ऐसी प्रतीति को लेकर घटादि को दृष्टान्त बनाया जा सकता है, शुक्ति-रजत को नहीं।

शङ्का—'रजतत्वेन घटो नास्ति'—इस प्रकार के व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिकताक अभाव की प्रतियोगितावच्छेदकरजत्ववत्त्व तो शुक्ति-रजत में भी प्रसिद्ध है, अतः प्रतियोगित्व को साध्य न बनाकर प्रतियोगितावच्छेदकवत्त्व को साध्य क्यों नहीं बनाया गया ?

समाधान—उक्त प्रतियोगितावच्छेदकवत्त्व जैसे प्रातिभासिक रजत में प्रसिद्ध है, वैसे ही व्यावहारिक रजत में भी, अतः सिद्ध-साधनता हो जाती, उससे वचने के लिए उक्त प्रतियोगित्व को ही साध्य बनाया गया है, प्रतियोगितावच्छेदकवत्त्व को नहीं। प्रतियोगिता के समानाधिकरणावच्छेदक रजतत्व को साध्य बनाने पर उसकी प्रसिद्धि आवश्यक है। मिथ्यात्व के सामान्यानुमान में तो मूलोक्त शुक्ति-रजतादि ही दृष्टान्त है। प्राचीन नैयायिक स्वत्व को भी अनुगत धर्म ही मानते हैं, अतः स्वत्व-विशिष्ट-सम्बन्धितया ज्ञायमान सर्वत्र विद्यमान अत्यन्ताभाव का प्रातीतिकत्वतादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगित्व प्रातीतिक रजतादि में प्रसिद्ध है।

शङ्का—मिथ्यात्व के परिष्कृत लक्षण का पर्यवसान यदि सर्वदेशकालवृत्ति अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व में है, तब तो प्रपञ्च में खपुष्पादि के समान अलीकत्वापत्ति होती है।

सितम् , तथा चालीकत्वापत्तिः प्रपञ्चस्येति वाच्यम् ; कालसम्बन्धित्वसमानाधिकरणस्य तस्य निवेश्यत्वात् ।

ननु कालसम्बन्धित्वमास्तां प्रपञ्चे विशेष्यभूतमुक्तप्रतियोगित्वं तु न तत्रास्ति । येन हि रूपेण सम्बन्धेन च यत्र यत् सम्बध्यते । न च तेन रूपेण तत्सम्बन्धेन च तत्र तदभावः, विरोधादिति मन्वानं वादिनं प्रति तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेन तन्मतमनुसृत्य साध्यान्तरमाह—"पारमार्थिकेत्यादि" । पारमार्थिकत्वावच्छिन्नं यदुक्तप्रतियोगित्वं तद्वन्न वेत्यर्थः । तत्रोक्तप्रतियोगित्वे तद्रूपावच्छिन्नमिति पूर्वोक्तस्य विशेषणस्य स्थाने तद्रूपसमानाधिकरणमिति विशेषणं देयम् । न च तत्र प्रयोजनाभाव इति वाच्यम् , घटादेः पारमार्थिकत्वेऽपि पारमार्थिकत्वेन शुक्तिरूप्यादेः योऽत्यन्ताभावस्तत्प्रतियोगित्वस्य घटादौ सिद्धिमादाय यदर्थान्तरं तद्वारणादेः प्रयोजनस्य सत्त्वात् । कपालादौ संयोगादिसम्बन्धेन घटादेर्योऽत्यन्ताभावस्तत्प्रतियोगित्वस्य घटादौ सिद्धिमादाय घटादेः पारमार्थिक स्वीकारेऽप्यर्थान्तरं स्यादतस्तत्सम्बन्धावच्छिन्नेत्यपि प्रतियोगित्वे विशेषणं देयम् ।

न च पारमार्थिकत्वस्य घटादौ स्वीकारे तेन रूपेण कथं कपालादौ संयोगेनापि घटादेरभावसिद्धिः, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाववादिनापि विशेषरूपेण सामान्याभावस्वीकारेऽपि सामान्यरूपेण विशेषस्याभावास्वीकारादिति वाच्यम् , प्रकृतानुमान-

---

समाधान—'कालसम्बन्धित्वे सति'—ऐसा प्रतियोगित्व का विशेषण दे देने पर अलीकत्वापत्ति नहीं होती ।

'प्रपञ्च में विशेषणभूत काल-सम्बन्धित्व के रहने पर भी विशेष्यभूत उक्त प्रतियोगित्व नहीं रह सकता, क्योंकि जो वस्तु जिस रूप और जिस सम्बन्ध से जहाँ रहती है, उस वस्तु का उसी रूप और उसी सम्बन्ध से वहाँ अभाव नहीं रह सकता. एक आधार में वस्तु के भाव और अभाव का रहना अत्यन्त विरुद्ध है'—ऐसा माननेवाले वादियों के अनुरोध को 'तुष्यतु दुर्जनः'—इस न्याय से मानकर उनके अनुसार ही साध्यान्तर का निर्देश किया गया—"पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधप्रतियोगि" । पारमार्थिकत्वावच्छिन्नोक्तप्रतियोगित्ववत् ? न वा ? विप्रतिपत्ति का यह पूर्ण निर्देश है । उक्त प्रतियोगित्व में 'तद्रूपावच्छिन्नम्'—इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषण के स्थान पर 'तद्रूपसमानाधिकरणम्'—ऐसा विशेषण देना चाहिए । इसका प्रयोजन क्या ? इस प्रश्न का उत्तर है कि घटादि के पारमार्थिक होने पर भी पारमार्थिकत्वेन शुक्ति-रजतादि के अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता घटादि में सिद्ध करने पर जो अर्थान्तरता प्रसक्त होती है, उसकी निवृत्ति करना ही उक्त विशेषण का तात्पर्य है, उक्त प्रतियोगिता घटत्व-समानाधिकरण नहीं ।

शङ्का—कपालादि में संयोगादि सम्बन्ध से जो घटादि का अत्यन्ताभाव है, उसकी घटादि में प्रतियोगिता-सिद्धि को लेकर अर्थान्तरता होती है, अतः 'तत्सम्बन्धावच्छिन्नम्'—ऐसा भी प्रतियोगित्व का विशेषण देना चाहिए । 'कपाल में जब घट को पारमार्थिक माना जाता है, तब वहाँ संयोग सम्बन्ध से भी घटादि का अभाव नहीं रह सकता, क्योंकि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाववादी भी विशेष धर्म से सामान्याभाव मानता है, किन्तु सामान्य रूपेण विशेषाभाव नहीं मानता, 'पारमार्थिकत्व' सामान्य धर्म है और घट विशेष ।

बलेनैव तादृशाभावसिद्ध्यापत्त्योक्तस्यार्थान्तरस्यापत्तेः। "मते" इति। यद्व्यक्तौ साध्यं सिद्धं तत्र नानुमितिर्भवति, व्यक्त्यन्तरे तु भवत्येव, समानविशेष्यत्वसम्बन्धेन बाधविशिष्टबुद्ध्योरिव सिद्ध्यनुमित्योः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकत्वौचित्यादिति प्राचां मतम्। नव्यमते तु यद्धर्मविशिष्टे क्वचित्साध्यं सिद्धं तद्धर्मविशिष्टे व्यक्त्यन्तरेऽपि नानुमितिरिति भावः। "पक्षविशेषणम्" पक्षतावच्छेदकतापर्याप्त्यधिकरणं तावन्मात्रं पक्षतावच्छेदकमिति यावत्। ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वसामानाधिकरण्येनानुमितिं प्रति तत्सामानाधिकरण्येन ब्रह्मतुच्छयोः साध्याभावज्ञानस्याविरोधित्वेनान्यविशेषणद्वयस्य पक्षतावच्छेदकप्रवेशे प्रयोजनाभावादिति भावः।

"बाधवारणाये"ति। ननु असिद्धिवारणायेत्यपि वक्तुमुचितम्। बाधो हि हेत्वाभासो विप्रतिपत्तिप्रयुक्तन्यायप्रयोगाधीनानुमितावेव विरोधी सन् दूषणं, न तु विप्रतिपत्तिजन्यसंशयविरोधी सन्, वादिनां निश्चयवत्त्वे संशयानुत्पादस्योक्तत्वात्। तदा हि संशयस्याकर्तव्यत्वेन जयव्यवस्थामात्रसिद्ध्यै विप्रतिपत्तेरिवानुमितिसामग्रीमात्रस्य हेत्वाभासादिदोषशून्यस्य प्रतिवादिनिष्ठस्य वादिना कर्तव्यतया संशयाविरोधित्वेन बाधस्योद्भावनं व्यर्थम्। अनुमितितत्करणपरामर्शान्यतरविरोधित्व-

---

समाधान—प्रकृत अनुमान के बल पर ही उक्त अभाव की सिद्धि मानकर अर्थान्तरता की प्रसक्ति हो जाती है।

मूलकार ने 'मते'—ऐसा कह कर मतों का अन्तर ध्वनित किया है। जिस व्यक्ति में साध्य सिद्ध है, उस व्यक्ति में अनुमिति न हो कर व्यक्त्यन्तर में अनुमिति होती है, क्योंकि जैसे समानविशेष्यता सम्बन्ध से बाध और विशिष्ट बुद्धि का प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव होता है, वैसे ही विशेष्यतासम्बन्धेन अनुमिति के प्रति विशेष्यता-सम्बन्धेन सिद्धि प्रतिबन्धक होती है—यह प्राचीन नैयायिकों का मत है। नव्य मतानुसार जिस धर्म से विशिष्ट धर्मी में कहीं साध्य सिद्ध है, उस धर्म से विशिष्ट व्यक्त्यन्तर में भी अनुमिति नहीं होती।

"ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वं पक्षविशेषणम्"—यहाँ पर पक्षविशेषणम् का अर्थ है—पक्षतावच्छेदकतापर्याप्त्यधिकरणम् अर्थात् उतना धर्म (ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वम्) ही पक्षता का अवच्छेदक है क्योंकि ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्व-सामानाधिकरण्येन अनुमिति के प्रति तत्सामान्याधिकरण्येन ब्रह्म और तुच्छ में साध्याभाव का ज्ञान विरोधी नहीं होता, अतः शेष दो (सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व और चिद्भिन्नत्व) विशेषणों का पक्षतावच्छेदक में प्रवेश करना व्यर्थ है।

शङ्का—"बाधवारणाय"—यहाँ पर 'असिद्धिवारणाय'—ऐसा भी कहना चाहिए था, क्योंकि बाध हेत्वाभास (हेतु का दोष) होने के कारण विप्रतिपत्ति वाक्य-प्रयुक्त न्याय-प्रयोग (पञ्चावयव-प्रयोग) के अधीन अनुमिति ज्ञान का प्रतिबन्ध करता हुआ ही दोष माना जाता है, विप्रतिपत्ति-जन्य संशय का विरोधी होकर दोष नहीं कहलाता, क्योंकि वादिगणों के निश्चयवान् होने पर संशय का उत्पाद नहीं होता—यह कहा जा चुका है। उस समय संशय का सम्पादन अपेक्षित नहीं होता, जय-पराजय मात्र की व्यवस्था करनेके लिए विप्रतिपत्ति के समान प्रतिवादिनिष्ठ हेत्वाभासादि दोष-शून्य अनुमिति-सामग्री भी वादी के द्वारा सम्पादनीय होती है, अतः संशय का विरोधी न होने के कारण विप्रतिपत्ति-काल में बाध का उद्भावन व्यर्थ है। यदि अनुमिति और

रूपेण हेत्वाभासत्वेन बाधस्योद्भावने च हेत्वसिद्धिरपि तदुचितमिति चेन्न। विप्रतिपत्तिकाले हेतोरप्रयुक्तत्वेन हेतुमत्ताज्ञानविरोधिन्या असिद्धेः ज्ञातुमशक्यत्वेन तस्य विप्रतिपत्तिदोषत्वाव्यवहारात्।

न च पक्षतावच्छेकावच्छेदेन विप्रतिपत्तौ साध्यस्य विवक्षितत्वाद्धेतोः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन प्रयोक्तव्यतामनुमाय असिद्ध्यादेर्दोषत्वं सम्भाव्यमिति वाच्यम्, अनुमानाकौशलेन सभाक्षोभादिना वा अन्यथापि हेतोः प्रयोगसम्भवात्। वस्तुतस्तु बाधपदमसिद्धेरप्युपलक्षकम्। विप्रतिपत्तियोग्यन्यायवाक्योक्तहेतोर्दोषस्यापि विप्रतिपत्तिदोषत्वसम्भवात्। अत एवाग्रे सन्दिग्धानकान्तिके विप्रतिपत्तिदोषत्वमाशङ्कितम्। "अत एवोक्तमि"ति, प्राचीनतार्किकरिति शेषः। नवीनतार्किकैस्तु व्याप्तिग्राहकतर्काभावे सति साध्याभाववत्त्वेन सन्दिग्धे धर्मिणि हेतुनिश्चयोऽपि व्यभिचारसंशयहेतुतया दोष एव। अत एव "वह्निरद्विष्ठातीन्द्रियधर्मसमवायी दाहजनकत्वादात्मव" दित्यादि शक्त्यादिसाधकानुमानेषु मणावप्रयोजकत्वमुक्तम्। "तत्र व्यभिचारसंशयस्यादूषणत्वे व्याप्तिपक्षधर्मतानिश्चयसम्भवेनाप्रयोजकत्वोक्तेरसङ्गतेः तस्या दूषणत्व-

---

अनुमिति-करण—इन दोनों में से किसी एक का विरोधी होने के कारण बाध का उद्भावन किया जाता है, तब असिद्धि का भी उद्भावन उचित ही था।

समाधान—विप्रत्तिपत्ति-काल में हेतु का प्रयोग न होने के कारण पक्षगत हेतुमत्ताज्ञान के विरोधी असिद्धि दोष का ज्ञान नहीं हो सकता। असिद्धि को विप्रतिपत्ति का दोष माना नहीं जाता, अतः उस समय उसका उद्भावन क्योंकर होगा ? यदि कहा जाय कि विप्रतिपत्ति में पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्य विवक्षित है, अतः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन हेतु के प्रयोग का भी अनुमान कर लेने पर असिद्धयादि हेत्वाभासों का उद्भावन सम्भव हो जाता है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनुमान में अपटु व्यक्ति के द्वारा या सभा-क्षोभादि हो जाने के कारण हेतु का अवच्छेदकावच्छेदेन प्रयोग न होकर अन्यथा भी प्रयोग हो सकता है, अतः अवच्छेदकावच्छेदेन विप्रतिपत्ति का प्रयोग अवच्छेदकावच्छेदेने हेतु-प्रयोग का व्यभिचारी हो जाने के कारण उससे अवच्छेदकावच्छेदेन हेतु-प्रयोग का अनुमान सम्भव नहीं। वस्तुतः 'बाध' पद असिद्धि का भी उपलक्षक है और विप्रतिपत्ति-प्रयुक्त न्याय-प्रयोग के घटकीभूत हेतु का दोष विप्रतिपत्ति का भी दोष कहला सकता है, अत एव आगे चल कर (पृ० ७ पर) सन्दिग्धानैकान्तिक में विप्रतिपत्ति दोषता की आशङ्का उठाई गई है।

"अतः एवोक्तम्"—यहाँ आकांक्षा होती है कि 'कैरुक्तम् ?' उसका पूरक वाक्य है—प्राचीनैः। नवीन तार्किकों का कहना है कि व्याप्ति-ग्राहक तर्क के न होने पर साध्याभाववत्त्वेन सन्दिग्ध धर्मी में हेतु का निश्चय भी व्यभिचार-संशय का जनक होने के कारण दोष ही है। अत एव "वह्निरद्विष्ठातीन्द्रियधर्मसमवायी, दाहजनकत्वात्"—इत्यादि शक्ति-साधक अनुमानों में न्यायतत्त्वचिन्तामणिकार ने अप्रयोजकत्व दोष दिया है। वहाँ व्यभिचार-संशय को दोष न मानने पर व्याप्ति और पक्षधर्मता का निश्चय सम्भव हो जाने के कारण अप्रयोजकत्व की उक्ति असङ्गत हो जायगी, अतः उसे दोष मानना आवश्यक है—ऐसा दीधितिकार ने यद्यपि कहा है, तथापि प्रकृत मिथ्यात्वानुमान में अनुकूल तर्कों का प्रदर्शन मूलकार ने स्वयं आगे (पृ० ३१० पर) किया है, अतः तर्काभावात्मक अप्रयोजकत्व दोष प्रसक्त नहीं होता।

मावश्यकमिति दीधितावुक्तं यद्यपि, तथापि मिथ्यात्वानुमाने तर्काणां वक्ष्यमाणत्वेन न दोषः।

"विमतं" विप्रतिपत्तिविशेष्यम्। "नावयवेष्वि"ति। 'तत्र पञ्चतयं केचिद् द्वयमन्ये वयं त्रय"मिति मीमांसकोक्तरीत्या तार्किकमीमांसकबौद्धानां पञ्चत्रिद्व्यवयववादित्वात्तान् प्रति यथामतमवयवाः प्रयोक्तव्याः। 'उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिक'मिति मीमांसकाः। उदाहरणोपनयरूपावयववादिनो बौद्धा इति भावः।

ननु विप्रतिपत्तिमात्रस्य निवेशे सिद्धसाधनबाधादिकम्, घटादिमात्रविशेष्यकविप्रतिपत्तिनिवेशे प्रपञ्चमात्रस्य मिथ्यात्वासिद्धिः। तत्राह - "स्वनियामकनियतये"ति। स्वस्याः विप्रतिपत्तेः नियामकं प्रकृतानुमानपक्षतावच्छेदकत्वयोग्यतासम्पादकं यद् ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वादिविशिष्टविशेष्यकत्वं पूर्वोक्तम्, तेन नियतया विशेषितया; पूर्वोक्तयेति यावत्। ननु पूर्वोक्तविप्रतिपत्तेर्ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वादिघटितरूपेण पक्षतावच्छेदके निवेशे लाघवादुक्ताबाध्यत्वादिरूपस्यैव पक्षतावच्छेदकत्वमुचितम्। तत्राह — "लघुभूतये"ति। तद्व्यक्तित्वादिरूपलघुरूपविशिष्टयेत्यर्थः। तथा च ब्रह्मज्ञानेत्यद्युक्तरूपेण परिचितपूर्वोक्तविप्रतिपत्तिव्यक्तेस्तद्व्यक्तित्वेनैव निवेश इति भावः। ननूक्ताबाध्यत्वादिरूपस्य विप्रतिपत्तिपरिचायकघटकतया प्रथमोपस्थित्वात्तदेव पक्षता-

---

"नावयवेष्वाग्रहः"—ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि तार्किक न्याय-प्रयोग के प्रतिज्ञादि पाँच अवयव, मीमांसक तीन तथा बौद्ध उदाहरण और उपनयात्मक दो ही अवयव मानते हैं, जैसा कि श्रीपार्थसारथि मिश्र ने कहा है—

तत्र पञ्चतयं केचिद् द्वयमन्ये वयं त्रयम्।
उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्॥ (शा. दी. पृ. ६४)

अर्थात् मीमांसकगण प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय और निगमनरूप तीन ही अवयव मानते है। अतः जो वादी जितने अवयव मानता है, उसके सामने उतने ही अवयवों का प्रयोग करना उचित है।

सन्देह होता है कि विप्रतिपत्ति मात्र का पक्षतावच्छेदककोटि में प्रवेश किया जाता है? या घटादि मात्रविशेष्यक विप्रतिपत्ति का? प्रथम पक्ष में सिद्धसाधन और बाधादि दोष प्रसक्त होते हैं और द्वितीय पक्ष मानने पर समस्त प्रपञ्च में मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होती—इस सन्देह को दूर करने के लिए मूलकार ने कहा है—स्वनियामकनियतया विप्रतिपत्त्या पक्षतावच्छेदो न विरुद्धः।" स्वस्या यन्नियामकम्, तेन नियतया विप्रतिपत्त्या। अर्थात् विप्रतिपत्ति के नियामक (स्वगत प्रकृत अनुमान की पक्षतावच्छेदकत्वयोग्यता के सम्पादक, ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वादि विशेषणों से विशेषित विप्रतिपत्ति पक्षतावच्छेदक मानी जाती है। 'जिन विशेषणों के द्वारा विप्रतिपत्ति में पक्षतावच्छेदकत्व की योग्यता आती है, उन्हीं को सीधा-सीधा पक्षतावच्छेदक मान लेने में ही लाघव है, मध्य में विप्रतिपत्ति का प्रवेश क्यों किया जाता है?' इस सन्देह को दूर करने के लिए मूलकार ने कहा है—"लघुभूतया"। यदि उक्त तीनों विशेषणों से विशिष्ट विप्रतिपत्ति का निवेश किया जाता, तब अवश्य गौरव होता, किन्तु उक्त तीनों विशेषणों के द्वारा विप्रतिपत्ति का परिचय प्राप्त कर पूर्व परिचित विप्रतिपत्ति का तद्व्यक्तित्वेन पक्षतावच्छेदक में प्रवेश किया जाता है, अतः गौरव नहीं, लाघव ही है। 'विप्रतिपत्ति के परिचायक उक्त तीनों विशेषण प्रथमोपस्थित हैं, अतः उन्हीं को पक्षता-

वच्छेदकं युक्तम्, तत्राह—"यद्वे"ति। "अवच्छेदकमेवेति"। भट्टभास्करमते शुक्तिरूप्यादेः सत्यस्य शुक्त्यादावुत्पत्तिस्वीकारात्तदनुयायिना केनचिद् यदि तस्य मिथ्यात्वमुच्यते, तदा तेन सह विप्रतिपत्तौ तस्याबाध्यत्वान्तमेव पक्षविशेषणम्; तथा च न तं प्रति सिद्धसाधनम्। तादृशस्य कस्यचिदभावेऽपि दृष्टान्तसिद्धये शुक्तिरूप्यादौ मिथ्यात्वस्य प्रकृतानुमानात् पूर्वं प्रसाध्यत्वात्, तत्र सिद्धसाधनवारणाय तद्विशेषणं देयमेव। यदा त्ववच्छेदकावच्छेदेनानुमितिमुद्दिश्य विप्रतिपत्तिस्तार्किकादिना सह तदेतरविशेषणे एव देये। तत्राप्यलीकवादिनं प्रत्येवार्हान्तविशेषणं देयम्। एकदा तु न द्वाभ्यां सह विप्रतिपत्तिस्तथैव कथकानां सम्प्रदायात्। तथा च यदेव यं प्रति विप्रतिपत्तौ पक्षविशेषणं तदेव तं प्रति न्यायप्रयोग इति भावः।

ननु सत्त्वेन प्रतीतियोग्यत्वं सद्रूपचित्तादात्म्यं घटादौ व्यावहारिकम्, घटादितुल्यकक्ष्यत्वात्; शशविषाणादावलीके तु प्रातीतिकं सम्भवति, अनध्यस्तेऽप्यलीके सत्तादात्म्यस्यारोपसम्भवात्। "यदि पुनः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेने"त्यादिमूलानुरोधात् शुक्तिरूप्यादिप्रातीतिकसाधारणस्य सत्तादात्म्यनिवेश्यत्वादिति चेन्न, तत्रैव

वच्छेदक मानना उचित है, शबर स्वामी कहते हैं—"प्रथममनुग्रहीतव्यं विरोधाभावात्" (शा० भा० पृ० ९६६)। अतः प्रथमोपस्थित को पक्षतावच्छेदक न मान कर पश्चात्तन विप्रतिपत्ति को पक्षतावच्छेदक बनाना अनुचित है—इस अनौचिती को ध्यान में रख कर मूल में कहा गया है—"यद्वा विप्रतिपत्तिविषयतावच्छेदकमेव पक्षतावच्छेदकम्।" आशय यह है कि भट्ट भास्कर के मतानुसार शुक्ति से सत्य रजत की ही उत्पत्ति होती है, क्योंकि शुक्ति में भी सत्य रजत के अवयव होते हैं, अतः कोई भास्करानुयायी व्यक्ति यदि उस रजत को मिथ्या कहता है, तब उसके साथ प्रवृत्त कथा के समय विप्रतिपत्ति में अबाध्यत्वान्त ही पक्ष का विशेषण देना चाहिए, उसके प्रति सिद्ध-साधनता का उद्भावन नहीं हो सकता। वैसे भास्करानुयायी व्यक्ति के न होने पर भी दृष्टान्त की सिद्धि के लिए शुक्ति-रजतादि में प्रकृत (प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधक) अनुमान से पहले मिथ्यात्व सिद्ध करना होगा, अतः वहाँ सिद्ध-साधनता का वारण करने के लिए वह (बाध्यत्वान्त) विशेषण देना ही चाहिए। जब पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन (समस्त) पक्ष मे साध्य की अनुमिति के उद्देश्य से तार्किकादि के साथ शास्त्र-चर्चा आरम्भ हो, तब 'सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व और चिद्भिन्नत्व'—ये दो विशेषण ही देने चाहिए। उसमें भी खपुष्पादि अलीक पदार्थों को जो मानता है, उसके लिए ही 'सत्त्वेन प्रतीत्यर्ह—यह विशेषण देना है। एक काल में तो दो वादियों के साथ कथा होती नहीं कि सभी विशेषणों की सदा आवश्यकता हो। एक समय किसी एक ही वादी के साथ शास्त्रार्थ होता है—ऐसी ही कथक-सम्प्रदाय की मर्यादा है। अतः जब जिसके साथ वाद चले, तब उसके अनुसार ही न्याय-प्रयोग किया जाना उचित है।

शङ्का—'सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व' का अर्थ है—सद्रूप चैतन्य का तादात्म्य, वह घटादि में उनके समानसत्ताक व्यावहारिक ही होता है, किन्तु शशविषाणादि अलीक पदार्थों में प्रातीतिक हो सकता है, क्योंकि धर्म के आरोप में धर्मी का निश्चित होना अपेक्षित नहीं, अतः अनिश्चित अलीक पदार्थ में भी सत्तादात्म्य का आरोप सम्भव है और "यदि पुनः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन"—इत्यादि मूल के अनुरोध पर प्रातीतिक-साधारण सत्तादात्म्य का ही निवेश करना होगा।

हि सत्तादात्म्याध्यासो यस्य तत्समानकालमध्यासः, शुक्तिरूप्यादिरूपेण परिणममानाविद्याया एव तन्निष्ठेन सत्तादात्म्यरूपेण परिणममानत्वात्; तथा चालीकरूपेणाविद्यायाः अपरिणममानत्वात् नालीकनिष्ठतादात्म्यरूपेण परिणामः। न च स्फटिकादिरूपेणापरिणममानाया अप्यविद्यायाः स्फटिकादिनिष्ठेन जपाकुसुमादिलौहित्यतादात्म्यादिरूपेण परिणामदर्शनाद् अलीकरूपेणापरिणताप्यविद्या तन्निष्ठेन सत्तादात्म्यरूपेण परिणमतामिति वाच्यम्; तादात्म्यमात्ररूपेण परिणामस्य तथा दृष्टत्वेऽपि सत्तादात्म्यरूपेण परिणामस्य तदनुयोगिरूपेण परिणममानाविद्यानिष्ठत्वनियमाविघातात्।

न च सत्प्रतियोगिकतादात्म्यस्योक्तनियमस्वीकारेऽपि सदनुयोगिकस्यालीकप्रतियोगिकतादात्म्यस्याविद्यापरिणामत्वमास्तामिति वाच्यम्; सदलीकमिति प्रतीत्यभावेनाविद्यायास्तादृशपरिणामे हेतुत्वाकल्पनात्। अत एव "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प" इति पातञ्जलसूत्रे शब्दमात्रजन्यस्यालीकाकारधीरूपविकल्पस्य सद्रूपाविषयकत्वरूपं वस्तुशून्यत्वमुक्तम्। अत एव, "प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय" इति वृत्तिविभाजके पातञ्जलसूत्रे विरूपात् पृथग्विपर्ययस्योक्तिः। तस्य सद्रूप-

---

समाधान—सत्तादात्म्य का अध्यास उसी धर्मी में होता है, जिसका उसके समान काल में अध्यान होता है, क्योंकि शुक्ति-रजतादि आरोप्य पदार्थों के रूप में परिणममान अविद्या ही तद्गत सत्तादात्म्य के रूप में परिणत होती है, किन्तु शशविषाणादि अलीक पदार्थों के रूप में अविद्या परिणत नहीं होती, अतः उसमें प्रातीतिक सत्तादात्म्य नहीं माना जा सकता।

शङ्का—धर्मी के रूप में परिणममान अविद्या ही धर्म के रूप में परिणत होती है—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि स्फटिकादि के रूप में अपरिणममान अविद्या का भी स्फटिकादि में जपाकुसुमादि-लौहित्य के रूप में परिणाम देखा जाता है। इसी प्रकार अलीक पदार्थ के रूप में अपरिणत अविद्या भी तद्गत सत्तादात्म्य के रूप में परिणत क्यों नहीं हो सकती?

समाधान—दृष्टान्त में तादात्म्यमात्र का परिणाम देखा गया है, सत्तादात्म्य का नहीं, अतः धर्मी के रूप में परिणत अविद्या ही सत्तादात्म्य के रूप में परिणत होती है—ऐसा नियम अक्षुण्ण रहता है।

शङ्का—सत्तादात्म्य दो प्रकार का होता है—एक सत् का तादात्म्य (सत्प्रतियोगिक तादात्म्य) और दूसरा सत् में तादात्म्य (सदनुयोगिक तादात्म्य)। सत्प्रतियोगिक तादात्म्य के विषय में उक्त नियम को मान लेने पर भी सदनुयोगिक अलीकप्रतियोगिक तादात्म्य तो धर्मी के रूप में अपरिणत अविद्या का परिणाम हो सकता है।

समाधान—'रक्तः स्फटिकः'—इत्यादि प्रतीति के आधार पर वैसा आरोप माना जाता है, किन्तु 'सद् अलीकम्'—ऐसी प्रतीति न होने के कारण सत्प्रतियोगिक तादात्म्य के रूप में अविद्या का परिणाम नहीं माना जा सकता, अत एव "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" (यो० सू० १।९) इस पातञ्जल सूत्र में शब्दमात्र-जन्य अलीकाकारबुद्धिरूप विकल्प पदार्थ को सत्तादात्म्यरूप वस्तु से शून्य ही कहा है और "प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः" (यो० सू० १।६) इस वृत्तियों के विभाजक

विषयकत्वेन वस्तुशून्यत्वाभावात् । किञ्च सत्प्रतियोगिकतादात्म्यस्य प्रकृते पक्षतावच्छेदके निवेशादलीकप्रतियोगिकतादात्म्यमादाय नोक्तदोषः । ननु माध्वादिमते शुक्तिरूप्यादेरलीकतास्वीकाराद्, 'इदं रूप्यं सदि'त्याकारभ्रमेण तत्र सत्प्रतियोगिकतादात्म्यावगाहनान्माध्वादीन् प्रति न्यायप्रयोगे बाधः सदसद्विलक्षणत्वादिसाध्यस्य तत्राभावात् । न चाबाध्यत्वान्तविशेषणेन तस्य वारणम्, अलीकस्य ज्ञानोच्छेद्यतारूपज्ञानबाध्यत्वाभावादिति चेन्न । त्वन्मते भ्रमस्यासत्ख्यातित्वस्वीकारेणानिर्वचनीयख्यात्यनभ्युपगमेन तादात्म्यादिसम्बन्धस्याप्यलीकस्यैव भ्रमे भानात्, अनलीकस्य भानस्वीकारे तस्य सद्रूपत्वेन अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वप्रत्ययानुपपत्तेः अलीकस्यैव तन्मते अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, रूप्यादेरलीकान्यत्वापत्त्या अधिष्ठानान्यभ्रमविषयस्यालीकत्वनियमाच्च सत्स्वरूपस्यैव तादात्म्यस्य तत्र भाने अलीकरूप्यादौ तदनुयोगित्वाभावादलीके रूप्यादिनिष्ठे तादात्म्ये सत्प्रतियोगिकत्वस्येव सद्रूपे अलीकानुयोगिकत्वस्याभावात्, सदसतोरुपरागाभावात्, शुक्तिरूप्यादौ सत्प्रतियोगिकतादात्म्यानुयोगित्वरूपपक्षतावच्छेदकाभावेन तत्र बाधोक्त्यसम्भवाद्, वक्ष्य-

---

सूत्र में विकल्प से पृथक् विपर्यय (अध्यास) का कथन किया गया है, क्योंकि विपर्यय सत्तादात्म्यरूप वस्तु से शून्य नहीं होता । दूसरी बात यह भी है कि सत्प्रतियोगिक तादात्म्य का प्रकृत पक्षतावच्छेदक में निवेश होने के कारण अलीकप्रतियोगिक तादात्म्य को लेकर दोष नहीं दिया जा सकता ।

शङ्का—माध्वादि के मत में शुक्ति-रजतादि को अलीक (असत्) ही माना जाता है, अतः 'इदं रजतं सत्'—इस प्रकार की प्रतीति वहाँ सत्प्रतियोगिक तादात्म्य को ही विषय करती है, माध्वादि के लिए न्याय-प्रयोग करने पर बाध दोष होता है, क्योंकि 'सदसद्विलक्षणत्वरूप साध्य का वहाँ अभाव है। अबाध्यत्वान्त विशेषण से उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अलीक पदार्थों में ज्ञानोच्छेद्यतारूप ज्ञान-बाध्यत्व (मिथ्यात्व) वहाँ नहीं रहता ।

समाधान—माध्व मत में भ्रम को असत्ख्यातिरूप माना जाता है, अनिर्वचनीय नहीं, तादात्म्यादि अलीक सम्बन्ध का ही भ्रम में भान होता है, अनलीक सम्बन्ध का भान मानने पर सद्रूपत्वेन अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व की प्रतीति उपपन्न नहीं होती, क्योंकि उनके मत में अलीक को ही अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी माना जाता है। उक्त तादात्म्य को अलीक न मानने पर शुक्ति-रजतादि को भी अलीक नहीं माना जा सकेगा, अतः भ्रम के अधिष्ठान से भिन्न विषयमात्र को नियमतः अलीक मानना चाहिए । वहाँ सत्स्वरूप तादात्म्य का ही भान मानने पर अलीक रजतादि में सत्स्वरूप तादत्म्य का अनुयोगित्व न होने के कारण अलीक रजतादिनिष्ठ तादात्म्य में सत्प्रतियोगिकत्व के समान सद्रूप में अलीकानुयोगिकत्व का अभाव है, क्योंकि सत् और असत् का कोई भी उपराग (सम्बन्ध) नहीं होता । शुक्ति-रजतादि में सत्प्रतियोगिकतादात्म्य के अनुयोगित्वरूप पक्षतावच्छेदक धर्म का अभाव होने के कारण वहाँ बाध दोष उद्भावित नहीं हो सकता । आगे (पृ० १४ पर) वक्ष्यमाण प्रणाली से माध्व मत में सदसद्भिन्नत्व को साध्य नहीं बनाया जा सकता, इस लिए भी उसके मत में बाध का प्रदर्शन सम्भव नहीं, क्योंकि वह प्रपञ्च को सद्रूप ही मानता है, अतः उसके प्रति सद्भिन्नत्वमात्र को साध्य बनाना होगा । 'माध्व मतानुसार शुक्ति-रजतादि में पक्षतावच्छेदक का अभाव

माणरीत्या सदसद्भिन्नत्वस्य माध्वं प्रत्यसाध्यत्वेन तं प्रति बाधाभावाच्च। न चैवमपि तन्मते शुक्तिरूप्यादौ साध्यवैकल्यम् , तं प्रति सद्विविक्तत्वादिवक्ष्यमाणमिथ्यात्वस्यैव साध्यत्वात् ।

ननु सद्रूपं शुद्धचिदेव, तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतादात्म्यत्वावच्छिन्नाधिकरणत्वं च तस्यां नास्तीति चिद्भिन्नत्वविशेषणं व्यर्थमिति चेत् , सत्यम् । उक्ताधिकरणत्वनिवेशे चिद्भिन्नत्वं न देयम् , तत्प्रतियोगिकस्य तादात्म्यस्याधिकरणत्वमात्रनिवेशाभिप्रायेण दत्तम् ।

ननु तादृशतादात्म्यस्यापक्षत्वापत्तिः, तस्य स्वस्मिन्नभावात्, तादात्म्ये तादात्म्यान्तरस्यानवस्थापत्त्या अनङ्गीकाराद् इति चेन्न । घटाद्यभावस्येव तस्य स्वस्मिन् स्वरूपसम्बन्धेन वृत्तित्वस्वीकाराद् , घटाभावे घटो नास्तीतिवत् सत्तादात्म्यं सदिति प्रतीतेः । अथ घटादिदृश्यमात्रस्य सत्तादात्म्यवत्त्वे किं मानमिति चेत् , शुक्तिरूप्यादेरिदमादितादात्म्यवत्त्व इव परस्पराध्यासानुभवादिकम् । तथा हि 'इदं रजतम्'—इत्यादि भ्रमस्थले, इदं रजतं जानामि रजतमिदं जानामि" इत्याकारद्वयानुभवादिदमादिविषयतावच्छिन्नं रजततादात्म्यादिविषयत्वं रजतादिविषयतावच्छिन्नं इदमादितादात्म्यविषयत्वं च चिद्रूपानुभवनिष्ठं भातीति स्वीक्रियते । एवम् , "इदं रजतं, रजतमिद"मिति यत् ज्ञानं तत्

होने के कारण बाधोद्भावन सम्भव न होने पर भी साध्य-वैकल्य का उद्भावन क्यों न होगा ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि माध्व के प्रति सद्भिन्नत्वमात्र साध्य है और उसका वैकल्य दृष्टान्त में नहीं ।

शङ्का—किसी वस्तु की अपने में अधिकरणता नहीं होती, शुद्ध चैतन्य ही सद्रूप है, सत्प्रतियोगित्व-विशिष्ट तादात्म्यत्वावच्छिन्न अधिकरणत्व उसी चैतन्य में नहीं रह सकता, अतः 'चिद्भिन्नत्व' विशेषण व्यर्थ है ।

समाधान—उक्त अधिकरणत्व का निवेश करने पर 'चिद्भिन्नत्व' विशेषण नहीं देना चाहिए । चित्प्रतियोगिक तादात्म्य की अधिकरणतामात्र का निवेश मान कर ही 'चिद्भिन्नत्व' विशेषण दिया गया है ।

शङ्का—सद्रूपतादात्म्य का आश्रयीभूत पदार्थ ही पक्ष है, अतः सद्रूप तादात्म्य पक्ष के अन्तर्गत न हो सकेगा, क्योंकि सद्रूप तादात्म्य अपने में नहीं रहता । तादात्म्य में भी यदि अन्य तादात्म्य माना जाता है, तब अनवस्था हो जायगी ।

समाधान—जैसे घटाभाव में स्वरूपेण घटाभाव रहता है, वैसे ही उक्त सत्तादात्म्य भी अपने में माना जाता है, क्योंकि 'घटाभावे घटो नास्ति'—इस प्रतीति के समान 'सत्तादात्म्यं सत्'—ऐसी प्रतीति सर्व-सम्मत है ।

'घटादि दृश्यमात्र में सत्तादात्म्य रहता है'—इसमें क्या प्रमाण ? इस प्रश्न का उत्तर है कि जैसे शुक्ति-रजतादिगत इदमादि-तादात्म्यवत्ता में परस्पर अध्यासानुभवादि प्रमाण हैं, वैसे ही प्रकृत में । भाव यह है कि 'इदं रजतम्—इत्यादि भ्रमस्थल पर 'इदं रजतं जानामि' और 'रजतमिदं जानामि'—ऐसे दो आकार अनुभूत होते हैं, इनके अनुरोध पर इदमादिविषयतावच्छिन्न रजततादात्म्यविषयत्व और रजतादिविषयतावच्छिन्न इदमादितादात्म्यविषयत्व चिद्रूप अनुभव में प्रतीत होता है—ऐसा स्वीकार किया जाता है [प्रथम अनुव्यवसाय का 'इदं रजतं जानामि'—ऐसा आकार होने के

मिथ्येति बाधकप्रत्ययेन विषयविशिष्टभ्रमस्य मिथ्यात्वावगाहनाद् भ्रमस्येव तद्विषयाणामपि बाधकधीबाध्यत्वम्। तत्राप्युक्तबाधधीकालेऽपीदमर्थस्य तादृशधीमता पुरुषेणाङ्गुल्या प्रदर्श्यमानस्य स्वरूपतः सत्यत्वानुभवात्तस्य व्यावहारिकस्वरूपत्व-निश्चयेन स्वरूपतो मिथ्यात्वनिश्चयेन मिथ्यात्वेन निश्चीयमानतादात्म्योपहितरूपेण मिथ्यात्वनिश्चयः । रजतादितादात्म्ययोस्तु स्वरूपतोऽपि स इतीदमाद्यवच्छेदेन रजतादिकं तत्तादात्म्यं रजतत्वादेः संसर्गश्च रजताद्यवच्छेदेनेदमादेस्तादात्म्यमिदं-त्वादेः संसर्गश्चेति जायते । भ्रमस्थले भ्रमकाले बाध्यस्योत्पत्तिस्वीकारात्तस्य प्रातीतिकत्वेन भ्रमपूर्वमविद्यमानत्वात्।

ननु एकेनैव तादात्म्येनेदंरजतयोराकारद्वये परस्परं प्रति विशेषणतया भान-सम्भवात् तादात्म्यद्वयोत्पत्तौ मानाभाव - इति चेन्न, आकारभेदानुपपत्तेः। आकारो हि ज्ञानानां मिथो वैलक्षण्यम्। तच्च विभिन्नविषयत्वरूपं न तु विषयिताविशेषमात्रम्, तथा सति बहिर्विषयमात्रलोपापत्त्या साकारवादापत्तेः। तदुक्तमुदयनाचार्यादिभिः— "अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धिया"मिति। अर्थेन ज्ञानादत्यन्तभिन्नेन घटादि-

---

कारण इदं विषयत्वावच्छिन्न रजततादात्म्यविषयत्व की अवगाहिता उक्त अनुव्यवसाय में होने के कारण व्यवसाय में 'इदं विषयतावच्छिन्नरजततादात्म्यविषयतावत्त्व अत एव इदम्पदार्थ में रजततादात्म्यवत्त्व जैसे सिद्ध होता है, वैसे ही द्वितीय अनुव्यवसाय का 'रजतमिदं जानामि'—ऐसा आकार होने के कारण रजतविषयतावच्छिन्न इदं तादात्म्यविषयत्व की अवगाहिता इस अनुव्यवसाय में रहती है, इसके रहने से व्यवसाय में रजतविषयतावच्छिन्न इदंतादात्म्यविषयत्व की आश्रयता सिद्ध होती है, इसके सिद्ध हो जाने पर रजत में इदंतादात्म्यवत्त्व सिद्ध हो जाता है। अनुव्यवसाय की विषयता सविषयक व्यवसाय ज्ञान पर और व्यवसाय ज्ञान की विषयता वस्तु पर होती है। सम्बद्ध पदार्थगत विषयताओं का परस्पर अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव माना जाता है]। इसी प्रकार 'इदं रजतम्' और रजतमिदम्'—ऐसा जो ज्ञान है, वह मिथ्या है'—ऐसे बाधक प्रत्यय के द्वारा विषय-विशिष्ट भ्रम ज्ञान में मिथ्यात्व का अवगाहन करने के कारण भ्रम के समान ही उसके विषय में भी बाधक ज्ञान-बाध्यत्व निश्चित होता है। वहाँ उक्त बाधक ज्ञान के समय भी इदमर्थ का भ्रांत पुरुष के द्वारा अङ्गुलि से निर्देश किया जाता है, अतः उसमें स्वरूपतः सत्यत्व का अनुभव होने के कारण उसमें व्यावहारिकत्व का निश्चय तथा मिथ्यात्व का निश्चय होने के कारण मिथ्यात्वेन निश्चीयमानतादात्म्यो-पहितरूपेण मिथ्यात्व पर्यवसित होता है, रजत और उसके तादात्म्य में तो स्वरूपतः मिथ्यात्व-निश्चय होता है, अतः इदमाद्यवच्छेदेन रजतादि, रजतादि का तादात्म्य और रजतत्वादि का संसर्ग रजताद्यवच्छेदेन इदमादि का तादात्म्य और इदंत्व का संसर्ग उत्पन्न होता है, क्योंकि भ्रमस्थल पर भ्रमकाल में बाध की उत्पत्ति स्वीकृत होने के कारण प्राती-तिक रजतादि पदार्थ भ्रम के पूर्व विद्यमान नहीं होते। उक्त स्थल पर एक ही तादात्म्य के मानने पर 'इदं रजतम्' और 'रजतमिदम्'—इस प्रकार दो आकार उपपन्न न हो सकेंगे, क्योंकि आकार ही ज्ञानों का परस्पर वैलक्षण्य होता है। वह वैलक्षण्य विभिन्नविषयकत्वरूप ही होता है, विषयिताविशेष मात्र नहीं। यदि योगाचार के समान ज्ञानगत विषयिताविशेष को ज्ञान का वैलक्षण्य माना जाता है, तब बाह्य विषय मात्र का लोप हो जायगा और योगाचार-सम्मत साकारज्ञानवाद प्रसक्त होगा, जैसा कि

रूपेण विषयेणाभिन्नो धियां-विशेषः । निराकारतया ज्ञानधर्मरूपाकारेण घटादिना विषयितास्थानीयेन-हीनतया । तथा च घटादिकं विषयितास्थानीयो ज्ञानधर्मो ज्ञानाद् भिन्नाभिन्नतया बौद्धैर्यदुच्यते, तथा न, किन्तु ज्ञानादत्यन्तभिन्नम् , तथवानुभवादिति भावः । तथा चेदंप्रतियोगिकरजतप्रतियोगिकतादात्म्ययोर्भिन्नयोराकारयोरुत्पत्ति-रावश्यकी ।

किञ्च 'इदं रजत' मित्यादिधीस्थले रजततादात्म्यविषयत्वं इदं विषयत्वेना-

---

श्री उदयनाचार्य ने कहा है—"अर्थेनैव विशेषो हि निराकरतया धियाम्" (न्या० कु० ४।४) । [अर्थात् विषय ही अपने ज्ञान का भेदक होता है, जैसे घटादि साकार पदार्थों का भेदक आकार होता है, वैसे ज्ञान का भेदक अ।कार नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान निराकार होता है, जैसा कि शबरस्वामी कहते हैं—"निराकारा च नो बुद्धिः, आकार-वान् बाह्योऽर्थः" (शा० भा० पृ० ३१)] उक्त उदयन-वाक्य का अर्थ है—ज्ञानगत विशेष या भेद ज्ञान-भिन्न घटादि विषय से अभिन्न होता है। निराकारतया का अर्थ है—ज्ञान के धर्मभूत विषयिता-स्थानापन्न घटादि से रहित होने के कारण । इस प्रकार बोद्धगण (योगाचार) जो यह कहा करते हैं कि घटादि पदार्थ बाहर नहीं होते, अपितु ज्ञान के विषयिता स्थानीय ज्ञान के धर्म और ज्ञान से भिन्नाभिन्न होते हैं, वैसी बात नहीं, अपितु घटादि ज्ञान से अत्यन्त भिन्न होते हैं, क्योंकि वैसी ही उनकी अनुभूति होती है [साकारवाद के समर्थन में विद्वद्वर ज्ञानश्री का कहना है—

"नाकारभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिः,
तद्बाधके बलिनि मध्यनये जयश्रीः ।
नो चेदनिन्द्यमिदमद्वयमेव चित्रम्,
चेतो निराकृतिमतस्य तु कोऽवकाशः ॥" (ज्ञानश्री० पृ० ३८६)

अर्थात् 'ज्ञान अपने आकार को छोड़ कर कहीं भी प्रवृत्त नहीं होता, यदि आकार का बाधक कोई प्रवल प्रमाण आड़े आ जाता है, तब भी हमारे माध्यामिक (शून्यवाद) की विजय होती है, अन्यथा यह चित्रज्ञानाद्वयवाद अवाधित रह जाता है, मीमांसकादि-सम्मत निराकारज्ञानवाद को पनपने का कोई अवसर नहीं मिलता ।' श्री उदयनाचार्य ने कितना सटीक पदानुपद उत्तर दिया है—

न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिः,
तद्बाधके बलिनि वेदनये जयश्रीः ।
नो भेदनिन्द्यमिदमीदृशमेव विश्वम्
तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः ॥ (आत्म० वि. पृ० २३०)

ग्राह्य (विषय) को छोड़ कर ज्ञान कभी भी प्रकाश में नहीं आता । यदि विषयभूत जड़-वर्ग का बाधक कोई हो सकता है, तब भी हमारे वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्माद्वैतवाद के हाथ जयश्री लगती है, अन्यथा यह विषय-विषयोभाव से व्यवस्थित विश्व जैसे-का-तैसा सिद्ध होता है] । फलतः इदंप्रतियोगिक और रजतप्रतियोगिक दो भिन्न-भिन्न तादात्म्यों की उत्पत्ति आवश्यक है ।

दूसरी बात यह भी है कि 'इदं रजतम्'—इत्यादि स्थल पर रजततादात्म्य-विषयता इदंविषयता से अवच्छिन्न है और 'रजतमिदम्'—यहाँ पर इदंतादात्म्य-विषयता (इदंविषयता-विशिष्ट तादात्म्यविषयता) रजतविषयता से अवच्छिन्न है,

वच्छिन्नम्। इदंतादात्म्यविषयत्वं च रजतविषयत्वेनावच्छिन्नमित्याकारद्वयं प्रतीयत इत्युक्तम्। तच्च तादात्म्यस्यैकत्वे नोपपद्यते। रजततादात्म्यविषयताया इदंविषयतावच्छेद्यत्वे रजतादिविषयताया अपीदंविषयतावच्छेद्ये विशेषणत्वादिदंविषयतावच्छेद्यत्वेन नेदं तादात्म्यादिविषयतावच्छेदकत्वसम्भवः, अवच्छेद्य विशेषणीभूतायामिदंविषयितायामवच्छेदकत्वासम्भवात्। न च 'रजतमिदं जानामीत्यादिप्रत्यये रजतादिविषयितावच्छिन्नत्वमिदंविषयताविशिष्टे तादात्म्यविषयत्वे न भाति, किन्तु केवल इति वाच्यम्; तथा सति विशेषणविषयत्वे विशेष्यविषयतावच्छिन्नत्वस्यासिद्ध्यापातात्। न हि तदनुभवः पृथगस्ति। न च तदसिद्धमेव, सर्वानुभवसिद्धत्वात्।

ननु आस्तामिदमादिविषयत्वरजतादिविषयत्वयोः परस्परावच्छिन्नत्वम्—इति चेन्न। प्रसिद्धावच्छेदकस्य मूलादेस्तदवच्छिन्नसंयोगाद्यवच्छिन्नत्वाननुभवेन विषयत्वयोरपि परस्परावच्छिन्नत्वाकल्पनात्। दृष्टान्तानुसारेणैव कल्पनात्। न च मूलादिनिष्ठावच्छेदकत्वाद्विलक्षणं विषयत्वनिष्ठमवच्छेदकत्वमिति वाच्यम्, विलक्षणत्वासिद्धेः।

इस प्रकार जो दो आकार प्रतीत होते हैं, एक ही तादात्म्य की उत्पत्ति मानने पर वे दो आकार सम्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि रजततादात्म्यविषयता इदंविषयता से अवच्छिन्न है, इदंविषयता की अवच्छेद्यभूत रजततादात्म्यविषयता में रजतविषयता विशेषण है, अतः रजतविषयता भी इदंविषयता की अवच्छेद्य हो जाती है, अतः अवच्छेद्यभूत रजतविषयता इदंतादात्म्यविषयता की अवच्छेदक कभी नहीं हो सकती, अतः 'इदं रजतम्'—इस आकार का निर्वाह हो जाने पर भी उसी तादात्म्य से रजतमिदम्—इस आकार का निर्वाह नहीं हो सकता।

शङ्का—'रजतमिदं ज्ञानामि'—इस प्रतीति में रजतादिविषयतावच्छिन्नत्व इदं विषयता-विशिष्ट तादात्म्यविषयता में प्रतीत नहीं होता, किन्तु केवल तादात्म्यविषयता में रजत विषयतावच्छिन्नत्व प्रतीत होता है।

समाधान—जब इदं विशेषण है—तादात्म्य का, तब तादात्म्यविषयता का इदंविषयता अवच्छेदक होती है, जब इदं तादात्म्य का विशेषण ही नहीं, तब इदंविषयता में तादात्म्यविषयता की अवच्छेदकता क्योंकर होगी ? उसका नियामक कोई पृथक् अनुभव तो है नहीं। उक्त अवच्छेदकत्वाभावापत्ति में इष्टापत्ति नहीं कर सकते, क्योंकि वह सर्वानुभव-सिद्ध है।

शङ्का—इदंविषयता और रजतादिविषयता का परस्पर अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव क्यों नहीं माना जा सकता ?

समाधान—वृक्षे मूले कपिसंयोगः'—यहाँ पर वृक्षवृत्ति कपि-संयोग की अवच्छेदकता मूल में प्रसिद्ध है, अतः मूलावच्छिन्न संयोग से मूल कभी अवच्छिन्न या अवच्छेद्य नहीं होता, अतः दो विषयताओं का भी परस्पर-अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव नहीं हो सकता, क्योंकि दृष्टान्त के अनुसार ही नियमों की कल्पना की जाती है।

शङ्का—मूलादि धर्मिनिष्ठ अवच्छेदकता से विषयत्वादिधर्मनिष्ठ अवच्छेदकता विलक्षण होती है, अतः दृष्टान्त में परस्पर अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव न होने पर भी विषयताओं में परस्पर अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव क्यों न होगा ?

समाधान—अवच्छेदक धर्मी हो, या धर्म, उसकी मर्यादा सर्वत्र एक-जैसी रहती

मूलादिनिष्ठावच्छेदकताजातीयस्यैवावच्छेदकत्वस्य विषयत्वे अनुभवात्। विषयता हि विषयेषु ज्ञानस्य तादात्म्यम्, न तु वृत्तेराकाराख्यसम्बन्धः। वृत्तिं विनापि सुखादेश्चिद्रूपज्ञाने विषयत्वानुभवात्। अत एव ज्ञानं चिदेव, न तु वृत्तिः। तथा चैकवृक्षादिनिष्ठसंयोगतदभावयोः अग्रमूलाद्यवच्छेदेनैकस्यां सर्वदृश्यतादात्म्यापन्नचिद्व्यक्तौ शुक्त्यादिघटादितादात्म्यावच्छेदेन रजतादितादात्म्यतदभावयोरुपपादनार्थमवच्छेदकत्वस्वीकारेण तादात्म्यरूपविषयत्वे मूलादिनिष्ठसंयोगाद्यवच्छेदकत्वजातीयस्य विषयत्वावच्छेदकत्वस्य सम्भवेन गौरवापादकस्य विलक्षणावच्छेदकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। मूलादिनिष्ठावच्छेदकत्ववदेव विषयत्वनिष्ठावच्छेदकत्वे अनुभवादिव्यवस्था।

अथ संयोगादेरवच्छेदकतासम्बन्धेनोत्पत्तौ तादात्म्यसम्बन्धेन मूलादेर्हेतुत्वात् संयोगादेरेव मूलाद्यवच्छिन्नत्वम्, न विपरीतम्, मानाभावात्, विषयत्वयोस्त्वेकमेवापरत्रावच्छेदकमित्यत्र नियामकाभाव इति चेन्न, व्यावहारिकस्येदमादेः स्वावच्छिन्नसंयोगादौ यत् कारणत्वं क्लृप्तं तद् अवच्छेदकतासम्बन्धेन स्वावच्छिन्नसामान्यस्योत्पत्तौ, तथा च रजतादितत्तादात्म्ययोरपि तत्तदिमर्थव्यक्तिभिरवच्छिन्नत्वात्तयोरुक्तसम्बन्धेनोत्पत्तौ तद्व्यक्तेस्तादात्म्येन हेतुत्वम्। अन्त्यावयविनामपि घटा

है, किसी प्रकार का वैलक्षण्य सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत मूलादिनिष्ठ अवच्छेदकत्व का समानजातीय ही विषयत्वनिष्ठ अवच्छेदकत्व अनुभूत होता है। यहाँ विषयता का अर्थ है—ज्ञान में विषय का तादात्म्य, वृत्ति का विषयगत आकाराख्य सम्बन्ध नहीं, क्योंकि वृत्ति के बिना भी चिद्रूप ज्ञान की सुखादि में विषयता अनुभूत होती है, अत एव यहाँ 'ज्ञान' पद से चैतन्यात्मक मुख्य ज्ञान का ग्रहण किया गया है, वृत्ति का नहीं। फलतः जैसे एक ही वृक्ष में रहनेवाले कपि-संयोग और कपि-संयोगाभाव क्रमशः शिखर और मूल से अवच्छिन्न होते हैं, वैसे ही सर्वदृश्यतादात्म्यापन्न एक ही चैतन्य में शुक्तितादात्म्यावच्छेदेन रजततादात्म्य और घटादितादात्म्यावच्छेदेन रजतादितादात्म्य के अभाव का उपपादन करने के लिए ही अवच्छेदकत्व की कल्पना की जाती है। तादात्म्यरूप विषयत्व में मूलादिनिष्ठ संयोगादि के अवच्छेदकत्वसजातीय अन्यनिष्ठ विषयत्व का अवच्छेदकत्व जब सम्भव है, तब गौरवापादक विलक्षण अवच्छेदकत्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मूलादिनिष्ठ अवच्छेदकत्व के समान ही विषयत्वनिष्ठ अवच्छेदकत्व में अनुभावादि की व्यवस्था की जाती है।

शङ्का—अवच्छेदकता सम्बन्ध से संयोगादि की उत्पत्ति में तादात्म्यसम्बन्ध से मूलादि हेतु हैं, अतः संयोगादि ही मूलादि से अवच्छिन्न होते हैं, मूलादि संयोगादि से अवच्छिन्न नहीं होते, क्योंकि इस विपरीत अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव में कोई प्रमाण नहीं, किन्तु दो विषयताओं में एक ही दूसरी की अवच्छेदिका है—इसमें कोई नियामक सुलभ नहीं होता।

समाधान—इदमादि व्यावहारिक पदार्थों में इदमावच्छिन्न संयोगादि की जो कारणता क्लृप्त है, वही कारणता अवच्छेदकता सम्बन्ध से इदमावच्छिन्न वस्तु सामान्य की उत्पत्ति में स्थिर है। रजत और रजत का तादात्म्य भी इदमादि व्यक्तियों से अवच्छिन्न है, अतः अवच्छेदकता सम्बन्ध से उसकी उत्पत्ति में तादात्म्येन इदमादि व्यक्ति ही हेतु हैं। अन्त्यावयवी घटादि में भी घटस्थ जलवायुसंयोगादि की अवच्छेदकता

दीनां तन्मध्यस्थजलादिवायुसंयोगाद्यवच्छेदकत्वानुभवात्तेष्वपि तथैव भ्रमविषयावच्छेदकत्वसम्भवः। गुणकर्मादीनां तु तादृशहेतुत्वस्यावलृप्तत्वेऽपि तद्विशेष्यकभ्रमस्थले विशेषणसंसर्गयोर्विशेष्यनिष्ठावच्छेदकतासम्बन्धेनोत्पत्तौ विशेष्यनिष्ठेन तत्तत्सम्बन्धेन दोषाणां हेतुत्वं कल्प्यते। एवमवच्छेदकतासम्बन्धेन तादात्म्यस्योत्पत्तौ स्वपरिणामाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टमज्ञानं तादात्म्यभिन्नस्वपरिणामनिष्ठविषयतासम्बन्धेन हेतुः। स्वमज्ञानं तस्य परिणामो रजतादिकं तदाकारा वृत्तिश्च तदव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टमज्ञानं रजताद्युत्पत्तेरव्यवहितपूर्वक्षण एवास्तीति रजताद्युत्पत्तिक्षण एवेदमादिविशेष्यतादात्म्यं रजताद्यवच्छेदेनेदमाद्याकारमनोवृत्तितादात्म्यं रजताकाराविद्यावृत्त्यवच्छेदेनोत्पद्यते। स्वमज्ञानं तत्परिणामो रजतादिकं तदाकारा वृत्तिश्च तन्निष्ठा विषयता ईश्वरज्ञानादेरस्तीति सा सम्बन्धः। स्वपरिणामे भाविनि तादात्म्यादिसम्बन्धेन पूर्वमज्ञानस्यासत्त्वात् "स्वपरिणामनिष्ठविषयते"त्युक्तम्। विषयतासम्बन्धस्य च भाविभूतविषये ज्ञानादेः सत्त्वादुक्तविषयतासम्बन्धेन भाविन्यप्यज्ञानसत्त्वम्। अत एव "ज्ञायमानघटत्वरूपं सामान्यं घटवृत्त्यलौकिकमुख्यविशेष्यतासम्बन्धेन प्रत्यक्षं प्रति स्वसमवायिनिष्ठविषयतासम्बन्धेन भाविभूतनिष्ठेन हेतुः"—इति तार्किका वदन्ति।

अनुभुत होती है। वैसे ही भ्रम के विषय की अवच्छेदकता सम्भव है। गुणकर्मादि में वैसी हेतुता अनिश्चित होने पर भी गुणादिविशेष्यक भ्रम-स्थल पर विशेषण और उसके सम्बन्ध की गुणादिरूप विशेष्यनिष्ठ अवच्छेदकता सम्बन्ध से उत्पत्ति में विशेष्यनिष्ठ तत्तत्सम्बन्ध से दोषों में हेतुता मानी जाती है। इसी प्रकार अवच्छेदकता सम्बन्ध से तादात्म्य की उत्पत्ति में स्वकीयपरिणामाव्यवहितपूर्वत्व-विशिष्ट अज्ञान तादात्म्य से भिन्न स्वपरिणामगत विषयता सम्बन्ध से हेतु होता है। 'स्वम्' शब्द से यहाँ अज्ञान का ग्रहण किया गया है। उसका परिणाम है—रजतादि और रजताकार वृत्ति, तदव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट अज्ञान रजतादि की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्व क्षण में ही रहता है, अतः रजतादि के उत्पत्ति-क्षण में ही इदमर्थ का विशेष्यभूत तादात्म्य रजताद्यवच्छेदेन एवं इदमाद्याकार मनोवृत्ति का तादात्म्य रजताकाराविद्यावृत्त्यवच्छेदेन उत्पन्न होता है। अथवा स्वंपदार्थ है—अज्ञान, उसका परिणाम है—रजत और रजताकार वृत्ति, उसमें रहनेवाली जो ईश्वरीय ज्ञान की विषयता है, उसको सम्बन्ध माना जा सकता है। अपने (अज्ञान के) भावी रजतादि परिणाम के पूर्व तादात्म्यादि सम्बन्ध से अज्ञान नहीं रहता, अतः 'स्वपरिणामनिष्ठविषयता' कहा है। ज्ञान का विषयतारूप सम्बन्ध भावीभूत विषय में भी देखा जाता है, अतः अज्ञान उक्त विषयता सम्बन्ध से अपने भावीभूत परिणामरूप विषय में भी रह जाता है। अत एव तार्किकगण कहा करते हैं—"ज्ञायमानघटत्वरूपं सामान्यं घटवृत्त्यलौकिकमुख्यविशेष्यतासम्बन्धेन प्रत्यक्षं प्रति स्वसमवायिनिष्ठविषयतासम्बन्धेन भाविभूतनिष्ठेन हेतुः।" [सामान्यलक्षणा के प्रसङ्ग में कहा गया कि घटत्वादि सामान्य के द्वारा भावी घटादि का भी अलौकिक प्रत्यक्ष हो जाता है, क्योंकि ज्ञायमान घटत्वरूप सामान्य (जाति) भावीभूत घटादि पर भी स्वसमवायिनिष्ठविषयता सम्बन्ध से है और घट का प्रत्यक्ष भी घटवृत्त्यलौकिकमुख्यविशेष्यता सम्बन्ध से घट पर रहता है, समानधिकरण धर्मों में कार्यकारणभाव का निर्वाह हो जाता है]।

रजतादितत्संसर्गयोरिदमाद्यवच्छिन्नत्वात्तदीयचित्तादात्म्यरूपं विषयत्वमपि तथा इदमादिविषयत्वावच्छिन्नं च सम्भवति। इदमादिविषयत्वस्य तु रजतादिप्रतियोगिकताहशसंसर्गविषयत्वावच्छिन्नत्वे मानाभावात्। 'रजतमिद'मिति द्वितीयाकारसिद्धयर्थं रजतादितद्विषयत्वावच्छेदेन तादात्म्योत्पत्तिः स्वीक्रियते। तस्य च तादात्म्यस्येदमादिप्रतियोगिकत्वसिद्धये प्रतियोगितासम्बन्धेन तादात्म्यस्योत्पत्तौ स्वाश्रयतावच्छेदकत्वसम्बन्धेनोक्ताज्ञानस्य हेतुतान्तरं कल्प्यते। तथा च भ्रमपूर्वसिद्धं यदिदमादिकं तद्विषयत्वं च तदेव रजतादौ तत्तादात्म्ये तयोर्विषयत्वे च तावदुपहितरूपेणावच्छेदकम्। यत्तु भ्रमकाले इदमर्थस्य तादात्म्यं तत्प्रतियोगित्वोपहितमिदमादिकं च जायते, यच्च तयोर्विषयत्वं, तानि तदुपहितताहशरजतादिनावच्छिद्यन्ते। एवञ्च मूलसंयोगादीनामिव परस्परानवच्छिन्नत्वनियमो न व्याहतः, न वा परस्परभिन्नसर्वविषयकत्वरूप आकारयोर्भेदनियमो व्याहतः। 'इदं रजत'मित्याकारे ताहशावच्छेद्यावच्छेदकयोरेव भानेन जायमानस्य रजतप्रतियोगिकतादात्म्यस्य प्रतियोगित्वोपहितरजतस्य तदनुयोगित्वोपहितेदमर्थस्य च भानात्। 'रजतमिद'मित्याकारे तु जायमानस्येदंप्रतियोगिकतादात्म्यस्य प्रतियोगित्वोपहितेदमर्थस्य तदनुयोगित्वोपहितरजतस्य चावच्छेद्यावच्छेदकतया भानेनाकारद्वयविषयाणां मिथो भिन्नत्वात्।

न च—इदमाद्यवच्छेदेन जायमानतादात्म्यस्य रजतादौ प्रतियोगितासम्बन्धेनो-

---

यह एक सामान्य नियम है कि जो वस्तु जिस पदार्थ से अवच्छिन्न होती है, उस वस्तु का सम्बन्ध भी उसी पदार्थ से अवच्छिन्न होता है. अतः रजत और रजत का संसर्ग इदमादि से अवच्छिन्न होता है, अतएव रजताकारवृत्त्यवच्छिन्न चित्तादात्म्यरूप विषयता भी इदमादि-विषयता से अवच्छिन्न होती है। किन्तु इदमादिविषयता रजतादिप्रतियोगिक उक्त संसर्गविषयता से अवच्छिन्न होती है—इसमें कोई प्रमाण नहीं। 'रजतमिदम्'—इस द्वितीय आकार की सिद्धि के लिए रजततद्विषयत्वाच्छेदेन तादात्म्यान्तर की उत्पत्ति मानी जाती है। इस द्वितीय तादात्म्य में इदमादिप्रतियोगिकत्व सिद्ध करने के लिए प्रतियोगिता सम्बन्ध से तादात्म्य की उत्पत्ति में स्वाश्रयतावच्छेदकत्व सम्बन्ध से अज्ञान में दूसरी हेतुता मानी जाती है। तादात्म्यद्वय मान लेने पर भ्रम के पहले सिद्ध जो इदमादि, इदमादिगत विषयत्व (तादात्म्य) है, वही तत्तदुपहित रूप से रजतादि, रजतादि के तादात्म्य तथा उनमें रहनेवाली विषयता का अवच्छेदक है, अर्थात् रजतोपहित इदमादि पदार्थ रजत का, रजततादात्म्योपहित इदमादि रजततादात्म्य का अवच्छेदक होता है और जो भ्रम-काल में उत्पन्न इदमर्थ का तादात्म्य होता है, उसके प्रतियोगित्व से उपहित इदमादि उत्पन्न होता है, उनमें रहने वाली जो विषयताएँ है, वे उक्त तादात्म्योपहित रजतादि से अवच्छिन्न होती हैं। इसी प्रकार वृक्ष के मूल (अवच्छेदक) और संयोगादि (अवच्छेद्य) पदार्थों के समान प्रकृत में भी न तो परम्परानवच्छिन्नत्व का नियम व्याहत होता है और न विभिन्न आकारों में परस्परभिन्न सर्वविषयकत्वरूप आकार-भेद का नियम। 'इदं रजतम्'—इस प्रकार के आकार में कथित रजतादिरूप अवच्छेद्य और इदमादिरूप अवच्छेदक का ही भान होता है। और 'रजतमिदम्'—ऐसे आकार में तो जायमान इदंप्रतियोगिकतादात्म्य, प्रतियोगित्वोपहित इदमर्थ और तादात्म्यानुयोगित्वोपहित रजत में क्रमशः अवच्छेद्य और अवच्छेदक का भान होने के कारण दोनों आकारों में विषय-भेद सिद्ध हो जाता है।

शङ्का—यह जो नियम किया गया है कि प्रतियोगिता सम्बन्ध से तादात्म्य की

त्पस्या तत्रोक्तसम्बन्धेनाज्ञानस्याभावाद् व्यभिचार इति-वाच्यम्, रजतादेरुक्ततादात्म्यस्य प्रतियोगिताभावेऽपि रजतादिसंसर्गतया भानसम्भवात्। न हि विशेषणविशेष्ययोः संसर्गप्रतियोगित्वानुयोगित्वे विशिष्टबुद्ध्योर्विषयौ येनानुभवबलादेव तयोस्ते सिद्ध्यतः। अथवा रजताद्यवच्छेदेन जायमानतादात्म्यस्यापि नेदमादिप्रतियोगिकत्वम्, किन्तु तत्संसर्गतया भानमात्रमतो न तादृशकार्यकारणभावाभावेऽपि क्षतिः। वस्तुतस्तु दोषादिघटिता सामग्र्येव रजतादिप्रातीतिकप्रतियोगिकतादात्म्ये नियामिका, व्यावहारिकप्रतियोगिके प्रातीतिके तादात्म्ये च अज्ञानाश्रयतावच्छेदकत्वं नियामकम्।

ननु 'रजतमिद' मित्याकारसिद्धये इदमादितादात्म्योत्पत्तिस्वीकारो व्यर्थः, इदन्त्वादिसंसर्गोत्पत्त्यापि तादृशाकारसिद्धेः—इति चेन्न, तादृशाकारे तादृशस्य संसर्गस्य तादात्म्यस्य वा भानमित्यत्र विनिगमकाभावात्। तस्माद्धर्मयोः संसर्गाविव धर्मिणोस्तादात्म्ये अपि प्रातीतिके जायेते। तयोरिव तयोरपि सप्रतियोगिकतया

उत्पत्ति में स्वाश्रयतावच्छेदकत्व सम्बन्ध से अज्ञान हेतु होता है, वह नियम व्यभिचरित है, क्योंकि इदमाद्यवच्छेदेन जो तादात्म्य उत्पन्न होता है, उसकी रजतादि में प्रतियोगिता सम्बन्ध सेउत्पत्ति होती है, किन्तु वहाँ अज्ञान स्वाश्रयतावच्छेदकत्व सम्बन्ध से नहीं रहता, क्योंकि अज्ञान का कार्यभूत रजतादि कभी अज्ञान का आश्रयतावच्छेक नहीं हो सकता, अन्यथा आत्माश्रय दोष होगा।

समाधान—रजतादि में उक्त तादात्म्य की प्रतियोगिता न होने पर भी रजतादिसंसर्गतया तादात्म्य का भान हो जाता है, क्योंकि विशेषण और विशेष्य में जो क्रमशः संसर्ग का प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व अभिमत है, वह विशिष्ट-बुद्धि का विषय नहीं होता, अतः अनुभव के बल पर तादात्म्य की प्रतियोगिता रजत में और अनुयोगिता इदं में सिद्ध नहीं होती, अतः प्रतियोगिता सम्बन्ध से तादात्म्य न तो रजत में रहता है और न स्वाश्रयतावच्छेदकता सम्बन्ध से वहाँ अज्ञान की अपेक्षा होती है।

अथवा इदमर्थ में जो उक्त कार्य-कारणभाव माना गया, वह भी आवश्यक नहीं, क्योंकि रजताद्यवच्छेदेन इदमर्थ का तादात्म्य उत्पन्न होता है, उसकी भी प्रतियोगिता इदमर्थ में नहीं होती, किन्तु तादात्म्य में इदमर्थ की संसर्गता का व्यवहार मात्र हो जाता है। वस्तुतः रजतादि प्रातीतिकप्रतियोगिक तादात्म्य की नियामिका दोषादिघटित सामग्री ही मानी जाती है, किन्तु इदमादि व्यावहारिकप्रतियोगिक प्रतीतिकानुयोगिक तादात्म्य की उत्पत्ति में स्वाश्रयतावच्छेदकत्व सम्बन्ध से अज्ञान को हेतु माना जाता है।

शङ्का—'रजतमिदम्'—इस प्रकार द्वितीय आकार की सिद्धि के लिए इदमादितादात्म्य की उत्पत्ति माननी व्यर्थ है, क्योंकि इदन्त्वादि-संसर्ग की उत्पत्तिमात्र के मान लेने से उक्त आकार सिद्ध हो जाता है।

समाधान—'रजतमिदम्'—इस प्रकार के ज्ञान में इदन्त्व के संसर्ग का भान होता है, या इदमर्थ का तादात्म्य प्रतीत होता है—इसमें कोई विनिगमक उपलब्ध नहीं होता, अतः इदन्त्व और रजतत्वरूप धर्मों के स्वरूप एवं समवयारूप संसर्गों के समान इदं और रजतरूप धर्मियों के दो प्रातीतिक तादात्म्य भी उत्पन्न होते हैं, क्योंकि धर्मों के स्वरूप और समवायरूप दो सम्बन्धों के समान दो धर्मियों के दो तादात्म्य भी सप्रतियोगिकतया प्रतीत एवं बाध बुद्धि के द्वारा बाध्यत्वेन अनुभूत होते हैं, क्योंकि विषय-

प्रतीयमानत्वाद् बाध्यत्वानुभवाच्च । एतेन—'इह रजतं ने'ति बाधस्य बाध्यं रजतमेव, न तु तत्प्रतियोगिकं तादात्म्यम्, तथा च भ्रमपूर्वसिद्धं यदिदमादितादात्म्यं तस्यैव रजतादिविशेषणं प्रति संसर्गतया भानम्—इत्यपास्तम्, रजतादिप्रतियोगिकतादात्म्यत्वेन प्रतीतेर्बाध्यत्वानुभवस्य च रजताद्यप्रतियोगिकतादात्म्येनानिर्वाहात्। न हि विशेषणविशेष्ययोः संसर्गप्रतियोगित्वानुयोगित्वे न भासेते इति वक्तुं शक्यते। घटभूतलादिनिष्ठयोर्वृत्तिज्ञानीयविशेषणताविशेष्यतयोर्भासमानवैशिष्ट्यीयभासमानप्रतियोगित्वानुयोगित्वस्वरूपत्वादवच्छेदकावच्छेद्यभावापन्नचिच्चेत्यतादात्म्यरूपयोर्विशेष्यताविशेषणतयोश्चिद्रूपज्ञान एव स्वीकारेण वृत्तौ स्वीकर्तुमशक्यत्वात्।

ननु तथापि रजतादेरुपनयसंनिकर्षेण प्रत्यक्षे विषयीभवतो विशेषणत्वमेव न तु विषयत्वम्, उपनीतं विशेषणतयैव भातीति नियमाद्—इति चेन्न। उपनयस्य सिद्धान्ते प्रत्यक्षविषयत्वानियामकत्वादुक्तनियमस्याभावात्। परमते तद्भावेऽप्यलौकिक-

---

विशिष्ट भ्रम ज्ञान के मिथ्या या बाधित होने के कारण रजतप्रतियोगिक और इदम्प्रतियोगिक तादात्म्यादि विषय भी बाधित होते हैं।

यह जो आक्षेप किया जाता था कि 'इदं रजतं न'—इस प्रकार के बाधक ज्ञान का बाध्य केवल रजत ही होता है, रजतप्रतियोगिक तादात्म्य नहीं, अतः भ्रम के पूर्व काल में सिद्ध जो इदमादि का तादात्म्य है, वही रजतरूप विशेषण का भी संसर्ग बन जाता है, रजतप्रतियोगिक तादात्म्य की कल्पना व्यर्थ है।

वह भी इसीलिए अपास्त हो जाता है कि रजतादिप्रतियोगिक तादात्म्यत्वेन जो प्रतीति और बाध्यत्व का अनुभव होता है, उसका रजताप्रतियोगिक तादाम्य के द्वारा निर्वाह नहीं हो सकता। किसी संसर्ग की विशेषण में प्रतियोगिता और विशेष्य में अनुयोगिता प्रतीत नहीं होती—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) वृत्तिरूप गौण ज्ञान और (२) चैतन्यरूप मुख्य ज्ञान। 'घटवद् भूतलम्'—इस प्रकार के वृत्ति ज्ञान की जो घट में विशेषणता और भूतल में विशेष्यता है, वही प्रतीयमान वैशिष्ट्य की क्रमशः प्रतियोगिता और अनुयोगिता कहलाती है, उसे ज्ञान का तादात्म्य नहीं कह सकते, क्योंकि अवयव और अवयवी, अधिष्ठान और अध्यस्तादि का ही तादात्म्य होता है, वृत्ति ज्ञान में न तो विषय का अवयवावयविभाव होता है और न अधिष्ठानाध्यस्तभाव, किन्तु अवच्छेदकावच्छेद्यभावापन्न चैतन्यरूप अधिष्ठान और चेत्य (अध्यस्त पदार्थों) के तादात्म्यरूप विशेष्यता और विशेषणता का भान चैतन्यरूप मुख्य ज्ञान में ही होता है, वृत्तिरूप ज्ञान में उसे नहीं मान सकते।

शङ्का—'इदं रजतम्'—इस प्रत्यक्ष ज्ञान में रजत का ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा भान होने के कारण रजत को उपनीत कहा जाता है, "उपनीतं विशेषणतयैव भाति"—इस न्याय के अनुसार रजतविशेषणक 'इदं रजतम्'—ऐसा ही आकार तर्कसंगत है, 'रजतमिदम्'—ऐसा रजतविशेष्यक ज्ञानाकार सम्भव नहीं, अतः दो तादात्म्यों की उत्पत्ति माननी असंगत है।

समाधान—वेदान्त-सिद्धान्त में प्रत्यक्षता का नियामक न तो कोई उपनय सन्निकर्ष माना जाता है और न रजत का ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष, अतः उक्त न्याय यहाँ लागू नहीं होता। तार्किकादि मतों में वह अभ्युपगत होने पर भी अलौकिक विशेषणता का ही उसे नियामक माना जाता है, लौकिक विशेष्यता के समान

विशेषणतायामेव तस्य नियामकत्वात्। लौकिक्यां च विशेषणतायामिव विशेष्यतायामपि दोषाणामेव बाधविशेषाभावादिसहकृतानां नियामकत्वात्।

ननु रजतस्याध्यासे स्वीकृते तत्तादात्म्यस्यापि अध्यास आवश्यकः, स एव कुतः, रजतत्वादिधर्मस्यैव संसर्ग आरोप्यते, तावतैव प्रतीतिबाधयोरुपपत्तेः, किमिति रजततत्तादात्म्ययोरध्यास उच्यते—इति चेन्न, रजतस्योत्पत्ति विना रजतत्वमत्र साक्षात्करोमीति प्रत्ययानिर्वाहात्। देशान्तरस्थरजते मनोऽवच्छिन्नचित्तादात्म्याभावेन तद्गतरजतत्वादावपि तदभावात्। न च रजतत्वादेरेवोत्पत्तिरस्तु, न तु तद्वत इति वाच्यम्, अनेकधर्माणामुत्पत्तिकल्पनामपेक्ष्यैकस्य धर्मिण एवोत्पत्तिकल्पनाया लघुत्वात्। अखण्डरजतत्वादेरुत्पत्तौ तस्य पूर्वमननुभूतत्वेन पूर्वानुभूतरजतत्वादिप्रकारकप्रवृत्त्यादिकार्यस्य भ्रमस्थलेऽनुपपत्तेः। तस्मादिदमादितादात्म्यस्य रजताद्यवच्छेदेनावश्यमुत्पत्तिः प्रातीतिकभ्रमस्थले वाच्या। तथा च तद्वदेव व्यावहारिकघटादिभ्रमस्थलेऽपि 'सन्तं घटं जानामि' 'घटं सन्तं जानामि'त्याकारद्वयानुभवात्, तादृशभ्रमस्य विषयविशिष्टस्य बाधकप्रत्ययेन श्रुत्यनुमानादिना च मिथ्यात्वप्रत्ययाच्च, सदवच्छेदेन घटादिकं तत्तादात्म्यं घटत्वादिसंसर्गश्च, घटाद्यवच्छेदेन सत्तादात्म्यं सत्त्वादिधर्मसंसर्गश्च जायते, केवलस्य सतोऽधिकरणत्वेऽपि तादात्म्यप्रतियोगित्वोपहितरूपेण तस्य तत्सम्बद्धत्वेनावच्छेदकत्वम्।

लौकिक विशेषणता में भी बाधविशेषाभावादि से सहकृत दोषों को ही नियामक माना जाता है।

शङ्का—रजत का अध्यास मान लेने पर ही तद्गत तादात्म्य का अध्यास माना जा सकता है, किन्तु रजत का ही अध्यास क्यों? केवल रजतत्वादि धर्म का संसर्गमात्र आरोपित होता है, उतने मात्र से उक्त प्रतीति और बाध की उपपत्ति हो जाती है, रजत और उसके तादात्म्य का आरोप किस लिए होगा?

समाधान—शुक्ति में जब तक रजत की उत्पत्ति न मानी जाय, तब तक "रजतत्वमत्र साक्षात्करोमि"—ऐसी अनुभूति का निर्वाह नहीं हो सकता। देशान्तरस्थ रजत के साथ अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का तादात्म्य न हो सकने के कारण रजतगत रजतत्व के साथ भी तादात्म्य नहीं हो सकता। 'शुक्ति में रजतत्वमात्र की उत्पत्ति मान ली जाय, रजतत्व-विशिष्ट की उत्पत्ति मानने की क्या आवश्यकता? इस शङ्का का समाधान यह है कि अनेक धर्मों की उत्पत्ति-कल्पना की अपेक्षा एक धर्मी की कल्पना ही लघु होती है। रजतरूप धर्मी से निरपेक्ष अखण्ड (अतिरिक्त) रजतत्व की उत्पत्ति मानने पर अखण्ड रजतत्व पहले अनुभूत न होने के कारण शुक्ति में रजतार्थी की रजतत्व-प्रकारक प्रवृत्ति न हो सकेगी, अतः रजताद्यवच्छेदेन इदमादि के तादात्म्य की उत्पत्ति प्रातीतिक-भ्रम-स्थल पर अवश्य माननी होगी, उसी प्रकार ब्रह्म में व्यावहारिक घटादि-भ्रम-स्थल पर भी "सन्तं घटं जानामि', 'घटं सन्तं जानामि'—इस प्रकार दो आकारों की अनुभूति होती है एवं विषय-विशिष्ट उक्त भ्रम में बाधक प्रत्यय, श्रुति और अनुमानादि से मिथ्यात्व की प्रतीति होती है, अतः 'सदवच्छेदेन घटादि, घटादि का तादात्म्य तथा घटत्वादि का संसर्ग उत्पन्न होता है और घटाद्यवच्छेदेन सत्तादात्म्य और सत्त्वादि धर्म का संसर्ग। यद्यपि केवल शुद्ध सत् वस्तु अधिकरण है, तथापि तादात्म्योपहितत्व-रूपेण सत् पदार्थ अधिष्ठानभूत शुद्ध वस्तु से सम्बन्धित होने के कारण अवच्छेदक माना जाता है।

न च एकस्यैवानादेः सत्तादात्म्यस्याविद्यायामिव घटादावपि सम्भवाद् घटाद्यवच्छेदेनानन्तसत्तादात्म्यानामुत्पत्तौ न मानमिति वाच्यम् , सत्तादात्म्यं हि चिद्रूपज्ञानस्य विषयतारूपतादात्म्यम् , तथा च कपालादिनिष्ठविषयतारूपसत्तादात्म्येनावच्छिन्नस्य घटादिनिष्ठविषयतारूपस्य सत्तादात्म्यस्य तन्त्वादिनिष्ठविषयतारूपसत्तादात्म्यावच्छिन्नेन पटादिनिष्ठविषयतारूपेण सत्तादात्म्येनाभेदासम्भवादवच्छेदकभेदेन सत्तादात्म्यानां भेदस्यावश्यकत्वेनानन्त्यं प्रामाणिकम् । न हि तार्किकादिभिरपि तत्तद्विषयतावच्छिन्नविषयतानामैक्यमुच्यते । तेषां च संयोगादिवदेवोक्तरीत्या जन्यत्वमपि । तस्मादाकारद्वयानुभवाद् , भ्रमविषयत्वहेतुना मिथ्यात्वानुमितेः, 'सत्तादात्म्यमिदमादितादात्म्यं च यदि मिथ्या न स्यात्तदा भ्रमविषयो न स्याद् विषयविशिष्टभ्रमस्य मिथ्यात्वप्रत्ययाद्', इति तर्कादिदमादितादात्म्यमिव सत्तादात्म्यमपि मिथ्या । तदिदं सर्वं शारीरकसंक्षेपशारीरकपञ्चपादिकादिमूलकम् । उक्तं हि शारीरके—"अन्योऽन्यस्मिन्नन्योऽन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्याहमिदं ममेदमिति व्यवहार" इति । अन्योन्यस्मिन् परस्परावच्छेदेन । उक्तञ्च संक्षेपशारीरके—

इदमर्थवस्त्वपि भवेद्रजते परिकल्पितं रजतवस्त्विदमि ।
रजतभ्रमेऽस्य च परिस्फुरणान्न यदि स्फुरेन्न खलु शुक्तिरिव ॥

शङ्का—एक अनादि सत्तादात्म्य ही अविद्या के समान घटादि में भी सम्भव है, अतः घटाद्यवच्छेदेन अनन्त सत्तादात्म्यों की उत्पत्ति निष्प्रमाण है ।

समाधान—सत्तादात्म्य का अर्थ है—चिद्रूप ज्ञान का विषयतारूप तादात्म्य । 'कपालादिनिष्ठ विषयतारूप सत्तादात्म्य से अवच्छिन्न घटादिनिष्ठ विषयतारूप तादात्म्य' और 'तन्त्वादिगत विषयतारूप सत्तादात्म्य से अवच्छिन्न पटादिनिष्ठ विषयतारूप सत्तादात्म्य' का कभी भी अभेद नहीं हो सकता, अतः अवच्छेदक के भेद से तादात्म्यों का भेद प्रामाणिक है, क्योंकि तार्किकादि भी कपालादिविषयता से अविच्छिन्न घटादिविषयता और तन्त्वादि-विषयता से अवच्छिन्न पटादि की विषयता का अभेद नहीं मानते । उनमें संयोगादि के समान जन्यत्व भी सिद्ध होता है । फलतः दो आकारों का अनुभव होने के कारण कथित तादात्म्यों में भी भ्रम-विषयत्व हेतु के द्वारा मिथ्यात्व का अनुमान होता है—सत्तादात्म्य और इदमादि के तादात्म्य यदि मिथ्या नहीं होंगे, तब भ्रम के विषय भी न हो सकेंगे, क्योंकि विषय-विशिष्ट भ्रम मिथ्या होता है'—इस प्रकार के तर्क की सहायता से इदमादि तादात्म्य के समान सत्तादात्म्य भी मिथ्या ही होता है। यह सब कुछ (१) शारीरक भाष्य, (२) संक्षेपशारीरक और (३) पञ्चपादिका के आधार पर कहा गया है ।

(१) शारीरक भाष्य में कहा गया है—"अन्योऽन्यस्मिन् अन्योऽन्यात्मकतामध्यस्याहमिदं ममेदमिति व्यवहारः" (ब्र० सू० १।१।१) । यहाँ "अन्योऽन्यस्मिन्"—इसका अर्थ परस्परावच्छेदेन है, जैसा कि 'सन् घटः' और 'घटः सन्'—इत्यादि स्थलों पर कहा जा चुका है कि सदवच्छेदेन घट का और घटावच्छेदेन सत्तादात्म्य का अध्यास होता है ।

(२) संक्षेप शारीरक में सर्वज्ञात्ममुनि ने कहा है—

इदमर्थवस्त्वपि भवेद्रजते परिकल्पितं रजतवस्त्विदमि ।
रजतभ्रमेऽस्य च परिस्फुरणान्न यदि स्फुरेन्न खलु शुक्तिरिव ॥

इतरेतराध्यसनमेव ततश्चितिचेत्ययोरपि भवेदुचितम् ।
रजतभ्रमादिषु तथावगमान्न हि कल्पनागुरुतरा घटते ॥
अनुभूतियुक्त्यनुमितित्रितयादितरेतराध्यसनमेव ततः ।
चिति चेत्यवस्तुयुगलस्य न चेत् त्रितयस्य बाधनमिहापतति ॥ इति ।

अस्य इदमर्थस्य, "न यदी"त्यादि । यदीदमर्थो न कल्पितः, तदा भ्रमे न स्फुरेत् । शुक्तिरिव शुक्तित्वविशिष्टमिवेत्यर्थः । इतरेतराध्यसनं परस्परावच्छेदेनाध्यासः । "गुरुतरे"ति । रजतादिभ्रमे यथा दृष्टं तद्विपरीता व्यावहारिकभ्रमस्थले एकस्यैवाध्यास उत्पत्तिश्चेति कल्पनानुपस्थितविषयकत्वेन गुर्वी । आवश्यकानामनन्तसत्तादात्म्यानां विषयत्वरूपाणामनध्यस्तत्वे सत्यत्वापत्तेरद्वैतश्रुतिसङ्कोचापत्तेश्च । तेषामध्यस्तत्वेऽपि न जन्यत्वमिति स्वीकारे कपालादिनिष्ठविषयत्वावच्छिन्नानां घटादिनिष्ठविषयत्वानां पूर्वोक्तरीत्या कपालादिनाप्यवच्छिन्नत्वात्तादृशनित्यसाधारणेन कपालाद्यवच्छिन्नत्वरूपेण संयोगादीनां कपालादिकार्यता न सम्भवतीत्यतो जन्यत्वविशेषितेनोक्तरूपेण सा वाच्या । तथा चैतादृशगुरुतरकल्पनामूलकत्वेनैकस्यैवाध्यासोत्पादादिकल्पना गुरुतरेत्यर्थः । अनुभूतिराकारद्वयानुभूतिः आद्यपद्यस्याद्यार्धे

इतरेतराध्यसनमेव ततश्चितिचेत्ययोरपि भवेदुचितम् ।
रजतभ्रमादिषु तथावगमान्न हि कल्पना गुरुतरा घटते ॥
अनुभूतियुक्त्यनुमितित्रितयादितरेतराध्यसनसिद्धिरतः ।
चितिचेत्यवस्तुयुगलस्य न चेत् त्रितयस्य बाधनमिहापतति ॥ (सं. शा. १।३८)

[इदम् पदार्थ भी रजत में (वैसे ही) कल्पित है, (जैसे कि) रजतवस्तु इदम् पदार्थ में; क्योंकि यह (इदम्पदार्थ) रजत-भ्रम में परिस्फुरित होता है । इदम् पदार्थ यदि अध्यस्त न होता, तब शुक्ति के समान ही प्रतीत न होता । अध्यास होने के कारण अहम्—इस प्रकार चेतनाचेतन का अध्यास भी अन्योऽन्याध्यास ही उचित होगा, क्योंकि रजतादिभ्रमों में वैसा ही अनुभव-होता है । अन्य प्रकार की गुरुतर कल्पना नहीं जँचती । अनुभव, युक्ति और अनुमिति इन तीनों से चेतनाचेतन का अन्योऽन्याध्यास सिद्ध होता है, अन्यथा उन तीनों का यहाँ बाध हो जायेगा] ।

उक्त श्लोकों में "अस्य" का अर्थ इदमर्थ है । "न यदि"—इसका भाव है कि यदि इदमर्थ कल्पित नहीं, तब भ्रम में स्फुरित नहीं होगा । शुक्तिरिव का अर्थ है-शुक्तित्वविशिष्ट के समान । इतरेतराध्यसनं का अर्थ—परस्परावच्छेदेन अध्यास है । "गुरुतरा" का अर्थ है—रजतादि-भ्रम में जैसा देखा गया है, उसके विपरीत व्यावहारिक भ्रम-स्थल पर एक का ही अध्यास और उत्पाद—इस प्रकार की कल्पना अनुपस्थित विषयिणी होने से गुर्वी है । आवश्यक अनन्त सत्तादात्म्य यदि अध्यस्त नहीं माने जाते, तब उनमें सत्यत्वापत्ति और अद्वैत श्रुति में संकोचापत्ति होती है । 'वे तादात्म्य' अध्यस्त होने पर भी जन्य नहीं'—ऐसा मानने पर कपालादिनिष्ठ विषयत्वावच्छिन्न घटादिनिष्ठ विषयताएँ भी पूर्वोक्त रीति के अनुसार कपालादि से भी अवच्छिन्न होने के कारण कपालाद्यवच्छिन्नत्वरूपेण संयोगादि में कपालादि की कार्यता सिद्ध न होगी, क्योंकि घटादिनिष्ठ सत्तादात्म्यरूप विषयता नित्य होती, कार्य नहीं, अतः संयोगादि में कपालादि की कार्यता का जन्यत्व विशेषण लगाना होगा । फलतः एक तादात्म्य की ही उत्पत्ति-कल्पना में महान् गौरव होगा । "अनुभूति" पद से आकारद्वय की अनुभूति का ग्रहण किया गया

उक्ता। अनुमितिः भ्रमविषयत्वहेतुका मिथ्यात्वानुमितिस्तृतीयचरणे। युक्तिस्तर्कश्चतुर्थचरणे।

पञ्चपादिकायामप्युक्तम्—"यद्यनात्मन एवाध्यासस्तदा आत्मा न भ्रमे भासेत। तस्मादात्मानात्मनोर्द्वयोरप्यहमनुभवे अध्यास" इति।

ननु विप्रतिपत्तौ मिथ्यात्वविशेषस्यैव साध्यतयोक्तत्वान्न्यायप्रयोगेऽपि तस्यैव तदुचितम्, न तु मिथ्यात्वसामान्यस्य—इति चेन्न, विप्रतिपत्तावपि मिथ्यात्वस्य सामान्यरूपेणैव साध्यतायां तात्पर्यात्। तच्च सामान्यरूपं वक्ष्यमाणपञ्चविधमिथ्यात्वसाधारणं मिथ्याशब्दार्थत्वरूपं मिथ्याशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वम्, न तु पञ्चविधमिथ्यात्वानामन्यतमत्वम्, न्यायप्रयोगे आधुनिकलक्षणया शब्दप्रयोगस्यासाम्प्रदायिकत्वात्। मिथ्याशब्दार्थत्वरूपेण मिथ्याशब्देन मिथ्यात्वस्य बोधने निरूढलक्षणैव नाधुनिकलक्षणा। 'वृक्षो महीरुह' इत्यादौ कोशवाक्ये व्याख्यानवाक्ये च महीरुहादिपदस्य तदर्थपरत्वेन भूरिप्रयोगदर्शनात्॥

इति लघुचन्द्रिकायां पक्षतावच्छेदकत्वनिरुक्तिः॥

है, जो कि प्रथम पद्य के पूर्वार्ध में कही गई है। 'अनुमिति' पद से भ्रमविषयत्वहेतुक मिथ्यात्वानुमिति तृतीय चरण में चर्चित गृहीत हुई है। 'युक्ति' पद से उस तर्क का ग्रहण किया गया है, जो कि उक्त प्रथम पद्य के चतुर्थ पाद में निर्दिष्ट है।

(३) पञ्चपादिका में भी कहा है—"यद्यनात्मन एवाध्यासः, तदा आत्मा न भ्रमे भासेत, तस्मादात्मानात्मनोर्द्वयोरप्यहमनुभवे अध्यासः" (पं० पा० पृ० १५७)।

शङ्का—विप्रतिपत्ति में त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप द्वितीय मिथ्यात्व का ही निर्देश किया गया है किन्तु प्रतिज्ञावाक्य में कहा गया है—"विमतं मिथ्या", इस प्रकार विप्रतिपत्तिवाक्य में विशेष मिथ्यात्व और प्रतिज्ञावाक्य में सामान्य (पञ्चविधमिथ्यात्वानुगत) मिथ्वात्व का ग्रहण संगत नहीं प्रतीत होता।

समाधान—विप्रतिपत्तिवाक्य का भी तात्पर्य सामान्य मिथ्यात्व की साध्यता में ही है, केवल द्वितीय मिथ्यात्व को साध्य बनानें में नहीं, अन्यथा शेषभूत चार मिथ्यात्व पदार्थों का विप्रतिपत्ति में निर्देश न होने के कारण प्रतिज्ञावाक्य में उनका ग्रहण संभव न हो सकेगा, अतः विप्रतिपत्ति वाक्य तथा प्रतिज्ञावाक्य में किसी प्रकार की असंगति नहीं। प्रतिज्ञावाक्य में निर्दिष्ट सामान्य मिथ्यात्व का अर्थ है—वक्ष्यमाण पञ्चविधमिथ्यात्वानुगत 'मिथ्या' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त मिथ्याशब्दार्थत्व, पञ्चविधमिथ्यात्वान्यतमत्व नहीं, क्योंकि न्याय-प्रयोग में आधुनिक (निरूढ़लक्षणा-भिन्न) लक्षणा के द्वारा शब्द-प्रयोग असाम्प्रदायिक माना जाता है, 'मिथ्या' शब्द के द्वारा मिथ्याशब्दार्थत्वरूपेण मिथ्यात्व के बोधन में निरूढ (अनादितात्पर्यविगाहिनी) लक्षणा ही मानी जाती है, क्योंकि 'वृक्षो महीरुहः'—इत्यादि कोश वाक्यों और उनके व्याख्यान वाक्यों में वृक्षार्थक निरूढ़ 'महीरुह' पद का प्रचुर प्रयोग देखा जाता है।

पक्षतावच्छेदकत्वविचार समाप्त।

द्वितीयं परिशिष्टम्

अद्वैतसिद्ध्युद्धृतानि

प्रमाणवाक्यानि

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
[अ]		
अंशो नानाव्यपदेशात्	ब्र० सू० २।३।४३	११८८
अकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिः	ब्र० सू० २।१।१४	२७५
अक्षमा भवतः केयम्	बृह० वा० पृ० ६८८	२०१
अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः	शत० ब्रा० २।६।३।१	११६१
अक्षरधियां त्ववरोधः	ब्र० सू० ३।३।३३	८१४
अक्षैर्दीव्यति	तै० सं० १।६।१	१२५६
अचेतनासत्यायोग्यानि	सांकर्षणसूत्र	८९१
अगृहीत्वैव सम्बन्धम्	बृह० वा० पृ० ६०	९०६
अग्नये त्वा जुष्टं	तै० सं० १।१।४।२	८३४
अग्निर्मूर्धा	मा० सं० ३।१२	९१५
अग्निर्हिमस्य भेषजम्		१४५
अग्निहोत्रं जुहोति	तै० सं० १।५।९।१	१५२, ४१२, ७६८
अग्नीषोमाविदं	तै० ब्रा० ३।५।१०	५४
अग्नीषोमीयं पशुं		८५३
अङ्गुलिमात्रेणादित्यवत्	पं० वि० पृ० ३१०	६०७
अजक्षीरेण जुहोति		८५३
अजामेकां	श्वेता० ४।५	४८६, ५५६
अजायमानो बहुधा	मा० सं० ३१।१९	९५०
अजो ह्यन्यः	श्वेता० ४।५	१११०
अजो ह्येको जुषमाणः	श्वेता० ४।५	४८२, ११०७
अज्ञाताऽखिलसंवेत्तुः		५८०
अज्ञातं बोध्यते		८०१
अज्ञानं निमित्तं यस्य	तत्त्वदीपन० पृ० १११	५८७
अज्ञानस्य चिन्मात्रमेव	पं० वि० पृ० २१९	५८५
अज्ञानस्य स्वकार्येण	पं० वि० पृ० १७८	३७
अज्ञानान्तःकरणयोः	पं० वि० पृ० २२०	४९८
अज्ञानहानिवद् ब्रह्म		१०२१
अज्ञानिनो भ्रमः	इष्टसि० पृ० १९३	३८९
अज्ञाननिवृत्तेः	इष्टसि पृ० ८५	६२
अज्ञानमिति द्वयसापेक्ष	पं० वि० पृ० ४२ का० सं०	५०३
अज्ञानेनात्मनि	पं० वि० पृ० ९४	५८७

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं	गी० ५।१५	७७, ४५३
अज्ञोऽहमस्मि		६३६
अणुरूपोऽपि भगवान्		६२४
अणुरेष आत्मा	मुं० ३।१।९	१२०८
अणोरणीयान्	कठो० २।२०	४४४
अत उपधायाः	पा० सू० ७।२।११६	८६८
अत एव चोपमा	ब्र० सू० ३।२।१८	१२०७
अतिरात्रे षोडशिनं	मैं० सं० ४।७।६	९५१, ४१४, ८५३, ८६१
अतीतानागताश्चैव		४८३
अतोऽनुभव एवैकः	बृह० वा० पृ० ३१३	७९
अतोऽन्यदार्त्तम्	बृह० उ० ३।४।२	७५, ४३४, ४९१, ११७३
अतोऽवबोधकत्वेन	बृह० वा० पृ० २८२	१८३
अतो हि वैष्णवाः		६३२
अत्यन्तबलवन्तोऽपि	तं० वा० पृ० ८४१	१६८
अत्यन्तासत्यपि	श्लो० वा० पृ० ४६	४२, १८२, ४२६
अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ	न्या० बिन्दु० पृ० १०८	३१४
अत्र ब्रह्मसमश्नुते	कठो० ६।१४	१३०९
अत्र ब्रूमोय एवं	प्र० पं० पृ० ४५	२९८
अत्रान्तरं वेदविदो विदित्वा	श्वेता० १।७	२५६
अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः	बृह० उ० ४।३।९	९९०, ९९१
अत्रानिष्टत्वाद् गमनस्य	सा० दर्प० १०।६६	८८२
अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति	अथर्व० उ० ४	७९४, १००२
अथ परा यया	मुं० १।१।५	८१४, ११२२
अथ यत्र यदेव	बृह० उ० ४।३।२०	१११८
अथ योऽन्यां देवतां	बृह० उ० १।४।१०	७४६, ८७९, ११६७
अथवा मूलाज्ञानस्यैव	पं० प० वि० पृ० ९९	३६८
अथ सम्पत्स्यते	छां० ६।१४।२	११२९
अथ हैतत्पुरुषः	बृह० उ० २।१७	४६६, ६१९
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा	ब्र० सू० १।१।१	१४३
अथातोऽहङ्कारादेशः	छां० ७।२५।१	६०९, ६१९
अदितिर्द्यौः	तै० आ० १	१३८, १४०
अदृष्टाद्वारक	न्या० त० चिन्ता पृ० १९५०	१८९
अद्भुतत्वादनिर्वाच्यम्		३३८
अद्भुतत्वादवाच्यम्		१००२
अधःस्विदासीत्	छां० ७।२५।१।	२१३
अधिकं हि विजातीयम्		४३७
अधिष्ठानं विवर्तानाम्	कल्पत० पृ० २३९	४७९
अधिष्ठानस्य कार्त्स्न्येन		४७४

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
अधिष्ठाने तथा भ्रान्ते		९४५
अध्यस्ते नित्यानित्यत्व		६७३
अध्यासो हि भेदाग्रहेण	भामती पृ० ८	३०६
अनधिगततत्त्वबोधः	ता० टी० १।२।१	५
अनधिगतावाधित	भामती पृ० १०८	२३
अनन्तं ब्रह्म	तै० उ० २।१।१	७३
अनन्याधीनविज्ञान		४४३,९५५
अनवद्यो घनो	मैत्रा० ७।१	८५६
अनश्नन्	मुं० ३।१।१	१११९,११२०
अनिग्रहस्थाने निग्रहः	न्या० सू० ५।२।२३	१३६
अनादिभावरूपत्वे	चित्सु० पृ० ९७	४८४
अनादिमायया सुप्तो	मां० कारिका १।१६	४७४,४७५,४८९
अनित्यत्वविकारित्व		४४७
अनित्यदेशकाल		४८३
अनिरुद्धो हि लोके	महा० मोक्षधर्म	२७,६२४
अनुपलब्धिः स्वभावः	न्या० वि० पृ० १००	३१४
अनुमित्साविरह		११
अनुसन्धानरहित		१०९६
अनन्याराधवेणाहम्		४३९
अनपुंसकस्य		४३५
अनादिब्रह्मसत्ताया		२६
अनाशी परमार्थः स्यात्		४४५
अनन्तं परिणामतः	स्मृति	५५२
अनन्तेन हि प्रत्यूढाः	छां० ८।३।२	५६,५५२
अनेन जीवेन	छां० ६।३।२	१०९५,११५८
अनेन ह्येतत्सर्वम्	वृह० उ० १।४।७	८७६,११२४,११७३,१२६५
अन्तःकरणस्य च	पं० वि० पृ० ७०	५५८
अन्तःकरणपरिणामे	पं० वि० पृ० २०३	४६,७४१
अन्तःकरणविशिष्टे	पं० वि० पृ० ३२३	६११
अन्तःकरणोपराग	पं० वि० पृ० १००	२७५,६३८
अन्तःकरणोपरागात्	पं० वि० पृ० ३१६-१७	
अन्तरेणापि निमित्तम्	महा० भा०	४४३
अन्तर्भावितसत्त्वं चेत्	खण्डन पृ० २०	२८६,९९३
अन्तर्भावितसत्त्वं चेदधिष्ठानं	न्यायामृत० पृ० ५९३	८७,२८६
अन्तर्याम्यधिदैवादिषु	ब्र० सू० १।२।१८	९०२
अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्	ब्र० सू० १।१।२०	९०३
अन्धो मणिमविन्दत्		४१६
अन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते	तै० उ० ३।२	४४६

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
अन्य एवैकदेशेन	तं० वा० पृ० ६९३	४१७
अन्यच्चेत् संविदो		९९५
अन्यत्वाग्रहणे प्रोक्तः		१०४८
अन्यथात्वमसत् तस्माद्		७०८
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च	कठो० २।१४	५३२
अन्यथाग्निसम्बन्धाद्	वा० प० २।४।१९	६०५
अन्यथा निर्विकल्पादपि	न्या० त० चं०	१०४२
अन्यदेव तद्विदिताद्		८९३
अन्यदा सत्त्वं तु पाटच्चर	खं० खं० पृ० ४५	२८४
अन्यश्च परमो राजन्	म० भा० शां०	५०७
अन्यानधीनापरोक्षम्		६१
अन्ये तु द्वित्रिक्षण	पक्षता पृ० १२४	११
अन्ये त्वेवमजानन्तः	गी० १३।२५	१३१४
अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः	तै० उ० ३।३।२	४३८
अपक्रमणावधित्वे	कैयट	६४८
अपर्यायत्वैकतर		१०३७
अपशवो वा अन्ये	तै० सं ५।२।९।४	१३९
अपाणिपादः	श्वेता० ३।१९	९१५-१८
अपाम सोममममृताः	ऋ० ९।४।११	८९३,११६१
अपितु वाक्यशेषः	जै० सू० १०।८।४	८६६,८७२
अपि च स्मर्यते	ब्र० सू० १।३।२३	३४९
अपि वाऽभिधानसंस्कार	जै० सू० १०।१।२	८६७
अप्रमेयेऽनुमानस्य		१०८२
अप्रसिद्धविशेषत्वाद्		१०८३
अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्	जै० सू० ६।२।१८	५३,२४९,१११३
अप्रामाण्यं त्रिधाभिन्नम्	श्लो० वा० पृ० ६१	३८५
अबाधितानधिगत	भामती पृ० १०८	२४६
अभागिप्रतिषेधाच्च	जै० सू० १।२।५	२५
अभाव इव भावेऽपि		५०४
अभावप्रत्ययालम्बना	यो० सू० १।१०	५३२
अभावरूपधर्मो नाद्वतम्	ब्र० सि० पृ० ४	३२३,८५४
अभावविरहात्मत्वम्	न्या० कु० ३।२	३०४,६७२
अभावाभावो भावव्याप्यः		४९६
अभिक्रामं जुहोति	तै० सं० २।६।१।४	११२२
अभिज्ञातः प्रत्यभिज्ञायाः	विवरण	८४७
अभिधेयत्वम् कुतोऽपि	त० चिं० पृ० ११४८	९०३
अभिप्रायाविसंवादादपि	प्र० वा० पृ० २१५	२४
अभिलापसंसर्गयोग्य	न्या० बि० पृ० ४७	३८८

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
अभ्यासे भूयांसमर्थम्	नि० दैवतकाण्ड	२३८
अभ्युपगम्य चेयम्	ब्र० सू० भा० २।१।१४	४००
अभेदेऽपि विशेषः		१०६६
अमुख्यार्था इति वदन्		१००६
अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठ	चित्सु० पृ० ६९	८१
अयं पुरो भुवः	तै० सं० ४।३।३।१	१३९
अयं विभागः सत्यश्चेत्		७४५
अयं वै हरयोऽयम्		४४६
अयमपि योगः शक्यः	महा० भा०	९४७
अविज्ञातो विज्ञाता	बृह० ३।७।२३	९८८
अरुणया पिङ्गाक्ष्या	तै० सं० ६।१।६	८२१
अरुणशब्दो गुणवचनः	तं० वा० पृ० ६७३	८२१
अरूपोऽप्राकृतश्च		९१९
अर्थक्रियासमर्थं यत्	प्र० वा० पृ० १७५	२४
अर्थक्रियासमर्थम्	तत्त्व सं० पृ० ६००	१०९२
अर्थक्रियासामर्थ्य	न्या० वि० १।१५	२४
अर्थप्रकाशरूपत्वम्		८२४
अर्थवदधातुरप्रत्ययः	पा० सू० १।२।४५	७७१
अर्थस्य दाहपाकादेः	प्र० वा० पृ० ४	१०९२
अर्थाकारधारित्वम्	न्या० कु० पृ० १६७	३५५
अर्थात् निराकारा च	शा० भा० १।१।५	१९७
अर्थात्पुनरन्यतो	तत्त्वप्र० पृ० १९२	७७४
अर्थान्तरं नाम	चरकसं० पृ० २५८	१५
अर्थापत्तिः स्वकीये		४३१
अर्थाभिधानसामर्थ्यात्	जै० सू० २।२।१	८३६
अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोः	जै० सू० ३।१।१२	८२१
अर्थेनैव विशेषो हि	न्या० कु० ४।४	१९७
अर्थेन घटयत्येनां	प्र० वा० १।३०५	३५५
अर्धमन्तर्वेदि	मै० सं० ३।९।४	८२६
अल्पशक्तिरसार्वज्ञ्यम्		१०८१
अवयवाः पुनः	प्र० भा० पृ० ११४	९
अवाच्यलक्ष्यादि		१००१
अविशिष्टमपर्याय	कल्पत० पृ० ९३	७६०
अविद्यमानं जीवस्य	स्कन्ध०	४४७
अविद्याया अविद्यात्वे	वृह० वा० पृ० ६५	५६२
अविद्याजीवयोर्यत्र		५८३
अविद्यायामन्तरे	कठो० १।२४	४७४, ५५६
अविद्यायोनयो	योगवाशिष्ठ	३८६

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
अविद्यारोपे तस्याः		३८६
अविद्यास्तमयो मोक्षः	ब्र० सि० पृ० ११९	५७५
अविनाशी वा अरे	बृ० उ० ४।५।१४	४४०
अविरुद्धविशेषणद्वय	सं० शा० १।१६७	४०८, ८४०
अविरुद्धौ रूपरसौ		६८६
अविशेषेण यच्छास्त्रम्	जै० सू० १०।८।१६	१२३
अविशेष्यमाणे	शा० भा० पृ० १४१९	८९९
अवेद्यत्वे सत्यपरोक्ष	चित्सु० पृ० १६	१५६१
अव्ययात्त्यप्	पा० सू० ४।२।१०४	४४२
अशब्दम्	कठो० ३।१५	१११९
अशब्दमस्पर्शमरूपम्	कठो० ३।१५	७८,८१९,१००२
अश्रद्धया हुतं दत्तम्	गी० १७।२८	४४६
असंयुक्ताप्रकरणात्	जै० सू० २।३।११	११२२
असंयोगाच्च	प्र० वा० पृ० ८६३	८८९
असंयोगात्तु मुख्यस्य	जै० सू० ३।३।१६	८८९
असङ्गो ह्ययं पुरुषः	बृह० उ० ४।३।१५	३५९
असञ्जातविरोधित्वात्		१२१
असति प्रकृतिग्रहणे		९४७
असत्यमप्रतिष्ठन्ते	गी० १६।८	२३१, २६२
असदिति व्याकृत	तै० उ० पृ० ८०	८११
असद्वा इदमग्र आसीत्	छां० ६।२।१	२५३, ११३७
असद्विलक्षण		६६७
असन्निकृष्टवाचा	श्लो० वा० ३९२	४१७
असन्नेव स भवति	तै० उ० २।६।१	८६१, ८८७
असहार्थे पृथग्भावे		४३९
असिद्वितीयोऽनुससार	किराता०	४३६
असुखदुःखोऽद्वयः	नृसिंहो०	२५४
अस्तमित आदित्ये	बृह० उ० ४।३।६	९९०
अस्ति प्रकाशते	पं० वि० पृ० १०४	५८७
अस्ति ब्रह्मन्	तै० उ० २।६।१	६६
अस्तीत्येवोपलब्धव्यः	कठो० ६।१३	२३६, ६५६
अस्थूलमनण्वह्रस्व	बृ० उ० ३।८।८	७९
असनाविरम	ईशा० उ० ८	८५६
अस्मादात्मनः	बृह० उ० २।१।२०	४६८
अस्मिन् पक्षे	पं० वि० पृ० ९९	३६४
अस्य गोर्द्वितीयः	महाभाष्य १।१।२४	४२५
अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य	बृह० वा० पृ० ५०५	९३६
अस्य महिमानम्	श्वेता० ४।७	११२०, ११६६

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
अस्यां पृथिव्याम्		४४३
अस्वव्याघातकैः		१०५५
अहङ्करोमि		६४५
अहङ्कारविमूढात्मा	गी० ३।२७	४६७
अहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यः	प्रश्नो० ४।८	६२५
अहं कृत्स्नस्य जगतः	गी० ७।६	६३६
अहं गेहीतिवच्चाहं		६५४
अहं दुष्कृतकर्मा	मिता० प्रा०	४५३
अहं नामाभवत्	बृह० १।४।१	११६७
अहं ब्रह्मास्मि	बृह० उ० १।१।१०	६३६,११६३,११६५
अहं भूमिमदामार्याय	ऋ० ४।२६।२	११६५
अहं मनुरभवम्	बृह० उ० १।४।१०	११६४
अहमर्थे परामर्शो		६१०
अहमात्मा गुडाकेश	गी० १०।२०	६३६
अहमित्येव यो वेद		६३५
अहमेवाधस्तात्	छां० ७।२५।१	१२४,६२२
अह्नः खः क्रतौ	का० वा० ४।२।४३	८८६
[आ]		
आकरणमाकारः	प्र० वा० पृ० २२	३५४
आकाशवत्	छां० ३।१४।३	७५,१६२
आकाशादेव	छां० १।९।१	४१६
आकाशादौ सत्यता	सं० शा० १।१९८	२७३,७७४,८०४
आग्नेयो वै ब्राह्मणः	तै० सं० ३।३।३३	१३९
आग्नेय्याऽऽग्नीध्रम्		४३८
आचार्यवान् पुरुषः	छां० ६।१४।२	४७७
आज्यभागौ यजति	तै० सं० ६।६।३	८६९
आज्यैः स्तुवते		४१६
आणनद्याः	पा० सू० ७।३।११२	४४५
आत्मन आकाशः	तै० उ० २।१	८७१,९४७
आत्मख्यातिवादिभिः	शत० पृ० ८८	२९५
आत्मधर्मोपचारो हि	त्रिंशिका० पृ० १००	६५६
आत्मनः सर्वात्मकत्वात्	पं० वि०	६१२
आत्मनश्च सतत्त्वम्	मध्यमक० पृ० ९२	८१६
आत्मनि चैव विचित्राश्च	ब्र० सू० २।१।२८	६१७
आत्मनि तिष्ठन्	श० ब्रा० १४।५।५।३०	११४२
आत्मलाभे च भावानाम्	श्लो० वा० पृ० ६०	३९६
आत्माद्वैतमुपदिशन्	शत० पृ० १५३	४७७
आत्मानमेवावेद	बृ० उ० १।४।१०	११६७

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः	बृह० उ० २।४।६	१२०६, १२२७, १२५१
आत्मा इदमेक एवाग्रे	ऐ० उ० १।१	४३५
आत्माश्रयमात्मविषयं	पं० वि० पृ०	३६४
आत्मेत्युक्तः		६२४
आत्मेत्येवोपासीत	बृह० उ० १।४।७	८७६, ११६३, १२६५
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तः	कठो० ३।४	६४६, ६४९, १०९२
आत्मैवास्य ज्योतिः	बृह० उ० ४।३।६	९९०, ९९२
आत्मैवाधास्तात्	छां० ७।२५।२	६२२
आत्मैवेदं सर्वम्	छां० ७।२५।२	६२१, ६२२
आदित्यवर्णम्	श्वेता० ३।८	६१२
आदित्यो ब्रह्म	छां० ३।१९।१	११४८, ११६३
आदित्यो यूपः	तै० ब्रा० २।१।५	१३९, १४६, १५७
आद्यधीवेद्यभेदीया	खण्डन० पृ० १०२	४२३, ४३१
आनन्तर्यमचोदना	जै० सू० ३।१।२४	४४१
आनन्दं प्रयन्ति	तै० उ० ३।६	८९२
आनन्दं ब्रह्म	तै० उ० २।४।१	८७७, ८७८
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्	तै० उ० २।४	७६
आनन्दभुक्	मां० का० १।३	६४२
आनन्दरूपममृतम्	मुं० १।२७	६१७
आनन्दादयः प्रधानस्य	ब्र० सू० ३।३।११	८१४
आनन्दादेव खल्विमानि	तै० उ० ३।६	९५८
आनन्दो ब्रह्म	तै० उ० ३।६	१९२, ८५५, ६१९
आनन्दो विषयानुभवः	पं० वि० पृ० २३	४३५, ८५४
आपो वा इदं सर्वम्	म० ना० उ० १४।१	४२७
आप्तकामस्य का स्पृहा	मां० का० १।९	३९६
आप्ता प्राप्ता युक्तेति	सां० त० कौ० ५	४०४
आप्रणखात्	छां० १।६।६	६१७
आरोपे सति		६१२
आवरणरूपातिशयः	भाव० प्र० पृ० ९४	५८७
आवृत्तिरसकृदुपदेशात्	ब्र० सू० ४।१।११	१२५१
[इ]		११४०
इग्यणः सम्प्रसारणम्	पा० सू० १।१।४५	३१२
इच्छादेर्हि विषयता	आ० त० वि० व्याख्या	४४४
इच्छामात्रं प्रभोस्सृष्टि		११२२
इडो यजति	तै० सं० १।१।२	३५३
इति वार्तिककारेण	पं० कूट० १२	४७५, ४८३
इति सृष्टौ विनिश्चिताः	मां० का० १।८	४४५
इत्यत्र यदि शब्दौ		

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
इदं जगदभिन्ननिमित्तोपादानकं	पं० वि० पृ० ६३४	६४३
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य	गी० १४।२	१११५
इदं वा अग्रे नैव		४१४, ८८८
इदं सर्वं यदयम्	बृह० उ० ३।४।६	२५४, ४३७, ४४३
इदं सर्वमसृजत्	तै० उ० २।६	६५०
इदमित्थमिति		६०६
इन्द्रो मायाभिः	बृह० उ० २।५।१५	४३७, ४४६
इमां शङ्कामापाततो	भामती पृ० ४५३	४००
इमानि भूतानि	छां० १।९।१	४१६
इवोपमायां स्वल्पार्थे	अमर०	४४०
इह जन्मनि केषाञ्चित्	श्लो० वा० पृ० २३९	१८१, १८३
ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्	ब्र० सू० १।३।१३	८८०
ईक्षतिध्यानयोरेक	भामती ब्र० सू० १।३।१३	८८०
ईक्षतेर्नाशब्दम्	ब्र० सू० १।१।५	३९८, ८७०
ईशानो भूतभव्ययस्य	कठो० ४।१२	४३९
ईश्वरस्यापि प्रमाश्रयतया	ता० र० पृ० ८	४९७
[उ]		
उक्त्वा धर्मान् पृथक्		१०५९
उच्छब्दसामर्थ्याद्	भाष्यकार	२९२
उत तमादेशमप्राक्ष्यो	छां० ६।१।२	४३३
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः	गी० १५।१७	१०६८
उतामृतत्वस्येशानः	वा० सं० ३१।१२	४३१
उत्पत्तिज्ञप्तिप्रतिबन्धेन	भामती पृ २३६	५८३
उत्पत्तेः स्वसमानकाल	लीलावतीप्रकाश पृ० ५६८	५१७
उत यत्सुन्वन्ति सामधेनीः		११४४
उदरमन्तरं कुरुतेऽथ	तै० उ० २।७।१	९२,९३,७८९,१०६९
उद्दिश्य सवनीयांस्तु	शा० दी० पृ० ३४४	७७१
उद्भिदा यजेत	तां० ब्रा० १९।७।२।२	८३४
उद्भिदा यजेत पशुकामः	तां० ब्र० १९।७।२।३	२९२
उद्भिद्वलभिदौ चाहरतः,	का० श्रौ० सू० २२।१०।२१	२९१
उद्भूतावयवभेदः	कैयट	९८३
उद्यतायुधदोर्दण्डाः	महाभारत	१०८७
उपक्रमादिन्यायेन		८०२
उपक्रमोपसंहारौ		२३२
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम्	गी० ४।३४	४७८
उपदेशभेदान्नेति चेन्न	ब्र० सू० १।१।:७	८७०,८७१
उपमार्थे तथाल्पत्वे इव		४४०
उपसंहारोऽर्थाभेदात्	ब्र० सू० ३।३।५	८१४

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
उपांशुयाजन्यायेन युक्ता-		९०२
उपांशुयाजमन्तरा यजति	जै० सू० १०।८।१६	९०१
उपादानं हि बुद्धयादेः	बृह० वा० पृ० १४३६	४९३
उपाधिभेदभिन्नार्थो	कल्पतरु पृ ९५	८५०
उपासनायाः कार्यत्वे		८७५
उभाभ्यामन्तर्वेदि	तं० वा० पृ १०८३	८२६
उभे सत्ये क्षत्रियाद्यप्रवृत्ते	महाभारत	४५८
[ऋ]		
ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य	कठो० १।६।२	५५२
ऋतं सत्यं तथा धर्मः	स्मृतिवाक्य	५५२
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म	म० नं० उ० १२।१	९१२
ऋते मायां विशालाक्षीम्	रामायणे	५५५
[ए]		
एकं ज्ञानमेकफलं जनयति	पञ्च० पृ० ५२	७४२
एकं द्विकं त्रिकं चाथ	वै० भू० सा० २५	७८७
एक एव हि भूतात्मा	ब्र० विं० उ० १२	५७१,८१५
एक एवाद्वितीयोऽसौ		४३७
एकजीवमतं		४८३
एकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टे	शा० भा० पृ० ३६	४१८
एकदेशापवादेन		४३९
एकधैवानुज्ञेयमिति	बृह० वा० पृ १९९१	२५६
एकधैवानुद्रष्टव्यम्	बृह० उ० ४।४।२०	७८४,७८९,१०५७
एकफलमिति	पं० वि० पृ० २९	३२५
एकमेव च शरीरं		४७०
एकमेवाद्वितीयम्	छां० ६।२।१	२६१,४३९
एकविषयावच्छिन्न	पं० वि० पृ० १५६	७३८
एकशतं षष्ठ्यर्थाः		३१३
एकशब्दोऽयम्	कैयट (पा० सू० ४।१।९३)	४३६
एकशब्दोऽयं बह्वर्थः	महाभाष्य (पा० सू० १।१।२६)	४३३
एकस्मिन् सुखिनि	न्या० मं० पृ० ५३६	४७०
एकस्य तूभयत्वे	जै० सू० ४।३।५	८८६
एकस्य न क्रमः क्वापि	न्या० कु० १।७	४६९
एकस्य वेदवृक्षस्य	तां० वा० पृ० ६३९	२३६
एकस्यापि च शब्दस्य		१००६
एकस्यैवं पुनः श्रुतिः	जै० सू० ३।३।२	९३८
एकहायन्या सोमं		११२१
एकाकी न रमते	बृह० उ० १।४।३	२०९,११७५
एकामसिद्धिं परिहरतः	आत्म० वि० पृ० ८३४	१९२

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
एकालम्बनसंसर्ग	चित्सु० पृ० १४६	६८९
एकेन विज्ञातेन	छां० ६।१।२	६५५
एके मुख्यान्यकेवलाः	अमरकोश	४३१
एको गोत्रे	पा० सू० ४।१।९३	४३३,४४६
एको देवः सर्वभूतेषु	श्वेता० ६।११	४३८,११७१
एको नारायण आसीत्	महा० ना० उ० १	९१५
एको बहूनां यो	कठो० ५।१	४२३
एको वशी	श्वेता० ६।१२	९०१
एतं प्राणमयमात्मानं	तै० उ० ३।१०।५	६४४
एतद्वै तदक्षरं गार्गि	बृह० उ० ३।८।८	८१४
एतस्यैवानन्दस्यान्यानि	बृह० उ० ४।३।३२	१११८,१११७
एवमेव विदित्वा	बृह० उ० ४।४।२	११७५
एतस्मिन्नुदरमन्तरं	तै० उ० २।७	११७५
एतादृशस्य वक्तारौ		१०५५
एतेन प्रश्नविश्रान्ति		५८४
एतेन विषयविषयिभावरूपः	मा० म० पृ० १३८	५०५
एतेषु ख्यापयेदेनः	मिताक्षरा० प्राय०	४५३
एवं ज्ञाते तु भगवाननादिः	विष्णु पु०	४५७
एवं त्रिचतुरज्ञान	श्लो० वा० पृ० ६४	९६७
एवं धर्मान् पृथक्	कठो० ४।१४	१०५७
एवं प्रत्यक्षतः		१०६८
एवं मुक्तिफलानियमः	ब्र० सू० ३।४।५२	११०९
एवमुत्थितस्य	पं० वि० पृ० २६३	५२५
एवमेवास्मादात्मनः	बृह० उ० २।१।२०	४५७
एवमेवैष माया	नृसिं० उ० ता० ९।३	५५५
एष एव जीवं प्रबोधयति		१११६
एष ते आत्मा अन्तर्यामि	बृह० उ० ३।७।३	११२४, ११७३
एष नित्यो महिमा	बृह० उ० ४।४।२३	८६२
एष सर्वेश्वरः	बृह० उ० ४।४।२२	८८३
एषोऽन्तरादित्ये	छां० १।६।६	९१२
[ऐ]		
ऐतदात्म्यमिदं सर्वं	छां० ६।८।७	४३३, ११४४
ऐन्द्रं दध्यमावास्यायां	तै० सं० २।५।४।१	९४७
ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायां		२४७
ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते	मै० सं० ३।२।४	११२, ८६६
ऐहिकमप्यप्रस्तुत	ब्र० सू० ३।४।५१	१३०९
[ओ]		
ओमित्येतदक्षरमुद्गीथं	छां० १।१।१	७७८

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
[औ]		
औदुम्बरो यूपो भवति	तै० सं० २।१।१।६	१२०६
औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या		१३४
औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा		११४, १३५
औपनिषदं पुरुषम्	बृह० उ० ३।९।२६	२१४
[क]		
कतम आत्मा	बृह० उ० ४।३।७	७८४,११५९
कतरः स आत्मा	ऐत० उ० ३।१।१	७८४
कथं पुनः स्वरूपमात्र	पं० वि० पृ० २१९	५६३
कथं लक्ष्यत्वमत्यन्त-		१००४
कथमसतः सज्जायेत	छां० ६।२।२	२९४
कदाचन स्तरीरसि	ऋ० सं० ८।५१।७	१२२,१३५,८९७
करणीभूतशब्दगत	चित्सु० पृ ५३२	१२२४
कर्त्ता विज्ञानात्मा	छां० ८।१४।४	६४५
कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्	ब्र० सू० २।३।३३	६४१
कर्तृत्वप्रतिषेधाच्च	तत्त्व० सं० पृ० ७२	६०३
कल्पस्य शास्त्रस्य	न्या० र० मा० पृ० २१८	८९८
कल्पितौ यदि केनचित्		४५४
कल्पितश्चेन्निवर्तेत		४८५
कश्छन्दसां योगमावेद		४१६
कस्तं मदामदं देवं	कठो० २।२१	१३१२
कस्माद् ह्यभेष्यत्	बृह० उ० १।४।२	११७४
कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोकः	बृह० उ० ३।६।१	११७५
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते	मुं० १।१।३	८७६,११२१
कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्ते	प्रश्नो० ६।३	६१५
कस्याविद्येति	ब्र० सि० पृ० १०	५८१
कामः सङ्कल्पः	बृह० उ० १।५।३	६४१
कामस्य यत्राप्ता	ऋ० ९।११३।११	१११०
कारणात् परमार्थतः	ब्र० सू० २।१।१४	४३२
कार्यभूतेनान्तःकरणेन	पं० वि० पृ० ३१०	५९८
कार्यान्वयिरवेन	ब्र० सू० पृ० ४२०	८४५
कार्येण सहाविद्या नास्ति		३८
कालद्वयेन योगस्य		८४१
काले कालपरिच्छिन्ने		९३२
किं चाक्षुषत्वम्	शां० दू० पृ ८४	४९
किञ्चिद् विधीयते		८०१
किञ्चिद्धि वस्तु	अद्वैतर० रक्षण पृ० ३१	१०७
किंज्योतिरयम्		९९०

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
किं तर्हि आवरणमिति	पञ्चपादिका० पृ० २९	५८७
किति च	पा० सू० १।२।११५	२६१
किन्नु विज्ञानं यज्ञं तनुते	तै० उ० २।५	६४१
किं पुनरत्र	महाभारत	८०५
किं यत्तदोर्निर्धारणे	पा० सू० ५।३।९२	७८४
किमिदं मिथ्यात्वम्	श० दू० पृ ८०	४५
कीदृक्तत्प्रत्यगिति	पं० पञ्चकोश २६	३३७
कुतः क्रतार्थसंयोगे	तं० वा० पृ० १०८३	८२६
कुर्यात् स्वकार्यं स्वस्मिन्		९८५
कुशाः काशा यवा दूर्वाः		८३५
कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम्	परि० शे० पृ० १९०	८९८
कृशोऽहं कृष्ण इत्यादौ		५५,६५४
कृत्तद्धितसमासाश्च	पा० सू० १।२।४६	७५५
कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिम-		४४५
कृन्मेजन्तः	पा० सू० १।१।३९	४०२
केवलव्यतिरेकिणि चोपाधेः	चित्सु० पृ० २१	८१
केवलो निर्गुणश्च	श्वेता० ६।११	७८६
को विरोधः स्वरूपेण		१०४७
को हि मीमांसको ब्रूयाद्		६९,७६६
क्ङिति च	पा० सू० १।१।५	२६१,४१३
क्रयगततावद् विधिः	तं० वा० पृ० ६९२	८२१
क्रियावचित्वमाख्यातम्		१०३०
क्व च प्रत्यक्षतः प्राप्तम्	माध्ववचन	१२०
क्वैष तदाभूत	ब्र० उ० २।१।१६	४६८
[क्ष]		
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि	मु० २।२।८	१८८, ४५५
क्षुते आचामेत	स्मृतिवाक्य	१६८
क्षेत्रज्ञं चापि	गी० १३।३	११७६
क्षेत्राणि च शरीराणि		११७७
[ख]		
खचित्रमिव मायावी		५५६
[ग]		
गच्छ गच्छसि चेत्कान्त		८२२
गतिसामान्यात्	ब्र० सू० १।१।१०	३३९
गमनादौ त्वदृष्टत्वात्		९८०
गर्भ एवैतच्छयानो	ऐ० २।४	४८१
गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारः	अमरकोष	६२६
गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित	पा० सू० १।२।१	९८३

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
गुणवादस्तु	जै० सू० १।२।१०	१३८
गुणादविप्रतिषेधः	जै० सू० १।२।४७	१३८
गुणादिकं गुण्यादिना		१८
गुणादिहीने ब्रह्मणि	विवर	३८१
गुणानां च परार्थत्वात्	जै० सू० ३।१।२२	१३०१
गुणावयवसामान्यभावे	पं० वि० पृ० ६१	५८२
गुरुधर्मस्यानुयोगिता	विट्ठलेशोपाध्याय	६१
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तम्	काठक	४३८
गृहीतं चक्षुर्गृहीतम्	छां० २।३।१७	६१९
गोश्च पुरीषे	पा० सू० ४।३।१४५	६६१
गोकुलेषु च गोष्ठेषु	मिता० प्राय	४५१
गोभिः श्रीणीत मत्सरं	ऋ० ९।४६।६	६६१
गौणलाक्षणिकं वापि	वार्तिक	४५८
गौरनाद्यान्तवती		५५३, ९२१
गौरवप्रतिसन्धानदशायाम्	अवच्छेदनकत्व० पृ० १७२	५१०
ग्रहं सम्मार्ष्टि		४१२
[घ]		
घटत्वेनेतरभेदनिश्चये	चिन्तामणिकार	१०४
घटाकाशो महाकाशः	बृह० वा०।पृ० ९२७	८५०
घटैकाकारधीस्था	पं० द० कूट ४	३५२, ३५३
घटोऽयमित्युक्तिराभासस्य	पं० द० कूट २५	३२८, ३२९
[च]		
चकितमभिधत्ते	शिव० म० २	१२७७
चक्षुः तैजसम्	लक्षणावली पृ० ११	१९१
चतुस्त्रिंशद् वाजिनो	ऋ० अष्ट० २ अ० ३ व० १०	२४१
चतुस्त्रिंशदस्य वङ्क्रयः		२४१
चातुर्विद्योपपन्नस्तु	मिता० प्राय० २५०	४५२
चन्द्रमसः सायुज्यम्	म० ना० २५।१	११०८
चिदाचिदैक्यं सिद्धम्		११३५
चेतनश्चेतनानाम्	कठो० ५।१३	४८२
चैत्रप्रमा चैत्रगतप्रमा	चित्सु०	४८४, ५४७, ५४८
चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः,	जै० सू० १।१।२	२१४, १२३१
चोदनालिंगसंयोगे	जै० सू० १०।४।२	१३१
चोदना हि भूतं भवन्तं	शाबर० पृ० १२	२५१
[छ]		
छागस्य वपाया मेदसः	तै० ब्रा० १।६।८	८६९, ९४८
छागो वा मन्त्रवर्णात्	जै० सू० ९।८।३३	४३१

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
[ज]		
जगच्च सत्यं स्यात्	न्यायामृत०	४५
जगत्सत्यं मिथ्याभूत	तरङ्गिणी	४५, ४८
जगद्वाचित्वात्	ब्र० सू० १।४।१६	४७६
जगद्व्यापारवर्जम्	ब्र० सू० ४।४।१७	१११७, १३०४
जड़स्य चाज्ञानाश्रयत्वे	पं० वि० २२०–२२१	५६८
जनिकर्तुः प्रकृतिः	पा० सू० १।४।३०	६४७
जन्माद्यस्य यतः	ब्र० सू० १।१।२	१५६, ६४५
जन्मोत्पत्तिरपि	शां० भा० १।१।२	२८१
जर्तिलयवाग्वा जुहुयात्	जै० सू० १०।८।७	१२५६
जर्तिलयवाग्वा वा	तै० सं० ५।४।२	८५३
जश्शसोः शिः	पा० सू० ७।१।२०	४०५
जाड्यं जगत्यनुगतं	सं० शा० १।३२२	४६५
जातमात्रा मृगा गावः		६५६
जात्याकृतिव्यक्तयः	न्या० सू० २।२।६५	८०६
जिज्ञासापदेनान्तर्णीतम्	पं० वि० पृ० १४	८२६
जीव ईशो विशुद्धा चित्		४६०
जीवस्य ब्रह्मणा ह्यैक्ये		१०५६
जीवाज्जज्ञे जगत्सर्वम्	कल्पत० पृ० ४०४	४७६
जीवाकाराहंवृत्तिः	पं० वि० पृ ३१६	६०५
जीवेशावाभासेन करोति	नृसिह० उ० ता० ९।३	५७२, ११२०
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशं	श्वेता० ४।७	१११७
ज्यायान् पृथिव्याः		४४३
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा	म० ना० उ० ११।७	६३१
ज्योतिश्चरणाभिधानात्	ब्र० सू० १।१।२४	८८४
ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामः		४०६
[ज्ञ]		
ज्ञाज्ञौ ईशानीशौ	श्वेता० १।९	४६७
ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वं	पं० वि० पृ० २०३	६७
ज्ञात्वा देवं मुच्यते	श्वेता० १।८	४८२
ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकं	पं० पा० पृ० १०	३६४
ज्ञानं नित्यं क्रिया नित्या	बृह० उ० ४।४।३३	८६२
ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वं	पं० वि०	३८
ज्ञानप्रकाश्यत्वात्	पं० वि० पृ० २४६	५४२
ज्ञानमुत्पद्यते पुंसाम्		९१०
ज्ञानविषयत्वमात्रम् ?	शत० दू० पृ ८४	४३
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि	गी० ४।३।७	४५५
ज्ञानात्मको भगवान्		८७८

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
[त]		
तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि	बृह० उ० ३।९।२६	७८, १२७७
तं वेदाः सर्वेऽर्पिताः		४३८
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा	गी० १८।२५	६३६
ततो वै सदजायत	तै० उ० २।७।१	९१३
तत्तेज ऐक्षत	छां० ६।२।३	११६०
तत्त्वमस्यादिवाक्येभ्यः	बृह० वा० पृ० १८७०	१२७८
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिः	गी० ८।२५	१२०९
तत्र नाम पुनरुक्तता	तं० वा० पृ० ६३९	२३५
तत्र पञ्चतयं केचित्	शा० दी० पृ० ६४	९
तत्र पक्षादिवचनानि	न्या० प्र० पृ० १	३
तत्र प्रयाता गच्छन्ति	गी० ८।२४	१२०९
तत्र साधुः	पा० सू० ४।४।९८	१२७७
तत्र होमकाले	जै० न्या० मा० ३।१।१०	११२२
तत्रानन्तशब्दोऽन्तवत्त्व	शां० भा० तै० उ० २।१।१	९२४
तत्रानन्तोऽन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्या	तै० उ० वा०	८१७
तत्रैवं सति कर्त्तारम्	गी० ३।२७	६४६, ६४७
तत्सत्यं स आत्मा	छां० ६।८।७	११५८
तथा च भगवान् पाणिनिः	पञ्चपा० पृ० १९२	७५५
तथापि तर्काणां वक्ष्यमाणत्वेन	ल० चं० पृ० ३०	८
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः	मुं० ३।२।८	१२११
तथा सति एकं प्रमेयं	ख० ख० पृ० ३२०	११०
तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं	पञ्चद० महाभूत० २१	४३४, ४३५
तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोः	ब्र० सू० ४।१।१३	४५५
तदधीते तद्वेद वा	पा० सू० ४।२।५९	८६३
तदनन्यत्वमारम्भणादिशब्देभ्यः	ब्र० सू० २।१।१४	८१, ४००
तदनन्यत्वमिति न प्रपञ्चस्य	भामती २।१।१४	४३२
तदपीतेः संसारव्यपदेशात्	ब्र० सू० ४।२।८	३५८
तदभिध्यानादेव तु	ब्र० सू० २।३।१३	३८९, ५५९
तदात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य	श्वेता० २।१४	२५६
तदात्मानं वेद	बृह० उ० १।४।१०	६१५, ९७६, ९७९
तदात्मानं सृजाम्यहम्	गी० ४।७	९५३
तदात्मानं स्वयमकुरुत	तै० उ० २।७	९५२
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय	मुं० ३।१।३	९१४
तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरम्	बृह० उ० २।५।१९	४४६
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि	केन० १।५	९९३, ९९४
तदेव विद्वानमृत इह भवति	नृ० पू० ता० १।६	९१४
तदेव ह्याशङ्क्यते	न्या० कु० ३।७	१८१

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
तदेवानुप्राविशत्	तै० उ० २।६।१	६१४
तदैक्षत नामरूपे व्याकरोत्		४३२, ६४४
तदैक्षत बहु स्याम्	छां० ६।२।३	३९८, ६४६
तदैक्षत स एषोऽनन्तः		६२६
तद्गुणसारत्वात्	ब्र० सू० २।३।२९	११४१, ११४२
तद्धास्य विजज्ञौ	छां० ६।१६।३	१२७०
तद्धैक आहुः	छां० ६।२।१	४२, ४४४, ७००
तद्धैतत्पश्यन्	बृह० उ० १।४।१०	११६४
तन्न व्याप्तिनिश्चये	दीधिति० पृ० १७०५	८
तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति	तै० उ० १।७	६५४
तन्मनोऽकुरुत	बृह० उ० १।२।१	६४४
तद्गुणास्तु विधीयेरन्	जै० सू० १।३।९	१४२
तद् दद्याद् यत्पूर्वं दास्यन् स्यात्		१४६
तद् यथा अनः सुसमाहितम्	बृह० उ० ४।३।३५	१२१०
तद् यथापि हिरण्यं	छां० ८।३।२	५५२
तद् यथा प्रियया स्त्रिया	बृह० उ० ४।३।२१	४४१
तद् यथेह कर्मचितो लोकः	छां० ८।१।६	१२६८
तद् योऽहं सोऽसौ	ऐत० उ० २।४।३	६३६, ८७७
तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत	बृह० उ० १।४।१०	४८२
तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानम्		३३, ७०
तद्वदेव स्थितं यत्तु	कूर्मपु०	४४७
तद् विजिज्ञासस्व	तै० उ० ३।१	१४३
तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति	मुं० २।२।७	८८३
तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः	शां० भा० ब्र० सू० १।१।१	३६३, १२३२
तनूनपातं यजति	तै० सं० १।१।२	११२२
तम आसीत्	ऋ० १०।११।१२९	२४०, ५५३, ५५४, ५५६
तमसः परस्तात्	मुं० ३।२।६	६१५
तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्	श्वेता० ६।७	९०१
तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति	बृह० उ० ४।४।२	१२११
तमेतं वेदानुवचनेन	बृह० उ० ४।४।२२	८८३, १२३८
तमेवं विद्वानमृत इह भवति	नृ० पू० ता० १।६	७६०
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्	कठो० ५।१५	३४९
तमेवैकं जानथ आत्मानम्	मुं० २।२।५	११५९
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति	मुं० ३।१।१	१११४
तयोरन्यः पिप्पलं	ऋ० २।३।१७	१२८८
तरति शोकमात्मवित्	छां० ७।१।३	१२५०
तर्काप्रतिष्ठानात्	ब्र० सू० २।१।११	१५८
तस्माच्चन्द्रस्येतरस्मात्		७७२

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
तस्माच्छारीरादन्य एवेश्वरः	शां० भा० ब्र० सू० १।२।३०	५७७
तस्मात्कारणात्परमार्थतः		८१
तस्माज्जन्मान्तरसम्बन्ध्यात्मा	शां० भा० बृह० उ० पृ० ५	२३५
तस्माद् दृष्टान्तवर्णाना		११५६
तस्मान्न ब्राह्मणोऽवैदिकं	मै० सं० ७।१०	१२३६
तस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्	श्वेता० ३।९	४३७
तस्मात्फले प्रवृत्तस्य	श्लो० वा० २।१६६	१३०२
तस्मादविद्यास्तमयः		१२६१
तस्मादेकाकी न रमते	बृह० उ० १।४।३	३५६
तस्मादेकाकी बिभेति	बृह० उ० १।४।२	११७४
तस्मादेवं विशेषोऽयम्		१०६७
तस्माद् गुणेभ्यो दोषाणामभावः	श्लो० वा० २।६५	५३
तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे	तै० ब्रा० २।१।४	१३८
तस्मान्न ज्ञानाकारोऽर्थः	शास्त्रदर्पण	२६४, २६५
तस्माद् ययोः समो दोषः	श्लो० वा० ३४१	२०८
तस्माद्बोधात्मकत्वेन	श्लो० वा० २।५३	४०४
तस्माद् यन्नास्ति नास्त्येव	श्लो० वा० निरालम्बन १०	२७१
तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः	तै० उ० २।१	२४, ७५
तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः	बृह० उ० ४।४।९	४३८
तस्य पृथिवी शरीरम्	बृह० उ० ३।७।७	११७७
तस्य प्रयोगान्तरे निक्षेपः	टुप्टीका० पृ० १४७९	१५०
तस्य लोपः	पा० सू० १।३।९	४०५
तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारः	छां० ८।१।६	१११६, १११८
तस्य ह वैतस्य ब्रह्मणो नाम	छां० ८।३।५	४५७
तस्याभिध्यानात्	श्वेता० १।१०	४४२, ९९४, ११६३
तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमिति	छां० ८।३।३	४४०
तस्योपनिषत्	बृह० उ० ५।५।४	११६५
तात्पर्यात्तु वृत्ति	न्या० त० चि०	११४१
तान्यहं वेद सर्वाणि	गी० ४।५	४७६, ५७७, १०९९
ताभ्यामेतमग्नीषोमीयम्	तै० सं० २।५।२।३	२४७
तावत्येव स्फुरन्त्यर्थाः	तं० वा० पृ० १७२	१३४
तावदेवास्य चिरं	छां० ६।१४।२	१३०३
तावब्रूतामग्नीषोमौ	शां० ब्रा० ३।६	२४७
तावान् सर्वेषु वेदेषु	गी० २।४६	४४३
ताः समुद्रात् समुद्रम्	छां० ६।८।७	११५८
तासां त्रिवृतं त्रिवृतम्	छां० ६।३।३	१६५
तिस्र एव साह्नस्योपसदः	तै० सं० ६।२।५।१	८८९
तुरीयं सर्वदृक् सदा	गौड० का० १।१२	५७६, ८८३

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
तुल्यार्थत्वेऽपि तेनैव	श्लो० वा० निरालम्बन० ८	२७१
तृणादेर्भासिकाप्येषा		५६४, १२८९
तेजोऽतस्तथा ह्याह	ब्र० सू० २।३।१०	११८
तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं	श्वेता० ३।९	४४४
तेन भूतिषु कर्तृत्वं		४४४
तेषामेवैतेषां	मुं० ३।२।१०	१२५२
त्वदनुपथं कुलायम्	श्रीमद्भा० १०।८७।२३	८९१
त्वदुक्तमर्थं संख्यां वा	पं० वि० पृ० ७६	५११
त्रयो वेदा असृज्यन्त	ऐत० ब्रा० ५।५६	१२१
त्रिगुणा प्रकृतिर्माया		४४७
त्रित्वमेवास्मिन् वाक्ये	तं० वा० पृ० ८६४	८८९
त्रिपादस्यामृतं दिवि	छां० ३।१२।६	८७१
त्रिविधं सत्त्वम्	पं० वि० पृ० १९५	७८३
त्रैकालिकनिषेधं प्रति	पं० वि० पृ० १६१	७६
त्रैगुण्यवर्जितं विना हेयैः		८२९
त्वं स्त्री त्वं पुमान्	अथर्व० उ० १४।२०	११६०
[द]		
दण्डी प्रेषान् अन्वाह		९८०
दध्ना जुहोति		५२, २५०, ४१२
दम्भाहङ्कारसंयुक्ता	गी० १७।५	६९६
दर्पणादौ न मुखव्यक्तता	पं० वि० पृ० ५८३	११९५
दर्पणाभिहता दृष्टिः	बृह० वा० पृ० ५५७	१२०१
दर्शनस्याविधेयत्वात्	बृह० वा० पृ० १०६८	१२७८
दर्शपौर्णमासाभ्याम्		२४८, ४२४
दशरात्रैर्भुक्तमिव न		४४०
दिवः परो दिवो ज्योतिः	छां० ३।१३।७	८७१
दुक्खं अरियसच्चम्	वि० महा० पृ० १६	७५३
दुर्घटत्वे भूषणं चेत्		५८४
दुर्बलस्य प्रमाणस्य	तं० वा० पृ० ८४१	१६८
दुष्टज्ञानगृहीतार्थप्रतिषेधो,	श्लो० वा० पृ० २२५	१७९
दुष्टोपालम्भसामग्री	न्या० कु० ३।२	७१४
दृग् ज्ञाने ज्ञातरि च	अमर०	४६
दृग्व्यतिरिक्तत्वम् ? अथवा	श० दू० पृ० ८४	४९
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या	कठो० ३।१२	४६
दृश्यत्वेत्यादि ज्ञेयत्वश्रुत्या		१३८
दृष्टविरोधात्	जै० सू० १।२।२	१३८
दृष्टा गुणक्रियाजाति		१००५
दृष्टान्ताभासास्तु	मा० म० पृ० ८९	१५

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
दृष्टिसृष्ट्या पुनः पुनः	यो॰ वा॰ ३।११४।५६	४६०
दृष्ट्वैव तं मुच्यते		४५७
देवस्यैव महिमा तु	श्वेता॰ ६।१	४००
देवा अप्यस्य रूपस्य	गी॰ ११।५२	९१४
देवात्मशक्तिं स्वगुणैः	श्वेता॰ १।३	८९७
देहत्रयातिरिक्तोऽहम्	ते॰ बि॰ उ॰ ४।२	४२९
देहात्मप्रत्ययो यद्वत्	शा॰ भा॰ १।१।४	११२
दैवी ह्येषा गुणमयी	गी॰ ७।१४	५५६, ८९७
द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्	ब्र॰ सू॰ १।३।१	९९०
द्रोणं वृहस्पतेर्भागं द्रौणिम्		९२१
द्वयोः प्रणयन्ति तस्माद्		२३७, ११०८, ११०९
द्वा सुपर्णा	मु॰ ३।१।१	५०७, ८५३, ११३९
द्वा सुपर्णा	श्वेता॰ ४।६	१३०, १३०५
द्वितीयाद्वै भयं भवति	बृह॰ उ॰ १।४।२	२५५, ११०४
द्विवचनविभज्योपपदे	पा॰ सू॰ ५।३।५७	१०५८
द्विषदन्नं न भोक्तव्यम्		७५७
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये	मै॰ उ॰ ६।२२	११६९
द्वे विद्ये वेदितव्ये	मु॰ १।५	९११, ११२१
द्वे सत्ये समुपाश्रित्य	म॰ शा॰ पृ॰ २१५	२६३, २७२
द्वैताभावस्तात्त्विकश्चेत्		९३०
द्वौ नञौ समाख्यातौ		८७३
द्वौ प्रसङ्गौ यदान्यार्थौ	महाभाष्य पा॰ सू॰ १।४।२	८६४
[ध]		
धर्मारोपोऽपि सामान्यं		९०७
धर्मिकल्पनातो धर्मक॰		५१५
धर्मिग्राहकमानबाधिता	उपस्कार पृ॰ १०१	१२७
धर्मित्वप्रतियोगित्वतद		१०४७
धर्म्यंशे सर्वमभ्रान्तम्		५३५
धान्यमसि धिनुहि देवान्	मा॰ सं॰ १।२०	११४०
धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे		१४०
ध्यायतीव लेलायतीव	बृह॰ उ॰ ४।३।७	६४६
ध्रुवमपायेऽपादानम्	पा॰ सू॰ १।४।२४	४८, ९४७
ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी	[illegible]॰ ८।८।३२।४	४६६
[न]		
न ऋते त्वत्क्रियते किञ्चिद		४४३
न कलञ्जं भक्षयेत्		२५१
न केवलमयं सन्निहितः	शा॰ भा॰ ११३६	११७३
नक्तं निर्गत्य यत्किञ्चित्		४०४

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
न क्त्वा सेट्	पा० सू० १।२।१८	१५१, १५२, ८७१
न ग्राह्यभेदमवधूय	आत्म० पृ० २३०	१४४, २६५
न च कर्माणि स्वाश्रय	पं० वि० पृ० १०७	५५३
न च जन्यत्वाविशेषण	न्या० त० चि० पृ० १६५१	१८६
न च ज्ञानस्वरूपमेव	शत० पृ० ६०	३०५
न च योग्यतालक्षणधर्म	चित्सु० पृ० १६, १७	५८९
न च समुदायोऽर्थान्तर	तं० वा० पृ० ३२२	२६१
न चाध्यारोपितार्थकत्वम्	शा० दी० पृ० ८५	६५६
न चेदनुभवव्याप्तिसुषुप्त	बृह० वा० पृ० १२२५	५३२
न चेदुपाधिसम्बन्ध एक		१०१८
न चैव न भविष्यामः	गी० २।१२	६३६
न चोभयतादात्म्यमसतः	न्या० त० चि० पृ० ५६२-६३	७२४
न तत्र रथा न रथयोगाः	बृह० उ० ४।३।१०	३०६
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं	कठो० ५।१५	३४९
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया	गी० १०।३६	४३९
न तदीदृगिति ज्ञेयं न वाच्यम्		१००१
न तावत् सन्दिग्धसाध्य	न्या० त० चिन्ता० पृ० १०६२	४
न तु तद् द्वितीयमस्ति	बृह० उ० ४।३।२३	४६७, ६४९
न तौ पशौ करोति		८६८
ननु ज्ञानं नाम मानसी	शां० भा० १।१।४	६७, ४५८
ननु यो यत्साक्षात्कारः	न्या० त० चि० पृ० ५४३, ४२	७२५
ननु सामान्यतः आश्रय	श० दू० पृ० १८९	५२३
नन्वविद्या स्वयंज्योतिः	इष्ट० पृ० २०७	५६४
नन्वस्तु भूमान्तानाम्	तत्त्वप्रकाशिका पृ० ९६९	६२४
नन्वस्मिन्नपि पक्षे	ब्र० सू० पृ० ७६५	७७८
नन्वेवं "आत्मन्यपि	पं० वि० पृ० १०२	५८७
नपुंसकस्य झलचः	पा० सू० ७।१।७२	४०५
न भूतकालस्पृक्प्रत्यङ्	बृह० वा० पृ० ४६०	५३२
न मयेत्यवधार्यताम्		४४७
न यत्र माया किमुतापरे	भा० पु० २।९।१०	१११५
न लुमताङ्गस्य	पा० सू० १।१।६३	४०६
न लोकाव्ययनिष्ठाखल	पा० सू० २।३।६९	२३३
न विजानात्यहमस्मि	छां० ८।११।१	१६, ६१५
न विधौ परः शब्दार्थः	शाबर पृ० १४१	१४१,१४३,१४६,१४७,१२५६
न विशेषणमविद्या	कल्प० पृ० ४२१	५९२
न वेति विभाषा	पा० सू० १।१।४४	४४१
न वेति विभाषेत्यत्र इति	महाभाष्य	४४१
न शून्यानां हि संयोगाद्		१०९०

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
न सत्तन्नासदुच्यते	गी० १३।१२	२५३,७७०
न सन्दृशे तिष्ठति रूपम्	कठो० ६।९	६१४
न सन्नासन्न सदसन्नो	न्या० मक० पृ० ३५५	७०६
न सन्नासन्न सदसन् धर्मो	मा० का० ११९	३०
न स पुनरावर्तते	छां० ८।१५।१	१११७
न सादित्वमनादित्वम्	विवरण	४८९
न सहेति प्रकृत्यर्थविशेषण	महाभाष्य	४३९
न सुषुप्तगविज्ञानं नाज्ञासिषम्	बृह० वा० पृ० ४६०	५३१
न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र	वा० प० १।१२४	७६, ३७६
न स्वाभाविकं कर्तृत्वम्	ब्र० सू० शां० भा० पृ० ६१७	६४१
न हिंस्यात् सर्वा भूतानि		५४,४१३,४१४,८५३
न हिंस्याद् सर्वा भूतानि		२४४,२५७,२५८,२६१,५६६
न हि जात्यन्धेन नीलम्		३३८
न हि तेषामन्यत्र सत्ता	चित्सु० पृ० ६७	२८
न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपः	बृह उ० ४।३।२३	४४१
न हि पक्षे पक्षसमे वा	दीधि० पृ० १६०४	७
न हि भावातिरेकेण भावाभावः	बृह० वा० पृ० २९६	२०
न हि भूमिरूषरवती मृग	सं० शा० १।९५	४०२
न हि मायायां काचिदनुप	ब्र० सि० पृ० १०	५६६, १०१७
न हि रूपमात्रनिष्ठश्चाक्षुषः	पं० पा० पृ० १०१	२७५
न हि व्यवहारे प्रवर्तयितव्ये	आ० त० वि० पृ० ४३४	३०५
न हि सत्यमसत्येभ्यो भिन्नम्		१००६
न हि स्वप्नसुखाद्यर्थम्	श्लो० वा० पृ० २२०	६४२
न होतारं वृणीते		८६८
न ह्यत्रानूयाजा	राणके	४४४
नाकस्य पृष्ठे	मुं० १।२।१०	१२०६
नाकारभेदमवधूय	ज्ञानश्री० पृ० ३८६	१७४, २६५
नाड्यो द्वासप्तसहस्राणि	बृह० उ० २।१।१९	४६८
नात्मानं न परांश्चैव	मां० का० १।१२	६१६
नातिरात्रे षोडशिनं		२५७, ८६१
नात्र काचन भिदास्ति	म० वा० उ० ४	१००६
नादवृद्धिपरा	जं० सू० १।१।१७	२७६
नानादेहगभोगानुसन्धानं		१०६६
नाना विष्णुं मोक्षदो नास्ति	अमरव्याख्या	४३६
नानिर्वाच्योऽपि तत्क्षयः	न्या० मक० पृ० ३५५	६३६
नानेत्यस्य विनार्थत्वाद्		४३६
नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्यः	तै० ब्रा० ५।३।७	४१६
नान्तरिक्षे न दिवि	तै० सं० ५।२।७	११४

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
नान्यत्र कारणात्कार्यं	इष्ट० पृ० ३१	२८
नान्यदतोऽस्ति द्रष्टा	बृह० उ० ३।८।११	११७२
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय	श्वेता० ३।८	१३११
नापि प्रमा नापि भ्रमः	भाषा० का० १३५	७०
नाभाव उपलब्धे	ब्र० सू० २।२।२८	२३१, २५२
नाभुक्तं क्षीयते	ब्रह्मवै० उत्तर० ५।११।५५	१३०२
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं	मा० सं० ३१।१३	६१५
नाम ब्रह्मेत्युपासीत	७।१।६	८६२, ११६३, ११६४
नामरूपे व्याकरवाणि	छां० ६।३।२	९४४, ६४६
नामरूपे व्याकरोत्	छां० ६।३।२	४३२, ६४५
नामाभिमानिनी चैषा		६६२
नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं	मनु० ५।८७	१२५
नार्षेयं वृणीते		४३५, ८६८
नाविद्यमानं ब्रुवते		८६१
नाविद्या ब्रह्माश्रया	भामती पृ० १२६	५१८
नासत् पुरुषमाश्रय		४४६
नासतोऽदृष्टत्वाद्	ब्र० सू० २।२।२६	२९४, ८६२
नासदासीन्नो सदासीत्	ऋ० १०।११।१२६	५५४, ७२०
नासदासीत्	ऋ० १०।११।१२६	१४, ७१२
नास्य जरयैतज्जीर्यते		४४२
नास्याब्रह्मवित्कुले भवति	मां० उ० १०	८८६
नाहमेवं ब्रवीमीति	छां० ७।२४।२	५२२
नित्यः परो नित्यो जीव		१११९
नित्यः सर्वगतः	जा० द० उ० १०।१	१२०८
नित्यः सर्वगतः	गी० २।२४	१२१५
नित्यो नित्यानां चेतनः	कठो० ५।१३	४८२,९१५,११०७
नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तम्	नृसिंहो० ८।८	४७२
निदर्शनं चेदं स्मृतिहेतूनाम्	न्याय० भाष्य० ३।२।४१	३८४
निदिध्यासितव्यः	बृह० उ० २।४।५	४५२
निम्नं गभीरं गम्भीरम्	अमरकोष	८२०
निरंशस्य चैतन्यस्य स्वयम्	पञ्च पृ० ७१	५९८
निरनिष्टो निरवद्यः शोकम्		५६६
निरस्ताज्ञानतत्कार्यं लब्ध	बृह० वा० पृ १०२५	२३
निर्बाधप्रत्यभिज्ञानादध्रुवम्		४४६
निर्वचनवादनीदं शोभते	खं० खं० खाद्य पृ०	१०१३
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे	अध्यात्मो० २२	६४८, ६०७
निर्विकारोऽक्षरः शुद्धः		६५१
निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्	कल्पतरु पृ० १६२	८६०

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
निर्विशेषे स्वयं भाते		६०७
निरुक्तं चानिरुक्तं च	तै० उ० २।६	५४९
निरुपाधिकभ्रमकार्यदर्शनमेव	पं० वि० पृ० ६१	३८४
निरुपाध्यनुकूलत्ववेदनीयम्		६२७
निवर्त्यतां तर्हि ज्ञानेन वस्तु	पं० वि० पृ० १५	४५७
निवृत्तिरात्मा मोहस्य	चित्सु० ४।८	१२८१
निश्चितौ हि वादं कुरुतः	ता० टी० पृ० ६६	६
नीलघटत्वं तु विशिष्टम्	प्रामाण्य पृ० ३१०-११	५०६
नीहारेण प्रावृताः	ऋ० ८।३।१७	५५६
नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्	मनु० ४।३७	११९६
नेति नेति	बृह० उ० २।३।६	२५७
नेति नेति	बृह० उ० ३।९।२६	११७६, १२८३
नेन्द्रियाणि नानुमानम्		६०८
नेह नानास्ति किञ्चन	बृह० उ० ४।४।१९	२१,५१,४३६
नैमित्तिकशाखाणाम्	शा० दी० पृ० ५०३	१५०
नैतदिच्छन्ति पुरुषमेकम्		११०७
न्याय्यमेतन्निग्रहस्थानम्	वा० न्या० पृ० ९५	१५
[प]		
पक्षतावच्छेदकस्य	दीधिति० पृ० १११३	७
पक्षदृष्टान्तानुगतं		५४२
पक्षवृत्तिश्चोपाधिर्न स्यात्	न्या० त० चिं० पृ० १०६०	६०
पक्षेतरत्वेऽनुकूलतर्काभावेन	न्या० त० चिं	४१६
पञ्चधा सप्तधा	छां० ७।२६।२	१११६, १११८
पञ्चावयववाक्यामपि	चित्सु० पृ० ६०१	९, १०
पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति		१२५९
पदं च निर्गुण इति कथं		१००१
पदमभ्यधिकाभावात्	श्लो० वा० पृ० १०७	८३२
पदानां परस्परानवच्छिन्न	पञ्च० पृ० ३२२	७५६
परं ज्योतिरुपसम्पद्य	छां० ८।३।४	६४५,१११९,१२११
परमं साम्यमुपैति	मुं० ३।१।३	११२०,११७२,१३०४
परस्परपरिहारवत्योः	किर० पृ० ११	२८४
परागर्थप्रमेयेषु	पं० कूट० ११	३५३
परात्परं पुरिशयं	प्र० ५।५	८८०
परात्परं पुरुषमुपैति	मुं० ३।२।८	११७०,११७२
परामृतात्परिमुच्यन्ति	मुं० ३।१।६	४७४,४७५
परास्य शक्तिर्विविधैव	श्वेता० ६।८	८५६,८६४
परिकल्पितोऽपि	सं० शा० २।२२७	४१०
परिजनोऽप्यस्याः	कादम्बरी० पृ० १३०	४०४

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
परिसंख्यार्थं श्रवणं	जै० सू० ७।३।२२	११०९
परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति	मुं० ३।२।७	११२२,११७१,११७२
पर्युदासः स विज्ञेयो		८७३
पर्वतावयववृत्त्यन्यत्वादेः	न्या० त० चि० पृ० १००६	८९
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानाम्		४५७
पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा	भा० १।३।५	९१५
पश्य मे पार्थरूपाणि	गी० ११।५	९१२
पादोऽस्य विश्वा भूतानि	ऋ० १०।९०।३	४४४
पादोऽस्य सर्वा भूतानि	छां० ३।१२।६	११८९
पारमार्थिकत्वाकारेण प्रातिभासिकं	पं० वि० पृ० १९२	२६
पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणम्	खं० खं० पृ० ३१६	१५६
पिता वै जायते पुत्रः		३६६
पुण्यपापे विधूय	मुं० ३।१।३	८८७,१११८,११२०
पुण्येन पुण्यं लोकं नयति	प्रश्नो० ३।७	३९८
पुराकल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य		९१५
पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति	ऐ० उ० ३।२।४	२७४
पुरुष एवेदं विश्वम्	मुं० २।१।१०	११२२
पुरुष एवेदं सर्वं पुरुषेण	नृसिं० पू० ५।५	४४३
पुरुष एवेदं सर्वम्	श्वेता० ३।१५	९१८
पुरुष एवेदं सर्वं भूतं भव्यम्	महाभारत	४४३,९५५
पुरुषबहुत्वं सिद्धम्	सां० का० १८	४७०
पुरुषमभिध्यायीत	प्र० ५।५	८८०
पुरुषान्न परं किञ्चित्		४४४
पुरुषार्थे दुःखमिव ब्रह्मण्यज्ञानवत्		१०२६
पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति		११३४
पूर्णः परः जीवसंघा ह्यपूर्णः		१११४
पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे	खं० पृ० ३८	२८१
पूष्णोऽहं देवयज्यया	कां० सं० ४।१६	८८८
पृथगात्मनं प्रेरितारं च	श्वेता० १।६	२५६,८८५
पृथग्विनान्तरेणर्ते हिरुक्	अमरकोश	४३९
पृथिव्यप्सु प्रलीयते	विष्णुपुराण	३६६
पौर्वापौर्ये पूर्वदौर्बल्यम्	जै० सू० ६।५।५४	१४८
प्रकाशशब्दः सामान्याभिधानमुखेन	पं० वि० पृ० ७१६	७६३
प्रकाशो नाम यः सर्वत्रैव	आगम	६६१
प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थम्	न्या० सू० ५।२।७	१५
प्रकृतिवत् कुर्यादाज्यभागौ		८६९
प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या		१२५,१३५,१४८,२३७,२४१
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्त	ब्र० सू० १।४।२३	९५६

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
प्रकृत्यर्थातिरेकेण प्रत्ययार्थौ	बृह० वा० पृ० १६७८	४४,७०
प्रकृतेश्च विकाराणाम्		११७७
प्रकृष्टप्रकाशशब्दयोः	पञ्च० पृ० ३२३	७६३
प्रकृष्टप्रकाशः सविता	इ० सि० पृ० २५	७५३
प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः	वे० क० त० पृ० ९३	७८३
प्रक्रियानियमो नास्ति	बृह० वा० पृ० ५१२	३४४
प्रजापतिर्वरुणायाश्वम्	तै० सं० २।३।१२।१	१४७
प्रजापतिरात्मनो वपाम्		१४४
प्रणिधाननिबन्धाभ्यास	न्या० सू० ३।[illegible]	१८३
प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनय-	न्या० सू० १।१।३२	९
प्रतिपन्नोपाधौ	पं० वि० पृ० १७४	२१,६५२
प्रतिबिम्बगता पश्यन्	कल्पतरु पृ० ४८२	४००
प्रतिबिम्बपक्ष एव श्रेयान्	पं० वि० पृ० २६१	६३०
प्रतियोगिनि दृष्टे च	श्लो० वा० पृ० २३७	१७२
प्रतियोगिनो हि भेदोऽयम्		१०३०
प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वम्	श० दू० पृ० ८४	४६
प्रत्यक्षत्वाद् देवदत्तस्वरूपम्		८४४
प्रत्यक्षं नियतविषयं तथा च	खं० खं० खा०	४१८
प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रम्	मनु० १२।१०५	१८४
प्रत्यक्षादीनामविद्यासम्भिन्नत्वात्	मण्डन मि०	५१
प्रत्यक्षप्रतिरुद्धा हि श्रुतिर्न	तं० वा० पृ० १७३	१३४
प्रत्यक्षाप्रसक्तं चेदप्रसक्त		४०५
प्रत्यक्षे चानुमाने च यथा	शा० दी० पृ० २४४	१२२
प्रत्यक्षेण श्रूयमाणे तु न	तं० वा० पृ० १७१	१३४
प्रत्यग्याथात्म्यधीरेव	बृह० वा० पृ० १३	४५४
प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्	पा० सू० १।१।६१	४०५,४०६
प्रत्येकं स्फटिके पुष्पे		६३७
प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां	चित्सु० पृ० १२६	६८६
प्रत्येकमनुविद्धत्वात्	ब्र० सि० २।३१	७७
प्रदेशो देशमात्रे स्यात्	मेदिनीकोश	८३
प्रद्योतेनैष आत्मा	छां० ८।३।४	१२११
प्रपञ्चो यदि विद्येत	माण्डू० का० १।१७	४४४
प्रभवः सर्वभावानां	मां० का० १।६	४४४
प्रमाणं स्मृतिः	शाबर० पृ० १६५	५४६
प्रमाणज्ञानं	पं० वि०	४८४
प्रमाणाभ्यन्तरेणापि	बृह० वा० पृ० १४०१	३२८
प्रमातृत्वादिकं	ब्र० सू० शां० भा० पृ० २	६६३
प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः	न्या० सू० १।२।१	४
प्रमितावनपेक्षत्वेऽपि	भामती० पृ० ९-१०	४०१

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
प्रमातृत्वादिना यावत्	बृह० वा० पृ० १०२५	२३
प्रयत्नेनान्विच्छन्तोऽपि	शा० भा० १।१।५	१३०
प्रयाजशेषेण हवींषि	तै० सं० २।६।१	११४५
प्रयाजानिष्ट्वा		११२३
प्रवर्तते यत्र रजस्तमः	भा० पु० २।९।१०	१११६
प्रवाहरूपी संसारो	बृह० वा० पृ० ११४०	४१२
प्रसिद्धो धर्मी		१९
प्रस्तरादिवाक्यमन्यशेषत्वाद्	वाचस्पति मिश्र	१४१
प्रस्तोता अपच्छिन्द्याद्		१४८
प्राजापत्यं घृते चरुं निर्वपेत्	तै० सं० २।१।१२	८६७
प्राज्ञस्तु तादात्म्यसंसर्गयोः	[त० चि० पृ० ५६३	७५४
प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः	बृह० उ० ४।३।२१	४४१,११५१
प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः	छां० ६।८।२	११४०
प्राणभृत उपदधाति	तै० सं० ५।३।१।२	१३९
प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यः		४५७
प्राणोपलक्षितदेवताश्रयं मनः	छां० भा० पृ० ३६९	११४०
प्राबल्यमागमस्यैव जात्या तेषु		१७०,१३५
प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभि०	न्या० सू० ३।१।२२	३८०
प्रैतु होतुश्चमसः	श० ब्रा० ४।१।६।१८	११४४
प्रैषानुवचनं मैत्रावरुणस्य	जै० सू० ३।७।७३	२८१
[फ]		
फलव्याप्यतालक्षणवेद्यत्वस्य	चित्सु० पृ० १७	५२
[ब]		
बन्धस्य तदपायेन कृतेस्तत्फलभाक्		६४१
बर्हिर्देवसदनं दामि	मै० सं० १।१।२	८१५,१२१६
बलात्मको भगवान्		८७८
बर्हिर्यजति	तै० सं० १।१।२	११२२
बर्हिषि रजतं न देयम्		१४४
बहवो ज्ञानतपसा पूता	गी० १४।२	८३,४८२
बहिर्व्याप्तिमात्रबलेन	ता० टी० पृ० ४३	१०२
बहुगणवतुडतिसंख्या	पा० सू० १।१।२३	११४१
बहुनिगद्य किमत्र	सं० शारीरक	३१७
बहुप्रमाणविरोधे		१२५
बहुवचने झल्येत्	पा० सू० ७।३।१०३	८६८
बहु स्यामिति सङ्कल्प्य		९५१
बहु स्याम् प्रजायेय	छां० ६।२।३	८५६
बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्	पा० सू० ५।३।९३	७८४
बाधानुपपत्तिर्वाऽनिर्वाच्यत्वे	न्या० मं० पृ० ४२६	७१९

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
बाधेऽदृढेऽन्यसाम्यात् किं	खं० पु० २८०	३१७
बालाग्रशतभागस्य	श्वेता० ५।९	१२०८
बाहुल्यन्यायतश्चोपजीव्यत्व		९०२
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदः		४१६
बिम्बस्थानीयब्रह्मस्वरूपता	पं० च० पृ० १०९	६२०
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन च	श्वेता० ५।८	१२१६
बृहन्तोऽस्य धर्माः	अ० शि० उ० ४	५३, ८५२
बृंहेर्नोऽच्च	उणादि० ४।१२६	७८३
ब्रह्मणोऽनृततो भेदः		१०१६
ब्रह्मण्यनृतभेदस्य सत्यत्वे		१०१८
ब्रह्म पुच्छम्	तै० उ० २।५	८७१
ब्रह्म वा इदमग्रे	बृह० उ० १।४।१०	११२४, ११६३
ब्रह्मविदाप्नोति परम्	तै० उ० २।१।१	२२५,११६६,१३०९
ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति	मुं० उ० ३।२।९	२२५
ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति	छां० उ० २।२३।१	२२५
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या		१९४
ब्रह्मादयो हि भूतानि		४३८
ब्रह्मेशानादिभिर्देवैः		८५१, १३०५
ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्	मुं० २।२।११	११३२
ब्रह्मैवेदं सर्वम्	नृ० उ० ता० ७।३	६१८
ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति	बृह० उ० ४।४।६	११७०
ब्राह्मणो न हन्तव्यः		२३४, ६६१
ब्राह्मणो मुखमित्येव		११४२
ब्राह्मणो यजेत		६५१, ६५६
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्		८९२
ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमित्यादि		६५४
ब्रूतेऽसतोऽपि मोहादीन्दोषान्		९०८
[भ]		
भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी	श्रीमद्भा० ३।२५।३३	१३१४
भगवानिदमात्मशक्त्या	भागवत	५५५
भगवान् सत्यकामः	बृह० उ० ८।१।५	८५६
भवन्ति व्यवहाराश्च न हि		९६४
भवेतां यदि वृक्षस्य	वार्तिक	४४५
भवेदेकत्र संयोग इव		४३९
भावनातद्विशेषणार्थातिरिक्ते,	तं० वा० पृ ६६१	८२१
भिद्यते हृदयग्रन्थिः	मुं० २।२।८	४४८, ७६६
भूतार्थानामपि वेदान्तानाम्	भामती पृ० १०६	२४७
भूमा नारायणः स्यात्		६२१

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः	श्वेता० १।१०	२६,५५३,५९८
भूयोऽवयवसामान्यं सादृश्यं	पं० वि० पृ० ६०	३८२
भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्ष	न्या० त० चिं० पृ० ३४०	२८५
भेदव्यपदेशात्		११०७
भेदव्यपदेशाच्चान्यः	ब्र० सू० १।१।२१	५७७
भेदश्रुतिस्त्वन्यपरा	सं० शा० ३।२८४	२६१
भेदः स्वरूपं धर्मो वा		१००८
भेदस्य खण्डनेनैव		१००८
भेदस्य च स्वरूपत्वे		१०३०
भेदहीने त्वपर्याय		१०५६
भेदाद्भिन्नतया		१०१२
भेदाभेदभिदा		१०१६
भेदोपसंहारावशिष्टं	मण्डन	५१,५२
भोक्तारं यज्ञतपसां	गी० ५।२९	८८५
भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्	ब्र० सू० २।१।१३	४००
भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च	ब्र० सू० ४।४।२१	१११७
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये	मां० का० १।८	१९१
[म]		
मग्नस्य हि परेऽज्ञाने	महाभारत०	४४०
मणिप्रदीपप्रभयोः	प्र० वा० पृ० २१८	८७९
मत्प्रसादात् तरिष्यसि	गी० १८।५८	४५७
मत्प्रसादात् परां शान्ति	गी० १८।६२	९३२
मध्य आत्मनि तिष्ठति	कठो० ४।१२	४३८
मध्यमयोर्वा	जै० सू० ७।३।२४	११०९
मन उदक्रामत्	ऐत० उ० १।४।४	६४४
मनसा वा अग्रे	गर्भो० १	५४६, ६४९
मनोमयमात्मानं		६४५
मनो विभु, ज्ञानासमवायि	उपस्कार० पृ० १०२	१२७
मन्दधियस्तु श्रद्धालवस्तात्पर्यम्	शा० दी० पृ० ५८०	१४५
मम्मते सदेकस्वभावे जगति तस्य	व्यासतीर्थ	१४
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः	गी० १५।७	९२१, ११८९
मयश्च शंबरश्चैव महामाया	हरिवंशपुराण	५५५
महच्च प्रामाण्यकारणमेतद्		२३९
महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्		६२५
महान्तं विभुमात्मानम्		४३८
महाभूतान्यहङ्कारः	गी० १३।५	६०९,६२५,६९१
मांसं तु सवनीयानां चोदना	जै० सू० ३।८।९	७७१
माछासससिभ्यो यः	उ० ४।१०९	५५५

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
मा न भूवं हि भूयासम्	पं० द० प्रत्यक् ८	९२९
मानान्तरादपोहस्तु न शाब्दस्तेन	सुरेश्वराचार्य	८१६
मामहमिति जानामि तदात्मानम्		९८०
मामृतं कृधि	नारा० उ०	९३१
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेताम्	गी० ७।१४	९३५
मायां तु प्रकृतिं विद्यात्	श्वेता० ४।१०	४४६
माया प्रज्ञा वयुनमिति प्रज्ञानामानि	नि० ३।९	५५५
मायामात्रमिदं द्वैतम्	मां० का० १।१७	४४४,५५६,११२०
मायामात्रमिदं सर्वम्	बृह० वा० पृ० ९३१	४३७,५५६
मायामास्थाय युध्यस्व	हरिवंशपु०	५५५
मायामेतां तरन्ति ते	गी० ७।१४	५५३
मायावी मायया क्रीडति	शां० उ० ३।१।३	१९६
माया ह्येषा मया सृष्टा	म० आ० मोक्ष० ३३९।४५	५५६
मायिनं तु महेश्वरम्	श्वेता० ४।१०	४७६,५५४
मायोपमं च विज्ञानम्	मध्यमक पृ० २४०	८१५
माहात्म्यमेतच्छब्दस्य	बृह० वा० पृ० ६०५	९०८
मिथ्याकाल्पनिकी चेयम्	योग०० वा० ३।१००।३६	४७१
मिथ्यालम्बनं ज्ञानम्	पञ्च० पृ० ५२	७४२
मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयतावचनः	पं० पा० पृ० २३	१४
मिथ्यैष व्यवसायस्ते	गी० १८।५९	४४७
मुख्यः प्रथमकार्यत्वाज्ज्योतिष्टोम	तं० वा० ८६३	८८९
मुख्यस्तु शब्दस्वरसात्	जै० सू० १२।२।८	९५४
मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात्	ब्र० सू० ३।२।१०	२५५
मृजेर्वृद्धिः	प्रा० सू० ७।२।११४	८४८
मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वा	पा० सू० १।२।७	१५१,१५२,८७२
मृत्युरेवापवर्गः	चार्वाकसूत्र	९३१
मृत्युहेतुबहुत्वेन तद्धेतुत्वम्		८२३
मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति	कठो० ४।१०	४३९
मृदब्रवीत्		४१६
मृष्यामहे हविषा विशेषणम्	शा० भा० पृ० १४३९	८९८
मोदो दक्षिणः पक्षः	तं० उ० २।५।१	९१७
मोहमानार्थमज्ञानमानम्		५९५
[य]		
य आत्मापहतपाप्मा	छां० ८।७।१	८८२
य आत्मा सर्वान्तरः	बृह० उ० ३।७।२	११७३
य इह रमणीयचरणाः	छां० ५।१०।७	४७४
य एवं विदुरमृतास्ते भवन्ति	कठो० ६।९	९१४
य एवं विद्वानमावास्यां यजते	तै० सं० १।६।९।१	१११२

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते	तै० सं० १।६।९।१	२४७, ३१११
य एवं वेद	बृह० उ० १।४।१०	८७१
य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः	बृह० उ० २।१।१७	४३९
यच्च यत्र नास्ति		६५६
यच्चिकेत सत्यमित	ऋ० ८।१।२७	२३१
यजतिचोदनाद्रव्यदेवताक्रियम्	जै० सू० ४।२।२७	११३६
यजमानः प्रस्तरः	तै० सं० २।६।५।३	१३८,१४१,४४३,६५१
यजेत स्वर्गकामः		१९८
यजेतेत्यादिश्रुतेरिव	ल० चं० पृ० ११२	२४
यज्ञायुधीतिवचने	सं० शा० १।१५७	८२६
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः	ऋ० १०।९०।१६	२१४
यतो वाचो निवर्तन्ते	तै० उ० २।४	२२३,९९९,१००२
यतो वेमानि भूतानि	तै० उ० ३।१।१	११९,२८१,३९८,६४७
यत्कठिनं सा पृथिवी	गर्भो० ३	३३७,३३८
यत्किञ्चित्प्राचीनम्		१२३, ८९७
यत्तदद्रेश्यम्	मुं० १।६	५१
यत्तु कालान्तरेणापि		४४७
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः	वा० प० १।३४	१५८
यत्परः शब्दः स शब्दार्थः	शा० भा०	५३,२४६
यत्पुनरिदमभिहितं	न्या० मं० पृ० ५४२	३५५
यत्प्रसादादविद्यादि	बृह० वा० पृ १३९	३७५
यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्	बृह० उ० ४।५।१५	४३०,११२५,१३०१
यत्र नान्यत्पश्यति	छां० ७।२४।१	६७२
यत्र हि द्वैयमिव भवति	बृह० उ० ४।५।१५	४४०, ४५४
यत्रान्यथार्थः प्रतिभातः	तं० वा० पृ० ४३७	१४०
यत्राप्यतिशयो दृष्टः	श्लो० वा० पृ० ८०	९६४
यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूत्	बृह० उ० २।१।१७	४६७,४६८
यत्रोभयोः समो दोषः	श्लो० वा० पृ० ३४१	५०२
यत् सत् तत्क्षणिकम्	ज्ञानश्री० पृ० १	९१
यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म	बृह० उ० ३।४।१	६०, ९६६
यथाकाशस्थितो वायुः	गी० ९।६	३६०, ३६१
यथा च द्रव्यमिच्छन्ति	तं० वा० पृ० ६९२	८२१
यथा चिकित्साशास्त्रम्	यो० भा० पृ० १८५	७५३
यथा चोलनृपः सम्राड्		४३७
यथा तक्षोभयथा	ब्र० सू० २।३।४०	६४१
यथा मृत्पिण्डविज्ञानात्		४४२. ९५५
यथा यथा विनेयानां	प्र० वा० भा० पृ ३१	३४४
यथार्थज्ञानं विद्या	किर० पृ० ५१२	२४९

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
यथा वयांसि वासाय	प्रश्नो० ४।८	६७५
यथा शीघ्रप्रवृत्तित्वात्	तं० वा० पृ० ८३८	८९६
यथा सत्यत्वाविशेषेऽपि	वाचस्पति०	२७७
यथास्मिन्नाकाशे श्येनो		
यथास्मिन् आकाशे	बृह० उ० ४।३।२१	११५१
यथाहंकारप्रतियोगी त्वंकार	भामती० पृ० ६	४७३
यथेश्वरश्च जीवश्च		११०७
यथैवाहारकालादेः	प्र० वा० १।३६६	३१५
यथैषा पुरुषे छाया		११९७
यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु	न्या० सू० ३।२।५१	१२७
यथोक्तोपपन्न	न्या० सू० १।२।२	४
यथोदकं दुर्गे वरिष्टं	कठो० ४।१४	९००
यथोदकं शुद्धे	कठो० ४।१५	४३८
यथोर्णनाभिः	बृह० उ० २।१।२०	५१,५४,४६८
यदन्यद् वायोरन्तरिक्षात्	बृह० उ० २।३।२	७२०
यदयमात्मा	बृह० उ० १।४।७	२५४
यदा कर्मसु काम्येषु	छां० ५।२।९	२५०, २७४
यदाग्नेयोऽष्टाकपालो	तै० सं० २।६।३।३	२४७, ७७९
यदाजिमीयुस्तदाज्यानां	शाबर० १।४।२	४१६, ४५८
यदात्मको भगवान्		८१७
यदादित्यगतं तेजः	गी० १५।१२	३४९
यदा नीतिपरो राजा		४७५
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्	मुं० ३।१।३	४८,८८७,९१२,९१४
यदाप्नोति यदादत्ते		११५९
यदा स्वतः प्रमाणत्वं	श्लो० वा० २।५२	४०४
यदाहवनीये जुह्वति	तै० ब्रा० १।१।१०।५	१२३, ८८३
यदि तर्हि नित्याः शब्दाः	महाभाष्य १।१।१	८४८
यदिदं सर्वम्	बृह० उ० ३।१।२	२५४
यदि प्रतिहर्त्ता		१४९
यदि सोमं न विन्देत	शाबर० ६।३।१४	१०९२
यदुपजीव्यम्, तन्न बाध्यते	भामती० १।१।१	११३२, ११३३
यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं	म० ना० १।५	४३८
यदेव भगवान् वेद	बृह० उ० २।४।२	४७७
यदेव विद्यया करोति	छां० १।१।१०	१२३८, १२६१
यदेवेह तदमुत्र	कठो० ४।१०	४३८
यद् द्वैतं पश्यति	बृह० उ० ४।३।२३	४४०, ४४१
यद्यद्वैतं परं ब्रह्म	बृह० वा० पृ० १९५४	[illegible]४
यद्यपि चाहिज्ञानमपि	भामती० पृ० ४५८	२८४

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
यद्यप्याकाशाद्या भूतसृष्टिः	भामती॰ पृ॰ १६८	१६५
यद्युत्पत्तिज्ञप्तिमात्र		५८३
यद्युद्गाता जघन्यः स्यात्	जै॰ सू॰ ६।५।५५	१४६
यद्वै तन्न पश्यति	बृह॰ उ॰ ४।३।२३	४३७
यद्व्यावृत्त्या साध्यं निवर्तते	न्या॰ त॰ चिं॰ पृ॰ १०३०	६०
यन्मनसा न मनुते	केन॰ ३।५	१२७७
यमेवैष वृणुते	मुं॰ ३।२।१३	१३०३
यया यया भवेत् पुंसा	बृह॰ वा॰ पृ॰ ५१२	३४४
यवागूं पचति		१५२
यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थः	जै॰ सू॰ ११।३।१४	८१६
यश्चार्थादर्थो न स श्रौतः	शाबर पृ॰ ६२१	८२२
यस्ते आशि		१३१६
यस्मात् परं नापरमस्ति	श्वेता॰ ३।९	४४४
यस्माद् हि विषयात्	न्या॰ विं॰ पृ॰ ८१	३५४
यस्मान्नाणीयं न ज्यायोऽस्ति		४४४
यस्मिन् द्यौः पृथिवी च		४३६, ४४३
यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च		४३६
यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी	बृह॰ उ॰ ३।७।३	११२४
यस्य प्रसादात् परमार्तिरूपाद्		४५७
यस्य येनार्थ सम्बन्धो दूरस्थेन		४४१, ११६८
यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सा	छां॰ ३।१४।४	६१३
यस्याज्ञानं भ्रमस्तस्य तत्त्वम्	इष्ट॰ पृ॰ १६३	५६८
यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके		८६३
यस्यात्मा शरीरम्	श॰ ब्रा॰ १४।५।५।३०	११४८
यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा		४३८
यस्यायुतायुतांशेऽपि विश्वशक्तिः		६२१
यस्योभयं हविः	तै॰ ब्रा॰ ३।७।१।७	८६८
यः सर्वज्ञः	मुं॰ १।१।९	७६, ८७५
यः सर्वज्ञः सर्ववित्	मुं॰ १।१।६	५४,५५४,७५४
य आत्मनि तिष्ठन्	शत॰ ब्रा॰ १४।५।५।३०	११०७, ११०८
य आत्मनि तिष्ठन्	बृह॰ उ॰ ३।७।२२	५७७
य आत्मापहतपाप्मा	छां॰ ८।७।१	५५२
यागानुमन्त्रणानीति समाख्या	तं॰ वा॰ पृ॰ ७५१	८८९
याते अग्ने अयाशया तनूः	तै॰ सं॰ १।२।११	२५३, ११११
यां जना प्रतिनन्दन्ति रात्रिम्		८६१
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्	ईशा॰ ८	२३१,२३३,४४३
[illegible]ःशं ब्रह्मणः सत्त्वं तादृशम्		६८
यादृशं विषयत्वं ते वृत्तिम्		३३६

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
यादृश्या हि धियात्रिचतुरकक्षा	खण्ड० पृ० ७१	
या निशा सर्वभूतानाम्	गी० २।६९	२६८
यावत्कार्यमुपस्थायभेदहेतोः	कल्प० पृ० ४२१	४५४
यावत् किञ्चिद् भवेदेतदिदम्		२६२
यावत्या वाचा कामयेत		४३३
यावदङ्गविशिष्टं		१२३,८९७
यावन्मोहं ते भेदः स्यात्	मा० म० पृ० ८५	६
युक्तोऽयुक्तश्च यत्रार्थं आगमस्य		११७६
युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो		९०२
युष्मदस्मद्विभागे स्यादर्थवद्	न्या० सू० १।१।१६	१२७
येन प्रत्यक्षसिद्धेन व्यवहारोऽखिलः		११२६
येन लक्ष्यमिति प्रोक्तं लक्ष्यशब्देन		१०६६
		१००१
येन विना यस्यासत्त्वशङ्का	अद्वैतदीपिका पृ० ४०३	४६७
येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतम्	छां० ६।१।३	४४२,११२९
येनासमुद्रमसृजो महीरपः	ऐन्द्रसूक्त	८८४
योगमायां समादिशद्	भागवते	५५५
योऽनन्तशक्तिर्भगवान्		७९४
यो नास्ति ब्रह्मेतिमन्यते	शां० भा० पृ० ७१	८६२
योनिश्च हि गीयते	ब्र० सू० १।४।२४	९५५
योनिष्ट इन्द्र सदने	ऋ० ७।२४।१	९१४
योऽपि तावत्परासिद्धिः स्वयम्	श्लो० वा० निराल० १३१-३२	२६९
यो मामशेषदोषोज्झम्		८८५
योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु	बृह० उ० ४।४।२२	८१३
योऽयं विज्ञानमयः	बृह० उ० ४।३।७	७५३,७८५
यो वृष्टिकामो	तां० ब्रा० ८।८।१८	१२२५
यो वेद निहितं गुहायाम्	मु० उ० २।१।१०	१११६,१११७
यो वेद निहितं गुहायाम्	तै० उ० २।१।१	७९०
यो वै भूमा	छां० ७।२३।१	११४७
योषितमग्निं ध्यायीत		८९१
[र]		
रधिजभोरचि	पा० सू० ७।१।६१	८६८
राजसूनोः स्मृतिप्राप्तौ	बृह० वा० पृ० ९७१	५७७
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव	कठो० ५।९	४४६
रेतो जुह्वति	बृह० उ० ६।२।१३	९९१
[ल]		
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्	तं० वा० पृ० ३५४	६५६
लक्ष्यव्यक्तिरपि ब्रह्म		१०००
लशक्वतद्धिते	पा० सू० १।३।८	४०५

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
लोकप्रसिद्धिरपि तन्त्रम्	इष्टसि० पृ० २	२६८
लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्	ब्र० सू० २।१।३३	१९९,३९८
लोकस्यापि व्यतिक्रमे	आत्सत० पृ० २३२	२२२,२७३
लोकावगतसामर्थ्यः	ब्र० सि० पृ० ८१	२४६
लोहितोष्णीषा ऋत्विजः		२८१,४३९
लौकिकपमार्थरजतमेव	पं० वि० पृ० १९२	३७
लः कर्मणि	पा० सू० ३।४।६९	६६
[व]		
वचसां वाच्यमुत्तमं		१००३
वरुणो वा एतं गृह्णाति	तै० सं० २।३।१२।१	१४६
वर्णे ह्रस्वदीर्घत्वादयः	भामती० पृ० १०	३७६
वर्तमानेन प्रविलीवेन	पं० वि० पृ० १७८	३८
वशीकृते मनस्येषां	कल्पत० पृ० १९२	८१०
वसन्तादिभ्यष्ठक्	पा० सू० ४।२।६३	११३९
वस्तुतो व्यर्थविशेषणत्वेऽपि	असिद्धि० पृ० १८६७	१९२
वाक्यशेषस्थधर्माख्य		४१८
वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि		८११
वाचं धेनुमपासीत	बृह० उ० ५।८।१	९९०,९९१
वाचस्पतिस्तु	प्रकट० पृ० ९८९	५८१
वाचारम्भणमित्युक्ते		४४२
वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्	छां० उ० ६।१।१	८१,४४१,९३७
वाचैवायं ज्योतिषास्ते	बृह० उ० ४।३।५	९९१
वाच्ययोगितया बुद्धं		१००४
वाधितोऽपह्नवो मानैः	शा० द० २।२।५	२६०
वायव्यं श्वेतमालभेत	तै० सं० २।१।१	२५०,७९०,८१७
वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता	तै० सं० २।१।१	२४८,२५०,४११,७९०
वायोरग्निः	तै० उ० १।१।१	३९८,४०१
वासुदेवात् परं नास्ति		४४४
विकरणत्वान्नेति चेत्	ब्र० सू० २।१।३१	९१३
विकल्पो विनिवर्तेत	मां० का० १।१८	४४४
विकारशब्दान्नेति चेन्न	ब्र० सू० १।१।१३	८७०
विकारवत्कारणत्वं		९३६
विगीतो विभ्रमः	चित्सु० पृ० १०३	४८४,५४७,५४९
विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद	तै० उ० २।५।१	६४५
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म	बृह० उ० ३।९।३४	१४०,२५४,४५८
विज्ञानं यज्ञं तनुते	तै० उ० २।५।१	६४५,९९६
विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत	बृह० उ० ४।४।२१	१२१४
विदारकत्वेऽपि		१०२८

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
विदारणस्य भेदस्य		१०१०
विद्वत्तया परिकल्पिते गुरौ	चित्सु० पृ० ५८२	४७७
विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः	मुं० ३।२।८	४४८
विद्वान् पुण्यपापे विधूय	मुं० ३।१।३	१११७
विधिनात्वेकवाक्यत्वात्	जै० सू० १।२।७	८३७
विधिरत्यन्तमप्राप्ते	तं० वा० पृ० १५१	३९५
विनञ्भ्यां नानाञौ न सह	पा० सू० ५।२।२७	४३६
विपक्षवृत्तित्वं साधारणत्वम्	न्या० त० चिं० पृ० १७०५	८
विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते	ब्र० सू० २।३।१४	५९६
विप्रकीर्णार्थसंक्षेपात्	जै० न्या० मा० १।३।२	२४६
विप्रतिषिद्धधर्माणां समवाये	जै० सू० १२।२।२२	१२५
विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्यात्	जै० सू० ६।५।५१	१४६
विप्रतिषेधे परं कार्यम्	पा० सू० १।४।२	८६८
विमतं ज्ञानं व्यतिरेकेणासत्	न्या० चं० पृ० ४६८	८६,९८८
विमतं न स्वाश्रयविषयकं	न्या० चं० पृ० ४६८	९८८
विमतं मिथ्या, दृश्यत्वात्	न्या० दी० पृ० १	६,११
विमुक्तश्च विमुच्यते	कठो० ५।१	४५८
विरुद्धवत्प्रतीयन्ते		४१७
विरोधाद्धर्मिमात्रेण		५६३
विरोधे गुणवादः स्यात्	बृह० वा० पृ० १६३	१४८
विरोधे त्वनपेक्षं स्यात्	जै० सू० १।३।३	१३४
विलान्निष्क्रामतो दीर्घभोगस्य	कैयट	९४८
विवादगोचरापन्नम्	पं० वि० पृ० ८५	३३५
विवादपदं प्रमाणज्ञानं	पं० वि० पृ० ८५	५३४
विवादपदं मिथ्या	न्या० दी० पृ० १	६
विवादाध्यासिता भावाः	प्र० मा० पृ० ७	७६
विवादाध्यासिता संवित्	प्र० मा० पृ० ११	९९४
विविदिषन्ति यज्ञेन	बृह० उ० ४।४।२२	३९६
विशदं क्षीरमाधुर्यं		१००४
विश्वं सत्यं	ऋ० २।७।३।१२	२३१,२३२,२५८
विश्वजिता यजेत	तां० ब्रा० १६।४।५	८३४
विश्वतश्चक्षुः	श्वेता० ३।३	८१२
विश्वमायानिवृत्तिः	श्वेता० १।१०	५५३
विशेषणत्वं भेदेन		१०४९
विशेष्ये धर्मसंसर्गपरं		८४१
विष्णवे शिपिविष्टाय	तै० सं० ३।४।१।४	५५
विषयत्वं नानुमेयादौ	पं० वि०	५३५
विषयाविषयौ ज्ञात्वा	तं० वा० पृ० १७३	४१७

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
विषयो विशयश्चैव		७६९
वृक्षस्य स्वगतो भेदः	पञ्चद० महाभूत० २०	४३४, ४३५
वृद्धिरादैच्	पा० सू० १।१।१	८४८
वृद्धिह्रासभाक्त्वम्	ब्र० सू० ३।२।२०	१३०५
वेत्थ नु त्वं काप्य	बृह० उ० ३।७।१	११२४
वेदं कृत्वा वेदिं करोति		१६८
वेदवाक्यानुमानं हि	तं० वा० पृ० १७२	१३४
वेदान्त विज्ञानसुनिश्चितार्थाः	मुं० ३।२।६	१२७०
वेदो वा प्रायदर्शनात्	जै० सू० ३।३।२	१२१, २३८
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः	गी० १५।१५	६३६
वेद्याद्यर्थभेदात्	ब्र० सू० ३।३।२५	८८८, ८९०
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्च		६२५
वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्	ब्र० सू० २।२।२६	२३१,२५१,२६४,४४७
वैश्वदेवीमामिक्षाम्	मै० सं० १।१०।१	११३५
वैश्व देवेन यजेत	तै० ब्रा० १।४।१०	११३५
वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्	ब्र० सू० २।१।४	३३८
व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करः	किर० पृ० ३३	६४
व्यञ्जकस्तु यथालोके	उप० सा० १६।५	३५३
व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत्	ब्र० सू० ३।३।३७	८७७
व्वस्थातो नाना	वै० सू० ३।२०	४७०
व्यवहारः अभिज्ञा अभिवदनम्	विवरण पृ० ६२	६०
व्यापकानुपलब्धिर्यथानात्र	न्या० विं० पृ० १२९	३१४
व्यामत्वादात्मनो देहे व्यवहारेषु		६६४
व्याप्तिविरहश्च व्यर्थविशेषणादौ	असिद्धि पृ० १८६६	१९२
व्याप्तेश्च समञ्जसम्	ब्र० सू० ३।३।९	७७८
व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोः	श्लो० वा० पृ० ३८५	६१३
व्यावहारिकसत्योऽपि बाध्यः		७४५
व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राज	पा० सू० ८।२।२६	८४८
व्रीहिभिर्यजेत्	आप० श्रौ० ६।३१।३१	२५०, ७७५
व्रीहीनवहन्ति		३६४,४३८,१२३४
वीहीन् प्रोक्षति		२५०
[श]		
शङ्का चेदनुमाऽस्त्येव	न्या० कु० ३।७	१०७
शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो	यो० सू० १।९	३१५, ६९७-९९
शब्दार्थतद्योग्यतयोः		४०७
शब्दार्थस्यैव मुख्यत्वं	तं० वा० पृ० ७१४	८३६
शरमयं बर्हिर्भवति	तै० सं० २।१।५	१३५,१४२
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्	गी० १७।५	६४४

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
शरीरे पाप्मनो हित्वा		६४६
शशास पृथिवीं सर्वा		४४२
शाक्मना शाको	ऋ० सं० ८।११७	२३३
शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते	ब्र० सू० १।२।२०	५७७,११२४
शारीरश्च नान्तर्यामीष्यते	ब्र० सू० भा० १।२।२०	११२४
शास्त्रगम्यपरेशानात्		११३१
शास्त्रफलं प्रयोक्तरि	जै० सू० ३।७।८	६४३
शास्त्रं मोहनिवर्तकम्	प्र० वा० १।६	८४८
शास्त्रयोनित्वात्	ब्र० सू० १।१।३	२१४,९४५,९४६
शास्त्रं शब्दविज्ञानाद्	शाबर पृ० ३७	४१७,४१८
शिपयोऽत्र रश्मयः	निरुक्त ५।८	५४
शिलादेव इति ज्ञानं भौम इज्यधीः		८९३
शि सर्वनामस्थानम्	पा० सू० १।१।४२	४०१
शुक्तिकादिज्ञानैः सहाध्यासेन निवर्तन्ते	पं० वि०	३६८
शुक्लस्य नीलस्य		४४१
शुद्धं ब्रह्म विषयीकुर्वाणा	कल्पत० पृ० ५७	५६
शुष्कतर्कैर्भेदबाधे		१००९
शुष्कतर्कः श्रौतगुणबाधे		९०४
शृङ्गाच्छरो जायते		९४७
शृङ्गाच्छरोविलोमभ्यो दूर्वा		९४८
शृणोत्यकरणः		९१९
शृण्वन्तः श्रोत्रेण	बृह० उ० ६।१।८	६४४
श्येनचितं चिन्वीत	तै० सं० ५।४।११	६७
श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः	भा० पु० २।९।११	१११६
श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृश्येभ्यः	छां० ७।१।३	८९२
श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरण	जै० सू० ३।३।१४	१२२,८६७
श्रोतव्यो मन्तव्यः	बृह० उ० २।४।६	४,७९९
[ष]		
षष्ठीस्थाने योगा	पा० सू० १।१।४९	३१३
षड्भ्यो लुग्	पा० सू० ७।१।२२	४०५
षड्विंशतिरस्य वंक्रयः		२४१
षड्विंशतिरित्येव ब्रूयात्		२४२
ष्णान्ता षट्	पा० सू० १।१।२४	४०३,४०५,४३३
[स]		
संवृतेर्न तु सत्यत्वम्	श्लो० वा० निरालम्ब ६	२७१
संस्कारदुष्टकारणसंवलित	पञ्च० पृ० ५२	७३८
संसर्गासंगिसम्यग्धो	चित्सु० पृ० १६१	७५६
संसारानर्थनाशो हि विद्यायाः	बृह० वा० पृ० ७७६	३९७

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
संसारावस्थायामन्तःकरण	पं० वि० ३२३	६११
संस्थिते संस्थितेऽहनि	आप० श्रौ० सू० २३।११।१२-१३	७७०
स आत्मनो वपामुदक्खिदत्	तै० सं० २।१।१	६४७
स आत्मा तत्त्वमसि	छां० ६।८।७	११४६
स आत्मा यत्किञ्चित्	बृह० उ० भा० ४।३।१५	३६०
स एको मानुषानन्दः	तै० उ० २।८।१	१३१०
स एव परमेश्वरः	यो० सू० भा० १।३।१२	५५२
स एवाधस्तात्	छां० ७।२५।१	३६,६१९-६२४
स एवेदं सर्वम्	छां० ७।२१।१	६२०,६२२
स एवैनान् ब्रह्म गमयति	छां० ५।१०।२	११६६,१२०६
स एष नेति नेति	बृह० उ० ३।९।२६	४२६,८६३
स एष यज्ञायुधी यजमानः	शत० ब्रा० १२।५।२।८	८२७
स एषोऽनन्तः	छां० ११।९।२	८८८,८९०
सक्तून् जुहोति	आ० श्रौ० सू० १३।२४।२६	११४५
सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः	ब्र० सू० ४।४।१८	१११७,१११९
सङ्गतिग्रहणाभावात्	आत्म० वि०	७०१
स च तां रामदयितां पश्यन्	बा० रा० अरण्य० ४३।३४	५५६
सच्च त्यच्चाभवत्	तै० उ० २।६	८५६,९४९
सच्छब्दः साधुवाचकः	विष्णुपु०	४४६
सज्जनः सज्जनो जातः		४५८
स तपोऽतप्यत	तै० उ० २।६	५१,९४९
स तत्र पर्येति	छां० ८।१२।३	१११७,१२११
सति सम्पद्य न विदुः	बृह० उ० ६।९।२	७७४
सतोऽभिव्यञ्जकं मानम्	बृह० वा० पृ० ११०८	९६
सत्तागुणत्वे च सर्वेन्द्रिय	न्या० वा० पृ० ११०८	३७७
सत्तातोऽपि न भेदः स्यात्	बृह० वा० पृ० ३०४	११६
सत्तादीनां तु जातीनां	कल्पत० पृ० ६४	६०८,६२९
सत्त्वं तु द्विविधं प्रोक्तम्		२६३
सत्त्वं स्वातन्त्र्यमुद्दिष्टम्	महाभारत	४४६
सत्त्वात्यन्ताभात्रविशिष्ट		१६
सत्त्वादि धर्माणां तदुपहित	ल० चं० पृ० ८०	७०
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म	तै० उ० २।१	३६,२४४,४४५
सत्यं भिदा सत्यं भिदा		१११४
सत्यं भेदस्तु वस्तूनां		१०३९
सत्यं विज्ञानघनः		१०२०
सत्यं विवेकस्य मिथ्याभावस्य	न्या० दी० पृ० १	४३
सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः	छां० ८।१।५	८५२, ८७८
सत्यज्ञानादिकेऽप्येवं		८१५

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
सत्यज्ञानादिगीरेतत्	चित्सु० पृ० २०१	८५०
सत्यं न हि सामान्यं	श्लो० वा० निरा० ७	२७२
सत्यत्वादिविशिष्टबल		८०४
सत्यमाकृतिसंहारे यदन्ते	वा० प० ३।२।११	५२
सत्यस्य सत्यं	बृह० उ० २।३।६	८८५
सत्यादिभिः त्रिभिः	तै० उ० भा० पृ० ४७	७६४
सत्यानृते मिथुनीकृत्य	ब्र० सू० भा० १।१।१	३७९
सत्यान्न प्रमदितव्यम्	तै० उ० शीक्षा ११	४७८
सत्यासत्यौ तु यौ भावौ	वा० प० ३।१।६२	७८
सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः	महाभारत	४५८
सत्ये ब्रह्मणि	चित्सु० पृ० १९९	८११
सत्यः सोऽस्य महिमा	बृह० उ० १।१।२	८९५, ८८३, ८८४
सदृशादृष्टचिन्ताबा।		३८३
सदेव पुरस्तात् सिद्धम्	नृसिंहो० ९।६	९१, ७२१
सदेव सोम्येदमग्रे	छां० ६।२।१	५१, ४१४, ४४४
सद्भावे साधुभावे च		४४६
सद्भेदस्य स्वरूपेण		१०४९
सद्रूपत्वाविरोधिमिथ्यात्व		१५
सनातनं सत्यमिति		४४२
सन्दिग्धानैकान्तिकवत्	न्या० चं० पृ० १०५८	२१८
सन्निपातलक्षणो विधिः		४०३
सन्मूलाः प्रजाः	छां० ६।८।४	११३९, ११४४
स पूज्यः सर्वभूतानां	मां० का० १।१२	४७५, ४८३
स प्रतिपक्षस्थापनाहीनः	न्या० सू० १।२।३	४
स प्राणमसृजत्	प्रश्नो० ६।४	६३५
स भगवः कस्मिन्	छां० ७।२४।१	५२२
स भूमिं विश्वतो वृत्वा	श्वेता० ३।१४	४४३
समर्थः पदविधिः	पा० सू० २।१।१	११३९
समस्तकल्याणगुणात्मका		८७८
समानयत उपभृतस्तेजो वा		११२३
समानानेकधर्मोपपत्तेः	न्या० सू० १।१।२३	६
समारोप्यस्य रूपेण	भामती० पृ० ९३१	६२९, ६३०
समिधो यजति	तै० सं० १।१।५	११२२
समुद्रजलस्थानीया मुक्ताः		४४०
समृद्धि तत्र जानीयात्	छां० ५।२।९	२५९
सम्प्रदायाध्वना पञ्चीकरणं	कल्पत० पृ० १६८	१६५
सम्बद्धं वर्तमानं च	श्लो० वा० पृ० १५०	१११, ५९७, १११०
सम्बन्धस्त्वनित्यत्वसाधन	पं० वि०	१२९३

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
सम्बन्धिभेदात्सत्तैव	वा० प० ३।१।६३	९५७
सम्भवति च लघौ धर्मे	अवच्छेदकत्व पृ० १	११, ५१०
सम्भिन्नोभयरूपत्वात्	पञ्च० पृ० १०२	६४०
स यत्तत्र यत्किञ्चित्	बृह० उ० ४।३।१५	३६०
स यथा सर्वासामपां	बृह० उ० २।४।११	४४०
स यथा सैन्धवखिल्य उदके	बृह० उ० २।४।१२	४४०
स यश्चायं पुरुषे	तै० उ० २।१।१	११९६
स यो ह वै तत्परमम्	मुं० ३।२।१	११२२, ११६८
सरूपाणामेकशेषः	पा० सू० १।२।६४	७५९
सर्पभ्रमादावपि		२९३
सर्वं कर्माखिलं पार्थ	गी० ४।३३	३९६, ३९७
सर्वं क्षणिकम्		९८
सर्वं खल्विदं ब्रह्म	छां० ३।१४।१	१४३, ४१८, ४४१
सर्वं प्रविध्य		८९०
सर्वं वस्तु ज्ञाततया	पं० वि० पृ० ८४	५०४, ६०३
सर्वं समस्तं जगत्	गूढार्थ० पृ० ५१०	६२३
सर्वं समाप्नोषि	गी० ११।४०	४४३, ६२१, ९५५
सर्वं सामान्यतो यस्मात्		१०४१
सर्वं हि यो विजानीते		५७९
सर्वगन्धः सर्वरसः		४४०
सर्वतः पाणिपादम्	गी० १३।१३	९१२
सर्वतीर्थदृशां तावत्	बृह० वा० पृ० १४०४	३२८
सर्वतीर्थदृशां सिद्धिः	बृह० वा० पृ० १४०१	३५८
सर्वत्र रजतोदकादिभ्रमे	ता० टी० पृ० ८३	३८२
सर्वनामस्थाने	ब्र० सू० ६।४।८	४०५
सर्वनिषेधप्रकरणस्थं		८८८
सर्वप्रत्ययवेद्ये	ब्र० सि० पृ० १५७	५१
सर्वभूतेषु चात्मानं	ईशा० ६	४४३
सर्वमेव हि विज्ञानं	प्र० वा० १।३६८	६५५
सर्ववेदान्तप्रत्ययं	ब्र० सू० ३।३।१	८१४
सर्ववेदान्तप्रमाणकानि	ब्र० सू० भा० ३।३।१	८१४
सर्वस्य वशी	बृह० उ० ४।४।२२	८६२
सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं	श्लो० वा० २११	२४९
सर्वाणि भूतान्यात्मैव		४४३
सर्वाणि रूपाणि विचित्य	महावाक्यो ३	११९०
सर्वाणि विधिनिषेधशास्त्राणि	ब्र० सू० भा० पृ० २	६६२, ६६३
सर्वाणि ह वा इमानि	छां० १।११।७	९५१
सर्वादीनि सर्वनामानि	पा० सू० १।१।२७	२८१

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
सर्वान्तर्यामिको विष्णुः		११६४
सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेः	ब्र० सू० ३।४।२६	३९५,३९६
सर्वाः प्रजा अहरहः	छां० ८।३।२	६१६
सर्वाभेदादन्यत्रेमे	ब्र० सू० ३।३।१०	८१४
सर्वे गुणा ब्रह्मणैव हि		१३१२
सर्वे नित्या शाश्वताश्च		६१७
सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ		३४९
सर्वे लोकाः	बृह० उ० २।१।२०	४६८
सर्वेषां वा लक्षणत्वाद्	जै० सू० ३।१।१३	४१२
सर्वेषु भूतेष्वेतम्	ऐत० उ० २।३।४	४४३
सर्वे हि सत्यादयः	ब्र० सू० ३।३।३८	६२४
सर्वोपलम्भोपशमः प्रपञ्चोपशमः	मां० का० २५।२४	८६२
सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवति	बृह० उ० ४।३।३२	४३२
सलिलवत् स्वच्छीभूतः	बृह० उ० भा० पृ० ६२६	४३२
स वा अयमात्मा ब्रह्म	बृह० उ० ५।१६	११२८
स वा एष महानज आत्मा	बृह० उ० ४।४।२२	८४६,१२०८,१२१६
स वै ब्रह्मवित्	बृह० उ० ३।७।१	११२४
स स्रष्टा चैव संहर्ता		११४७
स स्वराड् भवति	छां० ७।२५।२	३
सह कार्येण न आसीत्		३९
सहस्रशीर्षा	मा० सं० ३१।१	९१२
स हि मुक्तोऽकामहतः	ब्रह्माण्ड पु०	१३१०
सः स्वर्गः स्यात् सर्वान्	जै० सू० ४।३।१३	८३४
सा अस्य देवता	पा० सू० ४।२।२४	११३६
साकाङ्क्षं त्वेकवाक्यं स्यात्	जै० सू० ३।१।२०	११२३
साकारवादप्रतिक्षेपेण	प्र० क० मा० पृ० ८१	३४२
साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म	बृह० ३।४।१	६८
साक्षिवेद्यस्याज्ञानस्य	पं० वि० पृ० २०९	५९२
साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च	श्वेता० ६।११	६४७,९९१,८७३
साक्षी स्वविषये		६०१
साक्षाद् द्रष्टरि सञ्ज्ञायाम्	पा० सू० ५।२।९१	९३३
सा च न जड़ेषु वस्तुषु	पं० पा० पृ० ८।८	५८५
सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते	सां० का० २५	६२५
सादृश्यधीप्रभृति न त्रितयम्	सं० सा० ११२८	३८४
साधकं चेदवश्यं च	श्लो० वा० पृ० २१५५	२७३
साधकत्वं सतस्तेन		२७३
साधनस्योत्तमत्वेन	ब्रह्म पु०	१११५
साधनाव्यापकत्वे सति	न्या० परि० पृ० १०८	८८

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषाः	न्याया० २४	१५
साध्यधर्मासिद्धौ	न्या० प्र० पृ० ५-६	१५
साध्याभावांशे निश्चयरूपम्	न्या० त० चिं० पृ० १००५	८
सापेक्षत्वात्सावशेषेच	चित्सु० पृ० २८३	१०३६
सापेक्षानुवादे हि	नय वि०	२४५
साभासाज्ञानवाची यदि भवति	सं० शा० १।१६१	५३७
सामानाधिकरण्यम्	शा० दी० पृ० १०१	१८
सामान्यं लक्षणं स्वरूपम्	दीधिति० पृ० ७७३	१०६
सामान्यतोऽपि न ज्ञातः		७७१
सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद्	गौ० सू० २।२।१७	३६३
सारूप्यात्	जै० सू० १।४।२५	११४१
सार्वज्ञ्यादिगुणं जीवाद् भिन्नम्		११३१
सा लिङ्गादार्त्विजे स्यात्	जै० सू० ३।४।३१	१४७
सालोक्यसार्ष्टि	श्रीमद्भा० ३।२९।१३	१३०८,१३०९
सिद्धं तु निवर्तकत्वात्	कात्यायन	८४८
सिद्धौ हि कर्म भेदस्य		१०९५
सुखदुःखादिभोगश्च		१०९६
सुदूरधावनश्रान्ता	खं० खं० पृ० ९७	४१८,३१
सुपां सुलुक्	पा० सू० ७।१।३९	८९२,११४२,११४५
सुपि च	पा० सू० ७।२।१०२	८६८
सुप्तिङन्तं पदम्	पा० सू० १।४।१४	७६०
सुप्तो भूर्भूरित्येव प्रश्वसिति		६४६-४९
सुषुप्तिकाले परेण ब्रह्मणा	ब्र० सू० भा० १।४।१८	४६८
सुषुप्तिकाले सकले	कैवल्यो० १।१३	६१९
सुषुप्तिकाले सकले विलीने	वराहो० २।६२	३५५,४६९
सुषुप्तौ ज्ञानमिति व्यवहारो	पं० वि० पृ० ८५	३७३
सुषुप्त्यादावनिर्वचनीय	पं० वि० भाव० पृ० १९३	६११
सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः	ब्र० सू० १।३।४२	११५१
सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ	बृह० उ० ३।४।४	११७४
सृष्टीरुपदधाति	तै० सं ५।३।४।७	१३९
सृष्टिरन्यैर्विकल्पित	मां० का० १।७	४४४
सेतुबन्धपथे भिक्षाम्	मिता० प्रायश्चित्त०	४५३
सैषानन्दस्य मीमांसा	तै० उ० २।८।१	४५८,१३०५,१३०७
सोऽकामयत	तै० उ० २।६।१	९४९,९५०
सोऽन्वेष्टव्यः	छां० ८।७।१	११८८
सोमेन यजेत	तै० सं० ३।२।२।७१	१४९,८३५
सोऽयं सत्यो ह्यनादिकः		४४५
सोऽरोदीद् यदरोदीद्	तै० सं० २।५।२१	१४९

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
सोऽविद्याग्रन्थि	मुं० २।१।१०	१२८८
सोऽश्नुते सर्वान् कामान्	तै० उ० २।१।१	१३०६
सोऽस्माच्छरीरादुत्क्रम्य	छां० ८।६।५	१२०९
सौक्ष्म्यादनुलब्धिः	सां० का० ८	४९२
सौगतमते	न्या० प्रा० वृ० पं० पृ० ४२-४३	६
सौगतवादिवागीश्वरादयः	वै० सू० वृत्ति० पृ० ३६	६
सौगतोक्तस्वाभिमतशून्यता		८३०
सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः	तै० सं० २।३।२।३	८३४
स्त्रियो वैश्यास्तथा	गी० ९।३२	१३१५
स्थपतिर्निषादः स्यात्	जै० सू० ६।१।५१	११४६
स्थितो दीपो यथाऽयत्नः	उप० सा० १६।६	३५३
स्पृहेरीप्सितः	पा० सू० १।४।३६	८३४
स्फटिकमणावुपधानोपराग	पञ्च० पृ० १०२	६३८
स्यादिदं ग्राह्यलक्षणम्	शा० दी० पृ० ५४	३५५
स्योनं ते सदनं कृणोमि	तै० ब्रा० ३।७।५	७८०
स्वतन्त्रं परमार्थाख्यम्		४४५
स्वतन्त्रस्य च सम्प्राप्तेः	बृह० वा० पृ० १९६१	२५१
स्वतोऽसिद्धेऽप्रमेये तु	बृह० वा० पृ० १४०४	३२८
स्वतः सिद्धोऽथवाऽसिद्धः	बृह० वा० पृ० १४०३	[illegible]
स्वप्नमाया सरूपेति	मां० का० १।७	४४४, [illegible]
स्वाप्नेन शारीरमभिप्रहत्य	बृह० उ० ४।३।११	६९०
स्वप्नः शुभाशुभफलागम	सं० शा० १।३३८	४६०
स्वप्रभत्वेनापरोक्षव्यवहारार्हे		५९०
स्वभावमेके कवयो वदन्ति	श्वेता० ६।१	१९६
स्वमपीतो भवति	छां० ६।८।१	११४९
स्वयंज्योतिः	बृह० उ० ४।३।९	१११८
स्वयंप्रकाशोऽयमात्मा	पं० वि० पृ० ६१०	६९२
स्वयं भ्रमोऽपि संवादी	प्र० वा० पृ० ३१८	८७४
स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वम्	चित्सु० पृ० ५७८	५७९
स्वरूपत्वेऽपि भेदस्य		१०३३
स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यम्	श्लो० वा० अभाव० १२	२१७
स्वरूपेण त्रिकालस्थनिषेधः	न्यायामृत	३६
स्वरूपमेव सम्बन्ध इति चेन्न	अद्वैतरत्न पृ० २१	३०६
स्वर्गकामो यजेत		४७५
स्वव्यतिरिक्तादिति	खं० खं० पृ० १०२	४१२
स्वशब्दात्	ब्र० सू० १।३।१	११५६
स्वसमानवृत्तिकं चावच्छेदकम्	अवच्छेद० पृ० ६५	५१०
स्वाकारस्य परिच्छेदः	श्लो० वा० पृ० १५६	३५५

वाक्यानि	आकरः	पृष्ठम्
स्वातन्त्र्यात् स्व इति प्रोक्तः		११५०
स्वातन्त्र्ये च विशिष्टत्वे		१११५
स्वातन्त्र्येण प्रमाणत्वं स्मृतेस्तावन्न,	तं० वा० पृ० १७२	१३४
स्वात्मनि क्रियानिरोधबुद्धिव्यपदेश	सां० प्र० कौ० ४४	१०६६
स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न	तै० उ० शीक्षा० ११	४७८
स्वाध्यायोऽध्येतव्यः	श० ब्रा० ११।५।६	२३५, २४१, ७४७, ११०९
स्वार्थो द्रव्यं तथालिङ्गम्		७८७
स्वाहाकारं यजति	तै० सं० १।१।२	११२२
स्वे आत्मीये	छां० भा० ७।२४।१	६२२
स्वेनेव कल्पिते देशे व्योम्नि		५८२
स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नि	छां० ७।२४।१	६२१
[ह]		
हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः	छां० ६।३।२	६३५
हितानामनाड्यः	बृह० उ० २।१।१९	४६७
हिंसाऽहिंसावाक्यसाम्यात्		९०२
हुत्वा हि पचमानस्य भवेद्	शा० दी० पृ० ४३८	१५२
हृदयं ब्रह्म	ऐत० उ० १।४।१	४४१
हेत्वाद्यभावसार्वज्ञ्ये	खं० खं० पृ० १०२	४२२
हेयं तस्य निर्वर्तकम्	न्या० भा० पृ० १	७५३
ह्रीर्धीर्भीरेतत्सर्वं मन एव	बृह० उ० १।४।३	४९

तृतीयं परिशिष्टम्

संकेतानां विवरणम्

अथर्वं० उ०	अथर्वशिर उपनिषत् (सर्वहितैषी कम्पनी काशी)
अ० दी० अद्वैतदी०	अद्वैतदीपिका
अद्वैतर० रक्षण०	अद्वैतरत्नरक्षण (निर्णयसागर, बम्बई)
अध्यात्मो०	अध्यात्मोपनिषत् (सर्वहितैषी कम्पनी, काशी)
अमर०	अमरकोश (निर्णयसागर, बम्बई)
अवच्छेदक०	अवच्छेदकत्वनिरुक्तिः (चौखम्बा वाराणसी)
आ० त० वि०	आत्मतत्त्वविवेक (विद्याविलास, बनारस)
असिद्धि०	असिद्धि (चौखम्बा, काशी)
आप० श्रौ०	आपस्तम्बश्रौतसूत्र (गायकवाड़, बड़ौदा)
इष्ट० इ० सि०	इष्टसिद्धिः (ओरियण्टललाय०, बड़ौदा)
ईशा०	ईशावास्योपनिषत् (आनन्द आश्रम, पूना)
उप० सा०	उपदेशसाहस्री (निर्णयसागर, मुम्बई सन् १९५४)
उपस्कार०	वैशेषिकसूत्रोपस्कार (चौखम्बा, काशी)
ऋ० ऋक्सं०	ऋग्वेद (तिलकस्मारकसमिति, पूना)
ऐं० उ० ऐत०	ऐतरेयोपनिषत् (आनन्द आश्रम, पूना)
कठो० काठक	कठोपनिषत् (आनन्द आश्रम, पूना)
कल्पत	ब्रह्मसूत्रभाष्यं (निर्णयसागर, बम्बई सन् १९३८)
का० वा० कात्यायन०	कात्यायन वार्त्तिक (निर्णयसागर, बम्बई)
का० श्रौ० सू०	कात्यायन श्रौतसूत्र (अच्युत ग्रन्थमाला, काशी)
किर०	प्रशस्तपादभाष्यकिरणावली (एशियाटिक सो० कलकत्ता)
कूर्मपु०	कूर्मपुराण (निर्णयसागर, बम्बई)
केन	केनोपनिषद् (आनन्द आश्रम, पूना)
खण्डन० खं० खं०	खण्डनखण्डखाद्य शाङ्करी (लाजरस, बनारस)
गी०	भगवद्गीता (गीताप्रेस गोरखपुर)
गौड़का० मां० का०	माण्डूक्य कारिका (आनन्द आश्रम पूना)
चरकसं०	चरकसंहिता (निर्णयसागर बम्बई)
चित्सु० तत्त्वप्र०	तत्त्वप्रदीपिका (उदासीन संस्कृत विद्यालय काशी)
छां०	छान्दोग्योपनिषद् (आनन्द आश्रम पूना)

जा० द० उ०	जाबाल दर्शनोपनिषद् (सर्वहितैषी० काशी)
जै० न्या० मा०	जैमिनीय न्यायमाला (आनन्द आश्रम पूना)
जै० सू०	जैमिनीय मीमांसा दर्शन (आनन्द आश्रम पूना)
ज्ञानश्री०	ज्ञानश्रीनिबन्धावली (जायसवाल, पटना)
टुप्टीका	शाबरभाष्यटुप्टीका (आनन्द आश्रम पूना)
तं० वा०	तन्त्रवार्तिक (आनन्द आश्रम पूना)
तत्त्व० सं०	तत्त्वसंग्रह (ओरियण्टल बड़ौदा)
तां० ब्रा०	ताण्ड ब्राह्मण (बम्वई)
ता० र०	तार्किक रक्षा (मेडिकल हाल वाराणसी)
तै० उ०	तैत्तिरीयोपनिषद् (आनन्द आश्रम पूना)
ते० विं०	तेजो विन्दूपनिषद् (सर्व हितैषी काशी)
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक (बम्बई)
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण (आनन्द आश्रम पूना)
तत्त्वदी०	पञ्चपादिका तत्त्वदीपन (गवर्नमेण्ट ओ० मद्रास)
ता० टी०	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका (चौखम्बा वाराणसी)
तै० सं०	तैत्तिरीयसंहिता (निर्णयसागर, बम्बई)
त्रिंशिका०	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय)
दीधिति०	न्यायतत्त्वचिन्तामणिदीधिति (चौखम्बा वाराणसी)
नि०	निरुक्त (बम्बई)
नृसिंहो नृ०	नृसिंहतापिनी उपनिषद् (सर्वहितैषी० काशी)
न्या० कु०	न्यायकुसुमाञ्जलि (काशी)
न्या० चं०	न्यायचन्द्रिका (गवर्नमेण्ट ओ० मद्रास)
न्या० त० चिं०	न्यायतत्त्वचिन्तामणि (केन्द्रीय संस्कृत विद्यालय, तिरुपति) न्यायतत्त्वचिन्तामणि अनुमानखण्ड (चौखम्बा वाराणसी)
न्या० दी०	न्यायदीपावली (चौखम्बा वाराणसी)
न्या० प्र०	न्यायप्रवेश (ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा)
न्या० भा०	न्यायसूत्रभाष्य (चौखम्बा सिरीज़, वाराणसी)
न्या० म० न्या० मक०	न्यायमकरन्द (चौखम्बा सिरीज़, वाराणसी)
न्या० मं०	न्यायमञ्जरी (लाजरसकं० काशी)
न्या० र० मा०	न्यायरत्नमाला (मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी)
न्या० विं० न्या० विन्दु	न्यायविन्दु (जायसवाल अनु० पटना)
न्या सू०	न्यायसूत्र (चौखम्बा सिरीज, वाराणसी)
पं० द० पञ्चद०	पञ्चदशी (निर्णयसागर, बम्बई)
पक्षता	जागदीशी पक्षता (चौखम्बा सिरीज़, वाराणसी)
पञ्च० प०	पञ्चपादिका (गवर्नमेण्ट ओरि० मद्रास)
पं० वि० विवरण	पञ्चपादिकाविवरण (गवर्नमेण्ट ओरि० मद्रास)

पा० सू०	पाणिनीयसूत्र (निर्णयसागर, बम्बई)
प्र० क० मा०	प्रमेयकमलमार्तण्ड (निर्णयसागर, बम्बई)
प्र० पं०	प्रकरणपञ्चिका (हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी)
प्र० भा० / प्रशस्त०	प्रशस्तपादभाष्य (चौखम्बा सिरीज़, वाराणसी)
प्र० वा०	प्रमाणवार्तिक (जायसवाल अनु० पटना)
प्रश्नो०	प्रश्नोपनिषत् (आनन्दाश्रम, पूना)
प्रामाण्य०	न्यायतत्त्वचिन्तामणि-प्रामाण्यवाद (विद्यापीठ, तिरुपति)
बृह० उ०	बृहदारण्यकोपनिषत् (आनन्दाश्रम, पूना)
बृह० वा०	बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक (पूना)
ब्रह्मवै०	ब्रह्मववर्तपुराण (कलकत्ता)
ब्र० सि०	ब्रह्मसिद्धि (गवर्नमेण्ट ओरि० मद्रास)
ब्र० सू० / भा०	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य (निर्णयसागर, बम्बई)
भामती०	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यव्याख्या (निर्णयसागर, बम्बई)
भाव० प्र०	भावप्रकाशिका (पञ्चपादिका-विवरण-व्याख्या, मद्रास)
भाषा० का०	भाषापरिच्छेद-कारिका (निर्णयसागर, बम्बई)
मध्यमक / मा० का०	मध्यमक शास्त्र (मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा)
म० ना० उ०	महानारायण्युपनिषत् (सर्वहितैषी० काशी)
मनु०	मनुस्मृति (निर्णयसागर, बम्बई)
म० वा० उ०	महावाक्योपनिषत् (सर्वहितैषी० काशी)
महा० भा० / म० भा०	महाभारत (निर्णयसागर, बम्बई)
मा० म०	मानमनोहर (उदासीन सं० विद्यालय, वाराणसी)
मा० सं०	माध्यन्दिनी संहिता, (निर्णयसागर, बम्बई)
मिता० प्रा०	मिताक्षरा प्रायश्चित्यप्रकरण (बम्बई)
मुं०	मुण्डकोपनिषत् (आनन्दाश्रम, पूना)
मैत्रा०	मैत्रायण्युपनिषत् (सर्वहितैषी० काशी)
मै० सं०	मैत्रायणी संहिता (बम्बई)
यो० वा०	योगवासिष्ठ (निर्णयसागर, बम्बई)
यो० सू०	पातञ्जल योगसूत्र (चौखम्बा, वाराणसी)
रामायण / वा० रा०	बाल्मीकि-रामायण (निर्णयसागर, बम्बई)
ल० चं०	अद्वैतसिद्धिव्याख्या लघुचन्द्रिका (बम्बई)
लक्षणावली	(मिथिलाविद्यापीठ, दरभङ्गा)
लीलावती	न्यायलीलावती (चौखम्बा, वाराणसी)
वा० न्या०	वादन्याय (बौद्धभारतीय, वाराणसी)

वा० प० वाक्य० वा० सं०	वाक्यपदीय (विद्यापीठ, पूना)
विष्णुपु०	विष्णुपुराण (गीता प्रेस, गोरखपुर)
शत० ब्रा० श० ब्रा०	शतपथब्राह्मण (निर्णयसागर, बम्बई)
श० दू० शतदू०	शतदूषणी (रामस्वामी, मद्रास)
शा० दी०	शास्त्रदीपिका (निर्णयसागर, बम्बई)
शां० भा०	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य (निर्णयसागर, बम्बई)
शा० भा० शाबर०	जैमिनिसूत्र-शाबरभाष्य (आनन्दाश्रम, पूना)
शिव० म०	शिवमहिम्नस्तोत्र (बम्बई)
श्रीमद्भा० भा० पु०	श्रीमद्भागवत (निर्णयसागर, बम्बई)
वि० महा०	विनयपिटकीय महावग्ग (बम्बई विश्वविद्यालय)
श्वेता०	श्वेताश्वतरोपनिषत् (आनन्दश्रम, पूना)
श्लो० वा	श्लोक वार्तिक (चौखम्बा, वाराणसी)
सं० शा०	संक्षेपशारीरक (उदासीन सं० विद्यालय, काशी)
सां० त० कौ०	सांख्यतत्त्वकौमुदी (चौखम्बा, वाराणसी)
सा० दर्प०	साहित्यदर्पण (मोतीलाल वनारसी दास, काशी)
स्कन्द०	स्कन्दपुराण (बम्बई)

चतुर्थं परिशिष्टम्

शोधनिका

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
दो शब्द	९	१९५०	१५९८
	३२	निकल	निकाल
	३३	निकाल	निकल
१	७	गयं	गेयं
३	५	न वा अखण्ड-	न वा पारमार्थिक-त्वाकारेण त्रैकालिक निषेधप्रतियोगि ? न वा ? अखण्ड-
१२	१७	सधनात्	साधनाद्
१४	१५	सत्त्वराहित्ये	सत्त्वासत्त्वराहित्ये
१६	१२	व्यतिरिकस्य	व्यतिरेकस्य
२१	५	व्यवहारिकत्वे	व्यावहारिकत्वे
२१	११	ऽप्रातिभा	प्रातिभा
३१	१६	भावोऽपि	भावेऽपि
५२	९	इति स स्यात्	इति च स्यात्
६७	१२	ज्ञातरितदभावाम्	ज्ञातरि तदभावात्
७१	३	क्षीरा-	क्षीर-
८२	१४	सापक्षेत्वाच्च	सापेक्षत्वाच्च
११६	१०	सर्वाविष्ठान	सर्वाधिष्ठान
१२०	१४	क्रममन्यायेन	क्रमन्यायेन
१३३	९	अवधित	अबाधित
१३६	९	स्याम्	स्यात्
१४१	६	विघातातत्पर्यं	विघतात्पर्यं
१४३	२	समानाधि	सामानाधि
१५८	१२	न भोनेल्य	नभोनैल्य
१७५	१३	साक्षात्करत्व	साक्षात्कारत्व
१७९	८	देनानाम्	देवानाम्
१८०	२६	अन्वस्य	अन्यस्य
१९०	३	सिद्विविक्त	सद्विविक्त
१९६	१	सप्रकाबाध्य	सप्रकारकाबाध्य
२०१	७	अदुष्ट	अदृष्ट
२०५	४	कावतो	कारवतो
२०६	२	कल्कितम्	कल्पितम्

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२०७	२८	घट	यह
२३३	६	शोभनपर्णः	शोभनवर्णः
२३४	१५	प्रत्यक्षेणाप्रा	प्रत्यक्षेणाप्रा
२३७	६	परिहाविशे	परिहारविशे
२४३	११	सत्त्वकल्पना	सत्त्वविषयत्वकल्पना
२४५	१३	न च सत्त्व	न च सत्त्वश्रुतेः सत्त्व
२५०	२	प्रमाणानुदिस्य	प्रमाणानूदितस्य
२५८	११	न तु बाध्यत्वम्	न त्वबाध्यत्वम्
२६४	११	परिहाररूत्रम्	परिहारसूत्रम्
२६४	१५	ज्ञानारिरेकेण	ज्ञानातिरेकेण
२६९	२	धीमर्मं	धीर्मम
२७०	६	मिथ्यात्वविरोधि	मिथ्यात्वाविरोधि
२७३	१५	साकघता	साधकता
२७५	२	वार्थाक्रिया	वार्थक्रिया
२७५	४	साधलत्वं	साधकत्वं
२७६	९	ह्रस्वादीतां	ह्रस्वादीनाम्
२८२	८	स्वस्वव्यापारा	स्वस्वव्याप्या
२९३	७	निवश	निवेशः
३०५	५	स्परूप	स्वरूप
३०८	६	चेत् नित्य	चेत्, नैवम्, नित्य
३१९	११	तदर्शनेन	तददर्शनेन
३२१	६	लौतित्य	लौहित्य
३२५	६	जन्यात् पूर्वं	जन्यात् स्वज्ञानात् पूर्वं
३३४	१४	वाक्यम्	वाच्यम्
३३५	११	ध्यस्तत्वे न	ध्यस्तत्वेन
३४०	२०	त्वेऽपि विषय	त्वेऽपि न विषय
३४३	४	त्यावरण	त्वावरण
३४५	४	ज्ञानवित्र्य	ज्ञाननिवर्त्यं
३४८	१४	स्यात्, इष्टापत्तेः	स्यात्, न, इष्टापत्तेः
३५०	१३	वोपपत्तेः	वोपपत्तिः
३५४	६	विषयेऽभि	विषयोऽभि
३५५	१३	ध्यास्ताधिष्ठान	अध्यस्ताधिष्ठान
३५६	१५	प्रति घति	प्रविशति
३५९	७	गन्धदीन्	गन्धादीन्
३७१	६	विषयादवच्छिन्न	विषयावच्छिन्न
३७३	७	तिवृत्त्या	निवृत्त्या
३७४	१२	साधिष्ठानं	सत्याधिष्ठानं
३८०	११	संकार	संस्कार

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३९७	१४	जन्यतावच्छेदक	जन्यतादावच्छेदक
४०३	७	बोंघने	बोघनै
४०९	९	निषेघ	निषेघ
४१३	७	संगार्जन	संमार्जन
४१५	१०	सर्वाभेद	सर्वाभेदे
४२७	१३	सत्यम्	सत्यत्वम्
४२८	८	प्रर्वम्	सर्वम्
४३०	५	आसाधारण	साधारण
४३०	८	वाक्यम्	वाच्यम्
४३०	८	कात्	कारात्
४३१	८	नोनेति	नानेति
४३१	१६	ग्रकाशात्	प्रकाशात्
४३२	११	सादृश्य	सादृश्यात्
४३८	६	दृथग्भाव	पृथग्भाव
४४०	७	के पश्येत्	कं पश्येत्
४४१	२०	एकशब्दसर्वं	एकशब्दपिण्डशब्दसर्वं
४४३	२७	श्वतीस्य	श्वतीभ्य
४४४	१४	मायामात्रिमद	मायामात्रमिद
४४५	१२	वाचीद्र	वाचीन्द्र
४४५	११	ब्रहणो	ब्रह्मणो
४४६	२३	मार्ग्तं	मार्तं
४५१	४	'निवर्तकत्वे'—इसके अनन्तर छूट—तन्निवर्त्यस्य तज्ज्ञानसमानविषयकाज्ञानोपादानकत्वरूपमिथ्यात्वं सिद्धचतीति युक्तं शुक्त्यादिज्ञानसमानविषयकाज्ञानोपादानकत्वेन रजतादेर्मिथ्यात्वम् , सेत्वादिदर्शनादिनिवर्त्यदुरितादेस्तु न निवर्तकज्ञानसमानविषयकाज्ञानोपादानकत्वमिति न मिथ्यात्वम् । एवं चात्मज्ञानस्यापि विहितक्रियात्वेन निवर्तकत्वसम्भवाद् अधिष्ठानज्ञानत्वेन च निवर्तकत्वे	
४५५	२५	श्तेतत्व	श्वेतत्व
४५६	१७	वृत्तासं	वृत्तावसं
४६३	१८	दोषाज्ञानदष्ट्र	दोषाज्ञानादृष्ट
४६७	७	आत्मनो	आत्मानो
४६८	१३	कालापर	कालपर
४७८	११	जानत	ज्ञानत
५१८	३	तनवच्छे	तदनवच्छे
५२८	१	विषयज्ञान	विषयाज्ञान

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
५३२	७	विवरणयोरविरोधः	विवरणयोरपि विरोधः
५३८	३	चिदुपरार्थे	चिदुपरागार्थे
५४४	४	मनादिमात्र	मनादिभावमात्र
५४६	१०	विरोधाश्च	विरोधश्च
५५६	२	देवासुसंग्राम	देवासुरसंग्राम
५७३	२	प्रतिबिम्बक्ष	प्रतिबिम्बपक्ष
५७५	४	कार्यस्व	कार्यस्य
५७७	७	भावामिप्रायें	भावाभिप्राये
५७७	१२	व्यावहारिकमेद	व्यावहारिकभेद
५८९	४	योग्यत्र	योग्यत्व
५९५	२	ज्ञानमानं	ज्ञानभानं
६१०	१४	गुणग्रहणे	गुणाग्रहणे
६११	२	अन्तःकरणाविशिष्ट	अन्तःकरणविशिष्ट
६११	४	नत्वमेव	नत्वहमेव
६१५	१२	हमस्तीतिश्रुति	हमस्मीतिसुषुप्तिविषया श्रुर्वि
६२२	२	अविद्ययान	अविद्यमान
६३५	२	कस्मिन्वह	कस्मिंग्वह
६४३	२	मतसा	मनसा
६४५	३	ज्योतिरूपसम्पद्य	ज्योतिरुपसम्पद्य
६४८	३	चकरण	चाकरण
६६३	१२	मनभिसहित	मनभिसंहित
६८५	९	प्राणाणिकत्वे	प्रामाणिकत्व
६९४	११	पक्तिद्वयं	पत्तिद्वयं
६९९	१३	शश्रृंग	शशश्रृंग
७००	१४	अस्त्यादिवद	अस्त्यादिपद
७०५	१४	स्वरूपत्वादिनैव	स्वरूपत्वादिनेव
७०७	४	थेन	थेंन
७०९	४	नाभावे	नाभाने
७१०	३	सत्त्वभिवा	सत्त्वमिवा
७११	२	प्रतिप्रतियोगिभ्यी	प्रतियोगिभ्यो
७१४	१३	निस्वारूप	निःस्वरूप
७१६	५	भावे ना	भावेना
७१७	७	धर्तमावे	धर्मभावे
७३६	२	विशेषस्ग	विशेषस्य
७३७	११	नियामकाभा	नियामकाभावात्
७४३	६	तस्यातदकार	तस्यातदाकार
७५३	२०	हानमुपापश्च	हानमुपायश्च
७६०	१२	आविधिष्टपर्याय	आविधिष्टमपर्याय

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
७६१	२६	तक्षणा	लक्षणा
७६३	२६	यार्थकनेन	यार्थकेन
७६४	३	स्वरूपक्षणस्य	स्वरूपलक्षणस्य
७६६	१८	तस्मिम्	तस्मिन्
७६८	५	पिक त्यादा	पिक इत्यादा
७६८	१३	परत्वाच्च	परत्वान्न
७७१	११	प्रश्नस्य	प्रश्नस्थ
७७३	२६	अनुपत्ति	अनुपपत्ति
७८७	८	प्रातिपादि	प्रातिपदि
७६०	२	न्यापेन	न्यायेन
७६०	१८	वायम्	बायव्यम्
७६८	९	शब्दत्वेन	शाब्दत्बेन
८०१	२	ब्रह्मे	ब्रह्म
८१०	४	ब्रह्मण्य	ब्राह्मण्य
८१४	४	निर्देसस्य	निर्देशस्य
८२५	९	वाक्यार्थानुप	वाक्यार्थान्वयानुप
८२७	१०	लणणा	लक्षणा
८३३	१६	अव्यवति	अव्यवहित
८४८	२	पदाथैचय	पदार्थैक्य
८५१	२०	आकाटच	अकाटच
८५२	१	३	४
८७२	५	सर्वं'मिति	सर्वमात्मैवेदं सर्वमिति
९०८	१३	गुख्य	मुख्य
९१०	२	लम्बितं	लम्बिनं
९१०	११	वाक्यज्ञानस्य	वाक्यजन्यज्ञानस्य
९१०	१३	सप्रमारक	सप्रकारक
९१२	५	रुग्म	रुक्म
९१४	३	रूपस्य	रूपमस्य
९३१	४	दानत्वत्तत्स	दानत्वात्तत्स
९३३	११	साक्ष्यधीनसिक्	साक्ष्यधीनसिद्धिक
९४४	१५	समानाधिकरण्या	सामानाधिकरण्यो
९६२	३	फलाप्याप्त्वम्	फलाव्याप्यत्वम्
९६५	५	अपरोक्षव्व	अपरोक्षव्य
९६८	८	प्रमेबत्व	प्रमेयत्व
९७३	३	वैयर्थ्यात्	वैयर्थ्याद्
९८८	७	अग्नेरौष्ण्यविदिति	अग्नेरौष्ण्यवदिति
९९५	६	मैत्रानुभवदि	मैत्रानुभववदि
८४२	६	व्यप्तेः	व्याप्तेः

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१०१०	१२	सम्पग्ग्या	सम्यग्ग्या
१०१६	४	व्यवहारिक	व्यावहारिक
१०१७	८	वास्तत्ते	वास्तवत्वे
१०२१	१७	सापेक्षत्वयो	सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वयोः
१०२५	३	तद्विरोधि	यद्विरोधि
१०३४	३	केचित्	केचित्तु
१०४६	१६	युगपदेनक	युगपदनेक
१०६०	५	अनियमयते	अनियमपक्षे
१०६६	६	तस्य	यस्य
१०६६	७	भेदेन च	भेदेन अज्ञानाश्रयाभेदेन च
१०७१	११	धर्माधिरणत्वात्	धर्माधिकरणत्वात्
१०७२	२	नातित्वात्	जातित्वात्
१०७३	१८	तदुपपादानम्	तदुपपादनम्
१०७५	२०	प्रकाशत्वादेरव	प्रकाशत्वादेरिव
१०७८	१०	न च धर्मित्व	न च धर्मित्वाभावं प्रति धर्मित्व
१०८०	३	दुःखानुभाव	दुःखानुभव
१०८१	६	प्रत्यक्षप्रमाण्य	प्रत्यक्षप्रामाण्य
१०८१	१०	सर्वचेन	सर्वचेतन
१०८५	२०	गगनत्वति	गगनत्वजाति
१०८६	३	दुःखाद्यनुभाव	दुःखाद्यनुभव
१०९५	५	वच्छिस्य	वच्छिन्नस्य
११०३	८	यदद्वाद्य	यदण्वाद्य
११०४	२१	ज्ञानवदित्यज्ञ	ज्ञानवदित्यत्र
११०५	८	माक्षिादिषय	साक्षाद्विषय
११०५	९	ब्रह्मवदित्यत्या	ब्रह्मवदित्या
११०७	७	पंचविक:	पंचविशकः
१११०	३	प्रतिप्रसार्थं	प्रतिप्रसवार्थं
१११२	४	घटैक्यश्रुति	घटैक्यस्य प्राप्तैक्यश्रुति
१११३	४	व्यावहाररिक	व्यावहारिक
१११४	१६	जीवानुबावेन	जीवानुवादेन
११४१	७	प्रमाण्यम्	प्रामाण्यम्
११३८	१२	शब्दधी	शाब्दधी
११३८	१३	शास्त्रप्रामाण्य	शास्त्राप्रामाण्य
११४८	८	या	वा
११५८	१५	यावग्ना	यावद्वा
११६१	७	शस्त्रैक	शास्त्रैक
११६८	९	ब्रह्मणत्व	ब्राह्मणत्व
११७६	१३	भावातः	भावतः

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
११८४	५	तियोगिताको	योगिताको
११८५	१३	नङ्गीकृत्वेन	नङ्गीकृतत्वेन
११९९	५	व्यवह-	व्यवहा-
११९८	५	च सिद्धः	न सिद्धः
१२०४	२	ताभ्र	ताम्र
१२१८	७	रप्याङ्कुर	रप्यङ्कुर
१२२४	४	मनानि	मननानि
१२४१	६	जायमानस्य	जायमानस्य तस्य
१२८४	५	सन्निवृत्ते	तन्निवृत्ते
१२८६	१०	वृधा	वृथा
१२९५	५	स्यामितिच्छा	स्यामितीच्छा
१३०१	१	५	६
१३०१	५	तत्साध्य	तत्साध्यस्य
१३२०	१२	योगां	भोगां
१३६२	७	ब्र० सू०	ब्र० सू० भा०
१३७३	१३	ऋ० सं० ८।५।१७	ऋ० सं० ८।६।५।१७
१३८४	९	७।१।६	छां० ७।१।६
१३९१	१४	म० अ०	म० भा०

वाल्मीकिविद्यापीठपुस्तकालयः

प्रत्यावर्तनतिथिः

C256

AUTHOR વ્યાસ

TITLE ન્યાયામૃતાદ્વૈતસિદ્ધી

C256

RG6x91,1
BYS
1977

सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्
महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालयः
वि.सं. २०४३
MAHENDRA SANSKRIT UNIVERSITY 1986 AD

महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालय
वाल्मीकि विद्यापीठ
पुस्तकालय